

अध्यक्ष-श्रीविष्णुनारायण भार्गव

वर्ष ९
खंड १

श्रावण, ३०७ तुलसी-संवत् (१९८७ वि०)

संख्या १
पूर्ण संख्या ९७

पावस

(१)

चिंतामनि घनबन बीथिन मैं बोलैं मोर
तैसियै रही है घटा घन की उनै-उनै ;
तैसियै भई है भूमि लाल इंद्रबधुन सों
'बधुन पहीरी चारु चूनरी चुनै-चुनै ;
सीरी-सीरी तैसियै कदंबनि की बासु लै-लै
बायु बहै लहलही बेलिन दुनै-दुनै ;
झाँकि कै झरोखा घरी-घरी मुरझाति बाम
हरी-हरी पेखि अंकुरनि की मुनै-मुनै ।

(२)

उत स्याम घटा जु, इतै अलकैं
बगपाँति उतै, इत मोती लरी ;
उत दामिनि, दंत चमंकैं इतै
उत चाप, इतै भुव बंक धरी ;
उत चातिक पी-पी रटोई करै
इत ती कहँ पी बिसरै न घरी ;
उत बुंद अखंड इतै अँसुवा
बरषा बिरहीनि सों होड़ परी ।

सत्यनारायण-व्रत-कथा

(१)

हिंदू-जाति में उत्पन्न होकर बच्चे से लेकर बूढ़े तक कोई भी व्यक्ति ऐसा न होगा, जिसने सत्यनारायण-व्रत-कथा न सुनी हो। घर-घर में इस कथा का प्रचार है। हर पर्व के समय ब्राह्मण को बुलाकर गृहस्थ लोग सत्यनारायण की कथा सुनते हैं। जब कोई संकट का समय पड़ता है या कोई गंभीर काम अटकता है, तो लोग संकल्प करते हैं कि अमुक काम के पूरा होने में जो सत्यनारायण हमारी सहायता करें, तो हम उनकी कथा करावेंगे। जब कोई मुक़दमा लग जाता है, चट उभयपक्ष के लोग सत्यनारायण की कथा बोल लेते हैं। मुक़दमे के लड़ने में यथाशक्ति झूठ-सच से काम लेकर भी जीतनेवाला पक्ष सत्यनारायण की व्रत-कथा सुनकर बंधु-बांधवों-समेत आनंद मनाता है। दुःख है कि जैसे धर्म और सभ्यता के और दूसरे अंग रोग-ग्रस्त हुए पड़े हैं और समाज कराहकर किसी तरह उनसे अपना काम चला रहा है, उसी तरह सत्यनारायण की व्रत-कथा में जो महान् तत्त्व था, उसकी ओर हज़ार कथा सुननेवालों में से एक का भी ध्यान नहीं जाता और लोगों ने सत्य के साथ भी भाव-ताववाली बनियाऊ नीति बरत रक्खी है।

सत्यनारायण की कथा, जैसी कि पंडित जन कहते हैं, श्रीस्कंदपुराण के रेवाखंड में पाँच अध्यायों में दी हुई है। उसके अंत में समाप्ति यों लिखी है—

इतिश्रीस्कन्दपुराणे रेवाखण्डे सत्यनारायणव्रतकथायां पञ्चमोऽध्यायः।

अर्थात् इस प्रकार श्रीस्कंदपुराण के रेवाखंड में दी हुई सत्यनारायण के व्रत और कथा का पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ। इस छोटी-सी कथा में आर्यों ने परब्रह्म के सत्यरूप में जो दर्शन किए थे, उसका सजीव और उपाख्यानों के सहित वर्णन किया है। भारत के ऋषियों ने तत्त्वेक्षी चक्षुओं से परमात्मा की जिस विभूति के दर्शन किए, उसे उन्होंने 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' की संक्षिप्तश्रुति में प्रकाशित किया है। यह देश बड़ा है और यहाँ की संस्कृति के आदर्श भी महान् हैं, ऐसा हम इसलिये नहीं कहते क्योंकि भारतवर्ष ने किसी समय दिग्दिगंत में बृहत् साम्राज्यों की स्थापना की थी, बल्कि इस पुनीत गौरव का श्रेय हमको इसलिये है क्योंकि यहाँ के मनीषियों ने 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के अमृत-संगीत को सबसे पहले गाया था। सत्यरूप में भगवान् की कल्पना आर्य-संस्कृति में उस समय हुई, जब और सभ्यताओं ने होश भी न सँभाला था। ब्रह्म सत्यात्मक है, ब्रह्म ज्ञानमय है और ब्रह्म अनंत है—इन वैज्ञानिक दार्शनिक अध्यात्मिक तत्त्वों को सारा संसार आज भी प्रणामांजलि के साथ मानता है। सत्यं शिवं सुंदरं—इन तीन शब्दों में ब्रह्मांड का जो समन्वय दिखाया गया है, उससे बढ़कर समाहार (Synthesis) किसी देश के किसी युग की किसी पुस्तक में नहीं पाया जाता। पिंड-ब्रह्मांड के स्थूल-सूक्ष्म सभी कार्यों में यह नियम अटल है कि जो सत्य है, वही शिव है, जो सत्य और शिव (True and Spiritual) है, वही वस्तुतः सुंदर है। विज्ञान, दर्शन, कला, इन तीनों का अंतःसूत्र एक है। एक ही तत्त्व त्रिविध नामों और रूपों में प्रकट होता है—

एकैव मूर्त्तिर्विभिदे त्रिधा सा।

जो शिव नहीं वह सत्य हो नहीं सकता, जिस व्यवहार से लोकों का उत्सादन हो, वह अवश्य ही असत्य-सम्मिश्रित है। जिस समाजनीति से लोग फूलने-फलने के स्थान में पिसते हों, वहाँ निश्चय ही असत्य का घुन लगा हुआ है। सच्चे अर्थशास्त्र का काम है कि लोगों में धनधान्यादि की वृद्धि हो, ग़रीबी और मुहताजी जाती रहे। परंतु जहाँ मेहनत करने पर भी भर-पेट अन्न न मिले, जहाँ निठल्ले मौज करें और परदेशी लूटे खायँ, वहाँ सत्य भगवान् का कोप है, वहाँ ईमानदारी और सचाई की जगह बेईमानी और बदनीयती फैली हुई समझनी चाहिए। अर्थशास्त्र में सत्य का मतलब है कि कोई पड़ोसी का टुकड़ा छीनकर मौज न करे, स[illegible] खाने-पहनने को आवश्यकताएँ पूरी हों, इसलिये

का एकत्र संचय न हो। जिनके पास धन हो भी, वे उसका वितरण अर्थात् दान करें। धन बिलकुल जड़ चीज़ है, यह लोभ और बंधन का हेतु है, लेकिन उसके साथ जो दान का नियम है, उसमें उबारने की शक्ति है। जिस समाज की दान-प्रवृत्ति सत्य है, वहाँ अभाव का कष्ट प्रजाओं का पीड़न नहीं करेगा। छोटी-सी सत्य-नारायण की कथा में ये सब तत्त्व कूट-कूटकर भरे हैं—

धनधान्यादिकं तस्य भवेत्सत्यप्रसादतः।

दरिद्रो लभते वित्तं........ ....॥५।११

अर्थात् जहाँ अर्थशास्त्र के मूल में ईमानदारी और सचाई की नीयत काम करती है, वहाँ व्यक्ति और समाज, चाहे ग़रीब भी हो, धनवान् हो जाते हैं। ऐसा सत्य का प्रसाद अर्थात् सुखद परिणाम है।

जीवन के हर पहलू में सचाई का जिनको बल है, वे निर्बल भी हों, भगवान् उनकी सहायता करते हैं। सत्य के नानारूप हैं। चार वर्ण, चार आश्रम, राजा-प्रजा, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, मालिक-मजूर, दुकान-दार-गाहक, भाई-बंधु, सबके व्यवहारों में सत्य की ही प्रधानता होनी चाहिए। ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य से न रहे, तो वह सत्य से डिग गया। गुरु शिष्य का अज्ञान दूर न करे, तो उसका सत्यव्रत दूषित हो गया। मालिक नौकर को आत्मवत् समझकर काम न ले, तो वह मज़दूरी से अधिक काम लेकर अघ का भागी बन जायगा। राजा प्रजा के साथ तद्रूप हो जाय, तो वह उनका पालक है और सत्य विधानवाला है। वही अगर हेकड़ और उद्दंड हो जाय, जैसे अंगध्वज राजा हो गए थे, तो वह सत्य का उल्लंघन करता है। बड़े-बड़े अत्याचारी राजा हुए—देखते-देखते यह धरती उन्हें न-जाने कहाँ पचा गई, कारण यह कि झूठ का आश्रय लेने से उनका तेज नष्ट हो गया और वे सत्य की आँच में पड़कर मिट गए। शतपथ-ब्राह्मण में लिखा है—

स यः सत्यं वदति यथाग्निं समिद्धन्तं घृतेनाभिषिञ्चेदेवं हैनं स उद्दीपयति तस्य भूयो भूय एव तेजो भवति श्वः श्वः श्रेया-न्भवत्यथ योऽनृतं वदति यथाग्निं समिद्धन्तमुदकेनाभिषिञ्चेदेवं हैनं स जायसति तस्य कनीयः कनीय एव तेजो भवति श्वः श्वः पापीयान्भवति तस्माद् सत्यमेव वदेत्।

श० २।२।२।१९

अर्थात् जो सत्य बोलता है, उसका तेज ऐसा बढ़ता है, जैसे जलती हुई आग घी पड़ने से प्रदीप्त होती है और दिन-दिन उसका कल्याण होता है। पर जो झूठ बोलता है, उसका तेज इस तरह निस्सत्व हो जाता है, जैसे धधकती आग पानी पड़ने से राख हो जाती है और दिन-दिन उसकी श्री क्षीण होती है। इसलिये सदा सत्य ही बोलना उचित है। सरकार प्रजाओं के साथ झूठी प्रतिज्ञाएँ करती है। अपनी चतुराई में चूर होकर वह समझती है कि कैसा झाँसा दिया, परंतु वह नहीं देख पाती कि एक के बाद दूसरा वादा करके टाल-मटोल करने में उसका तेज या हुकूमत (Prestige) दिनों-दिन घटती जाती है। सत्य प्रजा का सहायक होता है। जिस प्रजा को सत्य का बल है, वह गुलामी से आज़ादी हासिल करके ही रहेगी। इसी व्रत में लिखा है—

बद्धो मुच्येत बन्धनात् ५।११

जो दासत्व की शृंखला में बँधे हैं, उनके छुटकारे का उपाय सत्य का व्रत या आग्रह है। सत्यव्रती को बंधन में रखनेवाला कोई जन्मा ही नहीं। यह प्राकृतिक नियमों के ही प्रतिकूल है। सत्य के अर्थ अनंत विस्तार अर्थात् स्वतंत्रता के हैं, अनृत के माने बंधन, संकोच या महदूद होने के हैं। इसलिये जो सत्य का व्रत लेंगे, वे अन्याय के नीचे पिसना क़बूल न करेंगे, वे अपनी आत्मा का विकास चाहेंगे और चाहे उनके दबानेवालों की शक्ति रावण या हिरण्यकशिपु के तुल्य ही क्यों न हो, वे अकेले ही निर्भय होकर उसका विरोध करेंगे।

सत्य के आग्रह से आत्मा का तेज जाग उठता है। शरीर के नवों द्वारों से प्रकाश-पुंज खिल जाता है। सत्य का रूप ज्वलंत हिरण्यमय है। इसलिये हज़ारों मील दूर पर बैठे हुए मनुष्य भी सत्याग्रही या सत्यव्रती की महिमा से मुग्ध हो जाते हैं। यही सत्य का विष्णुरूप है। वह तुरंत सर्वत्र व्याप जाता है। बारदोली के ग़रीब किसान अपने बल पर सत्य का आग्रह लेकर लड़ने लगे। उनके सरदार ने बहुत कहा कि हमारा प्रश्न एक-देशीय है। लेकिन सत्य के मनोहर रूप ने सारे देश के नेत्रों को अपनी ओर खींच लिया। त्रिविक्रम विष्णु की तरह देशदेशांतरों में भी बारदोली की बिजली झपट गई। निश्चय ही सत्य विष्णुरूप है। सत्य के आग्रही के साथ सारी वसुधा का कुटुंबभाव रहता है। बिना कहे ही सब उसके साथ संबंध और सहानुभूति प्रकट

करने लगते हैं। ऐसा सत्यव्रती निर्बल नहीं कहला सकता। उसके भौतिक नाश में भी विजय रहती है। यह ऐसा संग्राम है, जिसमें शत्रुपक्ष की ही सदा पराजय होती है। लेकिन सत्याग्रही को अच्युत होना चाहिए।

हमारी पाँच अध्याय की सत्यनारायण की व्रत-कथा में उपरोक्त सब तत्त्व भरे हुए हैं। भगवान् के सत्य-व्रत-रूप का (God conceived as Truth) इन १६२ श्लोकों में अच्छा निरूपण है। बहुत-से लोग प्रश्न किया करते हैं कि हमें जो कथा सुनाई जाती है, उसमें लिखा है कि सदानंद ब्राह्मण ने कथा सुनी, साधु बनिए ने कथा सुनी, या अंगध्वज राजा और काष्ठक्रेता लकड़हारे ने कथा सुनी, इसलिये वह असली सत्य-नारायण की कथा कौन-सी है। बात यह है कि ऐसे मनुष्यों ने व्रत और कथा के भेद को नहीं समझा है। प्रचलित कथा में जिस बात का विधान है, वह सत्य-नारायण का व्रत है। नैमिषारण्य में एकत्र हुए शौनक प्रमुख अट्ठासी सहस्र ऋषियों ने सूतजी से भी यही प्रश्न किया है--

व्रतेन तपसा किं वा प्राप्यते वाञ्छितं फलम् ।
तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामः कथयस्व महामुने ॥ १।२

अर्थात् हे मुनिसत्तम, जिस व्रत और तपस्या से जो हम चाहते हैं, वह प्राप्त कर सकते हों, उसे आप कहिए, हम सुनने को उत्सुक हैं। यहाँ असली चीज़ व्रत है। व्रत का बखान करने से कथा तो बन ही जायगी। 'कथयस्व' शब्द में ही कथ् धातु है अर्थात् जब सूतजी व्रत को कहने लगे, तो वह कहानी ही कथा बन गई। सत्यव्रत सब देशों और कालों में एक ही रहेगा। कथाएँ बदलती रहेंगी। आत्म-तत्त्व में भेद नहीं होता, लेकिन शरीरों में विभिन्नता होती है। ऐसे ही सत्य के आग्रह का भाव सदा सर्वत्र अपरिवर्तनशील है। उसके प्रकट होने के अनेक रूप हैं और इसलिये सत्य की कथाएँ भी अनेक हैं। प्रह्लाद की कथा दूसरी है, गुरु गोविंद-सिंह के पुत्रों की दूसरी है, सुक़रात की कहानी और तरह की है तथा वेणु का चरित्र और कुछ है, परंतु इन सबके मूल में सत्य-असत्य का द्वंद्व एक ही है। बारदोली, चंपारन, नागपुर, बोरसद, गुरु का बाग़ के सत्यव्रतों की कहानी के रूपों में भेद है। इसीलिये सूतजी ने कहा है—

नानारूपधरो भूत्वा सर्वेषामीप्सितप्रदः ।५।१५

अर्थात् सत्य का व्रत अनेक रूप धरकर प्रकट होता है। क्या पृथिवीमंडल पर ऐसा भी कोई है, जो सत्य के आश्रय से अपनी साध पूरी न कर ले? निर्बल और दरिद्री, हारे हुए और सताए हुए सब ही सत्य के अस्त्र का प्रयोग करके अपने संकटों को मेट सकते हैं। इस संसार में क्लेशों का ठिकाना नहीं है, दुःखों की गिनती कहाँ हो सकती है। इसीलिये नारदजी ने इस मर्त्यलोक अर्थात् हमारे संसार में सब जनों को अनेक पाप-कर्मों से पचते हुए और नाना दुःखों से तपते हुए देखा—

ततो दृष्ट्वा जनान् सर्वान्नानाक्लेशसमन्वितान् ।
नानायोनिसमुत्पन्नान् क्लिश्यमानान्स्वकर्मभिः ॥

जिन्होंने इस लोक के आर्तजनों के त्राहि रव को एक बार भी सुना है, उन सदय महात्माओं के मन में पहला करुण स्रोत यही वह निकलता है—हे भगवान्, किस उपाय से इन सबका दुःख दूर किया जा सकता है?

केनोपायेन चैतेषां दुःखनाशो भवेद्ध्रुवम् ।

यह प्रश्न सार्वभौम है। किसी ख़ास गिरोह की तकलीफ़ों या स्वार्थों के लिये लड़ने का प्रश्न नहीं है। सब मनुष्यों को सत्य के उल्लंघन करने से जो शारीरिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और मानसिक कष्ट भुगतने पड़ रहे हैं, उनसे उनका छुटकारा कराने के लिये नारदजी ने 'लघु उपाय' जानना चाहा।[1] लघूपाय शब्द महत्त्व का है। नारदजी ऊपर की लीपापोती से दुःख का क्षणिक निराकरण नहीं चाहते, वे दुःखों के मौलिक कारण को जानना चाहते हैं और उसी के हटाने का उपाय पूछते

१—नारद ने विष्णु से प्रश्न किया—

मर्त्यलोके जनाः सर्वे नानाक्लेशसमन्विताः ।
नानायोनिसमुत्पन्नाः पच्यन्ते पापकर्मभिः ॥ ११
तत्कथं शमयेन्नाथ लघूपायेन तद्वद ।
श्रोतुमिच्छामि तत्सर्वं कृपास्ति यदि ते मयि ॥ १२ ॥

अर्थात् इस मृत्युलोक (World of mortals) में सब प्राणी नाना प्रकार के क्लेशों से युक्त हैं और अनेक योनियों में जन्म लेकर नाना प्रकार के पापकर्मों से दुःख उठाते हैं। हे प्रभो! मैं आपसे अपने लिये कुछ नहीं चाहता। यदि आप विष्णु हैं और प्राणियों के आर्तिनाशन के लिये ही आपकी जनार्दन संज्ञा है, तो वह 'लघु उपाय' बताइए, जिससे सबके सभी प्रकार के दुःख मिट जायँ।

हैं। तह की बात (Foundamental) हमेशा बहुत लघु या सीधी (Simple) होती है। राजनैतिक जगत् में संसार के सामने सबसे बड़ा प्रश्न देशों की आज़ादी का है। लेकिन आज़ादी हासिल करने की समस्या से भी अधिक व्यापक और भारी हिंसा-प्रवृत्ति की समस्या है, जिसके सुलझाने के लिये बड़े-बड़े निःशस्त्रीकरण सम्मेलन किए जाते हैं। साम्राज्यवाद, राज्य-लिप्सा का आधार संगठित हिंसा है। इसलिये देश की आज़ादी हासिल करने की कोशिश के ऊपर हिंसा का मुक़ाबला करने की समस्या है। संसार-व्यापी हिंसा का प्रतीकार अहिंसा-नीति है। अहिंसा सत्य का ही दूसरा नाम है। चाहे मनुष्यों का कष्ट आज दूर हो, चाहे हज़ार वर्ष में, और या कभी दूर न हो, उसका लघूपाय 'सत्य' ही है।

देश-देश और व्यक्ति-व्यक्ति के लिये यही एक मार्ग है कि वह सत्य का आग्रह करे। लोकानुग्रह (Happiness of Humanity) के लिये सत्य से बढ़कर उपाय नहीं है, लोकानुग्रह से उच्चतर सभ्यता का ध्येय नहीं हो सकता, और नारद-जैसे महात्माओं के लिये लोकानुग्रह से परे कोई अकांक्षा नहीं है। प्रश्न सुनकर विष्णु भगवान् ने कहा—हे वत्स ! तुम्हारा प्रश्न साधु (Highly philanthropic) है। लोकानुग्रह की इच्छा से तुम इस प्रकार की समस्या हल करना चाहते हो। जिसके द्वारा समस्त जन दुःखों से छूट सकें, ऐसा व्रत मैं तुमसे कहता हूँ। उस व्रत में इस लोक और परलोक दोनों का समाहार है; समाजनीति और धर्मनीति दोनों के आपसी द्वंद्व को मिटानेवाला [स्वर्गे मर्त्ये च दुर्लभम्] वह सत्यनारायण का व्रत है जिसके करने से [सम्यग् विधानतः] मनुष्य इस लोक में सुख पाते हैं और अंत में मोक्ष (सद्गति) प्राप्त करते हैं।"* यदि शुरू से लोगों ने समाज और सत्यनीति, राष्ट्र और धर्म के समन्वय का प्रयत्न किया होता, तो सभ्यताओं के इतिहास में जहाँ ख़ून से सफ़े रँगे हैं, वहाँ अमृत की मधुधाराएँ बहती होतीं। आज संसार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति ने इसी विशुद्ध भारतीय सिद्धांत की घोषणा की है। 'अहिंसा और सत्य स्वराज्य से बढ़कर हैं।' अहिंसा के मार्ग से न केवल भारतवर्ष का कल्याण होगा, बल्कि हमारे ऊपर ज़ुल्म करनेवाले परदेसियों के सुधार का भी यही एक मार्ग है।

नारदजी ने व्रत का नाम सुनकर पूछा कि—महाराज, उसका फल क्या है ? विस्तार से बताइए, कब और कैसे वह व्रत किया जाय ? सत्यव्रत [=सत्याग्रह; व्रती= आग्रही] का नाम सब जानते हैं, लेकिन भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में तरह-तरह के दुःखों को दूर करने के लिये अलग-अलग व्यक्तियों के लिये उसकी तफ़सील करने का काम कोई महात्मा ही कर सकते हैं। विष्णु ने कहा कि सत्य के निम्न-लिखित लाभ हैं—

(१) धनधान्य-प्रवर्धनम्—ग़रीबी, आर्थिक चिंता, परदेसियों की लूट, बेकारी, तंगी, खसोटुआ व्यापार सबसे रक्षा करनेवाला सत्यमय अर्थशास्त्र (True Economics) है। अर्थशास्त्र के लाखों पोथी-पत्रे पढ़ने से देश या जनता का धेला-भर भी कल्याण नहीं हो सकता। बड़े-बड़े जटिल सिद्धांतों के प्रतिपादन में भी लोक-कल्याण की कुंजी नहीं है। अर्थशास्त्र की निगरानी जिनके हाथों में है, जब तक उनकी नीयत सत्यमय नहीं होगी, हमारे कष्टों का अंत न होगा। स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार सत्य है, विदेशी चीज़ों का इस्तेमाल सत्य का निरादर है। वस्त्र-व्यवसाय में सबसे बड़ा सत्य चर्ख़ाशास्त्र है, जिसके बने हुए खद्दर के इस्तेमाल से एक रुपए में तेरह आने देहात के ग़रीबों को प्राप्त होते हैं। यह आँकड़ों से निकाली गई बात है कि जो आदमी गज़-भर खद्दर मोल लेता है, वह एक ग़रीब को एक वक़्त के भोजन का सहारा देता है। आज मुल्क की बढ़ी हुई कंगाली की ख़ास वजह यह है कि हमारे अर्थशास्त्र की बुनियाद सत्य पर नहीं है। इसी एक बात को दिखाने के लिये एक मोटी पुस्तक लिखी जा सकती है। कृषि, खनिज, संपत्ति, रेल, मुद्रादर, विनिमय, सरकारी ख़र्च, ज़मीन का लगान सब जगह लूट का बाज़ार गर्म है। हम ख़ुद भी बहुत अंश में इस बिगड़ी हुई हालत के लिये ज़िम्मेवार हैं। जो विद्वान् सत्यनारायण के व्रत की कथा कहते और सुनते हैं, उन्हीं

* व्रतमस्ति महत्पुण्यं स्वर्गे मर्त्ये च दुर्लभम्।
तव स्नेहान्मया वत्स प्रकाशः क्रियतेऽधुना ॥
सत्यनारायणस्यैवं व्रतं सम्यग् विधानतः।
कृत्वा सद्यः सुखं भुक्त्वा परत्र मोक्षमाप्नुयात् ॥१।१४-१५

के हाथों उसी वक्त सत्य पर कुठाराघात किया जाता है। ठाकुरजी को विदेशी मलमल या रेशम में लपेटकर और प्रसादों में विलायती चीनी का व्यवहार करके भी अगर हम इस बात का जाप करें कि सत्यभगवान् की कृपा से हमको धनधान्य प्राप्त होगा, तो हमसे बढ़कर जाहिल और आत्महनन करनेवाला कौन है [धन-धान्यादिकं तस्य भवेत्सत्यप्रसादतः] । कथा में तो साफ़ लिखा है कि सत्य के व्रत से दरिद्री धनवान् हो जाता है [दरिद्रो लभते वित्तं—५।११], लेकिन इस नुसख़े को जानकर भी विना पीए दरिद्रता की विषम पीर कैसे मिट सकती है ?

(२) दुःखशोकादिशमनम् [१।१७]—सत्य का आचरण दासता, बेगार, ज़ुल्म, अपमान, बंधन, निपीड़न आदि समस्त दुःखों का नाश करता है। चंपारन का सत्याग्रह इस बात का प्रमाण है कि किस प्रकार विहार के कंकाली किसानों ने निलहे गोरों से लोहा लेकर ज़ुल्म का अंत किया। हाल ही में बारदोली के किसानों ने बढ़ती लगान के विरुद्ध सत्याग्रह का अस्त्र उठाकर मदोद्धत सरकार को भी न्याय करने पर विवश किया। सत्य की कथा का सुनना इसका नाम है। ग़रीब प्रजा को असहाय जानकर लगान बेशी कर दिया गया। उस प्रजा को एक महात्मा के शिष्य एक लड़ंते सरदार ने सत्य की कथा सुना दी और उन लोगों ने ऐसे भक्ति-भाव और दृढ़ निष्ठा से [भक्तिश्रद्धासमन्वितः—१।१८] कथा सुन ली कि सारे दुःख-शोक छूमंतर हो गए। जहाँ-जहाँ सबल का निर्बल पर अत्याचार है, वहीं-वहीं सत्य का अस्त्र काम में लाया जा सकता है।

(३) भीतो भयात्प्रमुच्येत [५।१२]—सत्य का व्रत कायरों को वीर बना देता है; सत्याग्रह से मुर्दों में भी जान पड़ जाती है। अत्याचारी सदा हाँ-हाँ सुनता रहता है, सत्याग्रही पहली बार उसको 'नहीं' का सिंहनाद सुनाता है। 'नहीं' कह सकना बड़ी मर्दानगी का काम है। नहीं कहने से संघर्ष की अग्नि प्रज्वलित हो उठती है और सत्यव्रती अपने-आपको उसमें आहुति देने के लिये आगे बढ़ाता है। वह कहता है—हे अग्ने! यह आत्मा ही तेरा ईंधन हो, इसी से तू प्रदीप्त हो' [अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व*] । जब तक नेता में—'नहीं' कहनेवाले अग्रणी वीर में—आत्मा की आहुति देने का भाव नहीं पैदा होता, आंदोलन की आग पूरी तरह नहीं भड़कती। जिस दिन सारी जनता में आत्मा की आहुति देने का भाव पैदा हो जाता है, उसी दिन सारे पाप-दुःख-शोक स्वाहा हो जाते हैं। सत्याग्रह की आग में अपने-आपको ईंधन बनाकर प्रतिपक्षी को पिघलाना पड़ता है, इसलिये सत्याग्रह निर्बलों का अस्त्र नहीं है। सत्यव्रती मरना जानता है, वह कभी विचलित नहीं होता और न दूसरे की ओर प्रतिहिंसा का भाव मन में लाता है। मारने के लिये हथियार उठाने के मूल में कायरता छिपी हुई होती है, धैर्य और शांति से सत्य की रक्षा में अपनी आहुति दे देना ही सात्त्विक वीरता और अभय का लक्षण है। सत्य का आग्रह पकड़ते ही मोम के समान कोमल आदमी भी वज्र के समान कठोर हो जाता है। जिस सत्याग्रही को प्रति द्वंद्वी अत्याचारी हलुआ समझता था, वही उसके छक्के छुड़ा देता है। जान-माल, बाल-बच्चे, स्त्री, पशु आदि सब बातों के मोह से सत्याग्रही छूट जाता है। न वह तोप से डरता है, न गोलों से, बरसती हुई आग में वह धैर्य के साथ हँसता हुआ चला जाता है। जिस वक्त सब भय से थर-थर काँपते हैं, सत्याग्रही ज़रा भी नहीं डिगता। यदि यह देखना हो कि भीत आदमी भय से कैसे मुक्त हो जाता है, तो हमें बारदोली के सत्याग्रह में भाग लेनेवाली रानी परज नाम की अछूत कहानेवाली दुबला, ढोडिया आदि जातियों के इतिहास को पढ़ना चाहिए। जो मृगों से भी ज़्यादा भीरु थे, उन्होंने ही सत्य का व्रत लेकर न्याय का मुख उज्ज्वल किया। 'भीतो भयात् प्रमुच्येत' के भाव को ही सूरदासजी ने 'सुन री मैंने निर्बल के बल राम' की धुन में गाया है।

(४) बद्धो मुच्येत बन्धनात् [५।११]—दासता की बेड़ी काटने के लिये सत्य-व्रत से बढ़कर दूसरा अस्त्र नहीं है। कुछ लोगों का विश्वास है कि देहिं-देहि की नीति से भिक्षा माँगते रहने से आज़ादी हासिल हो सकती है। ऐसे लोग इतने निःसत्त्व हो गए हैं कि बार-बार के अपमान से क्षुभित भी नहीं होते। भीख माँगना आत्म-शक्ति की ग़रीबी का लक्षण है, यह सत्य का मार्ग नहीं है। दूसरे लोग वे हैं, जो बंधन तोड़ने के लिये एकदम विकल हो

* आश्वलायन गृह्यसूत्र १।१०।१२

उठे हैं और जिस हिंस्र मार्ग का सहारा हमारे विरोधी ले रहे हैं, उसी हिंसा-मय पथ को अपनाना चाहते हैं। परंतु यह भी सत्य का मार्ग नहीं है। सबसे बढ़कर सत्य का मार्ग अहिंसा का है, जिसमें शत्रु को भी मित्र बनाया जा सकता है और हिंसा के लिये उन्मत्त पृथ्वी के सामने अध्यात्म का नया और सुंदर मार्ग रक्खा जा सकता है। सूतजी का प्रयोजन यही है कि आज़ाद होकर रहना सत्य, और ग़ुलाम बनकर रहना अनृत है। सत्य की लड़ाई में कभी हार नहीं होती [सर्वत्र विजयप्रदम्—१।१८]। जीते रहने पर तो विजय मिलती ही है, सत्य के संग्राम में मारे जाने पर भी विजय का यश हाथ आता है। सुक़रात, ईसा और जोन को हारा हुआ कौन कह सकता है ? जिसे सूतजी ने कलियुग कहा है, उस सांप्रतिक युग में सामूहिक धूर्तता और छल-कपट को बड़ी प्रधानता मिली हुई है। बड़े-बड़े ज़िम्मेदार राजनीतिज्ञ जिन्हें साधु और ऋषि-वृत्ति का होना चाहिए सरासर खुले आम कूटनीति और झूठ का व्यवहार करते हैं, और सभ्य कहलानेवाले देश इस नग्न बेहयाई के नृत्य को न सिर्फ़ बरदाश्त करते हैं बल्कि उलटे उसमें दाद देते हैं, इसे तो सभ्यता का दिवाला ही कहना चाहिए। सूतजी ने जो कलियुग के लिये सत्य की उपासना का ख़ास विधान किया है, इस बात में सभ्यता के लिये बहुत उपदेश भरा है [विशेषतः कलियुगे सत्यपूजा फलप्रदा...... भविष्यति कलौ सत्यव्रतरूपी सनातनः—१।१६]।

सत्य को ब्रह्म या भगवान् की पदवी देकर यदि सभ्यताएँ उसकी उपासना करें, तभी कल्याण की आशा है। इस समय ब्रह्मवाद या धर्म को लोगों ने पीछे ढकेल दिया है। लेकिन वर्तमान जगत् में वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ और समाजशास्त्री, तीनों में कोई भी ऐसा नहीं है, जो सत्य को (Universal Righteousness and Truth) समस्त व्यवहारों का नियंता और प्रतिष्ठाता न मानता हो। यदि सत्य से लोग इनकार कर दें, तो सभ्यता की इमारत क्षण-भर में लड़खड़ाकर गिर जाय। वस्तुतः क़ानूनी दाव-पेचों और अंतर्राष्ट्रीय विधानों के बहाने इसी बात का दावा किया जाता है कि मनुष्यों और जातियों के पारस्परिक व्यवहार सत्य के आश्रय से चल रहे हैं। हम कह सकते हैं कि इस वक़्त का सबसे बड़ा दर्शन नीतिधर्म है और मुँह से कोई इस बात का इनकारी नहीं कि सत्य पर ही समाज की नींव है। इस कारण से सूतजी की यह बात कि सत्य कलियुग का सामयिक धर्म है, अक्षरशः सत्य है।

अगर हमने सत्य को मान लिया है—जैसा कि है—तो फिर इस बात की चिंता नहीं कि भगवान् के प्रति हमारे क्या भाव हैं। क्योंकि सत्य स्वयं विराट्रूप है और उसमें समस्त पदार्थों का समावेश हो जाता है। मानवी जीवन में जो कुछ भलाई और आनंद हम देखना चाहते हैं, वह सब सत्य के प्रसाद से ही सिद्ध हो जायगा। भारतीय ऋषि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से सत्य के इस व्यापक रूप को देखते थे। इसी सत्यनारायण की कथा में इस बात का संकेत है—

केचित्कालं वदिष्यन्ति सत्यमीशं तमेव च।
सत्यनारायणं केचित्सत्यदेवं तथापरे॥
नानारूपधरो भूत्वा सर्वेषामीप्सितप्रदः।
भविष्यति कलौ सत्यव्रतरूपी सनातनः॥

अर्थात् कोई उसे काल, कोई सत्य, कोई ईश, कोई सत्यनारायण, कोई सत्यदेव कहते हैं। सत्यव्रतरूपी सनातन भगवान् नाना रूप धरके समस्त मनोरथों की पूर्ति करते हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में सत्य विष्णुरूप से फैला हुआ है। वह जीवन की स्थिति का हेतु है। विष्णु की संज्ञा अच्युत है। किसी भी समय अपनी सत्य-प्रतिष्ठा को स्खलित न होने देने के कारण ही विष्णु अच्युत कहे जाते हैं। उसी समाज का जीवन सात्त्विक है, जिसमें सत्यरूपी विष्णु का अच्युत रूप बरक़रार है। दुर्भाग्य से आज समाज का कोई ही व्यक्ति ऐसा बचा होगा, जिसमें आत्म-वंचना का जाल न फैला हो। इसलिये आज नारदजी का यह वचन बिलकुल पूरा उतर रहा है—

मर्त्यलोके जनाः सर्वे......पच्यन्ते पापकर्मभिः।

वासुदेव

केसरिया बाना

अरे बलैयाँ लूँ, ऐ मृगियाँ, कहीं न नज़र लगाना
पंकज, हास्योत्फुल्ल देखकर मुखड़ा मत सकुचाना
औ मनोज टूटेंगे तेरे कुसुम-बाण बख़्तर पर
ऊषा, तुझसे चटकदार है यह केसरिया बाना।

लिख ले नियति, भाग का लेखा
सूख न जाय अश्रु की रेखा
अभी देखना है, क्या देखा।

चले नमक के पुतले लेने रत्नाकर की थाह
और मोमदीपों का जलना था राक्षसी उछाह
कैसा वह भोलापन था आए जब सलभ मिटाने
दाहक दीपशिखा से अपने अंतरतर का दाह।

जल बुद्-बुद् का था त्यौहार
वध्य जंतुओं का बाज़ार
जीवित-मुरदों की भरमार।

मक्खन की तलवार और छत्रक की लेकर ढाल
मृगमरीचिका के परकोटे में छिप बैठे लाल !
टक्कर मेढ़े की सहना है, लड़ना है गजपति से
क्षुब्धसिंधु की आज रोकनी हैं लहरें उत्ताल।

ज्वालामय है अवनीअंबर
तपतीं सभी दिशाएँ जलकर
आग उगलते हैं शशि-दिनकर

और लाख के घोड़े पर यह दूलहा हुआ सवार।
विजयकुमारी रहती है अंतक वन के उस पार
चिता प्रवेशपौर है, जाकर उसे बरे जो वीर
उसके लिये खुला है संतत स्वप्नपुरी का द्वार।

जहाँ मरण बनता है जीवन
जहाँ अंत बनता है यौवन
जहाँ मुक्ति बनती है बंधन

तीखे तीर जहाँ बनते हैं अंतर का शृंगार
जहाँ तेग बन जाता है हे देव, गले का हार
जहाँ मृत्यु बन जाती है सहचरी शेष जीवन की
जहाँ सीस बन जाता है अपने कन्धों का भार।

वहाँ न जाना सहृदय-कोमल,
जहाँ रक्त बन जाता है जल
प्यास बुझाने का अति निर्मल

जिस सागर में अपने को ही नाव बना खेते हैं
मस्तक देकर हृदय पराया जहाँ मोल लेते हैं
अपनी ही आँतों की रस्सी बना पा गए फाँसी
ख़ुद अपनी आँखें निकालकर कौवों को देते हैं।

पंचतत्त्व का अद्भुत मेल
नरतन है यह जिनका खेल
सुमन-बाण क्या तीखा शेल

देखो, कुछ हुतात्माएँ हैं खड़ी काल की छाया में
भेदभाव वे भूल गई हैं अपना और पराया में
जिस पथ पर जाना है उस पर ऊँच-नीच का भेद नहीं
सृष्टि-स्थिति-प्रलय तीनों हैं इस मिट्टी की काया में

है साथी नंगी तलवार
है पाथेय जगत् का प्यार
मार्ग-प्रदर्शक करुणाधार

उमड़ रही है कालसिंधु-सी यह अकबर की सेना
अरी कल्पने, मूर्च्छित होगी उधर ध्यान मत देना !
तोपें चढ़ी चरख़ियों पर, हाथी की प्रबल क़तारें
इधर काल की गोदी में मुट्ठी-भर बचा चबेना

केवल मिथ्या का व्यापार
"चलचित्रों" का औ' संसार,
फिर क्यों इतना अत्याचार ?

नाश नहीं है किसी वस्तु का केवल परिवर्तन है
बस, परिवर्तित रूप मरण का यह कोमल जीवन है
जगत् ईशमय और ईश की सत्ता अविनाशी है
पर "आत्मानं विद्धि" मंत्र को नहीं जानता मन है

अंतर - बाहर हाहाकार
व्याकुल प्राणों का चीत्कार
चिंता-भय-तृष्णा की मार

व्याकुल है मूरख अपने ही कंधों पर चढ़ने को
व्याकुल है मूरख पत्थर का जगस्रष्टा गढ़ने को

कैसा यह अल्हड़पन है सूखे पत्तों की ढेरी
झंझा के ही सम्मुख प्रस्तुत है आगे बढ़ने को
कैसा है प्यारा भोलापन
बच्चों से भी कोमलतर मन
(आशाहीन भयंकर जीवन)

जीवनमुक्त दशा में थे वे केसरिया बानावाले
कवि से भी भावुक, मृगपति से बढ़ आफ़त के परकाले
जौहरव्रत की ज्वाला को अंतर में भर लाए थे
कैसे लिखूँ, न जायँ कहीं पड़ मधुर कल्पना पर छाले
हे कवि, भूल प्रेम की गलियाँ
भूल रसिकता रसमय अलियाँ
कोमलकांत पद्य की कलियाँ

हे कविते, वीणा की झंकारों पर तुझे नचाया था
हे कविते, तेरी कोमलता पर पंकज ललचाया था
थी मेरे एकांत-शांत-जीवन की तू प्यारी पुतली
तेरा भुवनमनोहर यौवन मुझे हृदय से भाया था
लाकर अलंकार सुकुमार
अनाघ्रात कलियों का हार
करता था तेरा शृंगार

तेरे अधरों पर चुम्बन की स्मृतियाँ सुखद छोड़ता था
और स्वप्नमय-जीवन से नाता प्रियतमे, जोड़ता था
भूल गया था पाप-तापमय जग की सभी यंत्रणाएँ
एक-एक कर जटिल मानसिक बंधन सदा तोड़ता था
हे मानसमंदिर की रानी,
अयी सहचरी, ओ कल्याणी,
ज़रा सुना दे रौद्र कहानी

अस्थिर चोला छोड़ तुझे अब अमर-रूप धरना होगा
हे कवितासुखमयी, इसी से "जौहरव्रत" करना होगा
आज लिखूँगा केसरियाबानावाले की गाथा
ज्वालामयी कल्पना में जलना होगा; मरना होगा
हे कवि, जीवन का फल पा ले
पुण्यगीत जी भरकर गा ले
अब अतीत का स्वप्न दिखा ले

जिन वीरों ने दी थी अपने गरम ख़ून की खाद
जिन वीरों ने किया सत्य पर अपने को बरबाद
देख-देख "हल्दीघाटी" वह "अरावली" "चित्तौड़"
ईंटे-पत्थर रहकर भी करते हैं उनकी याद
बत्तिस कोटि शवों की बस्ती
की थी क्या ज़िंदों में हस्ती
आ जाती थी सिर पर पस्ती

हुआ फूल में चिनगी का अवतार वीर जयचंद
कितने "जौहर" हुए यहाँ जिसके कारण स्वच्छंद
लाखों केसरियाबानावाले जिसकी करनी से
चले गए अंतकपुर में दूल्हा बनकर सानंद
कीजे रणस्थली का ध्यान
खड़े जहाँ हैं काल-समान
रणपंडित दुर्धर्ष महान

कोसों तक हैं खड़ी क़तारें मुग़लों और पठानों की
चमक रही हैं रविकिरणों में अनियाँ बरछी-बाणों की
झनझन करती हैं तलवारें सिरत्राण से टकराकर
कौन जूझता है इनसे ममता बिसार प्राणों की
सम्मुख खड़ा हुआ है गिरिवर
छोटा-सा गढ़ रखकर सिर पर
मानो राजमुकुट हो सुंदर

उसी मुकुट को चूर्ण करेंगे ये प्रचंड सत्ताधारी
बीच-बीच में अग्नि उगलती हैं तोपें बारी-बारी
होकर क्षुब्ध प्रतिध्वनि-मिस गिरि भी गर्जन करता है
पर सुनकर असफल-तर्जन हँस देते हैं गिरिवरधारी
फिर गोलों की भीषण मार
वज्रपात ध्वंसक व्यापार
भीत श्वापदों का चीत्कार

धीरे-धीरे दिनकर डूबा घाटी के उस पार
आई निशा राक्षसी करके कज्जल का शृंगार
अंधकार में झूम रहे थे वृक्ष कालदूतों-से
उदय हुआ बंकिम शशि मानो चंडी की तलवार
फिर तोपों का क्षण-क्षण गर्जन
पल-भर उद्भासित होता वन
अंधकार छा जाता भीषण

वाचक, ज़रा चलो उस गढ़ में हृदय थामकर आप
सभी प्रसन्न नहीं करता है कोई जहाँ विलाप
कुछ मासूम और कुछ वधुएँ, सुंदरियाँ, वृद्धाएँ हैं
जहाँ नहीं है दैन्य, पलायन, चिंता, भय, संताप
पुरुषों में कुछ तो आहत हैं
कुछ योद्धा कुछ यौवनगत हैं
पर सबका यह निश्चल मत है—

"जौहरव्रत का समय हो गया छोड़ो ममता-माया
सदा नहीं रहने की यह पामर मिट्टी की काया
शैयागत होकर मरना है कायर नर का काम
स्वागत बढ़कर आज करेंगे प्रबल शत्रु जो आया
एक लिंग की जै-जैकार
समय आ गया हो तैयार
है अब मुक्त स्वर्ग का द्वार"

गढ़पति की घोषणा हुई "अब जौहरव्रत करना होगा
जीवित रहें जातियाँ जिससे इसी लिये मरना होगा"
बढ़े धड़कते हुए हृदय को थाम अस्त्रशाला में
ला-लाकर बारूद एक छोटा-सा घर भरना होगा
क्षण में हुई पूर्ण तैयारी
आई अब आहुति की बारी
(वज्र हृदय तेरी बलिहारी)

हुई इकट्ठी मोमपुतलियाँ हँसती और हँसाती
आपस में करती ठठोलियाँ जीवनज्योति जगातीं
कोई थी द्विहृदया, किसी की गोदी में बच्चा था
पीछे वृद्धाएँ थीं मंगल-गान भक्ति से गातीं
कैसा था वह दृश्य मनोहर
ज़रा धड़कता हृदय थामकर
सोचो वाचक, रुककर क्षण-भर

सुख की कितनी मधुर लालसाएँ, प्रियतम का प्यार,
उठती हुई जवानी की घातक मदभरी खुमार
हृदय कँपाती हाय गोद के बच्चों की किलकारी
नहीं जानते वे पल-भर में होगा बेड़ा पार
फैल रहा था क्षीणालोक
फैल रहा था नीरव शोक
काल खड़ा था पथ को रोक

इसीलिये ये गगन-मार्ग से चढ़ धूएँ के रथ पर
जाने को उद्यत हैं, देखो काँप उठा फिर गिरिवर
गिरा एक कंगूरा गढ़ का फटी प्रबल दीवार
आने लगा प्रकाश शत्रुसेना का उससे छनकर
देखा कुछ वीरों ने बढ़कर
अंतक का दल ऊपर चढ़कर
करता है आक्रमण द्वार पर

"समय नहीं है ममता छोड़ो, वीरो, आग लगा दो
पहले ही उस दुर्जय गढ़ में इन्हें शीघ्र पहुँचा दो
देवि, प्रतीक्षा करना, चिंता करो न, हम भी आए
चंडी के चरणों पर बढ़कर अंतिम भेंट चढ़ा दो"
घोर शब्द दहलानेवाला
ज्वाला, ज्वाला, भीषण ज्वाला
छाया चारों ओर उजाला

कौंध गई बिजली, फिर गरजा वज्र, खुल गया द्वार
निकले केसरियाबानावाले लेकर तलवार
तड़पा सिंह चोट खाकर भागा हाथी का झुंड
गिरे रुंड पर रुंड मच गया दल में हाहाकार
अंधकार में शिलाखंड पर
वीरों की तलवारें गिरकर
करती थीं झंकार भयंकर

बंद यहाँ था सोलह आने आँखों का व्यापार
केवल कानों से सुन पड़ता था व्यापक चीत्कार
योद्धाओं का गर्जन तर्जन, सन्नाटा बाणों का
बीच-बीच में "अल्ला हो अकबर" की आर्त पुकार
नियति, तुझे है कुछ भी याद
सुना कभी था सहित विषाद
"एक लिंग की जै" का नाद

एक बार, बस एक बार बिजली-सा कौंध गगन में
छिपे बीर केसरियाबानावाले अंतक घन में
घुसी सियारों की सेना (चढ़ती सरिता की धारा-सी)
हाय, सिंह की शून्य गुफा के छोटे-से प्रांगण में
दिल्ली का यह अमिट कलंक !
मारवाड़ का कीर्ति-मयंक !
रणनाटक का अंतिम अंक !

हे जग के जीवन, नमस्कार,
हे निर्धन के धन, नमस्कार ।
हे वीर-प्रसवनी, नमस्कार,
हे भारत-जननी, नमस्कार ।
हे सौम्य, कराली नमस्कार,
"जौहरव्रतवाली" नमस्कार !
नमस्कार हे नमस्कार !

वियोगी

सूक्ति-सुधा

आसन, बसन, बेस रतन बिभूषन की,
सुंदर सुगंधन की रुचि सब टूटैगी ;
मनिमय मंदिर की, मृदु सुचि सेजन की,
भनत 'बिसारद' न हौंस हिये जूटैगी।
बीथिन की बिबिध बहार उपवन हू की,
चितहि सकल वर-लालसा न लूटैगी ;
तेरे मुखचंद की चकोरी रहिबे की एक,
एहो नंदलाल नेक वासना न छूटैगी।

नैनन में लसी है लुनाई की लहरि तेरी,
स्रोनन में गसी मृदु बैनन की भीर है ;
नासा अधि संचरित सहज सुबास सुचि,
सदा सब याम एक रस त्यों गहीर है।
रसना में रमित 'बिसारद' अमित रूप,
तुव-गुन-गान-स्वाद जाकी न नजीर है ;
एहो प्रेमदेव ! मेरे हृदय-पटल पर,
रंग भरी लिखित तिहारी तसवीर है।

बलदेवप्रसाद टंडन 'बिसारद'

राजगीर तथा नालन्द-विश्वविद्यालय

भारतवर्ष में कई प्राचीन स्थान हैं और उनके महत्त्व को सर्वसाधारण नहीं जानते; उन्हीं स्थानों में से ऊपर लिखे दो स्थानों को देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। ये स्थान अत्यन्त ही प्राचीन हैं, जिस कारण ऐतिहासिक इन्हें बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। राजगीर में जो गरम पानी के स्वाभाविक सोते हैं, उनसे तथा भगवान् बुद्धदेव का स्थान होने से वहाँ का महत्त्व और भी बढ़ता है। नालन्द जो कि किसी समय में एक रमणीय स्थान था और जहाँ देश-देशान्तर से ज्ञान प्राप्त करने को विद्यार्थी आते थे, आज उजाड़ हो गया है। इतिहास में यह स्थान बहुत ही प्रसिद्ध था और बौद्धों का मुख्य केन्द्र था। इस गिरे हुए नगर के कुछ चिह्न प्रतीत होने पर अन्वेषण के लिये भारत-सरकार की तरफ़ से खुदाई शुरू हुई है और एक शहर का शहर खुदाई में मिला है। ऐतिहासिक दृष्टि से ये स्थान देखने योग्य हैं। चीनी यात्री फाहियान ने भी अपने भारत-भ्रमणनामक पुस्तक में इन स्थानों का वर्णन किया है।

राजगीर पटना ज़िले में बिहार सबडिविज़न् (Sub Division) का एक गाँव है। मुग़लसराय स्टेशन से आगे ई० आई० आर० की मेन लाइन पर बख़्तियारपुर जंकशन है। यहाँ से बिहार-लाइट-रेलवे से जाना पड़ता है। बख़्तियारपुर तक तो बड़ा आराम है, किन्तु बिहार-लाइट-रेलवे से जाने में बड़ा कष्ट होता है। लाइट-रेलवे का बन्दोबस्त मार्टिन कम्पनी द्वारा होता है। शोक है, कम्पनी ने स्टेशन पर कहीं भी ठहरने का इन्तज़ाम नहीं किया है। एक ही व्यक्ति तार बाबू, टिकट बाबू, माल बाबू, स्टेशन बाबू और अन्य पद जो कि हो सकते हों, सब पदों का काम करता है और इन सब पदों का वेतन इतना कम पाता है कि १८ घंटा काम करके वह अपनी उदरपूजा भी भली भाँति नहीं कर सकता।

बख़्तियारपुर से राजगीर केवल ३० मील है। यहाँ पर डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड का एक डाकबँगला है और यात्रियों के लिये ३-४ धर्मशालाएँ बनी हैं। धर्मशालाएँ

अधिकतर जैन लोगों की बनवाई हुई हैं और राजभवनों के सदृश सुंदर हैं।

राजगीर संस्कृत के राजगृह का अपभ्रंशरूप है। ऐसा कहा जाता है कि राजगृह राजा जरासंध की राजधानी थी। कई ऐतिहासिकों * का अनुमान है कि यह नगर जरासंध ने ही बसाया था। महाभारत में इसी स्थान का नाम गिरिव्रज है। कहते हैं कि पर्वतों से घिरे रहने के कारण ही इस स्थान का नाम गिरिव्रज रक्खा गया था। महाभारत में गिरिव्रज का वर्णन इस प्रकार है—

एष पार्थ महान् भाति पशुमान्नित्यमम्बुमान्।
निरामयः सुवेश्माढ्यो निवेशो मागधः शुभः॥
वैहारो विपुलः शैलो वराहो वृषभस्तथा।
तथा ऋषिगिरिस्तात शुभा चैत्यकपञ्चमाः॥
एते पञ्च महाशृङ्गाः पर्वताः शीतलद्रुमाः।
रक्षन्तीवाभिसंहत्य संहताङ्गा गिरिव्रजम्॥
(सभापर्व २१३ पृ० १—३ श्लोक)

गिरिव्रज को बहुत-से पुरुष कुशागारपुर (कुस नगर) भी कहते थे। शैशुनाग राजाओं के काल में गिरिव्रज का नाम बदलकर राजगृह हो गया था। यही स्थान आजकल राजगीर कहलाता है।

राजगीर के चतुर्दिक जो पर्वत हैं, उनके नाम ऊपर दिए जा चुके हैं। आजकल ये पर्वत इन नामों से पहचाने जाते हैं—(१) वैभारगिरि, (२) विपुलागिरि, (३) रत्नगिरि (४) उदयगिरि, (५) सोनागिरि, (सुवर्णगिरि)। पुरानी राजधानी इन्हीं पर्वतों के बीच की घाटी में थी। आजकल भी पुराने दुर्ग की दीवारें पर्वतों का घेरा लेती हुई दिखाई देती हैं। यहाँ के मनुष्य उस दुर्ग को आज दिन भी जरासंध का क़िला कहते हैं।

इन्हीं पर्वतों के आसपास भगवान् बुद्धदेव (५६७-४८७ ई० पू०) ने कई वर्ष भ्रमण किया था और अलरा (अलर †) और उद्दक (उद्रक)-नामक दो ब्राह्मण साधुओं से हिन्दू-दर्शन की शिक्षा ग्रहण की थी। ज्ञान-प्राप्ति पर बुद्धदेव ने अपना बहुत-सा समय वेलुवाना या Bamboo Grove व गृद्धकूट या Vulture's Peak में भी बिताया था। यह स्थान राजगीर की पूर्वोत्तर दिशा में शैलगिरि की चोटी पर था।

वैभार (वैहार) गिरि अन्तर्गत सत्तपानी गुफा में ४८७ * ई० पू० में बौद्ध-भिक्षुओं की पहली सभा हुई थी। रत्नगिरि में एक गुफा थी, जिसे फाहियान The Pig Tree Cave कहता है, जहाँ भगवान् बुद्धदेव खाने के पश्चात् ध्यानावस्थित रहते थे। महाभारत में रत्नगिरि को ऋषिगिरि कहा है और पाली-ग्रन्थों में इस गिरि का नाम पंडव पर्वत प्रसिद्ध है। आजकल इस पर्वत की चोटी पर जैनों का एक मन्दिर है।

राजगीर के पश्चिम दक्षिण-पश्चिम में पर्वत के दो सिलसिले बराबर-बराबर फैले हुए हैं। कहते हैं, इन्हीं पर्वतों की घाटी में पुराना राजगृह बसा था। आजकल भी इस जगह एक बड़ी लम्बी दीवार दिखाई देती है, जिसका घेरा लगभग ४½ मील है। इसी स्थान से उत्तर की ओर ⅔ मील की दूरी पर बिम्बिसार श्रेणिक ने (जो कि अजातशत्रु का पिता था) नई राजधानी बसाई थी। यहाँ की दीवार बड़े-बड़े पत्थरों की बनी है, और इसमें चूना और गारा बिलकुल भी नहीं लगाया गया है। इससे कुछ दूर पर्वत के पूर्व कोने पर एक Watch Tower था। कहते हैं, इसी प्रकार का एक बुर्ज राजधानी में भी था।

पुराने राजगीर के दक्षिण में बड़ी-बड़ी शिलाएँ हैं, जिन पर लेख खुदे हैं। दुर्भाग्य से ये लेख अभी तक पढ़े नहीं जा सके हैं। लोगों का विश्वास है कि पढ़े जाने पर इनसे कई नई बातें मालूम होंगी। इस समय यहाँ पर ये चीज़ें देखने लायक़ हैं—(१) अशोक की लाट जो ६० फीट ऊँची है, (२) एक दूसरी लाट जो पाँच पर्वतों की घाटी के बीच में है, पर अब गिरी दशा में है, (३) पर्वत की चोटीवाला जैन-मन्दिर जिसे मनियर-मठ कहते हैं। यह मन्दिर १७८० सन् में बनवाया गया था। (४) सोन-भंडार-गुफा जो कि वैभारगिरि में है। इसके विषय में किंवदन्ती यह है कि यहाँ पहले राजकोष था। कहते हैं कि ईसा के ३०० वर्ष पूर्व यह गुफा बनाई गई थी और गया के बराबर गुफाओं के समान

* देखिए V. A. Smith's—E. H. I. 3 (p. 31.)

† देखिए R. C. Dutt's—Civilisation in Ancient India (p. 323-4).

* इस बारे में बड़ा मतभेद है।

...र-उधर किया। सैनिक नशे में थे। एक-
...ग खींच लिया।

...ना छिपी यह दृश्य देख रही थी। वह निकल
...और मदिरा सैनिकों को देने लगी।

...यों अनंत, यह सेना उस पागल मधु के हाथ
...।'

...से भी अच्छा प्रेमी रह गया था।'

...ना सोच रही थी कि सैनिकों के वस्त्र कितने सुंदर
...! उष्णीश, साम्राज्य का पट्ट, खड्ग। यदि मधु
...निक-वस्त्र पहनता ?

...गुप्त बैठा-बैठा ऊँघ रहा था। अचानक एक तीव्र
...सुनकर वह चौंक उठा।

...म-नायक द्वार पर खड़े थे। सैनिक शीघ्रता से
...की चेष्टा कर रहे थे।

'वणिक, तुमने मात्रा से अधिक मद्य क्यों विक्रय किया ?'

'देव! मुझे खड्ग से धमकाकर सैनिकों ने तीव्र मदिरा निकलवा ली।'

एक युवा सैनिक ने सामरिक रीति से नायक का अभिवादन करके कहा—

'आर्य, आज हम लोग नगर-त्याग करने के उपलक्ष्य में अधिक मदिरा पी गए थे। इसी से कई अपराध हो गए।'

नायक ने बिना कुछ उत्तर दिए द्वार की ओर इशारा किया। सैनिक चुपचाप तत्तगुप्त की दूकान से निकल-कर चले गए।

३

सूर्यदेव की सुवर्ण-रश्मियाँ सोन की तरंग-मालाओं से खेल रही थीं।

शिल्पी अपने नख से बालू में भाँति-भाँति के चित्र बना रहा था। पीछे से किसी ने आकर उसके नेत्र मूँद लिए।

शिल्पी प्रसन्न हो उठा।

''आओ, सेना।'

वह शीघ्र-शीघ्र अपने चित्र उसे समझाने लगा—'यह तुम खड़ी हो। यह स्नान के लिये जा रही हो। यह...'

'मधु!'

वह चौंक पड़ा। उसने सिर उठाकर देखा। सेना मलिन मुख किए नीचे देख रही है।

'मधु, सैनिकों के वस्त्र बड़े सुंदर होते हैं।'

'तब देखो सेना! मैं अभी अनेक सैनिकों के चित्र बनाता हूँ।'

'पागल, मैं चित्र न देखूँगी।'

'बतलाओ, और क्या करूँ। मैं सैनिक हो जाऊँ ?'

सेना ने बड़ी शीघ्रता से सिर उठाया। उसका मुख प्रफुल्ल हो उठा।

'वही तो मधु! उस दिन वे सब सैनिक तुम्हारी हँसी करते थे और पिताजी को कष्ट दे रहे थे।'

शिल्पी के मुख पर एक गंभीर भाव आ गया। उसने कुछ अनमने होकर पूछा—

'सेना में तो काम करना होता है। मुझे कौन लेगा ?'

बालिका कुपित हो उठी।

'तुम ऐसे ही पागल बने रहोगे, तो मैं तुम्हें कभी प्यार न करूँगी और किसी सैनिक से विवाह कर लूँगी।'

मधुगुप्त के मुख पर एक काली छाया-सी आ गई। सेना ने उसे पहले कभी इतना गंभीर न देखा था। अब वह पागल न था।

उसने दृढ़ता के साथ कहा—

'तब मैं सैनिक अवश्य हो जाऊँगा, सेना!' बालिका प्रसन्न हो उठी।

'मैं भी तुमसे ख़ूब प्रेम करूँगी।'

× × ×

उत्तर के गण-राज्य से युद्ध करने मागध सेना जा रही थी। नागरिक हर्ष-ध्वनि से आकाश गुँजा रहे थे। नगर के विराट् तोरण से सामरिक वाद्य की ध्वनि आ रही थी। सैनिकों के ऊपर पुष्प-राशि आकर गिरने लगी।

'सेना' ने प्रसन्न होकर सोचा—

'इन्हीं में मधु भी होगा।'

४

उपर्युक्त घटना को हुए बहुत समय व्यतीत हो गया। पाटलिपुत्र में अब भी वैसा ही कोलाहल था। नागरिक अपने कार्यों में व्यस्त चले जा रहे थे। राजपथों पर व्यवसायियों की भीड़ थी। एक किनारे कई युवतियाँ छोटी-छोटी टोकरियों में फूल लिए बैठी थीं। उनमें से एक बड़े ध्यान से पथिकों को देख रही थी। दूसरी ने उससे पूछा—

'क्यों सेना, क्या सोच रही हो ?'

वणिक ने इधर-उधर किया। सैनिक नशे में थे। एक-आध ने खड्ग खींच लिया।

तक्षसेना छिपी यह दृश्य देख रही थी। वह निकल आई और मदिरा सैनिकों को देने लगी।

'क्यों अनंत, यह सेना उस पागल मधु के हाथ लगेगी।'

'इसे भी अच्छा प्रेमी रह गया था।'

सेना सोच रही थी कि सैनिकों के वस्त्र कितने सुंदर होते हैं! उष्णीश, साम्राज्य का पट्ट, खड्ग। यदि मधु भी सैनिक-वस्त्र पहनता ?

तक्षगुप्त बैठा-बैठा ऊँघ रहा था। अचानक एक तीव्र शब्द सुनकर वह चौंक उठा।

गुल्म-नायक द्वार पर खड़े थे। सैनिक शीघ्रता से उठने की चेष्टा कर रहे थे।

'वणिक, तुमने मात्रा से अधिक मद्य क्यों विक्रय किया ?'

'देव! मुझे खड्ग से धमकाकर सैनिकों ने तीव्र मदिरा निकलवा ली।'

एक युवा सैनिक ने सामरिक रीति से नायक का अभिवादन करके कहा—

'आर्य, आज हम लोग नगर-त्याग करने के उपलक्ष्य में अधिक मदिरा पी गए थे। इसी से कई अपराध हो गए।'

नायक ने बिना कुछ उत्तर दिए द्वार की ओर इशारा किया। सैनिक चुपचाप तक्षगुप्त की दूकान से निकलकर चले गए।

३

सूर्यदेव की सुवर्ण-रश्मियाँ सोन की तरंग-मालाओं से खेल रही थीं।

शिल्पी अपने नख से बालू में भाँति-भाँति के चित्र बना रहा था। पीछे से किसी ने आकर उसके नेत्र मूँद लिए।

शिल्पी प्रसन्न हो उठा।

"आओ, सेना।'

वह शीघ्र-शीघ्र अपने चित्र उसे समझाने लगा—'यह तुम खड़ी हो। यह स्नान के लिये जा रही हो। यह...'

'मधु!'

वह चौंक पड़ा। उसने सिर उठाकर देखा। सेना मलिन मुख किए नीचे देख रही है।

'मधु, सैनिकों के वस्त्र बड़े सुंदर होते हैं।'

'तब देखो सेना! मैं अभी अनेक सैनिकों के चित्र बनाता हूँ।'

'पागल, मैं चित्र न देखूँगी।'

'बतलाओ, और क्या करूँ। मैं सैनिक हो जाऊँ ?'

सेना ने बड़ी शीघ्रता से सिर उठाया। उसका मुख प्रफुल्ल हो उठा।

'वही तो मधु! उस दिन वे सब सैनिक तुम्हारी हँसी करते थे और पिताजी को कष्ट दे रहे थे।'

शिल्पी के मुख पर एक गंभीर भाव आ गया। उसने कुछ अनमने होकर पूछा—

'सेना में तो काम करना होता है। मुझे कौन लेगा ?'

बालिका कुपित हो उठी।

'तुम ऐसे ही पागल बने रहोगे, तो मैं तुम्हें कभी प्यार न करूँगी और किसी सैनिक से विवाह कर लूँगी।'

मधुगुप्त के मुख पर एक काली छाया-सी आ गई। सेना ने उसे पहले कभी इतना गंभीर न देखा था। अब वह पागल न था।

उसने दृढ़ता के साथ कहा—

'तब मैं सैनिक अवश्य हो जाऊँगा, सेना!' बालिका प्रसन्न हो उठी।

'मैं भी तुमसे ख़ूब प्रेम करूँगी।'

× × ×

उत्तर के गण-राज्य से युद्ध करने मागध सेना जा रही थी। नागरिक हर्ष-ध्वनि से आकाश गुँजा रहे थे। नगर के विराट् तोरण से सामरिक वाद्य की ध्वनि आ रही थी। सैनिकों के ऊपर पुष्प-राशि आकर गिरने लगी।

'सेना' ने प्रसन्न होकर सोचा—

'इन्हीं में मधु भी होगा।'

४

उपर्युक्त घटना को हुए बहुत समय व्यतीत हो गया। पाटलिपुत्र में अब भी वैसा ही कोलाहल था। नागरिक अपने कार्यों में व्यस्त चले जा रहे थे। राजपथों पर व्यवसायियों की भीड़ थी। एक किनारे कई युवतियाँ छोटी-छोटी टोकरियों में फूल लिए बैठी थीं। उनमें से एक बड़े ध्यान से पथिकों को देख रही थी। दूसरी ने उससे पूछा—

'क्यों सेना, क्या सोच रही हो ?'

Page No - 13 से 18 तक गायब

'कुछ नहीं।'

'यही न कि मधु कब आवेंगे।'

सेना ने सिर हिला दिया।

'क्यों, क्या मधु अब स्मृति से उतर गए ?'

सेना ने बड़े क्रोध से उसकी ओर देखा—

'मैं उस पागल की चिंता ही कब करती थी।'

'अब उधर क्या देखने लगीं ?'

सेना की सखी ने देखा, एक साँवला-सा युवक बड़े सुंदर वस्त्र पहने सेना को बुला रहा था।

'जाओ न, यही हैं तुम्हारे नए कन्हैया ?'

सेना युवक को देखकर गड़ी-सी रह गई थी। साँचे का ढला शरीर, बड़े-बड़े नेत्र, दिव्य कांति—अनोखे रूप का युवक, इसे तो पहले कभी न देखा था।

सखी की बात सुन सेना शीघ्रता से उठ खड़ी हुई और आगंतुक के पीछे-पीछे चल दी।

× × ×

'तुम कौन हो ?'

'मैं आर्य मधुगुप्त देव का अनुचर हूँ।'

'वह कहाँ हैं ?'

'सेना के साथ आ रहे हैं। मुझे देवी के पास पहले ही भेज दिया कि आपको सूचना दूँ।'

'मधु अब कौन-से पद पर हैं ?'

'वह सम्राट् की पदाति-सेना में नायक हैं।' युवा ने अपना मस्तक स्पर्श कर अभिवादन किया।

'उन्होंने क्या कहा है ?'

'यही कि गंगाद्वार के सामने बलुई के मैदान में, देवी संध्या समय उनसे भेंट कर लें।'

'तुम्हारा क्या नाम है, युवक ?'

'देवी, आर्य मधुगुप्त ने मेरा नाम 'सौवीर' रक्खा है। युद्ध में मुझे जब से उन्होंने बंदी किया है, तब से यह तन उन्हीं का है।'

'सौवीर, अभी तुम क्या सोच रहे थे ?'

युवा के मुख पर एक रक्त-वर्ण की रेखा बन गई। उसने सिर नीचा कर लिया।

'तुमको बतलाना होगा।'

'यही सोच रहा था कि आर्य बड़े भाग्यशाली हैं।'

सेना के हृदय में एक प्रकाश-सा हुआ।

'सौवीर !'

'देवी !'

'मैं तुम्हारे स्वामी से मिलने न जाऊँगी।'

वह आश्चर्य-चकित हो गया।

'मैं उनसे प्रेम नहीं करती।'

युवा धरती पर बैठ गया।

'एक बार अवश्य जाइएगा।'

सेना की समझ में कुछ भी न आया।

'मैं उनसे कहूँगी कि तुमको दासत्व से मुक्त कर दें।

४

गोधूली के प्रांतर में निशा की सहचरी सूर्य की बालिकाओं से गले मिल रही थी। सांध्य-तिमिर ने जगत् को अपने आवरण में छिपा लिया था।

तट पर खड़ा हुआ एक थका-सा सैनिक लहरियों की क्रीड़ा देख रहा था। पीछे किसी का शब्द सुन उसने मुख फेरा।

'सेना, तुम आ गईं।'

'हाँ।'

'तुम मुझे अब प्यार नहीं करतीं ?'

'तुमको गए इतना समय बीत गया था, मधु! भला मैं क्या करती ?'

'अब तो मैं सैनिक भी हो गया हूँ।'

कुछ उत्तर नहीं।

'सेना !'

'हाँ।'

'सुनो, मैंने सौवीर को तुम्हारी सेवा के लिये बंदी किया था। उसे तुम ही ले लो।'

सेना ने पृथ्वी पर अपने घुटने टेक दिए।

'मधु, तुम्हारा यह ऋण न भूलूँगी।'

सैनिक ने अपना वर्म्म-जाल उतारकर जल में फेंक दिया। छपाक से एक शब्द हुआ। वर्म्म धीरे-धीरे जल-धारा में विलीन हो गया। मधु ने सोचा, इसी प्रकार मनुष्य की कितनी आशाएँ भविष्य में लुप्त हो जाती हैं!

सेना ने चकित होकर पूछा—

'यह क्या कर रहे हो ?'

मधु ने अविचलित भाव से उत्तर दिया—

'अब मेरे सैनिक रहने की कोई आवश्यकता नहीं।'

× × ×

कुछ दिन से पाटलिपुत्र के निर्जन स्थानों पर एक पागल चित्र बनाता फिरता है। प्राचीर पर, मध्याह्न के समय वह अपनी कूची लेकर स्वप्न-प्रदेश के संदेश लिखा करता है। इन्हें पागल के अतिरिक्त और कोई नहीं पढ़ सकता। प्रहरी उससे कुछ नहीं कहते।

पूछने से वह शिल्पी हँसकर कहता है—

'बड़ा आनंद आता है। इसीलिये चित्र बनाता फिरता हूँ।'

प्रकाशचंद्र गुप्त

भारतीय-वीर

[१]

ग्राहक हैं गुण के, निबाहक सनेह के हैं,
चाहक हैं चाह के, सुदृढ़-मत-वाले हैं।
भूखे सत्यभाव के, न जानें भेद-भाव कोई,
प्रेमी हैं प्रवीण और शुद्ध-सत-वाले हैं।
मिटते हैं आन पै, बढ़ाते देश की हैं शान,
भव्य बलिदान की ग़ज़ब-गत-वाले हैं।
शांति के उपासक हैं, भ्रान्ति के विनाशक हैं,
आत्मबल-शासक, सुमति-रत-वाले हैं!

[२]

तन हैं तपस्या के, उदारमन ममता के,
क्षमता की जीती-जागती ही तसवीर हैं।
साधना में सिद्ध, योगियों में कर्मयोगी और—
दानियों में दानी, गुरु ज्ञानी बे-नज़ीर हैं।
सौम्य सदाचारी, समता के सच्चे सेवक हैं,
धर्म की धुरी हैं, प्रण में वे प्रणवीर हैं।
विश्व के हितैषी, वीरभूमि के निवासी वीर-
तेंतिस करोड़ देवताओं के शरीर हैं!!

रामसेवक त्रिपाठी

मीराबाई

मीराबाई कौन थी, क्या थी, कहाँ थी, कब हुई, कैसे घर से निकली—इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रश्न साहित्य-जगत् के सामने उपस्थित हैं। मीरा एक गंभीर समस्या है, एक अद्भुत पहेली है। अपनी-अपनी रुचि-विचित्रता से जिनको जैसा भाता है, वे वैसा ही समाधान करने की कोशिश करते हैं। कोई मीरा को राजकुमारी जोधपुर महाराज रतनसिंह की एकलौती बेटी बतलाते हैं। किसी-किसी ने उदयपुर के युवराज, भोजराज की धर्मपत्नी बतलाया है। किसी का मत है कि स्त्रीजाति में मीरा पहली कवि थी। फिर दूसरे लोगों ने कुछ आगे बढ़कर उसे भक्त और चमार रैदास की शिष्या कहकर भी उल्लेख किया है। उपर्युक्त विचार में बाहरी सामंजस्य न होने पर भी, किसी प्रकार का विवाद नहीं मालूम पड़ता। फिर प्रश्न यह उठता है कि मीरा का यथार्थ स्वरूप क्या था और क्यों वह तरह-तरह के वेश में नज़र आती है।

मीरा के जीवनचरित्र पर गहरी निगाह डालने से स्पष्ट प्रकट होता है कि मीरा सर्वप्रथम एक सुयोग्य क्रांतिकारिणी थी। सचमुच वह अपने युग की पवित्र विप्लव-वादिनी थी। यही वजह है कि मीरा रूप-रूपांतर में दृष्टिगोचर होती है। आधुनिक वा प्राचीन युग के किसी भी क्रांतिकारी के जीवन को लेकर अगर हम भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से उस पर विचार करें, तो बोध होगा कि एक ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न रूप में नज़र आ

रहा है। जिसका इष्ट कभी भक्त, कभी कवि, कभी दार्शनिक, कभी समाज-नायक, कभी साधारण गृहस्थ और फिर कभी कट्टर विप्लववादी-सा मालूम पड़ता है। ठीक वही हाल बुद्धदेव वा मुहम्मद का है। मीराबाई का जीवन संग्राममय है। वह जिस ओर पाँव रखना चाहती, उसी ओर उसे रुकावट मिलती है। सामाजिक अवस्था कृत्रिमता की बेड़ियों में जकड़ी हुई थी। कहीं सरलता वा स्वाभाविकता का नामोनिशान भी नहीं। लोग लकीर के फ़क़ीर बने थे। चारों ओर संकीर्णता छा रही थी। उदारता का लेशमात्र न बचा था। ऐसी अवस्था में मीरा-जैसी वीर कन्या कब तक सामाजिक बेड़ियों की जंज़ीर में जकड़ी रहती? उसकी प्रकृति स्वतंत्र थी, स्वभाव सरल और सुदृढ़ था। सत्याग्रह उसका धर्म था। यद्यपि बचपन से ही मीरा अपनी स्वाधीनता की भक्त थी, तथापि वैधव्य-प्राप्तिकाल के पहले तक, वह किसी की नज़र में न चढ़ी थी। इसका कारण यह था कि बालापन में बाप की एकलौती बेटी होने के कारण उसे किसी प्रकार की बाधा न मिली। अपने स्वभाव के अनुकूल उसे पूरी स्वतंत्रता रही। भोजराज से शादी होने के बाद भी, वह उदयपुर की भावी पटरानी थी। इस समय किसी के साथ उसका विशेष (गुरुतर) संघर्ष होना संभव नहीं। स्वामी के जीवन-भर स्त्री बड़ी सुखी रहती है। उसके साथ किसी तरह की जवाबदेही नहीं। किसी प्रकार की बाधा, विघ्न वा रुकावट नहीं। कोई आँख नहीं दिखा सकता। अगर बंधन है, तो एकमात्र अपने पतिदेव का। इसके सिवा वह सर्वत्र स्वाधीन और स्वतंत्र है। मीराबाई को भी अभी तक स्वतंत्रता का बिगुल बजाने का मौक़ा न मिला था। पर वह समुचित अवसर शीघ्र ही आन पहुँचा। भोजराज स्वर्गवासी हुए। और उसकी कठोर परीक्षा आरंभ हुई। वह अपनी स्वाभाविक पूरी स्वतंत्रता से साधुसेवा में निरंतर लगी रहती थी। "भगत देखि राज़ी भई, जगत देखि रोई।" शीघ्र ही उसके देवर राणा विक्रमाजीत को यह बात बहुत ही खटकी। उनकी ओर से रुकावट शुरू हुई। मीरा की राह में काँटे बोए जाने लगे। विघ्न-बाधाओं का बाँध बँधने लगा।

साँप पिटारा राणा भेज्या मीरा हाथ दियो जाय।
न्हाय-धोय जब देखन लागी सालिगराम गई पाय॥
जहर का प्याला राणा भेज्या अमृत दीन्ह बनाय।
न्हाय-धोय जब पीवन लागी होकर अमृत अँचाय॥
सूल-सेज राणा ने भेजी दीज्यो मीरा सुलाय।
साँझ भई मीरा सोवन लागी मानो फूल बिछाय॥

मीरा की नैसर्गिकता को प्रस्फुटित होने का सुअवसर मिला। उसकी उन्मुक्त भावधारा रुकावट पाकर ज़ोर पकड़ने लगी। जिस प्रकार बाँध बाँधने से किसी नदी का वेग नहीं रुक सकता, बल्कि रुकावट पाकर उसकी आवाज़ और बलंद हो जाती है, पीछे थोड़ी ही देर में बाँध अपने ही आप छिन्न-भिन्न हो जाता है और फिर नदी की गति प्रबल हो जाती है, उसी प्रकार मानसिक भावधारा जब तक मुक्त रहती है, तब तक उस ओर जन-साधारण की दृष्टि विशेषरूप से आकृष्ट नहीं होती। परंतु जैसे-ही-जैसे बाधा पड़ती जाती है, उसमें घर्षण पैदा होता जाता है, फलतः वह मानसिक स्रोत जो पहलेपहल धीर गंभीर भाव से सर्वसाधारण के बीच प्रवाहित होता हुआ अनंत में विलीन-सा हो जाता था, अभी घर्षण पैदा कर देता है, इससे इतनी ज़ोर से आवाज़ निकलनी शुरू हो जाती है कि सोता भी जग जाता है। पहलेपहल जिसका, अधिकांश लोगों को पता तक न था, अब टीका-टिप्पणी, समालोचना से उसकी विशद व्याख्या हो जाती है। सबों की आँखें खुल जाती हैं, शुद्ध सोना तपाने से खरा उतरता है, बाहरी मलिनता धुलकर और अधिक चमकने लगती है राणा विक्रमाजीत की रुकावट का भी ऐसा ही फल हुआ। अभी जो मीरा परदे के अंदर एक अबला-मात्र छिपी पड़ी थी, प्रतिघात के कारण मानसिक बल से उत्साहित हो एकाएक बाहर निकल आई। राजमहल को क़ैदखाने से भी अधिक बुरा समझकर उसने परित्याग कर दिया।

"जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, यद्यपि परम सनेही।"
तुलसी

गुप्त रत्न प्रकाश पाकर जगमगाने लगा। जिस मीरा से किसी को परिचय न था, सभी उसे पहचान गए। मीरा अब न तो रतन की एकलौती रही और न विक्रमाजीत के घमंड की इज़्ज़त। उसका व्यक्तिगत भाव दूर होकर सार्वजनिक भाव में परिणत हुआ। स्त्री-पुरुष का भेद-भाव जाता रहा। कृत्रिमता की जंज़ीर तोड़ने के लिये

उसकी पहली चोट पड़ी। वास्तव में मीराबाई ही पहली वीर महिला है, जिसने भारतीय महिलाओं को परदे के कारागार से मुक्त करने का सबसे पहला प्रयत्न किया। घरबार छोड़कर उसने सिद्ध कर दिखाया कि मर्द से औरत किसी अंश में कम नहीं है। जिस प्रकार मरदों की आत्मा स्वतंत्र घूम सकती है, दृढ़ संकल्प कर लेने से औरतें भी उसी प्रकार विचरण कर सकती हैं। मीराबाई के जीवन-संग्राम में स्त्री-स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये ही उसका प्रथम आंदोलन हुआ। यह स्वतंत्रता उसे पूर्णरूप से प्राप्त हुई। इसका असर पीछे चलकर दहियोबाई, सहजोबाई, शेख रंगरेज़िन और ताज इत्यादि अनेकों भारतीय महिलाओं पर पड़ा, जिनकी स्वतंत्र काव्य-रचना से आज विशाल भारत गौरवान्वित है।

मीराबाई की बुद्धि विलक्षण प्रतीत होती है। उसकी कार्यप्रणाली शृंखलाबद्ध है। धीरे-धीरे मृदुमंद गति से वह अग्रसर होती है, "घूँघट का पट खोलकर" फेंक देने के बाद जाति, वर्णाश्रम-धर्म और समाज-संस्कार की ओर बढ़ती है। जिस आदर्श की भित्ति पर वर्णाश्रम स्थापित हुआ था, उससे वह उस समय विच्युत होकर कोसों दूर पड़ा था। प्राचीन क़ानून बनानेवाले ने क्या सोचकर 'वर्णाश्रम' का निर्माण किया था, फिर नतीजा क्या हुआ। युग-युगांतर से विकृत और परिवर्तित होते-होते उसका सच्चा ध्येय नष्ट हो गया। नक़ली आडंबर ढोंगीपन बाक़ी बचा रहा; प्राण निकल गया, ठट्ठर पड़ा रहा। मीरा अपनी प्रखर बुद्धि से सहज ही में, इसे ताड़ गई थी। अपने विवेक और विचार से गुण की गरिमा पुनः स्थापित करने को कटिबद्ध हुई। उसे इसकी कुछ भी परवा न थी कि उस पर लोग हँसेंगे, बुरा-भला कहेंगे। सत्य ही उसका लक्ष्य था। सत्य का आग्रह उसका एक-मात्र आधार था। सत्य के लिये मर मिटने में ही उसको परमानंद का लाभ था। अंध समाज की आँख की पट्टी खोलने के लिये, वर्णाश्रम का प्रकृत रूप में पुनरुद्धार करने के लिये कृत्रिमता के जाल से जनता को निकालने के लिये, उसने रैदास, चमार को अपना गुरु स्वीकार किया। उसी से उसने मुक्तिमंत्र ग्रहण किया। "गुरु मिलिया रैदासजी दीन्हीं ज्ञान की गुटकी।" वर्णानां गुरु किसी ब्राह्मण को उसने ज्ञान उपदेशक नहीं बनाया। और न उच्च कुल में उत्पन्न किसी क्षत्री की ही शिष्या होना उसे मंज़ूर था। प्रत्युत उसने शूद्र से भी बदतर अस्पृश्य जाति के किसी एक व्यक्ति की शरण ली। व्यक्तिगत गुण ही उसकी एकमात्र कसौटी थी। रैदास जाति के चमार थे, लौकिक मत से अस्पृश्य थे। छूने से स्नानविधि विहित होगी। परंतु उनका 'चोला' चेतन था। आत्मज्ञान के आनंद में सच्चिदानंद हो रहे थे। जिनका प्रभु से कहना है—

"प्रभुजी तुम चंदन हम पानी। जाकी अँग-अँग बास समानी॥
प्रभुजी तुम दीपक हम बाती। जाकी जोति बरै दिन-राती॥
प्रभुजी तुम मोती हम धागा। जैसे सोनहि मिलत सोहागा॥
प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा। ऐसी भक्ति करै रैदासा॥"

ऐसे आडंबरविहीन, तिलक-चंदन से सफ़ाचट श्रीरैदास को गुरु मानकर मीरा ने सिर्फ़ अपना ही नहीं, बल्कि समाज का कल्याण साधन किया। जिस 'रैदास' का "मन ही पूजा, मन ही धूप। मन ही सेऊँ सहज सरूप" था, उसके आगे कौन ब्राह्मण अपना सिर झुकाने में लज्जा बोध करेगा। अगर ऐसे गुणी रैदास की सेवा में मीरा ने अपना तन-मन अर्पण किया, तो इससे उनकी मर्यादा कम होने की नहीं, बल्कि उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहेगी। हिंदू-समाज के लिये नूतन आदर्श की सृष्टि हुई। सत्य ने प्राचीन गौरव पाया। गुण की पूजा करने का संकेत हुआ। फलतः नीच कुल में भक्त बहुतायत से हुए। वैकुंठ के सिंहद्वार की कुंजी, जो अभी तक ब्राह्मणों ही के ठेके में थी, उनके हाथ से निकलकर सार्वजनिक सत्ता के अधीन आ गई। ब्राह्मणों के दरवाज़े पर मुक्ति की ख़रीद-बिक्री के एकाधिकार वाणिज्य में घाटा लगा। व्यवसाय शिथिल पड़ गया। दादूदयाल, दास मलूका, धर्मदास, लालदास, धरणीदास, चरणदास इत्यादि वैश्य और शूद्र भी १६वीं-१७वीं शताब्दी में आत्म-ज्ञान पाने के अलावा, लोगों को ज्ञान-उपदेश देने की हिम्मत करने लगे। बहुतों को क्षत्री और ब्राह्मण भी शिष्य मिले। अंतरजगत् में सभी मनुष्य परस्पर समान जँचने लगे। जिस विषमता के विरुद्ध सबके अगुआ होकर शताब्दियों पहले, बुद्धदेव ने अपना स्वर ऊँचा किया था, पर जो शताब्दियों के परिवर्तनशील परदे में फिर ढँप-सी गई थी और जिसके लिये मीरा से लगभग एक सौ वर्ष पहले पुनः कबीरदास ने अपनी अमृतमई साखी से लोगों का चित्त आकर्षित किया था, उसी

स्वर की जागृति के लिये मीरा भी अपने जीवनचरित्र के उज्ज्वल दृष्टांतों से सतत चेष्टा कर रही थी कि उस विषमता की जड़ फिर लगने न पावे। परंतु मीरा एक बात में उपर्युक्त दोनों महापुरुषों से बढ़ रही थी। मीरा के पहले यदि कोई आत्मोत्थान की चेष्टा हुई, तो केवल ब्राह्मणों की तरफ़ से, अथवा कम-से-कम आर्यवंशधर क्षत्री वा वैश्यों के ज़रिए से। बुद्ध भगवान् स्वयं क्षत्री थे। कबीर साहब का भी विधवा ब्राह्मण-कन्या के गर्भ से जन्म-ग्रहण करने का प्रवाद प्रचलित है। परंतु मीराबाई के गुरु रैदास, चर्मकार थे। अनार्य-जाति से उनकी उत्पत्ति हुई—इसमें संदेह नहीं। इसलिये इस वैचित्र्य से एक बड़ी विशेषता हुई। पहले जहाँ केवल छोटी-बड़ी आर्यजातियाँ समानता के पाश में बद्ध होती थीं, वहीं मीराबाई के निःस्वार्थ परिश्रम से अनार्य और आर्यजाति एक होने लगी। दोनों का भेदभाव जाता रहा। छुआछूत दूर होने लगो। अनार्य चमार रैदास भी गुण के बल पर, उपयुक्त होने पर, उत्तम राजकुल-संभवा मीरा-जैसी राजकुमारी का मुक्तिपथ-प्रदर्शक हो सकता है। इस घटना से अनार्य गुणी और आर्य गुण-ग्राही दोनों की समानता सिद्ध होती है। दोनों ही में घनिष्ट संबंध होने का प्रयत्न सुस्पष्ट होता है। यहाँ पर राम-सुग्रीव की मिताई, अथवा यों कहिए कि राम और निषादराज की मित्रता पुनः स्थापित होती है। उसी की झाँकी मीरा और रैदास के संबंध से दीख पड़ती है। रामायण-काल फिर लौट आता है। ऐतिहासिक घटना दोहरा जाती है।

मीराबाई की तीसरी क्रांति पूजा-अर्चना की धारा को उलट देने में है। बाहरी दृष्टि से मालूम पड़ता है कि मीरा केवल भजनभाव में मस्त डोलती फिरती थी। भक्तिपथ की अनुगामिनी थी, शांतिप्रिय थी। स्थूलरूप से बात भी ठीक है। परंतु सूक्ष्म विचार से पता चलता है कि मीराबाई का भक्तिभाव वा पूजा-अर्चना की रीति पहियों के बीच एक संकीर्ण परंतु सुगम राह से होती थी। पहला चक्का बड़ा भयंकर, सूफ़ियों का था, दूसरा स्वदेशी ब्राह्मण, पंडों, पुजारियों के आचार-धर्म वा पुरोहितों का यज्ञ, हवनादि कर्मकांड का। मीरा के समय तक मुसलमानों को हिंदुस्थान आए कई सौ वर्ष बीत चुके थे। इस्लाम-धर्म का ख़ास कर सूफ़ी लोगों का एक बड़ा मज़बूत अखाड़ा जम गया था। रामानुज और रामानंद की शिक्षा दूर पड़ गई थी। कबीर साहब का दौर-दौरा था। वह मीरा के जन्म-समय में शायद जीवित थे अथवा अभी हाल ही में मरे थे। उनकी साखी सूफ़ी रंग में रँगी हुई थी। स्वतंत्र विचारवाले हिंदू ब्राह्मण के घेरे से निकल-निकलकर इस्लाम-धर्म क़बूल कर रहे थे। मुसलमानों ने केवल तलवार के ज़ोर से बल-पूर्वक ही, हिंदुओं को मुसलमान बनाया, ऐसी बात नहीं। कितनों ने उनके प्रभाव से मुग्ध होकर इस्लाम का आलिंगन किया था। पद्मावत के रचयिता, मलिक मुहम्मद जायसी का हिंदुओं के ऊपर कितना प्रबल प्रभाव था, यह बात उसके क़ब्र-निर्माण की कौतुक-प्रद कथा से विदित होगी। उनकी क़ब्र अमेठी के हिंदू-राजा ने अपनी भक्ति-पुष्पांजलि-स्वरूप, अपने ख़र्च से बनवाई थी। क़ब्र अभी तक वर्तमान है। बहुतेरे लोगों ने वर्णाश्रम के ऊँच-नीच विचारों और ब्राह्मणों के कर-टिकस से क्रुद्ध होकर इस्लाम का आलिंगन किया था। १८वीं शताब्दी को जिस अवस्था में मेधाशाली, प्रतिभासम्पन्न अपने समाज के अग्रगण्य पी० घोष, लालविहारी दे (P. Ghosh, Lal-Behari Dey) और कितने ही गण्यमान्य व्यक्तियों ने गिरे हुए सनातनधर्म को नमस्कार कर, स्वतंत्रता और समानता पाने के लोभ से ईसाई-धर्म का आलिंगन किया था, ठीक वैसे ही १४वीं-१५वीं शताब्दी की विपद्ग्रस्त दशा में अनेक हिंदू मुसलमान बन गए थे। पुनः जिस प्रकार से १८वीं शताब्दी में, क्रिश्चियनिटी से बचने के लिये, ब्राह्म-धर्म, आर्य-समाज, थियोसोफिक सोसाइटी आदि भिन्न-भिन्न मत आविष्कृत हुए, उसी प्रकार १४वीं-१५वीं शताब्दियों में भी इस्लाम से बचने के लिये हिंदू-मुसलमान धर्म की खिचड़ी पकी और कबीरपंथ, नानकपंथ तथा नामदेव, सूरदास वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि का भक्तिपंथ निकला। उसी भक्तिपंथ के अंतर्गत मीराबाई की भी एक स्वतंत्र प्रणाली थी। एकदम स्वतंत्र और नूतन तो नहीं कह सकते हैं, चूँकि यह प्रणाली पुरातन पुराणकाल में लोगों की अज़माई हुई थी। इसी कारण से इसकी सफलता में देरी न लगी। इसी प्रणाली का नाम श्रृंगार-उपासना है। एक ओर कर्म-कांडी ब्राह्मणों के यज्ञादि अनुष्ठान मार्ग से, दूसरी ओर वेदांतवादी सूफ़ी की निर्गुण शिक्षा

से 'सगुन' भक्ति-पक्ष का प्रत्येक अंग किस प्रकार पृथक् है, इसे वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। फ़र्क़ भी ज़मीन-आसमान का है।

परंतु भक्तिमार्ग के भीतर भी कितनी सतहें हैं। उनका पृथक्करण एक जटिल समस्या है। सूर के भक्ति-मार्ग से मीरा के भक्तिमार्ग में क्या अंतर है अथवा मीरा और तुलसी के मार्ग में कहाँ पर अंतर है—जानना सुगम नहीं। सूर, मीरा और तुलसी तीनों भक्तिपंथ के पथिक हैं। परंतु फ़र्क़ है सिर्फ़ तीनों की चाल का। भावना पृथक्-पृथक् है। सूर अकड़ता हुआ चलता है। उसकी ईश्वर-भावना सखारूप में है। वह मित्रभाव से भगवान् का भजन करते हैं। मौक़ा मिलने पर उन्हें टेढ़ी-सीधी भी सुनाकर आनंद लूटते हैं। राधा-कृष्ण के बीच संदेश-वहन करते हैं। समय पर चुटकी लेने से बाज़ नहीं आते। तुलसी का दास या भृत्य-भाव है। भगवान् को स्वामी (मालिक) और अपने को दास समझते हैं। इसलिये उनकी रचना शांतरस से लबालब है। परंतु "मीरा" अपने गिरिधर-गोपाल को पतिरूप से भजती हैं। गिरिधर पर बलि जाती हैं। हमेशा अपनी आँखों में 'साँवरे वंशीवाले' को रखने की कोशिश करती हैं। "बसो मेरो नैनन में नंदलाल। मोहनि मूरति साँवरि सूरति नैना बने रसाल।" परम पति के क्षण-भर अलग हो जाने से, विरह से उत्तप्त हो, पागल-सी आँसू की धार बहाती है।

१

"धान न भावै नींद न आवै, बिरह सतावै मोय।
घायल-सी घूमत फिरूँ रे, मेरा दरद न जाणे कोय॥

२

हेरी मैं तो प्रेम-दिवाणी, मेरा दरद न जाणे कोय।
दरद की मारी बन-बन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोय॥

३

तलफ-तलफ के बहु दिन बीते, पड़ी बिरह की फाँसड़ियाँ।
अब तो बेगि दया कर साहिब, मैं हूँ तेरी दासड़ियाँ॥

मीरा और जीव स्वामी के सम्मिलन-संवाद से मीरा का असली सिद्धांत-विकसित होता है। मीराबाई केवल एक परब्रह्म परमेश्वर को "पुरुष" ख़याल करती हैं और समग्र सृष्टि को प्रकृति वा स्त्री समझती हैं। उनका कहना है कि परमात्मा (पुरुष) अखिल विश्वरूपा प्रकृति के साथ मिलकर सर्वत्र नाच रहा है। इसी नाच को वैज्ञानिक शब्द में गति कहते हैं। प्रकृति के संबंध में Wordsworth का जो मन्तव्य है, वही मन्तव्य परिपुष्ट और परिमार्जित अर्थात् भारतीय रूप में मीरा का था। Wordsworth को इतनी शताब्दियों के बाद, केवल जिसकी आभा मिली और जिसकी चर्चा उन्होंने अपने प्रसिद्ध "Ode on the intimations of immortality" में की है, मीरा को युग-युगान्तर पहले पूर्णरूप से उसका अनुभव हुआ था। Wordsworth's nature consisted of the dales the vales, the sheep graving there and the shepherd tending them in the pasture land. मीरा समस्त मानव-समाज को प्रकृति क़ायम करती है।

मीरा का परिष्कार चित्र, विशद कविता-कौशल, जीवन-उद्देश्य का सारांश उसके निम्न-लिखित पद्य में बीजरूप से वर्तमान है—

"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई॥ १॥
भाई छोड्या बंधु छोड्या छोड्या सगा सोई।
साध संग बैठ-बैठ लोक लाज खोई॥ २॥
भगत देख राजी भई जगत देख रोई।
अँसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम-बेल बोई॥ ३॥
दधि मथ घृत काढ़ लियो डार दई छोई।
राणा बिष को प्यालो भेज्यो पीय मगन होई॥ ४॥
अब तो बात फैल गई जाणे सब कोई।
मीरा राम-लगण लागी होणी होय सो होई॥ ५॥"

कालीकुमार मुकर्जी

रसाल !

१

फूल मिस फूले मंद मारुत हिंडोले झूल
भूले लोकलाज साज-बाज ही की शान में ;
पिक को चढ़ाके शीस डंका बजवाया, मानो
बौरे हैं रसाल सभी जान लें जहान में ।
मनहूस चापलूस कीट 'कुछ' देख दौड़े
विरुद बहाने गुन-गुन किया कान में ;
तान में उसी की निज वैभव दिखाने लगा
भाने लगा नंदन-निकुंज सुनसान में ।

२

पथिक बटोही अब आने देख जाने लगे,
बहने लगे प्रमत्त मद के प्रवाह में ;
निबल प्रशाखा के कबंध पर भार लाद,
ताकने अकास लगे यश के उछाह में ।
मारुत की गंध ले सनेह मधुमास का ले,
रंग ले पलास—अंतरंग नित दाह में ;
जग को दिखाने लगे प्रभुता प्रताप सारा,
अपने समान पाके दूसरा न राह में ।

३

किंतु यह वैभव-विलास-वृक्ष उगता है,
तरल तरंगित तरंगिणी के कूल में ;
झूमते मगन चूमते हैं जो गगन उठे,
वे भी अनायास मिल जाते धरा धूल में ।
कैसा है अजीब कारखाना कुछ जाना नहीं,
हाथ फेरते ही आग लगती दुकूल में ;
तुम तो रसाल ! ओढ़े छाल छिति छोर लौं हो,
और वह जीवन तुम्हारा भरा मूल में !

४

जब यह विभव सँभार न सहन हुआ,
सुहृद वसंत की भी प्रीति लगी हटने ;
ताप से तुम्हारे पाप के ही आप तप्त होके,
छाती वसुधा की हा ! छटूक लगी फटने ।
ग्रीषम के मिस आँसुओं की धार अंबर लौं,
आई चढ़ भाप हो दिगंबर को पटने ;
भीषम जलाके लू जलाने तुम्हें आई, जला
प्यारा मधु भूमि लगी त्राहि-त्राहि रटने ।

× × ×

५

मंजरी के मद माते सदा शरमाते रहे मुक्ता गजभाल की ;
लाली की कौन 'नरेश' कहे द्युति दाड़िम की पड़ी मंद—प्रवाल की ।
चूस लिया 'रस' काल ने हाय ! न 'गंध' है 'रूप' क्या—रेखा न लाल की ;
बोलते काक उलूक, खड़ी बड़ी सूनी वही अमराई रसाल की ।

मातादीन शुक्ल

हिंदू-मुसलिम संबंध पर एक सरसरी निगाह

मद्रास-कांग्रेस ने एक पैक्ट पास कर यह आशा प्रकट की है कि इससे हिंदू-मुसलिम एकता की समस्या हल हो जावेगी और भारत की दोनों जातियाँ कंधे-से-कंधा लगाकर स्वराज्य के लिये एक तीव्र आंदोलन करेंगी, जिसके सामने हमारे प्रभुओं को सिर झुकाना पड़ेगा। यह बहुत संभव है कि कांग्रेस के इस निश्चय के फलस्वरूप मुसलमानों का एक बड़ा भाग कांग्रेस से सहयोग करे, पर इस "पैक्ट" से यह आशा रखना कि इससे हिंदू और मुसलमानों में स्थायी एकता स्थापित होगी और दोनों जातियाँ समान रूप से कांग्रेस के मंतव्यों का आदर और उसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिये बराबर उद्योग करेंगी, कोरी कल्पना-मात्र है। ऐसी आशा रखने के लिये हमारे पास कोई आधार नहीं है। "पैक्ट" द्वारा स्थायी एकता स्थापित होना संभव नहीं है। एकता स्थापित करना हो, तो अन्य उपायों का आश्रय लेना होगा। उलटे अनुचित "पैक्ट" स्वीकार कर कांग्रेस के नेता मुसलमानों की स्वार्थ-बुद्धि को और जगा रहे हैं। मुसलमान भाइयों ने यह भली भाँति अनुभव कर लिया है कि कांग्रेस के नेता उनकी सहकारिता का बहुत बड़ा मूल्य समझते हैं और इसलिये गवर्नमेंट की अपेक्षा कांग्रेस के नेताओं से मिलकर कार्य करने में उनको अधिक लाभ की आशा है; क्योंकि गवर्नमेंट चाहे जितना मुसलमानों का पक्ष ले, वह अपना पक्षपात किसी हद के भीतर ही दिखला सकती है। गवर्नमेंट ने लालच देकर मुसलमानों को अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न लार्ड मिंटो के समय में किया था। गवर्नमेंट का ही अनुसरण कर कांग्रेस के प्रमुख नेताओं ने सन् १९१६ में लखनऊ-कांग्रेस के अवसर पर पृथक् चुनाव का हक़ स्वीकार किया। तथा संख्या से कहीं अधिक प्रतिनिधि मुसलमानों को सब प्रांतों में—केवल दो प्रांत छोड़कर—दिए। गवर्नमेंट जब कभी कोई विशेष और असाधारण अधिकार किसी समूह को देती है, तब उसको कोई-न-कोई बहाना पेश करना पड़ता है; पर कांग्रेस के नेताओं के लिये कोई बहाना ढूँढना भी आवश्यक नहीं है। इसलिये कांग्रेस के नेताओं से सहयोग कर उचित से कहीं अधिक अधिकार प्राप्त करना मुसलमानों के लिये सुलभ है। पर गवर्नमेंट से पूरा द्वेष करने में जो तात्कालिक लाभ की आशा है, वह नष्ट हो जावेगी। इसलिये मुसलमानों का एक बड़ा भाग गवर्नमेंट से सहयोग किया करता है। राष्ट्रवादी हिंदुओं की शक्ति को क्षीण करना गवर्नमेंट के लिये अत्यंत आवश्यक है। यह कार्य मुसलमानों को उनके विरुद्ध खड़ा करने से सरल हो जाता है, इसलिये यदि गवर्नमेंट मुसलमानों के साथ पक्षपात की नीति बर्ते, तो अस्वाभाविक नहीं है। मुसलमान भाई इस सुयोग से पूरा लाभ उठाते हैं। उनका एक समूह गवर्नमेंट से सहयोग कर अनेक सुविधाएँ प्राप्त करने की चेष्टा करता है और दूसरा समूह कांग्रेस के नेताओं से सहयोग कर अपनी अनुचित माँगें भी उनसे स्वीकार कराता है।

यदि मद्रास-कांग्रेस का "पैक्ट" उचित होता, यदि उसमें अन्य छोटे-छोटे समूहों का भी पूरा-पूरा ध्यान रक्खा जाता और भारत के बड़े समूह के साथ अन्याय न किया जाता, तो "पैक्ट" की आलोचना करने का कोई अवसर न होता। इस लेख में इस "पैक्ट" की विस्तार से आलोचना करना मुझको अभीष्ट नहीं है, पर इसके संबंध में इस स्थल पर कुछ लिखना आवश्यक प्रतीत होता है। मेरी तुच्छ बुद्धि में जो संस्था असहयोग के सिद्धांतों को मानती है और जो छोटे-छोटे सुधारों के लिये प्रयत्न करना अपनी शक्ति का अपव्यय करना समझती है, उसको एक ऐसे "पैक्ट" की रचना करना कहाँ तक उचित है जिसमें सुधार और भिन्न-भिन्न प्रांतों के पुनः संगठन की बात कही गई हो। इसका उचित स्थान शासन-विधान (Constitution) में है। यदि ऐसा किया गया होता, तो विशेषज्ञ सब विषयों का अनुसंधान कर उचित परामर्श देते और "Pact"

में उन दोषों की भरमार न होती, जो उसमें आज पाए जाते हैं। यह "पैक्ट" उजलत में बना है। भाषा के आधार पर प्रांतों के पुनः संगठन का सिद्धांत अचूक नहीं है। सर्वत्र इस नियम के अनुसार कार्य नहीं हो सकता। कांग्रेस ने अपना संगठन इस आधार पर किया है। केवल इसलिये शासन प्रांत-भाषा के आधार बनाए जावें, यह कहना उचित नहीं है। थोड़े में कहना यह है कि कांग्रेस ने इस सिद्धांत की पर्यालोचना नहीं की। मूल-प्रस्ताव में केवल सिंध को पृथक् करने की बात थी। इससे स्पष्ट है कि कांग्रेस के नेताओं के सामने मुसलमानों की माँग थी और उसको स्वीकार करने के लिये ही भाषा के आधार पर प्रांतों को पुनः संगठित करने के सिद्धांत का उल्लेख किया गया। अखिल-भारतवर्षीय कांग्रेस-कमेटी के बंबई के अधिवेशन में जब यह "पैक्ट" पेश हुआ, तब आंध्र और करनाटक के प्रतिनिधियों ने अपने-अपने प्रांतों की भी पृथक् रचना के संबंध में संशोधन उपस्थित किया, जो स्वीकृत हुए। वहाँ उड़ीसा का कोई प्रतिनिधि नहीं उपस्थित था, इसलिये उड़ीसा के स्वत्वों पर किसी का भी ध्यान न गया। मद्रास-कांग्रेस में उड़ीसा के प्रतिनिधियों ने अपने प्रांत का नाम भी प्रस्ताव में जुड़वा दिया। यदि यह सब विषय "Constitution" के लिये छोड़ दिए जाते, तो इस प्रकार की भूल न होने पाती। कांग्रेस को ऐसे विषयों पर व्यापक रूप से विचार करना चाहिए। चाहे कोई उपस्थित हों चाहे न उपस्थित हों, चाहे कोई कांग्रेस में शरीक हों या न शरीक हों, हर हालत में सब समूहों के स्वत्वों पर पूरी तरह से विचार करना कांग्रेस-ऐसी संस्था का कर्तव्य होना चाहिए; नहीं तो लोगों को कांग्रेस से यह शिकायत करने का मौक़ा मिलता है कि गवर्नमेंट की तरह कांग्रेस भी उसी पक्ष की सुनती है, जो बलवान् है और जो भय दिखाकर अपना काम निकालना जानता है। इसी "पैक्ट" के ढंग पर इस वर्ष ईसाइयों ने भी अपनी माँग पेश की है कि हमको भी संख्या से अधिक प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। अभी तक मद्रास में ही इनको पृथक् प्रतिनिधित्व प्राप्त है। अब वह भी चाहते हैं कि चुनाव चाहे सम्मिलित ही हो, पर हर जगह उनके लिये भी स्थान सुरक्षित रहे। मैं समझता हूँ, ईसाइयों के हक़ों पर भी हमको ध्यान रखना चाहिए। यदि मुसलमान अल्प संख्या में होने के कारण अपनी जाति के लिये कुछ विशेष रियायतें चाहते हैं, तो ईसाई, पारसी आदि ऐसी रियायतें पाने के उनसे कहीं अधिक अधिकारी हैं। इन छोटे-छोटे समूहों का विशेष ध्यान न रखने से इनमें ऐसी शंका का पैदा होना स्वाभाविक है कि अपने हक़ों के पाने का तरीक़ा वही है, जिसे मुसलमान आज बर्त रहे हैं।

मैं समझता हूँ कि कांग्रेस को जल्दबाज़ी से काम न लेना चाहिए था। यदि छोटे-छोटे समूहों के अधिकारों का प्रश्न विधान बनानेवाली कमेटी के सुपुर्द होता, तो सबके साथ न्याय हो सकता था; क्योंकि भारतीय विधान सब जाति, समूह और दल के लोगों से परामर्श करके ही बनाया जा सकता है। इस कमेटी में सब जाति के लोग सम्मिलित होंगे और वह सबके हितों पर विचार कर सकेंगे। इससे एक फल यह भी होता कि हिंदू और मुसलमानों में जो कोई अनुचित बात करता, उसको अन्य जाति के लोग रोक देते और उनकी बात को हिंदू-मुसलमानों को मानना पड़ता।

यदि कांग्रेस को भाषावाला सिद्धांत ही स्वीकार करना था, तो कुछ प्रांतों का नाम लेने की क्या आवश्यकता थी। इससे मालूम होता है कि कांग्रेस इस सिद्धांत को पूर्ण रूप से कार्यान्वित करना नहीं चाहती। यदि यह बात ठीक है, तो कांग्रेस ने जिन प्रांतों के संबंध में इस सिद्धांत का प्रयोग किया है, उनमें जो विशेषता हो उस पर प्रकाश डालना कांग्रेस का कर्तव्य था।

बँगला-भाषाभाषी कुछ ज़िले इस समय विहार और आसाम-प्रांत में सम्मिलित हैं। यदि यह ज़िले बंगाल में जोड़ दिए जावें, तो बंगाल में हिंदुओं की संख्या मुसलमानों की संख्या से अधिक हो जावेगी। क्या बंगाल के मुसलमान भाषा के सिद्धांत के अनुसार इन ज़िलों को बंगाल में सम्मिलित होने देंगे? कलकत्ते में जो मुसलिम-लीग का अधिवेशन हुआ था, उसमें यह "पैक्ट" इस शर्त के साथ स्वीकृत हुआ है कि पहले सिंध, बिलोचिस्तान और सीमाप्रांत पृथक् कर दिए जावें और इन प्रांतों की नई मर्यादा हो, जो अन्य प्रांतों की है। तभी सम्मिलित निर्वाचन-पद्धति मुसलमानों को मान्य होगी। वह भाषा के सिद्धांत को नहीं

मानते। वह तो केवल ३ नवीन मुसलिम-प्रांत बनाना चाहते हैं।

सबसे बड़ा आक्षेप इस "पैक्ट" के विरुद्ध यह है कि मुसलमानों की माँग से जिस मनोवृत्ति का पता चलता है वह राष्ट्रीयता की घातक है और "पैक्ट" ने उनकी माँगों को स्वीकार कर इस मनोवृत्ति को उत्तेजना दी है। लखनऊ-पैक्ट के अनुसार पंजाब के मुसलमानों को ५० फ़ी सदी और बंगाल के मुसलमानों को ४० फ़ी सदी प्रतिनिधित्व मिला, यद्यपि पंजाब के मुसलमानों की जनसंख्या ५५ और बंगाल के मुसलमानों की संख्या क़रीब ६० फ़ी सदी के है। ख़िलाफ़त-आंदोलन से मुसलमानों में विशेष जागृति हुई। पंजाब और बंगाल के मुसलमान फलतः लखनऊ-"पैक्ट" से असंतुष्ट हुए और "पैक्ट" बदलने की बात सबसे पहले उन्होंने ही चलाई। मुसलिम-लीग में जब इस पर विचार हुआ, तब आपस के विरोध को बंद करने के लिये उनको एक विचित्र प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा, जिसके अनुसार मुसलमानों ने पंजाब और बंगाल में संख्या के अनुसार और अन्य प्रांतों में संख्या से अधिक (लखनऊ-पैक्ट के अनुसार) प्रतिनिधित्व चाहा। यह माँग साफ़ ही बेजा थी और सब लोगों ने इसको ऐसा ही बताया। कांग्रेस के नेता भी इसको स्वीकार न कर सके। तब जिन्ना तथा अन्य मुसलिम-नेताओं के सामने यह समस्या उपस्थित हुई कि अपनी माँग को किस रूप में कांग्रेस के सम्मुख रक्खें, जिसमें वह दूसरों को इतनी अन्यायपूर्ण न जँचे। संयुक्त तथा अन्य प्रांत के मुसलिम-नेता संख्या के अनुसार प्रतिनिधित्व लेने से संतुष्ट नहीं थे और पंजाब तथा बंगाल के मुसलमान भी अपनी बात को छोड़ने पर तैयार नहीं थे, ऐसी अवस्था में दोनों को राज़ी रखने और गृहकलह को शांत करने का तथा साथ-साथ अपनी माँग को अन्यायपूर्ण होने के आक्षेप से बचाने का एक ही उपाय था। वह यह कि नवीन-नवीन ऐसे प्रांतों की रचना की जावे, जहाँ मुसलमानों की संख्या कहीं अधिक हो, जिसमें उन प्रांतों के हिंदू भी अपने लिये संख्या की अपेक्षा अधिक प्रतिनिधित्व चाहें। उस अवस्था में उन प्रांतों के मुसलमानों को भी इसी प्रकार की रियायतें मिल सकेंगी, जहाँ उनकी संख्या हिंदुओं से कम है। इसलिये बिलोचिस्तान और सिंध को पृथक् प्रांत बनाने की माँग पेश की गई। इस प्रकार लोगों का आक्षेप भी दूर हो गया और वही पुरानी माँग दूसरे रूप में फिर पेश की जा सकी। अब स्पष्ट हो गया कि नवीन प्रांतों के बनाने की माँग क्यों पेश की गई। यह चाल जानते हुए भी इस माँग को स्वीकार क कांग्रेस के नेताओं ने कार्यकुशलता का परिचय नहीं दिया है। 'लिबरलफ़ीडरेशन' ने अपनी बंबई की बैठक में बुद्धिमत्ता से काम लिया है। उन्होंने केवल यह मत प्रकट किया है कि अल्पसंख्यक समूहों के स्वत्वों की रक्षा का प्रबंध होना चाहिए और यह निश्चय किया है कि भारतीय विधान तैयार करते समय इस सिद्धांत पर पूरा ध्यान रक्खा जावे। यदि कांग्रेस इसी बुद्धिमत्ता से काम लेती, तो वह आज उपहास का पात्र न बनती।

यदि कमीशन के बहिष्कार के संबंध में सहायता प्राप्त करने की नियत से ही इस प्रश्न पर पृथक् विचार किया गया और इतनी जल्दी की गई, तो हम कांग्रेस की इस नीति का समर्थन नहीं कर सकते। यदि हमारे मुसलमान भाई कमीशन की बनावट से संतुष्ट हैं और उसमें भारतीयों के न रक्खे जाने से देश का अपमान नहीं समझते, तो इन चालों से कब तक काम चलेगा। चाल में हम गवर्नमेंट को नहीं हरा सकते हैं! उसके पास शक्ति है, हम अशक्त हैं। वह कूटनीति में हमको अभी बरसों सबक़ पढ़ा सकती है। गवर्नमेंट कांग्रेस के "पैक्ट" को स्वीकार करने के लिये बाध्य न होगी, उसके कई अंश दोषपूर्ण प्रमाणित हो सकते हैं। भाषा के आधार पर प्रांतों के पुनः संगठन का भी प्रस्ताव गवर्नमेंट नहीं स्वीकार कर सकती; क्योंकि ऐसा करने से शासन का ख़र्च बहुत बढ़ जायगा, जिसको हम लोग नहीं बर्दाश्त कर सकते। यदि गवर्नमेंट चाहे, तो वह केवल सिंध को बंबई से पृथक् कर सकती है चाहे आंध्र, कर्नाटक और उत्कल की इच्छा पूरी न करे। गवर्नमेंट प्रायः सीमाप्रांत में सुधारों का प्रयोग नहीं करेगी। यदि वह सिंध को अलग कर दे और पृथक् प्रतिनिधित्व को क़ायम रक्खे, तो मुसलमानों को कोई असंतोष न होगा, पर हिंदू नाराज़ होंगे और गवर्नमेंट चाल खेलने की सज़ा इस तरह हिंदुओं को दे सकती है। गवर्नमेंट कहीं सम्मिलित निर्वाचन-प्रणाली को स्वीकृत न कर ले, इस भय से मुसलमानों ने इसे स्वीकार करने के लिये

कुछ शर्तें रक्खी हैं। यदि इन शर्तों को गवर्नमेंट पूरा न कर सकेगी, तो वह निस्संदेह सम्मिलित निर्वाचन-प्रणाली प्रचलित न करेगी। वह मुसलमानों को नाराज़ नहीं कर सकती। इसलिये हमको सब काम यह विचार कर करना चाहिए कि एक तीसरा पक्ष भी है। एक दुर्बल राष्ट्र क्षुद्र नीतियों का अवलंबन कर स्वतंत्र नहीं हो सकता। पर देश के दुर्भाग्य से आजकल इन क़ला-बाज़ियों का ही अपने यहाँ अधिक महत्त्व है।

"पैक्ट" के संबंध में इससे अधिक न कहकर हम इस अवसर पर हिंदू-मुसलिम-संबंध का इतिहास संक्षेप में देने का प्रयत्न करेंगे।

मुसलमानों का भारत से संबंध ८वीं शताब्दी से प्रारंभ होता है। ७१२ ई० में अरबों का आक्रमण सिंध पर हुआ! बौद्धों के संघाराम और हिंदुओं के देवमंदिर तोड़े गए। जिन्होंने ख़िराज देना स्वीकार किया, उनके पवित्र स्थानों की रक्षा की गई। १०वीं शताब्दी में महमूद ग़ज़नी के हमले हुए और हिंदुओं के अनेक मंदिर तोड़े गए। पठान सुलतानों के समय तक यही अवस्था रही। लोदीवंश का नाश कर जब बाबर गद्दी पर बैठा और मुग़ल-साम्राज्य की नींव रक्खी, तब दूसरी नीति का अवलंबन किया गया। अकबर ने विशेष रूप से हिंदुओं से मेल किया और धार्मिक सहिष्णुता दिखाई; पर औरंगज़ेब ने हिंदुओं के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप किया और इसी कारण मुग़ल-साम्राज्य का ध्वंस हुआ। हिंदुओं का पुनरुत्थान हुआ। इधर मुसलमानों की धार्मिक असहिष्णुता धीरे-धीरे कम हो गई थी। एक दूसरे के देवी-देवता, पीर और क़ब्र की पूजा करने लगे थे। एक दूसरे के त्योहार में सम्मिलित होते थे। उस समय फ़ारसी की शिक्षा का महत्त्व था। कंपनी तथा हिंदू-राज्यों का सारा कार-बार प्रायः फ़ारसी में होता था। इसलिये हिंदू भी फ़ारसी तथा उर्दू पढ़ते थे। एक प्रकार की शिक्षा के कारण विचार-समता अधिक थी। जब बंगाल तथा अन्य प्रांतों में अँगरेज़ी-शिक्षा का आरंभ हुआ, तब उससे केवल हिंदुओं ने आरंभ में लाभ उठाया। मुसलमान उस समय बुरी अवस्था में थे। वह अँगरेज़ी-शिक्षा के विरुद्ध थे। पश्चिमी सभ्यता से पहले हिंदू ही प्रभावित हुए। पाश्चात्य सभ्यता के संघर्ष से हिंदुओं में सुधार का आंदोलन आरंभ हुआ और ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज, देवसमाज और प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई। संस्कृत का पुनर्जीवन हुआ। योरपीय विद्वानों द्वारा जो संस्कृत के ग्रंथों तथा प्राचीन लेखों की खोज हुई और उसके फल-स्वरूप जो पाश्चात्य विद्वानों ने आर्यों के प्राचीन गौरव का इतिहास लिखना आरंभ किया, उससे हिंदुओं में आर्य-शिक्षा का आदर बढ़ा। इधर सर सैयद अहमद, सर अमीरअली, जमालुद्दीन अफ़ग़ानी (यह "Pan-Islamism" का प्रवर्तक था) और ग़ुलाम अहमद क़ादियानी साहब ने मुसलमानों में धार्मिक सुधार का काम आरंभ किया। इन आंदोलनों का फल यह हुआ कि हिंदू और मुसलमान, दोनों के पुरातन विश्वास डिगने लगे, दोनों अपने-अपने प्राचीन साहित्य को पढ़ने लगे और एक दूसरे के साहित्य का पठन-पाठन बंद करने लगे। हिंदुओं में फ़ारसी-उर्दू जाननेवाले लोगों की संख्या धीरे-धीरे घटने लगी। मुसलमानों ने हिंदी-भाषा के ग्रंथ पढ़ना तथा उनमें अपनी रचना करना प्रायः बंद-सा कर दिया। दोनों जातियों में अपने-अपने धर्म को परिष्कृत करने का विचार उत्पन्न हुआ और धार्मिक कट्टरपन बढ़ने लगा। एक दूसरे से धीरे-धीरे अलग होते गए और एक दूसरे के देवताओं और पीरों की पूजा बंद होने लगी।

देश में धीरे-धीरे राजनीतिक जागृति भी प्रारंभ हुई। १८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना हुई। सिपाही-विद्रोह के बाद मुसलमानों की आर्थिक अवस्था अत्यंत हीन थी। गवर्नमेंट भी उनके प्रतिकूल थी। सर सैयद अहमद ने 'बग़ावत के असबाब' लिखकर यह सिद्ध किया कि बलवे के समय मुसलमानों ने बहुत-से अँगरेज़ों की सहायता की थी। उन्होंने मुसलमानों को कांग्रेस में सम्मिलित होने से रोका और अँगरेज़ी शिक्षा ग्रहण करने के लिये मुसलमानों को तैयार किया। देर से अँगरेज़ी-शिक्षा ग्रहण करने के कारण मुसलमानों का नुक़सान हुआ। नौकरी-पेशावाले मुसलमान तबाह हो गए। जब वे जगे तो उनको यह देखकर बुरा मालूम हुआ कि हिंदू बड़े-बड़े ओहदों पर हैं। लार्ड रिपन के समय में १८८४ ई० में Wilfred Seamen Klunt भारत आए थे। उनकी डायरी पढ़ने से उस समय के मुसलमानों के भाव मालूम होते हैं। उनकी आर्थिक दशा बहुत ख़राब थी। हिंदुओं का धन-वैभव और राज-दरबार में आदर उनकी आँखों

में खटकता था। धीरे-धीरे उन्होंने भी अँगरेज़ी पढ़ना आरंभ किया। अलीगढ़-कालेज सन् १८७७ ई० में खुला। मुसलमान कांग्रेस और राजनीति से अलग रहे। वह समझते थे कि कांग्रेस से केवल हिंदुओं को ही लाभ होगा। उस समय कांग्रेस बड़ी-बड़ी नौकरियों के पाने के लिये आंदोलन करती थी और इस आंदोलन की सफलता से केवल हिंदुओं का ही लाभ हो सकता था; क्योंकि उस समय केवल हिंदू ही उच्च शिक्षा पाते थे। कांग्रेस में सम्मिलित होने से गवर्नमेंट मुसलमानों के अनुकूल न होती। इसलिये भी कांग्रेस से पृथक् रहना मुसलमानों के लिये आवश्यक था। इधर १८८४ ई० में कांग्रेस खुली, उधर १८८६ ई० में Muhamadan EducationalConference'का सूत्रपात हुआ। वंग-भंग के समय जब राष्ट्रीय आंदोलन का वेग तीव्र हुआ, तब शिक्षित हिंदुओं की शक्ति को दुर्बल करने के लिये गवर्नमेंट ने १९०६ में मुसलमानों को जातिगत प्रतिनिधित्व की माँग पेश करने के लिये उसकाया। अब यह किसी से छिपा नहीं है कि लार्ड मिंटो के इशारे पर ही सर आग़ाख़ाँ के नेतृत्व में मुसलमानों का एक डेपुटेशन उनकी सेवा में उपस्थित हुआ था और जातिगत प्रतिनिधित्व की प्रार्थना की थी। मिंटो ने मुसलमानों को आश्वासन दिलाया। अपने राजनीतिक स्वत्वों की रक्षा के लिये सन् १९०७ में पहलेपहल मुसलिम-लीग बनी। उस समय गवर्नमेंट मुसलमानों की पीठ ठोक रही थी। राष्ट्रवादी हिंदुओं का आंदोलन उसके लिये असह्य हो रहा था। सन् १९०९ में मुसलमानों को अलग अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार मिला। इस समय मुसलिम-लीग का मूल-सिद्धांत राज-भक्ति था। मुसलमानों की अलग राजनीतिक संस्था बनते देखकर पंजाब में सन् १९०९ में हिंदू-सभा क़ायम हुई और अगले वर्ष से अखिल-भारतीय हिंदू-सभा का आयोजन किया गया। पर हिंदू-सभा पनपने न पाई।

अपने महत्त्व को बढ़ाने के लिये सन् १९१० ई० में मुसलिम-लीग ने यह प्रस्ताव किया कि अगली मनुष्य-गणना में 'अछूतों' को हिंदू न लिखा जावे, जिसमें हिंदुओं की संख्या घटे और साथ-ही-साथ उनके प्रतिनिधियों की संख्या अपेक्षातया बढ़ जावे। इस विचार का हिंदुओं ने तीव्र विरोध किया। गवर्नमेंट को इस विरोध का आदर करना पड़ा और मुसलमानों के मन की नहीं हुई।

इधर कांग्रेस में दो दल हो जाने से और प्रमुख-प्रमुख नेता और कार्यकर्ताओं के पकड़ जाने से राष्ट्रीय आंदोलन मंद पड़ गया। इस समय गवर्नमेंट को हिंदुओं से कोई भय न था। इसी समय योरप में बालकन-युद्ध आरंभ हुआ। यह युद्ध मुसलमान-ईसाइयों का युद्ध था। ब्रिटिश-गवर्नमेंट ने ईसाइयों का साथ दिया। मुसलमानों की सहानुभूति स्वभावतः तुर्कों से थी। हिंदू गवर्नमेंट के प्रत्येक विरोधी से सहानुभूति रखते थे। इस नाते उन्होंने भी तुर्की के साथ सहानुभूति दिखाई। अब मुसलमानों की आँखें खुलीं। उन्होंने देखा कि गवर्नमेंट उनकी सच्ची हितैषी नहीं है। केवल हिंदुओं को दुर्बल करने के अभिप्राय से उसने मुसलमानों से दोस्ती बढ़ाई थी। सन् १९११ ई० में महाराज जार्ज ने भारत आकर वंग-भंग को रद्द कर दिया। वंग-भंग के समय कहा गया था कि इससे मुसलमानों का विशेष लाभ होगा। मुसलमानों के एक लाभ की बात भी दूर कर दी गई। उनका कोई ध्यान नहीं रक्खा गया।

इसका फल यह हुआ कि मुसलमान धीरे-धीरे हिंदुओं से मैत्री करने लगे। सन् १९१२–१३ में तुर्की और इटली का युद्ध हुआ। इसमें भी गवर्नमेंट का रुख़ न बदला। सन् १९१६ ई० में कांग्रेस और लीग ने सुधारों का एक मसविदा तैयार किया। हिंदुओं ने लखनऊ में मुसलमानों के साथ निश्चय किया, जिसमें जन-संख्या से अधिक प्रतिनिधि मुसलमानों को दिया जाना स्वीकार किया गया। सन् १९१९ के विधान में गवर्नमेंट इस निश्चय को कार्यान्वित करने पर विवश हुई। अब लीग का सिद्धांत भी बदला। राजभक्ति के स्थान में औपनिवेशिक स्वराज्य पाना लीग का ध्येय हुआ। सन् १९१४–१५ से हिंदू-मुसलमानों के बीच धार्मिक झगड़े बंद-से हो गए। सन् १९१९ में खिलाफ़त के संबंध में जब मुसलमानों में उत्तेजना फैली, तब बिना लखनऊ के निश्चय को पहले बदलवाए मुसलमान सहर्ष कांग्रेस में सम्मिलित हुए, हिंदुओं ने खिलाफ़त-आंदोलन में सहायता देने का वचन दिया और मुसलमानों ने स्वराज्य के युद्ध में योग देने को कहा। कांग्रेस में एक नई लहर चल पड़ी। असहयोग-आंदोलन का

जन्म हुआ, पर महात्माजी के जेल जाने के पीछे यह आंदोलन ठंढा पड़ गया। कांग्रेस में दल-बंदियाँ होने लग गईं। ख़िलाफ़त के प्रश्न का एक प्रकार से निपटारा हो गया था। हिंदू-मुसलमान आपस में लड़ने लगे। मुसलमान धीरे-धीरे कांग्रेस से पृथक् होने लगे। मुसलमानों का जो भाग असहयोग-आंदोलन से अलग रहा, उसी ने यह झगड़ा शुरू किया। धीरे-धीरे आग फैलने लगी—यहाँ तक कि कांग्रेस के हिंदू और मुसलमान भी इस आग से न बच सके। म्यूनिसिपल और डिस्ट्रिक्टबोर्डों में छोटी-छोटी बातों को लेकर हिंदू-मुसलमान लड़ने लगे। देखा-देखी छोटे दरजे के लोगों ने भी धार्मिक मामलों को लेकर लड़ाई छेड़ दी। ख़िलाफ़त-आंदोलन से मुसलमान संगठित हो गए थे और उनका धार्मिक कट्टरपन और भी बढ़ गया था। इसलिये इस बार विरोध ने बड़ा उग्र रूप धारण किया। कांग्रेस और ख़िलाफ़त के नेताओं ने इस प्रश्न को वह महत्त्व नहीं दिया, जो दिया जाना चाहिए था। वह इसकी उपेक्षा ही करते रहे। मामले को किसी तरह दबाना ही वह पर्याप्त समझते रहे। केवल मौखिक उपदेश से ही नेता संतोष कर लेते थे। इन नेताओं का प्रभाव भी जनता पर से उठने लगा। अपने-अपने प्रभाव को क़ायम रखने के लिये कितने लोगों ने अपनी-अपनी जाति के लोगों की ज़्यादतियों की निंदा भी न की।

इधर स्वामी श्रद्धानंदजी के उद्योग से मथुरा, आगरा के इर्द-गिर्द के मलकाने बड़ी संख्या में शुद्ध किए जाने लगे। इस पर मुसलमान आग-बबूला हो गए। पैर के तले से ज़मीन खिसकती नज़र आई। अब मुसलमान हिंदुओं को बुरा-भला कहने लगे। हिंदुओं ने शुद्धि का काम बंद नहीं किया। मुसलमानों ने कहना आरंभ किया कि सारे झगड़े हिंदुओं की ओर से ही होते हैं। इन्होंने शुद्धि के प्रचार की कड़ी आलोचना की। इसमें संदेह नहीं कि शुद्धि के कार्य का आरंभ धूम-धाम से हुआ, जैसा कि सामान्य अवस्था में न होना चाहिए था। पर आक्षेप करनेवाले यह भूल जाते हैं कि सनातनी हिंदुओं के लिये 'शुद्धि' एक नई चीज़ थी। उनमें जागृति करने के लिये शोर-ग़ुल की ज़रूरत है। मुसलमानों के लिये तबलीग़ एक धार्मिक कर्तव्य है। उनकी नस-नस में यह भाव मौजूद है। पर हिंदुओं के लिये यह एक नई-सी बात थी। इसमें संदेह नहीं कि शुद्धि-आंदोलन के बाद से झगड़ा और भी बढ़ गया, पर शुद्धि के प्रचार के संबंध में जो आक्षेप किए गए, वह बहुत अंश में ठीक न थे। मुसलमानों की नाराज़गी शुद्धि के प्रचार के कारण नहीं थी। इसका वास्तविक कारण मुसलमानों का वह धार्मिक क़ानून है, जिसके अनुसार वह मुसलमान जो अपना धर्म परित्याग करता है, मृत्यु-दंड का भागी होता है। इस्लाम में धर्म-परित्याग से गुरुतर कोई अपराध नहीं है। दंड देने के पूर्व 'तौबा' करने का एक अवसर अपराधी को अवश्य दिया जाता है। कम-से-कम तीन दिन की मुहलत देने का नियम है, पर यदि अवधि बीतने पर वह मुसलमान-धर्म फिर से अंगीकार न करे, तो उसका वध करने का नियम है। स्त्रियों और नाबालिग़ बच्चों के संबंध में मतभेद अवश्य पाया जाता है, अन्यथा जितने मुसलमान क़ानून बनानेवाले हुए हैं, उनमें इस सामान्य नियम पर किसी प्रकार का मतभेद नहीं पाया जाता।

क़ादियान के अहमदिया-संप्रदाय के मुसलमानों को बहुत-से मुसलमान काफ़िर समझते हैं। कुछ ही वर्ष हुए कि अफ़ग़ानिस्थान में अहमदिया-संप्रदाय के एक महाशय का संगसार हुआ था। अमीर हबीबुल्ला के समय में भी सन् १९०३ ई० में इसी प्रकार मौलवी अबदुल्लतीफ़ मारे गए थे। उनकी नाक छेदी गई और छेद में एक रस्सी डाली गई। वह कमर तक ज़मीन में गाड़ दिए गए। अमीर ने कहा कि यदि तुम अपने सिद्धांतों को छोड़ दो, तो तुम माफ़ किए जा सकते हो; परंतु मौलवी ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। पहला पत्थर क़ाज़ी ने फेंका, दूसरा पत्थर अमीर का था और इसके बाद चारों ओर से पत्थरों की बौछार शुरू हो गई। मिनटों में मौलवी के प्राणपखेरू उड़ गए। (The Ahemadiya Movement by Walter पृष्ठ ७०-७१) जब केवल कुछ बातों में मतभेद होने पर मुसलमानों के साथ ऐसा अमानुषिक बर्ताव किया जाता है, तब पाठक समझते हैं कि उन लोगों के साथ कैसा बर्ताव किया जाता होगा, जो मुसलमान-धर्म का परित्याग करते होंगे। यद्यपि ब्रिटिश-राज्य में मुसलमान इस नियम के अनुसार कार्य नहीं कर सकते, तथापि इस नियम के कारण वह 'इरतिदाद' (धर्म-परित्याग) को बड़ा भारी गुनाह समझते हैं। शाफ़ियों के मत में

तो यदि एक यहूदी ईसाई हो जावे, तो उसे भी मृत्यु का दंड देना चाहिए; पर जो लोग इस्लाम-धर्म स्वीकार करें, उनके लिये यह नियम लागू नहीं है। सीधेसादे शब्दों में इसका आशय यह है कि मुसलमानों को किसी दूसरे धर्म में प्रवेश करने की स्वतंत्रता नहीं है।

मैं समझता हूँ, शुद्धि-आंदोलन से मुसलमानों में असंतोष फैलने का यथार्थ कारण यही है। यदि हिंदू और मुसलमानों में स्थायी मेल होना है, तो मुसलमानों को इस संकीर्णता को छोड़ना पड़ेगा। यदि वह तबलीग़ बंद करना नहीं चाहते, तो शुद्धि-आंदोलन पर उनको रुष्ट होना नहीं चाहिए।

इधर हिंदू-मुसलमान लड़ रहे थे, उधर कांग्रेस में दलबंदी हो रही थी। स्वराजियों ने कौंसिलों पर अधिकार जमाकर नौकरशाही में खलबली मचा दी थी। कुछ लोगों को आशा होने लगी कि गवर्नमेंट सुधार देने के लिये विवश होगी। श्रीमती ऐनीबेसंट ने 'नेशनल कनवेंशन' में एक विधान तैयार किया। मुसलिम-लीग पुनर्जीवित की गई और नई सुधार-योजना में मुसलमानों को क्या अधिकार मिलना चाहिए, इस संबंध में लीग ने प्रस्ताव पास किए। लखनऊ का "पैक्ट" हवा हो गया। इस बार की माँगों ने पिछली सब माँगों को मात कर दिया। जहाँ मुसलमान अधिक संख्या में हों, वहाँ जनसंख्या के आधार पर और जहाँ उनकी संख्या कम है, वहाँ संख्या से अधिक प्रतिनिधित्व मुसलमानों को मिलना चाहिए। नौकरियों में भी हिस्सारसदी मिलनी चाहिए। इन अनुचित माँगों ने और उत्तेजना फैलाई। मुसलमानों ने कहना आरंभ किया कि यदि उनकी ये माँगें हिंदू स्वीकार न करें, तो और सुधार न दिए जावें। डाक्टर ज़ियाउद्दीनअहमद ने अपने एक भाषण में कहा था कि तब तक शांति नहीं हो सकती, जब तक हिंदू उनकी सब माँगों को पूरा नहीं करते।

जब हिंदुओं ने इन माँगों को स्वीकार नहीं किया और शुद्धि-आंदोलन भी बंद नहीं किया, तब मसजिद के सामने बाजा बजाने पर मुसलमान एतराज़ करने लगे। आए दिन इसी बात पर झगड़े होने लगे। इधर कमीशन के आने की जब बात चली, तब जिन्ना साहब ने एक माँग हिंदुओं के सामने रक्खी। इसका उल्लेख मदरास-"पैक्ट" के संबंध में ऊपर किया जा चुका है। कांग्रेस ने कमीशन-बहिष्कार के संबंध में मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने के लिये उनकी माँगों को मान लिया। यह अवसर मुसलमानों के लिये अपूर्व था और उन्होंने इसका पूरा उपयोग किया।

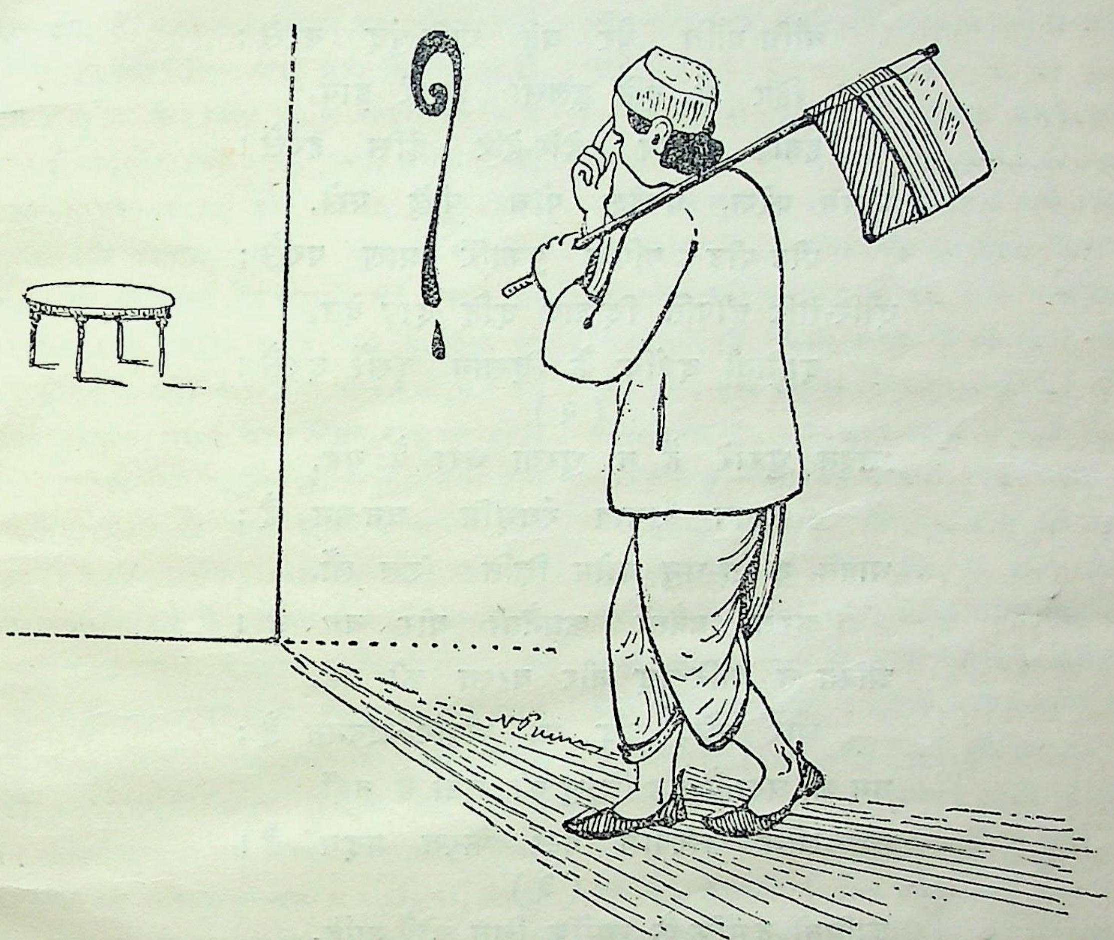
हिंदू-मुसलिम-संबंध की संक्षेप में यह कथा है। हिंदू-मुसलिम झगड़े का वास्तविक कारण धार्मिक नहीं है, वरंच आर्थिक और राजनैतिक है। यह सच है कि झगड़े ने धार्मिक स्वरूप धारण किया है, पर इसका कारण यह है कि धर्म की आड़ में लड़ना सहज होता है। एक तो बहुत बड़ी जन-संख्या धर्म के नाम पर लड़ने-मरने को तैयार हो जाती है, दूसरे लोगों के हृदय में यह भी भाव छिपा रहता है कि स्वर्गारोहण के लिये यह एक सोपान है।

अपढ़ जनता अधिकतर शिक्षित समुदाय के हाथ में है। अशिक्षित धर्म के नाम पर सहज ही में उत्तेजित किए जा सकते हैं। शिक्षित समुदाय का प्रभाव अभी गाँव में विशेष रूप से नहीं फैल पाया है। यही कारण है कि गाँव के हिंदू-मुसलमान प्रायः नहीं लड़ते और यह झगड़े अधिकतर शहरों और क़स्बों में ही पाए जाते हैं।

मैं समझता हूँ कि यदि हिंदू और मुसलमान शिक्षित समुदाय इस झगड़े को मिटाना चाहें, तो यह झगड़ा अवश्य मिट सकता है। जब-जब हिंदू-मुसलमानों के शिक्षित समुदाय ने आपस का झगड़ा तै किया है, तब-तब यह धार्मिक झगड़े कुछ वर्ष के लिये बंद हो गए हैं। अभी तक अपने देश की अपढ़ जनता को पढ़े-लिखे लोग अपना स्वार्थ साधने के लिये कठपुतली की तरह नचाते हैं। जनता में अभी अपने हित और अहित पहचानने की शक्ति नहीं पैदा हुई है और न उनके सच्चे नेताओं ने ही जन्म लिया है। जब तक इस अवस्था में सुधार नहीं होता, तब तक समय-समय पर शिक्षित समुदाय अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिये जनता के धार्मिक भावों का दुरुपयोग करता रहेगा।

क्ष० त्र० ज्ञ०

पहेली ?



पावस

(१)

बिविध बिधान ते बलाहक बिसद बृंद,
बाँधि-बाँधि बैर बड़े बारि-बुंद बरसै;
हनत हिए मैं हठि हूलसी हमारे हाय,
हवा हहराय हेरि-हेरि हँसि हरसै।
प्रीतम परेख परदेश पोच पीछे परो,
पीउ-पीउ पपिहा पुकारि प्राए परसै;
दौरि-दौरि दीपति दिखाय दहि दाप देत,
दामिनी दमंकि कै दिसान दसौं दरसै।

(२)

धावत धुरारे हैं न धुरवा धरा पै यह,
तावत तनाव रंगभूमि घन-बन है;
धावत न इंद्र-धनु ब्योम छिति ंडल लौं,
करत बनैतो कमनैती बीर बन है।
आवत न बारि-बुंद नीर बरसा की यह,
धार स्वेद बुंद की अपार अनमन है;
घन की घटा पै यह बिज्जु की छटा है नहीं,
लीन्हें करवाल पटा फेरत मदन है।

(३)

दामिनी दमंकि कै चमंकि चित चोपै नाहिं,
ओपै चढ़ी मैन का कृपान दरसावै है;
जुगुनू जमाति जुरि दुति सरसावै नाहिं,
अंगन अनंग की तरंग भरसावै है।
पौन पुरवाई की न आई मनभाई यह,
धाई हहराय हेरि बिष परसावै है;
गरज सुनावै, घन घेरि-घेरि आवै, जल,
धार बरसावै, ना अँगार बरसावै है।

अंबिकाप्रसाद भट्ट "अंबिकेश"

मोहन बाबू

१

फूलबाग़ में कभी-कभी मोहन बाबू मिल जाते थे। उनका 'मोहन बाबू' नाम मेरा अपना ही ईजाद किया हुआ है। कोई यह न समझ बैठे कि वे सचमुच कोई बाबू ही होंगे। नहीं भाई, असल में वह मेरी रागिणी थी—चंचल और भीनी, मधुर और मोहक। मोटर से उतरकर जब वह फूलबाग़ की हरी-हरी घास पर धीरे-धीरे पैर बढ़ाती हुई चलती, तो उसके यौवन की मदिरा मानो उस दूर्वादल पर मूर्तिमयी होकर नाचती रह जाती थी। इसीलिये मैंने बहुत सोच-समझकर उसका नाम मोहन बाबू रख छोड़ा था। बड़े घर की बेटी ठहरी, घड़ी-घड़ी उसका नाम अपने अभिन्न हृदयों से, अन्य लोगों के सामने, कैसे ले सकता था! मान लीजिए, कांग्रेस-कमेटी के दफ़्तर में बैठा हुआ अपने साथियों से ग़प लड़ा रहा हूँ। अकस्मात् उसकी चर्चा छिड़ गई। जो लोग वहाँ इधर-उधर बैठे हुए हैं, संभव है, वह उन्हीं में से किसी के स्नेह-सदन की उत्तराधिकारिणी हो। तब, तुम्हीं सोच देखो, उसके संबंध की बात अपने किन्हीं मित्रों से कैसे कहता। इसीलिये सोच-समझकर एक नाम निश्चित कर लिया है। अब कोई भी अफ़लातून क्यों न बैठा हो, उसकी चर्चा छिड़ गई, तो दो-चार तबियत बहलानेवाली बातें होना तो ज़रूरी ही है! यदि अपनी परिधि के बाहर के किसी जंतु-विशेष ने अपना कर्कश प्रश्न हम लोगों की बातों के बीच में अटका ही दिया—पूछ बैठा—कौन मोहन बाबू? तो उन्हें जवाब मिलेगा—वे अलीगढ़-मुसलिम-यूनिवर्सिटी के थर्डइयर के स्टूडेंट हैं, आप उन्हें नहीं जानते। मेरे इस उत्तर से उस समय यदि किसी मित्र को हँसी आ ही जाय, तो उनके लिये इस बात का सख़्त आर्डर है कि उसी समय वे वहाँ से उठकर पान थूक डालें और बाहर जाकर टहलने लगें। बहरहाल मोहन बाबू का राज़ किसी से खुल न सकेगा।

हाँ, तो फूलबाग़ में मोहन बाबू कभी अपने पिता के साथ और कभी अपने छोटे बहन-भाइयों के साथ मिल जाते थे।

एक दिन मैं अकेला ही फूलबाग़ घूमने गया था। मेरे वे साथी, प्रकाश बाबू, जो कुछ दिनों तक उसके मास्टर रह चुके थे, उस दिन मेरे साथ न थे। मेरे प्यार की वह पुतली मौलसिरी की एक डाल के नीचे, गुद-गुदी हरी-हरी घास पर, अपने छोटे भाई-बहनों को खिला रही थी। उसी समय मैं भी उधर से निकल पड़ा! वह मुझे देखकर ज़रा-सा मुसकिराई और फिर बोली—अच्छा, आज आप अकेले ही हैं।

मैंने कहा—आजकल प्रकाश बाबू अपनी ससुराल गए हुए हैं। इसी से...मेरे इस उत्तर को सुनकर वह कुछ लजा-सी गई। मेरी ओर से दृष्टि लौटाकर वह दूर्वादल से उलझ गई। मैं भी अपने मन में अलग लजा गया। मुझे भी अब अपनी बातचीत का यह ढंग पसंद न आया। सोचने लगा—अगर इतना ही कह देता कि वे बाहर गए हुए हैं, तो अच्छा होता।

अब मैं आगे बढ़ आया। वहाँ ठहरने की हिम्मत ही नहीं पड़ी। लेकिन कहीं दूर नहीं जा सका। पीछे ही एक लता की ओट में छिप गया। वहाँ बैठे-बैठे मैं उसे केवल देख भी नहीं पाता था। पर बच्चों की किलकारियाँ, उनकी चुहल-भरी बातें, तो वहाँ से साफ़-साफ़ सुनाई पड़ती थीं। मैं वहाँ बैठ ही पाया था कि चुन्नू बोला—दिदिया, दिदिया, ओरी दिदिया, किताब पढ़ने में लग गई, मेरी बात नहीं सुनती।

दिदिया बोली—क्या है रे?

चुन्नू—वह फूल।

दिदिया—हाँ, है तो वह फूल। फिर?

चुन्नू—उसे तोड़ दे। बड़ा उम्दा है, सच, बहुत ही बढ़िया है!

दिदिया—यहाँ का फूल नहीं तोड़ा जाता। यह तो सबके देखने के लिये है। तब तक जान पड़ता है, चुन्नू

की छोटी बहन, रन्नो, उस पौधे के पास दौड़ गई। तभी तो उसकी दिदिया कहने लगी—लौट तो जल्दी से, नहीं तो अभी मैं आती हूँ। माली को बुला दूँगी, वह तेरे कान काट लेगा।

लेकिन जब तक दिदिया यह सब कहे, तब तक रन्नो ने फूल तोड़ भी लिया। अब तो चुन्नू भी हठ करने लगा। बोला—कुछ भी हो, मैं भी एक फूल लूँगा। रन्नो ने जैसे तोड़ लिया, वैसे ही मैं भी तोड़ लूँगा। किसी तरह नहीं मानूँगा—किसी तरह।

मैं अब उस स्थान से थोड़ा हट गया था। वहाँ से मुझे इन बच्चों की लीलाएँ स्पष्ट रूप से देख पड़ती थीं। ज्यों ही चुन्नू दूसरा फूल तोड़ने के लिये आगे बढ़ा, त्यों ही उसकी दिदिया ने पीछे से लपककर उसके कान पकड़ लिए। उसने पीछे लौटने के लिये उसे घुमाया ही था कि चुन्नू रोने लगा।

मैं मन-ही-मन कहने लगा—रागिणी ने यह अच्छा नहीं किया। ऐसे भोले बच्चे चुन्नू को रुला दिया।

पर रन्नो से अपने भाई का रोना नहीं देखा गया। वह उसके निकट आकर कहने लगी—डाडा, मेला फूल।

रागिणी ने रन्नो को उठाकर अपनी छाती से चिपका लिया। उसका मुख चूमकर उसने कहा—अरे! तू भैया को फूल देकर मनाने आई है! मेरी रन्नो तो सचमुच रानी बिटिया है।

फूलबाग़ के पास ही एलफिंस्टन-सिनेमा-हाउस है। साढ़े पाँच बज चुके थे। मैं उठकर उसी ओर चल दिया। रास्ते में मेरी धोती से गुलाब का पेड़ उलझ गया। मैं उससे अपनी धोती सुलझाने लगा। धोती एक जगह फट गई थी। अपनी इस क्षति की पूर्ति के लिये उसे सुलझाते हुए मैंने एक फूल तोड़ लिया। सामने देखा, तो चुन्नू अभी रो ही रहा था। अपनी बहन के हाथ का फूल लेना उसे स्वीकार न था। मैंने अपना फूल चुन्नू को दे दिया। मैंने उसे पुचकारकर फुसला लिया। फूल पाकर वह ख़ुश हो गया। उसे लिए हुए वह अपनी दिदिया के पास उछलते हुए जाकर कहने लगा—देख, मेरा फूल कितना बड़ा है! तू तो कहती थी, ये फूल तोड़ने को नहीं हैं, इन बाबूजी ने कैसे तोड़ लिया।

मैं आगे बढ़ आया था। इसलिये सुन नहीं सका, रागिणी ने चुन्नू की इस दलील का क्या उत्तर दिया।

२

मैं सिनेमा देखने चला तो गया, पर वहाँ मेरी तबियत नहीं लगी। पचासों दृश्य सामने आए और चले गए। पर वह बात कहाँ थी, जो आज फूलबाग़ में देख आया था, सब कृत्रिम प्रतीत होता था। प्रेमी और प्रेमिका की प्यार की बातें सारहीन जान पड़ती थीं। किसी ऐक्ट्रेस ने यदि कभी एक-आध मादक हास दिखलाने की चेष्टा की, तो चट से कोई कानों में कह गया—इसे इस तरह नज़ाक़त के साथ हँसना बताया गया है। इसकी यह हँसी स्वाभाविक नहीं है। बड़ी देर तक इसी उधेड़-बुन में रहा कि आगे देखूँ या चल दूँ। पर अंत में एक ऐसी कहानी सामने आ गई, जिसे देखकर मैं स्तंभित रह गया।

गरमी के दिन हैं। गंगा-स्नानार्थी लोग रोज़ाना सरसैया-घाट पर स्नान करने आते हैं। रास्ते में दरिद्र, अपाहिज, कोढ़ी, अंधी बुढ़ियाएँ और अनाथ बच्चे क़तार बाँधे हुए मिलते हैं। कोई दर्द से आहें भरता है। कोई दाना माँगने के रूप में "दै दे राम, दिला दे राम" की रट लगाता है। भले घरों की लक्ष्मी-स्वरूप प्रमदाएँ साथ में कुछ दाने लाती हैं और इन भँगतों को दे जाती हैं। ये सब उन घरों की बहू-बेटियाँ हैं, जिनको इतना सुभीता नहीं है कि वे शहर से सवारी पर आ सकें। वे तो पैदल ही आती हैं। इन्हीं साधारण घरों के दाने देश के इस दुखी अंग को मिल पाते हैं! पर जिनके पास इतना अधिक पैसा है कि तीन-चार साल काम लेने पर नई ख़रीदी गई मोटर उन्हें पुरानी-सी जँचने लगती है, उन धन-पशुओं का पैसा इन लोगों को कहाँ नसीब होता है। मोटर पर चढ़े हुए वे सर्र से निकल जाते हैं। उन्हें यह दृश्य अच्छी तरह से देख ही कहाँ पड़ता है।

हाँ, तो मैं देखता क्या हूँ कि सड़क पर, जहाँ मँगतों की क़तार लगी हुई है, वहीं से होकर एक मोटर जा रही है। ड्राइवर उसे बहुत धीरे-धीरे चला रहा है। उससे एक रमणी उतरी। अनाथ बच्चों ने आकर उसे घेर लिया। वे दोनों हाथ उठाकर पैसा माँगने लगे।

एक बच्चे से उस रमणी ने पूछा—पैसा लेकर क्या करेगा?

बच्चे ने दाँत निकालकर कहा—जलेबी खाऊँगा।

फिर उसने दूसरे बच्चे से यही प्रश्न किया, उत्तर मिला—मेरी मा बहुत बीमार है, उसके लिये साबूदाना लूँगा। तीन पैसे मिल गए हैं, बस, एक और चाहिए।

रमणी ने पहले बच्चे को कुछ पैसे देकर उसे विदा किया। दूसरे बच्चे से पूछा—तेरी मा है, और कौन है?

"और कोई नहीं है।"

"वह मा करती क्या है?"

"दलियाने में मज़दूरी करती है।"

"तेरे बाप नहीं हैं। कब से नहीं है?"

"मैं नहीं जानता। मैं तो अपनी मा को ही जानता हूँ।"

"मैं उसे देखना चाहती हूँ।"

"तुम वहाँ कहाँ चलोगी! रेल-बाज़ार में घर है। बड़ी दूर है।"

"तू चल तो मेरे साथ, मोटर पर। देख तो सही, कितनी जल्दी पहुँच जाता है।"

लड़का ख़ुशी के साथ मोटर पर बैठ गया। वह मोटर पर पहले कभी बैठा न था। मोटर पर बैठना उसको एक स्वप्न-सा मालूम हुआ। उसके बदन से बदबू आ रही थी। जान पड़ता है, इसीलिये रमणी अपने मुँह में रूमाल लगाए हुए थी। ज़रा देर में मोटर रेल-बाज़ार में पहुँच गई।

एक बहुत ही गंदी कोठरी है। ज़मीन में अत्यधिक सील है। उसी में एक टूटी चारपाई पर, गंदे बदबूदार कपड़ों को अपने ऊपर ओढ़े हुए, उसकी मा कराह रही है। उसे फिर बुख़ार आ गया है।

बच्चे ने सिरहाने की तरफ़ खड़े होकर उसके सिर पर का कपड़ा थोड़ा उठाकर कहा—अम्मा री! ज़रा देख तो, एक रानीजी तुझे देखने को आई हैं।

उसकी मा न उठ सकी—न उसने कुछ जवाब ही दिया। रमणी ने देखा, उसके नेत्र अग्निवर्ण हो रहे हैं। शरीर का ताप एक सौ पाँच डिगरी तक पहुँच गया है। अपने बेग से एक दवा निकालकर उसने उस बच्चे को दे दी। उससे कह दिया—दो-दो घंटे में इसे खिला दिया करना। सबेरे आकर हाल बताना और ख़र्च के लिये मैं ये दो रुपए दिए जाती हूँ। अब मेरे साथ चल, मेरा बँगला देख ले। कुछ ज़रूरत पड़े, तो वहीं आकर हाल कह जाना।

वह लड़का फिर मोटर में बैठ गया। वह बार-बार रमणी की तरफ़ देखता था। पर उसकी समझ में यह बात न आती थी कि इन्होंने मेरी मा के लिये इतनी तकलीफ़ क्यों उठाई। वह उत्सुक नेत्रों से उसकी ओर देखता, पर कुछ कह न पाता था। ज़रा देर में मोटर एक बँगले में आकर खड़ी हो गई। रमणी ने कहा—यहीं मैं रहती हूँ।

लड़का उतरकर चलने लगा। रमणी ने कहा—अभी नहीं, ज़रा ठहर। अभी तक तूने कुछ खाया नहीं है। कुछ खा ले, तब जाना।

लड़के ने जवाब दिया—नहीं, माजी। अम्मा को बुख़ार ख़ूब ज़ोर का आ गया है। तुमने देखा तो था, वे बोली नहीं थीं। पहले कभी ऐसा बुख़ार नहीं आया था। सबेरे जब मैं घर से गया था, तब उनका जी कुछ अच्छा था। इसीलिये मैं साबूदाना लेने के लिये पैसे माँग रहा था। साबूदाना खाने की उसकी बड़ी इच्छा थी। अब मैं जाता हूँ। वहीं रहूँगा। भूख लगेगी, तो कुछ खा लूँगा। आप रुपए दे तो चुकी हैं।

रमणी ने अपने नौकर को उसके साथ कर दिया। उससे कह दिया—इसे बाज़ार से डेढ़ पाव पूड़ी तुला देना।

नौकर उस लड़के के साथ हो लिया।

३

दूसरे दिन वह लड़का उस रमणी के घर पर नहीं आया। नहीं मालूम उसकी मा का क्या हाल हुआ हो, रमणी यही सोच-सोचकर चिंतित होने लगी। अपने बँगले में, पंखे की हवा के नीचे, बैठी हुई वह बार-बार अपना जी बहलाने की चेष्टा करती है, पर वह शांति के साथ, दो घड़ी के लिये भी, किसी काम में लग नहीं पाती। जब सबेरे नौ बज गए और वह लड़का न आया, तो वह ड्राइवर को साथ लेकर मोटर पर उसी ओर को चल दी, जहाँ उस लड़के का घर था। वहाँ पहुँचने पर जो कुछ उसने सुना, उससे वह एकदम से तिलमिला गई। उस कोठरी से मिली हुई एक कोयले की दूकान थी। रमणी उस दूकान के आगे पड़ी हुई एक बेंच पर बैठकर बड़ी देर तक आँसू बहाती रही।

उस बालक की मा रात को ही मर गई थी। सबेरा होने पर म्यूनिसिपैलिटी की ओर से एक ठेला आया था। उसी पर लादकर उसके शव को श्मशान पर ले जाकर गंगा में प्रवाहित कर दिया गया। लड़के का कहीं पता नहीं था।

जब ड्राइवर ने देखा कि उसकी स्वामिनी को उस बेंच पर बैठे-बैठे रोते हुए देर हो रही है, तो वह उसके निकट जाकर कहने लगा—अब आप चलें। यह तो संसार है, यहाँ यह सब तो हुआ ही करता है।

दोपहर के ग्यारह बज चुके थे। अभी तक उस रमणी ने जलपान तक न किया था। घर पहुँचते-पहुँचते उसको ज्वर आ गया। तीसरे दिन उसके शरीर का ज्वर तो उतर गया, पर मन का ज्वर बड़े वेग से चढ़ आया। उसने अपनी कल्पना का एक प्रासाद बनाना चाहा था। उसकी नींव डालने का उसने यह उपक्रम किया ही था कि एकाएक खेल बिगड़ गया।

वह रमणी सचमुच कई गाँवों की स्वामिनी है। वह लेडी डाक्टर भी है। पर उसके कोई नहीं है। वह बड़ी दुखिया है। दुखी जगत् की सेवा करने में उसका मन ख़ूब लगता आया है। सौ रुपए महीने वह अनाथालय को देती है। कई सौ रुपया विद्यार्थियों को वजीफ़ा देने में ख़र्च करती है। वह उस लड़के का भी पालन-पोषण करना चाहती थी। पर ईश्वर की लीला!—लड़का न जाने कहाँ चला गया!

लेकिन अधिक दिनों तक वह स्वेच्छापूर्वक ये सब पुण्यकार्य भी न कर सकी। एक दिन वह सब छोड़कर बँगले से भाग खड़ी हुई। साफ़ कपड़े त्यागकर उसने मैले-कुचैले चिथड़े अपने शरीर पर रख छोड़े थे। सड़कों पर धूल में बैठकर वह कभी गाती थी, कभी आँसू टपकाती थी, कभी गीली मिट्टी लेकर घरौंदे बनाती और जब वह अच्छी तरह से तैयार हो जाता, तब एक लात मारकर उसे नष्ट कर देती थी। उसे लातों से कुचल-कुचलकर ख़ूब हँसती!—हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाती!

कभी सोहर और लोरियाँ गाती, और कभी विवाह के समय की प्यारी-प्यारी गालियाँ। उसका मधुर गायन सुनने के लिये सड़क पर से गुज़रनेवाले लोग वहाँ खड़े हो जाते। जब बहुत भीड़ हो जाती, तो धूल उड़ाकर सारी भीड़ को बात-की-बात में छिन्न-भिन्न कर देती। जानकार लोग, इसी से, उसके पास नहीं जाते थे।

इस दशा में भी वह बहुत दिनों तक नहीं रह सकी। एक दिन मोटर-लारी से कुचलकर स्वर्गलोक को प्रस्थान कर गई!

अपनी सारी सम्पत्ति वह अनाथाश्रम के ट्रस्टियों के नाम कर गई थी। अनेक वर्ष बीत गए। लोगों को उसका कुछ पता नहीं है कि वह कहाँ है, किस तरह से है। कोई कहता है, वह संन्यासिनी होकर पहाड़ों की कन्दराओं में छिपकर तपस्या कर रही है। कोई कहता है, वह तो अब तक आत्महत्या करके कभी की स्वर्गवासिनी हो चुकी होगी। कोई कहता है, मौत उसे कहाँ रक्खी है? वह तो पगली हो गई थी—अपने पापों का भोग जब तक पूरा न कर लेगी, तब तक वह मर कैसे सकेगी!

उसके अनाथाश्रम में उसकी एक पत्थर की मूर्ति खड़ी कर दी गई है। उस मूर्ति के नीचे खुदा हुआ है—"देव-दुर्लभ दयामयी श्रीमती नंदरानी देवी। जन्म १८१०—निर्वाण-काल अज्ञात।"

नंदरानी के पति कैसे थे, उसके साथ नंदरानी के प्रेम-जीवन की रसभरी घड़ियाँ कैसी आनंद-मंदाकिनी प्रवाहित करती थीं, यह सब भी मैंने इस कथा के प्रारंभ में देखा था। उसके पति का देहावसान बड़ी विचित्रता-पूर्वक हुआ था। एक दिन सहवास के पश्चात् पति-पत्नी पृथक्-पृथक् शय्याओं पर सो रहे थे। चाँदनी रात थी, गरमी के दिन। लेकिन बिजली के पंखे की हवा की बहार अपूर्व सुख-निंदिया भेजकर चली गई। नंदरानी जब सबेरे उठी, तो छै बज गए थे। भगवान् अंशुमाली की किरणें सामने आ ही रही थीं। ज्यों ही वह अपने स्वामी को जगाने लगी, त्यों ही देखती क्या है कि उसका शरीर प्राणहीन हो गया है।

अपने पति की इस अकाल-मृत्यु पर वह रोई नहीं। लेकिन उसने अपना जीवन बदल दिया था। अनाथ बच्चों से प्रेम करना, उन्हें खिलाना-पिलाना और उनके पढ़ने का प्रबंध करना उसका नित्य का काम था। वह अन्धे, अपाहिजों, रोगियों और असहाय प्राणियों का दुख दूर करने में बड़ा सुख अनुभव करती थी। पर

विश्व की गति देखते-देखते उसका हृदय विदीर्ण हो गया था। इसीलिये अपने जीवन के अंतिम दिवसों में वह जीवन-मुक्त हो गई थी।

४

इस कथा के साथ-साथ और भी बहुत-से दृश्य देखे थे। पर धीरे-धीरे ये भूलते जा रहे हैं। उस दिन के पश्चात् फिर कभी मैं फूलबाग़ की सैर करने नहीं गया। उस दिन से फिर मोहन बाबू की सुधि आते ही साँप काटे का-सा विष चढ़ आता है। धीरे-धीरे सारी बातें समझ में आ रही हैं। भगवान् ने शायद गीता में कहा है कि संसार में जो कुछ सुंदर है, वह भी मैं ही हूँ। पहले भगवान् के इस वचन का मर्म समझ में नहीं आया था। बाह्य सौंदर्य देखकर हृदय अपने क़ाबू में नहीं रहता था। पर उस समय आँखों में वह दृष्टि कहाँ थी, जिससे किसी पदार्थ को यथार्थ रूप में देख सकता। वह अंतर्दृष्टि तो अब प्राप्त हो सकी है।......बरस हो गए, एक कुष्ठाश्रम में कुष्ठ-रोगियों की सेवा किया करता हूँ। घावों का मवाद धोने, उन पर पट्टी बाँधने, उनके बदन पर ख़ास तरह के तेल मलने, हरे-हरे, पके-अधपके ताज़े फल छील-छीलकर उन्हें खिलाने में मुझे जो सुख मिलता है, सो काहे को कभी किसी जगद्विजयी सम्राट् को नसीब हुआ होगा।

यहाँ सभी मुझे प्यार करते हैं, कोई दादा कहता है, कोई भैया। किसी की बकरी मुझे प्यार करती है, किसी का मेमना मेरा साथी हो गया है। किसी की चुन्नी मुझे देखकर अंगूर खाने को दौड़ पड़ती है और मेरे पैरों को अपनी नन्हीं-नन्हीं हथेलियों के गुंफन में कस लेती है। किसी को रामायण सुनाकर महर्षि वाल्मीकि के साथ छोड़ देता हूँ, किसी को महाभारत के श्रीकृष्ण के पीछे लगा देता हूँ। किसी का जी बहलाने के लिये उसके साथ ताश खेल लेता हूँ। किसी को छकाने के लिये शतरंज की ऐसी करारी मात दे देता हूँ कि उसका सारा खेल-दर्प चूर-चूर हो जाता है। तब वह भी हँस देती है, मैं भी खिलखिलाकर बलिहार हो जाता हूँ। अच्छे हो जाने पर रोगी जब जाने लगते हैं, तो वे मेरे लिये रोते हैं, मैं उनके बिछोह में अपनी उपवास-चिकित्सा करता हूँ। भला मेरे इस सुख की भी कहीं कोई समता है!

अब मेरे सिर पर और दाढ़ी में भी बड़े लंबे-लंबे बाल लहराते हैं। कोई मुझे पहचानने की कितनी ही चेष्टा क्यों न करे, पर वह मुझे पा न सकेगा। इसीलिये अपनी इस केशराशि को बड़े प्यार से रखता आया हूँ। इन्होंने अभी तक मेरी बड़ी रक्षा की है। अनेक बार ऐसा प्रतीत हुआ कि अब इस बार आगत बंधुओं की अंतर्दृष्टि से बचना असंभव है। पर मेरे इन केशों ने कभी किसी के जी में कोई शंका जमने नहीं दी।

तीन दिन से यहाँ प्रकाश आया हुआ है। उसके साथ एक रमणी भी है। आज यत्र-तत्र सर्वत्र देख-भालकर प्रकाश बोला—आप यहाँ जो कार्य कर रहे हैं, उसका मूल्य, देखता हूँ, संसार में किसी भी वस्तु से कूता नहीं जा सकता। आपका जीवन धन्य है। आपके दर्शन करके सचमुच मैं तो कृतार्थ हो गया। मेरे लायक़ भी कोई सेवा बतलाइए।

मैंने कहा—बचा, यहाँ पर तू जो कुछ देख रहा है, वह सब भगवान् की ही लीला है। मनुष्य तो कुछ कर सकनेवाला प्राणी नहीं है। भगवान् की जो इच्छा हो और जो तेरे मन में आए, वह तू भी कर जा।

प्रकाश—देव, मेरी एक बहन है। वह विधवा है। यहाँ का वातावरण देखकर उसे बड़ी शांति मिली है। वह भी यहाँ सेविका-रूप में अपना जीवन देना चाहती है।

मैं—पहले उसे अपनी आत्म-शुद्धि करनी होगी। अपने मन को अग्नि में तपाना होगा। जब तक उसका मन विशुद्ध कुंदन नहीं होगा, तब तक उसे यहाँ भी शांति नहीं मिलेगी।

प्रकाश—आप उसकी परीक्षा कर लें। मुझे विश्वास है, आप उसमें कोई विकार न पाएँगे।

रमणी सामने आई। मैं उसे देखकर पत्थर हो गया। मैंने कहा—अभी एक वर्ष की कमी है। पर साल इन्हीं दिनों आप इसे ला सकेंगे।

प्रकाश—देव, इस वर्ष यह शांति के साथ रह भी सकेगी! इसे हिस्टीरिया का भयंकर रोग है। यहाँ इसे शांति मिलती, तो संभव था, यह रोग भी विलुप्त हो जाता।

मैं—यही तो इसके मन का प्रतिबिंब है। तभी तो मैं इसे एक साल पश्चात् लाने की व्यवस्था देता हूँ। भगवान् तब तक इसे शांत कर देगा।

× × ×

यह एक वर्ष भी बीत गया। प्रकाश उसे ले आया है। अब वही इस आश्रम की अधीश्वरी होगी। मेरा काम भी समाप्त हो गया है। इसलिये अब मैं भी यहाँ से प्रस्थान करूँगा। इस शरीर का 'मोहन बाबू' यहाँ रहेगा। अब मैं अपने आत्मीय 'मोहन बाबू' की भी कुछ खोज करूँ!

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

नूरजहाँ

(१)

अक्षय रहेगा इतिहास में सदैव ऐसा,
विशद वसुंधरा में सुयश कमा गई;
सुंदरता फूट के समाधि से निकलती है,
कौन कहता है रूप अपना गमा गई।
तू तो सींच-सींच के विवेक-वारि-द्वारा मंजु,
अंकुर अदल का अलौकिक जमा गई;
मेट के चकत्ता को समेट के महत्ता निज,
मेटकर सत्ता भू के पेट में समा गई।

(२)

रजनी-प्रकाश की अनूप कलिका-सी खिली,
सुंदर सुगंध फैली सुमन-शरीर की;
पाकर सुवास चारों ओर मडलाती रही,
मंडली महीप-मन-मधुप-अधीर की।
ध्येय था अनेकों को तुम्हारा नामधेय मंजु,
देख गति भूले हंस सुध चीर-नीर की;
तेरे जहाँगीर रूप ही पर निछावर थी,
जाहिर जहान जहाँगीरी जहाँगीर की।

(३)

तेरे जन्म लेते ही अनिष्ट घटना यों घटी,
जननी-जनक का सुभाग्य मानों सो गया;
किंतु जब आई मंजु मुग़ल-महल में तो,
रंकता का उनकी कलंक-पंक धो गया।
देखते ही देखते द्वितीया का मयंक बन,
राका-शशी दे सुख चकोर वृंद को गया;
भृकुटी-शरासन को तान के चलाया जब,
तेरे नैन-बाण का निशाना विश्व हो गया।

(४)

तेरा मंजुघोष सुनते ही मंजुघोषा खड़ी,
भरती समक्ष में सलज्ज बन पानी थी;
रंभा के समान रंभा देख रमणीयता को,
घूमती ऊशास्विनी थी झूमती दिवानी थी।
तेरे रूपरंग को विलोका था जिन्होंने वह,
लोग कहते हैं झूठी रति की कहानी थी;
धाम में रमा थी उपवन में शची थी तू ही,
बाणी थी सिंहासन पै युद्ध में भवानी थी।

(५)

अनय अनीति की अनिच्छित अनिष्ट की भी,
चंडिका-सी प्रबल प्रचंड नासिका थी तू;
मंडलीक-महिप-महान मानो मंदिर की,
माणिक-प्रदीप-ज्योति की प्रकाशिका थी तू।
भुक्ति-दायिनी तू माया सदृश मनोरमा थी,
मुक्ति-दायिनी भी मंजु कांति-काशिका थी तू;
भारतीय भूमि के प्रतापवान शासक के,
हृदय-प्रदेश की अनूप शासिका थी तू।

"अनूप"

पराधीन प्रकृति

(१)

किसी देश अथवा राष्ट्र की स्वाधीनता अथवा पराधीनता का पता मनोवैज्ञानिक इस सिद्धांत से पाते हैं कि उसकी प्रकृति कैसी है। अर्थात् यह कि उस राष्ट्र अथवा देश की प्रकृति में यदि स्वाधीनता है तो वह स्वाधीन है, पराधीन होकर भी यदि उसमें स्वाधीनता का कुछ अंश शेष है तो भी अभी वह पूर्णतः पराधीन नहीं हुआ है—अभी उसमें जीवनी-शक्ति अवशेष है, जो सदुपचार से पुनः पूर्वरूप में प्राप्त हो सकती है। किंतु यदि वह इस सीमा तक पराधीन हो चुका है कि उसकी प्रकृति में ही पराधीनता ने, फेफड़ों में क्षयरोग के कीटाणुओं की तरह, निवास कर लिया है, तो वह असाध्य रोगी के रोग की भाँति असाध्य है—दुःसाध्य अथवा कष्टसाध्य होने में उसके कोई संदेह ही नहीं है। यह प्रकृति की पराधीनता क्या है, वह कैसे बन जाती अथवा बना दी जाती है, यह प्रश्न विशेषरूप से विचारणीय है।

शासक और शासित में एक विचित्र संबंध यह है कि दोनों अन्योन्याश्रित हैं। अर्थात् जब कोई शासक है, तो उसके द्वारा कोई-न-कोई अवश्य शासित हो रहा होगा। पुनः जो शासित है, तो उसका शासक—उस पर शासन करनेवाला कोई-न-कोई अवश्य है। यह संबंध ठीक उसी प्रकार का है जैसे गुरु और शिष्य का। अर्थात् गुरु का शिष्य कोई अवश्य है और शिष्य है तो कोई उसका गुरु होना ही चाहिए। किंतु अंतर केवल इतना है कि सच्चा गुरु 'गुड़' होकर भी अपने शिष्य को 'शक्कर' होते देखकर गौरवान्वित होता है—अभिमान से फूल उठता है। लेकिन शासक और शासित में ऐसा नहीं होता। शासक शासित को 'शक्कर' तो क्या, कभी गुड़ भी नहीं बनने देना चाहता। राजनीति का—शासन का यह साधारण सिद्धांत है। यदि ऐसा न हो, तो फिर वह किन शासितों का शासक कहा जायगा। शासन की अविच्छिन्न शृंखला शासक द्वारा शासितों को शासित ही बनाए रखने में क़ायम है।

अस्तु, जब कोई चतुर जाति किसी पददलित जाति पर शासन करने का अवसर प्राप्त करती है, तो वह अपने शासन को दृढ़तर बनाने के लिये केवल शस्त्रों ही पर नहीं निर्भर करती है, बल्कि शासितों को आर्थिक, मानसिक और आत्मिक रूप से भी खोखला कर देती है। शस्त्र का प्रतीकार शस्त्रों द्वारा हो भी सकता है—कब, जब शस्त्रविद्या के योग्य शासितों के बल है। लेकिन जब शासित जाति को खोखला कर देनेवाले ऊपर लिखे तीनों अस्त्र चला दिए जाते हैं, तब शासितों का बल भी नहीं काम करता—कहना तो यह चाहिए कि शस्त्रशक्ति का प्रतीकार करनेवाला बल तब उनमें रह ही नहीं जाता। यही तीनों रूप किसी शासित देश के लिये पराधीनता की बेड़ियाँ बन जाते हैं, अथवा उनमें पराधीन प्रकृति उत्पन्न कर देते हैं—उनकी प्रकृति में ही पराधीनता ला देते हैं। आर्थिक दासत्व, मानसिक दासत्व और आत्मिक दासत्व तीनों ही पराधीन प्रकृति के जन्मदाता हैं। अतएव पराधीन प्रकृति का विशेष विवेचन जानने के लिये इन्हीं तीनों रूपों को कुछ विशेष स्पष्ट रूप में जान लेना चाहिए।

आर्थिक दासत्व आज हमारे देश में प्रायः बहुलांश में व्याप्त है। जिन्हें हम लोग महल और अट्टालिकाओं में सब तरह के आमोद-प्रमोद करते देखते हैं, वे भी एक प्रकार से आर्थिक दासत्व से बँधे हुए हैं। उनकी ऊपरी हँसी-खुशी, राजवैभव तथा हर्षोल्लास एक प्रकार से अपस्मार के रोगी के जैसे हाव-भाव हैं। रोग वही है, जो प्रायः देशव्यापी है। उनका रोग ग़रीब जनता को प्रत्यक्ष नहीं होने पाता; क्योंकि बेचारी दरिद्र जनता के पास से वह माप बहुत पहले छिन चुकी है, जिससे वह राजवैभव को नाप सके। उसे तो अब उसकी ज़रूरत है, जिससे पेट की ज्वाला का शमन होता है। और, इस ज़रूरत को राजवैभव पूरा करने में असमर्थ है। आर्थिक दासत्व तो तब न हो, जब देश धनधान्य से परिपूर्ण हो। यहाँ न धन है न धान्य। और हैं वे इसलिये नहीं कि धन का साधन व्यापार और धान्य

का साधन कृषि अथवा उससे उत्पन्न अन्न आदि आज हमारे देश के हाथ के नहीं हैं। हमारे देश के हाथ से वे बाहर बहुत दूर जा चुके हैं। आज देश में देश का व्यापार नहीं है, और धन का साधन न रहने से धान्य में भी इतनी न्यूनता आ गई है कि खाने-भर को यहाँ कठिनाई से रह पाता है। मोटे तौर से आर्थिक दासता का यही रूप है। तब इसका उपाय क्या रहता है? यही कि यह कमी और किसी रूप से पूरी की जाय। अर्थात् उद्योग-धंधों के द्वारा। किंतु इसमें भी शासकों की अवरोधक शक्तियाँ बाधाएँ उपस्थित करती हैं। व्यावसायिक क्रांति और वर्तमान मशीनयुग के महत्त्वपूर्ण इतिहास से परिचित लोग इस तत्त्व को भली भाँति जानते हैं।

दासत्व के इस रूप को हम मानसिक दासत्व के रूप में लेते हैं। उद्योग-धंधे मनुष्य कब कर सकता है? या तो वह पैतृक संपत्ति के रूप में उनके करने का तरीक़ा जाने अथवा शिक्षा के द्वारा उसे वे सिखाए जायँ। केवल यही दो मार्ग हैं—या तो संस्कारों द्वारा वह उन्हें प्राप्त कर चुका हो या फिर उनके सीखने के साधन हों। हमारे देश में संस्कारजन्य प्राप्ति का द्वार भी बंद है और सीखने-सिखाने का ढंग भी निराला ही है। जिन कारणों से संस्कारजन्य प्राप्ति होती है, वे बहुत पहले दूर किए जा चुके हैं। ढाके की मलमल बनानेवाले जुलाहों के अँगूठे ही साफ़ कर दिए गए, तब उनका व्यावहारिक अनुभव इनकी संतान को कैसे प्राप्त हो। नील का रंग अब उन रंगरेज़ों की संतान कैसे तैयार करेगी। बाँस ही न रहेगा, तब बाँसुरी कैसे बनेगी। चलो, आँख फूटी, पीर गई। संस्कार-जन्य प्राप्ति का मार्ग यों रोका गया। अब दूसरा साधन वही सीखने-सिखाने का बचता है। उसकी क्या दशा है, इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि इस लेख का लेखक स्वयं कोई उद्योग-धंधा नहीं जानता, इसीलिये यह पराधीन प्रकृति का रोना आप लोगों के सामने रो रहा है। बात यह है कि हमारे देश की शिक्षा में न-जाने कितने दिनों से दरिद्रता घुसी हुई है। इस दरिद्रता ने हमें पेट का दरिद्री तो बना दिया है, लेकिन वह मार्ग नहीं बता सकी कि हम अपने पेट के दारिद्र्य को दूर कर सकें। बालकों में स्वभावतः कुछ-न-कुछ कला-प्रियता होती है। प्रकृति स्वयं यह शक्ति देती है। किंतु जैसा कि कहा जाता है, वह देती सब कुछ है—माता की भाँति मनुष्य को जीवन के साधन देती है, लेकिन वह नाज़ुक मिजाज़ माता नहीं है, जो अजीर्ण के कारण रोते हुए बच्चे को भी फिर दूध पिलाने लगे। वह कठोर माता है—मातृत्व की वेदना से वह पीड़ित होती है, ममता से वह आर्द्र होती तो है, लेकिन उसके मन के मुआफ़िक बच्चा न चले, तो ऐसे कुपूत को वह दंड भी देती है—कठोर-से-कठोर दंड। प्रकृति प्रत्येक प्राणी में—प्रत्येक मनुष्य में आनंद की स्वाभाविक प्रेरणा उत्पन्न करती है। कारण, आनंद का प्रकाश जीवनी-शक्ति की प्रबलता का ही प्रकाश है। जब यह आनंद-प्रकाश मिट जाता है, तब जीवनी-शक्ति क्षीण हो जाती है। शिक्षा ने आज हमारे देश में यही कर रक्खा है। प्रकृति की गोद में भारतीय बालक भी आह्लादपूर्वक पलता है, किंतु शिक्षा—विदेशी नीति के द्वारा निर्द्धारित शिक्षा—मार्ग में पहाड़-सी खड़ी हो जाती है।

बात यह है कि हमारे देश की विद्या—शिक्षा—अभाव की अनुगामिनी है। उत्कर्ष को वह बहुत पीछे छोड़ चुकी है। अभाव की ओर, अपूर्णता की ओर ही वह इस देश के बालकों को प्रेरित करती है। हमारे देश का प्रत्येक बालक जब माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा-क्षेत्र में प्रवेश करता है, तो यही समझता है कि राजसम्मान प्राप्त करेंगे। इससे भी अधिक बात यह है कि बालकों के अभिभावक स्वयं, आर्थिक दासत्व की चोट खाए हुए होने के कारण, यही आशाएँ रखते हैं कि पढ़-लिखकर उनके बालक अच्छी-से-अच्छी नौकरी करें। यह एक प्रकार से संस्कार ही बन गया है। अस्तु, इस लक्ष्य-साधन के सामने बड़े-से-बड़े कल्याण का बलिदान करने में भी हमें संकोच नहीं होता। यह सब उस पराधीनता का कारण है, जो हमारे शरीर की हड्डी-हड्डी में, नस-नस में, मस्तिष्क के तंतु-तंतु में व्याप्त हो गई है। हमने ऊपर लिखा है कि प्रत्येक मनुष्य में कुछ-न-कुछ कलाप्रियता स्वभावतः होती है। इस कलाप्रियता के स्वाभाविक होने का कारण, जैसा कि ऊपर लिख चुके हैं, आनंद की—जीवन को प्रकाश देनेवाली—उद्भावना ही है। किंतु हमारी संस्कारजन्य, नस-नस में व्याप्त पराधीनता उसके मार्ग में बाधारूप खड़ी हो जाती है। बालक जब छोटा होता है, अथवा छोटे दरजों में पढ़ता है, तब

वह विशेष आनंदप्रिय होता है, आनंद की ओर ही वह प्रेरित होता है। ड्राइंग से ब्लेक-बोर्ड पर अथवा स्लेट पट्टी पर खींचना, काग़ज़ को मनमाने ढंग से काटना, खेलों में नवीनता एवं भावुकता उत्पन्न करना उसके आनंदप्रकाश के मार्ग के द्योतक हैं—उसकी जीवनीशक्ति के परिचायक हैं; किंतु मानसिक दासत्व उसे उस ओर से खींच लाता है। अर्थात् ऊपर के दरजों में पहुँचते ही अपने देश की शिक्षा का लक्ष्य—अर्थात पढ़-लिखकर नौकरी करना, राजकीय सम्मान प्राप्त करना—उसकी समझ में आने लगता है। मांस-मज्जागत दीनता अथवा पराधीनता उस पर धावा करती है, और तब क्या होता है ? जीवनीशक्ति देनेवाली प्राकृतिक प्रेरणाएँ दब जाती हैं, शिक्षाविभाग की परीक्षा के लिये जीवनीशक्ति का द्वार बंद हो जाता है। अन्य विद्या के प्रति उनकी अश्रद्धा हो जाती है। कारण स्पष्ट है। लोगों के मन में जिस शिक्षा के प्रति जो उदासीनता है, वही अवस्था पाकर छात्रों—देश के भावी स्तंभों—के भी मन में उत्पन्न हो जाती है। देश की बाल्य और आभ्यंतरिक दीनता का—दासत्व का—यह महाअनिष्ट-कर लक्षण है। मानसिक दासत्व का वास्तव में यह वह रूप है कि जीवन, मृत्यु की ओर अग्रसर होता है। अतएव यह महाभयंकर है। उद्योग-धंधों के प्रति कला-प्रिय प्रकृति का यहीं अंत हो जाता है और मानसिक दासत्व की प्रेरणाएँ आर्थिक दासत्व को और भी जकड़ देती हैं।

केवल इतना ही नहीं, यह तो हमने मूलरूप में बतलाया है। मानसिक दासत्व की शाखाएँ-प्रशाखाएँ भी हैं, जिन्हें पल्लवित करने का स्थान नहीं। हमारी हीनता का जो हीन-से-हीन रूप हो सकता है, वह सब प्रकृत अथवा कृत्रिम रूप में, हमारे मानसिक दासत्व की शृंखला में, लड़ियों का काम करता है। हमारे स्कूलों में प्रचलित इतिहास तथा अन्य भाषा-संबंधी पुस्तकें इसके प्रमाण-स्वरूप हैं; बात यह है कि साम्राज्य अथवा राजसत्ता केवल भालों की नोकों पर ही नहीं निर्भर करती है। गोले और बंब ही उसके रक्षक नहीं हैं। यह तो एक ऐसा साधन है, जो प्रतीकार के सामने कुंद भी पड़ जाता है। इसके अतिरिक्त वास्तव में साम्राज्यवादी विचारों के प्रति जनता की वफ़ादारी पर वह निर्भर है। साम्राज्यवादी विचारों के प्रति जनता की स्वीकृति एक ऐसा गुप्त साधन है, जैसा मख़मली म्यान के भीतर दुधारी तलवार। साधारण तौर पर इसे भी एक प्रकार की 'कला' कह सकते हैं। हमारी समझ में इस 'कला' का संबंध उस साहित्य अथवा शिक्षानीति से है, जो शासकों द्वारा शासितों पर ज़बर्दस्ती लादी जाती है। इसी कला को लक्ष्य करके बुखारिन ने एक स्थान पर लिखा है कि प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से अंततो गत्वा कला का निर्देश, भिन्न-भिन्न प्रकार से, आर्थिक संघटन और समाज की उस स्थिति से, जिसमें औद्योगिक कलाओं के ज्ञान का सुचारु ढंग से समावेश है, किया जाता है। इसी बात को कालवर्टन ने भी अपनी एक पुस्तक में बड़ी सुंदरता से एवं विशद रूप में प्रतिपादित किया है। कालवर्टन ने अँगरेज़ी साहित्य का हवाला देकर लिखा है कि वहाँ का साहित्य, भिन्न-भिन्न समयों में, समाज के उस विशेष अंग के ही अनुकूल रहा है, जिसकी आर्थिक प्रधानता रही है अथवा, दूसरे शब्दों में, राजनैतिक जीवन पर जिसका प्रभुत्व रहा है। उस समय के उपन्यासकारों, नाटककारों, दार्शनिकों और कवियों ने वैसे ही ग्रंथ लिखे—वैसी ही कृतियाँ तैयार कीं, जिनके द्वारा शासक जाति के स्वार्थों की रक्षा हो सके—उसके स्वार्थ की प्रगति में अधिक वृद्धि हो सके। और, इतिहास इसका साक्षी है कि ऐसा सदा से होता आया है। इस प्रकार भू-सैन्य अथवा नौसैन्य के सैनिकों के जैसे विचार रहते हैं, उससे अधिक उदार विचार साहित्यिकों ने नहीं प्रकट किए। अर्थात् जिस प्रकार सैनिकों के शस्त्र शासितों को दबाए रखने के लिये सदैव प्रस्तुत रहे हैं, उसी प्रकार साहित्यकारों के विचार उन्हें मानसिक दासत्व की ओर प्रेरित करने के लिये ही प्रकट हुए हैं। उनकी कला—उनकी कृतियाँ—शासित समाज पर सदा शासकों का नियंत्रण बनाए रखने में ही सहायक होती है। क्यों—इसलिये कि सामाजिक और राजनीतिक नियमों की रक्षा होती रहे।

इस सिद्धांत को यदि हम अपने देश की शिक्षानीति पर लागू करें, तो हमें मालूम होगा कि विदेशी शिक्षा-नीति और उसके द्वारा उत्पन्न साहित्य ने, जो हमारे देश पर ज़बर्दस्ती लादा गया अथवा लादा जाता रहा है, हमारी मानसिक दासता को मज़बूत करने का ही काम किया है—तलवार और तोपों से कम हमारी

दासता के लिये उन्होंने नहीं किया है। ऐसा साहित्य समस्त शिक्षाक्रम को ही दूषित कर देता है । मानसिक दासत्व से देश को अधिकाधिक जकड़नेवाले वे कीटाणु उसमें, इतनी अधिक संख्या में, उत्पन्न हो जाते हैं कि उस शिक्षाक्रम को अनुसरण करते रहने से आत्मिक दासत्व उत्पन्न हो जाता है--आत्मा में भी उस पराधीनता का अधिकार हो जाता है। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर बर्ट्रेंड रसेल ने शिक्षा की जो परिभाषा बतलाई है, वह शासितों में पराधीन प्रकृति को ही उत्पन्न करने में अधिक सहायक हो सकती है। उनकी सम्मति में शिक्षा की परिभाषा क्या है—यही कि पूँजीपतियों के लाभ के लिये नवयुवकों का युद्धक्षेत्र में प्राण-विसर्जन करना। कालांतर में इसी प्रकार के साम्राज्यवादी विचारों के प्रति शासित जनता में वफ़ादारी उत्पन्न होती है, और उसी पर साम्राज्य अथवा साम्राज्य-सत्ता निर्भर करती है। दूसरे शब्दों में शासितों के मानसिक दासत्व पर शासकों के शाही महल का—शासन सत्ता का—निर्माण होता जाता है। शिक्षानीति के इस दूषण को—मानसिक दासत्व उत्पन्न करनेवाली शिक्षा के साहित्य भाग को—मार्कस्टार-नामक विद्वान् ने अपनी पुस्तक 'शिक्षा में असत्य और घृणा' (Lies and Hatred in Education) में बहुत अच्छे ढंग से बतलाया है। बात यह है कि इँगलैंड की शिक्षा का आदर्श ब्रिटिश-साम्राज्य की परिवर्तनशील आवश्यकताओं के अनुसार सदैव बदलता रहा है और सदा ही बदलता रहता है। दूर जाने की ज़रूरत नहीं; सर माइकेल सैडलर के नाम से हमारे देशवासी प्रायः परिचित हैं। 'सैडलर' कमीशन आप ही के नाम से प्रसिद्ध हुआ है और यह कमीशन शिक्षा की जाँच-पड़ताल के लिये बैठा था। उन्होंने अपनी पुस्तक "हमारी सार्वजनिक प्राथमिक पाठशालाएँ" (Our Elementary public schools) नामक पुस्तक में लिखा है कि "यद्यपि सामाजिक परंपरा अभी तक दृढ़ और प्रभावशाली है, तो भी प्राथमिक शालाओं में शिक्षा का पाठ्यक्रम, बिना तोड़-मरोड़ किए, संकीर्ण रह सकता है। किंतु जब सामाजिक परंपरा क्षीण हो जाती है अथवा दृढ़ नहीं रहती, तब शालाएँ अदम्य शक्ति से, समाज के प्रति नवीन कर्तव्य-भावना से साहस का अनुसंधान करती हैं।" सैडलर साहब का अभिप्राय स्पष्ट है। वह कच्चे घड़ों को ही, अपनी राजनीतिक दूरदर्शिता के कारण, वह रंग देना चाहते हैं कि जिन पर आगे चलकर सिवा मानसिक दासत्व के और कोई रंग ही न चढ़ सके; क्योंकि यह बात भी सर्वसम्मत है कि मानसिक दासता किसी राष्ट्र के लिये घुन है, जो उसको सब प्रकार से निःसत्त्व कर देता है। इसलिये सैडलर महोदय मानसिक दासत्व को दृढ़ बनाए रखनेवाली परंपरा को ही क़ायम रखने के पक्षपाती हैं। संभव है, हमारा यह अनुमान ग़लत हो। किंतु प्रमाण में वह सत्य है।

इस प्रकार शिक्षा के जितने विषय हैं—प्रायः उन सबमें यही प्रवृत्ति हमारी वर्तमान शिक्षानीति में काम करती है। यहाँ तक कि शुष्क विषय अँगरेज़ी व्याकरण और गणित की पुस्तकों में भी—यही भावना काम करती हुई पाई जाती है। एक पाठ्य पुस्तक में तो यहाँ तक लिखा है कि ब्रिटिश राज्य-संसार के कल्याण का सबसे बड़ा साधन है और ऐसा साधन है कि दुनिया में कभी रहा ही नहीं। रैमजेम्योर नामक उदार इतिहासकार लिखते हैं कि "ब्रिटिश-साम्राज्य मानवीय भ्रातृत्व का वह स्वरूप है, जैसा मानवीय इतिहास में पाया नहीं जाता।" और, अँगरेज़ी राज्य में कभी सूर्य नहीं अस्त होता अर्थात् उसका वैभव इतना विशाल है—यह बात तो हमारे कानों के लिये—हमारे देश के अपरिपक्व-मस्तिष्क छात्रों के लिये बिलकुल ही साधारण है। राज्यवैभव की यही विशालता शासित जाति की मानसिक विशालता को संकीर्ण और सीमित करने का काम करती है। ब्रिटिश-वैभव की जितनी बातें हैं, जितनी और जिस प्रकार की वर्णनाओं से अँगरेज़ी अथवा दूसरे शब्दों में विदेशी शासनसत्ता का प्रभुत्व हमारे देश के बालकों के मस्तिष्कों पर स्थापित हो सकता है, उन सबको वह रूप दिया जाता है कि विदेशी शासन की पराधीनता में ही हमें अपने देश की भावी उन्नति, विकास और वैभव की आशाएँ जान पड़ने लगती हैं। इस प्रकार हमारी आत्मिक दासता का सूत्र अधिकाधिक जटिल बनता जाता है और हमें 'अपनापन' भूल-सा जाता है। आत्मीयता को हम तिलांजलि देते हैं, और परिणाम में आत्मिक पराधीनता का सांगोपांग रूप हमारी आत्मा

में व्याप्त हो जाता है। सारांश यह कि पराधीन प्रकृति उत्पन्न करने और उसके अस्तित्व को बनाए रखने में जो-जो उपकरण आर्थिक, मानसिक और आत्मिक दासत्व एकत्र करते हैं, वे हमारे लिये संपूर्ण दासता का द्वार खोल देते हैं और हम प्रकृति से ही ऐसी श्रेणी के प्राणी बन जाते हैं, जो केवल ज़िंदगी बिताने के लिये संसार में जन्म ग्रहण करते हैं। हमारी स्थिति उस समय ऐसी हो जाती है, जैसे बकरी के गले का स्तन, जो दूध तो देता नहीं, ख़ाली गले में लटकता रहता है। पराधीन प्रकृति की उस परंपरा के हम दास हो जाते हैं, जो जन्म-जन्मांतर हमारा पिंड नहीं छोड़ने की—और शायद न छोड़ेगी।

थोड़ा और। हमारे यहाँ साहित्य द्वारा साम्राज्यवाद का प्रभुत्व बनाए रखने में ऐंग्लो-इंडियन पत्रकार कहाँ तक सहायक हो रहे हैं, यह भी देखना चाहिए। हमारे मानसिक दासत्व में शिक्षानीति और स्कूलों में पढ़ाए जानेवाली पुस्तकों के सदृश ही, इनका भी काफ़ी हाथ है। आए दिन 'टाइम्स आफ़ इंडिया' और 'स्टेट्समैन' तथा 'पायोनियर' आदि पत्र अपना काम कर ही रहे हैं। इन कार्यालयों से प्रतिवर्ष 'इंडियनइयरबुक' नाम का एक वार्षिक विवरण निकला करता है। इन विवरणों में भारतीय जीवन का पतनशील दृश्य ही अंकित किया जाता है। अमेरिका आदि पाश्चात्य सभ्यता-प्रेमी देशों में एक प्रकार से ऐसी संस्थाएँ काम करती हैं, जो शासकों के सुशासन का एक ओर ढिंढोरा पीटती हैं और दूसरी ओर साथ-ही-साथ शासितों की हीनताओं का—चाहे वे सोलहों आने कल्पित ही क्यों न हों—चित्रण करती हैं। मिस मेयो अथवा उनके अन्य भाई-बहन उसी नियमित रूप से अँगरेज़ी सभ्यता और शासन का प्रचार करनेवाली संस्था के अस्त्रशस्त्र हैं। इसीलिये हमें शासकों के वैभव के गीत और शासित भारतीयों के असभ्य, स्वशासन के अयोग्य होने की कल्पनाएँ प्राप्त होती रहती हैं। देवताओं के ग़ुलाम, (Slave of the God) मदर इंडिया (Mother India) और डाटर्स आफ़ इंडिया (Daughters of India) आदि ऐसे साहित्य के प्रमाण में पेश की जा सकती हैं, जो हमारी प्रकृति में भावी पराधीनता की जड़ को अधिक दृढ़ रखने में सहायक होंगे। और, हम तो यहाँ तक देखते हैं कि भारतवर्ष में जो भी अँगरेज़, यहाँ की स्थिति की जाँच करने अथवा किसी कमीशन का सदस्य अथवा प्रधान होकर आता है, उसका मूल-उद्देश्य यही रहता है कि भारतीयों में पराधीन प्रकृति उत्पन्न करने में कौन-से साधनों की कमी है, इसकी वह पूर्ति करे। हाल में प्रकाशित न्यायमूर्ति वाल्स साहब आई० सी० एस्० के विचार ही इसके प्रारंभ में उपस्थित किए जा सकते हैं। उनकी सम्मति में भारतीय जनता का अधिकांश भाग ऐसा है, जो 'क्रिमिनल' है। सरवेलेंटाइन शिरोल के नाम से तो हम लोग बहुत दिनों से परिचित हैं। यह वही महाशय हैं, जिनका मुक़दमा लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के साथ कभी चला था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आप अनन्य उपासक हैं। सन् १८८१ से आज तक इन्होंने जितनी पुस्तकें लिखी हैं, उन सबमें प्रकारांतर से, पद-पद पर, यही ध्वनि व्याप्त है कि एशिया महाद्वीप के लोगों में स्वायत्त शासन की सामर्थ्य नहीं है। ब्रिटिश-वैभव, क्षमता, योग्यता और देवत्व के ही गीत उनमें गाए गए हैं। दो-तीन वर्ष पूर्व उनकी "परिवर्तनशील संसार में ४० वर्ष" (Fifty years in a changing world) नाम की पुस्तक निकली थी। यह उन्हीं की एक प्रकार से जीवनी है, किंतु विचारसारिणी उनकी ऐसी भयंकर है कि उनके साम्राज्य-निर्माणकारी साहित्य में उसे उचित उच्च स्थान दिया जा सकता है। प्रायः समस्त साम्राज्यवादी लेखकों में शिरोल साहब सबसे भयंकर लेखक हैं। इन्हीं महाशय की अंतिम पुस्तक, कुछ दिन हुए, निकली थी— "Witz Pen and Brush in Tastrun land." अर्थात् "क़लम और ब्रश के साथ प्राच्य संसार में।"

साम्राज्यवादी शिरोल ने समय-समय पर मिश्र, सीरिया, अरब, एशियामाइनर, फ़ारस, भारतवर्ष, जापान और चीन में यात्राएँ की थीं। ये यात्राएँ केवल शौक़ के लिये थीं, सो बात नहीं। इनमें कुछ विशेष गंभीर उद्देश्य छिपा था। और, वह यही कि साहित्य द्वारा साम्राज्यवाद की रक्षा किस प्रकार की जा सकती है अथवा शासित जातियों में पराधीन प्रकृति उत्पन्न करने और मज़बूत करने का यह कितना कारागार साधन है, इसका मार्ग परिष्कृत किया जाय। प्रारंभ से ही शिरोल ने ब्रिटेन का साम्राज्यवादी स्वार्थ शिक्षा में मज़-

बूत करने और चतुर्मुखी प्रतिभा से उसे संगठित करने में अपना जीवन विसर्जित किया है। जिस धुन से हिंदू-साधु-संत अपनी कठोर तपस्याएँ करते हैं, उसी धुन से शिरोल साहब अपने उद्देश्य में अग्रसर हुए हैं। उनकी यह पुस्तक यही सिद्ध करने के लिये है कि "ब्रिटिश-साम्राज्यवादी उपनिवेशों में अपने शत्रुओं पर न केवल अपने चातुर्य से विजय प्राप्त करने में समर्थ हैं, वरन् उनमें इसका अनवरत उत्साह और उमंग है।" उन्होंने अपनी कृतियों में निरंतर यही प्रकट किया है कि ब्रिटिश-साम्राज्य के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा है तथा ब्रिटिश-साम्राज्य ही अपनी रक्षा करने और शासितों को सभ्य बनाने में समर्थ है।

चाहे जो भी हो—पार्लियामेंट के हाउस आफ़ लार्ड्स का मेंबर हो या हाउस आफ़ कामंस का—उसका लक्ष्य ब्रिटिश-साम्राज्यवाद की रक्षा ही है। 'फ्लेचर-किपलिंग'-नामक पुस्तक में, जो ब्रिटिश-इतिहास पर लिखी गई है, उल्लेख पाया जाता है कि "वहाँ के प्रारंभिक आंदोलनों के समर्थक विप्लववादी थे, मूर्ख थे; चार्टरों (अधिकार-घोषणाएँ) के पक्षपाती अशिक्षितों को मत दिया करते थे।" प्रायः अत्यंत लोकप्रिय उपन्यासों और कहानियों की पुस्तकों में अँगरेज़-साम्राज्य-वादी ऐसा ही चित्रण करते हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि 'भारतीय धूर्त हैं, मेक्सिकोवाले घृणित हैं, चीन-वाले चोर हैं, और प्राच्य अथवा पराधीन देशवाले न-जाने क्या-क्या हैं।' क्रांति सदैव अराजकता के नाम से पुकारी गई है; अभी हाल में एक प्रसिद्ध लेखक ने रूस के संबंध में विचार प्रकट करते हुए लिखा है—"समाजवाद जंगली-पन है" वह दासत्व है; किंतु वह लेखक यही नहीं जान सका—नहीं जान-बूझकर भी इस विचार को पी गया कि यदि समाजवाद जंगलीपन और दासत्व है, तो साम्राज्य-वाद देवत्व कैसे हो सकता है। इसी लेखक ने एक स्थान पर लिखा है कि "अँगरेज़ी टेक्स्टबुक और अँग-रेज़ी-साहित्य इस बात में ब्रिटिश-साम्राज्यवादियों के सहायक ही हैं कि भारतीय उनके द्वारा निर्द्धारित और उन्हीं के मनोनीत स्टेंडर्ड को ग्रहण करते हैं।" पराधीन प्रकृति को उत्पन्न तथा पुष्ट करनेवाले मानसिक दासत्व के कारणभूत साहित्य के समर्थन में अब और क्या प्रमाण दिया जा सकता है। यदि इनकी दृष्टि में साम्राज्यवाद भूखों मरना है, तो फिर यह ठीक ही तो है। किंतु जैसा मार्कस्टार ने लिखा है—यह सब भारत के ब्रिटिश-शासकों की स्वार्थमूलक प्रवृत्ति का ही द्योतक है।

किंतु मार्कस्टार भी आख़िर कौन हैं? और जो कुछ वह हैं, उसका रंग भी उन्होंने दिखा दिया है। मसल मशहूर है कि "नादान दोस्त से दाना दुश्मन अच्छा है।" मार्कस्टार भी अपनी दानाई के भीतर अपनी स्वभावानुकूल जातीय प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। किंतु हमारी समझ में जो भारतीय स्वार्थ का खुल्लमखुल्ला विरोध करते हैं, वे उन लोगों से कहीं अधिक स्पष्ट हैं—अंधे हैं, जो कूटनीति के बल पर हमारी प्रवृत्तियों में पराधीनता अथवा मोहक परोपकार के तत्त्व भरने का प्रयत्न करते हैं। मार्कस्टार की राय में साहित्य और पाठ्य पुस्तकों का आदर्श अंतर-राष्ट्रीय हित तथा उसकी वृद्धि होना चाहिए। किंतु यह तो वहाँ हो, जहाँ राष्ट्र का अस्तित्व स्वीकार हो। आज तो भारतीय राष्ट्र की कल्पना दुरूह है, फिर यह अंतर-राष्ट्रीय हित-साधन कहाँ से आया? हमारे धर्मशास्त्रों की जटिलता आज इसीलिये गूढ़ातिगूढ़ जान पड़ती है कि वहाँ 'परोपकार' 'सज्जनों की विभूति' माना गया है। और, यह आज मध्य श्रेणी के लोगों का काल हो रहा है। समाज और धर्म का संपूर्ण भार आज ९० प्रतिशत मध्य श्रेणी के लोगों पर होता है। इसका महत्त्व तो हमारी प्रकृति में पैठ गया है—जिसे हम तत्त्वतः बुरा नहीं मानते। लेकिन "दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्"—यह सिद्धांत आज किस सीमा तक उपयोग में लाया जाता है? क्या इसे भी कोई साम्राज्यप्रिय भारतीय बतला सकेगा?

क्या साम्राज्यवादी अँगरेज़ और भारतीय यह नहीं जानते कि भारतीय दरिद्रता का रूप कितना भयंकर है। फिर यह अंतर-राष्ट्रीयता क्यों नहीं यहाँ काम में लाई जाती? जब इँगलैंड की ही सामाजिक क्रांति को—समाज को बहुलांश में थोड़े-से पूँजीपतियों और राज-वंशवालों का दास बनाए रखने के लिये वहाँ के साहित्यकार साहित्य द्वारा दबाने और पराधीन प्रकृति की श्रृंखला को मज़बूत करने के लिये अपने बौद्धिक शास्त्रों का प्रहार करते हैं, तो भला शासित भारतीयों

की पराधीन प्रकृति को क़ायम रखने के लिये वह क्या-क्या नहीं कर सकते। 'अँगरेज़ी जीवन में सामाजिक क्रांति' लेख में एक स्थल पर सर फिलिप ग्रिस ने लिखा है—"यद्यपि इस सामाजिक क्रांति की गंभीरता और अंधकार में अपनी आँखों देख रहा हूँ, फिर भी मेरा विश्वास है कि इँगलैंड इसमें प्रगतिशील होगा—उसे अंत तक निबाहेगा। अँगरेज़ों के चरित्र में अभी तक वह साधक, अकृत्रिम चातुर्य विद्यमान है।" यह सब क्या है—साहित्य द्वारा शासितों में मानसिक दासता बनाए रखने का आयोजन है, जिसके शिकार हमारे देशवासी हुए और होते जा रहे हैं।

हमारी इस मानसिक पराधीनता का विकास हमारे सामाजिक और धार्मिक जीवन में आज पूर्ण रूप से दृष्टिगोचर होता है। समाज के उन्नत मस्तिष्क ही उसे उन्नत बनाते हैं और दासवृत्तिवाले मनोभाव उसे दासता की ओर ले जाते हैं। आज हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि हमारी सामाजिक दासता का रूप बड़ा भयंकर है। हमारी मानसिक पराधीन प्रकृति ने सामाजिक पराधीनता की एक विभीषिका ही खड़ी कर रक्खी है।

मानसिक पराधीनता का लक्ष्य रूढ़ियों का निर्माण करना है। ये रूढ़ियाँ हमारे सामाजिक और धार्मिक जीवन में—आत्मिक विकास को देखकर—अपना रूप दिखाती हैं। रूढ़ियों के हम दास बनते जाते हैं। यही रूढ़ियाँ दासत्व-संसार में नियम और विधान के नाम से पुकारी जाती हैं और धार्मिक जगत् में संयम कही जाती हैं। इन पर आगे विचार किया जायगा।

(क्रमशः)

मातादीन शुक्ल

"तुलसी की है"

नीरधि निभासा, पूत पुण्य प्रतिभा-सो भासी, वारिज विभासी शंभु मान सरसी की है;
शोभा-भरी सुमति सुहासिनि शृंगार-हार, विशद बहार भक्ति भामिनि हँसी की है।
भूति भारती की, अनुभूति आरती की नीकी, सहज सहानुभूति शरद-ससी की है;
पावनि पतित, उमगावनि अमित नीति, सुख रसरीति, कविताई तुलसी की है। १।

सीको है सुकीरति, विकीरति विमल ज्योति, सीरति सतोगुनी समृद्ध हरि ही की है;
ही की है हरनि, मंजु मंगल करनि, प्रेम परनि; दरनि दोष अंजन अनी की है।
नीकी है गढ़नि, मोद मढ़नि पढ़नि जाकी; बढ़नि विभूति भक्ति भावना भली की है;
लोकी है गली की अनुराग के थली की, चली चरचा चरित्र चित्रताई तुलसी की है। २।

चौ० लक्ष्मीनारायणसिंह "ईश"

चमकौर-युद्ध

आनंदपुर का क़िला छोड़कर गुरु गोविंदसिंह चमकौर पहुँचे। बादशाही लश्कर और हिंदू-राजाओं ने अपने वचन को तोड़कर, करमा और सुगंधा से सब हथियार लेकर, अहंकार में आकर इस जगह को चारों तरफ़ से घेर लिया। चमकौर कोई क़िला नहीं था और न कोई पक्का मकान ही था, यह धूप और वर्षा से बचाने के लिये एक कच्ची गढ़ी बनी हुई थी। चारों ओर कई मीलों के अंदर फैली हुई फ़ौजों के चमकीले हथियारों की चमक से आँखें चौंधियाने लगीं और मालूम होता था कि थोड़ी देर के अंदर इस चमकौर की कच्ची गढ़ी का नामोनिशान न रहेगा।

शाही फ़ौज को खोज करने पर पता लग गया था कि इस समय गुरु गोविंदसिंह के पास केवल चालीस असावधान सिक्ख हैं। इन लोगों के ख़याल से इससे बढ़कर सफलता प्राप्त करने का और कोई अच्छा अवसर नहीं हो सकता था। इन लोगों ने समझा कि बड़ी फ़ौजों से अपने-आपको घिरा हुआ देखकर गुरु गोविंदसिंह आप ही हथियार फेंक देंगे; और अपने-आपको मेरे सुपुर्द करने के लिये विवश हो जायँगे। दुनिया के इतिहास में ऐसी घटना नहीं मिलती कि चालीस बे-हथियारबंद आदमियों ने, एक कच्चे मकान के अंदर बैठकर, सैकड़ों नहीं, हज़ारों नहीं, क़रीब दस लाख आदमियों के साथ जो करेकमान फ़ौज, तीर, गोली, बर्छी और नेजा के साथ सजा हो, जो हर तरह कील-काँटा ठीक कर आया हो, मुक़ाबला कर सके। ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं कि हज़ारों बहादुर जवानों ने, लड़ाई का सब समान होते हुए भी, अपने-आपको घेरे के अंदर देखकर हथियार रख दिया है। शाहंशाह जर्मन और रूस ने, अपने पास अनेकों दल फ़ौजों के होते हुए भी, फ़्रांस के बादशाह नेपोलियन बोनापार्ट के आगे हथियार रखना बुरा नहीं समझा। मिश्र के मुसलमानों ने, बड़ी-बड़ी फ़ौजों के साथ होते हुए भी, नेपोलियन के आगे नम्र होने में अपनी नीचता न समझी। अफ़्रीका के फ़ौजी-जैसे बहादुर वोइर जेनरल ने, चार हज़ार सिपाहियों और बहुत तोपों के होते हुए भी, अपने-आपको अँगरेज़ों के हवाले कर दिया। कल की बात है कि इराक़ अरब में कितनी जगह अँगरेज़ों के प्रसिद्ध जर्नल उसटंड ने, तीन हज़ार से अधिक लड़ाके सिपाही होते हुए भी, अपने-आपको तुरकों की दया पर छोड़ दिया। ऐसी ही हालत में गुरु गोविंदसिंह के पास जब कि केवल चालीस बिना हथियार के सिक्ख थे, शाही फ़ौजी अफ़सरों और पहाड़ी राजों से मुठभेड़ करने की आशा करना वाजिब नहीं था। इस कच्ची गढ़ी से पैर हटाते ही सामने सिक्खों के तीरों की बौछार ने पहली क़तार को ख़तम कर दिया। तब शाही सिपाहियों के अफ़सर बहुत निराश हो गए। उनको जल्दी पता लग गया कि सिक्खों के प्रति जो कुछ अंदाज़ लगाए बैठे हैं, वह बिलकुल भूल है। वह टूटे दिल से जितनी बार आगे बढ़े, उतनी ही बार उन्हें बहुत हानि उठाकर पीछे लौटने के लिये लाचार होना पड़ा। कई बार बड़े ज़ोर-शोर से गढ़ी के पास पहुँचने की कोशिश करने पर भी कुछ बन न पड़ा। लाचार मुँह खाके हर बार पीछे लौटना पड़ा।

नाहरख़ाँ क्रोध करके आगे बढ़ा तथा गुलशेरख़ाँ और खिजरख़ाँ, जो बड़े लड़ाके सरदार थे, को साथ लेकर यह हल्ला किया कि गुरु गोविंदसिंह गढ़ी की छत पर बैठे हैं। इन लोगों को हल्ला करते देखकर, गुरु ने तीर को कमान पर रखकर छोड़ा। दोनों सरदार मर गए। खिजरख़ाँ साहस हारकर डरता हुआ एक किनारे जा छिपा। जो सामने आया मारा गया।

एक बार मुसलमानों की फ़ौज गढ़ी के एक किनारे तक पहुँच गई। भाई धरमसिंहजी पंद्रह सिक्खों को साथ लेकर सामने आया। और इस तरह लड़ाई की कि वैरी को नाश किए बग़ैर कोई नहीं मरा।

जब आधे से अधिक सिक्ख मर गए, तब अजीतसिंह ने खड़े होकर गुरु गोविंदसिंह से आज्ञा माँगी कि मुझे भी लड़ाई में जाने की आज्ञा दी जाय।

निशीथ

(२)

का सविलास चंद्र निर्झर पर सारी रात ;
उसके तट पर क्षीण-स्मृति-सा सुखद प्रभात।
की बुझती चिनगारी काँप रही थी म्लान ;
सिहरकर लहर झुलाती उसको गाकर गान।
कलियाँ अंचल में भरकर
कितने रंगों का रूप ;
तट पर झाँक रही थी पाकर
प्रथम सुनहली धूप।

था रवि ने फूलों का हार-सुपीत प्रभात ;
के मुख-सा धीरे से दिखा धरा का गात।
हटा, मानों वह हो व्यभिचारी का संकोच ;
रवि यह सब कुछ न समझकर, जलद रहा था नोच।
विचलित थे तरु-अंक, न स्थिर थे,
लघु पल्लव-उल्लास ;
क्योंकि चोर-सा तिमिर छिपा था,
उनके पद के पास।

था, रवि ने सींचे थे अरुण जलद के फूल ;
चिढ़ा रही थी सरिता, उसी रूप से फूल।
रुचिर पाँवड़े बनने को बादल के व्यूह ;
रंग भर-भरकर, ले अपना अलग समूह।
रंग की लहरों में ऊषा करती थी स्नान ;
सारिणी को दे देती थी सोने का दान।
आई, पूर्व दिशा की पीली खिड़की खोल ;
चारु चूम लेने कमला के कलित कपोल।
सी वह फूल तोड़ने को सुकुमारी बाल ;
मान कपोलों पर लहरे थे दो-दस बाल।
ओठों में लाली थी वैसा
ही था अरुण सु-गात ;
आँखों में यौवन का निकला
था मदमत्त प्रभात।

प्रजान सुगीत स्वरों में गाते थे संगीत ;
न से सुन सुनकर, कर देती समय व्यतीत।
रुक जाती थी कभी, सँभलकर बढ़ता आगे और ;
वहीं कोकिला की ध्वनि है क्या जहाँ खिला है बौर ?
सुनती थी वह ध्यान लगाकर
कुछ ऊँचा कर माथ ;
और कान के पीछे सज्जित
कर फूलों-सा हाथ।

आँखें उठकर ध्वनि सुनती थीं छोड़ दृश्य का ध्यान ;
रुक-रुककर वह होती थी उस उपवन में गतिमान।
कुछ कच वायु-वेग से गालों पर जाते थे घूम ;
ओंठ अधखुले थे उनको झोंके लेते थे चूम।
चंचल गति करती थी
वक्षःस्थल को कंपित मंद ;
एक हाव था, एक भाव था,
यौवन का आनंद।

इंद्रधनुष-सा वस्त्र कर रहा था सज्जित सब अंग ;
जिनमें अनिपुण चोर सदृश था आधा छिपा अनंग।
उसके वस्त्रों में ध्वनि थी वह बाला थी सुकुलीन ;
उसकी चितवन में ध्वनि थी वह यौवन में है लीन।
उसके अंगों में ध्वनि थी वह,
है कोमल सुकुमार ;
उसके ओठों में ध्वनि थी नव
चुंबन का उपहार।

उसकी छवि से काँप रही थी सरिता की भी चाल ;
और शिलाओं के रंग के, काले थे उसके बाल।
विहगों के बच्चों की बोली-सा उसका आनंद ;
वही लूटती यहाँ-वहाँ चलकर सवेग औ मंद।
मानों प्रकृति बनी है ऐसी
सरल बालिका-रूप ;
सज्जित करने को आई है
यह एकांत अनूप।

पुष्प फेंकते थे अपने सौरभ का सारा कोष,
जिस प्रकार शिशु-धन खोने पर भी है सरल अदोष।

निशीथ

(२)

नाच चुका सविलास चंद्र निर्झर पर सारी रात ;
आया उसके तट पर क्षीण-स्मृति-सा सुखद प्रभात।
तारों की बुझती चिनगारी काँप रही थी म्लान ;
सिहर-सिहरकर लहर झुलाती उसको गाकर गान।

कलियाँ अंचल में भरकर
कितने रंगों का रूप ;
तट पर झाँक रही थी पाकर
प्रथम सुनहली धूप।

गूँथा था रवि ने फूलों का हार-सुपीत प्रभात ;
मुग्धा के मुख-सा धीरे से दिखा धरा का गात।
तिमिर हटा, मानों वह हो व्यभिचारी का संकोच ;
शिशु-रवि यह सब कुछ न समझकर, जलद रहा था नोच।

विचलित थे तरु-अंक, न स्थिर थे,
लघु पल्लव-उल्लास ;
क्योंकि चोर-सा तिमिर छिपा था,
उनके पद के पास।

प्रातः था, रवि ने सींचे थे अरुण जलद के फूल ;
नभ को चिढ़ा रही थी सरिता, उसी रूप से फूल।
रवि के रुचिर पाँवड़े बनने को बादल के व्यूह ;
आते थे, रंग भर-भरकर, ले अपना अलग समूह।
विविध रंग की लहरों में ऊषा करती थी स्नान ;
भू-भिखारिणी को दे देती थी सोने का दान।
किरणें आईं, पूर्व दिशा की पीली खिड़की खोल ;
अविदित चारु चूम लेने कमला के कलित कपोल।
आई थी वह फूल तोड़ने को सुकुमारी बाल ;
उषः समान कपोलों पर लहरे थे दो-दस बाल।

ओठों में लाली थी वैसा
ही था अरुण सु-गात ;
आँखों में यौवन का निकला
था मदमत्त प्रभात।

विहग अजान सुगीत स्वरों में गाते थे संगीत ;
बड़े ध्यान से सुन सुनकर, कर देती समय व्यतीत।
रुक जाती थी कभी, सँभलकर बढ़ता आगे और ;
वहीं कोकिला की ध्वनि है क्या जहाँ खिला है बौर ?

सुनती थी वह ध्यान लगाकर
कुछ ऊँचा कर माथ ;
और कान के पीछे सज्जित
कर फूलों-सा हाथ।

आँखें उठकर ध्वनि सुनती थीं छोड़ दृश्य का ध्यान ;
रुक-रुककर वह होती थी उस उपवन में गतिमान।
कुछ कच वायु-वेग से गालों पर जाते थे घूम ;
ओंठ अधखुले थे उनको झोंके लेते थे चूम।

चंचल गति करती थी
वक्षःस्थल को कंपित मंद ;
एक हाव था, एक भाव था,
यौवन का आनंद।

इंद्रधनुष-सा वस्त्र कर रहा था सज्जित सब अंग ;
जिनमें अनिपुण चोर सदृश था आधा छिपा अनंग।
उसके वस्त्रों में ध्वनि थी वह बाला थी सुकुलीन ;
उसकी चितवन में ध्वनि थी वह यौवन में है लीन।

उसके अंगों में ध्वनि थी वह ,
है कोमल सुकुमार ;
उसके ओठों में ध्वनि थी नव
चुंबन का उपहार।

उसकी छवि से काँप रही थी सरिता की भी चाल ;
और शिलाओं के रंग के, काले थे उसके बाल।
विहगों के बच्चों की बोली-सा उसका आनंद ;
वही लूटती यहाँ-वहाँ चलकर सवेग औ मंद।

मानों प्रकृति बनी है ऐसी
सरल बालिका-रूप ;
सज्जित करने को आई है
यह एकांत अनूप।

पुष्प फेकते थे अपने सौरभ का सारा कोष ;
जिस प्रकार शिशु-धन खोने पर भी है सरल अदोष।

किन-छिन रंगों में हँसकर फूलों के दिव्य स्वरूप ;
हिलते थे उस स्वर्ण-नदी में जो कहलाती धूप ।
उसी धूप में जो प्रभात की
गंगा है गतिमान ;
कमला चुनने को आई थी
वृक्षों के वरदान ।
वृक्षों के वरदान सहज सुंदर छविशाली फूल ;
चित्र खींचती थी सरिता उनका ही अपने कूल ।
वायु सरल सेवक-सा बनकर चलता था अनुकूल ;
फिर भी कर जाता था वह निष्प्राण ज़रा-सी भूल ।
कमला के वस्त्रों में छिपकर
बहता इस उस ओर ;
चंचल मन-सा उड़ जाता था
उसका अंचल-छोर ।
जैसे ही वह चुनने आई एक फूल उस काल ;
जिसने चुरा लिया था उसके ओठों का रंग लाल ।
वैसे ही उसके चरणों में चुभा एक लघु शूल ;
बिखर गए भू पर उसके मन के समेत सब फूल ।
धूल लग गई बिखर गई
फूलों की केसर धूल ;
उसी समय हँस पड़ी लहर भी
उस सरिता के कूल ।
एक सुन पड़ी ध्वनि 'सी' की उस बाला की उस बार ;
बैठ गई वह भू पर कुछ तिरछी-सी धनुषाकार ।
केश उलटकर गिरे कपोलों पर झोंके में मुक्त ;
आँखें भी हो गईं शीघ्र दो-चार अश्रु से युक्त ।
झुका दिया बन पूर्ण शिथिल
घुटने पर अपना भाल ;
वसुधे ! उसका चित्र न तू
क्या ले पाई उस काल ?
गिरा वियोगी-सा भू पर दो बूँद रक्त उस बार ;
मानों अश्रु देख पग ने भी छोड़ी आँसू-धार ।
गिरे हुए सूखे पल्लव पर ढुलका रक्त मलीन ;
मानों मा की गोद जा रहा है कोई शिशु दीन ।
फूलों-सा वह रक्त हो गया
क्षण ही में निस्तेज ;
वह पल्लव ही बना रुधिर के
मृत्यु-समय की सेज ।

वायु ला रही थी उस क्षण ही एक ओर से गान ;
सौरभ के समान उसने भर दिया सभी उद्यान ।
धीरे-धीरे आती थी वह ले माधुर्य तरंग ;
जैसे मुग्धा के मन में आती 'न' 'न' युक्त उमंग ।
पग-पग पर वह ध्वनि आती थी
स्पष्ट रूप से पास ;
मानों कोकिल - स्वर लेकर
आता समीप मधुमास ।
भीत मृगी-सी ग्रीवा ने कुछ उठा दिया नत माथ ;
पथ देता वरदान रूप में किसे गीत के साथ ।
कौन आ रहा फूलों-सा बिखराता अपने गीत ;
ध्वनि बनती जाती है मानों सुमधुर स्वप्न अतीत ।
विहँग गीत पर करता था वह
गीत न अत्याचार ;
कौन लूटने आता है अब
उपवन का सब प्यार ?
पद-ध्वनि आई निकट वायु ने दिया यही संकेत ;
कमला हुई सचेत कसी-सी सिकुड़ी भौंह समेत ।
आता है यह कौन उठा था यह भयभीत विचार ;
पल प्रत्येक बना देता मन में शंका दो-चार ।
कमला का मन बना हुआ था
व्यस्त भाव का क्षेत्र ;
दिशा बदलते रहते थे
उसके शंकित-से नेत्र ।
देखा एक रूप, जिसमें है मादकता का सार ;
लोट रहा उसके चरणों पर यौवन का संसार ।
प्रतिबिंबित है अंग-अंग में अजित अनंग अनूप ;
कोमल अरुण नेत्र में बहता है आसव का रूप ।
ओठों से हिलता आता है
मंद वायु में गीत ;
हाय, उसी ने तो कमला का
हृदय लिया है जीत ।
सकुचाकर वह खड़ी हो गई, होकर किंचित् त्रस्त ;
आँखें भी तो देख रही थीं नीचे होकर व्यस्त ।
नीचे डाल दिया उसने अपनी चितवन का शस्त्र ;
पुनः सँभाला दो उँगली से सँभला अंचल-वस्त्र ।
देख लिया धीरे से निज पग के
कंटक की ओर ;

और किसी अविदित विलास ने
हृदय दिया झकझोर ।
युवक बढ़ा उसकी मस्ती से भरी हुई थी चाल ;
खेल रहे थे कंधों पर उसके घुँघराले बाल ।
वक्षःस्थल था पुष्ट और था सबल सतेज शरीर ;
किंतु देख कंटक पग में वह हुआ अतीव अधीर ।
विमल भाव से गया, बढ़ाया
पग की ओर स्व-हाथ ;
खींच लिया कंटक धीरे से
नम्र भाव के साथ ।
"क्षमा करो हे देवि, तुम्हें छूने में यदि को भूल ;
रहित किया मैंने काँटे से यह गुलाब का फूल ।
यदि मैंने कुछ कार्य किया जो हो मन के प्रतिकूल ;
फलस्वरूप मेरे ही मन में लगे तुम्हीं-सा शूल ।"
इन शब्दों के साथ खिल गई,
मुख पर कुछ मुस्कान ;
लोचन करते थे कमला की
मुग्ध माधुरी-पान ।

कमला के पग से हटकर वह चुभा हृदय में शूल ;
पद उँगली से चिह्नित कर पग के समीप की धूल ।
बोली विह्वल स्वर में अपना हृदय हाथ से थाम ;
जान सकूँगी क्या मैं अपने उपकारी का नाम ?
रुके शब्द नत नेत्र हुए
हाँ, वायु हो गई मौन ;
मानों उसने भी पूछा
चुप शब्दों में तुम कौन ?
सरल युवक चुप रहा किंतु मुख पर थे कितने भाव ;
उस पर इस कोमल स्थिति का हो मानों पड़ा प्रभाव ।
"मेरा नाम जानकर बाले, क्या पाओगी सार ;
मैं वह हूँ जिस पर निष्ठुर है यह सारा संसार ।
हाय, भूलता जाता हूँ
कहते हैं किसको प्यार
मानव-ओंठ कहा करते हैं
मुझे कभी सुकुमार ।"

रामकुमार वर्मा

तत्वदर्शन-पचीसी

वैराग्यशतक देवजी का बड़ा विलक्षण ग्रंथ है। इस ग्रंथ में कवि की प्रतिभा का बड़ा प्रौढ़ प्रदर्शन पाया जाता है। जो लोग देवजी को केवल शृंगार-रस का—और कहीं-कहीं दूषित शृंगार-रस का कवि मानते हैं, अथवा जो लोग अज्ञानवश उन्हें कवि ही नहीं मानते, वे यदि वैराग्यशतक को पढ़ने का कष्ट उठाएँगे, तो उन्हें मालूम होगा कि वे बड़ी भारी ग़लती पर थे। इस शतक की एक-एक पचीसी ऐसी है कि यदि देवजी ने केवल उतना ही लिखा होता, तो भी वे एक महाकवि गिने जाते। समय-समय पर इस ग्रंथ की तीन पचीसियों का परिचय माधुरी के पाठकों को दिया जा चुका है। आज तत्वदर्शन-पचीसी के संबंध में दो शब्द कहने की चेष्टा की जायगी।

तत्वदर्शन-पचीसी वैराग्यशतक की तीसरी पचीसी है। जगद्दर्शन-पचीसी में संसार और आत्मदर्शन पचीसी में आत्मा का वर्णन कर चुकने पर तत्वदर्शन-पचीसी लिखी गई है। इसमें परमात्मा के विषय में कवि ने कुछ लिखने का प्रयत्न किया है।

परमात्मा का स्वरूप

परमात्मा कैसा है? ईश्वर का स्वरूप क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर निश्चित रूप से कुछ नहीं मिलता। ईसाई-धर्म के प्रवर्तक ईसामसीह से पूछिए, वे उत्तर देंगे कि ईश्वर वैसा ही है जैसे आदमी; इसलाम-धर्म के पैग़ंबर मोहम्मद साहब से पूछिए उत्तर मिलेगा—बकरे के-से हैं, घोड़े के-से हैं आदि। हिंदू-शास्त्रों में वेदांती कहेंगे कि उनका कोई स्वरूप ही नहीं है। साकार देवोपासना के पुजारी कहेंगे, वे शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी विष्णुवत् हैं। कोई कहेगा अंग में विभूति रमाए, गले में मुंडमाल धारण किए, साँपों को लपेटे हुए, हलाहल का पान करनेवाले भगवान् शंकर के समान हैं। इस प्रकार अनेक उत्तर मिलेंगे। एकता में यह अनेकता क्यों है? कारण स्पष्ट है। परमात्मा नाम की वह शक्ति सबमें भिन्न-भिन्न रूपों में व्याप्त है और उसके उपासक इन्हीं भिन्न-भिन्न रूपों में उसके दर्शन भी करते हैं। इस भेद का यही कारण है। देवजी कहते हैं—

आँखिन देख्यो सुन्यो सोई कानन बेद-पुरानन भेद बताया ;
जोगी जपी तपी पंडित प्रेमी प्रतीत बिना पचि हारे न पाया।
आदि न अंत अनादि अनंत निरंतर अंतर लोक लगाया ;
देव कहौं कि अदेव कहौं वह देव सुएक अनेक सुभाया।

जो वस्तु आँखों से देखी है, वही कानों से सुनी भी, उसमें भेद तो वेदपुराण बता रहे हैं। बात वास्तव में एक ही है, परंतु वर्णन-शैली के भेद से भेद दिखलाई पड़ता है। इस भेद को देखकर जोगी-जपी-तपी-पंडित खोज करने बैठते हैं, परंतु यदि विश्वास-पूर्वक खोज नहीं करते, तो इनका परिश्रम भी व्यर्थ जाता है। वह वस्तु ऐसी है, जिसका न आदि है, न अंत; वह तो अनादि और अनंत है। उसमें कोई अंतर (भेद) भी नहीं है। यह तो (भेद) लोगों ने लगाया है। उसको चाहे देव कहिए चाहे अदेव कहिए, है वह एक ही वस्तु। उसकी माया के अनेक रूप अवश्य हैं।

यह छंद पचीसी के प्रतिपाद्य विषयों का एक संक्षिप्त समुच्चय है। सिद्धांत के रूप में इस बात को कहकर देवजी किंचित् विस्तृत व्याख्या के सहित अपना विषय प्रतिपादित करते हैं। वे यह बतलाने की चेष्टा करते हैं कि यह भेद क्यों दिखलाई पड़ता है—लोक निरंतर में अंतर कैसे लगा लेते हैं। ईश्वर सर्वव्यापी है। उसके दर्शन सर्वत्र सुलभ हैं, शर्त केवल यह है कि दर्शक में निष्ठा और विश्वास हो। विश्वासपूर्वक चाहे जिस भावना को लेकर उसके दर्शन किए जा सकते हैं। तुलसीदासजी के "जाकी रही भावना जैसी ; प्रभु मूरति देखी तिन तैसी" वाक्य का भी कुछ ऐसा ही अर्थ है। यही बात देवजी भी कहते हैं—

जोगिन जोगी, जतीन जती, मुनिहू न कछू मुनि सो मन मान्यो ;
छत्र न अत्र धरे परख्यो मृगपावन व्याधन व्याध बखान्यो।

मित्रन मित्र अमित्रन शत्रु सो दूलह सो दुलहीं पहिचान्यो ;
जैसो को तैसो जहाँ को तहाँ जिहिं जैसो लख्यो तिहिं तैसोई जान्यो।

योगियों ने योगी के रूपों में देखा, मुनियों ने मुनि के रूप में, और क्षत्रियों ने उसे पृथ्वी के रूप में देखा। मृगपावन के व्याधों ने उसका नाम व्याध रक्खा, मित्रों ने मित्र, शत्रुओं ने शत्रु, दुलहा ने दुलहिन के रूप में उसे पहचाना। सारांश यह है कि यद्यपि वह जैसा-का-तैसा ही बना रहा और अपने स्थान से तिल-भर भी इधर-उधर नहीं हिला-डुला, तथापि जिसने जिस भावना से उसे देखा, उसने उसी रूप में उसके दर्शन पाए।

परमात्मा का परिचय

परमात्मा के स्वरूप का निदर्शन करने के बाद देवजी उसका परिचय देते हैं। स्थावर, जंगम, सूक्ष्म, स्थूल, जरायुज, अंडज, स्वेदज, उद्भिज जो कुछ दिखलाई पड़ता है, सब उसी का उत्पन्न किया हुआ है और उसी में लय हो जाता है, वह भीतर-बाहर ऊपर-नीचे आकाश की भाँति समाया हुआ है। इस प्रकार का परिचय हिंदी-संसार में सुलभ है। देवजी भी एक छंद में इसी प्रकार का परिचय देते हैं। परंतु वे इतने ही से संतोष नहीं कर लेते। उनकी समुन्नत प्रतिभा, पैनी सूझ और उर्बराशक्ति उन्हें आगे बढ़ने के लिये उत्साहित करती है। वे अपने ढंग का परिचय देने लगते हैं। कहते हैं—

माया को अँध्यारी ताहि ऊपर उजारो,
　　गुनमंडल ते न्यारी ज्योतिमंडल अखंड सुख ;
धामनि को धाम बिसराय ब्रह्मविज्ञन को,
　　विश्व को विराम जहाँ जनम न मींच दुख ;
तीन लोक ओक ताकी इच्छा को तमासो,
　　तासें व्यापि रह्यो आपु देव केवल महापुरुख ;
काहू देख्यो चारि मुख काहू देख्यो पाँच मुख,
　　काहू देख्यो एक मुख काहू सो अनेक मुख।

मायांधकार के परे परमात्मा के ज्योतिस्वरूप दर्शन होते हैं, वह त्रिगुणातीत अखंड सुख देनेवाला ज्ञान-स्वरूप है। वही परमधाम है, वही ब्रह्म-विज्ञ जनों का विश्रामागार। वहाँ तमाम संसार लय होता है। वहाँ जन्म-मृत्यु का दुःख नहीं है। तीनों लोक उस परमात्मा के तमाशे के समान हैं। इनमें वह महापुरुष अकेला व्याप्त रहता है। कोई चतुर्मुख, कोई पंचमुख, कोई एक मुख, कोई अनेक मुख के रूप में उसे देखता है।

अर्चना

परमात्मा का इस प्रकार परिचय कराकर देवजी भक्ति-गद्गद होकर पूजा का सामान जुटाने लगते हैं। परंतु पूजा साधारण देवता की तो थी नहीं। परम देव की पूजा करनी थी। अतः उसी के अनुकूल सामान जुटाया जाता है। नभ का मंदिर और पृथ्वी की पीठ पर उस आराध्य देव की स्थापना होती है, सब जलों से उसका मार्जन कराया जाता है, पृथ्वीतल के समस्त फल, फूल, पत्र, मूल सुगंध के साथ चढ़ाकर अर्चना की जाती है, अनंत अग्नि की धूप दी जाती है, अखंड ज्योति की आरती उतारी जाती है, जल-थल-अन्न देकर नैवेद्य लगाई जाती है, पवन ही द्वारा चँवर झला जाता है, इस प्रकार आठो याम परमात्मा की परमार्चना होती है। और भक्त प्रसन्न होता है।

देव नभ-मंदिर में बैठारयो पुहुमि-पीठि,
　　सिगरे सलिल अन्हवाय उमहतु हौं ;
सकल महीतल के मूल-फल-फूल-दल,
　　सहित सुगंधनि चढ़ावन चहतु हौं।
अगनि अनंत धूप, दीपक अखंड ज्योति,
　　जल-थल-अन्न दै प्रसन्नता लहतु हौं ;
ढारतु समीर चौर कामना न मेरे और,
　　आठौ जाम राम तुम्हैं पूजतु रहतु हौं।

कैसी भव्य सामग्री एकत्र की गई है! अर्चना की सब वस्तुओं का कैसा सुंदर संग्रह किया गया है!

ज्ञान-प्रकाश

अर्चना हो गई, तो उसका फल भी मिलना चाहिए। इस फल के रूप में देवजी को आत्मप्रबोध होता है। वे कहते हैं—

देख्यो जब ही ते देव, देख्यो तब हीं ते दृग,
　　देखिबे कौ द्वै करि दुराव दुरि दूरि रह्यो ;
आप गयो मोही मैहूँ मोही मैं न रह्यो कछू,
　　ऐसी ही मोहि मैं चितौत चित चूरि रह्यो।
मेरे नेहु नीकौ जी कौ धीकौ धुरै मिल्यो मनु,
　　कौन काज लोभु घर बाहिर को छूटि रह्यो ;
नैसुक निसाने की निसानियो न पाई तहाँ,
　　तीर तीर तीर लागि तरकस पूरि रह्यो।

अर्थात् जब हृदय से विचार करके देखा, तब आँखों से ही उसकी मूर्ति दिखलाई पड़ी और उस समय

दिखलाई पड़नेवाला भेद नष्ट हो गया। मैं अपने-आप ही में मोह गया। अब अहंकार नाम की कोई वस्तु रही न गई। अपने इस अहंकारविहीन आपको देखता हुआ मैं चूर-चूर होने लगा। तो मन तू भी मेरे इस प्रकार के जी में तेल-घी की तरह घुल-मिल जा। किसलिये इधर-उधर भटकता फिरता है। अन्यत्र तेरी दाल न गलेगी। उस निसानें पर कितने ही तरकस ख़ाली हो चुके हैं, परंतु किसी ने निशान की छाँह तक नहीं छू पाई।

तल्लीनता

ज्ञान-प्रकाश हुआ, तत्व का बोध हुआ, तो फिर भेद-भाव की संभावना कहाँ हो सकती है? देवजी भी तल्लीन होने लगते हैं।

एकै भई हौं, वह न वामैं, वह मो मैं, हौं न हौं,
　　वह की भाँति मैं, न भाँति कछु ह्वै रही;
देव गुरुदेवजी की कही दस गुनी सुनी,
　　सौ-सौ गुनी सुनत सहस्रगुनी ह्वै रही।
लाख-लाख जीभनि सराहौं एक जीभ,
　　जासों राति की तिमिर-पाँति प्रात छबि ह्वै रही;
व्यापि गयो रूप कंत मुख को अनंत सुख,
　　कोटि-कोटि आँखैं इन आँखिन मैं ह्वै रही।

गुरु महाराज आपे में मस्त होने की शिक्षा दे ही चुके थे। गुरुजी भी ऐसे-वैसे नहीं, पूरे पहुँचे हुए और शिक्षा भी अपने ढंग की निराली। फिर क्या था, जादू का-सा असर हुआ। स्त्री-पुरुष का ज्ञान गया, अपने-पराए का ज्ञान गया। सब कुछ भूलकर लगे कहने—बस, अब तो मैं एक हो गई। वह भी अलग नहीं रहा, अब वह अपने में नहीं है, वह मुझमें है। मैं स्वयं अपनी तरह नहीं हूँ। मैं तो उसकी भाँति हो गई हूँ। अब दो प्रकार रह ही नहीं गए। श्रीमान् गुरुदेवजी ने जो शिक्षा दी थी, तेल-घी की भाँति अपने में मिल जाने का जो पाठ पढ़ाया था, वह शिक्षा सौगुनी और सहस्रगुनी होकर प्रभाव डाल रही है। उस एक जीभ को, जिसने शिक्षा दी थी, मैं लाख-लाख भाँति सराहना करती हूँ, जिसके कारण अज्ञानांधकार से ज्ञान-प्रकाश में आई। अब तो कंतमुख का अनंत सुख अणु-अणु में व्याप्त हो गया है और एक-एक आँख कोटि-कोटि रूप धारण कर उसका दर्शन कर रही है। कैसी विलक्षण तल्लीनता है!

ब्रह्म-वैचित्र्य

यहाँ तक तो ऐसा मालूम होता है जैसे देवजी कोई प्रबंधकाव्य रच रहे हों। एक के बाद एक विषय का उल्लेख ऐसे क्रम के साथ किया गया है, जैसे इस विषय पर कोई पद्यात्मक निबंध लिखा जा रहा हो। इसके बाद परमात्मा की विचित्रताओं का उल्लेख किया गया है। हिंदू-धर्म-शास्त्र का परिचय रखनेवाले विद्वज्जनों के लिये इस प्रकार की विचित्रता कोई नई बात शायद ही हो। दर्शन-शास्त्र के ये विचार हिंदुओं के पंडितों में ही क्यों बच्चे-बच्चे में भरे रहते हैं। इनमें नवीनता नहीं है। परंतु कहने का ढंग ही नवीन होता है। और वह ढंग जिसका जितना आकर्षक और उत्तम होता है, वह उतना ही अच्छा कवि माना जायगा। वैसे पूछिए तो नवीन बातें कितनी मिलती हैं? कहने का ढंग ही नवीन होता है। यह नवीनता देवजी में पूर्ण समृद्धि के साथ वर्तमान है।

नाक भू पताल नाक सूची ते निकसि आए,
　　चौदहो भुवन भूखे भुनगा को भयो हेत;
चैंटी अंड भंड में समान्यो ब्रह्मंड सब,
　　सपत समुद्रवारि बुंद में हिलोरैं लेत।
मिलि गयो मूल थूल सूछम समूल कुल,
　　पंचभूतगन अनुकन मैं कियो निकेत;
आप ही ते आप ही सुमति सिखराई देव,
　　नखसिखराई में सुमेरु दिखराई देत।

× × ×

आप ही लखत लख आप आप ही अलख देव,
　　कहूँ मूढ़ कहुँ पंडित पढ़यो फिरै;
आप ही हथ्यार आप मारत मरत आप,
　　आप ही कहार आप पालकी चढ़यो फिरै।

× × ×

देख्यो नहीं जात तुही देखियतु जहाँ-तहाँ,
　　दूसरो न देख्यो देव तुही देख्यो अब मैं;
सबकी अमर मूरि मारि सब धूरि करै,
　　दूरि सब ही ते भरपूरि रह्यो सब मैं।

× × ×

आप ही बिरंचि हरिहर रचै पालैं हरै,
　　निर्गुन निरीह सोई सगुन गनायो है;
न्यारो सब ही ते सब ही में प्यारो पूरि रह्यो,
　　आप नहीं देखै आप कौतुक देखायो है।

आदि में उपरोक्त नवीनतापूर्ण प्रतिबिंब परिलक्षित होगा ।

मुक्ति की युक्ति

मुक्ति की युक्तियाँ बहुत लोगों ने बताई हैं। प्राचीन ऋषि-मुनियों से लेकर अभी हाल के साधु-संतों तक ने इसकी शिक्षा देने की चेष्टा की है । सबकी शिक्षा-प्रणाली अलग-अलग है । उन्हीं शिक्षा-प्रणालियों में एक प्रणाली देवजी की भी है। उदाहरण देखिए—

काहू को न संगी, इक रंगी, सबही ते रंगी,
ऊपर हीं मिल्यो नहीं अन्तर मिलायो है;
खोलत न गाँठि मीठो बोलत अधीन भयो,
दीन भयो डोलत अडोल चित लायो है ।
जानत न कोई पहिचानत न जी की गति,
मानत सनेह सबही के मन भायो है;
गूढ़ही बसत अति मूढ़ सों लसत देव,
ऐसो जब होई तब ताही कछू पायो है ।

कहते हैं, मुक्ति उसी समय मिलती है, जब मनुष्य किसी से अनुराग न रखता हो, एक ही रंग में रँगा रहे। (विदेह की भाँति) ऊपर-ही-ऊपर मिले, अंतःकरण तो वहीं लगाए रहे। हृदय का भेद न खोलता हो, सबसे नम्रतापूर्वक मीठे बोल बोलता हो और दीन बना हुआ इधर-उधर फिरा करता हो । परंतु चित्त उसका लगा हो निश्चल रूप से उसी ओर । उसे कोई जानता ही न हो, उसके जी की बात का किसी को पता न हो । सबसे स्नेह रखता हो और सब लोग उसे चाहते हों। देखने में तो मूर्ख ऐसा मालूम होता हो, परन्तु हो बड़ा गंभीर विचारवाला । इस प्रकार बन जाय, तब कहीं उसे कुछ मिल सकता है।

परंतु यह साधना इतनी सरल नहीं है । हम लोग तो इसका नाम ही सुनकर घबड़ा उठते हैं। अतः देवजी एक सीधी-सी युक्ति और बताते हैं । ईश्वर-की प्राप्ति मोक्षदात्री होती ही है । अतः वे ईश्वर-प्राप्ति का उपाय बताते हैं। बस इस उपाय से काम ले लीजिए, आपको मोक्ष मिल जायगा। सीधा-सा उपाय है। वे कहते हैं, सब कुछ छोड़कर विश्वास कीजिए। इसी से सब काम बन जायगा। उनके शब्द ये हैं—

कथा में न कंथा में, न तीरथ के पंथा में,
न पोथी में न पाथ में न साथ की बसीति में;
जटा में न मुंडन न तिलक त्रिपुंडन न,
नदी कूप कुंडन अन्हान दान रीति में।
पीठ मठ मंडल न कुंडल कमंडलन,
माला दंड में न देव देहर की भीति में;
आप ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो,
पाइए प्रकट परमेस्वर प्रतीति में।

कैसा सीधा-सा रास्ता बता दिया । अब भी यदि आप मोक्ष प्राप्त न कर सकें तो दुर्भाग्य !

एकान्त-निष्ठा

विश्वास और एकान्त-निष्ठा प्रायः एक-सी ही बातें हैं। देवजी ने इन दोनों बातों पर बहुत अधिक ज़ोर दिया है। मोक्ष-प्राप्ति का मूल-मंत्र भी यही है । बिना विश्वास और एकान्त-निष्ठा के सिद्धि की प्राप्ति एक प्रकार से असंभव-सी ही होती है । इन बातों पर ध्यान देते हुए देवजी ने अन्य सब बातों के साथ-साथ इन बातों का जो उल्लेख किया, वह तो किया ही, उसके अतिरिक्त अलग-अलग भी इन दोनों बातों का उल्लेख आया । विश्वास के संबंध में उन्होंने जो कुछ कहा, उसका उल्लेख ऊपर आ गया है। अब एकान्त-निष्ठा की बात देखिए—

एकै अभिलाख लाख-लाख भाँति लेखियत,
देखियत दूसरो न देव चराचर में;
जासों मन राचै तासों तन-मन राचै,
रुचि भरिकै उघरि नाचैं साँचे करि कर में।
पाँचन के आगे आँच लागे ते न लौटि जाय,
साँच देखि प्यारे को सती लौं बैठै सर में;
प्रेमी सो कहत कोई ठाकुर न ऐंठो सुनि,
बैठो गड़ि गहिरे तो पैठो प्रेमघर में।

इस प्रकार देवजी ने बतला दिया कि विश्वासपूर्वक एक मूल को सींचिए, पत्ते और डालियाँ अपने-आप हरे रहेंगे।

तल्लीनता (पुनर्वार)

देवजी की इस पच्चीसी का अंत तल्लीनता के साथ होता है। कहना तो चाहिए था इस विषय को प्रलय, परंतु वह अधिक भीषण होता, इसलिये इसे तल्लीनता ही कहा जाता है। एक तल्लीनता का वर्णन ऊपर हो चुका है। उसमें जो सुकुमारता थी, वह यहाँ उग्रता में परिणत हो गई है। देवजी के अंतिम दो छन्द लय का दृश्य दिख-

लाते हुए मानों पुस्तक के लय की (समाप्ति की) घोषणा कर रहे हैं। छंद ये हैं—

औचक अगाध सिंधु स्याही को उमड़ि आयो,
तामें तीनों लोक बूड़ि गए एक संग में;
कारे-कारे कागद लिखे ज्यों कारे आखर,
सुन्यारे करि बाँचै कौन जाचै चित्त संग मैं।
आँखिन में तिमिर अमावस की रैन अरु,
जंबू-रस-बूँद जमुना-जल-तरंग में;
यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो देव,
श्याम रंग ह्वैकर समान्यो स्याम रंग में।
ज्ञान-चिनगी सों लगी ध्यान दसा नेह पगी,
जागी जगमगी जोति देखिबे की ह्वै गई;
सत्व के समत्व सों असत्व सत्व सूझि पर्‌यो,
तत्व के महत्त्व सों ममत्व मात त्वै गई।
आसन समूचो ऊँचो औचक ही ऐंचि लीन्हों,
देव ह्वै अचिंत्य चेति चिंत चित च्वै गई;
छीने तीनि तापा सुन्य भये पुन्य पापा भूल,
गई बाप माई आप आपामई ह्वै गई।

पहले में तूफ़ान आता है और सबमें एकरसता व्याप्त होती है—मालूम नहीं मोह से या ज्ञान से; परंतु दूसरे में स्पष्ट रूप से आँखें खुलती हैं। सब बातें साफ़ दिखलाई पड़ती हैं, परंतु तत्वबोध फिर 'आपामई' कर देता है—ज्ञान के साथ एकरसता प्रवाहित होती है। इसी प्रवाह के साथ पाठकों का हृदय बह जाता है और पचीसी का अंत होता है।

दर्शन जैसे गूढ़ और गंभीर विषय पर लिखी गई कविता में सरसता और रोचकता लाना आसान काम नहीं है। 'कवयोऽप्यत्र मोहिता' का कथन ऐसे अवसरों के लिये है। परंतु इतना होते हुए भी देवजी ने जिस ख़ूबी के साथ इस नीरस विषय को सरस बनाया है, उसके लिये उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है।

विष्णुदत्त शुक्ल

"पावस-प्रमोद ऋतुराज रंग धोवै है"

(१)

जौ पै राज पाइकै सँजोगिन्ह सँजोवै आजु,
काहे बिष-बीज बिरहीन हेत बोवै है;
'सरस' बखानै ये बियोगिनी हैं योगिनी-सी,
इन्हैं कलपाय कल पाय कौन सोवै है।
उठन चहै रे ताप बेगि उर-अंतर सौं,
देखत अबैई औरई को और होवै है;
लाइ घन-श्याम कौं तिहारो अब वेगि न तौं,
पावस-प्रमोद ऋतुराज रङ्ग धोवै है।

(२)

कलित कलेवर नयोबन सों यौवन सौं,
पेखि मैन आय राग रंग सौं सिझोवै है।
मंजुलता लीन्हे बाल मंजु लता जैसी खिली,
प्रेम दै प्रसाद ताहि नेह में समोवै है।
ताकौं तुम नेक ही मैं आप तजि भोर होत,
तब तैं ही बैठी बाल फूट-फूट रोवै है।
'सरस' बखानै आजु ताकौं लखि लागै मनौ,
पावस-प्रमोद ऋतुराज रंग धोवै है।

रामचन्द्र शुक्ल 'सरस'

अवसान

१

हृदय के धूमिल नभ में क्षुब्ध,
सौख्य-सुषमा से क्षीण मलीन ;
झलकता था वैभव का एक,
दीन तारा प्रातः का लीन।

२

लालसा की ऊषा में शान्त,
निराशा से सन्तप्त अधीर ;
मचलता जाता था चुपचाप,
प्रणय का मञ्जुल-मलय-समीर।

३

क्षितिज पर जीवन के अभिशाप,
गगन में छितरा विष के बूँद ;
उड़ाता था प्राणों की राख,
अरुणिमा-अञ्चल में मुख मूँद।

४

उदासी का छाई थी ओस,
गिरा विप्लव का कठिन तुषार ;
वेदनाओं की लूक-जलाक,
कामना उपवन करती क्षार।

५

उनींदे नयनों से उल्लास,
झाँकता अपनी भग्न कुटीर ;
लुट चुका था संयम का कोष,
प्रलोभन की उठती थी पीर।

६

सुखस्मृतियों की किरणें क्षीण,
झलककर हो जाती थीं शान्त ;
बिलखती थी करुणा उन्मत्त,
ढूँढ़ती थी ढाढस सम्भ्रांत।

७

खटकता था प्रतिपल उच्छ्वास,
रही थी चिन्ता अंचल ढार ;
पिलाती थी ममता विष-घूँट,
कर रही थी मूर्च्छा उपचार।

८

जगी थी क्षण की अंतिम ज्योति,
बढ़ा आँखों से अश्रु-प्रवाह ;
दिखी बहती-सी कोई मूर्ति,
कढ़ी थी मुख से मीठी आह।

९

उठी थी मन में एक उमंग,
किसी की आई थी कुछ याद ;
बीच में निकली गहरी स्वाँस,
मिटा ! मेरा उनका अपवाद।

रमाशकर मिश्र "श्रीपति"

स्वर्गीय लोकमान्य तिलक की स्मृति और आख्यायिकाएँ

राष्ट्र-सुधारक स्वर्गीय लोकमान्य तिलक का चरित्र संपूर्ण रूप से समग्र है। ऐसा महात्मा आज के युग में दिखाई नहीं दे सकता है। किंतु उनका जीवन-चरित्र इतना व्यापक होने के कारण लेखनी द्वारा पूर्णतया लिखना असंभव है। यह बात उनके विषय की बातें लिखते समय स्पष्टतया प्रतीत होती है। भिन्न-भिन्न लोगों को वह भिन्न-भिन्न दिखाई देते थे, यह दूसरी अड़चन है।

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ॥
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगं गतः साग्रजः ॥

इस प्रकार का वर्णन भगवान् श्रीकृष्ण का एक कवि ने किया है। उसका अर्थ यह है—"जिस समय भगवान् श्रीकृष्णजी कंस का वध करने को मथुरा को गए थे और जिस समय वह रंग-मंच पर पहुँचे, उस समय उनको भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखा। मल्लों ने जाना कि यह वज्रदेही हैं, मनुष्यों ने जाना कि पुरुषश्रेष्ठ हैं। स्त्रियों ने उन्हें साक्षात् मदन ही जाना, गोपालों ने जाना कि यह हमारे कन्हैया हैं, दुष्ट राजाओं को मालूम हुआ कि यह हमको दंड देनेवाले हैं, वसुदेव-देवकी ने जाना कि यह हमारे पुत्र हैं, कंस ने समझा कि यह हमारे काल हैं, विद्वानों ने जाना कि विराट् पुरुष यही हैं, योगियों ने जाना कि संसार का तत्त्व भी यही है और ऋषियों ने जाना कि उनके उपास्य देवता हैं।"

यही वर्णन लोकमान्य तिलक के विषय में किया जा सकता है।

उनके चरित्र में से उनकी धार्मिक विचार-संबंधी कुछ बातें यहाँ लिखने का विचार है।

कुछ लोगों का यह कहना है कि तिलक धर्म के विषय के संबंध में उदासीन थे। किंतु यह बात सत्य नहीं है। तिलक की दृष्टि सब विषयों की ओर थी। इसलिये धर्म के ऐसे महत्त्व के विषय में उनका उदासीन रहना असंभव था। किंतु उनका कहना यह था कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी रुचि के अनुसार अपना कार्यक्षेत्र चुन लेना चाहिए और उसी में उसको कार्य करना चाहिए। दूसरे विषयों में उसको अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इसी तत्व के अनुसार उन्होंने कुछ समय तक विचार करके बी० ए० एल्-एल्० बी० होने के अनंतर स्वर्गीय चिपलुणकर का 'गुरूपदेश' ग्रहण किया और राजनैतिक विषयों की अपेक्षा उनके मन का झुकाव विद्या-व्यासंग की ओर अधिक होने पर भी उन्होंने स्वार्थत्याग करके अपना संपूर्ण आयुष्य राजनैतिक क्षेत्र में ही लगाने का संकल्प किया; क्योंकि देश की सद्यस्थिति के लिये इसी कार्यक्षेत्र में अग्रसर होने की अधिक आवश्यकता थी। इसी कारण से वे अन्य आंदोलनों में प्रत्यक्ष भाग नहीं लेते थे। किंतु जो कार्य देश के लिये उपयोगी होता था, उस कार्य के करनेवाले को वे सलाह देकर उत्साहित किया करते थे।

अपने-अपने कार्य को उत्तमता से करके ही मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है। यही इनका सिद्धांत था। इस तत्व के अनुसार आश्रम (चतुर्थाश्रम) संन्यास लेने के संबंध में और इसके अनंतर भी उनसे जो वार्तालाप हुआ, वह नीचे लिखा जाता है—

(१) द्वारकापीठ और करवीरपीठ के लोगों ने मुझे आसन ग्रहण करने के निमित्त निमंत्रण किया। एक से दो मठ हुए—करवीर और संकेश्वर। इन दो मठों के एकीकरण करने का प्रयत्न निष्फल होने से यह बात विचारणीय थी। प्रत्येक मनुष्य की सलाह अलग-अलग थी। किंतु अधिकांश लोगों का यही कहना था "आप कोल्हापुर को मत जाइए।"

एक समय तो तारका-संदेशआश्रम (संन्यास) लेने के निमित्त आने पर भी उसको टालना पड़ा। उस समय तिलक महाराज की सलाह ली। उस समय उन्होंने जो शब्द कहे, उनको मैं नीचे लिख रहा हूँ—

उन्होंने कहा—"किसी की सुनो मत, सीधे उठो और कोल्हापुर जा करके आश्रम ग्रहण करो। इस समय देश-काल को जाननेवाले ही धर्मगुरुओं की आवश्यकता है। मिशनरियों को ऐसे कार्य-कर्ताओं की आवश्यकता है, इसीलिये मैं प्रोफ़ेसर बीजापूरकर और प्रोफ़ेसर पाठक को पीठ पर आरूढ़ होने के लिये कह रहा था, किंतु वह बात न हो सकी। लोग कहेंगे कि आप शत्रुपक्ष से जाके मिलें, यही न ? दो दिन कहेंगे। उनके इस भ्रम को दूर करना, यह अपना कार्य है। मैं कहता हूँ कि आप कोल्हापुर में अधिक समय तक नहीं रह सकेंगे। यदि आप कोल्हापुर में स्वतंत्रता से रह सकेंगे, तो करवीर-संकेश्वर के झगड़े तय हो जायँगे। यदि ऐसा न हुआ, तो शंकराचार्य का एक पीठ जो कोल्हापुर के हाथ में है, वह स्वतंत्र हो जायगा। और यह पीठ संस्थान के बाहर आने के अनंतर एकता हो सकेगी। पीठ पर हमारे धार्मिक हक़ों के लिये झगड़नेवाला और उन हक़ों को जाननेवाला आदमी चाहिए। आजकल के धर्मगुरु ध्यान नहीं देते हैं, इसीलिये सरकार हमारे धार्मिक हक़ों को पददलित कर रही है। उत्तम है कि किसी भी बात पर ध्यान न दीजिए। संन्यास ग्रहण करके पीठ पर बैठिए। कोल्हापुर में गद्दी के संबंध में विवाद हैं, रहने दीजिए विवाद क्या करेंगे--मैं हूँ।"

लोकमान्य के कथनानुसार कार्य किया गया और वैसा ही हुआ, किंतु आज दुर्भाग्य से उसको पार लगाने को वे न रहे।

(२) सन् १८१८ में Anti untouchability Conference (अस्पृश्यता-निवारक परिषद्) हुई थी। श्रीविट्ठल रामजी शिंदे मेरे पास सभापति होने के लिये प्रार्थना करने को आए थे। उस समय मैंने तिलक महाराज की सलाह ली। उन्होंने कहा—"इस विषय में लोकमत तैयार करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। किंतु जब तक लोकमत तैयार नहीं हुआ है, तब तक यदि पीठ के कोई आचार्य अध्यक्ष-स्थान पर आरूढ़ होके कार्य करेंगे, तो यह संभव है कि लोग कदाचित् किसी समय पीठ के निर्णय को मान्य न करेंगे। इससे पीठ का महत्त्व लुप्त हो जायगा।"

यह सलाह ठीक ठहरी और उसी के अनुसार कार्य किया गया, किंतु आगे एक समय उस सलाह से बड़ा लाभ हुआ। ई० स० १९२० में नागपुर-कांग्रेस के प्रतिनिधि-रूप कर्मवीर गांधीजी मुझसे मिलने के लिये आए थे। और उन्होंने मुझे अस्पृश्यता दूर करनेवाला भाषण कांग्रेस में आचार्य की हैसियत से देने को कहा। उस समय तिलक की बात याद आई। उनका सिद्धांत यह था कि लोगों को डरके पीछे रहना नहीं। किंतु लोगों को छोड़के भी आगे जाना नहीं। लोगों को तैयार करते रहना चाहिए और उनसे एक-दो क़दम आगे रहके उनको आगे ले चलना चाहिए।

(३) विलायत से लौट आने के बाद जो संभाषण हुआ, उसमें उन्होंने कहा—"मेरे तरफ़ दोष नहीं है, प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं है, तथापि शास्त्र-मर्यादा को क़ायम रखने के लिये ही मैं हठ नहीं करता हूँ।" इसमें भी वही सिद्धांत है। अपने विषय के सिवा वे दूसरे लोगों को कितना महत्त्व देते थे, यह इसी से स्पष्ट हो जायगा।

(४) १९२० में सांगली के ज्योतिष-सम्मेलन में तिलक ने मुझे बुलाया ; क्योंकि वहाँ धर्म-शास्त्र का एक प्रश्न उपस्थित हुआ था। और उसका अधिकार मुक्त वाणी से धर्मपीठ से निर्णय देना चाहिए, ऐसी उनकी इच्छा थी। तिथियों की वृद्धि और क्षय के विषय के नियमों में फ़र्क़ करने के संबंध का प्रश्न था। वहाँ पहुँचने पर लोकमान्य तिलक ने मठ के स्नान-संध्यादि का समय जानने के बाद खानगी मुलाक़ात में कहा—"यदि आपके भाषण से कुछ सार निकलनेवाला है, ऐसा मुझे मालूम हो जायगा, तो आपको संदेश भिजवा दूँगा। अनंतर आप अपना निर्णय दीजिएगा। यदि आपके निर्णय से कोई फ़ायदा न हो, तो पीठ के शब्दों को व्यर्थ फेंकना ठीक न होगा।"

उनके इस कथन का मतलब यही था कि वह पीठ की परंपरा को क़ायम रखके इन संस्थाओं का उपयोग करा लेना चाहते थे। यह बात मुझे लोकमान्य की मृत्यु के अनंतर दृष्टिगोचर हुई। सन् १९२० की कांग्रेस के पहले गांधीजी नासिक को आए। वह उस दिन मठ में ही ठहरे हुए थे। दोपहर को जाने के समय इन्होंने कहा—"मुझे आपसे बहुत-सी बातें कहनी हैं। आप बंबई तक चलिए।" मैंने कहा—"संप्रदाय के अनुसार और आश्रम के अनुरूप स्नान-संध्या का समय हुआ है। उसको छोड़कर मैं आ नहीं सकता। नहीं तो मैं अवश्य आता।" उन्होंने

कहा—"अब कितने दिन तक स्नान-संध्या करते बैठना है? इससे महत्त्व के कार्य उपस्थित हैं।" यह सुनके मुझे क्या मालूम हुआ, यह कहा नहीं जा सकता है। संपूर्ण लोगों का, सब संस्थाओं का, और परिस्थिति का उपयोग कराके सुधार के लिये प्रयत्न करना, यही लोकमान्य का अटल सिद्धांत था, और इसी के अनुसार उनका व्यवहार भी था।

(४) लोकमान्य की मृत्यु के थोड़े ही दिन पहले मैं पूने को गया था। तिलक को बुख़ार आया करता था, तथापि रोज़ रात को १० बजे वह मेरे स्थान को आया करते थे और धर्म-स्थिति के सुधार के ही संबंध में चर्चा हुआ करती थी। आचार्य पीठ को प्रातिनिधिक स्वरूप किस प्रकार से दिया जा सकेगा, ऐसा पूछने पर उन्होंने कहा—"पीठ की तरफ़ से धर्मपरिषद् बुलानी चाहिए।" इसी परिषद् को प्रातिनिधिक स्वरूप देके फिर धीरे-धीरे पीठ को भी वही स्वरूप दिया जा सकेगा, ऐसी उनकी धारणा थी। इस धारणा के अनुरूप नासिक में महाराष्ट्र धर्मपरिषद् बुलाई गई। किंतु परिषद् के दुर्दैव से अथवा राष्ट्र के दुर्भाग्य से उसके पहले ही लोकमान्य ने इस संसार से प्रस्थान कर दिया।

श्रीशंकराचार्य

अनुवादक—दिनकर-गंगाधर गोरे बी० ए०।

तिरस्कृता !

कितनी आशा से प्रियतम !
उपहार हृदय का लेकर;
आई थी अर्पण करने
तव मंजुल पद्पद्मों पर।
अनुराग-राग अनुरंजित
यह पूर्ण प्रणय का प्याला;
निष्ठुर ! तूने ठुकराकर
क्यों चूर-चूर कर डाला।
क्या किया हाय जीवन-धन !
तूने यह क्या कर डाला !
मेरे नन्दन-कानन में
भर दी दावानल-ज्वाला !
कर टूक-टूक हे निर्दय !
जीवन-वीणा को मेरी;
सर्वस्व छीन प्राणों का
पल-भर में आँखें फेरीं।
मेरे सुख की नौका को
तूने मँझधार डुबाया;
प्रासाद-कामनाओं का
तूने पल-भर में ढाया।
शत-शत वृश्चिक-दंशन की
होती है उर में पीड़ा;
मर्मस्थल के मरघट में
करती प्रलयानल क्रीड़ा।
उच्छ्वासों का झंझा के
रह-रह हिलकोरें खाती;
जीवन-नौका आँसू की
धारा पर बहती जाती।

जागृति निद्रा मूर्च्छा में
तन्द्रा में स्वप्न-निलय में;
जो छवि धुक-धुकी-सरीखी
करती है वास हृदय में।
जो दृष्टि दीन नयनों की
जो प्राणवायु जीवन की;
जो स्वाँसा उर-अन्तर की
जो शक्ति जर्जरित तन की।
कैसे भूलूँ उस छवि को
कैसे यह तपन बुझाऊँ !
कोई यह कला बता दे
कैसे मन वश में लाऊँ !
विस्मृति-तट पर चढ़ने को
जितना ही पैर बढ़ाती;
उसकी स्मृति के दल-दल में
उतनी ही धँसती जाती।
इस अमिट व्यथा को लेकर
किस ओर कहाँ मैं जाऊँ ?
टूटी जीवन-वीणा पर
वह कौन राग जो गाऊँ ?
मैं क्या हूँ किसे बताऊँ
जीती-जागती व्यथा हूँ !
पत्थर भी जो पिघला दे
मैं ऐसी करुण-कथा हूँ !
शत-शर विद्धा हरिणी हूँ
मदकल-दलिता कदली हूँ,
जड़ से उच्छिन्न लता हूँ
मैं कुचली हुई कली हूँ।

मृत देह कामना की हूँ
अर्थी हूँ अभिलाषा की;
मैं चिता लालसा की हूँ
मैं हूँ समाधि आशा की।
प्रति रोम-रोम में मेरे
अनुराग जगाया किसने?
इस शान्त वायुमंडल में
तूफ़ान उठाया किसने?
किसने विष मुझे पिलाया
स्वर्गीय सुधा दिखलाकर;
किसने कर दिया भिखारिन
सिंहासन पर बिठलाकर।
तूने ही निष्ठुर! तूने
भोले मन को फुसलाकर;
पीछे से ठोकर मारी
निष्कपट प्रेम जतलाकर।
समझे थी अब तक जिसको
मैं मुक्ताहार मनोहर;
डँस लिया अचानक उसने
चुपके से बनकर विषधर।
कैसी मैं हाय! सुखी थी
जब अपना मन था अपना;
स्वच्छन्द विहंगी-सी थी
दुःख की ज्वाला थी सपना।
कैसा प्यारा लगता था
संसार स्वर्ग-सुषमा कर;
मोहित थी सौ प्राणों से
मैं जिसकी सुन्दरता पर।
देखा करती थी पहरों
भावों में होकर तन्मय;
चिर नूतन प्रकृति-नटी के
जग-रंग-मंच पर अभिनय।

थी वही अर्चना मेरी
थी वह उपासना मेरी;
थी वही साधना मेरी
थी वही वासना मेरी।
क्या ज्ञात तुझे है कब से
उर में तव प्रेम समाया?
इस हृदय-राज्य पर कब से
तूने अधिकार जमाया?
मैंने भी भेद न पाया
बहुतेरा सोच थकी हूँ;
पर तेरी ठोकर खाकर
अब इतना समझ सकी हूँ।
मेरी ही भावुकता ने
अज्ञात भाव से उर पर;
अंकित कर दी थी क्रमशः
इक छाया-चित्र मनोहर।
सम्पूर्ण वृत्तियाँ मन की
उस प्रिय छवि की छिप-छिपकर;
पूजा करती थीं निशि-दिन
भावों की अंजलि भर-भर।
क्या भूल कभी सकती हूँ
वह रात प्रथम दर्शन की;
हो गई सिद्ध थी जिससे
सार्थकता इस जीवन की।
ज्योत्स्ना-विजड़ित रजनी में
बैठी थी मैं उपवन में;
तुमको लख सहसा सम्मुख
विद्युत् लहराई तन में।
तव मुखड़ा चिरपरिचित-सा
तब मुझको ज्ञात हुआ था;
चिरवांछित खोई निधि-सा
मुझको प्रतिभात हुआ था।

जिसको मन खोज रहा था
जिसकी जपता था माला ;
प्रत्यक्ष उसे लखकर क्यों
होता न निपट मतवाला।
उर की प्रतिमा में तुममें
बस इतना अन्तर पाया—
वह छाया थी तुम काया
तुम सत्य और वह माया।
वह मादकता थी कोई
आई चेतनता हरने ;
कोई अज्ञात जगत् था
जिसमें मैं लगी विचरने।
उठती थीं अमित उमंगें
चपला की चपल छहर-सी ;
मैं नाच-नाच उठती थी
सरिता की लोल लहर-सी।
मैं यही चाहती थी बस
आँखें असंख्य हो जाएँ ;
देखती रहें तुमको ही
हरदम बिन पलक गिराए।
मैं भावराशि बन करके
तव हिय में आसन पाऊँ ;
मुसकान मनोहर होकर
अधरों में मैं छा जाऊँ।
सुस्निग्ध रश्मियों में मैं
ज्योत्स्ना बन तुम्हें झुलाऊँ ;
स्वप्नों की लड़ी पिरोकर
निद्रा बन तुम्हें सुलाऊँ।
कविता बनकर अलबेली
तव हृदय-कुंज में गाऊँ ;
अपरूप रूप यौवन ले
रति बनकर तुम्हें रिझाऊँ।

अपना अस्तित्व तनिक भी
मुझसे न सहा जाता था ;
दैहिक विभिन्नता का भी
वैषम्य नहीं भाता था।
ज्यों किरणें पृथक् न विधु से
ज्यों तेज न विलग तपन से ;
ज्यों प्रभा न भिन्न अनल से
ज्यों सुरभि न अलग सुमन से।
तव हृदय प्राण मन में मैं
प्रियतम ! इस भाँति समाऊँ ;
अस्तित्व-भिन्नता खोकर
तुममें विलीन हो जाऊँ।
पर हाय ! स्वप्न यह मेरा
टूटा पल मध्य अचानक ;
आ गया सामने मेरे
वह निर्मम सत्य भयानक।
तुम थे भूखे यौवन के
थे रूप-पण्य के ग्राहक ;
तुम कीट वासना के थे
दुर्वृत्त अनंग-उपासक।
निष्ठुर ! निर्ममता-पूरित
तुमने जो शब्द कहे हैं ;
अब तक उर में कानों में
बरछी-सी भोंक रहे हैं।
मधु-गन्ध-लुब्ध मधुकर हूँ
है मेरा जीवन मधुमय ;
नित नूतन कुसुम-निचय से
करता हूँ मैं मधु-संचय।
निःसीम वासनाओं का
जिसमें लहराता सागर ;
वह हृदय एक कलिका पर
कैसे कर दूँ न्योछावर ?

आकाश टूट पड़ता या
　　सारी धरती फट जाती ;
अचरज न मुझे कुछ होता
　　सह लेती मेरी छाती ।
हो गया भस्म उर सुनकर
　　ये शब्द कठोर तुम्हारे ;
फेंके थे मानों तुमने
　　जलते-बलते अंगारे ।
फैला अशेष फन मानों
　　फुंकार शेष ने मारी ;
या शिव के तृतिय नयन ने
　　सहसा ज्वाला विस्तारी ।
उसको कब सह सकती थी
　　जो वज्र गिरा था उर पर ;
मूर्च्छित हो गई उसी क्षण
　　टूटे तारे-सी गिरकर ।
जो पवन सरलतापूर्वक
　　निर्घोष वज्र का ढोती ;
तृण-भार वहन करने में
　　असमर्थ वही है होती ।
जो चेत हुई तो देखा,
　　उफ़ वह भीषण परिवर्तन ;
आशा से वक्षःस्थल पर
　　विश्वासघात का नर्तन ।
शृंगार जहाँ शोभित था
　　करुणा का राज वहाँ था ;
जिस ठौर वसन्त विभा थी
　　मरघट का साज वहाँ था ।
देखा हाँ मैंने देखा
　　तुम मेरे पास नहीं थे ;
मैं भी वह हाय ! नहीं थी
　　धरती-आकाश नहीं थे ।

स्वर्गीय प्रेम का निर्दय !
　　कुछ तूने मर्म न जाना ;
हृदयों के मधुर मिलन का
　　तूने न मूल्य पहचाना ।
त्रिभुवन-वैभव रख देता
　　कोई मेरे चरणों पर ;
ठुकरा देती तत्क्षण मैं
　　बिन देखे आँख उठाकर ।
स्वर्गापवर्ग के सुख की
　　इस चित को चाह नहीं थी ;
कल्पान्त दीर्घ दुःखों की
　　इसको परवाह नहीं थी ।
ब्रह्माण्ड-खाण्ड में मेरे
　　सुख की सीमा न समाती ;
बस एक प्रेम की भिक्षा
　　इस झोली में पड़ जाती ।
संतोष निराशा से कुछ
　　हो जाता है यदि पल-भर ;
पैदा कर देती हलचल
　　आशा निज जाल बिछाकर ।
निर्मम पिशाचिनी आशे !
　　किसलिये सताती है तू ;
जलकर जो राख हुई है
　　क्या उसे जलाती है तू ।
जीवन का भार उठाऊँ
　　अब कब तक किस आशा पर ;
पर हाय ! उसे विनसा दूँ
　　अपने ही हाथों क्योंकर ?
विजड़ित जिसमें स्मृति प्रिय थी
　　प्रिय का जो प्रणय-निकेतन ;
वह हा हुताशमय जीवन
　　कैसे मैं करूँ विसर्जन ?

प्रियतम की स्मृति का ही अब
धरती हूँ ध्यान निरंतर ;
करती हूँ उसकी पूजा
उसके शृंगार मनोहर।
अब तो है वही अकेली
जीवन-सर्वस्व सहेली ;
कुछ बूझ वही सकती है
मेरी अनबूझ पहेली।
आँसू की मुक्ता-माला
पहनाती हूँ रच-रचकर ;
पैरों में हृदय-रुधिर का
देती हूँ लगा महावर।
आहों के विकट अनल में
यौवन का स्वर्ण गलाकर ;
मैं उसके लिये बनाती
आभूषण सुंदर-सुंदर।
आ जा, हे प्रियतम ! आ जा !
अब सही न जाती देरी ;
आकर इतना ही कह दे
मैं तेरा हूँ तू मेरी।
इस अन्धकारमय जग में
जिस ओर दृष्टि है जाती ;
प्रियतम की मूर्ति मनोहर
उस ठौर अवस्थित पाती।
पर उसे पकड़ने को मैं
ज्यों ही हूँ हाथ बढ़ाती ;
हँस करके हँसी घृणा की
वह अंतर्हित हो जाती।

श्यामसुन्दर खत्री

देव कवि कौन थे ?

'देव' कवि सनाढ्य थे या कान्यकुब्ज, इस विषय को लेकर आजकल हिंदी के दिग्गजों में मुठभेड़ हो गई है। एक पक्ष उन्हें सनाढ्य-ब्राह्मण बताता है और दूसरा कान्यकुब्ज कहता है। गत माघ-मास की 'माधुरी' में उसके सुयोग्य संपादक और हिंदी के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक श्रीपं० कृष्णविहारी मिश्र बी० ए०, एल्-एल्० बी० ने इसी विषय पर एक नोट लिखा है, जिसमें 'देव' के कान्यकुब्ज होने के प्रमाण दिए गए हैं और उन्हें सनाढ्य माननेवाले पं० रामचंद्र शुक्ल को ख़ासी लताड़ बताई गई है एवं 'देव' को सनाढ्य माननेवाले लोगों को दबी ज़बान से चैलैंज भी दिया गया है। आपने पूछा है कि क्या किसी के पास देव के सनाढ्य होने का कोई "अकाट्य प्रमाण है ?" आज हम इसी विषय पर पाठकों के सामने कुछ विचार प्रस्तुत करना चाहते हैं। हम यह देखना चाहते हैं कि 'देव' कवि के सनाढ्य होने का कोई प्रमाण है या नहीं ? और उनके कान्यकुब्ज होने के जो प्रमाण दिए जा रहे हैं, उनमें कुछ सार है या नहीं। यद्यपि हिंदी के क्षेत्र में टाँग अड़ाना हमारे लिये अनधिकार चेष्टा है, परंतु 'आन पड़े की बात' है। इतिहास में ऐसे भी दृष्टांत मिलते हैं, जब लोगों को 'चंडीपाठ' छोड़कर घोड़े हाँकने का काम करना पड़ा हो।

हमारी अपनी तो यह सम्मति है कि बड़े-बड़े कवियों को किसी जाति के संकुचित क्षेत्र में घसीटना एक प्रकार का अपराध है। महाकवि लोग जातीय बंधन से परे की चीज़ हैं। तुलसीदास और सूरदास विश्वकवि हैं। उनकी अमरभारती समस्त संसार का कल्याण कर सकती है। न तो तुलसीदास और केशवदास की प्रतिष्ठा

सनाढ्य होने के कारण है और न भूषण, मतिराम कान्यकुब्ज होने के कारण पूजे जाते हैं। ईश्वर की दी हुई अलौकिक प्रतिभा ही—जो किसी जाति या देश की बपौती नहीं हो सकती—इन महापुरुषों के आदर का कारण है। तुलसीदास विश्वकवि होने और भूषण राष्ट्रीय कवि होने के कारण आदरणीय हैं। सब जातियों और सब देशों के लोग इनके समान रूप से उपासक हैं। किसी जाति के संकीर्ण दायरे में इन्हें घसीटना इनका अपमान करना है। ये सबके हैं और सब इनके हैं। फिर यह भी संभव नहीं कि इन कवियों के कारण आज कोई जाति अपना बड़प्पन सिद्ध कर सके। जो जहाँ है, वहीं रहेगा। उन्नति-अवनति के लिये वर्तमान जातियों के वर्तमान गुण-दोष ही कारण हो सकेंगे।

यदि किसी कवि के लेख से या अन्य किसी प्रमाण से उसके देश तथा जाति का कुछ पता चल सके, तो सरलतापूर्वक उसके मान लेने में भी किसी को कोई आपत्ति न होनी चाहिए, लेकिन अपनी जाति या देश का बड़प्पन बघारने के लिये किसी कवि या महापुरुष को ज़बर्दस्ती अपनी ओर घसीटना और मार-मारकर उससे 'हू' बुलवाना अन्याय है। कुछ मनचले बंगालियों ने बंगाल में महाकवि कालिदास की जन्मभूमि बल्कि जन्म-ग्राम तक की ईजाद कर डाली है। उनकी पाठशाला और पुस्तकालय भी, सुना है, क़ायम हो चुका है। हम इसे अनुचित समझते हैं। 'देव' कवि के संबंध में भी हमारी ऐसी ही धारणा है।

यद्यपि पं० रामचंद्रजी शुक्ल की अनेक बातें हमारे मत से असंगत हैं, परंतु 'देव' कवि को तो अनेक लेखकों और ग्रंथकारों ने कई जगह सनाढ्य ही बताया है। यहाँ तक कि हिंदी के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक मिश्र-बंधुओं ने भी ऐसा ही लिखा है। लेकिन 'माधुरी' के वर्तमान संपादक श्रीयुत मिश्रजी को ये सब बातें मान्य नहीं। आपने 'देव' को कान्यकुब्ज सिद्ध करने के लिये जो-जो तर्क उपस्थित किए हैं, उनका सारांश आप ही के शब्दों में इस प्रकार है—

१—"देवजी ने अपने किसी ग्रंथ में कहीं पर भी यह नहीं लिखा है कि मैं सनाढ्य-ब्राह्मण हूँ।"

२—कुसुमरा (ज़ि० मैनपुरी) में "ख़ास देवजी के हाथ के लगाए एक बाग़ के वृक्ष भी अभी तक स्थित हैं।"

३—देवजी की हस्तलिपि भी मिल गई है।

४—कुसुमरा-ग्राम में देव के वंशधर मौजूद हैं।

"इन्हीं लोगों से मालूम हुआ कि ये लोग 'दुसरिहा' कान्यकुब्ज-ब्राह्मण हैं और इसी 'दुसरिहा' शब्द को देवजी ने अपने ग्रंथ में छंदोगति के सामञ्जस्य के विचार से 'द्यौसरिया' लिखा है।

५—'देव' के परपोते भोगीलालजी भी कवि थे। उन्होंने एक ग्रंथ बखतविलास में अपना वंश-परिचय देते हुए स्पष्ट लिखा है—

'काश्यप गोत्र द्विवेदि कुल, कान्यकुब्ज कमनीय'

"इस परिचय से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि देव कवि कान्यकुब्ज-ब्राह्मण थे, सनाढ्य नहीं।"

"धौसरिया कवि देव को नगर इटाए वास।"

यह पद्यांश देव की किसी पुस्तक में लिखा मिलता है और "धौसरिया सनाढ्य-ब्राह्मणों की एक शाखा है" (कान्यकुब्जों की नहीं)। ये दोनों बातें श्रीयुत मिश्रजी को मंज़ूर हैं, परंतु आपका कहना यह है कि हमारे (मिश्रजी के) पास जो 'हस्तलिखित' पुस्तक मौजूद है, उसमें 'धौसरिया' नहीं, बल्कि 'द्यौसरिया' पाठ है। जब तक पूरी खोज नहीं हुई थी, तब तक 'द्यौसरिया' का अर्थ मालूम न होने के कारण मिश्र-बंधुओं ने इसे भ्रमवश या अज्ञानवश 'धौसरिया' मान लिया था, परंतु जब देव के वंशजों से मुलाक़ात हुई, तब वह अज्ञान दूर हुआ और यह पता चला कि 'दुसरिहा' शब्द के स्थान में 'द्यौसरिया' लिखा गया है। 'धौसरिया' पाठ अशुद्ध है, या है ही नहीं, जिन लोगों ने जहाँ कहीं जिस किसी हस्तलिखित या मुद्रित पुस्तक में 'धौसरिया' लिखा देखा हो, वे सब उसे अशुद्ध समझें और उसके स्थान में 'धौसरिया' बना लें एवं इस 'द्यौसरिया' का अर्थ दुसरिहा कान्यकुब्ज समझें। माधुरी-संपादक श्रीयुत मिश्रजी के लेख का 'लुब्बो लुबाब' बस यही है।

श्रीयुत मिश्रजी न तो यही कहते हैं कि 'धौसरिया' कोई शब्द है ही नहीं, न यही मानते हैं कि 'धौसरिया' सनाढ्य-ब्राह्मणों की शाखा नहीं है (ये दोनों बातें प्रत्यक्ष सिद्ध हैं) और न आप धौसरिया-शाखा को कान्यकुब्जों के अंतर्गत बताते हैं। न आप यही कह सकते हैं कि उस पुस्तक की जितनी भी हस्तलिखित या छपी प्रतियाँ हैं, उन सबमें 'द्यौसरिया' ही पाठ है और

जिस-जिस ने देव को 'धौसरिया' बताया है, उन सबको उसी प्रकार के शब्द से उसी प्रकार का भ्रम हुआ था, जैसा कि आपके मिश्र-बंधुओं को हुआ। इस प्रकार की कोई बात न आप कहते हैं, न कह सकते हैं।

आपका कहना केवल इतना ही है कि आपके पास जो 'हस्तलिखित' पुस्तक है, उसमें 'द्यौसरिया' पाठ है। यह पुस्तक किस समय की और किसकी लिखी है, एवं इसके पाठों की प्रामाणिकता कहाँ तक माननीय है, इन बातों पर आपने कुछ प्रकाश डालने की कृपा नहीं की। आपने इस पाठ को इसी रूप में इसलिये ठीक मान लिया कि 'देव' के वंशधरों से आपकी भेंट हो गई और उन्होंने कह दिया कि हम लोग 'दुसरिहा' कान्यकुब्ज हैं। 'धौसरिया कवि देव को नगर इटाए वास' में भी इसी बल पर आपने 'द्यौसरिया' की कल्पना कर डाली।

'नगर इटाए' के देवदत्त ही इन—कुसुमरा—मैनपुरी-वालों के पूर्वज थे, इसके लिये कोई प्रमाण देने की भी आवश्यकता आपने नहीं समझी। सबसे बड़ी बात तो यह कि किस शब्द का अपभ्रंश और रूपांतर किस प्रकार हुआ करता है, इस प्राकृतिक नियम पर ध्यान देने की भी आवश्यकता आपने नहीं समझी।

चाहे जो कोई रूप चाहें जिस शब्द का अपभ्रंश या रूपांतर नहीं बताया जा सकता! इसके लिये प्राकृतिक नियम बराबर काम किया करते हैं। 'पुष्प' का अपभ्रंश 'पुहुप' ही हो सकता है। 'पाहुन' को पुष्प का अपभ्रंश नहीं बताया जा सकता। अब हमें यह देखना है कि 'दुसरिहा' का रूपांतर 'द्यौसरिया' हो भी सकता है या नहीं? और साथ ही यह कि यहाँ इस सीधे शब्द को तोड़ने-मरोड़ने का प्रयोजन भी कुछ है या नहीं? मिश्रजी के शब्दों में—"इसी दुसरिहा शब्द को देवजी ने अपने ग्रंथ में छंदोगति के सामंजस्य के विचार से—द्यौसरिया—लिखा है।"

अच्छा, वह कौन-सा 'छंदोगति का सामंजस्य' है, जिसके लिये देव ने यह रूपांतर किया? 'द्यौसरिया कवि देव को नगर इटाए वास' यह दोहे का अर्धांश है। दोहा मात्रावृत्त है और इसके प्रथम, तृतीय चरणों में तेरह-तेरह मात्रा तथा द्वितीय-चतुर्थ चरणों में ग्यारह-ग्यारह मात्रा अपेक्षित होती हैं।

दोहा का लक्षण है—

'षट्कलतुरगौ त्रिकलमपि विषमपदे विनिधेहि।
समपादान्ते चैककल-मिति दोहामवधेहि॥'

यदि इसमें 'दुसरिहा' शब्द रख दिया जाय, तो एक मात्रा कम होने से छंदोभंग होगा, इसलिये देव को 'दुसरिहा' के स्थान में किसी ऐसे शब्द की आवश्यकता पड़ी, जिसमें इससे एक मात्रा अधिक हो। मिश्रजी का तात्पर्य है कि इसी एक मात्रा की कमी को पूरा करने के लिये देव ने 'दुसरिहा' के स्थान में 'द्यौसरिया' शब्द की कल्पना की है।

हम कह चुके हैं कि अपभ्रंश और रूपांतर के कुछ नियम होते हैं। कोई सत्कवि छंद के अनुरोध या अन्य कारण से जब किसी शब्द का रूपांतर करता है, तब प्रधानतया दो बातों का विशेष ध्यान रखता है—एक तो यह कि रूपांतर किया हुआ शब्द पहले का समानार्थक हो और दूसरे यह कि उसका वह रूप सुकवि-सम्प्रदाय में अप्रयुक्त न हो एवं वह रूपांतर नियम-विरुद्ध न हो। 'पाषाण' शब्द से यदि मात्रा बढ़ती हो, तो उसके स्थान पर 'पाहन' रक्खा जा सकता है, क्योंकि एक तो ये दोनों समानार्थक हैं, दूसरे पाषाण के अर्थ में 'पाहन' शब्द अप्रयुक्त नहीं है, सत्कवियों ने इसका प्रयोग किया है। जैसे—

'पाहन हौं तो वही गिरि को
जो कियो व्रजछत्र पुरंदर धारन' इत्यादि।

यदि 'पाषाण' के बजाय कोई 'पाहुन' रख दे तो दूषित होगा, क्योंकि ये दोनों समानार्थक नहीं हैं। 'पाहुन' का अर्थ अभ्यागत है, पत्थर नहीं। इसी प्रकार 'पाषाण' की मात्रा कम करने के अभिप्राय से यदि इसके स्थान में 'प्यौहन' आदि शब्दों का प्रयोग कोई करे, तब भी दूषित समझा जायगा; क्योंकि यह शब्द अप्रयुक्त है, इसका प्रयोग इस अर्थ में किसी ने नहीं किया।

१

अब देखना यह है कि 'दुसरिहा' के लिये 'द्यौसरिया' का रूपांतर नियमविरुद्ध या अप्रयुक्त तो नहीं है। 'दुसरिहा' शब्द के प्रथम स्वर 'उ' के स्थान में 'यौ' रखकर इस शब्द का रूपांतर किया गया है। यदि इस नियम को वास्तविक नियम माना जाय, तो 'दुसरा' शब्द—जिससे दुसरिहा बना है—रूपांतरित होकर 'द्यौसरा' बनेगा। 'पुतरी'—आँख की पुतली—का रूपांतर

'ध्यौतरी', 'पुतरिया' का 'प्यौतरिया', कुशल का 'क्यौशल', सुख-दुख का 'स्यौख-द्यौख', गुरु और मुनि का 'ग्यौर्‌यौ-म्यौनि' एवं दूषण-भूषण का 'द्यौषण-भ्यौषण' होगा। हम पं० कृष्णविहारी मिश्र बी० ए०, एल्-एल्०बी० को प्रेमपूर्वक चैलेंज करते हैं कि वह समस्त हिंदी-साहित्य को ढूँढ़कर एक भी उदाहरण इस प्रकार का दिखायें। औरों को जाने दीजिए, केवल देव की कविता में से ही वह 'उ' के स्थान में 'यौ' रखकर किया गया कोई रूपांतर दिखायें। और शब्दों को भी जाने दीजिए। आप सिर्फ़ 'दुसरा' शब्द के लिये ही 'द्यौसरा' का प्रयोग कहीं दिखा दीजिए। और कवियों को भी एक तरफ़ छोड़िए। आप भी तो कवि हैं। आप स्वयं किसी पद्य में 'सुकुल'-'मुकुल' के बजाय 'स्यौक्यौल' 'म्यौक्यौल' का प्रयोग कर देखिए, और फिर लोगों से पूछिए कि वह आपकी बाबत क्या राय क़ायम करते हैं?

अच्छा यह तो बताइए कि आपके इस नियम के अनुसार 'तुंबुरु' और 'कुस्तुंबुरु' का रूपांतर क्या होगा? ज़रा उसका उच्चारण करके तो दिखाइए 'त्यौंब्यौर्‌यौ' और 'क्यौस्त्यौम्ब्यौर्‌यौ।' यदि आप समस्त हिंदी-साहित्य का मथन करके इन प्रयोगों का एक भी उदाहरण दिखा सकें, तो हम जन्म-जन्मांतर तक आपके ऋणी रहेंगे। वस्तुतः 'उ' के स्थान में 'यौ' रखकर रूपांतर करने का कोई नियम ही नहीं है। यह सिर्फ़ आपकी धाँधली है कि 'दुसरिहा' के लिये 'द्यौसरिया' लिखा गया है।

२

इसके अतिरिक्त उक्त उदाहरण में केवल आदिम स्वर के परिवर्तन से काम नहीं चलता। उसमें 'दुसरिहा' के 'ह' को भी 'य' का रूप देना पड़ेगा। यदि वस्तुतः देव कवि ने, बक़ौल आपके, 'छंदोगति के सामंजस्य के अनुसार' ही यह रूपांतर किया था, तो उनका काम केवल आदिम स्वर 'उ' को बदल देने से ही चल सकता था। वह 'दुसरिहा के स्थान में द्यौसरिहा' रखकर कृत-कृत्य हो सकते थे। उन्होंने 'ह' को बदलकर 'य' बनाने की आवश्यकता क्यों समझी? क्या 'छंदोगति के सामंजस्य' के लिये इस व्यंजन का बदलना भी आवश्यक था? ज़रा कृपा करके उस छंद का नाम और लक्षण तो बताइए, जिसके अनुसार देव कवि को 'दुसरिहा' के 'ह' की भी हत्या करनी पड़ी थी।

३

'दुसरिहा' शब्द का अर्थ है द्वितीय या दूसरा। ग्रामीण लोग जहाँ 'दुसरा' कहते हैं, वहीं नागरिक भाषा में 'दूसरा' शब्द व्यवहृत होता है। प्रांतीय भाषा में इसकी जगह 'दुस्सर' शब्द भी प्रयुक्त होता है। स्टेशनों पर क़ुली लोग अपना नंबर पुकारते हुए 'दुस्सर' 'तिस्सर' की आवाज़ लगाया करते हैं। यदि वस्तुतः देव कवि को छंद की पूर्ति की ही फ़िक्र थी, तो वह बड़ी सुगमता से 'दुसरिहा' के स्थान में 'दूसरिहा' अथवा 'दुस्सरिहा' रखकर बड़े मज़े में निर्दोष काम चला सकते थे। उन्होंने इस सीधे मार्ग को छोड़कर 'दुसरिहा' के स्थान में एकदम अप्रयुक्त और दूषित ऐसे शब्द का प्रयोग क्यों किया, जिसके उच्चारण में ही तीन जगह से मुँह टेढ़ा करना पड़े?

यह कहा जा सकता है कि देव को ये सीधे शब्द सूझे ही नहीं। यदि सचमुच यही बात हो, तो 'देव' इस योग्य ही नहीं थे कि वह एक अच्छे कवि बन सकते। 'दूसरा' शब्द उन्हें सूझा ही नहीं? क्या अन्यत्र कहीं उन्होंने इसका प्रयोग किया ही नहीं? फिर यहीं कैसे भूल गए? क्या 'दूसरा' के स्थान में उन्होंने 'द्यौसरा' का प्रयोग कहीं किया है?

४

जाति या कुल की उपाधियाँ अपनी जाति का सामान्य और विशेष स्वरूप सूचित करने के लिये लिखी और कही जाती हैं। जो पुरुष अपने नाम के आगे 'वाजपेयी' शब्द जोड़ता है, उसका यह तात्पर्य रहता है कि ब्राह्मणत्व सामान्य और उसकी विशेषता कान्यकुब्जत्व आदि इससे सूचित हो। धौसरिया, बुधौलिया, बिलथरिया आदि शब्दों से आज भी ब्राह्मणत्व सामान्य के साथ-साथ सनाढ्यत्व और उन-उन शाखाओं की विशेषता भी बोधित होती है।

जिस प्रकार 'वाजपेयी' लिखने के बाद कान्यकुब्ज लिखना अनावश्यक है, इसी प्रकार धौसरिया आदि शब्दों के अनंतर सनाढ्य कहना अपेक्षित नहीं है। ऐसी जगह यह कहना कि अमुक ने अपने लिये कान्यकुब्ज या सनाढ्य तो कहीं कहा ही नहीं, एक प्रकार से अपनी बेसमझी प्रकट करना है।

अब देखिए कि 'दुसरिहा' शब्द से यह जात्युपाधि

या कुलोपाधि का काम कहाँ तक चल सकता है ? क्या इससे किसी जाति का सामान्य या विशेष स्वरूप बोधित होता है ? कदापि नहीं । 'दुसरिहा' का अर्थ है दूसरा । इससे न किसी जाति का ज्ञान होता है, न उसकी विशेषता का । सनाढ्यों में तो ऐसी कोई शाखा है ही नहीं । अनेक कान्यकुब्ज-विद्वानों से पूछने पर और कान्यकुब्ज-भास्कर आदि पुस्तकें देखने पर भी हमें 'दुसरिहा' नाम से प्रसिद्ध कान्यकुब्जों की किसी शाखा का पता नहीं चला । बहुत लोगों का कहना है कि यह कान्यकुब्जों की कोई शाखा नहीं है । अब प्रश्न यह है कि जब न तो 'दुसरिहा' कान्यकुब्जों की कोई शाखा ही है और न इसका कोई ऐसा अर्थ ही है, जिससे वाजपेयी या धौसरिया के समान किसी जाति की सामान्य और विशेष दशा का बोध हो सके, तब फिर 'देव' जैसे बुद्धिमान् पुरुष ने अपने नाम के साथ इस बेतुके शब्द को क्यों जोड़ा ? और वह भी इतना तोड़-मरोड़कर कि जिससे सब मतलब ही ख़ब्त हो गया ? आज कोई भी द्विवेदी अपने लिये 'दुसरिहा' नहीं लिखता । हमें जहाँ तक मालूम हुआ है, कोई भी कान्यकुब्ज अपने को दुसरिहा नहीं कहता । फिर मिश्रजी महाराज बताएँ कि 'देव' ने ही अपने लिये 'द्यौसरिया' लिखने की यह मूर्खता क्यों की ?

५

जिन भोगीलाल को आपने 'देव' कवि का परपोता मान लिया है और जिनके लेख पर ही आपका यह सारा हवाई महल खड़ा है, उन्होंने भी कहीं अपने लिये 'दुसरिहा' नहीं लिखा । फिर आप यह शब्द लाए कहाँ से ? आपने भोगीलाल का जो उद्धरण दिया है, उसमें तो—

'काश्यप गोत्र द्विवेदिकुल कान्यकुब्ज कमनीय'

सिर्फ़ इतना ही है । 'दुसरिहा' तो कहीं है नहीं । फिर आप यह 'बलाए नागहानी' बेचारे 'देव' के सिर पर क्यों बरपा कर रहे हैं ?

६

आपको 'देव'जी के वंशजों से "मालूम हुआ कि वे लोग दुसरिहा कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं ।" यदि यह बात ठीक है और 'दुसरिहा' वस्तुतः कान्यकुब्जों की कोई शाखा है, तो भोगीलाल ने इसका उल्लेख क्यों नहीं किया ? आपके कथनानुसार 'देव' के दोहे में 'द्यौसरिया' पाठ है। यदि यह बात सत्य होती और भोगीलाल भी उसे ठीक वैसा ही पाठ समझते होते, तो वह अपने दोहों में उसका अवश्य उल्लेख करते । इससे उनका 'देव' के साथ सीधा संबंध स्थापित होने में कोई संदेह न रह जाता । जब बाबा भी 'द्यौसरिया' और पोते भी 'द्यौसरिया' लिखे होते, तब किसी को यह संदेह करने का अवसर ही न रह जाता कि कान्यकुब्ज 'देव' धौसरिया 'देव' से भिन्न हैं । इसके अतिरिक्त जैसे 'वाजपेयी' कहने के बाद कान्यकुब्जत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है, फिर कान्यकुब्ज शब्द कहना अनावश्यक होता है, उसी प्रकार 'द्यौसरिया' कहने के बाद कान्यकुब्जत्व तो स्वयं सिद्ध हो जाता, क्योंकि दूसरे ब्राह्मणों में यह शाखा है ही नहीं । यदि सचमुच 'दुसरिहा' या 'द्यौसरिया' कान्यकुब्जों की कोई शाखा होती, तो भोगीलालजी अपना दोहा इस प्रकार बनाते—

'काश्यपगोत्र द्विवेदिकुल **'द्यौसरिया'** कमनीय'

७

'दुसरिहा' शब्द अनादरसूचक है । इसका अर्थ दूसरा सेकंड क्लास, नंबर दो अथवा जाति में उतरा हुआ माना जाता है । जो लोग अपने से भिन्न जाति या उपजाति में संबंध कर लेते हैं, वह 'दुसरिहा' कहाते हैं । मिथिला-प्रांत में ऐसे लोगों को 'दुगमिहा' कहते हैं । इटावा-प्रांत में आज भी ऐसे सैकड़ों-हज़ारों दृष्टांत मिल सकते हैं, जहाँ सनाढ्यों और कान्यकुब्जों में परस्पर वैवाहिक संबंध हुआ है । इस प्रकार के संबंध की सन्तान को यदि कोई 'दुसरिहा' कहकर अनादर सूचित करता हो, तो कुछ आश्चर्य नहीं, परन्तु ऐसे लोग स्वयं अपने को कभी उस शब्द से बोधित नहीं करते । अपने अनादर-सूचक शब्द का कोई अपने-आप प्रयोग करे, यह अस्वाभाविक है । 'देव' कवि को 'दुसरिहा' बताना उनका घोर अपमान करना है । यदि आज वह जीवित होते और कांग्रेस पार्टी में भरती न हो गए होते, तो इसके लिये अवश्य मानहानि का मुक़दमा चलाते । यदि 'देव' सचमुच 'दुसरिहा' होते, तो भी अपने को कभी वैसा न लिखते । भोगीलाल ने भी कहीं अपने को 'दुसरिहा' नहीं लिखा, न वह वैसा लिख ही सकते थे । आज कोई भी कान्यकुब्ज अपने को 'दुसरिहा' नहीं बताता, न 'कान्यकुब्ज-भास्कर' आदि पुस्तकों में कहीं इसका उल्लेख मिलता है । हमें विश्वास नहीं होता कि कोई कान्यकुब्ज स्वयं अपने मुँह से

अपने को 'दुसरिहा' बतायेगा। यदि सचमुच भोगीलालजी के किसी वंशधर ने अपने को 'दुसरिहा' बताया है, तो हमें उसकी बुद्धि पर तरस आता है। और इस 'दुसरिहा' शब्द की 'सपिंडो' करके उसका 'धौसरिया' से गठजोड़ा कर देना तो ग़ज़ब का आविष्कार है—कमाल की करामात है !!

'छुरी किस लुत्फ़ से फेरी है सर पर अपने बिस्मिल के'

× × ×

वस्तुतः न तो 'देव' के ख़याल में 'धौसरिया' कोई शब्द था, न भोगीलाल के ही दिमाग़ में यह आया था और न मिश्रजी की पुस्तक में ही यह शब्द पहले से विद्यमान था। इसका आविष्कार तो, हम समझते हैं, उसी समय हुआ जब आपने कुसुमरावासी लोगों से "दुसरिहा" शब्द सुना।

८

यह हम मान सकते हैं कि आपके पास जो हस्त-लिखित पुस्तक है, उसका लेखक कोई बुड्ढा आदमी रहा हो और बुढ़ापे के कम्प के कारण उसने 'धौ' के माथे की रेखा मिला दी हो जिससे 'धौ' का 'घौ' हो गया हो। यह भी हो सकता है कि उसकी दावात में स्याही ज़रा पतली रही हो। यह भी संभव है कि वर्षाऋतु में लिखे जाने के कारण पुराने छप्पर में से टपकी हुई बूँद से 'धौ' का 'घौ' हो गया हो। और भी बहुत-सी बातें संभव हैं, लेकिन 'धौ' के स्थान में 'घौ' का होना और फिर उससे 'दुसरिहा' का 'बादरायण' सम्बन्ध जुड़ना किसी प्रकार संभव नहीं।

श्रीयुत मिश्रजी ने 'देव' को कान्यकुब्ज सिद्ध करने के प्रकरण में दो हेतु और भी दिए हैं। एक तो यह कि 'ख़ास देवजी के हाथ के लगाए बाग़ के वृक्ष अब तक मौजूद हैं और दूसरे "देवजी की हस्तलिपि भी मिल गई है"—परंतु हमारे-जैसे अल्पज्ञ जीवों की समझ में यह नहीं आता कि किसी वृक्ष को देखकर उसके लगाने वाले की जाति का पता कैसे लगाया जा सकता है? क्या सनाढ्य और कान्यकुब्ज के लगाए वृक्षों में कोई 'ख़ास' भेद होता है? क्या किसी वृक्ष को देखकर यह समझना संभव है कि यह "ख़ास देवजी के हाथ का लगाया हुआ है।" क्या किसी की हस्तलिपि को देखकर लेखक की जाति का पता लगाया जा सकता है? यदि श्रीयुत मिश्रजी के पास इस गुप्त विद्या की कोई 'हस्तलिखित पुस्तक' हो, तो लोकोपकार की दृष्टि से उसे प्रकाशित करने की कृपा करें। यदि स्वयं पैसा ख़र्च करना न चाहते हों, तो 'हिंदी के सर्वश्रेष्ठ प्रकाशक' अपने अति प्राचीन परम मित्र श्रीदुलारेलालजी भार्गव के द्वारा ही उसे प्रकाशित करा दें। किसी तरह लोगों का भला तो हो।

अब दो ही मार्ग हैं—या तो यह मानिए कि 'धौस-रिया' देव के भोगीलालजी परपोते नहीं थे। उनके परबाबा कोई दूसरे ही 'देव' थे और या फिर यह मानिए कि 'देव' तो वस्तुतः विशुद्ध धौसरिया सनाढ्य ब्राह्मणों की शाखा में हो हैं, लेकिन उनके परपोते साहब किसी ख़ास कारण से 'कान्यकुब्ज कमनीय' बने हैं और अपने इस कान्यकुब्जत्व के लबादे को बूढ़े देव के ऊपर भी ज़बर्दस्ती लादना चाहते हैं, लेकिन 'दुसरिहा' या 'धौसरिया' बनने को हर्गिज़ तैयार नहीं। अतएव उस तरफ़ से एकदम चुप हैं।

{ शालग्राम शास्त्री
{ चैत्र शुक्ल ८ सं० १९८७

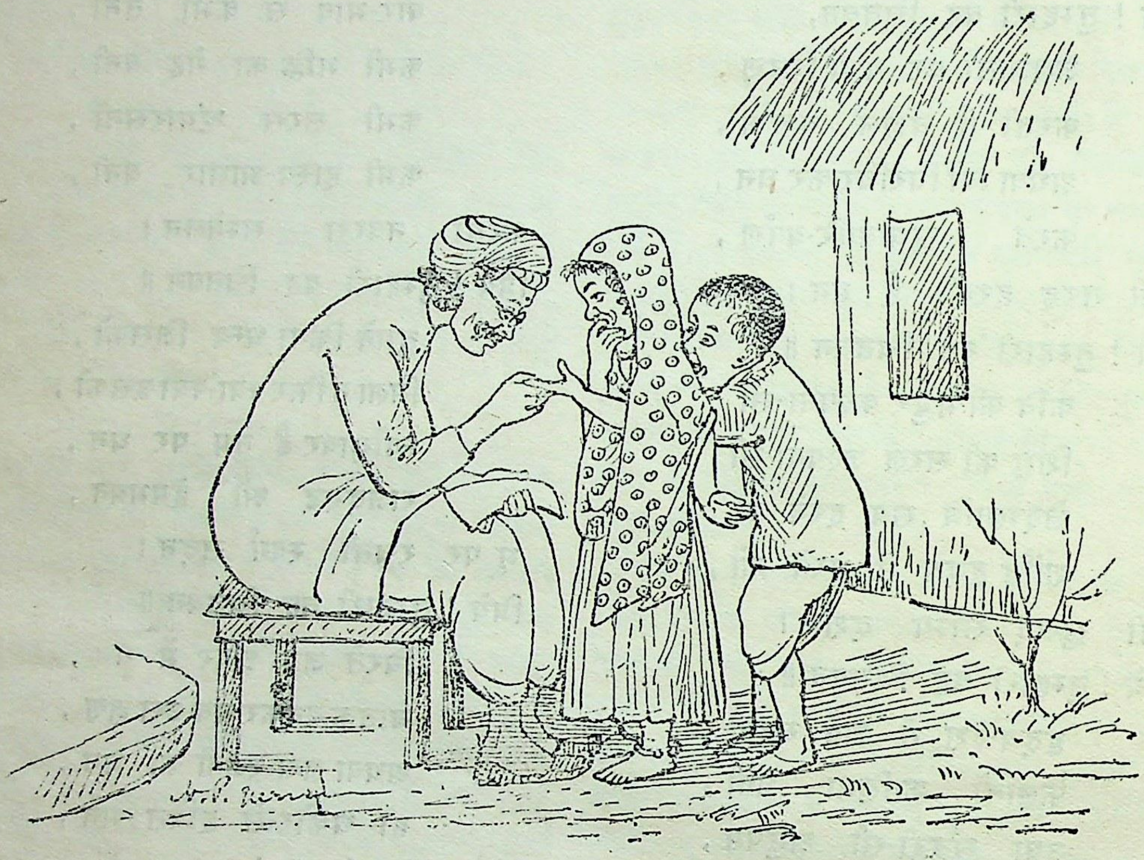
चितवन

प्रिये ! तुम्हारी वह चितवन,
जलजातों पर यथा किरण,
करती है चञ्चल नर्त्तन,
अथवा ज्यों घिरघिर कर घन,
करते सुधावारि-वर्षण,
उसी तरह हरती है मन।
प्रिये ! तुम्हारी वह चितवन॥
कवि की मधुर कल्पना-सी
शिशु की सरल जल्पना-सी,
खेदग्लानि सब हरने को,
शांति हृदय में भरने को,
देती सुखद सौम्य दर्शन।
प्रिये ! तुम्हारी वह चितवन॥
हृदय-देश में जब रजनी,
फैलाती कालिमा घनी,
उषा सुंदरी-सी अनुपम,
आकर हरने को सब तम,
करती है तब निर्मल मन।
प्रिये ! तुम्हारी वह चितवन॥
जग के जालों में पड़कर,
जीवन-संगर से डरकर,
होकर अकर्मण्य-सा जब,
पीछे हटता हूँ मैं तब,
हरती है सब कायरपन।
प्रिये ! तुम्हारी वह चितवन॥

वीर-भाव से कभी तनी,
कभी भक्ति का गेह बनी,
कभी सरस शृंगारसनी,
कभी हास्य-आधार बनी,
करती नवरस - सम्मेलन।
प्रिये ! तुम्हारी वह चितवन॥
तुमने किया धन्य जिसको,
मिला न फिर क्या-क्या उसको,
न्योछावर है तुम पर धन,
राजदण्ड औ हेमभवन,
भू पर रचती स्वर्ग सदन।
प्रिये ! तुम्हारी वह चितवन॥
घिरते जब अंबर में घन,
चातक बनकर तब उस क्षण,
अथवा लख रजनी का धन,
हो चकोर-से हर्षित मन,
देख रहे हो किसे नयन।
प्रिये ! तुम्हारी वह चितवन॥
सौरभ रखता यथा सुमन,
त्यों ही यह नयनों का धन,
अलसित पलकों में छिपकर,
मादक आसव-सी छनकर,
करती स्वर्गसुधा वितरण।
प्रिये ! तुम्हारी वह चितवन॥

ज्वालाप्रसाद मिश्र

ज्योतिषाचार्य !



नटखट लड़के ने चुपके-से अपना हाथ बढ़ा दिया। ज्योतिषाचार्य उसे लड़की का हाथ समझकर भविष्यवाणी कर रहे हैं—

"तुम्हें बड़ा सुंदर पति मिलेगा। तुम्हारे सिर के बाल अत्यंत सुंदर होंगे। और, हाँ—एक बात याद रखना—तुम एक बड़े राजा की रानी होगी!"

आलोचना और पुस्तक-परिचय

जीव-विज्ञान—यह हर्ष की बात है कि हिंदी-साहित्य-भंडार की वृद्धि दिन-प्रतिदिन हो रही है। पिछले १० वर्षों में इसकी प्रगति बड़े वेग से हुई है, तथापि ऐसे बहुत कम ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, जो साहित्य के स्थायी और ज्ञानप्रवर्द्धक अंग हों—जो जातीय विश्वविद्यालयों में उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों के ज्ञान-उत्पादन में उपयोगी हों। तत्त्व-ज्ञान भारत की अमूल्य संपत्ति है। इसी पर भारतीय संस्कृति अवलंबित है। हिंदी में इस विषय के मौलिक ग्रंथों का अभाव-सा है। कितने खेद की बात है कि हमारे नवयुवक, जो कालेजों में बी० ए०, एम्० ए० की शिक्षा पाते हैं, दार्शनिक विषयों में योरपीय दर्शन-सिद्धांतों का तो अध्ययन करें, लेकिन भारतीय सिद्धांत, जो उनकी अपेक्षा कहीं गंभीर और महत्त्वपूर्ण हैं, नहीं जानें। इस बात की आवश्यकता है कि योरपीय और भारतीय दार्शनिक सिद्धांतों की तुलनात्मक आलोचना की जाय। दार्शनिक विषय का श्रीगणेश मनोविज्ञान अर्थात् Psychology से होता है और कालेजों में दार्शनिक विषय के विद्यार्थियों को पहले इसी की शिक्षा दी जाती है। ये लोग इस विषय के योरपीय सिद्धांत तो जान जाते हैं, पर भारतीय सिद्धांतों से अनभिज्ञ रहते हैं। जब घर का ही हाल नहीं जाना, तो सात समुद्र पार की बात का क्या महत्त्व है। इस अज्ञान का कारण अच्छी पुस्तकों का अभाव है। इसी अभाव को दूर करने के लिये साहित्य-विशारद पं० बलदेवप्रसाद मिश्र एम्० ए०, एल्-एल्० बी० ने 'जीव-विज्ञान'-नामक पुस्तक लिखी है। पुस्तक, जिसे पं० बलभद्रप्रसाद मिश्र, जनरल कंट्रेक्टर, राजनाँदगाँव सी० पी० ने प्रकाशित की है, बड़े मार्के की है। अब तक इस विषय की ऐसी पुस्तक देखने में नहीं आई। सागर को गागर में भर दिया है। तिस पर भी लेखनशैली ऐसी सरल, बोधगम्य और रोचक है कि विषय गंभीर होने पर भी पाठक का मन पुस्तक छोड़ने को नहीं करता है। ग्रंथ-कर्ता कोरे अँगरेज़ी के विद्वान् ही नहीं हैं, बल्कि अच्छे संस्कृतज्ञ हैं और दार्शनिक विषय के प्रकांड पंडित हैं। आपने ग्रंथ का संपूर्ण ज्ञान २५ तत्त्वों के समान संस्कृत के २५ सूत्रों में निहित किया है, जिनकी व्याख्या में ४०० पृष्ठों की पुस्तक बन गई है। ज्ञान प्राचीन है, पर प्रतिपादन की शैली एकदम नवीन और अद्वितीय है। जटिल-से-जटिल प्रश्न बड़ी सरलता और योग्यता से समझाए गए हैं।

यद्यपि विषय का बड़ा विस्तार है, तदपि लेखक ने उन्हीं बातों को लिखा है, जिनका उल्लेख आवश्यक है। तथापि कर्तव्य-अकर्तव्य, शिक्षा, समाज-सुधार, धर्म-कर्म लक्षित कला-सरीखे विषयों का समावेश भी है। पारिभाषिक शब्द अधिकतर वे ही हैं, जो भारतीय शास्त्रों और भाषाओं में प्रचलित हैं और उनके साथ अँगरेज़ी शब्द भी लिख दिए हैं, बल्कि उनका शब्दकोष भी अंत में दे दिया है।

इस पुस्तक की विषयसूची यह है—

संसार में दो वस्तुएँ हैं—एक जड़, दूसरी चैतन्य। जड़ पदार्थ वे हैं, जिन्हें हम अपनी इंद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं, यानि संसार में जितने भी इंद्रियों के विषय अर्थात् रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्दवाले पदार्थ हैं, वे सब जड़ ही के अंग हैं। चैतन्य पदार्थ इन सबके परे है।

जिस अतीन्द्रिय पदार्थ में ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व का धर्म निहित है, उसे चैतन्य कहते हैं। दूसरे शब्दों में जिन पदार्थों में ज्ञान, इच्छा और भोग के धर्म हैं, वे चैतन्य हैं और जिनमें ये नहीं हैं, वे जड़ हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि चैतन्य हैं, पत्थर, लोहा, लकड़ी इत्यादि जड़ हैं।

यह चैतन्य एक अखंड और सर्वव्यापी है, जैसे अग्नि सब संसार में व्याप्त है, पर ईंधन और दियासलाई इत्यादि के संयोग से जहाँ चाहो वहाँ प्रकट हो सकती है, वैसे ही सर्वव्यापी चैतन्य अनुकूल शरीर पाने पर प्रकट हो जाता है। जैसे अनेक प्रज्वलित अग्नियाँ देखकर भी अग्नितत्त्व के एकत्व, अखंडत्व और विभुत्व पर किसी को संदेह नहीं होता है, उसी प्रकार अनेक चैतन्य पदार्थों को देखकर भी उस चैतन्यतत्त्व के एकत्व, अखंडत्व और सर्वव्यापकत्व पर शंका करना व्यर्थ है।

इसी अखंड चैतन्य को परमात्मा, परब्रह्म, परमेश्वर आदि कहते हैं। जिस प्रकार अग्नि और दाहिका शक्ति अलग-अलग नहीं रह सकती, उसी प्रकार अखंड चैतन्य और चित्शक्ति का पार्थक्य नहीं है, पर जैसे दाहिका शक्ति की अभिव्यक्ति देखने ही से हमें अग्नि की सत्ता का बोध होता है यद्यपि यह निश्चित है कि अग्नि का अस्तित्व पहले ही से था, वैसे ही चित्शक्ति अथवा माया की अभिव्यक्ति से ही हमें महेश्वर अथवा अखंड चैतन्य के अस्तित्व का पता लगता है। जब यह अखंड चैतन्य अथवा ब्रह्म अपनी इस शक्ति (माया) को अप्रकट रखता है, तब वह निर्गुण और अव्यक्त कहाता है और जब इस शक्ति को प्रकट करता है, तब सगुण और लीलामय कहाता है। यहाँ चित्शक्ति वैज्ञानिकों की विद्युत्शक्ति है। यही माया तथा मूल-प्रकृति है। इसी के सहारे विश्व-ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई है। यह शक्ति चैतन्य की शक्ति-मात्र है, चैतन्य नहीं है। इसलिये इसमें ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व इत्यादि नहीं है। वह अचेतन है, अंधी है। जब तक ब्रह्म उसमें विचाररूपी बीज नहीं रक्खे, तब तक वह संसार उत्पन्न नहीं कर सकती है। व्यक्त पदार्थों की तीन अवस्थाएँ हैं—सृष्टि, स्थिति और लय। इसलिये यह चित्शक्ति (माया) तीन गुणवाली है। सतोगुण ही स्थिति है। तमोगुण लय है, और रजोगुण सृष्टि है। सत्य अथवा ज्ञान सतोगुण है; शिव अथवा कर्म रजोगुण है और सुंदर अथवा आनंद या अनुभूति तमोगुण है। प्रकृति के इन्हीं तीनों गुणों से संसार के समस्त पदार्थ परिच्छिन्न हैं। चैतन्य पदार्थों में ये तीनों गुण सत्, रज और तम के नाम से कहे जाते हैं और जड़ पदार्थों में देश, काल और निमित्त कहे जाते हैं। समष्टि स्थिति ही देश (Space) है, समष्टि लय ही काल (Time) है और समष्टि सृष्टि ही निमित्त (Causality) या कार्यकारण-श्रृंखला है। प्रत्येक पदार्थ देश, काल और निमित्त से परिच्छिन्न और बँधा हुआ है। इस अखिल विश्व में इस अखंड चैतन्य का केवल एक अंश ही व्यक्त रूप में है; शेष सब अव्यक्त है। जो अंश व्यक्त हुआ है, उसे आत्मा कहते हैं। इसी को गीता पराप्रकृति अथवा जीव कहती है। इसे ही वेदांती चिन्मात्रा कहते हैं। यह आत्मा सदैव ही आदि-अंतहीन, अमल, अवि-

कारी, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाववाली है। प्राणियों के शरीर में इस आत्मतत्त्व के अतिरिक्त एक विकारशील चैतन्य सत्ता और है, जिसे कोई चिदाभास कहता है, कोई प्रेत, कोई भाव कहता है; परंतु सभी इसे जीव नाम से पुकारते हैं। चिन्मात्रा आत्मा है और चिदाभास जीव है। आत्मा एक है, पर जीव अनेक हैं। आत्मा शुद्ध, बुद्ध और निर्लेप है; पर जीव विकारी, अणु और अपूर्णता-युक्त है। आत्मा सर्वव्यापी और सर्वरस है, जीव, प्रत्येक देह में पृथक्-पृथक् और एकदेशी है। आत्मा अनादि-अनंत है, जीव आदि-अंतवाले हैं। आत्मा सुखराशि है, जीव सुखेच्छु हैं। आत्मा स्वतंत्र है, जीव-कर्म परतंत्र है। मैं-पन अर्थात् ममत्व की भावना ही जीव की उत्पत्ति का कारण है और यह शरीर की सीमा से होता है। इस भावना के कारण ही विभिन्न व्यक्तित्व दृढ़ होता जाता है। यही जीव अहंकार की भावना के कारण इतना दृढ़ हो जाता है कि वह अपने को शरीर से पृथक् समझने लगता है, तब उसका अस्तित्व शरीर के बाद भी बना रहता है। इसका बार-बार जन्म होता रहता है। जीव की पूरी परिभाषा यह है—

जीव वह व्यक्तित्ववान् चैतन्य है, जो पूर्णत्व के लिये स्फूर्तिवाला हो।

जैसा कि ऊपर लिख आए हैं, जीव अपूर्ण है; पर वह पूर्णत्व की प्राप्ति के लिये निरंतर प्रयत्नशील रहता है यानी वह अनंत ज्ञानी (चित्) अनंत शक्तिशाली (सत्) और अनंत आनन्दमय (आनंद) होने की अभिलाषा करता है। यह अभिलाषा उसके कार्यों और जीवन से विदित होती है। इस पूर्णत्व का नाम सच्चिदानंद है। पूर्णत्व के लिये प्रयत्नशील होना ही विकास है। हमारी सब कृतियों का आदर्श शिव है, सब ज्ञानराशि का आदर्श सत्य और सब भावनाओं का आदर्श सुंदर या आनन्द है यानि सत्य, शिव, सुंदर अथवा सच्चिदानंद।

जीव की उत्पत्ति अहंकार से है। इस अहंकारवाले जीव के मन, बुद्धि और चित्त तीन रूप हैं। बुद्धि चेतनाशील है और उसका फल ज्ञान है। ज्ञान इंद्रिय-सापेक्ष है, पर उसकी शक्तियाँ अतीन्द्रिय हैं।

मनः क्रियाशील है और उसके फल प्रवृत्ति और निवृत्ति हैं और ये संस्कारोंसे उत्पन्न होती हैं और यही कर्मरहस्य है। मन की विकासोन्मुखी क्रिया को पुण्य कहते हैं और ह्रासोन्मुखी क्रिया को पाप कहते हैं।

चित्त भावशील है और उसके फल सुख, दुःख और उदासीनता है।

अहंकार के नाश होने से मोक्ष होता है।

बुद्धि चेतन-अवस्था है और उसकी मुख्य शक्तियाँ ये हैं—ध्यानशक्ति, निरीक्षणशक्ति, विचारशक्ति, स्मरण-शक्ति, कल्पनाशक्ति और तर्कशक्ति जो सब मिलकर ज्ञान और अंतर्बोध को, जिसमें रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार हैं, बनाती हैं।

मन में प्रवृत्ति (राग) और निवृत्ति (द्वेष) बनाकर समस्त कर्मकांड और वैराग्य का प्रतिपादन किया है।

चित्त को भावशील कहकर सुख-दुख और उदासीनता की सविस्तर व्याख्या की है और इसी के अंतर्गत रसों पर बड़ा सुंदर निबंध लिखा है और ललित कलाओं का महत्त्वपूर्ण विवेचन किया है।

संस्कृत-दर्शनशास्त्रों में चित्त की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं है—वेदांत-सार में चित्त को अनुसंधानात्मक करण माना है, योगदर्शन में चित्तवृत्ति-निरोध में चित्त को संपूर्ण अंतःकरण के अर्थ में धरा है यानी चित्त में ही बुद्धि, मन, अहंकार वर्णित हैं। लोकमान तिलक ने भी गीतारहस्य में चित्त की कोई परिभाषा निश्चित नहीं की है। महाभारत में शांतिपर्व के एक श्लोक के आधार पर लिखा है कि जब मन पहलेपहल बाह्य विषयों का ग्रहण अर्थात् चिंतन करने लगता है, तब वह चित्त हो जाता है।

लेखक महोदय ने यह काम बड़े कमाल का किया है कि चित्त की स्पष्ट परिभाषा देकर जो बात दार्शनिक ग्रंथों में अधूरी रह गई थी, उसे पूरा कर दिया है; क्योंकि इन ग्रंथों के अनुसार कोई यह नहीं कह सकता है कि जब बुद्धि सत्य का निर्णय करती है और मन संकल्प-विकल्प करता है और अहंकार ममत्व उत्पन्न करता है, तो सुख, दुःख का अनुभव कौन करता है।

बुद्धि का विषय ज्ञान है, मन का विषय क्रिया है, तो बताओ भाव किसके विषय होंगे। लेखक ने स्पष्ट लिख दिया है कि भाव चित्त के विषय हैं और ऐसा करने से जो कमी दिखाई देती थी, वह पूरी हो गई है।

यह पुस्तक हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की मध्यमा और उत्तमा परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में स्थान पाने योग्य है। हिंदी में मनोविज्ञान-विषय का ग्रंथ इससे बढ़कर कोई नहीं है। विषय प्राचीन होने पर भी ग्रंथ मौलिक है। मैं आशा करता हूँ कि हिंदी-संसार में इसका समुचित आदर होगा।

कन्नोमल

× × ×

प्रेमयोग—लेखक, श्रीवियोगी हरि; प्रकाशक, गीता-प्रेस, गोरखपुर; मू० १।); पृष्ठ-संख्या ४०४; सफ़ाई-छपाई उत्तम।

प्रेमयोग दो खंडों में विभक्त है। इसके अंदर ३६ अध्याय हैं, जिनमें प्रेम का सच्चा और ऊँचा स्वरूप बड़े ही सरल एवं सुंदर ढंग से दिखाया गया है। भाषा इतनी मुहाविरेदार है कि लेखक की प्रशंसा किए विना नहीं रहा जा सकता। वर्णनशैली इतनी मनमोहक है कि बरबस दाद देने की इच्छा हो उठती है। हिंदी में अपने ढंग की यह शायद प्रथम पुस्तक है। हमारी प्रत्येक हिंदी-प्रेमी से अपील है कि इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें। श्रीवियोगी हरिजी को उनके इस सत्प्रयत्न के लिये हार्दिक धन्यवाद और बधाई।

× × ×

व्यंग-बवंडर—लेखक, पं० रामनारायण शर्मा; प्रकाशक, उपन्यास-बहार-आफ़िस, काशी; मू० रंगीन ॥।), सादी ॥)

साहित्य में व्यंग का एक विशेष स्थान है। इस पुस्तक में ६ हेडिंगों के अंतर्गत साहित्यिक-नालिश, आलूचख, सुकवि-सम्राट्, सुलेखक, महाभारत, होली, संपादक, भंगड़ सुल्तान और संत का बड़ी मज़ेदार भाषा में वर्णन है। शर्माजी की इस पुस्तक से आपके विनोदी-कवि होने का पूरा पता चलता है। हमें विश्वास है कि व्यंग-बवंडर को हिंदी-संसार बड़े प्रेम से अपनाएगा।

× × ×

वीणा—संपादक, पं० कालिकाप्रसाद दीक्षित, 'कुसुमाकर'; प्रकाशक, मध्यभारत-हिंदी-साहित्य-समिति, इंदौर; मू० ४) वार्षिक।

इस पत्रिका के ज्येष्ठ और आषाढ़ के अंक अभिषेकांक के रूप में प्रकाशित किए गए हैं। सुप्रसिद्ध लेखकों और कवियों की सुंदर कृत्तियों से पत्रिका का कलेवर ख़ूब सजाया गया है। सभी प्रकार की सामग्री जुटाने का सफल प्रयत्न किया गया है। हर्ष की बात है कि कुसुमाकरजी के द्वारा पत्रिका की बराबर उन्नति हो रही है। हम माधुरी की ओर से उन्हें इस परिश्रम के लिये धन्यवाद देते हैं।

× × ×

प्रताप-कवितांक—अखिल-भारतवर्षीय पारीक-महासभा का "पारीक" मुखपत्र है। कुमार प्रतापनारायणजी 'कविरत्न' पारीक-जाति के नवयुवक और उत्साही सज्जन हैं। आप कवि भी हैं और समाजसुधार-प्रेमी भी। आपकी विभिन्न विषयों की कविताओं को संगृहीत करके यह अंक आपके नाम से ही निकाला गया है। कुमार प्रतापनारायणजी के पिता जैपुर राज्य में एक प्रतिष्ठित पद पर हैं और बड़े विद्वान् पुरुष हैं। योग्य पिता के योग्य पुत्र के नाते आपमें यह गुण होना ठीक ही है। आपकी कविताएँ हिंदी के अन्य पत्रों में भी प्रकाशित होती हैं। हमें आशा है कि यदि आप इसी लगन से काम करते रहें, तो किसी समय आप अच्छे कवियों में गिने जावेंगे। तथास्तु।

रामसेवक त्रिपाठी

कृषि, शिल्प और वाणिज्य

१. गोरक्षा को सफल बनानेवाले उपाय

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति मचिरेणाधिगच्छति ।
गीता ४ । ३९

अकेले भारत को ही नहीं किंतु संसार के समस्त देशों को अपनी उन्नति करने के लिये अपने देश के गोधन से आवश्यक सहायता लेनी ही पड़ती है। प्राचीन भारत के आर्यों ने जिस क्रमविकास की सहायता से भारतीय गोधन से सहायता लेकर भारत को संसार का शिक्षागुरु और आदरपात्र बनाया था, उसका वर्णन उन लोगों ने अपने साहित्य में स्थान-स्थान पर इस अभिप्राय से कर रक्खा है कि उनके उत्तराधिकारी वर्तमान भारतीय हिंदू उनसे यथेष्ट लाभ उठावेंगे। पर बलिहारी है हम वर्तमान हिंदुओं की कि हम अपने प्राचीन साहित्य की पुस्तकों की चंदन, अक्षत और पुष्प से पूजा तो बड़ी आवभगत से करते हैं; पर उनमें लिखे हुए उपदेशों का क्रियात्मक आदर करना जानते ही नहीं। प्राचीन साहित्य को जनता को सुनाने का ठेका जिन सनातनधर्म के पंडितों ने ले रक्खा है, वे तक स्वयं उन उपदेशों को नहीं समझते, तो उनके श्रोता उन्हें कैसे समझ सकते हैं? न-जाने अनेक पुराणों के अनेक पाठों को सुनाकर पुराण बाचनेवाले पंडितों ने आज तक कितना रुपया कमा लिया न होगा; पर किसी पुराण-पाठक ने जनता को यह नहीं समझाया कि पुराणों में जो यह लिखा है कि

(१) गावस्तुष्टाः प्रयच्छन्ति वरानपि सुदुर्लभान् ।

(२) गवां हितं स्वात्महिताद्वरिष्ठं
वदन्ति सन्तो जगतां हितैषिणः ;
अलंतदत्यन्तपरिश्रमेण
सुधीभिरुन्नेयमिति प्रबुध्यताम् ।

(१) गौवें संतुष्ट की जाने पर जनता की मनः-कामनाओं को परिपूर्ण करती हैं।

(२) संसार का हित करनेवाले हितैषी सज्जन कहते हैं कि गौओं का हित सर्वश्रेष्ठ है, अतः बुद्धिमानों को चाहिए कि वे लोग अत्यंत परिश्रम कर गोवंश की उन्नति करते रहा करें। इन वाक्यों में गौ को "संतुष्ट" करने की तथा उसके वंश की "उन्नति" करने की जो बात

कही गई है, उसका सरलार्थ क्या है? क्या गौ को गोपाष्टमी के दिन आटे के थोड़े-से लड्डू खिला देने से वह संतुष्ट हो जाती है? वा उस दिन चंदन, अक्षत, रोरी और पुष्पमाला से उसकी पूजा कर देने से उसके वंश की उन्नति हो जाती है?

महाभारत के विराटपर्व में लिखा है कि

वृषभांश्चापि जानामि
राजन् पूजितलक्षणान् ।
येषां मूत्रमुपाघ्राय
अपि बन्ध्या प्रसूयते ॥

अर्थात् हे विराटराज, मैं उन साँडों को तैयार करना जानता हूँ, जिनके मूत्र को सूँघने से बँध्या गौ भी बच्चा दे सकती है।

कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में लिखता है कि

जीववत्सायाः पापस्विन्याः वत्स । वृषभः कार्य्यः ।

अर्थात् जिस गौ का एक भी बच्चा न मरा हो और जो अधिक-से-अधिक दूध देती हो, उसी का बच्चा प्रजोत्पादन के लिये साँड बनाया जाय।

सारांश उक्त प्रकार के विज्ञानप्रसूत गोपरिपालन-संबंधी उपदेश हमारे संस्कृत के साहित्य में प्रचुरता के साथ यत्र-तत्र पाए जाते हैं। पर हमारे संस्कृत के चूडांत पंडित उनका मर्म समझने की चेष्टा ही नहीं करते। परिणाम यह हो रहा है कि भारत के बड़े-बड़े विद्वान् और धनवान् गोपरिपालन की इतनी उपेक्षा करने लगे हैं कि उससे भारत का जीवनाधार गोधन दिनों-दिन हीन-क्षीण होकर भारत को अनाथ करता जा रहा है। तो भी भारत के धुरंधर नेता तक भारतीय गोधन की वर्तमान दुरवस्था की ओर फूटी आँख से भी नहीं देखते। चर्ख़े और सूत तथा कपड़े के लिये तो चिल्ला-चिल्लाकर आकाश-पाताल एक किए डाल रहे हैं, पर जिन सात्त्विक भोज्यान्नों को खाकर जनता जीती है और किसान लोग कपास पैदा करते हैं, उनकी—उपज नित-उठ घटिया होकर घटती जाती है उसकी—ओर वे यथेष्ट की कौन कहे तिल-मात्र भी ध्यान नहीं देते। भारत इस समय परतंत्र होने पर भी अपनी कृषि तथा उसके प्रधान सहायक गोधन का सुधार और उत्कर्ष करने में पूर्णरूप से स्वाधीन और स्वतंत्र है। सच बात तो यह है कि यदि भारत अपनी कृषि तथा उसके प्रधान सहायक गोधन का यथेष्ट सुधार कर ले, तो वह अपने अन्यान्य सुधारों को बड़ी सुगमता से कर सकेगा।

ऊपर गौ को प्रसन्न करने तथा लक्षण-संपन्न साँड को तैयार करने की जो बात कही गई है, उसका सरलार्थ यही है कि गौ का प्रति दिन उत्तम रीति से परिपालन किया जाय। अर्थात् प्रति दिन उसे भर पेट पौष्टिक चारा और दाना तथा शुद्ध शीतल जल यथासमय दिया जाय और उसकी दुग्धदायिता शक्ति बढ़ाते रखने के लिये वह उच्चगुण-संपन्न साँड से संयुक्त की जाय। आज दिन भारत में ऐसे कितने धनवान् गोभक्त होंगे, जो इस बात को जानते होंगे कि गौ का पयस्विनी होना अकेले चारे-दाने की सुविधा पर ही अवलंबित नहीं है, किंतु तदर्थ लक्षण-सम्पन्न साँड की अत्यंत आवश्यकता है। अतः उन्हें लक्षण-सम्पन्न साँड को प्रस्तुत करते रहना चाहिए। कहना नहीं होगा कि भारतीय धनवानों को जब से इस विषय के अज्ञान ने आ दबाया है, तभी से भारत के गोधन का अधःपात प्रारंभ हुआ है। जो भारत शतौदना तथा द्रोणदुधा पयस्विनी गौओं को करोड़ों की संख्या में तथा लक्षण-सम्पन्न साँडों को यथेष्ट संख्या में प्रस्तुत कर भारत में गोदुग्ध तथा गोघृत की नहरें बहाया करता था, उस भारत में इस समय ऐसी एक भी संस्था नहीं है, जिसके गोपरिपालन की चर्चा सुनाकर भारतीय लोगों को उसका अनुकरण करने का परामर्श दिया जाय। अतः विवश होकर अमेरिकावासी लोगों की गोपरिपालन-परिपाटी से कुछ बातें लेकर यहाँ उनका संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है। आशा है कि भारतीय धनवान् गोभक्त उनके पाठ से अपने पूर्वजों की गोपरिपालन-दक्षता का ज्ञान पुनः प्राप्त कर सच्चे गोभक्त बनने का प्रयत्न करेंगे।

अमेरिका का इतिहास बता रहा है कि ई० स० १७५० के पूर्व वहाँ के लोगों को गोपरिपालन का वह ज्ञान नहीं था, जिससे गोधन राष्ट्र की समस्त संपत्तियों का मूलाधार बनाया जा सकता है। पर आगे चलकर ज्यों-ज्यों उसकी विकसित बुद्धि ने उन्हें सहायता दी, त्यों-त्यों वे लोग अपने गोधन का सुधार और उत्कर्ष करते गए। उनके उद्योग का फल यह हुआ कि गत वर्ष उनके यहाँ प्रचुर मात्रा में दूध देनेवाली गौओं की संख्या २,२४,६६,००० थी। इस संख्या से अमेरि-

कावासो संतुष्ट नहीं हैं। इसे बढ़ाने के लिये वे निरंतर उद्योग किया करते हैं। अपने गोधन के सुधार तथा उत्कर्ष के लिये वे लोग निम्नलिखित उद्योग किया करते हैं—

(१) गवायुर्वेद की शिक्षा देने के लिये विद्यापीठों की स्थापना।

(२) गाँव-गाँव में गोवत्स-संघों की स्थापना।

(३) स्थान-स्थान पर लक्षण-संपन्न साँड-संघों की स्थापना।

(४) स्थान-स्थान पर दुग्ध-व्यवसाय-संघों की स्थापना।

(५) गोसाहित्य-प्रचारक संघों की स्थापना।

(६) गोरोग-परीक्षक तथा चिकित्सक संघों की स्थापना।

(७) डिस्ट्रिक्टबोर्ड आदि संस्थाओं के सदस्यों तथा शिक्षा-विभाग के कर्मचारियों का गोपरिपालन की शिक्षा के प्रचार में दत्तचित्त होकर प्रयत्नशील होना।

(१) इस समय संयुक्त अमेरिका देश में जितने स्वतंत्र राज्य सम्मिलित हैं, उनकी बहुतेरी सरकारों तथा जनता ने अपने-अपने यहाँ कृषि तथा गोपरिपालन की शिक्षा देने के लिये हाईस्कूल और कालेज खोल रक्खे हैं। इन हाईस्कूलों तथा कालेजों में बालक-बालिकाओं को कृषि तथा गोपरिपालन की सक्रिय शास्त्रीय शिक्षा दी जाती है, तथा इनके अध्यापकों एवं मुख्याध्यापकों द्वारा गोसाहित्य पर ग्रंथ लिखे जाते हैं और उनका प्रचार किया जाता है। इन विद्यालयों के अतिरिक्त व्यापारी-संघ के धनवान् लोग भी गोसाहित्य पर पुस्तकें लिखवाकर अपने ग्राहकों में उनका प्रचार इस अभिप्राय से किया करते हैं कि उनके ग्राहक सुखी रहेंगे, तो उनके माल की बिक्री अच्छी होगी। अमेरिका के व्यापारियों की इस समझ से भारत के धान्य और बीजों के व्यापारी उचित शिक्षा लेकर अपने किसान भाइयों में गोसाहित्य का प्रचार किया करें, तो भारत का बहुत हित हो सकता है।

(२) संयुक्त अमेरिका के राज्यों में जो लोग डिस्ट्रिक्टबोर्डों के सदस्य होते हैं, वे अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रों में गोवत्स-संघ स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। इन संघों में दस वर्ष तथा उससे अधिक के बालक-बालिका सम्मिलित किए जाते हैं। इस समय इन संघों के बालक-बालिका-सदस्यों की संख्या साढ़े सात लाख के लगभग है और इन्हें गोपरिपालन की शिक्षा देने-वाले नेताओं की संख्या साठ हज़ार के आसपास है। इन संघों के बालक-बालिकाएँ आत्म परिपपालित गोवत्सों को, गोमेलों तथा गोप्रदर्शिनियों में प्रदर्शित कर पुरस्कार पाते रहते हैं! गोवत्स-संघों के सदस्य बालक-बालिकाएँ साल-भर में एक बार वाशिंगटन की गोप्रदर्शिनी में जाकर वहाँ बढ़िया पुरस्कार और ख़ासी शिक्षा प्राप्त किया करते हैं। सुनते हैं, वाशिंगटन की वार्षिक गोप्रदर्शिनी में प्रत्येक राज्य से १२०० के लगभग बालक-बालिकाएँ पहुँचती हैं। गत वर्ष के अंत तथा इस वर्ष के आदि में लाहौर तथा प्रयाग में गोसम्मेलन किए गए थे। पर उनमें तीस-चालीस से अधिक गोभक्त उपस्थित नहीं हुए !!!

(३) इस समय अमेरिका में चार प्रकार के गोवंश दुग्ध तथा मक्खन देने में ख्यात-कीर्ति हो रहे हैं। उनके नाम, गेअर्नसी, होलस्टिन, आयरशायर और जरसी हैं। देशभक्त अमेरिकन लोगों ने स्थान-स्थान पर उक्त वंशों में से भिन्न-भिन्न वंशों के साँडों को पालने के संघ खोल रक्खे हैं। इन संघों में जाति-विशेष के साँड शास्त्रविधि के अनुसार प्रस्तुत किए जाते हैं अर्थात् जो गौ सबसे अधिक दुधार होती है, उसी का बच्चा यथा-वत् रीति से पालकर साँड बनाया जाता है और आस-पास के किसानों तथा ग्वालों को उससे लाभ पहुँचाया जाता है। साँड-संघ के संचालकगण अपने संघ के साँडों के लिये उन्हें लाभ पहुँचानेवाला चारा तथा दाना अपने घर के खेतों में पैदा किया करते हैं। प्रत्येक साँड के संयोग से उत्पन्न होनेवाली बछिया गौ बनकर एक साल में जितना दूध और मक्खन देती है, उसका लेखा रक्खा जाता है। यह लेखा उस साँड की योग्यता स्थापित करने में सहायता दिया करता है। इन संघों की कृति भारत के वृषोत्सर्ग का स्मरण दिलाती है। जिस अज्ञान ने वृषोत्सर्ग की महत्ता पर पानी फेर दिया है, उसका स्मरण होते ही हृदय टूक-टूक हो जाता है। महाभारत में लक्षणसंपन्न साँड का दान पयस्विनी अलंकृत गौ के दान से अधिक महत्त्व का बताया गया है। कलकत्ते के साँड-भक्तों को इस ओर आवश्यक ध्यान देना चाहिए।

(४) अमेरिका के व्यवसायदक्ष लोगों ने स्थान-स्थान पर दुग्ध-व्यवसाय के कार्यालय खोल रक्खे हैं। इन कार्यालयों में उच्च-से-उच्च वंश की गौवें पाली जाती हैं। उनका परिपालन शास्त्रविहित रीति से किया जाता है। उनके दूध से मक्खन और चीज नाम का गव्य पदार्थ बनाया जाता है। अमेरिका में चीज बनाने का एक कार्यालय है। उसमें प्रति दिन एक लाख पौंड अर्थात् १२५० मन दूध लगता है। इतना दूध उसे एक दुग्धालय ही प्रति दिन दिया करता है। भारत के गोभक्त संभवतः इस बात को सच नहीं मानेंगे। पर यह बात सच है। दुग्धव्यवसाय-संघ के लोग अपने पास-पड़ोस के हाईस्कूल तथा कालेज के छात्रों को प्रति दिन दो बार दूध और मक्खन देने का काम भी किया करते हैं। अमेरिका में इस समय ऐसा एक भी विद्यालय वा किसान नहीं होगा, जो अपने छात्रों तथा बालक-बालिकाओं को प्रति दिन दो वा तीन बार दूध और मक्खन नहीं खिलाया करता हो। भारत के प्राचीन नगर नालिंदा में जो विश्वविद्यालय था, उसके विषय में चीनी यात्री ह्यूएनसंग लिखता है कि उस विश्वविद्यालय के संचालक अपने हर छात्र को प्रति दिन दो सेर गोदुग्ध दिया करते थे! आज दिन जिन धनवान् भारत-वासियों ने भारत में विद्यालय और औषधालय खोल रक्खे हैं, उन्हें गोदुग्ध का महत्त्व ज्ञात ही नहीं है। वे अमेरिकावालों से इस गुण को सीखकर अपनी संस्थाओं को यथार्थ उपयोगी बना सकते हैं। और लोगों की बात उतनी नहीं खटकती, जितनी विद्यास्नात मालवीयजी की बात खटकती है। एक ओर आप अपने-आपको गोकुल का ऋणी लिखा करते हैं, संस्कृत-साहित्य में 'अमृतं हि गवां दुग्धं' नित पढ़ा करते हैं और दूसरी ओर हिंदू-विश्वविद्यालय के छात्रों को शुद्ध, पवित्र और बलवीर्यवर्द्धक दूध तथा मक्खन पिलाने-खिलाने का कोई समुचित प्रबंध नहीं करते। विद्यास्नात मालवीयजी की आज्ञा को वेदवाक्यवत् माननेवाले कई सेठ और राजा-महाराजा हैं। उनकी आज्ञा को पाकर अकेले सेठ घनश्यामदास बिड़ला ही हिंदू-विश्वविद्यालय के छात्रों को यथेष्ट दूध पहुँचाने का प्रबंध कर सकते हैं। क्योंकि वे विलायत जाकर पयस्विनी गौओं के सुस्वादु गव्य पदार्थों का स्वयं अनुभव ले आए हैं। प्रार्थना है कि श्रीमान् मालवीयजी महाराज मेरी इस विनती की ओर पूरा-पूरा ध्यान देने की कृपा करेंगे। क्या कोई पाठक इस ओर उनका ध्यान आकृष्ट करने की कृपा करेंगे?

(५) अमेरिका में जो लोग किसानी के औज़ारों तथा खादों का व्यवसाय किया करते हैं, वे लोग कृषि-गोपरिपालन की शिक्षा के आचार्यों से गोपरिपालन-संबंधी उपयोगी पुस्तकों को लिखवा तथा छपवाकर उन्हें अपने ग्राहकों में बिना मूल्य बाँटा करते हैं। उनके इस सात्विक दान से उन्हें और उनके देशभाइयों को आशातीत लाभ होता रहता है। भारत के मिल-मालिकों, धान्यबीज के व्यापारियों आदि को अमेरिका के व्यवसायपटु लोगों से शिक्षा ग्रहण कर अपने ग्राहकों में गोसाहित्य का प्रचार कर देना चाहिए। जो धनवान् भारत की कंटकाकीर्ण उपायों से सेवा करने में हिचकते हैं, उन्हें उचित है कि वे भारत की इस निरापद सेवा को स्वीकृत कर इससे अपना तथा भारत का उपकार करें।

(६) अमेरिका के देशभक्त लोगों को जब से यह बात ज्ञात हुई कि क्षयरोगाक्रांत गौओं के गव्य पदार्थों के सेवन से मनुष्यों में क्षयरोग-जैसे प्राणनाशक रोग की बाढ़ होती है, तब से उन लोगों ने गोरोग-परीक्षक संघों की स्थापना की है। इन संघों के सदस्य गोदुग्ध-व्यवसायी तथा अन्यान्य संघों के गोवंशज प्राणियों की परीक्षा कर, रोगी पशुओं को उनसे पृथक् कर देते हैं। चिकित्सा से जिनका रोग दूर हो सकता है, उनकी चिकित्सा कर, उन्हें अच्छा कर देते हैं। जिन ग़रीब लोगों के पशु भीषण रोग से आक्रांत होते हैं, उन्हें दानशूर लोगों के सात्विक दान की रकम से क्षतिपूरक रकम दी जाती है। उन लोगों ने अनुभव से यह बात जानी है कि गर्भपात एक संक्रामक रोग होता है। अतः जिस गोवत्स वा गौ की रक्त-परीक्षा में गर्भपात-रोग के चिह्न पाए जाते हैं, उसे वे तत्क्षण अलग कर देते हैं।

(७) भारतीय लोगों में लोकलबोर्ड, डिस्ट्रिक्टबोर्ड, कारपोरेशन, म्युनिसिपिलिटी आदि संस्थाओं के सदस्य बनने की रुचि तो अत्यधिक बढ़ गई है। वे अपनी इस रुचि तथा लालसा को संपन्न करने में धन की होली तापना तथा पूर्वपुरुषोपार्जित स्नेह-संबंध को नष्ट करना अनुचित नहीं मानते। पर इन पदों पर रहकर किस प्रकार की

देश-सेवा करनी होती है, उसका ककहरा तक जानने की इच्छा नहीं करते। ऐसे मान-प्रतिष्ठा-लोलुप भारतीयों को चाहिए कि वे अमेरिका के डिस्ट्रिक्टबोर्ड आदि के सदस्यों से उचित शिक्षा ग्रहण कर भारत की सच्ची सेवा करने के लाभ को प्राप्त करें, और साक्षीविनायक बनने के कलंक को दूर करें।

अमेरिका के लोकलबोर्ड तथा डिस्ट्रिक्टबोर्ड आदि के सदस्य अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रों में परिभ्रमण कर वहाँ के लोगों के अभाव और अभियोगों को जान लेते हैं। पश्चात् वे उनके दूर करने का प्रयत्न करते हैं। वे ही लोग गाँव-गाँव में गोवत्स-संघों की स्थापना करते हैं, और गोवत्स-संघों की बैठकों में उपस्थित होकर, उनके सदस्यों को परामर्श-दानपूर्वक उत्साहित करते रहते हैं। अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रों में बालक-बालिकाओं द्वारा बनाई हुई वस्तुओं की तथा उनके द्वारा परिपालित गोवत्सों की प्रदर्शिनियों का प्रबंध किया करते हैं। इन संघों के सदस्यों को शिक्षा-विभाग के कर्मचारियों से आवश्यक शिक्षा और सहायता दिलाने का प्रबंध किया करते हैं। शिक्षा-विभाग के अधिकारी बालकों को जीवनोपयोगी शिक्षा देने में सदा तत्पर रहा करते हैं। भारत में जो भारतीय शिक्षा-विभाग में काम करते हैं, उन्हें अपने उच्च अधिकारियों की आज्ञा मानने की जितनी रुचि रहा करती है, उतनी रुचि बालकों को जीवनोपयोगी शिक्षा देने की नहीं रहती। भारत में शिक्षा-विभाग के अधिकारी इस बात को समझने की तनिक भी चेष्टा नहीं करते कि जो बालक लघुत्तम का प्रश्न ठीक-ठीक कर सकता है, वह उसकी सहायता से अपने जीवन को लाभ पहुँचा सकता है वा जो बालक गोपरिपालन के रहस्य का ज्ञान प्राप्त करता है, वह अपने जीवन को उससे लाभ पहुँचा सकता है। मध्यप्रदेश के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर ने गोसाहित्य की छोटी-छोटी दो पुस्तकों को, लाइब्रेरी और पारितोषिक-पुस्तक के रूप में, स्वीकृत किया। पर मध्यप्रदेश के किसी डिपुटी इंस्पेक्टर ने उन पुस्तकों से बालकों को लाभ पहुँचाने की सोत्साह यथेष्ट चेष्टा नहीं की। इसका कारण यही है कि उनमें देशसेवा के वे भाव ही जागृत नहीं हैं, जो अमेरिका के शिक्षा-विभाग के लोगों में जागृत हैं। भारतीय किसानों के बालकों को गोपरिपालन-विज्ञान की जितनी अधिक शिक्षा दी जायगी, उतना ही भारत का अधिक हित होगा।

भारत में जिन थोड़े-से धनवानों ने गो-रक्षा का ठेका ले रक्खा है, वे जानना चाहें तो इस छोटे-से लेख के पाठ से जान सकते हैं कि गोचर-भूमि को करमुक्त करने के क़ानून वा गोवध को बंद करानेवाले क़ानून के नाम से रोते रहने से वा उनका लोभ बताकर वोट की भिक्षा माँगनेवाले मेंबर की थोथी और पोची गोभक्ति से गोरक्षा नहीं हो सकती। यथार्थ और यथेष्ट गोरक्षा करने के लिये भारतवासियों को वे ही सब उपाय करने होंगे, जिनकी सहायता से पाश्चात्य जगत् के लोगों ने अपने गोधन की उन्नति की है और करते जा रहे हैं। उन उपायों का करना जितना ही निरापद और निष्कंटक है, उतना ही निश्चित सफलतादायक भी है।

पाठक ऊपर पढ़ चुके हैं कि संयुक्त अमेरिका के बहुतेरे राज्यों ने अपने यहाँ कृषि-विद्यालय की स्थापना कर दी है। कृषि-विद्यालय के अध्यापकों ने परीक्षा और अनुभव से यह बात प्रकट कर दी है कि किस राज्य के किस गोवंश को कौन-सा चारा और दाना लाभदायक होता है और वह किस मात्रा में किस अवस्था में दिया जाना चाहिए। कृषि-विभाग की शिक्षा के अनुसार वहाँ के किसान अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार अपने गेहूँ और कपास के खेतों को उचित खाद देकर, और उन्हें सींचकर उनमें अपने गोधन के लिये तथा कृषि-सहायक घोड़ों के लिये चारा-दाना पैदा किया करते हैं। वहाँ के कृषि-विभाग ने घोषित किया है कि अलफा-अलफा और स्वीट क्लोवर नाम का चारा तथा जव, जई और मक्का का दाना वहाँ के गोधन के लिये बहुत लाभदायक है। इस शिक्षा को प्राप्त कर वहाँ के किसान और ग्वाले अपने-अपने खेतों में उक्त चारे और दाने की खेती किया करते हैं। किसी-किसी किसान ने अनुभव से यह ज्ञान प्राप्त किया है कि आधे एकड़ में खाद देकर उसमें जितना अलफा-अलफा बोया जाता है और सींचा जाता है, उससे एक गौ के लिये चार महीने के लिये पूरा-पूरा चारा मिल जाता है। वह चारा हरा और रसीला होता है। उसके खाने से गौ प्रसन्न होकर दूध और मक्खन अधिक देती है। वहाँ के किसान दो सेर दूध पीछे आध सेर दाने के हिसाब से अपनी गौ को दाना देते हैं। कहना नहीं

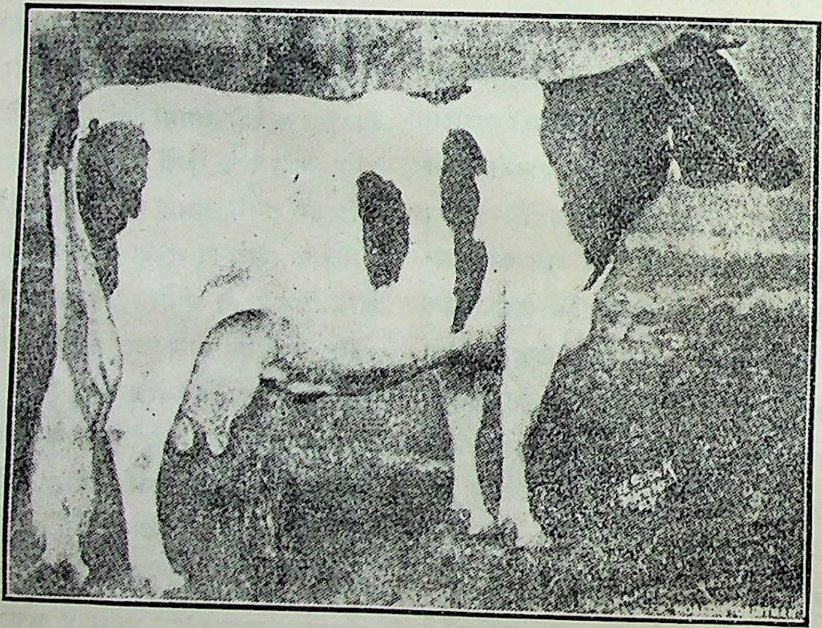
होगा कि वहाँ के किसान उचित उपायों द्वारा गो-परिपालन कर चारे-दाने के ख़र्चे को बाद देकर गौ पीछे सैकड़ों रुपए की बचत कर लेते हैं।

भारत की हितचिंता में रातदिन मग्न रहनेवाले समर्थ भारत-हितैषियों के लिये यह बहुत ही लांछन की बात है कि वे अपने भारतीय किसान भाइयों में अल्फा-अल्फा-सदृश पौष्टिक, रुचिकर और रसीला चारा अपने खेतों में पैदा करने का ज्ञान और रुचि उत्पन्न नहीं करते। वे जिस प्रकार किसानों में बढ़ा हुआ लगान न देने की भावना को उत्पन्न कर अपने-आपको तथा उनको संकटार्णव में ढकेलते हैं, उस प्रकार यदि भारतीय किसानों में पौष्टिक, रुचिकर और रसीला चारा पैदा करने की भावना को उत्पन्न करने की कृपापूर्ण चेष्टा करें, तो उनकी यह चेष्टा भारत की निरापद तथा आशातीत लाभदायक सेवा होगी। अमेरिका के सक्रिय गोभक्तों ने यह बात प्रमाणित कर दी है कि पौष्टिक, रसीला और रुचिकर चारा तथा दाना गोवंश के प्राणियों को हृष्ट, पुष्ट, नीरोग तथा दीर्घजीवी बनाकर उन्हें राष्ट्रीय संपत्ति का उन्नायक बनाता है। हृष्ट, पुष्ट और संतुष्ट गोधन पहले धरती के पेट में भरी हुई उत्पादिका शक्तिरूप राष्ट्रीय संपत्ति की वृद्धि कर पश्चात् तिजोरियों में भरी जानेवाली राष्ट्रीय संपत्ति की वृद्धि करता है। भारत के नेता भारत का यथार्थ हित तभी कर सकेंगे, जब वे इस सिद्धांत को समझेंगे और इसके अनुसार काम करेंगे।

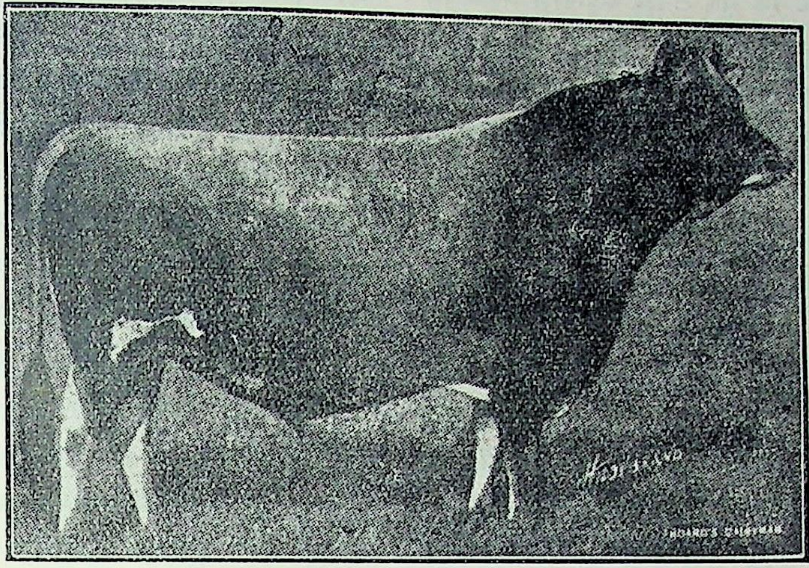
उचित चारे, दाने और साँड के कारण गौ की कहाँ तक उन्नति की गई, उसके दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं। आशा है कि उन्हें पढ़कर भारत के सधन गोभक्त ही नहीं किंतु विवेकी विद्वान्-मात्र यथेष्ट लाभ उठावेंगे।

यहाँ पर होल्डस्टिन वंश की जिस गौ का चित्र दिया गया है वह अमेरिका के न्यूयार्क-नगर में पैदा हुई थी। आबाल्यात् उसका परिपालन इतनी उत्तम रीति से किया गया कि जब वह सात वर्ष और साढ़े दस महीनों की अवस्था में पुनः बियानी, तब उसने ३६५ दिनों में, ३६७ मन दूध और १६ मन १३ सेर मक्खन दिया था। इतनी दुधार गौ में उसकी अनुक्रम-संख्या १४१वीं थी।

यहाँ पर जिस साँड का चित्र दिया जाता है, वह जरसी-वंश का है। यह चित्र तब लिया गया था, जब वह ७ वर्ष का था। यह साँड अठारह वर्ष का होकर मृत्यु को प्राप्त हुआ। इसके संयोग से ६६ बछिया उत्पन्न हुईं। उनमें ६६ ने उच्च श्रेणी की गौओं में प्रथम श्रेणियों के पारितोषिक पाए, अन्यान्य बछिया भी गौ होने पर दुधार हुईं। इसकी बेटियों में किसी-किसी ने एक वर्ष में १२ मन दो सेर मक्खन दिया है।



होल्डस्टिन-वंश की एक गाय



जरसी-वंश का एक साँड

तात्पर्य, उचित परिपालन से भारत के गोधन का सुधार और उत्कर्ष किया जा सकता है । भारतोत्कर्ष के प्रेम में पागल बनकर जो लोग कंटकाकीर्ण उपायों का अवलंबन किया करते हैं, उनकी अपेक्षा भारत का कहीं अधिक हित वे लोग कर सकते हैं, जो भारतीय किसानों तथा ग्वालों में गो-परिपालन के उचित ज्ञान का प्रचार कर देशसेवा के ऋण से उऋण होना चाहते हैं । भारत-सेवा का यह मार्ग सबसे निरापद और निश्चित सफलता-दायक है । जो लोग निरापद मार्ग के प्रेमी हैं, उन्हें इस मार्ग का—गोपरिपालन की शिक्षा के प्रचार का—अवलंबन कर भारत माता के ऋण से उऋण होने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए । गोरक्षा को सफल बनानेवाले यही उपाय हैं ।

गंगाप्रसाद अग्निहोत्री

× × ×

२. भारत में तारपीन का धंधा

भारतवर्ष 'स्वर्णपक्षी' था । पर अब इस स्वर्णपक्षी के सोने के पंख अधिकांश नोच लिए गए और बचे-खुचे स्वर्णपंखों को नोच लेने के लिये निरंतर चेष्टाएँ हो रही हैं । परंतु भारतवर्ष के जंगलों में जो धनराशि अंतर्हित है, उसके विकास और एकत्रीकरण के संबंध में अभी पर्याप्त सफलता नहीं मिली है । हिमालय-पर्वत की विभूतियों में से अभी तक कुछ थोड़े ही तत्त्वों का पर्याप्त रूप से व्यापारिक दृष्टि से विकास हुआ है । इनमें 'तारपीन' तथा उससे बननेवाले पदार्थ विशेष रूप से उल्लेख करने योग्य हैं । हिमालय-पर्वत की इस धनराशि तारपीन (Turpentine) का पता प्रायः चालीस-बयालीस वर्ष पहले लगा था । उससे पहले हिमालय-पर्वत की धनराशि अछूती पड़ी थी । पहाड़ों में रहनेवाले निवासी अवश्य ही इधर-उधर कुछ थोड़ी चेष्टाएँ करते थे ।

तारपीन कैसे बनता है और कहाँ से आता है ? इसके संबंध में सबसे पहले बता देना आवश्यक है । हिमालय पर्वत की बाहरी श्रेणियों में जहाँ आबहवा अत्यधिक ठंडी नहीं होती, एक प्रकार के बड़े पेड़ बहुतायत से होते हैं । उन्हें अँगरेज़ी में Pine कहते हैं और हिन्दुस्थानी में चीड़ नाम से प्रसिद्ध है । इन पेड़ों में गोंद-सरीखे पर गोंद से ज़्यादा लसदार और चिपकनेवाला सत्व निकलता है, जिसे अँगरेज़ी में Rosin कहा जाता है । ज़िला अलमोड़ा में उसका नाम 'लीसा' कहा करते हैं । हिमालय की बाहरी पर्वतमालाओं में चीड़ बहुतायत से पैदा होती है । चीड़ के जंगलों की हवा शुष्क और क्षय के रोगी के लिये लाभदायक होती है । चीड़ भी कई प्रकार का होता है और अलग-अलग प्रकार के चीड़ से विभिन्न प्रकार का 'लीसा' निकलता है, जिसमें तारपीन का परिमाण भी कम-बेशी हुआ करता है । रासायनिक

परीक्षकों का कहना है कि सब प्रकार के लीसे में कार्बन और हाइड्रोजन के अणुओं का अस्तित्व होने पर भी उनकी संख्या और व्यवस्था में अंतर होता है। लीसे के इन तत्वों के परीक्षण और सामंजस्य से ही उसकी उपादेयता तथा कम उपादेयता का हिसाब लगाया जा सकता है। लीसे को शोधित करके ही तारपीन (Turpentine) तैयार किया जाता है। इस टर्पेटाइन में भी कई में तारपीन (Terpene) की मात्रा इतनी होती है कि साधारण प्रक्रिया के द्वारा उससे कपूर बना लेना संभव होता है। जिस तारपीन से कपूर बनता है, उसे Pinene कहते हैं। परंतु भारत के तारपीन के संबंध में वैज्ञानिकों की राय है कि उसमें पिनीन पदार्थ नहीं होता। इसलिये उससे कपूर तो नहीं बन सकता; परंतु रंग और बार्निश के कामों के लिये भारतीय तारपीन बड़ा उपयोगी सिद्ध हो गया है।

यह तो हम ऊपर लिख चुके हैं कि जिस लीसे से तारपीन बनाया जाता है, वह चीड़ के पेड़ों से निकाला जाता है। चीड़ के कच्चे पेड़ों में घाव लगाकर यह तत्व निकाला जाता है। पहले पेड़ के तने में ज़मीन से ६ इंच ऊपर रुखानी या बसूले से क़रीब ६ इंच लंबा और चार इंच चौड़ा और एक इंच गहरा ढालुआ घाव बना दिया जाता है। घाव के मूल में लोहे की एक पत्ती लगा दी जाती है, उसके नीचे एक कील गाड़कर उसमें सकोरे के आकार का एक मिट्टी का बर्तन लटका दिया जाता है। घाव से लीसा चुआ करता है और घाव के ढालुआ होने के कारण जड़ में लगी हुई लोहे की पत्ती से होकर नीचे के मिट्टी के बर्तन में जमा हो जाता है।

लीसा निकालने का काम आम तौर से मार्च के मध्य से शुरू होता है। गर्मी के मौसम में इस घाव का हर पाँचवें-छठे दिन ऊपर से पतला छिलका निकालकर ताज़ा करना आवश्यक होता है, क्योंकि सतह पर लीसा जम जाने के कारण छिद्रों की गति अवरुद्ध हो जाने से लीसे का चूना बंद हो जाता है। इस तरह घाव को ताज़ा करते रहने की प्रक्रिया के कारण घाव वर्ष के अंत तक अठारह इंच तक बड़ा हो आता है। इसके बाद दूसरे वर्ष फिर उस घाव के सिलसिले में ऊपर की तरफ़ को नया घाव बनाया जाता है, और लोहे की पत्ती नए घाव में लगाई जाती और उसी के नीचे लीसा जमा होने के लिये मिट्टी का कुल्हड़ लटकाने की कील लगा दी जाती है।

जिन जंगलों में लीसा जमा करने की यह प्रक्रिया जारी होती है, वहाँ बहुत-से आदमी काम पर नियुक्त रक्खे जाते हैं। जब मिट्टी के कुल्हड़ लीसे से भर जाते हैं, तो उनको टीन के ख़ाली कनस्टरों में उडेल लिया जाता है। बर्तन हफ्ते में एक बार से लेकर महीने में एक बार तक ख़ाली किए जाते हैं। बर्तन भर जाने पर ही उन्हें ख़ाली करना पड़ता है। लीसे के बहाव के अनुसार उनके भरने में एक हफ़्ते से एक मास तक अलग-अलग समय लगता है।

एक पेड़ से चार-पाँच वर्ष तक घाव लगाकर लीसा निकाला जाता है। इसके उपरांत उसमें से लीसा निकलना बहुत कम हो जाता है। यह देखा गया है कि पहले वर्ष के घाव से जितने परिमाण में लीसा निकाला गया था, उतने परिमाण में दूसरे वर्ष के घाव से नहीं निकलता। बहुधा यह देखा गया है कि दो-तीन वर्ष तक लीसा निकालने के बाद बहुत-से पेड़ मुरझाकर सूख जाते हैं। पाँच वर्ष तक लीसा निकालने के बाद तो अधिकांश चीड़ के वृक्ष बिलकुल बेकार हो जाते और इस निरंतर रक्तशोषण को न सह सकने के कारण उनमें से अधिकांश सूख जाते हैं। जो बचे भी रहते हैं, उनमें कोई आभा नहीं होती। उनकी हालत उस बूढ़े के समान हो जाती है, जिसके देह में धातु और रक्त के निर्गत हो जाने से कांति भी विलीन हो गई हो और केवल अस्थिपंजर अंतिम घड़ी की प्रतीक्षा कर रहा हो। सरकारी हिसाब से बताया गया था कि एक लाख एकड़ जंगल में यदि केवल चीड़ के ही पेड़ हों, तो उसमें बीस लाख चीड़ के पेड़ ऐसे होंगे, जिनमें से लीसा निकाला जा सकता है। यहाँ यह बता देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि बहुत कोमल उम्र के पेड़ों से लीसा नहीं निकाला जाता है, बल्कि ज़्यादातर उन्हीं पेड़ों को लीसा निकालने के उपयुक्त समझा जाता है, जो पैंतीस-चालीस वर्ष से ऊपर के हैं। सरकारी अनुमान से यह पता लगता है कि इस समय युक्तप्रांत में प्रायः दो हज़ार वर्गमील में लीसा एकत्र करने की कार्यवाही जारी की हुई है। परंतु उसमें बिलकुल चीड़ के जंगलों का क्षेत्रफल चार-पाँच सौ मील होगा।

प्रारंभ में सन् १८९४ ई० में नैनीताल-ज़िले में इस धंधे का प्रयोग करके देखा गया, तो मालूम हुआ कि कुमाऊँ-प्रांत के लीसे से तैयार होनेवाले पदार्थ बहुत जल्दी बहुत पर्याप्त नफ़े के साथ बिक सकते हैं। पहलेपहल एक हज़ार पेड़ों से लीसा निकालने का काम शुरू किया गया था और वहाँ निकलनेवाले कच्चे माल को शोधित करके उससे तारपीन तेल रोज़न (Rosin) आदि पदार्थ तैयार करने के लिये भोवाली में एक कारख़ाना खोला गया था। कारख़ाने का यह स्थान बहुत ही उत्तम था। इस कारख़ाने में शोधन की विधि और प्रक्रिया का प्रत्यक्षरूपेण प्रयोग करके यह अनुभव प्राप्त किया गया कि अमेरिका में लीसे को आग से शोधकर उसे तारपीन आदि पदार्थों में परिणत करने की जो प्रणाली प्रचलित है, वह भारत के उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिये भोवाली में जो अमेरिकन रीति का और पुराने फ़ैशन का कारख़ाना था, उसे उठा दिया गया और बाद को सन् १९२० ई० में बरेली के पास कलक्टरबकगंज में एक बिलकुल नया कारख़ाना खोला गया। इस कारख़ाने में वाष्प की विधि से कच्चे माल को शुद्ध करके उसे अन्य पदार्थों में परिणत करने का बहुत ही आधुनिक साज-सामान और कलें स्थापित की गईं।

यह ऊपर बताया जा चुका है कि लीसा किरोसीन-तेल के ख़ाली टीनों में एकत्र किया जाता है। कुमाऊँ-प्रांत में जिन जंगलों में लीसा जमा करने का काम होता है, उनमें से अधिकांश स्थान गाड़ी-सड़कों से कम-से-कम बारह मील से पचीस मील तक दूर हैं। इस प्रकार लीसा जंगलों से गाड़ी-सड़कों के स्थानों तक पहुँचाने में मज़दूरी में ज़्यादा ख़र्च पड़ता है। गाड़ी-सड़कों के पास लीसे के डिपो बने हुए हैं। वहाँ से लीसे के कनस्टर मोटरलारियों में भरकर रेलवे स्टेशन तक भेजे जाते हैं। रेलवे की राह से वे कलक्टरबकगंज में पहुँचते हैं। टीनों में जम जाने पर किसी लीसे की सूरत जमे हुए स्वच्छ घी के समान हो जाती है, किसी का रूप मिश्री के समान हो जाता है, यद्यपि पेड़ों से वह एक तरल परंतु अत्यधिक लसदार पदार्थ के रूप में चुआ करता है।

कारख़ाने में पहुँचने पर ये टीन वाष्प से गर्म किए हुए एक कमरे में रक्खे जाते हैं। वहाँ टीनों में जमा हुआ लीसा गल जाता है और फिर ये टीन बड़े-बड़े लोहे के अर्धगोल (Hemi Cylindrical) कड़ाहों में उलट दिए जाते हैं। ये कड़ाहस्वरूप बर्तन वाष्प की विधि से गर्म किए जाते हैं। उनमें लीसा ख़ूब अच्छी तरह गल जाता है तथा उसमें जो मैले पदार्थ जैसे पत्तियाँ, लकड़ी आदि होते हैं, वे तो ऊपर उठ जाते हैं और उनको दूसरे बर्तन की सहायता से निकाल फेंका जाता है। लीसे में जो बालू, मिट्टी आदि वज़नी पदार्थ होते हैं, वे इन कड़ाहों के तले में बैठ जाते हैं। इस प्रकार जो तरल पदार्थ बनता है, उसमें कच्चा तारपीन-तेल डालकर उसे और साफ़ कर दिया जाता है। फिर यह किंचित् साफ़ पदार्थ एक दूसरे नल-मार्ग से निकालकर एक टंकी में जमा कर दिया जाता है। इस पदार्थ को अँगरेज़ी में Oleo resin कहते हैं। इन टंकियों से ओलियो-रेजिन पदार्थ मोण्टेजु (Monteju)-नामक बर्तन में डाला जाता है। ये बर्तन वाश-बाटल के ढंग के बने होते हैं। फिर वाष्प खोली जाती है और वहाँ से ओलियो-रेजिन को एक आड़े पाइप से निकालकर प्रारंभिक शोधन के स्थान में पहुँचाया जाता है, जिसे Premary Still कहते हैं। माण्टेजु ख़ाली हो गया या नहीं, यह देखने के लिये पाइप में एक टैप लगा रहता है। स्टिल में सक्रिय वाष्प ६० से १०० पौंड तक के ज़ोर से छोड़ा जाता है। वाष्प के साथ असली तारपीन (Turpentine) ऊपर निकल आता और इस तरह निकला हुआ तारपीन और वाष्प दोनों साधारण ट्यूब कंडेन्सरों में जम जाते हैं। कंडेन्सर की नली में पानी भरा रहता है; क्योंकि यदि पानी न रहे; तो नली में हवा भर जायगी, और तारपीन के नली में जाने पर जब उसका हवा के साथ संयोग होता है, तब उससे तेज़ाब बन जाता है। पानी रहने से ऐसा नहीं होता, पर इन नलियों में तारपीन और पानी का संयोग हो जाता है। इस मिश्रित पदार्थ को अलग-अलग करने के लिये ऐसे साधन लगाए हैं कि उनसे तारपीन अलग कर लिया जाता है एवं जल दूसरी तरफ़ को बह जाता है। पहले शोधन में पदार्थ ताँबे की नलियों से गुजरता है, इसलिये उसके कुछ हिस्से का रंग किंचित् हरा होता है, इसलिये उसे फिर शुद्ध किया जाता है। दूसरी प्रक्रिया में तारपीन-तेल में कोई रंग नहीं रह जाता। तारपीन के बचे-खुचे हरे रंग को मिटाने के लिये उसे फिर एक बार चूने से शोधित किया

जाता है । फिर इस कच्चे तारपीन को पाँच-पाँच सौ गैलन की दो बंद टंकियों में जमा किया जाता है । इसके बाद इसके नमूने को लेकर उसका परीक्षण होता है । और डिस्टिलरी में सावधानी से उसे साफ़ किया जाता और उससे अनेक दर्जे का तारपीन तैयार किया जाता है।

तारपीन अलग करने पर लीसे का रोजिन (Rojen) पदार्थ कच्चे तेल की छलनियों और फिल्टरों में रुई से छानते समय अलग हो जाता है ।

टीनों को पोंछकर तथा फर्स को पोंछकर जो पदार्थ निकलता है एवं लीसा गर्म करने के कड़ाहों में जमा हुआ जो मैला पदार्थ बचा रहता है, उसे पकाकर काला रोग़न बनाया जाता है । उसमें आधा अंश लीसे का रहता है ।

सन् १९२०-२१ में बरेली के कारख़ाने में ७६८९० मन कच्चे लीसे को शोधा गया था । जिसके फलस्वरूप रोजन ९ मन से ऊपर, तारपीन अव्वल ७२२२७ गैलन, तारपीन दोयम १२९६६ गैलन, तारपीन सोयम ७५३६ गैलन (कुल ९२७३४ गैलन तारपीन) निकला । लेकिन इस समय और भी अधिक परिमाण में तारपीन तैयार किया जाता है ।

इसके सिवा लाहौर से नौ मील दूर पूर्व की ओर जल्लो-स्थान में भी एक कारख़ाना है । यहाँ वसवेलिया सराटा के जंगलों से लीसा वग़ैरह निकालकर उसके शोधन आदि के संबंध में बहुत परीक्षण अनुसंधान आदि के काम हो चुके हैं । इतना सब लिखने के बाद सर्वसाधारण की जानकारी के लिये यह बता देना भी आवश्यक है कि लीसा निकालकर एकत्र करने के उद्योग में सरकार का पूर्ण एकाधिकार है । कुमाऊँ-प्रांत में यह देखा गया है कि जिन जंगलों में लीसा निकालना आरंभ होता है, उनको काँटेदार तारों से घेर दिया जाता है । उस जंगल से न तो जनता घास ले सकती है, न वहाँ पशु चरने को जा सकते हैं और न उस जंगल से होते हुए जनता को रास्ता मिल सकता है । और तो और, वहाँ से सूखी पत्तियों का लेना भी जुर्म है । निष्कर्ष यह कि यह सब विभूतियाँ हमारे देश की हैं और हमारे देशवासियों को हानि पहुँचाने के लिये उनका उपयोग होता है और इस प्रकार ग़रीब जनता को हानि पहुँचाकर जो लाभ होता है, उस पर सरकार का एकाधिकार है ।

बरेली के कारख़ाने को सरकार ने सन् १९२४ में एक कंपनी को सौंप दिया । कारख़ाने के दो विभाग थे, जिसमें से तारपीन के विभाग में सरकार को काफ़ी नफ़ा था; परंतु सामिल (लकड़ीचिराई) के विभाग में घाटा था । सुदक्ष व्यापारियों की बनी हुई एक कंपनी ने यह कारबार ख़रीद लिया, जिसमें सरकार का भी हिस्सा है । बाद के तीन वर्षों में सरकार को कारख़ाने के हिस्से से १०००००) रुपया मुनाफ़े के हिस्से के रूप में मिला है ।

इस संबंध में सबसे ताज़े आँकड़ों को देने के लिये कोशिश की गई थी, पर वे प्राप्त न हो सके । प्रकाशित रिपोर्टों में जो कुछ प्राप्त हो सका था, उसी के आधार पर यह लिखा गया है ।

देवीदत्त पांडे

बाल-महिला-मनोरंजन

१. साधु सन्देश

नवयुवक ही जाति के श्रेष्ठ धन हैं । वही उसके भविष्य के निर्माता और उसके उन्नयन-विधाता हैं ।

मनुष्य को विघ्न-बाधाओं से भयभीत होकर सत्य-पथ से विचलित न होना चाहिए, साहसी भ्रमर कंटक-भय से पुष्प-प्रेम नहीं छोड़ बैठता ।

संसार का सर्वोत्तम सवाल यह है—"मैं इसमें क्या नेकी कर सकता हूँ ।"

सुंदरी युवती की अलकें विचारशक्ति के पैरों की बेड़ियाँ हैं, उनसे बचना बुद्धिमानी है ।

दया मनुष्य का दैवी भूषण है ।

कृतघ्नता मनुष्य को उसके जीवनकाल में ही पिशाच बना देती है ।

प्रणय के पुनीत लोक में काम और वासना का स्थान नहीं, ये मानुषिक दुर्बलताएँ हैं ।

जवानी का अर्थ है परिवर्तन और जवान का परिवर्तन-पसंद ।

यदि सुननेवाला न हो, तो विधाता दुःखी के हृदय में रोने की प्रेरणा ही क्यों करे ।

मनुष्य का चरित्र उसकी रक्षा करने में एक अच्छी घुड़सवार सेना से भी बढ़कर है ।

सुगंधित पुष्प की शोभा डाली पर है, न कि माली के हाथों में ।

स्वर्ण की अग्नि से और दृढ़ मनुष्य की विपरीत समय से परीक्षा होती है ।

अभ्यास से ही मनुष्य का स्वभाव बनता है ।

शहीदों का रक्त जाति के बिखरे टुकड़ों को जोड़ देता है ।

निर्बल को बलवान् बनने का अधिकार है, जीने का नहीं ।

अराजकता सहस्रों स्वेच्छाचारी शासकों का गुणन-फल है ।

निर्दोष और निहत्थे प्राणियों को पीड़ित करनेवाली शक्ति का नाम अत्याचार है ।

दबा हुआ मनुष्य सदैव युद्धावस्था में होता है ।

देशभक्त दार को दारा की भाँति प्यार करते हैं ।

मानव-जीवन का प्रधान उद्देश्य मन पर विजय प्राप्त करना है ।

भय से अपरिचित रहकर मनुष्य मृत्यु तक को चुनौती देता है ।

प्रेम-साहित्य में भाव है, भाषा नहीं ।

किसी का दिल न दुखाना ही अहिंसा है ।

कर्मवीर काम करने के लिये शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा नहीं करता ।

साहित्य जातीय जीवन का प्राण है । जिस जाति का जैसा साहित्य होगा, वैसी ही उसकी रुचि बनेगी ।

रामशंकर मिश्र

× × ×

२. मेरा आदर्श

उन्नत गिरिवर के शृंगों से
ऊँचा है मेरा आगार ;
शरद-चाँदनी से उज्ज्वलतर
शोभामय मम शुभ्राकार ।
मेरी द्रुत गति का किंचित् भी
पवन न कर सकता अनुमान ;
मेरी शक्ति देखकर संतत
शक्ति स्वयं होती हैरान ।
मैं हूँ नित्य अनादि अनूपम
सारा जग मेरा ही दास ;
मैंने अपनी शक्ति भुलाकर
किया समस्त विभव का ह्रास ।
विरह-व्यथा पीड़ा सुख-दुख का
मुझसे नहीं अल्प भी काम ;
मैं हूँ नित्य प्रेममय चेतन
निर्विकार है मेरा नाम ।
सोया हूँ प्रगाढ़ निद्रा में
मैं मानस-सरवर के तीर ;
कब होकर उद्दीप्त प्रभाकर
चमकावेगा सारा नीर ।
हे सविता हे तेजराशि हे
जग-जीवन चेतन प्यारे ;
अपनी प्रखर किरणमाला से
खिला शीघ्र कुवलय सारे ।
मंद-मंद मारुत झोंकों से
झूल उठे सारा उपवन ;
जाग उठे तेरे दर्शन से
सोता हुआ हमारा मन ।

सीताराम पांडेय

× × ×

३. राष्ट्र और साहित्य का संबंध

कुछ लोगों का यह विचार है कि साहित्य और राष्ट्र से कोई संबंध नहीं । साहित्य एक दूसरी वस्तु है । परन्तु इस विचार को मैं भ्रमपूर्ण कह सकती हूँ । क्योंकि राष्ट्र और साहित्य का संबंध आत्मा-शरीर-जैसा है । जिस तरह आत्मा का प्रभाव शरीर पर तथा शरीर का प्रभाव आत्मा पर पड़ता है, उसी प्रकार राष्ट्र का प्रभाव साहित्य पर तथा साहित्य का प्रभाव राष्ट्र पर पड़ता है । जिस जाति का जैसा साहित्य होगा, वैसा ही उसका राष्ट्र भी होगा । साहित्य की छाया में ही राष्ट्र की सभ्यता का विकास होता है । जिस जाति का साहित्य उच्च कोटि का है, उसकी गणना संसार के सभ्य जातियों में होती है । आप मिश्र ही को लें; उसकी सभ्यता क्यों प्राचीन सिद्ध हुई ? क्योंकि उसका साहित्य-भंडार अमूल्य रत्नों से भरा पड़ा है । उसकी ज्योति विश्व में जगमगा रही है । बड़े-बड़े विद्वान् उसके परिपूर्ण साहित्य को देखकर ही उसकी प्राचीन सभ्यता के क़ायल हैं । उस परिपूर्ण साहित्य के प्रभाव से ही आज भी मिश्रवाले सभ्य संसार में अपनी गौरव-पताका फहरा रहे हैं । यही दशा थी बौद्धों की । इतिहास देखें, उस समय बौद्धों की विजय-दुंदुभी विश्व में बज रही थी । बौद्ध-भिक्षुओं पर ही नहीं, महाराज अशोक पर भी अहिंसात्मक बौद्ध-साहित्य का ऐसा बुरा प्रभाव पड़ा कि इनके शासन-सूत्र दुबले होने लगे । अंत में उनके हाथ से राज्य-सत्ता की बागडोर छूट गई । वे परतंत्रता की गहरी नींद में सो गए । संसार उन्हें कायर कहने लगा । उनके साहित्य-प्रभाव से ही उनका इतना ह्रास हो गया । आप सोच सकते हैं कि भारत की पवित्र भूमि में इतने बड़े-बड़े विद्वान् क्यों हुए ? कालिदास, माघ, भारवि, हर्ष तथा गौतम, कपिल, व्यास, पतंजलि-जैसे दार्शनिक, सूर, तुलसी, केशव-तुल्य कवि-संसार क्यों नहीं उत्पन्न कर पाता ? इसका कुछ रहस्य है । इन प्रातःस्मरणीय महापुरुषों ने सर्वांग-संपूर्ण संस्कृत-साहित्य पर ऐसा पवित्र प्रकाश डाला था, जिसके उज्ज्वल आलोक से आज भी विश्व आलोकित है । यही कारण है कि आज भी पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े हुए इस राष्ट्र का कोई भी देश मुक़ाबला नहीं कर सकते । हाँ, भले ही वे अपनी अहमन्यता के मद

में कुछ देर तक सभ्यता का दम भर लें, किंतु अंत में हमारी सभ्यता—हमारी संस्कृति के सामने उन्हें सर झुकाना ही पड़ेगा। आप स्वयं सोच सकते हैं कि विश्व के इस बिगड़े हुए वायुमंडल में—पाश्चात्य सभ्यता की सड़ी हुई दुर्गंधपूर्ण वाटिका में—गांधी-जैसे सुगंध-सिक्त सुमन क्यों खिल पड़े। इस गुलामी के गर्त में गिरे रहने पर भी जिसके व्यक्तित्व का लोहा आज भी संसार मानता है। इसका कारण हमारी सभ्यता, हमारा साहित्यिक आलोक है और कुछ नहीं। आप देखें, पश्चिमी साहित्य का कैसा बुरा प्रभाव फ़्रांस, पेरिस आदि देशों पर पड़ा है। चरित्रबल कितना निकृष्ट हो गया है। मानवता उन देशों से कितनी दूर भाग गई है। पशुता का नग्न चित्र देखना हो, तो सामयिक पत्रों को उठाकर देख सकते हैं, इन बुराइयों का कौन-सा प्रबल कारण हो सकता है? मेरी समझ से इनके साहित्य के घृणित प्रभाव के सिवा और कुछ नहीं। इनके साहित्य का ऐसा बुरा प्रभाव इन राष्ट्रों पर पड़ा, जो यहाँ का आधुनिक जन-समुदाय घोर अंधकारपूर्ण पथ की ओर जाने लगा है। भविष्य अत्यंत भयंकर होगा। यह सर्वमान्य तथा निश्चित है। भारतीय वायुमंडल में भिन्न-भिन्न साहित्योंका राष्ट्र पर कैसा भीषण प्रभाव पड़ा है। जिस समय वेदांत-सूत्र की सृष्टि वेदव्यास ने की थी, उस समय भारत में कर्म-त्याग की लहर ज़ोरों से बह उठी। उस दार्शनिक साहित्य का ऐसा प्रभाव पड़ा कि अनेकों राजे-महाराजे राज्य को पैरों से ठुकरा, ब्रह्मवाद की विशेषता पर मुग्ध हो, जंगलों में धूना रमाने लगे। संसार के प्रति उनके घृणात्मक भाव भभक उठे। संपूर्ण राष्ट्र में एक बार खलबली मच गई। उस प्रभाव को दूर करने के लिये महर्षि जैमिनि ने कर्मकांड की रचना की। इस याज्ञिक साहित्य ने उस मायावाद की महानता का वहीं अंत कर दिया। संपूर्ण राष्ट्र ब्रह्मवाद के अकर्मण्य पंजे से छुटकारा पा गया। उस समय वेदांत के प्रगल्भ-प्रभाव ने जनसमाज को निर्जीव बना रक्खा था। सारा राष्ट्र विश्रृंखल और बेचैन था। उसके विषैले प्रभाव को दूर करने का श्रेय मीमांसकों को ही मिल सकता था। इसी तरह महाराष्ट्र-केसरी शिवाजी की विपुल वीरता को प्रज्वलित करने का श्रेय महाकवि भूषण की उन उत्तेजक कविताओं को मिल सकता है। भूषणभणित शब्दों के प्रभाव में आकर शिवाजी ने जो कार्य किया, उसका इतिहास ही साक्षी है। भूषण-हृदय-निर्गत कविता-साहित्य के प्रभाव में पड़कर मुट्ठी-भर मरहठों ने मुग़लों की संगठित शक्ति को छिन्न-भिन्न कर डाला। भूषण के उस साहित्य-स्रोत ने जन-समाज में एक क्रांति पैदा कर दी। सारा राष्ट्र उस वाणी के प्रभाव से जग उठा। अस्तु! सन्निकट भूत में भी आप पूर्णतया विचार करें, तो पता चलेगा कि जिस राष्ट्र में क्रांति हुई, वहाँ संपूर्ण श्रेय वहाँ के साहित्य को ही है। उस देश के निवासी लेखकों एवं साहित्य-सेवियों की पूजा किया करते हैं। रूसी लेखकों की आज जैसी रूस में इज़्ज़त हो रही है, क्या उसका कोई अन्य कारण है? नहीं, एकमात्र साहित्य-सेवा का प्रतिफल है। हाँ, साहित्य-सेवियों की लेखनी में यह विद्युत् वर्तमान है कि जब चाहें जहाँ उथल-पुथल मचा दें। एक नहीं अनेकों उदाहरण विद्यमान हैं। राष्ट्र पर साहित्य का इतना ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ता है, जिसकी तुलना नहीं हो सकती। यदि यह कहें कि "देश की स्वतंत्रता के साधनों में उस देश का साहित्य भी अपना स्थान रखता है; उच्च साहित्य के तथा निर्भिक साहित्य-सेवियों के बिना किसी भी देश की आज़ादी आज तक उपलब्ध नहीं हुई, और न हो सकती है" तो कोई भी अत्युक्ति न होगी।

अगर अच्छे साहित्य के अनुशीलन में मनुष्य का समय व्यतीत हुआ, तो उसका प्रभाव उसके दैनिक आचरण पर उत्तम पड़ेगा। और यदि निकृष्ट साहित्य की ओर झुका, तो उसका प्रभाव मनुष्य पर बुरा होगा। अतः यह बात सैद्धांतिक रूप से सिद्ध है कि साहित्य का राष्ट्र पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। जिस देश का जैसा साहित्य होगा, वहाँ की जनता ठीक उसी तरह की होगी। उस देश के निवासियों की मनोवृत्ति भी उसी तरह की होगी। उस देश की सभ्यता भी उसी साँचे में ढलेगी। आज पाश्चात्य सभ्यता क्यों नहीं भारतीय सभ्यता का मुक़ाबला करती? भारतीय सभ्यता के आगे संसार इसीलिये सर झुकाता है कि हमारे रगों में संस्कृत-साहित्य का अपूर्व प्रभाव विद्यमान है। संस्कृत-साहित्य सर्वांगपूर्ण, विशुद्ध एवं बुद्धि-उन्नायक है। हमारी राष्ट्र-भाषा हिंदी इसी अपूर्व अनुपम साहित्य की पुत्री है।

हिंदुओं की धमनियों में इसी संस्कृत-साहित्य का प्रभाव आज भी दौड़ रहा है। जब तक यह संसार रहेगा, तब तक इस संस्कृति की छाप भारतीयों के हृदय-पटल पर अंकित रहेगी। विदेशियों के संपर्क से बहुतों की सभ्यता मिट गई, परंतु हमारी सभ्यता को मिटाने का बहुतों ने पूर्ण प्रयास किया, लेकिन आज तक असफल रहे, भविष्य में भी रहेंगे। हमारे साहित्य का हम पर ऐसा प्रभाव है, जो मिटाने से नहीं मिट सकता। जो भी हमें मिटाने आए, हमारी सभ्यता-संस्कृति में स्वयं रँग गए। इसका इतिहास प्रमाण है। यही कारण है कि इस दशा में भी भारत अपनी सभ्यता, अपने साहित्य के प्रभाव द्वारा संसार पर विजय-पताका फहरा रहा है। भले ही शासन-सूत्र हाथों में न हो, संस्कृत-साहित्य संसार में दूसरा सानी नहीं रखता।

विमला देवी 'रमा'

× × ×

४. भीष्म के जन्म की कथा

राजा शांतनु को आखेट का बहुत शौक़ था। इस कारण उन्होंने गंगा के तट पर एक रमणीय स्थान बनाया। वे प्रायः वहीं जाकर रहते थे और वन की शुद्ध वायु का सेवन करते थे। एक दिन जब वे पशुओं की खोज में वन में घूम रहे थे, तब उन्होंने गंगा के तट पर एक अत्यंत रूपवती स्त्री को देखा। उसके अलौकिक रूप की छटा से वे मोहित हो गए और उसके निकट जाकर इस प्रकार से कहने लगे—राजा ने पूछा कि हे सुंदरि! देव, दानव, मनुष्य और गंधर्व—इनमें से किस कुल वा जाति में आपने जन्म लिया है? तुम्हारे अद्भुत सौंदर्य से मैं ऐसा मोहित हो गया हूँ कि यदि तुम मुझसे विवाह न करोगी, तो शोक और चिंता के कारण मेरी दशा बिगड़ जायगी और यदि तुम मेरा प्रस्ताव स्वीकार करोगी, तो मैं तुमको अपनी प्रधान महिषी बनाकर अपने जीवन को आनंदमय बनाऊँगा।

उस भुवनमोहिनी महिला ने राजा के मधुर वचनों को सुनकर इस प्रकार उत्तर दिया—"यदि आपका मुझ पर ऐसा प्रगाढ़ प्रेम है, तो मैं आपको निराश नहीं करना चाहती; परंतु आपको एक प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी। वह यह है कि मैं स्वेच्छानुसार कार्य करूँगी; आपको मुझे मना करने का कोई अधिकार न होगा और आप मेरा तिरस्कार भी न करेंगे। यदि आप अपने प्रण का उल्लंघन करेंगे, तो मैं शीघ्र आपको छोड़कर चली जाऊँगी।"

राजा शांतनु इतने प्रेमासक्त हो गए कि उनको औचित्य और अनौचित्य का कुछ ज्ञान ही न रहा और उन्होंने उस रमणी के प्रस्ताव को अंगीकार कर लिया। वह उस रूपवती रमणी-रत्न को अपनी राजधानी में ले आए और उससे विवाह कर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे। कुछ समय उपरांत रानी के पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने उस तत्काल जन्मे हुए बालक को गंगा में फेंक दिया जिससे उसका जीवन नाश हुआ। राजा को यह बहुत बुरा लगा, परंतु वह तो वचनबद्ध थे, कुछ भी न कह सके और उनको रानी का यह अनुचित कार्य सहन करना पड़ा।

इसी प्रकार रानी ने सात पुत्रों को भागीरथी के जल में बहा दिया। राजा को क्रोध तो बहुत हुआ, परंतु इस भय से कि यदि वे कुछ निषेध करेंगे, तो रानी उनको त्याग कर चली जायगी, वे कुछ भी न कह सके और रानी की धृष्टता को चुपचाप सहन करते रहे। जब आठवाँ पुत्र उत्पन्न हुआ और रानी उसको भी गंगा में डालने को चली, तो फिर राजा अपने तीव्र क्रोध के आवेग को नहीं रोक सके और इस प्रकार बोले कि हे पुत्रघातिनी! मैं अब तुम्हारी निष्ठुरता को सहन नहीं कर सकता। इस बालक का मैं तुमको नाश नहीं करने दूँगा। इस पर उस रमणी ने कहा कि हे पुत्र की इच्छा करनेवाले नरेश! मैं तुमको सब बात बतलाती हूँ कि ये जो सात पुत्र मैंने नाश किए हैं, ये सात वसु थे। इनको महर्षि वशिष्ठ ने किसी अपराध के कारण यह शाप दिया था कि तुम मर्त्यलोक में जाकर जन्म ग्रहण करो। उन्होंने मुझको माता बनने की प्रार्थना की थी, जिसको मैंने अंगीकार किया। उन्होंने यह भी प्रार्थना की थी कि मैं उनको जन्म लेते ही नाश कर दूँ, ताकि उनको मर्त्यलोक के दुःख न सहन करने पड़ें और उनका मुनि के शाप से उद्धार हो जाय। इस कारण मैंने मानवी रूप धारण किया; मैं महर्षि जह्नु की कन्या गंगा हूँ! मैं आपसे प्रसन्न हूँ, आप वृथा शोक न करें। यह आठवाँ पुत्र द्यु-नामक वसु है। इसी के अपराध से महर्षि

...दया था । यह जीवन-भर आपके वंश को ...करेगा । मैं इसका लालन-पालन स्वयं ही ... आप निश्चिंत रहें ।

...कहकर गंगादेवी अंतर्द्धान हो गई । राजा ...और पुत्र के वियोग से बड़ा दुःख हुआ, परंतु ...में लग गए और शनैः-शनैः उनका शोक ...गया ।

...मय उपरांत एक दिन महाराज शांतनु आखेट ...र एक हरिणी पर तीर चलाया । वह हरिणी ...होकर भागी । राजा भी उसके पीछे दौड़े ...तट पर पहुँचे । वहाँ देखा कि एक वीर ...ी वर्षा कर रहा है । उसकी बाणवर्षा से ...ाह अवरुद्ध हो गया । शांतनु को उस ...पर बड़ा आश्चर्य हुआ । यह वास्तव ...देवव्रत ही था, जिसको उनकी रानी गंगा ...ह बालक दौड़ता हुआ माता के निकट ...वृत्तांत कहा । गंगादेवी उसको लेकर ...ब उपस्थित हुई और इस प्रकार कहने ...ाज ! यह आपका पुत्र देवव्रत है। इसका ...पालन किया है । वशिष्ठ, बृहस्पति, ...ार्य आदि श्रेष्ठ गुरुओं ने इसको वेद-वेदांग ...द्या सिखाई है। आप इस सर्वगुणसंपन्न ...कीजिए । राजा शांतनु उस वीर तेजस्वी ...सहर्ष अपनी राजधानी को लौट आए । ...को युवराज-पदवी पर अभिषिक्त किया, ...प्रसन्न हुई ।

ब्रह्मदत्त मिश्र

× ×

५. 'भारत की नारी"

...पर सबला हैं दुर्गा-सी,
...ा-सी सती, शकुंतला-सी व्रतधारी हैं;
...विधु-बदनी बनी हैं और,
...दानवों को दावानल-चिनगारी हैं।
...ल हैं 'कोकनद' से अधिक,
...से अधिक मृदु बैन सुखकारी हैं;
..., पतिप्रेम की पुजारी, सब
...न से न्यारी, देश भारत की नारी हैं।

बैजनाथसिंह 'सारथी'

× ×

६. धर्मपत्नी

The treasures of the deep are not so precious
As are the conceal'd comforts of a man
Locked up in woman's love.—Middleton.

अर्थात्

प्रमदा-प्रेम-पयोधि महँ निवसत नर-सुख साज;
समता कस तिहि पावहीं जलनिधि-निधि नर-राज।

जिस धैर्य के साथ दुर्भाग्य-जनित तीव्रतम यातनाओं को अबलागण सहन कर सकती हैं, उसे देख पुरुषमात्र को चकित हो जाना पड़ता है । जो-जो विपत्तियाँ अपने प्रादुर्भाव से एक पुरुष के हृदय के सारे जोश को ठंढा कर देती हैं, उसकी शक्तियों का ह्रास कर देती हैं, उसे धूल में लोटा देती हैं, वे ही विपत्तियाँ अबलाओं के हृदय में नवीन उत्साह का संचार करती हैं, उनकी सारी शक्तियों को पुनर्जीवित करती हैं, और कभी-कभी तो विलक्षण चातुर्य और गाम्भीर्य प्रदान कर उनके चरित्र को अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण बना डालती हैं ।

जो मृदङ्गी सुकुमारी अबला अपने ऐश्वर्य-काल में निरी अबला और परतंत्रता से कालक्षेप करती थी, और अति सूक्ष्मतम असुविधा को भी सहन करने में हिचकती थी, वही अबला भाग्य के विपरीत होने पर अपनी मानसिक शक्तियों का सहसा संचय कर सबला बन दुर्दिन में अपने पति-देव को सांत्वना तथा सहारा देती है, और अविचल दृढ़ता के साथ दुर्भाग्य के प्रचंड झंझावात को सहन करने लगती है। इस दृश्य से बढ़कर अन्य कौन-सा दृश्य भला विशेष हृदयविदारक हो सकता है !

यहाँ पर एक छोटी-सी उपमा के सहारे महिलाओं का चरित्र-चित्रण किया जाता है । "ओक" वृक्ष पर अंगूर-लता अपने सुकुमार पल्लवों के साथ चिरकाल तक लिपटी रहती है, और उसी के सहारे यह भी उच्च स्थान या रवि-रश्मि का उपभोग करती है, पर सहसा वज्रपात होने पर जब यह वृक्ष गिर जाता है, तो उस समय भी यह लता अपनी स्नेहमयी टहनियों के साथ उस वृक्ष को आलिंगित किए रहती है । और उसकी भग्न शाखाओं को एकत्र रखने में सहायता देती है । जगन्नियंता ने सुमुखी कामिनियों को भी वे ही सद्गुण प्रदान किए हैं । जो ललना सुख के दिनों में केवल अपने हृदयेश

ने शाप दिया था । यह जीवन-भर आपके वंश को अलंकृत करेगा । मैं इसका लालन-पालन स्वयं ही करूँगी । आप निश्चिंत रहें ।

यह कहकर गंगादेवी अंतर्द्धान हो गई । राजा को पत्नी और पुत्र के वियोग से बड़ा दुःख हुआ, परंतु राज्यकार्य में लग गए और शनैः-शनैः उनका शोक कम हो गया ।

कुछ समय उपरांत एक दिन महाराज शांतनु आखेट को गए और एक हरिणी पर तीर चलाया । वह हरिणी तीर से विद्ध होकर भागी । राजा भी उसके पीछे दौड़े और गंगा के तट पर पहुँचे । वहाँ देखा कि एक वीर बालक बाणों की वर्षा कर रहा है । उसकी बाणवर्षा से भागीरथी का प्रवाह अवरुद्ध हो गया । शांतनु को उस बालक की वीरता पर बड़ा आश्चर्य हुआ । यह वास्तव में उनका लड़का देवव्रत ही था, जिसको उनकी रानी गंगा ने पाला था । वह बालक दौड़ता हुआ माता के निकट गया और सब वृत्तांत कहा । गंगादेवी उसको लेकर राजा के सम्मुख उपस्थित हुई और इस प्रकार कहने लगी—हे महाराज ! यह आपका पुत्र देवव्रत है। इसका मैंने बड़े यत्न से पालन किया है । वशिष्ठ, बृहस्पति, परशुराम, शुक्राचार्य आदि श्रेष्ठ गुरुओं ने इसको वेद-वेदांग तथा शस्त्रास्त्र-विद्या सिखाई है । आप इस सर्वगुणसंपन्न पुत्र को ग्रहण कीजिए । राजा शांतनु उस वीर तेजस्वी पुत्र को लेकर सहर्ष अपनी राजधानी को लौट आए । उस योग्य पुत्र को युवराज-पदवी पर अभिषिक्त किया, जिससे प्रजा भी प्रसन्न हुई ।

ब्रह्मदत्त मिश्र

× × ×

५. 'भारत की नारी"

अबला कहातीं पर सबला हैं दुर्गा-सी,
सीता-सी सती, शकुंतला-सी व्रतधारी हैं ;
दीन-दुखियों को विधु-बदनी बनी हैं और,
दुष्ट दानवों को दावानल-चिनगारी हैं ।
'सारथी' सुकोमल हैं 'कोकनद' से अधिक,
पिक से अधिक मृदु बैन सुखकारी हैं ;
अति सुकुमारी, पतिप्रेम की पुजारी, सब
देशन से न्यारी, देश भारत की नारी हैं ।

बैजनाथसिंह 'सारथी'

× × ×

६. धर्मपत्नी

The treasures of the deep are not so precious
As are the conceal'd comforts of a man
Locked up in woman's love.—Middleton.

अर्थात्

प्रमदा-प्रेम-पयोधि महँ निवसत नर-सुख साज ;
समता कस तिहि पावहीं जलनिधि-निधि नर-राज ।

जिस धैर्य के साथ दुर्भाग्य-जनित तीव्रतम यातनाओं को अबलागण सहन कर सकती हैं, उसे देख पुरुषमात्र को चकित हो जाना पड़ता है । जो-जो विपत्तियाँ अपने प्रादुर्भाव से एक पुरुष के हृदय के सारे जोश को ठंढा कर देती हैं, उसकी शक्तियों का ह्रास कर देती हैं, उसे धूल में लोटा देती हैं, वे ही विपत्तियाँ अबलाओं के हृदय में नवीन उत्साह का संचार करती हैं, उनकी सारी शक्तियों को पुनर्जीवित करती हैं, और कभी-कभी तो विलक्षण चातुर्य और गाम्भीर्य प्रदान कर उनके चरित्र को अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण बना डालती हैं ।

जो मृदङ्गी सुकुमारी अबला अपने ऐश्वर्य-काल में निरी अबला और परतंत्रता से कालक्षेप करती थी, और अति सूक्ष्मतम असुविधा को भी सहन करने में हिचकती थी, वही अबला भाग्य के विपरीत होने पर अपनी मानसिक शक्तियों का सहसा संचय कर सबला बन दुर्दिन में अपने पति-देव को सांत्वना तथा सहारा देती है, और अविचल दृढ़ता के साथ दुर्भाग्य के प्रचंड झंझावात को सहन करने लगती है । इस दृश्य से बढ़कर अन्य कौन-सा दृश्य भला विशेष हृदयविदारक हो सकता है !

यहाँ पर एक छोटी-सी उपमा के सहारे महिलाओं का चरित्र-चित्रण किया जाता है । "ओक" वृक्ष पर अंगूर-लता अपने सुकुमार पल्लवों के साथ चिरकाल तक लिपटी रहती है, और उसी के सहारे यह भी उच्च स्थान या रवि-रश्मि का उपभोग करती है, पर सहसा वज्रपात होने पर जब यह वृक्ष गिर जाता है, तो उस समय भी यह लता अपनी स्नेहमयी टहनियों के साथ उस वृक्ष को आलिंगित किए रहती है । और उसकी भग्न शाखाओं को एकत्र रखने में सहायता देती है । जगन्नियंता ने सुमुखी कामिनियों को भी वे ही सद्गुण प्रदान किए हैं । जो ललना सुख के दिनों में केवल अपने हृदयेश

के अधीनस्थ तथा अलंकारस्वरूप रहने ही में सुखी रहती थी, वही अबला सहसा विपद्ग्रस्त होने पर अपने प्राणवल्लभ का आधार तथा शांति-निर्झर बन जाती है, उनकी प्रकृति के रुक्ष भागों में अंगूर-लता की नाईं लिपट जाती है, उनके अधोमुखी मस्तक को बड़े लाड़ से सहारा देती है और उनके विदीर्ण हृदय को उच्छृंखल होने से बचाती है।

प्रगाढ़ प्रेम-पाश में जकड़े हुए प्रफुल्लचित्त परिवार के मध्य में जिस पुरुष को समय व्यतीत करने का सौभाग्य प्राप्त होता है, उसका भाग्य अवश्य ही प्रशंसनीय है। सांसारिक सुख के हेतु प्राणवल्लभा पत्नी तथा स्नेहपूर्ण संतति से बढ़कर अन्य कोई भी पदार्थ विशेष वांछनीय नहीं है। क्योंकि पुरुष जब ऐश्वर्यशाली है, तो ये उसकी सौभाग्यश्री के हिस्सेदार हैं, अन्यथा ये शांति-प्रदायक हैं। यह यथार्थ में देखा गया है कि विपत्तिकाल आने पर अपनी परिस्थिति का सुधार करने में अविवाहित पुरुष की अपेक्षा विवाहित पुरुष ही विशेष बद्धपरिकर तथा तत्पर होता है। इसके दो कारण हैं—एक तो यह है कि अपने पालन-पोषण के निमित्त जो-जो उसके ऊपर आश्रित रहते हैं, उन निःसहाय तथा स्नेहपात्रों की आवश्यकताएँ उसे उद्यम करने के लिये बाध्य करती हैं। पर मुख्य कारण यह है कि पारिवारिक प्यार-दुलार के कारण उसकी आत्मा को सदा शांति तथा सांत्वना मिला करती है और उसकी आत्मप्रतिष्ठा यह देख सजीव बनी रहती है कि यद्यपि बाह्य जगत् मेरे लिये अंधकारमय, शून्य तथा अपमानपूर्ण है, तथापि घर पर मेरे लिये एक छोटा-सा प्रेममय संसार है, जिसका सम्राट् केवल मैं ही हूँ। यह तो हुई विवाहित पुरुष की बात; अब एक अविवाहित पुरुष की दशा देखिए—विपत्तिकाल में यह अपने को एकाकी, निर्जन तथा लोक-परित्यक्त समझता है, जन-शून्य होने के कारण जिस प्रकार उजाड़ महल भग्नावस्था को प्राप्त होने लगता है, उसी प्रकार इसका हृदय भी विदीर्ण होने लगता है, अंत में परिणाम यह होता है कि ऐसा मनुष्य आत्म-विनाश तथा आत्मावज्ञा करने पर उतारू हो जाता है।*

पारसनाथ

× × ×

७. कली से

नन्हीं कलिके ! लुटा न देना, अपना सोने का संसार ;
इन मधुकर-मतवालों की सुन, स्वार्थमयी मीठी गुंजार।
यह लोलुप हैं,'स्वार्थ-सिद्धि' ही, है इनका सारा 'व्यापार';
इसी हेतु प्रेमी बनकर, यह—बतलाते हैं 'प्यार' अपार।
प्यारी कलिके ! अभी आई हो, पाना है जगती से प्यार;
और, फूलकर कर देना है, तुमको सौरभमय संसार।
चढ़ना है देवों के सिर पर, बनना है 'प्रिय' को 'उपहार';
और किसी के 'प्रियतम' के हित, तुमको बनना है 'गलहार'।
इतना कर उपकार जगत् का, छवि दिखलाकर, मोहित कर;
चुपके से, अनंत में कलिके ! मिल जाना तुम रज बनकर।

कालीप्रसाद भटनागर 'विरही'

---

* Washington Irving के The wife-नामक लेख के एक अंश का छायानुवाद।



१. संस्कृत-भाषा और हिंदी के छंद

भूमंडल-भर में ख्याति पाए हुए कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत-भाषा के महाकवियों ने वर्णन करने योग्य साहित्य-संबंधी विषयों में कुछ बाक़ी नहीं छोड़ा। संपूर्ण संस्कृत-साहित्य की कथा तो जाने दीजिए, इसके एक-एक कवि की वर्णन-विषय में व्यापकता सब साहित्य-महारथी मान चुके हैं। 'बाणोच्छिष्टमिदं जगत्' इत्यादि किंवदंती इसी की सूचना देती हैं। यह भी नहीं कि संस्कृत-साहित्य की परीक्षा में समालोचकों ने कुछ बाक़ी रक्खा हो। आए दिन संस्कृत-साहित्य की सुवर्ण-सूक्तियाँ समालोचना की कसौटी पर कसी जाती हैं।

इतना होने पर भी व्रजभाषा के कवियों ने वर्णन-विषय में अपनी नवीनता और सफलता रसिक-समाज के सामने अच्छी तरह सिद्ध कर दी है। रजवाड़ों में व्रजभाषा के बहुत-से महाकवि हो गए हैं, जिनकी केवल व्रजभाषा में ही नहीं और-और भाषाओं में भी अच्छी ख्याति हो चुकी है। भूषण, मतिराम, पद्माकर, बिहारी, मंडन आदि की कविता की कौन प्रशंसा नहीं करेगा? वर्णनीय विषय तो क्या लय के साथ मीठे स्वर से उच्चारण किए हुए इनके छंद ही इतने आकर्षक होते हैं कि जिनको सुनते ही सहृदय प्रसन्न हो जाते हैं। इनके एक-एक छंद पर राजा लोग गाँव आदि संपत्तियाँ दे डालते थे। एक ही छंद को जितनी बार पढ़ा, उतनी ही लाख मुद्राएँ छत्रपति शिवाजी से भूषण ने पाईं, यह पुरानी प्रसिद्धि है। अधिक समर्थन की आवश्यकता नहीं। कवित्त, सवैया, छप्पय आदि छंदों की यह बंदिश लोगों में बहुत चित्ताकर्षक सिद्ध हुई, यह मानना ही पड़ेगा। इस रचनाशैली का भाषा पर वह रंग जमा कि जो आज तक फीका नहीं पड़ा। वर्तमान हिंदी-साहित्य के कर्णधारों ने व्रजभाषा के सिंहासन पर खड़ीबोली का अमल जमा दिया है, परंतु छंदों का राज्य ज्यों-का-त्यों अटल बना हुआ है। नवीन भाषा के साथ वही प्राचीन कवित्त, रोला, छप्पय आदि छंद अमंद गति से चल रहे हैं। समय ने भाषा का प्रवाह बदल दिया, पर छंदों

के आकर्षण प्रभाव को वह भी न रोक सका। छंदों का प्रभाव है भी ऐसा ही। दोहा-चौपाई छंदों में रामचरित-मानस लिख जाने पर भी कविमुकुटमणि गोस्वामी तुलसीदासजी का मानस 'कवित्त-रामायण', 'बरवै-रामायण' की रचना के लिये झुक ही पड़ा।

इस तरह हिंदी-छंदों की यह रचना-शैली सर्वप्रिय सिद्ध होने पर भी संस्कृत के कवियों तक क्यों नहीं पहुँची, इस पर लोगों के कई तरह के विचार होने लगे हैं। चौपाई प्रभृति छोटे छंद, 'चर्पटपंजरिक' आदि में चाहे मिलते हों, पर संस्कृत-भाषा में साधारण रीति से इन छंदों का प्रचार था, यह नहीं कहा जा सकता।

इसके कारण की तलाश में साहित्य-महारथियों की अनेक अटकलें हैं। कई कहते हैं कि जिस भाषा में अक्षरों का लघु-गुरु कर देना, अपभ्रंश सिद्धांत के अनुसार शब्दों के अनेक तरह के रूपांतर, यह जब नहीं हो सकते, तो उस भाषा में इन छंदों का निर्वाह भी सफलता के साथ नहीं हो सकता। एक-दो छंद चाहे कोई भले ही बना ले, पर पूर्ण पुस्तक के रूप में इनकी रचना नहीं चल सकती। यही कारण है कि संस्कृत में इन्हें स्थान न मिल सका। परंतु जब संस्कृत के महाकवियों को आप रचना में सिद्धहस्त, सर्वतंत्रस्वतंत्र मान चुकते हैं, फिर उनके विषय में यह अनुमान कोई सम्मान-योग्य सिद्ध नहीं होता।

जब आप यह मान लेते हैं कि संस्कृत में इन छंदों की रुकावट कठिनता के कारण नहीं हुई है, तब लोगों का दूसरा अनुमान प्रबल हो उठता है। वह यह कि लोकभाषा के प्रति संस्कृत-पंडितों की तुच्छताबुद्धि रहती थी। इसी कारण उन्होंने व्रजभाषा के इन छंदों पर ध्यान ही नहीं दिया। व्रजभाषा ने तो संस्कृत से उपजाति, भुजंगप्रयात, तोटक आदि छंद ही क्या उसका सब साहित्य ही नक़ल कर लिया।

व्रजभाषा के प्रति संस्कृत-पंडितों की लापरवाही की बात पहले से लोगों में उड़ ही रही थी, अब इस दूसरे कारण के मानने में लोगों को विलंब न लगा। कुछ दिन हुए, हिंदी के प्रसिद्ध लेखक पंडित पद्मसिंहजी ने भी संस्कृत के पंडितों के विषय में ऐसे ही ढंग की बातें लिखी थीं। मेरा यह अभिप्राय नहीं कि संस्कृत-पंडितों ने इन छंदों पर ध्यान नहीं दिया, यह ठीक ही हुआ। साहित्य-विषयों के परस्पर आदान-प्रदान से हर एक भाषा में ही साहित्य के अंगों की पुष्टि होती है, यह कौन नहीं मानेगा।

जिस समय संस्कृत की रचना का युग था, उस समय हिंदी के इन छंदों की सृष्टि ही नहीं हुई थी, किंवा ये इतने लोकप्रिय ही नहीं हुए थे, यह भी उत्तर माननीय न होगा। और कवियों को तो जाने दीजिए, मुग़लसम्राट् शाहजहाँ के दरबार में लब्धसम्मान पंडितराजजगन्नाथ के समय में भी क्या इन छंदों की सृष्टि नहीं हुई थी? अथवा ये लोकप्रिय न हो पाए थे? जो कुछ हो, छंदों के परस्पर आदान-प्रदान का यह मार्ग दोनों भाषाओं के साहित्य-मार्मिकों को ज़रूर खोलना चाहिए, यह अंततः स्वीकार करना ही पड़ेगा

सत्य तो यह है कि किसी-किसी वर्णनीय विषय में और छंदों की अपेक्षा कवित्त, सवैया आदि छंदों को ही अधिक सफलता प्राप्त हुई है। रजवाड़ों में कविता सुनाने के लिये जब कवियों का जमघट होता है और उसमें ऋतुओं के वर्णन पर जब कवित्त पढ़े जाते हैं, उस समय का आनंद सचमुच एक अलौकिक होता है। कवीश्वरजी किसी एक कवित्त को आरंभ करके, कवित्त के चरणों के अनुसार लयबद्ध मीठे स्वर को उत्तरोत्तर बढ़ाते हुए जैसे ही उस कवित्त के चौथे चरण को समाप्त करते हैं कि कवित्त में वर्णन की हुई संपूर्ण विभावसामग्री सजीव हो उठती है। जिस ऋतु का वर्णन करते हैं उसका प्रत्यक्ष दृश्य सामने दिखाई देने लगता है। श्रोताओं के हृदय में अभूतपूर्व भावोदय हो जाता है। एक साथ सबके मुख से 'वाह-वाह' की ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है। जैसे कि 'पद्माकर'जी का मामूली एक कवित्त है—

> कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में,
> क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है;
> कहैं 'पदमाकर' परागन में पौन हू में,
> पातन में पिक में पलासन पगंत है।
> द्वार में दिसान में दुनीं में देस-देसन में,
> देखो दीप-दीपन दिपत दिगंत है;
> बीथिन में ब्रज में नबेलिन में बेलिन में,
> बनन में बागन में बगरयो बसंत है।

इन पंक्तियों के लेखक के पूर्वज, जयपुर-राज्य के प्राचीन कवीश्वरजी का एक कवित्त है—

कुंजगृह मंगल, रसाल-मंजरी को मित्र,
　　बन को सुहाग, बन-बेलिन को कंत है ;
कोकिला को मौनहर, भौंरन को केलिकर,
　　मंजु मलय मारुत को संत बिलसंत है।
मानिनी-नमायक, मनोज को सहायक,
　　सँजोगी सुखदायक, बियोगी जन अंत है ;
चाँदनी को सोधक, बिरोधक मुनीन मन,
　　रोधक बिदेस, फूल्यो बागन बसंत है।

और भाषा के छंदों का प्रभाव इतना नहीं पड़ सकता। कौन-सा ऐसा जीवित हृदय होगा, जो महाकवि कालिदास-कृत रघुवंश के वसंत-वर्णन की प्रशंसा न करे। परंतु जब तक सर्ग की समाप्ति नहीं होती, तब तक वसंत की सब सामग्री का आनंद नहीं आता। एक-दो पद्यों से वह आनंद प्राप्य नहीं। वह छंद ही छोटा है, यह कौन नहीं जानता।

इसी तरह वीर-वर्णन के विषय में अमृतध्वनि, छप्पय आदि, युद्ध-वर्णन के लिये भुजंगी, तोमर आदि औरों की अपेक्षा अधिक ओज-संवर्द्धक सिद्ध होते हैं। अन्योक्ति के रूप में नीतिशिक्षा के लिये कुंडलिया छन्द अधिक सुन्दर प्रतीत होता है। इसी लिये गिरिधर-दास और दीनदयाल की कुंडलियाओं को हिंदी-साहित्य में स्थायी स्थान मिला है। विरह-वर्णन में 'बरवै' हृदयग्राही होता है। महाकवि बिहारी के दोहे तो नावक के तीर की तरह निशाने पर पहुँचते हैं, यह कौन नहीं जानता। यद्यपि कविता के लिये छंद ऊपरी सामग्री है। वास्तव में तो किसी भी रूप में शक्तिशाली कवि के द्वारा किया हुआ उचित शब्दों का संगठन ही सहृदयों के लिये हृदयग्राही है ; परंतु छंद भी वह वस्तु है, जिससे वही अर्थ और भी प्रभावोत्पादक हो उठता है। महाकवि क्षेमेंद्र कहते हैं—

　　प्रबन्धः सुतरां भाति यथास्थानं निवेशितैः।
　　निर्दोषैर्गुणसंपृक्तैः सुवृत्तैर्मौक्तिकैरिव *॥

* जैसे अपने योग्य स्थान पर लगाए गए, ऐबों से रहित डोरे में पोए हुए सुंदर गोल मोतियों से गूँथने की शोभा होती है, वैसे ही मौके के अनुसार प्रयोग किए गए काव्य-दोषों से रहित, गुणों से युक्त ऐसे सुंदर छंदों से निबंध की बहुत ही शोभा होती है।

अब यह देखना चाहिए कि यह हिंदी-छंदों की सामग्री संस्कृत-भाषा में पहुँचकर रसिकों के लिये आनंदजनक हो सकती है या नहीं। कितने ही मनुष्यों में स्वाभाविक सुंदरता ऐसी होती है कि वे चाहे कैसा ही वेष धारण कर लें, उनकी शोभा कम नहीं होती ; उलटा वह वेष भी उनके लिये शोभाजनक हो जाता है। 'किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्।' उर्दूदाँ इसी को जामाज़ेबी कहते हैं। भाषा को कसौटी पर परखने-वाले परीक्षक लोग देखें कि संस्कृत-भाषा में यह गुण सिद्ध होता है अथवा नहीं, जो किसी भी छंद की बंदिश में इसकी सुंदरता कम नहीं होने पाती। हर-एक भाषा में आप यह गुण नहीं पाएँगे। इस नए युग में सकल सभ्यों की प्राणभूत, सब तरह की सुविधाओं से संवर्द्धित, इस अँगरेज़ी-भाषा को ही ले लीजिए। समर्थ कवि भी यदि इसमें शिखरिणी आदि छंदों की रचना करे, तो वे क्या इतने मधुर हो सकेंगे, जिससे उन छंदों के उद्देश्य की सिद्धि हो।

एक बात और भी है। संस्कृत-भाषा के प्रचार को विस्तार देनेवाले समालोचक लोग कहते हैं कि संस्कृत-भाषा का साहित्य-संबंधी महत्त्व तथा उसकी स्वाभाविक उच्चता स्वीकार की जा सकती है, परंतु समय के अनुसार मनोरंजकता की इसमें अधिक आवश्यकता है। अत्यंत कठिन इसके व्याकरण के दरवाज़े को उलाँघने पर भी जब तक काव्य-नाटकों के समझने की शक्ति नहीं हो जाती, तब तक नए-नए गए हुए जिज्ञासु का अच्छी तरह मनोयोग नहीं हो पाता। इसलिये धर्म-भाषा के रूप से, साहित्य-भाषा के रूप से, किंवा उप-भाषा (सेकिंड लैंग्वेज़) के रूप से भी यदि पंडितगण संस्कृत का प्रचार भूमि में करना चाहते हैं, तो धीरे-धीरे इसमें मनोरंजक साहित्य की सृष्टि करनी होगी।

संस्कृत के रसज्ञ बहुत काल से संस्कृत में साधारण रूप से लिए हुए अनुष्टुप्, उपजाति आदि छंदों का आनंद तो लेते ही रहते हैं, यदि संस्कृत में कवित्त आदि छंदों का भी आनंद मिलने लगे, तो कुछ वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।

इन सब कारणों को ध्यान में रखते हुए इन पंक्तियों के लेखक ने 'कविता-निकुंज' नाम की पुस्तक संस्कृत में लिखी है। आरंभ से अंतपर्यंत इसमें दोहा, चौपाई,

कवित्त, सवैया आदि हिंदी-छंद ही लिए गए हैं। यह रचना शीघ्र ही पाठकों के सम्मुख आनेवाली है। इसमें आप देखेंगे कि छंदों के सिवा विषय में भी बहुत कुछ नवीनता लाने का प्रयत्न किया गया है। ऋतु-वर्णन की नवीन सामग्री, हिंदी की तरह संस्कृत में भी बारह-मासी प्रभृति नवीन प्रकार, एक पद्य में अनेक भाषाएँ, नवों रसों के कवित्त, ग़ज़ल, ठुमरी प्रभृति गीतियाँ, संस्कृत में बिहारी के दोहे, वर्तमान सामाजिक दशा पर पंडितों के विचार, देश की वर्तमान दशा, नवीन युग का वैज्ञानिक चमत्कार, नई-नई वस्तुओं का प्रचार आदि सभी उपयोगी विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

संस्कृत में इन छंदों के निर्वाह की कठिनता को ध्यान में रखते हुए पाठकगण देखें कि यह उद्योग सफल हो सका है कि नहीं। हिंदी-भावार्थ-सहित उसका कुछ नमूना नीचे दिया जाता है—

वसंत

घनाक्षरी

कोरकिताः किंशुका विकासमुपयातं किल
कर्णिकार-कुरबक-काननं प्रकाशते
स्रुतसहकाररससीकरसुरभिसुखाः
सुमितसमीरभराः सुभगमुपासते।
मञ्जुनाथ मानय मनोभूमहिमानमिमं
मारशरमुग्धतया मुनय उदासते
वापी-तट-वाटिका-विहङ्गम-विटपि-वीथी-
वारिज-वनेषु वै वसन्तविभा भासते* ॥ १ ॥

देवघनाक्षरी

वनविटपेषु भूरि शोभते कुसुमघटा
रोचते सरोजखण्डसुषमा सरसि-सरसि
भाति सहकारे कलकोकिलकुहूनां रवो
मधुकरयूनां स्वनः सरसां पयसि-पयसि।
मञ्जुनाथ रसिकमनःसु मदलक्ष्मीर्भाति
दशामुपयाति कामचर्चाऽसौ रहसि-रहसि
मन्ये मधुमासेऽसौ मनोभूर्मदजन्मोन्माद-
मङ्क्ते विशङ्कं निजमुद्रया मनसि-मनसि* ॥ २ ॥

शीतान्योक्तिः

बरवै

मल्लीं दलयसि सौरभगुणविपरीत।
नन्दयसे बत कुन्दान्प्रियसख शीत ! ॥ ३ ॥ †

मल्लिकावृक्ष और वानर (अन्योक्ति)

कुंडलिया

वानर ! या नरमण्डलीमण्डनमवनौ भाति।
सा खरनखैस्तावकैर्मल्ली क्षयमुपयाति ॥
मल्लीक्षयमुपयाति याऽतिरम्या रमणीनाम्।
कुचकलशे द्युतिमेति हन्त नवहारमणीनाम् ॥
सौरभमस्याः सौकुमार्यमविदन् रभसाऽऽकर !
पाटितवानसि निर्दयं नु किमु हे हतवानर ! ॥ ४ ॥ ‡

---

* पलाश-वृक्षों में कलियाँ आ रही हैं। कर्णिकार और कुरबक-वृक्षों का जंगल खिला हुआ है, उसके कारण अद्भुत शोभा हो रही है। आम के फूलों से जो मकरंद झर रहा है, उसके कारण सुगंधित और शीतल होने से सुखकारक ऐसे अंदाज़ के वायु के झकोरे, रसिकों की (सुभगं यथा स्यात्तथा) सुंदरता से सेवा कर रहे हैं। यह कामदेव की महिमा मान लीजिए, जो कामशर से मुग्ध होने के कारण मुनि भी तपस्या में तटस्थ से दिखाई देते हैं। बावड़ियों में, पुष्पवाटिकाओं में, कोकिल आदि पक्षियों में, वृक्ष, वनवीथी तथा कमलवनों में वसंत की शोभा स्पष्ट दिखलाई दे रही है ॥ १ ॥

* वृक्षशाखाओं में पुष्पभार की शोभा है। प्रत्येक सरोवर में कमलखंड की शोभा है। आम्र पर कोकिलों के कुहू-ध्वनि की बहार है। सरोवरों के जल में स्थान-स्थान पर भौंरे गूँज रहे हैं। (सरोवर में कमलों का खिलना इससे ध्वनित होता है) रसिकों के मन में स्वाभाविक मस्ती आ रही है। प्रत्येक रहस्य-स्थान में काम-कथा ही दिखाई देती है। इसलिये मालूम होता है कि इस मनोहर चैत्र-मास में यह कामदेव प्रत्येक मन पर अपनी मुहर से मदोद्भव उन्माद को अंकित कर देता है ॥ २ ॥

† प्रियबंधु शीत ! तुम सुगंधगुण से विपरीत हो क्या ? जो तुम सुगंधित बेले के वृक्षों को विदलित कर देते हो (शीत ऋतु में बेला म्लान रहता है)। इसके विरुद्ध निर्गंध जो कुंद के पुष्प हैं, उन्हें खिलाते हो ! धन्य हो !! (गुणियों का अनादर करके निर्गुणों को वृद्धि देते हो, यह किसी पर ध्वनित होता है।) ॥ ३ ॥

‡ हे वानर ! जो मल्लिका (बेला), भूमि पर मनुष्य-समाज के लिये भूषण है, वह तुम्हारे इन पैने नखों से नष्ट हुई जा रही है। वह मल्लिका नष्ट हो रही है, जो रमणियों के शृंगार में अति रमणीय प्रतीत होती है, जिस मल्लिका की कलियाँ उनके कुच-कलश पर नवीन मोती के हार की-सी शोभा देती हैं। इसकी सुकुमारता और सुगंध को नहीं विचारते हुए, अविचारितकारी हे वानर ! इसे निर्दयता से क्यों तोड़ डाला ? ॥ ४ ॥

मालती (अन्योक्तिः)

सवैया दुर्मिल

मुकुलान्यपि वीक्ष्य महाभरितो
भजते परितो न तदञ्चसि किम् ?
मदगुञ्जितमावहते मधुरं
चतुरं रचयत्यपि चञ्चसि किम् ?
स हि संप्रति ते वशगो व्यथते
तमिमं सरलं बत वञ्चसि किम् ?
मधुपे समुपेयुषि दीनदशा-
मयि मालति ! मानमुदञ्चसि किम् ? ॥ ५ ॥*

भट्ट मथुरानाथ शास्त्री

× × ×

२. धर्म और विज्ञान

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मो वेद नेतरः ।

Science and religion are not opposed, they are not enemies, they are not noutral lat they are allies.

—Dr. T. A. Flewing. F. R. S.

Religion is the crowning stone of science.

—Professor W. B. Boltomley.

धर्म और विज्ञान का परस्पर क्या संबंध है, यह एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है । इसी प्रश्न की अनभिज्ञता ने योरप के मध्य-कालीन इतिहास को एकदम खूनी इतिहास का स्वरूप दे दिया है । योरप के धार्मिक इतिहास के देखने से पता चलता है कि वहाँ विज्ञान और धर्म की इस जद्दो-जहद ने बड़ा भयंकर रूप धारण कर लिया था । एक समय वह था जब कि योरप में धर्म का ज़ोर था, धर्माध्यक्ष पोपों का राजाओं के ऊपर भी प्रभाव था, उनके विरोध में कुछ भी कहना पाप था । पोपों के द्वारा किए गए इस ज़माने के अत्याचारों का वर्णन पढ़कर सहृदय पुरुषों की रूह काँप उठती है । उन दिनों बाइबिल के विरुद्ध एक शब्द का निकलना और पोप की तलवार से मानव-जीवन की इहलीला की समाप्ति एक ही बात थी । 'हाईपेशिया'-नामक एक स्त्री का हाल इस विषय की बहुत प्रसिद्ध घटना है । वह स्त्री ईसाई-धर्म के संबंध में कुछ समालोचना कर रही थी कि पादरी 'शरल' के शिष्य उसे पकड़कर और घसीटते हुए सिकन्दरिया के गिरजे में ले गए । वहाँ उसे नंगा करके विविध प्रकार की यातनाएँ दी गईं और अंत को जीवित हाईपेशिया के शरीर से सीपियों द्वारा मांस खुरच डाला गया और उसे ज़िंदा जला दिया गया । इस प्रकार की अमानुषीय हत्याएँ और अग्निकांड उस समय की अत्यंत साधारण घटनाएँ थीं । सन् १३३७, १४४५, १४९८ और १६०० के अग्निकांड, जिनमें लाखों निरपराध प्राणी जला दिए गए, इस अत्याचारी युग की अत्यंत प्रसिद्ध घटनाएँ हैं । हैकल ने एक जगह लिखा है कि—

It has been calculated that there were more than 10,000,000 victims of fanatical religious hatred during this 'golden age' of Papal domination.

'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण' योरप के धार्मिक इतिहास ने पलटा खाया । अब धर्म के स्थान पर विज्ञान का आधिपत्य था । धर्म का वह विशाल भवन, जिसकी नींव विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ कमज़ोर होती चली जा रही थी, अंत को सन् १९००में 'अर्नेस्ट हैकल' की प्रसिद्ध पुस्तक Riddle of the universe के प्रकाशित होने के साथ ही ज़मींदोज़ हो गया और १९०१ के जनवरी-मास में फ्रांस-देश के प्रसिद्ध विद्वान् बर्थोले (Bertholet) ने अपने एक व्याख्यान द्वारा स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर दी कि—

The day of relegion has passed and religion must now be replaced by science.

अर्थात् धर्म के दिन चले गए और अब उसके स्थान पर विज्ञान का आधिपत्य होगा ।

सचमुच अब धर्म का ज़माना ख़त्म हो चुका था । उस ज़माने में, जब कि धर्म का ज़ोर था, उसने विज्ञान को बुरी तरह पटीला था । अब की विज्ञान की बारी थी । उसने निश्चय कर लिया था कि अब की धर्म की जड़

* हे मालती ! जो भौंरा तुम्हारी कलियों को भी देखकर प्रेम के कारण तुम्हारे चारों तरफ़ घूमता है, क्या इस बात को नहीं जानतीं ? ('अञ्चसि' 'जानासि' 'गत्यर्थाः सर्वे ज्ञानार्थाः') यह मद से मधुर गुंजित कर रहा है, अतएव निपुणता करनेवाले से भी क्यों हटती हो । वह भ्रमर इस समय तुम्हारे वश में पड़ जाने से व्यथित हो रहा है, उस सीधे-साधे को क्यों ठगती हो ? इसलिये हे मालती ! दीनता को प्राप्त हुए इस भ्रमर पर काहे को मान दिखला रही हो ॥ ५ ॥

खोदकर उसमें मट्ठा दे देंगे। इसलिये धर्म-प्रेमियों के लिये सचमुच यह बड़ा महत्त्वपूर्ण अवसर था। अंत को यह सोचकर कि—

These misleading and harmful impressions need to be dispelled.

लंदन के Boowninghall ने सन् १९१४ में Science week की आयोजना की। इस विज्ञान-सप्ताह मनाने का उद्देश्य यह था कि संसार के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के 'धर्म और विज्ञान' का संबंध--इस विषय पर व्याख्यान कराए जावें।

इस Science week की रिपोर्ट पढ़ने के बाद हम ठीक उसी परिणाम पर पहुँचते हैं, जिसकी आज से वर्षों पहले Sir Francis Bacon ने अपने 'Alheism'-शीर्षक निबंध में इन शब्दों में निर्दिष्ट किया है—

A little philosophy (or science) inclineth man's mind to Atheism, but depth in philosophy (or science) bringeth men's minds about to religion.

बेकन के इन शब्दों में एक सचाई है, जिसकी पुष्टि संसार का इतिहास बड़े सुंदर शब्दों में कर रहा है। मनुष्य के जीवन में और विशेष कर वैज्ञानिक मनुष्यों के जीवन में एक बड़ा भयंकर समय आता है। यह समय अधिकतर उनकी युवावस्था होती है, जब कि वह कट्टर नास्तिकता के प्रवाह में बह जाते हैं। परंतु अंधकार के बाद प्रकाश है, रात के बाद दिन आता है। इन नास्तिक वैज्ञानिकों के हृदयों में, प्रौढ़ावस्था में पहुँचकर, एक बार फिर धर्म और ईश्वर के प्रकाश की एक उज्ज्वल ज्योति चमक उठती है। इस कथन की पुष्टि में योरप के इतिहास से ही R. Virchow, E. deo Bois-Reymond और Immauuel Kant-जैसे प्रसिद्ध वैज्ञानिकों और दार्शनिकों के नाम पेश किए जा सकते हैं। Radolph Virchow, जिन्हें Celluar pathology का आविष्कारक कहा जाता है, अपनी युवावस्था में कट्टर नास्तिक थे। १८४९ में प्रकाशित अपने 'The tendencies towards unity in scientific medicine'-शीर्षक लेख में अपने Pure monistic विचारों को प्रकट किया है, परंतु यही Virchow जब सन् १८७७ में Munich की Scientific Congress की स्टेज से 'The liberty of science in modern state'. विषय पर बोलने खड़ा होता है, तो हमें उसके बिलकुल विरुद्ध विचार दिखाई देते हैं। सन् ७७ का Virchow ४९ के वर्षों से बिलकुल भिन्न मालूम होता है। एक कट्टर नास्तिक है, तो दूसरा पक्का आस्तिक है। इसी प्रकार के परिवर्तन कांट और रैमोंड के जीवन में हुए हैं। फलतः इन परिवर्तनों को देखने के बाद हम Bacon की उपर्युक्त पंक्तियों का समर्थन बड़े ज़ोरदार शब्दों में कर सकते हैं और इन दोनों को मिलाकर यह परिणाम निकाल सकते हैं कि वास्तव में धर्म और विज्ञान में कोई विरोध नहीं। हाँ, मानवीय ज्ञान की अपरिपक्वावस्था में धर्म और विज्ञान से ३६ के ३ और ६ का संबंध दिखाई देता है, परंतु वास्तव में वह दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

Science week के सब व्याख्याता एक स्वर से इसी परिणाम पर पहुँचे हैं। प्रो० वाटमले ने अपने व्याख्यान में विज्ञान की सीमा का बड़ा सुंदर निरूपण किया है। उन्होंने कहा है, किसी वस्तु को देखकर मनुष्य के हृदय में स्वाभाविक रीति से दो प्रश्न उठते हैं—एक How और दूसरा Why अर्थात् यह वस्तु कैसे बनी और क्यों बनी ? इन्हीं दोनों प्रश्नों के उत्तर में धर्म और विज्ञान की सीमा समाप्त हो जाती है। उन्होंने कहा है—

Science deals with the *How* not with the *Why* of things.

अर्थात् विज्ञान सिर्फ़ How का उत्तर दे सकता है। वह सिर्फ़ यह बतला सकता है कि यह पदार्थ कैसे बना, परंतु Why का उत्तर देना विज्ञान की सीमा के बाहर है। विषय के स्पष्टीकरण के लिये हम प्रोफ़ेसर साहब के निजी शब्दों को भी उद्धृत कर देना चाहते हैं—

Let me illustrate. The law of gravity is a brief discription of *How* every particle of matter in the univsrse is attracted in the motion with reference to every other particle. It does not tell us *Why* the earth describes a certain course round the sun.

बस यही साइंस और धर्म का भेद है, इस How के साथ ही विज्ञान का साम्राज्य समाप्त हो जाता है और इसके आगे Why का—धर्म का—साम्राज्य प्रारंभ होता है। इसी को हम दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि विज्ञान का

कार्य संसार की घटनाओं का निरीक्षण करके उनके संबंध में कार्य करनेवाले गुप्त नियमों का पता लगाना है, और वह नियम कहाँ से और क्यों आया, इस रूप में विज्ञान के आविष्कृत नियम का उसके नियंता के साथ संबंध जोड़ना धर्म का कार्य है। उदाहरण के लिये न्यूटन के आविष्कृत 'भू-आकर्षण' के सिद्धांत को ले लिया जाय। आकर्षणशक्ति का सिद्धांत पृथ्वी में अनंत काल से कार्य कर रहा है और अनंत काल तक कार्य करता चला जायगा। न्यूटन को उसका पता लगता या न लगता, इससे आकर्षणशक्ति की सत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परंतु हाँ, विज्ञान ने अपना कार्य किया और संसार की वस्तुओं में काम करनेवाले इस सत्य और सनातन सिद्धांत को ढूँढ़कर उसने संसार के सामने रख दिया, बस विज्ञान का कार्य समाप्त हो गया। सत्यसिद्धांत को ढूँढ़ निकालना उसका कार्य था। How का उत्तर देना उसका आदर्श था। अब विज्ञान की इस सीमा से ऊपर पहुँचकर धर्म का साम्राज्य दिखाई देता है। इस नियम का विधाता कौन है—यह नियम क्यों कार्य कर रहा है—इसका उत्तर धर्म दे रहा है और वह है ईश्वर। इसीलिये Persted ने कहा है—The laws of nature are the thoughts of god.

विना नियंता के नियम नहीं रह सकते और विना नियम के नियंता कैसा? विना विज्ञान के धर्म नहीं ठहर सकता और विना धर्म के विज्ञान अधूरा है। इसीलिये 'Science and relegion are not opposed ......, but they are allies.'

और इसीलिये Religion को Science का Crowning stone कहा गया है।

धर्म और विज्ञान का यही उज्ज्वल और पवित्र संबंध भारतवर्ष ने हज़ारों वर्ष पूर्व स्थापित किया था। मगर उसके लिये आवश्यकता है ढूँढ़नेवाले की—'न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्।

बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को उपदेश दिया है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयी।

श्रद्धेय श्रीनारायण स्वामीजी ने इस पंक्ति की लगभग इसी प्रकार की सुंदर व्याख्या की है। दर्शन और श्रवण पदार्थज्ञान की अत्यंत प्रारंभिक अवस्थाएँ हैं। इसी को विज्ञान कहते हैं। इसके बाद मनन का नंबर आता है और यह मनन साधारणतः दर्शन या फिलासफी के अंतर्गत है। उपनिषद् इससे एक सीढ़ी और चढ़ाकर निदिध्यासन तक पहुँची है। इसी निदिध्यासन का अर्थ धर्म है। आधुनिक विद्वानों के अनुसार अगर इन तीनों शब्दों की व्याख्या की जाय, तो उसका आशय भी लगभग यही होगा। इन तीनों शब्दों की परिभाषा विद्वानों ने इस प्रकार की है—

(1) Science is systematised knowledge.
(2) Realized science is the philosophy.
(3) Realized philosophy is religion.

अर्थात् यही विज्ञान अपनी अंतिम अवस्था पर पहुँचकर धर्म के आगे सर झुकाता है अर्थात् जहाँ विज्ञान और दर्शन की सीमा समाप्त हो जाती है, वहाँ धर्म का प्रारंभ होता है और वह धर्म इस विज्ञान का विरोधी या नाशक नहीं है, बल्कि वह है—

Crowning stone of science.

विश्वेश्वर

× × ×

३. आविष्कारक

(२)

द्ध के क्षेत्र में—शांति के काल में विज्ञान दुधारू गाय के समान अपने स्वामी की मदद किया करता है। हर एक क्षेत्र में शक्ति के व्यय को घटाकर वह बचत करता है। नई-नई चीज़ों का अनुसंधान कर नए-नए कारख़ाने खोल देता है। देश में दूर-दूर से संपत्ति आने लगती है। अमेरिका इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। जर्मनी का ५० वर्षों का विकास और गत २५ वर्षों के जापान का उत्थान विज्ञान की ही कृपा से हुआ है।

उसी तरह युद्ध के काम में विज्ञान से बढ़कर कोई सच्चा मित्र नहीं हो सकता। जिस देश के व्यक्ति वैज्ञानिक प्रणालियों से परिचित हैं, उन्हीं की विजय निश्चित है। संसार का कोई भी राष्ट्र विना विज्ञान के जीवित नहीं रह सकता। शत्रुओं को नष्ट करने के लिये पनडुब्बियों का आविष्कार हुआ। पानी की सतह के

भीतर मछली की तरह घूमनेवाली यह छोटी-सी पन-डुब्बी बड़े-से-बड़े मस्त जहाज़ में छेद कर देती है। एक बार पीड़ो छोड़कर जहाज़ का घमंड हवा करती है। उसी तरह वायु के समुद्र में उड़नेवाली मशीन धीरे से शत्रु के सिर पर पहुँचकर अग्निवर्षा कर उनका सत्या-नाश कर सकती है। जर्मनी द्वारा तैयार जेपलिन ने लंदन को घबड़ा दिया था। मशीनगनों और तोपों के गोलों ने थोड़े समय में भूमि को घायल और मरे हुए लोगों से पाट दिया था।

विज्ञानशालाओं में तैयार की गई विषैली गैस की एक शीशी बंबई-सरीखे नगरों को नष्ट करने के लिये पर्याप्त है। विज्ञान ने नष्ट करने के बड़े सुगम उपाय ढूँढ़ निकाले हैं, जिनकी सहायता से आप अपने शत्रुओं का नाश कर सकते हैं। राष्ट्र की रक्षा के लिये विज्ञान एक बड़ा मज़बूत क़िला है।

मनोरंजन के क्षेत्र में—मनुष्य दिन-भर परिश्रम किया करता है। परिश्रम के बाद उसके मन के मनो-रंजन की सामग्री की बड़ी आवश्यकता है, अन्यथा जीवन सूखा और भारस्वरूप मालूम होने लगता है। मनोरंजन से हमारी किसी एक ही मार्ग में चलनेवाली धारा कुछ समय के लिये विचलित हो जाती है और हम मनोरंजन की सामग्री के सामने अपने को नई ही दुनिया में पाते हैं। घर-गृहस्थी का दुख समाज की पीड़ा और कभी-कभी शारीरिक दुख भी क्षणमात्र के लिये भूल जाते हैं।

पूर्वकाल के इतिहास को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उस समय बड़े-बड़े आदमी मनोरंजन के लिये द्रव्य ख़र्च कर अपने घर में मसखरों को रखते थे। अकबर के दरबार में बीरबल थे। परंतु हर एक व्यक्ति इस तरह से अपने विनोद और हास्य की सामग्री प्राप्त नहीं कर सकता था।

विज्ञान की कृपा से अब सभी थोड़ा-सा द्रव्य देकर हँस सकते हैं और अपने स्वास्थ्य को सुधार सकते हैं। सिनेमागृह में बैठकर बड़े-बड़े प्रतिभाशाली हँसोड़ों के कार्यों को देखकर हँसते-हँसते पेट फटने लगता है। सिनेमा के द्वारा संसार भर का हाल देखकर हृदय को बड़ी प्रसन्नता होती है। नाटक, उपन्यास और कहानियों को पर्दे के ऊपर देखकर संसार का विस्तृत ज्ञान आसानी से प्राप्त होने लगता है।

यही सिनेमा म्यूब्रिज, पाल, बाकर, इस्टरमेन, एडीसन आदि के वर्षों के परिश्रम के बाद प्राप्त हुआ था।

इसी तरह संगीत को सभी पसंद करते हैं। उसके सुनने में एक ऐसा आनंद आता है, जिसे वर्णन करना शब्दों का काम नहीं। आज विज्ञान की सहायता से आप संसार के अद्वितीय संगीताचार्यों के गानों को अपने कमरे में बैठे-बैठे सुनिए। ग्रामोफ़ोन आपकी मदद करने को तैयार है।

घर-गृहस्थी के क्षेत्र में—विज्ञान के द्वारा घर-गृहस्थी के क्षेत्र में भी बड़ी सहायता मिल रही है। विज्ञान की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति हो रही है। ऐसा कोई महीना नहीं जाता, जब कि सैकड़ों नवीन आविष्कारों का पेटेंट सरकार स्वीकार न करती हो।

विद्युत् के द्वारा ही पाश्चात्य देशों में अगणित कार्य हो जाते हैं। आप किसी सज्जन के दरवाज़े पर पहुँचिए। यदि ये सज्जन ऊँचे मकान पर रहते हैं, तब भी आपको ऊपर चढ़ने का कष्ट नहीं उठाना होगा। विद्युत् के लिफ़्ट पर खड़े हो जाइए और एक बटन दबा दीजिए। यह लिफ़्ट आपको थोड़े समय में ऊँचे-से-ऊँचे मंज़िल पर पहुँचा देगा। अब आपको अपने मित्र को बुलाने की ज़रूरत पड़ेगी। क्या दरवाज़े पर चिल्लाने से काम चल जायगा? हो सकता है, आप इतने ज़ोर से न चिल्ला सकें कि मकान के भीतर आवाज़ पहुँच सके। इसके अतिरिक्त यदि हवा विपरीत दिशा में चल रही होगी, तब तो घंटों चिल्लाने पर भी कोई आपकी आवाज़ का उत्तर न देगा। कभी-कभी आप हैरान होकर अपने मित्र को दोष देकर चले जाते हैं कि देखो घर में बैठे हैं, पर बोलते नहीं। परंतु आविष्कारक की कृपा से विद्युत् की घंटी आपकी इन सब कठिनाइयों को दूर कर देगी। बटन दबाइए, मकान के अंदर टनटनाहट की आवाज़ पैदा होगी और झट मकान-मालिक समझ जावेगा कि कोई आया है। उसी समय विद्युत् की कृपा से आपका एक चित्र मकान-मालिक के सामने उपस्थित हो जावेगा। यदि उसकी इच्छा है कि वह आपसे मुला-क़ात करे, तो वह अपने कमरे में बैठे-बैठे बटन दबा देगा। द्वार खुल जायगा, आप आनंद से भीतर प्रवेश

कीजिए। आपके सामने आनेवाले सब दरवाज़े खुलते चले जायँगे और आपके आगे बढ़ते ही बंद होते चले जायँगे। इस तरह से आप इच्छित कमरे में पहुँच जायँगे।

आप दूर के हारे-थके आए होंगे। पसीना निकल रहा होगा। अतएव एक बटन के दबाते ही पंखा अपने अतुलित वेग से चक्कर मारकर पसीने को सुखा देगा और ठंढी हवा आपके हृदय को प्रसन्न कर देगी।

थोड़ी देर में एक दूसरे बटन के दबाते ही विद्युत् का चूल्हा काम करने लगेगा। लीजिएगा चाह-बिस्कुट उड़ाएगा।

इसी तरह विद्युत् की मदद से वहाँ बर्तन माँजे जाते हैं। मकान साफ़ कराए जाते हैं। भोजन पकाया जाता है, स्नान किया जाता है और बीमारी की हालत में विद्युत् के द्वारा रोग भी अच्छे कर लिए जाते हैं।

उक्त कुछ थोड़े-से उदाहरणों से पाठक समझ सकते हैं कि एक आविष्कारक या अनुसंधानक के सामने कितना विस्तृत क्षेत्र पड़ा हुआ है। यदि कोई व्यक्ति अपने मन के अनुसार किसी एक क्षेत्र को चुन ले और अपनी शक्तियों को एकाग्रता के साथ नवीन रहस्यों को खोजने में लगावे, तो वह ज़रूर ही आविष्कारक के नाम से अपना इतिहास स्वर्णाक्षरों में लिखकर छोड़ जावेगा।

कौन आविष्कारक हो सकता है ?

जिस तरह हर एक व्यक्ति हर एक कार्य को योग्यता के साथ नहीं कर सकता, उसी तरह हर एक व्यक्ति अविष्कारक या अनुसंधानक नहीं हो सकता है। विज्ञान के रहस्यों का पता लगाने के लिये उसके मंदिर में प्रवेश करना पड़ता है, परंतु देवी हर एक व्यक्ति को अपना भेद नहीं बतला देती। इसकी बात को प्रत्येक व्यक्ति समझ नहीं सकता। केवल वे ही जान सकते हैं, जो इस कार्य के लिये तैयार हैं। सबसे प्रथम गुण सत्य है। सत्य के प्रेमी ही विज्ञान-मंदिर में प्रवेश कर पाते हैं। प्रकृति की घटनाओं को उन्हें एक मूक बालक के समान बैठकर देखते रहना पड़ता है। तीव्र अवलोकन-शक्ति के द्वारा बारीक-से-बारीक बात को नोट करना पड़ता है। एक बाल के लाखवें हिस्से तक का वज़न लेना पड़ता है। वायु के मधुर झोंके का दबाव जानना पड़ता है। लाखों मील दूर तारों की नाड़ियों की गति को ठीक-ठीक जानना पड़ता है। सत्य से ही काम नहीं चलता। साथ में विचार और घटनाओं को समझने की शक्ति भी होनी चाहिए। किसी परीक्षा का परिणाम इच्छित ही क्यों निकलेगा ? उसके कारणों को गणित-शास्त्र के प्रश्नों की तरह हल करने की शक्ति होनी चाहिए। परीक्षाओं के रदल-बदल के द्वारा नए-नए परिणाम निकालने की योग्यता चाहिए।

सबसे कठिन काम तो वर्षों एक ही विषय में लगा रहना पड़ता है। सन् १८२७ में रायल-सोसाइटी (Royal Astronomical Society) के देसू (Dessau)-नामक व्यक्ति को एक सोने का तमग़ा इसलिये दिया गया था कि उसने सूर्य में प्रकट होनेवाले काले धब्बों की गति का हाल ढूँढ़कर बतलाया था। यह वैज्ञानिक ग़ज़ब का कार्य-कर्ता था। "२० वर्ष तक तो वह अपने को संतुष्ट करने में ही लगा रहा। इसके बाद ६ वर्ष और उसने स्वयं को संतुष्ट करने में लगाए और फिर १३ वर्ष मनुष्य-समाज को विश्वास दिलाने में ख़र्च किए। ३० वर्ष तक ऐसा कोई दिवस नहीं गया, जब कि सूर्यदेव को, गगन-मंडल में प्रस्थान करने के पहले, देसू के दूरबीन का सामना न करना पड़ा हो और यह घटना वर्ष में लगभग ३०० दिन होती थी। यदि हम मान लें कि सूर्य को वह दिन में केवल एक ही बार देखता था, तो भी ९००० बार दर्शन किए और इतने समय में उसने ४७०० झुंडों का पता लगाया।"*

एक बार के प्रयत्न से शायद ही कोई सफल हुआ हो। इस पुस्तक में आपको अनेकों उदाहरण मिलेंगे, जहाँ पर आपको आविष्कारकों की दृढ़ इच्छाशक्ति का पता चलेगा। वे आविष्कार के दीवाने हो जाते थे। दिन और रात उनके लिये समान थे। लोगों की हँसी-मज़ाक का उन्हें कोई ख़याल न रहता था। अपने आराम और सुख को वे तिलांजलि दे देते थे। धन और शक्ति के व्यय करने में आगा-पीछा नहीं करते थे। यहाँ तक कि अपने उद्देश्य की सफलता के लिये जीवन दे देना उनका बाएँ हाथ का खेल था। तब कहीं वे कुछ आविष्कार कर पाते थे।

अंध-विश्वासों और बुढ़िया-पुराण की बातों से दिमाग़ स्वतंत्र रहना चाहिए। यदि आपके हृदय में कोई विचार समा चुका है, जिसके लिये आपके पास कोई प्रमाण नहीं,

* President Royal Society, London.

तब आपको विज्ञान के क्षेत्र में सफलता नहीं मिल सकती। सबसे प्रथम कार्य आपके दिमाग़ की आज़ादी है। परीक्षाएँ करते समय सैकड़ों ऐसी बातें होती हैं, जिनका होना परीक्षा के पूर्व संभव नहीं दीखता था।

हाँ, पूर्वजों या सयानों की किसी बात का तिरस्कार करने से हमारा अभिप्राय नहीं है। हमारा नम्र निवेदन तो केवल इतना ही है कि जब तक परीक्षा की भट्ठी में कोई बात तपकर अपना उज्ज्वल रूप न दिखा दे, तब तक उसे सत्य और अटल मान लेना ठीक नहीं। वैज्ञानिक दिमाग़ का यह महत्त्वशाली गुण है।

परिस्थिति में कार्य करना वैज्ञानिकों में हमेशा रहता है। वे यंत्रों और सुविधाओं के लिये कभी नहीं रोते। जो कुछ थोड़ी बहुत सामग्री उनके पास रहती है, उसी का सदुपयोग करके नवीन बातें ढूँढ़ निकालते हैं।

सत्य, सौंदर्य-ज्ञान, अवलोकन, तर्क-शक्ति प्रकट करने की शक्ति और उत्पादन-शक्ति सभी के पास किसी-न-किसी हद तक रहती है। इन सबमें उत्पादन-शक्ति बड़ी ही महत्त्वशाली है और कोई ऐसा आविष्कारक आपको नहीं मिलेगा, जो इस शक्ति से हीन हो।

भिन्न-भिन्न गुणों का दिग्दर्शन करना यहाँ संभव नहीं दीखता। केवल प्रधान बातों ही से संतुष्ट होना पड़ता है। जब आप कार्य करने लगें और सच्चे दिल से उसको करेंगे, तब आपको स्वयं ही अपनी कमज़ोरी ज्ञात होती चली जावेगी। उनको सुधार कर क़दम आगे बढ़ाने से जो शिक्षा प्राप्त होती है, वह स्थायी और आपकी सामग्री होगी। काग़ज़ पर नाम गिनाने से कोई लाभ न होगा।

आविष्कारक कैसे काम करते हैं?—इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। क्योंकि प्रतिभाशाली शक्तियों की कार्य-प्रणाली भिन्न रहा करती है। वे कवि की कल्पना के समान कभी-कभी अच्छे-अच्छे आविष्कार क्षण-मात्र में कर लेते हैं। कभी किसी अन्य आविष्कार के करते समय उनकी अवलोकन-शक्ति नवीन आविष्कार को जन्म दे देती है। परकिन क्विनाइन तैयार कर रहे थे और कहाँ रंग तैयार कर डाला। न्यूटन आनंद से बाग़ में बैठे फल का गिरना ताक रहे थे और कहाँ गुरुत्वाकर्षण-शक्ति पर विचार कर डाला।

हाँ, पर प्रायः दो विधियों से काम लिया जाता है। एक तो वैज्ञानिक विधि और दूसरी अवैज्ञानिक विधि कहला सकती है। पहली विधि के द्वारा एक वैज्ञानिक अपने सामने की समस्या को हल करने के लिये विज्ञान की सहायता लेता है। उदाहरण के तौर पर डेवी या गाडियन का लेम्प ही लीजिए। यह लेम्प खदानों में काम करने के लिये बनाया गया था। दो व्यक्तियों ने लेम्प तैयार करने का काम अपने हाथों में लिया—एक तो विज्ञान-जगत् का प्रसिद्ध विद्वान् डेवी था और दूसरा रेल का विकट प्रवर्तक जार्ज स्टीफ़नसन।

जार्ज स्टीफ़नसन ने एक लेम्प बनाया। उसके नीचे हवा जाने के लिये एक नली लगाई। उस लेम्प को लेकर वह शीघ्र जल उठनेवाली हवा से भरी खदान में घुसा। वहाँ गेस के कारण उसका लेम्प बुझ गया। उसने दूसरा लेम्प तैयार किया। इसमें उसने एक नली की जगह छोटे-छोटे व्यासवाली बहुत-सी नलियाँ लगाईं। फिर परीक्षा की। इस बार लेम्प कुछ समय तक अच्छी तरह जला। इसके बाद उसने तीसरा लेम्प बनाया। इसमें उसने नलियों की जगह अनेकों छेदवाले पीतल का टुकड़ा लगा दिया। इस तरह से काम में आनेवाला गाडियन-लेंप तयार हो गया। वह डेवी महोदय के लेंप से किसी हालत में काम देने में कम नहीं था।

डेवी महोदय ने जब लेंप बनाने का काम हाथ में लिया, तो उन्होंने भड़क देनेवाली गेस के गुणों को विज्ञानशाला में ढूँढ़ निकाला। उसके बाद वे इस सिद्धांत पर पहुँचे कि यह गेस यदि छोटे-छोटे छेदों से लेंप के अंदर प्रवेश करे और लेंप के अंदर कहीं से वायु न जा सकती हो, तो बाहर की गेस में आग न लगेगी। इस सिद्धांत को पा जाने के बाद उन्होंने एक लेंप बनाया और उसमें जाली लगाकर हवा अंदर जाने के लिये मार्ग बना दिए। उनका लेंप ठीक निकला। दोनों को सफलता मिली। एक ने लेंप बनाकर सिद्धांत ढूँढ़ निकाला; दूसरे ने सिद्धांत को ढूँढ़कर लेंप बना डाला।

ये ही दो प्रणालियाँ हैं, जो काम में लाई जाती हैं। इनमें कौन सरल और सफल है, कहा नहीं जा सकता। कभी-कभी पहली से एकदम सफलता मिल जाती है और कभी-कभी दूसरी से। इतना अवश्य है कि वैज्ञानिक विधि से कार्य करने में गड्ढे में गिरने का और अचानक भयंकर घटनाओं के होने का भय नहीं रहता।

अंत में—लेखक केवल यही कह सकता है कि आपके सामने अनेकों क्षेत्र हैं—शुद्ध विज्ञान का क्षेत्र है। रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, समाजशास्त्र, संपत्तिशास्त्रादि किसी भी क्षेत्र में आप अपने क़दम रखिए। परंतु किसी क्षेत्र में कार्य करने के पहले उस क्षेत्र के वर्तमान ज्ञान को संपादित कर लेना अत्यंत आवश्यक है। अन्यथा आप बीसवीं शताब्दी में १०वीं शताब्दी का आविष्कार करने बैठेंगे; अपने थोड़े ज्ञान में फूले-फूले फिरेंगे। हज़ारों वर्षों से मनुष्य ज्ञान की उन्नति कर रहा है। यह सब ज्ञान हमारी पैतृक संपत्ति है। यही हमारा धन है, अतएव इसे पहले सीख लेना उत्तम होगा।

नाथूराम शुक्ल

जीवन-ज्योति

१. दीर्घ जीवन-प्राप्ति का उपाय

संसार में ऐसा प्राणी कौन है, जो दीर्घ काल तक जीना नहीं चाहता! कभी-कभी कहीं कोई बीमारी या रोग-शोक अथवा दारुण यंत्रणा से मौत को भी अच्छी समझता है, किंतु योगीजन तो जीवन और मृत्यु दोनों ही से उदासीन रहते हैं। इन लोगों के सिवा शेष सभी व्यक्ति दीर्घायु पाने की आशा रखते हैं, और अनेक मनुष्य चिरकाल तक जीवित रहते हुए भी देखे गए हैं। किंतु इसी के साथ-साथ अधिकांश व्यक्ति अकाल में ही यमराज के अतिथि बनते देखे जाते हैं। अर्थात् सामान्यतः कोई भी अपनी शेष आयु का ठीक-ठीक पता नहीं पा सकता। ऐसी दशा में यह प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होता है कि 'अकाल मृत्यु का कारण और उसे दूर करने का उपाय' क्या है? हमारे पूर्व-कालीन ऋषि-मुनियों ने मृत्यु का कारण मनुष्य को खुद बताया है। क्योंकि उनके मतानुसार कर्मफल पाने के लिये देह उसके काम के योग्य बनता है। संकल्प-विकल्प ही जीव की जन्म-मृत्यु का कारण है। अर्थात् जब तक कर्मफल है, तब तक देह भी रहेगी। कर्मफल शेष हो जाने पर देह की आवश्यकता नहीं रह जाती। परंतु वास्तव में देह दो प्रकार से छूटती है। एक तो जब कर्म पूरा हो जाने पर जीव पूर्ण ज्ञान के साथ आसानी से पंचेंद्रिय-युक्त शरीर को छोड़ता है, जिसे कि 'मोक्ष' कहते हैं, दूसरे जब कि जीव के संचित कर्म देह को उसके भोग के लिये अनुपयुक्त समझ उसे (जीव को) विवश और अज्ञानावृत्त करते हुए बलपूर्वक स्थूल देह से छुड़ाते हैं। यही वास्तव में मृत्यु कहाती है। किंतु ऐसी मृत्यु ज्ञान या योगानुष्ठान द्वारा पार की जा सकती है, क्योंकि चित्त को सर्वप्रकार की वासना और दुराशाओं से निवृत्त रखना ही दीर्घायु-प्राप्ति का सरल उपाय है। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि प्रबल विकार जिससे किसी प्रकार भी चित्त को न दुखा सकें, वही काम हमें करने चाहिए। ईश्वर में भक्ति और विश्वास रखकर संतोषा-मृत पान करने से दीर्घायु प्राप्त करना कुछ भी कठिन नहीं है। दर्शन, विज्ञान प्रभृति शास्त्र-निर्माताओं ने विशेष गंभीरतापूर्ण युक्ति द्वारा जीव की जन्म-मृत्यु का कारण एवं उसके दीर्घ जीवन-लाभ का उपाय दोनों ही स्थिर कर दिए हैं। अतएव इस विषय का विशेष विवे-

चन न करते हुए केवल "स्वरशास्त्र" के अनुसार दीर्घायु-प्राप्ति के उपाय यहाँ लिखे जाते हैं।

मानवशरीर में दिनरात जो श्वास-प्रश्वास होता है, उसी का नाम प्राण है। अर्थात् श्वास निकलकर फिर देह में न आने का नाम ही मृत्यु है। किंतु श्वासोच्छ्वास का एक स्वाभाविक नियम यह है कि—

प्रवेशे दशभिः प्रोक्तो निर्गमे द्वादशांगुलम्।

स्वरोदय

अर्थात् साँस लेते समय दश अंगुल परिमाण श्वास अंदर जाती और छोड़ते समय बारह अंगुल साँस की वायु बाहर निकलती है। एक लकड़ी के टुकड़े पर नथने से बारह अंगुल नापकर थोड़ी-सी रुई रख दो और श्वास को छोड़ो। यदि निश्वास की वायु उसे हटाकर आगे निकल जाय, तो समझ लो कि जीवन क्षय के मार्ग पर अग्रसर है। और यह त्रुटि प्राणायाम के द्वारा दूर की जा सकती है।

यद्यपि प्रश्वास-वायु का प्रमाण बारह अंगुल निश्चित है, तथापि भोजन, गमन, रमण, गान आदि विशेष कार्यों में स्वाभाविक नियम की अपेक्षा विशेष परिमाण में श्वास बाहर निकलती है। यथा—

देहाद्विनिर्गतो वायुः स्वभावाद्द्वादशांगुलिः।
गायने षोडशांगुल्यो, भोजने विंशतिस्तथा॥
चतुर्विंशांगुलिः पान्थे निद्रायां त्रिदशांगुलिः।
मैथुने षट्त्रिंशदुक्तं, व्यायामे च ततोऽधिकम्॥
स्वभावेऽस्य ततो मूले परमायुः प्रवर्द्धते।
आयुःक्षयोऽधिके प्रोक्तो मारुते चान्तरोद्गते॥

अर्थात् साधारणतः प्रश्वास-वायु बारह अंगुल तक जाती है, किंतु गाने के समय सोलह, भोजन के समय बीस, मार्ग चलते समय चौबीस, सोते समय तीस, मैथुन के समय छत्तीस अंगुल तक चली जाती है। यह परिमाण स्वाभाविक है, किंतु इससे अधिक वायु का जाना जीवन के क्षय का लक्षण समझना चाहिए। इसीलिये प्राणायाम द्वारा इस अस्वाभाविक गति को स्वाभाविक रूप में ले आने से ही दीर्घजीवन प्राप्त किया जा सकता है। मैथुन से जीवन को जो हानि पहुँचती है, उसमें श्वासगति की तीव्रता ही प्रधान कारण है। ऐसी दशा में जिसकी जीवनी शक्ति का ह्रास (धातुदौर्बल्य) हो जाता है, उसकी श्वास बहुत मोटी अर्थात् अस्सी अंगुल तक चली जाती है और उसे शीघ्रता से मृत्युमार्ग में खींच ले जाती है। फलतः योग की अंगीभूत क्रिया के अनुष्ठान से ऐसी साँस को स्वाभाविक अवस्था में ले आना ही जीवनी शक्ति की रक्षा का एक-मात्र उपाय है। अतएव जो व्यक्ति योग की शक्ति से साँस की स्वाभाविक गति को दो-एक अंगुल करके ह्रास कर सकते हैं, उसके लिये सर्व-सिद्धियाँ एवं अमानुषी क्षमता बाएँ हाथ के खेल बन जाते हैं।* इस प्रकार योग की ऊँची अवस्था में पहुँचने से एक ही बार में वायु को रोककर बहुत दिन व्यतीत किए जा सकते हैं। पुराकालीन योगियों की बात अलग रही, वर्तमान काल में भी भू-कैलासवाले साधु अथवा काशी-धाम के श्रीतैलंगस्वामी की नाना प्रकार की अनोखी शक्ति-लीलाएँ किसने नहीं सुनी हैं? महाराज रणजीतसिंह के समय मेकग्रेगर प्रभृति योरपियनों के सामने श्रीहरिदास-नामक साधु को चालीस दिन तक संदूक़ के भीतर बंद कर ताला लगाने के बाद ज़मीन में गाड़ दिया गया और चालीस दिन बाद जब संदूक़ खोलकर देखा गया, तो वह जीवित निकले थे।

सारांश, प्राणवायु की बाहर की गति जितनी ही सूक्ष्म की जा सके, उतनी ही आयुमर्यादा दीर्घ हो सकेगी। अतएव गायन, मैथुन प्रभृति जिन कार्यों से प्राणवायु अधिक परिमाण में बाहर निकलती है, वे कार्य जितने ही कम किए जायँगे, उतना ही दीर्घ जीवन लाभ हो सकेगा। नियमित रूप से प्राणायाम करने पर दीर्घ जीवन प्राप्त होता है। इस प्राणायाम में प्राण शब्द का अर्थ वायु और आयाम का आशय रोकना होता है। अर्थात् प्राणायाम के समय कुंभक करने पर प्राणवायु रुकती है, साँस नहीं चलती, इसीलिये जीवन दीर्घ होता है और शरीर भी रोगशून्य हो जाता है।

---

* एकांगुलं कृते न्यूने प्राणे निष्कामतिर्भता।
आनन्दस्तु द्वितीये स्यात्, कविशक्तिस्तृतीयके॥
वाचः सिद्धिश्चतुर्थे तु दूरदृष्टिस्तु पञ्चमे।
षष्ठे त्वाकाशगमनं, चण्डवेगश्च सप्तमे॥
अष्टमे सिद्धयश्चाष्टौ, नवमे निधयो नव।
दशमे दशमूर्त्तिश्च, छायानाशो दशैकके॥
द्वादशे हंसचारश्च, गंगामृतरसं पिबेत्।
आनखाग्रे प्राणपूर्णे, कस्य भक्ष्यं च भोजनम्॥

पवन-विजय स्वरोदय

शास्त्रज्ञों का कथन है कि कार्य के गुण से आयु बढ़ती और दोष से घटती है। इसी प्रकार विज्ञानप्रेमी दार्शनिकों का कहना है कि काम, क्रोध, चिंता, दुराशा आदि ही जीव की मृत्यु के कारण हैं। बात दोनों ही एक है। क्योंकि स्वरशास्त्रकारों ने इसकी मीमांसा केवल इस एक ही बात में कर दी है कि साँस की लंबाई और सूक्ष्मता ही मनुष्य की दीर्घायु अथवा अल्पायु के प्रधान कारण हैं। इस प्रकार शास्त्रवेत्तागण की युक्ति के साथ स्वरोदय के जाननेवालों की बात का पूरी तरह मेल खा जाता है, क्योंकि उन्होंने जिन-जिन कार्यों में मृत्यु का कारण स्थिर किया है, उन सबमें साँस की गति बढ़ती है। अतएव जिनकी प्राणवायु जितनी ही कम नष्ट होगी यानी जितनी कम निकलेगी, उनकी आयु उतनी ही बढ़ जायगी और उन्हें बीमारी आदि भी नहीं होने पावेगी। इससे विरुद्ध अवस्था में नाना प्रकार की बीमारियों से आयु क्षीण होकर जीवन नामशेष हो जायगा। विज्ञ वाचक, साँस की गति को समझकर तदनुकूल आचरण करने से अवश्य ही दीर्घायु प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् प्राणवायु की बाहरी गति को बिलकुल रोककर उसे अंतःकरण के भीतर दौड़ाने से जीव उसी योगेश्वर हंस का स्वरूप बन जाता है। यही नहीं वरन् सहस्रार पद्म से टपकते हुए अमृत का पान कर अमर भी बन सकता है। मनुष्य की चोटी से लेकर नख तक प्राणवायु में अमृत भरा रहता है, इसलिये उसे खाने-पीने की भी आवश्यकता नहीं रहती और वह बाह्य ज्ञान से शून्य होकर जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिलाता हुआ अंतःकरण में परमानंद का भोग करता है। इस प्रकार जिन उपायों से मनुष्य को दीर्घ जीवन की प्राप्ति होती है, उन्हीं से वह मोक्ष भी पा सकता है। इस क्रिया की सिद्धि के लिये श्वास-विज्ञान संक्षेप में लिखा जाता है।

नाक के नथने से साँस खींचने का नाम निःश्वास और बाहर निकालने का नाम प्रश्वास है। जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यंत श्वास-प्रश्वास का क्रम बराबर जारी रहता है। किंतु यह क्रिया दोनों नथनों से एक साथ नहीं होती, बलिक कभी दाएँ और कभी बाएँ नथने से साँस चलती है। कभी कहीं एक-आध मुहूर्त के लिये दोनों नथनों से साँस एक साथ भी निकलती है। इनमें बाएँ नथने से चलनेवाले श्वास का नाम इड़ा का प्रवाह और दहिने नथनेवाली को पिंगला का प्रवाह कहते हैं। जब दोनों ही नथनों से श्वास निकलता है, तब वह सुषुम्ना का प्रवाह कहलाता है। एक नथने को बंद कर दूसरे से साँस छोड़ने पर ज्ञात हो सकता है कि एक से सरल साँस निकलती है, और दूसरा बंद-जैसा है। थोड़े ही अभ्यास से मनुष्य इस विषय को भली भाँति समझ सकता है। प्रति दिन सूर्योदय के समय से ढाई घड़ी यानी एक घंटा के क्रम से एक-एक नथने से श्वास निकलती रहती है। दिनरात यही क्रम जारी रहता है। किस दिन किस नथने से श्वास निकलेगी, इसके लिये भी शास्त्रों में नियम बने हुए हैं। यथा—

आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करस्तु सितेतरे।
प्रतिपत्तो दिनान्याहुस्त्रीणि त्रीणि क्रमोदये॥

अर्थात् शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से तीन दिन चंद्रनाड़ी (बाएँ नथने) से और कृष्णपक्ष की प्रतिपदा-तिथि से तीन दिन सूर्यनाड़ी (दाहिने नथने) से साँस चलती है। अर्थात् शुक्लपक्ष की १।२।३।७।८।९।१३।१४।१५ तिथियों में सूर्योदय के समय पहले बाएँ नथने से श्वास चलेगी और घंटे-भर बाद दाहिने से। इस प्रकार बराबर घंटे-घंटे से बदलेगी। किंतु शुक्लपक्ष की ४।५।६।१०।११।१२ इन छः तिथियों में सूर्योदय के समय दाहिने नथने से श्वास आरंभ होकर घंटे-भर बाद बाएँ नथने से श्वास चलने लगेगी। इसी प्रकार कृष्णपक्ष में १।२।३।७।८।९।१३।१४।३० को सूर्योदय के समय दाहिने नथने से और ४।५।६।१०।११।१२ को बाएँ नथने से श्वास चलेगी। इसी के अनुसार पंचतत्वों का भी उदय होगा। इसलिये श्वास-प्रश्वास की चाल समझकर काम करने से शरीर स्वस्थ रहता और सांसारिक कार्यों में सफलता भी प्राप्त हो सकती है।

यदि उपर्युक्त तिथियों में निश्चित नथने से श्वासोच्छ्वास न होने लगे, तो समझ लेना चाहिए कि किसी रोग का आक्रमण होनेवाला है। जैसे यदि शुक्लपक्ष की प्रतिपदा आदि तिथियों में सूर्योदय के समय दाहिने नथने से श्वास चलने लगे, तो उसी दिन से पूर्णिमा तक गर्मी की कोई बीमारी होगी, इसी प्रकार कृष्णपक्ष में बाएँ नथने से श्वास चलने पर अमावस्या तक सर्दी का कोई रोग सताएगा और यदि दोनों ही पक्ष में इसी तरह उलटे क्रम से श्वास चलता रहे, तो किसी आत्मीय स्वजन

को भयानक रोग अथवा मृत्यु या अन्य कठिन विपत्ति का सामना करना पड़ेगा। यदि तीन पक्ष तक लगातार यही क्रम रहे, तो अपनी मृत्यु निकट समझनी चाहिए।

अतएव रोग-मुक्ति के लिये विरुद्ध नथने से श्वास का आरंभ होते ही उसे स्वच्छ रुई या मुलायम कपड़े की डाट से बंद कर स्वाभाविक नथने से श्वास लेना चाहिए। कुछ देर के अभ्यास से ही यह क्रिया सध सकती है। और कठिन रोग एवं विपत्ति से छुटकारा मिल सकता है। इसी प्रकार वशीकरण, सम्मोहन, वर्ष-भर का शुभाशुभ फल-निर्णय, यात्रा में सफलता, गर्भाधान आदि में भी श्वास के नियमों का ध्यान रखने से तत्काल फल मिलता है। यथा—यात्रा के समय जिस नथने से श्वास चलती हो, उसी ओर का पैर आगे बढ़ाकर यात्रा करने से शुभ फल मिलता है। जब बाएँ नथने से श्वास चलती हो, तब पूर्व एवं उत्तर दिशा को और दाहिने नथने से श्वास चलते समय पश्चिम और दक्षिण दिशा की यात्रा कभी न करनी चाहिए। इसका महाभयानक परिणाम होता है। यहाँ तक कि यात्री के वापस लौटने की भी आशा नहीं रक्खी जा सकती।

अपने उच्च अधिकारी का प्रेम-संपादन करने के लिये जिस नथने से साँस चलती हो, उसे उसकी ओर रखकर बातचीत करने से अवश्य सफलता प्राप्त हो सकती है। यदि शत्रु से बातचीत करना पड़े, तो श्वास चलनेवाले नथने से उलटी ओर उसे खड़ा करना चाहिए। इससे प्रबल शत्रु भी हमारे अनुकूल होकर काम करेगा। यदि आग बुझाना हो, तो आग की जिस ओर गति हो, उसी ओर खड़े होकर जिस नथने से साँस चलती हो, उससे वायु खींचकर उसी से जल पिए। इसके बाद सात चुल्लू जल—

उत्तरस्यां च दिग्भागे मारीचो नाम राक्षसः।
तस्य मूत्रपुरीषाभ्यां हुतो वह्निः स्तम्भय स्वाहा॥

इस मंत्र से अभिमंत्रित कर आग में डाले, तत्काल ही आग बुझ जायगी। यह सैकड़ों बार की अनुभूत बात है।

इसी प्रकार श्वास-प्रश्वास-विषयक सैकड़ों आश्चर्य-जनक प्रयोग 'योगी-गुरु' *-नामक पुस्तक से ज्ञात हो सकते हैं। जिज्ञासुओं को पुस्तक पढ़कर लाभ उठाना चाहिए।

गोपीवल्लभ उपाध्याय

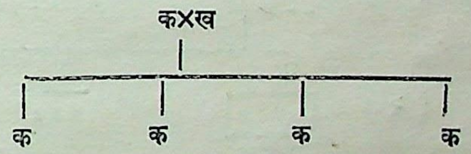
× × ×

२. हिंदू-मुसलिम-ऐक्य

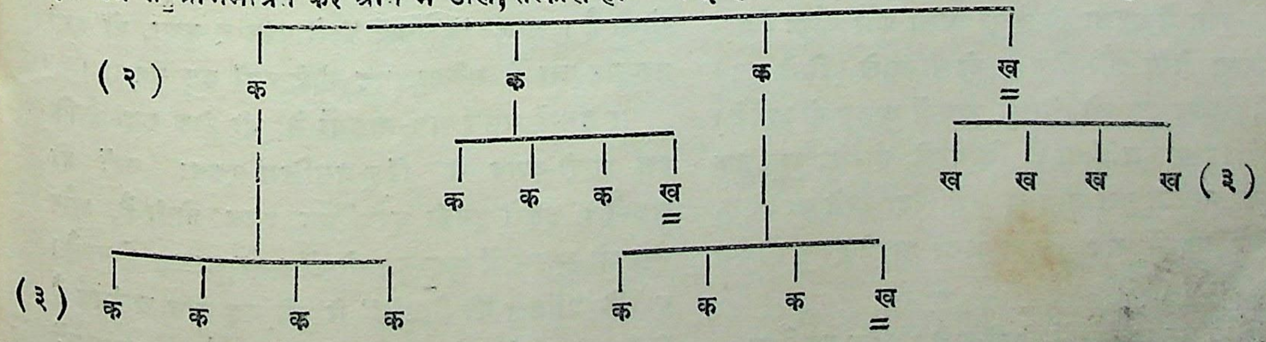
मंडल की थिअरी—ग्रेगर मेंडल आस्ट्रेलिया में एक पादरी था। इनके Researeh Experiment सन् १८६६ में छपे, पर उस समय 'डारविन' की थिअरी का ज़ोर था। इससे इनका नाम १९०० में मशहूर हो सका।

इन्होंने अपने बगीचे में 'छोटी मटर' और 'बड़ी मटर' पर Experiment किए थे। पर इसका नतीजा और यह थियरी सब चीज़ों के लिये ठीक है—आदमी जानवर सबके लिये।

मेंडल ने छोटी मटर और बड़ी मटर अलग-अलग बो दिए। इनमें फूल लगे, पर इनको मेंडल ने इसी तरह न रहने दिया। [मटर के पौदे में एक ही फूल में नर (Stamens) और मादा (Carpels) होते हैं]। मेंडल ने दोनों पौदों में से नर और मादा (Stamens and Carpels) निकालकर, अलग उन दोनों को (छोटी और बड़ी मटर) मिलाकर पौदे तैयार किए, जिसका नतीजा यह हुआ—(नोट—'क' बड़ी मटर और 'ख' छोटी मटर)

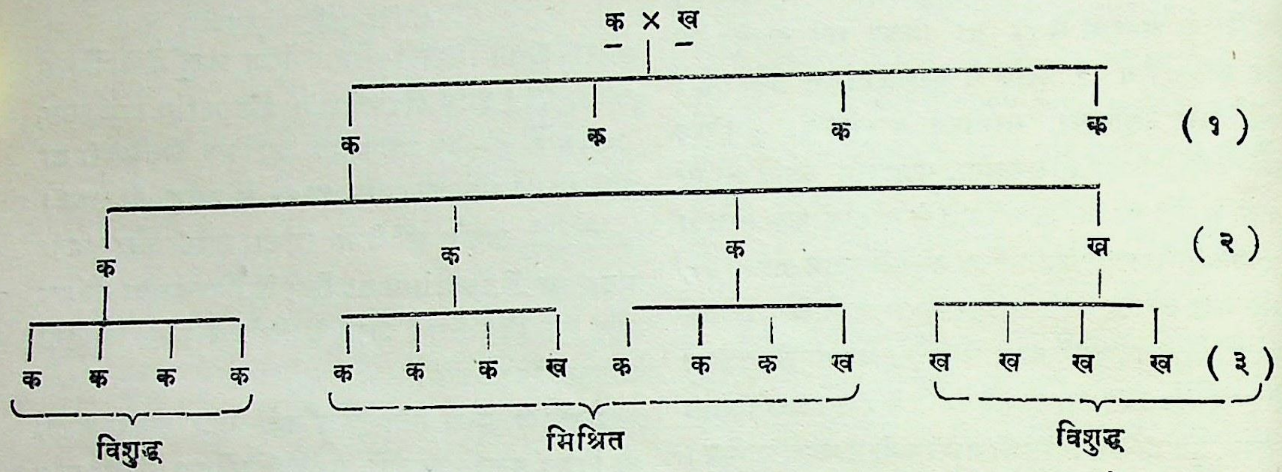


इसमें बड़ी मटर का ज़ोर होने से सब पौदे बड़ी मटर के ही पैदा हुए—यह (१) पहली पुश्त में हुए। मेंडल ने इन्हें फिर बो दिए और इस दफ़ा ऐसा हुआ—



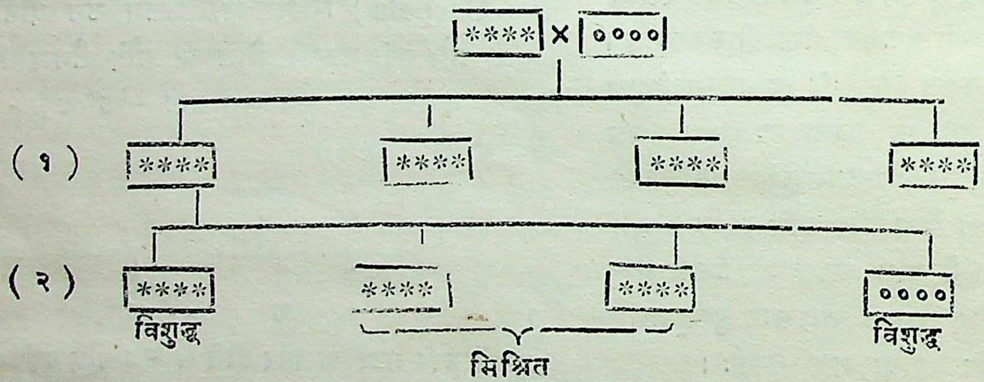
* प्राप्ति-स्थान—सारस्वत-मठ। पो० कोकिलामुख (जोरहाट, आसाम)।

दूसरे (२) पुश्त में तीन पौदे बड़ी मटर के और चौथा छोटी मटर का हुआ। फिर बो देने से तीसरे (३) पुश्त में (क) पहले पौदे से सब बड़ी मटर पैदा हुईं और चौथे (ख) पौदे से सब छोटी मटर पैदा हुईं। यानी ये दोनों पौदे तीसरी पुश्त में आकर बिलकुल ही अपनी ज़ात में अलग हो गए, जिनसे उसने शुरू किए थे। बीच के दो पौदों ने तीसरी पुश्त (३) में तीन बड़ी मटर और एक छोटी मटर के पौदे दिए। लेकिन यह भी चौथी पुश्त में अलग किए जा सकते हैं, जैसा ऊपर हम देख आए हैं।



इसी तरह से जब हम 'काले साँड़' से एक 'लाल गाय' के बच्चे पैदा करते हैं, तो ऐसा होता है। लेकिन यहाँ काले रंग का ज़ोर होता है, इस कारण ऐसा है—

(नोट—'काला साँड़ **** लाल गाय ००००)

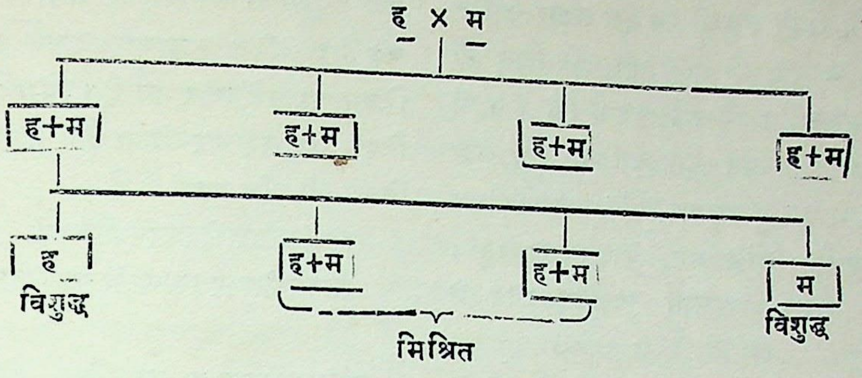


पहले (१) पुश्त में सब बच्चे काले रंग के होंगे और (२) पुश्त में पहला बिलकुल काला और चौथा बिलकुल लाल होगा और बीच के दो भी काले (मिले हुए) होंगे। लेकिन यह भी तीसरी पुश्त में अलग हो जायँगे। इससे यह मालूम होता है कि पहले दो-एक पुश्त तक तो कुछ नतीजा इस तरह के बच्चे पैदा करने का होगा, पर फिर बाद में सब अलग होकर अपने-ही अपने रंग में हो जायँगे।

इसी प्रकार मनुष्यों में भी होता है। हिंदू-मुसलिम—हिंदू और मुसलमानों में—एकता करने के लिये आपस में ब्याह-शादी करने की तरक़ीब सर हरीसिंह गौड़ ने अच्छी सोची है। अगर "असेंबली" से पास न हुआ, तो कहाँ तक यह पूरा हो सकेगा, यह कोई नहीं कह सकता।

पर हमारे मुसलमान-भाइयों ने भी ठीक कहा है कि इस शादी-ब्याह से हिंदू-मुसलिम-एकता नहीं हो सकती। इससे इनकी दूरदर्शिता ज्ञात होती है, और मेरी भी समझ में कुछ-कुछ तो ठीक ही मालूम होता है। क्योंकि "मेंडल की थियरी" से तो यह बात असंभव है कि इस तरह से ब्याह-शादी से हिंदू और मुसलमानों में एकता हो सकेगी। ज़रा इसे भी देखना चाहिए—

(सांकेतिक चिह्न—हिंदू "ह" मुसलिम "म")



(१)

(२)

अब पाठकगण ही इस हिसाब को हल करने की कोशिश करेंगे। मेरी समझ में नहीं आता।

इँगलैंग] द्विजदेव शर्मा

× × ×

३. सदाचार-संदेश

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः। –मनु

Virtue must be the happiness and vice of every creature.—Butler.

सदाचार कैसा सुंदर शब्द है। सदाचार के उच्चारण-मात्र से हृदय में एक अपूर्व आनंद की ज्योति जगमगा जाती है। सदाचार मानव-जीवन का सर्वस्व है। अहा! क्या मानव-जीवन-कोष में इससे भी अधिक कोई चमत्कारपूर्ण शब्द है। 'सदाचार' शब्द में ब्रह्मचर्य का पूर्ण समावेश है और है उन सब उत्तम गुणों का समावेश जो व्यक्तिगत व सामूहिक जीवन को उच्च बनाते हैं। आज भारतवर्ष में युवकों की दशा कैसी शोचनीय है! क्या इस भीषण विनिपात का कारण सदाचार का अभाव नहीं है? आज यदि भारत में सदाचार की पूजा होती, तो भारत इस प्रकार गुलामी में जकड़ा न होता। आज आर्यजाति मृतप्राय है! कारण? आर्यजाति सदाचार का सम्मान करना विस्मरण कर चुकी है। युवकों में चारित्र्य-बल का अभाव है, फिर भारतवर्ष का अधःपतन हुआ, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

× × ×

मन का सदाचार से अटूट संबंध है। एक ओर मन सदाचार का परम सखा है, तो दूसरी ओर उसका बड़ा भयंकर शत्रु है। उपनिषदों में मन का बड़ा रोचक रूपक बाँधा है। लिखा है—

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥"

कठोपनिषत् ३ मं ३

यह शरीर एक रथ है और जीवात्मा इस रथ का स्वामी है—रथी है। बुद्धि इसका सारथी है। मन उसकी लगाम है, इंद्रिय घोड़े और इंद्रियों के विषय उसकी सड़क हैं, जिस पर इंद्रिय-रूपी घोड़े चलते हैं यदि रथी ने लगाम को स्वतंत्रता दे दी, तो अवश्य ही रथ किसी दुराचार के खड्ड में जा गिरेगा और यदि रथी विवेकी हुआ, तो अवश्य लगाम को अपने अधीन रखकर सदाचार-पथ का अवलंबन कर जीवन-यात्रा को सफल बनावेगा। ऋषियों ने तो यहाँ तक कहा है कि 'मन' ही बंध और मोक्ष का कारण है। सबसे पूर्व मन में कोई विचार उत्पन्न होता है और मन से इंद्रियों द्वारा कार्यरूप में परिणित हो जाता है। मन में संकल्प-विकल्प सरिता-तरंग के सदृश उत्पन्न होते रहते हैं। दूसरे शब्दों में मन एक समर-क्षेत्र है, जिसमें देव और आसुरी शक्तियों के मध्य देवासुर-संग्राम हुआ करता है।

इनमें जो शक्ति बलवती होती है, वही विजयिनी होती है और फिर उस संग्राम का फल क्रिया-रूप में आ जाता है। इसलिये युवकों को सदैव जागृत रहना चाहिए—न-जाने कब आसुरी शक्ति विजयिनी होकर दैवी शक्तियों को कुचल डाले। हमने ऐसे अनेक युवकों को देखा है, जो मन में कुविचारों का स्वागत करते हैं और यह धारणा रखते हैं कि हम केवल कार्यरूप में ऐसा कभी नहीं कर सकते। उन विचारों का हम पर कोई क्रियात्मक प्रभाव नहीं पड़ता। इस कथन में कहाँ तक सत्यता है—यह मनोविज्ञानवेत्ता ही नहीं किंतु एक

साधारण बुद्धि का मनुष्य भी अनुभव कर सकता है। जो नवयुवक मन में अपने शत्रुओं का इस प्रकार अभिनंदन करते हैं, वे अवश्य ही शत्रु द्वारा पराजित हो जायँगे, यह ध्रुव-सत्य है। निष्कर्ष यह है कि मन में दुर्विचारों को कभी न पनपने देना चाहिए और सदा आत्म-जागृति का भाव शत्रु-पराजय के लिये अत्यावश्यक है। वेद का उपदेश है—'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'। इसी भाव को लेकर महात्मा अरविंद घोष ने कहा है—

"Desire is the chief enemy of spiritual perfection. Slay then desire, put away attachment to the possession and enjoyment of the outwardness of the things. Root out shrinking and repugnance."

सदाचार-जीवन में आत्मविश्वास जितना सहायक है, उतना कोई दूसरा साधन नहीं। जिस मनुष्य के अंदर आत्मविश्वास नहीं होता, उसका सदाचारी होना आकाश-कुसुम के समान है। हमने यह अनुभव करके देखा है कि आत्मविश्वास मनुष्य में ऐसी शक्ति फूँक देता है. जो उसे सफलता की ओर ले जाती है। आधुनिक समय में प्रातःस्मरणीय महात्मा गांधी इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक इमर्सन, (Emerson) ने कहा है कि—"Self-trust is the first secret of success." युवकों के लिये उचित है कि जो कुछ मन में संकल्प करें, उस पर अपना हिमाचल-जैसा अटल विश्वास रक्खें। सदाचार-जीवन-विषयक जो वे विचार रखते हों, वे केवल विचार ही न हों, प्रत्युत उन पर गाढ़ श्रद्धा और विश्वास होना चाहिए।

जो युवक सदाचार-जीवन को उपलब्ध करने के इच्छुक हैं, उन्हें आत्म-प्रतिज्ञा बड़ी लाभप्रद सिद्ध होगी। विशुद्ध भाव से कामुक विचारों के त्यागने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए। इस प्रतिज्ञा का भाव सदैव हर समय मन में रहना चाहिए। समाज के समक्ष की हुई प्रतिज्ञा का उल्लंघन भी किया जा सकता है, लेकिन जो प्रतिज्ञा स्वयं आत्मप्रेरणा से की हुई होगी, वह अवश्य सदाचार की ओर ले जानेवाली है।

सदाचार एक बड़ा व्यापक शब्द है। इसमें सभी उत्तम गुणों का समावेश है, जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं। लेकिन सदाचार-जीवन के निर्माण में यम-नियम का सर्वोच्च स्थान है। 'योग' के शब्दों में 'यम-नियम' ही सदाचार-द्योतक हैं। यम पाँच प्रकार के और नियम भी पाँच प्रकार के हैं—

तत्रहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमः।
शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानि नियमाः॥

योगदर्शन

यम व्यक्तिगत व सामाजिक रूप में पालन करने योग्य हैं। यदि यम का पालन न किया जाय, तो आत्म-अहित होने के साथ ही समाज का भी अहित होता है। लेकिन नियम के पालन से आत्मोन्नति होती है। इसलिये जो यम को त्याग नियम का ही पालन करते हैं या नियम को त्याग यम का ही पालन करते हैं, वे भूल पर हैं। यहाँ हम संक्षेप से इन पर लिखते हैं; कारण कि यहाँ स्थानाभाव है।

१. अहिंसा—मन, वचन, कर्म से हिंसा न करना। सबसे पहले हिंसा का विचार मनुष्य के मन में उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् वह वाणी व क्रिया द्वारा हिंसा में प्रवृत्त होता है। प्रथम तो हिंसा का मन में विचार आना ही अनिष्ट है—नैतिक पतन है, लेकिन यदि मन में हिंसा का विचार उत्पन्न हो, तभी उसका उन्मूलन कर डालना हितकर है। उस समय मन में दैवी शक्तियों को जागृत करना अधिक श्रेयष्कर होगा। पूज्यपाद महात्मा गांधी का यह सर्वप्रिय सिद्धांत है और उसमें वे कहाँ तक सफल हुए हैं, यह आप सब पर विदित है।

२. सत्य—'मनसा वाचा कर्मणा' से सत्य का पालन करना—जो बात मन में है, उसको वाणी व कर्म द्वारा वैसा ही करना चाहिए। आधुनिक समय ऐसे सत्यवादी बहुत ही कम मिलेंगे। यह हमारी अधोगति का चिह्न है!

३. अस्तेय—मन-वाणी-कर्म से किसी का पदार्थ हरण न करना।

४. ब्रह्मचर्य—वीर्य का रक्षण करते हुए ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना। लेकिन आधुनिक समय में इसका प्रयोग बहुत ही संकुचित भाव में होता है। केवल वीर्य-रक्षण के लिये 'ब्रह्मचर्य' का प्रयोग करते हैं। इस संबंध में हम आगे लिखेंगे, यहाँ केवल संकेत-मात्र ही पर्याप्त है।

५. अपरिग्रह—अत्यंत लोलुपता और स्वत्वाभिमान-रहित होना।

६. शौच—मन-वाणी और शरीर से पवित्रता। मन की शुद्धता विमल विचारों, भावों और कल्पनाओं से, वाणी की शुद्धता सत्य-भाषण से, और शरीर की शुद्धता जलादि से होती है।

७. संतोष—यथाशक्ति पुरुषार्थ करना। हानि-लाभ में हर्ष व विषाद न होना।

८. तप—कष्ट पड़ने पर भी सदाचारयुक्त कर्मों का अनुष्ठान।

९. स्वाध्याय—सत्यज्ञान (ब्रह्मज्ञान) प्राप्त करना।

१०. ईश्वर-प्रणिधान—ईश्वर की भक्ति में आत्म-समर्पण करना।

यह संक्षेप में, सदाचार के आधार-भूत सिद्धांत हैं। इन पर यदि विवेचन किया जाय, तो बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे जा सकते हैं और उस विवेचन का समावेश इस छोटे-से लेख में करना सर्वथा असंभव है। इनमें से केवल ब्रह्मचर्य पर कुछ प्रकाश डालना है, कारण कि यह सब सिद्धांत में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। छांदोग्योपनिषत् में कहा है—'एकतश्चतुरो वेदा, ब्रह्मचर्यं तथैकतः।' अर्थात् एक ओर चारों वेद के उपदेश और दूसरी ओर ब्रह्मचर्य—दोनों को एक तुला पर रखकर तौला जाय, तो दोनों के पलड़े बराबर होंगे।

ब्रह्मचर्य का पालन करना एक महान् तप है। वे धन्य हैं, जिन्होंने कठिन तपोमय जीवन यापन किया है। अहा! वह कैसा अच्छा समय था, जब कि गृहस्थियों के द्वार पर 'भिक्षां देहि' की ध्वनि सुनाई पड़ती थी। आज दीपक लेकर ढूँढ़ने पर भी ऐसे ब्रह्मचारी दृष्टि-गोचर न होंगे। हमारे युवकों का स्वाध्याय इतना बिगड़ा हुआ है कि वह उन्हें सदाचार-शिक्षा देने के स्थान में उन्हें दुराचारी बनाता है। अनिष्ट-साहित्य (जो आजकल ग्रासलेट-साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है) ने उनकी मनो-वृत्ति को दूषित बना दिया है! जो युवक ऐसे उपन्यासों को पढ़ते हैं, जिनमें व्यभिचार का तांडव-नृत्य होता है, वे तो पापपथ में फँसते ही हैं, लेकिन इन पाप-पोथियों के प्रणेता उनसे भी अधिक पाप के भागी हैं, ऐसे नव-युवक जो पापपथ से निकलकर सदाचार-जीवन को प्राप्त करने के अभिलाषी हैं, इन्हें महात्मा पुरुषों का आत्मचरित पढ़ना विशेष उपयोगी होगा।

हमारी दृष्टि में ऐसे आत्मचरित (Auto-biography) दो हैं, जिनसे नवयुवक अपने जीवन का फिर से निर्माण करने में बहुत कुछ सहायता ले सकते हैं—एक तो महात्मा बैंजमिन फ्रैंकलिन का है और दूसरा हमारे भारत-भूषण महात्मा गांधी का है। लेखक ने महात्मा गांधी का आत्म-चरित—'सत्य के प्रयोग'—पढ़ा है और उसे यह पूर्ण विश्वास है कि जो युवक अपने जीवन को सदाचार-मय बनाने के इच्छुक हैं, उनके लिये यह सर्वो-त्तम ग्रंथ है। 'आत्म-कथा' क्या है, सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य की बड़ी मनोहर व्यावहारिक व्याख्या है। हृदय पर इन तीनों सिद्धांतों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता।

ऐसे बहुत-से नवयुवक होंगे, जो अपनी आर्थिक आय-व्यय का हिसाब रखते होंगे। लेकिन ऐसे कितने हैं, जो अपने सदाचार का हिसाब-किताब रखते हैं! धन के संबंध में तो इतनी कंजूसी करते हैं कि एक पैसा व्यर्थ व्यय करना बुरा लगता है, लेकिन चाहे जितना वीर्य स्वाहा कर डालें, चाहे जितनी हिंसा कर डालें, चाहे जितना असत्य बोलें, कोई किसी प्रकार का लेखा नहीं रखते। हम उस कवि के आदर्श को भूल गए, जिसने अपनी लेखनी से लिखा है कि—

> प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
> किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरुषैरपि॥

अर्थात्—प्रत्येक मनुष्य को प्रति दिन अपने चरित्र की आलोचना करनी चाहिए और यह विचारना चाहिए कि मेरा चरित सदाचारी मनुष्य के समान है अथवा पशुवत्। महात्मा बैंजमिन फ्रैंकलिन के आत्म-चरित में हम इस प्रकार का 'चरित्रालोचन' पाते हैं। आप एक 'डायरी' रखते थे, जिसमें प्रति दिन के चरित्र का आलोचन रहता था। जिस दिन किसी नियम के पालन में उनसे कोई त्रुटि हो जाती, उसके सामने वे इस प्रकार (+) चिह्न बना देते थे। हम पाठकों को उसका चित्र यहाँ देते हैं*—

---

* यह चित्र पं० धर्मेन्द्रनाथजी तर्कशिरोमणि की 'सदाचार-संध्या'-नामक पुस्तक से लिया गया है। अतः इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। —लेखक।

आत्मालोचन

नाम गुण	रविवार	सोमवार	मंगलवार	बुधवार	गुरुवार	शुक्रवार	शनिवार
परिमित आहार	+	+		+	+		
वाक्-संयम	+	+			+	+	
सुव्यवस्था		+				+	
कर्तव्यपालन की प्रतिज्ञा						+	
मितव्ययिता			+				
परिश्रम							
कपट न होना							
न्यायपरायणता							
स्थिरता							
इंद्रियदमन							

जिस समय मन में कोई दुर्विचार आवे, उसका तत्क्षण प्रतिकार करना चाहिए। इसका उपाय यह हो सकता है कि किसी सदाचार-पूर्ण ग्रंथ के पठन में मन को लगावे या किसी सदाचारी मित्र के साथ समय का सदुपयोग करे। लेकिन इन दोनों में से कोई उपाय उपलब्ध न हो, तो उस समय एक कार्ड में विकार से उत्पन्न होनेवाली हानियाँ प्रभावोत्पादक शब्दों में लिखे और दूसरी ओर विकारांत अथवा विकार नष्ट हो जाने पर जो लाभ होते हैं, उन्हें लिखे। इन पर मनन करे, तो आसुरी शक्ति पर सफलतापूर्वक विजय हो सकती है।*

उदाहरणार्थ अहिंसा को ले लीजिए।

अहिंसा !	हिंसा !
विश्व-प्रेम !	
आत्म-प्रेरणा !	आत्मप्रेरणा के प्रतिकूल !
धर्म-पालन !	अत्याचार !
आत्मिकोन्नति !	आत्मिक बल का नाश !
सदाचारी जीवन !	सदाचारी जीवन का पतन
अमुक ग्रंथ की आज्ञा-पालन !	अमुक मान्य ग्रंथ के विरु
हर्षोत्पादक !	घृणास्पद !

युवक सौंदर्य से शीघ्र ही आकर्षित हो जाते। आकर्षण का प्रभाव यह होता है कि वे कामाग्नि शांति करने के लिये अवैध उपायों का अवलंबन करने पड़ते हैं। इससे यही प्रतीत होता है कि ऐसे यु सौंदर्य का यथार्थ स्वरूप नहीं आनते। सौंदर्य एक गीय वस्तु है और उसका वास प्रत्येक प्राकृतिक पदा में है। सौंदर्य भोगविलास की सामिग्री नहीं है। यहाँ एक कथा उल्लिखित करते हैं, जिससे समझ जायँगे कि वास्तव में सौंदर्य क्या वस्तु है।

एक राजकुमारी बड़ी सुकुमार और लावण्यमयी पर साथ हो उसे आत्म-ज्ञान और वैराग्य भी था। राजकुमार जो कि उसके सौंदर्य पर मोहित था,

---

* प्रो० धर्मेंद्रनाथजी तर्कशिरोमणि की Man in Master piece-नामक पुस्तक बरेली से डा० श्यामस्वरूपजी से प्राप्त हुई है। उसमें इस प्रकार के प्रतिपक्ष का वर्णन है।

बार विवाह-संबंध की चेष्टा करता था। राजकुमारी ने उसे बहुत उपदेश दिया, बहुत कुछ समझाया, पर वह इतना मोह में फँसा हुआ था कि उस पर कुछ भी असर न हुआ। राजकुमारी ने भी अंत में निश्चय कर लिया कि वह उस राजकुमार को, जो कि उस पर आसक्त है, उस प्रेम के बदले कोई बहुमूल्य वस्तु उपहार में देगी। उसने राजकुमार से कहा—"मैंने निश्चय कर लिया है कि आपके प्रेम का बदला अवश्य चुकाऊँ। आप अब से सात दिवस पश्चात् आइए, तब मैं आपसे संबंध स्वीकार करूँगी। यह सुनकर राजकुमार के हर्ष की सीमा न रही। बड़ी कठिनता से एक घड़ी को एक युग मानकर उसने सात दिन व्यतीत किए।

जब वह आठवें दिन राजकुमारी के राजप्रासाद में आया, तो वहाँ के दृश्य को देखकर अवाक् रह गया! आश्चर्य-सागर में डूब गया! राजकुमारी का वह मुखड़ा, जो वसन्त में विकसित-अरविंद के समान खिला हुआ था, जिसमें प्रभात का दिव्य सौन्दर्य था, अब नितान्त शुष्क और कान्तिहीन मुर्झाया हुआ था। वे कपोल जिनके सौन्दर्य के लिये कवि उपमा नहीं ढूँढ़ पाते थे, अंदर को घुसे हुए थे। वे मृगलोचन, जिनके कटाक्षों और हाव-भावों पर समस्त विलास-चेष्टा निर्भर है, बिलकुल मंद थे। राजकुमारी का सारा शरीर सूखकर काँटा हो गया था। राजकुमार ने जब इस दृश्य को देखा, तो उसकी समस्त सौंदर्यभावना एक निमिष में विलीन हो गई। वह वहाँ से भागने की तैयारी करने लगा। राजकुमारी ने उसके हृदय के भाव को समझते हुए कहा कि आज तुम्हारे मन और वाणी से वह प्रेम और अनुराग नहीं झलकता, जिसका तुमको अभिमान था और जिसकी प्रतीक्षा मैं सात दिन से कर रही थी। यह कहकर राजकुमारी राजकुमार को समीप के एक कमरे में ले गई, जहाँ बड़ी तीव्र दुर्गंध आ रही थी और कई पात्र सुन्दर रेशमी वस्त्रों से आच्छादित थे, जिनमें वह मल और रक्त भरा था, जो सात दिन लगातार जुलाब लेने के कारण राजकुमारी के शरीर से निकला था। राजकुमारी ने सम्बोधन करके कहा कि देखो! मैं वही हूँ, जो सात दिन पूर्व थी। यदि मेरा कोई-सौन्दर्य नष्ट हुआ है, तो वह इन पात्रों के भीतर रक्खा हुआ है। वस्त्र उठाकर देखो, यह वही सौन्दर्य है, जिस पर तुम इतने मोहित थे और जिसके निकल जाने से तुमको मुझसे घृणा हो रही है। राजकुमारी के इस अपूर्व बलिदान ने कामाग्नि को भस्मीभूत कर उसके हृदय में वैराग्य और विवेक का प्रकाश आलोकित कर दिया।

सौन्दर्य का कैसा अनुपम विश्लेषण है। सौन्दर्य चिरस्थायी नहीं होता और ऐसे क्षणिक लाभ के लिये सदाचार-जैसी उच्च वस्तु का बलिदान करना भयंकर पाप है। नवयुवकों को सौन्दर्य और सदाचार का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। नवयुवको! तुम भारत की आशा-लता हो! भारत की स्वतंत्रता तुम्हारे हाथ में है। यदि तुम्हारा जीवन निष्कलंक और सदाचार-मय हो तो भारत का उत्थान होना कोई कठिन नहीं है।

जीवन सदाचार नहीं है, अपितु सदाचार ही जीवन है। इस सम्बन्ध में हम चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक मेनसियस के आदर्श विचार युवकों के सामने रखते हैं। मेनसियस का कहना है—

"......मुझे जीवन प्रिय है और सदाचार भी प्रिय है। यदि मैं दोनों को एक साथ नहीं रख सकता, तो मैं जीवन का त्याग कर दूँगा और सदाचार को चुन लूँगा।"

हे युवको! तुम्हारे सामने यह आदर्श है। इसे तुम अपने हृदयपटल पर प्रण-मसि से अंकित कर लो! स्मरण रक्खो कि जब जीवन और सदाचार एक साथ रखना दुष्कर हो जाय, तो जीवन सदाचार के आगे तुच्छ है। सदाचार ही जीवन की ज्योति है, जिससे वह चमकता है और जिसके अभाव में वह अन्धकारमय हो जाता है। ऐसे अन्धकार-पूर्ण जीवन यापन करने की अपेक्षा सदाचार की वेदी पर बलिदान कर देना कहीं अच्छा है।

अंत में युवकों से अनुरोध है कि वे महर्षि पतंजलि के इस सारगर्भित उपदेश को एक बार अपने जीवन में चरितार्थ कर भारत का उत्थान करें। महर्षि ने योग-दर्शन में कहा है—

"ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः"

ब्रह्मचर्य का पालन करने से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्ति प्राप्त होती है।

रामनारायण 'यादवेन्दु'

संगीत और विनोद

[शब्दकार तथा स्वरकार—रायसाहब डाक्टर भोलादत्त काला]

ध्रुपद रागिनी त्रिवेनी—ताल ४

स्थायी

तोरे चरन-कमल नित्य, सेवत सब जीव-जंतु ।
स्थूल-सूक्ष्मरूपिणी तु जगत जननी हे माई ॥

अंतरा

तुही विष्णु शिव विरंचि, पूजित तू अति पवित्र ।
सकल विश्ववंदिनी तुय, ताप हरणि हे माई ॥

संचारी

जो ध्यावत तोहे मातु, पावत भव धर्म-अर्थ ।
काम-मोक्ष गिरिजे तू, अघनपुंज नाश-करनि ॥

आभोग

सप्तद्वीप नव खंड, व्यापित तव दिव्य जोति ।
भुक्ति-मुक्तिदायिनी तु, तारनि तरनि हे माई ॥

स्थायी

×		०		२		०		३		४	
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
						प	ग	रे	सा	—	—
						है	ऽ	ऽ	मा	ऽ	ई

सां	—	नी	ध	प	ग	प	ग	रे	सा	—	—
तो	ऽ	रे	च	र	न	क	म	ल	नि	ऽ	त्य
नी	रे	ग	प	—	—	—	ग	रे	सा	—	—
से	ऽ	व	त	स	ब	जी	ऽ	व	ज	ऽ	न्तु
नी	सा	—	प	—	—	ध	—	प	—	—	—
स्थू	ऽ	ल	सू	ऽ	क्ष्म	रू	ऽ	पि	णी	ऽ	तु
नी	सां	नी	ध	प	ग	प	ग	रे	सा	—	—
ज	ग	त	ज	न	नि	हे	ऽ	ऽ	मा	ऽ	ई
					अंतरा						
ग	प	—	सां	—	—	—	—	रें	सां	—	—
तु	ही	ऽ	वि	ऽ	ष्णु	शि	व	वि	रं	ऽ	चि
नी	सां	गं	रें	सां	—	नी	सां	नी	ध	प	—
पू	ऽ	जि	त	तू	ऽ	अ	ति	प	वि	ऽ	त्र
सा	—	—	ग	—	प	ध	—	प	—	—	—
स	क	ल	वि	ऽ	श्व	व	ऽ	न्दि	नी	ऽ	तृय
सां	—	नी	ध	प	ग	प	ग	रे	सा	—	—
ता	ऽ	प	ह	र	नि	हे	ऽ	ऽ	मा	ऽ	ई
					संचारी						
सा	प	—	—	—	—	ध	—	—	प	—	—
जो	ऽ	ध्या	ऽ	व	त	तो	हे	ऽ	मा	ऽ	तु
प	ध	प	ग	प	—	स	—	रे	सा	—	—
पा	ऽ	व	त	भ	व	ध	ऽ	र्म्म	अ	ऽ	र्थ
सा	—	—	ग	—	—	प	—	ध	—	प	—
का	ऽ	म	मो	ऽ	च्च	गि	रि	जे	ऽ	तू	ऽ
प	ग	प	ध	—	प	ग	रे	सा	नी	रें	सां
अ	घ	न	पुं	ऽ	ज	ना	ऽ	श	कं	र	नि
					आभोग						
प	—	—	सां	—	—	रें	सां	—	—	—	—
स	ऽ	स	द्धी	ऽ	प	न	व	ऽ	खं	ऽ	ड
सां	रें	रे	—	सा	—	गं	रें	सां	—	—	—
व्या	ऽ	पि	त	त	व	दि	ऽ	व्य	जो	ऽ	ति
नी	रे	ग	प	ग	प	ध	—	प	—	—	—
भु	ऽ	क्ति	मु	ऽ	क्ति	दा	ऽ	य	नी	ऽ	तु
नी	सां	नी	ध	प	ग	प	ग	रे	सा	—	—
ता	र	नि	त	र	नि	हे	ऽ	ऽ	मा	ऽ	ई

इस रागिनी का ध्यान इस प्रकार है—

रम्भायास्तु तरोर्मूलनिषण्णा पीतवर्णभाक् ;
त्रिवर्णा सा च विज्ञेया पूर्णा श्रीश्च वराङ्गना ।

उत्पत्ति आदि

श्री गौरी मारवायुक्ता ऋषभग्रह अंशभाक् ;
त्रिवर्ण्युतपत्तिराख्याता सन्ध्याकाले प्रगीयते ।

इस रागिनी के स्वरूप के संबंध में गायकों में मतभेद है। कोई इसे षाडव और कोई संपूर्ण मानते हैं। पहले प्रकार में मध्यम वर्जित होनी पाई जाती है। ठाट के लिहाज़ से कोई इसे मारवा और कोई पूर्वी ठाट में गाते हैं। मारवा ठाटवाले इसका वादी स्वर पंचम और पूर्वी ठाटवाले कोमल रिषभ मानते हैं। बहुमत से यह श्रीराग की रागिनी मानी गई है। किंतु वंशी-मंजरी ग्रंथ के रचयिता स्वर्गीय मु० भृगुनाथजी ने इसे हिंडोल की पुत्रभार्या माना है। इसके गाने का समय सायंकाल है। इसमें रि० ध० कोमल लगते हैं। और गंधार और पंचम की संगति है। संपूर्ण मतावलंबी मध्यम तीव्र लगाते हैं। शेष स्वर षाडव प्रकारवाले स्वरूप के अनुरूप हैं। इसमें शांतरस की चीज़ें गानी चाहिए। सांकेतिक चिह्न आचार्य भारतखंडेजी-निर्मित प्रणाली के अनुसार जानने चाहिए।

× × ×

२. नवयुवक ग्रेजुएट

१

बीसवीं सदी का बैठाठाला एक ग्रेजुएट,
अर्ज़ियों पै अर्ज़ियाँ था भेजता-भिजाता रहा;
दफ़्तरों में साहबों के चूमता चरण रहा,
अमलों में झुकके आदाब भी बजाता रहा।
गाता रहा गीत तहज़ीब के योरोप की भी,
एक ही-सी बसुरी व बाँसुरी बजाता रहा;
नाता किया दूर सारा देशी से, विदेशी बन,
नौकरी के हेतु सदा लार टपकाता रहा।

२

देह हुई ठठरी-सी गठरी-सा सिर हुआ,
लकड़ी-से हाथ ख़ून सूखा देह-भर का;
ख़ाहिशों पै पड़ी ओस बिजली की बैल्ट बाँध,
दर्द दूर करने को मर्द है कमर का।
आँख पै है चश्मा औ भस्मा लगाया सिर,
मूँछें साफ़चट कढ़े बाल मैप * सर का;
हैट कोट पतलून टाई गलफाँसी डाल,
कामदेव का स्वरूप छैला ये शहर का।

दान—

३

पैर को जुराब पहिना के बूट फ्लीट दान,
पतलून टाँग को और गैलिस कमर को;
शर्ट, वेस्टकोट, कोट, स्वेटर हरेक चीज़,
ऊपर के धड़ को, और टोप एक सर को।
गले को कालर और टाई सजाया ख़ूब,
सरदी से बचने को ग्लाउज़ भी है कर को;
दान करना है धर्म यही तो मैंने भी किया,
ठेका लिया मैंने क्या है जो दूँ घर-भर को।

उदयशंकर भट्ट

× × ×

३. संस्कृत-कवियों की मधुर कविता

(२)

जितना भावगांभीर्य, शब्दसौष्ठव, रसलालित्य, पुरानी कविताओं में है, वह अब कहाँ? अब तो उसका केवल आभासमात्र है। प्राचीन संस्कृत-कवियों की मधुर रचना हृदय में एक असीम आनंद का संचार कर देती है, उससे अनिर्वचनीय रस हृदय में विहरण करता है। उनकी चाटुता कितनी गंभीर होती है, उनका मनोविज्ञान कितना विचक्षण होता है, तथा उनका संवाद कितना सरस होता है?—यह बात बतलाने की नहीं, स्वयं अनुभव करने की है।

माधुरी के पाठकों को हम पुराने संस्कृत-कवियों के मधुर रसका आस्वादन कराना चाहते हैं। पाठक देखें, इन कविताओं में कितनी काव्य-कुशलता है! कितना लावण्य है!

सती पार्वती और शंकर का संवाद है—

कस्त्वं ? शूली, मृगय भिषजं, नीलकण्ठः प्रियेऽहं,
केकामेकां वद पशुपतिर्नैव दृश्ये विषाणे।
मुग्धे, स्थाणुः स चरति कथं, जीवितेशः प्रियायाः,
गच्छाटव्यामिति हतवचाः पातु वश्चन्द्रचूडः।

सती पूछती है—तुम कौन हो? शिव ने कहा—शूली (मैं शूलधारी शंकर हूँ)। अगर शूल-रोग है, तो वैद्य के पास जाओ। शिव ने कहा—प्रिये! मैं नीलकंठ हूँ। अगर नीलकंठ (मयूर) हो, तो केका वाणी का उच्चारण करो। शिव ने कहा—मैं पशुपति हूँ। अगर पशुपति वृषभ हो, तो मुझे सींग नहीं दिखलाई देते। मुग्धे! मैं स्थाणु हूँ, तो स्थाणु (खंभ) चल नहीं सकता। मैं शिवा का पति हूँ।

* नक़्शा।

अगर शिवा (शृगाली) के पति हो, तो जंगल में जाओ, यहाँ तुम्हारा काम क्या ? इस प्रकार निरुत्तर हुआ त्रिलोचन, शंकर मंगलकारी हो।

अर्थ-श्लेष किस विलक्षणता से दिखलाया गया है, कवि की प्रतिभा का यहाँ पर्याप्त परिचय मिल जाता है।

शठ वर्णयामि भवतो नारीणामुपरि भूयसी प्रीतिः ;
प्रलपसि किमसंबद्धं, कस्यारिषु विद्यते प्रेम।

भगवती राधा 'ड्रेसिङ्गरूम' का दरवाज़ा बंद कर बैठी हैं—

अंगुल्यां कः कपाटे प्रहरति कुटिलो ! माधवः किं वसन्तः !
नो चक्री, किं कुलालो ? नहि धरणिधरः किं फणीन्द्रो द्विजिह्वः;
मुग्धे घोराहिमार्थी, किमुत खगपतिर्नो हरिः किं कपीन्द्रः ?
इत्थं लक्ष्म्या कृतोऽसौ प्रतिहतवचनः पातु लक्ष्मीधवो वः।

कृष्ण ने आकर दरवाज़ा खटखटाया। राधा ने पूछा—कौन कुटिल है, जो अँगुलियों से किंवाड़ खटखटा रहा है ? उत्तर मिला—माधव ! क्या माधव वसंत है ? नहीं चक्रपाणि ! क्या चक्रधारी कुम्हार ? नहीं धरणीधर हूँ ! क्या धरणीधर द्विजिह्व सर्प है ? नहीं मुग्धे ! कालयमन सर्प का मथन करनेवाला मैं हूँ ! क्या गरुड़ ? नहीं हरि ! क्या बंदर हो ? इस प्रकार निरुत्तर वनमाली कृष्ण हितकारी हों।

इसी प्रकार लक्ष्मी देवी दरवाज़ा बंद कर बैठी थीं, विष्णु आए—

कोऽयं द्वारि ? हरिः, प्रयाह्युपवनं, शाखामृगस्यात्र किं
कृष्णोऽहं दयिते, बिभेमि सुतरां कृष्णादहं वानरात् ;
मुग्धेऽहं मधुसूदनः पिब लतां तामेव तन्वीमले !
इत्थं निर्वचनीकृतो दयितया ह्रीतो हरिः पातु वः।

द्वार पर कौन है ? लक्ष्मी ने पूछा। हरि—उत्तर मिला। हरि ! अगर बंदर है, तो वन में जाओ, उसकी हमें क्या ज़रूरत ? अरे कृष्ण हूँ ! तब तो मुझे कृष्ण (काले) बंदर से बहुत डर लगता है। मैं मधुसूदन हूँ ! मधुसूदन ! अगर मधुप हो, तो लता का पान करो, यहाँ भ्रमर की क्या ज़रूरत ? इस प्रकार निर्वचन हुआ विष्णु भगवान् कल्याणकारी हो।

पाठक देखें, विचारें, इन संवादों में कितना भाव-गांभीर्य है, शब्द-विन्यास भी कितना सुचारु है, केवल एक शब्द से ही वादी-प्रतिवादी को अर्थज्ञ हो जाना पड़ता है।

इससे आगे पाठकों को हम सरस पद्यों का आस्वाद कराएँगे ; मगर इससे पहले हम सरस शृंगार-रस के अखाड़ों में पाठकों को सैर कराना चाहते हैं—

हारोऽपि नार्पितः कण्ठे सम्भोगस्पर्शभीरुणा ;
आवयोरन्तरे जाताः पर्वताः सन्ततं द्रुमाः।

वियोगी विरहानल से जल रहा है, पूर्वस्मृतियाँ सजग हो रही हैं, वह कहता है—

ओफ़ ! पहले मैंने उसके और अपने में अंतर रखनेवाले हार को भी निकाल दिया था, वह भी मुझे असह्य था, मगर अब ये नहीं, वृक्ष, बड़े-बड़े पर्वत हमारे बीच में हैं, कितनी दूर है वह अब ?

तैलाक्तानलकान् कपोलपतितान् उत्क्षिप्य कर्णान्तिकं,
वस्त्रार्धेन विलम्बिना, सरभसं प्रच्छाद्य पीनौ स्तनौ ;
बाला वायसमेवमाह रुदती, दास्यामि यत्ते प्रियं,
चूतात्केसरपादपं व्रज शनैर्यचेति मे वल्लभः।

कामतप्ता नायिका खड़ी है—पति के आने की प्रतीक्षा में है, बेचारी विकल हो रही है। तैलसिञ्चित केश कपोल-मंडल पर आ गए थे। उन्हें समेटकर उसने कान के पास कर लिए। लटकते हुए आँचर से जल्द अपने पीन कुचों को ढक लिया, फिर रोती हुई सामने आम्र पर बैठे हुए कौए से बोली—काक ! जो तुम्हें प्रिय है वही मैं दूँगी, अगर तुम इस आम्र-वृक्ष को छोड़कर चुपचाप केशर के वृक्ष पर चले जाओ, और वहाँ से मुझे पति के आने की सूचना दो।

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैर्वाष्पैरजस्रं गतं,
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं, चित्तेन गन्तुं पुरः ;
गन्तुं निश्चितचेतसि प्रियतमे, सर्वे समं प्रस्थिताः,
गन्तव्ये सति जीवितप्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते।

बेचारी नायिका आकुल हो रही है, पति विदेश जाने को तैयार है—वह अपने प्राणों से कह रही है—मारे विरह-वेदना के हाथ पतले हो गए, जिससे कंकण नीचे गिर गए, रोते-रोते आँखें सूज गईं, आँसू भी नहीं रहे, धैर्य एक मिनट नहीं ठहरा, वह हृदय के साथ-साथ ही चला गया। इस प्रकार हे प्राण ! पति के साथ-साथ सबने ही प्रस्थान कर लिया, तब तुम यहाँ ठहरकर क्या करोगे ? तुम्हें भी साथ-साथ जाना चाहिए ! कितनी दर्दभरी आह है !

कुरु करे गुरुमेकमयोघनं, बहिरितो मुकुरं च कुरुष्व मे ;
विशति तत्र यदैव विधुस्तदा, सखि सुखादहितं जहि तं द्रुतम् ।

सखि ! यह चंद्रमा बड़ा पाजी है, यह शांति नहीं रहने देता । तुम एक काम करो, एक शीशा तो सामने रख दो, और एक हथौड़ा अपने हाथ में ले लो, फिर जब वह दुष्ट चंद्र इस शीशे में घुसे, तब तुम उसे ख़ूब मारो । वह बड़ा ही शत्रु है ।

कितनी अद्भुत कल्पना है, इसीलिये तो आज उन अमर कवियों की संजीवनी कविता मौजूद है ।

सती कहने लगी, तुम्हारा स्त्रियों पर बड़ा प्रेम है ? शिव ने 'नारीणां' का 'न' पृथक् समझा, जवाब दिया, कितनी असंबद्धप्रलापिनी हो, दुश्मनों पर भी किसी का प्रेम हुआ करता है ।

त्यज रुषमवेहि मानिनि ? मामीश्वरमार्चितं त्रिभुवनस्य ;
त्र्यम्बक यदीश्वरस्त्वं नग्नः किं धूलिधूसरितः ।

सती पार्वती मान किए बैठी हैं । शंकर ने कहा—मानिनि ! अब तो मान छोड़ दो, मेरी तरफ़ भी ज़रा देखो, कुछ जानती हो, मैं अखिल विश्व का स्वामी हूँ, सब मेरी अर्चना करते हैं । सती कहने लगी—बिलकुल ग़लत, यह हो सकता है कभी ? भला इन बातों पर हँसी न आवे, तो क्या हो ? पहनने के लिये न एक कपड़ा है, सदा धूलि में सने रहते हो, फिर कहने चले हो—मैं संसार का मालिक हूँ, यह गपोड़े नहीं हैं तो हैं क्या ?

पण्डितवादस्तव यदि लोकेऽहं त्र्यम्बको विदित एषः ;
अम्बा ह्येकाऽपि न ते प्रजल्पति त्वं कुतस्तिस्रः ।

अच्छा देवि ! दिक़ होकर शिव ने कहा—अगर तुम कुछ भी पंडिता हो, और व्याकरण जानती हो, तो लो मैं बतलाए देता हूँ, मुझे संसार 'त्र्यम्बक' नाम से मानता है । अजी वाह ! क्या कहने ? पार्वती बोली—अच्छी उलटी-सीधी हाँकते हो, मा तो एक भी नहीं, और लगे कहने कि मैं तीन मातावाला हूँ !

किं मे दुरोदरेण ! प्रयातु यदि गणपतिर्न तेऽभिमतः ;
कः प्रद्वेष्टि विनायकमहिलोकः किन्न जानासि ।

अच्छा लो—शिव कहने लगे, मुझे दुरोदर—जूए से कोई मतलब नहीं, मैं उसे नापसंद करता हूँ । पार्वती ने कहा—क्या ख़ूब ! दुरोदर गणेश से आप नापसंद हैं, तो वह बेचारा यहाँ से चला जाए । नहीं, शिव ने कहा—विनायक (गणेश) से कौन द्वेष रखता है ? पार्वती बोली—धन्य हो, तुम तो सर्वज्ञ हो न ! यह भी नहीं जानते कि विनायक (गरुड़) से सर्प द्वेष रखते हैं ।

चन्द्रग्रहणेन विना नास्मि रमे, किं प्रवर्तयस्येवम् ;
देव्यै यदि रुचितमिदं, नन्दिन्नाहूयतां राहुः ।

जुआ लग रहा था—पार्वती ने चंद्र को भी जीत लिया । शिव कहने लगे—क्यों ! खेलो, अब ख़तम क्यों हो गया ? पार्वती बोली—वाह ! पहले चंद्र ग्रहण करूँगी, पीछे खेलूँगी । शिव ने समझा—पार्वती चंद्र-ग्रहण चाहती है, फिर उन्होंने नंदी से कहा—अच्छा भाई ! अगर पार्वती यही चाहती है, तो जाओ राहु को बुला लाओ ।

नपुंसकमिति ज्ञात्वा प्रियायै प्रेषितं मनः ;
सोऽपि तत्रैव रमते हताः पाणिनिना वयम् ।

पाणिनि ने भी हमें अच्छा धोखा दिया है—उसने 'मन' को नपुंसक माना है, हमने ऐसा समझकर उसे प्रिया के पास भेज दिया, मगर वह तो वहाँ जाकर ऐसा पुरुष बना कि वहीं रम गया, हम तो धोखे-धोखे में मारे गए ।

सरस सुधाकर की ज्योत्स्ना खिल रही है, प्रकृति निस्तब्ध है, वियोगी बैठा है । उससे प्रश्न होता है—वियोग अच्छा या संयोग ? बेचारा ठंडी साँस लेकर कहता है—

एकैव संगमे बाला वियोगे तन्मयं जगत् ;
कृतोपकार एवायं, वियोगः केन निन्द्यते ।

संयोग के समय, तो केवल वही एक रहती है, उसी का केवल सुंदर स्वरूप रहता है । मगर जब वियोग होता है, तब वह प्रिया सारे जगत् में दिखलाई देती है । सदा आँखों के सामने उसी का रूप रहता है । इस लिये वियोग उपकारी है, इसकी मेहरबानी से प्रिया सारे संसार में तो दिखाई देती है ।

अब हम पाठकों के सामने एक ऐसा पद्य रखते हैं, जो कविता की दृष्टि से सर्वांगसुंदर है तथा हृदय की आह का द्योतक है ।

स मे समासमो मासो सा मे माससमा समा ;
यो या तयातया याति या यात्यायामया तया ।

प्रिया के साथ मेरे ३६५ दिन बीते, मगर मुझे वह केवल एक महीने के समान प्रतीत हुए । मगर उसके बिना केवल जो एक महीना बीता, वह पूरे एक वर्ष

के समान बीता। प्रत्येक पंक्ति में दो-दो ही अक्षर हैं। इसकी जोड़ के श्लोक सहज-साध्य नहीं।

विरह-ज्वाला से तप्त कामी तड़प रहा है, गिगर फड़क रहा है, मानिनी का मधुर चेहरा याद आ रहा है, बेचारा विकल होकर रो रहा है। उसी का वयस्क उसे आश्वासन दिलाता है।

कामिनीकायकान्तारे, कुचपर्वतदुर्गमे ;
मा सञ्चर अये ! पान्थ ! तत्रास्ति स्मरतस्करः।

कुछ ख़बर है, कामिनी का कोमल कलेवर एक कांतार है, स्तन-मंडल वहाँ दुर्गम पर्वत है, और वहीं स्मररूपी ठग निवास करता है, इसलिये वहाँ विचरण मत करो, उसका ध्यान मत करो।

दृष्टा दृष्टिमधोददाति कुरुते नालापमाभाषिता,
शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति बलादालिंगिता वेपते ;
निर्यान्तीषु सखीसु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते,
जाता वामतयैव मेऽद्य सुतरां प्रीत्यै नवोढा प्रिया।

जब उसे देखता हूँ, तो आँखें नीची कर लेती है; बातें करता हूँ, तो चुप हो जाती है; साथ शयन करता हूँ, तो करवट बदलकर सोती है; अगर बलपूर्वक आलिंगन भी करता हूँ, तो काँपने लगती है; जब कोई सखी बाहर जाती है, तो उसके साथ ही भागना चाहती है। इस प्रकार वह नव प्रेयसी यद्यपि मेरे प्रतिकूल है, फिर भी मेरे आनंद का संवर्धन करती है।

अब एक पद्य और उद्धृत कर हम इसका उपसंहार कर देंगे।

उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकानां
मुकुलितनयनानां, किञ्चिदुन्मीलितानाम् ;
सुरतजनितखेदस्विन्नगण्डस्थलाना-
मधरमधु वधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति।

बिखरे हुए केश छाती पर पड़े हैं, आँखें कुछ-कुछ उन्मीलित हैं, कुछ-कुछ बंद हैं। सुरतश्रम से कपोलों पर स्वेद-बिंदु झलक रहे हैं, ऐसी वधू का अधर-मधु भाग्यशील ही पीते हैं।

अवसर मिलने पर फिर पाठकों को हम थोड़ा-थोड़ा रस चखाते रहेंगे।

रवींद्रचंद्र शास्त्री

सुमन-संचय

१. हिंदी और उर्दू

हिंदी की लिपि भारतवर्ष के मस्तक की उपज है और उर्दू की लिपि अरब की। यदि भारतवर्ष का आविष्कार दूसरे देश के समान भी हो, तो भारत-वासियों को भारतीय वस्तु की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। परंतु यदि भारत की लिपि दूसरी लिपियों और अन्य भाषाओं से उत्कृष्ट हो, तो अपनी लिपि और भाषा को छोड़कर दूसरों की लिपि और भाषा ग्रहण करना दासत्व का चिह्न है। यदि हमारी भाषा और लिपि की अपेक्षा दूसरी भाषा वा लिपि अच्छी हो और वह राष्ट्रीय बनने के योग्य हो, तो हमें उसके ग्रहण करने में भी पक्षपात नहीं होना चाहिए। झगड़ा अधिकतर हिंदी और उर्दू का है, इसलिये दोनों की विवेचना करते हैं—

हिंदी	उर्दू
१—हिंदी-लिपि भारतवर्ष के मस्तक की उपज है।	१—उर्दू की लिपि अरबी है।
२—हिंदी लिखने की रीति प्राकृतिक है, और सुगम है, क्योंकि बाईं ओर से दाहिनी ओर को हाथ सुगमता से चलता है।	२—उर्दू के लिखने की रीति अप्राकृतिक है; क्योंकि दाहिनी ओर से बाईं ओर को हाथ सुगमता से नहीं चलता। परंतु गणित के अंक (रक़में) बाईं ओर से दाहिनी ओर को ही लिखी जाती हैं, यद्यपि प्रत्येक अंक की बनावट दाहिनी ओर से ही प्रारंभ होती है।
३—जिस वर्ण का जो उच्चारण मुख से निकलता है, वही उस वर्ण का नाम है। अर्थात् नाम और उच्चारण एकही है। जैसे—क, ख इत्यादि।	३—अक्षर का उच्चारण और नाम एक नहीं। जैसे—उच्चारण "अ" और नाम "अलिफ़" है।
४—प्रत्येक उच्चारण के लिये पृथक्-पृथक् चिह्न हैं। जैसे—ङ, ञ, ण, न, म के लिये पृथक्-पृथक् चिह्न हैं।	४—प्रत्येक उच्चारण का पृथक्-पृथक् चिह्न नहीं। जैसे—ऊ, ओ, औ और व के लिये "वाव", ई, ए और य के लिये "य" और न, ञ, ङ, ण के लिये केवल "नून" है।

हिंदी

५—प्रत्येक उच्चारण के लिये केवल एक-एक ही चिह्न है। जैसे—ककार के लिये केवल एक ककार ही चिह्न है।

६—प्रत्येक असंयुक्त व्यंजन के लिये असंयुक्त ही चिह्न है। जैसे—ख, घ आदि।

७—विना नियम के कोई शब्द नहीं। यदि उच्चारण ठीक हो, तो लिखने में अशुद्धि नहीं हो सकती।

८—अक्षरों के मिलाप के नियम क्रमबद्ध हैं। जैसे—पाईवाले अक्षरों की मिलते समय पाई दूर हो जाती है। जैसे—स्कूल, और विना पाईवाले नीचे-ऊपर लिखे जाते हैं। जैसे—लड्डू, मिट्टी आदि।

९—अक्षरों के मिलते समय जो परिवर्तन होते हैं, वे सनियम हैं। यदि रेफ से पहले का अक्षर और रेफ स्वर-सहित हो, तो अलग लिखा जाता है। यदि रेफ से पहले का व्यंजन स्वररहित हो, तो पहले व्यंजन में रेफ होगा। जैसे—क्रम आदि, और यदि पहला स्वरसहित और रेफ स्वररहित हो, तो रेफ अगले व्यंजन के सिर पर लिखा जाता है। जैसे—कर्म, मार्ग आदि। ऋकार नीचे लिखी जाती है। जैसे—कृषक।

१०—अक्षरों के उच्चारण के समानांतर ही शब्द बन जाते हैं, इसलिये बालकों को पढ़ने में कठिनता नहीं होती। जैसे—क और ल मिलकर कल बन जाता है।

११—विद्यार्थी को आकृति बहुत कम याद करनी पड़ती है, क्योंकि इनकी गणना परिमित है।

१२—अक्षरों का क्रम नियमानुसार है, प्रथम स्वर हैं जिनमें प्रथम मूल-स्वर हैं, जो कंठ से आरंभ होकर क्रमशः ओष्ठ तक उच्चरित होते हैं। जैसे—अ, इ, उ आदि। फिर संधिस्वर हैं। जैसे—ए, ऐ, ओ, औ आदि। फिर व्यंजन हैं। इनमें भी पहले कंठस्थानी क ख ग घ ङ और ये भी क्रम से उत्तरोत्तर कंठभाग से बोले जाते हैं, फिर तालु से च, छ आदि और अंत में प फ ब भ म ये ओष्ठ से उच्चरित होते हैं, फिर य र ल व श ष स है, जो कि अंतस्थ और ऊष्म है। उनका क्रम से उल्लेख है।

उर्दू

५—प्रत्येक उच्चारण के लिये कई एक चिह्न हैं। जैसे—सकार के लिये सीन, स्वाद; जकार के लिये जीम, ज़े, ज़ाल, ज़ोय, ज़्वाद।

६—उच्चारण असंयुक्त है, पर चिह्न संयुक्त हैं। जैसे—ख का उच्चारण असंयुक्त एक है, परंतु यह लिखने में क् और ह के मेल से बनता है।

७—बहुत-से शब्द सर्वथा नियम-विरुद्ध हैं। जैसे—ईसा, ख़ुद, ख़्वेश, बिलकुल, फ़ौरन्, दफ़ातन इत्यादि।

८—व्यंजनों के मिलाप का कोई नियम नहीं, केवल अभ्यास से लिखना आ जाता है। जैसे—चल दो में चल और दो मिले हुए और अलग-अलग भी लिखे जाते हैं।

९—उर्दू में "बे" ६ प्रकार से लिखा जाता है, परंतु नियम कोई नहीं। जैसे—अब, बल, बी, बज, बू और सब्ज़ में बे की निशानी भिन्न-भिन्न है। किसी-किसी अक्षर की लिखते समय ऐसी आकृति बदल जाती है, जो असल अक्षर से बिलकुल नहीं मिलती। जैसे—बैत में य की आकृति और बाद में ऐन की आकृति और बहुत में ह की आकृति बिलकुल बदल गई है।

१०—अक्षरों का समूह उच्चारण करने से शब्द नहीं बनते, जिससे बालकों को पढ़ने में कठिनता होती है। दाल, ज़ेर, नून सुनकर दाल में ज़ीरे नून का ख़याल करेगा और सोचेगा कि कच्ची दाल की पक्की दाल बन गई, पर यह उसकी समझ में नहीं आ सकता कि दाल, ज़ेर, नून से दिन किस प्रकार बन गया।

११—बहुत-सी आकृतिएँ याद करनी पड़ती हैं, क्योंकि लिखते समय एक-एक अक्षर की कई-कई आकृतियाँ हो जाती हैं।

१२—अक्षरों का इसमें कोई क्रम नहीं, और न उच्चारण और बनावट का, जैसे—अलिफ़, बे, पे आदि। इसमें स्वर और व्यंजन को भी पृथक्ता नहीं।

हिंदी	उर्दू
१३—अक्षरों के उच्चारण वही हैं, जिनको भारतवासी प्राकृतिक रीति से सरलता के साथ उच्चारण कर सकते हैं।	१३—अक्षरों के उच्चारण वही हैं, जो केवल फ़ारिस और अरब के लोग ही उच्चारण कर सकते हैं। जैसे—स्वाद, ज़्वाद, तोए, ज़ोए, ऐन।
१४—यह भाषा देशप्रेम से स्वतंत्रतापूर्वक सीखी जाती है।	१४—यह केवल राजभाषा और नौकरी के लिये सीखी जाती है।
१५—इस भाषा द्वारा लिखना-पढ़ना थोड़े समय में आ जाता है।	१५—इसके सीखने में बड़ी देर लगती है।
१६—शब्द का उच्चारण करने से वायुमंडल में जो आकृति अक्षर की बनती है, वह हिंदी-लिपि से मिलती है।	१६—इसमें ऐसा नहीं है।
१७—इस भाषा को देश के सब मनुष्य थोड़ा बहुत समझते हैं। रामायण की कथा समस्त देश में प्रसिद्ध है और यथाशक्ति, शक्तिशाली, दर्शन, नेत्र, धर्म, धन आदि शब्द सब प्रांतों में समझे जाते हैं।	१७—हत्तुल, इमकान, क़ादरे, मुतलक़ आदि शब्दों को फ़ारसी-अरबी जाननेवाले ही समझ सकते हैं। यदि उर्दू से ऐसे शब्द निकाल दें, तो वह हिंदी ही बन जाती है, केवल लिपिमात्र में भिन्नता है।
१८—भिन्न प्रांतों की लिपि में गुरुमुखी, मरहठी, बंगाली, गुजराती, सिंधी इत्यादि सब हिंदी-लिपि से मिलती-जुलती हैं। इसलिये सब प्रांतों के मनुष्य इसे सरलता से सीख सकते हैं।	१८—इसकी सूरत-शकल निराली ही है।
१९—सब प्रांतों के मनुष्य चाहे वे बंगाली, मरहठी या पंजाबी आदि ही क्यों न पढ़ें, परंतु वे क्लासिकल भाषा संस्कृत लेते हैं, इसलिये सबको हिंदी-लिपि पढ़नी पड़ती है।	१९—पंजाब के भी केवल मनुष्य और थोड़े-से दूसरे सूबों के मनुष्य ही उर्दू पढ़ते हैं और उनमें से भी बहुत ही थोड़े क्लासिकल भाषा फ़ारसी लेते हैं।
२०—इस भाषा की लिपि में विद्या का भंडार उर्दू की अपेक्षा बहुत ही अधिक है।	२०—इसमें बहुत ही कम विद्या का भंडार है; और वैज्ञानिक पुस्तकों की तो बहुत ही कमी है।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि राष्ट्रभाषा हिंदी और केवल हिंदी ही बन सकती है। किंतु देश, अवस्था और काल को विचारकर यह अनुमोदन किया जा सकता है कि प्रत्येक प्रांत की भाषा भिन्न-भिन्न हो। पंजाब में पंजाबी, बंगाल में बंगाली, महाराष्ट्र में मरहठी और संयुक्तप्रांत में हिंदी आदि। प्राइमरी की अंतिम श्रेणी चतुर्थ श्रेणी से हिंदी सीखना अत्यावश्यक है। प्रांत की कौंसिलों में प्रांत की भाषा द्वारा विचार प्रकट किए जायँ, किंतु हिंदी बोलने की सर्वसाधारण को स्वतंत्रता होनी चाहिए। "लेजिस्लेटिव असेम्बली" में सबको अपने देश की भाषा हिंदी बोलनी चाहिए। इस तरह से देश की भाषा "हिंदी" शीघ्र ही बन सकती है।

उर्दू-भाषा के देश में आने का कारण

जब पठानों की हुकूमत भारतवर्ष में आई, तो उन्होंने अपनी सुगमता के लिये फ़ारसी-भाषा प्रचलित की, जिस तरह अँगरेज़ों ने अँगरेज़ी-भाषा का प्रचार किया और फ़ारसी पढ़ाने के मकतब खोले गए। देश की भाषा प्राकृत और अरबी-फ़ारसी के मेल से नई भाषा बन गई, जो उर्दू कहलाई। जैसे आजकल अँगरेज़ रोमन अक्षरों में उर्दू-भाषा को लिखना पसंद करते हैं, इसी तरह मुग़ल-बादशाहों ने फ़ारसी अक्षरों में ज़बान को लिखना सुगमता के लिये आवश्यक समझा। और जब बहुत-से लोग इस भाषा के पढ़नेवाले हो गए, तो उन्होंने इसका पक्ष ले लिया।

भाषा का प्रश्न साम्प्रदायिक नहीं

ज़बान के प्रश्न का मतमतांतरों से कुछ संबंध नहीं, यह केवल देश का प्रश्न है। जर्मन, इँगलैंड, फ्रांस सब ईसाई हैं, परंतु इनकी देशभाषा भिन्न-भिन्न है।

तुर्कों की भाषा तुर्की, पठानों की फ़ारसी, अरबवालों की अरबी। इसी तरह भारत की भाषा हिंदी होनी चाहिए। उदाहरणार्थ लीजिए—मौलाना शर्फुद्दीन भूतपूर्व जज हाईकोर्ट कलकत्ता नागरी-प्रचारिणी सभा के मंत्री थे। मौलाना आसफ़अली ने गुरुकुल में हिंदी की पुष्टि में भाषण दिया। इसी तरह रहीम, उसमान, रसखान, अमीर ख़ुसरो, शेख़ आलम, मलिक मुहम्मद जायसी, मुबारक आदि बड़े-बड़े हिंदी के कवि हो चुके हैं। जिस देश की अपनी भाषा नहीं, वह देश किस तरह से सभ्य कहला सकता है। हिंदी-भाषा के प्रचार से भारतवर्ष का संबंध प्राचीन व्यतीत समय से हो जाता है और यह देश असभ्य देशों की गणना से निकलकर फिर से सभ्य लोगों की गणना में सम्मिलित होने लग जायगा। आशा है, विचारशील लोग इस विषय पर गूढ़ विचार करेंगे और हिंदी की आवश्यकता और विशेषताओं को विचार-कर ज़ातपाँत-मतमतांतरों के पक्ष को छोड़कर इसके प्रचार के लिये कटिबद्ध हो जायँगे।

बिहारीलाल

× × ×

२. खिलौना

सोहै सिखीपुच्छन को गुच्छ सिर पेंच पर,
सरल सलोने, सुचि, श्यामल बदन के;
काछनी कलित कटि, बाँसुरी अधर मंजु,
मनोहारी मुसुक्यानि मध्य में रदन के।
मैया लै गिरीश जू बलैया कहै "ऐरी सखी!
ऐसे हैं कन्हैया जोरीदार-से मदन के;
झूठ की हद न करु पूतना कँदन कहि,
अबै मों नँदन तो खिलौना ही सदन के।"

गिरिजाशंकर मिश्र "गिरीश"

× × ×

३. मद्यपान के प्रचारक कौन हैं ?

भारतीय प्रजा की दरिद्रता के जो अनेक कारण हैं, उनमें मद्यपान का प्रचार एक मुख्य कारण है। भारतवर्ष में अनेक सरकारें राज्य कर चुकी हैं, परंतु उन सबमें ब्रिटिश-सरकार ने यहाँ के लोगों को शराब का व्यसन लगाकर जितना चरित्रहीन और धनहीन बनाया है, उतना किसी ने नहीं! भारत में अँगरेज़ी शासन के शुरू होते ही वारुणी देवी भी ख़ूब आने लगी। बढ़िया-बढ़िया प्रकार की शराबें यहाँ पर आनी प्रारंभ हुईं! आकर्षक विज्ञापनों एवं चित्रों द्वारा उसका ख़ूब प्रचार किया जाने लगा। इतना ही नहीं, अँगरेज़ों के यहाँ पर आने से पहले जो लोग मद्य का सेवन करना महापाप मानते थे, वे भी इसके व्यसन में पड़ गए। शराब आदि सब प्रकार की मादक वस्तुओं का प्रबंध सरकार ने अपने ऊपर लिया। शराब का ठेका देने की प्रथा प्रारंभ हुई और गली-गली में शराब की दूकानें स्थापित होने लगीं। केवल अँगरेज़ी प्रजा ही नहीं, पश्चिम की प्रजा जहाँ-जहाँ भी पदार्पण करती है, वहाँ-वहाँ वारुणी भी अवश्य पधारती है। पश्चिम के देशों ने एशियाई देशों में बाइबिल, बीयर (शराब) और बियोनेट (किरच) के द्वारा ही अपनी सत्ता स्थापित की है।

अमेरिका में शराब कैसे शुरू हुई ?

योरपियन लोगों के अमेरिका में जाने से पहले वहाँ के लोगों को शराब का नाम तक भी मालूम नहीं था। अपना पैर टिकाते ही योरपियनों ने वहाँ पर शराब का प्रचार प्रारंभ किया। सन् १५३५ में उन्होंने यह काम बड़े वेग से शुरू किया। योरपियन अमेरिका के मूल-निवासियों को प्रीतिभोजों में बुलाते थे और अनेक प्रकार की शराबें पिलाया करते थे। वर्तमान समय में न्यूयार्क-शहर जिस टापू पर स्थित है, उसका नाम है 'मैन हेक्टनेक'। इस शब्द का अर्थ है 'इस स्थान पर सब लोगों ने शराब का भोजन किया।' मेसेच्युसेटस में रहनेवाले रेड-इंडियनों को ख़ुद मिशनरी लोग शराब पिलाते थे। सन् १६२० में रेड-इंडियन लोगों का एक सरदार मिशनरी से मिलने गया, तो उसका स्वागत-सत्कार शराब पिलाकर किया गया। इस प्रकार रेड-इंडियन लोगों में शराब की आदत ख़ूब पड़ गई। मद्यपान की यह आदत इतनी बढ़ गई कि रेड-इंडियनों के प्रधान को इस पर प्रतिबंध लगाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। परंतु शराब के इस वेग को रोकने में वे असमर्थ हुए। मद्यपान के विरुद्ध आन्दोलन करनेवाले रेड-इंडियनों के नेता का नाम था 'लिटल टर्टिल।' उसने शराब के विरुद्ध बहुत प्रयत्न किया। उसने तत्कालीन प्रधान मि० एडम्स से जाकर प्रार्थना की कि कृपया ऐसा

प्रयत्न कीजिए कि गोरे लोग हमारी सीमा में शराब न लावें। परंतु यह प्रार्थना व्यर्थ गई।

थोड़े समय के पश्चात् मिशनरी लोगों की एक वार्षिक सभा हुई। उसमें टर्टिल ने निम्न-लिखित आशय का भाषण किया था—

"तुम लोग हमारे आदमियों में शराब के रूप में विष का प्रचार कर रहे हो। शराब के प्रचार के कारण हमारी बुद्धि नष्ट होने लगी है। उसके द्वारा हम लोगों में कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो गए हैं, जिनका नाम तक हमको पता नहीं है। यदि तुम लोग हमारे सच्चे हितेच्छु हो, तो इस बुद्धि-नाशक वस्तु को हमारे देश के अंदर लाना छोड़ दो! हमको तलवार और बंदूक़ की अपेक्षा इसका अधिक भय है। इसके द्वारा हम ग़रीब होते जा रहे हैं।"

इसके बाद लिटल टर्टिल ने बताया कि किस प्रकार शराब का प्रचार हम लोगों में बढ़ाया जा रहा है—

"हमारे जवान शिकार करके लौट रहे होते हैं, तब उनके रास्ते में शराबवाले गोरे बैठे होते हैं और वे उनसे शराब पीने का आग्रह करते हैं। एक के यहाँ से छूट निकलने पर दूसरा दूकानदार आगे आ जाता है। उससे भी छूट जाय, तो तीसरा आ जाता है। इस प्रकार किसी-न-किसी के यहाँ तो वे फँस ही जाते हैं और इस प्रकार शराब पीकर वे अपनी सुध-बुध भूल जाते हैं। जब वे नशे में चूर हो जाते हैं, तब उनका लाया हुआ शिकार गोरे लोग छीन लेते हैं।"

लिटल टर्टिल के भाषण का कुछ भी फल न आया और अंततोगत्वा मद्य के प्रतिबंध के लिये रेड-इंडियनों को हथियार उठाने पड़े।

इन गौरांग महानुभावों ने जिस प्रकार अमेरिका में शराब का प्रचार किया, उसी प्रकार अफ़्रीका के हबशी लोगों में उसे प्रचलित किया। 'रोड'-नामक टापू में रम-नामक शराब के छः बड़े पात्र ले जाए गए और वहाँ से शराब के बदले में ग़ुलामों का एक जहाज़ भरकर अमेरिका को भेजा गया। और इसी के कारण वहाँ पर ग़ुलामों का व्यापार भी बढ़ गया। योरपियन लोग अन्य राष्ट्रों पर अपनी हुकूमत स्थापित करने के लिये जिन अच्छे-बुरे उपायों का अवलंबन करते हैं, उनमें 'मद्य-प्रसार' मुख्य है।

हिंदुस्तान में मद्य का प्रसार

भारत में अँगरेज़ी शासन से पहले शराब का प्रचार न था, यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। हिंदुओं के धर्म-ग्रंथों में शराब पीना एक महापाप माना गया है। इसी प्रकार मुसलमानों के धर्म में भी मद्य को निषिद्ध बताया गया है। परंतु अँगरेज़ी सत्ता के स्थापित होने के साथ ही वारुणी देवी का सारे भारत-वर्ष में साम्राज्य-सा स्थापित हो गया। सन् १८७४ में बंगाल के प्रख्यात नेता श्रीयुत केशवचंद्र सेन ने स्पष्ट कहा था कि "शराब ने मेरे देशबंधुओं का जितना शारीरिक, सामाजिक और नैतिक पतन किया है, उतना अन्य किसी वस्तु ने नहीं।

सन् १८८९ में हाउस आफ़ कामंस में सर लेथब्रिज ने भारत में मद्यपान का प्रतिबंध क़ानून द्वारा किया, तो भी हिंदुओं को शराब की ज़रूरत है, इस अभिप्राय का एक भाषण दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि हाउस आफ़ कामंस में ३० एप्रिल १८८९ के दिन निम्न-लिखित प्रस्ताव हुआ—

"हिंदुस्थान में शराब के कारख़ाने अधिक होने लगे हैं और लोकमत विरुद्ध होने पर भी शराब की दूकानें खुलती जा रही हैं तथा लोगों में मद्य-पान बढ़ने के कारण वे ग़रीब और चरित्रहीन होते जा रहे हैं, इसलिये मद्यपान के प्रतिबंध के लिये भारतीय सरकार को उचित कार्य करना योग्य है।"

पार्लियामेंट में इस प्रकार का नियम हो जाने पर हिंदुस्थानी-सरकार ने इस ओर ध्यान दिया और ऐसा निश्चय किया कि 'शराब आदि मादक द्रव्यों पर महसूल बढ़ा देना। शराब का व्यापार पुलिस के नियंत्रण के नीचे चलाना। दूकानों की संख्या मर्यादित कर देना और जहाँ पर दूकान खोलनी हो, वहाँ का लोकमत जानकर ही दूकान खोलना'।

मद्य की उत्पत्ति में वृद्धि

परंतु उपर्युक्त नियम के अनुसार शराब की वृद्धि में थोड़ा-सा भी फ़र्क़ नहीं आया। दिनोंदिन आबकारी

उपज बढ़ती ही गई। निम्न-लिखित श्रंकों से यह वृद्धि स्पष्ट मालूम हो जायगी—

सन् १८६१ में—१ करोड़ ५० लाख
सन् १८७४ में—२ करोड़ २० लाख
सन् १८६६ में—५ करोड़ ५० लाख
सन् १६०५ में—८ करोड़ १० लाख
सन् १६१३ में—१२ करोड़ ७५ लाख
सन् १६२० में—१६ करोड़ २४ लाख
सन् १६२८ में—२० करोड़ ५७ लाख

ये आँकड़े स्पष्ट हैं। इनके विषय में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। मद्यपान के विरोध में सरकार की ओर से सदा से ही संयम (Temperance) की लचर और पोली दलील दी जाती रही है। जो लोग पहले शराब की गंध से भी दूर भागते थे, उनको भी इस मितपान (संयम) के नाम द्वारा शराब का चसका लगा दिया है। साथ ही यह भी कहा जाता है कि सरकार लोगों पर ज़बर्दस्ती करके उनके इच्छास्वातंत्र्य को रोकना नहीं चाहती, परंतु प्रश्न यह है कि शराब की तरह सरकार अन्य विषयों के लिये भी लोगों के स्वातंत्र्य पर क्यों दख़ल देती है?

सन् १६०५ में सरकारी आय-व्यय-विभाग (Department of finance) की ओर से एक घोषणा की गई थी। उसमें भी पान-स्वातंत्र्य की महिमा गाई गई थी और लोगों को शराब अधिक नहीं पीनी चाहिए, इसके लिये कहा गया था कि शराब पर महसूल बढ़ाया जायगा, शराब की दूकानें सीमित की जायँगी, और लोकमत का विचार करके ही कार्य किया जायगा। सरकार इस लोकमत का कितना ख़याल रखती है, इसका भी एक उदाहरण लीजिए।

पूना-शहर में मद्यपान के विषयों में लोकमत किस पक्ष का है, यह जानने का प्रयत्न किया गया था। वहाँ पर शराब के विरुद्ध में लोकमत के होते हुए भी शराब की दूकानें आज तक विद्यमान हैं। भारत के अन्य नगरों की स्थिति भी ऐसी ही है। सन् १८८४ में बंगाल एक्साइज़-कमीशन के सामने साक्षी देते हुए श्रीयुत केदारनाथ राय ने इस विषय में सरकार की ख़ूब पोल खोली थी। ऊपर से मितपान और संयम का नाम लेकर अंदर शराब का प्रचार करना, यह काम नौकरशाही सदा से करती आई है।

इस विषय में लोकमत बहुत कुछ जागृत होने लगा है। टेम्परेंस-सोसाइटी के सज्जनों ने सन् १६०७ में तथा सन् १६१२ में भारत-सचिव से तथा १६१३ में वायसराय से इस बाबत मुलाक़ात की थी। प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं में भी शराब के विषय में अनेक बार प्रश्न किए गए हैं। परंतु इन सब प्रमाणों का फल क्या निकला, यह उपर्युक्त अंकों द्वारा स्पष्ट ही है।

भारत के विभिन्न प्रांतों की शराब की उपज को देखने से ज्ञात होता है कि कई प्रांतों में यह ३३ प्रतिशतक तथा ३५ प्रतिशतक तक उत्पन्न होती है। यह सब उत्पत्ति लोगों को नशे में चूर बनाकर उनकी बुद्धि, चरित्र और जीवन के सौख्य को नष्ट कर देती है। उनके बच्चे भी इस व्यसन में पड़कर तथा दरिद्रता के कारण भोजन के अभाव में प्रतिदिन कालकवलित होते रहते हैं।

सन् १६२६ के जून-महीने की टेम्परेंस परिषद् के सभापति श्रीमान् सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास महाशय ने कहा था—

"हिंदुस्थान को निमद्य किए बिना उसका उद्धार नहीं हो सकता। कांग्रस ने अब मद्यपान के विरोध को अपना कार्य-क्रम बनाया है, इसलिये जनता को इस आसुरी व्यसन के विरोध में महान् आंदोलन उठाना चाहिए। मनुष्य की बुद्धि ठिकाने रहे, तभी सब कार्य ठीक प्रकार चल सकते हैं। और मद्य बुद्धिनाशक है, अतः प्रत्येक देशप्रेमी को शराब के विरुद्ध आन्दोलन करना चाहिए।"

शंकरदेव

× × ×

४. पूर्णेन्दु

वह किसका हृदय निकलकर,
नीरव नभ पर मुसुकाता;
वह कौन सुधा वसुधा पर,
रिमझिम-रिमझिम बरसाता।
तारक मोती का गजरा,
है कौन उसे पहनाता;

नभ के सुकुमार हृदय पर,
वह कौन भला इठलाता।
पूजा के लिये किसी को,
क्या नभ-सर कमल खिलाता;
गुदगुदा सती-रजनी को,
वह कौन छली इतराता।
वह झूम-झूमकर किसको,
नव नीरव गान सुनाता;
क्या शशि तारक-मोती से,
नभ नीलम थाल सजाता।

श्यामनारायण पाण्डेय

× × ×

४. नील नीरद

(१)

श्यामघन ! तुम भव्य-भारतवर्ष की
सौख्यदा-सम्पत्ति के आधार हो;
और श्रीघनश्याम-सम निःस्वार्थ बन
प्राणिजन-उपकार तुम साकार हो।

(२)

दूसरों का लाभ करने के लिये
जन्म लेते तुम सदा संसार में;
नष्ट होते हो स्वयं तुम, डालकर
और को आनन्द-पारावार में।

(३)

है, नहीं वक-पंक्ति यह धवला भला
वेग से आगे तुम्हारे जा रही;
है तुम्हारी कीर्त्ति यह खग-रूप में
व्योम में छाकर मही पर आ रही।

(४)

जो जगत् की माधुरी का मूल है
भर रही तुममें वही है मिष्टता;
नम्र होना भूति[1] पा करके अधिक
है तुम्हारी यह अलौकिक शिष्टता।

(५)

हो तुम्हीं बस एक, करने के लिए
तप्त वसुधा पर अनुग्रह-दृष्टि को;
डालते हो तुम नहीं जल-बिंदुएँ
किन्तु वर्षाते सुधा की वृष्टि को।

(६)

हो दया-औदार्य के आधार तुम
और हो आगार तुम जल के, महा;
यह पपीहा आज फिर भी क्यों भला
है तुम्हारी यों बुराई कर रहा?

(७)

भुवन[1] के भण्डार इस भू-भुवन में
रिक्त होकर स्वयं, हो तुम भर रहे;
ग्रीष्म को भयभीत करने के लिये
हो गगन में गर्जना तुम कर रहे।

(८)

मेघ ! तुम-जैसे महा गम्भीर की
चञ्चला है क्यों वधू-सौदामिनी;
किसलिये है बन गई[2] क्षणकान्ति वह
आज होकर काम की-सी कामिनी।

(९)

शुष्कता रखते, कहीं पर वर्षते
और कर देते प्रलय भी तुम कहीं;
इसलिये यह ज्ञात होता है हमें
उच्चता पाकर किसे मद है नहीं।

(१०)

गर्व कर तुम इस तरह आकाश में
गर्जते हो क्यों महा अभिराम बन?
भूमि के ही नीर हो इस रूप में
और कुछ भी हो नहीं तुम श्याम घन!

कुँ० प्रतापनारायण

× × ×

१. अणिमा आदि अष्टसिद्धियाँ 'विभूतिर्भूतिरैश्वर्यम्' इत्यमरः।

१. जल 'जीवनं भुवनं वनम्' इत्यमरः।

२. बिजली 'ऐरावत्यः क्षणप्रभा ।...चञ्चला चपला अपि' इत्यमरः।

६. हर्ष के आँसू या विषाद की मुस्कुराहट

आज भारत की स्वतंत्रता संकट में है। नवनिर्मित प्राचीरें डगमगा रही हैं। उन्हें सँभालने के लिये बलिदान की आवश्यकता है। अभी इस दीवार की नींव डाले थोड़ा ही समय हुआ है। उसे ओलों की मार से बचाना है और मूसलाधार वर्षा से। फिर उसे मरुस्थल की बारें सुमूम से बचाना है और यामिनी की दमक से!

दिल्ली के वीर नरेश जयपाल ने अपमान से क्षुब्ध होकर अपने-आपको स्वतंत्रता की देवी पर बलिदान कर दिया था, पर युद्ध का देवता भी बलिदान माँगता था। उसकी प्यास बुझेगी रक्तप्लावन से!

विजयदशमी आई और अपने साथ हर्ष और आनंद का संदेशा लाई। एक अनिर्वचनीय प्रसन्नता की तरंग पंजाब के एक कोने से दूसरे कोने तक बहने लगी। प्रतापसिंह अपनी बूढ़ी मा की आँखों का तारा और अपनी नवविवाहिता पत्नी का सर्वस्व था। राजपूतगण उस पर नाज़ करते थे। जब प्रतापसिंह रणक्षेत्र से नंगी तलवार के साथ वापस आता, तो दुलहन उसके तमतमाए हुए मुँह को चूम लेती और ख़ून लगे हुए हाथों को दिल से लगा लेती। राजपूत वीर उसका जयजयकार करते और औरतें उसकी वीरता के गीत गातीं। गगनमंडल उसकी वीरता पर विस्मय-विमुग्ध होकर गर्व से सिर उठाता था, और सुमन उसे सुरभिपान कराते थे।

वही वीरवर 'प्रताप' परसों विजयदशमी मनावेगा। दुलहन आनंदसागर में सराबोर हो गई थी। थोड़े ही दिन बीते वृद्धा का लाल विद्रोहाग्नि शांत करके आया था। विवाह हुए अभी केवल ३-४ मास बीते थे। ससुराल में प्रथम 'विजयदशमी' के समय उसका हृदय किन-किन अरमानों का घर होगा, यह बतलाना असंभव है। आँखें रह-रहकर आकाश की ओर उठ जाती थीं। जो भावनाएँ कोकिल और पपीहे के व्यग्र हृदयों में वसंतागमन के समय उठती हैं—वही भाव, वही व्याकुलता और वही प्रसन्नता नवोढ़ा को विजयदशमी के आगमन के समय थी।

शाम होने को आई थी। रजनी प्रकृति से गले मिल रही थी। अंतरिक्ष पर लालिमा किसी शहीद के रक्त के समान व्यक्त हो रही थी। "प्रताप" घर में बैठा हुआ था कि सेनापति का आज्ञापत्र उसके नाम आया। अमीर सुबुक्तगीन एक प्रचंड सेना के साथ भारत की ओर बढ़ता चला आता था। उन्हें अति शीघ्र रोकना आवश्यक था। "प्रताप" को लिखा गया था कि फ़ौरन् तैयारी करके रात-ही-रात मुसलमानों का प्रतिरोध करने बढ़े। सेनापति की आज्ञा यम के बुलावे से कम नहीं। उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। वह दिल मसोसकर रह गया। आशाओं का प्रासाद धूलधूसरित हो गया। बूढ़ी मा बिलखकर रह गई और दुलहन सिर पीटकर। परंतु "स्वतंत्र भारत की यह रीति थी कि प्रेम, प्राण और सर्वस्व को देश पर बलिदान करते कोई न हिचकता था।"

परसों विजयदशमी है, और आज प्राणनाथ रण पर जा रहे हैं। पत्नी उन्हें क्या भेंट दे? अपने को और अपने दिल को तो वह पति के भेंट कर चुकी, अब उस काल की सताई हुई भग्नहृदया के पास बचा क्या है, जो हृदयसर्वस्व को भेंट करे। पर राजपूतों में यह रीति थी कि परदेस में रहनेवाले पति को वियोगिनी इस शुभ अवसर पर कुछ-न-कुछ भेंट अवश्य भेजती थी।

दुलहन के बाल रात के समान काले थे और नाग के जैसे बल खाते। उसकी एड़ियाँ केशवेणी को हृदय से लिपटाए लेती थीं। पहलेपहल 'प्रताप' के हृदय को इन्हीं नागिन-सी लटों ने मोह लिया था। दुलहन ने विषादपूर्ण हृदय और अश्रुपूर्ण नेत्रों से कुछ विचारा और फिर......और फिर क़ैंची लेकर कुछ केशगुच्छ काटे और 'रण के दूल्हे' के हाथों पर रख दिए।

(२)

विजयदशमी के ठीक एक दिन पहले रणचंडी का तांडव-नृत्य आरंभ हुआ। तलवार ख़ून की प्यासी थी और धरती रक्तसिंचन की। उभय पक्ष के योद्धा टूट पड़े और वीरता की ख़ूब दाद दी। 'प्रताप' एक बढ़ते हुए नद के समान था और उसकी तलवार बिजली से कम न थी। भारत का 'एकिलीज़' चमकते हुए सूरज के नीचे खड़ा ख़ून बहा रहा था। अपनी मातृभूमि को भेंट देगा वह रक्त की!

"इससे अच्छी भेंट और क्या हो सकती है?" पर अंशुमाली को भी रजनी अपने गोद में छिपा लेती है। चंद्रमा को भी मेघमाला आच्छादित कर लेती है। वीरवरों को भी मृत्यु ने कब छोड़ा है। मुसलमान जानते

थे कि जब तक 'प्रताप' जीता रहेगा, विजय असंभव है। स्वातंत्र्य-मंदिर का पुजारी लड़ते-लड़ते थक गया, शत्रुओं के बीच में घिर गया और एक नेज़ा खाकर गिर पड़ा। राजपूत मुसलमानों की अपेक्षा बहुत कम थे, कट-कटकर गिरने लगे और रणक्षेत्र शोणितप्लावित हो गया। धरती वीर सैनिकों के क्षत-विक्षत शवों से पट गई, और उसी रणक्षेत्र पर भारत का देदीप्यमान नक्षत्र, वीरवर 'प्रताप' अपने जीवन की अंतिम साँसें गिनने लगा।

अमीर सुबुक्तगीन का हृदय इस नवयुवक मूर्तिमान् वीरता की अकाल मृत्यु पर करुणा और विषाद से रो उठा। वह उसकी बहादुरी पर रीझ गया। उस समय जौहरी होते थे, जो हीरों की परख जानते थे।

सुबुक्तगीन उदासी के साथ 'प्रताप' के पार्श्व में आ खड़ा हुआ। आँखों में आँसू भर आए। आह 'प्रताप'! भारत के वीरश्रेष्ठ! स्वतंत्रता की पुकार तूने सुनी और उस पौदे को तूने अपने रक्त से सींचा, परंतु तुझ-जैसा 'माली' उसे पुनः प्राप्त न हुआ और यह पौदा अकाल में ही मुरझा गया।

बूढ़े अमीर ने आवेगपूर्ण स्वर में कहा—प्रताप! वीर-पुंगव! बोलो, बोलो! मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ? इस अंतिम समय में तुम्हारी कौन-सी अंतिमेच्छा पूरी करूँ?

मृत्यु अपने आगमन का अचानक संवाद ले आई थी। 'प्रताप' का हृदय विषाद और हर्ष से परिपूर्ण था। आँखें आँसुओं से भरी थीं, तो होठों पर मुस्कुराहट थी। उसे गर्व था तो इस बात का कि स्वयं को धर्म, देश और जाति पर बलिदान कर दिया था और शोक था तो इस बात का कि प्रेमप्यासी पत्नी को सुधारस-पान न करा सके। हा अभागे!

कठिनता से वह अपने करकमल कमरबंद तक ले गया और कुछ केशगुच्छों को बाहर निकाला। उन्हें करुणापूर्ण लोचनों से लगाया और फिर शुष्क अधर पर रक्खा। फिर उन बालों को अपने ख़ून से, जो अब तक पसली से तेज़ी से निकल रहा था, भिगोया और 'सुबुक्तगीन' की ओर यह कहकर बढ़ा दिया—"यदि आपके हृदय में वीरता और देशभक्ति का कुछ भी सम्मान हो, तो इसे मेरी पत्नी तक पहुँचा दीजिए।"

तब हर्ष और विषाद की दो आँसुओं की बूँदें मोतियों के समान उसके कपोल पर लुढ़क पड़ीं।

(३)

आज विजयदशमी है। सब प्रसन्न हैं, भारत आनंद-सागर में डूबा हुआ है, रागरंग की धूम है। हर्ष में सब ओतप्रोत हैं—एक के अतिरिक्त; और वह थी 'प्रताप' की अभागिनी पत्नी। वह खिन्न हृदय से चंद्रमा की ओर ताक रही थी। वह उसे रक्त में शराबोर दिखाई दिया। पास में एक क्षत-विक्षत पुष्पमाला पड़ी हुई थी। आह! अभागी, तू इन कमनीय फूलों के हार से किसकी अर्चना करेगी? तेरा तो सर्वस्व लुट गया, तेरे हृदय-पटल पर अंकित चित्र को तो काल के निष्ठुर हाथों ने मिटा दिया।

इस मुरझाई हुई माला से तेरी दशा क्या अच्छी है?

तब वृद्धा मा अपनी बहू के पास एक बर्तन लिए हुए आई, जिस पर एक कपड़ा ढँका था। वृद्धा काँप रही थी; उद्वेग और उत्तेजना से उसका रोम-रोम खड़ा हो गया था।

"बेटी, यह भेंट तेरे वीर पति की ओर से तुझको है।"

दुलहन ने विषाद और हर्ष के बीच में झूलते हुए आवरण-वस्त्र को हटाया। तब उसने क्या देखा? उसके वीरवर पति की कीर्ति-गाथा पात्ररूपी संसार में ख़ून से लिखी हुई थी, जिसे लिखने में केशवेणीरूपी अक्षरतूलिका काम में लाई गई थी।

बूढ़ी मा की आँखों में थे आँसू और दुलहन के अधरों पर एक मीठी मुस्कुराहट! पर यह कौन कह सकता है कि 'आँसू' हर्ष के थे वा विषाद के अथवा मुसक्यान शोक की थी या आनंद की?

अख़्तरहुसेन रायपुरी

× × ×

७. उपवन की शोभा

मुकुलित कलित मालती-कलिका
यौवन - मद - मतवाली;
थिरक-थिरककर झूम-झूमकर
हिला रही मृदु डाली।
मलय अनिल का मधुर भाव से
कलिका का लिपटाना;

...ता रहा है। 'मित्रस्य त्वा ...। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि ... सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानु- ... ततो न विचिकित्सति' 'मैं ...तमात्र को मित्र की आँखों ...र्थ को अपने जैसा समझूँ। ... की किसी रचना में भेद न ...में 'विश्वभ्रातृत्व' का, संसार के ...ा और इसी आदर्श को लेकर ...स हुआ।

...रतवर्ष ...युग आया, जब कि यह आदर्श ...से ओझल हो गया। परंतु जब कभी 'विश्व-...' का भाव लुप्त होने लगा, तभी उसकी राख से ...हात्माओं ने जन्म लिया, जिन्होंने उस आदर्श को ...से बचा लिया। अजातशत्रु के समय में ऐसा ही ...हात्मा अपने मार्ग पर चला जा रहा था। उसने ... सामने भेड़ों का एक गल्ला जाते हुए देखा। उस गल्ले ...क मेमना लँगड़ा रहा था। महात्मा ने उसे अपनी ... में उठा लिया। गड़रिया महात्मा की दया को देख- ...हँस पड़ा। उसने कहा, तुम इस मेमने पर कहाँ तक ...करोगे, इसकी तो अभी यज्ञ में बलि चढ़ जायगी। ...ा ने पूछा, वह यज्ञ कौन कर रहा है? गड़रिए ...र दिया, इस देश का राजा, अजातशत्रु। वह ...मा भेड़ों के गल्ले के पीछे-पीछे चलने लगा। कुछ ...ाद वह उस यज्ञवेदी के सामने आ खड़ा हुआ, ... सहस्रों पशु खूँटे से बँधे अपने भाग्य की प्रतीक्षा ...हे थे। यज्ञकुंड के चारों तरफ़ इस बीभत्स दृश्य ...देखकर महात्मा का हृदय दहल गया। उसने ...के सम्मुख एक तिनका तोड़कर रख दिया, और ...—"राजन्! क्या तुम इस टूटे तिनके को जोड़कर ...बना सकते हो?" राजा ने उत्तर दिया—"नहीं"। ...मा ने फिर कहा—"तुम्हारी तो इतनी भी सामर्थ्य ... कि तुम एक तिनका भी बना सको। प्राणी का मूल्य ...नके से बहुत ज़्यादा है। जिस चीज़ को तुम बना ...सकते, उसे नष्ट करने का तुम्हें क्या अधिकार है?" ...ा ने फिर कहा—"यदि तुम्हारा यज्ञ कुर्बानी के ...पूरा नहीं होता, तो इन सहस्रों असहाय प्राणियों को ...दो, ये तो अपनी रक्षा में अपनी ज़बान तक नहीं हिला सकते; यदि कुर्बानी ही करनी है, तो लो, मैं कुर्बानी के लिये तैयार हूँ, मुझे बलि चढ़ा दो, पर इन निहत्थे प्राणियों को छोड़ दो।" राजा महात्मा के वचनों को सुनकर उसके चरणों में गिर पड़ा। उसने उसी समय सभी प्राणियों को मुक्त कर दिया और हाथ जोड़-कर उसके सम्मुख खड़ा हो गया। इस महात्मा का नाम था गौतम बुद्ध! गौतम बुद्ध 'विश्वभ्रातृत्व' का पुतला था, वह भारतीय संस्कृति के इस आदर्श का नमूना था, वह वैदिक धर्म के विश्वप्रेम के मंत्र का पाठी था। उसने अपने-आपको इस रंग में इतना रँगा कि इसके सिवा वह और सब कुछ भूल गया, वह इस गीत में इतना लीन हुआ कि इस गीत का ही एक स्वर बन गया।

जिस संस्कृति के प्रवाह में 'विश्वप्रेम' की धारा अखंड बह रही हो, उसके लिये आपस के विचार-विनिमय में मिठास का लाना आवश्यक हो जाता है। संसार के इतिहास में विचारों को फैलाने के लिये तलवारें भी उठीं, ख़ून भी बहा; परंतु उनके मुक़ाबले में इस पवित्र भूमि का इतिहास इस कलंक से लगभग बचा हुआ है। यहाँ 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'—संसार-भर को आर्य बनाओ—के संदेश की गूँज के साथ-साथ 'सहिष्णुता' तथा 'विचारस्वातंत्र्य' का आदर्श भी अपने शिखर पर पहुँचा हुआ था। वैदिक धर्म का विश्वप्रेम का सिद्धांत यहाँ की संस्कृति में इतना घुल गया था कि इस देश ने अपने विचार फैलाने के लिये कभी तलवार का सहारा नहीं लिया। भारतवर्ष में विचारों की पूरी आज़ादी रही। इस आज़ादी के बिना कोई देश तरक़्क़ी भी नहीं कर सकता। जो व्यक्ति नास्तिक है—परंतु अपने तर्क के कारण, युक्ति के आधार पर नास्तिक है—उसके युक्ति तथा तर्क के ही बल पर कभी आस्तिक होने की संभावना बनी रह सकती है, परन्तु जो व्यक्ति बिना सोचे-समझे आस्तिक है, उसके बिना सोचे-समझे नास्तिक बनने की आशंका भी बनी रहती है। इसीलिये इस आस्तिक देश में 'तर्कः ऋषिः' तर्क को ऋषि कहा गया है, उसकी बड़ी-से-बड़ी प्रतिष्ठा की गई है। वैदिक धर्म, और उस पर आश्रित भारतीय संस्कृति हमें आज्ञा नहीं देती कि हम ईसाई, मुसलमान, नास्तिक अथवा किसी अन्य व्यक्ति के प्रति भिन्न धर्म का होने के कारण

...तन-शक्ति का भंडार मानता रहा है। 'मित्रस्य त्वा ...णि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि ...तानि समीक्षे' 'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानु-...श्यति, सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति' 'मैं ...मात्र को ही नहीं, भूतमात्र को मित्र की आँखों ... देखूँ,' 'मैं प्रत्येक पदार्थ को अपने जैसा समझूँ। ...अपने में और परमात्मा की किसी रचना में भेद न ...हूँ'—यह वैदिक धर्म में 'विश्वभ्रातृत्व' का, संसार के ...ति 'मैत्री' का, आदर्श था और इसी आदर्श को लेकर ...रतीय संस्कृति का विकास हुआ।

भारतवर्ष में ऐसा भी युग आया, जब कि यह आदर्श ...आँखों से ओझल हो गया। परंतु जब कभी 'विश्व-...त्व' का भाव लुप्त होने लगा, तभी उसकी राख से ...से महात्माओं ने जन्म लिया, जिन्होंने उस आदर्श को ...टने से बचा लिया। अजातशत्रु के समय में ऐसा ही ...क महात्मा अपने मार्ग पर चला जा रहा था। उसने ...पने सामने भेड़ों का एक गल्ला जाते हुए देखा। उस गल्ले ... एक मेमना लँगड़ा रहा था। महात्मा ने उसे अपनी ...द में उठा लिया। गड़रिया महात्मा की दया को देख-... हँस पड़ा। उसने कहा, तुम इस मेमने पर कहाँ तक ... करोगे, इसकी तो अभी यज्ञ में बलि चढ़ जायगी। ...त्मा ने पूछा, वह यज्ञ कौन कर रहा है? गड़रिए ...त्तर दिया, इस देश का राजा, अजातशत्रु। वह ...मा भेड़ों के गल्ले के पीछे-पीछे चलने लगा। कुछ ...द वह उस यज्ञवेदी के सामने आ खड़ा हुआ, ... सहस्रों पशु खूँटे से बँधे अपने भाग्य की प्रतीक्षा ...रहे थे। यज्ञकुंड के चारों तरफ़ इस बीभत्स दृश्य ... देखकर महात्मा का हृदय दहल गया। उसने ... के सम्मुख एक तिनका तोड़कर रख दिया, और ...—"राजन्! क्या तुम इस टूटे तिनके को जोड़कर ...ना सकते हो?" राजा ने उत्तर दिया—"नहीं"। ...त्मा ने फिर कहा—"तुम्हारी तो इतनी भी सामर्थ्य ... कि तुम एक तिनका भी बना सको। प्राणी का मूल्य ...नके से बहुत ज़्यादा है। जिस चीज़ को तुम बना ...सकते, उसे नष्ट करने का तुम्हें क्या अधिकार है?" ...त्मा ने फिर कहा—"यदि तुम्हारा यज्ञ क़ुर्बानी के ... पूरा नहीं होता, तो इन सहस्रों असहाय प्राणियों को ...दो, ये तो अपनी रक्षा में अपनी ज़बान तक नहीं हिला सकते; यदि क़ुर्बानी ही करनी है, तो लो, मैं क़ुर्बानी के लिये तैयार हूँ, मुझे बलि चढ़ा दो, पर इन निहत्थे प्राणियों को छोड़ दो।" राजा महात्मा के वचनों को सुनकर उसके चरणों में गिर पड़ा। उसने उसी समय सभी प्राणियों को मुक्त कर दिया और हाथ जोड़-कर उसके सम्मुख खड़ा हो गया। इस महात्मा का नाम था गौतम बुद्ध! गौतम बुद्ध 'विश्वभ्रातृत्व' का पुतला था, वह भारतीय संस्कृति के इस आदर्श का नमूना था, वह वैदिक धर्म के विश्वप्रेम के मंत्र का पाठी था। उसने अपने-आपको इस रंग में इतना रँगा कि इसके सिवा वह और सब कुछ भूल गया, वह इस गीत में इतना लीन हुआ कि इस गीत का ही एक स्वर बन गया।

जिस संस्कृति के प्रवाह में 'विश्वप्रेम' की धारा अखंड बह रही हो, उसके लिये आपस के विचार-विनि-मय में मिठास का लाना आवश्यक हो जाता है। संसार के इतिहास में विचारों को फैलाने के लिये तलवारें भी उठीं, ख़ून भी बहा; परंतु उनके मुक़ाबले में इस पवित्र भूमि का इतिहास इस कलंक से लगभग बचा हुआ है। यहाँ 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'—संसार-भर को आर्य बनाओ—के संदेश की गूँज के साथ-साथ 'सहिष्णुता' तथा 'विचारस्वातंत्र्य' का आदर्श भी अपने शिखर पर पहुँचा हुआ था। वैदिक धर्म का विश्वप्रेम का सिद्धांत यहाँ की संस्कृति में इतना घुल गया था कि इस देश ने अपने विचार फैलाने के लिये कभी तलवार का सहारा नहीं लिया। भारतवर्ष में विचारों की पूरी आज़ादी रही। इस आज़ादी के बिना कोई देश तरक़्क़ी भी नहीं कर सकता। जो व्यक्ति नास्तिक है—परंतु अपने तर्क के कारण, युक्ति के आधार पर नास्तिक है—उसके युक्ति तथा तर्क के ही बल पर कभी आस्तिक होने की संभा-वना बनी रह सकती है, परन्तु जो व्यक्ति बिना सोचे-समझे आस्तिक है, उसके बिना सोचे-समझे नास्तिक बनने की आशंका भी बनी रहती है। इसीलिये इस आस्तिक देश में 'तर्कः ऋषिः' तर्क को ऋषि कहा गया है, उसकी बड़ी-से-बड़ी प्रतिष्ठा की गई है। वैदिक धर्म, और उस पर आश्रित भारतीय संस्कृति हमें आज्ञा नहीं देती कि हम ईसाई, मुसलमान, नास्तिक अथवा किसी अन्य व्यक्ति के प्रति भिन्न धर्म का होने के कारण

घृणा का भाव रक्खें। भारतीय संस्कृति के इस ऊँचे भाव का ही परिणाम था कि इस देश में विचारों की धाराओं का संघर्ष होते हुए भी मनुष्यों का संघर्ष नहीं होता था; धर्मों की लड़ाई होते हुए भी वैयक्तिक द्वेष की भावना नहीं उत्पन्न होती थी। संसार के भिन्न-भिन्न कोनों से भिन्न-भिन्न जातियाँ इस देश में आईं और इस देश के स्वतंत्र वायुमंडल पर इतनी लट्टू हुईं कि बहुत-सी अपना घर भूलकर यहीं रहने लगीं, और यहाँ रहती-रहती इस देश में इतनी रम गईं कि यहाँवालों और बाहरवालों में कोई भेद ही न रहा।

भारत में आज धार्मिक सहिष्णुता कम दिखाई देती है, परन्तु यह फूट का पौदा इस भूमि की उपज नहीं। कहते हैं, अलाउद्दीन खिलजी लूट मचाता हुआ रामेश्वर तक जा पहुँचा। वहाँ पर उसने एक मसजिद बनवा दी। अलाउद्दीन लौटकर चला गया। परंतु वह मसजिद सदियों तक खड़ी रही। उसकी रक्षा करनेवाला एक भी मुसलमान नहीं था। परंतु सदियों पीछे जब अकबर की सेनाएँ रामेश्वर पहुँचीं, उन्होंने उस मसजिद की एक-एक ईंट को वैसा ही पाया। भारत की संस्कृति का हृदय संसार-भर की विषमताओं को स्थान देने के लिये पर्याप्त विशाल है। यहाँ सब प्रकार के विचारों के लिये स्वतंत्रता है और जब तक वे उच्छृङ्खलता की सीमा तक नहीं पहुँच जाते, उनके लिये स्थान भी है। मेरी सम्मति में आजकल जिस प्रकार के धार्मिक सम्मेलन होने लगे हैं, वे देश के भविष्य को उज्ज्वल बनानेवाले हैं; क्योंकि उनमें हम एक दूसरे से जुदा होने की जगह प्रेम-भाव बढ़ा रहे हैं, और भारतीय संस्कृति का, जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, यही ध्येय है।

जहाँ तक दूसरों से संबंध है, वहाँ तक 'विश्वप्रेम' तथा 'पारस्परिक सहिष्णुता' भारतीय संस्कृति के मूलतत्त्व हैं। ये दोनों भाव, जैसा मैं कह चुका हूँ, एक ही भाव के विकास हैं। वह भाव है भूतमात्र में—केवल मनुष्य-मात्र अथवा प्राणीमात्र में ही नहीं, अपितु प्रकृति के एक-एक अणु में—समत्व-बुद्धि रखना। जैसे हम हैं वैसे ही जानवर हैं, वैसे ही वनस्पति हैं, इस समत्व-बुद्धि का विकास क्रियारूप (Active form) में 'विश्वप्रेम' तथा भावरूप (Passive form) में 'सहिष्णुता' के रूप में होता है। यह मूलभूत भावना वैदिक धर्म का आवश्यक अंग है।

'समष्टि' से संबंध रखनेवाले भारतीय संस्कृति के आदर्शों को छोड़कर हमें 'व्यक्ति' से संबंध रख भारतीय संस्कृति के तत्त्वों पर भी विचार करना चा व्यक्ति के विचार में भारतीय संस्कृति तथा वैदि का क्या मंतव्य है? यजुर्वेद में लिखा है 'ईशा मिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत् तेन त्यक्तेन भुञ्जी गृधः कस्यचिद्धनम्'—प्रत्येक व्यक्ति संसार में नि कर्म करता हुआ जीवन व्यतीत करे, वह जिस को भी भोगे, यही समझकर भोगे कि उसका त्याग है! व्यक्ति को वैदिक धर्म का यही आदेश है मा का लाल है, जो संसार के भोगों को देखकर ललचा उठता? परंतु भोगों के पीछे तो कीड़े-मको भागते हैं। एक मीठे की डली पर चींटे आ चिप यदि मनुष्य भी उस डली को देखकर लार टपका उसमें और गली-कूचे के कीड़े में क्या भेद है? ए कीड़ा है, एक बड़ा कीड़ा है—हैं दोनों विषयों से वाले कीड़े ही! भारत के ऋषियों का कथन था 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयआददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृ जीवनयात्रा के प्रारंभ में मनुष्य के सम्मुख दो रास्ते होते हैं—भोग का और त्याग का; इनमें जो भोग पर क़दम बढ़ा देता है, वह कीड़ा है, उसमें और केवल शकल का भेद है; जो त्याग के मार्ग पर बढ़ाता है, वह संसारसमुद्र से तर जाता है—शोकमात्मवित्।'

संसार के भोगों को त्याग की बुद्धि से भोग वैदिक धर्म का आदेश है। प्रत्येक व्यक्ति के लिये त्या आदर्श ही सबसे ऊँचा आदर्श है। यह आदर्श भा संस्कृति में ओत-प्रोत हो गया था। फ़्रांस के धनि विषय में कहा जाता है कि वे जब शिकार खेलकर थे, तो अपनी थकावट मिटाने के लिये दो-एक गुला पेट चाक करवाकर उनकी आँतों के गर्मागर्म खून रखते थे, परंतु भारतीय संस्कृति में पले हुए इस बड़े-बड़े राजा जहाँ एक तरफ़ राज्य का चक्र च वहाँ दूसरी तरफ़ एक छोटे-से कबूतर की जान ब लिये अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े काटकर देने तैयार हो जाते थे। वे संसार के बड़े-से-बड़े सु भोगते थे, परंतु उन्हें, विना एक सेकंड का नोटि

उसे छोड़ सकते थे, जैसे कोई शरीर का कपड़ा उतारकर फेंक देता है। संसार के विषय क्यों बुरे हैं? इसीलिये न, क्योंकि मनुष्य उनमें लिप्त हो जाता है, उनका गुलाम हो जाता है, उनकी दासता में अपनी आत्मा को खो बैठता है, भोक्ता होने के बजाय भोग्य हो जाता है, वह भोगों का शिकार हो जाता है, भोग उसे भोगने लगते हैं। यदि मनुष्य विषयों के साथ लगे इस नशे को, इस ज़हर को निकाल सके, तो फिर विषय काहे को बुरे हैं? वैदिक धर्म तथा भारतीय संस्कृति ने 'भोग' के साथ 'त्याग' को मिलाकर विषयों में अंतर्निहित विष को दूर कर दिया था, बिच्छू का डंक तोड़ दिया था, गुलाब के फूल का काँटा निकाल दिया था। संसार में विचरण करते हुए यहाँ के विषयों में लिप्त न होना——एक ऐसी बात है, जिसकी आज की सभ्यता को बड़ी भारी ज़रूरत है, जिसके बिना आज की उन्नति कल की अवनति है! भारत का इतिहास 'त्यागमय भोग' के उदाहरणों से भरा पड़ा है। श्रीरामचंद्रजी का जीवन इस दृष्टि से आदर्श है। अयोध्यापुरी में उनके राज्यारोहण की तैयारियाँ हो रही हैं, बाज़ार सजाए जा रहे हैं, फूलों की मालाएँ जगह-जगह गलियों में लटक रही हैं, बाजे बज रहे हैं, धूम मची हुई है। ऐसे समय उनके पिता उन्हें बुलाकर एक दूसरी आज्ञा सुनाते हैं। उन्हें कहा जाता है, ये राजकुमारों के कपड़े उतार डालो, माथे का तिलक अपने माथे से मिटा दो, कानों के सुवर्ण-कुंडल निकाल दो, वल्कल धारण करो, हाथ में कमंडल लो और चौदह वर्ष के वनवास का जीवन बिता आओ। आज यदि किसी करोड़पति का दस रुपए का नोट छीन लिया जाय या गुम हो जाय, तो वह कुहराम मचाकर ज़मीन-आस्मान एक कर दे। किसी नौजवान को ३० रुपए की नौकरी से बर्ख़ास्त कर दिया जाय तो वह गश खा जाय, उसका सिर फिर जाय, परंतु भारतीय वातावरण में पले नवयुवक को चक्रवर्ती राज्य के सिंहासन पर क़दम रखते हुए रोक दिया जाता है, वह पीठ फेरकर पूछता है; क्या कहा; उसके कानों में धीमी-सी आवाज़ आती है; पिता की आज्ञा बदल गई है, वे अब चौदह बरस जंगल में मारे-मारे फिरने का हुक्म देते हैं। यह सुनते ही वह नवयुवक उसी गंभीर मुख-मुद्रा से जंगल की राह चल देता है! कवि इस नवयुवक के मुख को देखता-देखता एकदम कह उठता है——

'न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः।'

उसे राज्य-सिंहासन पर बैठने को कहा गया, उसके मुख पर कोई असाधारण खुशी नहीं थी; उसी समय उसे वनवास दे दिया गया, उसके मुख पर कोई रंज नहीं था। भारतीय संस्कृति ऐसा 'भोग' चाहती है; और भारतीय संस्कृति ऐसा ही 'त्याग' चाहती है। इन दोनों के अपूर्व मिश्रण में भारतीय संस्कृति का गौरव है और इसके लिये यह संस्कृति वैदिक धर्म की ऋणी है।

मैंने अब तक संक्षेप में यह बतलाने का यत्न किया है कि भूतकाल में वैदिक धर्म ने भारतीय संस्कृति की क्या सेवा की है। वैसे तो वैदिक धर्म और भारतीय संस्कृति इतनी मिली-जुली हैं कि इन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता और ना ही वैदिक धर्म के उन सब सिद्धांतों पर, जिनका भारतीय संस्कृति के विकास में हिस्सा है, इस परिमित स्थान में लिखा ही जा सकता है। फिर भी मैंने यह तो बतलाने का यत्न किया है कि 'समाज' तथा 'व्यक्ति' के संबंध में क्रमशः 'प्रेम' तथा 'त्याग' हमारी संस्कृति के आधारभूत तत्त्व रहे हैं। इन्हीं का आदेश वैदिक धर्म ने दिया है और इन्हीं मूलतत्त्वों पर भारतीय संस्कृति का भूतकाल में विकास हुआ है। अब यह देखना है कि भविष्यत् में वैदिक धर्म भारत की संस्कृति के विकास में क्या हिस्सा बँटा सकता है?

किसी देश की भी संस्कृति हो, उसका विकास सदा होता रहता है। भारत की संस्कृति का बहुत कुछ विकास हुआ, उस संस्कृति का बीच-बीच में ह्रास भी हुआ, परंतु यह विकास तथा ह्रास तब तक होता रहेगा, जब तक भारत रहेगा। वैदिक धर्म ने भारत की संस्कृति के विकास के लिये अब तक तो बहुत कुछ दिया, अब प्रश्न यह है कि यह धर्म इस देश की संस्कृति के आगे के विकास के लिये क्या कुछ और दे सकता है।

मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह जो कुछ करने लगता है, उसमें 'अति' कर डालता है, हद कर देता है! इस 'अति' का नतीजा यह होता है कि इसके विरुद्ध एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है, जो इसके दुष्परिणामों को दूर कर देती है। इसमें संदेह नहीं कि वैदिक धर्म सहिष्णुता सिखाता है, वैदिक धर्म विचारों की पूरी आज़ादी देता है। इसी का यह नतीजा हुआ कि भारत की संस्कृति में हरेक तरह के विचार को जगह मिलती रही।

यहाँ आस्तिक भी रहे, नास्तिक भी रहे, द्वैती भी रहे, अद्वैती भी रहे। परंतु इस सहिष्णुता को संसार की दूसरी क़ौमों ने कमज़ोरी समझा। उन्होंने अपने विचारों का, अपने धर्म का ज़बरदस्ती प्रचार किया, परमात्मा के नाम पर तलवार उठाई, धर्म के नाम पर ख़ून बहाया। उस समय भी भारत की आत्मा सहिष्णुता का घूँट पिए ही बैठी रही। यह सहिष्णुता को अति तक ले जाना था; दूसरे शब्दों में यह सहिष्णुता का स्वाँग था, उसका मख़ौल था। धीरे-धीरे सचमुच यह सहिष्णुता कमज़ोरी में परिणत हो गई। इसने हमारी क़ौम को बुज़दिल बना दिया। क्षमा उसी की शोभा है, जो आँख उठाकर शत्रु के दिल को दहला सकता है; सहिष्णुता उसे सजती है, जो असहिष्णुता की लपट में दूसरे को भस्म कर सकता है। यदि राख तिनके से कहे कि मैं तुझे नहीं जलाऊँगी, तो तिनका हँस देगा; यदि आग की ज्वाला उसे अभयदान दे, तो वह उसके सामने झुक जायगा। हमारी क़ौम ने सहिष्णुता का जप इतना जपा कि वह कमज़ोर हो गई, इतनी कमज़ोर हो गई कि आज हम सहिष्णुता की माला जपते-जपते दूसरे क़ौमों के ग़ुलाम हो गए। वे हमें निगलती जा रही हैं, और हमें इसकी ख़बर तक नहीं। हमें आज फिर से याद करने की ज़रूरत है कि जिस वैदिक धर्म ने 'विश्वप्रेम' तथा 'सहिष्णुता' का राग अलापा था, उसी ने 'कृण्वन्तो विश्वमार्यं' का भी तो संदेश दिया था। ये सोती हुई आर्यजाति! तू उठ, तेरा संदेश संसार की संतप्त आत्मा को शांत कर सकता है, परंतु तू मोह की ऐसी निद्रा में पड़ी हुई है कि संसार के ऐरे-ग़ैरे तेरी छाती पर मूँग दल रहे हैं। भारत का विश्वप्रेम का संदेश दुनिया के थपेड़े खाने के लिये न था, यह निर्बलता का, कमज़ोरी का संदेश न था, यह संदेश आत्मबल का संदेश था। भारत यदि आज विश्वप्रेम का पुराना राग अलापना चाहता है, तो पहले उसे उस राग के अलापने की शक्ति संचित करनी होगी। वह अपनी आँच से संसार को न जलाने का वचन देगा, परंतु राख बनकर नहीं, आग बनकर; वह संसार में ख़ून की नदियाँ न बहाने का वचन देगा, परंतु हाथ कटवाकर नहीं, हाथों में तलवार लेकर; वह दुनिया के बच्चे-बच्चे से प्यार करने का वचन देगा, परंतु अपने को लुटेरों से लुटवाकर नहीं, दुनिया की क़ौमों का सरताज होकर! एक महात्मा ने किसी अजगर को अहिंसा का उपदेश दिया था। वह अजगर फना ज़मीन पर ह[illegible] पड़ा रहा करता था। गाँव के बच्चे भी आकर उस[illegible] लाठियाँ चलाया करते थे। उसके अंग-अंग से [illegible] टपकने लगा। महात्मा ने दुबारा आकर जब उसकी [illegible] अवस्था देखी, तो उन्होंने कहा—मूर्ख! तुझे डसने से [illegible] किया था या फन फैलाने से भी मना किया था; [illegible] को मार डालने से मना किया था या फुंकार मारने [illegible] भी मना किया था। वैदिक धर्म भारतीय संस्कृति [illegible] आज इसी अंश को डालना चाहता है। अरे विशा[ल] अजगर! तू सबके गले में लिपट जा और किसी को [illegible] डस, परंतु यदि कोई तेरा सिर कुचलने लगे, तो फन फै[ला] ले और फुंकार मारकर जतला दे कि तुझे कुचल[ना] आसान काम नहीं होगा।

भारतीय संस्कृति के मुख्यतः दो पहलुओं पर [illegible] विचार किया है, और उन दोनों में मनुष्य के स्वभाव [illegible] अति कर दी है। 'सहिष्णुता' के विषय में हमने [illegible] की, इसके साथ ही 'त्याग' में भी हमने सीमा का उल्लंघ[न] कर दिया। परिणाम यह है कि आज 'सहिष्णुता' भी ढों[ग] बनी हुई है, 'त्याग' भी ढोंग बना हुआ है। आज [illegible] दोनों में प्रतिक्रिया की ज़रूरत है। वैदिक धर्म का आदे[श] इकतरफ़ा आदेश नहीं है। मनुष्य के स्वभाव में इकतरफ़ा[-] पन है, इसलिये उसके कामों में इकतरफ़ापन आ जा[ता] है। इस समय जहाँ हम कमज़ोरी को, निर्बलता [illegible] 'सहिष्णुता' समझे हुए हैं, वहाँ दरिद्रीपन को, आल[स] और सुस्ती को, अफ़ीमचियों की तरह ऊँघने को 'त्या[ग]' समझ रहे हैं। 'त्याग' का उपहास इससे ज़्यादह क[या] होगा कि हमने त्यागते-त्यागते सब कुछ त्याग दि[या] अपना देश भी अपना न रहने दिया। जिसने भी[ख] माँगने के लिये एक ठीकरा उठा लिया, वह हमारे लि[ये] बड़ा भारी त्यागी हो गया। त्याग तो हबस का है। जिस[ने] हबस को नहीं त्यागा उसने कपड़े भले ही उतार फें[के] हों, वह विषयों की दलदल में ही फँसा हुआ है। जिस[ने] हबस को त्याग दिया, वह संसार के विषयों में विचर[ता] हुआ भी त्यागी है। आज देश त्याग-त्याग का नाम ले[ता] हुआ आलसी और दरिद्र हो गया है, कर्मण्यता [illegible] छोड़ बैठा है। यहाँ तो 'को नृप होउ हमें का हानी, चे[री] छाँड़ि भयऊ न रानी' की मनोवृत्ति बढ़ती जा रही है[।] देश का कुछ हो जाय, इससे मुझे क्या, और तुझे क्या[?]

इसे त्याग कहना त्याग का उपहास करना है। वैदिक धर्म की यह शिक्षा है कि ऐसे ढोंग का शीघ्र-से-शीघ्र अंत कर दिया जाय। वेद तो कहता है कर्मण्येवाधिकारस्ते! अरे तुझे हाथ-पर-हाथ रखकर बैठने का तो अधिकार ही नहीं, यदि तू हाथ-पैर नहीं चलाता, तो तुझे रोटी के टुकड़े के खाने का भी अधिकार नहीं! आज देश के त्याग का मार्ग उलटा हो गया है। सदियों पूर्व वैदिक धर्म ने भारतीय संस्कृति में 'त्याग' का संचार किया था, परंतु आज इस देश की संस्कृति की रक्षा के लिये वैदिक धर्म का संदेश 'कर्मण्यता' का संदेश है।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि वर्तमान युग के जिन दो संदेशों की तरफ़ मैंने पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है, उनकी आज भारत को अत्यंत आवश्यकता है और उन पर अमल करने पर ही भारत का मस्तक गौरव से ऊँचा हो सकता है।

अंत में मैं दो शब्द कहना चाहता हूँ। वह समय हमें भूला नहीं है, जब आर्यसमाज की वेदी शास्त्रार्थ के बिना सूनी समझी जाती थी। अब भी कई स्थानों पर ऐसा ही समझा जाता है। परंतु गुरुकुल ने 'संस्कृति-सम्मेलन' के रूप में एक नई दिशा की तरफ़ क़दम बढ़ाया है। इसकी अपेक्षा कि दूसरे के दुर्गुण दिखलाए जाएँ, अपने गुण बतलाना कहीं अच्छा है; और इसकी अपेक्षा कि मनुष्य स्वयं अपने गुणों का वर्णन करे, दूसरे का उन गुणों का वर्णन करना और भी अच्छा है। शास्त्रार्थों की इस भीरु हिंदू-समाज को अत्यंत आवश्यकता थी और कई अंशों में है, परंतु शास्त्रार्थों से अपने को समर्थ बनाने के बाद दूसरा क़दम वही है, जो केवल संस्कृति या धर्मसम्मेलनों द्वारा लिया जा सकता है। इन सम्मेलनों से प्रत्येक धर्म की अच्छाई संसार के सम्मुख आती है। परंतु मैं तो समझता हूँ कि भारतीय संस्कृति के पूर्ण विकास के लिये एक अगला क़दम भी है। वह क़दम यही है कि प्रत्येक धर्म की अच्छाई की उस धर्म के माननेवाले ही दुंदभी न पीटते रहें, परंतु दूसरे लोग भी उसे स्वीकार करें। मैं तो उस दिन की प्रतीक्षा में हूँ, जब आर्यसमाज की उसी वेदी पर जिस पर मुसलमानों और ईसाइयों से टक्कर ली जाती है, किसी समय मेरा मुसलमान भाई वैदिक धर्म के महत्त्व पर प्रकाश डालेगा। और आर्यसमाजी भाई इस्लाम की विशेषताओं पर निबंध पढ़ेगा। उस दिन धर्मों का ऊपरी खोल मिट जायगा और सचाई का शुद्ध तथा नग्न रूप प्रकट होगा। उस दिन की स्मृति में ही वेद ने कहा है—

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापि हितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥"

सत्यव्रत सिद्धांतालंकार

गीत

देख दिव्य छवि लोचन हारे।
रूप अतंद्र, चंद्रमुख, रति-रुचि,
पलक तरल तम, दृग-द्वय तारे।
　　द्वेष, दंभ, दुख पर जय पाकर
　　खिले सकल नव अंग मनोहर,
　　चितवन, संसृति की सीमा तर
　　खड़ी प्रेम के सिन्धु-किनारे।
जग के रंगमंच की संगिनि,
अयि परिहास-हास-रस-रंगिनि
उर-मरु-पथ की तरल तरंगिनि,
दे अपने प्रिय स्नेह-सहारे।

"निराला"

निर्झर

(१)

अपने अविरल कलकल रव में,
निर्झर झरते हो 'सुन्दर';
शिखनी-से हो नृत्य-निरत तुम,
थिरक रहे कैसे गिरि पर?
अपनी वीणा में स्वर भर
वही एक स्वर निर्झर-झर!

(२)

तुम सुधांशु से भी बढ़कर;
सुधाधार बरसाते हो;
धरती-तल पर धूमधाम से,
नव-जीवन भर जाते हो।
गिरिशृंगों से उतर-उतर,
वही एक स्वर निर्झर-झर!

(३)

मधु बाला के मृदु गीतों-सा,
कलरव-निहित तुम्हारा जल;
पृथुल शैल को काट बाट में,
दर्शाते हो निज कौशल।
अञ्जुलि में नभ सारा भर
वही एक स्वर निर्झर-झर!

(४)

चकित चकोरों-सी चञ्चलता,
अपने मुस्क्यानों में भर;
सिखा रहे हो हँसते रहना,
कर्ण-कुहर में फुस-फुस कर।
प्रणव गीतों में निज स्वर भर
वही एक स्वर निर्झर-झर!

श्यामसुन्दर खत्री

रोमांटिक पोश्कीन

हमारे अधिकांश साहित्य-प्रेमी पोश्कीन के नाम से अवश्य परिचित होंगे और उससे भी उसकी कहानियों से जिनका अनुवाद हिंदी में हो चुका है। इस छोटे-से लेख में उसी जगत्-विख्यात रूसी औपन्यासिक और कवि के जीवन की मुख्य घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन है। इसका आशय कवि के जीवन-वृत्तांत सुनाने का नहीं है, प्रत्युत उसके आंतरिक जीवन, उसकी हार्दिक भावनाओं, उसके मनोमानस का स्पष्टीकरण ही है।

पोश्कीन रूस के साहित्य-सरोवर का प्रथम कमल है। इससे पहले रूस ने किसी ऐसे महापुरुष को उत्पन्न नहीं किया था, जिसकी साहित्यिक प्रतिभा पर वह गर्व कर सकता, उसे अपना मान समझता। पोश्कीन एक औपन्यासिक की अपेक्षा कवि ही कहीं अधिक है। उसकी कविताओं और क्रिलौफ़ की कहानियों से ही वहाँ के साहित्य का आरंभ हुआ गिना जाता है, यद्यपि रूसी साहित्य का इतिहास-काल ग्यारहवीं शताब्दी तक कहा जा सकता है।

वह युग रोमांटिक साहित्य का था, अतः पोश्कीन की रचनाएँ भी रोमांटिक रंग में रँगी हुई हैं, लेकिन यह जानकर बड़ा आश्चर्य होता है कि साहित्यिक जीवन

की तरह ही वह महाकवि अपने आंतरिक जीवन में भी समानरूप से रोमांटिक (प्रेममयी और अद्भुतप्रिय) था। उसका जीवन एक उपन्यास हो जाता है और पोश्कीन उस उपन्यास का बड़ा विलक्षण चरित्र है।

सन् १७६६ में एक ज़मींदार के घर में पोश्कीन का जन्म हुआ था। अठारह वर्ष की अवस्था में इंपीरियल लाईसियम से वह ग्रेजुएट हो गया और आनंद से सामाजिक जीवन व्यतीत करने लगा। लेकिन साहित्य में अब भी उसकी बड़ी रुचि थी। शैशवकाल से ही उसे इससे प्रेम था। भाग्यवश पोश्कीन की नर्स के भी साहित्यिक होने के कारण उसे आरंभ में ही बड़ा प्रोत्साहन मिला।

पोश्कीन की सबसे पहली कविता Ode to Liberty है, जो १८१८ में लिखी गई थी। इस कविता को लिखकर पोश्कीन ने रूस के सम्राट् की राह में फेंक दिया। सम्राट् ने उसे उठाया और पढ़ा। उसमें उसके और उसके मृतक पिता के लिये बड़े कड़े शब्द लिखे थे। उसे प्रजापीड़क बताया गया था। लेकिन इतने पर भी ज़ार ने पोश्कीन को कुछ कड़ा दंड नहीं दिया, केवल उसे सेंटपीटरवर्ग छोड़ने को ही बाधित किया। पोश्कीन अपने घर कोफ़ में चला गया। किंतु कुछ ही समय बाद ज़ार ने उसे वहाँ से कौकेसस भेज दिया।

पोश्कीन का यह निर्वासन उसके लिये अप्रत्यक्ष रूप से बड़ा लाभकारी सिद्ध हुआ। यहाँ पर समाज के विषैले प्रभाव से मुक्त होकर उसने एकाग्र भाव से लिखना आरंभ कर दिया। कौकेसस पहाड़ी प्रदेश था। वहाँ की नीरवता ने बरफ़ से लदी हुई पहाड़ी चोटियों और झिलमिलाते हुए समुद्र के मनोहर दृश्य में मिलकर पोश्कीन के कवित्व-हृदय पर बड़ा विलक्षण प्रभाव डाला; उसमें उस करुण और उत्साह का उद्रेक किया, जिसके कारण कि रूस में विशेष रूप से उसका आदर होता है। यह वही समय था, जब कि बायरन अपनी कविताएँ लिख रहा था। इसी समय उसने The Prisoner of Caucausus-नामक कविता लिखी, जिसका स्थान कि बायरन की विख्यात कृति The Giaout के बराबर है।

पोश्कीन की ख्याति ने धीरे-धीरे फैलकर ज़ार को कुछ नम्र बना दिया और शीघ्र ही उसे अपने निवास-स्थान पर जाने की आज्ञा मिल गई। सेंटपीटरवर्ग जाना उसके लिये अब भी वर्जित था।

इसी समय ज़ार के विरुद्ध एक भयंकर षडयंत्र रचा जा रहा था। उसके एक नेता राईलीफ़ ने पोश्कीन को भी उसके अंतर्गत करना चाहा और इसके लिये बड़ा प्रयत्न किया, किंतु पोश्कीन को षडयंत्र की सफलता पर विश्वास न था, उसने नाहीं कर दी। लेकिन हृदय से पोश्कीन षडयंत्र से सहानुभूति रखता था और षडयंत्र की बड़ी-बड़ी घटनाओं के समय वहाँ उपस्थित रहने की इच्छा से, एक मित्र का पासपोर्ट लेकर, सेंटपीटरवर्ग चल दिया।

मार्ग में दो मील के लगभग चलने पर एक ख़रगोश रास्ता काट गया। रूसी लोग शकुनों के बड़े क़ायल होते हैं। उनमें यह वैसा ही अपशकुन माना जाता है, जैसे हमारे देश में बिल्ली का राह काटना और रोम में पत्थर से ठुकराना। कोचवान ने घूमकर लौट चलने के लिये पूछा, किंतु पोश्कीन ने विपत्ति की अवहेलना करते हुए बढ़े चलने का ही हुक्म दिया।

कुछ दूर चलने पर यही घटना फिर हुई। इस बार पोश्कीन ने एक क्षण तक कुछ सोचा और फिर फ़्रांचभाषा में यह कहते हुए "हमारी भूलें जितनी कम हों, उतना अच्छा", वापिस चलने का आदेश दिया।

जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं के परिणाम भी कभी-कभी कितने गंभीर होते हैं। यदि पोश्कीन उस दिन सेंटपीटरवर्ग चला गया होता, तो कौन जानता है राईलीफ़ के साथ ही उसे भी फाँसी न दे दी गई होती या उसका निर्वासन न हो जाता।

पोश्कीन बड़े ही निडर और उपद्रवी स्वभाव का युवक था। आपत्तियों को निमंत्रण देने में उसे कुछ स्वाद मिलता था। जब उसने अपने षडयंत्रकारी मित्रों की दुःखांत कहानी सुनी, तो तुरंत ही एक कविता में ज़ार पर फिर एक तीव्र आघात किया।

षडयंत्रकारियों का मुक़दमा अभी सेंटपीटरवर्ग में चल रहा था। उसमें कुछ ऐसे काग़ज़ खुले, जिनमें षडयंत्र में सम्बद्ध होने से पोश्कीन ने मना किया था। इस पर ज़ार ने अत्यंत प्रसन्न होकर पोश्कीन को बुलावा भेजा। अन्य षडयंत्रकारियों को बड़ी-बड़ी कठिन सज़ाएँ मिलीं।

पोश्कीन ने जब ज़ार की आज्ञा को सुना, तो उसका दिल धक से हो गया। उसने समझा, ज़ार का क्रोध अभी शांत नहीं हुआ है, पहले अपराध की सज़ा अभी

और बाक़ी है या अवश्य ही मेरी नई कविता उसके पास पहुँच गई है। लेकिन सेंटपीटरबर्ग पहुँचने पर अपने असाधारण स्वागत को देखकर पोश्कीन दंग रह गया। उसे उसकी सत्यता पर विश्वास न होता था।

ज़ार ने उसे शाही ऐतिहासिक बना दिया और पहला काम उसे पीटर दी ग्रेट के राज्य का इतिहास लिखने का दिया। लेकिन पोश्कीन मन-ही-मन अपने नवीन पद से अप्रसन्न था। शाही परिवार से उसे घृणा थी। उसने उक्त इतिहास लिखने की अपेक्षा पूगावेफ़ का षडयंत्र लिखा। केवल यही पुस्तक और छोटी-छोटी कहानियों का एक संग्रह ही उसकी गद्य-रचनाएँ हैं।

ज़ार की बहुमूल्य कृपा और अपने महान् पद का मान भी पोश्कीन को उसके क्रांतिकारी विचारों से विचलित न कर सका। वह हर समय अपने विपन्न और निर्वासित मित्रों की याद किया करता था, यहाँ तक कि कभी-कभी आवेश में आकर ज़ोर-ज़ोर से उनके दुर्भाग्य की कथा गाने लगता और ज़ार से बदला लेने की प्रेरणा से विह्वल हो उठता।

पोश्कीन ने जिस इंपीरियल लाईसियम (विद्यालय) में शिक्षा पाई थी, उसमें प्रति वर्ष उसकी संस्थापना के दिन एक उत्सव हुआ करता था। उसमें उसके पुराने विद्यार्थी भी भाग लेते थे। ऐसे ही एक भोज में पोश्कीन ने चार अनुपस्थित क्रांतिकारी ग्रेजुएटों (जिनमें से दो को जीवित गाड़ दिया गया था) की स्मृति में एक कविता कह सुनाई, जिसमें उनके अतीत जीवन की घटनाओं का बड़ा मर्मस्पर्शी और करुणाजनक वर्णन था। कविता समाप्त होने पर भी हाल में मृत्यु का-सा सन्नाटा छाया रहा। यवक विद्यार्थियों का रक्त सनसन करने लगा।

उस समय यद्यपि साठ विद्यार्थी उपस्थित थे, लेकिन उनमें चुगलख़ोर एक भी न था; नहीं तो निकोलस-जैसे ज़ार के समय में इस घटना का कैसा भयंकर परिणाम होता? पोश्कीन को किन-किन विपत्तियों का सामना करना पड़ता? इसकी कल्पना भी करना कठिन है।

इसी समय पोश्कीन को एक सुंदरी युवती से प्रेम हो गया और उसने उससे विवाह कर लिया।

पोश्कीन ने उत्कर्ष और लोकप्रियता के कारण ज़ार के कृपापात्र अमीर उससे बड़ा द्वेष रखते थे। जनता के हृदय में बड़े-से-बड़े अमीर के लिये भी पोश्कीन के समान आदर न था। युद्ध में उसकी कविताएँ लड़ाई के कोला हल के ऊपर सुनाई पड़ती थीं। शांति में घर-घर उनका गान होता था।

पोश्कीन की प्रसिद्धि के साथ-ही-साथ इनकी ईर्ष्या भी बढ़ती जाती थी, पर उनका कुछ बस न चलता था। उचित उपायों द्वारा उसका वे कुछ भी न बिगाड़ सके थे। अंत में उन्होंने अपनी कुटिलता से काम लिया। पोश्कीन को प्रायः प्रति दिन एक गुमनाम पत्र मिलता, जिसमें उसकी स्त्री से एक डी ऐंथीस-नामक युवक के अनुचित संबंध होने की चर्चा रहती। डी ऐंथीस पोश्कीन के यहाँ बहुत आया-जाया करता था।

पोश्कीन ने उसे समझा दिया कि उसका आना-जाना उसे पसंद नहीं है, अतः अब वह कभी न आवे। डी ऐंथीस ने वही किया।

इसी तरह कुछ समय शांतिपूर्वक निकल गया। एक दिन अचानक पोश्कीन और डी ऐंथीस की ज़ीने में मुठ भेड़ हो गई। पोश्कीन को अपने सारे संदेह सत्य प्रतीत होने लगे। क्रोध से पागल होकर उसने डी ऐंथीस की गर्दन पकड़ ली और गला घोटकर उसका प्राणांत कर देना चाहा; लेकिन डी ऐंथीस ने अपनी गर्दन छुड़ा ली और उसे समझाया कि वह उसकी स्त्री से मिलने नहीं आता है, बल्कि उसकी छोटी बहन से।

पोश्कीन इसे सुनकर कुछ शांत हुआ और बोला—यदि तुम अपने शब्दों को सत्य प्रमाणित करना चाहते हो, तो उसका केवल एक ही तरीक़ा है।

डी ऐंथीस ने कहा—"बताओ"।

"तुम मेरी साली से प्रेम करते हो?"

"हाँ"

"अच्छा, तो उससे विवाह कर लो"

"मैं उससे अवश्य विवाह कर लूँगा और कृपा करके तुम मेरी यह प्रार्थना उसके माता-पिता को सुना देना।"

एक महीने बाद डी ऐंथीस और पोश्कीन की साली का विवाह हो गया।

डी ऐंथीस ने यह विवाह करके पोश्कीन की स्त्री से अपने नाते की पवित्रता का यद्यपि यथेष्ट प्रमाण दे दिया था, और यह झगड़ा यहीं समाप्त हो जाना चाहिए था, लेकिन कोई अज्ञात शत्रु पोश्कीन को खाक में मिला देने का प्रण किए बैठा था। गुमनाम पत्रों का आना फि

आरंभ हो गया। वे कहते थे—यह विवाह केवल एक चाल है। दो प्रेमियों के मिलन में सुविधा उत्पन्न करने के एक साधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

कुछ महीनों तक पोश्कीन ज़ब्त किए रहा। घृणा और ग्लानि के भयानक विष को पचाता रहा। पर अंत में उससे न रहा गया। डी ऐंथीस की सूरत उसके लिये असह्य हो उठी।

एक दिन उसने उससे कह दिया—तुम यह देश छोड़ दो अथवा मुझसे द्वंद्वयुद्ध स्वीकार करो।

डी ऐंथीस ने उसे बहुत समझाया, कहा कि उसका यह भयंकर भ्रम बिलकुल निर्मूल है। वह बिलकुल निर्दोष है। लेकिन यह सब व्यर्थ था; पोश्कीन जोश से पागल हो रहा था।

डी ऐन्थीस को अंत में द्वंद्वयुद्ध स्वीकार करना पड़ा, लेकिन उसने उसके लिये पंद्रह दिन का समय माँगा। उसे आशा थी, शायद इतने दिनों बाद पोश्कीन का क्रोध कुछ शांत हो जाय, और वह अपने दुर्विचार को बदल दे।

लेकिन अवधि समाप्त होने के दूसरे दिन प्रातःकाल ही पोश्कीन का नियत किया हुआ साक्षी करनल डांज़ा डी ऐंथीस के पास पहुँचा। डी ऐंथीस एक अत्यंत निडर और वीर पुरुष था। कायरता उसमें लेशमात्र भी न थी। लेकिन द्वंद्वयुद्ध से वह घृणा करता था, विशेष कर पोश्कीन के साथ। इसलिये उसने इस साक्षी के द्वारा फिर उस दिन अंतिम बार पोश्कीन को समझाने की चेष्टा की। लेकिन वहाँ तो आग लग रही थी। यह पंद्रह दिन ही बड़ी मुश्किल से कटे थे।

पिस्तौलें चुन ली गईं। संध्या-समय नेवा-नदी के उस पार दोनों प्रतिद्वंद्वी मिले।

पोश्कीन ने अपनी पिस्तौल बड़ी सावधानी से भरी; कहीं ऐसा न हो कि गोली ख़ता कर जाय। तीस क़दम गिन लिए गए और प्रतिद्वंद्वी पिस्तौलें तानकर खड़े हो गए। दोनों को दस-दस क़दम आगे बढ़कर एक दूसरे पर गोली छोड़ने की स्वतंत्रता थी। डी ऐंथीस वहीं खड़ा रहा और पोश्कीन जब तक आठ क़दम ही आगे बढ़ा था, उसने पिस्तौल छोड़ दी। गोली लग गई और पोश्कीन गिर पड़ा, लेकिन फिर उठकर अपना वार किया। गोली डी ऐंथीस की बाँह के मांस-भाग में लगकर एक बटन उड़ाती चली गई।

पोश्कीन चिल्लाया "ठहरो फिर", लेकिन उद्वेग का यह कड़ा हुक्म शरीर मानने से लाचार था। खून तेज़ी से बह रहा था और उसके साथ ही शरीर की शक्ति भी निकल रही थी।

डी ऐंथीस अब पोश्कीन के पास आया। लेकिन पोश्कीन ने घृणा की तीव्रता से व्याकुल होते हुए उसे पीछे हटने का इशारा किया। डी ऐंथीस लौट गया।

दोनों ओर के साक्षियों ने आकर पोश्कीन का घाव देखा। गोली पेट के दाएँ भाग में लगकर जिगर और पसलियों में होती हुई आँतों में समा गई थी। पोश्कीन को गाड़ी में रखकर घर ले आए। उस समय संध्या के छः बजे थे। अंधकार होने लगा था।

नौकर पोश्कीन को सँभालकर ऊपर ले गया और उससे लेटने का स्थान पूछा। पोश्कीन ने कहा—मेरे अध्ययन के कमरे में मुझे ले चलो और यह ख़याल रखना कि मेरी स्त्री मुझे देखने न पावे।

मैडम पोश्कीन को अभी कुछ भी मालूम न था। रूस के नामी डाक्टर मि० हैरन के संरक्षण में पोश्कीन की चिकित्सा होने लगी; लेकिन उन्हें अपनी सफलता पर विश्वास न होता था।

पोश्कीन की इच्छानुसार उसकी स्त्री को उससे मिलने का अवसर बहुत ही कम दिया जाता था। वह बग़ल के कमरे में बैठी रहती थी। स्थिति की गंभीरता का यद्यपि उसे अभी वास्तविक ज्ञान नहीं हुआ था, लेकिन अज्ञात विपत्ति का अंधकार उसकी आँखों के सामने आने लगा था। उसे अपनी पवित्रता का दृढ़ आधार मिलता था, लेकिन वह यह जानती थी कि भयंकर उत्पात केवल उसी के कारण हुआ है और इसके लिये वह अपने को क्षमा करना नहीं चाहती थी। समय-समय पर चुपचाप पैर रखती हुई, भूत की तरह वह कमरे में आती, लेकिन पोश्कीन को—यद्यपि उसका मुँह दीवार की ओर था—उसी क्षण उसका आभास हो जाता और कहता—

"कृपा करके इसे यहाँ से ले जाओ।"

पोश्कीन अब भी अपनी स्त्री को हृदय से चाहता था, लेकिन उसे यह मंजूर न था कि वह उसे दुखी होता देखकर कमज़ोर समझ ले।

एक बार उसने कहा—

"उफ़ मेरी दीन स्त्री ! संसार उसके चरित्र की खूब धज्जियाँ उड़ावेगा; लेकिन वह पवित्र और निर्दोष है ।"

पोश्कीन सब बातें अपने स्वाभाविक शांत स्वर में कहता था । उत्तेजना या घबराहट उसमें नाम को न थी। वह पोश्कीन जो अपनी स्वस्थ अवस्था में बहुत ही आतुर और भड़कीले स्वभाव का मनुष्य था, कुछ ही घड़ियों की उत्कट यातना को सहकर एकदम परिवर्तित हो गया । घृणा और संदेह का एक तूफ़ान जो उसके हृदय में बहुत समय से प्रचंड हो रहा था, अब बिलकुल शांत हो गया । एक शब्द भी असंतोष का सूचक उसके मुँह से न निकलता था । मालूम होता था, मानो मृत्यु की शांति में उसका प्रवेश हो चुका है; मानवीयता से परे पहुँच गया है ।

वह अपने दुख को किसी को, विशेषकर अपनी स्त्री को, किसी तरह भी जताना न चाहता था। असह्य यंत्रणा सह ली, पर ज़बान ने आह न निकाली । केवल एक बार अपने हाथों को फेंकते हुए कहा—

"ओह, जी कैसा घबराता है। ऐसा मालूम होता है जैसे मेरा हृदय फटना चाहता हो, पर वह फट नहीं सकता ।"

दूसरे दिन प्रातःकाल अंतिम समय की अपनी धार्मिक रीतियाँ पूरी कर लेने पर उसके मस्तिष्क की शांति और भी गंभीर हो गई । इस समय उसने कुछ अपने काग़ज़ माँगे और अपने ऊपर का कुछ ऋण लिखाया । लेकिन इतना परिश्रम उसकी क्षीण शक्ति के कहीं अधिक था । इससे वह इतना थक गया कि अपनी अन्य इच्छाएँ प्रकट करने की सामर्थ्य भी उसमें न रही । ऐसी तेज़ी से अपने को निर्जीव होता हुआ पाकर उसने समझा— अंतिम क्षण आ पहुँचे हैं । जल्दी-जल्दी साँस लेते हुए कहा—

"मेरी स्त्री ! मेरी स्त्री ।"

मैडम पोश्कीन, जो दरवाज़े पर ही कान लगाए सुन रही थीं, अंदर दौड़ आईं; और इसके बाद जो सीन आरंभ हुआ, उसकी करुणा वर्णन-शक्ति के बाहर की बात है ।

पोश्कीन ने अपने बच्चों को बुलाया । वे अभी सोए हुए थे, पर उन्हें जगाया गया और वे अबोध बालक अर्धनिद्रित अवस्था में अपने मरते हुए पिता के सामने आकर खड़े हो गए । बारी-बारी से एक-एक बच्चे को पोश्कीन ने बड़ी देर तक ताक-ताककर देखा और उनके सिर पर अपना हाथ रखकर आशीर्वाद दिया । जब उसे अपने अधिकार का तस्मा हृदय के आवेग पर से टूटता दीखा, तो एक कठिन चेष्टा करके हाथ के इशारे से उन्हें अपने सामने से हटवा दिया ।

जब पीड़ा और भी अधिक तीव्र होकर अपनी दारुणता बढ़ाने लगी, तो उसके हाथ काँपने लगे और हलकी-हलकी आहें उसके मुँह से निकलती सुनाई पड़ने लगीं। यह देखकर पोश्कीन के अनन्य मित्र डा० डाल ने कहा—

"मेरे दीन मित्र ! तुम्हें कैसी यातना हो रही है। उसे प्रदर्शित करने में तुम्हें क्या लज्जा है ? अपने ऊपर दया करो और सब खोलकर कह दो ।"

घायल बोला—

"नहीं ! नहीं ! मेरी स्त्री सुन लेगी । और इसके उपरांत यह कितना घृणास्पद है कि पीड़ा-नाम की एक तुच्छ वस्तु मेरे आत्मबल से विजय पा जाय ।"

तीसरे दिन दोपहर के दो बजे पोश्कीन ने कुछ मोरोश्का, एक प्रकार का रसभरी के समान रूसी फल, का रस पीने को माँगा । जब वे फल लाए गए, तो नाहीं करते हुए कुछ सख़्त आवाज़ में कहा—

"मेरी स्त्री को बुला लो; मैं उसी के हाथ से पीना चाहता हूँ ।"

वह आई और पलँग के बराबर घुटने टेककर अपने पति के मुँह में दो चम्मच मोरोश्का का रस डाला; फिर करुणा और शोक से आर्द्र होकर अपने आँसुओं से भीगे हुए कपोलों को उसके मुँह पर रख दिया । पोश्कीन प्रेम के आवेश से विह्वल होकर उसके शरीर को थपथपाने लगा और कहा—बस-बस अब मैं बहुत अच्छा हूँ, मुझे कुछ दुःख नहीं है ।

पोश्कीन का मस्तिष्क अब तक बिलकुल सही था, लेकिन अब उसे बेहोशी आने लगी । एक बार अपने मित्र डाल का हाथ लेकर उसे दबाते हुए कहा—

"मुझे उठा लो । चलो हम ऊँचे चढ़ चलें—खूब ऊँचे ।"

यह क्या था—मृत्युसूचक भ्रांति का आरंभ या अनन्त की सैर ?

फिर एक बार अपना होश सँभालते हुए पुस्तकों की

अलमारियों की ओर संकेत करके कहा—मुझे ऐसा मालूम पड़ रहा था कि मैं और तुम इन अलमारियों पर इतने ऊँचे चढ़ रहे हैं कि मेरा सिर घूमने लगा है।

थोड़ी देर बाद आँखें बंद किए ही उसने डाल का हाथ टटोलकर देखा और कहा—

"आओ! आओ! हम तुम साथ-साथ चलें।"

इस पर डाल ने पोश्कीन के कष्ट का कुछ ख़याल न करते हुए उसे आधा उठा लिया। इससे कुछ चैतन्यता आ गई और उसने आँखें खोलीं, कहा—

"सब समाप्त हो गया। मैं जा रहा हूँ। अब मैं जाता हूँ।"

फिर अपने तकिए पर गिरते हुए कहा—

"ओह—अब साँस नहीं लिया जाता। गला घुट रहा है।"

उसके अंतिम शब्द थे। इसके बाद श्वास धीमे पड़ने लगे और अंत में बंद हो गए।

इस समय १८३७ की २६ जनवरी का दोपहर था—सवा तीन बजे थे। पोश्कीन का अड़तीसवाँ वर्ष समाप्त नहीं हुआ था।

केशवदेव शर्मा

नारद-मोह

(१)

'हिमगिरि' अचल समाधि निरत हो तन में धारे श्वेत विभूत,
जमा हुआ है ध्यान जमाकर अटल संयमी-सा मज़बूत।
हिला न उसका मन विकार से कितने ही झोंके आए,
ऊँचा ही सिर रहा निरंतर बहुत थपेड़े भी खाए।
लौ थी लगी हृदय में प्रभु की कभी न पिघला तापों से,
प्रेमअग्नि ही रही धधकती, जला नहीं संतापों से।
ठंडे मन से ध्यान लगाकर अपने चित को रक्खा शांत,
शांत नहीं होने दी फिर भी धुन, धूनी को लगा नितांत।
लगा समाधि इसी पर्वत पर नारद ऋषि भी इसी प्रकार,
आँख बंद कर ध्यान लगाए स्वाँस चढ़ाए हैं मन मार।
देख अटल व्रत सुरपति काँपा बड़ी-बड़ी आशंका कर,
डरा कहीं यह माँग न बैठे इंद्रासन पाने का वर।
सोचा कोइ उपाय कीजिए जिससे तप हो जावे भंग,
आया याद काम यह भारी कर सकता है पूर्ण अनंग।
तुरत बुलाकर कहा मदन से देखो आज तुम्हें रतिनाथ,
मुनि नारद का ध्यान भंग कर लेना है उनका मन हाथ।
बैठे हैं वह कोट बाँधकर मन को घेरे जैसे सर्प,
गढ़ को जीत पताका अपनी तुम्हें उड़ाना है कंदर्प।
वीर पंचसर! तुम विजयी हो! नहीं कभी चूका है तीर,
आओ बुझा तुरत चिनगारी जीत मुनीमन मनमथ वीर!
चला काम ले कुसुम-सराशन पहुँचा जहाँ मुनी का वास,
प्रिय वसंत की शोभा छाई उड़ने लगी सुगंध-सुवास।
कामग्रसित सब हुआ चराचर ऐसी की माया विस्तार,
करने लगे सुभग आलिंगन सभी मार की खाकर मार।
संगम जब पराग केसर का हुआ पुष्परज से मिलकर,
मधुकर ने मिल किया त्रिवेणी, फल दे गोद दिया है भर।
उठती यौवन की कलियों को पवन छेड़ता है छूकर,
लतिका हिलमिल झूल रही हैं खिल-खिलकर तरुशाखा पर।
सब पर चढ़ा रंग क्रीडा का, उठी मृगी, मदभरे कुरंग,
देख सरोज-उरोज मनोहर ताल हृदय में उठी तरंग।
है पर्वत की राल टपकती देख गोद में खिले सुमन?
या गिरि से निर्झर गिर-गिरकर सुना रहा अपना क्रंदन?
समा बँधा था रहसरंग का सुख का था सब साज सजा,
लगीं सुनाने गीत मुनी को अप्सराएँ आकर गा-गा।
चढ़ी-बढ़ीं नदियाँ बलखातीं मद में छकीं भरा अंग-अंग,
कलकल करके लगीं थिरकने गला मिला सखियों के संग।
लय सुनकर लयहुए सभी सुर बोल बाँध जब लिया अलाप,
धार थम गई सम पड़ते ही दी जो मृदअंगों पर थाप।
सारंग में उट्ठी स्वरलहरी देने लगे ताल भी ताल,
जलतरंग सुन दहिने-बाएँ ताली दे-दे झूमे साल।
सजीं सुंदरी प्रकृति-साज में पिकबैनी कोकिलकंठा,
भाव बताकर हाव-भाव से लगी रिझाने मन मुनि का।

अप्सरादि ने बहुत चलाए विष के बुझे काम के तीर,
आग लगा दी बुझे शरों ने प्रज्वलित कर मनोज की पीर।
पर माया यह तनिक न व्यापी कर न सकी विचलित मुनि-मन,
बैठे रहे शांति को धारे निश्चल मारे ही आसन।
बनीं गले का हार लिपटकर नाच-नाचकर तोड़ी तान,
खाई हार न तोड़ सकीं सब तान तोड़कर मुनि का ध्यान।
कुम्हला गया फूल-सा चेहरा, फूली साँस, हुई सब शल,
हाथ-पाँव फूले, गाढ़े में पड़ीं गुलबदन, कर मल-मल।
नहीं उठा रक्खा मनमथ ने गली नहीं उसकी कुछ दाल,
तान-तान कितने शर मारे हुआ न मुनि का बाँका बाल।
पानी घड़ों पड़ा रतिपति पर, लटक गया इतना-सा मुँह,
डूब गया बेपानी होकर क्या दिखलाए अपना मुँह।
पाँसा पलट गया था अब तो, गए जीतने, पाई हार,
आँखें नीची किए लाज से चरणों में बैठा मन मार।
कुंठित हुए पंचशर उसके उलटा चढा उसी पर चाप,
काँप गया मुनि श्राप न दे दें, लोट गया सीने पर साँप।
बार-बार स्तुति-विनती कर नाक रगड़कर पकड़ा कान,
भूल हुई है हमसे भारी क्षमा कीजिए कृपानिधान।
गर्व खर्व कर दिया हमारा भला किया तुमने हे तात,
जब पहाड़ के नीचे आए तब समझे अपनी अवकात।
मैं मर गया शर्म के मारे मरे हुए को मारे क्या,
चूक हुई है क्षमा कीजिए दयावान हो करो दया।
विनती सुन हँसकर ऋषि बोले क्षमा किया तुमको इस बार,
भूल इधर जो पाँव दिया फिर तो आफत समझो तुम मार।
जान बचाके चुपके उठके चलता हुआ मैन तत्काल,
जाकर सुरपति से बतलाया मुँह की खाने का सब हाल।
नारदमुनि भी उठे गर्व से जीत काम को शंकर-सा,
सोचा सिवा हमारे कोई जीत सके मनसिज बिरला।
चलो ज़रा शंकर से मिल लें वह भी होंगे चकित विशेष,
आँख बंद कर क्षण में पहुँचे जहाँ उमा-सँग रमे महेश।
आदर से बैठा नारद को पूछी शंकर ने कुशलात,
हँसते-हँसते बड़े गर्व से कह दी कामविजय की बात।
भोलानाथ विहँसकर बोले आप कहाँ और कहाँ मदन,
उसको क्या सूझी थी आख़िर जो देने आया गर्दन।
नहीं आपके लिये बड़ी है इतनी छोटी-सी यह बात,
ढुलक गया आँसू बनकर वह ज्यों पानी छू पुरइनपात।
स्वयंसिद्ध है नियम सदा यह मुनिमन को नहिं व्यापे काम,
फिर इसका कहना ही क्या है, नाम छोड़िए कहिए राम!

कुछ विक्षुब्ध हो मुनी सिधारे उन्हें न भाया शिव का ज्ञान,
ईर्षा बस यह नहीं देख सकते हैं, सोचा, कीर्ति महान।
यह समझे थे यही एक हैं मदन-दहन करनेवाले,
नहीं जानते थे नारद भी हैं आफत के परकाले।
चलूँ मिलूँ चतुरानन से तो देखें वह कहते हैं क्या,
विस्मित होंगे वह अवश्य ही सुनकर मेरी नई कथा।
ब्रह्मलोक पहुँचे निमेष में आसन दे विधि बोले आज,
बहुत दिनों के बाद किधर से भूल पड़े नारद महराज।
नारद बोले दर्शन करने यों ही आए इधर निकल,
चला कहाँ से? क्या बतलाऊँ? पड़ा पेट में हँसते बल।
हिमगिर के इक उच्च शृंग के अंचल में सरिता के तीर,
दीपशिखा को करें न चंचल, रोक एकदम स्वाँस समीर।
करता था तप, इसी बीच में किया काम ने बहुत प्रयत्न,
मेरा तपोभंग करने में उठा न रक्खा कोई यत्न।
किंतु न फँसा जाल में उसके अपना-सा मुँह ले भागा,
ठीक वहीं से आता हूँ मैं अभी ध्यान से हूँ जागा।
धन्य-धन्य हो मुनिवर तुम भी जीता ख़ूब काम को धन्य,
तुम्हें छोड़कर शायद कोई, कर पावे यह कार्य जघन्य।
कहना मत विष्णू से ऐसा अवश बुरा वह मानेंगे,
स्वयं नहीं ऐसा कर पाते यह कटाक्ष वह जानेंगे।
अच्छा कह नारदजी आए जहाँ विष्णु करते थे सैन,
मिले प्रसन्नवदन लक्ष्मीपति कुशल-क्षेम पूछा मृदुबैन।
कह डाली सब रामकहानी नारदजी ने गर्वसहित,
कहा रमापति ने ख़ुश होकर भला आपसे हो अनुचित!
बीन बजाकर आप नचावें काम-सरीखे कितने नाग,
मसल दिया होता चुटकी में आया था जो करने लाग।
यह सुन फूले मुनी सिधारे, सिर में भरा विजय-अभिमान,
पैर नहीं पड़ते थे भू पर था दिमाग़ पहुँचा आसमान।
उगता देख भक्त के मन में अहंकार का अंकुर शूल,
किया विचार विष्णु ने इसको युक्ती से कर दूँ निर्मूल।
माया से बस तुरत बसाया, सुंदर रम्य मनोहर पुर,
जिसकी शोभा देख-देखकर लज्जित होता था सुरपुर।
प्रजा सुखी थी भूप शैलनिधि करता रहा प्रेम से राज,
उसी नगर में अकस्मात् ही आ पहुँचे नारद महराज।
रचा स्वयंवर था कन्या का राजा ने कर बहुत उछाह,
देश-देश के भूप आनकर लगे भाग की लखने राह।
पहुँचे नारद तो राजा ने बैठाकर आदर के साथ,
छूकर चरण, सुता का अपने लगे दिखाने मुनि को हाथ।

कहा भाग्य इसका तो कहिए कृपा दिखाकर करो कृतार्थ,
जो विधि ने लिख दिया हाथ में बतला दीजे हमें यथार्थ।
रूप सरोवर से कोमल कर कमलकली-सा उठा सनाल,
कुछ सकुचा, कुछ अंचल देखे, तिरछे लख सखियों को बाल।
पितु-आयसु से लगी दिखाने मुनि नारद को अपना हाथ,
बाम हथेली लगे देखने मुनिवर थाम हाथ में हाथ।
आँख गड़ाकर रेखाओं में, नचा-नचाकर पुतली को,
पढ़ने लगे हस्तरेखा को मुनिवर मंत्र मुग्ध-सा हो।
देख-देख रेखाएँ कर की खींच-खींचकर सुंदर चित्र,
आह खींचकर चित्र खिंचे-से खड़े रहे, थी दशा विचित्र।
जौ-रेखा की बाल देखकर उस बाला के हाथों में,
मलकर हाथ लगे घबड़ाने, मन न रहा निज हाथों में।
देखी मीन तैरती, उसकी कोमल सुघर हथेली में,
तड़प गए मछली-सा सोचा रखकर प्राण हथेली में।
फँसा लिया इसने मन मेरा फाँसू इसे लगा बंसी,
पा जाऊँ तो मौज उड़ाऊँ बजे चैन की फिर बंसी।
कमल-पुष्प पर मधुप हृदय यह इकदम हुआ निछावर है,
सामुद्रिक से निकल रहा यह भाग्यवान् इसका वर है।
प्रभु कैसे यह बरूँ कुमारी गजगामिनि यह आवे हस्त,
पी प्याला मदभरे नयन का हो जाता हूँ मैं मदमस्त।
क्या बतलाऊँ पा जाऊँ यदि विष्णु का मैं रूप ललाम,
तो पहिना देगी मोहित हो वरमाला मुझको यह बाम।
आँखें भर-भर देख प्रिया को नयन बंद कर लूटा सुख,
खींची जो तसवीर हृदय पर उतर गया अपना ही मुख।
देख मौन मुनिवर को इकदम, ठंढी ही निश्वासें छोड़,
विनयपूर्वक पूछा नृप ने छूकर चरण युगल कर जोड़।
हे मुनिनाथ नहीं कुछ कहते मेरे सुताभाग्य का हाल,
तुम त्रिकालदर्शी हो सब कुछ जान लिया होगा तत्काल।
फिर इतना संकोच मुनी क्यों, भला-बुरा जो कुछ हो फल,
कह दीजे विधि ने जो लिक्खा, इसमें किसका चलता बल।
यदि ललाट में दुःख लिखा है, नहीं कभी सकता है टल,
जो गृह हो बलवान बाल के तो कुदृष्टि नहिं सकती चल।
चौंक पड़े नारद सुन बानी मन में कुछ लज्जित होकर,
सोचा कैसी भूल हुई है, पाया क्या मन को खोकर।
बोले तुरत सँभल भूपति से भाग्यवान् यह है बाला,
होगा अमर अजर विजयी वर, जिसे पिन्हाएगी माला।
अचल रहे सिंदूर माँग में मनमोहन यह पावे वर,
वर देकर मुनिराय सिधारे चिंतित-हृदय झुकाए सर।

गुरुभक्तसिंह "भक्त"

माया

आशा नियराती न, निराशा नहिं आती पास,
  काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद गुरु गरते;
धरते 'बिसारद' न चिंता चित एकौ याम,
  भारी भोग यातना के भाव न अखरते।
आनँद-लहरि बने ब्रह्म में बिलीन होते,
  शुद्ध एकरस सब काल में ठहरते;
लहि-लहि जन्म हम मरते न बार-बार,
  एरे माया-जाल! तेरे फंद जो न परते।

बलदेवप्रसाद टंडन 'विशारद'

बाबूजी की सोहागरात

मोहिनी बाल-विधवा थी। उसके पिता श्रीअवनीन्द्र-नाथ मुखोपाध्याय बनारस के समृद्धिशाली एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से थे। अवनीन्द्र बाबू के शहर में कई मकान थे, कुछ ज़मींदारी थी तथा पास में नक़द रुपया भी बहुत था। वे कट्टर सनातनधर्मावलम्बी हिंदू थे। विधवा-विवाह तथा शुद्धि आदि नवीन योजनाएँ सुनकर उनके शरीर में आग लग जाती थी। उनकी एक-मात्र संतान मोहिनी दुर्भाग्यवश ७ वर्ष की आयु में ही, विवाह के एक मास पश्चात्, विधवा हो गई थी। बालिका मोहिनी को अपने वैधव्य तथा उसकी भाविनी यातनाओं का कुछ भी ज्ञान न हुआ। अपने विवाह को तो उसने एक वृहत् मनोरंजन का आयोजन समझकर खेल-कूद में ही बिता दिया और एक मास पश्चात् जब उसकी मा उषा अपनी एकलौती संतान को गोद में ले बार-बार उसका चुंबन करती हुई आर्तनाद से रोती थी, उस समय सरल-हृदया बालिका नवजात मृगशावक की तरह अपनी मा को एकटक देखती हुई उसके कपोलों पर हाथ फेरकर उसे आश्वासन देने का यत्न करती रही। मोहिनी यह न समझ सकी कि वैधव्य क्या होता है और उस दिन जो लड़का पीले कपड़े पहनकर उसके साथ खेलने आया था, उसे याद करके मा क्यों रोती है। आज मोहिनी अपनी मा के रोने का कारण भी नहीं समझ सकी। उसे इस बात का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं कि उसके ऊपर भीषण वज्रपात हो चुका है और अब उसे जीवनपर्यंत हिंदू-पिता के घर में जन्म लेने के कलुषित पाप का भयंकर परिणाम भोगना पड़ेगा। जब उसकी मा देर तक चुप नहीं हुई, तो बालिका का धैर्य जाता रहा। वह किसी प्रकार अपनी मा की गोद से उठकर भाग गई और बाहर लड़कियों के साथ दूल्हा-दुलहिन का खेल खेलने लगी।

× × ×

मोहिनी को विधवा हुए कई वर्ष व्यतीत हो गए। धीरे-धीरे उसने बाल्यकाल की मुग्धावस्था को समाप्त कर युवावस्था में पदार्पण किया। उसके अंग-प्रत्यंग नव-विकसित कलियों की भाँति खिलने लगे तथा उ[सके] बोलचाल में बाल्य-सुलभ चंचलता दूर होकर लज्जा[का] संचार होने लगा। बाल्यावस्था में ही वह अतीव सु[ंदरी] थी, युवावस्था के समागम से उसका सौंदर्य खिल[कर] चमक उठा। उसका गौर मुखमंडल पूर्ण शरद्चन्[द्र के] समान शुभ्र निर्मल था तथा वस्त्राभूषणों से अत्यंत [सु-स]जित न होते हुए भी उसका लावण्य दर्शकों को वि[मुग्ध] कर देता था। मोहिनी को विधाता ने वास्तव में वि[पुल] मोहिनी रूपराशि प्रदान की थी। उसने १६वें व[र्ष में] पदार्पण किया। अपनी सखियों तथा पड़ोसियों [की] विवाह-संबंधी बातें सुनकर उसे अपने वैधव्य का अनु[भव] होने लगा। उषा अपनी कन्या की अलौकिक रूप[राशि] को सौभाग्यहीन देखकर मन-ही-मन अत्यंत दुःखी हु[आ] करती थी। उसे रात-दिन यही चिंता रहती थी कि अ[ब] तक तो इस भुवनमोहिनी ने अपना वैधव्य खेल-कू[द में] ही व्यतीत कर दिया है; पर अब युवा होने पर वह [इस] वज्रपात को कैसे सहन कर सकेगी। उषा की हा[र्दिक] इच्छा थी कि मोहिनी का दूसरा विवाह हो जाय; [पर] बाबूजी (अवनीन्द्र बाबू) के कारण वह इस प्रस्ता[व को] उठाने में भी डरती थी। अब मोहिनी को पूर्ण ज्ञान [हो] गया था कि विधवा होना क्या होता है तथा वह [बाल-]विधवा है। अपनी सखियों के विवाह को वह [बड़ी] उमंगों के साथ देखती थी और अपने अंधकारमय भ[वि-]ष्य को विचारकर कभी-कभी घंटों तक विचारसाग[र में] डूबी रहती थी। उषा से अपनी कन्या का दुःख न [देखा] गया और मातृप्रेम के वश में उसने एक दिन सा[हस] करके बाबूजी से भोजन करते समय मोहिनी के वि[वाह] का प्रस्ताव कर ही डाला। बाबूजी खाना-पीना भूल[कर] और तपाक के साथ बोले—

"पागल हो गई है? विधवा-विवाह शास्त्रनिषिद्ध [है।] मोहिनी का दूसरा विवाह करने से मा-बाप को नर[क] जाना पड़ेगा। हम किसी को मुँह दिखलाने के योग्य न रहेंगे। जब मोहिनी स्वयं इतनी अभागिन है

विवाह के एक मास बाद ही पति के मरने का कारण हुई, तो क्या बार-बार विवाह करने से इसका भाग्य फिर जायगा ?"

"मुझे नरक में जाना पड़ेगा, तो मैं सहर्ष चली जाऊँगी; पर इस लोक में ही अपनी नवविकसित कुसुम-कली-सी मोहिनी को नरक की यातना सहते मैं नहीं देख सकती। मेरी मोहिनी का सुहाग बचपन में ही पुँछ गया, उसने दुनिया नहीं देखी। क्या विधाता ने यह अनुपम सौंदर्य केवल इसकी व्यथा बढ़ाने को ही दिया है? मैं तो उसे जीवनपर्यंत ऐसा नहीं देख सकती।"—यह कहकर उषा ने अपने प्रस्ताव का फिर समर्थन किया। अपनी स्त्री की ऐसी घृणित बातों को सुनकर बाबूजी का खून उबलने लगा और आवेश में थाली फेंककर उन्होंने चौके से जाते हुए कहा—

"चाण्डालिन, मोहिनी को लेकर घर से निकल जा। एक आदमी अपने लिये रख लेना और अपनी लाड़ली छोकरी का भी दूसरा विवाह कर देना। मेरा मुँह काला करने के लिये यहाँ मत रह।"

बाबूजी के जाते ही उषा रोने लगी। मोहिनी किवाड़ की ओट से सब वार्तालाप सुन रही थी। अपनी मा को रोते देखकर वह आ गई और उसे आश्वासन देने का यत्न करने लगी। उषा अपनी कन्या के सम्मुख रोना अनुचित समझकर तुरंत ही आँसुओं को पोंछकर कार्य में लग गई। मोहिनी के मानसपटल पर इस वार्तालाप ने चिरकाल के लिये गहरा घाव कर दिया। वह न-मालूम रात-दिन क्या सोचा करती थी। एक ओर तो उसकी मा उसके वैधव्य के कारण दुःखी रहती है, दूसरी ओर उसके बाबूजी पुनर्विवाह के विचारमात्र से ही समाज तथा नरक से डरते हैं, ऐसी दशा में मोहिनी की वैधव्य-व्यथा द्विगुणित हो उसे भयानक वेदना पहुँचाने लगी।

छः मास बीत गए। उषा एक मास से बड़ी रुग्ण थी, आज रात्रि को एकाएक वह सांसारिक सुख-दुःखों से मुक्त होकर स्वर्गधाम को सिधार गई। मोहिनी का अब इस संसार में कोई नहीं रहा। आज उसने अपने वैधव्य की पूर्ण वेदना अनुभव की। रोते-रोते उसके सुन्दर विशाल कमल-नेत्र सूज गए, उसका चारु चन्द्रानन मलीन हो गया; पर उसके चित्त को शान्ति न हुई। मोहिनी खेलना-कूदना भूल गई। अब वह रात-दिन बाबूजी की सेवा में लगी रहती थी।

× × ×

आज बाबू अवनीन्द्रनाथ का विवाह है। उनकी पहली पत्नी का देहावसान हुए पूरे साढ़े तीन मास से भी अधिक हो गए। अब बाबूजी से बिना विवाह किए न रहा गया। बड़ी धूमधाम से सवेरे साढ़े छः बजे की गाड़ी से बरात इलाहाबाद गई। बरात जाने के समय मोहिनी अपने बाबूजी को नए वेश में बड़ी देर तक देखती रही। चार दिन बाद बाबूजी अपनी चतुर्दशवर्षीया नवविवाहिता वधू कुसुम के साथ घर लौट आए। आज सुहाग-रात है। पास-पड़ोस तथा संबंध की स्त्रियाँ दिन-भर मंगल-गान तथा हास्य-विनोद करती रहीं। घर में चारों तरफ़ चहल-पहल मची है, पूरी-पकवान बन रहे हैं, नौकर-चाकर भाई-बन्धु नातेदार सभी के मुख पर एक अपूर्व प्रसन्नता की झलक दिखाई पड़ती है। ऐसे समय में मोहिनी एक कमरे में पड़ी विचारसागर में निमग्न है। आज उसे बाबूजी का अपनी मा के साथ चौके-वाला वार्तालाप बार-बार स्मरण हो आता है। मा की याद कर उसका हृदय उससे मिलने के लिये छटपटाने लगा। उस दिन चौके की बात सुनकर वह अपने बाबूजी पर इसलिये श्रद्धा करने लगी थी कि वे अपने धर्म पर दृढ़ हैं तथा हिंदूशास्त्रानुसार अपनी विधवा कन्या का दूसरा विवाह नहीं करना चाहते। पर आज मोहिनी के हृदय में बाबूजी के प्रति घृणा हो गई। वह बाबूजी तथा हिंदू-समाज दोनों को बड़ी तुच्छ दृष्टि से देखने लगी। बाबूजी तीन मास भी बिना विवाह किए नहीं रह सके; पर उसे आजन्म वैधव्य-दुःख भोगना ही शास्त्रसम्मत है। ऐसे शास्त्रों को वह थोथे क़िस्से-कहानियों की पुस्तकें समझने लगी। हिंदूसमाज का रहस्य वह समझ गई—पाखंडी, स्वार्थलोलुप, मायावी पुरुषों की अधिकता। इस प्रकार मोहिनी के विचारों में आज एक भयानक परिवर्तन हुआ। अभी तक वह अपने वैधव्य-दुःख को सुखपूर्वक सहन करना एक परम पुनीत कर्तव्य समझती थी। पर आज वैधव्य को अपने ऊपर एक घृणित सामाजिक अत्याचार समझकर, वह समाज तथा लोक-लाज की बेड़ियों को तोड़कर फेंक देने का उपाय सोच रही है। जो घड़ी बाबूजी के जीवन की सौंदर्यमयी

शुभ्र सोहागरात है, वही मोहनी के जीवनपथ के लिये घनघोर घटायुक्त पावस अमावास्या की काली अँधेरी रात्रि है।

× × ×

करुणेशनंदन चट्टोपाध्याय के पिता पोस्टआफ़िस में नौकर थे। क़रीब डेढ़ वर्ष हुआ, वे मिर्ज़ापुर से बदलकर बनारस आ गए थे। उन्होंने अवनींद्र बाबू के पड़ोस में एक मकान किराए पर ले लिया था तथा उनके दूर के रिश्तेदार भी थे। करुणेश एफ़्० ए० में पढ़ता था। रूपवान् न होने पर भी उसमें यौवन-सुलभ ठाटबाट तथा विलासिता की कमी नहीं थी। वह बाबूजी के घर प्रतिदिन आया करता था और धीरे-धीरे घर के भीतर भी बेरोक-टोक आने-जाने लगा था। मोहिनी की मा उषा उसे पुत्र के समान प्यार करती थी। मोहिनी की अतुल रूपराशि देखकर करुणेश का चंचल मन उन्मत्त हो उठा और वह उषा की आँख बचाकर मोहिनी की रूपसुधा-पान कर अपने तृषित नेत्रों को तृप्त करके संतुष्ट न हुआ। ज्यों-ज्यों वह मोहिनी को देखता था, उसकी रूप-पिपासा शान्त होने की अपेक्षा द्विगुणित होती जाती थी। शनैः-शनैः करुण मोहिनी के साथ हास्य-विनोद तथा वार्तालाप करने का यत्न करने लगा। वह अवसर देखकर मोहिनी के सौंदर्य की प्रशंसा करता था। पर मोहिनी के शुद्ध मानस-पटल पर इन सब बातों का लेशमात्र भी प्रभाव न पड़ा। उसे अपने वैधव्य का ज्ञान हो चुका था। करुण से एकांत में बातचीत तथा हास्य-विनोद को वह अपने समान विधवा के लिये अत्यंत निंदनीय पाप समझकर सर्वदा उससे दूर रहने का यत्न करती थी। मोहिनी की उपेक्षादृष्टि ने करुण को पागल बना दिया। वह दिन में कई बार उषा के पास किसी-न-किसी बहाने से आता था। पर मोहिनी अपने पथ से विचलित नहीं होती और आँख उठाकर भी करुण की ओर नहीं देखती थी।

× × ×

बाबूजी की सोहागरात हुए कई मास बीत गए। वे अपनी नव-विवाहिता कुसुम के प्रेमपाश में बद्ध हैं। कुसुम मोहिनी की मा है; पर उसमें वात्सल्य नहीं, यौवन-सुलभ चंचलता है; उसमें शांति नहीं, तृष्णा है; उसमें मोहिनी के प्रति सहानुभूति नहीं, अपितु उसको उत्तेजित करने-वाले हाव-भाव तथा मादकता भरी है। बाबूजी तथा कुसुम के निरंतर प्रेमालाप तथा व्यंग-विनोद से मोहिनी के हृदय में वासना की जागृति होना प्रारंभ हो गया। बाबूजी की सुहागरात के दिन जो भयानक मानसिक परिवर्तन मोहिनी के विचारों में हुए थे, अब अपनी नवीन छोटी-सी मा के शृंगार तथा आमोद-प्रमोद को देखकर वह उन विचारों को कार्यरूप में परिणत करने का यत्न करने लगी। धीरे-धीरे उसकी लज्जा कम हुई, भय जाता रहा तथा हृदय में साहस का संचार हुआ। अभी तक तो उसकी दृष्टि नीचे की ओर रहती थी; पर अब करुण के आते ही मंदहास्य से उसका स्वागत कर मंत्रमुग्ध की भाँति उसे देखा करती थी। मोहिनी का चिंतित दुःखी मुखारविंद करुण को देखकर प्रसन्न हो उठता था; मंद मुसकराहट से उसका सौंदर्य द्विगुणित हो करुण के हृदय को प्रफुल्लित कर देता था। बाबूजी की सोहागरात उसके मानस-पटल पर अंकित हो चुकी थी। सोहागरात के एकांत-मिलन का सुख अनुभव करके बाबूजी की भीरुता, अन्याय तथा समाज के अत्याचारों का कठोर बदला लेना ही एकमात्र उसके जीवन का उद्देश्य था। इधर बाबूजी अपनी नवीन कुलवधू, मोहिनी की नन्हीं-सी मा, चतुर्दशवर्षीया कुसुम के रंग में इस प्रकार रँगे हुए हैं कि उन्हें इस आवरण के कारण मोहिनी के नवीन पथ का कुछ भी ज्ञान न हुआ।

× × ×

मोहिनी के वैधव्य-दुःख तथा उसकी मनोहारिणी सरल सौन्दर्यमयी मूर्ति ने शनैः-शनैः करुण के हृदय में रूपतृष्णा के स्थान पर प्रेम, सहानुभूति तथा श्रद्धा का संचार कर दिया। करुण पूर्ण युवक है। मोहिनी की दुर्दशा देखकर उसका दिमाग़ हिंदू-समाज की कुप्रथाओं के प्रति यौवन-सुलभ विद्रोह से भर गया। मोहिनी के वैधव्य ने करुण के नेत्रों के सामने लाखों हिन्दू-विधवाओं के जीते-जागते नारकीय जीवन का चित्र चित्रित कर दिया। हिंदू-विधवाओं पर होते हुए अन्याय, अत्याचार और निर्दयता के दृश्यों ने करुण को समाज के प्रति विद्रोह तथा ग्लानि से उन्मत्त कर दिया। वह घंटों तक अपने पढ़ने के कमरे में पुस्तकें बंद किए बैठे-बैठे हिंदू-समाज की वर्तमान दुर्दशा पर विचार किया करता था। ७ वर्ष की विधवा यदि युवावस्था प्राप्त

होने पर मुसलमान के साथ अपना जीवन व्यतीत करने में ही सुख समझती है, तो किसके अपराध से ? युवती विधवा यदि भ्रष्टाचरण की होकर भ्रूणहत्या तथा वेश्या-वृत्ति की ओर अग्रसर होती है, तो इसका पाप किसके ऊपर है ? मोहिनी हिमाचल के उत्तुङ्ग शिखर पर विद्यमान शुभ्र हिमकण के समान पवित्र और निर्मल है; उसका अधःपतन अवश्यम्भावी है, इसका उत्तरदायित्व किस पर होगा ? निस्सन्देह ! उसके बाबूजी पर !! इस कलंकी हिंदू-समाज पर !!! इन विचारों ने करुण को उत्तेजित कर दिया । उसने मोहिनी के उद्धार का संकल्प कर लिया ।

× × ×

रात्रि के दस बज चुके हैं । बाबू अवनीन्द्रनाथ ८॥ बजे से ही अपनी अल्पवयस्का नववधू के साथ अटारी पर चले गए हैं । प्रेमालाप तथा हास्य-व्यंग-विनोद के बाद बाबूजी को प्रगाढ़ निद्रा ने आ घेरा । नौकर-चाकर सब यथास्थान सो रहे हैं । घर की महरी आँगन में जाग रही है । मोहिनी घर के पीछेवाले बैठके में खड़ी-खड़ी करुण के आने की प्रतीक्षा कर रही है । वह ठीक ग्यारह बजे आने का वचन दे गया है । उसके आने में घंटे-भर की देर है । मोहिनी अपने भविष्य जीवन पर विचार करने लगी—"क्या यह अनुपम सौन्दर्य, यह दुर्लभ जीवन सब व्यर्थ ही जायगा ? मैं बाल-विधवा हूँ; पर इसमें मेरा क्या दोष ? क्या एक पति के मरने पर दूसरा विवाह नहीं हो सकता ? क्या दूसरा विवाह करने से स्त्रियाँ नरक को जाती हैं ? नहीं ! नहीं ! यदि ऐसा होता, तो नरक में तिल रखने की भी जगह नहीं रहती । हिंदुओं को छोड़कर अन्य सब धर्मावलंबियों में विधवाओं के विवाह होते हैं । पाश्चात्य देशों में प्रति दिन लाखों विधवाएँ विवाह करती हैं । हज़ारों मुसलमान-युवतियाँ पति के मरने पर विवाह करती हैं । क्या ईश्वरीय पाप-पुण्य के नियम भी हिंदू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी तथा अन्य लोगों के लिये पृथक्-पृथक् हैं ? कभी नहीं ! ऐसा नहीं हो सकता । फिर, यदि पाश्चात्य देश की स्त्रियाँ तथा मुसलमान-विधवाएँ सैकड़ों पतियों के मरने पर भी नरक को जाकर नहीं भर देतीं, तो क्या नरक केवल हिंदू-स्त्रियों के लिये ही बनाया गया है ? हिंदू-समाज ने, मेरे मूर्ख अज्ञानी पिता ने बाल्यकाल में ही मेरा विवाह करके अन्याय तथा घोर पाप किया है । उसके लिये मैं अपना सम्पूर्ण जीवन कष्टमय बनाकर सांसारिक सुखों से वंचित क्यों रहूँ ? पुरुष की स्त्री मरने पर वह लगातार विवाह करता ही चला जाता है; पर स्त्रियाँ दूसरा विवाह नहीं कर सकतीं । ओह ! कितनी स्वार्थपरता है । कितना अन्याय है । मेरे बाबूजी ने मेरी मा के स्वर्गारोहण के तीन मास बाद ही एक बालिका को मेरी मा बनाकर घर में सोहागरात मनाई, पर मेरे विवाह से उन्हें नरक का भय लगता है, हिंदू-समाज के सामने मुँह काला हो जायगा, वे जात-बिरादरी से पृथक् हो जायँगे । छिः ! छिः !! धिक्कार है इस हिंदू-समाज को; यहाँ स्त्रियों का आदर नहीं । यदि मेरा वश चले, तो घड़ी-भर के भीतर ऐसे हिंदुओं को बीन-बीनकर, रसातल पहुँचाकर इस पृथ्वीतल से ऐसे स्वार्थलोलुप, अन्यायी तथा पाखंडी समाज का नाम-निशान ही मिटा दूँ ।" इस प्रकार हिंदू-समाज को सैकड़ों गालियाँ देते हुए मोहिनी ने अंत में यही निश्चय किया कि "जो कर रही हूँ, वही उचित है; जो विचारती हूँ, वही श्रेयस्कर है तथा भविष्य में इसी में सुख है ।" ठीक इसी समय किसी ने धीरे से किवाड़ पर शब्द किया । मोहिनी सोते से जाग-सी उठी; उसकी विचारावली भंग हो गई । करुण ने भीतर प्रवेश किया । मोहिनी महरी को सतर्क रहने का आदेश कर बैठकख़ाने में लौट आई ।

"तो अब देरी किस बात की है"—यह कहकर मोहिनी करुण के गले से लिपट गई ।

"मैंने आज तुम्हें अपने साथ ले चलने का वचन अवश्य दिया था, पर मैं बड़े असमंजस में हूँ । तुमको लेकर कहाँ जाऊँगा, कहाँ रहूँगा । इस घर से बाहर पैर रखते ही हम लोग अस्पृश्य तथा निंदनीय हो जायँगे और हमें भागकर किसी दूसरे शहर में कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़ेगा । उस दशा में तुम्हारे कष्ट को न देख सकूँगा । तुम्हारे सुख के लिये मैं सब कुछ करने को तैयार हूँ, पर मुझे निश्चय है कि इस घर से ले जाकर मैं तुम्हें तृण-मात्र भी सुख और शांति न दे सकूँगा । शीघ्रता करने से पछताना पड़ेगा । इसलिये हमें विचार-पूर्वक कार्य करना चाहिए । धैर्य और शांति से काम लो, ईश्वर अवश्य तुम्हारा साथ देगा ।" मोहिनी को आज फिर निराश होना पड़ा । वह किवाड़ बंद कर दर्दभरी

आवाज़ से धीरे-धीरे रोती हुई पलँग पर जाकर लेट गई। निद्रा देवी ने भी हतभागिनी की सहायता नहीं की।

× × ×

हनीफ़ बाबूजी के पड़ोस में रहनेवाले एक मुसलमान-सौदागर का लड़का था। वह एक सुंदर तरुण युवक था। उसका दोहरा शरीर अत्यंत गौर वर्ण तथा आकृति बड़ी ही लावण्यमयी थी। वह जितना ही रूपवान् था, उतना ही विलासी तथा दुर्व्यसनी था। मोहिनी को दूर से देखकर वह हाव-भाव द्वारा उसे अपने मायाजाल में घसीटने का यत्न बहुत दिनों से करता रहा था। अपने मकान की छत पर जाकर वह अनेकों इशारे करता था, सीटी बजाता था तथा मोहिनी को छत पर देखकर गाना गाने लगता था। मोहिनी के दर्शन-मात्र से ही हनीफ़ उन्मत्त होकर मन-ही-मन कहता था कि इसकी यौवन-कलिकाओं के विकास और सुंदर रूपराशि के सामने सुर-सुंदरियों का सौंदर्य भी लज्जित होता है; उसके अंग-प्रत्यंग में एक अलौकिक लावण्य क्रीड़ा कर रहा है। हनीफ़ ने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि किसी-न-किसी प्रकार इस रूपसुधा का पान अवश्य करेगा। मोहिनी को बाल-विधवा जानकर उसका आशालतांकुर लहलहा उठा था; पर मोहिनी की नीरस उपेक्षा दृष्टि ने उसे अधीर कर दिया; वह रात-दिन मोहिनी के रूप-पाश में बद्ध रहता तथा उसे प्राप्त करने के उपाय विचारा करता था।

× × ×

करुण को मोहिनी के उद्धार का कोई सरल उपाय समझ में नहीं आया, इसलिये उसने यह विचारा कि यदि वह मोहिनी के घर जाना छोड़ दे, तो वह फिर पहले की तरह अपने वैधव्य में ही सुख समझने लगेगी। करुण यह समझता था कि मोहिनी के मानसिक परिवर्तन का कारण वह स्वयं है। उसे बाबूजी की सोहागरात के दिन मोहिनी के मन में पैदा हुए विषवृक्ष का कुछ भी पता नहीं था। अपने को ही दोषी ठहराकर इस विचार से कि मोहिनी उसे भूल जाय, उसने बाबूजी के घर जाना बिलकुल छोड़ दिया। करुण को मोहिनी के उद्धार की इच्छा थी, पर शक्ति नहीं थी। वह समाज से डरता था; रोटी का प्रश्न उसके सामने था। करुण ने मोहिनी को समाज की अत्याचारपूर्ण बेड़ियों से जकड़ा देखकर बड़ी वेदना अनुभव की, पर उसे उन बेड़ियों से मुक्त करने के प्रयत्न में अपने ही बँध जाने की आशंका ने उसका साहस तोड़ दिया और वह चुप होकर बैठ रहा। कई मास बीत जाने पर भी जब करुण न आया, तो मोहिनी उसे कायर तथा स्वार्थलोलुप समझकर बिलकुल भूल गई। पर बाबूजी की सोहागरात उसे नहीं भूली थी। हिंदुओं से तथा हिंदू-समाज से वह निराश हो चुकी थी। निदान उसके हृदय में हनीफ़ के सौंदर्य तथा प्रेम ने स्थान करना प्रारंभ कर दिया। छत पर जाकर घंटों तक उससे इशारों से बातचीत करके ही वह अपने को धन्य समझती थी। जिस हनीफ़ को वह एक धूर्त तथा नीच पुरुष समझती थी, जिसकी ओर वह नेत्र उठाकर देखना भी पाप समझती थी, आज उसी हनीफ़ को बिना देखे मोहिनी को चैन नहीं पड़ता। हनीफ़ के कुत्सित भ्रूभङ्ग का अपनी मंद मुसकराहट से उत्तर देकर वह अपना जीवन सफल जानती थी। पर इतने से न तो हनीफ़ को संतोष था, न मोहिनी को शांति थी।

× × ×

अमावास्या की काली अँधियाली रात है। घंटेघर से टन-टन टन-टन होकर १२ बजने की सूचना मिली। छोटी-छोटी बूँदें कभी-कभी गिरने लगती हैं, ठंडी हवा चल रही है। बाबूजी नीचे बरामदे में अचेत सो रहे हैं। मोहिनी दुमंज़िले पर अपनी छोटी कोठरी में एक धीमी मोमबत्ती की रोशनी में बैठी वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो रही है। आधीरात बीत जाने पर इस वेशभूषा के धारण करने में अवश्य कोई रहस्य होगा। एक अत्यंत सुंदर किनारी लगी हुई मूल्यवान् रंगीन रेशमी साड़ी के ऊपर बारीक जाली का झालरदार पोलका सोने में सुगंध का काम कर रहा है। आज उसके सौंदर्य में एक तीव्र मादकशक्ति है। एक बड़े आईने के सामने खड़ी होकर मोहिनी अपने स्वर्गीय सौंदर्य की अनुपम छटा देखकर मन-ही-मन विचारने लगी—"आज धूर्त, बनावटी धर्मनिष्ठ हिंदू-समाज को दिखला दूँगी कि युवती विधवाएँ असहाय नहीं हैं; उन्हें अपने दूसरे विवाह के लिये हिंदू-समाज की ख़ुशामद करने की, उसकी आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं। विधवाओं के सुख और ऐश्वर्य का मार्ग सरल और साफ़ है। आत्मघात करना पाप है, इसकी कोई आवश्यकता

नहीं; मा-बाप, ननद-भौजाई के अपमान सहन करने से कुछ काम नहीं । बस, त्याग--सब का त्याग ! बड़ी आशा थी कि इस बीसवीं सदी के नवयुवक डूबते हुए हिंदू-समाज की रक्षा करने में अपना तन, मन, धन लगा देंगे, पर व्यर्थ । उस कलमुँहे करुण को तो देखो; कितना भीरु, कितना कायर तथा कितना स्वार्थी निकला। वह केवल मेरे सौन्दर्य का भूखा था । मैं अपना जीवन, अपना लोक-परलोक सब उस पर निछावर करने को तैयार थी, पर मेरे विवाह के प्रस्ताव को सुनते ही वह अपनी भीरुता का परिचय देकर चुपचाप बैठ रहा । अहा! हनीफ़ कितना सुंदर है । उसके उस रमणीय स्वरूप, कान्तिपूर्ण उज्ज्वल मुख तथा मधुर कण्ठस्वर के सम्मुख मूर्तिमान् सौन्दर्य भी फीका लगता है । अपने सौभाग्य-सूत्र को उसके प्रेमसूत्र के साथ आबद्ध कर मैं स्वर्गीय आनन्द का उपभोग करूँगी । बाबूजी से और हिंदू-समाज से चिल्लाकर कहूँगी कि मेरे सुख और ऐश्वर्य को आँख खोलकर देखो और यदि बिलकुल बेशरमी धारण न कर ली हो, तो चुल्लू-भर पानी में डूब मरो।" मोहिनी को इस प्रकार विचार-लहरों में डूबते-उतराते अपनी सुध-बुध भी नहीं रही । ठीक इसी समय कोठरी की पीछेवाली खिड़की पर एक तरुण युवक ने आकर मोहिनी का सुखस्वप्न भंग कर दिया । मोहिनी ने हनीफ़ का प्रेम से स्वागत कर ईश्वर को धन्यवाद दिया और उसकी सहायता से एक छोटी-सी भारी पोटली लेकर वह खिड़की से बाहर निकल गई । बीच के दो घरों की छतों पर होते हुए दोनों हनीफ़ के बैठक-ख़ाने में पहुँचे । बाहर सड़क पर एक बन्द गाड़ी खड़ी थी। माता-पिता तथा बंधुजन का मोह परित्याग कराके अत्याचार-पीड़िता बालविधवा मोहिनी को उसकी भ्रष्ट मति ने उसके सर्वनाश के लिये हनीफ़ के साथ गाड़ी में लाकर बिठला दिया । जिस समय गाड़ी अव-नीन्द्र बाबू के घर के सामने से निकली, तो मोहिनी ने अपना सिर बाहर निकालकर मन-ही-मन बाबूजी को संबोधित करके कहा—

"ऐ अत्याचार और निर्दयता के पुतले, अब भी मोह-निद्रा त्याग दे । देख, मैं अपने ऊपर किए गए अन्याय और अत्याचार का पूरा प्रतिशोध कर चुकी। अब मैं वह मोहिनी नहीं, सलीमा हूँ ; अन्याय और यातनाओं को चुपचाप सहन कर घर के भीतर सिसक-सिसककर रोती हुई जीवन बितानेवाली अभा-गिन विधवा नहीं हूँ, अपितु ईश्वर के दिए अधिकार और सुखों को भोग करनेवाली तथा समाज के कट्टरपन को ठुकरानेवाली निर्भय-हृदया रमणी हूँ । यदि सौभाग्य से मरते समय होश में रही, तो ईश्वर से यही प्रार्थना करूँगी कि अगले जन्म में भूलकर भी मैं किसी ऐसे हिंदू के घर में पैदा न होऊँ ।"

× × ×

"निःसंदेह मोहिनी के अधःपतन का कारण मैं ही हूँ । उसकी कोठरी में मिले पत्र से यह स्पष्ट है कि वह किसी मुसलमान के साथ घर से निकल गई ।"—यह कहते हुए करुण एक ठंडी साँस लेकर आरामकुर्सी पर लेट गया। वह सोचने लगा—"यदि मैं समाज के डर से तथा घरद्वार के मोह से उस सुर-सुंदरी को निराश न करता, तो आज वह इस प्रकार विधर्मियों के मायाजाल में न फँसती । मेरी कल्पना कितनी निर्मूल थी; मैं समझता था कि मुझसे न मिलने से, वह स्वयमेव अपनी दशा में ही सुख समझने को बाध्य हो जायगी । मैंने यह जानते हुए भी कि वह निर्दोष है और समाज के अत्याचारों से पीड़ित है, उसे दुःख और चिंता की अग्नि में जलता ही छोड़ दिया । जिस हिंदू-समाज के डर से मैं इतने बड़े अन्याय के घूँट को चुपचाप पी गया, मोहिनी ने उसी हिंदू-समाज पर लात मारकर, ठीकरे की तरह थूककर, मेरी आँखों का पर्दा हटा दिया । अब यदि कहीं एक बार भी उसके दर्शन कर सकूँगा, यदि कहीं भी वह मुझे मिल जाय, तो लोका-पवाद, घरद्वार, माता-पिता सबकी अवहेलना कर, उस रमणी-रत्न की रक्षा करूँगा । नहीं ! नहीं !! इतना पर्याप्त नहीं । मैंने भीषण पाप किया है, उसके भयानक परिणाम को मैं पूर्णरूप से सहन करूँगा । मोहिनी ने अपना कुल-जाति तथा मान-मर्यादा सभी पर लात मार दी है । मैं भी उसकी खोज में घर से बाहर निकल जाता हूँ । देश-देशांतरों में भ्रमण कर उसे ढूँढ़ता फिरूँगा और यदि कहीं भी उसका पता न लगा सका, तो लौटकर इसी बनारस-नगरी में अघनाशिनी, पतितपावनी गंगाजी की पवित्र धारा में समाकर इस पापमय जीवन का अंत कर दूँगा ।" इस प्रकार निश्चय कर करुण ने घर का दरवाज़ा खोला, बाहर निकलकर क्षण-भर तक वह एकटक से अपने

मकान की ओर देखता रहा । उसकी आँखों से दो बूँद आँसू टपक पड़े । हृदय को कठोर कर, उसने अपने निश्चय को दृढ़ किया और फिर जल्दी से पीछे की ओर देखता हुआ न-जाने किधर चला गया ।

× × ×

हनीफ़ सलीमा को रात-ही-रात दूर एक दूसरे मुहल्ले के मकान में पहुँचाकर घर लौट आया । वह प्रतिदिन सलीमा के लिये अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण और खाने-पीने की चीज़ें लाया करता था । सलीमा उसे प्रेम करती थी ; हनीफ़ उसे अपने विलास की सामग्री समझता था । कई वर्ष बीत गए । सलीमा का स्वर्गीय सौंदर्य शनैः-शनैः विलीन होने लगा ; उभड़ते हुए यौवन की वह मदमाती चाल, वे शिकारी आँखें तथा वह आकर्षण-शक्ति न-जाने कहाँ चली गई । साथ ही सौंदर्य-पिपासु हनीफ़ का शरणहीना सलीमा के प्रति सरल सुविस्तृत प्रेम शनैः-शनैः संकुचित होने लगा । वह नीच वेश्यागामी था । सलीमा उसकी नज़रों से उतर चुकी थी । इसलिये अपनी वासनाओं की तृप्ति के लिये उसने एक रूपवती तरुण वेश्या को लाकर उसी घर में रख दिया । सलीमा की आँखें खुलीं, तो अपने को अथाह जल में डूबते-उतराते देखा । अब वह हनीफ़ की हृदयेश्वरी बेगम सलीमा नहीं, अपितु उस वेश्या की दासी थी । एक टुकड़ा रोटी के लिये रात-दिन उसे नौकरानी की तरह उस वेश्या की आज्ञाओं का पालन करना पड़ता था । सलीमा रात-दिन दुःख और चिंतासागर में डूबी रहती थी । उसने अपना अनुपम सौंदर्य, लोक-परलोक, जाति तथा धर्म सब हनीफ़ पर निछावर कर दिया था । आज-तक उसे स्वप्न में भी यह ध्यान न था कि वह कपटी मुसलमान इस प्रकार उसके सौंदर्य का उपभोग कर उसे दूध की मक्खी की तरह अपने हृदय से निकालकर फेंक देगा । दुःख और चिंता के कारण सलीमा बीमार रहने लगी और उस वेश्या की भरसक सेवा करने पर भी उसे प्रसन्न न रख सकी । एक दिन उस वेश्या के कहने से हनीफ़ ने सलीमा को पैर से ठुकरा-ठुकराकर रात में घर से बाहर निकाल दिया । सलीमा गर्भवती थी, पैरों की चोट से व्याकुल होकर वह सड़क पर बेहोश होकर गिर पड़ी । होश आने पर वह बड़े कष्ट से उठी और सुनसान अँधेरे में एक पेड़ के नीचे धूल में लेट-कर, वह देर तक रोती रही । वह भ्रष्ट पतित हो चुकी थी ; मा-बाप के घर जाने का वह विचार भी नहीं कर सकती थी । वह सोचने लगी—"आत्मघात कर डालूँ ? नहीं, आत्महत्या क्यों करूँ ? वेश्यावृत्ति क्यों न करूँ ? सैकड़ों, हज़ारों स्त्रियाँ घर से निकलकर वेश्यावृत्ति द्वारा सुख से जीवन व्यतीत करती हैं । उनके रहन-सहन, खान-पान को देखकर अप्सराओं के मुँह में भी पानी आता है । ओफ़ !......वे...श...या... वृत्ति !! गुंडे, बदमाश, रोगी, कोढ़ी सबके प्रति प्रेम का दिखावा करूँ ? सबको आत्मसमर्पण करूँ ? क्यों ?... किस लिये ? सिर्फ़, रोटी के एक टुकड़े के लिये...केवल इस अधम शरीर को जीवित रखने के लिये ? छिः-छिः, ऐसे जीवन से क्या लाभ ? एक दिन तो मरना ही है । मैं वेश्यावृत्ति कदापि नहीं करूँगी । फिर ? आत्मघात ! आज ही रात को इसी घड़ी, इसी बरसते हुए समय गंगाजी की पवित्र धारा में आत्मसमर्पण कर इस कलुषित जीवन के संपूर्ण पापों का प्रायश्चित्त कर डालूँगी ।" सलीमा उठकर गंगाजी की ओर चल दी ।

× × ×

करुण मोहिनी की खोज में घर से निकलकर न-जाने कहाँ-कहाँ गया, बड़े-बड़े कष्टों को सुखपूर्वक सहन किया, पर मोहिनी का कुछ भी पता न चला । करुण हताश हो गया । उसे निश्चयपूर्वक यह धारणा हो गई कि मोहिनी अब या तो इस संसार में नहीं है, या वह किसी ऐसे स्थान पर है, जहाँ पहुँचना असंभव है । मोहिनी के लापता होने के बाद ही से उसने अपने जीवन का एक-मात्र उद्देश्य उसका उद्धार करना ही बना लिया था । अब करुण को अपना जीवन वृथा मालूम पड़ने लगा । संसार उसके लिये सूना हो गया था । माता-पिता, भाई-बंधु, सबका मोह छोड़ ही चुका था । आज चमड़े के शरीर का मोह छोड़कर अपने जीवन के भार से मुक्त होने के लिये वह बनारस लौट आया है । रात के २ बज चुके हैं । आकाश में काली विकराल घटा छाई हुई है । मूसलाधार पानी बरस रहा है । बादलों की घोर कड़कड़ाहट, भड़भड़ाहट और भयंकर गर्जन सुनकर दिल दहल जाता है । ऐसा मालूम पड़ता है कि आकाश फटकर पृथ्वी पर गिरने ही वाला है । और बीच में बिजली की चमचमाहट से संसार क्षण-भर

लिये प्रकाशमय हो जाता है । तड़-तड़, पड़-पड़ कर ओलों की बौछार गिर रही है । ऐसे भीषण समय में करुण पानी में भीगता हुआ, ओलों की चोट खाता हुआ, बस्ती से निकलकर, घाटों से दूर गंगाजी के किनारे की ओर बढ़ा चला जा रहा है। सहसा उसे मालूम हुआ कि कोई उसका पीछा कर रहा है। घूमकर देखा। कुछ दूर अँधेरे में एक सफ़ेद-सी वस्तु की धुँधली-सी आकृति उसे अपनी ओर अग्रसर होती-सी प्रतीत हुई। करुण सहमकर एक वृक्ष की ओट में खड़ा हो गया। थोड़ी देर में एक मूर्ति सामने से निकलकर भागीरथी के पुण्य-प्रवाह की ओर धीरे-धीरे जाने लगी। करुण हतबुद्धि हो खड़ा-खड़ा उसे देखता रहा। एकाएक उसने विचारा कि शायद यह कोई अत्याचारपीड़िता ही अपने दुःखों का अंत करने जा रही है। उसकी सहायता के लिये वह आगे बढ़ना ही चाहता था कि उसे भूत का भय लगा और वह ठिठककर खड़ा हो गया। क्षण-भर में सम्हलकर उसने सोचा कि आज मुझे तो अपना कलुषित जीवन समाप्त ही करना है। यदि भूत होगा, तो भी क्या भय है ? अन्यथा इस रमणी के उद्धार करने का यत्न करूँगा। इस विचार के आते ही वह उस मूर्ति की ओर तेज़ी के साथ दौड़ा । सुनसान अँधेरे में पानी बरसते समय किसी को इस प्रकार अपने पीछे दौड़ते देखकर वह मूर्ति भी तेज़ी से भागने लगी। करुण ने देखा कि वह किनारे पहुँच गई। धड़ाम के शब्द के साथ-साथ एक गहरी चीख़ सुनाई दी। करुण लपककर पानी में कूद गया। बड़े कष्ट और परिश्रम के बाद वह उस मूर्ति को बाहर निकाल लाया। पानी बरस रहा था। बिजली की चमक में करुण मोहिनी के मृत शरीर को अपनी गोद में पड़ा देखकर बेहोश होकर गिर पड़ा।

श्रीशचन्द्र शुक्ल

निशीथ

(३)

एक स्वप्न है प्रेम उसी का छोटा-सा है नाम;
एक वासना करती है उसमें छिपकर विश्राम।
मेरी कविता में संचित है ऐसी शक्ति अपार;
जिससे उसके नग्न रूप में आता है शृंगार।
उस कविता से गूँथूँगा
ऐसा काँटों का हार।
बार-बार चुभकर हो जावे
किसी हृदय के पार।
मेरे मन के भाव बनेंगे रंग तूलिका-रूप;
उनसे ही खींचा जावेगा ऐसा चित्र अनूप।
जिसमें होगा जीवित मेरी करुणा का आख्यान;
और वेदना का विलाप हो विरहिणि-सा ध्वनिमान्।
छा जावे भूमंडल पर
ऐसे विलाप का नाद;
प्रलय समीप पहुँच जावे
उसकी ध्वनि का संवाद।
आज लेखिनी में भर दूँगा ऐसी शक्ति अनंत;
जिसके द्वारा कंपित होगी सीमित दिशा दिगंत।
और सजाऊँगा अपने मन के सब ऐसे भाव;
हो जावे पाषाण हृदय पर उनका नम्र प्रभाव।
जाग-जाग मेरे मन के
चिरसंचित व्यथा विचार;
मेरी प्रिय कविता का होगा
तुझसे ही शृंगार।

दो तारक भिक्षुक आए थे सांध्य गगन के द्वार ;
झिलमिल की कंपन में रह-रह कर वे रहे पुकार।
और दूसरी ओर रखा था सोने का भांडार ;
विषयी गगन दे रहा था क्या रजनी का उपहार।
पल-पल में रजनी का यौवन
होता था छविमान् ;
यद्यपि उसके तन पर शोभित
था काला परिधान।
एक हृदय था जो अपनी गति में भरता था आह ;
दो आँखें थीं जिनमें होता स्मृतिमय अश्रु-प्रवाह।
कहते जिसको प्यार न उसका कुछ भी था तो ज्ञान;
हाय न-जाने किंतु किसी का रहता था नित ध्यान।
कहते हैं क्या प्यार इसी को
दुनिया में भगवान् !
प्रेम समझते हैं सब यदि है
ज़रा किसी का ध्यान।
जहाँ नेत्र तारक असंख्य खोले नभ में चुपचाप ;
अंधकार फैलाता था पृथ्वी पर काला पाप।
वृक्ष उदास बने वेचारे थे निश्चल छविहीन ;
कभी हिला लेते मन मारे कुछ पत्ते दो-तीन।
पतित पात सोते थे पृथ्वी
तल पर होकर म्लान ;
मानों वे हों एक विरहिणी
के सुंदर उपमान।
निशा रही थी छोड़ मंद झोंके के कुछ उच्छ्वास ;
स्वप्न देखते थे प्रियतम अपनी प्रेयसि के पास।
शय्या पर उसका सुगंधिमय बिखरा था कचपाश ;
प्रियतम के सोते हाथों का था अविदित अधिवास।
पक्षी भी अपने नीड़ों में
लेते थे विश्राम ;
उनकी आँखों में सोते थे
उनके सारे काम।

क्षणभंगुर जीवन-सी आई एक समीर तरंग
क्या जाने क्या कहकर उसने छुए वृक्ष के अंग
वृक्ष हिले मानों जतलाते थे वे सात्विक भाव
ओस टपकते थे मानों हों सुखद स्वेद अनुभाव
प्रकृति सीखती थी मानों
जग का यह छवि शृंगार ;
कितने भावों में डूबा है
यह छोटा संसार।
डाल झुकी थी किसी वृक्ष की जो थी धरा समीप
उस पर फेंक रहे थे किरणें नक्षत्रों के दीप
फूलों की निधियाँ संचित थीं बीच-बीच में भव्य
कलियाँ नत हो पाल रही थीं अबला का कर्तव्य
पतली पंखड़ियों की पलकें
थीं कोमलमय बंद ;
भर लेते थे उन्हें अंक में
झुक पल्लव सानंद।
चूम रहे थे मृत्यु-चरण कुछ पल्लव अवनत पीत
वायुवेग से वृद्ध सुमन शंकित थे, थे भयभीत
कहीं न उनकी पंखड़ियाँ ले जावे वायु प्रचंड
किसका हाथ उठेगा उसको देने को कुछ दंड
बिखर रहे थे कुछ प्रसून
आधे दल थे मृतप्राय ;
उस बिखरे यौवन पर भी
घूमे कुछ अलि-समुदाय।
यह क्या था कुत्सित भावों में पूर्ण पगा संसार
यहाँ पाप से भी होता है पुण्य समझकर प्यार
कैसा है वह प्यार न जिसमें विमल भाव आवास
पुण्य घूमते ही रहते हैं क्यों पापों के पास
सोते थे सुगंधि-शय्या पर
फूलों के समुदाय ;
किंतु सूख जाने पर सौरभ
भाग गया क्यों हाय !

मृत्यु धूल है जो करती है जीवन जल का शोष ;
उसके इस स्वभाव पर देना होगा लेश न दोष।
प्रकृति यही है किंतु नियम का यह कटुतर व्यवहार;
इससे ही शासित होता है यह निर्बल संसार।
विषम वेदना का बढ़ता है, यदि दिन-प्रतिदिन भार;
तो मीठे गायन से गाना होगा हाहाकार।
खिले हुए हैं फूल धूल को ही सकते हैं चूम ;
फिर भी इतने इतराते हैं ये यौवन में झूम।
कितने रंगों में करते हैं ये सदैव ही स्नान ;
इनके शीघ्र सूख जाने का क्या न इन्हें है ध्यान।
हाय अंत में रंग नहीं
पर होगी सूखी धूल ;
और धूल ही कहलावेंगे
नहीं सुगंधित फूल।
वैसा ही यह यौवन है कब तक होगा आनंद ;
अरे एक दिन हो जावेगी चंचल चितवन बंद।
यह समान मुसकान कर रही जिसमें सुधा-निवास;
बन जावेगी दंतहीन वृद्धा का अट्टाहास।
ये घुँघराले केश बनेंगे
मकड़ी के सित जाल ;
गाल शुष्क हो जावेंगे
मानो हों सूखे ताल।

रामकुमार वर्मा

सत्यनारायण-व्रत-कथा

(२)

प्राचीन सत्यनारायण की कथा हिंदुओं के पौराणिक गल्प-शास्त्र का उत्कृष्ट नमूना है। वैसे तो सत्य की अनंत कथाएँ हैं। प्रत्येक युग देश, जाति और व्यक्ति के जीवन में सत्यरूप धरकर चरितार्थ होता है। वे सब कथाएँ शिक्षाप्रद, आदरणीय और ग्राह्य हैं। सत्यनारायण की व्यासगद्दी पर बैठनेवाले को उचित है कि सत्य की अनेक विजयशालिनी कथाओं को सुनाकर लोगों में सत्य-व्रत का प्रचार करें। हमारी प्रस्तुत कथा भी अपने ढंग की एक है। इसका आधार इतिहास नहीं; बल्कि कवि-कल्पना है। हिंदू-समाज चार वर्णों में बँटा गया है। चातुर्वर्ण्य के द्वारा ही समाज अपने समस्त कार्यों की पूर्ति करता है। चारों वर्णों में ही सत्य का व्यवहार होना चाहिए। किसी एक के भी चूक करने से सत्य की गाड़ी अड़ जायगी। ब्राह्मण, शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय के क्रम से कथा में वर्णन किया गया है कि प्रत्येक वर्ण ने सत्य के पालन में सहयोग दिया। समाज की व्यवस्था में चारों का समवाय है, जिस प्रकार सत्य-व्रत से प्राप्त होनेवाले फलों में ज्ञान, बल, वैभव या महालक्ष्मी, महाकाली, महासरस्वती* का समन्वय है। चारों वर्णों का एक-एक प्रतिनिधि लेकर कथानक की रचना की गई है। इनमें ब्राह्मण और शूद्र सत्य के पालन करने में सहयोग करते हैं और अपनी नैसर्गिक दुरवस्था का परित्याग करके सुख को प्राप्त करते हैं। कथाकार ने संपत्ति और विपत्ति को, सुख और दुःख को, सत्य और असत्य को बराबर-बराबर स्थान दिया है।

सदानन्द ब्राह्मण और काष्ठक्रेता पहले दुःखी थे। सदाचार और विद्यासम्पन्न होते हुए भी काशी में रहने-

---

* महालक्ष्मी—दरिद्रो लभते वित्तं धनधान्यप्रवर्धनम्।
महाकाली—भीतो भयात्प्रमुच्येत बद्धो मुच्येत बन्धनात्।
सर्वत्र विजयप्रदम्।
महासरस्वती—परत्र मोक्षमाप्नुयात्। अन्ते सत्यपुरं व्रजेत्।

वाले सदानन्द ब्राह्मण को भूखा रहना पड़ता था और नित्य भिक्षाटन में उसका बहुत समय लग जाता था। सत्य-व्रत के प्रभाव से सदानन्द ने पूर्वजन्म-कृत समस्त पापों से छूटकर मोक्ष को प्राप्त किया। [सर्वपापविनिर्मुक्तः दुर्लभं मोक्षमाप्तवान् २। १२] सदानन्द का इस जन्म का पाप नहीं था। उसके जन्मांतर-कृत संस्कार ऐसे थे, जिनसे वह दरिद्री था। सत्य के व्रत और आचरण से वह सुखी हुआ। भिक्षा में प्राप्त होनेवाले धन का विसर्जन उसने विष्णु के व्रत के निमित्त कर दिया और यही उसकी सम्पत्ति का कारण हुआ।

काष्ठक्रेता शूद्र था। वह उद्यम से धन उत्पन्न करता था। उसने सत्य-व्रत की शिक्षा सदानन्द से पाई। अपने धंधे में सत्य का पालन करने से उसके पास किसी चीज़ की कमी नहीं रही। आज लकड़हारे के समान ही और पेशेवाले भी अपने व्यवहारों में दयानतदारी बरतने लगें, तो विना संशय उनके पास पैसे की तंगी मिट जाय। समाज की एक सिरे से काया पलट जाय, यदि हर पेशेवर आदमी यह व्रत ले, जैसा काष्ठक्रेता ने लिया था--

तेनैव सत्यदेवस्य करिष्ये व्रतमुत्तमम्।

बाक़ी बचे हुए दो वर्णों में वैश्य और क्षत्रिय हैं। वैश्य वर्ण का प्रतिनिधि साधु बनिया है और क्षत्रियों के प्रतिनिधि अंगध्वज राजा हैं। यह दोनों पहले सुखी थे, लेकिन इसी जन्म में किए हुए असत्य कर्मों से विपत्ति को प्राप्त हुए। कथा के १६२ श्लोकों में से १११ श्लोक और पाँच अध्यायों में से अंत के तीन अध्याय इनकी गाथा के वर्णन करने में लगे हैं। इससे ज्ञात होता है कि जन्मतः प्राप्त क्लेशों की तुलना में मनुष्य के अपने कर्मों से कमाए हुए क्लेश बहुत ज़्यादा हैं। संसार के सब मोहों में धन और सत्ता या बल का मोह सबसे ऊपर है। इसमें भी धन का मोह सबसे सिरमौर है। वस्तुतः धन की गृध्नुता ही बुरे-से-बुरे ज़ुल्म और पाप कराती है। वित्तमोह से मूढ़ मनुष्य धर्म-कर्म सब भूल जाता है, उसे बार-बार यमराज का द्वार झाँकना पड़ता है।*

गिधियापन से अंधी बनी हुई जातियों ने संसार के ज़रखेज़ मुल्कों को झुलसाकर श्मशान-तुल्य बना रक्खा है। आजकल तो खुले आम कहा जाता है कि चारों पुरुषार्थों में से अर्थ ही सब कुछ है, डालर की पूजा ने ईश्वर को भी अर्धचन्द्र दे दिया है। सूतजी ने भी धन के प्रलोभनों का सूक्ष्म विवेचन करने में सबसे अधिक स्थान दिया है। साधु वैश्य की कथा दो अध्यायों और ६५ श्लोकों में समाप्त हुई है। संतानहीन धनाढ्यों की दशा का दिग्दर्शन कराने के लिये वह बहुत मौजूं है। सत्य-व्रत सौभाग्य और सन्तति का भी देनेवाला है। संतान की प्राप्ति में सत्य-व्यवहार ब्रह्मचर्य-साधन है। साधु वैश्य सत्य का संकल्प करके बार-बार उसे तोड़ता है। राजा चन्द्रकेतु के रत्नसारपुर में जब वह वाणिज्य के लिये गया, तो मानो सत्यरूपी विष्णु ने शाप दिया कि—हे वैश्य, तुम बार-बार अपनी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट हुए हो, इसीलिये तुम्हें अत्यंत दारुण दुःख भोगना पड़ेगा।

भ्रष्टप्रतिज्ञमालोक्य शापं तस्मै प्रदत्तवान्;

दारुणं कठिनं चास्य महद्दुःखं भविष्यति।

मोहग्रस्त साधु को सबक़ सिखाने के लिये नियति का उलटा चक्र चलने लगा। उसे चोरी न करने पर भी चोरों का दण्ड भोगना पड़ा। वास्तव में जो धन में लिप्त होकर उसका दान नहीं करता, वह प्रत्यक्ष में चोरी न करने पर भी समाज में चोर ही है, जिसने बेजा संचय करके औरों के उचित हक़ को मूस लिया है। घर पर लीलावती-कलावती का सारा धन चोर चुरा ले गए। बुरे से बुरा कष्ट भोगने के बाद भगवान् की माया अनुकूल हुई। साधु वैश्य और उसका जामाता कारागार से मुक्त कर दिए गए। इतने अनुभव के बाद भी धन का मोह न छूटा। एक दंडी स्वामी ने दर्शन देकर प्रश्न किया--'हे साधु, तुम्हारी नाव में क्या भरा है?' साधुजी के मानो प्राण निकल गए, बोले--

कथं पृच्छसि भो दण्डिन् मुद्रां नेतुं किमिच्छसि;

लतापत्रादिकं चैव वर्तते तरणौ मम।

महाराज! आगे चलो, क्या रुपया लूटने की सलाह है, यहाँ कुछ नहीं है, नाव में सब घास-फूस भरा हुआ है। इस निष्ठुर वचन को सुनकर संन्यासी ने शांतभाव से कहा–'सत्यं भवतु ते वचः' अर्थात् तुम्हारी बात सत्य हो। लाखों की संपत्ति होते हुए भी दान का प्रसंग

---

* न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्;
अयं लोको न पर इति मानी पुनः पुनः वशमापद्यते मे।

आते ही लोभी का धन घास-फूस के समान हो जाता है, उससे किसी का भला नहीं होता। कृपण का हृदय रेगिस्तान के समान है। कृपणता के समान बंधन का हेतु दूसरा नहीं है। आगे कथा में लिखा है कि बहुत दुःखी होकर साहुजी दंडी की तलाश में दौड़े और अपने असत्य पर पछताकर बहुत विनती की। दंडी-वेषधारी विष्णु ने पहले तो बड़ी फटकार बताई [समाज्ञया च दुर्बुद्धे, लब्धं दुःखं मुहुर्मुहुः], लेकिन बाद को खोया हुआ धन फिर वैसे ही कर दिया। असल में धन वहीं था, कहीं गया नहीं था। सिर्फ़ साहुजी की निगाह में फेर था। सत्य से पराङ्मुख होकर वे दान के नाम से अपनी लाखों की संपत्ति को लता-पत्र समझते थे, तो वह लता-पत्र के समान थी; सत्ययुक्त होकर उसे ठीक समझने लगे, तो वह पहले-जैसी हो गई।

संचय का धर्म बड़ा कठिन है। वैश्य-वर्ण और गृहस्थ-धर्म के साथ संचय का घनिष्ठ संबंध है। इस जगत् में संचय के साथ-साथ त्याग का धर्म लगा हुआ है। बिना त्याग के संचय का मार्ग बंधन का हेतु, जड़ और तामसी है। मनुष्य आयु के चार आश्रमों में केवल गृहस्थाश्रम के साथ संचय का धर्म है। शेष तीन भागों में अर्थात् ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास में अर्थ-संग्रह से मनुष्य को कुछ प्रयोजन नहीं। जीवन की आर्यनिर्दिष्ट व्यवस्था में आयु के एक चौथाई हिस्से में वित्त के उपार्जन को स्थान मिला है। यह बड़े महत्त्व की बात है कि जहाँ अन्य सभ्यताओं ने सर्वत्र धन को ही उपास्य बनाया है, हिंदुओं ने वित्तैषणा के क्षेत्र को सीमित करने की कोशिश की है। हिंदुओं में सब जगह समाहार (Synthesis) का भाव पाया जाता है, इसीलिये धन उनकी सभ्यता में उचित से अधिक स्थान नहीं प्राप्त कर सका। मनुष्य के चार पुरुषार्थों में धन को चौथाई स्थान है। चार आश्रमों में सिर्फ़ गृहस्थाश्रम वित्तोपार्जन के लिये है; और चार वर्णों में वैश्य वर्ण का धन के साथ विशेष संबंध है। कथा में वित्त-मोह दिखाने के लिये साधु बनिए का उदाहरण दिया गया है।

आर्य लोग जानते थे कि यद्यपि धन के लिये सिर्फ़ गृहस्थाश्रम में ही आदमी को इच्छुक होना चाहिए, तो भी संचय का मोह इतना प्रबल होता है कि उतने ही समय में मनुष्य उस कीचड़ में इतना अधिक फँस जाय कि उससे फिर निकल ही न सके। इसलिये संचय के साथ उन्होंने त्याग-धर्म को यह कहकर नत्थी कर दिया है कि प्रत्येक गृहस्थ को वैतरणी-नदी पार करनी चाहिए। अर्थात् जिस व्यक्ति ने संचय का धर्म स्वीकार किया है, उसे त्याग का धर्म भी भुलाना चाहिए। 'वैतरणी' शब्द के निरुक्त में ही त्याग या दान का अर्थ छिपा हुआ है। वितरण दान को कहते हैं। वितरण से वैतरणी बनता है। वैतरणी-नदी दान की नदी है, जिसे पार करना सब गृहस्थों का परम धर्म है। मनुष्य-जीवन की सफलता का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि वह वितरण की नदी को सफलतापूर्वक पार कर सका या नहीं। जिन्होंने सिर्फ़ जोड़ना ही सीखा है, और जो धन के साथ लगे हुए दानरूप आध्यात्मिक अंश को नहीं देखते, वे सोने और चाँदी के बोझे से उस नदी के बीच में ही ग़र्क़ हो जाते हैं। इसी मानवी जीवन में हमारी आँखों के सामने कितने ही जन जीवन के ध्येय (Philosophy of life) को ठीक प्रकार से समझकर इस वैतरणी-नदी को पार कर रहे हैं और वित्तमोह से मूढ़ कितने ही उसमें डूब रहे हैं। उस व्यक्ति के बहुत धनवान् होने से ही क्या जिसने अपनी ही भौतिक आवश्यकताओं को अपरिमित बनाकर उनकी पूर्ति में धन को एक-मात्र व्यय करना सीखा है? उसके सोने और चाँदी के ढले हुए टुकड़े लतापत्रादिक के समान ही हैं। वैतरणी-नदी को पार करनेवाली उसकी हिरण्य-भरी नाव का लंगर मानों औंधा हो गया है और वह उसी में डूबा जाता है। इस दान की नदी में अपने-अपने विभव के विस्तारानुसार [यथाविभवविस्तरैः] हर एक को देय धन का निर्णय करना पड़ता है। सत्यता के साथ निर्णय करनेवाला अपना मन ही है। कोई दूसरा बहस करके नहीं बता सकता कि कितने अंश को मनुष्य अपने ऊपर ख़र्च करे और कितना दान करे। हर एक सभ्यता का यह भी काम है कि वह प्रत्येक नागरिक को जो अस्त्र उसने सौंपे हैं, उनके उचित प्रयोग का भी ज्ञान करा देवे। अन्य नागरिक शिक्षा के साथ यह शिक्षा भी मिलनी चाहिए कि मनुष्य दानधर्म को किस तरह पूरा करे। भारतीय संस्कृति में इसके लिये दान-मीमांसाओं की रचना हुई थी। गीता ने भी इस विषय

पर प्रकाश डाला है। दान देनेवाले का यह कर्तव्य भी है कि वह पात्र को पहचाने और ढूँढ़कर उसे दान दे। जो व्यक्ति वास्तव में पात्र है, उसे दाता के सामने दाँत न निपोरना पड़े और देनेवाला उसको देकर अपना परम सौभाग्य समझे, इस प्रकार की सूक्ष्म व्यवस्था भारतीय संस्कृति के समाजशास्त्र को छोड़कर अन्यत्र नहीं पाई जाती। इस आदर्श का सबसे उत्तम वर्णन कालिदास के कौत्स-रघु-संवाद में पाया जाता है। जहाँ रघु अधिक देना चाहते हैं और कौत्स गुरु को देने योग्य धन से अधिक नहीं लेना चाहते, वह आदर्शों की परमोच्चता भी भारतवर्ष के सिवा अन्यत्र नहीं मिलती। 'गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च' श्लोक ने दान के आदर्श के आगे विराम-चिह्न लगा दिया है।

वैतरणी-नदी को पार करने के लिये गौ का दान केवल लाक्षणिक (Symbolical) है। आज लकीर को पीटनेवाले अन्धे * लोग बछिया की पूँछ पकड़कर समझते हैं कि वे वैतरणी पार हो जायँगे। इससे बढ़कर आत्महनन का उदाहरण और दूसरा नहीं हो सकता। वैतरणी का पार करना जन्मपर्यंत (Life-long) की समस्या है, जो किसी विशेष क्षण या बछिया से हल नहीं हो जाती। लेकिन विचारशील मनुष्य इसे देखते हैं, मूढ़ नहीं देखते—

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।—गीता

दान की समस्या वैयक्तिक (Individual) है। सारे समाज के लिये अपरिवर्तनशील विधान (Standardisation) नहीं बनाया जा सकता। वैतरणी के वास्तविक तात्पर्य को समझने से यह मालूम हो जाता है कि उसका वास्तविक अर्थ में पार करना (अपने-आपको सिर्फ़ धोखा न देना) जीवन की सच्ची स्थिति के लिये कितना महत्त्वपूर्ण (Vital) है। वैतरणी किसी ख़ास वर्ग या समाज के लिये नहीं है, यह सार्वभौम है। आज पश्चिमी सभ्यता वैतरणी में ग़र्क़ हो गई है। भारतवर्ष भी वैतरणी के सच्चे अभिप्राय को भूल गया है और इसलिये उसके दान की संस्था बिगड़ गई है, जिसका सबसे भीषण दुष्परिणाम पात्र और कुपात्र का अविवेक है। जिस मनुष्य ने अपने जीते-जी कुछ दान नहीं किया है, उसके उत्तराधिकारियों का फ़र्ज़ है कि उस कुत्सित धन का स्वयं उपभोग न करके उस पूर्वज की ही पुण्याभिवृद्धि के लिये उसको पात्र में अर्पित कर दें। सत्यनारायण की कथा साधु-वैश्य के उदाहरण से इस बात को बताती है कि वैतरणी-नदी में डोंगी डाले हुए कोई आदमी कभी यह कहने की भूल न करे कि मेरी नाव में सिर्फ़ घासफूस है—

लतापत्रादिकं चैव वर्तते तरणौ मम ।

यहाँ पाव-भर सत्तू का माहात्म्य करोड़ों अश्वमेधों से भी ज़्यादा है।

सत्य के उल्लंघन का दूसरा उदाहरण क्षत्रियवर्ग के अंगध्वज राजा का है। अंगध्वज राजा ने गोपों के प्रसाद का परित्याग मिथ्याभिमान से अभिभूत होकर किया [राजा दृष्ट्वा तु दर्पेण न गत्वा तं ननाम सः] राजा के लिये इससे बढ़कर अपराध की कल्पना नहीं हो सकती कि वह अपने को प्रजा से ऊँचा समझे और प्रजा को नीच समझकर उनके साथ मिलने में अपनी हेठी समझे। यह सत्य का घोर अपलाप है। सारे अन्यायों की मूल यह है कि राजा अपने-आपको प्रजा का सेवक न समझकर मालिक समझे। अत्याचार और उद्दंडता का आरंभ यहीं से होता है। राजनीति के अंदर सत्य यह है कि राष्ट्र के साथ तन्मय हो, और राष्ट्र के हितों को अपना हित समझता हो। पृथुवैन्य के विषय में पुराणों में लिखा है कि उसके राज में प्रजाओं को संकल्प करते ही अन्न-धन मिलता था। गाएँ पुष्कल दूध देती थीं और छत्ते भरे हुए शहद से लहलहाते थे [पुटके पुटके मधु]। पृथु ने राजा बनकर राष्ट्रहित के जो अपूर्व काम किए, उनके कारण राजा और राष्ट्र, इन दोनों का अभेद संबंध हो गया। जो राजा वही राष्ट्र, जो राष्ट्र वही राज्य-शक्ति, इन दोनों में कोई पार्थक्य न रहा। ऐसा राज्य किसी व्यक्ति-विशेष का राज्य नहीं था, बल्कि वह सारे राष्ट्र का राज्य था। राष्ट्र और राज्य का अभेद ही भारतीय राजधर्म का सबसे ऊँचा आदर्श है, फिर इस प्रश्न की उलझन नहीं रहती कि राजशक्ति एक के हाथ में है या अनेकों के। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने पृथु के अभिषेक का वर्णन करते हुए इस आदर्श पर बड़ा उत्तम प्रकाश डाला है—

* दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः—उपनिषद्

"पृथुवैन्य का अभिषेक हुआ। वह राष्ट्र के साथ एक न हो सका। उसने इन सांसारिक पार्थिव वस्तुओं को देखा और उन सबका राष्ट्रयज्ञ में हवन कर दिया। बस पृथु स्वयं राष्ट्र हो गया। जो इसी प्रकार दुनिया की चीज़ों से यज्ञ करता है, वह भी राष्ट्र हो जाता है।"*

राजा का वैभव कितना ही हो, राष्ट्र के लिये यदि उसका उत्सर्ग नहीं है, तो राजा राष्ट्र नहीं बन सकता। ऊँच-नीच के अभिमान के कारण अंगध्वज राजा की राष्ट्र के साथ एकता नहीं हुई। यही उसके जीवन में भारी असत्य था। यद्यपि वह प्रजाओं के पालन में तत्पर था [प्रजापालनतत्परः], लेकिन भेद का भाव राजनीति के आध्यात्मिक सत्य पर कुठाराघात है। दर्परूपी असत्य ने अंगध्वज के धनधान्यादि का विनाश कर दिया। अंत में जब वह मन का मैल निखारकर गोपों से स्वच्छंद भाव से मिला, तब वह सत्यसंध राजा बन गया।

पौराणिक सूतजी के साथ सभी इस बात को कहेंगे कि राष्ट्रों और मनुष्यों के जीवन को बनाने-बिगाड़ने में सत्य के माहात्म्य को पूरी तरह कौन जान सकता है—

सत्यदेवस्य माहात्म्यं ज्ञातुं वा केन शक्यते ?

हमारी नित्य की प्रार्थनाओं का मूलमंत्र यही है—

असतो मा सद्गमय।

क्या ही अच्छा हो यदि व्यक्ति और जातियाँ सत्य की शरण में जाकर निम्नलिखित घोषणा को अपनी राष्ट्रीय पताकाओं पर लिख लें—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥

महायुद्ध के बाद से राजनीति के अंदर जो गंदगी फैल गई है, और अंतर्राष्ट्रीय विधानों में जो सत्य का व्यवहार उठ-सा गया है, उससे त्राण पाने के लिये यह परम आवश्यक है कि सब देश सत्यनारायण के व्रत के भाव को अपने हृदयों में अंकित कर लें। अथर्ववेद के अनुसार मातृभूमि का भी हृदय होता है, जो परम व्योम में रहता है। उस हृदय की अच्युत स्थिति के लिये सबसे बड़ा गुण सत्य है। वस्तुतः आर्यों का राष्ट्रीय गीत इसी शब्द से शुरू होता है—सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।

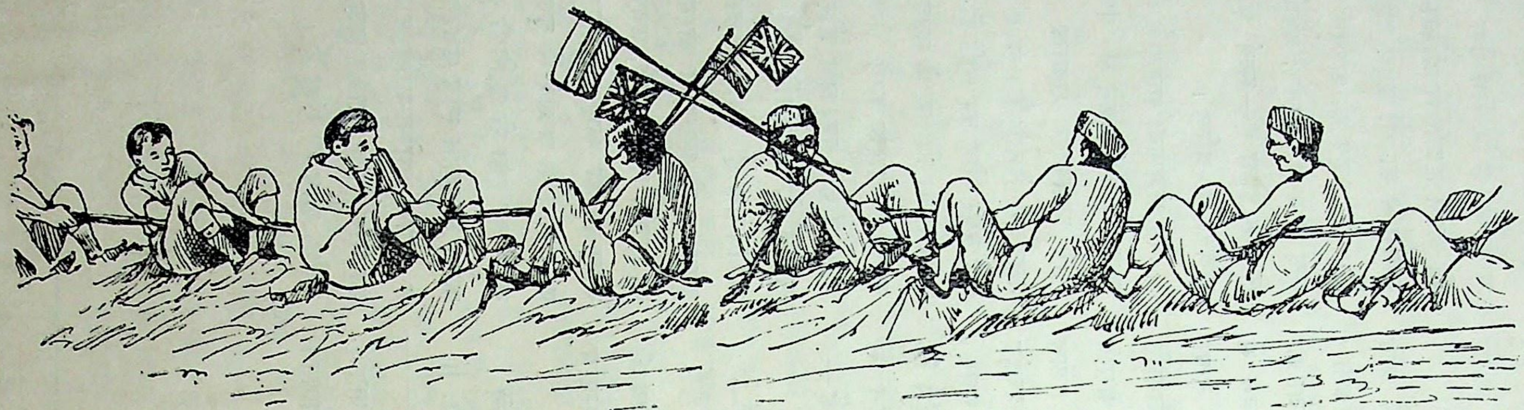
यह समझना ग़लत है कि पृथिवी को और देश या साम्राज्य को डूबने से बचानेवाले कुटिल राजनीतिज्ञ और ध्वंसकारी शस्त्रास्त्र (Armaments) तथा प्रलयंकरी सेनाएँ हैं। सभ्य कहलाते हुए भी संसार का यह बर्बर मोह दूर नहीं होता। ये चीज़ें तो बड़े वेग से सभ्यता को विनाश के गड्ढे में ढकेल रही हैं! देश और राज्यों के धारण करने के लिये आवश्यक गुण सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ हैं। इनकी स्थिति में सभ्यताओं की उन्नति और इनके अभाव में सभ्यताओं का विनाश है। रोम-साम्राज्य का उत्थान उग्र ऋत से हुआ, उनके पतन का कारण तप का अभाव था। यूनान की उन्नति ब्रह्म से हुई, उनका क्षय दीक्षा का अभाव था। भारतवर्ष की श्रेष्ठता उसके यज्ञात्मक भाव से थी, उसका पतन सत्य के अभाव में हुआ। इन शाश्वत और अमर भावों की रक्षा से जातियाँ रक्षित होती हैं, इनके निराकरण से प्रकृति स्वयं उनको विनाश को प्राप्त करा देती है। आज अँगरेज़-जाति में ऋत, दीक्षा, तप और ज्ञान का भाव तो है, लेकिन यज्ञ और सत्य के भावों का उनमें सर्वथा लोप हो गया है।

वासुदेवशरण अग्रवाल

---

* पृथिर्वैन्यः अभ्यषिच्यत। स राष्ट्रं नाभवत्। स एतानि पार्थान्यपश्यत्। तान्यजुहोत्। तैर्वै राष्ट्रमभवत्। यत्पार्थानि जुहोति, राष्ट्रमेव भवति।

रस्साकशी !



कुछ तुम खिंचे रहे तो कुछ हम खिंचे रहे,
इस कशमकश में टूट गया रिश्ता चाह का !

निराली-दुनियाँ

कैसी दगाबाज़ी का बिछा है जाल चारो ओर ,
दुष्टता का कैसा दुनियाँ में बोलबाला है !
कैसी भेद-नीति की मची है धूम, देखिए तो-
शुद्ध प्रेम का भी कैसा निकला दिवाला है !

मित्रो ! साम्य-भावना की फूटी तक़दीर कैसी ,
स्वार्थ ने भी न्याय के गले को घोंट डाला है !
'सेवक' सुजनता की साख ही नहीं है कहीं ,
आज विश्व का तो कुछ ढंग ही निराला है !!

रामसेवक त्रिपाठी

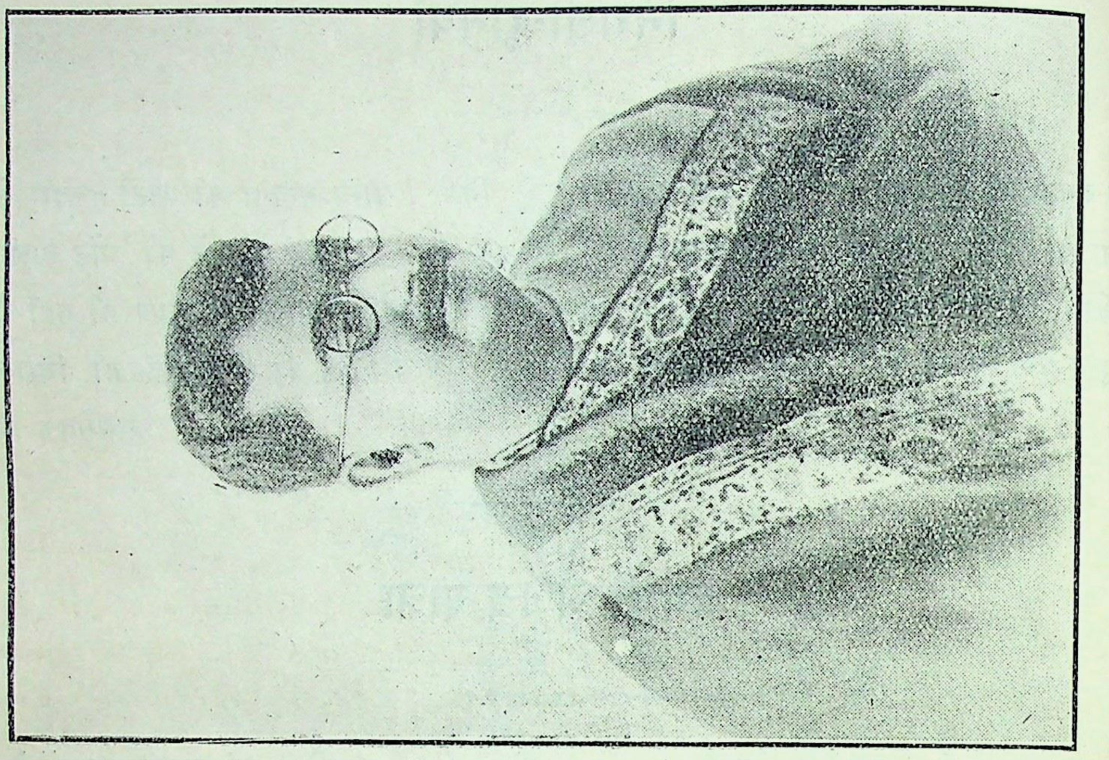
हमारी अजंटा-यात्रा

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥
——हितोपदेश

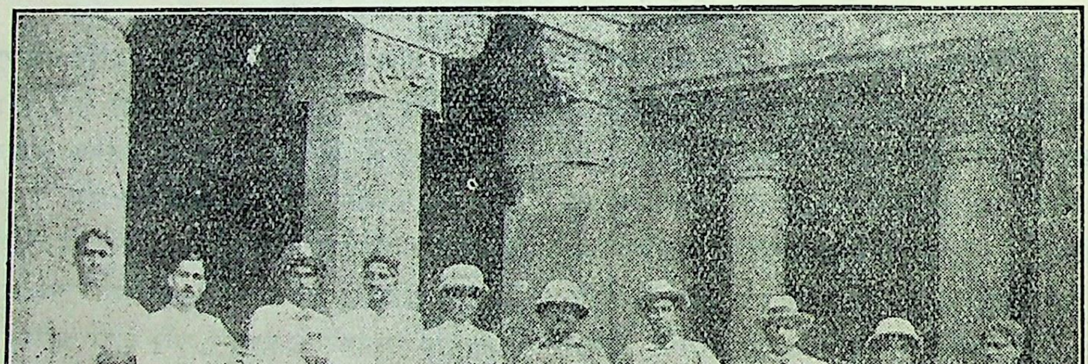
योरपीय इतिहास पढ़ते समय जब-कभी माइकेल एंजेलो अथवा रफ़ील के नाम आते कल्पनादृष्टि के सम्मुख अजन्टा की चित्रशाला नृत्य करने लगती थी, पर अब तक कोई ऐसा सुअवसर हाथ नहीं आया था कि प्राचीन भारतीय चित्रकला के आचार्यों की कारीगरी पर कुछ गर्व कर सकता । यह सुअवसर अब लखनऊ-विश्व-विद्यालय के भारतीय इतिहास के मुख्याचार्य डाक्टर श्रीराधाकुमुद मुकर्जी के सफल प्रयत्नों द्वारा मिला । अजन्टा की अमर कंदराओं में हमने जो सुंदर दृश्य देखे, उनके लिये हम डाक्टर साहब के कितने आभारी हैं, यह हमारा हृदय जानता है । उन्हीं की कृपा के फलस्वरूप हमें अजन्टा के मनोहर चित्र, एल्लोरा की गुफाओं का प्रसिद्ध अद्भुत कैलाशमंदिर और यादवों की प्राचीन देवगिरि के अजय दुर्ग तथा दौलताबाद के नगर-प्राचीर के भग्नावशेष के दर्शन हुए ।

डाक्टर साहब हमारे विद्यार्थी-दल को लिए ३०वीं सितम्बर के प्रातःकाल अजन्टा के राजकीय अतिथिभवन में पहुँचे । हम हैदराबाद-राज्य के अतिथि थे । अतः राज्य के मुख्यतम कलाविज्ञ एवं अजन्टा-गुफाओं के अध्यक्ष (Curator) श्रीसय्यद अहमद साहब ने हमारा सहृदय स्वागत किया ।

हम भोजनादि से निवृत्त होकर ग्यारह बजे गुफाओं के पास पहुँचे । Curator साहब हमारे साथ थे । गुफाओं के चतुर्दिक् जो मनोरम दृश्य देखे, उनका वर्णन लेखनी नहीं कर सकती । पारिजात वृक्षों की लंबी क़तार के बाद सौ सीढ़ियाँ चढ़ने पर अर्धचंद्र-रेखा में सहस्रों वर्ष की प्राचीन गुफाएँ दृष्टिगोचर होती हैं । लगभग चार फ़र्लांग तक फैली इन गुफ़ाओं के सम्मुख और ऊपर अमित प्राकृतिक सौंदर्यसागर लहरें मारता है । इनका पगप्रक्षालन करता हुआ एक सुंदर झरना हलकी लहरों में सदा बहता रहता है । क्या ही सुरुचि उन प्राचीनों की थी, जिन्होंने नगरों के कोलाहल से दूर सुंदर वन में अपने भिक्षुवर्ग के ध्यान-पूजन एवं पठन-पाठन के निमित्त नीरवस्थल ढूँढ़ निकाला । ये गुफाएँ जलगाँव-स्टेशन से ३५ मील दक्षिण (पाहूर-स्टेशन से लगभग १२ मील) और औरंगाबाद से ५५ मील उत्तर-पश्चिमीय घाट के सह्याद्रि-पर्वतों में बनी हुई हैं । इनका निर्माण २५० फ़ीट ऊँची, सीधी और ठोस चट्टानों को काटकर हुआ है । ईसा की सातवीं शताब्दी में भारतवर्ष में बौद्ध-धर्म के ह्रास के साथ ही अजन्टा के



आचार्य डॉक्टर श्रीराधाकुमुद मुकर्जी



हमारा विद्यार्थी-दल

चैत्य और विहार भी धीरे-धीरे लोगों के स्मृति-पटल से मिट गए और जब तक सन् १८१८ में ब्रिटिश-कम्पनी के सैन्य-शिक्षण के समय उनका पुनर्जन्म न हुआ, उनकी विस्मृति बनी ही रही। अजन्टा-ग्राम की बारहदरी में रहकर पहलेपहल मेजर राबर्ट गिल ने कुछ चित्रों का सपरिश्रम नक़ल कर संसार के चित्रण में कुछ वृद्धि की।

गुफाओं के निर्माण के पूर्व इस स्थल का दृश्य कैसा रहा होगा, यह झरने के दूसरे पार खड़ी पर्वतमाला पर दृक् दृष्टिपात करने से सहज ही ज्ञात होता है। इनके बनाने में कितना समय, कितना द्रव्य, कितना श्रम और कितने मज़ूर लगे होंगे, इसका अन्दाज़ा कुछ अपूर्ण गुफाएँ देखने से बड़ी आसानी से लग जाता है। ठोस शिलाओं को काटकर लोगों ने बड़े-बड़े चैत्य (सामूहिक उपासना के लिये हाल कमरे) और उनमें खुलनेवाले प्रत्येक भिक्षु के ध्यान और विश्राम के लिये अलग-अलग छोटे कक्ष बनाए। इन कमरों में वायु और प्रकाश की बहुत कम गुंजायश है। ये एक-एक और कहीं-कहीं दो-दो भिक्षुओं के विश्रामोपासना के हेतु बने हुए हैं। इसीलिये किसी में एक और किसी में दो पत्थर के डेढ़ फ़ीट ऊँचे चबूतरे बने हैं। यथार्थ में ये आधुनिक छात्रावासों की भाँति प्राचीन काल में सैकड़ों भिक्षु-विद्यार्थियों के आवास थे।

ये गुफाएँ २६ (अथवा २६) की संख्या में खड़ी हैं। समय के विचार से इन्हें चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्राचीनतम दल ८, ९, १०, ११, १२ और १३ नं० की गुफाओं का है। बहुत सम्भव है कि अशोक से बहुत पूर्व यहाँ की प्राकृतिक एकान्त खोहों ने कुछ एकान्तप्रिय भिक्षुओं को आकर्षित कर लिया हो और पश्चात् धार्मिक धनकुबेरों ने, जिनके लिये उन दिनों देवोत्तर कर्म सर्वमुख्य थे, अपना द्रव्य और श्रम व्यय कर सुंदर कंदराएँ प्रस्तुत करा दी हों। पहले इन्हें साधारणतया खोद डाला होगा, फिर उन्हें सुंदर हाल कमरों के रूप में तैयार किया होगा और उत्तर, दक्षिण की दीवारें खोदकर भिक्षुओं के निवास के लिये छोटी कोठरियाँ बना दी होंगी। हाल और छोटे कमरों के अलावा १३वीं गुफा में मिट्टी का एक बरामदा भी बना हुआ है। नं० ८ में यह भी नहीं है। नवीं और दसवीं में पूजा के लिये स्तूप बने हैं। इनमें बहुत कम चित्र बने ह और जो हैं, वे भी बहुत पीछे के हैं। स्तूप इस बात के प्रमाण हैं कि इन गुफाओं का निर्माणकाल महायान-सम्प्रदाय के प्रवर्तन से पूर्व था, जब बुद्धोपासक बुद्ध के चित्र अथवा उनकी मूर्त्तियाँ न बनाकर उनके अङ्ग-चिह्नों (हाथ, पाँव, स्तूप आदि) की उपासना किया करते थे। काष्ठ-शिल्प का अनुकरण भी इन गुफाओं के निर्माण में किया गया है, जो विद्वानों की राय में उस काल का परिचायक है जब शिल्प में काष्ठ-प्रयोग के अनन्तर प्रस्तर-प्रयोग की शैशवावस्था थी। सो इन नम्बर आठ से तेरह तक की गुफाओं का निर्माणकाल हमारे डाक्टर मुकर्जी ने ईसा-पूर्व लगभग द्वितीय शताब्दी बताई।

दूसरे दल में काल के विचार से नम्बर १६, १८, १७, १६, १५ और १४ की गुफाएँ बताई जाती हैं। ये लगभग ईसा की चौथी शताब्दी की बनी हैं; क्योंकि नम्बर सोलह-सत्रह गुफाओं के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि वे प्रतापी राजा 'गुप्त' महाराजदेव (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, ईसवी सन् ३७५-४१३) के जीवनकाल या उनकी मृत्यु के कुछ समय ही पश्चात् एक राजा ने, जिससे चन्द्रगुप्त की पुत्री ब्याही थी, इन्हें खुदवाया। गुफाओं का तीसरा दल नम्बर ७, ६, ५, ४, ३, २ और १ इनके थोड़े दिनों बाद खुदीं। अन्तिम दल अर्थात् नम्बर २६, २५, २४, २३, २२, २१ और २० का समय ईसा की छठवीं और सातवीं शताब्दी के लगभग बताया जाता है। इन्हीं में से कदाचित् १९वीं गुफा को ह्यू एनसांग ने सौ फ़ीट ऊँचा संघाराम और हाल में ७० फ़ीट ऊँची बुद्धमूर्त्ति बताई है। बहुत सम्भव है, बुद्धमूर्त्ति से उसका तात्पर्य उन्नीसवीं गुफा के स्तूप में खड़ी बुद्धमूर्त्ति से रहा हो।

यह तो हुआ इन गुफाओं का साधारण परिचय, अब हम मुख्य गुफाओं को एक-एक करके लेंगे। पर इसके पूर्व हम अजन्टा के चित्र-विज्ञान का कुछ परिचय दे देना चाहते हैं। हम अजन्टा में तीन दिन ठहरे और तीस सितम्बर को हमने एक से सात नम्बर तक की गुफाएँ देखीं। पहली अक्तूबर को बाक़ी सारी गुफाएँ समाप्त क दूसरी को मुख्य-मुख्य गुफाओं के चित्रों का विशेष अध्ययन किया। हमारे साथ प्रसिद्ध चित्रकार सय्यद अहमद साहब थे, जो कला की दृष्टि से चित्रों की व्याख्या करते थे और डाक्टर मुकर्जी हमें उनका ऐतिहासिक महत्त्व समझाते थे। सय्यद अहमद साहब ने अजन्टा की चित्र-

कला के संबंध में तो मुख्य बातें बताई। उनकी पहली बहुत ही आवश्यक और विचित्र बात अजन्टा की चित्र-शाला में प्रयुक्त रङ्ग के विषय में थी। उन्होंने हमें बताया कि वहाँ के चित्राचार्यों ने रंग के लिये बाज़ार नहीं ढूँढ़ा, प्रत्युत भारतीय प्राचीन ग्रामों की भाँति स्वावलम्बी रहे और चित्रों के लिये स्वयं रङ्ग तैयार किए। क्यूरेटर साहब ने हमें बताया कि सारे रङ्ग, जो वहाँ के चित्रों में प्रयुक्त हैं, सह्याद्रि की पहाड़ियों में ही मिल जाते हैं और हमें विश्वास दिलाने के लिये सचमुच ही उन्होंने कई ऐसे स्थल दिखाए, जहाँ की शिलाएँ पूर्णतः रङ्गी थीं। जैसे गेरू-रङ्ग इसी नाम का पत्थर घिसकर निकाला जाता है, वैसे ही यहाँ की चट्टानों से, जो सब प्रकार के रंगों से भरी पड़ी हैं, सारे रङ्ग निकालते थे। हमने लाल, गुलाबी, हरे, नीले, काले आदि रङ्गों की शिलाएँ स्वयं देखीं। इस प्रकार वहाँ के चित्रकार स्वावलम्बी थे और अपनी आवश्यकता के लिये हर प्रकार के रङ्ग स्वयं तैयार किए। क्यूरेटर साहब का कहना था कि बाक़ी और रङ्ग जो मिश्रित होकर बनते हैं उन्हें वे इन रङ्गों के सम्मिश्रण से बनाते थे और इन्हें अच्छे प्रकार मिलाने और दूसरे गुणों के लिये वे एक प्रकार की गोंद, जो वहीं पर्वतों पर मिलती है, व्यवहार में लाते थे। वे स्वयं पहले रङ्गीन पत्थर लेकर उसका चूर्ण करते थे, फिर जल मिलाकर उससे रङ्ग तैयार कर लेते थे। यह सय्यद अहमद साहब की कुछ मौखिक कल्पना नहीं थी, बल्कि उन्होंने स्वयं सैकड़ों अजन्टा-गुफाओं के चित्रों की अद्भुत सुन्दर नक़लें इसी विधि से तैयार की हैं, जिन्हें हमने दूसरी अक्तूबर को उनकी चित्रप्रदर्शनी में, जो हमारे ही लिये की गई थी, देखा। आप वहाँ के चित्रों की जितनी भी नक़लें तैयार करते हैं, सबमें इन्हीं पहाड़ियों के रङ्गों का प्रयोग होता है। कुछ चित्र, जो इस लेख में दिए गए हैं, उनके ही परिश्रम के फल हैं। पहले इन्होंने ही उनकी मौलिक चित्रों से नक़ल की, फिर उनके चित्रों की फ़ोटो लेकर (फ़ोटो) प्रिंट तैयार किए। ऐसे बहुत-से आपके तैयार किए हुए चित्र शीघ्र हैदराबाद-सरकार के पुरातत्त्व-विभाग द्वारा इँगलैण्ड में प्रकाशित की जा रही चार जिल्दों में निकलेंगी।

गुफाओं में नीचे की चिकनी फ़र्श को देखने से मालूम होता है कि दीवारें और छतें पहले किसी चीज़ से घिस-कर चिकनी कर ली गई होंगी। बाद उन पर ती[न] प्रकार के पलस्तर (लेप) लगाए गए हैं। पहला पलस्[तर] मिट्टी और गोबर मिलाकर बनाते थे। इसके लेपन [से] दीवारें और छतें भरकर बिलकुल बराबर हो जाती थीं। बाद इसके दूसरा पलस्तर वे चूने का लगाते थे, जिस[से] उनमें कुछ चिकनाहट आ जाती थी और गोबर-मिट्टी [से] मेल जाती रहती थी। इस चूने में वे एक प्रकार [का] गोंद भी मिलाया करते थे। अन्त में तीसरा पलस्[तर] रङ्गों का होता था। यह असल में पलस्तर नहीं था बल्कि चित्र बहिराकार बनाकर उनमें रङ्ग भर देते थे।

उनके चित्र बनाने की विधि यह थी कि आचार्य पह[ले] साधारण पेंसिल की तरह की किसी वस्तु से दीवा[र] पर चित्रों का अस्थिपञ्जर (Sketch, outline) खींच देते थे। चित्रों की विविध मुद्राएँ बनाना उन[का] ही कार्य था। फिर उनके शिष्य—साधारण कलाकुश[ल] उनमें रङ्ग भरते थे और अन्त में आचार्य अपना अन्ति[म] स्पर्श (Final touch) देते थे। इन चित्रों [के] दर्शन योरपीय विद्वानों को सदा इटली-चित्रकला [के] आचार्यों की याद दिलाते हैं, पर उन फ़्लोरेंस के कला[-] विदों की गति कहाँ तक थी, इसका प्रमाण हमें दोनों [के] समय पर दृष्टिपात करते ही मिल जाता है। एक सह[स्र] वर्ष पीछे तैयार होनेवाले चित्रों की भारतीय चित्[रों] से तुलना करना तो युक्तियुक्त है ही नहीं। फ़्लोरेंस [के] चित्र तब के बने हैं, जब चित्रकला में बहुत विकास [हो] चुका था और रङ्गों की सैकड़ों खोजें हो चुकी थीं। फि[र] भी भारतीय रङ्गों की महत्ता सिद्ध होती है, जब हम य[ह] सोचते हैं कि दो सहस्र वर्षों से अजन्टा की दीवारों के चित्[र] अब भी संसार के चित्रों की अग्रश्रेणी में हैं। फ़र्गुसन ने दोनों की तुलना करके कहा है कि तब के योरपीय कला से तब की भारतीय कला बढ़ी हुई थी। यह सत्[य] भी फ़र्गुसन साहब ने बड़ी मीन-मेष के बाद कहा था। उनकी समझ में आज की योरपीय चित्रकला प्राचीन भारतीय चित्रकला से बढ़ी हुई है। होगी, पर हम तो तब जानें जब सचमुच दो हज़ार वर्षों तक जर्मनी के तैयार किए हुए रङ्ग बराबर बिना किसी सफ़ाई के उष्ण-शीत और सील सहते हुए टिक जायँ। हमारा यह सन्देह पुष्टतर हो जाता है, जब हम देखते हैं कि योरप के बड़े-बड़े चित्रकलाविदों द्वारा भरे गए चित्र

भी दस वर्षों में ही मलीन पड़ जाते हैं। विंसेन्ट स्मिथ फ़र्गुसन साहब से भी ज़ोरदार शब्दों में इस सिद्धांत की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं कि भारत की चित्र आदि सभी कलाओं पर यूनानी और ईरानी आचार्यों का प्रभाव पड़ा है। यह इन योरपीय विद्वानों के विचारस्रोत में एक प्रकार की रीति सी चल गई है कि वे भारत की किसी कला को देशी होने का श्रेय नहीं दे सकते। योरप के यूनान आदि देश तो उन्हीं कलाओं का मौलिक अनुसंधान और विकास कर सकते थे, पर हम वही नहीं कर सकते थे। हम स्वयं तो स्मिथ साहब के विषय में कुछ कहना नहीं चाहते, पर उन्हीं के एक सजातीय किंतु निष्पक्ष आलोचक के विचार रक्खे बिना भी नहीं रह सकते। अमरीका की भगिनी-निवेदिता (E. Margaret Noble) स्मिथ साहब के इस विचार की तीव्र आलोचना करती हुई कहती हैं--

"Vincent Smith is not better able to form an opinion than Fergusson. Indeed he is less fit in many ways.........What the one man knows out as a tentative suggestion the other uses as if it were an axiom.

इससे यथार्थ और उचित समालोचना स्मिथ साहब की ओर नहीं हो सकती। हम अपनी ओर से उनके प्रति कुछ कहना नहीं चाहते।

दूसरी आवश्यक बात जो सय्यद अहमद साहब ने बताई, वह यह थी कि चित्रकारों के पास इन गह्वरों में प्रकाश करने का एक विचित्र साधन था। जब कोई नया आदमी इनको देखने जाता है, सर्वप्रथम उसके हृदय में एक प्रश्न उठता है। वह देखता है कि गुफा के बहुतेरे भाग दिन के दोपहर में भी तमपूरित रहते हैं। विशेष कर हाल के पीछे का वह कमरा, जिसमें बोधिसत्व की विशाल मूर्त्ति स्थापित है, सदा अँधेरे में रहता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस अँधेरे कमरे की दीवारें भी चित्रों से रँगी पड़ी हैं। इस बात का अनुभव करके स्वतः यह प्रश्न उठता है कि इन अंधपूरित स्थानों को प्रकाशित करने के लिये उनके पास क्या साधन थे। इस बात की खोज का श्रेय सय्यद अहमद साहब की विचक्षण बुद्धि को है। उन्होंने इसका उत्तर यों दिया है—वे एक बहुत बड़ा शीशे का टुकड़ा गुफा के द्वार पर धूप में चमकाते थे और एक या कई बड़े-बड़े सफ़ेद कपड़े के टुकड़े अँधेरी जगहों में खड़े कर देते थे। इस प्रकार इन टुकड़ों का प्रतिबिंब दीवारों पर डालकर कोना-कोना प्रकाशित कर देते थे। यह साधन हमारे सामने भी काम में लाया गया और हमने प्रत्येक कोने को जगमगाते देखा। यह ध्यान देने की बात है कि जहाँ की दीवारें और छतें चित्रों से रँगी पड़ी हैं, वहाँ मशाल या ऐसी कोई लौवाली रोशनी नहीं कर सकते थे; क्योंकि हमने स्वयं वह दीवार देखी, जो पास ही भीलों के भोजन बनाने के कारण काली हो गई है और जिस पर के सारे चित्र मिट गए हैं। यह सन्देह नहीं किया जा सकता कि उन दिनों दर्पण नहीं था; क्योंकि नम्बर सत्रह की गुफा में हाथ में शीशा लिए श्रृङ्गार करती हुई एक स्त्री का चित्र बड़ी स्पष्टता और योग्यतापूर्वक खींचा गया है; पर एक बात है कि यह युक्ति केवल दिन के लिये हो सकती थी। फिर क्या वे रात में अँधेरे में रहते थे, सम्भव नहीं। अजन्टा-गुफाओं के व्यस्त जीवन के समकालीन कविवर कालिदास ने कुमारसम्भव में दरीगृहों (Cave-houses) का ज़िक्र किया है। "दरीगृहोत्संगनिषक्तभासः" पद में उन्होंने ओषधियों को 'अतैलपूर-प्रदीप' कहा है। मेघदूत में उत्तरमेघ श्लो० ५ तुंगार्चिवाले रत्नप्रदीपों का ज़िक्र है। इससे हम तो यही नतीजा निकालते हैं कि इन दरीगृहों की चित्रकारी करते समय रत्नदीपों से ही काम लिया गया था। जो धनी उपासक भिक्षुओं के लिये करोड़ों का व्यय कर गुफाएँ खुदवा सकते थे, उनके लिये रात्रि में प्रकाश के लिये गुफाओं में ऐसी मणियों का रख देना, जिनमें प्रकाश करने की प्रचुर सामर्थ्य थी, कुछ असम्भव नहीं था। बहुत सम्भव है, यही सत्य हो; क्योंकि उन दिनों अजन्टा की गुफाओं की ख्याति दूर-दूर तक रही होगी और कालिदास अवश्य वहाँ की रहन-सहन आदि से परिचित रहे होंगे। उन्होंने अवश्य इस बात को ही सम्मुख रखकर इस सत्य को लिख दिया था।

एक-एक गुफा पर अलग-अलग विचारने से पहले हम अजन्टा की चित्रकला पर ही कुछ विचार करेंगे। पहला सोचने का विषय तो यह है कि उन भिक्षुओं के लिये, जिन्होंने संसार का त्याग कर दिया था, चित्र क्यों बनाए गए। इसका उत्तर यह है कि शाक्यमुनि बुद्ध के सिद्धांत के मध्यमार्गीय थे। बौद्ध-सम्प्रदाय में समाधि का

इतना ऊँचा आदर्श नहीं है, जितना दूसरे हिंदू-मतों में है। बौद्ध शरीर-यातना को कोई प्रतिष्ठा नहीं देते। इसलिये भिक्षु एकान्तोपासना के साथ-साथ सामूहिक उपासना भी करते थे। चैत्यों का यही उद्देश्य था। इसीलिये आचार्यों ने विचारा कि सर्वत्र आदर्श-कथाएँ भर दी जायँ। भिक्षु के लिये सारा विश्व ही ध्यानमग्न मूर्त्तियों से भरा पड़ा है। बुद्ध के जीवन को आदर्श बनाकर उसका अनुवर्तन करने से ही निर्वाण गति सम्भव है, यही विश्वास था। इसलिये आचार्यों ने प्रत्येक स्थल को चित्रित कर दिया। जहाँ दृष्टि जाती, आदर्श-विषय हृदय-पटल पर लिख जाता। दुष्कर्मों का विचार क्षण-भर भी नहीं टिक सकता था। इस आदर्श के निमित्त उन्होंने जातक-कथाओं अर्थात् बौद्ध-पुराणों से अपने विषय चुने और उनसे दीवारें और छतें तक भर दीं। यह बेगार का काम नहीं था। बरन् तन्मयता और कथाओं में भक्ति के कारण इस उत्कृष्टता को पहुँचा कि आज संसार की चित्रशालाएँ उसके सामने तुच्छ जँचती हैं। जब हम आँखें मींचकर अजन्टा के दृश्यों का स्मरण करते हैं, हमारे सम्मुख रङ्गमञ्च के दृश्यों की नाईं वहाँ की सैकड़ों दीवारों और स्तंभों पर बने फल-फूल, वन-पर्वत, मनुष्य, पशु-पक्षी, नगर, राजधानी, देव-दैत्यादि के सहस्रों विविध चित्र नृत्य करने लगते हैं। इन बातों को ध्यान में रखकर ही प्रोफ़ेसर विलियम रोथेनस्टेइन ने लिखा है कि "मनोवैज्ञानिक चित्रण के विचार से इन चित्रों में इतनी सत्यता है, यहाँ के मनुष्यों और पशुओं का चित्रण इतना अद्भुत है और भारतीय जीवन के आध्यात्मिक चित्रण में इतनी गम्भीरता है कि आज इस शीघ्र परिवर्तनशील युग में भी समकालीन चित्रणकला की अनुपस्थिति में ये चित्र भारतीय जनता की सभ्यता और चरित्र के प्रतिनिधि हैं।"

अजन्टा-चित्रणकला की तीन बातों में आचार्यों की कुशलता सिद्ध है। वे हैं यहाँ के चित्रित (१) नेत्र, (२) मुद्राएँ (भाव) और (३) स्त्रियाँ। इन तीनों को कल्पनाचक्षु के सम्मुख रखकर जो अजन्टा की चित्रकला का अध्ययन करेंगे, उनकी ही समझ में वहाँ की कला पूर्ण रूप से आ सकती है। भला उन योरपीय लोगों की समझ में यहाँ का नेत्र-चित्रण क्योंकर आए, जो हमारी प्राचीन सभ्यता से अनभिज्ञ हैं। उन्हें तो हमारे यहाँ की बादाम की शकल के नेत्र अस्वाभाविक जँचेंगे ही। यही कारण है कि अजंटा के भ्रमण करनेवाले सैकड़ों योरपीय विद्वानों की प्रशंसात्मक सम्मति से भरी वहाँ की 'सम्मति-रजिस्टर' (Visitors book) में एक-आध ऐसे व्यक्तियों की भी सम्मतियाँ हैं, जिन्होंने वहाँ की चित्रण-कला को 'अतिनिन्द्य' (Very bad) लिखा है। इन्हें पढ़कर हँसी नहीं रुकती! उनकी सुंदरता के आदर्श तो बिडालाक्ष हैं।

नेत्रों का चित्रण इतना सुंदर हुआ है कि देखते ही बनता है--जैसे कमल अथवा आम की फाँकें रख दी हों। उन्होंने हमारे साहित्यिक आदर्श को सामने रख दिया है। भौंहों का इतना सुंदर चढ़ाव-उतार है कि सचमुच ही अर्धधनुष का स्मरण हो आता है। साथ ही कौड़ी की-सी आँखों में लाल डोरे झलकते हैं। यह तो हुए नेत्र, अब किञ्चित् भाव और मुद्राएँ लीजिए।

भाव और मुद्राएँ दर्शाना लेखनी का नहीं; प्रत्युत आँखों का काम है, फिर भी जहाँ तक हो सकता है, उनका वर्णन किया जाता है। यहाँ के प्रत्येक चित्र की मुद्रा इतनी सुंदर है कि भाष्य की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। सारे भाव स्वयं स्पष्ट हो जाते हैं। पुरुष और स्त्रियों के जितने भी चित्र बने हैं, सबमें मुद्रा को प्रचुर रूप से स्थान दिया गया है। ये मुद्राएँ इतनी स्वाभाविक हैं कि चित्र जीवित जान पड़ते हैं। उनके बैठने और खड़े होने के तरीक़े इतने स्वाभाविक हैं कि देखते ही बनता है। वाद्यवनिताओं में इतने बल डाले गए हैं कि उनकी स्वाभाविकता पर दर्शकों को आश्चर्य होता है। पद्मपाणि बोधिसत्व के शरीर में तीन स्थानों में बल डालकर जीवन डाल दिया है। इन सुनम्र गात्रों में, जो एक आदर्श दैवीभाव प्रस्फुटित होता है उसका ज्ञान केवल भारतीयों को ही था। योरपीय चित्रकारों की दृष्टि में उन्हें स्थान नहीं मिल सकता। हाथ इस रूप से मुड़े हुए हैं कि उनकी सुन्दरता भारतीय रहन-सहन को जाननेवाले ही समझ सकते हैं। यों तो सभी हाथों का चित्रण सुंदर है, पद्मपाणि का पद्मधारित्व हस्तकला की चरम सीमा का उदाहरण है। गोल कलाइयाँ, हथेली और उँगलियाँ प्रार्थना, उपदेश, क्रोध और स्नेह आदि को प्रकट करती हैं। चित्रों में शरीर पर इस सुंदरता से वस्त्र डाला गया है कि उसकी बारीक़ी के कारण शरीर झलकता है

चादर की सिकुड़नों ने एक अद्भुत स्वाभाविकता का सञ्चार कर रक्खा है।

अजंटा के आचार्यों ने कला को सजाने का काम स्त्रियों से लिया है। उनको उन्होंने अद्भुत हस्तलाघव और पूर्णता से चित्रित किया है। स्त्री-चित्रण में उनकी प्रधान कुशलता है। क्या राजसभा और क्या गली में, अजन्टा-वाटिका में सर्वत्र वे फूलों की भाँति बिखरी, सजी पड़ी हैं। उनके बिना कोई भी सामूहिक चित्र नहीं बनाया गया है। घरों की खिड़कियों में वे बैठती हैं, भिक्षा वे देती हैं, गाना-बजाना उनका काम है। सारांश यह कि कारीगरों ने सब स्थलों को उनसे ही सजाया है। यहाँ तक कि स्तम्भों पर भी वे कलियों की भाँति बिखरी पड़ी हैं। चित्रकारों ने जब कहीं और उनके लिये स्थान नहीं पाया, तो उन्हें वायु में उड़ती अप्सराओं के रूप में सजा दिया। उन्हें आश्चर्यजनक कुशलता से शृङ्गार करती हुई, बातें करती, सोती, बैठती, खड़ी सब प्रकार से चित्रित किया है। अपने बुद्धों को तो उन्होंने धर्म-पुस्तकों के उल्लेखानुसार चित्रित किया है, पर उनकी स्त्रियाँ साधारण जनसमूह की हैं, पूर्ण स्वाभाविक हैं। उन्होंने स्त्रियों को बैठाया नहीं, बरन् उनके बैठने के ढंग की ही नक़ल की है। स्त्रियाँ नियम से आबद्ध नहीं हैं क्योंकि वे ही नियमों की जन्मदात्री हैं। उनसे ही आचार्यों ने सीखा है। यहाँ पर अजन्टा में चित्रित स्त्रियों के विषय में कप्तान डब्ल्यू० ई० ग्लैडस्टन सालोमन साहब की राय उद्धृत करनी कुछ अयुक्तियुक्त न होगी। आप लिखते हैं—

"They struggled to reproduce every turn of her head, every curve of her form, every glance of her eye. She enthralled them with her airs and graces; enmeshed them in the mysteries of her toilet, more strongly than does the Parisienne the painter of to-day. They produced tirelessly and with a discriminating knowledge her bewildering coiffuces; they decked her in painstaking manner with the more beautiful trinkets they could devise. When they could not paint her, then they painted her pearls and ornaments all round their columns. I can think of no parallel to this frank and chivalrous Woman-worship of Ajanta. No-where else perhaps has woman received such perfect and understanding homage. Even the beggar girl who asks for alms in the panel over the portal of the seventeenth Cave is beautiful. The truth is that they could not conceive woman otherwise. As she truly inspired them so they gave back to her in kind these graphic gifts of wholehearted admiration. Inspite of her obvious reality one feels at Ajanta that woman is treated not as an individual, but as a principle. She is there not female merely, but the incarnation of all the beauty of the world. Hence with all her gaiety, her charm, her insonciance, she never loses her dignity, and no-where is she belittled or besmirched. Everywhere in this garden of flowers we behold the fullblown rose in its pride and perfume;—no-where the trampledlily. "Majesty and pawer" invest the women of Ajanta quite as clearly as the Mandorla of glory surrounds the saints of early Christian Art."

यह उद्धरण उचित प्रशंसा का एक सुंदर उदाहरण है और इससे बढ़कर दूसरा सुंदर और जीवित वर्णन नहीं हो सकता। सालोमन साहब का स्थान कला-विशेषज्ञों में बहुत ऊँचा है।

इसी प्रकार यहाँ स्त्रियों के केश का भी बहुत ही सुंदर और विविध चित्रण है। इन चित्रों में हमें केश काढ़ने और सजाने के सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। कभी-कभी घुँघराले केश ललाट पर अँगूठियों की भाँति बिखरे मिलते हैं, जो अब भारतवर्ष में देखने में नहीं आते। कभी पीछे बँधे सुंदर कृष्ण जूड़ों पर सुकोमल उज्ज्वल पुष्प अत्यंत सुंदरता से सजे हुए हैं। अथवा केशराशि में कहीं-कहीं कमल की कलियाँ बँधी हुई हैं। कहीं-कहीं स्त्रियों ने केश की कई सुंदर वेणियाँ फूलों से सजाकर कानों की ओर बाँध रक्खा है और उनकी फनगियों पर सोने-चाँदी के फूल लगा रक्खे हैं। जंगली स्त्रियों ने प्रायः गोल केश-राशि में एक प्रकार का मयूरपक्ष खोंस रक्खा है।

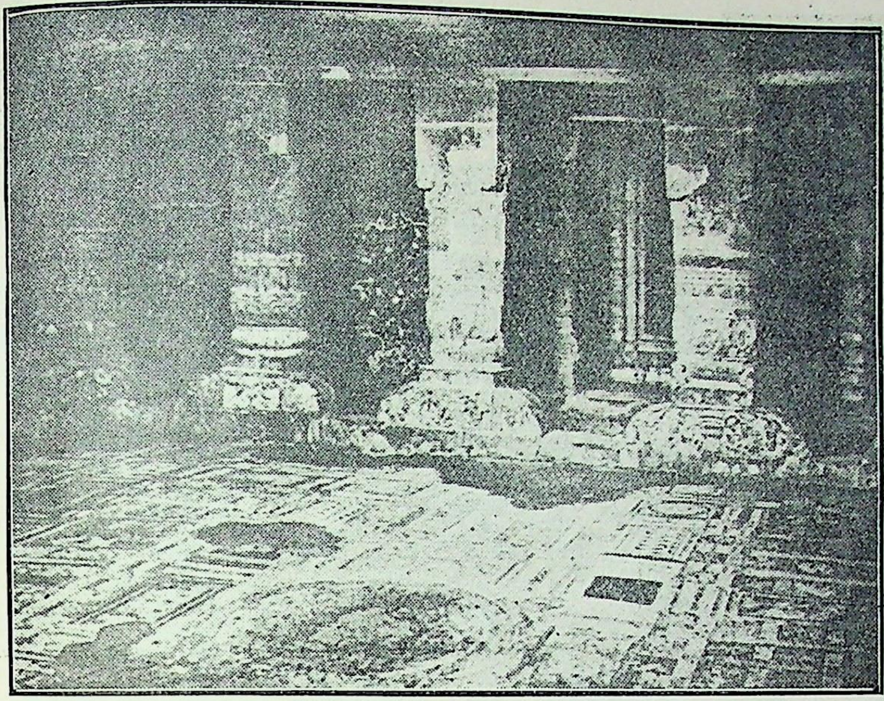
सच तो यह है कि केश काढ़ने और सजाने के जितने विविध ढंग यहाँ हैं, उतने और किसी प्रकार के चित्रण में नहीं।

अब हम मुख्य गुफाओं पर अलग-अलग विचार करेंगे।

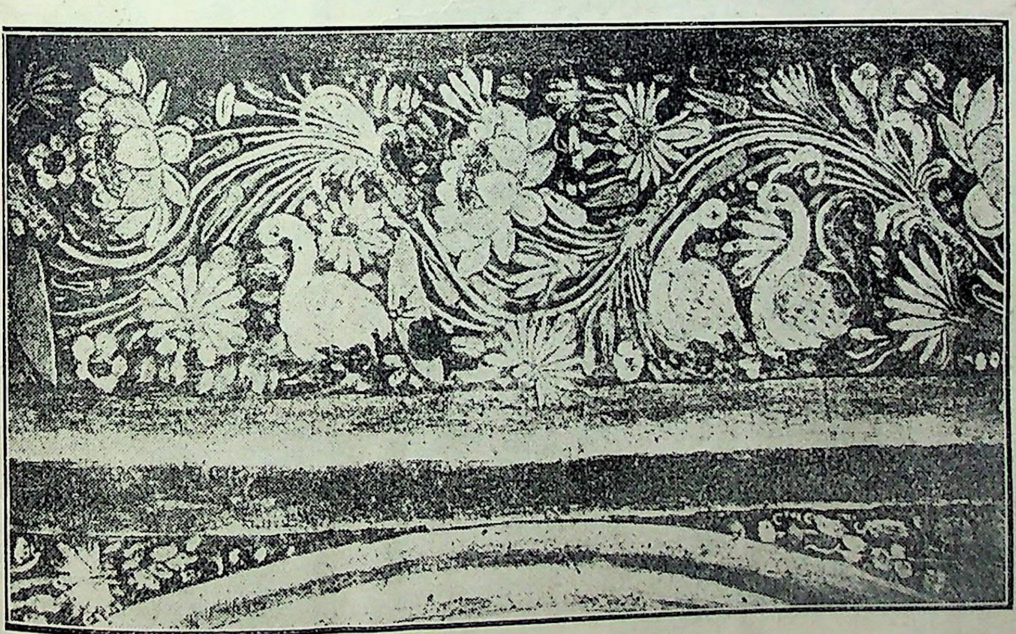
गुफा-नंबर १--गुफा में प्रवेश करते ही बाएँ हाथ की दीवार पर शिबि-जातक की कथाएँ चित्रित मिलती हैं। फिर बाएँ हाथ सिंहल-जातक की कथाएँ भरी पड़ी हैं। सामने की दीवार पर चित्रकला की पूर्णता एक भव्य पद्मपाणि बोधिसत्व में प्रतिबिंबित है। यह चित्र प्रायः योरपियन विद्वानों को सीस्टाइन-गिरजे में माइकेल एंजेलो के बनाए चित्रों का स्मरण कराया करता है। गौतम संसार-त्याग के पूर्व हाथ में कमल लिए खड़े हैं। विचित्र मुद्रा है। अद्भुत चित्रकला है। नासिका, नेत्र, हाथ सभी सुंदर हैं। उनके पास ही यशोधरी खड़ी हैं। पद्मपाणि का वर्णन जैसा भगिनी-निवेदिता ने किया है, और कोई वैसा नहीं कर सकता। हम उसे नीचे देते हैं--

"......It is cave one that contains the masterpiece......A man—young, and of heroic size—stands gazing, a lotus in his hand, at the world before him. He is looking down and out into the Vihara......But the ornaments that he wears as well as his tall crown show that we have here Buddha the prince, not Buddha the ascetic. A wondrous compassion pervades his face and bearing, and on his left stands a woman, curving slightly the opposite way, but seeming in every line to echo gently the feeling that he more commonly expresses. This picture is perhaps the greatest imagination presentment of Buddha that the world ever saw. Such a conception could hardly occur twice......It is Buddha on the threshold of renunciation, suddenly realizing and pondering on the terrible furtility of the life of man. His wife awaits him, gently, lovingly, yet with a sympathy, an heroic potentiality that is still deeper than all her longing sweetness. Yasodhara had a place, it seems, in the dreams of the monk-painters of Ajanta, and it was the place of one who could cling in the hour of tenderness and as easily stand alone and inspire the farewell of a higher call. It was the place of one who was true and faithful to the greatness of her husband, not merely to his daily needs. It was the place of one who attained as a wife, because she was already great as woman."

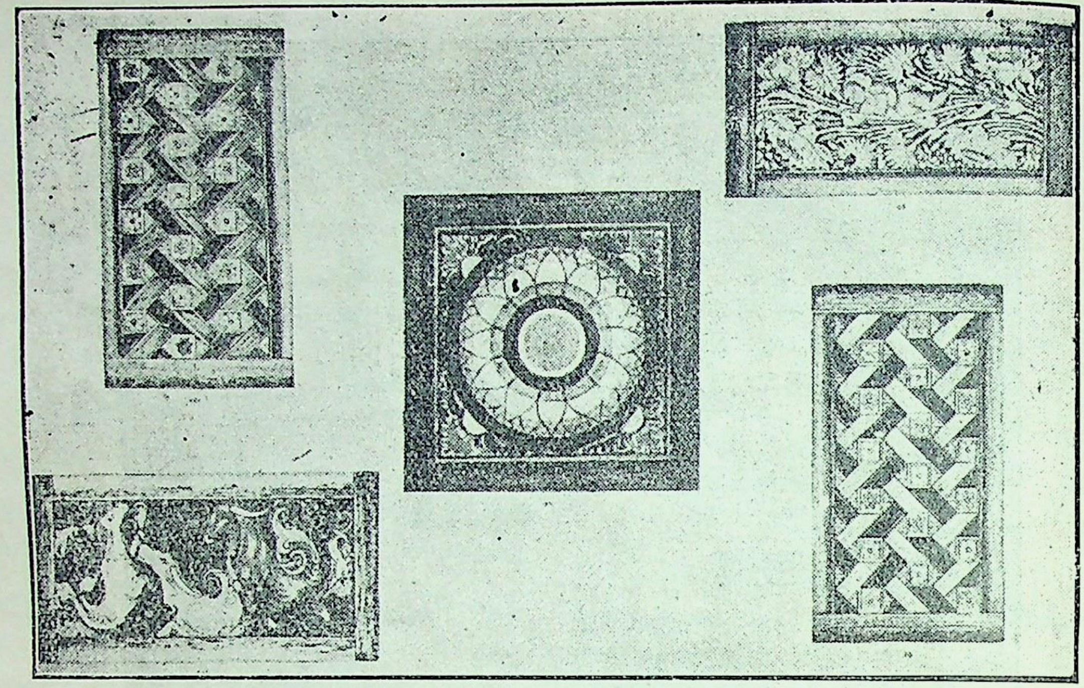
इसके बाद हम उस दीवार के पास आते हैं, जहाँ भगवान् बुद्ध का ध्यान तोड़ने के लिये मार असंख्य प्रयत्न करता है। यह अत्यंत आश्चर्य का विषय है कि उसकी सेना का एक दैत्य आधुनिक बो (Bow) बाँधे हुए है। समझ में नहीं आता, इस बो से प्राचीनों का तात्पर्य क्या था। ठीक सामने बुद्ध के अद्भुत कृत्य (Miracles of Sravasti) श्रावस्ती-नगरी में चित्रित हैं। इस गुफा के स्तंभों पर अच्छा काम है और सारी छत आजकल की तरह की डिज़ाइनों के चित्रों से भरी पड़ी है। छत में एक स्थान पर कमलों और उनके पत्रों के बीच हंस बिचरते दृष्टिगोचर होते हैं। इसे देखकर यह विचार बिलकुल ही छोड़ देना पड़ता है कि यहाँ की कला पर यूनानी प्रभाव है; क्योंकि यूनानी कला का मुख्य उद्देश्य मनुष्य की शारीरिक पूर्णता दिखानी है। वनस्पति तथा पशु-चित्रण उनकी कला में है ही नहीं। दूसरी ओर भारतीय कला में इनका विशेष समावेश है। थोड़ी दूर पर ही सुंदर साँड़ों के एक जोड़े की लड़ाई चित्रित है। और एक सुंदर चित्रण में चार मृगों का एक ही सिर इस प्रकार बनाया है कि वह प्रत्येक का सिर जान पड़ता है। यह आधुनिक डिज़ाइन से बहुत मिलता है। गुफा में प्रवेश करते ही दाहिनी ओर की दीवार पर प्रसिद्ध ईरानी दौत्य चित्रण है। ख़ुसरो द्वितीय परवेज़ ने प्रतापी हर्ष-विजयी चालुक्यराज पुलिकेशिन प्रथम के पास सन् ६२[illegible] ई० में दूत भेजे थे। कुलह और दाढ़ियाँ उनके ईरानी होने के प्रमाण हैं। इस चित्रण से यह बोध होता है कि अजन्टा की गुफाएँ केवल ईश्वरीय बोध के साधन ही नहीं थीं, प्रत्युत डाक्टर श्रीराधाकुमुद मुकर्जी के शब्दों में ये भारत की राष्ट्रीय चित्रशाला (National picture gallery) थीं, जहाँ जातीय विजयों को अमर



गुफा-नंबर १ का भीतरी भाग—स्तंभों के ऊपर की सुंदर नक़्क़ाशी



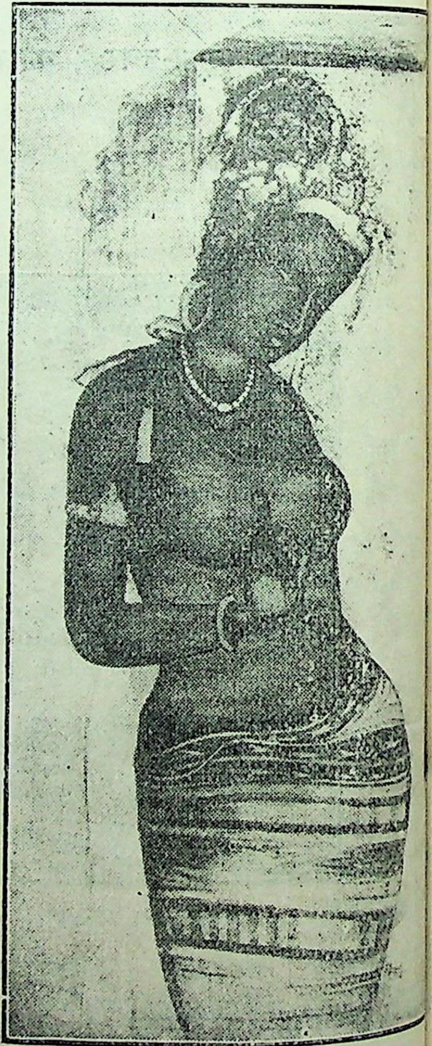
गुफा-नंबर १—छत के मनोहर चित्रण
(कमलों और उनके पत्रों के बीच हंस विचर रहे हैं)



गुफा नंबर १—छत के मनोहर चित्रण



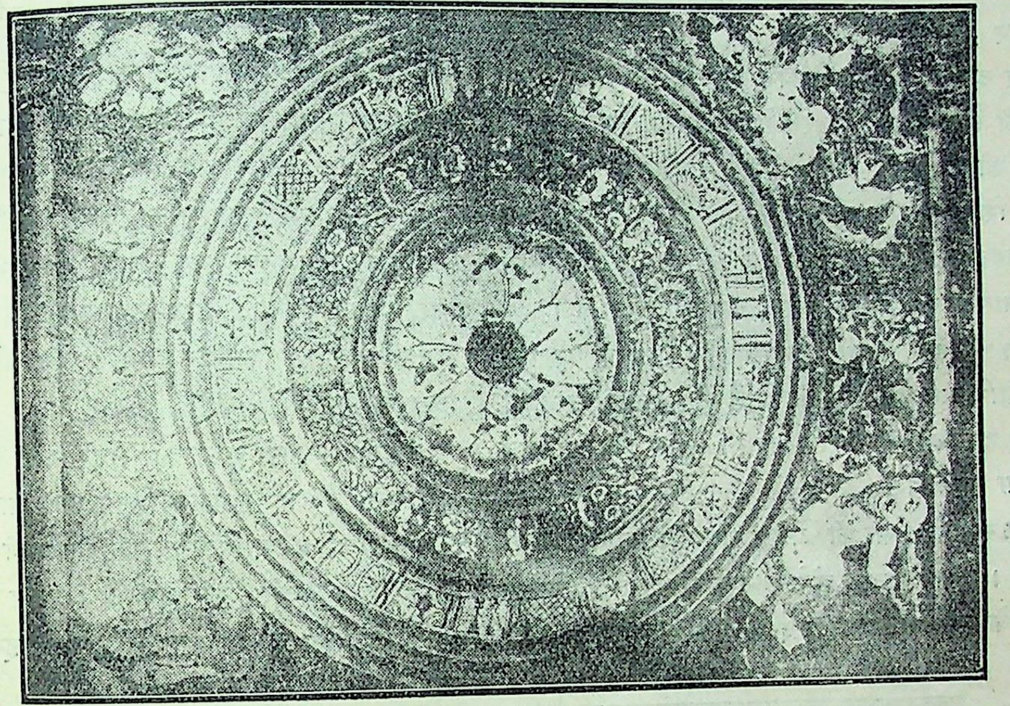
चालुक्यराज में आए हुए विदेशी
(ईरानी दौत्य चित्रण)



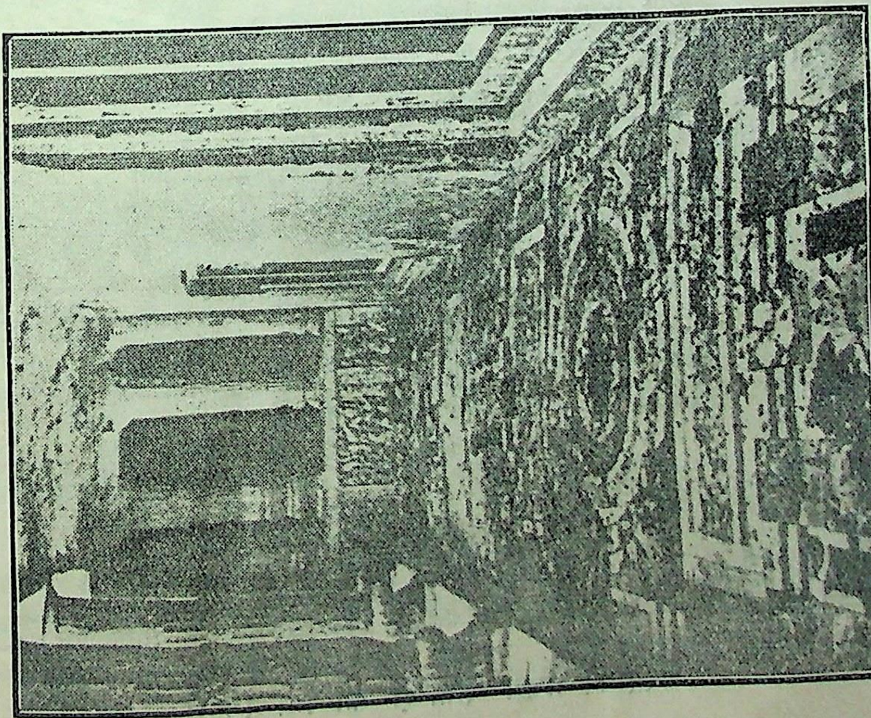
चित्रों में लिखते थे। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस गुफा का चित्रणकाल सातवीं शताब्दी है।

गुफा-नंबर १—भगवान् बुद्ध की धर्म

गुफा नं० २—आजकल योरपीय वेश में नेकटाई और रूमाल का एक-सा होना आवश्यक समझते हैं। नं० २ की गुफा के बरामदे में छत के एक चित्र में मोज़ और टोपी का अच्छा मैच है। दोनों ही भूरी छींट के बने हैं। इसमें चांतिवादी, हंस, रुरु, विधुरपंडित आदि जातकों की कथाएँ एवं पूर्णावदान और बुद्ध के जीवन की दूसरी घटनाएँ यथा तुषित स्वर्ग, माया का स्वप्न, माया का लुंबिनी-वन-प्रस्थान आदि सविस्तर चित्रित हैं। यहाँ श्रावस्ती के सहस्र बुद्धों के चित्र हैं। राजदरबार का एक सुन्दर चित्र इस गुफा में मिलता है। कुबेर की



गुफा-नंबर २—छत के मनोहर चित्रण



गुफा-नंबर ६—बरामदा और छत

एक विशाल बैठी प्रतिमा भी इस गुफा में है । इस प्रतिमा के हाथ में एक तोड़ा है और आधुनिक बनियों की भाँति बड़ा पेट निकला हुआ है ।

नं० ४––इस गुफा का हाल सबसे बड़ा है ।

नं० ८––सबसे प्राचीन गुफा है ।

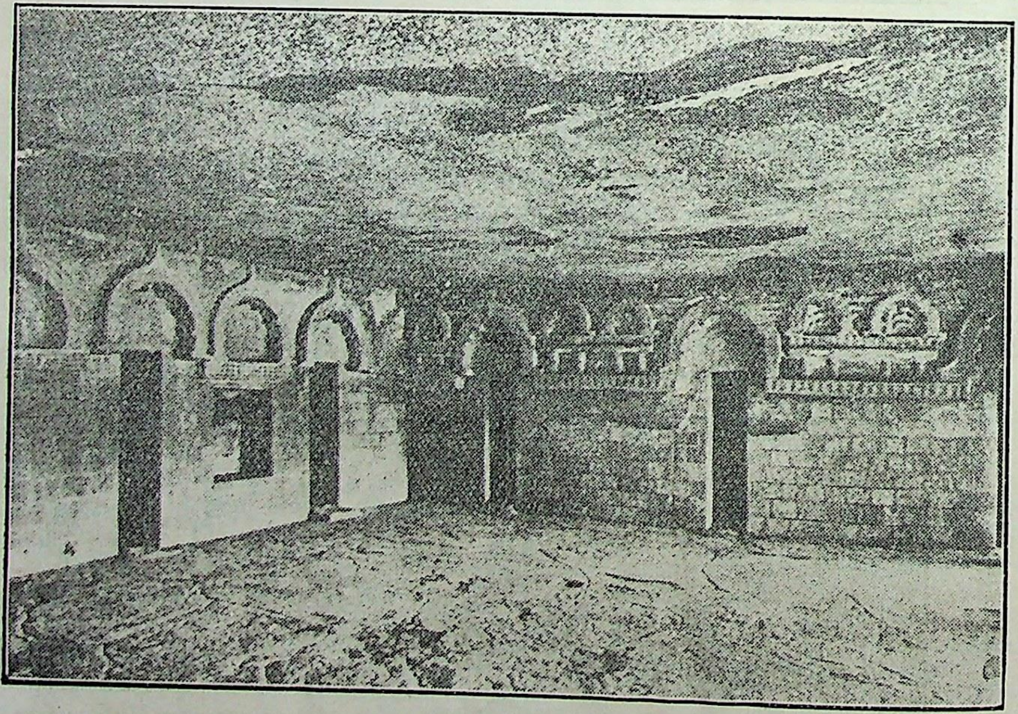
नं० ६––यह गुफा चैत्य है । यहाँ के चित्रों में बोधिसत्व और उपासक भरे पड़े हैं । ये चित्र पीछे के हैं । यह और दसवीं गुफा हनियान-संप्रदाय की प्रबलता के समय की हैं, जैसा उनके स्तंभों की सादगी और लकड़ी के काम की पत्थर में नक़ल से मालूम होता है । दसवीं गुफा के शिलालेख से ज्ञात होता है कि इस चैत्य का स्तूप कठहदी-नामक किसी व्यक्ति का दान है । इसमें श्यामा-जातक की श्रवण-वधादि कथाएँ चित्रित हैं ।

नं० ११––इस विहार के सामने की दीवार पर एक सुंदर बोधिसत्व है, जिसके मोतियों से सजे सिर को दिखाकर हमें बताया था कि इतना सुंदर मुँह उन्होंने कहीं देखा ही नहीं ।

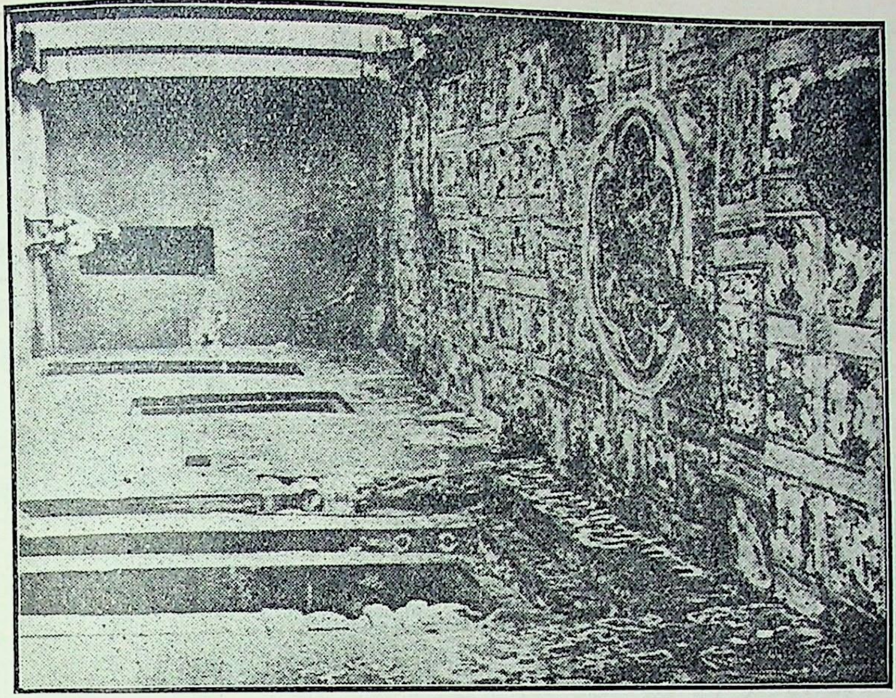
नं० १२–यह ईसा की प्रथम शताब्दी का बना हुआ विहार है । इसके हाल में छोटे-छोटे कमरे खुलते हैं, जिनमें भिक्षुओं के सोने के लिये दो-दो चबूतरे कढ़े हुए हैं, जिन पर पत्थर ही के तकिए बने हैं । इस गुफा के स्तम्भ का[ल] के प्रभाव से बहुत ही भग्नावस्था में हैं, इसीलिये निज़ा[म] सरकार ने नए खंभे खड़े कर दिए हैं ।

नं० १६ की गुफा में बोधिसत्व की सबसे सुंदर मू[र्ति] है । नं० १७ के शिलालेख से ज्ञात होता है कि हरिसे[ण] ने, जिसने १६वीं और सत्रहवीं गुफाएँ खुदवाई थीं, औ[र] स्थानों के अतिरिक्त उड़ीसा और उज्जैन भी जीता था [,] वाकाठकों के मंत्री वाराहदेव ने इस गुफा को पूरी कराय[ा] था । इसमें पिछले पौराणिक देवता गंगा, यमुना आ[दि] के चित्र हैं । इसकी चित्रकला विशेषतया सजावट का का[म] करती है । इसमें सुतसोम-जातक की कथाएँ, नंद का धर्म[-]परिवर्तन, सप्तमनूषी बुद्ध, माया का गर्भ, असितऋषि द्वारा प्रस्तुत जन्मपत्र, पाठशाला का दृश्य, राजगृह औ[र] सुजाता, त्रपुस्स और भल्लिक के यहाँ निमंत्रित बुद्ध के चित्र अंकित हैं ।

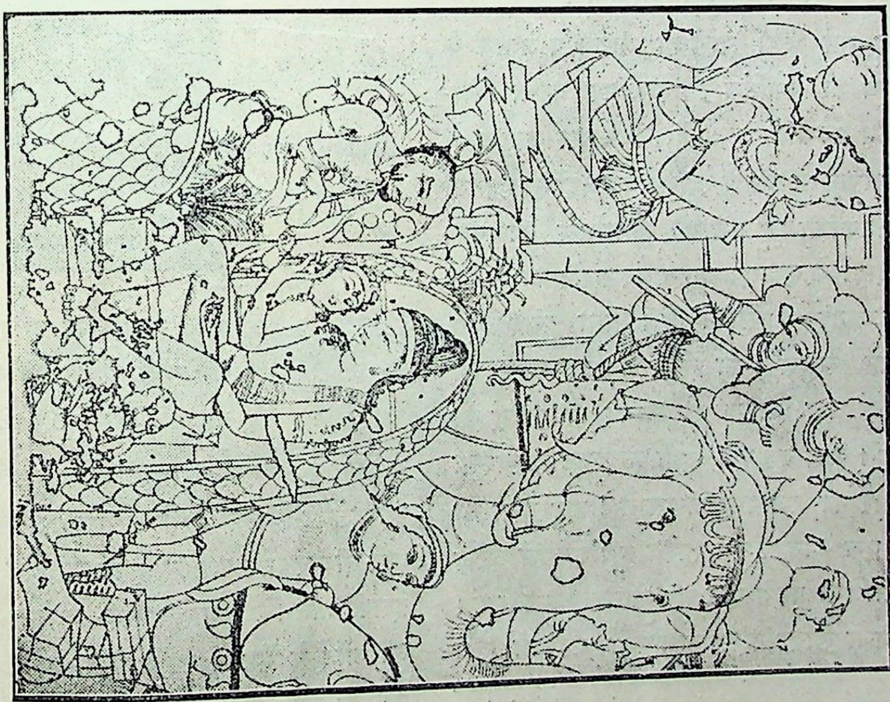
नं० १७––इसी गुफा की सुंदर और सर्वोत्कृष्ट कारीगरी ५२० ई० के लगभग किसी बड़े जागीरदार अथवा सामंत राजा के आदित्य-नामक मंत्री की तैयार करा[ई] हुई है । यह अत्यंत सुंदर गुफा है । प्रथम तो इसके चित्र सब गुफाओं से अच्छी दशा में हैं, दूसरे इसकी चित्रकला



ईसा की प्रथम शताब्दी का बना बिहार

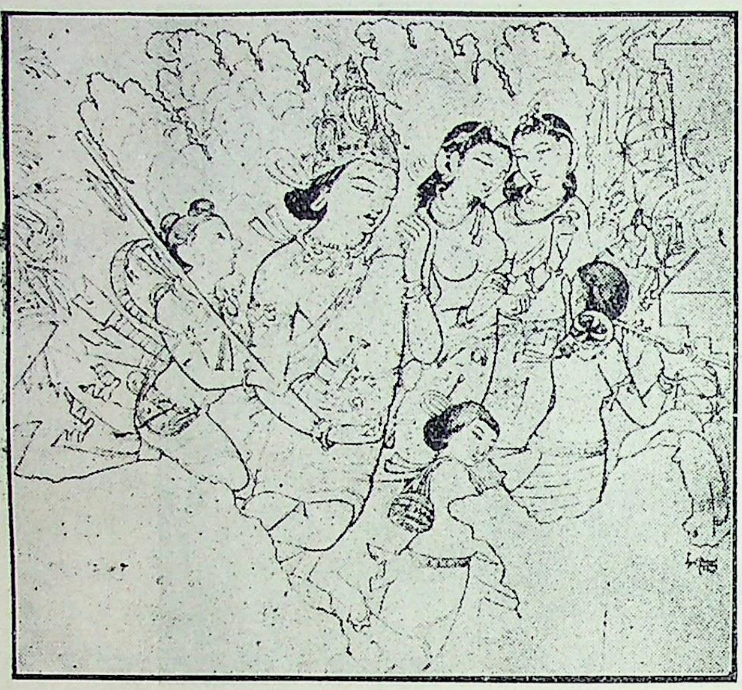


गुफा-नंबर १७—बरामदा और छत

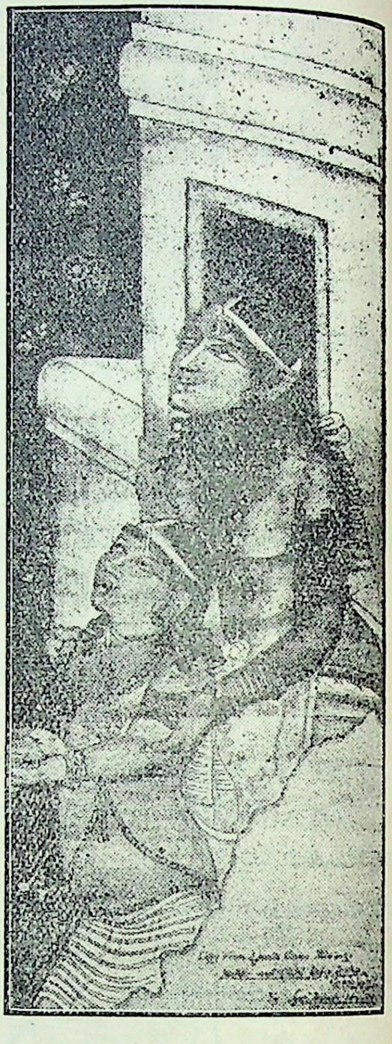


विश्वंतर-जातक का एक दृश्य

भी बहुत ही उन्नत दशा में है। जातकों की प्रसिद्ध घटनाएँ सब ओर अंकित हैं। षडदंत-जातक के सुंदर हाथी की प्रशंसा नहीं हो सकती। महाकपि, विश्वन्तर, सुतसोम, सरभ, मातृपोषक, मत्स्य, श्यामा, महिष, सिंहल, शिबि और मृगजातकादि के चित्र और सारिपुत्र के प्रश्न तथा बुद्ध के उत्तर, देवदत्त द्वारा छोड़े मत्तगजेंद्र का बुद्ध द्वारा विजय, संसारचक्र और गंधर्व आदि सभी दृश्य अत्यंत सुंदर हैं। बरामदे में वायु में उड़ते गंधर्व और अप्सराओं के मनोहारी चित्रों के अतिरिक्त इसी दीवार पर गुफा के अंदर के भाग में एक स्त्री बहुत ही सुंदर रूप



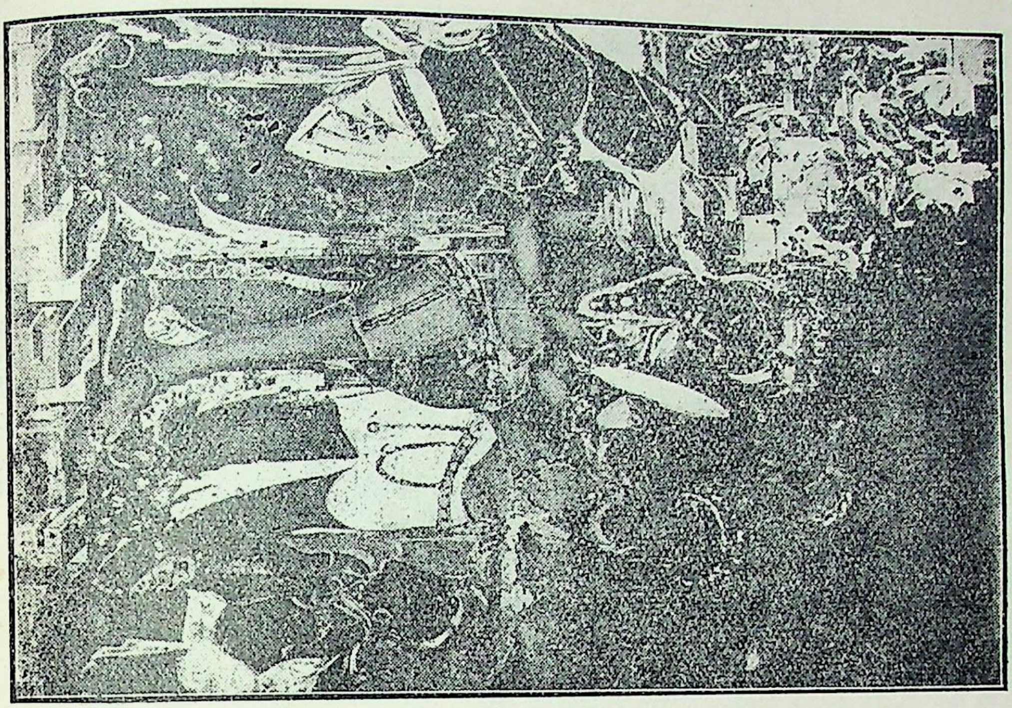
गंधर्व और अप्सराएँ



यशोधरा और राहुल
(यशोधरा अपने पुत्र राहुल को लिए हुए बुद्ध को भिक्षा दे रही है)

से बैठी दिखाई गई है । पास ही महाकपि-जातक के बंदरों का तालाब की स्फटिक सीढ़ियों पर बैठना बिलकुल जीवित दृश्य प्रदर्शन करता है । विश्वन्तर-जातक में वर्णित ब्राह्मण की क्रूरता इतनी स्वाभाविक नहीं है, जितनी उसके चित्र से टपकती है । उसके मुखमंडल की एक-एक सिकुड़न, दाढ़ी के एक-एक बाल और शरीर का प्रत्येक भाग उसकी क्रूरता के साक्षी हैं । माता और पुत्र (यशोधरा और राहुल) का सुंदर चित्रण-कला की पराकाष्ठा है । यशोधरा बालक राहुल को लिए बुद्ध को भिक्षा दे रही है । मुख पर एक दैवी अर्द्धस्फुट हास्यरेखा है । दोनों के सिर की स्थापना अद्भुत है । इस गुफा की एक दीवार पर एक सुंदर शृंगारदृश्य है । जिसमें दर्पण हाथ में लिए जाँघिया पहने एक स्त्री शृंगार कर रही है । संभव है, जाँघिया साड़ी के नीचे स्त्रियाँ पहनती रही हों । इस गुफा में विशेषतया सिंहलावदान की घटनाओं के चित्रण में हमने पर्दे, क्लिप, फ़ोल्डिंग, टेबुल और आराम-कुर्सियाँ देखीं । सिंहलावदान की घटनाएँ—जहाज़ का डूबना, सिंहल-नामक व्यवसायी का राक्षसियों के साथ विलास, उज्ज्वल बड़े बलह नाम के घोड़े पर आकाशमार्ग से भागना, राक्षसी द्वारा उसकी खोज, सिंहकल्प के अंतःपुर में उसका प्रवेश और सारे दरबारियों का भक्षण, सिंहल की प्रत्युत्पन्नमति, उसका साह[स] और लंका-विजय—सब आश्चर्यजनक कुशलता से ए[क] पूरी दीवार पर अङ्कित हैं । यह चित्र इतना सुंदर है [कि] इसका प्रति-चित्र गायकवाड़- बड़ोदा को निज़ाम-सरका[र] की ओर से भेंट दिया जा रहा है । हंस द्वारा राजा [को] उपदेश और माया के लुम्बिनी-वन-प्रवेश को लक्ष्य क[र] भगिनी-निवेदिता कहती हैं—

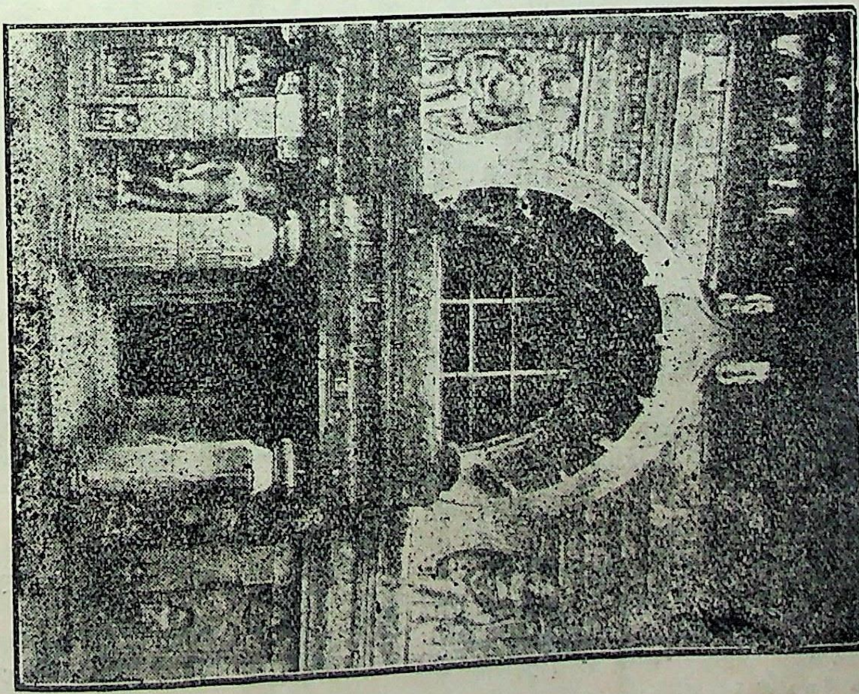
Now-here in the world could more beauti-ful painting be found than in the king listen-ing to the golden goose in Cave Seventeen or than the mosque of spring—which I shoul[d] have liked to interpret as the entrance o[f]



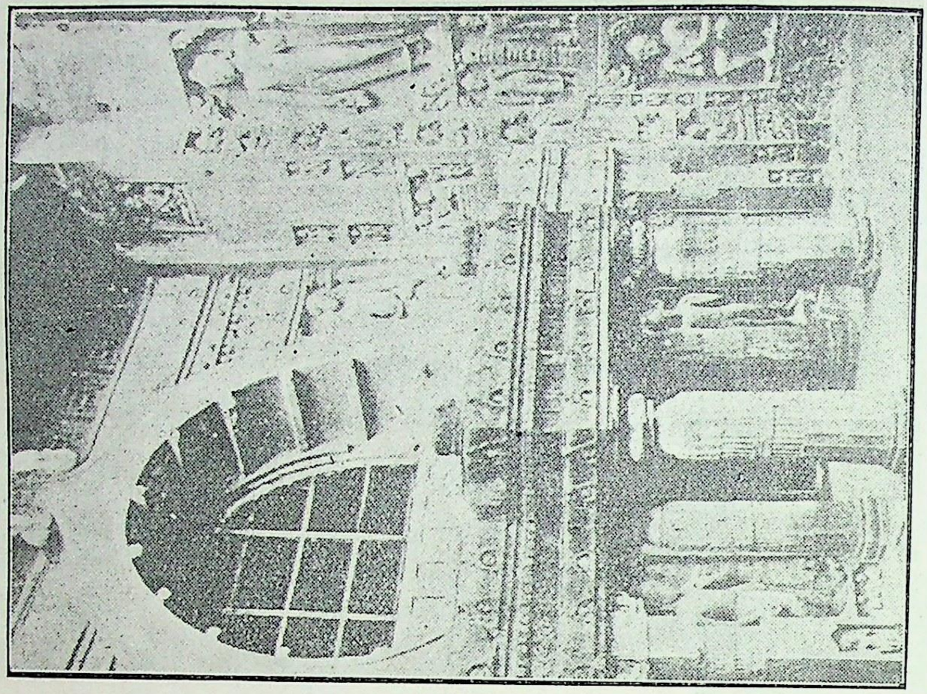
शृंगार-दृश्य

Queen Maya into the garden of Lumbini—on the top of a pilastor in the same Cave......... The anatomical knowledge shown in the modelling of limb and flesh is almost unapproachable.

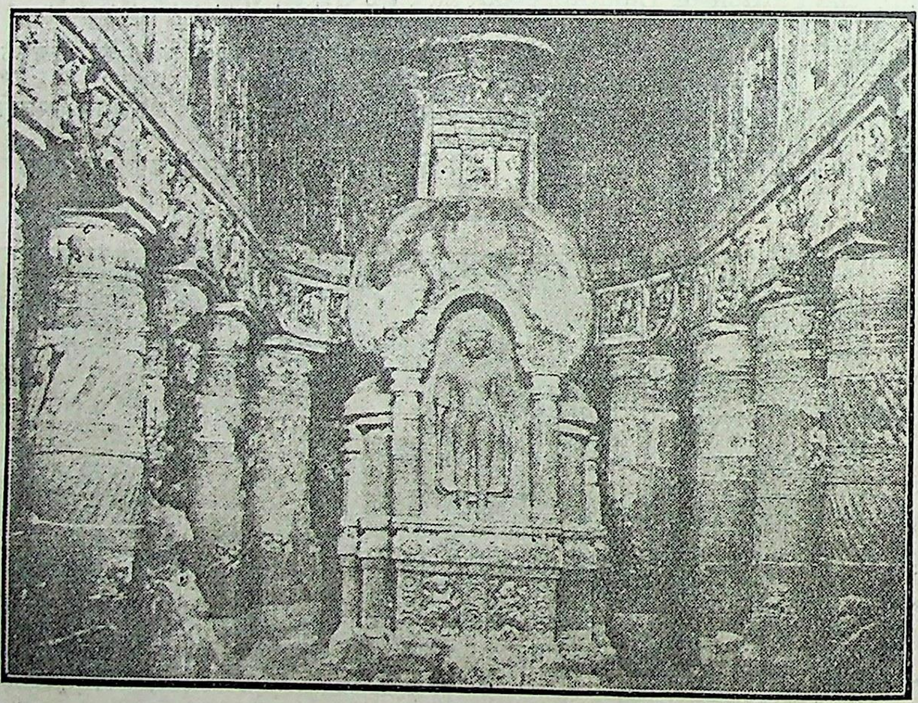
नं० १८ की गुफा शिलाशिल्प में १७ वीं की नक़ल है। १८वीं और १९वीं भी आदित्य के ही परिश्रम के फल हैं। नं० १९ में महायान-सम्प्रदाय का समावेश हो गया है। इसमें बुद्ध कई प्रकार से चित्रित हैं। यह



बुद्ध के विभिन्न चित्र



छत के विभिन्न चित्र

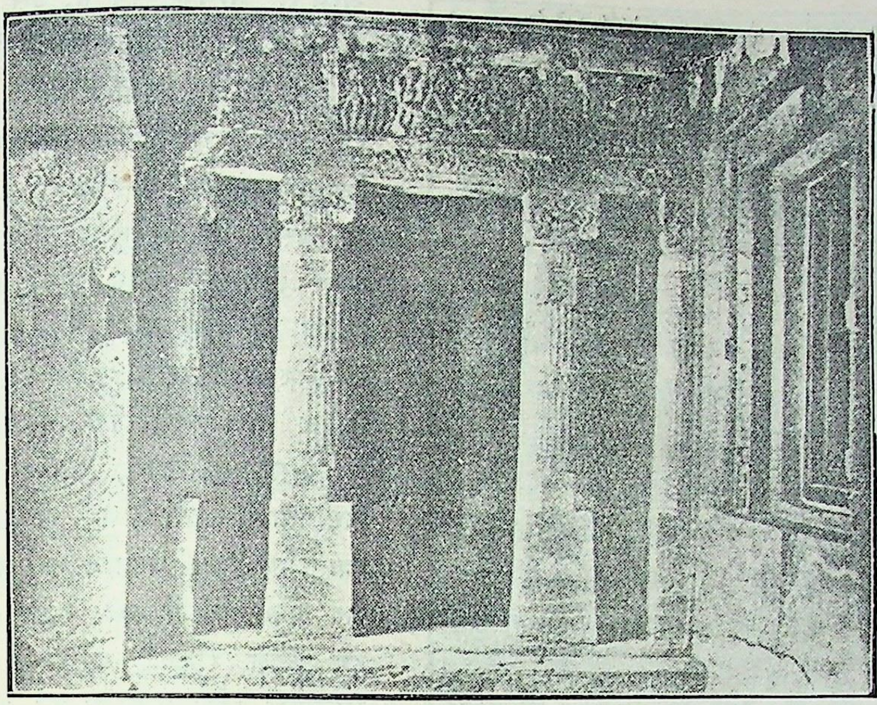


चैत्य-कमरे का भीतरी दृश्य

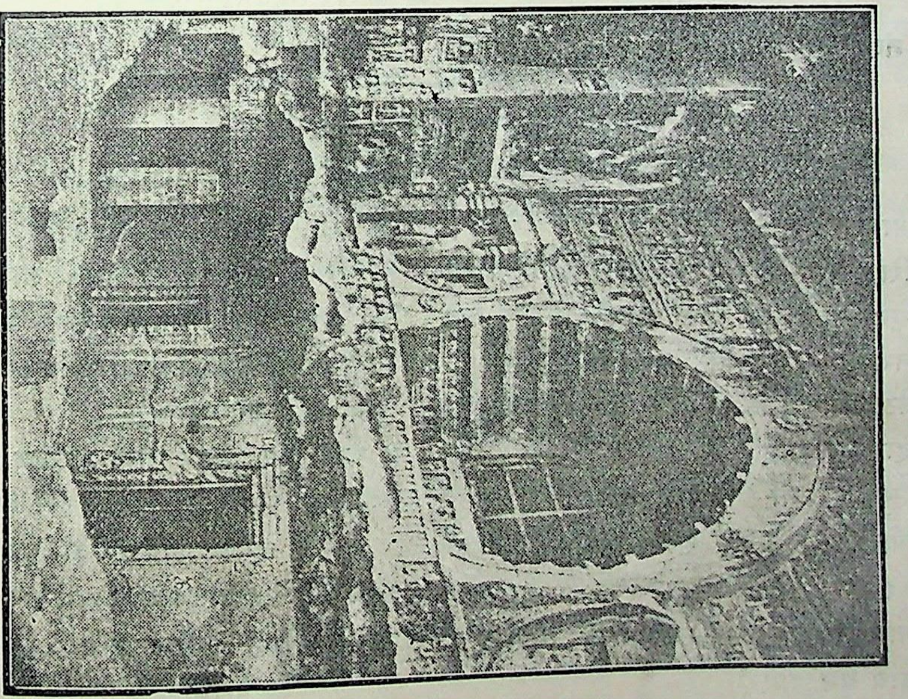
गुफा एक चैत्य है और इसके निर्माण में कुछ पश्चिमीय प्रभाव भी झलकता है। इसीलिये कलाविदों पर एक प्रकार की उच्छृङ्खलता आ गई है। इसका निर्माण-काल लगभग ई० ६०० है।

नं० २० की गुफा एक प्रभावशाली और धनी व्यक्ति उपेंद्रगुप्त द्वारा बनवाई गई थी।

२६वीं गुफा चैत्य है, जिसे संघाध्यक्ष बुद्धभद्र ने अपने आधीनाध्यक्ष धर्मदत्त और शिष्य भद्रबन्धु की सहायता



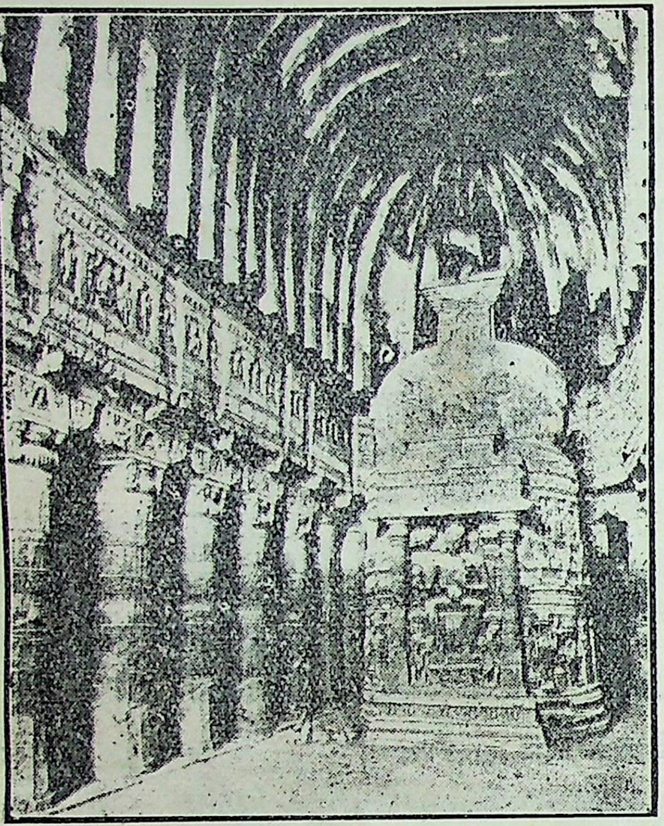
गुफा-नंबर २३—चैत्य के बीच का दृश्य



गुफा-नंबर २६—बुद्ध के विभिन्न चित्र

से ह्यूएनसांग के भ्रमण के बाद तैयार की थी । इसमें बुद्ध भगवान् की विशाल निर्माण-मूर्त्ति २३ फ़ीट लंबी लेटी हुई है। यह विचित्र मुद्रा अत्यन्त सुंदर है और जाँघें, बाहें, हाथ, उँगलियाँ सभी में सुंदर उतार है।

अब हम इस प्राचीन भारत की जातीय चित्रशाला का वर्णन समाप्त करते हैं । निज़ाम-सरकार जो केवल अतिथि-सत्कार पर १० लाख रुपए प्रति वर्ष व्यय करती है और पुरातत्त्व-विषयक जिज्ञासुओं पर जिस द्रव्य का



गुफा-नंबर २६—चैत्य-कमरे का भीतरी दृश्य

आधे से अधिक व्यय है, उसे अनेक धन्यवाद हैं। गुफाओं के जो स्थल प्राचीनता के कारण गिर रहे हैं या चित्रों में जहाँ का पलस्तर छूट रहा है, निज़ाम-सरकार परिश्रम और व्यय की चिन्ता न करके दुरुस्त कराती है। ऐसी सरकार को संसार की सर्वसुंदर चित्रशाला के अधिकारी होने का गौरव होना ही चाहिए। इस अजंटा की चित्रशाला की तीर्थयात्रा हमीं ने नहीं, प्रत्युत संसार के प्रत्येक कोने के निवासियों ने की है। अमेरिकन, नरवेजियन, अँगरेज़, फराँसीसी, इटैलियन, आस्ट्रियन, जर्मन सभी राष्ट्रीयता के लोगों ने यहाँ की कला की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। न-जाने कब वह दिन आएगा, जब अपने पूर्वजों की कला पर मुग्ध होकर हम केवल आश्चर्य न करके उनके आदर्श-सिद्धान्तों और कलाओं को संसार के सम्मुख सगर्व रक्खेंगे।

भगवतशरण उपाध्याय

क्यों नहीं आए ?

क्यों नहीं हाय तुम आए ?
खिलखिला उठे सब वन-कानन।
मृग-आनन फूल उठे धन-धन।
नभ में भी नाच उठे नव घन।
अब कैसे बैठा जाए ? किस तरह भुलाया जाए ?
क्यों नहीं हाय तुम आए ?
सूरज ने भी निज हीर-हार।
खोला है सुखद समीर-द्वार।
कर गरम उसासों का प्रचार,
हैं भव्य भाव फैलाए। सुख-सार सभी सरसाए।
क्यों नहीं हाय तुम आए ?
उस हिम के आलय ने निकाल,
सूरज सम्मुख रख एक थाल,
रवि-भाल प्रदीपित आज बाल,
ऐ लाल तेरे दिखलाए। माला जैसे पहनाए।
क्यों नहीं हाय तुम आए ?

फिर उसी वीरवर ने विशाल,
कर निज आँखों को लाल-लाल,
फैला गालों पर मेहजाल।
कुछ अश्रुबिंदु टपकाए। मन के मोती बिखराए।
क्यों नहीं हाय तुम आए ?
वह डूब गया सूरज कठोर।
यह उठी कलेजे में हिलोर।
चमका तारा है दूर भोर।
तब भी चितचोर न आए। मन में मन-मोर समाए।
क्यों नहीं हाय तुम आए ?
अपराधी मैं, तुम बने भूप,
शैवाल बना, तुम कालकूप,
जल जिसका वही अनूप रूप।
अब कैसे छूटा जाए ? सुख कैसे लूटा जाए ?
क्यों नहीं हाय तुम आए ?

हरीश जोशी

रायबहादुर गौरीशंकरजी ओझा के आक्षेपों का उत्तर

(माधुरी संख्या ८० से संबद्ध)

कार्त्तिक (संवत् १६८५) मास की माधुरी के पृ० ५४६ से ५५५ तक फिर श्रीमान् श्रद्धेय ओझाजी का उत्तर प्रकाशित हुआ है। हम उसका प्रत्युत्तर देने की चेष्टा करते हैं।

लेखारंभ में ही स्वर्गीय मुंशीजी की झूठी दुहाई देकर ओझाजी लिखते हैं कि--

"मुंशी देवीप्रसादजी ने महाराणा उदयसिंह का जीवनचरित्र प्रकाशित किया है। उसमें महाराणा उदयसिंह को दी हुई राव मालदेव की सहायता का कोई उल्लेख नहीं है। इसी तरह मुंशीजी ने जोधपुर के राव मालदेव का भी जीवनचरित्र लिखा है; उसमें भी महाराणा उदयसिंह को राव मालदेव की सहायता देने का कहीं उल्लेख नहीं है।"

इसके बाद आपने नैणसी का आश्रय लेने की चेष्टा करते हुए लिखा है--

"मुहणोत नैणसी ने भी अपनी ख्यात में मालदेव की इस सहायता का उल्लेख नहीं किया। उसने तो यह लिखा है कि महाराणा उदयसिंह ने सोनगरे अखैराज की पुत्री से विवाह किया था, जिससे वह कूँपा महराजोत आदि मारवाड़ के राठोर-सरदारों को भी अपने साथ ले आया था।"

इस प्रकार श्रद्धेय मुंशीजी और नैणसी के लेखों से मनमाने अवतरण देकर आगे वीर-विनोद पर भी आपने छींटे उड़ाए हैं। श्रीमान् ने लिखा है--

"मुंशीजी ने भी, जो मारवाड़ के इतिहास के विशेषज्ञ थे, महाराणा उदयसिंह के जीवनचरित्र में लिखा है कि सोनगरे अखैराज ने, जिससे अपनी बेटी महाराणा उदयसिंह को ब्याही थी, १०,००० सोनगरों से उसकी सहायता की थी। उन्होंने यह भी लिखा है कि उदयसिंह ने दूसरी शादी राठोर कूँपा महरोज की पुत्री से की थी, जिससे उसने भी १५,००० राठोरों से उदयसिंह की सहायता की। इस पर से पाठक जान जावेंगे कि मुंशीजी और नैणसी की पुस्तकों में कहीं मालदेव की सहायता का उल्लेख नहीं है। रेऊजी ने उदयपुर के प्रसिद्ध इतिहास वीर-विनोद का अपने कथन की पुष्टि में हवाला दिया है, परंतु वीर-विनोद में इस संबंध में जो कुछ लिखा गया है, वह मारवाड़ की ख्यात से ही लिया हुआ होने के कारण विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता।"

अब हम पाठकों से पूछना चाहते हैं कि वयोवृद्ध ओझाजी, जो बात-बात में अपने को हरिश्चंद्र का अवतार और दूसरे को कलियुग की मूर्ति बतलाने का प्रयत्न करते रहते हैं, क्या कभी स्वार्थवश लोगों को धोका देने का विचार भी कर सकते हैं? कभी नहीं। ऐसे श्रद्धेय विद्वान् के लिये ऐसे भाव का चित्त में उठना ही पाप है। परंतु साथ ही यह भी कहना ही पड़ेगा कि स्वार्थदेव की महिमा भी अपार है।

श्रीमान् ओझाजी ने मुंशीजी के लिखे जिस उदयसिंहजी के जीवन-चरित्र का अपने लेख में उल्लेख किया है, वह मुंशी देवीप्रसादजी ने आज से ३४ वर्ष पूर्व (वि० सं० १६५०) में लिखा था। उसमें लिखा है--

"उदयसिंहजी ने जालोर के सोनगरों से मदद माँगी। उस वक्त सोनगरों का सरदार अखैराज मारवाड़ के राव मालदेवजी की सरकार में नौकर था; जिन्होंने मेवाड़ में दुराजा देखकर कई परगने उत्तर और पश्चिम के, जो मारवाड़ से मिले हुए थे, दबा लिए थे और राठोर कूँपा महराजोत को मदारिए में थानेदार रक्खा था। अखैराज राव मालदेवजी की मंजूरी से कूँपा महराजोत, राणा अखैराजोत और जैसा भैरूँदासोत वग़ैरा राठोर-सरदारों को लेकर उदयसिंहजी की मदद को आया।

"इन्होंने (उदयसिंहजी ने) चित्तौड़ में गद्दी पर बैठकर जब राठोर-सरदारों को सीख दी, तब राव मालदेवजी के वास्ते उस मदद के शुकराने में ४०,००० फ़ीरोज़ी और वसंतराय नाम का हाथी भेजा।"

महाराणा उदयसिंहजी के जीवनचरित्र के इन अव-तरणों को पढ़कर दो ही ख़याल पैदा हो सकते हैं कि या तो ये अवतरण झूठे हैं या श्रीमान् ओझाजी का बार-बार अपनी सचाई दिखलाना कुछ भी मूल्य नहीं रखता।

रही मुंशीजी के लिखे मालदेवजी के जीवनचरित्र की बात, सो एक तो यह चरित्र उन्होंने आज से क़रीब ३८ वर्ष पूर्व (वि० सं० १९४६) में लिखा था, और दूसरा वह इतना छोटा है कि उसमें १४-१४ अक्षरों की कुल १६१ पंक्तियाँ ही हैं। फिर उनमें भी केवल उनके और मुसलमानों के साथ के झगड़ों का ही संक्षिप्त वर्णन है।

आगे मुहणोत नैणसी का भी पूरा अवतरण देते हैं—

"(उदैसिंह) सोनगरा अखैराज रिणधीरोत री बेटी परणी हुतो। पछै अखैराज ने उदैसिंघ कहाडियो अखैराज घणो साथ लेने आयो। कूँपो मैहराजोत राणों अखैराजोत, भदो कन्ह पंचायणोत जेसौ भैर वदा सोत मारवाड़ रो सारो साथ लेने उदैसिंघरी मदत अखैराज आयो।"

इससे भी स्पष्ट प्रकट होता है कि पाली के ठाकुर अखैराज से उनके जामाता उदयसिंहजी ने सहायता की प्रार्थना की और वह कूँपा आदि के साथ ही 'मारवाड़रो सारो साथ' अर्थात् मारवाड़ की सारी सेना लेकर मेवाड़ पहुँचा। पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि क्या मारवाड़-नरेश का एक सामन्त उनकी आज्ञा के विना ही मारवाड़ की सेना को दूसरे के स्वार्थ के लिये देश के बाहर लड़ने को ले जा सकता था?

इसी प्रकार ओझाजी ने अपने मत की पुष्टि में मुंशीजी की विद्वत्ता की दुहाई देकर महाराणा उदयसिंह का विवाह कूँपा की लड़की से होना दिखलाया है और इसी बहाने से इन दोनों का आपस का घनिष्ट संबंध प्रकट करने की भी चेष्टा की है।

परंतु राजपूताना के इतिहास के पृ० ७१६ की तीसरी टिप्पणी में स्वयं आप अपनी ही लेखनी से इस संबंध का खंडन कर चुके हैं। आपने वहाँ पर लिखा है—

"मुंशी देवीप्रसाद ने लिखा है कि उदयसिंह ने दूसरी शादी राठोर-कूँपा (महराजोत) की लड़की से की थी, जिससे वह भी १५,००० राठोरों के साथ आ मिला परंतु नैणसी अखैराज का कूँपा को लाना लिखता और शादी का उल्लेख नहीं करता। मेवाड़ के बड़वे की ख्यात में भी जहाँ उदयसिंह की रानियों की नामावली दी है, वहाँ कूँपा की पुत्री का नाम नहीं है।"

इसी प्रकार आगे आपने अपने मत के विरुद्ध होने के कारण वीर-विनोद के प्रमाणों को भी मारवाड़ की ख्यातों के आधार पर लिखा बतलाया है। परंतु हमें जहाँ तक स्मरण है, आप स्वयं वीर-विनोद बनानेवाली कमेटी के मंत्री रह चुके हैं। अतः इस प्रकार मौक़े पर अपने ही किए पर पानी फेर देना विद्वानों को शोभा नहीं देता।

इतना लिखने के बाद हम माधुरी के पाठकों से साग्रह पूछना चाहते हैं कि कार्त्तिक की माधुरी के पृ० ५४१ के द्वितीय कालम में ओझाजी ने जो लिखा है कि "हम इस कथन को झूठी खुशामद के सिवा और कुछ नहीं समझते" यह किसके लिये अधिक ठीक हो सकता है?

आगे आपने हमारी निम्न-लिखित पंक्तियों पर आक्षेप किया है। हमने ज्येष्ठ की माधुरी में लिखा था कि—

"राजस्थान के इतिहास के प्रथम भाग की भूमिका के पृ० २२-२३ में मारवाड़ के मुहणोत नैणसी की लिखी ख्यात की ख़ासी प्रशंसा की गई है। पृ० २३ में तो यहाँ तक लिखा है कि वि० सं० १३०० के बाद से नैणसी के समय (वि० सं० १७२२) तक के राजपूतों के इतिहास के लिये तो नैणसी की ख्यात मुसलमानों की लिखी हुई तवारीख़ों से भी कहीं-कहीं विशेष महत्त्व की है। ....फिर क्या कारण है कि राव जोधाजी के इतिहास में उसी मारवाड़ की ख्यात के बारे में लिखा गया है कि वह ख्यात वि० सं० १७०० के पीछे की बनी हुई होने से उसमें पुराना वृत्तांत भाटों की ख्यातों के आधार पर लिखा गया है। अर्थात् वह झूठा है। यह परस्पर विरोधी मत कैसा। फिर यदि पिछली उक्ति नैणसी की ख्यात के बारे में नहीं है, तो उसमें का लिखा मारवाड़ के राव रणमल्ल, जोधा आदि का इतिहास क्यों न मान्य समझा जाय? क्योंकि यह इतिहास भी तो (वि० सं० १३०० के बाद का) वि० सं० १४५० का ही है।"

इस पर आक्षेप करते हुए ओझाजी लिखते हैं कि--

"वास्तव में यहाँ तो रेऊजी ने पाठकों की आँखों में धूल डालने में प्रशंसनीय चातुरी दिखलाई है।

'नैणसी की ख्यात और मारवाड़ की ख्यात दोनों भिन्न-भिन्न ग्रंथ हैं।

'ऐतिहासिक होने का दावा करनेवाले व्यक्ति के लिये ऐसी चेष्टाएँ कहाँ तक गौरवपूर्ण हो सकती हैं।

'नैणसी की ख्यात राजपूताने-भर की दूसरी सब ख्यातों से अधिक उत्तम है।

'नैणसी की ख्यात, टाडराजस्थान, वीर-विनोद आदि राजपूताने के इतिहास-संबंधी ग्रंथों में जो कुछ लिखा मिलता है, वह सबका सब ठीक है, यह कभी नहीं माना जा सकता; जिस पुस्तक का जो अंश इतिहास की कसौटी पर ठीक जँचे, वही हमें मान्य हो सकता है। नैणसी के संवत् १४९० के इतिहास के लिये भी कसौटी नियत है।"

परंतु पाठक देखें कि हमारे लेख का भी तो यही तात्पर्य है कि यदि ओझाजी का यह उल्लेख नैणसी की ख्यात के बारे में ही है, जो स्वयं वि० सं० १७०० के पीछे की बनी हुई है, तो यह उनका पूर्वापर विरोधी मत है। ऐसी हालत में लोगों की आँखों में धूल झोंकने का अपराध हम पर कैसे लगाया जा सकता है। ख़ैर, यहाँ पर हम श्रीमान् से दो बातें पूछना चाहते हैं। उनमें से पहली तो यह है कि नैणसी की ख्यात से भिन्नता बतलाते हुए जिस ख्यात का आपने उल्लेख किया है, उसका लेखक कौन है? और दूसरी यह कि नैणसी, वीर-विनोद और टाडराजस्थान में की जोधपुर और उदयपुर से संबंध रखनेवाली घटनाओं को आप किस कसौटी पर जाँचते हैं? क्या जिसमें जोधपुर की महत्ता और उदयपुर की न्यूनता हो, वह घटना झूठी और इससे विपरीत हो, वह सच्ची समझ ली जाय, यही आपकी कसौटी है? हमारी समझ में श्रीमान् को उचित तो यह था कि आक्षेपों का उत्तर देते समय उस कसौटी को और उसके जाँच के तरीक़े को भी आप जनता के सामने रखते। परंतु खेद है कि आपने इसके विपरीत मुंशीजी के लिखे महाराणा उदयसिंह के जीवनचरित-जैसे ग्रंथ के अवतरणों को भी किस बुरी तरह से काट-छाँटकर प्रमाणों में उद्धृत किया है, यह पाठकों ने देख ही लिया होगा। ऐसी हालत में यही लिखना पड़ता है कि न-मालूम कौन ऐतिहासिक होने का दावा कर लोगों की आँखों में धूल झोंक रहा है?

आगे श्रीमान् ने हम पर शिलालेख को झूठा कहने का घोरतर अपराध लगाया है।

ज्येष्ठ की माधुरी में अपने लेख को समाप्त करते हुए हमने लिखा था कि राणपुर के (वि० सं० १४९६ के) लेख से पाया जाता है कि "उस समय तक महाराणा कुंभा ने अपने भुजबल से ऊपर लिखे अनेक (१०) क़िले जीत लिए थे और गुजरात और देहली के सुलतानों ने डरकर उसे छत्र भेट किए थे। क्या ये बातें सच्ची समझी जा सकती हैं? उस समय महाराणा कुंभा की आयु केवल १२ वर्ष की होती है और यह उक्त (राजपूताने के) इतिहास के लेखानुसार राणा कुंभा के राज्य के ७ वर्षों का हाल है। तब क्या ५ वर्ष की आयु से ही उसने उपर्युक्त कार्य करने आरंभ कर दिए थे? अतः या तो यह उक्त लेख के रचयिता का ही प्रभाव है या प्रकारांतर से यह सब रणमल्ल के ही प्रबंध की प्रशंसा है; क्योंकि महाराणा के बालक होने के कारण वि० सं० १४९५ तक वही मेवाड़ का प्रबंध करता था और उसी वर्ष दुष्टों ने बालक महाराणा को बहकाकर धोके से उसे मार डाला।"

इसका उत्तर देते हुए श्रीमान् लिखते हैं कि इस लेख में के विजयों का उल्लेख अन्य शिलालेखों में भी मिलता है।

आपका लिखना बिलकुल सत्य है। परंतु हमारे उपर्युक्त आक्षेप का केवल इतना ही तात्पर्य था कि ५ वर्ष की अवस्था से १२ वर्ष की अवस्था तक महाराणा का अपने ही कौशल से १० क़िले विजय कर देहली और गुजरात के बादशाहों से छत्र भेट लेना नितांत असंभव-सा ही प्रतीत होता है, और यदि वास्तव में ये घटनाएँ हुई हों, तो इनका श्रेय मेवाड़-राज्य के प्रबंधक रणमल्ल को ही मिलना चाहिए।

स्वयं श्रीमान् ने भी राजपूताने के इतिहास के पृ० ५८३ के फुटनोट नं० १ में राज्य पर बैठते समय मोकल की अवस्था १२ वर्ष की मानी है। यदि १४७७ में ये गद्दी पर बैठे हों और इनकी १७ वर्ष की अवस्था में ही इनके पुत्र कुंभाजी का जन्म हुआ हो, तो उनका जन्म वि० सं० १४८२ में मानना होगा।

इसके अनुसार उपर्युक्त शिलालेख के लिखे जाने के समय कुंभाजी की अवस्था १४ वर्ष के क़रीब आयगी। ऐसी हालत में आपके मतानुसार भी ७ वर्ष की अवस्था से १४ वर्ष की अवस्था तक महाराणा कुंभा का अपने ही कौशल से उपर्युक्त कार्य कर गुजरना कैसे संभव हो सकता है। हाँ, यह सब मेवाड़-राज्य के संरक्षक रणमल्लजी के सुप्रबंध और कौशल का नतीजा माना जाय, तो इसमें किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती।

इसके अलावा इसी लेख में जो देहली के बादशाह द्वारा राणा कुंभा को छत्र भेट किए जाने का उल्लेख है, उसे तो हम अब भी चंडूख़ाने की ग़प्प ही समझते हैं। इसी प्रकार इस लेख में जो बप्प को गुहिल का पिता लिखा है, उसे तो श्रीमान् भी अपने राजपूताने के पवित्र इतिहास के पृ० ४०७ में झूठ मान चुके हैं।

यहाँ पर हम श्रीमान् के लेख से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं--

"इतिहास में बड़े और छोटे का कोई प्रश्न नहीं है।* उसको लिखने के लिये हठधर्मी को छोड़कर निष्पक्षपात गवेषणा तथा पुष्ट प्रमाणों की आवश्यकता रहती है।"

पाठक देखें कि श्रद्धेय ओझाजी ने अपनी ही लिखी इन पंक्तियों का कहाँ तक पालन किया है।

आगे श्रीमान् लिखते हैं कि--"लेखांत में भवभूति या विल्हण के ग्रंथों से श्लोक लिख देने से उसका महत्त्व नहीं बढ़ जाता।"

वास्तव में आपका लिखना यथार्थ है। लेखांत में तो "माधुरी में प्रकाशित रेऊजी का यह सारा लेख प्रमाण-शून्य है।"+

इस प्रकार का फतवा देने से ही उसकी महत्ता बढ़ती है।

इसके बाद श्रीमान् लिखते हैं कि--

"रेऊजी का यह लेख इतिहास की शुद्धि के लिये नहीं बल्कि उसे भ्रष्ट करने के उद्देश्य से लिखा गया है। इतिहास-विषय में हमारे ही शिष्य होने के कारण रेऊजी के ऐतिहासिक ज्ञान से हम खूब परिचित हैं।"

* माधुरी (कार्त्तिक) पृ० ५५०, कालम २।

\+ माधुरी (कार्त्तिक) पृ० ५५१, कालम १।

इस पर हमारा नम्र निवेदन है कि अब तो माधुरी के पाठक स्वयं ही निर्णय कर लेंगे कि वास्तव में अथवा लोभवश इतिहास को भ्रष्ट करने का प्रयत्न किससे हो रहा है।

रही हमारी आपसे प्राचीन लिपि सीखने की बात, सो हम तो वि० सं० १९८२ की श्रावण की माधुरी में आपके इतिहास की समालोचना करते समय स्वयं ही इसका उल्लेख कर चुके हैं। परंतु श्रीमान् ने जो हमारे इतिहास-ज्ञान के परिचय की बात लिखी है, सो वह तो श्रीमान् और स्वर्गीय श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरीजी द्वारा नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के लिये लेख भेजने के तकाज़ों में लिखे अनेक पत्रों से प्रकट ही है। इसके अलावा श्रीमान् की कृपा के फलस्वरूप इन परस्पर की लेखमालाओं से अब तो इसका थोड़ा बहुत परिचय शायद हिंदी-संसार को भी हो जायगा।

यहाँ तक तो श्रीमान् ओझाजी का उत्तर पक्ष था। परंतु यहाँ से आपका पूर्व पक्ष प्रारंभ होता है।

पहलेपहल आप राठोरों और गाहड़वालों के भिन्न-वंशी होने का उल्लेख करते हुए लिखते हैं--

"अब तक के शोध से ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिला, जिसके आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सके कि गाहड़वाल और राठोर एक ही वंश के हैं।"

यह कितनी कमज़ोर उक्ति है। क्या आपको अब तक एक भी ऐसा प्रमाण मिला है, जिसके आधार पर आप निश्चित रूप से इनको भिन्न-वंशी सिद्ध कर सकें।

आगे आपने हमसे ३ प्रश्न किए हैं--

पहला प्रश्न--१६०० के पूर्व के राठोरों के किसी शिलालेख, ताम्रपत्र अथवा ऐतिहासिक ग्रंथ में कहीं भी उनका सूर्यवंशी होना नहीं लिखा है। धमोरी अमरावती से मिले कृष्णराज के सिक्के, जिन पर 'महादित्य पादानुध्यात' लिखा है, कृष्ण तृतीय के हैं और उसमें का 'महादित्य' पद या तो उसके पिता के नाम का या उपाधि का द्योतक है।

उत्तर--वास्तव में आपका लिखना ठीक ही है। परंतु राष्ट्रकूट गोविंदराज तृतीय के श० सं० ७३० (वि० सं ८६५) के राधनपुर से मिले दानपत्र में लिखा है--

"यस्मिन्सर्वगुणाश्रये क्षितिपतौ श्रीराष्ट्रकूटान्वयो
जाते यादववंशवन्मधुरिपावासीदलंघ्यः परैः।"

अर्थात्—जिस गुणी राजा के उत्पन्न होने पर राष्ट्रकूट-वंश, श्रीकृष्ण के उत्पन्न होने पर यादववंश की तरह, शत्रुओं से अजेय हो गया था।

इससे ज्ञात होता है कि वि० सं० ८६९ तक राष्ट्रकूट-वंश यदि सूर्यवंशी नहीं समझा जाता था, तो भी यादव-वंश से तो अवश्य ही पृथक् समझा जाता था। पर पीछे से अमोघवर्ष प्रथम के श० सं० ७८२ के दानपत्र के लेखक ने राधनपुरवाले लेख में के यादववंश के उपमान और राष्ट्रकूट-वंश के उपमेय भाव को न समझ इस वंश को यादववंशी लिख दिया होगा तथा पिछली प्रशस्तियों के लेखकों ने और हलायुध ने उसी का अनुकरण कर लिया होगा।

कृष्णराज के सिक्के प्रथम कृष्णराज के हैं या तृतीय के, इस विषय में यद्यपि दोनों पक्षों के पास कोई प्रमाण नहीं है, तथापि भारतीय पुरातत्व-विभाग ने उन्हें कृष्ण प्रथम का ही अनुमान किया है। इस विषय का उक्त विभाग के डिपटी डाइरेक्टर जनरल का पत्र हमारे पास मौजूद * है। रही 'पादानुध्यात' के अर्थ की बात, सो ओझाजी ने इसका शब्दार्थ 'चरणों का ध्यान करनेवाला' लिखकर आगे लिखा है कि "संस्कृत-शिला-लेखों तथा ताम्रपत्रों में 'पादानुध्यात' शब्द से पूर्व का नाम उक्त शब्द से पिछले नामवाले राजा के पिता (या पूर्वाधिकारी) के नाम अथवा विरुद का सूचक होता है। महादित्य कृष्णराज के पिता का विरुद होना चाहिए, न कि वंशसूचक शब्द।"

हमारा श्रीमान् से नम्र निवेदन है कि आप कृपा कर कृष्णराज के पिता के अथवा उसके वंशजों के लेखों या ताम्रपत्रों में दिए हुए विरुदों में कहीं भी इस विरुद का उल्लेख बतला दें। हम तत्काल आपके मत को स्वीकार करने को उद्यत हैं। परंतु इसके विरुद्ध कपोलकल्पना-मात्र से या कसौटी का नामोल्लेख-मात्र कर देने से तो काम नहीं चल सकेगा। हमारे ख़याल में तो राष्ट्रकूट-राजाओं के विरुदों में इसका उल्लेख कहीं भी नहीं हुआ है। ऐसी हालत में 'परममाहेश्वरमहादित्यपादानुध्यात श्रीकृष्णराज' का सीधा अर्थ यही होगा कि 'परमशिव-भक्त सूर्य का अनुगामी श्रीकृष्णराज'। यहाँ पर अनुगामी से पिता का पुत्र के समान अनुगमन करनेवाला अर्थात् वंशज ही मानना होगा। थोड़ा-सा विचार करने से स्वयं ओझाजी के ऊपर उद्धृत किए अर्थ से भी इसकी पुष्टि हो जायगी। क्योंकि जब 'महादित्य से कृष्णराज के पिता का कोई संबंध स्थिर न हो सकेगा, तब इससे कृष्णराज के मूल-पुरुष का ही संबंध मानना होगा'।

हमने जो राष्ट्रकूटों का आदि में सूर्यवंशी होना माना है, वह उनको और गाहड़वालों को एक अनुमान करके ही माना है। इसकी पुष्टि में हमारा निवेदन इस प्रकार है—

बदायूँ के राष्ट्रकूट लखनपाल के लेख में के चंद्र और गाहड़वाल चंद्र के कार्यों पर विचार करने से अनुमान होता है कि ये दोनों चंद्र एक ही थे। पहलेपहल राठोर चंद्र ने बदायूँ लेकर शीघ्र ही कन्नौज पर भी अधिकार कर लिया होगा। इसके बाद उसके बड़े पुत्र मदनपाल को तो कन्नौज का राज्य और छोटे पुत्र विग्रहपाल को बदायूँ की जागीर मिली होगी तथा कुछ काल में प्रतापी हो जाने से कन्नौज के राज्याधिकारी गाहड़वाल के नाम से प्रसिद्ध हो गए होंगे।

वास्तव में देखा जाय, तो सूर्य, चंद्र और अग्निवंशों का यह झगड़ा पौराणिक कल्पना-मात्र ही है।

दूसरा प्रश्न—"नहीं कह सकते कि राष्ट्रकूटों और यादवों में परस्पर विवाह होने से ही चंद्रवंशी राठोर सूर्यवंशी कैसे बन सकते हैं।"

उत्तर—राष्ट्रकूटों के वंश पर विचार करते हुए हमने इसे भी केवल अन्य दलीलों के साथ एक दलील मान-कर ही पेश किया है।

तीसरा प्रश्न—"अब रही राठोरों के द्वारिका के निकट रहने के कारण इन पर वैष्णव-मत का विशेष प्रभाव पड़ने और कालांतर में लोगों के इनको यदुवंशी समझने की बात। क्या वे बतला सकते हैं कि राठोर कब तो द्वारिका के पास रहे और कब तथा किन लोगों ने उन्हें सूर्यवंशी से चंद्रवंशी मान लिया। रेऊजी के कथनानुसार यदि लोगों ने उन्हें चंद्रवंशी मान लिया होता, परंतु राठोर यदि चंद्रवंशी न होते, तो वे अपने अनेक ताम्रपत्रादि में अपने को चंद्रवंशी कैसे लिख देते। कई राजा वैष्णव-धर्म के परम भक्त रहे हैं, परंतु ऐसी

* पत्र का नंबर २१—६१७४/५७०० और ता० २१-११-
[illegible] है।

भक्ति के कारण उनके वंश का कभी परिवर्तन नहीं हुआ।"

उत्तर—बौधायन-धर्मसूत्र और श्रौत्रसूत्र में तथा महाभारत * में आरट्ट देश का उल्लेख मिलता है। इनमें के अंतिम ग्रंथ से ज्ञात होता है कि पंजाब का ही एक प्रदेश आरट्ट कहाता था और वहाँ का राजा शल्य था। कालांतर में यही आरट्टवासी लोग रटक, रट्ट, रस्टिक या राष्ट्रकूट के नाम से प्रख्यात हुए।

इससे अनुमान होता है कि ये लोग उत्तर-पश्चिम से ही दक्षिण में गए होंगे। इन्हीं की एक शाखा ने पहले कन्नौज में भी अधिकार कर लिया था। इसका प्रमाण सोलंकी त्रिलोचनपाल के श० सं० ६७२ (वि० सं० ११०७) के ताम्रपत्र के इस श्लोक से भी मिलता है—

कान्यकुब्जे महाराज ! राष्ट्रकूटस्य कन्यकाम्।
लब्ध्वा सुखाय तस्यां त्वं चौलक्याप्नुहि सन्ततिम् ॥ ६ ॥

अर्थात्—हे चौलुक्य ! कन्नौज में राष्ट्रकूट राजा की कन्या से विवाह कर तू अपने वंश की वृद्धि कर।

द्वारका के निकट रहने के विषय में हम सम्राट् अशोक की, गिरनार-पर्वत पर खुदी, पाँचवीं धर्माज्ञा को उपस्थित कर सकते हैं। उसमें रिस्टिक नाम से इन राष्ट्रकूटों का उल्लेख आया है। यद्यपि उसमें इनके वहाँ पर रहने का कोई उल्लेख नहीं है, तथापि मानसेरा शाहबाज़गढ़ी और जूनागढ़ के लेखों + में ही इनका नाम होने से अनुमान होता है कि उत्तर-पश्चिम के मानसेरा और शाहबाज़गढ़ी की तरह जूनागढ़ से भी उस समय इनका कुछ-न-कुछ संबंध अवश्य ही रहा होगा। इसके अ[लावा] संभव है, किसी अन्य कारण से ही इन पर वैष्णव-[मत] का प्रभाव पड़ गया हो। इस पक्ष के समर्थन में वि[क्रम] की सातवीं शताब्दी के क़रीब का राष्ट्रकूट [राजा] अभिमन्यु का ताम्रपत्र उद्धृत किया जा सकता [है।] उसकी मुहर में सिंहवाहिनी अंबिका की मूर्ति बनी [है।] परंतु राष्ट्रकूटों के पिछले ताम्रपत्रों में इसका स्थान [गरुड़] ने ले लिया है। किसी भी कारण से हो इनके प्रशस्ति-कार इन्हें श० सं० ७८२ (वि० सं० ९१७) के [बाद] से ही स्पष्टरूप से यदुवंशी लिखने लगे थे।

रही राठोरों के इस बात को क़बूल करने की बात, [सो] ओझाजी के मतानुसार उदयपुर-नरेश कुंभा के [...] सूर्यवंशी क्षत्रिय होने पर भी उसकी स्वरचित गीतगो[विंद] की टीका (रसिकप्रिया) में उसने अपने मूल-पुरुष [...] का बैजवाप-गोत्री ब्राह्मण होना लिख दिया है। यथा—

"श्रीवैजवापेन सगोत्रवर्यः श्रीबप्पनामा द्विजपुङ्गवोऽभू[त्]"

मत के प्रभाव के कारण वंश-परिवर्तन का उदाह[रण] भावनगर का गोहिल-वंश है। जिस समय इस वंश[के] लोग मारवाड़ में रहते थे, उस समय सूर्यवंशी स[मझे] जाते थे। परंतु भावनगर में चले जाने के बाद से [चंद्र]वंशी माने जाने लगे हैं।

इसके अलावा श्रद्धेय ओझाजी ने हलायुध के [कवि-]रहस्य से और कृष्णराज तृतीय के श० सं० [...] (वि० सं० १०१५) के ताम्रपत्र से राष्ट्रकूटों का [चंद्र]वंशी होना लिखा है। ये दोनों प्रमाण वि० सं० [...] के बाद के हैं। इसका खुलासा पहले किया जा चुका [है।]

जिनको इस विषय में अधिक देखना हो, वे गत [...] मास की सरस्वती में या हमारे भारत के प्राचीन [राज]वंश-नामक इतिहास के तृतीय भाग में देख सकते हैं।

विश्वेश्वरनाथ [...]

---

* महाभारत, कर्णपर्व, अध्याय ४३, श्लोक ३१–३३।

\+ धवली के लेख में भी 'लथिक' शब्द से राष्ट्रकूटों का उल्लेख हुआ है। अतः ज्ञात होता है कि उस समय इनका संबंध उड़ीसा-प्रांत से भी रहा होगा।

तुम्हारी याद

मन से तुमको सदा माने रहे हम गाते तुमारेई गाने रहे,
मिलने को तुम्हें किया क्या-क्या नहीं नए रोज़ ही रोज़ बहाने रहे।
मुखचन्द्र के चक्र चकोर बने दृगवानन के ही निशाने रहे,
तुमने जब से दिल ले लिया है तुम पै दिन-रात दिवाने रहे।

× × × ×

किससे कहैं क्या कहैं क्या है कहे विरहानल में दिल दाहा किए,
छण एक को जो मिले स्वप्न में तो उसी स्वप्न को जी से सराहा किए।
फँसके इस प्रेम के मारग में बस नेह का नाता निबाहा किए,
चित में धरे चौगुना चाव सदा तुम्हें चौगुनी चाह से चाहा किए।

× × × ×

कभी डूबें निराश के सागर में, कभी आशसरों में तिरा करते हैं,
अरमान हिए में भरे हुए हैं बनके वह आँसू गिरा करते हैं।
तसवीर सदा दिल में रहती अभिलाष के मेघ घिरा करते हैं।
मुँह फेरने से अब होता है क्या, जब वे नज़रों में फिरा करते हैं?

× × × ×

इस विश्व की सारी विभूतियों को कुछ तुच्छ ही चित्त ते चीते रहे,
द्विज चक्र सनेह के सागर में रस प्रेमपियूष को पीते रहे।
कभी होगा सँयोग अवश्य ही जो ये वियोग के बासर बीते रहे,
बरते विरहानल ही में रहे पर औधि की आश में जीते रहे।

चक्रधर अवस्थी

रक्षा-बंधन

(१)

दफ़्तर से आते ही नित्यप्रति की भाँति आज भी सुरेश अपनी मा के कमरे में गए। वहाँ का दृश्य देखकर वे चकरा गए—मा कराहती हुई पड़ी थीं। उनकी आँखों से आँसू श्रावण के मेंह की भाँति गिर रहे थे। घबराई हुई आवाज़ में पूछा—मा, तुम्हें क्या हो गया है?

मा ने रोते-रोते उत्तर दिया—बेटा! आज मेरे शरीर में असह्य पीड़ा है। इससे अधिक उनसे बोला न गया। हाँ, आँसुओं का प्रवाह और भी बढ़ गया।

"अच्छा, मैं अभी डाक्टर को बुलाए लाता हूँ"—यह कहकर उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही वे कमरे से बाहर हो गए। मा कुछ कह न सकी।

सुरेश कुलीन घराने के हैं। जब वे पढ़ा करते थे, उनके एक मित्र थे, जिनका नाम केशव था। केशव उनसे प्रति दिन अपनी घर की स्त्री-कलह की कथा सुनाया करते थे। सुरेश को वह कथा सुनकर आश्चर्य होता था। वे कहते—भाई इसका सारा दायित्व स्त्री पर ही नहीं है। यदि पति स्त्री को अपने प्रेम-पाश में फँसा ले, तो स्त्री की क्या मजाल कि वह जीभ डोलावे। केशव कहते—नहीं भई, तुम ग़लती करते हो। ईश्वर न करे, किसी के यहाँ कर्कशा स्त्री हो जाय। नहीं तो उसका सम्हालना टेढ़ी खीर हो जाता है। किंतु कोई कितना भी सिर मारे, सुरेश इस बात को मानने के लिये तैयार न थे। भाग्यवश उनका ब्याह एक सुशीला स्त्री से हो गया था। उन्हों उसे प्रेम से इतना जीत लिया था कि वह उन हाथ की कठपुतली बनी हुई थी। वे उसे जै ही नचाते थे, नाचती थी। उनकी सबसे पह शिक्षा यह हुई थी कि मा को किसी प्रकार कष्ट न होने पावे—मा की इच्छा के प्रतिकू कोई काम न करना। उनकी यह बात सर्व रामा के मस्तिष्क में नाचा करती थी। सवेरे शाम तक घर के काम-धंधे करती। रसो बनाती। प्रेम-पूर्वक सबको खिलाती-पिलाती रात को सबको सुलाकर तब सोने जाती। सो जाने के पूर्व मा का पैर दबाना वह अपना नित प्रति का कर्तव्य कर्म समझती थी। जिस दि मा पैर दबाने से इनकार कर देतीं, उस दिन उ ऐसा ज्ञात होता, मानो कुछ भूल रही हो।

यह सब देखकर सुरेश को बड़ी प्रसन्न होती। यदि रामा से कभी छोटे-मोटे अपरा हो भी जाते, तो सुरेश उस पर ध्यान न दे यहाँ तक कि वे उसकी चर्चा भी न कर मानो वे उनके कर्ण-पुट में पड़े ही नहीं। उन ऐसे बर्ताव देखकर कुछ दिनों से रामा विश्वास होने लग गया था कि उसके अतिरि और किसी दूसरे को सुरेश प्यार नहीं कर बात भी कुछ अंशों में सच थी। रामा में को दोष न था। यदि दोष था, तो यह कि वह सो कर देर से उठा करती थी।

एक दिन सुरेश बिना खाए हुए ही दफ़्त चले गए। मा को ज्ञात हुआ, तो सारा शरी

वात्सल्य-रस से डूब गया। जब तक रामा नहीं आई थी, मा को अपने हाथ से रसोई पकानी पड़ती थी, सुरेश को कभी बिना खाए हुए न तो स्कूल जाना पड़ा और न दफ़्तर। मा से न रहा गया। वे रामा के पास गईं, और बोलीं—आज सुरेश दफ़्तर भूखा ही चला गया है। वह बड़ा सुशील है। कुछ नहीं बोलता। तुम्हारी सारी आदतें अच्छी होते हुए भी देर से सोकर उठने की आदत बहुत ही बुरी है। बहू-बेटियों को घर में सबसे पहले उठना चाहिए, नहीं तो बड़ी हँसी होती है।

यह कोई ऐसी बात न थी। कोई भी ग़लती होने पर उसकी ओर संकेत करना मा अपना कर्तव्य समझती थीं। बहू भी उस पर कभी कुछ न कहा करती थी। साधारण बातें कह-कर मा का प्रबोधन कर देती थी। किंतु न-जाने आज उसकी कैसी मनोवृत्ति थी। वह अपने को संवरित न कर सकी। उसे मा की बात ईर्ष्या-पूर्ण जँची। उसने चुटीली सर्पिणी की तरह घड़े से पानी उड़ेलते हुए कहा—ईश्वर जिसको सुलाता है, वही सोया करता है। मेरी लड़कपन की जो आदत पड़ी है, वह न छूटेगी।

मा ने कहा—बहू! लड़कपन की बहुत-सी बातें छोड़नी पड़ती हैं। इस आदत से निर्वाह न होगा। मैं तुम्हारी यह बुरी आदत नहीं देख सकती।

रामा ने ज़रा सरुष होकर कहा—मई, मैं तो कह चुकी कि मेरी यह आदत न छूटेगी। जिसे मेरा सोना अच्छा न लगे, वह आँख-कान बंद कर ले।

मा ने सोचा, आज बहू की मनोवृत्ति ठीक नहीं है। बात बढ़ जायगी। आज यदि इसका मुँह खुल जायगा, तो कल उसे बंद करना कठिन होगा। अस्तु, वे चुपचाप अपने कमरे में चली गईं और सुरेश के कपड़े जो इधर-उधर फैले थे, ठीक करने लगीं। मा के इस व्यापार से रामा को क्षोभ नहीं हुआ, प्रत्युत वह उभड़ उठी। उसने समझा मुँहतोड़ जवाब पाकर बुढ़िया दब गई है। अब ढेले का उत्तर ढेले से ही देने में ठीक होगा अन्यथा यह मुझे लड़की ही समझकर मुझे कोसा करेगी। मेरे पैर में वह ज़ंजीर पड़ जायगी, जिसके कारण मैं कभी अपने मन की न करने पाऊँगी। मैं पतोहू हूँ सही, लेकिन इस-लिये नहीं हूँ कि दिन-भर मुझे धौंस बतलाती रहे। सबके घर में बेटी-बहुएँ हैं, लेकिन ऐसा तो कोई नहीं खाए लेता।

(२)

मनुष्य की जब तक ज़बान न खुले, तभी तक ग़नीमत है। एक बार खुल जाने पर फिर उस-का रोकना कुछ अंशों में असंभव-सा हो जाता है। यही दशा रामा की हुई। जो रामा मा की बात सुनकर सहम जाती थी—बात पेट से निकल-कर कंठ में रुक जाती थी—वही रामा अब मा के एक कहने पर २१ कहती है। मा चाहे जिस भावना से जो बात कहें, किंतु रामा सर्वदा उसका अनर्थ करके अपने ऊपर घटित करती है और उसे अपने ऊपर ताना समझती है। उत्तर में गालियाँ बकती है। सारांश, जो भवन कुछ दिन पूर्व शांति-निकेतन बना हुआ था, वह अब कलह-भवन बना हुआ है। उठते-बैठते मा को रामा से गाली और ताने सुनने पड़ते हैं।

मा की कई बार इच्छा हुई कि बहू के व्यापार सुरेश से प्रकट कर दें। कभी-कभी तो वे यहाँ तक कर बैठी हैं कि रामा की शिकायत करने के लिये

सुरेश को अपने कमरे में बुलाया है, किंतु बात मुँह से नहीं निकल सकी है। वह सोचतीं कि यदि सुरेश से मैं कह दूँगी, तो वह बहू को दंड देगा। बहू रोवेगी। उसकी आत्मा मुझे कोसेगी। मुझे संताप होगा। जिन्हें मैं अपने प्राणों से अधिक मानती हूँ, उनके जीवन में दुख के बादल उमड़ पड़ेंगे। स्त्री-पति में यदि मनोमालिन्य हो गया, तो मैं विधाता के सामने क्या उत्तर दूँगी? वह गाँव में तो लड़ने नहीं जाती, मुझे ही जो कुछ कहती है, कहती है। यह अभी उसका लड़कपन है। जब उसे मेरा प्यार ज्ञात हो जायगा, सुरेश की तरह वह भी मुझे कभी कुछ नहीं कहेगी। उसे कभी-कभी यह भी आशंका होती कि सुरेश रामा को बहुत प्यार करता है। कहीं वह यह न सोच बैठे कि मा को मेरे प्यार से ईर्ष्या है, तब तो मुझे डूबने के लिये कहीं चुल्लूभर पानी भी न मिलेगा। यही सब सोच-सोचकर मा रह जातीं। उन्होंने कभी रामा की शिकायत नहीं की।

बेचारे सुरेश को इन बातों का पता ही न था। करते तो क्या करते? वे रामा से उसी प्रकार मिलते-जुलते। जब वे रस-वश रहते, रामा उनका भेद लेने के लिये कहती—आज-कल मा की सेवा से जी नहीं ऊबता। दिन-रात उन्हीं के कोठे में बातें होती रहती हैं। बड़ी देर तक भेंट न होने से मेरे दिल पर कैसी बनती है, इसका आपको क्या पता? जब मैं अविवाहिता थी, मेरी सखियाँ मर्दों की बेरहमी का क़िस्सा सुनाया करती थीं। इस पर मुझे विश्वास नहीं होता था। अब वह आँखों देख रही हूँ। मैं यह नहीं कहती कि आप मा के पास न जायँ, पर आप केवल उनके ही होकर न रहें। मेरे हृदय को भी ताकना आपका कर्तव्य है। मैं भी आपकी हूँ। सुरेश परिस्थिति से अनभिज्ञ थे, रहस्य को कैसे समझते? वे इसे प्रेम की ही बेचैनी समझते थे। अतः उसके इन बातों का बहुत ही मधुर और रसभरे शब्दों में उत्तर देकर उसका मुँह बंद कर देते थे।

इधर रामा सोचती कि यह कब संभव है कि मैं मा से इतनी तनी रहूँ और इन्हें पता न हो। ये सब बातें जानते हैं। लेकिन मेरे पैरों में बेड़ियाँ नहीं डालना चाहते। उनका हृदय उदार है। वे मेरी निर्दोषता अच्छी प्रकार समझते हैं। वे इन झंझटों में पड़ना ही नहीं चाहते, इसलिये सुनी अनसुनी करते जा रहे हैं। उसके हृदय में कभी-कभी यह भाव भी स्थान पाता था कि मैंने उन्हें प्रेम से जीत लिया है। वे मेरे प्रेम के भूखे हैं। मुझे दुख नहीं देना चाहते। वे अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं। उनके जीवन की एकमात्र सुख-सामग्री मैं ही हूँ। माता का आदर लोकाचार है। उसमें आडम्बर है। मेरा प्यार सच्चा है। इसमें स्वाभाविकता है। यदि ऐसा नहीं है, तो फिर क्यों मुझे विफलमनोरथ नहीं होना पड़ता।

(३)

बहुत दिन बीत गए। रामा की गोद एक पुत्र से भर गई। बहुत परिवर्तन हुए। उन परिवर्तनों के साथ कलह का भी रूप परिवर्तित हो गया। जो अब तक वाग्बाणों से प्रदर्शित होता था, अब क्रियात्मक हो गया। मा को बुढ़ापे में खाने-पीने में भी कष्ट होने लगा। हृदय-वेदना मुँह से निकाल देने से कुछ घट-सी जाया करती है, किंतु बुढ़िया के लिये यह साधन भी न था। पुत्र की प्रकृति परिवर्तन की आशंका से सुरेश से तो कुछ कह नहीं सकती थी और दूसरे

से अपना दुखड़ा रोना पाप समझती थी। उसका कोई साथी न था, कोई समवेदना प्रकट करनेवाला न था, प्रबोधन और आश्वासन देनेवाले का भी अभाव था। इस कठिन समय में उसका यदि कोई साथी था, तो वे थे अविरल आँसू। इसके अतिरिक्त भी दुख शांत करने का साधन एक और था और वह बहुत सच्चा तथा प्रबल था। वह था रामा का पुत्र। जिस समय मा उसे पा जातीं, उस समय संसार का सारा दुख, सारा मनोमालिन्य, सारा मनस्ताप हवा हो जाता। उस समय उन्हें वह शांति मिलती, जो शायद ही किसी को नसीब होती है।

एक दिन रात्रि में मा उसे लिए खेला रही थीं। खेलाते-खेलाते लड़का ऊँघने लगा। यद्यपि रामा ने उसे दिन डूबते खाना खिला दिया था; किंतु मा को विदित न था। उनकी समझ में लड़का भूखा सोया जा रहा है। उन्होंने दबी ज़बान से रामा को सुनाकर कहा—आज लड़का भूखा ही सोया जा रहा है। रामा ने इस बात पर कुछ भी ध्यान न दिया। मा की व्याकुलता बढ़ रही थी। उन्होंने फिर कहा—दिन-भर का भूखा लड़का यदि सो जायगा, तो मर रहेगा। ऐसा लड़का है कि यदि एक बार सो गया, तो जगाने से नहीं जगता। सुरेश न-जाने कब तक आवे।

रामा रसोई पका रही थी। उसने इस सीधी-सी बात पर बड़ा तूल बढ़ाया। उसने सोचा—लड़के को हटाने का बहाना है। फिर क्या था! वाग्बाण-वर्षा प्रारंभ हो गई—मैं तो पचासों बार कह चुकी कि मेरा लड़का भारू नहीं है। जिसे वह न अच्छा लगे, वह छुए ही नहीं। फिर क्यों कोई ममत्व दिखलाता है?

मा ने कहा—रामा, तुम व्यर्थ में बिगड़ रही हो। मुझे नहीं मालूम है कि लड़का खाए है या नहीं? मुझे लड़का भारस्वरूप नहीं है। वह तो मेरी आँखों की पुतली है। मेरी इस पर सुरेश से कम ममता नहीं है।

रामा ने कहा—मैं जानती हूँ, जो जिसे जितना मानता है। व्यर्थ बकने से कोई लाभ नहीं। जो मेहनत करके खिलाता है, वही जब आँखों से गिर गया, तो लड़के की क्या बिसात!

बात ख़तम भी न होने पाई थी कि लड़का रोने लगा। लड़के का रोना क्या था, बारूद के लिये धधकती हुई आग की चिनगारी था। रामा बाज़ की तरह रसोईघर से झपटी हुई आई और मा को ज़ोर का एक धक्का देकर लड़के को छीनकर चली गई, और कह गई—आज से तुझे सौगंध है, यदि मेरे लड़के को छू। तू डायन है। मेरे लड़के को लेकर ही छोड़ेगी।

मा ने आज तक ऐसा धक्का कभी नहीं खाया था। फिर भी वे धक्के की चोट को किसी सीमा तक सह सकती थीं। तिरस्कार के आघात ने मा को अशांत कर दिया। वे फूट-फूटकर रोने लगीं।

जब सुरेश का विवाह नहीं हुआ था—रामा नहीं आई थी—मा ने कल्पना का एक भवन बनाया था। हाय! वह कितना विस्तृत! कितना विशाल! कितना व्यापक! कितना दृढ़ था! उसमें संसार के सभी सुख और आमोद-प्रमोद केन्द्रित थे। बहू आवेगी। पैर दबावेगी। धोती फींचेगी। मेरी अँगुलियों पर नाचेगी। मैं उस पर बनावटी क्रोध प्रकट करूँगी। उसे वह सच मानकर दुखी हो जायगी। पहले मैं रूठी रहूँगी। लेकिन जब भोजन का समय आवेगा और वह खाना न खायगी, तो मैं उसको अपनी गोद में

लेकर समझाऊँगी। इस पर उसे बुरा लगेगा। वह रोने लगेगी। मैं उसके आँसू अपने अंचल से पोछूँगी। उसे खाना खिलाने के लिये पकड़ ले जाऊँगी। एक तश्तरी में सान दूँगी। वह लज्जित होकर मेरे पैरों पर सिर रख देगी। मैं उठाकर छाती से लगा लूँगी। इसके बाद अपनी बीती कह सुनाऊँगी। जब वह खाने लगेगी, मैं उठ आऊँगी। अपनी खाट पर बैठकर रानी की तरह हुक्म दूँगी। वह सिर के बल उनका पालन करेगी। जब ईश्वर उसकी गोद भरेगा, तब फिर मैं खाने-भर के लिये खाट के नीचे आऊँगी, नहीं तो रात-दिन बालक को लिए खाट पर बैठी रहूँगी।

कुछ दिन तक अपने को सफलमनोरथ होते देखकर प्रसन्न हुई थीं। अपने सारे मंसूबे एक-एक करके बरत रही थीं। उस दुखिया को कब पता था कि उसके ये सुख-स्वप्न ख़ाक में मिल जायँगे। सेवा कराना तो दूर रहा, उलटी सेवा करनी पड़ेगी। इतने पर भी देवी प्रसन्न न होंगी। अपनी थाली अपने हाथ धोनी पड़ेगी। इतना ही नहीं, मार भी सहनी होगी। कहना न होगा कि इन विचारों का जैसे ही प्रवाह आया, वैसे ही अनुताप भी बढ़ गया। आँखों ने भी ख़ूब उदारता दिखलाई, ख़ूब साथ दिया।

(४)

जब सुरेश मा को देखकर डाक्टर को बुलाने जा रहे थे, मार्ग में केशव से भेट हो गई। केशव अभी सुरेश ही के घर से आ रहे थे। ये सुरेश के घर में मिलने गए हुए थे। दरवाज़े पर पहुँचते ही इन्होंने रामा का दुर्गा-रूप देखा। वे स्त्री-स्वभाव के पंडित थे, इसलिये घर के अंदर तो न घुसे, किंतु वहीं पर खड़े-खड़े सारा दृश्य देखा। केशव को देखकर मा का शोक और भी उमड़ पड़ेगा, यह सोचकर वे अंदर न जाकर वापस चले आए। जब सुरेश से भेट हुई, पहले तो उन्होंने सोचा, सुरेश को बतलाना व्यर्थ है। वे कुछ कर नहीं सकते। मेरे मुख से सब हाल सुनकर इन्हें अपनी पुरानी बातों का स्मरण आ जायगा, जिसके कारण ये लज्जा ग्लानि और क्रोध से गड़ जायँगे। किंतु सहसा उन्हें मा का, जिसकी गोद में कई बार आँसू बहा चुके थे और वक्षःस्थल से लगकर शांति-लाभ किया था, जिसे उन्होंने कभी दुखी न देखा था, स्मरण हो आया। वे लाख प्रयत्न करने पर भी अपने को संवरण न कर सके, और बोले—

"मैं पहले ही कहता था कि ब्याह न करो। संसार की सारी झंझटें सिर पर लेकर जीवन दुखद न बनाओ। अब क्यों सूखे जा रहे हो।"

सुरेश को केशव की बात समझ में न आई। वे घबराकर बोले—"क्यों भाई, क्या बात है? ब्याह करने से मेरा जीवन कैसे दुखद हो गया?"

"दुखद नहीं हो गया, तो क्यों इधर-उधर मारे-मारे फिरते हो?"

"भई, पहेली मत गढ़ो। जो बात हो साफ़-साफ़ कहो। मेरा चित्त अव्यवस्थित है। मुझे तुम्हारी बातें और भी उत्पीड़ित कर रही हैं।"

"अभी तो कहते थे, मैं दुखी नहीं हूँ। अब क्यों चित्त अव्यवस्थित है। नाना के आगे ननि-हाल की बातें करते संकोच नहीं होता?"

"केशव! जो कुछ कहना हो, साफ़-साफ़ कहो। मैं मा के लिये डाक्टर बुलाने जा रहा हूँ। तुमने मा को कभी रोते हुए न देखा होगा। आज वे दिल खोलकर फूट-फूटकर रो रही हैं।"

"तो डाक्टर आकर क्या करेगा?"

"केशव ! आज तुमने कोई नशा खाया है। तुम चेतनाहीन होकर बातें कर रहे हो। मुझे तुम्हारी अनर्गल बातें सुनने के लिये अवकाश नहीं है। मैं जाता हूँ।"

"सुरेश ! मानो। मैं पागल नहीं हूँ। मैं ठीक-ठीक कह रहा हूँ। डाक्टर आकर कुछ नहीं कर सकता। वह वेदना विधाता के ही टालने से टल सकती है। मैं तो कब से कह रहा हूँ कि कर्कशा स्त्री को वश में करना टेढ़ी खीर है, इस पर तुम्हें विश्वास नहीं होता था। आज मेरी बात की सत्यता अनुभूत करोगे।"

"तो क्या मा को शारीरिक आधि नहीं है ? क्या तुम उनकी हालत जानते हो ?"

"खूब जानता हूँ। कानों से सुना है। आँखों से देखा है। क्या तुम बिलकुल नहीं जानते ?"

"भई, मैं तुम्हारी सौगंध खाता हूँ। मैं सिवा इसके और कुछ नहीं जानता कि मा के शरीर में असह्य पीड़ा है। मैं जानूँ भी कैसे ? मैं ज्यों ही कमरे में घुसा, मा को रोते हुए पाया। उनका रोना मुझसे न सहा गया। मैं वहाँ ठहर भी न सका। केवल इतना पूछा--मा ! तुम्हें क्या हो गया है ? उन्होंने शरीर की पीड़ा बतलाई। मैं बिना कुछ कहे डाक्टर को बुलाने के लिये रवाना हो गया।"

यद्यपि केशव को सुरेश की बातों पर आश्चर्य हुआ, तथापि रामा के विषय में आज तक जो कुछ देखा-सुना था, विस्तार-पूर्वक कह सुनाया।

केशव की बातें सुनकर सुरेश के आँखों के तले अँधेरा छा गया। वे आश्चर्य-चकित हो गए। उन्हें लगा—अच्छा होता, यदि इस समय पृथ्वी फट जाती और मैं उसमें समा जाता। उनसे विशेष कुछ कहते न बन पड़ा। केशव का हाथ पकड़कर कहा—"सुरेश के रहते मा को कोई दुख दे सकता है, यह मुझे आज ही ज्ञात हुआ है। ख़ैर।" इतना कहकर वे घर की ओर दुखी हृदय लेकर चल दिए।

सुरेश स्त्रियों को मारना पाप समझते हैं, किंतु उस दुष्टा को, जो उनकी वृद्धा सुशीला माता को कष्ट दे, दंड देना अपना धर्म मानते हैं। वे घर में आते ही शेर की भाँति रसोईघर में घुस पड़े और रामा का केश पकड़कर बाहर घसीट लाए। माता की श्रद्धा और भक्ति स्त्री-प्यार को मात कर गई; किंतु केशव के कारण वे अपने हृदय के गुब्बारे को शांत न कर सके। साधारण धमकी देकर रामा को छोड़ देना पड़ा। इसके बाद मा के कमरे में जाकर कमर दबाने लगे। उधर मा कराहती थीं, इधर सुरेश आँसू गिराते थे।

अब सुरेश मा के मनोभाव के पूरे पंडित हो गए--मा का चिंतित और खिन्न चेहरा देखकर ही रामा की कृत्य समझ जाया करते थे। जब उन्हें संदेह होता, तो कभी प्रेमभरे शब्दों में समझाते, कभी धमकी देते और प्रायः मार बैठते। समझाना और धमकी देना तो कुछ ही दिन रहा, बाद में डंडेबाज़ी ही से काम निकालने का प्रयत्न करने लगे। रामा का शरीर झुरता हो गया; किंतु उसके स्वभाव में परिवर्तन न हुआ।

(५)

जब से सुरेश मा का पक्ष लेने लग गए थे, तब से रामा मा से और भी कुढ़ने लग गई थी। मौक़ा पाकर अब वह सुरेश से मा की शिकायत भी करने से न चूकती थी। पहले तो सुरेश शिकायत करने का मौक़ा ही न देते थे। शेर की तरह गरजकर ऊपर पड़ते, किंतु रामा

मनुष्य की कमज़ोरियों की पूर्ण पंडिता थी। उसने अपना घात कभी हाथ से नहीं जाने दिया। अवसर पाने पर वह कभी नहीं चूकी। फिर क्या था, "कहते-कहते पत्थर भी पहलू बदल लेता है।" सुरेश को उसका उलहना अब बहुत असंगत न जँचता। वे अब सोचने लग गए थे कि यह अबला यदि मुझसे अपना सुख-दुख न कहेगी, मैं न सुनूँगा, तो फिर यह किससे कहेगी और कौन सुनेगा ?

रामा उनका मनोभाव ताड़ गई। अब वह गढ़-गढ़कर ख़ूब बढ़ा-चढ़ाकर अपनी व्यथा सुनाती। झगड़ा का सारा दायित्व मा के ऊपर रखती। साधारण बात पर रोने लगती। मुसकराहट पर रीझनेवाले चाहे भले ही कम हों, किंतु आँसुओं पर मरनेवालों की संख्या कम नहीं है। फलतः सुरेश की प्रवृत्ति बदली। झगड़ा का दायित्व सुरेश मा पर अनुभूत करने लगे। धीरे-धीरे सुरेश की सहानुभूति मा पर से उठकर रामा पर आ गई। इसके साथ ही घर की झंझटें भी बढ़ती गईं। कभी रामा ठीक समय पर खाना न बनाती। कारण पूछने पर बतलाती—लड़का रो रहा था। उसे कोई छूनेवाला भी न था। मैं अकेली क्या-क्या करूँ। लड़के का रोना भी तो नहीं देखा जाता। कभी कहती—मा ताला लगाकर चली गईं। मैं कुंजी माँगती ही रही, लेकिन उन्होंने सब सुनी अनसुनी कर दी। धीरे-धीरे यह भी कह रही थीं कि दोनों को भूखों मारकर ही दम लूँगी। कभी कहती—नहाने के लिये धोती रक्खी। इतने में फलाँ काम आ गया। दौड़कर अंदर आई। जब तक बाहर आऊँ, धोती ग़ायब। आश्चर्य तो यह है कि कोई ग़ैर आदमी भी नहीं आया। एक दिन रामा का लड़का गिर पड़ा। उसके कुछ चोट भी आ गई। रामा सुरेश को सुनाकर अपने तईं कहा—यह लड़ हित-अनहित क्या जाने। ऐसी चंडालिन है सयानों का बदला लड़कों से लेती है। रा राम ! बेचारा बिलकुल फूट गया है।

सुरेश को खाना न मिले, इसे वह सह स थे। रामा का कष्ट भी देखा अनदेखा कर स थे ; किंतु एक निरपराध बालक के साथ ऐ घोर अन्याय सुरेश को सह्य न हुआ। उनके हृ में प्रतिहिंसा का भाव जागृत हो उठा। उन्ह निश्चय कर लिया कि मा को घर से अलग दूँगा, किंतु सभ्यताभिमान के मारे जीभ न खुल हाँ, उनके पास आना-जाना बिलकुल बंद हो गया। मा ने भी सारा रहस्य त लिया।

× × ×

एक दिन तबियत ख़राब हो जाने के का सुरेश समय के पूर्व ही आफ़िस से वापस गए। वे दरवाज़े पर पहुँचे ही थे कि रामा आवाज़ सुन पड़ी। वे वहीं रुक गए और सु लगे। रामा कह रही थी—यदि मैं तुझे घर से निकलवा दूँ, तो मैं अपने बाप की सच्ची बे नहीं। मा ने रोते-रोते कहा—बहू, ऐसा कह अपनी जीभ क्यों ख़राब करती हो ? यह तो भाग्य ही में लिखा है, नहीं तो क्या मेरा प्राणों प्यारा सुरेश मुझसे रुष्ट हो जाता। जब से सुरेश का मन अपनी ओर से खिंचा हुआ देख हूँ, तब से मुझसे इस घर में रहा नहीं जात लेकिन क्या करूँ ! ममता मारे डालती है। इ घर को छोड़कर और कहाँ प्यारे सुरेश को दे को पाऊँगी। इससे अधिक मा से न बोला गया गला भर आया और रोने लगीं।

सुरेश से रहा न गया। भक्ति का ऐसा प्रवाह आया कि हृदय की सारी मलिनता को धोते हुए आँखों से आँसू निकलने लगे। लज्जा का स्रोत उसे भी मात किए हुए था। पैर-तले की ज़मीन निकली जाती थी। मनस्ताप की ज्वाला ने विचलित कर दिया। उसे शांत करने के लिये माता की शरण में गए। दोनों के आँसुओं के प्रवाह ने दोनों के आत्माओं और हृदयों को धोकर निर्मल कर दिया।

आँसू रुके, तो सुरेश ने कहा—मा ! इस पिशाचिनी ने मुझे ऐसा जाल में फँसाया कि मेरा विवेक न-जाने कहाँ चला गया। उसने मुझे अंधा बना दिया। मैं अपनी पूज्या देवी को दुष्टा, और पिशाचिनी को देवी मानने लग गया। ख़ैर, आज मेरे पापों का प्रायश्चित्त हो गया। मेरा सम्यक् प्रायश्चित्त यही है कि मुझे मर्मांतक वेदना हो चुकी। मेरे मनस्ताप ने मेरी कलुषता गला दी। अब मैं तुम्हारा वही निर्मल सुरेश हूँ, जिसने केवल तुम्हारी ही पूजा की है, जिसकी एक-मात्र तुम्हीं आराध्य देवी रह चुकी हो। मा से फिर भी कुछ न बोला गया।

सुरेश ने रामा से कुछ नहीं कहा।

(६)

आज नहीं बोले, तो क्या हुआ, कल वे अवश्य मुझे प्यार करेंगे। कल पुनः मैं उनकी हो जाऊँगी। वे सूने हृदय तो हैं नहीं कि मुझे त्याग दें। मनुष्य को यदि क्षमा की आशा न रहे, तो शायद संसार में इतने पाप और अन्याय न हों। संसार में मनुष्य बहुत-से अपराध क्षमा के बल पर ही करता है। अस्तु, रामा भी बड़ी आशावादिनी थी। उसे भी सुरेश की क्षमाशीलता पर विश्वास था। वह रोज़ आशा करती कि आज उनका संयोग होगा; किंतु मान और संकल्प के झमेले ने संयोग नहीं होने दिया। रामा की सारी इच्छाएँ, सारी आशाएँ सुख-स्वप्न ही रह गईं। दिन पर दिन जाने लगे। संसार में अनेक परिवर्तन हुए। प्रकृति भी कुछ की कुछ हो गई। शरद् ख़तम हुआ। शिशिर भी आकर चला गया। हेमंत का आगमन हुआ। देखते-देखते वसंत भी अकंटक राज्य करने लगा। वसंत के उद्दीपनों को भी जब सफलता न मिली, तो ग्रीष्म आकर झुलसाने लगा। किंतु सुरेश से किसी की एक न चली। वे अपने संकल्प पर उसी प्रकार दृढ़ रहे। उनका निश्चय था कि जब तक मुझे विश्वास न हो जायगा कि रामा मा से कदापि न लड़ेगी, तब तक मेरा और उसका कोई संबंध न रहेगा।

ग्रीष्म के संतप्त प्राणियों को शीतल करने के लियें वर्षा आई। वर्षा क्या आई सबके जान में जान आई। निर्जीव घास फिर हरी-भरी हो गई। चिकने भूरे मैदान हरी-हरी घासों से लहलहा उठे। वे मृगों के विनोदस्थली बन गए। जलाशय भर गए। दादुर, पपीहा, मोर प्रभृति के शब्द वियोगियों के हृदय को सालने लगे। प्रोषित-पतिका के लिये दिन-रात बराबर हो गया। प्रकृति ने उन सूखे वृक्षों को भी हरा कर दिया, जिनके जड़ों को एक मुद्दत से पानी नसीब नहीं हुआ था। किंतु सुरेश का हृदय अब भी मरुभूमि का मैदान ही बना रहा।

शायद इस मरुभूमि को हरा-भरा करने के लिये ही सारे गाँव ने बड़े समारोह से रक्षा-बंधन मनाने की ठानी। सारा गाँव आनंद-स्रोत में प्रवाहित होने लगा। ऐसा ज्ञात होता था, मानो यहाँ कोई दुखी ही नहीं है। लड़के तो बिना पर के उड़े जाते थे। उनके पैर पर पैर नहीं पड़ते थे। अनेक प्रकार के पकवानों ने घरों को सुगंधित

बना रक्खा था । चारों ओर कजली का बहार था । सब प्रसन्नचित्त थे । किसी में राग-द्वेष न ज्ञात होता था । छोटों ने अपने बड़ों से आशीर्वाद पाया था । ऐसे सुख के समय में भी एक उत्पीड़ित है—और वह है रामा ।

आज उसे संसार का वैभव फीका लग रहा है । जिन वस्तुओं से दूसरे सुखी हो रहे हैं, उसे आज वे ही दुख का कारण हो रही हैं । उसे आज नारि-स्वभावोचित दूसरी स्त्रियों के शृंगार पर ईर्ष्या नहीं है, किंतु चिढ़ ज़रूर है । दो-चार सखियाँ दोपहर ही से आ गई हैं और उसे विभूषित करना चाहती हैं—उससे विनोद करने के लिये आकाश-पाताल एक कर रही हैं, किंतु आश्चर्य ! आज उसकी अभिन्न-हृदया सखियों को भी हताश होना पड़ा । जब सखियाँ मेंहदी लगाने लगीं, रामा ने कहा—कल रात ही से ज्वर था, अभी नहाया नहीं है । मेंहदी कैसे लगाऊँ ? जब स्नान ही नहीं हुआ, तो तेल लगाने और साड़ी बदलने का प्रश्न ही उठाना व्यर्थ था । सखियों ने इशारे से आपस में कुछ बातचीत की और बहाना बना-बनाकर बिदा माँग अपने-अपने घर की राह ली ।

सखियों के चले जाने पर रामा उठी और अपने कमरे में जाकर फूट-फूटकर रोने लगी । आज उसे अनुभव हुआ कि वह वह रामा नहीं है, जो उस समय थी, जब सुरेश की प्यारी थी । आज वह सजन होते हुए भी परित्यक्ता अकेली है । आज संसार की सारी विभूतियाँ और शक्तियाँ भी उसे प्रसन्न करने में समर्थ नहीं हैं । आज उसका मिथ्याभिमान निकल गया और उसके स्थान में संसार का एक सत्य आ गया । उसे ज्ञात हो गया—स्त्रियों का सारा सुख पतियों पर ही केंद्रित होता है । उसके बिना यह सब सुख क्या संसार ही मिथ्या है, नरक है, वेदना-भ है, जलाने के लिये चिता है ।

रो चुकने पर रामा का हृदय हलका हु वह उठी । उसे बाहर आते देखकर कोई कह सकता था कि यह वही रामा है, जो आ घंटे पहले कमरे के अंदर गई थी । अब उस हृदय किसी गुप्त प्रेरणा से प्रसन्न हो गया थ अब वह भी दूसरी स्त्रियों की भाँति प्रसन्न थी उसे भी शृंगार-सामग्री ने आकर्षित किया । भी अपने को सुंदरी और नवेली बनाने प्रयत्न करने लगी । सारा शृंगार कर चुकने अपने कमरे में गई और छिपकर बैठी रही ।

× × ×

सुरेश बाबू आए । सोने के लिये अपने बँग में गए । किंतु नींद पास नहीं फटकती थी । आ वे भी रामा के दुख की अनुभूति से पीड़ित किंतु संकल्प तोड़ना दुष्कर था । १२ बजने समय आया । कुछ आहट सुन पड़ी । साम देखते हैं, तो रामा खड़ी है । उन्हें अपनी आँ पर विश्वास नहीं हुआ । उद्वेग में पूछा—कौ है ? कुछ उत्तर न मिला । हाँ, आरती के दीप के प्रकाश में रामा स्पष्ट दीख पड़ी । रामा आरती उतारी, रक्षा-बंधन हाथ में बाँध दिय चरणों में मस्तक रख दिया और गरम-गर आँसू बहाते हुए रुँधे कंठ से कहा—"रक्षा-बंध की वांछित बधाई ।"

सुरेश ने कहा—वह तो तुम्हारा ही था । शर्त आड़े आती थी । अब मंज़ूर है न ? 'हाँ' अतिरिक्त और कुछ नहीं सुन पड़ा ।

अब रामा गाँव की उन स्त्रियों में है, जिन कभी कोई किसी प्रकार की बुराई नहीं करता ।

सूर्यबलीसिंह

उपेक्षा

उड़ा लोभ में बहका हमको
नाहक ही मन बढ़ा रहे हो !
रज-कण हैं हम क्षुद्र, हमें क्यों
आसमान में चढ़ा रहे हो।
ख़ूब समझते हैं—हमसे निज
पथ की सीढ़ी गढ़ा रहे हो !

ऊँच-नीच के भेद-भाव का
पाठ हमें तुम पढ़ा रहे हो।
अरे बवंडर ! जाने दे,
हम रज हैं, रज में पड़े रहेंगे ;
देश-जाति से जुदा न कर,
हम वहीं क्षुद्र या बड़े रहेंगे।

विश्वनाथप्रसाद

महाकवि नंददासजी

और सब गढ़िया, नंददास जड़िया।
—एक लोकोक्ति

भक्ताग्रगण्य एवं कविता-कामिनी-कांत, कवि-शिरोमणि, जिन अनन्य महात्मा के प्रति यह सरस सूक्ति लोकोत्तर-आनंददायक यह लोकोक्ति अथवा यह रमणीक 'रिमार्क' है, जिनकी गह्वर गुण-गण-गरिमा से गुंफित प्रखर प्रतिभा का परिचायक है, जिनका सरस हृदय, साहित्य-स्रोतस्विनी का उद्गम स्थान है, अथवा जिनकी परम सरसता के सच्चे 'सर्टीफ़िकेट' स्वरूप उक्त उक्ति है, वह साहित्य-गगन के जगमगाते तारे व ख़ूबियों से खचित ख़ज़ाने के देदीप्यमान हीरे हैं, जिनके सुयश गान को लालायित हो 'भक्तवर नाभादासजी' ने पुलकित हृदय इस प्रकार गाया है कि—

लीला-पद रस-रीति, ग्रंथ रचना में नागर ;
सरस उक्ति जुत-जुक्ति, भक्ति-रस गान उजागर।
प्रचुर पयोध लौं सुजस, रामपुर-ग्रामनिवासी ;
सकल सुकल सम्मिलित, भक्त-पद-रेनु उपासी।
चंद्रहास अग्रज सुहृद, परम प्रेम-पथ में पगे ;
श्री 'नंददास' आनंद-निधि, रसिक सु प्रभुहित रँगमगे।
—भक्तमाल

ऐसे प्रेम की साक्षात् पवित्र प्रतिमा, व्रज-भाषा के चारु चंद्र, रुचिर रचना के रमणीय रत्नाकर, महाकवि "नंददासजी" की अनूठी उक्तियों से अलंकृत, दो-एक गुनन-गरूले ग्रंथों के सिवा, वर्तमान साहित्य-संसार कितना रंजित है, यह कहने-सुनने की बात नहीं; किंतु बड़े अफ़सोस की बात है।

व्रजभाषा-काव्य-कानन के इस कमनीय कलापी ने, कल-कंठी कोकिला से भी मधुर कलरवकारी ने, विधाता से भी विशद प्रतिभाशाली ने अथवा कोमलता के कुशल कारीगर ने अतुल सौंदर्य-भार से भूषित और नमित भाषा-भामिनी को मादकता-भरी भोली-भाली मस्ती के साथ जिस सद्-हृदयता से सजाया है, उसको निखरते हुए उन्मादकारी यौवन को जिस प्रकार सरसता की शान का अनोखा उद्-वर्तन चढ़ाकर, माधुर्यमयी मदिरा से नहलाकर और तबीयतदारी के तिलस्माती तौलिए से पोंछकर जो ललित लावण्यता मुकुलित की है वह थोड़े में—अर्थात् "रास-पंचाध्यायी, भ्रमर-गीत" आदि प्रचलित पुस्तकों में प्रस्फुटित है। इस लोचनाभिराम लह-लहाते बग़ीचे के, बरबस हृदयहारी वाटिका के अर्ध-मुकु-

लित इन एक-दो ही कोमल कलिका के तनिक से प्रमत्तक पराग पर ही साहित्यक—लुब्ध भ्रमर-गण, मद-मत्त हो मँडराते हुए इठला-इठला कर इतराने लगे। पर—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल;
अली कली ही तैं बिंध्यो, आगे कौन हवाल।

—बिहारी-सतसई

अर्थात् जब आपकी संपूर्ण सरस रचना, साहित्य-रसिकों के संमुख उपस्थित होगी तब सरस हृदय, हृदय थाम-थामकर यही कहते नज़र आएँगे कि—

इधर आ कलेजे से तुझको लगा लूँ;
तुझी पै तो दिल आ गया है सभी का।

—कोई शायर

अतः इस समय हम आपके चारु चरित्र की चर्चा न करेंगे, अंधकार से अलंकृत आपकी जीवनी की तरफ़ भी आँखों को न अड़ाएँगे; यह सब "नंददास-ग्रंथावली" के लिये छोड़कर जो कि शीघ्र ही प्रकाशित हो रही है—इस समय सिर्फ़ इस अलौकिक अंशुमाली की तीव्र नहीं, किंतु कमनीय किरणों से ओत-प्रोत साफ़-सुथरी कृतियों को, आपके ही शब्दों के साथ—

सुंदर कोमल बचन अनूठे;
कहति, सुनति, समुझति, रस-घूँठे।
नाहिंन उघरे, गूढ़ न ऐसे;
मरहट - देस बधू - कुच जैसे।

—रूप-मंजरी

सद्-हृदयों के सम्मुख हुलसाए हृदय के साथ उपस्थित होते हैं, भूल-चूक लेनी-देनी। क्योंकि—

किं तेन काव्य-मधुना, प्लाविता-रस-निर्भरैः;
जडात्मानोऽपि नो यस्य, भवन्त्यंकुरितान्तरा।

—कस्यचित्कवेः

सबसे प्रथम आपकी सुकोमल रचना से रंजित प्राण-स्वरूप अथवा प्रपंची-पंचतत्त्वों के भी तत्त्वस्वरूप, स्फुट-रचनात्मक—"रास-पंचाध्यायी" को ही आपके सु-मधुर शब्दों में रखते हैं। यथा—

श्रीभागवत सुभ नाम, परम अभिराम अमित गति;
निगमसार, सुकुमार, बिना गुरु-कृपा अगम अति।
ताही में पुनि अति रहस्य इहि पंचध्याई;
तन में जैसे पंच प्रान, अस सुक मुनि गाई।

—रास-पंचाध्यायी

आपका, श्रीशुक का सुकुमार वर्णन, नयनाभिराम निरूपण भी निरखने लायक़ है, जैसे—

नीलोत्पल-दल-स्याम-अंग नव-जोबन भ्राजै;
कुटिल अलक मुख-कमल मनों अलि-अवलि बिराजै।
सुंदर भाल बिसाल, दिपति मनों निकर-निसाकर;
कृष्ण-भक्ति प्रतिबिंब तिमिर कों कोटि दिवाकर।
कृपा - रंग - रस - ऐन-नैन राजति रतनारे,
कृष्ण-रसासव-पान-अलस कछु घूम-घुमारे।
स्रवन-कृष्ण-रस-भरन, गंड-मंडल भल दरसै;
प्रेम-अनँद मिलि तासु मंद मुसक्यानि मधु बरसै।
उन्नत नासा, अधर-बिंब सुक की छबि छीनी,
तिन बिच अद्भुत भाँति लसति कछु इक मसि-भीनी।
कंबु-कंठ की रेखु देखु हरि-धरम प्रकासै;
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह जिहि निरखति नासै।
उर-बर पै अति छबिहिं भीर कछु बरनि न जाई;
जिहिं भीतर जगमगैं, निरंतर कुँअर कन्हाई।
सुंदर उदर उदारु रुमावलि राजति भारी,
हिय-सरबर रसभरी, चली मनों उमँगि पनारी।
ता रस की कुंडिका-नाभि, सोभित अस गहरी;
त्रिबली तामें ललित भाँति जनु उपजति लहरी।
अति सुदेस कटि-देस, सिंघ सोभित सघनन अस;
जुव-जन-मन आकरसति, बरसति प्रेम-सुधा-रस।
गूढ़ जानु, आजानुबाहु मद-गज-गति लोलैं;
गंगादिकन पवित्र करत अवनी पै डोलैं।
सुंदर पद-अरबिंद, मधुर मकरंद मुक्त जहँ;
मुनि-मन-मधुकर-निकर, सदा सेवति लोभी तहँ।
राजति अंग बिभूति, अनेक बिबेक-प्रकासक;
नख-सिख-रूप अनूप सकल जनु अघ के नासक।

—रास-पंचाध्यायी

आह...... कितना सुंदर वर्णन है, कितनी सुंदर शब्दावली से सुशोभित है......

महाकवियों की वाणी में कुछ अद्भुत प्रकार की अलौकिकता, विवशकारी विशेषता होती है। उनकी रुचिर रचना में हृदयहारिणी शक्ति की परा काष्ठा होती है, उनकी सरस शब्दावली कर्णगोचर होते ही हृदय में हलचल मचा देती है, विवशता बिखेर देती है। हृदय को अपना हक़ीक़ी हक़दार बना लेती है।

यद्यपि श्रीमद्भागवतांतर्गत प्रथम स्कंध के अंत में

श्रीशुक का सुकुमार वर्णन, नख-शिख-निरूपण सूक्ष्मतया अति सरस है, सुंदर है, जैसे कि—

तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपादकरोरुबाहुंसकपोलगात्रं
चार्वायताक्षोन्नसतुल्यकर्णसुभ्र्वाननं कम्बुसुजातकण्ठम्;
निगूढजत्रुं पृथुतुङ्गवक्षः समावर्तनाभिं बलि-वल्गूदरं च
दिगम्बरं वक्त्रविकीर्णकेशं प्रलम्बबाहुं स्वमरोत्तमाभम्।
श्यामं सदापीच्यवयोऽङ्गलक्ष्म्या, स्त्रीणां मनोज्ञं रुचिरस्मितेन।

—प्रथम स्कंध, १९ अध्याय

तथापि यह आलम ही निराला है, मज़ा ही दूसरा है, आनन्द ही अनोखा है। आह......जिस वृहत्ता की बारूद को वृत्यानुप्रास की बंदूक़ में भरकर और उत्प्रेक्षा की उँगली से लालित्य की लपलपी लपाकर इस भागवतांतर्गत—सूक्ष्मता के सरापे पर जो सीधा-सादा, जँचा-तुला, निराला निशाना मारा है, उसे भावुक हृदय ही जानते होंगे, वे ही इसकी चुलबुली चोट से तड़पते होंगे, अन्य नहीं। बात वही है, विशद वर्णन उसी का है, उसी की छबीली छटा से छादित है, किंतु जो मुकुलित मज़ा—

नीलोत्पल दल स्याम अंग, नव-जोबन भ्राजै।

में है, वह "श्यामं सदापीच्यवयोऽङ्गलक्ष्म्या" में कहाँ है। जो उभरा हुआ आनंद—

कुटिल अलक मुख-कमल मनों अलि-अवलि बिराजै।

में है, वह "दिगम्बरं वक्त्रविकीर्णकेशं" में कहाँ हैं, जो कुछ तर्ज़ें तबियतदारी—

कृपा-रंग-रस-ऐन-नैन राजति रतनारे।

में है, वह "चार्वायताक्षोन्नसतुल्य......",
में कहाँ है, और—

उन्नत-नासा, अधरबिंब सुक की छबि छीनी;
तिन बिच अदभुत भाँति लसति कछु इक मसि-भीनी।

का तो कुछ जवाब ही नहीं है। आह...कितने जादू-भरे शब्दों का जमाव है कि कुछ कहा नहीं जाता।

"मसि-भीनी" पर कविवर "आलम" का एक सवैया याद आ गया है। यथा—

बर, सुंदर नंदकिसोर तरंगनि, अंग को संग अनंग गह्यो;
बनिता सब मोहि रहीं ब्रज की, भनैं "आलम" रूप महा उमह्यो।
मसि-भीजति कान्ह के आनन में लखि स्याम-सी रेखु को भेखु कह्यो;
छबि पूरन इंदु के मध्य किधौं, दुतिया के सरूप ह्वै राहु रह्यो।

—आलम

नित्य विहारस्थल श्रीवृंदावन का वर्णन भी आपने बड़ा हृदय-द्रावक किया है, यथा—

अब सुंदर श्रीवृंदाबन कों गाइ सुनाऊँ;
सकल सिद्धिदायक पै सबही बिधि सिधि पाऊँ।
जहँ नग, खग, मृग, लता, कुंज बिरुधी-तन जेते;
परत न काल-प्रभाव सदा सोभित हैं तेते।
सकल जंतु अविरुद्ध जहाँ हरि, मृग-सँग चरहीं;
काम, क्रोध, मद, लोभ रहित लीला अनुसरहीं।
सब ऋतु संत बसंत, रहति जहँ दिन-मनि ओभा;
आन वनन जाकी बिभूति करि सोभित सोभा।
जो लछमी निज रूप रहति चरनन सेवित नित;
भौं बिलसति जु बिभूति जगत, जग-मग रह जित-तित।
श्री अनंत, महिमा अनंत को बरनि सकै कबि;
संकरसन सों कछुक कही, श्रीमुख जाकी छबि।
देवन में श्रीरमा-रमन नारायन-प्रभु जस;
कानन में श्रीवृंदाबन सब दिन सोभित अस।
या बन की बन-बनिक आपु बन ही बनि आवै;
सेस, सुरेस, महेस, गनेसहु पार न पावै।

—रास-पंचाध्यायी

आहा......, सात्त्विकता से संयुक्त कितना सरस वर्णन है, यह साहित्यिक सज्जन ही जान सकते हैं, क्योंकि—

श्री अनंत, महिमा अनंत, को बरनि सकै कबि;
संकरसन सों कछुक कही, श्रीमुख जाकी छबि।

जिसकी थोड़ी ही छवि को—सुंदर शोभा को—संकरसन से श्रीमुख द्वारा कहा, उस अनंत महिमा से मंडित अनंत-श्री को कोई कवि क्या खाकर कहेगा, और फिर जिसके शेषावतार श्रीसंकरषण-से श्रोता धन्य हैं, धन्य हैं।

कुछ-कुछ ऐसी ही श्रीवृंदावन की शोभा को आपने अन्यत्र भी रमणीयता से रंजित कर कहा है, जैसे कि—

सखि जब बृंदाबन महँ गई;
बिपिन बिलोकि चकित अति भई।
सब ऋतु बसति बसंत सम जहाँ;
पात पुरान होति नहिं तहाँ।
कुसुम-धूरि धूँधरि तहँ रहै;
सीतल, सुगँध, पवन जहँ बहै।
गुंजति पुंज-भँवर छबि छाजै;
ठौर-ठौर मधु बीन ज्यों बाजै।

सुधि न रही याहीं छबि गोहन ;
राग-मयी के प्रेममयी बन।
जो मुख होंहिं अनंत सखि, रसना ताहि अनंत ;
वृंदाबन गुन कथन कों, तऊ न पावैं अंत।
——रूपमंजरी

कवि कोई सौंदर्यविहीन बात ही नहीं कहता, वह साधारण से भी साधारण बात में नया चोज़, नई अदा और नया शुरूर कुछ ऐसा भर देता है, कुछ ऐसी अलौकिकता से अलंकृत कर कहता है कि रसिकजन सौ जान से फ़िदा हो जाते हैं, फिर महाकवि की तो बात ही क्या है।

यद्यपि आप सहज रीति से ही उस सहज सौंदर्यमय माधुर्य की खान श्रीपरब्रह्म-परमात्मा कृष्णचंद्र का सुस्वरूप वर्णन करते हैं, तथापि वह अपने ख़ास ढंग के रंग में रँगकर, अपनी पुनीत प्रतिभा का पुट देकर। जैसे कि——

मधु-कमनीय-करनि का, सब सुख कंदर सुंदर ;
तहँ राजति ब्रजराज कुँवर-वर रसिक-पुरंदर।
निकर-विसाकर-दुति मेटति सुभ कौस्तुभ-मनि-अस ;
ज्यों हरि कों उर निबिड़ मध्य राजति उडु-पति जस।
मोहन अद्भुत रूप कहति छबि आइ न ताकी ;
अखिल-अंड-व्यापी जु ब्रह्म आभा है जाकी।
परमातम-परब्रह्म सबन के अंतरजामी ;
नारायन-भगवान धरम करि सबके स्वामी।
बाल, कुमार, पुगंड, ललित आक्रांत लसत तनु ;
धरमी नित्त किसोर कान्ह मोहत सबके मनु।
मृदु, उज्जल, श्यामल सु-अंग अद्भुत सिंगारु करि ;
नवल-किशोर सुमोर-चंद्रिका सुभग सीस धरि।
गर सोतिन की माल ललित बन-माल धरे प्रिय ;
मंद मरुत-बस पीत बसन फरकति करखति हिय।
——रास-पंचाध्यायी

जैसा कुछ वासना से परे, साहित्यिक-छटा से छादित छवि-भरा यह कमनीय वर्णन है, वह तो है ही ; किंतु——
ज्यों हरि कों उर निबिड़ मध्य राजति उडु-पति जस।
अथवा —
मंद मरुत-बस पीत बसन फरकति करखति हिय।
में जो चंचल चित्त चुराने की शक्ति है, वह अकथनीय है, अवर्णनीय है। अनोखेपन की हद है, जोकि अब भी बार-बार हृदय में करखति—अर्थात् खटक रही है, और फिर—
ज्यों हरि को उर निबिड़ मध्य राजति उडु-पति जस।
की तो बात ही निराली है, अदा ही न्यारी है, आनंद ही दूसरा है।

यद्यपि कवि-कोकिल "बिहारीलाल" ने भी पीत पट वर्णन करने के लिये वस्तूत्प्रेक्षालंकार का आश्रय ले कुछ अनोखी ही 'उक्ति' कही है, जो नवीनता के नयाज़ से भरी है, जैसे कि—

सोहत ओढ़ैं पीत पट, स्याम सलोने गात ;
मनों नील-मनि-सैल पर, आतप पर्‌यो प्रभात।
—बिहारी-सतसई

तथापि यह चपलतायुक्त पीत पट का फरकना और हृदय में खटकना...आदि आनंद "बिहारी" के वर्णन में कहाँ, वह तो वही है, दूसरा नहीं।

श्रीयुत नंददासजी के इस हृदयहारी भाव पर ऐसी ही मनोरम उक्तियाँ "सीतल" ने भी कही हैं, यथा—

जब से वह फेंटा-गुलैनार, रँग-रगा सहज सज आया-सा ;
उपमा की मुझे तलाश रही, उपमान न दिल में भाया-सा।
महि-सुत से सरस अरुण जेते, लखि दाड़िम-सुमन लजाया-सा ;
"सीतल" जिन देखा सो जानैं, मरगज़ा-पुरख़ बल खाया-सा।

अथवा—

ऊदी-अलबेली अतर-मली, छबि देखनि नैन समाय गई ;
जानी बुढ़हान-पुरी तेरी, आशिक़ के दिल को खाय गई।
घायल-सा पड़ा सिसकता हूँ, अब तक मुख से नहिं हाय गई ;
इस 'लाल-बिहारी' की 'सीतल' बेतरह बैंजनी भाय गई।

अथवा—

अलबेली-बँधन छबीले की, दिल देखे लेत न ताबी है ;
इक पेचा पेच हज़ार करै, देखे से बड़ी ख़राबी है।
तिस पर कशमीरी अतर मला, मुख जग-मगान महताबी है ;
कहु किसको दिलवर क़त्ल करन सिर पर यह सजी गुलाबी है।

अथवा—

ये सहज रंग जी लेवेगा, जो तूने अब छवि साजी है ;
दिल चाहै दिलवर सो कीजै, हम धरी शीश पर बाज़ी है।
हममें तो इतनी ताब न थी, लाचार तुम्हारी राज़ी है ;
ये जख़्म कल्ह के मिटे नहीं फिर तू सज आया प्याज़ी है।
——गुलज़ार-चमन

श्रीभागवतांतर्गत "शुक" ने अभूतआनंददायिनी अनुपम उक्ति द्वारा सिर्फ़ इतना ही कहकर अपना काम चला लिया कि—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ;
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे, योगमायामुपाश्रितः ।

—दशम स्कंध पूर्वार्ध २९ अ०

अब ज़रा खूबियों के ख़ज़ाने, नूतनता की खान श्रीयुत 'नंददासजी' का विदग्धता-भरा वर्णन भी हृदय थामकर सुन लीजिए । यथा—

जदपि सहज माधुरी बिपिन सब दिन सुखदाई ;
तदपि रँगीली सरद समैं मिलि अति छवि छाई ।
ज्यौं अमोल नग जगमगात सुंदर जड़ाव-सँग ;
रूपवंत, गुनवंत, बहुरि भूषित भूषन अँग ।
रजनी-मुख सुख देखि ललित प्रफुलित जु मालतीय ;
ज्यौं नवजोबन पाइ लसति गुनवती बाल-तीय ।
छवि-सों फूले फूल, अवर अस लगी लुनाई ;
मनहुँ सरद की छपा छबीली बिहँसन आई ।

—रास-पंचाध्यायी

यद्यपि सब दिन ही श्रीवृंदा-विपिन की सहजमाधुरी प्रतीव सुखदायी है, हृदय को हरदम हर्षाने में हावी है, तो भी—

तदपि रँगीली सरद समैं मिलि अति छवि छाई ;

की तो बात ही निराली है, ग़ज़ब ढा दिया है, सारा सरापा छितिज पर छा दिया है । आह..., कितना प्यारा प्रकृति का पर्यवेक्षण है, कितना मनमोहक मज़मून है,......

जैसे अमोल रत्न-राशि सुंदर जड़ाव के साथ शोभा पाती हुई जगमगाती है, अथवा जैसे कोई रूपवंत और गुनवंत होने पर भी भूषणों से भूषित हो सुषमा का समूह-सा बरसाता विदित होता है, उसी तरह आपकी ये उक्त पंक्तियाँ विपुल वर्णन से सुशोभित हैं, एक-एक पद पर सारी शोभा निसार है, ज़रा भी आनाकानी की ज़रूरत नहीं । आह..., कितनी कमनीय कृतियाँ हैं कि बरबस मुख से वाहवाह निकल पड़ती है । देखिये न—

छवि सों फूले फूल अवर अस लगी लुनाई ;
मनहुँ सरद की छपा छबीली बिहँसन आई ।

माथुर-कुल-भूषण श्रीयुत 'हरलालजी' ने भी अपने 'भागवतार्थ-विनोद'-नामक काव्य-ग्रंथ में "भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः" का अनुवाद करते हुए कहा है—

भगवानहु वह रजनी लखि उज्ज्वल, श्रीरसनी रमनी अनुकूली ;
हरि चित्त विचित्र कियो रमयें तब जोग-मया की उपासना जूली ।
सरदा-ऋतु स्वच्छ प्रमोदभरी कमला करि मंजुलता लगि झूली ;
सुभ धीर समीर, सुगंधित तीर सु-मल्लिका, कुंद, कुमोदिनि फूली ।

कविवर "बिहारीलाल" ने भी "शरद्-ऋतु" को कामिनी की कमनीयता से अलंकृत कर कैसी सुंदर सूक्ति कही है कि—

अरुन सरोरुह कर-चरन, दृग खंजन, मुख चंद ;
समै आय सुंदरि सरद, काहि न करत अनंद ।

—सतसई, परिशिष्ट भाग

कविता-कानन के केसरियों ने यद्यपि कहने के लिये कुछ भी नहीं छोड़ा, अपनी प्रचुर प्रतिभा का प्रताप परखा दिया, बाक़ी की बेबाक़ी कर दी, गुंजाइश को भी ग़र्क़ कर दिया, तथापि प्राकृत कवि अपनी प्रकृति-वाटिका के रूखे-सूखे ठूँठों में भी प्रत्युत्पन्न-मति प्रतिभा द्वारा रमणीय रस का सरसता से संचार कर कुछ-का-कुछ कर दिखाते हैं, आँखों में खुभने और चित्त में चुभने लायक़ बना देते हैं । बस, यहीं उसकी कुशलतायुक्त कारीगरी का कोमल दिग्दर्शन है । जैसे कि—

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं, प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ;
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ।
दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं, रमाननाभं नवकुङ्कमारुणम् ;
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं, जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ।

—दशमस्कंध-पञ्चाध्यायी

को श्री नंददासजी ने अपनी सुंदर सूक्त के सहारे कितनी सरसता के साथ सजा दिया है, अनंत-रस-प्लावित कर दिया है, प्राण संचार कर निर्जीव से सजीव बना दिया है । देखिए न, अनुवाद-सा होने पर भी कितना अनोखापन भर दिया है । यथा—

ताही छिन उडुराज उदित, रस-रास सहाइक ;
कुमकुम-मंडित प्रिया-बदन जनु नागर-नाइक ।
कोमल किरन अरुन नभ, बन में ब्याप रही यों ;
मनसिज खेल्यो फागु, घुमड़ि घुरि रह्यो गुलाल ज्यों ।
स्फटिक-छटा-सी किरन, कुंज-रंध्रन ह्वै आई ;
मानहुँ बितन बितान, सु बेस तनाव तनाई ।
मंद-मंद चलि चारु चंद्रमा, अति छवि छाई ;
झलकति हैं जनु रमा-रमन-पिय कौतुक पाई ।

—रास-पंचाध्यायी

वाह..., सादृश्य से संयुक्त अनुपम अनुवाद होने पर भी जो निराली नवीनता है, चमत्कृत चमत्कार है, वह चुटीले चित्त को चंचल करने के लिये काफ़ी है, यथेष्ट है। भाषा-मात्र का भेद होने पर भी नंददासजी के वर्णन में जो विशेषता है, जो बाँकपन है, उसके सहृदय साक्षी हैं, गवाह हैं। आह . कितनी उत्तम उक्ति है—

कोमल किरन अरुन नभ, बन में व्याप रहीं यों;
मनसिज खेल्यौं फागु घुमड़ि घुरि रह्यो गुलाल ज्यों।

अथवा—

मंद-मंद चलि चारु चंद्रमा, अति छबि छाई;
झलकति हैं जनु रमा-रमन-पिय कौतुक पाई।

उदित समय की अरुणता से अलंकृत 'चारु चंद' पर संदेहालंकार के सहारे कवि "मुकुंद" की भी अनुपम उड़ान है, देखिए--

पिय देखनि मनों रमा उझकी, मुख कुंकुम-रंजित भ्राजतु है;
रजनी उर कों अनुराग किधौं यह मूरतवंत सु छाजतु है।
किधौं पूरन चंद सु छंद उदोत, 'मुकुंद' सबै सुख साजतु है;
किधौं प्राची-दिशा-नव-बाल के भाल, गुलाल कों बिंदु बिराजतु है।

उदित उडुराज की प्रतिभा से प्रमुदित शरद्-निशा का नयनाभिराम वर्णन, कृष्णगढ़ाधीश, भक्तवर "नागरीदासजी" ने भी बड़ा रमणीक किया है। यथा--

उज्वल पच्छिक रैन, चैन उज्वल रस दैनी;
उदित भयौं उड़राज, अरुन दुति मनहर लैनी।
महाकुपित ह्वै काम ब्रह्म-अस्त्रहि छोड़्यौं मनु;
प्राची-दिसि तैं प्रज्वलित आवति अगिनि उठी जनु।
दहन-मानपुर, मगन मिलन को मन हुलसावत;
छावत छपा-अमंद-चंद, ज्यौं-ज्यौं नभ आवत।
जगमगात बन-जोति सोत-अमृत-धारा-सी;
नवद्रुम, किसलय-दलन चारु चमकति तारा-सी।
स्वेत रजत-सी रैन, चैन चित मैन-उमहनी;
तैसी मंद सुगंध पौन दिनमनि-दुख दहनी।
फैली चमकति चंद्रिका, बिच निकुंज, बन, बाग;
कतरि स्वेत-मुकेस मनु, रति-पति खेल्यौं फाग।

--बिहार-चंद्रिका

"मनसिज खेल्यौं फागु घुमड़ि घुरि रह्यौ गुलाल ज्यौं" में और "कतरि स्वेत-मुकेस मनु रति-पति खेल्यौं फाग" में कितना अनुरूप वर्णन है और कितनी साम्यता से संयुक्त शब्दावली है, वाह......। यदि उधर गुनन-गरूला गुलाल है, तो इधर मनमोहक अर्थात्—अबीर है। दोनों ही आनंद को उन्मत्त के लिये उपयुक्त हैं। अतः—

तब लीनी कर-कमल जोग-माया-सी मुरली;
अघटित-घटना चतुर बहुरि अधरामृत जुरली।
जाकी धुनि तैं निगम, अगम प्रगटति बड़-नागर;
नाद-ब्रह्म की जानि मोहनी सब सुखसागर।
पुनि मोहन सौं मिली कछुक कल गान कियो अस;
बाम बिलोचन बाल-तियन मनहरन होइ जस।
मोहन मुरली-नाद स्रवन कीनों सब किनहूँ;
जथा-जथा बिधि रूप, तथा बिधि परस्यो तितहूँ।

--रास-पंचाध्यायी

किसी अत्युत्कृष्ट अनुपम पदार्थ की प्राप्ति के अथवा इच्छित उत्तेजना उपजाने के लिये साधन ज़रूरत होती है, आश्रय की आवश्यकता होती अतः "योगमायामुपाश्रितः" की मौजूदगी में आपने "जोग-माया-सी मुरली" का ही आश्रय 'माया' का मोहत्याग 'मुरली' को ही मनोनीत वह आपकी पुनीतता में पगी प्रेमयुक्त प्रचुर प्रतिभा ही परिचायक है, भक्ति से विभूषित विमल हृदय विभूति है। भला, भक्ति के सामने भकुई योग की क्या बिसात, प्रेमिक की प्रेम-सत्ता के सामने का क्या प्रसार। माया से, जादू से किसी को वशीभूत कर लेना, अनुरक्त कर लेना पवित्र प्रेम भर्त्सना है, निरादर है, अवज्ञा है। किंतु दूतत्व में प्यमान, "अघटित घटना" घटानेवाली चतुर 'मनमोहन' के "अधरामृत-जुरली" मुरली की बात है, उसकी मोहकता का क्या ठिकाना है। 'हक़ की' बनने की होड़ "योग-माया" बेचारी क्या कर करेगी। वह देखिए...वह एक 'गोपी' विषभरी के प्रति उस "काले कलूटे कान्हा" से क्या पूछ है, कि—

और विष जेते तेते प्रान के हरैया होति,
बंशी के कढ़े की कभू जाइ ना लहर है;
सुनति ही एकु संग रोम-रोम रीझि जाइ,
जोम जारि डारै पारै बेकली गहर है।
'ग्वाल कवि' लाल तोहिं जोरि कर पूँछति हौं,
साँचु कहि दीजै कछु मो पै जो महर है;

बाँसु में कि बेध में कि होंठ में कि फूँक में कि,
आँगुरी की दाब में कि धुनि में जहर है।
——ग्वालकवि-कृत वंशी-दीक्षा

बता दीजिए सरकार, बता दो मेरे राजा कि [क]हाँ-कहाँ इस बाँस की वंशी में विष बगरा दिया है, [क]ौन-कौन-सी जगह को ज़हर के ज़हूर से जगमगा दिया [है], बताइए न.....न बताओगे......न बताओ..... [अ]जी हज़रत? यह सब आपके इन अमृतभरे अरुण-[अ]रुण अधरों की ही काली करतूत है, उन्हीं का तिल-[स्म]ात है, बेचारी वंशी की क्या बिसात, क्या औक़ात। [जै]से कि—

[पा]न किये हूँ दवानल कों, जिहिं कों अधरा-रस नाहिं उढैरी;
[ता]के लगी मुख सों यह जाइ तो क्यौं नहिं ज्वाल की तान गढैरी।
—गोकुल

दावानल का पान करने के पश्चात् भी जिनके उन्माद-[का]री अधरों का रस नहीं जला, उन्हीं अरुण-अधर से [ल]गी वंशी ज्वालामयी तान क्यों न छेड़े।

"तब लीनी कर कमल योग-माया-सी मुरली" पर [उप]युत "आलम कवि" का एक सवैया याद आ गया है, [दे]खिए कितना सुंदर है। यथा—

[अं]ग त्रिभंग किये मन मोहन कोटिक काम के लेति हरैं;
[मान]त चाँद चुभ्यो बृषभानु-सुता-तन आँगुरी बाँसुरी बेद धरैं।
[चं]चल, चारु चलैं कर-पल्लव "आलम" नैकु न नैन टरैं;
[मा]रि रोष सुचारु सुधाकर पै, मनो नीरज के दल नृत्य करैं।

अतः श्रीनंददासजी ने मुरली को योग-माया-सी [क]हकर सोने में सुगंध भर दी है, मुरली से अनुपम नग [क]ो योग-माया के सोने में जड़ाव-सा जड़ दिया है। धन्य [है]......धन्य है......।

सुरूरभरी सौतिनियाँ के सरापे में शराबोर बेदरद—[वं]शी पर व्रज-बधुओं द्वारा "श्रीसूर" से लेकर अनेक कृत-[वि]द्य कवियों ने अपनी-अपनी उक्तियाँ निराले-निराले [अं]दाज़ से कही हैं, हृदय-द्रावक रंग ढुरकाए हैं, क़यामत [ब]रपा कर दी है, अनोखे अनुमान उड़ाए हैं। जैसे कि—

मुरली कौन तप तै कियों;
रहति गिरिधर-मुखहिं लागी, अधरन कों रस पियों।
सुंदर स्याम कमलदल-लोचन, तोहि तन-मन दियों;
सूर श्रीगोपाल बस भए, जगत में जस लियों॥
—श्रीसूर

पावन प्रेम में कुछ अद्भुत आकर्षण, उन्मादकारी "अट्रैक्शन", प्रेम की खूबियों से खचित कुछ और ही खिंचाव होता है। प्रेमिक की प्राप्ति की कामना कुछ और ही होती है। उसे प्रेमी-हृदय ही जान सकते हैं, अन्य नहीं।

पतंग यह जानकर भी कि दीपक की दिल लुभाने-वाली 'लौ' पर पड़ते ही सौंदर्य का शिकार हो जाऊँगा, जल-भुनकर ख़ाक हो जाऊँगा, नहीं मानता और अपना सर्वस्व उस 'सौंदर्य-शिखा' पर केवल पावन प्रेम के सहारे न्यौछावर कर देता है, जीवनोत्सर्ग का जाज्वल्यमान प्रमाण रख देता है, फिर—"कोटिक काम लजावन हारे" मनमोहन के अधर-रस से रंजित मुखरा मनमोहिनी मुरली द्वारा अभिमंत्रित होने पर प्रेम की साक्षात् अवतार गोपियाँ "अनंगवर्धनं गीतं निशम्य" "कृष्ण-दर्शन-लालसाः" के उद्दाम कारण से कैसे चलीं, यह आपकी ही सुंदर सूक्ति द्वारा सुनिए। यथा—

सुनति चलीं व्रज-बधू, गीत-धुनिकों मारग गहि;
भवन-भीत द्रुम-कुंज-पुंज कित हू अटकी नहि।
नाँद अमृत को पंथ रँगीलो सूच्छम भारी;
तिहि मग व्रजतिय चलीं आनि कोउ नहिं अधिकारी।
सुद्ध प्रेममय रूप, पंच-भूतन तैं न्यारी;
तिन्हैं कहा कोऊ कहै जोतिसी जगत उजारी।

अथवा—

ते पुनि तिहि मग चलीं रँगीली तजि गृह-संगम;
जनु पिंजरनु तैं छुटे, घुटे तव-प्रेम-विहंगम।
—रास-पंचाध्यायी

आहा......, कैसी सुमधुर सूक्ति है, कितनी उन्मा-दिनी उत्प्रेक्षा है, पावन प्रेम की कैसी सुन्दर परा काष्ठा है, हृदयहारी बेबसी से विभूषित कैसी सुंदर पदावली है, वाह......।

जनु पिंजरनु तैं छुटे, घुटे तव-प्रेम-विहंगम।

और इस चपलतायुक्त चलने के समय, हुलसाए हृदय की हड़बड़ी से जो कुछ गड़बड़ी हुई है, उसके नयना-भिराम निरूपण पर तो आपने क़लम ही तोड़ दी है, ग़ज़ब ढा दिया है, देखिए न——

चलति अधिक छवि फबति स्रवन मनि-कुंडल झलकैं;
संकित लोचन चपल, ललित ढुत बिलुलित अलकैं।
—रास-पंचाध्यायी

धन्य नंददासजी ! धन्य है, कैसी सुन्दर सजावटदार तबीयतदारी की 'तसवीर' खींच दी, सुरूर से सरशार शब्दों में कैसी हृदयहारी हड़बड़ी भर दी कि—वाह... । चंचल चपलता से संयुक्त सशंकित लोचनों और विलुलित ललित अलकावली के पास ही—नज़दीक ही "स्रवन मनि-कुंडल झलकैं" ने एक निराली ही—अनुपम ही आभा अंकित कर दी । "स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः" का कैसा कमनीय अनुवाद है वाह...।

रसिकता की खान श्री "रसखानजी" भी विषभरी वंशी की विरुदावली का बखान करते 'बिहारी' की बेजा हरकत से परिपूर्ण वेदनामयी 'रिपोर्ट' पेश करते हुए कहते हैं—

दूध-दुह्यौं सीरौं परयौं, तातौं ना जमायौं बीरु,
जामन दयौं सो धरयौं-धरयौंई खटाइगो ।
आन हाथ, आन पाँइ सबही के जब हीं तैं,
तब हीं तैं 'रसखान' तानन सुनाइगो ॥
ज्यों हीं नर, त्यों ही नारि तैसियै तरुनि बाल,
कहियै कहारी सब ब्रज बिललाइगो ।
जानियैं न आली, यह छोहरा जसोमति कौं,
बाँसुरी बजाइगो कै विष बगराइगो ॥

—सुजान-रसखान

श्रीशुकदेवजी ने भी इस चपल चटपटी की चित्त में चुभनेवाली चर्चा की है ; "निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं, व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः" का प्रस्फुटित परिणाम परखाया है, जैसे कि—

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुकाः ;
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ।

—भागवतांतर्गत रास-पंचाध्यायी

आदि...किंतु वंशी द्वारा विताड़ित भवन-भीता भामिनियों के—शशि-समान सुमुखियों के तम-पुंजों से परिपूर्ण द्रुम-कुंजों से निकलकर आप—नंददासजी—ने कैसी उत्तम उत्प्रेक्षा उपजाई है...देखिए न—

कुंजन-कुंजन निसरति बर-आनन सोभित अस ;
तम-कौंने तैं निकर लसति राका-मयंक जस ।

—रास पंचाध्यायी

अर्थात् तम के—अंधकार के कोने से—गोद से निकलकर जैसे पूर्ण चंद्र शोभा पाता हो ।

आहा...तम में तड़फड़ाता हुआ या बदलियों में विलुलित चंद्रमा की लुका-लुकी कैसी सुंदर मालूम है । कैसी सुखकर प्रतीत होती है वाह...।

बाँकी छवि से छादित प्रेम का यह स्वाभाविक कि बंक कहन और बंक चहन रूपी सुहागे के संमि अधिकाधिक उज्ज्वलता आलिंगन करता जाय, उसका सौंदर्य निखरता जाय । प्यारे के प्रेम-पगे बंक वचन अनूठे ही मीठे लगते हैं, लगन के लौन का कुछ ही दूसरा होता है । अतः—

आइ उमँगि सों मिलीं रँगीली गोप-बधू अस ;
नंद-सुवन-सागर सुंदर सों प्रेम-नदी जस ।

—रास-पंचा

के पश्चात् श्रीशुक ने भी 'भागवतांतर्गत' प्रेम-स्वरूपिणी गोपियों के प्रेम को और भी उज्ज्वल करने लिये ज़रा-सी फड़कीली फटकार अथवा प्रेममयी भर्त्सना अवश्य दी है, किंतु हृदय में डरते-डरते, जैसे

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः ;
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम् ।

अथवा—

श्रवणाद्दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् ;
न तथा संनिकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ।

पर पावन प्रेम के कोमल-बिरवा ने, माखन से भी नेह के निराले अंकुर ने इस अड़बड़-खड़बड़ से दू रहकर पुनीत प्रेम को प्रश्रय देनेवाली अथवा में चुभनेवाली जो चुलबुली चुटकी भरी है, नेह के नवांकुर को क्षणिक विरह के उत्ताप से जो ज़रा उकसाया है, वह अकथनीय है, अवर्णनीय है । जैसे—

जब पिय कह्यौ घर जाहु, अधिक चिंता चित बाढ़ी ;
पुतरिन की-सी पाँति, रहि गईं इक-टक ठाढ़ी ।
दुख सौं दबि छबि-सींव-ग्रीव लै चलीं नाल-सी ;
अलक-अलिन के भार नमित जनु कमल-माल-सी ।
हिय-भरि बिरह-हुतास उसासन सँग आवति भर ;
चले कछुक मुरझाइ मधुभरे अधर-बिंब बर ।

अथवा—

लाल रसालहिं बंक बचन सुनि चकित भईं यौं ;
बाल मृगिन की माल सघन बन भूलि परीं त्यौं ।
मंद परसपर हँसीं लसीं तिरछी अँखियन अस ;
रूप-उदधि इतरात रँगीली मीन-पाँति जस ।

—रास-पंचाध्यायी

सिर्फ़ "घर जाहु" इतना ही कहने से, तनक छेड़-छाड़ से, मामूली मज़ाक से ही गोपियों की दयनीय दशा का यह जीता-जागता दिग्दर्शन है। लाल रसाल के बंक वचन द्वारा चकित भई गोपियों पर कैसी सुंदर उपमा जड़ी है कि वाह... । जैसे कि--

बाल-मृगिन कीं माल सघन बन भूलि परीं त्यों।

वाह कैसा सीधा-सादा, भोला-भाला दैन्य-दशोचित चित्र है वाह...।

कुछ ऐसा ही विरह-विलुलित वर्णन नंददासजी ने और भी किया है, सुंदरता से खूब सजाया है, जैसे कि--

सिसुपाल हि कों देति रुक्म, रुकमिनी बात सुनीं जब ;
चित्र-लिखी-सी रही, दई यह कहा भई अब।
चकित चहूँ दिसि चहति, बिछुरि मनों मृगी माल तें;
भयो बदन कछु मलिन, नलिन जनु गलित नाल तें।
भरि आए जल नैन, प्रेम-रस-ऐन सुहाए ;
जनु सुंदर अरबिंद, अलिन-दल बैठि हलाए।
ह्वै गयो कछु बिबरन तन छाजति यों छबि छाई ;
रूप अनूपम बेलि तनक मनु घाम में आई।

—रुक्मिनी-मंगल

अहा......प्रेम की प्रबलता ही प्रियतम की प्राप्ति का पुनीत प्रश्रय है, अनन्यता से अलंकृत अखंड आश्रय ही 'उपास्य' को आलिंगन करने का उत्तमोत्तम मार्ग है, रसीला रास्ता है। जो मन-वाणी से भी परे है, वेदादि भी जिसे नेति-नेति कहकर ही निराशा की रस्सी लिए बेबसी का ढोल पीट रहे हैं, योगीजन भी जिसके अगम, अगोचर रूप को बरबस हृदय में स्थापन के लिये नाना भाँति के यत्नों में प्रवृत्त हैं, उस अजर बिहारी की सारी सिट्टी यहीं भूल जाती है, शोख़ी हवा हो जाती है, भावना के भव्य भाव में सारा अपनपा भूल जाता है, और कहने लगता है कि--

"प्रियं किं करवाणि वः"

अतएव, इस विवशता में जो आनंद है, जो सुख है, ज़रा-सी देर के बनने-बिगड़ने में जो माधुर्य है, वह भुक्त-भोगी ही जान सकते हैं, वे ही इसकी सरस सत्ता स्वीकार कर सकते हैं, अन्य नहीं।

ज़रा-सा बिगाड़ हुआ, मान-महाराज मुकुलित हुए, युगल प्रेमी उस अनोखी अदा से अलंकृत अनुपम भाव-भंगी को निरखने के लिये मचल पड़े, आँखें उठीं, सामना हुआ कि हिजाब हाज़िर, लज्जा लिपट गई, प्रेम फूट पड़ा, सारा मान और ज़रा-सी देर का बनावटी क्रोध काफ़ूर हुआ, फिर वही बात, फिर वही आलम, युगल प्रेमियों में और नवीनता उत्पन्न हो गई। स्नेह और भी उबल पड़ा, मज़ा ही दूसरा हो गया, जैसे कि--

तब बोलीं ब्रज-बाला लाला मोहन अनुरागी ;
सुंदर गदगद गिरा गिरिधरहि मधुरी लागी।
अहो मोहन ! अहो प्रान-नाथ ! सुंदर सुखदाइक ;
क्रूर बचन जिन कहौं नाहिं ए तुमरे लाइक।
कुटिल अलक, मुख-कमल मनों मधुकर मतवारे ;
तिनमें मिलि गए चपल नैन ह्वै मीन हमारे।
चितवनि मोहन मंत्र, भौंह जनु मनमथ-फाँसी ;
निपट ठगोरी आहि, मंद मुसकानि मृदु हाँसी।
अधर-सुधा के लोभ भई हम दासि तिहारी ;
ज्यौं लुबधी पद-कमल, चंचला कमला-नारी।
जो न देहु मधु-अधरामृत तों सुनि सुंदर हरि ;
करि हैं इहि तन भसम बिरह-पावक में परि-परि।
पुनि पद तुम्हरे परसि बहुरि धरिहैं सुंदर अँग ;
निधरक ह्वै फिरि अधरामृत पीवहिगीं सँग-सँग।

अस्तु !

प्रेम-पगे सुनि बचन आँचि-सी आइ लगी जिय ;
पिघल चल्यों नवनीत मीत सुंदर मोहन-हिय।
बिहँसि मिले नँदलाल निरखि ब्रज-बाल बिरह अस ;
जदपि आतमाराम रमत भए परम प्रेमबस।
हरखि अंक भरि लईं रंक नव-निधि की नाईं ;
पुनि-पुनि पिय-हिय लाइ, सँजीवन-मूरहि पाईं।

—रास-पंचाध्यायी

प्रेम की कुछ ऐसी ही उन्मादिनी शक्ति से सुशोभित सुंदर शब्दावली आपने रुक्मिणी द्वारा द्वारिकानाथ के प्रति भी कहलवाई है। यथा--

नागर, नगधर, नंदकुँअर जो करहु न दासी ;
तो पावक परि जरिहौं बरिहौं तन तिनका-सी।
मर-मर धरि-धरि देह जु पैहौं सुंदर हरि बर ;
पै इहि कबहु न होइ छुएँ सिसुपाल स्याल कर।

—रुक्मिनी-मंगल

अब संयोग से संयुक्त कतिपय सुंदर शब्दावली के साथ ही "रसिक-जीवन-प्राण"-नामक प्रथम अध्याय

की समाप्ति पर लेख की समाप्ति कर रहा हूँ, कारण—

भरे भवन के चोर भए बदलति हीं हारे।

—नंददासजी

का-सा मामला हो रहा है, "कागद थोरों हित घनों" की घुमेड़ में घूम रहा हूँ; उल्लास उछल रहा है, पर दबा रहा हूँ; मन मचल रहा है, पर मनाने में लाचार हूँ; क्योंकि नंददासजी की कमनीय कृतियाँ, सहज-माधुरी, जिधर देखता हूँ उधर ही माधुर्य से लबालब भरी हैं, मन लुभाने के लिये पर्याप्त हैं, अनुपम शक्ति से सुशोभित हैं। अतः समुचित समय के लिये हृदय थामकर कुछ ही नयनाभिराम उत्तम उक्तियों को और रखता हूँ। यथा—

बिहरति बिपिन-बिलास उदार नवल नँद-नंदन ;
नव-कुंकुम घनसारु, चारु चरचित है चंदन।
अदभुत साँवल अंग बन्यों अदभुत पीताम्बरि ;
मुकट धरैं सिंगार गेम-अंबर ओढ़ैं हरि।
बिगलति उर बन-माल लाल जब चलति चाल बर ;
कोटि मदन की भीर उठति पुनि गिरति चरन-तर।
गोपी-जन मन-मोहन, मोहनलाल बने यों ;
अपनी दुति के उड़गन लै उड़पति खेलति ज्यों।
कुसुम-धूरि-धूँधरी-कुंज, छबि-पुंजन छाई ;
गुंजत मंजु अलिंद बैनु जनु बजति बधाई।
इत महकति मालती, चारु चंपक चित चोरत ;
उत घनसार-तुसार, मिली मंदार झकोरत।
इत लवंग-नवरंग एलचीं झेलि रही रस ;
उत कुरबक, केवरो, केतकी गंध बंधु-त्रस।
इत तुलसी छबि हुलसीं, छाँड़ति परमल-पूटैं ;
उत कमोद आमोद गोद भरि-भरि सुख लूटैं।
फूलन-माल बनाइ लाल पहिरत, पहिरावत ;
सुमन सरोज सुधाब्र ओज मनोज बढ़ावत।

—रास-पंचाध्यायी

बस, इससे आगे सुनने के आप और हम अधिकारी नहीं हैं, अतः परमलम्।

जवाहरलाल चतुर्वेदी

विवश-पयान

प्रियतमे ! सर्व विश्व था शांत,
सरस निद्रा में होकर लीन ;
किंतु मैं होकर अति ही क्षुब्ध
कर रहा मूक रुदन था दीन।
अचानक तुमने आ चुपचाप,
अधखिले सुमनों का इक हार ;
मुझे पहनाया था, है ख़याल ?
अहो ! वह था कितना सुकुमार !
लगा था नभ में हँसने चन्द्र,
तुम्हारा देख प्रेम-व्यवहार ;
सदय हो उसने भी अत्यंत,
ढुलाई थी अमृत की धार।
बिठाकर तुम्हें गोद में, मुग्ध-
हृदय का लेकर मृदु उपहार ;
दिया था आलिंगन के साथ,
जताने प्रथम मिलन का प्यार।
हुए थे हम दोनों सुधहीन,
मधुरतम प्रेम-सुरा कर पान ;
रटा करते थे केवल एक
यही रट हो उन्मत्त समान—

"लबालब है प्याला रसयुक्त,
हुआ खाली केवल कुछ बूँद ;
मधुरिमा छाई चारों ओर
पिए जाओ आँखों को मूँद।"
बीतते गए दिवस इस भाँति,
निकटतर आता गया अनन्त ;

किंतु हम दोनों की अब भी न
वासनाओं का आया अंत।
अचानक पड़ी कान में टेर,
दीखने लगा विश्व का छोर ;
विवश हो करना पड़ा पयान,
हमें इससे अनन्त की ओर।

बाबूलाल भार्गव "कीर्ति"

भारतीय चित्रकला की रूपरेखा

पचास वर्ष से भी कम हुए योरपवासियों के मन में यह बात भली भाँति जमी हुई थी कि भारतवर्ष में चित्रकला नाम की कोई वस्तु नहीं है। भारतीय कला पर जो दो-चार पुस्तकें उस समय तक प्रकाशित हुई थीं, उनसे साफ़ ज़ाहिर होता था कि यह देश चित्रकला से बिलकुल कोरा है। इस कथन को मान लेने से भारतीय कला का अध्ययन बहुत सरल हो गया। यह ठीक है कि भारतवर्ष में समय-समय पर छोटे-छोटे रंगीन चित्र (Meneatures) मिलते रहे हैं, परंतु पश्चिम के कला-भवनों में वे प्रायः फ़ारसी समझे जाते थे और कभी-कभी तो चीनी ! उनको कला के उत्कृष्ट उदाहरण तो क्या, चित्र भी न समझा जाता था; लोगों की दृष्टि में उनका मूल्य पुस्तकों की शोभा बढ़ाने के अतिरिक्त और कुछ न था।

इन बातों का कारण जान लेना कठिन नहीं। पश्चिम-वाले केवल पश्चिमी दृष्टिकोण से ही कला की परख करते थे। यदि कोई चित्र या शिल्प पाश्चात्य नियमों पर पूरा न उतरा, तो वह कला का आदर्श नहीं माना जाता था, बल्कि उसको उसकी विचित्रता के कारण प्राच्य-संग्रहालय में स्थान मिल जाता था।

सर्वप्रथम जापानी कला की सुंदरता की ओर पूर्वीय सभ्यता के प्रशंसकों का ध्यान गया। पूर्वीय कला की विशेषताओं के कारण थोड़े समय में यह स्पष्ट हो गया कि पाश्चात्य नियम ही कला की कसौटी नहीं है; कला की परख के लिये अधिक उदारता की आवश्यकता है।

जापान की चित्रकला को कला मान लेने के थोड़े ही दिन बाद भारतवर्ष भी कलाविदों का ध्यान आकृष्ट करने लगा। प्रत्येक तसवीर कपड़े पर बनी हो तथा चौखटे में जड़ी हो, यह भावना भी शीघ्र ही दूर हो गई और बौद्ध एवं मुग़ल-चित्रों की गिनती भारतवर्ष की उत्कृष्ट कला में होने लगी।

पूर्व और पश्चिम में अनेक बातों में भेद होते हुए भी दोनों प्राच्य-कला को कला मानने लगे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि दोनों के दृष्टिकोणों में तनिक भी भेद नहीं रह गया। योरप को आश्चर्य में डाल देनेवाले चित्रकार होकुसाई को ही लीजिए, मिलेट और विस्लर उसकी प्रशंसा करते नहीं अघाते, परंतु अपने देश जापान में उसकी बहुत ही कम तारीफ़ हुई।

अब प्रश्न यह है कि पूर्व और पश्चिम इन दोनों में किसका मत ठीक है ? हम भारतीय कला से ही उदाहरण लेते हैं। भारतीय आदर्शवादी बाह्य सौंदर्य की बिलकुल ही परवा नहीं करता, वह भीतरी भावना को ही सर्व-प्रधान समझता है। दूसरी ओर, पाश्चात्य कलाविद् की दृष्टि चित्रण-कौशल पर जाती है। बस, यही अंतर प्राच्य और पाश्चात्य दृष्टिकोणों का है। पूर्वीय लोग पहले दार्शनिक हैं, पीछे कलाविद् ; पश्चिमवाले पहले कलाविद् हैं,

पीछे दार्शनिक। परंतु भारतीय कला—विशेषकर चित्र-कला—की सहृदय सराहना ने, जो पिछले कुछ वर्षों से जनता की जिह्वा पर है, अब एक निश्चित स्थान पा लिया है। अब पूर्व और पश्चिम एक दूसरे के आदर्शों को समझने लगे हैं।

वास्तव में पूर्वीय और पश्चिमीय सभ्यताएँ हर बात में एक दूसरे से जुदा हैं। अतः दोनों की कलाओं में भी कोई समानता नहीं पाई जा सकती। दोनों के उद्गम भिन्न हैं, उद्देश्य भिन्न हैं, और निर्दिष्ट स्थान भिन्न हैं। हाँ, दोनों की कुछ मुख्य-मुख्य असमानताओं का वर्णन किया जा सकता है और इस प्रकार भारतीय चित्रकला की कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख हो सकता है।

पश्चिम की कला 'स्थूलता'-प्रधान है। पूर्व की कला 'रेखा'-प्रधान है। पाश्चात्य कलाकार प्रकाश, छाया और रङ्गों के समुचित प्रयोग से नैकट्य, दूरत्व और स्थूलता का भास कराता है। प्राच्य कला में इस प्रकार का स्पष्ट भास नहीं होता, स्थूलता एवं अंतर का केवल अनुमान कर लेना होता है। यह अनुमान रेखांकित एवं स्पष्टतया व्यक्त सीमा पर ही अवलंबित है। दूसरे शब्दों में, प्राच्य कला में भावना को प्रधान स्थान मिलता है तथा रेखा की बारीकी ही यहाँ सब कुछ है। इस दृष्टि से प्राच्य कला श्रेष्ठतर है। पाश्चात्य संगीत की भाँति पाश्चात्य कला भी सामूहिक है। अर्थात् एक ही समय में अनेक व्यक्ति इससे आनंद उठा सकते हैं। भारतीय कला से एक समय में केवल एक ही पुरुष को आनंद मिल सकता है।

भारतीय चित्रकला के तीन भाग किए जा सकते हैं—बौद्ध, हिंदू और मुसलिम। पंजाब के पहाड़ी राज-पूत-प्रांतों के तथा राजपूताना के साथ संबंध होने से हिंदूकला को राजपूतकला भी कहते हैं; इसी प्रकार मुसलिमकला को मुग़लकला कहते हैं, क्योंकि मुग़ल-दरबार में ही इसे प्रोत्साहन मिला था। बौद्ध और राजपूत-कला भारतवर्ष के आध्यात्मिक जीवन की द्योतक हैं—इनका प्रमुख भाव धार्मिकता और अध्यात्मवाद है। इसके विपरीत मुग़ल-चित्रकला नितांत सांसारिक है—इसमें भौतिकता और यथार्थवाद का प्राधान्य है।

बौद्ध-चित्रकार का उद्देश्य अपने धर्म की भावनाओं और किंवदंतियों को सुंदर दृश्यरूप देकर जनता में प्रचारित करना था। इनका प्रभाव दर्शक के भावों पर पड़ता है, और इनमें ऐसा जादू होता है [कि] दर्शक अपने तुच्छ व्यक्तित्व को भूलकर महानता [में] विलीन हो जाता है। राजपूतकला का भी यही उद्दे[श्य] है, पर कुछ बातों में वह बौद्धकला से बढ़ी-चढ़ी है। हिंदू-धर्म के पौराणिक नाटकों के अतिरिक्त इसमें साधारण के घरेलू जीवन के दृश्य भी अंकित किए [जाते] थे। ये चित्र सर्वप्रिय और सहज ही स्थान-परिवर्त[न] के योग्य होते थे, इससे घर-घर में इनका प्रचार [हो] गया। इस प्रकार अपने उद्देश्य में राजपूत चित्रक[ार] और भी ज़्यादा सफल हो सके। मुग़लकला यद्य[पि] रंगढंग में राजपूतकला से मिलती-जुलती है; परंतु भाव[ों] में उससे नितांत विभिन्न है। मुग़ल-चित्रण धार्मि[क] भावनामय नहीं; बल्कि यथार्थवादी होता था। इस[का] भावाङ्क कमाल दर्जे का होता था, चित्रित व्यक्ति [के] भाव एवं चरित्र अज्ञातरूपेण ही व्यक्त हो जाते थे। इन शैलियों (Schools) के इतिहास तथा विवर[ण] पर हम अलहदा विस्तृत लेख लिखेंगे।

भारतीय चितेरों के विषय में प्रायः कुछ भी न[हीं] विदित है। दूसरे पूर्वीय देशों के चित्रकार जीते-जाग[ते] व्यक्ति मालूम होते हैं। उनके रहन-सहन, चाल-चल[न] और भाव-भावनाओं से लोग परिचित हैं। उदाहरण[ार्थ] जापानी चित्रकार समाज के बंधनों से मुक्त एक [पृथक्] व्यक्ति था, जिसका जीवन उसकी कला पर निर्भर था। परंतु भारतीय चितेरों के विषय में—चाहे वे बौद्ध [हों] अथवा मुग़ल हों—कुछ भी ज्ञात नहीं—उनके चि[त्रों] से ही उनके अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है।

इस बात को मानने के लिये हमारे पास पर्याप्त सा[धन] हैं कि बौद्ध-चितेरा बहुश्रुत एवं कलाकार धर्माधिका[री] होता था। उसकी कार्य-प्रणाली कदाचित् वैसी ही थी जैसी वर्तमान काल में तिब्बत में प्रचलित है। जब [यह] निश्चय हो जाता कि अमुक मंदिर को अलंकृत क[रना] है अथवा अमुक प्रकार की मूर्ति तैयार करनी है, [तो] केंद्रीय धार्मिक संस्थाओं से उस स्थान पर कलाका[र] भेजे जाते थे, और वे काम पूरा होने तक स्थानीय म[ठों] (संघों) में ठहरते थे। इस समय वे स्थानीय संघ [के] सदस्य माने जाते तथा उनका अशन-बसन आदि [से] सत्कार भी दूसरे धर्माधिकारियों अथवा भिक्षुओं

समान ही होता था। शिल्पकारों और चित्रकारों के लिये एक ही नियम थे। बहुधा एक ही पुरुष शिल्पी और चितेरा, दोनों होता था। काम पूरा हो जाने पर वे लोग या तो केंद्रीय संघ को लौट जाते अथवा दूसरी जगह काम करने चले जाते। राजपूत-चित्रकार गाँव के दूसरे कारीगरों के समान ही मामूली आदमी होते थे। जो हैसियत शिल्पी जुलाहे और सुनार की थी, वही इनकी भी थी। ये प्रायः घरों अथवा राजमहलों के सजाने के लिये नौकर रख लिए जाते थे। बेकारी के वक़्त में ये पौराणिक कथाओं के चित्र बनाया करते थे। परंतु मुग़ल-चित्रकार बिलकुल ही दूसरे ढंग का आदमी होता था। यह राजदरबार का ही एक व्यक्ति अर्थात् राजपुरुष होता था। जिस बादशाह या उच्चाधिकारी का यह मातहत होता, उसी की आज्ञानुसार चित्र बनाता। मुग़ल-चितेरों को बँधी हुई तनख्वाह नहीं मिलती थी; बल्कि कोई अच्छी तसवीर बनाने पर उपयुक्त इनाम मिल जाया करता था।

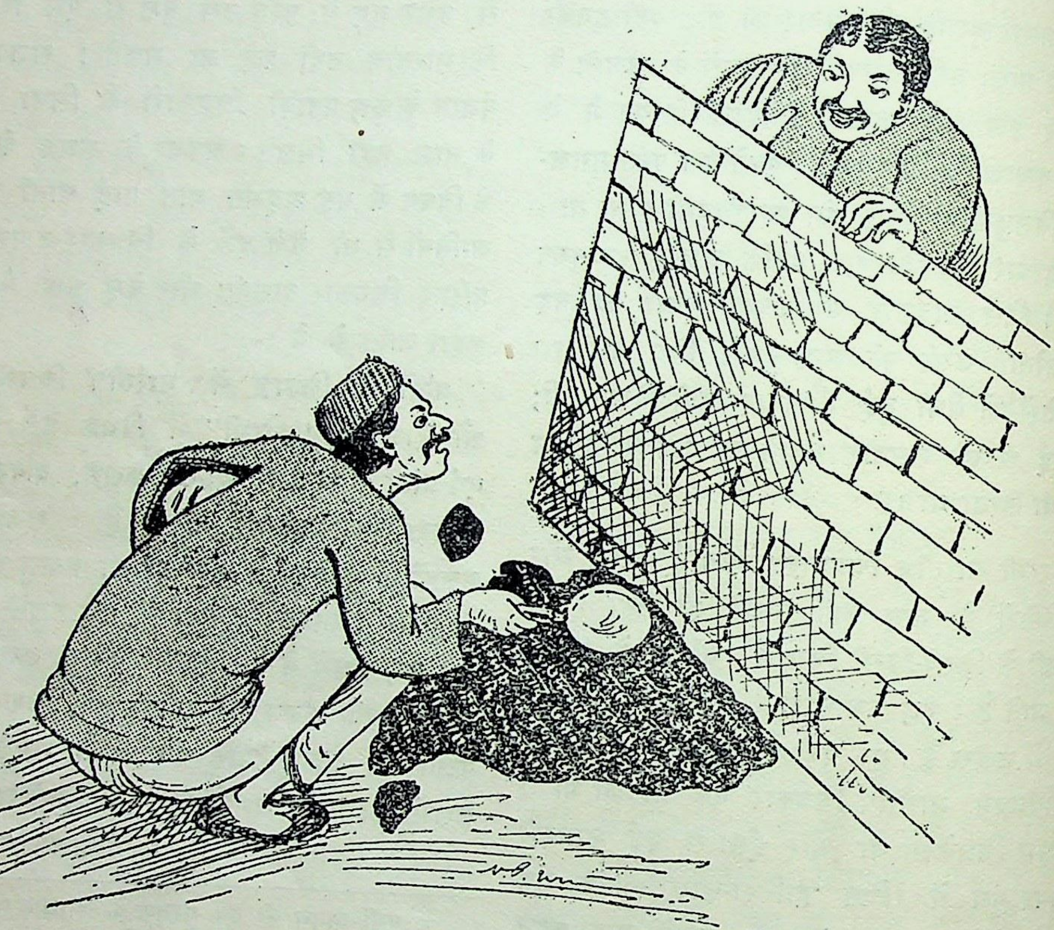
प्रायः सभी भारतीय चित्रकार अज्ञात हैं। बौद्ध और राजपूत-चितेरों के नाम कहीं मिलते ही नहीं। हाँ, मुग़ल-शैली के किसी-किसी चित्र में रचयिता के हस्ताक्षर पाए जाते हैं। कुछ कलाकारों के नामों का 'आईने-अकबरी' में उल्लेख है। एक बड़ी महत्त्वशालिनी बात यह है कि सर्वप्रथम भारतीय चित्रकार एक महिला थी। इसका नाम चित्रलेखा था और ईसा से कई शताब्दी पूर्व द्वापर युग में रचित 'द्वारिका-लीला'-नामक ग्रंथ की एक घटना से इसका संबंध था। इसके बाद बहुत काल तक किसी चित्रकार का पता नहीं मिलता। सत्रहवीं शताब्दी का एक इतिहासकार तारानाथ, बौद्ध-शैली के कुछ चितेरों का उल्लेख करता है। तारानाथ के वर्णन से यही पता चलता है कि ये कलाकार चित्र और शिल्प, दोनों में पारंगत थे। चीनी-ग्रंथों में कुछ बौद्ध-चितेरों के नाम मिलते हैं। ये लोग भारतवर्ष से उधर गए थे; परंतु उस देश में ऐसे हिलमिल गए कि भारतीय नहीं कहे जा सकते। राजपूत-स्कूल में पंजाब के कुछ पहाड़ी चित्रकारों के सिवा और किसी के नाम नहीं मिलते। अकबर के समय के चित्रकारों के विषय में यह अद्भुत बात पाई जाती है कि नीची जातियों से भी ऊँचे दर्जे के चित्रकार उत्पन्न हुए हैं। प्रसिद्ध चित्रकार दासवंत और केसू नाम के दो चितेरे कहार जाति के थे।

प्रांतों के लिहाज़ से भारतीय चित्रकला (मुग़ल और राजपूत) "क़लमों" में विभक्त है। चित्रण-शैली एवं प्रांतों के अनुसार देहली क़लम, दक्खिनी क़लम, काँगड़ा क़लम इत्यादि प्रसिद्ध हैं। राजपूतकला दो क़लमों में बँटी हुई है—जयपुर की क़लम और काँगड़ा की क़लम। मुग़ल-चित्रकला में कई क़लमें पाई जाती हैं। कुछ क़लमें ये हैं—देहलवी क़लम, लखनवी क़लम, दक्खिन की क़लम, ईरानी क़लम, कशमीरी क़लम, पटना की क़लम और जयपुर की मुग़ल-क़लम। इन क़लमों का वर्णन अगले लेखों में किया जायगा। *

गोपालस्वरूप भटनागर

* पर्सी ब्राउन की एक पुस्तक के आधार पर।

अन्वेषण !



बंगाली महाशय—आप किसकी खोज कर रहे हैं ?
हिंदी-प्रेमी—मौलिकता की ।
बंगाली महाशय—मगर आईग्लास के द्वारा तो इसका पता चलना मुश्किल है । ज़रा, दिमाग़ लगाइए !

आलोचना और पुस्तक-परिचय

श्रीमुनिसुव्रत-काव्य (संस्कृत-टीका-सहित)—रचयिता, कविवर श्रीअर्हद्दास; हिंदी-अनुवादक तथा संपादक, पं० के० भुजबली शास्त्री और पं० हरनाथ द्विवेदी; प्रकाशक, श्रीजैन-सिद्धांत-भवन, आरा; छपाई साधारण; आकार रायल अठपेजी; पृष्ठ-संख्या २२१; मूल्य कपड़े की जिल्द २।।) सादी जिल्द २); प्रकाशक के ही पते से प्राप्य।

यह प्राचीन जैन-काव्य-ग्रंथ देवकुमार-ग्रंथमाला का प्रथम पुष्प है। इसका दूसरा नाम काव्यरत्न भी है। कवि ने जैनियों के उत्तर पुराण के आधार पर तीर्थंकर सुव्रतमुनि का जीवनचरित लेकर इस काव्य की रचना की है। इसमें दस सर्ग हैं। संस्कृत-टीकाकार ने अपना नाम गुप्त रक्खा है। हिंदी-अनुवादक पं० हरनाथ द्विवेदी का अनुमान है कि शायद काव्य के रचयिता ने ही टीका भी कर दी है। जो हो, पर टीका सरल और विस्तृत है। टीका देखकर साधारण संस्कृतज्ञ भी काव्य का अर्थ भली भाँति समझ सकता है। हिंदी-अनुवाद भी अच्छा है। प्रूफ़ सावधानी से नहीं पढ़े गए, जिससे अशुद्धियाँ रह गई हैं। अगले संस्करण में इसका ध्यान रखना चाहिए। कविवर श्रीअर्हद्दास के बनाए हुए दो ग्रंथ—पुरुदेव-चंपू और भव्यकंठाभरण—और भी प्राप्त हुए हैं। मालूम नहीं, ये ग्रंथ प्रकाशित हुए या नहीं।

श्रीजैन-सिद्धांत-भवन के मंत्री श्रीनिर्मलकुमार जैन अपने वक्तव्य में लिखते हैं—"इस भवन में हस्तलिखित ३००० जैन और अजैन-ग्रंथ एकत्र हैं। इस ग्रंथमाला में इन्हीं ग्रंथों के प्रकाशन की व्यवस्था की गई है।...मेरा ध्येय यही है कि मैं अपने आचार्यों की कीर्ति को अब भी सबके ऊपर देखूँ।" यदि आपने अपने ध्येय की पूर्ति में हस्तलिखित जैन-ग्रंथों को इस ग्रंथमाला में प्रकाशित किया, तो जैन-साहित्य का महान् उपकार होगा। हम हृदय से उनके ध्येय की पूर्ति और ग्रंथमाला की उन्नति चाहते हैं।

× × ×

विधवा-विवाह—लेखक और प्रकाशक, पं० राधेलाल चतुर्वेदी, ७७, लूकरगंज, इलाहाबाद; आकार डबल क्राउन १६ पेजी; पृष्ठ ७४; कागज़ छपाई उत्कृष्ट ।

लेखक महोदय ने इस पुस्तक में वैदिक और स्मार्त ग्रंथों के अनेक प्रमाण देकर विधवा का पुनर्विवाह शास्त्र-सम्मत सिद्ध किया है । पुराणों के भी एक-आध प्रमाण हैं । लेखक का परिश्रम श्लाघ्य है और पुस्तक विध[वा-]विवाह के समर्थक और विरोधी, दोनों महानुभावों [के] देखने योग्य है । पुस्तक पर मूल्य नहीं छपा है । पुस्[तक] प्रकाशक के पते से मिल सकती है ।

चंडिकाप्रसाद अवस्[थी]

कृषि, शिल्प और वाणिज्य

१. भारतवर्ष की हुंडियामन का प्रश्न

भारतवर्ष में, आरंभ में, भिन्न-भिन्न स्थान में, भिन्न-भिन्न प्रकार के रुपए और सोने की मुहर का चलन था । किसी भी स्थान पर दोनों का एक साथ चलन नहीं था और न दोनों की क़ीमत का प्रमाण ठहरा हुआ था । पर उसके साथ ही ताँबे के भी सिक्के थे, और उनकी क़ीमत रुपए या सोने की मुहरों से ठहरी हुई थी । चलन के सिक्के के रूप में ताँबे के सिक्कों के लेन-देन की कोई हद थी कि नहीं, इस संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता । पर यह ध्यान में आता है कि ऐसी हद सरकार की ओर से न रही हो, तो भी साहूकार के व्यवहार में अवश्य होगी । भारतवर्ष में रुपए को प्रधान सिक्के का रूप देने का विचार भारत-सरकार ने १८०६ में किया । अनेक कठिनाइयाँ दूर करने के उपरांत १८६५ में सरकार ने अपने विचार को कार्यरूप में परिणित किया । उसके बाद जब चाँदी का भाव घटा, तब १८९३ में सरकार ने फिर अपना धोरण बदला । लोगों को खुले तौर पर रुपया देना सरकार ने बंद कर दिया । उसके उपरांत १८९९ में क़ानून बनाकर सोने का सिक्का भी जारी किया गया । उस समय भारतवर्ष में सोने का धोरण था, ऐसा कहा जाता है, पर वास्तव में रुपए का ही धोरण (Standard) था ।

सोने का धोरण भारतवर्ष में क़ानून के रूप में होने पर भी व्यवहार में उसका अमल नहीं हुआ । उसके कई कारण थे । सोने के सिक्के के साथ रुपए की क़ीमत का जो प्रमाण रक्खा गया था, वह बहुत ऊँचा था ; ११३ ग्रेन शुद्ध सोने का जो सिक्का पौंड के नाम से चलन में स्वीकार किया गया था, उसकी क़ीमत पंद्रह रुपए रक्खी गई थी ।

जब तक बाज़ार में उसे देकर लोगों को पंद्रह से अधिक रुपए मिलते, तब तक वे उसे सिक्के के रूप में व्यवहार में न लाते । यही कारण है कि सोने का सिक्का कभी चलन में नहीं रहा । यदि सरकार उस समय रुपया बनाना बंद कर उसकी क़ीमत इतनी चढ़ा देती कि कोई पंद्रह रुपए भी एक पौंड के

लिये देने को तैयार न होता, तो १८६६ का क़ानून अमल में आ जाता और भारतवर्ष में आज भी सोने का सिक्का चलन में दिखाई देता। दूसरा कारण यह भी था कि सरकार ने चलन में रुपए की सिक्के के रूप में कोई हद नहीं रक्खी थी। यदि उसकी लेन-देन की हद होती, तो सोने का सिक्का चलन से न हटता। यदि सरकार रुपए की क़ीमत को पौंड के सिक्के में बाज़ार-भाव से घटाकर रखती, तो सोने का धोरण भारतवर्ष में स्थापित हो गया होता। पर १६१५ तक विदेश में हमारे रुपए की क़ीमत अर्थात् इँगलैंड पर की हुई हमारी हुंडी का भाव १६ पेंस से अधिक नहीं हुआ। पर सरकार ने अपने क़ानून से चलन में १६ पेंस की दर निश्चित की, इससे भारतवर्ष में रुपए का ही सिक्का जारी रहा। १६१४ के उपरांत युद्ध के समय में हुंडी का भाव बढ़ा और १६ पेंस से ऊपर चढ़ गया। उस समय यदि भारत-मंत्री ने हुंडी ख़रीदने की दर १६ पेंस रक्खी होती और उसे इससे ऊपर न चढ़ने देते, तो भारतवर्ष का रुपया विदेश गया होता या देश में ही गलाया गया होता और अंत में ऐसी अवस्था दिखलाई देती कि रुपए के सिक्के के बदले में रुपए के नोटों का प्रचार बढ़ गया होता। युद्ध समाप्त होने पर जब विदेश से सोना भारतवर्ष में आता, तब इन नोटों के स्थान पर चलन में उनके सिक्के होते। पर सरकार इँगलैंड पर की गई हुंडी की दर युद्ध के समय में अधिक-से-अधिक चढ़ाती गई, जिससे भारतवर्ष में सोने का सिक्का चलन में जारी होने से रह गया।

यदि संसार के सभी देशों में एक समान चलन होता अर्थात् सोने के सिक्के को चलन के सिक्के के रूप में अमुक हद तक स्वीकार करने का जो नियम इँगलैंड में है, वह नियम संसार के सभी देशों में होता, तो संयुक्त चलन की व्यवस्था में अधिक फेरफार होने की शायद ही कभी नौबत आती।

पर चीन में चाँदी का धोरण और उसका डालर से चलन होने से विदेशों के साथ उसकी हुंडी का संबंध संसार की चाँदी के भाव और सोने के सिक्के, दोनों से रहा, और उसमें फेरफार होने पर उसका असर संसार के सभी देशों के सिक्कों पर हुआ। इसका असर भारतवर्ष के चलन में इस रूप में हुआ कि चाँदी का भाव संसार-भर में घटने पर संसार के बाज़ार में की क़ीमत १६ पेंस से भी कम रह गई। यदि चीन भी उस समय सोने का धोरण होता अथवा चीन व्यापारिक संबंध अन्य किसी भी देश के साथ न हो तो भारत-सरकार रुपए की क़ीमत को १६ पेंस से अधिक कर सकती थी। और, यदि सरकार तब करती, तो भारतवर्ष में सोने का सिक्का चलन में हो गया होता। १६१४ के उपरांत युद्ध-काल में चाँ का भाव बहुत ही बढ़ा, तब सरकार ने भारतवर्ष हित के लिये उससे लाभ उठाने के बजाय, क़ानून फेरफार कर एक रुपए के बराबर सोलह पेंस के स्था पर चौबीस पेंस गिनना ठहराया। इस फेरफार का परिणाम होना था कि भारतवर्ष में चाँदी का धोरण से स्थापित हो। ऐसा संभव नहीं रहा और रुपए धोरण जारी रहा। साथ ही सोने का धोरण भारत में स्थापित होने से रह गया। रुपए का सिक्का से बाहर चलन में जारी रहने से चाँदी के धोरण असर भी भारतवर्ष में बना रहा और सोने के को भारतवर्ष में चलनी सिक्के के रूप में स्वीकार करने १८६६ का क़ानून होने पर भी क़ानूनी किताबों चित्रपट के समान अंकित रह गया। १८६६ के क़ानू को बदलकर जो अवस्था लाना सोचा गया था, मंसूबा सफल नहीं हुआ। चौबीस पेंस का रुपया बना रखने में सरकार को सफलता नहीं मिली। परिणा यह हुआ कि भारतवर्ष का करोड़ों रुपया रिज़र्व फं से नष्ट हो गया, व्यापार के नाश का तो उल्लेख कर ही वृथा है। व्यापार तो संकट-जनक अवस्था में पहुँ गया। उससे भी अधिक चिंता का विषय रुपए अस्थिर क़ीमत थी। अर्थात् उसकी क़ीमत इँगलैं पर की गई हुंडी के भाव से अस्थिर चालू रही। उ दूर करने के लिये प्रजा ने अनेक बार सरकार का ध्या आकर्षित किया; पर कुछ भी दाद नहीं दी गई।

संयुक्त चलन की व्यवस्था में एक सिक्के को प्रधान रू देकर अन्य सबको गौण स्थान दिया जाता है। प वह भी भारतवर्ष में नहीं हुआ। प्रधान रूप से मुख्य स्थान में सोने का सिक्का मानने की धारणा थी। प तो भी चलन में उसका प्रसार नहीं हुआ। और, रुपए का सिक्का गौण रहने पर भी हमारे समस्त व्यापार

रुपया ही चालू रहा । इससे चलन के प्रधान सिक्के के गुणों में से एक भी रुपए में नहीं आया । केवल सरकारी क़ानून के अनुसार चलन के सिक्के के रूप में माने जानेवाले सारे अवगुण रुपए में बने रहे ।

हमारे चलन के सिक्के की व्यवस्था के लिये इँगलैंड की ओर दृष्टिपात किया जाता है। पर इँगलैंड की व्यवस्था ऐसी है कि चाँदी का भाव छप्पन पेंस तक चढ़ जाय, वहाँ तक व्यवस्था में कोई विघ्न नहीं पड़ता है और चाँदी का सिक्का चलन में बना रहता है। भारतवर्ष के क़ानून में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है, जिसके परिणामस्वरूप रुपए की क़ीमत स्थिर रहे। १९२७ में जो क़ानून स्वीकृत हुआ है, उसमें कुछ ऐसी व्यवस्था की गई है ; पर उससे कुछ नहीं होने का। कारण स्पष्ट है कि सरकार सोना ख़रीदनेवालों को सोना दे सके, इतना स्टाक वह हमेशा नहीं रख सकेगी और वर्तमान मनोवृत्ति में सरकार सोने का काफ़ी स्टाक रक्खे, इसके भी लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। भारत-सरकार पर इँगलैंड के प्रभुओं का इतना अधिक ज़ोर है कि भारतवर्ष में सोने का धोरण निर्माण करने में सरकार सदैव अनिच्छा प्रकट करती है ।

हमारे इस विवेचन से पाठक चलन का धोरण नहीं समझे होंगे। हम उनकी जिज्ञासा के लिये संक्षेप में इतना ही बतलावेंगे कि मुख्य सिक्के में जो चार गुण होते हैं, वे इस प्रकार हैं--

(१) दूसरी चीज़ों की क़ीमत नियत करने का साधन।

(२) क़ीमत नियत करने का निरंकुश साधन।

(३) सिक्के के रूप में व्यवहार में आनेवाली चीज़ों की द्रव्यशक्ति।

(४) माँगनेवाले को देनेवाला दे, तो वह सिक्के के रूप में क़ानून के अनुसार माना जाय। यदि यह अंतिम गुण सिक्के में हो और वह निरंकुश रूप से चलनेवाले सिक्कों में मुख्य स्थान रखता हो, तो उसका धोरण माना जायगा। यदि भारत-सरकार ऐसा क़ानून बनावे कि अब से चीनी को सिक्के के रूप में माना जायगा तो भारतवर्ष में चीनी का धोरण हो जायगा। ऐसा क़ानून बनने पर दूसरी चीज़ें अमुक हद तक सिक्के के रूप में चलन में हों, तो उनके व्यवहार में बाधा नहीं पहुँचती है। बात सिर्फ़ इतनी है कि दो सिक्के कभी एक साथ निरंकुश चलन के सिक्के के रूप में जारी नहीं रह सकते। इससे चलन में रहनेवाले मुख्य सिक्के का ही धोरण स्वीकार किया जाता है। और उसकी क़ीमत चाँदी या सोने के सिक्कों के माध्यम में नियत हो या न हो, तो भी वह क़ीमत स्थिर रखता है और यदि वह न रख सके, तो वह मुख्य सिक्का नहीं है।

साहूकार अपनी रक़म वसूल करने के समय क़ानून और व्यवहार के अनुसार जिस चीज़ के पाने की आशा रखता हो, उसी सिक्के को धोरण के रूप में माना जा सकता है। यदि वह सोने का सिक्का हो, तो दुनिया में उसकी पैदायश से होनेवाली आमदनी और उसके व्यवहार से संसार की खपत होती है, इन दोनों के प्रमाण-रूप में क़ीमत में जो घटा-बढ़ी होती है, उसकी जोखिम उसके माँगनेवाले और देनेवाले पर होती है। इस जोखिम में किसी भी पक्ष के साथ कोई अन्याय न हो, यह देखने का कर्तव्य सरकार का है । उनकी क़ीमत की घटा-बढ़ी में सरकार कोई हस्तक्षेप न करे, तो उसमें अन्याय होने का कोई भय नहीं रहता है। पर जब सरकार ऐसा कोई काम करे, जिससे सोने और उसके सिक्के में घटा-बढ़ी हो, तो उसके परिणामस्वरूप एक पक्ष को अनुचित लाभ और दूसरे निर्दोष पक्ष को बेजा हानि उठानी पड़ती है। इसलिये सरकार को, चलन का सिक्का किस धातु का बनाया जाय, इसका प्रबंध करना पड़ता है।

इस प्रकार नियत किए हुए सिक्के की क़ीमत बनी रहे, इसका ध्यान सरकार को रखना पड़ता है। पर सरकार अपने प्रयत्न से घटा-बढ़ी पैदा करे, तो उस अन्याय का कोई प्रतीकार ही नहीं हो सकता। सरकार ने १८९३ में रुपए का सिक्का देने का नियम हटा दिया था, और उसके बाद १८९९ में सोने के सिक्के को चलन के सिक्के के रूप में स्वीकार करने का क़ानून बनाया, इतने पर भी सरकार रुपया बनाकर देती रही।

पर कितने लोगों का कहना है कि चाहे जिसका धोरण रक्खो, तो भी उसकी क़ीमत में घटा-बढ़ी न हो, ऐसा कभी माना नहीं जा सकता है । और दूसरे तो यहाँ तक कहते हैं कि उसके फेरफार में सरकार जो

कारग्वाई करे, तो उसे दूषित नहीं कहा जा सकता। केवल सरकार की सत्य-निष्ठा होनी चाहिए। इससे एक पक्ष को लाभ और दूसरे को हानि होने पर भी सरकार दोषी नहीं कही जा सकती है। ठीक है, हम भी इस तर्क को मान लेते हैं; पर इतना अवश्य चाहेंगे कि सरकार को फेरफार करने के लिये मजबूर ही होना पड़े, और यदि वह देश की व्यवस्थापिका परिषद् के ग़ैर-सरकारी प्रतिनिधियों की आज्ञा ले ले, तो उसका काम क्षंतव्य कहा जा सकेगा। पर चलन के नोटों के संबंध में परिषद् ने सरकार को जो अधिकार सौंपे हैं, उनके विपरीत कारग्वाई होते देखी गई। यह सब कैसे होता है, इसे भी ज़रा हमें देख लेना चाहिए। यदि चलन का नोट एक हलके सिक्के की बराबरी में हो, तो जहाँ तक उसके बदले में मुख्य चलन का सिक्का मिलता रहे, वहाँ तक उसके संबंध में कुछ भी अनुचित नहीं कहा जा सकता। पर ऐसी अवस्था में यह भी तो आवश्यक है कि माँगनेवाले को देनेवाला कहाँ तक नोट देगा, इसकी हद होनी चाहिए। साथ ही चलन का धोरण प्रकट करनेवाले मुख्य सिक्के के साथ उसकी घटा-बढ़ी नहीं होनी चाहिए। पर यदि चलन के नोटों को मुख्य सिक्के के प्रतिनिधिरूप में ही माना जाय, तो जब तक उसके बदले में देने के लिये रक्षित कोष में काफ़ी रक़म हो, वहाँ तक इन नोटों का चलन योग्य माना जायगा। अब इस संबंध में यह कहा जाता है कि चलन के नोटों के उपयोग की कोई हद न रहे, और उनके लिये जो रक़म रक्षित कोष में रहती है, वह उसमें पड़ी न रहकर किसी अंश तक व्यवहार में आनी चाहिए। दूसरे इस काम को अनुचित बतलाते हैं। चलन के नोटों के रिज़र्व में इस प्रकार जितनी भी रक़म निकाल ली जाती है, उसे कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार दूध में से मलाई निकाल ले और बाक़ी के भाग को शुद्ध दूध कहकर बेचने पर भी उसकी कम क़ीमत मिले, ठीक उसी प्रकार चलनी नोट के कोष में से जितना भी हिस्सा निकाल लिया जाता है, तो उतने प्रमाण में सारे कोष की क़ीमत घटती है। अर्थात् उनके प्रमाण में देश के सारे चलन की क़ीमत घटती है। इसलिये कोष का रूप बदलने पर भी कोई भी हिस्सा ऐसा नहीं होना चाहिए, जिससे नोट वापस देनेवाले को रक़म न

दी जा सके। इस रक़म का उपयोग व्याज तथा उद्यो
धंधे में भी नहीं किया जा सकता। इस कोष का
ही उद्देश्य है--नोट वापस लानेवाले को
देना। इस उद्देश्य को पूरा करने के सिवा दूसरे
भी काम में इस कोष का कोई भी हिस्सा व्यवहा
चोरी करने के समान है।

इँगलैंड में भी सरकार चलन के नोटों की
दूसरे कामों में लगा देती थी। पर १८४४ में ब्रिटि
पार्लियामेंट को यह प्रस्ताव पास करना पड़ा कि आगे
जितने नोट निकलें, उनकी अमानती रक़म कोष में
के रूप में रहे। सिर्फ़ इतनी रियायत की है कि उस
कुछ भाग चाँदी का भी रहेगा। यह एक अपवाद
क़ानून बनाते समय यह अपवाद था, पर उसका
योग वहाँ कभी नहीं हुआ। भारतवर्ष में भी चलन
नोटों की क़ीमत अमानत में रक्खी गई, पर स
उसका कितना ही अंश व्यवहार में लाई। पर
रक़म रहने के उपरांत जो-जो नए नोट निकले
उनकी पूरी-पूरी रक्षित कोष की रक़म सोने के सि
रूप में या सोने के पाँसों में रहनी चाहिए थी।
उसका बहुत थोड़ा भाग चाँदी या उसके रुपए में
तो यह अपवाद क्षम्य भी है। पर उसमें भारत-स
के ऋण की वृद्धि नहीं होनी चाहिए। और जो ऋ
हो, तो वह विदेशी सरकार का न हो। यदि इतनी
बातें हों, तो कोष की रक़म सोने के पाँसों के धोरण
रह सकती है, किंतु उसके लिये माँगनेवालों की ख़ाति
रहे। जब पावना वसूल करने का समय आवेगा,
इन नोटों के बदले पाँसे या सोने के सिक्के
रूप में सोना मिलेगा। सोना पाँसों में रक्खा तो
किंतु उसे चलनी सिक्के के समान परखनेवाले साहू
को दे सकें, ऐसा सरकारी क़ानून न हो, तो उसे
के सिक्के के रूप में कभी नहीं मान सकते। यदि स
ऐसा क़ानून बना दे, तो उस समय यह निश्चय क
पड़ता है कि कितना और कैसा सोना दिया जायगा
किस प्रकार उसका कस और वज़न माना जाय
जब यह सब हो, तब सोने का पाँसा (सिक्का) चल
स्थायी रूप से फिरता दृष्टिगोचर होगा और प्रजा की
माँग पूरी होगी। पर जो इस सोने के पाँसे को सि
रूप में रखने की हिमायत करते हैं, वे इस ओर

दुर्लक्ष्य ही नहीं करते हैं, बल्कि नीचे लिखी हुई हानियों पर भी विचार नहीं करते हैं—

(१) सोने के पाँसे का धोरण रखने का प्रलोभन देनेवाले भारतवर्ष के सोने के बाज़ार पर अपनी सत्ता जमाना चाहते हैं। कारण, तब सोने के जत्था बंद व्यापार का स्थान सरकार ले लेगी और भारतीय व्यापारियों का स्थान छोटे-छोटे व्यापारियों के समान हो जायगा।

(२) भारतवर्ष की खानों से जो सोना निकलता है, उसका चलन में किसी प्रकार उपयोग नहीं हो सकेगा।

(३) धीरे-धीरे रुपए के स्थान पर चलन के नोट फिरेंगे और तब इन नोटों के बदले मुख्य सिक्का नहीं मिल सकेगा।

(४) दूसरी चीज़ों की क़ीमत में फेरफार सोने के लिये ही होता है, ऐसी साधारण लोगों की आम धारणा है। हमारी सरकार सोने के पाँसे के धोरण के द्वारा अन्य वस्तुओं के भाव के आधार पर सोने की क़ीमत में घटा-बढ़ी करती है। सरकार के इस व्यवहार का कारण उसका स्वार्थ है। सोने की क़ीमत और पैदायश तथा खपत इन दोनों का कोई आधार स्थिर न कर सरकार इच्छानुसार घटाती-बढ़ाती है। इँगलैंड के सराफ़े, पूँजीपति और कारख़ानेवालों के हित में पगी नौकरशाही भारत का हित कैसे सोच सकती है! वह सब कुछ सुधार करने को कहेगी, पर वस्तुतः जो कुछ होगा, वह इँगलैंड के पूँजीपतियों के हित के लिये। सरकार के इस अनौचित्य की निंदा के लिये कोष में शायद कोई शब्द हों। इस पराधीनता ने तो हमें ऐसे कठोर शिकंजे में जकड़ रक्खा है कि उससे उद्धार होना कठिन हो गया है। उस पर मज़ा यह है कि सरकार अपने इस स्वेच्छाचार को बड़ी पालिसी से छिपाकर उलटे हम निरीह ३२ करोड़ प्रजाजनों पर उदारता प्रकट करती है। सरकार यदि हस्तक्षेप न करे, और तब सिक्के के रूप में सोने का व्यवहार हो, तो किसी को कोई आक्षेप न होगा। बात सिर्फ़ इतनी है कि यह घटना-बढ़ना सरकार की इच्छा पर निर्भर न रहे। अभी तो सरकार अपनी इच्छानुसार तेज़ी और मंदी लाने की शक्ति रखती है, और अन्य वस्तुओं के भाव की घटा-बढ़ी को अनुकूल करने के बहाने इसमें गड़बड़ करती है। पर किस समय वह किस उद्देश्य से वहाँ तक बाज़ार को ले जायगी, सो कुछ भी नहीं कहा जा सकता। सरकार की बाज़ार पर औरंग की हुकूमत रहती है। कारण, जो काम सरकार करती है, उसे योग्य और अयोग्य क़रार देना भी मुश्किल ही है।

(५) रुपए की क़ीमत भी कब कितनी रहेगी, सरकार उसकी आमदनी और खपत के आधार पर पहले से कुछ नहीं बता सकती। कारण, यदि सोने के आधार पर रुपए की क़ीमत निश्चित की जाय, और सोने की क़ीमत में सरकार इच्छानुसार फेरफार करे, तो फिर स्थिर क़ीमत क्या और अस्थिर क़ीमत क्या? उसका निराकरण करने के लिये कुछ भी आधार नहीं रहता है।

(६) यदि सोने के पाँसे के धोरण के बदले सोने का सिक्का धोरण हो, तो उपर्युक्त अनुचित लाभ नहीं होंगे।

(७) सोने के पाँसे का धोरण लँगड़ा रहेगा; क्योंकि जैसा कि हम ऊपर बता आए हैं, इसके ऊपर कितना ही अंकुश रहेगा। यदि सोने का धोरण हो, तो उसमें जो लाभ होगा, वह तो इँगलैंड के पाकेट में चला जायगा और नुक़सान बेचारे भारतवर्ष के मत्थे पर आवेगा। इस प्रकार की हिस्सेदारी है।

(८) सोने के पाँसे का धोरण इसी आधार पर क़ायम किया गया है कि जिससे सोने की क़ीमत घटे। यदि इस प्रकार सोने की खपत घटाने का प्रयत्न किया जायगा, तो कहाँ तक वह जाकर अटकेगी, यह बतलाना मुश्किल है। पर उससे यह निश्चय है कि सोने की क़ीमत पर बहुत बुरा असर पड़ेगा। इस प्रकार सोने के पाँसे के धोरण में तो और भी गंभीर अवस्था हो जायगी। यदि सोने का सिक्का काग़ज़ के रूप में रखने का उद्देश्य हो, तो सरकार को चाहिए कि उसके बदले में सोना या सिक्के कोषनिधि में रक्खे। पर यदि काग़ज़ न चलाकर पाँसे का धोरण सरकार जारी कर दे, तो उस समय न तो देश-विदेश के व्यवहार के लिये सिक्के के रूप में सोने का व्यवहार चालू रखने की ही आवश्यकता पड़े और न उस समय सोने की अधिक क़ीमत घटेगी।

(९) सोने के पाँसे का धोरण रखने का यह उद्देश्य है कि धातु के सिक्के चलन में से कम कर उनके स्थान पर काग़ज़ के नोट बहुतायत से चलने लगें। इन नोटों

का बट्टा हो, तो फुटकल सिक्के मिलें ; पर चलन का मुख्य सिक्का कदापि न मिले ।

(१०) सोने के पाँसे के धोरण में एक और नया प्रयोग सरकार ज़बर्दस्ती से कर रही है । इस प्रयोग में चाहे जो क्षति हो ; पर उसे भारतवर्ष की प्रजा ही सहे, यही हमारी न्यायप्रिय सरकार की इच्छा है । साथ ही उसने १८ पेंस का रुपया भी स्थिर रखने का उद्देश्य रक्खा है । यदि सरकार अपनी ज़िद पर यह कुछ न करती, तो भारतवर्ष में रुपए की दर १६ पेंस ही स्थिर रहती ; भारतवर्ष में सोने का सिक्का चलन में होता और उसका धोरण भारतवर्ष में नियत कर दिया गया होता । इस समय तो संसार में सोने के सिक्के का ही धोरण प्रामाणिक माना जाता है । उसकी साख़ है । बाक़ी दूसरे सब तो बर्बाद करनेवाले और अन्यायी हैं ।

(११) भारतवर्ष में सोने के सिक्के का चलन माँगने के कारण जान चुके । भारतीय व्यवस्थापिका परिषद् में श्रीयुत जमनादास मेहता ने सरकार की वर्तमान राज-नीति के भयंकर परिणाम अच्छी तरह से दर्शाए थे । वहाँ उन्होंने कहा था कि सरकार की राजनीति कृत्रिम है और उसी राजनीति के लिये १९२१ से अब तक भारत-वर्ष की प्रजा पर अनेक नए कर सरकार ने बढ़ाए हैं । उसमें थोड़ी कमी अभी की ही गई थी, पर ४५ करोड़ रुपए की वृद्धि तो चालू ही है । भारतीय रेलवे का विस्तार बढ़ता जाता है, पर आमदनी नहीं बढ़ती है । और भारतीय सैनिक ख़र्च सोने के मूल्य में देखा जाय, तो ज़रा भी नहीं घटाया गया है । सर बेसिल ब्लेकेट ने घटाने का प्रयत्न किया है, पर वह केवल हमारे दिखाने के लिये । इन सब बातों से भारतीय नेताओं का यह विश्वास हो गया कि भारत-सरकार की आर्थिक राजनीति इस देश को तबाह कर देनेवाली है । लोगों का यह विश्वास सरकार के कामों से स्पष्ट प्रमाणित होता है ।

(१२) सरकार ने रिज़र्व-बैंक आफ़ इंडिया की योजना कोने में डाल दी है । इसलिये हमें सरकार से यह कहने का अवसर मिल गया है कि विदेशों के साथ भारतवर्ष के व्यापार में आवश्यकतानुसार जितना सिक्का चाहिए, उतने सिक्के की पूर्ति की जाय । उसका उपयोग देश और विदेश सर्वत्र किया जा सके, ऐसा सिक्का होना चाहिए । १८९९ में सरकार ने जो क़ानून बनाया था, उसमें सोने का सिक्का भारतवर्ष के चलन में रखना स्वी[कार] किया था । पर उस क़ानून को १९२७ के क़ानून ने [रद्द कर] रक्खा । इससे देश-विदेश के व्यवहार के लिये भारत[वर्ष] में सिक्के की कमी है । ऐसा कोई भी सिक्का भारत[वर्ष] में नहीं है । शायद ही संसार में ऐसा कोई देश हो[गा] जहाँ ऐसी खोटी व्यवस्था हो । पर भारतवर्ष में ऐ[सी] खोटी व्यवस्था रखने का उद्देश्य है । इससे भारतवर्ष [का] व्यापार बर्बाद होता है ।

(१३) भारत-सरकार की चाल नीचे की योजना [से] बख़ूबी देखी जा सकती है—"चलन के नोटों के लि[ये] लागू पड़नेवाले क़ानून के अनुसार यह ज़ाहिर कर[ना] पड़ता है कि नोट बाहर निकालने के स्थानों में से लंद[न] एक है । वहाँ जो नोट भारतवर्ष के व्यवहार के लिये बाह[र] निकलेंगे, वे इँगलैंड में लीगल टेंडर (चलतू सिक्का) न[हीं] माने जायँगे । इससे वहाँ के प्राइवेट हुंडी के समा[न] चल सकेंगे । पर वहाँ के आफ़िस में कोई जाकर, इ[न] नोटों का बट्टा देकर, इँगलैंड का सिक्का पाने की माँग क[रे] तो वे वहाँ के सिक्के के बाज़ार-भाव में बदले ज[ा] सकते हैं । पर यह बदला भारतवर्ष में नहीं हो सकता । तो भी नोट क़ानून के द्वारा चलन में चलतू सिक्[के] क़रार दिए गए हैं । सरकार कहती है कि नोटों [की] क़ीमत पौंड-शिलिंग और रुपया दोनों में रहेगी । प[र] साथ ही यह भी चेतावनी भारतवासियों को दी जात[ी] है कि ऐसे नोट इँगलैंड में भारतवर्ष की जितनी कोष-निधि हैं, उतने के ही भीतर निकलेंगे । निधि से बाहर नोटों की संख्या नहीं बढ़ सकेगी ! पर सरकार भारत-वर्ष के व्यापार की ओर दृष्टिपात नहीं करती है । क्या भारतवर्ष के व्यापार के लिये इतने नोट काफ़ी हैं ! भारतवर्ष में भी इन नोटों के चलन में विशेष लाभ की संभावना नहीं है । पर व्यापार की अवस्था के अनुसार इन नोटों की संख्या घटनी-बढ़नी चाहिए । जिससे भारत-वर्ष इँगलैंड के नोटों से लाभ उठावे, और इँगलैंड इन नोटों को भारतवर्ष में भेजकर भारतवर्ष की रफ़्तनी का मूल्य चुकावे और भारतवर्ष उन्हें इँगलैंड भेजकर अपनी आम-दनी के माल का चुकौता कर सके । ऐसी व्यवस्था करने-वाले नोटों को निकालने के लिये सरकार पर ज़ोर देने की अत्यंत आवश्यकता है ।

जी० एस० पथिक

× × ×

२. लकड़ी के कोयले की उपयोगिता

लकड़ी के कोयले से हम सभी लोग विशेष परिचित होने पर भी उसकी उपयोगिता से कोरे अनभिज्ञ रहते हैं और यही कारण है कि प्रतिदिन यह हमारे रसोई-घर से अन्य चीज़ों के साथ बेकार समझकर फेंक दिया जाता है। किंतु जैसा इसे हम समझते हैं वस्तुतः यह वैसा नहीं है और इसके अंदर बहुत-से ऐसे गुण भरे पड़े हैं, जिनका हम लाभप्रदरूप में उपयोग कर सकते हैं। लकड़ी का कोयला एक सर्वोत्तम संशोधक (Disinpetant) द्रव्यही नहीं है, बल्कि इस प्रकार के द्रव्यों में यह सबसे बढ़कर सस्ता और आसानी से प्राप्त होनेवाला है।

गंधकमिश्रित हाइड्रोजिन, दुर्गंधयुत वाष्प रोगियों के शरीर से निकलती हुई रोगजन्य दुर्गंध तथा सड़ी हुई वस्तुओं के अंदर से निकलनेवाली अस्वास्थ्यकर गैस को यह आश्चर्यजनक रूप में शोषण करके अपने अंदर छोटे-छोटे छिद्रों में भरे हुए ऑक्सीजन वायु से उन्हें मिश्रित कर देता है। कमरे की कुछ गंदी चीज़ों पर यद्यपि इसका प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता, तो भी इन गंदी चीज़ों को उत्पन्न करनेवाले वातावरण को दूर करने में यह विशेष काम करता है। इसे अधिक कारगर बनाने के लिये इसका महीन सफ़ूफ़ कर लेना चाहिए। अस्पताल के चीरफाड़ करनेवाले कमरों में, रोगियों के वार्डों में नालियों में, पाख़ानों में तथा अन्य संसर्गजनित स्थानों में लकड़ी के कोयले का सफ़ूफ़ एक थाल में रखकर रख देना चाहिए। वायु के आवागमन का मार्ग यह शुद्ध करता है। हवा में जो गंदी गैस और दुर्गंधपूर्ण वाष्प रहता है, उन्हें अपने छिद्रों द्वारा यह सोख लेता है और फिर उन्हें अपने अंदर की आक्सीजन वायु की प्रक्रिया द्वारा नष्ट कर देता है। यदि कोई सड़ा हुआ मुर्दा हो और उसे लकड़ी के कोयले से ढक दिया जाय, तो उससे बदबू निकलना बिलकुल बंद हो जायगा। रोगियों के कमरे में यदि कोई अन्य संशोधक पदार्थ न मिले, तो कोयले का टुकड़ा किसी बर्तन में भरकर रख देना चाहिए या टोकरी में रखकर लटका देना चाहिए, जिससे उस कमरे की हवा विशुद्ध होती रहेगी। जलमिश्रित भाप के सोखने में भी लकड़ी का कोयला काम करता है। एक बार जले हुए कोयले को फिर जलाकर काम में लाया जा सकता है। संशोधक द्रव्य के रूप में जानवर की हड्डी, सींग आदि का कोयला सबसे अच्छा होता है।

पानी साफ़ करने के लिये भी लकड़ी का कोयला एक बहुत अच्छी चीज़ है। बड़े-बड़े शहरों को छोड़कर अन्य स्थानों में इसके द्वारा ही पीने का पानी साफ़ किया जाता है। हवा के समान पानी के अशुद्ध द्रव्यों को भी यह सोख लेता है। चीनी साफ़ करने के लिये भी इसका व्यवहार किया जाता है। किसी द्रव्य के रंग को बदल देने में यह एक ही चीज़ है। किसी घुले हुए द्रव्य के रंगीन अंश का शोषण करके और उसमें ऑक्सीजन मिश्रित करके उसके रंग को परिवर्तित कर देता है। इस काम के लिये जानवर की हड्डी, सींग आदि का कोयला अधिक कारगर होता है।

दवा के काम में भी इसका बहुत उपयोग होता है। विषाक्त वनस्पतियों—जैसे अहिफ़ेन, कुचिला, डकरा, अफ़ीम का सत आदि—के विरुद्ध इसकी क्रिया लाभप्रद होती है।

विषाक्त वनस्पतियों के विरुद्ध इसका प्रयोग करने के लिये इसका महीन सफ़ूफ़ करके इतना गर्म पानी में, जितना कि रोगी सहन कर सके, २० से लेकर ६० ग्रेन तक मिला देना चाहिए और फिर रोगी को पीने के लिये फ़ौरन् देना चाहिए। इस काम के लिये जानवर की हड्डी, सींग आदि का कोयला सर्वोत्तम होता है।

बदहज़मी, अपच, पेट फूलना, दस्त आना, खट्टी डकार, पेट का दर्द, आँत-पीड़ा, जी मचलाना, सविराम ज्वर, पाकाशय-प्रदाह, दुर्गंधयुत मलस्राव आदि बीमारियों में लकड़ी के कोयले का बिस्कुट, सफ़ूफ़ तथा एक प्रकार की मिठाई के रूप में व्यवहार होता है। पेट और आँत की गैस का शोषण करके पीड़ा को यह बंद कर देता है। किंतु पेट के अंदर की पीड़ा को शमन करने में ही यह गुणप्रद होता है। शरीर के ऊपर की पीड़ा पर इसका कोई असर नहीं होता। पाख़ाने के साथ अपरिवर्तित अवस्था में ही यह बाहर निकल आता है। अपच और पेट फूलने पर इसका सफ़ूफ़ दो से तीन चम्मच तक पानी में मिलाकर व्यवहार करना चाहिए।

सड़े हुए फोड़े और गलनेवाले घाव में भी इसका व्यवहार किया जाता है। घाव पर छिड़कने के लिये

सफ़ूफ़ या पुल्टिस के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है। मुख की बदबू को दूर करने के लिये दंत-मंजन के रूप में इससे काम लिया जाता है। असमय में दाँतों को टूटने से भी यह बचाता है।

होमियोपैथिक चिकित्सा-पद्धति की प्रसिद्ध दवा Carbo-Vegetabilis लकड़ी के कोयले से ही तैयार होती है, जिसका प्रयोग पेट फूलने में, दाँत के हिलने, मसूढ़े से रक्तस्राव होने में तथा बीमारी की अंतिम अवस्था में, शरीर से पसीना चलने पर, शरीर बिलकुल ठंढा हो जाने पर अथवा इसी प्रकार की अन्य अवस्थाओं में, जब जीवनी शक्ति प्रायः क्षीण हो जाती है, किया जाता है।

जगन्नाथप्रसाद मि

बाल-महिला-मनोरंजन

१. दो बातें

आधुनिक समय में देखा जाता है कि नवाभ्युत्थिता टर्की तथा भारत की तुलना करते हुए कतिपय महाशय परदा-प्रथा तथा विधवापन को हिंदू-समाज की कुरीति तथा ह्रास का मूल-कारण मानते हुए सनातन-धर्म पर निर्मूल लांछन लगाते हैं। यह उनकी भ्रांति है। आशा है कि मैं ऐसे महोदयों को अपने लेख से समझाने में किसी अंश में सफल हूँगा।

परदा-प्रथा जिसके माने आप बक्स के अंदर बंद रहना तथा सूर्य और चद्रमा की ज्योति के भी दर्शन न होना लेते हैं, सनातनी प्रथा में लागू नहीं। जैसा कि हिंदू-धर्म में परदा है, वह इतना हानिकारक नहीं बरन् कितना लाभकारी है, हम आगे लिखेंगे। यह सभी लोग जानते हैं कि भारत की अधिकांश जन-संख्या ग्रामों में बसती है। वहाँ जैसा परदा है, हर एक जान सकता है। यह बिलकुल हानिकारक नहीं। स्त्रियों को शुद्ध वायु पर्याप्त तथा सरलता से मिलती है। वे टोलियों में बहुधा देवी-पूजनादि को बाहर जाया करती हैं। बड़े-बड़े नगरों में बसनेवाली महिलाओं की दशा अवश्य कथनीय है। वहाँ निर्धन गृहिणियों की अवस्था शोचनीय है। परंतु साथ ही में ऐसा कोई सनातनी नियम नहीं, जो उन्हें घर से निकलने के लिये मना करे। प्रश्न हो सकता है कि वे बाहर खुली हवा में कब निकलती हैं। इसका उत्तर केवल यह है कि उनको समय नहीं। वे अपने गृह-कार्य ही में लगी रहती हैं; उन्हें सुबह-शाम टहलने तथा गप्पें लड़ाने का अवकाश कहाँ। अब कहो, क्या वे मध्याह्न में मालरोड पर चहलक़दमी करें। हाँ, सनातन-धर्म ने साधारण परदे का आदेश अवश्य किया है। एक स्त्री को सर्व-साधारण अथवा जिस किसी के साथ सब कहीं नहीं जाना चाहिए। स्वजनों के साथ जाना अनुचित नहीं। स्त्रियाँ अवश्य ही बाहर जाकर शुद्ध वायु सेवन करें, इसी उद्देश्य से अमावास्या तथा पूर्णिमा को वे सर-सरिताओं में स्नान करतीं और देवी-पूजन को जाया करती हैं। यह तो हम लोगों की भूल है, न कि धर्म का दोष जो इतना भी नहीं करते।

कहते हैं, बड़े नगरों में तपेदिक़ की बीमारी पुरुषों

की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक होती है । कारण है परदा । कैसी अच्छी दलील है । हम कभी नहीं सोचते कि आधुनिक निर्धनता का भूत हमें कभी चैन नहीं लेने देता । गृह की कड़ी मेहनत, मानसिक व्यग्रता, इसके उपलक्ष्य में अपूर्ण पेट तथा असंतोष-प्रद भोजन । हा शोक, आर्थिक चिंताग्नि हमें भस्म किए जा रही है, न कि परदा । मैं हिंदू-समाज से अपील करता हूँ कि हिंदू-जाति की आर्थिक दशा को पहले सँभाला जाय । हमको कहना पड़ेगा कि पूँजी-पतियो ! दो-चार के पास बहु संग्रहीत धन की दशा मनुष्य के शरीर के किसी एक अंग में बढ़े हुए बहु रक्त की तरह घृण्य है । आप अवश्य ही इसका आपरेशन करावें और उसे पूर्ण शरीर में वितरण कराने का प्रयत्न करें ।

जो महाशय चाहते हैं कि स्त्रियाँ स्वतंत्र होकर जहाँ चाहें जावें, उनको कोई रोक-टोक न हो, उनका विचार या तो बोलशेविक रूस से मिलता-जुलता है कि संतान किसी एक व्यक्ति की नहीं, बरन् राष्ट्र की हैं, अथवा स्त्री-सतीत्व को वे विशेष आदर नहीं देते । पहले विचार का मैं कोई उत्तर देना उचित नहीं समझता । वह स्पष्ट है । रहा दूसरा, इस विषय में आपका प्रश्न हो सकता है कि हम लोग स्त्रियों को पुरुषों के साथ समागम करने से सतीत्व नष्ट होने का कैसे अनुमान कर लेते हैं । मेरा उत्तर है । (१) और देशों के उदाहरण आप देख सकते हैं (फ़ारेन सेंसज़ तथा हेल्थ रिपोर्ट पढ़िए), (२) भारत गर्म देश है । यहाँ काम का शासन बड़ा उत्कृष्ट है । स्त्री-पुरुष का मेल घी तथा अग्नि के संयोग के समान है । इसी को लक्ष्य रख कुछ साधुकर नियम बनाए गए । हम इसको कभी अच्छी दृष्टि से नहीं देखेंगे कि स्त्रियाँ 'गावः त्रण-मिव आरण्ये स्पृहन्ति नवम् नवम्' का मंत्र जपती हुई 'रीवर साइड रोड' पर टहलें । मेरे निकट परदे का अर्थ 'तृण धरि ओट कहति वैदेही' का है, जो कि सर्वथा लाभकारी तथा श्लाघनीय है । सुचारु रीति से गृहस्थी-रूपी रथ का संचालन हो, इस उद्देश्य से सनातन-धर्म ने उचित नियम बनाए । सांसारिक जीवन का लक्ष्य पार-मार्थिक है, भौतिक नहीं । इस सिद्धांत का पालन समय-समय पर सुकर और दुष्कर अवश्य होता रहा है । परंतु हमें याद रखना चाहिए कि ग्रीस और रोम, जिनका जीवन-सिद्धांत भौतिक रहा, आज के दिन धरा से सदैव के लिये जाते रहे । हमारी समझ में भारत में परदे कठिन पालन व्यक्तिगत है, समाजगत नहीं और जित धार्मिक नियमानुकूल है, उतना तो आवश्यक भी है ।

रही विधवा की समस्या, वह तो आधुनिक समय धार्मिक विपत्ति प्रतीत होती है । परंतु यह भूल है । भूल का मूल-कारण, हम फिर कहेंगे, जीवन के उद्देश्य है । यदि आप कहें कि जीवन का मुख्य उद्देश्य आनं है, तो सनातन-धर्म की यह अवश्य ही निर्दयता है वह सनातन-धर्म, जो चींटी से भी छोटे जानवर पर इतन दयाभाव रखता है, जो वृक्ष में भी आत्मा मान उसे दुः पहुँचाना हिंसा मानता है, जीवन के एक प्रधान अं स्त्री की कैसे अवहेलना कर सकता है । बात समझ बाहर है । परंतु क्या ऐसा है नहीं । जीवन का उद्देश पारमार्थिक है, इंद्रियसुख नहीं; मोक्ष है, सांसारि विलास नहीं । धर्म में अवश्य ही इंद्रियों का दमन लिख है, अन्यथा पुरुष और पशु के धर्म में कोई अंतर नहीं- इंद्रियाँ बुद्धि से शासित हैं । उनके प्रत्येक काम में बुद्धि का प्राधान्य उचित है । यह बुद्धि की प्रेरणा है कि विधवा स्त्री विरागिनी है । वह सुख के बीच में रहती हुई सुख से अलग है । सती पति से सांसारिक वियोग सहती हुई पुनर्जन्म में चिरसंयोग के लिये प्रयत्न करती है । वह पशु-स्त्री नहीं, जो साल-साल अपने पति बदला करे । उसके लिये तो पति ही आराध्य देव हैं, सामने हों चाहे दूर, ज़मीन में हों, चाहे आसमान में । ऐसे सच्चे प्रेम की अवगणना कर केवल एकदेशीय सांसारिक सुख को प्रधानता देकर संकुचित बुद्धिवाले मनुष्य उच्च वाणी करते हैं कि सनातन-धर्म का विधवाओं पर कड़ा अत्या-चार है । यदि इसी कारण आप उच्चादर्शी धर्म पर लांछन लगाते हैं, तो आपका विचार घृण्य है । मेरी समझ में आपके विचारानुसार अंधों, गूँगों पर ईश्वर का घोर अत्याचार है । आप यह भी कह सकते हैं कि जो वाक् शक्ति होते हुए भी कुछ साल के लिये मौनव्रत कर रहा है, घोर अनाचार करता है । वह एकदेशीय इंद्रिय का ही तो उपयोग नहीं करता । भला आप ही समझें, ऐसी वाचनिका देना बच्चों का काम है कि समझदारों का ।

हाँ, महाशयजी कहेंगे कि कल्याणभार्य के लिये क्या उत्तर है । वह तो एक स्त्री के मरने के बाद दूसरी यहाँ तक

कि सात-सात विवाह कर सकता है। क्या उसे पत्नीव्रत नहीं होना चाहिए? धर्म में तो ऐसा नहीं लिखा कि मनुष्य पाँच या सात विवाह करे। हाँ, यदि कल्याणभार्य के कोई पुत्र नहीं है, तो उसे दूसरी शादी कर लेना चाहिए—सांसारिक सुख के लिये नहीं, केवल पुत्रार्थ पितरों का ऋण चुकाने के लिये। कहा जा सकता है कि स्त्री पर पितरों का ऋण नहीं। स्त्री की गणना पुरुष से पृथक् मानी ही नहीं गई है। इसी कारण तो स्त्री का गोत्र बदल जाता है, पुरुष का नहीं। यदि आप इसे धार्मिक भूल कहें, तो आप तन्मयता की महिमा को घटाते हैं और प्रकृति-प्रदत्त पुरुष-प्राधान्य पर कुठाराघात कर रहे हैं। यदि सभी विधवाएँ शादी करने लगें, तो कौटुंबिक संस्था में कैसी आपत्ति पड़ जायगी, पतिप्रेम तथा सदाचार का ह्रास कितना हो जायगा—आप ही विचार कर देखें। स्त्री-पुरुष का संयोग गुड्डे-गुड्डियों का खेल हो जायगा। साधारणतः आप देख सकते हैं कि उच्च घराने की स्त्रियाँ विधवा होने पर पुनर्विवाह करना कभी नहीं पसंद करतीं—हिंदुओं में ही नहीं ईसाइयों में भी। यही नहीं वे इसे गौरव की दृष्टि से देखती हैं। ऐसी अवस्था में भी क्या कोई कहने को तैयार है कि सनातन-धर्म का विधवाओं पर किंचित्मात्र भी कठोरता का व्यवहार है।

उन्नतिशील पाश्चात्य ने प्राच्य पर अपना आधिपत्य जमा लिया है। परंतु इसके माने यह नहीं कि उनकी सभ्यता अक्षरशः अनुकरणीय है। उसमें दोष और गुण दोनों हैं। ईश्वर की रचना ही ऐसी है। उनके यहाँ स्त्रियों को सामाजिक उच्च स्थान प्राप्त है (वे बेटरहाफ़ हैं)। इसके माने यह कदापि नहीं कि यहाँ भी उन्हें वही पदवी देकर स्वयं उनका दास बना जाय। ईश्वर का नियम है कि जो एक जगह श्रेय है, वही दूसरी जगह निंद्य है। गले में बँधे जलते हुए कोयले देखने में लाल और सुंदर, ठंढे आइसलैंड में मनुष्य के लिये प्राण हैं, परंतु बीकानेर में काल। सारांश यह है कि हमको अंध अनुकरण-शील नहीं होना चाहिए। सावधान होकर पुरुषसिंह की तरह पराक्रम दिखाना चाहिए।

हरिस्वरूप त्रिपाठी

× × ×

२. मातृभूमि

फैली जिसकी शैलराज पर है अलकावलि।
बनी हुई कल हृदय हार सुरसरि एकावलि।
चरणों में है भक्तिभाव से सिंहल अवनत।
करता प्रतिदिन पान अम्भ सो निधि चरणामृत।
जिसके संरक्षक हैं स्वयं, शैलराज हिमवंत ही।
उस मातृरूप पर बलि न जो, जग में जीवन्मृत वही॥ १॥

नयन युगल अरविंद चंद्र हरि दशन रत्न मणि।
विन्ध्य सुशोभित मध्य हिमालय बना शिरोमणि।
दे उपहार वसंत सौरभित कुसुमित सारी।
करे हरित तव अंग दिखाकर प्रतिभा न्यारी।
ले जाते सिंधु समीप नित, सिंधु गंग संदेश नव।
घनश्याम वारि बरसाय मनु, करते हों अभिषेक तव॥ २॥

माता तेरा छत्र बना गिरिराज हिमालय।
सहिष्णुता की मूर्ति वीरवर शैल हिमालय।
रजत सुऔषधि रत्न स्वर्ण आगार हिमालय।
वेद सभ्यता गोप्त त्रिविष्टिप अद्रि हिमालय।
नहलाती नित्य प्रभात में, रश्मि माल कलधौत से।
चमकते तुम्हारे अंग सब, कांचनरूप कपोत से॥ ३॥

खेले तेरी गोद अनेकों जीवनधारी।
मानव रत्न बढ़ाते तव यश बारी-बारी।
हुए तुझी में कौंतेय अतुलित बलशाली।
पाकर बली सुपुत्र हुई तव छटा निराली।
ब्रजमंडल गुंजित किया था, सुरलितान से श्याम ने।
रास रचाया था यमुन-तट, बहती जो ब्रज सामने॥ ४॥

यहीं सुनी थी मृदु मुरली की तान सुरीली।
लज्जित होती थी पिक सुन धुनि सरस रसीली।
हरिश्चन्द्र ने सत्यनिष्ठता यहाँ दिखाई।
कीर्ति-पताका यहीं राम ने भी फहराई।
दानवीर, रणवीर वर कर्ण हुए जग में अमर।
सुपथ दिखाया कृष्ण ने, गीतामृत उपदेश कर॥ ५॥

भीष्म द्रोण, कृप-विदुर आदि भी हुए तुझी में।
राम भरत रिपुदमन लक्ष्मण पले तुझी में।
कौशिक कुंभज अत्रि आदि ने कीर्ति बढ़ाई।
तव यश महिमा चारु चार वेदों ने गाई।
दर्शाय मैथिली ने जिसे, पतिव्रता माहात्म्य से।
रुकमिणि ने आदर से गहा उसी—उसी शुभ मार्ग को॥ ६॥

जनकनंदिनी द्रुपदसुता ज्योतिर्मय चंपा।
खल अलि नहिं पा सके तेज सौरभित अकंपा।
सावित्री दमयंती कुंती आदि सरोजिनि।
पातिव्रत सौरभ से जग में हुईं यशस्विनि।
वीरोचित उनके कर्म लख, होती थी तू हर्षयुत।
कुम्हलाता अब तव कमलमुख, देखि-देखि सब सुतासुत॥७॥

इस इसपाती युग में पीछे पिछड़ गई है।
बेबस है परवशता में तू जकड़ गई है।
खानें तुझमें बहुत चारु आचारों की हैं।
जानें तुझमें बहुत देश-भक्तों ने दी हैं।
इक साम्यवाद गुण रत्न से, हो जाते देवादि नत।
मुस्लिम हो या क्रिश्चियन हो पालन करती पुत्रवत्॥८॥

अशरणशरणा अन्नपूर्णा गौरवशालिनि।
शस्यश्यामला विमला सरला थी जगस्वामिनि।
यद्यपि माता दीन सकल सद्गुण से शोभी।
बैल कहाँ पा सकें होय गज दुबला तो भी।
थी प्रकृति ज्ञानविज्ञान की ख्याति अखिल ब्रह्मांड में।
क्षण-भर में ही काफ़ूर हो बिला गई किस लोक में?॥९॥

भूल गए हैं मातु आज हम विद्या अपनी।
ताक रहे मुख औरों का रक्षा-हित अपनी।
अंधकारमय ज्ञान-सिंधु में डूब रहे हैं।
देश रहे या बहे मस्त तो फ़ैशन में हैं।
साहब बन नित फूँकें स्वधन, बदलें प्रतिदिन न्यू'पेयर'।
इस पर भी रँगे सियार हैं कहते मुझको नहिं 'केयर'॥१०॥

कालिदास की रचनाओं को हम ठुकराते।
रामायण को तुच्छ समझते हैं मदमाते।
हम तो चाहें शेक्सपियर की इँगलिश रचना।
हम क्या जानें होता किन कर्मों से बचना।
नहीं जानते वेद क्या, किस चिड़िया का नाम स्मृति।
धर्म-कर्म भूले सभी, शुभ कर्मों में है न रति॥११॥

मधुर मेल के दिवस हो गए अब हैं सपने।
छूने में है घृणा जाति भाई को अपने।
मिल जाता यदि वही विधर्मी दल में जाकर।
तब हम करते पूज्य सदृश उसकी हैं ख़ातिर।
छूते नहिं देशी वस्तुएँ आशा हो तब कौन-सी?
यह हीन दशा रहते हुए कैसे भागे बेबसी॥१२॥

करती नहीं सुखी रखने में कोई भी त्रुटि।
पा तव मलय समीर थकावट जाती है मिट।
करती ऐसा कभी नहीं साथी हो सुख में।
रखती अधिक सनेह पड़ें जब भारी दुख में।
जब आई तुझ पर विपति तो क्या होना कर्तव्यच्युत?
अर्पित करते तव चरण पर सब कुछ अपना प्रेमयुत॥१३॥

कुमारी श्यामप्यारी श्रीवास्त[व]

× × ×

३. स्मृति के तट पर

समुद्र की तरंग नित्य निरंतर कूल से द्रुतगा[मी] वेग से टकराया ही करती है। तट का आर्तना[द] दिशाओं को पूर्ण करता है। वह नाद शांति[-] विहीन एक दग्ध हृदय का स्मारक है। एक शक्ति[-] संपन्न किंतु बाध्य प्राणी का हाहाकार है। इस समुद्रतट पर मुझे बीते हुए प्रणय की सु[धि] आई। मैंने जिस समय प्रणय के राज्य में अपना सिर झुकाया, उस समय मेरी अवस्था चित्रा [के] समान थी। प्रेम के पाश में मैं अबोध की ना[ईं] सुख से चली गई और मन-ही-मन उस शक्ति[-] संपन्न देव का खिलौना बन गई। मेरा हृद[य] पूर्णरूप से बंधन में पड़ गया, किंतु मैं इसे जा[न] न सकी। मैंने सोचा—'प्रेम'! हाँ, प्रेम तो [मैं] अवश्य करती हूँ। किंतु इससे क्या। मैं विवा[ह] कदापि नहीं करूँगी, विवाह तो एक साधार[ण] बंधन है और प्रेम अलौकिक है। मैं अपने प्रे[म] का सदैव गर्व करूँगी। किंतु उसे सांसारिक रू[प] से साधारण न होने दूँगी।

अहा! वे दो वर्ष कितने आनंद से बीते। हमारे मन में लज्जा कितनी प्रबल थी। इस लज्जा ही के कारण हमने कभी संलाप का अवसर [न] खोजा, न कभी मिलने ही की चेष्टा की। मैं अपने मन का भाव अपने प्रियतम से भी गुप्त रखना चाहती थी और सदैव उन पर ऐसा ही भा[व] जताया करती थी। उनके पत्र मुझे आनंद [के] सागर में निमग्न कर देते थे और मेरा मन

मयूर उनके पाते ही उल्लास से नाच उठता था, किंतु तो भी उत्तर में मैं सदैव उन्हें उनकी विवश अवस्था पर धिक्कारा ही करती थी। मैंने लिखा—"वाह पत्र क्या लिखते हो कि पूरा काव्य! इस प्रकार अपने जीवन को भावुकता के क्षेत्र में स्वच्छंद मत छोड़ो, मेरे जीवन का मार्ग तुमसे भिन्न ही है"। मन में मैंने निश्चय किया कि मैं सदैव कुमारी ही रहूँगी। मैंने सोचा कि घर की चहारदिवारी में मेरा मन कदापि न लगेगा। मैं संसार के प्रत्येक कार्य का अनुभव करूँगी और साक्षात् शक्ति की तरह आगे बढ़ती जाऊँगी। मेरे ये निर्दय पत्र उन्हें अवश्य आहत करते थे, पर तो भी मुझे पत्र लिखते ही थे। मेरे गर्व का उल्लास इससे और भी बढ़ता था और मैं चाहती थी कि उनका आदर मेरे प्रति न घटे।

कैसी अनभिज्ञता थी। अपने भाव की प्रबलता को आप समझ न सकी। जिसकी स्मृति में रात-दिन, घूमते-फिरते, पढ़ते-लिखते मैं विस्मृत-सी रहती थी, उसी को नित्य जीवन-पथ से निकल जाने का आदेश देती थी। जिसके प्रेम का मुझे अभिमान था, उसी की वंचना करती थी। पर मन—छिपे-छिपे निकल ही गया। विशारद की परीक्षा थी; मैंने पुस्तक खोली। अक्षर के बदले देखा कि भाव-साम्राज्य के एकाएक अधिपति मेरे सम्मुख उपस्थित हैं। सोचा—अवसर अच्छा मिला है, इस समय इनसे आलाप करने में न लज्जा भंग होगी, न मान ही। चेष्टा की, किंतु फल कुछ न हुआ। वहाँ पर भी, दोनों ओर की, लज्जा कम न हुई। एक आनंद की लहर उठी और विलीन हो गई। मैं और कल्पना-मूर्ति निकटस्थ हो बैठ गए। इतने में मेरी सखी ने कमरे में प्रवेश किया। वह मुझसे आयु में कुछ अधिक थीं; मैंने कहा आइए। उत्तर में उन्होंने कहा—"कल्पना के क्षेत्र में मनमोहन के साथ स्वच्छंद विचरण करने में मैं बाधारूप तो नहीं हुई"। मैंने कहा—"फिर वही उपालंभ—फिर वही व्यर्थ की छेड़छाड़"।

हाँ, यह सब बीती बातें हैं। हृदय न-जाने क्यों फिर इस पुराचिंतन में व्यस्त हुआ। एक बात तो कहना भूल ही गई। वह है हमारी अंतिम भेंट! वह आए थे कुछ हिम्मत बाँधकर; कुछ मैंने भी लज्जा त्यागकर उनका सामना किया। इस अवसर को मैंने फिर हाथ से निकाल दिया। मैंने कहा—ना, मैं विवाह न करूँगी, तुम मेरे चिरमित्र रहो और मैं भी तुम्हारे प्रति यह भाव सदा जागृत रक्खूँगी। मेरे प्रेमी अतृप्त चले गए, इधर मैं स्नेह से आकुल होकर मित्रों के पास चली गई। हृदय का हाल किसी से कह न सकी। हिम्मत डगमगाने लगी। मन ने कहा—"दौड़-दौड़ अपनी जीवनमूरि को जाने न दे। किंतु मैं एक मूक-शक्ति से बाधित वहीं खड़ी रह गई। मैंने तत्काल ही पत्र भेजा। उसमें पूर्व की-सी हठ थी, मान था और अनुरोध था। उत्तर की प्रतीक्षा व्यर्थ गई। मेरे ऊपर वज्र का आघात हुआ। वेदना से मैं विकल हो उठी। लोगों ने कहा, उन्माद है। मैंने भी आंतरिक भाव छिपाने के लिये कहा—हाँ उन्माद ही है। उस आंतरिक अग्नि को मैंने आँसुओं की असंख्य धार से बुझा दिया; किंतु अंदर-ही-अंदर धधक उपस्थित है। आज समुद्र-तट की वायु से वह अग्नि झकोरे खाकर फिर जाग उठी।

"संतोषिणी"

× × ×

४. तितली

सुंदर-सी साड़ी को पाकर,
　　फूली नहीं समाती हो ;
भला बताओ जल्दी-जल्दी,
　　किसे मोहने जाती हो ?
जब होकर स्वच्छंद विचरती
　　हो, तुम नभ में मनमानी ;
ऐसी दिखती हो, जैसे हो,
　　तुम ही परियों की रानी।
फूल-फूल पर क्यों जाती हो,
　　हो-होकर तुम मतवाली ;
क्यों फिरती हो फुदक-फुदककर,
　　इस डाली से उस डाली ?
क्या खोजा करती हो दिन-भर,
　　खोया हुआ हृदय अपना ;
या कि रात-दिन देखा करती
　　हो तुम कोई मृदु सपना।
या कि चुराने जाती हो, हर
　　फूलों पर शोभा प्यारी ;
जिसमें रँगकर पंख बनाया
　　करती नित्य हृदयहारी।
चार घड़ी के इस जीवन में,
　　तितली ! मत छलना सीखो ;
प्रेमी का दुख देख, उसी चिन-
　　गारी में जलना सीखो।

बाबूलाल भार्गव "कीर्ति"

× × ×

५. नारी-समाज में क्षय-रोग की वृद्धि का कारण

स्त्री-समाज के स्वास्थ्य की देखभाल करनेवाले बहुत-से समझदार व्यक्तियों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो रहा है कि वर्तमान स्त्रियों में उक्त रोग अधिकता से क्यों फैला हुआ है। ७-८ वर्ष तक चिकित्सा-व्यवसाय करने और अनेक स्त्री-रोगि[यों] का निरीक्षण करने से हमारी समझ में [क्षय-]रोग के जितने कारण आए, पाठक-पाठिका[ओं] की ज्ञान-वृद्धि के लिये संक्षेपतः उनका नी[चे] उल्लेख किया जाता है।

(क) स्त्रियों में क्षय-रोग की वृद्धि का सब[से] पहला और मुख्य कारण यह है कि जन्म हो[ने] के पश्चात् ही बालक और बालिका के खान-पान, रहन-सहन, पहनाव इत्यादि प्रत्येक बात [में] भेद होने लगता है। माता-पिता और अन्य संरक्षकों की इस दुरंगी चाल के कारण ही बालकों के शरीर तो फल-फूलकर हृष्टपुष्ट होते हैं, परंतु बेचारी निर्दोष गऊस्वरूपा बालिकाओं के शरीरों का ह्रास होने लगता है। एक तो प्रकृति से उपर्युक्त संरक्षकगण बालिकाओं के शरीरों की उपेक्षा करते हैं ; दूसरे, उनका यह थोथे विचार कि—"यह तो पराए घर का धन है, थोड़े दिनों में यहाँ से चली जायगी, हमारा इनसे क्या लाभ होगा, विवाह करना होगा और दहेज़ आदि देने में बहुत-सा धन व्यय होगा इत्यादि—इस कारण इन्हें अच्छा खिलाना-पिलाना और बालकों की भाँति पालने से हमारा कुछ लाभ नहीं है"—उनसे और भी अधिक दुराव कराते हैं। "जितना गुड़ गेरो उतना मीठा होय" की लोकोक्ति के अनुसार इसका यह परिणाम होता है कि कन्याएँ कुमारों की अपेक्षा हर बात में पिछड़ी हुई रहती हैं। उनके शरीरों का विकास रुक जाता है, और इस प्रकार प्रारंभ से ही भेद-भाव होने से उनमें क्षय का बीज बोया जाता है। इस दोष को दूर करने में देश की माता बनने-वाली स्त्रियों और पिता बननेवाले पुरुषों का बहुत बड़ा हाथ है। यदि वह पुत्र और पुत्री को एक

आँख से देखते हुए उनके खान-पान और लालन-पालन में समानता का व्यवहार करें, तो कन्या-वर्ग के फूलने-फलने से देश में वीर-माताओं की वृद्धि हो सकती है।

(ख) स्त्रियों में क्षय-रोग की वृद्धि करनेवाला दूसरा कारण महाबली राक्षस बाल-विवाह है, जिसके द्वारा बालिकाओं के स्वास्थ्य का भीषण ह्रास हो रहा है। कच्ची अवस्था में शरीर की वृद्धि एवं अंग-प्रत्यंग पूर्ण होने से प्रथम ही उनका शरीर नष्ट होने लगता है। एक ओर शरीरशास्त्र-विशेषज्ञों का कथन है कि जब कन्या का मासिक धर्म होने लगे और ३ वर्ष तक मासिक होकर उसका अस्तित्व शुद्ध हो जाय, गर्भाशय इत्यादि अंग पुष्ट और पूर्ण हो जायँ, ठीक एक-एक मास के पश्चात् ऋतुमती होने लगे और पूर्ण युवत्व के लक्षण प्रकट हो जायँ, तब उसका गर्भाधान-संस्कार कराना उचित है। सो भी केवल संतान-उत्पत्ति के निमित्त। परंतु शोक ! दूसरी ओर बालविवाह की कृपा से बिलकुल इसका उलटा ही हो रहा है। अबोध बालिकाएँ गार्हस्थ्य के कर्म को समझतीं नहीं, युवत्व प्राप्त नहीं होता, मासिक धर्म प्रारंभ तक नहीं होता, खेलने-कूदने तथा पढ़ने-लिखने का समय होता है, शारीरिक और मानसिक विकास का समय होता है, उसी अवस्था में गृहस्थी के दृढ़बंधनों में बाँध दी जाती हैं, जिससे उनकी सब प्रकार की उन्नति पर पानी फिर जाता है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि ग्यारह-ग्यारह बारह-बारह वर्ष की बालिकाएँ माता बन जाती हैं, जब वे स्वयम् माताओं की गोद में खेलने योग्य होती हैं। दूसरी ओर अज्ञानी पतियों की अज्ञानता के कारण, वह विषयभोगों की मशीन (यंत्र) बनकर अपने अमूल्य स्वास्थ्य और ईश्वरदत्त स्त्रीत्व से हाथ धो बैठती हैं, जिसका भयंकर परिणाम प्रतिदिन नेत्रों के सम्मुख दिखाई पड़ रहा है कि देश की नवयुवतियाँ वृद्धाओं के समान हो रही हैं और भयानक कठिन असाध्य, खाँसी, बुखार, रक्तप्रदर, सोमरक्तार्श, ग्रहणी, यक्ष्मा आदि रोगों के चंगुल में फँसी हुई हैं। उपर्युक्त रोगों का स्त्रीसमाज में इतना प्राबल्य है कि कोई भाग्यवान् ही इनसे बची हुई होंगी। इस प्रकार के असाध्य रोगों ने स्त्रीसमुदाय को जीर्ण-शीर्ण करके प्रलय का दृश्य उपस्थित कर रक्खा है। इसमें अत्युक्ति नहीं।

ऊपर जिन रोगों के नाम गिनाए गए हैं, यह सभी पुराने होकर क्षय का रूप धारण कर लेते हैं। जो व्याधि शरीर में दीर्घ काल तक बनी रहकर शारीरिक धातुओं का (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र या आर्तव) नाश करे, उसी का नाम क्षय है। शरीर के अवयव पुष्ट नहीं होने पाते कि बेचारी भोली बालाओं को काल-कोठरी में बंद करने लगते हैं। उनके पति बननेवाले महाशय (चाहे युवक हों या बालक) कामशास्त्र से सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं, बस विषय-भोगों में मस्त रहना जीवन का सच्चा आनंद समझकर बालपत्नियों के शरीरों को जर्जर कर डालते हैं। अतियोग के कारण जब सोम, प्रदर, रक्तप्रदर आदि रोग लग जाते हैं, तो दो प्रकार से शरीर के धातु क्षीण होने लगते हैं। यदि उसी अवस्था में संतान भी हो जाती है, तो उसके लालन-पालन में परिश्रम करना पड़ता है और दुग्धपान कराने में शरीर का पौष्टिक अंश क्षय होता है। यह तीसरा क्षय प्रारंभ हो जाता है। इस प्रकार से जब चारों ओर से शरीर का क्षय होने लगता है, वे किसी असाध्य रोग का ग्रास

बनकर दीर्घ काल तक रोगिणी रहकर अनेक प्रकार के कष्ट भोगती हैं और अकाल में ही काल का कलेवा बनकर इहलीला समाप्त कर देती हैं।

यदि देश के शुभचिंतक नारी-समाज का स्वास्थ्य सुधारना चाहते हैं, तो उनका सबसे प्रथम कर्तव्य है कि बाल-विवाह का मूल नष्ट करके पूर्ण युवत्व प्राप्त होने पर कन्याओं के विवाह की व्यवस्था करें। शरीर के अवयव पूर्ण और दृढ़ होने पर गर्भाधान संस्कार की रीति से संतान उत्पन्न करने से संतान और माता, दोनो का कल्याण होगा, और क्षय-रोग भस्मीभूत हो जायगा। अस्तु।

(ग) स्त्रियों में क्षय-रोग की वृद्धि करनेवाला तीसरा कारण है परदा। इस दुखदायिनी प्रथा के कारण महिला-मंडल के स्वास्थ्य का टट्टी की आड़ में ख़ूब शिकार खेला गया है। हमारा तो ऐसा विचार है कि इस राक्षसी प्रथा ने नारियों के स्वास्थ्य को जितनी अधिक हानि पहुँचाई है, संभव है, दूसरी ने न पहुँचाई हो। दश-दश वर्ष की बालिकाओं से लेकर पचास-साठ वर्ष तक की अवस्था की स्त्रियाँ बराबर परदे के अंदर रहती हैं। नवयुवती-बहुओं के लिये तो परदे का बड़ा भारी बंधन है। शुद्ध वायु, व्यायाम, भ्रमण, सभासमिति, सार्वजनिक उत्सव, सम्मेलन इत्यादि के लाभों से वह सर्वथा वंचित रहती हैं। हर समय शहरों के बीच की सड़ी गलियों में चहारदिवारी से घिरे हुए मकान, मकानों के अंदर भी चिक और परदेदार पिछाड़ी के बंद कमरे में डेढ़ हाथ का लंबा घूँघट निकालकर गर्दन झुकाए हुए उन्हें बैठा रहना पड़ता है। ऐसी स्थिति में इस प्रकार उनके शरीरों की हानि होती है।

शुद्ध वायु न मिलने से रक्त विकृत हो जाता है, व्यायाम न करने से शरीर के पुट्ठे ढीले पड़ जाते हैं, गर्दन झुकाकर बैठे रहने से फेफड़े दुर्बल हो जाते हैं, हर समय घूँघट के अंदर श्वास लेने से अंदर की निकली हुई वायु फिर शरीर में प्रवेश करती रहती है, जिससे हृदय आदि अंग दुर्बल होकर ठीक काम नहीं करते। भ्रमण आदि क्रिया न होने से रक्त का दौरा ठीक नहीं होता। पाचनशक्ति बिगड़ जाती है, विबंध रहने लगता है, जिससे अपवित्र परिमाणु मस्तिष्क की ओर चढ़कर उन्माद, हिस्टीरिया, मृगी आदि रोगों की उत्पत्ति होती है। उपर्युक्त सब कारणों से शरीर में अनेक परिवर्तन होकर भयंकर प्राणनाशक राजयक्ष्मा आदि की उत्पत्ति हो जाती है।

इसके अतिरिक्त हर समय परदे की काली कोठरी में रहने के कारण अनेक प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने में भी रुकावट रहती है। इस रुकावट या क़ैद के कारण ही वर्तमान नारीमंडल पशुवत् बना हुआ है। पग-पग पर साधारण-सी बात में भी परावलंबी होने का कारण भी यही है। यदि परदे की दीवार को हटाकर पुरुषों की भाँति स्त्रियों को भी अनेक प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने का सुअवसर दिया जाय, तो बहुत कुछ सुधार हो सकता है, और इसमें नर और नारी दोनों ही वर्णों का कल्याण हो सकता है।

वर्तमान में पुरुषों पर जो स्त्रियों का भारी बोझा पड़ा हुआ है, वह भी हलका हो सकता है; क्योंकि जब स्त्रीरूपी पक्षी को पिंजरे से बाहर निकलने का अवसर मिलेगा, तो उन्हें अनेक प्रकार का सामाजिक, आर्थिक, सांसारिक, वैज्ञानिक, वैदेशिक ज्ञान होने से विशेष बोध होगा। इसके द्वारा उनमें साहस, कार्य-करने

शक्ति विशेषज्ञता और स्वावलंबी बनने एवं अपनी रक्षा करने की शक्ति उत्पन्न होगी।

(घ) स्त्रियों में क्षय-रोग की वृद्धि करनेवाला चौथा कारण है स्त्रियों का भोजन। जिस प्रकार बालावस्था में माता-पिता के द्वारा बालक और बालिकाओं के भोजन में भेदभाव रहता है, इसी प्रकार राजा से लेकर रंक तक के गृहस्थ-घरों में नर और नारियों के भोजन में अंतर रहता है। गृहस्थों के घरों का यह एक साधारण-सा नियम है कि पुरुष लोग बाहर से जितने भी उत्तम और पौष्टिक खाद्य पदार्थ लाते हैं अथवा मँगाते हैं, उन्हें सबकी घर की देवियाँ (माता, बहन, पत्नी आदि) पुरुषों को ही खिला दिया करती हैं। नित्य के भोजन रसोई आदि में भी यही संकीर्णता होती है। सद्गृहस्थों का यह नियम है कि पुरुषों से प्रथम स्त्रियाँ भोजन नहीं करतीं, पुरुष महाशय बाहर से आते हैं और उत्तम-उत्तम पदार्थों का बना हुआ भोजन करके अपनी विश्रामशाला में जाकर लेट जाते हैं। पीछे जो कुछ भी बचा-खुचा, थोड़ा-बहुत बासी-तसा भोजन शेष रह जाता है, उसे खाकर स्त्रियाँ अपना उदर भर लेती हैं। पुरुष महाशयों को इस बात की खबर तक नहीं रहती कि स्त्रियाँ क्या खाती हैं और क्या नहीं। बहुत-से साधारण घरों में तो नित्य प्रति स्त्रियाँ रूखा, बासी, जला-भुना भोजन खाकर ही अपना जीवन-निर्वाह करती हैं। इसमें प्रथम कारण तो स्त्रियों की अशिक्षा है, जिससे वह अज्ञानवश पुरुषों को विशिष्ट समझकर अपने जीवन को निरर्थक और निकम्मा समझती हुई अपने शरीर की उपेक्षा करती हैं।

दूसरा कारण पुरुषवर्ग की लापरवाही, स्वार्थ-लोलुपता और मिथ्याभिमान है कि वह अपने को विशेष समझता है, स्त्रियों के भोजनादि की परवा नहीं करता, अपना उदर पूर्ण करने के पश्चात् यह सुधि नहीं लेता कि स्त्रियाँ क्या खाती हैं और क्या नहीं।

इस प्रकार का निकम्मा, पुष्टताहीन, अनुपयुक्त, बासी बचा हुआ, रूखा, अपरिमाण और असमय में लापरवाही के साथ स्नेहविहीन किया हुआ भोजन भी स्त्रियों में क्षय-रोग की वृद्धि करने-वाला मुख्य कारण है।

आयुर्वेद-शास्त्र के सिद्धांत के अनुसार भोजन मनुष्यों के जीवन का आधार है। यदि उपर्युक्त दोषों से युक्त भोजन किया जाय, तो कुछ काल के पश्चात् भोजन करनेवाले को अवश्य ही क्षय-रोग हो जाता है। इस दोष को दूर करने के लिये घर के मुखिया स्वामियों को चाहिए कि वह गृह-देवियों के भोजन पर सदैव दृष्टि रक्खें। किसी समय भी कोई खाद्य पदार्थ घर में आवे, अपने हाथ से बाँटकर परिवार के सब नर-नारियों को दिया करें। नित्य की रसोई में भी इस बात की खोज रक्खें कि स्त्रियाँ पुरुषों के समान भोजन करें और दूध इत्यादि पीवें। इस प्रकार के प्रबंध से उनका शरीर पुष्ट होक[र] स्वास्थ्य सुधर सकता है।

(ङ) स्त्रियों में क्षय-रोग का बीजारोपण करनेवाला पाँचवाँ कारण है आयुर्वेद-शिक्षा का अभाव। शरीर और चिकित्सा-ज्ञान के अभाव के कारण वह अपने शरीर की कुछ भी बात नहीं समझ सकती। शोक है कि वर्तमा[न] समय में पाठशालाओं में कन्याओं को अने[क] ऐसे विषय तो पढ़ाए जाते हैं, जिनसे उनका कु[छ] भी लाभ नहीं होता, परंतु ज्ञातव्य शरीर-विज्ञ[ान]

से वे सर्वथा वंचित-सी ही रहती हैं। अनपढ़ और साधारण स्त्रियाँ तो स्वास्थ्य से हाथ धोए बैठी हैं अशिक्षा के कारण, परंतु दुःख होता है यह देखकर कि उच्च शिक्षिता बहनें पीतवर्ण, मुख मलीन और रोगों का ग्राह बनी हुई दृष्टि-गोचर होती हैं।

अन्य कारणों की गणना के साथ भारतीय नारियों में अस्वस्थता का एक मुख्य कारण है स्वास्थ्य ज्ञान का अभाव। शरीर-शास्त्र का ज्ञान न होने से वह यह नहीं समझ सकती कि शरीर के कौन-से अंग कितने उपयोगी हैं, उनकी किस भाँति रक्षा करनी चाहिए, जिससे वह प्राकृतिक अवस्था में रहें। और यदि कारणवश उनमें कोई विकार (रोग) उत्पन्न हो जावे, तो उसे दूर करने के लिये क्या-क्या उपाय करने चाहिए। उपाय न करने से इसका कितना भयंकर परिणाम हो सकता है।

उपर्युक्त ज्ञान के अभाव के ही कारण स्त्रियाँ मिथ्या आहार-विहार करती हैं, और उसी दोष से शरीरों में अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। परंतु वह शरीररूपी यंत्र के कल-पुर्ज़ों को नहीं समझती, इसी का कटु फल भोगना पड़ रहा है। उनके शरीर रोगों के आगार बन रहे हैं, परंतु वह कुछ भी नहीं समझती। स्त्री-रोगों की भयंकरता का मुख्य कारण उनका अज्ञान ही है। साधारण रोगों की कुछ परवा नहीं करतो। जब वह भयंकर रूप धारण कर शरीर को जर्जर कर देता है, तब आग लगे पर कुआँ खोदने के सदृश सब प्रयत्न निष्फल हो जाया करते हैं।

रोग और शत्रु का बल बढ़ने देना ही महा अनिष्ट करनेवाला है। यदि रोग के प्रारंभ काल में ही उसका उपाय कर नष्ट कर दिया, तो चला जाता है। परंतु विपरीत इसके अधिक काल तक शरीर में बने रहने से वह शरीर के धातुओं के अंदर प्रवेश करके क्षय का रूप धारण कर लेता है। यही कारण है कि वर्तमान स्त्रियों में क्षय-रोग अधिकता से फैला हुआ है।

इस दोष को दूर करने का सबसे अच्छा यही उपाय दीख पड़ता है कि देश की सब स्त्री-शिक्षा संस्थाओं में छात्राओं को १ वर्ष तक आयुर्वेद और डाक्टरी मतों के अनुसार स्वास्थ्य के साधारण नियमों का ज्ञान प्राप्त कराने का नियम अनिवार्य कर दिया जाय।

इसके अतिरिक्त एक "अखिल-भारतीय नारी स्वास्थ्य-रक्षक परिषद्" की स्थापना करके सब प्रांतों में उसकी शाखा खोली जावे। फिर ज़िले-ज़िले और नगर-नगर में उनकी उपशाखाएँ स्थापित हों। उक्त परिषद् के द्वारा एक वृहत् "नारी-आयुर्वेद-विद्यालय" रहे, जिसके साथ "नारी-औषध-निर्माणशाला", "नारी-रुग्णालय" "नारी-चिकित्सालय" भी रहें। परिषद् की ओर से ऐसे उपदेशक रक्खे जावें, जो रात्रि के समय किसी सार्वजनिक स्थान में नगर की महिलाओं को एकत्रित करके न्यून-से-न्यून दो घंटे शरीर-विज्ञान और स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों का उपदेश दिया करें। जो गृहस्थ-स्त्रियाँ स्कूल-कालेजों में जाकर शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकतीं, उनकी ज्ञान-वृद्धि की महती आवश्यकता है; क्योंकि अपनी और बालकों की स्वास्थ्य-रक्षा एवं भोजनादि का उत्तरदायित्वपूर्ण भार उन पर है। उनके लिये यही उपाय लाभप्रद हो सकता है।

इस लंबे लेख को लिखने का मुख्य प्रयोजन यही है कि स्त्री-समाज के स्वास्थ्य की दुरवस्था

देखते हुए बड़ी लगन, शीघ्रता और तत्परता के साथ स्त्रियों के स्वास्थ्य का सुधार होना चाहिए । हमारे विचार में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ा हुआ है । अतः इस कारण पुरुषों से अधिक स्त्रियों में इस परमावश्यक आयुर्वेद-ज्ञान की आवश्यकता है । देश की प्रत्येक नारी जब तक स्वास्थ्य के साधारण नियमों का ज्ञान प्राप्त न कर लेगी, तब तक सुधार हो नहीं सकता । महिला-मंडल में जब तक क्षयरूपी घुन लगा हुआ है, तब तक देश शक्ति-संपन्न नहीं हो सकता । देश-हितैषियों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो, यही हमारी सद्भावना है । अस्तु ।

हुक्मदेवी छात्रा

× × ×

६. प्रश्न और उत्तर

खेल रही थी मैं फूलों से, मलयानिल ने करके प्यार ,
मुझसे पूछा—कहो कामिनी क्यों करती हो तुम शृंगार ?

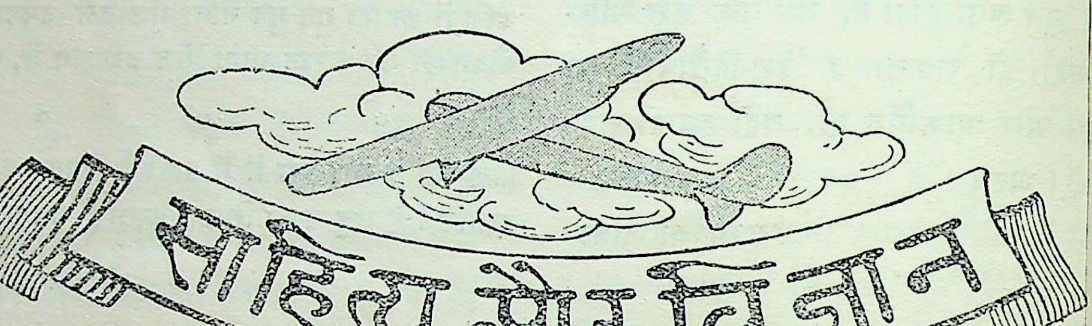
* * *

स्वर्ण-उषा के गगनाङ्गन से घूँघट-पट को फहराती ,
लाखों भोली किरणें निकलीं वयःसंधि में मदमाती ।
दूर खड़ी पर्वतमालाएँ लज्जा से तब लाल हुईं ।
खिल उठीं रूप के प्रथम ज्वार से, शोभा की वे जाल हुईं ।
सारी रात बिता स्वप्नों में लख प्रभात की मृदु मुस्कान ,
कलियों ने तब आँखें खोलीं सुनकर अलियों का आह्वान ।
अलियों का वह गुन-गुन गाना गूँज उठा उपवन में ।
यौवन की वह अस्फुट भाषा गूँज उठी तन में, मन में ।

* * *

प्राण-प्रांत के कण-कण में मैं पाती हूँ प्रियतम का प्यार ,
इसीलिये हे मृदु मलयानिल ! करती हूँ अपना शृंगार ।

श्रीरत्नचन्द्र छत्रपति



१. स्वप्न और कवि

स्वप्न की सुषमा प्रकृति-पर्यवेक्षण की सबसे सच्ची और सरस अनुभूति है। इसका आविर्भाव उन क्षणों में होता है, जिन क्षणों का नियामक उनकी वर्णनातीत सरलता ही रहती है। सहृदय इससे जब परिचय प्राप्त करता है, तब उसका सजल हृदय इसके हौले-हौले पलनों के साथ ही उस स्वर्गीय ऊँचाई की ओर खिंच आता है, जिधर इसकी स्पर्शहीन कोमलता कवि के हृदय पर अपनी एक अमिट छाप छोड़ जाती है। यही कारण है कि किसी भी कवि की सबसे प्यारी-प्यारी चीज़ों के गणनावसर में कनगुलिए का अधिकार इसे ही प्राप्त होता है। प्रायः कोई भी मनचला कवि इसे न भूला होगा और किसी भी कवि का स्वप्न-वर्णन अरण्यरोदन की भाँति प्रभावहीन न होकर, पाठक के अंतस्तल को गुद-गुदाकर ही छोड़ा है। वही गुदगुदी इस लेख का आदि-कारण है। यह विषय मोटी-से-मोटी पुस्तकरूप में आ सकता है। मगर इस लेख में तो इसका दिग्दर्शनमात्र है।

कवि अपने कृति-मुकुर में इसका प्रतिबिंब-मात्र छोड़ जाता है, जिसके सहारे सहृदय पाठक इसकी सजीव प्रतिमा का निर्माण करते हैं।

अस्तु, कुछ विद्वानों ने काव्य-कला को 'सरस अनुभव का व्यक्तीकरण' कहकर संबोधित किया है। और सरस अनुभव का सामंजस्य नैसर्गिक जिज्ञासा के साथ ही श्रेष्ठतम है, जिसमें स्वप्न का अंतर्भाव भी समधिक उपादेय है। मगर केवल नैसर्गिक जिज्ञासा तथा सरस अनुभव कला नहीं कहा जा सकता, नहीं तो निखिल विश्व ही कलाविद् हो जाता, वास्तव में किसी अंश में विश्व कलाविद् है भी। ख़ैर, जब उस अनुभव का व्यक्तीकरण कला है, तब व्यक्तीकरण क्या? निसर्ग के प्रतिबिंब को अंकित करना ही उसका व्यक्तीकरण है। हम प्रकृति-प्रतिबिंब के चितेरे को कलाविद् कह सकते हैं, क्योंकि अनुकरणजन्य प्रांजलता का विधायक वह होता है। अनुकरण में क्या प्रांजलता है, इसका विचार इस छोटे लेख में नहीं हो सकता।

अस्तु, उसमें भी सबसे श्रेष्ठ कलाविद् वही होता है, जिसका अनुकरण चित्रण प्रकृति से जितना ही भेदहीन होता है।

अब नीचे के वर्णनों में पाठकगण देखें कि कौन उच्चतम कलाविद् है और किसका वर्णन भेदहीन है।

पहले महाकवि श्रीहर्ष का वर्णन देखिए—

निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्।
अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्याः स महन्महीपतिः॥

"स्वप्न, बंद आँखों से और मुँदे हुए हृदय से भी छिपाकर, नलरूपी बड़े भारी अदृष्टपूर्व रहस्य को दमयंती के सामने उपस्थित कर दिया।"

वर्णन प्रांजल है, मगर मुझे तो ऐसा ज्ञात होता है कि स्वप्न की सारी खूबी क्षण-भर के लिये चमककर छिप गई हो, और श्लोकोक्त रहस्य के सामने स्वप्न का सारा रहस्य फीका पड़ गया हो। क्योंकि कवि ने स्वप्न की बहादुरी दिखलाने के लिये अवतरण-वर्णन में पड़कर स्वयं ही इसे आनुषंगिक कर दिया है, तथापि इसमें अलंकारजन्य महत्ता ही बड़े मार्के की है।

कविता-कामिनी के विलास-स्वरूप कालिदास की सहृदयतारूपी घड़ी की सुई बहुत आगे बढ़ी हुई है। इनका मेघदूत बड़ा सजल है और घन-पटल पर अमर चित्र अंकित करने में इनकी विद्युत् की कूची खूब सफल हुई है। इस नाज़ुक अंदाज़ कवि का संदेश भी सचमुच बड़ा नाज़ुक है। मेरी समझ में कोई सरस पाठक ऐसे न होंगे, जो इसे पढ़ने के बाद लख़्तेजिगर थामकर न बैठ गए हों।

उस वर्णनात्मक श्लोक के सबसे सरस दो उत्तर चरण ये हैं—

"माभूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथञ्चित्।
सद्यःकण्ठच्युतभुजलताग्रन्थिगाढोपगूढम्॥"

उत्तर-मेघ में यक्ष अपना व्याकुल संवाद बड़े विनीत शब्दों में कह रहा है। वह उपर्युक्त श्लोक के पूर्व दो चरणों में यह कहता है कि हे जलद! उस समय अगर मेरी स्त्री क्षण-भर के लिये ताप से विमुक्त होकर सोई हो, तब तुम अपना मंद्रनाद नहीं करना। क्यों नहीं करना, इसी का भाव इस उत्तर-चरणद्वय में है—

"क्योंकि कहीं स्वप्न में मुझे आलिंगन करती हुई वह तुम्हारे शब्द से जगकर मेरे उस आलिंगन से वंचित न हो जाय, उसकी वह भुजलता कहीं हठात् मेरे कंठ से च्युत न हो जाय।"

कितना दुर्बल हृदय के बल पर खड़ा होकर वह यह विनय कर रहा है और कैसी मधुर पीड़ा की अनुभूति इसमें छिपी है। हाँ, इस श्लोक के भाव को हम और भी कोमलतर एवं पुलकित तब देखते हैं, जब हमें उसी उत्तर-मेघ का एक चरण और याद आता है—

"कान्तोदन्तः सुहृदुपगतः संगमात् किञ्चिदूनः।"

अर्थात् मित्र द्वारा लाया गया प्रियतम का संदेश प्रिय-समागम से थोड़ा ही कम होता है।

अब देखिए स्वप्न की कल्पना कितनी सरस और सुखद की गई है। वह साक्षात् समागम के तुल्य अपने संदेश को जानकर भी कहता है कि उसे जगाकर और स्वप्न-संगम से वंचित करके मेरा यह संदेश भी नहीं कहना। कवि के अनुभव में साक्षात् संगम से भी स्वप्न-समागम का स्थान बहुत ऊँचा है। वह इतनी सरसता, उच्छ्वास और ऋजु-व्यथा का मधुमोद साक्षात् समागम में भी नहीं देखता है। यहाँ कालिदास ने स्वप्न के उन अंगों का सरस स्पर्श किया है, जिनमें अलंकार व्यवधान नहीं है।

एक कवि का स्वप्नलोक ऐसा है—

समायाते कान्ते कथमपि च कालेन बहुना,
कथाभिर्देशानां सखि! रजनिरर्धङ्गतवती।
ततो यावल्लीला कलहकुपितास्मि प्रियतमे,
सपत्नीवत्प्राची दिगियमभवत्तावदरुणा॥

"बहुत दिनों पर किसी तरह प्राणनाथ के आने पर आधी रात तो परदेश-संबंधी बातचीत करते-करते ही कट गई। इसके बाद उत्तर-रात्रि में जब तक मैं प्रियतम के रति-प्रार्थना पर मान करती हूँ कि तब तक सौत की तरह यह प्राची दिशा आताम्र हो गई।"

इस वर्णन में कोई अवस्था-विशेष विश्लिष्ट नहीं है, अवस्था-विश्लेषण का उत्तरदायित्व सहृदय पाठकों के ऊपर ही है। यह वर्णन सत्य असंगम और स्वप्न-समागम दोनों का हो सकता है। सत्य-समागम का वर्णन मान लेने पर इसे इस तरह अनुप्राणित करना पड़ेगा कि दिवा मैथुन निषिद्ध है, अतएव प्राची की लाली से प्रभात की सूचना मिलने पर चिराभिलषित सूरत में विघ्न होने से नायिका यह कह रही है।

स्वप्नावस्था का वर्णन मान लेने पर यह स्वयं ही अनुप्राणित है । प्रभात के आगमन से नायिका की नींद स्वयं ही खुल गई, जिससे उसका वह प्यारा स्वप्न उसके पीड़ित अंतरतम प्रदेश से हठात् खींच लिया गया ।

अब कहिए दोनों में भावुक कौन है । मेरी समझ में तो स्वप्न-वर्णन का जादू हटते ही वर्णन अपनी ही पीड़ा के अवसाद में अपना सारा प्रभाव गँवा बैठता है । और स्वप्न-पक्ष में ऐसा मालूम पड़ता है कि नायिका के हृदय की धीमी आवाज़ सदा के लिये उस स्वप्न में मिल गई हो; उसकी सदयदृष्टि क्रोध से अरुण होकर सपत्नी पर पड़ने के बदले आकुलता से और भी सदय और स्वच्छ होकर धीरे से अपनी सौत प्राची की ओर देख रही हो । इस तरह स्वप्न-वर्णन में भावुकता का नाज़ है और कवि के हृदय का सच्चा अनुभव ।

और भी बहुत-से संस्कृत-कवियों के स्वप्न-वर्णन मेरे सामने उपस्थित हैं, मगर लेख कहीं लंबोदर न हो जाय, इस भय से मैं उन पर कुछ प्रकाश नहीं डाल सकता ।

अब प्रिय पाठकों से प्रार्थना है कि वे लोग ज़रा अनंत की ओर भी ध्यान दें । अनंतवादी कवियों का भी स्वप्न बड़ा विचित्र है, उनके स्वप्न की रागिनियों से प्रत्येक तारक-दल प्रतिध्वनित हो जाता है । उनका स्वप्न उस मकरंद-कण के समान है, जिसमें अनंत ऋतुराज छिपा हुआ रहता है । पहले पथ-प्रवर्तक रवि बाबू का स्वप्न देखिए--

ऐसे छिल नीरव राते,
वीणा खानि छिल हाते,
स्वपनमाझे वाजिये गेल,
गभीर रागिणी ।

"उस समय नीरव रात थी, और उसके हाथों में उसकी वीणा थी, जिसकी मूर्च्छनाओं से मेरा स्वप्न प्रतिध्वनित हो गया ।"

यहाँ कवि का स्वप्नलोक वीणा से अनवरत झंकृत होता है । वह अपने स्वप्न के सामने किंकर्तव्य-विमूढ़ हो रहा है । इस स्वप्न में इतनी सरलता नहीं है, बल्कि यह स्वप्न एक बड़ा भारी रहस्य है, जिस पर कवि मुग्ध हो रहा है । फिर कहते हैं—

यदिवा तार पायेर शब्दे
घुम ना भाङे मोर,
शपथ आमार तोरा केह
भाङासूने से घोर ।
चाइने जागते पाखीर रवे
न तुन आलोर महोत्सवे,
चाइने जागते हायोयाय आकुल
वकुल फुलेर वासे,
तोरा आमाय घुमुते दिस
यदि इवा से आसे ।

"यदि उसके पैरों की आहट से मेरी नींद न खुले तो शपथ है, उस समय कोई मुझे न जगावे । पक्षियों के कल-कलमय प्रातःकालीन आलोक के महोत्सव में भी मैं निराकुल निद्रा से नहीं उठना चाहता हूँ । यदि मेरा प्रभु द्वार पर आ भी जाय, तो भी शांति को नहीं भंग करना ।"

यहाँ प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि कवि को अपनी निराकुल नींद में स्वप्न की बड़ी उत्कट अभिलाषा है । कवि पक्षियों के कलरव और पुष्पों की भीनी-भीनी सुगंध से सराबोर उषा के अरुण अंचल से भी अपने स्वप्न-प्रांत की कल्पना अधिक सुखद और शांत करता है । वह प्रभात के सदृश ही स्वर्णमय और प्रशांत अपने स्वप्न को देखने के लिये बड़ा उद्विग्न हो रहा है । इसके आगे फिर कहता है—

ओगो आमार घुम जे भाल
गभीर अचेतने,
यदि आमाय जागाय तारि
आपन परशने ।
घुमेर आवेश जेमनि टुटि
देखवतारि नयन दुटि
मुखे आमार तारिहासि
पडवे सकौतुके—
सेयेन मोर सुखेर स्वपन
दांडावे सम्मुखे ।

"मेरी प्यारी नींद, तू तो उस समय खुलेगी, जब वह तुम्हें स्पर्श करेगा । मेरे मुद्रित नेत्र, तू अपनी पलकों को उसकी मुसकान की ज्योति में खोलोगे, जब वह मेरे सामने स्वप्न के समान आकर खड़ा होगा ।"

आख़िर रवि बाबू अपने उद्गार को नहीं रोक सके । उन्होंने जागृतावस्था में ही सपने का निर्माण करना चाहा है । कैसी विचित्र बात है और कवि अपनी बंद आँख और अपने निमीलित हृदय से स्वप्न का साक्षात्

करते हैं, तो ये अपनी पलकों को उठाकर ही उसकी बाँकी-झाँकी खींचने की कोशिश में हैं। मालूम होता है कि रवि बाबू स्वप्न की मुसकान-ज्योति में कई बार अपने हृदय को उघारकर देख चुके हैं। देखिए, एक जगह और उन्होंने स्वप्न की कैसी अच्छी उपमा दी है--

आमि भिक्षा करे फिरते छिलेम
ग्रामेर पथे पथे ,
तुमि तखन चले छिले
तोमार स्वर्ण रथे ।
अपूर्व एक स्वप्न सम
लाग्ते छिल चक्षे मम
कि विचित्र शोभा तोमार
कि विचित्र साज
आमि मने भावते छिलेम
ए कोन् महाराज ।

"जब मैं भिक्षा माँगने के लिये एक गाँव से दूसरे गाँव में फिर रहा था, उस समय स्वप्न के समान शोभामय तेरा स्वर्ण-रथ मुझे देख पड़ा। आह, उस समय तुम्हारी कैसी शोभा थी! मेरे मन में यह होता था कि यह राजराजेश्वर कौन है।"

क्या खूब, वह रथ तो स्वप्न के समान शोभामय था, वह ठीक स्वप्न के समान ही अपने आलोक में अपनी विचित्रता को बिखेरता हुआ धीरे-धीरे चल रहा था और जिस प्रकार स्वप्न जीवन के चरणों को अपनी ही अजानता से एकदम परिवर्तित कर देता है, उसी तरह उस रथ के दर्शन से कवि का दरिद्र जीवन सहसा एक अद्भुत आह्लाद में परिणत हो गया।

अस्तु, यह तो मैं पहले ही कह चुका हूँ कि ऐसे कवियों के स्वप्न का भावात्मक नियमित विश्लेषण करना मकरंदकण में व्यापक तथा विनोदमय मधुमास को ढूँढ़ निकालना है। कवि की विस्मृत दशा से निकले हुए इन असमबद्ध ध्वनिमय स्वरों को एक भावात्मक वृत्त में काट-छाँटकर एकदम सुश्रृंखलित करना वास्तव में टेढ़ी खीर है। तो भी इनके स्वप्न में जो ज्योत्स्ना की तरह एक अजानता और नीरव पूर्णिमा निशीथ की तरह अपरिमेय सौंदर्यानुभूति तथा समीर की तरह जो एक सरस सनसनाहट है, उसे प्रत्यक्ष करने की चेष्टा मैंने की है।

अब हिंदी-प्रेमी अपने संसार का भी अनोखा सपना देख लें। इन सपनों से तो उनका परिचय पूरा हार्दिक और पुराना है, तो भी इस छोटी कसौटी पर अन्य स्वप्न स्वर्ण की रेखाओं की पंक्ति में अपने सोने की लीक को भी समालोचनात्मक दृष्टि से देखें।

पंतजी ने सचमुच पल्लव के उमड़ते हुए वसंत द्वारा हिंदी-साहित्य के शिष्टाचार में एक बहुत बड़ा युगांतर ला खड़ा कर दिया है। उनकी स्वप्न कोकिला की तान शांत रजतराका में अपने छोटे-से नीड़ से छन-छनकर तुहिन-कणों के साथ संपूर्ण साहित्याकाश में व्याप्त हो गई है। वे अपने दिमाग़ के अंदर घुसते ही स्वप्न को अपने आलोक में अपना सौंदर्य न बिखेरने देकर अपने जादू से उसे तुरंत बेहोश कर दिए हैं। इस तरह बेहोश होकर उनका सुंदर स्वप्न स्वयं एक अजान स्वप्न देखने लगा है। जैसे--

जब शशि की शीतल छाया में
रुचिर रजत-किरणें सुकुमार
प्रथम खोलतीं नव कलिका के
अंतःपुर के कोमल द्वार ,
अलिबाला के सुन तब सहसा
जग है केवल स्वप्न असार
अर्पित कर देतीं मारुत को
वह अपने सौरभ का भार ,
हिम जल बन, तारक पलकों से
उमड़ मोतियों से अवदात ,
सुमनों के अधखुले दृगों में
स्वप्न लुड़कते जो नित प्रात ,
उन्हें सहज अंचल में चुनचुन ,
गूँथ उषा किरणों में हार
क्या अपने उर के विस्मय का
तूने कभी किया शृंगार ?

जैसे कलियाँ अलिबाला से यह सुनकर कि जग केवल असार स्वप्न है, अपना सौरभ मारुत के चरणों में चुपचाप अर्पित कर देता है, उसी तरह स्वप्न-जैसे कवि के मुँह से अपना नाम सुनकर सारा सरल सौंदर्य कवि के चरणों में अर्पित कर देता है। अगर सुमनों के अधखुले नयनों से नितप्रति स्वप्न लुड़कते हैं, तो स्वप्न के अधखुले हृदय में भी पंतजी नित दिन नवीन स्वप्न का उन्मेष

देखते हैं। पुष्पों के अधखुले नयनों में रहनेवाले स्वप्न उस तारक पलक से निकले हैं, जो स्वयं एक स्वप्न है।

"कवि राष्ट्र का निर्माता है" इस सिद्धांतवादी पं.जी के स्वप्न में भी एकाध जगह जागृति की बू है—

जग के निद्रित स्वप्न सजनि ! सब
इसी अन्धतम में बहते ,
पर जागृति के स्वप्न हमारे
सुप्त हृदय ही में रहते ;

ठीक है, आख़िर पंतजी भी तो बीसवीं सदी के एक वाणी के वरपुत्र हैं।

पंतजी में सबसे अधिक तो इस शक्ति का उन्मेष है कि वह किसी भी भाव को रूपक उपमाओं की घाट उतारकर और नाप-तोलकर कोमल-से-कोमल और सुंदर-से-सुंदर बना देते हैं। उसी तरह यहाँ उद्धृत जागृति को भी पंतजी ने कोमलतर बना दिया है। सच बात तो यह है कि आप किसी भी विषय में स्वप्न जोड़िए, वह खुद नाज़ुक हो जायगा।

यह लेख यहीं समाप्त होता है, पाठक वर्णन में उत्तम कला और कलाविद् को हमसे न कहवाकर स्वयं ढूँढ़ निकालें।

जयकिशोरनारायणसिंह

× × ×

२. इंजिनियरिंग

इंजिनियरिंग की परिभाषा पाश्चात्य कोप में इस प्रकार दी गई है—इंजिनियरिंग एक वृत्ति (Profession) है और इस नाते से यह वृत्ति क़ानून (Law) और वैद्यक (Medecine) वृत्तियों की समकक्ष है। इसका व्यापार (Trade) से घना संबंध होने पर भी यह व्यापार से भिन्न है। यद्यपि आजकल यह आधुनिक व्यवसाय (Business) की एक महत्त्व-पूर्ण आवश्यकता बन गई है; परंतु इसे हम व्यवसाय भी नहीं कह सकते। भौतिक शास्त्र (Physics), रसायन-शास्त्र (Chemistry) और गणित (Mathematics)—इन सच्चे विज्ञानों के नियमों और खोजों पर पूर्णतः निर्भर रहने पर भी यह विज्ञानों से पृथक् वृत्ति है।

इंजिनियरिंग की उपर्युक्त परिभाषा को अधिक सरल और समझने योग्य बनाने के लिये हमको यह बतलाना आवश्यक है कि इस वृत्ति का उपयोग कहाँ-कहाँ है। इंजिनियरिंग का संबंध मनुष्य के लिये काम के नए क्षेत्रों का आविष्कार (Creation of services) और सार्वजनिक हित की वस्तुओं (Things for public use) के उपयोग में लाने का है। इस वृत्ति का उपयोग का मुख्य ध्येय नवीन प्रकार की, पहले से उन्नत और अधिक उपयोगी तथा अधिक सस्ती वस्तुओं के आविष्कार में उपर्युक्त सेवाओं व कार्यों को सरल बनाना है। इंजिनियरिंग का प्रयत्न सदैव विज्ञान के नए आविष्कारों (Discoveries) व खोजों (Researches) का मनन करके यह उद्योग करना है कि इन से कौन-से उपयोग व नियम उसकी किस नवीन वस्तु के निर्माण में कहाँ तक लाभदायक सिद्ध होंगे और इनकी सहायता से हम किस प्रकार किसी वस्तु को तैयार करने में प्रचलित रीति से अच्छी व सुगम रीति जानकर सार्वजनिक आवश्यकता को सरल रूप में पूरा कर सकते हैं।

किसी वस्तु की प्राकृतिक अवस्था को, ऐसी तरह से जिससे कुछ उन्नत ढंग निकल आवे, प्रयोग-योग्य दशा में बदलना तथा उसकी व्यापारिक सफलता में सहायता देना तथा इसके साथ-साथ किसी नवीन वस्तु को सबसे अधिक किफ़ायत से तैयार करना यह वास्तव में (Strictly speaking) इंजिनियरिंग का काम है। इसमें इंजिनियर इन सब कामों में अपना या कामों में से एक व अधिक आवश्यक (Important) या अधिक गूढ़ (Complecated) भागों वा दल (Interprize) के मार्गदर्शक वा शिल्प विशेषज्ञ (Technical expert) का काम करता है।

इस प्रकार इंजिनियरिंग वृत्ति दूसरे समूहों के कार्य-क्षेत्रों के बीच की श्रृंखला बन जाती है और इस प्रकार इसके क्षेत्र में सब व्यापारों का समावेश हो जाता है। मज़दूर और दक्ष-परिश्रम (Labour and skill) जो इंजिनियर के बनाए कार्य-क्रम व नक़्शे के अनुसार असली काम करते हैं, साहूकार (Bankers) जिन का प्रबंध शिल्प-उद्योगों के लिये एक आवश्यक अंग है, व्यापारी जो माल बनानेवाले और उसे उपयोग में लानेवाले के बीच में काम करते हैं और सार्वजानिक हित से जिनका घनि-

संबंध है, राजतंत्र (Government) के उपयुक्त विभागों तथा औद्योगिक समितियाँ—इन सबके बीच में इंजिनियर का अपने विषय के विशेषज्ञ के नाते तथा उपयुक्त ज़ंजीर की एक आवश्यक कड़ी होने के कारण महत्वपूर्ण स्थान है।

इंजिनियर के कुछ गुण वा विशेषण इस प्रकार बतलाए जा सकते हैं कि इंजिनियर सबसे अधिक मननशील, शांत, स्वच्छ, दूसरों को संतुष्ट करनेवाला (Satisfying), निःस्वार्थ खिलाड़ी है और उसका खिलवाड़ प्रकृति को उसी रूप में मनुष्य की सेवा के लिये तैयार करना है जिस प्रकार पुरुष को अपने सहयोगियों के साथ काम करते हुए परस्पर एक दूसरे को सहायता पहुँचाते हैं तथा अपने कर्तव्य को पूरा होते देख प्रसन्न होते हैं कि इसी प्रकार इंजिनियर आपकी सहायता व सेवा के लिये तैयार करने का खेल खेलता है और यह खेल संसार के सब खेलों से अधिक महत्त्व का उत्साहवर्द्धक और आनंददायक है।

व्यक्तिगत कार्य-क्षेत्र का इतना अधिक विस्तार होने पर और आधुनिक उन्नत जातियों के प्रत्येक क्षेत्र में इस प्रकार एक आवश्यक अंग होने पर भी यह एक आश्चर्यजनक बात है कि जनता के शिक्षित समूह का एक बहुत ही छोटा भाग यह अनुभव करता है कि इंजिनियरी का इतना महत्त्व और ऐसी विशेषताएँ हैं।

इंजिनियर की इस स्थिति के बहुत-से कारण दिए जा सकते हैं। परंतु उन सब कारणों में कदाचित् सबसे अधिक ज़ोरदार दलीलें इस प्रकार से ही हो सकती हैं कि इंजिनियर अपनी वृत्ति के लिहाज़ से काम करते समय मुख्य संचालक का ख्यातियोग्य स्थान लेकर उसके एक सहायक का स्थान ग्रहण करता है। वह किसी कार्य के निर्माण में वा किसी विभाग (Undertaking) के मार्गदर्शक के नाते किसी अन्य व्यक्ति, समिति अथवा राज्य के किसी अंग-विशेष के लिये काम कर रहा है और साधारण शिक्षित जनता केवल संचालक का नाम ही सुनती व जानती है, उसके सहायक का नहीं।

इस स्थिति का दूसरा कारण (Explanation) इंजिनियर की अपनी प्रकृति में मिल सकता है—जो कि मुख्यतः मनुष्यों के स्थान पर मुख्यतः वस्तुओं, पदार्थों और प्रकृति की शक्तियों (Forces of Nature) से संबंध रखने के कारण उन महत् प्राकृतिक विषयों में जिनके प्रयोग का वह प्रयत्न करता है तथा किसी उन्नति व अधिक लाभदायक रूप में सफल बनाने की धुन में इतना लाभ होता है कि उसने अपनी प्रकृति को व्यक्तिगत रूप से निःस्वार्थ बना लिया है और उसके परिणामस्वरूप से उसमें बातचीत करने के लिये अरोचकता उत्पन्न हो जाने के कारण उसका मन व्यर्थ बातें करने में समय नष्ट करने की ओर से घृणा करने लगता है। उसका अपना कर्तव्य और कार्य-क्षेत्र इतना महत् और विस्तृत और चित्ताकर्षक (Absorbing) है कि उसके आगे के काम का शब्दाडंबर(Mere words) बहुत तुच्छ (Trivia) है और इनमें पड़ना उसे अपने आवश्यक और बहुमूल्य समय का दुरुपयोग-मात्र ज्ञात होता है।

उसके लिये क्रियात्मक विज्ञान व इंजिनियरिंग के सिद्धांतों की प्रत्येक नवीन खोज, प्रत्येक आविष्कार व कार्य को सरल बनानेवाला प्रत्येक उन्नत ढंग (Emproved Method) आविष्कारों, सिद्धांतों, तरीक़ों और लाभदायक पदार्थों के एक नए कुंटुंब के जन्मदाता हैं, और इन कार्यों की सफलता का रहस्य प्रतिवर्ष सिद्धांतों की वृद्धि और उनके लाभदायक कार्यों का बढ़ना है। इस सबके फल-स्वरूप इंजिनियरिंग का क्षेत्र एक बड़े उत्तरोत्तर वेग से (Acceleating rate) रेखागणित की वृत्ति (Arithmetical profession) के अनुसार अथवा चक्र-वृद्धि व्याज की मूलधन की वृद्धि के समान बढ़ रहा है। इस धारणा ने इंजिनिय को अपनी वृत्ति में लगे रहने तथा अपने कार्य को एक परिमित विभाग की सीमा में किसी एक मनुष्य का उस विषय का असली विशेषज्ञ होना संभव हो सकता है। इंजिनियरिंग वृत्ति के अलग-अलग इतने विभागों का क्या कारण है, इसका उचित उत्तर शायद ऊपर के कथन से मिल जाता है। इस प्रकार यह वृत्ति अपने अलग-अलग विभागों में विभाजित हो गई है और इनमें से प्रत्येक विभाग अब भी बढ़ रहे हैं और इस बात को मानने के काफ़ी कारण मौजूद हैं कि भविष्य में इन विभागों के और भी बहुत-से विभाग होंगे।

इंजिनियरिंग के मुख्य मोटे विभाग

इस समय यह वृत्ति चार बड़े भागों में बँटी हुई है।

१—माइनिंग व मैटिलरजिंकल (खनिज) इंजिनियरिंग
२—सिविल इंजिनियरिंग
३—मिकैनिकल ,,
४—इलैक्ट्रिकल ,,

१—खनिज इंजिनियर का काम खनिज पदार्थों की खोज करना है। यथार्थ शब्द में खान से निकलनेवाले सब प्रकार के जलनेवाले वा ईंधन का काम देनेवाले पदार्थ, जैसे कोयला, मिट्टी के तेल की भिन्न-भिन्न क़िस्में जैसे पैट्रोल, मिट्टी का तेल, क्रूड आइल, लुब्रीकेटिंग आइल, Fuel oil (ईंधन की भाँति प्रयोग होनेवाला तेल) सब धातुओं के प्राकृतिक रूप (Ores) आ जाते हैं। खनिज इंजिनियर का मुख्य और विशेष काम और उन पदार्थों को भूगर्भ से निकालने के सबसे सस्ते तरीक़े को खोजना तथा उनको प्रयोग में लाने के सबसे सस्ते तरीक़े को खोजना तथा उनको प्रयोग में लाना है। इसके बाद उन पदार्थ-विषयक ज्ञान है जिसमें प्रयोग और विधियाँ उनको पृथ्वी से निकालने से लेकर प्रयोग के लिये बाज़ार में लाने तक होती हैं। उन सबकी देख-रेख और परिचालन का काम इस वृत्ति के भाग का है। इन पदार्थों में से कुछ पदार्थों के विषय वह उन पदार्थों के तैयार करने के तरीक़े में उन्नति करने का काम भी करता है अर्थात् ऊपर कहे अनुसार उसका मुख्य उद्देश्य इन तरीक़ों में इस प्रकार की उन्नति करना रहता है जिसमें कि वह कम-से-कम ख़र्च करके अधिक-से-अधिक लाभ देनेवाली व अधिक-से-अधिक मूल्यवान् वस्तु बना सके। इसी में धातुओं को प्राकृतिक (Ores) में प्राप्त करना और उस मिश्रित प्राकृतिक पदार्थ के प्रत्येक भाग को आवश्यक अंश में शुद्ध करके उनको व्यवहार में आनेवाली धातुओं में बदलना तथा उन धातुओं के प्रयोग में आनेवाले (Standard) की शकलों तथा नाम में बदलना यह सब इस विभाग का काम है।

२—सिविल इंजिनियर—बड़े-बड़े सार्वजनिक भवनों, मार्गों, रेल की सड़कों, पुलों, पर्वतगर्भ के मार्गों (Tunnels), नदियों व जहाज़ों के बंदरगाहों, नहरों जल के प्रयोग-स्थान में पहुँचाने व गँदले जल को हटाने जिसमें बड़े पैमाने का स्वास्थ्य-विभाग भी सम्मिलित है और ऊबड़-खाबड़ पृथ्वी को मनुष्यों के रहने योग्य बनाने (Improvement of Towns) और [प्र]कार के दूसरे भवनों अथवा अन्य निर्माण-कार्य के न[क्शे] बनाना तथा उनकी सहायता से उसमें जो व्यय हो[गा] उसका अनुमान करना इन कामों की मज़बूती का ध्या[न] रखकर सस्ते-से-सस्ता बनाना इस भाग के इंजिनि[यर] का काम है।

३—मिकैनिकल इंजिनियर—यह सब प्रकार [की] मशीनों और औज़ारों से संबंध रखता है। इसका [काम] मशीनों और औज़ारों (Tools and implemen[ts] of apperatus) को बनाना व उनमें से कम-से-क[म] ख़र्च करके अधिक-से-अधिक काम निकालना त[था] धातुओं के बने सब औज़ारों के विषय में पर्याप्त जा[न]कारी रखना है। इसमें शक्ति-उत्पादक (Pow[er] generating) के लिये किसी भी जलनेवाली [वस्तु] की शक्ति को व किसी ऊँचे जलस्रोत की शक्ति [को] लाभदायक कार्य के रूप में बदलना तथा वे मशी[नें] जो किसी काम के लिये शक्ति का उपयोग करती [हैं] जैसे कपास से आरंभ करके उसको कपड़े के रूप [में] बदलने व रँगने आदि के बीच में जितने प्रकार [की] मशीनों का उपयोग होता है। सिगरेट बनाने व उस[की] डिब्बियाँ छापने की मशीनें, धातुओं व लकड़ी के का[म] में जो मशीनें व औज़ार व्यवहृत होते हैं। कोई मशी[न] जो किसी ख़ास मतलब के लिये जैसे पानी के प[म्प] बर्फ़ जमाने की मशीनें, कमरे व अन्य वस्तुएँ गर्म का[रने] व शुद्ध हवा के परिचालन (Ventilation) की मशी[नें] तथा इंजीनियरिंग के दूसरे भागों की मशीनों की आव[श्यकताओं] को समझना व पूरा करना, उदाहरणा[र्थ] खानों में, आदमियों को भूगर्भ में काम के स्थान प[र] पहुँचाना व माल को ऊपर लाना, धातु गलाने के पंखे की मशीनें बनाना तथा इस विषय के रासायनिक प्रयोग के लिये मशीनें बनाना व चलाना यह सब मिकैनिक[ल] इंजिनियर का काम है। इन सबके अतिरिक्त इस भा[ग] में सबसे अधिक आवश्यक और बड़ा विभाग वस्तु[ओं] व मनुष्यों का इधर-से-उधर ले जाना, जिसमें इंजि[न], सवारी व मालगाड़ियाँ, मोटरकारें, मोटरशिप, मोटरबो[ट] व वायुयान बनाना तथा इसके साथ-साथ इन सबकी मरम्मत करना व चलाना यह सब इस विभाग [में] शामिल है।

४—इलैक्ट्रिकल इंजिनियर—जैसा इसके नाम से प्रकट है। वह सब काम व मशीनें, जिसमें बिजली व चुंबक-शक्ति का प्रयोग होता है, इस विभाग में आती हैं। इलैक्ट्रिकल इंजिनियर बिजली व चुंबक-शक्ति-विषयक सब सिद्धांतों के उपयोग का भार लेता है। ऐसी नई मशीनें बनाना व प्रचलित मशीनों में परिवर्तन करना जिससे सबसे अधिक क्रियात्मक व सस्ता फल मिले तथा उन मशीनों से कम ख़र्च में अधिक-से-अधिक काम करवाना यह मूल-उद्देश्य रहता है। इस विभाग की मशीनें डाइनमों (Electric generators of Dynamos) बिजली प्रवाहित करानेवाली मशीनें जिनसे इंजिनपाटरवाइन की साधारण शक्ति बिजली की शक्ति में बदली जाती है बिजली के मोटर (Elctric motor) जो बिजली की शक्ति को फिर साधारण शक्ति (Elctric gnerators) की शक्ति का सम्मेलन करके उस शक्ति को अलग-अलग स्थानों पर काम करनेवाले कई मोटरों में फिर (Mechanical power) साधारण वाहक शक्ति में बदला जाया करता है।

शक्ति के बिजली के रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के प्रयोग में उस विस्तृत रीति का समावेश ही आ जाता है जिससे कई बड़े-बड़े एक दूसरे से बड़ी दूरी पर स्थित केंद्रीय शक्ति-भंडार (Centre power stations) एक दूसरे से अपनी शक्ति का संबंध रखते हैं और जिनका संबंध फिर भिन्न-भिन्न स्थानों पर मोटरों के व दूसरे रूप में शक्ति के प्रयोग स्थानों से रहता है। इन सबका संचालक इलैक्ट्रिकल इंजीनियर होता है। इसके अतिरिक्त ऐसी अनगिनती बिजली की मशीनें और औज़ार गिनाए जा सकते हैं, जो बिजली का उपयोग करते हैं; परंतु मोटर और डायनमों से भिन्न हैं। इस विभाग में बिजली से गर्मी पहुँचाने का क्षेत्र आता है, जिसमें शिल्प की बड़ी-बड़ी भट्ठियाँ, आजकल प्रकाश का चित्ताकर्षक आधुनिक अंग बिजली के लैंप, आदि शामिल हैं। पाश्चात्य देशों में सब घरेलू काम जैसे खाना बनाना, कपड़े धोना, बाल बनाना, जाड़ों में पहनने के कपड़े व घर गर्म करना आदि बहुत-से काम अधिकतर इसी शक्ति से होते हैं और अनुमान किया जाता है कि संसार में इस शक्ति की सुविधाओं से बहुत लाभ उठाने के लिये क्षेत्र है। अंत में इसका सबसे आवश्यक और सबसे अधिक लाभदायक विभाग जिसमें दूसरी किसी वृत्ति को कभी इतना सफलता नहीं मिली वह समाचार का एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के काम में बिजली का प्रयोग करना है। बिजली की ही सहायता से बेतार की तारबर्क़ी, टेलीफ़ोन आदि कार्य करते हैं, जिनका कि श्रेय इलेक्ट्रिकल इंजिनियर को है।

शिवशरणसिंह

जीवन-ज्योति

१. अनीश्वरवाद और ईश्वर

माधुरी के एक विशेषांक में मिश्रबंधुओं का "ईश्वर और अनीश्वरवाद"-शीर्षक लेख निकला है, जिसमें ईश्वर के आस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। लेख के अंत में विद्वान् लेखकों ने इच्छा प्रकट की है कि इस विषय के खंडन-मंडन में और भी लेख निकलें। यह केवल एक आकस्मिक योग है कि मुझे किसी मत-विशेष के मंडन में कुछ न लिखकर खंडन में ही लिखना पड़ रहा है। नहीं तो, उक्त लेखक-द्वय के प्रति मेरे हृदय में बड़ा आदर-भाव है।

लेख के आरंभ में लेखक महाशयों ने चार पंक्तियाँ स्वरचित पद्य में लिखी हैं, मेरे मत से ये पंक्तियाँ बड़ी ही अद्‌भुत, उच्छृंखल और अप्रतिभ हैं। विचार कीजिए—पहिली पंक्ति है—

"सब ईश्वर और अनीश्वरवादी, मान बहुत कुछ लेते हैं।"

क्या यह आकाश और पाताल का विचित्र समीकरण नहीं है ? ईश्वरवादी निस्संदेह सब कुछ मान लेते हैं, क्योंकि विना माने उनका काम ही नहीं चलता। एक ईश्वर को "मान लेने" से अनेक शंकाओं के समाधान के लि "बहुत कुछ" और भी "मान लेना" पड़ता है, जि प्रकार कि एक झूठ बोलकर उसको पुष्ट करने के लि अनेकों झूठ बोलना पड़ता है। (पाठकगण क्षमा करें यह दृष्टांत केवल सरल होने के कारण लिखा गया द्वेष-बुद्धि से नहीं।) अनीश्वरवादी तो इसी "मान लेने के सिद्धांत के ख़िलाफ होने के कारण ईश्वरवादी नहीं हो सकता। यदि वह "मान लेने" पर ही रुजू होता, तो ईश्वर को "मान लेने" में उसे आपत्ति ही क्या थी यह "मान लेना" तो ईश्वरवादियों के ही हिस्से में आया है। दूसरी पंक्ति है—

"पर भोलेपन को अधिक अनीश्वरवादी आश्रय देते हैं।"

यह तो मानो "ऊँट को बिलैया ले गई है।" कोई बात केवल इसलिये स्वीकार कर ली जावे कि वह किसी प्राचीन ग्रंथ में लिखी है, अथवा किसी आधुनिक पत्रिका में छपी है, अथवा माता, पिता, गुरु, बांधव तथा मुहल्ला पड़ोस के ऐसा मानते हैं—यह भोलापन होगा अथवा यह कि जब तक वह उसी प्रकार शुद्ध तर्क से

सिद्ध न हो जावे जिस प्रकार कि गणित अथवा रसायन-शास्त्र की कोई समस्या—तब तक उसे न मानना ? ईश्वरवादी अधिक शंका न करके, अधिक खोज न करके "बाबा वाक्यं प्रमाणं" से ही ईश्वर का अस्तित्व और उसकी सत्ता श्रद्धापूर्वक मान लेता है। यह भोलापन हुआ अथवा अनीश्वरवादी का लोकमत की कुछ परवा न करके विना अकाट्य प्रमाणों के ईश्वर अथवा किसी विषय को स्वीकार न करना ? इस ग्रह पर रहनेवाली अधिकांश जनता विचारशील और मननशील नहीं हुआ करती। वह भूख और प्रेम की तुष्टि के लिये उन साधनों में अधिक में रत रहती है, जिनसे कि उसका अनिवार्य संबंध रहता है। कुछ थोड़े से लोग ही विचारशील हुआ करते हैं, और बाल की खाल निकालने में धुन के ऐसे पक्के होते हैं कि वे अपने-आपको और अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को सत्य की खोज में गला देते हैं। वे दारिद्र्य, उपहास, अप्रेम और बहिष्कार की कुछ चिंता न करके नासमझ समाज का कठिन-से-कठिन दंड सहन करते हैं। यह सब किस लिये ? केवल इसलिये कि वे सहसा किसी बात को मान लेना अनुचित समझते हैं। यदि गेलीलियो ने सामाजिक विरोध और उसके द्वारा मिलनेवाली यातना की कुछ चिंता की होती, तो क्या आज हम यही न समझते होते कि पृथ्वी चपटी है ? यदि हार्वे ने लोकमत का कुछ भी लिहाज़ किया होता, तो संसार के सामने यह कौन सिद्ध करके दिखाता कि शरीर में रक्त की गति परिक्रमणशील होती है ? और क्या अस्त्र-चिकित्सा की विस्मय-जनक उन्नति का एक ज़बर्दस्त पाया नदारद ही न होता ? यदि चार्ल्स डारविन अपने देश की दार्शनिक असहिष्णुता के इतिहास से डर गए होते, तो विकासवाद का सुंदर, व्यापक, अकाट्य और विलक्षण सिद्धांत आज कहाँ होता ? और यदि वाट् और स्टीफ़नसन ने ही असाधारण उत्साह और सामाजिक विरोध की तीव्र अवहेलना का प्रदर्शन न किया होता, तब क्या संसार में स्टीम-एंजिन द्वारा प्राप्त हुई व्यापार की सुलभता, और समाज को उससे प्राप्त हुआ वैभव, उत्कर्ष और समृद्धि हमें नसीब होती ? इन दृष्टांतों से प्रयोजन यह है कि सत्य की खोज चाहे वह वैज्ञानिक हो या दार्शनिक "मान लेना" वालों के हिस्से में नहीं आ सकती। देखिए। भोला (?) अनीश्वरवादी क्या करता है, वह आकाश के अनंत प्रदेश को भीमकाय दूर-दर्शक यंत्रों से देखता है, वह पृथ्वी से अगणित और कल्पनातीत दूरी पर स्थित ग्रहों का स्वरूप, अवस्था (उम्र) वज़न और गति तथा परिभ्रमण का क्रम बता दे सकता है। परंतु, बेचारा मजबूर रह जाता है। वहाँ उसे ईश्वर का अस्तित्व मानने का कोई कारण नहीं दिखता। स्थूल-से-स्थूल व्यापार और जगत् को देखकर जब वह ईश्वर को नहीं पाता, तब वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म जगत् की खोज करने के लिये अणुवीक्षण-यंत्र (माइक्रासकोप) का सहारा लेता है। जब यहाँ भी ईश्वर के अस्तित्व का लक्षण नहीं दिखाई देता, तब वह रश्मि-विश्लेषक यंत्र (स्पेक्ट्रास्कोप) से काम लेता है, परंतु ईश्वर की आभा उसे उसमें भी दिखाई नहीं पड़ती। अब वह अपनी रसायनशाला में अपने थर्मामीटर, टेस्टट्यूब और क्रूसेबिल में सिर खपाता है और जहाँ वह संसार को अपनी खोजों द्वारा अनेक अमूल्य वैज्ञानिक सत्य और व्यवहारोपयोगी अनेक नई-नई सामग्रियाँ देता है, वहाँ ईश्वर के विषय में लाचारी दरजे यही कहता है कि जहाँ तक मैंने खोजा और जहाँ तक मेरी कल्पना और अनुमान काम कर सकते हैं, ईश्वर के अस्तित्व का अथवा उसकी सत्ता वा उपयोगिता को मान लेने के लिये मुझे कहीं थोड़ा-सा भी सहारा नहीं मिलता। कार्य और कारण का चक्र कहीं अंत होते नहीं दिखता। कल जो बात अत्यंत गूढ़ थी, आज अत्यंत सरल और स्पष्ट ज्ञात होती है। यही सब है न अनीश्वरवादियों का भोलापन ? वाहरे भोलापन ! अब तीसरी पंक्ति की बहार देखिए—

"यदि कहो कि हम ऐगनास्टिक हैं तो चारा चरो सहर्ष"

यह तो मैंने भी सुना है कि दार्शनिक विषयों पर चर्चा करनेवालों की बुद्धि अक्सर चरने चली जाया करती है। पर यहाँ तो यह समझने के पहले ही कि ऐगनास्टिक दरअसल है क्या बला—उसका सत्कार करना आरंभ कर दिया। ऐगनास्टिक हुआ करते हैं "संदेहवादी"। संदेहवादी का अर्थ यह है कि वे सहज विश्वासी नहीं होते, और न किसी तत्त्व के शोध में वे निश्चेष्ट होकर आलस्य अथवा बुद्धिहीनता के कारण ही अपना निश्चित मत नहीं देते। वे किसी वस्तु पर

अपनी राय देखादेखी क़ायम नहीं कर देते, साथ ही हठधर्मी भी नहीं करते। संसार का सबसे बड़ा विद्वान्, अथवा सबसे प्रभावशाली लोकमत ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करे, या न करे ऐग्नास्टिक पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बुद्धिरूपी दीपक के प्रकाश में जब तक वह किसी विषय का स्वरूप सम्मुख नहीं देख लेता, तब तक मजबूरन् उसे वह बात अस्वीकार ही करनी पड़ती है। परंतु वह अत्यंत विनयशील और सहिष्णु होता है। वह विषय की गहनता और अपनी बुद्धि की परिमितता तथा साधनों की न्यूनता को स्वीकार करता है, और ईश्वरवादियों को यह संदेश देता है कि यदि किसी सुंदर प्रभात में मनुष्य अपने मस्तिष्क का विकास इतनी उन्नत दशा में प्राप्त हुआ पावे कि विशुद्ध तर्क द्वारा ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध किया जा सके, तो केवल वह ही नहीं, संसार की समस्त चारा चरनेवाली अतिथि-सेना ईश्वरवादी ही होगी और होगी कट्टर और निर्भ्रांत अपने नए विश्वास में। सारांश यह कि संदेहवादी ईश्वरवादियों का विरोध न करके, हठधर्मी और कुतर्क से दूर रहकर केवल उतनी ही बात स्वीकार करते हैं, जितनी कि उनकी समझ में आती है। कहिए, इससे अधिक न्याय्य विचार क्या हो सकता है? और क्या हो सकता है इससे अधिक बुद्धि-स्वातंत्र्य और दार्शनिक सहन-शीलता; जिसका पुरस्कार उन्हें—सहर्ष चारा चराकर दिया जाता है। चौथी लाइन में तो गर्वोक्ति फूटी पड़ती है, मुलाहज़ा फ़रमाइए—

"पर अपनी बुद्धि-विभव का दिखलाओ फिर मत उत्कर्ष"

जो आज्ञा, पर क्या इसीलिये कि ईश्वरवाद का मंडन करने को आपको मैदान ख़ाली मिल जावे? अथवा आपको भय है कि कहीं आपको भी ऐग्नास्टिक न होना पड़े। मैं समझता हूँ कि कोई भी विचारशील मनुष्य किसी विषय पर मतभेद होने के कारण शिष्टाचार से इतनी दूर नहीं हट सकता। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह अपनी "बुद्धि-विभव का उत्कर्ष" दिखलावे, ठीक उसी न्याय से जिससे कि आपने दिखलाया है।

मज़ा यह है कि आप फ़रमाते हैं कि "हमारी (निस्संदेह आपकी और फिर आपकी, सिवा आपके और कौन ऐसी पंक्तियाँ लिख सकता है?) उपर्युक्त चार पंक्तियों से हमारा जो कुछ मत इस गहन विषय पर है वह पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाता है।" कुर्बान ज[ाइए] इस "पूर्णता" पर और इस "मत" पर।

हमें आश्चर्य होता है कि उक्त चार लकीरों के रच[यि]ताओं ने आगे चलकर इसी लेख में लिखा है [कि] "ईश्वरास्तित्व जैसे कठिन विषय को कोई ऐसा ह[...] मलक नहीं कर सकता कि उसके एक-एक रग-रेशे [से] पूर्ण अभिज्ञता प्राप्त कर ले, और संसार एवं ईश्व[र] संबंधी और कोई भी ऐसा जटिल प्रश्न न रह जावे [...] जिसका अत्यंत सरल एवं बुद्धि ग्राह्य प्रमाणों से यु[क्त] पूर्णोत्तर न दिया जा सके।" फिर कुछ "बुद्धि [...] उत्कर्ष" दिखलाकर लेख समाप्त करते-करते आपने लि[खा] मारा है कि "इन कारणों से जान पड़ता है कि ईश्व[र] अवश्य है और अनीश्वरवादिता के प्रमाण ठीक न[हीं] जँचते" मगर बंदानवाज़! अनीश्वरवादिता के वे कौन[-से] प्रमाण हैं जो ठीक नहीं जँचे, आपने तो एक का भी ज़ि[क्र] नहीं किया। बल्कि यों कहिए कि दावा पेश होने के पह[ले] ही मुक़द्दमा ख़ारिज कर दिया। आप यह भी कहते [हैं] कि "न्यायपूर्वक एवं बुद्धिग्राह्य प्रमाणों से देखने पर [न] अनीश्वरवादिता ही सिद्ध होती है और न उसक[ी] संभावना तक ध्यान में आती है। फिर कैसे कहा [जा] सकता है कि ईश्वर नहीं है, या यह बात संदिग्ध [है]।" निस्संदेह आपका उत्साह और प्रयत्न सराहनी[य] है परंतु "न्यायपूर्वक एवं बुद्धिग्राह्य प्रमाणों" पर एक बा[र] फिर नज़रसानी हो जाती, तो बेहतर हो जाता, या मुना[सिब] समझें तो ख़ाकसार की आँखों से देखिए कि क्या दिखाई देता है। आपने लिखा है कि "रेखागणित [में] कुछ बातें स्वयंसिद्ध होती हैं और कुछ यों ही मान ल[ी] जाती हैं तभी काम चलता है।" यह निर्विवाद है परंतु ये स्वयंसिद्ध बातें केवल आरंभिक अत्यंत सरल और सर्वमान्य हुआ करती हैं; और गूढ़तर समस्याओं को सिद्ध करने के लिये काम में लाई जाती हैं। पर यहाँ तो मामला ही दूसरा है अर्थात् ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करना ही तो समस्या है और उसे ही आप चाहते हैं कि स्वयं-सिद्ध मान लिया जाय। आप जब उत्तरस्वरूप ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने चले हैं तब बिसमिल्लाह ग़लत न कीजिए, उसे स्वयंसिद्ध मानकर तर्क की हत्या न कीजिए। हम पहले मकान की नींव बनाकर दीवारें खड़ी करते हैं और फिर उन पर ठाट बिछाकर मँगरा[...]

बाँधते हैं, परंतु आपके न्यायानुसार पहले ही मँगरा बाँध लेना उचित है और वह ईश्वररूप ही होना चाहिए, याने मोहरा साध लेना चाहिए, साधारण व सर्वमान्य बातें तो दीवार व नींवस्वरूप अपनी फ़िक्र आप कर लेंगी।

संसार में पाई जानेवाली नियमशीलता का आधार लेकर आपने कहा है कि "सूर्यचंद्र नियत समय पर निकलते और अस्त होते हैं, गेहूँ के पेड़ में आलू और बैंगन के पेड़ में चिरौंजी नहीं होती, मेज़-कुरसी इत्यादि विशेष अवस्था को प्राप्त न होकर दृढ़ और निर्दिष्ट स्वरूप बनाए रखती है, असंख्यों तारागण अति तीव्र गति से घूमते रहने पर भी टकरा नहीं जाते इत्यादि।" आपकी समझ के मुताबिक़ "यह नियम विना किसी बनानेवाले के आप-ही-आप नहीं बन गए। आप-ही-आप कोई पदार्थ (?) बन नहीं जाया करते।" हमें यह ज्ञात न था कि नियम भी कोई पदार्थ हुआ करता है, और कुरसी-लालटेन रेल-तार" इत्यादि से उसकी समानता बतलाई जा सकती है।

यदि नियम का कोई नियामक है, तो उसका नियमों पर शासन भी होना चाहिए। यदि नियमों में फेरफार नहीं होता, तो नियामक का परिचय किस प्रकार हो सकता है ? आपने यदि संसार के नियमों का कोई नियंता माना है, तो उसकी सत्ता तो अभी मालूम हो सकती है कि उसमें रद्दोबदल करने का उसे कुछ विकार भी हो। और यदि वह रचयिता ही संसार का सृष्टा है, तो उसमें आपको ईश्वरत्व कैसे नज़र आया ? क्या आँधी, भूकंप, विप्लव, अनावृष्टि इत्यादि से होनेवाली अव्यवस्था, पीड़ा और हानि का उत्तरदायित्व उसी नियामक पर नहीं है ? और भी विचार कीजिए कि संसार में पशु-पक्षी, जलचर, थलचर, नभचर सभी मत्स्य-न्याय से जीवन का निर्वाह करते हैं अर्थात् एक जीव दूसरे जीव को खाकर अपनी जीवन-रक्षा करता है और अपनी खाद्य-सामग्री प्राप्त करने के लिये अत्यंत क्रूर उपायों से काम लेता है। क्या इसमें नियंता की कोई श्रेष्ठता है ? क्या वह सृष्टि की इससे अधिक अच्छी व्यवस्था नहीं कर सकता है ? क्या प्लेग, हैज़ा, मलेरिया, डिसेंटरी इत्यादि घातक रोगों के उत्पादक कीटाणु (व्यक्टेरिया) की सृष्टि किए विना ईश्वर का ईश्वरत्व कुछ कम हो जाता ? क्या सर्प का फन और विच्छू का डंक भी इसी ईश्वर की रचना है ? मनुष्यों को लीजिए—अरबों वर्षों तक पृथ्वी को जनहीन रखकर केवल दस-बीस सहस्र वर्षों से मनुष्य की सृष्टि करने को ईश्वर को क्या आवश्यकता आ पड़ी ? फिर मनुष्यमात्र की संसार में एक ही जाति क्यों न हुई ? उनका स्वभाव, बल, पौरुष, रुचि और भाव इत्यादि भिन्न-भिन्न क्यों हुआ करता है ? यह सब होकर भी एक जाति दूसरी जाति पर अत्याचार क्यों करती है ? उन्नत जातियाँ यदि ईश्वर को धन्यवाद दें कि वे अवनत जातियों पर शासन करती हैं, तब क्या अवनत जातियों को उसे इसलिये धन्यवाद देना चाहिए कि उसने उन्हें पराधीन और शासित जाति बनाया ? उपर्युक्त बातों पर विचार करने से मालूम होगा कि यदि सचमुच में संसार का कोई रचयिता और नियंता है, तो वह अंधा, हृदयहीन और अविवेकी है। ऐसे नियंता का अथवा रचयिता को ईश्वर की संज्ञा कैसे दी जा सकती है ? यदि संसार का कोई सृष्टा होता, तो वह सांसारिक नियमों की बागडोर अपने हाथ में अवश्य रखता। परंतु हम देखते हैं कि वे विशाल शक्तियाँ अंधाधुंधी के साथ अपना कार्य किए चली जाती हैं। उसके औचित्य और अनौचित्य से उनका कोई संबंध नहीं रहता। बड़े से भी बड़ा प्रतिभावान् परोपकारी व्यक्ति भी आग में जल जा सकता है, पानी में डूब जा सकता है, गोली से मारा जा सकता है, प्लेग और हैज़ा का शिकार हो जा सकता है, नियंता अथवा सृष्टा के पास कोई साधन उसकी रक्षा का नहीं रहता। यदि नियंता का सचमुच में कोई शासन होता और उसके हृदय होता, इंसानियत होती, तो वह गत महायुद्ध में बारूद की विस्फोटक शक्ति को अवश्य कुछ काल के लिये सस्पेंड कर देता। हम देखते हैं कि साधारण मनुष्यों के बराबर भी उसमें करुणा और विवेक नहीं पाया जाता।

फिर प्रश्न यह होता है कि ईश्वर महाशय सृष्टि बनाने के पश्चात् निश्चेष्ट होकर बैठ रहे अथवा सृष्टि का कार्यक्रम अभी भी जारी है। अच्छा, वे सृष्टि के पेश्तर क्या करते रहे ? और उन्हें सृष्टि के बनाने का ख़ब्त ही क्यों सवार हुआ ? ये सब समस्याएँ क्या केवल इसी लिये उत्पन्न नहीं होतीं, और निरुत्तरित दशा में नहीं

रह जातीं कि ईश्वर और उसके आचरणों को ज़बर्दस्ती मान लिया है। संसार में ५० वर्ष पहले क्लोरोफ़ार्म नहीं था। रासायनिक पदार्थों से इस यौगिक का आविष्कार किया गया। मनुष्य ने अनुसंधान से यह ज्ञान प्राप्त किया कि उसके सुँघाने से मनुष्य की चेतनाशक्ति कुछ समय के लिये लुप्त हो जाती है। क्लोरोफ़ार्म के इस स्वभाव का उपयोग अस्त्रचिकित्सा में बहुतायत से किया जाने लगा, जिससे आज तक करोड़ों आदमियों की जानें बचाई गईं। यहाँ प्रश्न यह होता है कि क्या ईश्वर ने सृष्टि बनाने के साथ ही यह नियम बना दिया था कि क्लोरोफ़ार्म का प्रभाव ज्ञान-तंतुओं पर उक्त प्रकार से पड़ेगा? परंतु उस समय तो क्लोरोफ़ार्म था ही नहीं, तब क्या इधर क्लोरोफ़ार्म का आविष्कार हुआ और उधर ईश्वर ने फ़रमान निकाला।

नियम पदार्थ न होकर किसी परिस्थिति-विशेष में होने-वाला एक अनिवार्य परिणाम-मात्र है। सौ में १० घटाने पर नब्बे, २० घटाने पर अस्सी, ४० घटाने पर साठ, और साठ घटाने पर चालीस हुआ करते हैं; इसका कारण कोई नियम अथवा नियंता की इच्छा नहीं है। कारण केवल यह है कि दूसरी स्थिति संभव ही नहीं। सूर्य, चंद्र इत्यादि नक्षत्रों की गति और वज़न और दूसरे नक्षत्रों से दूरी अथवा नज़दीकी, और उनके सापेक्षिक आकर्षण पर निर्भर है और यही कारण है कि गणित द्वारा उनकी गति का पता लग जाता है। इसी प्रकार गेहूँ के पेड़ में गेहूँ होने, और बैंगन के पेड़ में चिरौंजी न होने का कारण किसी वैयक्तिक सत्ता का प्रदर्शन नहीं है, नहीं तो हम गेहूँ के पेड़ में से आलू क्या आदमी भी पैदा हुए देखते। क्योंकि सर्वशक्तिमान् के लिये असंभव क्या है "परम शक्तिशाली सत्ता" जो न कर डाले, थोड़ा है। गेहूँ के पेड़ में गेहूँ इसलिये होता है कि करोड़ों वर्ष से क्षुद्रातिक्षुद्र अवस्था की कोई वनस्पति अगणित परिस्थितियों को पार करके आज जिस अवस्था को पहुँची है, वही गेहूँ का पेड़ है। उसे हम गेहूँ का पेड़ इसलिये कहते हैं कि उससे हमें गेहूँ प्राप्त होता है। उसके अनेकों अवयवों का पारस्परिक प्राकृतिक संगठन अपनी पिछली परिस्थितियों के कारण ऐसा हो गया है कि वह अपने वृद्धि-क्षेत्र से कुछ विशेष प्रकार के तत्त्वों को ही ग्रहण कर सकता है, जिन तत्त्वों से कि उक्त पौधे में गेहूँ के अतिरिक्त दूसरी वस्तु बन नहीं सकती। बैंगन के पेड़ से चिरौंजी न उत्पन्न होने का कारण भी उपरोक्त ही है। "तीसरी बात विचारिए। मेज़-कुरसी इकदम बालू की भाँति नहीं बनाए गए हैं, बनाए गए हैं ठोस काठ से। और काठ में ठोसपन इस लिये है कि उसके असंख्य परमाणु किसी समय सजीव अवस्था में रहने के कारण एक दूसरे से पारस्परिक तारतम्य रखते थे, और उसके कारण एक दूसरे में उस प्रकार जकड़ और गुँथ गए थे जैसे कपड़े के धागे अथवा धागे में रुई के रेशे। उक्त सामग्री से यदि हम अपने कल्पना-कौशल और परिश्रम के द्वारा मेज़ बनाना चाहते हैं, तो काष्ठ का जो भाग मेज़ के स्वरूप के अनुरूप होता है, उसे जोड़ देते हैं, और जो नहीं होता तो शरीर की शक्ति और अस्त्रों के प्रयोग से उसे दूर कर देते हैं और बन जाती है मेज़ या जो कुछ आप बनाना चाहें।

सृष्टा के चातुर्य की एक झलक आपने आँख की बनावट के दृष्टांत द्वारा दिखलाने की कोशिश की है। निस्संदेह दूसरी वस्तुओं की तुलना में आँख का ढाँचा बड़ा ही क्लिष्ट, बड़ा ही सुंदर और सुव्यवस्थित है। पर आपने अगाड़ी पर ही ध्यान दिया है ज़रा पिछाड़ी भी देखिए। क्या मनुष्य की आँख आज ईसामसीह की २०वीं शताब्दी के २८वें वर्ष में भी उतनी ही उपयोगी है, जितनी कि सृष्टि के प्रभातकाल (?) में थी? क्या आज उतनी ज्ञानपिपासा, उत्कर्षलालसा और शोध-प्रेरणा के वशीभूत होकर उसे दूरदर्शक यंत्र, अणुवीक्षण यंत्र, एक्सरेज़ का आविष्कार करके उनकी सहायता से अपनी आँखों का अधूरापन यथा संभव दूर करने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता? यदि ईश्वर ने मनुष्य की आँख बनाई होती, तो उसमें कम-से-कम यह ताक़त तो होती जो मनुष्य के स्वनिर्मित साधनों की सहायता से उसे प्राप्त होती है। इसी बात पर रुष्ट होकर एक वैज्ञानिक तो यहाँ तक कह बैठा है कि यदि सचमुच ये मनुष्य की आँखें किसी व्यक्ति की बनाई हैं और मैं उस तक समक्ष पहुँच सकता हूँ, तो मैं इस आँख को निकालकर उसके सामने उसी तरह फेंक दूँगा जैसा कि किसी अल्हड़ चश्मेवाले के ग़लत चश्मा दे देने पर उसका ग्राहक लानत-मलामत के साथ चश्मा उसकी दूकान में फेंक आता है।

आप कहते हैं कि यदि "जितने टाइप तुलसीकृत-रामायण के छापने में लगते हैं वे सब एक भारी स्थान में इकट्ठे किए जावें और लाखों-करोड़ों वर्षों तक पछोरे जावें, तो क्या कोई विश्वास कर लेगा कि बिना तुलसीदास के परिश्रम के ही उक्त रामायण तैयार हो जाती अथवा अब तैयार हो सकेगी। निदान ऐसी बेसिर-पैर की अटकलें लड़ाना व्यर्थ ही प्रतीत होता है।" निस्संदेह "ऐसी बेसिर-पैर की अटकलें लड़ाना" व्यर्थ ही प्रतीत होता है। परंतु लड़ाता कौन है? केवल आपकी कल्पना।

यह अनंत विश्वमंडल मनुष्य के विश्लेषक ज्ञान के विकास के बहुत समय पहले भी वर्तमान था। अर्थात् रामायण पहले से ही मौजूद थी। विश्व के व्यापारों का सामूहिक दर्शन (कैवल्य) हमें हमारी इंद्रियों की शक्ति की परिमितता और बुद्धि के विकास की न्यूनता के कारण नहीं होने पाता। सारा विश्व-प्रसार एक ही वस्तु है, दो नहीं। परंतु मनुष्य के पास विश्लेषण-नामक ऐसी कला है कि जिससे वह उसके किसी विशेष अंश का परिचय किसी एक समय में प्राप्त किया करता है। विश्वरूपी रामायण में टाइप की क्या ज़रूरत और क्या ज़रूरत है उसके पछोरे जाने की? वह रामायण पहले से ही उसी प्रकार लिखी हुई है जैसे कि तुलसीदासजी के मस्तिष्क में रामायण पहले से ही मौजूद थी; बाद में लिखी या छाप ली गई। कृत्रिम व्यापारों की तुलना विश्व के व्यापारों से नहीं की जा सकती; क्योंकि कृत्रिम व्यापार सांत होते हैं और विश्व के व्यापार अनंत; सांत और अनंत की क्या तुलना और क्या उनका संबंध।

अब ज़रा दूसरे पहलू पर भी ग़ौर फ़रमाइए। क्यों साहब, स्रष्टा ने तो नागफनी में काँटे पैदा किए थे न? पर विलियम बरबेंक साहब ने इतनी गुस्ताख़ी कर डाली कि बिना काँटेवाली नागफनी पैदा कर दी जिसमें पशुओं की खाद्य सामग्री में एक बहुमूल्य, उत्तम और सुलभ वस्तु का समावेश हो सका। कई प्रकार के ऐसे फल, फूल और शाक इत्यादि रच गए जो पहले कभी थे ही नहीं। और यह देखिए, हाल में कोई डाक्टर साहब ने अमरीका में इंजेक्शनों द्वारा न मालूम किस द्रव्य का उपयोग करके मुर्गे को मुर्गी बना डाला और वह मुर्गी अंडे भी देने लगी। और सुना है कि निपट निर्जीव रासायनिक पदार्थों के योगमात्र से एक सजीव वस्तु "जैलीफिश" (एक छोटी-सी मछली) बना डाली। कहिए स्रष्टा के अधिकार-क्षेत्र पर यह एक प्रकार का व्यतिक्रमण हुआ या नहीं?

ग़रज़ यह कि विद्वान् लेखकद्वय को सृष्टि-विषय नियम "ज्ञानयुक्त और बुद्धिमत्ता" के साथ बनाए हुए दिखाई पड़ते हैं, ठीक उसी तरह जैसा कि एक पादरी साहब ने गिरजे में उपदेश देते हुए कहा था कि देखो "ईश्वर की व्यवस्था कितनी सुंदर और विलक्षण ज्ञानयुक्त है कि रविवार सदैव सप्ताह के अंत में आता है, बीच में नहीं, और इसी प्रकार मृत्यु बीच में न आकर जीवन के अंत में ही आती है। हमें उसकी दयालुता के लिये धन्यवाद देना चाहिए।" अब ज़रा यह भी विचार कीजिए कि यदि "विलक्षण ज्ञानयुक्त आत्मा" ने सृष्टि के नियम न बनाए होते तो क्या होता? दो क्या और दो मिलकर पाँच होते? क्या वृत्त की परिधि उसके व्यास से छोटी होती? क्या रस्सियों का एक ही सिरा हुआ करता? अथवा क्या पानी ऊपर को बहता?

नियम केवल एक परिणाम-विशेष का आभासमात्र है, किसी विशेष अवस्था में विशेष व्यापार का विशेष परिणाम ही हो सकता है, अन्य नहीं। परंतु अज्ञानवश हम उसे नियम कहा करते हैं और नियंता को खोजते फिरते हैं। इस अनंत संसार में ग्रहों की गति, भिन्न-भिन्न प्रकार के जल-वायु, अगणित प्रकार के जीव-जंतु, वनस्पति और मानसिक क्रियाएँ, बुद्धि, विवेक, स्मृति इत्यादि केवल परिस्थिति के आधीन हैं, अवस्थाविशेष में ही उनका विकास होता है, और समुचित अवस्था न रहने पर ह्रास। यदि परिस्थिति अनुकूल न हुई होती, तो संसार में बहुत से पदार्थ और उनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ पैदा ही न होतीं। इसी प्रकार भविष्य में नई-नई परिस्थितियाँ उपस्थित होने पर इस संसार में अनेक नई वस्तुएँ और उनके नये व्यापार दृष्टिगोचर होंगे।

आप कहते हैं कि "जब संसार में दृढ़ नियम वर्तमान है, तब उनका बनानेवाला कोई 'सज्ञान आत्मा' अवश्य होगा।" अच्छा अब आप ही बतलाइए कि क्या किया जाय, अभी तो ईश्वर का विषय ही विवाद-ग्रस्त हो रहा है और उस पर लाद दिया आपने आत्मा का बोझा, और वह आत्मा भी "ज्ञानयुक्त!" मुख्य विषय के अतिरिक्त अन्य कोई विवाद-ग्रस्त विषय युक्ति अथवा प्रमाणस्वरूप उपस्थित करने में तर्क कहाँ तक सार्थक

हो सकता है । और, यदि आत्मा कोई चीज़ हो भी तो ज्ञेय के अभाव में उसे ज्ञान कैसे हो सकता है ? आख़िर आत्मा को ज्ञान हुआ तो किस वस्तु से? संसार तो उस वक़्त था ही नहीं, संसार के अतिरिक्त और कौन ज्ञान उस आत्मा को हुआ ?

सूर्य, चंद्र, गेहूँ, बैंगन, चना, जौ आदि के दृष्टांतों का समाधान मैं पहले कर चुका हूँ, फिर से दुहराने के लिये क्षमा चाहता हूँ । पर आप जो यह कह रहे हैं कि "सारा संसार जो दृष्टिगोचर हो रहा है या तो किसी ने बनाया या आप-ही-आप उत्पन्न हो गया ।" उस पर भी विचार कर देखिए । आपने केवल दो सम्भावनाओं पर तो विचार किया है, पर तीसरी महान् और संतोषजनक संभावना पर आपका ध्यान ही नहीं गया । गुस्ताख़ी माफ़ हो ! मेरे मत से इसे न तो किसी ने बनाया और न यह आप-ही-आप उत्पन्न हो गया । वह तो सदैव से रहा है और सदैव रहेगा— यही वह तीसरी संभावना है—जिस पर आप कदाचित् इसलिये दृष्टिपात न कर सके कि आपने नियम के समान ही समय और स्थल को भी पदार्थ माना है और स्वीकार किया है उनका अनादित्व और अनन्तत्व ! हमें कुछ अफ़सोस नहीं, यदि तीसरी संभावना सही न करार दी जाकर आप ही का मत लिया जाय कि "बिना पदार्थों की सहायता के ईश्वर सदा से था और अपनी इच्छानुसार उसने पदार्थों एवं संसार की रचना की । मगर क्या बताएँ । हम मजबूर हैं कि हमारी कल्पना में यह बात नहीं आती कि शून्य से अथवा अपदार्थ से (ज्ञान युक्त आत्मा से) "यह सूर्य, चंद्र और असंख्यों नक्षत्रों एवं पृथ्वीयुक्त सुंदर नियमबद्ध संसार, तथा ऐसे ही ऐसे असंख्यों अन्य संसार (जिनका अस्तित्व विज्ञान द्वारा सिद्ध हो चुका है)" कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? क्या शून्य से शून्य के अतिरिक्त और भी कोई वस्तु उत्पन्न हो सकती है ? आपके मनोरंजन के लिये मैं यहाँ यह भी कह देना चाहता हूँ कि शून्य को शून्य से भाग देने में भजन-फल बड़ी-से-बड़ी संख्या भी हो सकता है। परंतु उस संख्या का मूल्य भी शून्य ही होगा। स्वरूप केवल काल्पनिक ही है । तब क्या "सारे संसार, सारे सूर्यमण्डल बरन् ऐसे ही असंख्य सूर्यमण्डल" शून्यमात्र हैं ? यदि ऐसा ही है, तो हम और आप, माधुरी और माधुरी के पाठक, यह नारंगी की शकलवाला [illegible] का ढेला सब शून्य है । तब क्या ज़रूरत है शून्य [illegible] पीछे वृथा सिर पचाने की ? खेद इतना ही रहेगा [illegible] "ज्ञानयुक्त आत्मा" ने केवल शून्य ही उत्पन्न किया [illegible]

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई कि [illegible] व्यसनी और साहित्य-जगत् के इन देदीप्यमान नक्षत्रों [illegible] हृदयपिंडों में विज्ञान द्वारा सिद्ध हुए निष्कर्षों को स्[illegible] प्राप्त है । मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि "प्रत्येक पेड़, [illegible] जीव एवं मनुष्य कैसे छोटे पदार्थों से बनते और [illegible] बढ़कर भारी हो जाते हैं ! एक छोटी-सी तितली के [illegible] में क्या ही अद्भुत कारीगरी पाई जाती है ! मनुष्य [illegible] एक फुट का पैदा होकर बढ़ते-बढ़ते ४½ से ६ फ़ीट [illegible] का कैसे हो जाता है, और उसकी हड्डियाँ बढ़ने में [illegible] नहीं टूट जातीं, अथवा खाल क्यों नहीं फट जाती [illegible] इत्यादि शंकाओं की निवृत्ति के लिये, सृष्टि-विज्ञान (Cosmology), जीवनशास्त्र (Biology) और उसके अंतर्गत विकासवाद (Evolution) का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें, तो उन्हें मेरे तथा अ[illegible] वैज्ञानिकों, नास्तिकों, न्यायवादियों और संदेहवादि[illegible] तक के सिद्धान्तों, विचारों और प्रमाणों को सुचारु[illegible] से समझने में अधिक सुविधा होगी । मैं तो सम[illegible] था कि लगभग दो वर्ष पहले माधुरी में "जीवाणुवाद[illegible] शीर्षक प्रसिद्ध लेख के प्रतिभा-संपन्न लेखकों को फि[illegible] जीवन-शास्त्र न पढ़ना पड़ेगा; परंतु आवश्यकता सब [illegible] करा लेती है । कहा भी है "गर ज़रूरत बुअद [illegible] बाशद"।

प्रकृति में वस्तुओं का स्वरूप अदलता-बदलता [illegible] है, परंतु वह किसी इच्छा और विकार के वशी[illegible] होकर नहीं । प्रकृति को न किसी घटना-विशेष से [illegible] होता है और न सुख । पृथ्वी पर मनुष्य का अस्ति[illegible] केवल एक आकस्मिक घटना है । प्रकृति का इस वि[illegible] में कोई विशेष लक्ष्य नहीं जान पड़ता और यदि [illegible] दिन पृथ्वी मनुष्य के रहने योग्य न रहकर, उस प[illegible] मनुष्य-जाति निःशेष हो जावेगी, तो भी प्रकृति [illegible] उसका कोई दुःख न होगा । आराम और तकली[illegible] उपकार और अपकार, जीवन और मृत्यु, अमृत और वि[illegible] उसकी दृष्टि में सब समान हैं । वह न क्रूर है, न द[illegible] न वह पूजा से प्रसन्न हो सकती है, न आँसुओं [illegible]

द्रवित, और न निन्दा से क्रोधित, और न मंत्रों से आवाहित, सर्प के फन में रहनेवाला विष और माता के हृदय में रहनेवाला प्रेम उसके लिये एक समान है। अनुकूल परिस्थिति मिलते रहते-रहते मनुष्य का मस्तिष्क इस अवस्था को पहुँच गया है कि उसमें सौंदर्य, सत्य, प्रेम, तर्कसंबंधी भाव इत्यादि उत्पन्न होते रहते हैं।

हम यह नहीं कहते कि हमारा ज्ञान पूर्ण है अथवा जो कुछ हम कहते हैं—विशुद्ध सत्य है। परंतु हम यह जानते हैं कि तर्क की जो पद्धति आज समस्त सभ्य संसार को स्वीकार है, उसका भरसक उपयोग करने में हम पथ-भ्रष्ट नहीं हो रहे हैं। हम संसार को खुली आँखों से देखते हैं और जैसा देखते हैं वैसा ही कहते हैं। हम उसमें काल्पनिक बातों को मिलाकर अनोखी खिचड़ी नहीं तैयार करते हैं।

राजाराम पांडेय

× × ×

२. पाश्चात्य साम्यवाद ! एक भ्रांति

वैषम्य प्रकृति के प्रधान नियमों में से एक है। जहाँ देखिए वहीं विषमता दिखाई देती है—जातियों में, स्त्री-पुरुषों में, परिवारों में और परस्पर व्यक्तियों में । इस प्रश्न का जहाँ तक मनुष्य से संबंध है, यह (प्रश्न) हमारे सामने इतिहास के आरंभ-काल से है।

जैसे-जैसे समाज सभ्यता के शिखर की ओर अग्रसर होता गया, विषमता भी अधिकाधिक दृष्टिगोचर होने लगी । अनुन्नत जातियाँ "लकड़ी काटनेवाली और पानी खींचनेवालों की स्थिति" में रह गईं। उच्च जातियों में भी शारीरिक और मानसिक शक्तियों की विषमता ने 'सामाजिक स्थिति' में बड़े भेदभावों और संसार के उत्तम पदार्थों के अधिकार में अनियमों को जन्म दिया।

सामाजिक सुव्यवस्था और सदाचार को क़ायम रखने के लिये पूर्वी विद्वानों ने तीक्ष्ण बुद्धि से काम लिया। उन्होंने इन विषमताओं को 'कर्म' और 'आवागमन' के सिद्धांतों पर ठहराया। यदि कोई व्यक्ति निर्धन है अथवा दुःखी है, तो उसको यह समझकर धैर्य धारण करना चाहिए कि उसकी यह दशा उसके पूर्व-जन्म-कृत पापों के कारण है और यदि वह इस जन्म में सुकर्म करे तो उसको निश्चय ही, दूसरे जन्म में अच्छा पद प्राप्त हो सकता है। हमारे समाज-शास्त्र-विशारदों और नीतिकारों की कुशलता तो देखिए ! उन्होंने कर्म-सिद्धांत द्वारा एक दुःखित (विषमता के प्रहार से पीड़ित) मनुष्य को अपनी आर्तावस्था में भी संतुष्ट रहने को बाध्य कर दिया और 'आवागमन' का शान्तिपाठ पढ़ाकर उसको 'अविचलित होकर सत्कार्य करने की क्षमता' दे दी । अर्थात् आत्मोन्नति का मार्ग बतला दिया। इसप्रकार **समाज-संगठन और मनुष्य की उन्नति** दोनों महत्त्वपूर्ण काम सध गए।

आध्यात्मिक मार्ग में अनेक पौर्वात्य सुधारकों ने समता का पाठ पढ़ाया है और भारत में वैष्णव, बौद्ध, कबीरपंथी, सिख, सतनामी आदि सम्प्रदायों का अस्तित्व उनके समीकरण प्रयत्नों का ज्वलंत उदाहरण है।

परंतु पश्चिम में अवस्था बिलकुल इसके विपरीत है। पूर्व में विषमता (Ineqnality) को नष्ट करने का प्रयत्न महापुरुषों द्वारा नैतिक और आध्यात्मिक आधार पर किया गया और पश्चिम में इसके विपरीत उद्दंड नेताओं ने इस प्रश्न को अपने हाथ में लिया । उन्होंने इस आर्थिक दृष्टिकोण से देखकर इस पर श्रमजीवि[यों] की छाप लगा दी ।

'फ़्रांस की क्रांति' (Frcuch Revolution) साम्यवा[द] को प्रचार करने का सबसे प्रथम प्रयत्न था । इस क्र[ांति] का सिद्धांत था "सब मनुष्य जन्मतः समान हैं [और] अधिकारों में भी स्वतन्त्र और बराबर हैं" यह सि[द्धांत] बुद्धि एवं प्रकृति के प्रतिकूल है।

लार्ड ब्रैमवैल कहते हैं—"समता—यदि इसका अ[र्थ] धन अथवा स्थिति की समता से है, तो मैं कहूँगा [कि] कोई वस्तु नहीं है, न कभी ऐसी कोई वस्तु किसी [काल] में थी। धन अथवा स्थिति का वैषम्य, जिसके अस्ति[त्व] के विरुद्ध कुछ मूढ़-जन हमेशा चिल्ल-पों मचाए रहते [हैं,] संसार के आदि-काल से है और उसके अंत तक रहेगा। सब मनुष्य उपार्जन करने की शक्ति में समान नहीं और न अर्जित वस्तु की रक्षा करने में ही उनकी योग्य[ता] बराबर बराबर है । अतएव यह कथन कि सब मनु[ष्य] बराबर हैं और समान अधिकार रखते हैं, असत्य [और] हास्यास्पद है।

आधुनिक युग में श्रमजीवियों ने समता के सिद्[धांत] को विचित्र रूप में समझा है। वे उसको समाज-ध्वंस[क] उपायों द्वारा कार्यान्वित करना चाहते हैं। श्रमजीवि[यों] का एक विराट् समूह है। संसार में कोई अत्याचार ज[न-]समूह की उच्छृंखल नृशंसताओं के तुल्य नहीं है, विशे[ष]तया रणोत्सुक वृत्तियोंवाले पाश्चात्य जन-समूह (Mob) से समाज अवश्य ख़तरे में है । फ़्रांस की राज्य-क्रांति का भयानक अभिनय फिर बोलशेविस्ट रूस [में] रचा गया। जैसी कि लैनिन को आशा थी, यह बिलकु[ल] संभव है कि यह आग रूस तक ही परिमित न रह[कर] समस्त योरप में फैल जाय।

साम्यवाद के समर्थक कार्य-क्षेत्र की स्वतंत्रता ही नहीं चाहते हैं, वे केवल यही नहीं चाहते हैं [कि] शक्तियाँ उपयोग में लाने का भरपूर मौक़ा दिया जाय, क्योंकि इन अधिकारों का तो वे ५० वर्षों से निरंत[र] उपभोग कर ही रहे हैं। इस काल में वस्तुतः बहुत-से वैज्ञानिक, शिल्पकार, राजनीतिज्ञ मज़दूरों में से ही हु[ए] हैं। हाँ, यह बात ज़रूर है कि मध्यम श्रेणी में से निकले विद्वानों की अपेक्षाकृत इनकी संख्या बहुत कम है और इस कारण से वे इनमें मिल भी गए हैं।

निर्धनों और धनवानों का परस्पर संघर्ष साम्यवाद का मूल-कारण है। जब निर्धन बलवान् हो जाते हैं, तो वे धनिकों को निकाल देते और उनका माल-असबाब कुर्क कर लेते हैं, यहाँ तक कि वे (१) ऋणों को अस्वीकार करना; (२) भूमि को नए रूप से विभाजित करना आदि उपायों का भी अवलम्बन कर बैठते हैं। इसी प्रकार धनवान् भी जब शक्तिशाली होते हैं, तब ग़रीबों से अच्छी तरह बदला लेते हैं। मालदार अपना माल नहीं छोड़ना चाहते और निर्धन भूखों नहीं मरना चाहते, बस दोनों ही लड़ते हैं।

मज़दूरों का दृढ़ विश्वास है कि जब तक अर्थ-वितरण (Distribution of wealth) समता (Equality) के सिद्धांत पर न किया जायगा, तब तक उनकी दुर्दशा का अंत न होगा। इसलिये उनका मुख्य ध्येय है आमदनी के मुख्य द्वारों पर अधिकार जमाना, भूमि, कानों और फैक्टरियों को राज्याधिकार में लाना आदि। वे इन तरकीबों से आमदनी को जन-संख्या में समान भाग में वितरण करना चाहते हैं।

परंतु इस प्रकार की प्रत्येक योजना घोर अन्यायपूर्ण है। हम इस 'अन्याय' को अपने शब्दों में व्यक्त न कर हरबर्ट स्पेंसर के तर्कपूर्ण वाक्यों में लिखते हैं—"यदि ज़मीन की उपज का समान भाग प्रत्येक मनुष्य को, विना उसकी उस मिहनत के परिमाण और मूल्य का ख़्याल किए हुए जो कि उसने उस भूमि की प्राप्ति के लिये की थी, दे दिया जाना समता के प्रथम अथवा मूल सिद्धांत पर कुठाराघात करता है। 'सबको बराबर-बराबर भाग दे दिया जाय' ऐसा हमारा उद्देश्य कभी न होना चाहिए; परन्तु इसके विपरीत हमको चाहिए कि हम सब मनुष्यों के लिये उस वस्तु के लाभार्थ समान कार्य-क्षेत्र, समान वायुमंडल उत्पन्न कर दें। प्रत्येक मनुष्य को उसके इच्छित पदार्थों को प्राप्त करने का अवसर प्रदान करना एक बात है और उन पदार्थों को ही स्वतः दे देना—चाहे उनकी प्राप्यर्थ समुचित प्रयत्न किया गया अथवा न किया गया—दूसरी बात है। प्रत्येक मनुष्य को अपने पड़ोसी के कार्य क्षेत्र को अतिक्रम किए विना अपनी उन्नति के लिये अथक प्रयत्न करने का पूर्ण अधिकार है। यदि कोई मनुष्य अपनी योग्यता, परिश्रम, अध्यवसाय, पराक्रम से अपने लिये अधिक संतोष-सामग्री लाभ करता है, तो नैतिक दृष्टि से वह उसका स्वामी है। उसको यह संतोष (Gratification) लाभ न करने देना अथवा उसको अपहरण कर दूसरे को देना सरासर अन्याय है।"

साम्यवाद अर्थात् समान अर्थ-बितरण के मार्ग में कई बाधाएँ हैं, जिनको इसकी ख़राबियाँ भी कह सकते हैं। इसका संचालन तलवार की धार पर ही हो सकता है। मज़बूत सेना और शक्तिसम्पन्न एवं सुदृढ़ शासन के विना इसका कार्यान्वित होना असम्भव है। राष्ट्र को दासत्व की बेड़ियों में जकड़े बग़ैर इसका चालू होना कठिन है।

पाश्चात्य साम्यवादक्रांतियों और प्रतिक्रांतियों का जन्म-दाता है। फ्रांस की राज्य-क्रांति के बाद भी एक प्रतिक्रांति (Counter-Revolution) हुई थी। साम्यवाद को पूर्णरूपेण चालू हालत में हम रूस में देखते हैं। वहाँ के प्रवाह को देखकर बहुत-से विद्वान् बोल्शेविस्ट रूप से ज़ारशाही को ही अच्छा समझते हैं।

आधुनिक साम्य-विचार आजकल की फैली हुई भीषण विषमता के परिणाम हैं। विषमता आधुनिक औद्योगिक क्रांति (Industriclism) के कारण बढ़ रही है। उद्योगवाद का नाश किए विना वैषम्य का अंत करने की चेष्टा विफल होगी। पूँजी-वाद (Capitalism) आधुनिक उद्योग-वाद का निश्चित फल है। हमको आधुनिक उद्योग-वाद (मैशीनरी-सिस्टम) का नाश करने के लिये प्राचीन उद्योग-धंधों पर जाना होगा, जो अधिक स्वास्थ्यकर है। प्राचीन उद्योग-धंधों को अपनाकर हम शीघ्र ही सुख और शांति का साम्राज्य स्थापित कर सकते हैं। इस प्रकार मूलद्रव्य की एकाग्रता (Concentration) भी न हो सकेगी।

वृंदावनदास

संगीत और विनोद

स्वरकार—गौरीशंकर वर्मा साहित्याचार्य] [शब्दकार—पं० नागेंद्रनाथोपाध्याय साहित्यशा

राग—मेघमलार

भपताल

उनई घुमरि घूमि, सँवरी बदरिया ॥
एक ओर मोर सोर, करत अमित घोर ।
रहि-रहि अति जोर, करत बदुरिया ॥
पथिक न मग माँहि, परत दिखाई एक ।
जलमय ह्वै गई, सगरी नगरिया ॥
चपला चमक अरु, घन को दमक धुनि ।
मन माहिं होत एक, विकट समरिया ॥

मात्रा—मृदंग-बोल

×		३			०		१	
१	२	३	४	५	६	७	८	९
धा	गे	धा	गे	गे	ता	गे	धा	गे

स्थायी

म	ग	म	र	स	र	र	र	सन
उ	न	ई	ऽ	घु	म	रि	घू	ऽ
नस	रग	म	ग	म	र	ग	म	प
सँ	व	री	ऽ	ब	द	रि	या	ऽ

अंतरा

म	प	न	—	न	सं	न	सं	—	सं
ए	क	ओ	ऽ	र	मो	र	सो	ऽ	
त	सं	सं	रं	रं	न	सं	सं	नध	प
क	र	त	ऽ	अ	मि	त	यो	ऽ	र
प	न	न	—	न	सं	सं	सं	ध	प
र	हि	र	ऽ	हि	अ	ति	जो	ऽ	र
म	पध	प	मग	म	र	ग	म	प	—
क	र	त	ऽ	ब	दु	रि	या	ऽ	ऽ

संचारी

म	र	र	—	र	ग	र	प	—	प
प	थि	क	ऽ	न	म	ग	माँ	ऽ	हि
म	ग	म	र	स	र	र	स	—	स
प	र	त	ऽ	दि	खा	ई	ए	ऽ	क
म	ग	स	—	म	प	—	प	म	प
ज	ल	म	ऽ	य	है	ऽ	ग	ऽ	ई
सं धप	सं	संनसंरं	ध	प	म	प	धप	प	म
स	ग	री	ऽ	न	ग	रि	या	ऽ	ऽ

आभोग

म	प	न	—	न	सं	सं	सं	—	सं
च	प	ला	ऽ	च	म	क	अ	ऽ	रु
न	सं	सं	रं	रं	न	सं	सं	नध	प
ध	म	को	ऽ	द	म	क	सु	ऽ	नि
प	न	न	—	न	सं	सं	सं	ध	प
म	न	माँ	ऽ	हि	हो	त	ए	ऽ	क
म	पध	प	मग	म	र	ग	म	प	—
वि	क	ट	ऽ	स	म	रि	या	ऽ	ऽ

जिन स्वरों के ऊपर विन्दु हों, उन्हें तार सप्तक का, जैसे—'सं', जिन स्वरों के नीचे विन्दु हो, उन्हें मन्द्र सप्तक का, जैसे—'सऩ', जिन स्वरों पर विन्दु न हो, उन्हें मध्य सप्तक का समझना चाहिए। जैसे—'म'।

‿ इस प्रकार के चिह्न में जितने स्वर हों, उन्हें एक मात्रा में बजाना चाहिए। जैसे—"धप" यह राग आरोह में 'स र ग म प न' इन छः स्वरों के बजने के कारण षाड्व तथा अवरोह में "सं न ध प म ग र स" इन सात स्वरों के कारण सम्पूर्ण है।

जिन स्वरों पर राग का दौरा या झपट अधिक होता है, उसे पकड़ कहते हैं। जैसे इस राग का पकड़—"र ग म प म ग स स ऩ स र स ग म र र स प ध ध म प ध सं ध प म प स ग" है।

× × ×

२ घपला

(एक मौलिक चुटकुला)

कोई हास्यप्रिय जेंटिलमैन किसी वकील मित्र के यहाँ गए हुए थे। जितने लोग बैठे थे, एक-एक करके उठ गए और संयोगवशात्, जब वहाँ कोई नहीं था, तो आपने देखा कि दूर सम्मुखवाले कमरे में एक सन्दूक़ मेहागिन (मेहोगनी) लकड़ी की, बहुत ही बढ़िया, फ़ैशनेबुल और पालिश पोती हुई रक्खी है। वह बड़ी मूल्यवान् जान पड़ती थी। पास ही "चाक" (खड़िया मट्टी) शेल्फ़ में रक्खी थी। आपको क्या सूझा कि कुछ कौतुक करना चाहिए। चट खड़िया उठाया और शीघ्रता से, परंतु स्पष्ट अक्षरों में, संदूक़ पर यह वाक्य लिख दिया कि—

"कोई संदूक़ पर खड़िया मिट्टी से न-जाने क्या लिख गया है।"

यह लिखकर कमरे से बाहर निकल आए और गंभीर मुख मुद्रा बनाकर अपनी आरामकुरसी पर पूर्ववत् लेट गए। किसी को कुछ ख़बर न हुई। किंचित् काल में और लोग आ गए। तो कुछ ही देर बैठकर आपने बिदा माँगी। हैट उठा लिया, और "गुडबाई" बोलकर चलते बने। अस्तु।

वकील महोदय बैठे थे, नौकर को पुकारा कि "ओ रमचेहरा! वो मनीबाक्स ले आ! वो उस कमरे में रक्खा है!! जा!" नौकर गया, और चिल्लाने लगा कि "अरे, यह पर तौ कौनों गोद-गाद गवा है। मारिस नीक नीक संदूखि चापर किहेसि!" वकील महाशय चौकन्ने हुए कि मनीबाक्स (रूपए रक्खी जानेवाली संदूक़) पर किसका हाथ लगा।

इतने में उनकी एक लड़की आई, जो कन्या-पाठशाला के किसी कक्षा में पढ़ती थी। उसने नौकर की चिल्लाहट सुन लिया था। और वहाँ गई तो बोली—"लाला, किसी हिंदी पढ़े ने लिखा है।"

वकील—"और लिखा क्या है।"

लड़की—(पढ़ते हुए) "कोई संदूक़ पर खड़िया मिट्टी से न जाने क्या लिख गया है।"

वकील—"अरे क्या तू पढ़ नहीं सकती। यह क्या कहने ही भर को है कि मैं यह जानती हूँ, वह जानती हूँ?"

लड़की—"लाला हम हिंदी खूब पढ़ सकती हन आठईं कच्छा में पढ़ती हन। केतना एक रीडर पढ़ डारेन।"

वकील—"तब यह क्यों नहीं बताती कि क्या लिखा है।"

लड़की—"बतौती तौ हन। (फिर पढ़ती है) कोई संदूक़ पर खड़िया मिट्टी से न जाने क्या........"

वकील—"हाय हाय, फिर वही बात। अरे, कोई गाली-गुप्ता-फ़ोहश लिख गया है, जो मारे शर्म के नहीं पढ़ती। या यों ही गोद-गाद गया है या कोई मतलब वाली बात लिख गया है या और कोई......"

लड़की—"गाली-वाली नाहीं लिखा है।"

वकील—"दुत, तू अभी कुछ भी नहीं जानती है (संदूक़ के निकट जाकर) क्या कहें उरदू या अँगरेज़ी में होता, तो हमी पढ़ लेते, ग़ैर के मुहताज न रहते। हिंदी-पिंदी तो हम बिलकुल नहीं पढ़ सकते।"

इतने में कुलपुरोहित पंडित आ पहुँचे। वकील ने भीतर बुलाया, आते ही बोले—

"जजमान धर्मा अवतार कै जै होय! जो है सो दच्छिना पत्रा पर चढ़ाइए सरकार।"

वकील—"महराज, यह पढ़िए क्या लिखा है।"

पंडित—"(संदूक़ पर खूब घूरकर) धर्ममूर्ति इस पर तौ........(पढ़ते हुए) कोई संदूक़ पर खड़िया मिट्टी से न जाने क्या लिख गया है।"

वकील—(झुँझलाकर)—"धन्य हौ, बलिहारी महराज, बलिहारी। पालागी!"

पंडित—"चिरञ्जीव! ए बने रहौ सरकार ई काहे हजूर रुष्ट हौ।"

वकील—"रुष्ट-पुष्ट नहीं समझ सकते। एक ज़रा-सा जुमला नहीं चलता, आपसे, और कहते हो कि वेद पुरान को तोता ऐसा रटे हुए हैं। (क्रोध से ओंठ चबाते हैं)।"

पंडित—(वकील को प्रसन्न करने के लिये)—"पुरान बेद और नवा बेद की बात नहीं। रहा यह बात......"

वकील—"उँ० चुप रहिए जी। देख ली, देख ली लियाक़ते बेढ़ब। जब मामूली हिंदी नहीं पढ़ सकते, तो संस्कृत ज़बान क्या पढ़ सकेंगे। ताज्जुब है कि आप पत्रा कैसे बाँच लेते हैं।"

एक दूसरे मित्र बोले—"किसी ने जिह्वाग्र करा दिया होगा।" यह व्यंग्यवचन पंडितजी के हृदय में बाण की भाँति लगे। परंतु "मौनं सर्वार्थसाधनम्।" स्मरण हो आया। इसलिये चुप रह गए।

वकील (इन्हीं मित्र से)—"कहिए मि० टी० के० मित्रा! आप ही पढ़कर बतलाइए। स्कूल में आप सिकेंड फ़ार्म में हिंदी लिए थे।"

मिस्टर मित्र—"हाँ, मैं पढ़ सकता हूँ। सुनिए (पढ़ते हुए) कोई संदूक़ पर खड़िया... ... ... ।"

वकील—"ओह ! खड़िया-हड़िया। हम भी देखते हैं कि खड़िया मिट्टी से लिखा है, क्या आप हमें अन्धा समझते हैं। लेकिन—For the sake of god, please tell me what does the writing mean?"

मित्र (मुस्किराते हुए)—Sorry to say, I can't. It is beyond my power.

वकील—"तब क्या हर दम मुँह मियाँ मिट्ठू बने रहते थे। इम्तहान के मानी यही हैं कि पोल खोल दे। इतने में एक दूसरे सज्जन विद्वज्जन आए, उन्होंने कहा कि हम पढ़ेंगे। यह हिंदी है, और हिंदी हमारी मातृ-भाषा है।

वकील—"आप ही पढ़कर बताइए कि क्या लिखा है। यह तो एक तिलिस्म हो गया।"

सज्जन (पढ़ते हुए)—"कोई अर्थात् कोई मनुष्य... ...संदूक़ अर्थात् मंजूषा पर......खड़िया मिट्टी या चाक से......न-जाने क्या लिख गया है अर्थात् गोद-गाद गया है। लीजिए पढ़ दिया।"

वकील—"ओ हो ! अब मैंने समझा। या तो कुएँ ही में भंग पड़ी है या वह डैम या जो कोई हो कुछ बुरा बात या हमारा कुछ भेद लिख गया है (सब हँसते हैं)।

क्या कहें हिंदी न जानने से यह तकलीफ़ हुई। आज ही से हम हिंदी सीखने लगेंगे। बस, आज ही पहली किताब लाते हैं। इतने में नौकर पानी से तर करके डस्टर ले आया और एक ही हाथ में सारी सारी समस्या समाप्त कर दी।

बृहस्पतिदत्त मिश्र

× × ×

३. एक पोस्टकार्ड की आत्म-कहानी

मेरा जन्म लखनऊ नगर की एक अनुपम वाटिका में हुआ। गुलाब के पुष्प, पुष्प-प्रेमियों के हाथ से बहुधा छुटकारा पाने के लिये मेरी ही शरण लेते थे। पुष्पों के सत्संग से मुझमें भी सुगंध आने लगी थी। मेरे दिन चैन से कटते थे। गुलाब के वृक्ष से मेरा एक घनिष्ठ संबंध हो गया था। मध्याह्न-काल में जिस समय सूर्य भगवान् का कोप वृक्षों पर पड़ा करता है, उस समय यह सूर्य-भगवान् के कठिन कोप को स्वयं सहन करता और मुझ पर ज़रा भी आँच नहीं आने देता। बर्फ़ व ओलों के कठिन आघात से भी सदा मेरी रक्षा करता। भीनी-भीनी सुगंधवाले पुष्पों का मेरा वक्षःस्थल, क्रीड़ा-स्थल हो रहा था। हरएक का इन पर हाथ छोड़ने का साहस न होता। इनकी रक्षा में मैं अपनी जान लड़ा देती। पहला मोर्चा मुझ ही से होता। जब तक मेरी कमर में सामर्थ्य रहती, मैं सामना करती। कमर टूट जाने पर विवश हो जाती। दूसरा मोर्चा विटपदेवता बर्छेरूपी अपने तीक्ष्ण काँटों से स्वयं करते। जिस प्रकार हनुमान्जी ऊपर से अर्जुन के रथ की रक्षा करते थे, ठीक उसी तरह से भौंराजी महराज अपना मधुर राग अलापते हुए हम लोगों की रक्षा करते और जब कभी शत्रुदल के किसी को आते देखते हम लोगों को पहले ही से सचेत कर देते। हम लोग लड़ाई के लिये तैयार हो जाते। मुझे खड्ग का दाँव बहुत ही रवाँ था। शत्रु पर मेरा यह दाँव ठीक खड्ग ही-सा काम करता था। जिन पर मेरा यह दाँव भरपूर पड़ जाता, उनका दुबारा मेरे पास आने का साहस न होता। लेकिन साथ-ही-साथ एक बार दाँव खाया हुआ दुबारा मुझको मौक़ा ही नहीं देता कि फिर मैं उस पर अपना दाँव लगा सकूँ। वह पहले ही से मेरी कमर तोड़ देता और मैं छटपटाया करती। लगभग वाटिका के सब ही लोग मेरे इस दाँव से परिचित थे।

सदा किसी के दिन समान नहीं रहते। जो सीढ़ी पर चढ़ते हैं, वे उतरते भी हैं। समय के फेर में पड़कर बड़े-बड़े राजाओं-महाराजाओं को, जिनकी ओर देखने तक का भी बड़े-बड़े सामंतों को एक दिन साहस न होता था, एक अदना-से आदमी की बात-बात में घुड़की सुननी पड़ती है। इंद्रपुरी के समान अट्टालिकाओं में रहकर जो अपना समय सदा भोग-विलास में बिताते थे, उन्हीं

को अपनी क्षुधा की तृप्ति के लिये घर-घर दर्वाज़ा खट-खटाना पड़ता है। जो धन और ऐश्वर्य के मद में आकर सीधे किसी से बात नहीं करते थे, उन्हीं को समय के फेर में पड़ने पर एक-एक आदमी के आगे नाक रगड़ना और गिड़गिड़ाना पड़ता है। अस्तु, मेरे भी ऐश्वर्य तथा चैन के दिन समाप्त हो गए। काल-चक्र ने मुझे भी आ घेरा।

प्रातःकाल का समय था। पुष्पों से स्पर्श करती हुई शीतल वायु के मंद-मंद झकोरे चित्त को प्रफुल्लित किए देते थे। वाटिका के स्वामी इस सुहावने समय का आनंद लेते हुए माली के साथ वाटिका का निरीक्षण कर रहे थे। एकाएकी उनकी दृष्टि मुझ पर पड़ी और मेरा समस्त ऐश्वर्य धूल में मिल गया। एक ही दृष्टि में मेरा सत्यानाश हो गया। माली की एक ही खुर्पी ने मेरी जीवन-लीला समाप्त कर दी। मैं ही नहीं, मेरे साथ कितनी ही मेरी निरापराध बहनों की इसी तरह जीवन-लीला समाप्त कर दी गई और ठेले पर लादकर एक निर्जन श्मशान भूमि पर पहुँचाई गई। सप्ताहों तक किसी ने अन्न-जल तक के लिये नहीं पूछा। सूखकर काँटा हो गई। रंग पीला पड़ने लगा। सारे दाँव-पेंच भूल गए। जो सूर्यभगवान् एक दिन, जब कि मेरा और वृक्षदेवता का घनिष्ठ संबंध था, मुसकिराते हुए मेरी ओर देखते थे उन्होंने मेरे विपत्ति-काल में अच्छा मौक़ा पाने पर मुझे झुलस दिया। मेरा समस्त अंग पीला पड़ गया। सच है, विपत्ति-काल में कोई साथी नहीं होता। अपने भी पराए हो जाते हैं।

इन दिनों मुझे कैसे-कैसे दुःखों से सामना करना पड़ा, कहते आज भी रोएँ खड़े होते हैं। जब मैं सूख कर बिलकुल पीली पड़ गई, तब एक डाक्टर द्वारा मेरा निरीक्षण कराया गया और कुछ औषधों के साथ स्नान कराने को बतलाया गया। अतः मैं अपनी बहुत-सी आपत्ति की मारी हुई बहनों के साथ पानी से भरे हुए एक डेग में भर दी गई। इस पानी में कुछ औषध मिली हुई थी। मैं अभी क्षण-भर भी विश्राम न करने पाई थी कि जल ने भी अपना शीतलता का गुण छोड़कर मुझे तपाना शुरू किया। औषध ने भी सान्त्वना देने की अपेक्षा मेरे शरीर को घुलाना अधिक पसंद किया। धीरे-धीरे मेरा समस्त शरीर घुल-घुलकर द्रव्य पदार्थ में परवार्तित हो गया। मुझे मेरे इस रूप में कई डेगों के दर्शन कराए गए। कई एक पौष्टिक पदार्थों का सेवन भी कराया गया। क्षण-मात्र में मेरा रूप बिलकुल बदल गया। द्रव्य से ठोस पदार्थ में परिवर्तित हो गया। व्याकरण ने भी स्त्री-लिंग से पुँल्लिंग में मेरी गणना की। अनेक कष्ट भोगने के उपरांत मेरा पुनर्जीवन हुआ। मुझे काग़ज़ से काटकर एक पोस्टकार्ड के रूप में कर दिया गया। इस यमलोक की दारुण यंत्रणा भोगने के उपरांत मेरा यहाँ से छुटकारा हुआ। मोटर की सवारी मिली। क्षण-भर के लिये सब पिछले दुःखों को भूल गया। मोटर यहाँ से चलकर एक स्थान पर ठहर गई। सामने दूसरा यमलोक दृष्टिगोचर हुआ। देखकर मेरे देवता कूच कर गए। मैं थर-थर काँपने लगा।

मोटर से उतरने में बहुत हीला-हवाला किया, लेकिन मज़दूर ने मुझे मोटर से उतार ही कर दम लिया। इस यमलोक में मुझे दो दिन कालकोठरी में बंद किया गया, तदुपरांत मेरे इंजेक्शन देकर काली दवा भर दी गई जिससे कि किसी प्रकार की बीमारी न हो सके। मेरे कंधे पर Post Card का शब्द लिख दिया गया। यहाँ मुझे यंत्रणा तो सहनी पड़ी, लेकिन उस यमलोक की अपेक्षा बहुत कम। अब मुझमें कुछ सुंदरता भी आ गई। यहाँ से मुझे एक सुसज्जित भड़कीली दूकान पर पहुँचाया गया। यहाँ मेरी अच्छी प्रतिष्ठा होती थी। दोनों वक्त एक नौकर कपड़े से मेरी गर्द झाड़ करके साफ़-सुथरा रखता। लेकिन विधाता ही मुझसे रुष्ट हो गया था। उससे मेरा इस तरह का रहन-सहन कब देखा जाता। एक साहब कुछ पैसों के बदले अकेले मुझ ही को नहीं, मेरे साथ में और भी मेरे ऐसे कितने ही को ले गए। मार्ग में उन्होंने अपनी जेब में बिठाकर हम लोगों को खूब सैर कराई। घर में भी एक सुसज्जित कमरे में बिछी हुई मेज़ पर बैठाकर अच्छा सत्कार किया। मैं समझा कि मेरे दिन अब यहाँ चैन से कटेंगे। लेकिन ऐसा नहीं हुआ, मेरे भाग्य में अभी क्या-क्या कष्ट और भोगना था, सो पाठकों को आगे चलकर मालूम होगा।

एक साहब सबसे विचित्र निकले। झटपट वस्त्र आदि खोलकर मेज़ के सामने कुर्सी पर आ डटे, और लगे सुइयाँ भोंक-भोंककर मेरा मुँह काला करने। बात-की-बात में मुँह ही नहीं, बरन् सारा शरीर काला कर

डाला। एक ओर काला करके दूसरी ओर भी अपनी वही करामात दिखलाई, लेकिन इस ओर वह अंधाधुंधी हाथ नहीं दिखलाए। न-मालूम किसके डर से इनको हद की पाबंदी करनी पड़ी। जब यह काम समाप्त कर चुके, तब मेरे बाएँ कंधे के ऊपर एक कोने में जार्ज पंचम की काग़ज़ पर खिंची हुई चौकोर मूर्ति की स्थापना की और मुझको एक नौकर के हवाले किया। नौकर साहब मुझे पाते ही लेकर बदहवास भागे और मुझे लगे पंखे की तरह हिलाने। मैंने भी मैदान साफ़ पाया और झट उसके हाथ से छूटकर गली के किनारेवाली नाली में एक डुबकी लगा ही तो ली। मेरा यह साहस देखकर नौकर का मुँह फक़ हो गया। इधर-उधर देखकर बड़ी हिम्मत करके उसने मुझे नाली से निकाला और अपने अँगौछे से मुझे पोंछकर एक लेटरबक्स के हवाले किया। एक खिड़की से मुझे पाताललोक में दे मारा। भाग्य-वश मुझे यहाँ अधिक समय तक न रहना पड़ा। कुछ ही समय के बाद पाताललोक का दरवाज़ा खुला। एक चपरासी ने मेरा टिटुआ पकड़कर यहाँ से बाहर किया और एक थैले में बंदकर मुझे ले चला। एकाएकी मेरा दम घुटने लगा, लेकिन थोड़ी ही देर में थैले का मुँह खोल दिया गया और मुझे बहुत-से साथियों के साथ एक मेज़ पर पटक दिया गया। यहाँ की लीला सबसे विचित्र थी। यहाँ सबकी छटाई हुई, जिस पर जार्ज पंचमकी मूर्ति विराजमान थी, उनको एक ओर और जो इस मूर्ति से रहित थे, दूसरी ओर रक्खे गए। मुझ पर मूर्ति रहते हुए भी मेरी गणना मूर्तिरहित ही वालों की ओर हुई, क्योंकि नाली के अशुद्ध जल में स्नान करने से जार्ज पंचम महा-राज का बिना एक आना डाकविभाग में प्रायश्चितस्वरूप दिए छुटकारा नहीं हो सकता था। मुझ पर दो मोहरें लगाई गईं और शुद्ध होने के लिये एक थैले में बंद करके मुझे डेडलेटर आफ़िस की हवा खिलाई गई। यहाँ मेरी तरह और भी बहुत-से मेरे भाई-बांधव शुद्धि ही कराने को आए हुए थे। मैं भी एक बाबू के हाथ में दे दिया गया। उसने आदि से अंत तक मुझ पर एक तीक्ष्ण दृष्टि डाली, और गोंद के द्वारा एक बादामी पीतांबर पहनाया। पीताम्बर पर लाल रोशनाई से एक मंत्र भी लिख दिया, जिससे कि किसी को मुझसे कोई प्रश्न करने की भी आवश्यकता न हुई और मैं एक थैले में बंद करके रेल पर बैठाया गया। यहाँ फिर मेरी जगह बदली गई। थैले से निकालकर कुछ देर तक एक छोटे-से झरोखे में बैठाया गया, लेकिन न-मालूम बाबूजी को क्या सनक सवार हुई कि फिर झरोखे से निकालकर थैले में भरकर सील मोहर करके एक प्लेटफ़ार्म पर पटक दिया। उस मंत्र में न-मालूम क्या जादू था कि चपरासी ने पाते ही थैले का मुँह खोलकर एक पोस्टमैन के हवाले मुझको कर दिया। पोस्टमैन साहब घूमते-घामते एक साहूकार के पास पहुँचे और मुझे दिखलाकर प्रायश्चित्त के एक आने का सवाल किया। पैसों का सवाल आने से साहूकार ने मुझसे किसी प्रकार का संबंध रखने से कोरा जवाब दे दिया। मैं फिर जैसे-तैसे एक थैले में बंद करके दुबारा शुद्धि कराने को डेडलेटर आफ़िस भेजा गया। यहाँ मेरे स्वामी का पूरा-पूरा पता लगाने के लिये तीक्ष्ण दृष्टि से मेरा निरीक्षण किया गया; लेकिन जब कोई चिह्न न मिला, तो एक आने के पीछे मुझ ही को झट प्राणदंड की आज्ञा सुना दी गई। मेरे बहुत गिड़-गिड़ाने पर यह शर्त लगा दी गई कि यदि एक महीने तक मेरा स्वामी मेरी कुछ सुध लेगा और प्रायश्चित्त का दंड चुका देगा, तो मेरा छुटकारा हो सकेगा। मैं एक कालकोठरी में बंद कर दिया गया।

आज मुझे इस कालकोठरी में आए एक महीना हो गया। आज मेरा अंतिम दिन है। आज ही मुझे भीषण अग्नि का सामना करके अपने प्राण गँवाने पड़ेंगे। मेरे स्वामी ने आज तक मेरी कोई सुध नहीं ली। लेकिन मुझे अभी तक आशा है कि कोई-न-कोई पाठक मेरी इस विपत्ति-कहानी को मेरे स्वामी के कानों तक पहुँचा कर मेरे प्राणों की रक्षा करेगा और मेरा गला फाड़-फाड़कर अपनी आत्म-कहानी कहने के परिश्रम को सुफल करेगा।

रामप्रसाद कपूर

सुमन-संचय

१. निठुर संसार

किया था उसने मुझसे प्रेम
किया था मैंने उसको प्यार;
इसलिये मचा हुआ है बहुत
आज दुनिया में हाहाकार।

भव्य कालिमारहित जो प्रेम,
उसे कहते हैं पापाचार;
और कहते हैं ऐसे लोग
स्वयं जो पापमूर्ति साकार।

लजाता नहीं तनिक भी लोक
इस तरह करते स्वेच्छाचार;
दिखाता पाप उसे सर्वत्र
क्योंकि पापिष्ठी है संसार।

हृदय है उसका बस पाषाण
नहीं करुणा का कुछ संचार;
दो जुड़े हृदयों को कर विल
हाय ! पाता है क्या संसार

द्वेष प्रिय हैं क्यों इतने लोग,
न-जाने कैसे उनके भाव?
जला करते हैं जो दिन-रात,
किसी में देख प्रीत अपनाव।

बुरी तो है दुनिया स्वयमे
उसे इसका क्या है अधिका
बताये उसको वह अपवि
धवल गंगा की है जो धार

कहा मुझको क्या-क्या है नहीं,
मुझे पाकर गरीब असहाय;
न्याय कहलाता है यदि यहीं
तो किसे कहते हैं अन्याय?

बचाने को मैं उसकी ला
नहीं जाऊँगा उसके पास

शुभ्र रखने को उसकी कीर्ति
स्वयं कर लूँगा अपना नाश।

किंतु विस्मृत करना मत इसे
अरे ओ पापिष्ठी संसार;
नहीं है कुछ भी यहाँ अनंत
दीन के आँसू हैं अंगार।
बीचि से चुंबित जो चट्टान
उगा उस पर तन तरु असहाय;
मुझे क्या? बह जाऊँगा उधर
भाग्य की जिधर ले जाय।

पद्मकांत मालवीय

× × ×

२. महाकवि देवजी के तीन छन्द

प्रकृति-कवि विलियम वर्ड्स्वर्थ ने The green linnet नाम्नी कविता में एक स्थान पर लिखा है "Thyself thy own enjoyment" अर्थात् तेरे तईं तेरा अपना आनन्द है, ठीक यही शब्द महाकवि देवजी के लिये भी दुहराए जा सकते हैं। इनकी कविता में उक्ति चमत्कार के साथ शब्दों की जैसी सुष्ठु योजना है, वह सहृदय-हृदय सवेद्य है। विचार-मौलिकता (Originality of thought) के साथ कल्पनात्मक चमत्कारिकता (Vividness of imagination) का जैसा सुन्दर सामञ्जस्य इनके पद्यों में पाया जाता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। हिन्दी-संसार का यह दुर्भाग्य है कि वह अभी तक इन्हें अच्छी तरह नहीं समझ सका। एक बार माधुरी-सम्पादक पूज्य मिश्रजी ने 'देव-विहारी' पुस्तक लिखकर इनके धूल-धूसरित साहित्यरत्नों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया था, जिसमें वे बहुत कुछ सफल भी हुए हैं। परन्तु जब तक इस महाकवि के सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित नहीं होते, तब तक मैं तो यही कहूँगा कि "हम लोग अपने पूर्वज प्रतिभाशाली कवियों का आदर करना नहीं जानते, हमारा साहित्याभिमान मृषा है।" अस्तु, आज यहाँ इनके अप्रकाशित रसानंद-लहरी, नायिका-वर्णन आदि ग्रन्थरत्नों से तीन छन्द उद्धृत करता हूँ। यदि माधुरी-पाठकों ने उन्हें पसन्द किया, तो शीघ्र ही इनकी पिङ्गल तथा अलङ्कार-सम्बन्धी ग्रन्थों में से विशेष रूप से लिखूँगा*। सम्प्रति मेरे पास इनके निम्नस्थ ग्रन्थ हस्त-लिखित वर्तमान हैं। भवानीविलास, रसविलास, जातिविलास, भावविलास, अष्टयाम, रसानंद-लहरी, नायिका-वर्णन, अलंकार-सम्बन्धी एक सुन्दर ग्रंथ तथा पिङ्गल, साथ ही मैं इनके वृत्त-विलास की खोज में हूँ।

नभोदेश में पार्वण चन्द्र अपनी चारु ज्योत्स्ना विकीर्ण कर रहे हैं, प्रियतम का प्रेम प्रसाद पाकर वधू यामिनी का प्रणयालोक विरहित हृदय हर्षातिरेक से खिल उठा है। अवनि आकाश, निर्जन गिरिशिखर, सभी जगह हीरक खण्डों की वर्षा-सी हुई है। ऐसा मालूम होता है, मानो आकाश से आलोक का फेनिल समुद्र उमड़ पड़ा है। ऐसे ही सुन्दर समय में स्फटिक-समोज्ज्वल चन्द्र महल में शरत् लक्ष्मी की भाँति कल-हंस शुभ्र वसना कीर्तिकुमारी श्रीराधिकाजी तथा श्रीकृष्णजी दृग्गोचर होते हैं। उधर रजनी और रजनीश हैं, तो इधर भी देवजी की प्रतिभा राधिका और राधिकेश को ला उपस्थित करती

* महाकवि देवजी के निवासस्थान, कुसमरा ज़ि० मैनपुरी, में मेरा ममाना है—इस कारण देववंशात्मज श्री पं० मातादीन-जी तथा केशवरामजी द्वारा देवजी के साहित्यान्वेषण में मुझे बहुत कुछ सहायता मिली है। एतदर्थ मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ।—लेखक

है। उभय ओर प्रणयि युग्म हैं, कैसा सुंदर सादृश्य है।

हाँ, तो दोनों प्रणयि-प्रणयिनी अमल धवल दुग्ध फेनोज्ज्वल शुक्ल परिधान धारण कर चाँदनी में छिपने की चेष्टा करते हैं—और चाँदनी में ऐसे मिल जाते हैं कि फिर परिजनों के खोजने पर भी नहीं दिखलाई पड़ते, प्रातः-काल सूर्योदय होने पर दृष्टि आते हैं। कवि की विदग्धता और सूक्ष्मदर्शिता सौ मुख से भी सराहने योग्य है। सुनिए—

पूरन सरद शशि, उदित मुदित दोऊ,
बिहँसि बिलसिबे को, देव रसभरे हैं;
छीरज बरन बनि, छबि सों छबीले छैल,
छबि ही की गैल, छिपिबे के भेख धरे हैं।
चाँदनी महल मिलि गए, मिलि चाँदनी मैं,
पून्यों की रजनि, परिजन अनुसरे हैं;
मूढ़ भए ढूँढ़त, अगूढ़ गूढ़ पैयत न,
साँझ ते निहारे पै, सबारे सूझि परे हैं।

—रसानंदलहरी

मीलित * अलंकार की अनोखी छटा के साथ माधुर्य-गुण का सहज अकृत्रिम प्रवाह निष्प्राण हृदय को भी कवित्वरस में निमज्जित किए बिना नहीं मानता।

और सुनिए—मध्या नायिका है। कविवर पद्माकर ने मध्या का लक्षण यों कहा है—

इक समान जब ह्वै रहत, लाज मदन ये दोय;
जा तिय के तनु में तबै, मध्या कहिए सोय।

—पद्माकर

उसी मध्या नायिका का पति परदेश जा रहा है, ऐसे कठिन समय में मध्या की सखी गमनोद्यत नायक को किस कौशल से बाहर न जाने के लिये प्रेरणा करती है; वह कहती है—

देव जो बाहर ही बिहरै, तौ समीर अमीरस बिंदु लै जैहै;
भीतरै भौन बसै बसुधा ह्वै सुधा मुख सूँघि फनिंदु लै जैहै;
जैए कहूँ यहि राखि गुबिंदु कै इंदुमुखी लखि इंदु लै जैहै;
राखिहौ जो अरबिंदु हू मैं, मकरन्द मिलै तौ मलिंदु लै जैहै।

—नायिका-वर्णन

अर्थात्, आप बाहर न जायँ, नहीं तो बड़ा ग़ज़ब हो जायगा। क्योंकि आपसे एकाकी की हुई आपकी प्रियतमा जब बाहर घूमने निकलेगी, तो समीर सब अमृत सुखा के दूर ले उड़ेगा। और, यदि धरती के भीतर महल में रहेगी, तो उसके सुरभित श्वासोच्छ्वास को सूँघकर शेष-नाग उसे पाताल ले भगेंगे। और फिर इन सबसे बच भी गई, तो इंदुमुखी को इंदु महाराज नहीं छोड़ेंगे, निश्चय ही वे उसे चंद्रलोक में ले जायँगे। बड़ी आफ़त है; भीतर-बाहर, नीचे-ऊपर कहीं उसके रक्षा का उपाय नहीं है। यहाँ तक कि कमल में यदि उसे छिपाकर रखिए, तो मकरंद के लोभी मलिंद नहीं मानेंगे। इससे आप इसे अपने साथ ही रक्खें।

धन्य! देवजी धन्य!! तुमने काव्य-चातुर्य की पराकाष्ठा कर दी। प्रतिभा के पैंठ में पैठकर तुमने जिन रत्नों को सुसज्जित किया है, वे अमूल्य हैं। शब्दों की स्वाभाविकता, भावों की प्रवणता, भाषा की मधुरता, उक्ति की चतुरता सभी एक दूसरे से बढ़कर हैं।

बस, अब अंत में देवजी का शांतरसांतर्गत

---

* मीलित सो सादृश्य ते भेद न जबै लखाय;
अरुण बरण तियचरण पै, जावक लख्यो न जाय।

—भाषाभूषण

अर्थात्, लाल रंग के ही स्त्री के चरण हैं और जावक, महावर का भी लाल रंग है, इसलिये दोनों का एक सादृश्य होने से भेद का भान नहीं होता—संस्कृत कुवलयानंद में भी मीलित के उपर्युक्त लक्षण ही किए हैं। यथा—

"मीलितं यदि सादृश्याद्भेद एव न लक्ष्यते" यानी सादृश्य से भेद न जाना जाए। देवजी के उपर्युक्त कवित्त में मीलित-अलंकार का चमत्कार देखिए।—लेखक

ज्ञान-वैराग्य* का एक कवित्त लिखकर पाठकों से शीघ्र पुनर्मिलन की आशा के साथ बिदा लेता हूँ।

अग नग नाग नर किन्नर असुर सुर,
प्रेत पशु पत्ती कोटि कोटिनु कढ़्यो फिरै ;
माया गुन तत्त्व उपजत बिनसत सत्त्व,
काल की कला को व्यालखाल में मढ़्यो फिरै।
आपु हीं भषतु भषु आपु आपु हीं अलषु,
देव कहूँ मूढ़ कहूँ पंडित पढ़्यो फिरै ;
आपु हथियार आपु मारत मरतु आप,
आपु हीं कहाँर आपु पालकी चढ़्यो फिरै।
—भवानीविलास

उपर्युक्त छंद में यथार्थ चित्रण के साथ कवि के दार्शनिक भाव कोटिशः हृदयाभिवंदित हैं। सच-मुच देवजी ने आत्मैकत्व का अगाध ज्ञान परिमित शब्दों में भर दिया है।

हिंदी-भाषा-भाषियों के लिये वेदांत के तत्त्व-मसि वाक्य की भाँति यह छंद सतत पठनीय, मननीय एवं संस्मरणीय है। मुझे यह छंद इतना प्रिय है कि मैं इसका प्रतिदिन कई बार पाठ करता हूँ।

कुँ० हरिश्चंद्र देव वर्मा "चातक"

× × ×

* "शांतरस निर्वेद बढ़ि होत ज्ञान-वैराग" (देव) (निर्वेद) स्वशरीर एवं सांसारिक पदार्थों का तिरस्कार।— लेखक

३. रहने दो

मैं तो स्मृति के धुँधले प्रकाश पर खड़ा-खड़ा तुम्हारी किसी विस्मृति झाँकी का विचित्र चित्र खींच रहा था। आशा और अभिलाषा का लहराता हुआ आँचल का छोर छूकर निराशा के रंग से रँगी कूचियों को धोने की धुन में था, इतने में ही मेरी टूटी प्याली के किसी कोने में स्पष्ट आह का तुमने एक बूँद क्यों टपका दिया ?

मैं तो अपनी नीरव वीणा के टूटे तारों को सुलझाकर तुम्हारे किसी अज्ञात स्वागत में अनंत के राग छेड़ रहा था, इतने में ही सहसा तुमने अपना झूठा प्रलाप छेड़कर मेरे सच्चे संगीतों को क्यों दबा दिया ?

मैं तो किसी बिखरी हुई सूखी माला में एक अधखिली कली को गूँथकर बहुमूल्य उपहार बनाने में मस्त था, सहसा तुमने उसे वायु के एक मृदुल झोंके से क्यों गिरा दिया ?

चारों ओर ऊषा की लाली अंशुमाली के आगमन की सूचना दे रही है, परंतु मेरे संसार में तो अभी नक्षत्रों ने जगमगाना तक नहीं प्रारंभ किया। किसी आनंद से आनंदित होकर पक्षी अपने कलरव में लगे हैं, परंतु मेरे छोटे-से संसार में तो अभी पक्षियों ने मधुर झपकियाँ तक नहीं लीं।

रहने दो प्यारे! मुझे इस निराशा में ही आशा है, इस वैराग्य में ही राग है, इस घोर अंधकार में ही तुम्हारे प्रकाश की एक किरण की झलक है, इस पीड़ा में ही मधुर मिठास है।

त्रिभुवनशंकर त्रिपाठी

× × ×

४. अभिलाषा !

उर-अंतर में व्यथा निरंतर,
बढ़ती जाती प्राणाधार।
विषम-वेदना से व्याकुल हूँ,
लगता है यह जीवन भार॥
प्रतिपल जलती ही जाती हूँ,
हुआ मुझे पावक संसार।
हृदय चीरकर देखो प्रियतम!
करती हूँ मैं कितना प्यार॥
मन-मंदिर में मूर्ति तुम्हारी,
रखती हूँ मैं हे प्रियवर!
नाथ! मुझे कृतकृत्य करो अब,
नेह-नीर से नहला कर॥

चतुर्भुज माहेश्वरी "चतुर"

× × ×

५. मानी

काहे घनश्याम रहो रूसे सबै याम तुम,
राम, राम, पानी नहीं पाहन समान हो;
लोगन समाई कैसे, लाओ हरियाई साथ,
बरसे सदाई मेरे जान तौ कृसान हो।
जानति हौं—निठुराई पघराई बुंद-बुंद,
करत "गिरीश" बघराई क्यों गुमान हो;
झरसी किते ही भूमि तरसी नितैही रहै,
बरसी चितै ही मैं न आनत ये आन हो।

गिरिजाशंकर मिश्र "गिरीश"

× × ×

६. अपना सुख

अंशुमाली ! तुम्हारी यह हँसी हमें इस समय विष-सी लगती है। पहले तो किसी भले आदमी के घर में वातायन में होकर झाँकना ही निंद्य है और उस पर भी भीतर हाथ बढ़ाकर मुझे निद्रादेवी की सुखमयी गोद से बलात् खींचना निंद्यातिनिंद्य है। तुम समझते हो कि निद्रा की गोद छोड़ने का समय हो चुका, हो सकता है, परंतु रजाई की गोद छोड़ने के लि

तो अभी देर है। थोड़ी देर हुई थी कि मूर्ख मुर्गों ने कुहराम मचा दिया था, पृथ्वी सिर पर उठा ली थी। बस, उसी समय से निद्रा मुझे छोड़ न-जाने कहाँ चली गई। मैं उसके वियोग से कातर हो उसके आराधनास्थल ही में उसका आवाहन कर रहा था कि तुमने आकर बाधा डाल दी। सारा गुड़ मिट्टी कर दिया।

ए, यह क्या? बढ़ते ही आते हो, मानोगे नहीं। मुझे उपदेश देते हो कि 'यह अति रमणीय प्रातः-काल है, इस समय शीतल मंद सुगंध वायु संच-रित हो रही है।' वाह! निरे भोंदू हो। रमणी-यता तो कोरी मानसिक कल्पना है। जिस रमणीयता का आनंद निठल्ले कवि प्रातःकाल के प्राकृतिक दृश्य में प्राप्त करते हैं, उस आनंद का चाचा तो अपने राम रजाई में लपटे हुए करवटें बदलने में ही पा जाते हैं। रही शीतल वायु की बात, यह तो कोई महा अबोध भी न कहेगा भला शीत-ऋतु में शीतल वायु तो वही चाहेगा, जिसका जी इस संसार से ऊब गया हो। यहाँ चाय के पैसे ता कोट-पैंट में घुस जाते हैं, फिर सवेरे-सवेरे रजाई में चक्कर काटती हुई जठराग्नि द्वारा उष्ण की गई वायु ही आधार रह जाती है।

तो क्या हठ करते ही जाओगे? मेरे दुर्बल शरीर पर उपहासपूर्ण व्यंग्य करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती। शरीर दुर्बल है, तो क्या? है तो मानुषी ढाँचा। मोटे शरीर से क्या बोझा ढोना है? मुझमें शक्ति कितनी है, यह तुम नहीं जानते? जिस समय मैं टाइटोप को अपनाकर चाटुकारिता का एक मंत्र पढ़कर फेंकता हूँ, उस समय अच्छे-अच्छे भी उल्लू बन जाते हैं और ऐसे-वैसों को तो भयावने विदूषक का मेरा वह स्वाँग ही पर्याप्त है।

अच्छा, तुम तो सिर पर ही चढ़े आते हो। कहते हो 'ईश्वर का ध्यान करो, भारत-जननी के उद्धार का प्रयत्न करो, इत्यादि-इत्यादि न-जाने क्या-क्या अंडबंड बक रहे हो। ठीक है, सारे आनंद को छोड़कर ऊटपटांग बातों में लग जायँ। ईश्वराराधना के लिये क्या हमीं रचे गए थे? क्या यह भी सरकारी बेगार है कि करना ही पड़े? क्या ईश्वर में इतनी भी विचारशक्ति नहीं कि हम-ऐसे महानुभावों को व्यर्थ में तंग न करें? और फिर भारत, भारत से मुझे संबंध ही क्या? उद्धार हो या रसातल को चला जाय, हमें तो सोने से काम। हाँ, अप-टू-डेट बनकर बाल सँवारने की चिंता अवश्य है। सो उठते ही पहले यह काम कर लेंगे, फिर हाथ-मुँह धोने की देखी जायगी।

कुछ समझे कि नहीं? बस, अब और अधिक तंग न करो। हाँ, तो मुझ-सरीखे सच्चे भक्तों की आश्रयदाता निद्रादेवी! मुझे एक बार फिर कुछ काल के लिये अपनी गोद में उठा ले; हे मेरी परम सहचरी रजाई, तू मेरे मुँह तक के ऊपर आकर इस ढीठ दिवाकर को हटा दे; हे मेरे वातायन के कपाटरूपी पहरेदार, तुम लपककर इस अनधिकारी को यहाँ से निकाल बाहर कर दो; हे मेरे आलस्यदेव, दुर्बल शरीर, टाइटोप, चश्मा आदि, मेरी लज्जा तुम्हारे हाथ में है; अंत में, हे मेरे चाटुकारितारूपी गुरु मंत्र, तेरी ही सर्व-शक्तिमत्ता का मुझे भरोसा है।

शंकरसहाय वर्मा

× × ×

७. लज्जा से

आज तोड़ दूँगी मैं लज्जे!
तेरे सभी जटिल बंधन--
विरह-व्यथा से हो व्याकुल!

कितना अब तक झुलस चुकी हूँ
हृदय-दाह के तापों से,
कितनी कठिन वियोग-यंत्रणा
सही, हाय ! किन पापों से ;
अब न रुकेगा, प्रेम-वेग !
अति प्रबल, उमड़ करता गर्जन—
टूटा, लोक-लाज का पुल !
अगणित आशा-दीप प्रज्ज्वलित
हो, बुझ जाते अपने-आप ;
कितने भाव-कुसुम खिलखिलकर
हाय ! सूख जाते चुपचाप।
अवगुंठन-पिंजर में बंदी
अब न रहेंगे दृग-खंजन—
विना रूपरस पिए मृदुल !
व्यंग्य-शरों की सहन-तपस्या का,
प्रतिफल कब पाऊँगी ?
सजनि ! शशी-सी बन कलंकिनी
कब उर-दाह मिटाऊँगी ?
किस विधि जीवन धरे मयूरी
बिन देखे शुठि श्यामल घन ?
विना खिलाए मनोमुकुल !
अलियों का अंगुलि-उत्तोलन !
प्रमदाओं का भ्रू-संचार,
भीतर व्यथा, अवज्ञा बाहर
घृणा, भर्त्सना, हाहाकार ;
सजनि ! तुम्हीं रख हाथ निहारो
इस भोले दिल की धड़कन—
डसती है, वेदना विपुल !

हृदयनारायण पांडेय "हृदयेश"

× × ×

८. तिब्बत की कुछ विचित्र रीतियाँ *

वर्तमान समय में तिब्बत में जो धर्म प्रचलित है, वह बौद्ध-धर्म से भिन्न है। उस देश में भूत-प्रेत-पूजा (Devil worship) ही अधिकांश में मानी जाती है, यद्यपि इसके कुछ नाम बौद्ध-धर्म की पुस्तकों से मिलते हुए हैं। तिब्बत के निवासियों के लिये प्रत्येक स्थान इन अलौकिक दुष्टात्माओं की निवास-भूमि है। इस देश में ग्राम के द्वार पर, जहाँ किसी नदी या नाले पर कोई पुल हो, या किसी पहाड़ी मार्ग के सिरे पर ध्वजा-पताका की एक श्रेणी दृष्टिगोचर होगी अथवा प्रार्थना का ऊँचा बाँस (डंडा) दिखाई देगा। मार्ग के प्रत्येक मोड़ पर दुष्टात्माओं की प्रसन्नता के लिये कुछ शांति-पाठ अथवा भेंट करना आवश्यक है। कुएँ, झील और नाले इन भूत-प्रेतों से भरे हुए हैं, जो कि लामाओं के नियमों के उल्लंघन होने पर अपना क्रोध जल में बाढ़ कर देने या ओलों को वर्षा से प्रकट करते हैं। प्रत्येक मार्ग या द्वार इसी प्रकार के भय के कारणों से युक्त है। इन दुरात्माओं की निवृत्ति केवल प्रार्थना या स्तुति से ही नहीं हो सकती है, जब तक कि लामा (तिब्बत का पुजारी) अपनी स्वीकृति प्रदान न कर दे। कोई नया कार्य, किसी मकान का बनाना, किसी नए पहिए का चलाना आदि कार्य इन धर्म-गुरुओं की आज्ञा बिना नहीं हो सकता है। इसके लिये केवल द्रव्य देना ही पर्याप्त नहीं है, परंतु उनके लिये बिना मज़दूरी कार्य भी करना पड़ता है, जो बेगार से भी अधिक कष्टदायक है।

घर के द्वार पर चार वस्तुएँ अवश्य होनी चाहिए— (१) प्रार्थना का ऊँचा डंडा या बाँस (२)। मिट्टी का एक टूटा हुआ चा का पात्र जिसमें एक प्रकार की सस्ती धूप जलाई जाती है, जिसकी गंध से दुष्टात्मा (भूत-प्रेत) भाग जाते हैं। (३) एक जाल रस्सियों का बुना हुआ जो कि तिनकों या एक प्रकार की घास से बने हुए डोरों से हिलाया जा सके, जो कि एक कुत्ते या मेंड़ के मस्तक के ऊपर के भाग पर लगा रहता है, जिसमें नेत्रों के स्थान पर काँच के टुकड़े लगाए जाते हैं। उन लोगों का यह विश्वास है कि इस प्रकार की आकृति से उस गृह में रहनेवाले, रोगों को उत्पन्न करनेवाले दुष्ट जीव खिंच-कर उस स्थान पर आ जाते हैं और शीतला या चेचक का रोग (small-pox) तो वहाँ हो ही नहीं सकता जो तिब्बत में बहुत फैलता है। चौथा स्वस्तिक (卍) का श्वेत या नीला चिह्न-विशेष, जिस पर सूर्य और चंद्रमा के भद्दे चिह्न बने रहते हैं। मार्ग पर कहीं-कहीं पत्थरों के ढेर लगा दिए जाते हैं। उन लोगों का यह विश्वास है कि जाते समय इनको बाएँ हाथ की तरफ़ रखना चाहिए, इससे भी उन दुष्ट जीवों का शमन होता है। कहीं-कहीं चौड़े पत्थर के टुकड़ों पर कुछ मंत्र खुदे हुए होते हैं। ग़रीब मनुष्यों के झोपड़ों की दीवारों पर पीले अभिमंत्रित काग़ज़ मढ़ दिए जाते हैं। लोग जब बाहर जाते हैं, तब गले में एक छोटी-सी पेटी लटकाते हैं, जिसमें मिट्टी की एक छोटी मूर्ति, कुछ मंत्रित गेहूँ के दाने और दो-तीन लिखित मंत्र रहते हैं। इनमें किसी-किसी में कुछ गोलियाँ भी होती हैं, जो कि उनके धर्मगुरु (Rinpoche) रिनपोक की भस्म का चिह्न समझा जाता है। इन सबके लिये उन लोगों को लामाओं को कुछ दक्षिणा देनी होती है। इस कथन से अत्युक्ति न होगी कि तिब्बत की संपत्ति का उपभोग प्रायः लामा ही करते हैं।

तिब्बत के निवासी पुनर्जन्म को मानते हैं। इनके सर्व-प्रधान लामा ने, जिसको दलाई लामा (Dalai Lama) कहते हैं, यह बात निर्धारित की कि लामाओं के धर्म का सुधारक सांग कपा (Tsong-Kapa) दूसरे जन्म में रूस का ज़ार (Tzar) सम्राट् हुआ। यद्यपि उसने यह राजनैतिक कारणों से किया था, तथापि इसका उस देश के निवासियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उस सम्राट् के प्रति उनके भाव आदर के हो गए। महारानी विक्टोरिया (Queen Victoria) को भी वे अपनी एक देवी का अवतार मानते थे।

तिब्बत की एक विचित्र प्रथा यह है कि स्त्री अपने पति के भाइयों को भी अपना पति ही समझती है। इस अद्भुत रीति से वहाँ किसी प्रकार का विवाद या उत्पात पारिवारिक जीवन में नहीं होता। उनका जीवन वैसा ही शांतिमय और सुखमय होता है, जैसा कि अन्य देशों में होता है।

---

* परसीवल लैंडन (Perceval Landon)-रचित तिब्बत ल्हासा (Lhassa) का वृत्तान्त-नामक पुस्तक के आधार पर लिखित।

यदि एक परिवार में तीन लड़के हैं, तो ज्येष्ठपुत्र घर के कामकाज को देखेगा और घर पर रहेगा, दूसरा पुत्र भेड़ों और पशुओं को चराने के लिये ले जायगा और तृतीय पुत्र लामा बनेगा। इस कारण दो भाई एक स्थान पर बहुत कम मिलते हैं और वह स्त्री यह निश्चय करती है कि किस समय किसके पास रहेगी। घर के कामकाज का भार गृहपत्नियों पर ही निर्भर है। वे अपने घर की वस्तुओं को अपने पति की अनुमति प्राप्त किए बिना बेच सकती हैं या ख़रीद सकती हैं। इनमें से कतिपय रूपवती भी होती हैं।

इस देश की भाषा न जानने के कारण और इन लोगों के पृथक् रहने के कारण इनके गृह-जीवन के विषय में हम अधिक नहीं जानते हैं।

तिब्बत में चा भी छोटे-छोटे टुकड़ों (ईंटों) में रक्खी जाती है। चा की पत्तियाँ एक प्रकार के गोंद से चिपका दी जाती हैं। अँगरेज़ लोग जिस प्रकार दूध डालकर चा बनाते हैं या चीनवाले जिस प्रकार सुगंध-युक्त द्रव्य डालकर चा बनाते हैं, उस प्रकार तिब्बतवाले चा नहीं बनाते। उस चा के टुकड़े में से एक छोटा टुकड़ा काटकर एक पात्र में पानी गर्म करके उसमें चा डाल दी जाती है। फिर उसको एक बाँस के पात्र में डालकर नोन (लवण) उसमें मिलाया जाता है। फिर इसमें थोड़ा-सा मक्खन डालकर उसको हाथ से हिला देते हैं। तब वह पीने के योग्य हो जाती है। चा पीने के पश्चात् वे एक प्याले (पात्र) में उबले हुए अंडे रखते हैं। इनको वे बड़े स्वाद से भोजन करते हैं। इनके साथ कुछ रोटियाँ (चपातियाँ) भी खाते हैं, जो कि नर्म होती हैं और अंत में कुछ मांस के टुकड़े, जो कि कचौड़ी के समान तले हुए होते हैं, खाए जाते हैं। मिठाई भी २०-२२ प्रकार की तैयार की जाती है। सबके अंत में एक प्रकार की मदिरा (Wine) का पान होता है, जो कि ह्विस्की (Whiskey) से मिलती हुई होती है।

ये लोग कठिन शीत के कारण स्नान बहुत कम करते हैं, विशेषकर नीची श्रेणी के मनुष्य बहुत मैले और गंदे होते हैं। तिब्बत की स्त्रियाँ यात्रा बहुत कम करती हैं। जब वे बाहर जाती हैं, तो अपने शरीर को एक चद्दर या कम्बल में ढक लेती हैं, जिससे दूर से पहचानना भी कठिन हो जाता है। तिब्बत के निवासी अतिथि का सत्कार बहुत करते हैं और इनका आचरण भी सीधा, सरल और अंतःकरण दयार्द्र होता है।

ब्रह्मदत्त मिश्र

× × ×

६. हृदय

(१)

हृदय तुम वस्तु क्या हो और रचना क्या तुम्हारी है;
तुम्हारी रीति तो देखी, जगत् में सबसे न्यारी है।
सुना है, तुमसे वंचित होके, नृप बनते भिखारी हैं;
तुम्हारी शान कहते हैं, कि दुनिया से निराली है।

(२)

नहीं मालूम तुम प्रस्तर-रचित हो या कि फूलों से;
कि या नवनीत से, जल की तरलता से, कि शूलों से।
मधुर पयपूर्ण हो ! जुड़ते न, जो एक बार फट जाते;
हृदय सच-सच बता दो, जान पाते, हम न, थक जाते।

(३)

तुम्हें देखा निठुर ! मैंने सिसकतों पर विहँसते भी;
साथ में रोनेवालों के, सदय ! रोकर हिचकते भी।
प्रथम होकर परुष फिर मोम बन जाते तुम्हें देखा;
कुपित आतप से, शीतल सोम बन जाते तुम्हें देखा।

(४)

अचलता भी तुम्हारी मेरु-जैसी देख पाते हैं;
मगर—विद्युत्मयी गति, क्या तुम्हारी भूल जाते हैं।
कहो, फिर किस तरह तुम रंग अपने यों बदलते हो;
तरंगों की तरह भावों की सरिता पर मचलते हो।

(५)

न भीषण वज्रपातों से कभी तुम खिन्न होते हो।
हृदय ! क्योंकर कहो फिर पुष्प-शर से छिन्न होते हो!
धड़कते हो प्रतिक्षण, किस तरह तुमको अचल मानें;
जो मानें भी, तो कैसे, तुम अमरते क्षण में मनमाने।

(६)

अचल चंचल परुष कोमल अमृतमय औ गरल तुम हो;
हो वक्षस्थल के कोने में, मगर सीमा-रहित तुम हो।
तुम्हारी देख लीला सब, सविस्मय, मुग्ध होते हैं;
तुम्हीं को भेंट देते हैं, तुम्हीं पर लुब्ध होते हैं।

* * *

तुम्हारा तत्व क्या है आज तक, जाना नहीं मैंने ;
तुम्हें पाया तो, पर अफ़सोस, पहचाना नहीं मैंने।

रमारानी माथुर

× × ×

१०. श्रांत पवन

मलयानिल ने कहा लता से
थका हुआ हूँ मैं अविराम।
अपने मंजुल मृदुल कुंज में
दोगी क्या मुझको विश्राम ?
किंतु लता ने शीश हिलाकर
कहा—"यहाँ विश्राम नहीं।"
तब निराश होकर मलयानिल
मन मारे चल पड़ा कहीं।

शांतिप्रिय द्विवेदी

× × ×

११. प्रभात

विजन प्रांत में—
अलि ! इन कुमुदों के अधरों पर
शुभ्र विहरणी यह मुस्कान
कम्पित अधरों से ऊषा का
प्रिय, क्यों करती है आह्वान ?
शत-शत खंडों में फैला है
किसी अचेतन का संसार ?
स्वर्णमयी अवनत किरणों में—
आँखमिचौनी खेल रहा है,
छाया का नन्हा आकार !
चंचल सरिता वक्ष मुकुर में—
क्यों डबडबा रहा संसार ?
मौन निमंत्रण भेज रहा है
मेरे पागलपन का भार !
बकुल-पंक्तियाँ बुला रही हैं
विजन तटों से किसे कुमारि ?

नव समीर के हत्कंपन में,
थिरक रहा मेरा नव प्यार।

रमाशंकर जैतली "विश्व"

× × ×

१२. निर्धन छात्र और छात्रवृत्तियाँ

आजकल छात्रों की आर्थिक अवस्था संतोष-जनक नहीं है। बहुत-से निर्धन छात्र किसी-किसी तरह ट्यूशन या और किसी प्रकार से अपने खर्च का प्रबंध करके पढ़ रहे हैं। संतोष की बात है कि कई एक उपकारी सज्जनों ने या संस्थाओं ने 'स्कालरशिप' और 'फ्री स्टुडेंटशिप' प्रदान करके इन ग़रीब छात्रों की सहायता करने का प्रयत्न किया है।

आज हम अपने इस नोट में यही विचार करेंगे कि इनसे ग़रीब विद्यार्थियों को कितना लाभ हुआ है। आज प्रायः प्रत्येक स्कूल और कालेज में फ्री स्टुडेंटशिप दिए जाते हैं। ग़रीब विद्यार्थियों के लिये Poor boys' fund खुला हुआ है। पर जो विद्यार्थी इन सौभाग्यों का भोग करते हैं, उनमें से कितने इसके यथार्थ योग्य हैं ? जहाँ तक मेरा अनुमान है, २५% ही ऐसे निकलेंगे, शेष ७५% तो ऐसे हैं, जो अच्छी तरह से अपना निर्वाह कर सकते हैं। ये उन बेचारे ग़रीब छात्रों का हक़ छीन लेते हैं, जो सहायता के अभाव में या तो पढ़ना छोड़ देते हैं या यदि पढ़ते भी हैं, तो उन्हें वह दुःख उठाना पड़ता है, जिसकी कल्पना भी उन विद्यार्थियों को नहीं है, जो उनका हक़ छीनकर उसे सिगरेट-पान या ऐसे ही कार्यों में फूँक देते हैं। तो इस प्रकार की सहायता में से ग़रीब छात्रों को क्या मिलता है ? यह प्रत्यक्ष है और यदि अधिकारीगण जाँच करेंगे,

तो विना खुले न रहेगा कि स्टुडेंटशिप पानेवाले सैकड़े पीछे ७५ घर के अच्छे हैं। मैं तो कई एक ऐसे विद्यार्थियों को जानता हूँ, जिन्हें फ़्री स्टुडेंट-शिप और स्कालरशिप-ट्रस्ट से सहायता मिलती है और वे घर के बहुत अच्छे हैं। एक बार रुपया मिला और एक २५) का कोट या एक सूट सिल गया या बाज़ार की सैर में खर्च कर साथियों से वाहवाही लूट ली। और उन्हीं विद्यालयों में कितने ऐसे विद्यार्थी पड़े हुए हैं, जिनके लिये खाने का कोई ठिकाना नहीं है।

यही हाल किसी व्यक्ति या संस्था की सहायता के विषय में भी है। ये सहायताएँ सिफ़ारिश पर ही मिलती हैं, इसमें तो संदेह नहीं। अब निर्धन विद्यार्थियों को ऐसी सिफ़ारिश मिले, तो कहाँ से ? जिन व्यक्तियों की सिफ़ारिश आवश्यक है, वे उन्हें या तो द्वार पर से ही कुत्तों की भाँति दुत्कार देते हैं या कहते हैं कि मैं तुम्हारी सिफ़ा-रिश कैसे करूँ ? मैं क्या जानता हूँ कि तुम कौन हो ? और कैसे हो ? मैं तुम्हारी सिफ़ारिश नहीं कर सकता। चलिए साहब, बेचारे निर्धन विद्यार्थी तो अपना-सा मुँह लेकर लौट आए। अब वे प्रतिष्ठित व्यक्ति यदि किसी की सिफ़ारिश करेंगे भी, तो उन्हीं की, जो या तो स्वयं उनके परिचित हों या परिचितों के परिचित हैं। इस प्रकार यथार्थ में योग्य छात्रों के लिये जो सहायता रक्खी गई है, उसे प्रतिष्ठित व्यक्तियों के परिचित लोग ठाट से उपभोग कर रहे हैं।

क्या इस विषय पर ऐसी सहायता देनेवालों का ध्यान कभी जायगा ?

बब्बनप्रसादसिंह

× × ×

१३. वैशाली का अशोक-स्तंभ

प्राचीन भारतीय इतिहास में अशोक-काल बड़े महत्त्व का है। अशोक विलक्षण सम्राट् था। केवल एक कलिंग युद्ध के बीभत्स व्यापारों ने उसके हृदय को विह्वल कर दिया था। घोर संग्राम की प्रलयकारी मार-काट और लोमहर्षण करुण दृश्यों को देख, वह अशांत हो उठा। अनुताप की कड़वी ज्वाला शांति के लिये बद्ध-परिकर हुई। अशोक को वह शांति बौद्ध-भिक्षु उपगुप्त के द्वारा, बौद्ध-धर्म की दीक्षा के रूप में मिली। वह फूला न समाया। बौद्ध-धर्म की बारीकियों पर वह निछावर हो गया। भगवान् बुद्ध के प्रति उसकी श्रद्धा-भक्ति के भाव उमड़ पड़े। उसने युद्ध से संबंध रखनेवाले स्थानों के पर्यटन करने की उत्सुकता प्रकट की। उपगुप्त बुलाया गया, और उसी के साथ वह तीर्थ-यात्रा के लिये निकल पड़ा।

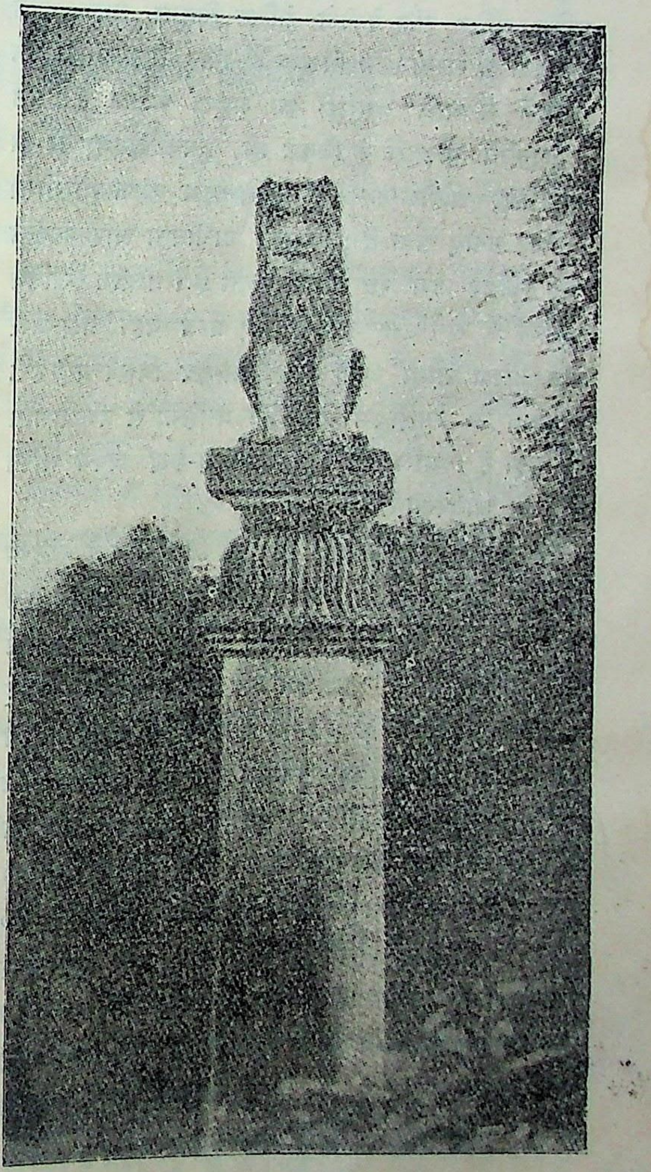
पाटलिपुत्र से चलकर वर्तमान मुज़फ़्फ़रपुर ज़िला एवं चंपारन होता हुआ वह नैपाल की तराइयों तक पहुँचा। सबसे पहले उसने बुद्ध की जन्मभूमि लुम्बिनी-वाटिका का दर्शन किया। फिर कपिलवस्तु गया। इसके बाद उसने बुद्ध-गया, सारनाथ, श्रावस्ती, कुशीनगर इत्यादि स्थानों का भ्रमण किया।

अशोक-जैसे निर्माता—(Builder) सम्राट् ने शायद ही संसार के किसी भू-भाग पर शासन किया हो। फिर, इस अवसर को वह व्यर्थ ही क्यों जाने देता ? उसने इस यात्रा में पड़े हुए, प्रत्येक प्रसिद्ध स्थान पर स्मृति-चिह्नों का निर्माण कराया। वैशाली, अरराज, लउरिया, नंदनगढ़, रमपुरवा, लुम्बिनी-वाटिका तथा सारनाथ प्रभृति स्थानों पर उसने विशाल-विशाल स्मृति-स्तंभ बनवा दिए। लेकिन इन्हीं स्तंभों को लोगों ने अब अशोक-स्तंभ का नाम दे दिया है। इनमें से कई तो आज धराशायी हैं, कई खंडित हैं, मगर कई आज तक अखंडित ज्यों-के-त्यों खड़े हैं। आज पाठकों से इन्हीं में से एक वैशाली के अशोक-स्तंभ के विषय में कुछ कहूँगा। बड़े आश्चर्य की बात है कि इतने महत्त्व की चीज़ होने पर भी यह प्रायः ऐतिहा-सिकों की दृष्टि से अदृश्य ही रह जाता है। इसका उल्लेख बड़ी-बड़ी इतिहास-पुस्तकों में ही है। हिंदी में तो शायद ही किसी ने इस विषय में कुछ लिखा हो।

विशेषतः इन्हीं कारणों से इस छोटे-से लेख द्वारा वैशाली तथा उसके अशोक-स्तम्भ का याद दिलाया जाता है।

प्राचीन भारत का वैशाली एक प्रसिद्ध साम्राज्य था। यहाँ के आदि निवासियों को 'लिच्छवि' कहते हैं। यों तो उनका निवास-केंद्र सारा वर्तमान मुज़फ़्फ़रपुर-ज़िला था (जिसे उस समय वृज्जि-प्रदेश कहते थे) लेकिन उनकी राजधानी वैशाली में थी। पाँच-छः कोसों में फैला हुआ यह नगर अत्यंत ही प्रसिद्ध तथा समृद्ध था। लिच्छवियों के शासक भी यथेष्ट शक्तिशाली हुआ करते थे। इन्हीं वीर बाँकुरों के आक्रमण के अवरोध के लिये अजातशत्रु को पाटलिग्राम में एक दुर्ग बनवाना पड़ा था। अजातशत्रु की माता भी इन्हीं लिच्छवियों की राजपुत्री थी। प्राचीन काल के भारतीय प्रजातंत्र राज्यों में भी वैशाली एक था और इसके बहुत पीछे, फिर भी खृष्टाब्द से सात-सौ वर्ष पहले, भारत के प्रधान-प्रधान नगरों में वह गण्य-मान्य था। उसकी कीर्त्ति-लतिका पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हो चुकी थी। वह धन-धान्य से भरा-पुरा एक महत्त्वपूर्ण नगर था। कुछ समय तक वैशाली मगध की राजधानी भी रहा। सारांश यह कि भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास में वैशाली का एक विशेष स्थान है और वह भी आदरणीय तथा गौरवपूर्ण। लेकिन अजातशत्रु ने इसकी स्वतंत्रता नष्ट कर दी। परतंत्र वैशाली अपनी महत्त्व-माधुरी खोने लगा। परंतु फिर भी इसकी प्राचीन कीर्त्ति-कथा किसी भी प्राचीन साम्राज्य से कम प्रसिद्ध तथा गौरवास्पद ही नहीं, किंतु और भी आदरणीय तथा गौरव-पूर्ण है। महावीर वर्द्धमान की जन्मभूमि होने का गौरव वैशाली ही को है। वैशाली भगवान् बुद्ध के पवित्रतम पद-पद्मों से भी पवित्र हो चुका है। बौद्धों की द्वितीय महासभा की बैठक भी वैशाली में ही हुई थी। कहाँ तक कहा जाय? एक तो प्राचीन भारत के इतिहास का संक्षिप्त ब्योरा ही उपलब्ध है, फिर भी यदि वैशाली का प्राचीन इतिहास लिखा जाय तो एक अच्छा-सा ग्रंथ तैयार हो जाय। मगर यहाँ तो केवल वैशाली का संक्षिप्त परिचय मात्र देना है। विशेषकर इसी कारण से अब बहुत कुछ छोड़कर भी उसकी वर्तमान अवस्था की ओर आना पड़ता है।

मुज़फ़्फ़रपुर (बिहार-प्रदेश) से प्रायः २० मील की दूरी पर आजकल वैशाली खँडहरों के रूप में पड़ा है। मीलों तक विश्रृंखलित खँडहर अपनी प्राचीन कीर्ति-कथा को रो-रोकर कहते हुए यह साफ़-साफ़ कह रहे हैं कि संसार का प्रत्येक ज़र्रा उत्थान और पतन के लिये बाध्य है। खँडहरों के निकट ही, वैशाली का अपभ्रंश 'बसाढ़'-नामक ग्राम इस बात की ठीक ही सूचना दे रहा है कि संसार भूलों से भरा पड़ा है। वैशाली के गगनचुंबी अट्टालिकाओं एवं गुंबदों के भग्नस्तूप पृथ्वी के समतली-भूत, ईंट पत्थरों का ढेर—



वैशाली का अशोक-स्तंभ

न गोरे सिकंदर न है क़ब्रे दारा,
मिटे नामियों के निशाँ कैसे-कैसे।

का ठीक ही याद दिला देती हैं। वैशाली की प्राचीन बहुमूल्य और आदर की सामग्रियाँ भू-गर्भ की शोभा बढ़ा रही हैं। लक्ष्मी खँडहरों को निवास के लिये अनुपयुक्त समझकर कब की, कहीं और चली गईं। अब न वह राम हैं, और न वह अयोध्या। केवल खँडहरों से भरे सुनसान मैदान ही शेष हैं। लेकिन नहीं, इस गई-बीती हालत में भी वैशाली का महत्त्व सहृदयों की दृष्टि में वही है। यद्यपि आज उसके वे प्राचीन राजप्रासाद, पवित्र मंदिर और पेचीले सैनिक निवास तथा अन्य इमारतों के भग्नावशेष ही शेष हैं, फिर भी उन्हीं के उन खँडहरों में आज वैशाली का महत्त्व अंकित है। इन आदरणीय खँडहरों के निकट ही, इनके हृदय पर ही समझिए, अशोक का वह स्मृति-स्तंभ आज भी गौरव से सिर उठाए खड़ा है; जिसकी प्राचीनता और भव्यता को देखकर दंग रह जाना पड़ता है। प्राचीन खंडित मूर्तियों के अंग-भंग आकार भी आज यहाँ और-और ऐतिहासिक तीर्थों की तरह यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। कलकत्ते का म्यूज़ियम यहाँ की प्राप्तियों से प्रकाशमान हो रहा है। आज भी यहाँ का कण-कण अपने गौरव के लिये आदरणीय है।

अस्तु! ऊपर जिस स्तंभ का चित्र दिया गया है, उसका निर्माता अशोक था। उसे निर्मित हुए दो हज़ार वर्ष से अधिक हो गए, फिर भी वह अभी नवनिर्मित-सा देख पड़ता है। 'पृथ्वीतल से ऊपर उसकी लंबाई ४४ फ़ीट, २ इंच है। क़रीब ६ फ़ीट, नीचे भी अवश्य ही होगा। इस तरह इसकी कुल लंबाई ५० फ़ीट हुई। इसका वज़न भी ५० टन कूता जाता है। स्तंभ के नीचे का भाग ऊपरी भाग से मोटा है। नीचे की गोलाई का व्यास ४९.८ इंच और ऊपर का ३८.७ इंच है। स्तंभ के शिखर पर ४$\frac{1}{2}$ फ़ीट ऊँचा एक सुंदर एवं विशाल सिंह की प्रतिमा स्थापित है। उसके नीचे भी ख़ूब बारीकी के साथ स्तंभ का मस्तक (Capital) बनाया गया है।' शिखर के ऊपरवाले सिंह और उसके नीचे का भाग अत्यंत सुंदर और प्राचीन भारत की कुशल कारीगरी के क़ाबिलेदीद नमूने हैं। इनकी सुंदरता के विषय में हिंदुस्थानी विद्वानों की कौन कहे, बड़े-बड़े विदेशी विद्वानों तक ने पृष्ठ-के-पृष्ठ रँग डाले हैं। वास्तव में स्तंभ देखने ही लायक़ है। विशाल और भव्य होने पर भी वह बड़ा ही सुंदर है। सारा स्तंभ चिकने पत्थर का बना हुआ, दो हज़ार वर्ष से अधिक समय से काल के घात-प्रतिघात को सहन करता हुआ आज भी बिलकुल ही अखंडित अवस्था में खड़ा है। सारांश यह कि स्तंभ अत्यंत ही पूर्ण एवं सुरक्षित (?) है। यदि कुछ नहीं है, तो एक स्तंभ-लेख! मगर अब यह कहने का भी मौक़ा नहीं रहा। कोड़ियों कीर्ति-लोलुप लाटों, ऐतिहासिकों, बड़े आदमियों (!) एवं साहबों के शुभ नाम ही आज स्तंभ-लेख की क्षति-पूर्ति कर रहे हैं।

अस्तु, उपर्युक्त स्तंभ को उसके निकटनिवासी अपढ़ ग्रामीण 'भीमसिंह की लाठी' के नाम से पुकारते हैं। कुछ बूढ़ों का यह भी कहना है कि "लाठी" मंद गति से पृथ्वी में धँसी जा रही है।

यहाँ पुरातत्त्व-विभाग की ओर से कुछ खुदाई का काम भी हो चुका है। कलकत्ते का म्यूज़ियम यहाँ की प्राप्तियों से भरा पड़ा है। लेकिन पता नहीं, यह काम आजकल बंद क्यों है।

एक बात और कहकर अब समाप्त करता हूँ और वह यह कि 'बिहार' में विहार करते समय इतिहास-प्रेमी सज्जन एक बार इस स्तंभ का अवश्य ही अवलोकन कर लिया करें। एक आदरणीय और ऐतिहासिक चीज़ के दर्शन के अलावा उन्हें एक फ़ायदा यह भी होगा कि आगे की तरह वे अपनी पुस्तकों एवं लेखों से इस स्तंभ का बहिष्कार भी न कर सकेंगे; प्रत्युत वे इसका उचित सम्मान करना सीख जायँगे।

मुज़फ़्फ़रपुर से मोटर-लारी नित्य ही 'बखरा' (Bakhira) जाती है। वैशाली रास्ते में ही पड़ता है। इस तरह यह यात्रा अब पहले की तरह कष्टकर भी न होगी।

गिरींद्रनारायणसिंह

... D. Seth, at the Newul Kishore Press, Lucknow.

سمن بغرض انفصال مقدمہ

مقدمہ نمبر ۱۰۱۲ سنہ ۱۹۳۰ع ابتدائی خفیفہ

بعدالت جناب منصف صاحب بہادر طربگنج مقام گونڈہ

رام ہرکھہ ولد پاتڈدین قوم جقال ساکن موضع بالپور جات پرگنہ و تحصیل و ضلع گونڈہ مدعی

بنام

بلکرن

بنام + بلکرن ولد ھتھیدین قوم گھروک ساکن موضع لچھمن پور جات پرگنہ و تحصیل ضلع گونڈہ مدعا علیہ

ہرگاہ مدعی نے تمہارے نام ایک نالش بابت مبلغ ۱۲۹ روپیہ ۴ آنہ کے دایر کی ہے لہذا تم کو حکم ہے کہ تم بتاریخ ۱۵ ماہ اکتوبر سنہ ۱۹۳۰ع بوقت ۱۰ دس بجے دن اصالتاً یا معرفت وکیل جو مقدمہ کے حال سے قرار واقعی واقف کیا گیا ہو اور جو کل امور اہم متعلقہ مقدمہ کا جواب دے سکے جس کے ساتھہ کوئی اور شخص ہو جو جواب ایسے سوالات کا دے سکے حاضر ہو اور جوابدہی دعوی مدعی مذکور کی کرو اور ہرگاہ وہی تاریخ جو تمہارے احضار کے لئے مقرر ہی واسطے انفصال قطعی مقدمہ کے تجویز ہوئی ہے پس تم کو لازم ہے کہ اپنے جواب دعوی کی تائید میں جن گواہوں کی شہادت پر یا جن دستاویزات پر تم استدلال کرنا چاہتے ہو اسی روز ان کو پیش کرو*

مطلع رہو کہ اگر بروز مذکور تم حاضر نہ ہوگے تو مقدمہ بغیر حاضری تمہارے مسموع اور فیصل ہوگا*

آج بتاریخ ۱۶ ماہ ستمبر سنہ ۱۹۳۰ع میرے دستخط اور مہر عدالت سے جاری کیا گیا*

جج

وقت حاضری بدفتر منصفی طربگنج مقام گونڈہ ۱۰ بجے سے ۴ بجے تک*

चित्र-सूची

१—रंगीन

२—व्यंग्य-चित्र



अध्यक्ष—श्रीविष्णुनारायण भार्गव

वर्ष ९ खंड १ | आश्विन, ३०७ तुलसी-संवत् (१९८७ वि०) | संख्या ३ पूर्ण संख्या ९९

गंगा-गौरव

(१)

सुकी बरेत गिरि मंदर मथानी करि,
ठानी इमि जाती रतनाकर मथाई क्यौं ;
यौ राहु बंचक क्यौं रंचकहिं लाहु काज,
होती आज लौं यौं चंद-सूर की गहाई क्यौं ।
सुधुनि धार पहिलैं ही जो पधारती तौ,
पारती सुरासुर मैं लालच लराई क्यौं ;
पीते चितचीते सबै सानँद अघाय घाय,
रहती सुधा की बसुधा मैं कृपिनाई क्यौं ।

(२)

धारे लेति लीन करि पातक पहार पीन,
जारे देति कुमति-कुबास-छत-छानी है ;
कहै रतनाकर ज्यौं धूरि उधराए देति,
चूरि करि भूरि दोष-दारिद-गलानी है ।
ढाए देति अटल समाधि आधि-व्याधिनि कौं,
सपदि बहाए देति बिपति निसानी है ;
गंग यह रावरी तरंग परमालय है,
पावक है पौन है पृथी है किधौं पानी है ।

"रत्नाकर"

वाल्मीकीय रामायण

(१)

वाल्मीकीय रामायण कब का और किसका लिखा हुआ ग्रंथ है

यह बताना अनावश्यक है कि श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरित-मानस को भक्ति-भाव से लिखा है । उसमें इतिहास की खोज करना व्यर्थ है । मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचंद्रजी महाराज की ऐतिहासिक कथा जानने को श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण पर दृष्टि जाती है । कहा जाता है कि वाल्मीकीय रामायण आदि-काव्य है । पर वर्तमान वाल्मीकीय रामायण के देखने से मालूम होता है कि वह हाल का ग्रंथ है । वर्तमान वाल्मीकीय रामायण को मैं हाल का ग्रंथ क्यों कहता हूँ, इसके लिये बहुत छानबीन करने की आवश्यकता नहीं है । उसके दो-चार सर्गों ही से इसका पता चल जाता है । अयोध्याकांड के १०६वें सर्ग में जाबालि-ब्राह्मण से रामचंद्रजी कहते हैं 'बुद्धमतावलंबी पुरुष को और उसके मत के माननेवाले मनुष्य को भी नास्तिक समझना चाहिए । राजा को ऐसे मनुष्य को वह दंड देना चाहिए, जो चोर को दिया जाता है और पंडित ब्राह्मण को चाहिए कि ऐसे मनुष्य से भाषण भी न करे' । सुंदरकांड के २२वें सर्ग में रावण को कहा गया है कि 'श्मशान और बौद्ध-मंदिर के तुल्य भयंकर देख पड़ता था' । उत्तरकांड के ७६वें सर्ग में एक 'सर्वार्थ-सिद्ध-नामक भिक्षुक' की शिकायत एक कुत्ते ने रामचंद्र से की है । इन बातों से स्पष्ट है कि यह ग्रंथ भगवान् बुद्ध के पीछे का लिखा हुआ है ।

इस ग्रंथ के लेखक महर्षि वाल्मीकि नहीं हो सके । वे रामचंद्रजी के समकालीन थे । राम के घर से निकाले जाने पर सीता देवी ने उनके आश्रम में आश्रय पाया था । मगर उत्तरकांड के ८७वें सर्ग में वर्णन है कि 'सत्ययुग में तो सत्धर्म में लोगों की तत्परता स्वभाव ही से थी । अब त्रेतायुग में ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही तपस्या करने लगे । द्वापर में अधर्म और असत्य दोनों बढ़ने लगे । तीसरा वर्ण भी तपस्या करने लगा । क्रम से तीनों वर्ण तपस्वी हुए । शूद्र इन तीनों से अलग रहा । परंतु कलयुग में शूद्र भी तपस्या करता है । इससे स्पष्ट है कि यह पुस्तक कलयुग की लिखी हुई है ।

महर्षि वाल्मीकि ने रामचरित्र पर एक काव्य लिखा था, जिसको लव और कुश ने कंठस्थ करके महाराज रामचंद्र को सुनाया था । वह एक छोटा-सा काव्य होगा और उसके आधार पर वर्तमान वाल्मीकीय रामायण लिखी गई है, जैसा कि तुलसीकृत रामायण का आधार इसको कहा जा सकता है । यह ग्रंथ 'वाल्मीकीय रामायण' वह काव्य नहीं हो सकता जो लव-कुश ने रामचंद्रजी को सुनाया था । यदि यह वही काव्य होता, तो इसमें यह बखान कहाँ से आ जाता कि लव-कुश ने उसे रामचंद्रजी को सुनाया ? उत्तरकांड के १०७वें सर्ग में लव-कुश के कथा सुनाने का पूरा वृत्तांत है और वे रामचंद्रजी के पूछने पर कहते हैं 'महाराज, इस काव्य को भगवान् वाल्मीकि मुनि ने बनाया है' । इसी प्रकार लव-कुश के मुँह से कथा सुनने के अनंतर रामचंद्रजी ने सीताजी को बुलवाया था, इसका भी वर्णन वर्तमान वाल्मीकीय रामायण में उपस्थित है । उत्तरकांड के १०८, १०६ और ११० सर्ग में सीताजी का आकर पृथ्वी में समा जाने तक का वृत्तांत दिया हुआ है । १२२ और १२३ सर्ग में महाराज रामचंद्र के स्वर्ग-वास तक का समाचार आ गया है । फिर कैसे माना जावे कि यह वह काव्य है, जिसे उन्होंने अपने राज्याभिषेक के समय अपने पुत्रों के मुख से सुना ? उत्तरकांड के ८४वें सर्ग में आता है कि 'भोजन कर चुकने पर वाल्मीकिजी के आश्रम में शत्रुघ्न ने द्वारा रामचंद्र के चरित का मधुर संगीत सुना । रामचंद्र ने जो-जो कार्य कर चुके थे, उन्हीं का गीतों में वर्णन था । भला उन्हीं गीतों में—यदि यह वही हैं तो—यह कहाँ से आ जाता कि शत्रुघ्न ने भोजन करने के उपरांत उ

सुना था! तात्पर्य यह कि यह वह काव्य नहीं, जिसे वाल्मीकिजी ने बनाया था।

लंकाकांड का १३०वाँ सर्ग कहता है—'भगवान् वाल्मीकि ने इस आदि-काव्य का वर्णन अपने मुँह से किया है'। उत्तरकांड का १०७वाँ सर्ग कहता है—'इस काव्य को भगवान् वाल्मीकि मुनि ने बनाया है'। इसी कांड का १११वाँ सर्ग कहता है—'यह काव्यों में उत्तम काव्य भगवान् वाल्मीकि का बनाया हुआ है'। यदि यह काव्य वाल्मीकिजी का बनाया हुआ होता, तो न तो वह बार-बार इस प्रकार लिखते और न अपने को 'भगवान्' कहके पुकारते। वर्तमान पुस्तक में जहाँ-तहाँ लिखा मिलता है कि यह ग्रंथ 'वाल्मीकिजी का ही' बनाया हुआ है। लेखक के जी की शंका कि अब की बनाई हुई रचना को कोई आदि-कवि की रचना कैसे मानने लगेगा, इन शब्दों को कहलवाती गई है, जैसे कि लोगों को उसे पढ़ने के लिये उत्तेजित करने को पुराण-कथाओं के समान आशाएँ दिलाई गई हैं—लंकाकांड का अंतिम सर्ग कहता है कि 'इस काव्य के सुनने से स्त्रियाँ जीवनपुत्री होती हैं, उनके पुत्र जीते रहते हैं, उन्हें बड़ी आयु मिलती है। राम के विजयकाव्य को जो सुनते हैं, वे बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को पार कर लेते हैं। यदि कोई परदेश में हो, तो वह फिर आकर अपने बंधु-बांधवों से मिलता है। उत्तरकांड के ४९वें सर्ग में अगस्त्य मुनि रामचंद्र से कहते हैं—'यह कथा बड़े-बड़े पापों का नाश करती है'। (जब लवकुश से प्रथम बार राम ने कथा सुनी और उसके उपरांत यदि कभी अगस्त्य ने भी रामचंद्र से उसे कहा, तो अगस्त्य के कहने का वर्णन उस आदि-काव्य में कहाँ से आ जाता, जो लव-कुश ने रामचंद्र को पहले ही सुनाया था?)

कलयुग में भगवान् बुद्ध के अवतार के पश्चात् लिखे जाने के अतिरिक्त इस बात का भी प्रमाण इसी ग्रंथ में उपस्थित है कि वह उस समय का लिखा हुआ है, जब नई कुरीतियाँ हिंदू-समाज में घुसने लगी थीं, ब्राह्मण लोभी हो गए थे, व्यभिचार, वेश्या-गमन, मदिरापान फैल गया था, विवाहों में दहेज चल निकला था और स्त्रियों में पर्दे की प्रथा तक आने लगी थी। रामचंद्रजी का समय आर्य-सभ्यता के विकास का काल था। उस समय आर्य-जाति ऐसी दूषित प्रथाओं से कलंकित नहीं हुई थी। जब इन कुप्रथाओं का उल्लेख वाल्मीकीय रामायण में आता है, तो यह साफ़ है कि लेखक की कल्पना ने कथा को विस्तार देने में अपने काल की रीतियों को लिख डाला है।

अयोध्याकांड के १११वें सर्ग में रामचंद्रजी, भरतजी के उन्हें लौटाल ले चलने को धरना देने पर, कहते हैं कि 'यह काम तो उस ब्राह्मण का है, जो किसी प्रकार की धनादि की हानि से, एक करवट से, अपने दुखदाता का रोध करता है'। अर्थात् ब्राह्मण लोग धन के लिये धरना दिया करते थे।

आदि-कांड के ७४वें सर्ग में लिखा है कि 'राजा जनक ने अनेक गाएँ, बहुत-से उत्तम-उत्तम प्रकार के दुशाले, बेशुमार रेशमी वस्त्र और करोड़ों सूती वस्त्र दहेज में दिए। उन्होंने अच्छे गहनों से सजे हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, दासी और दासों के सहित सौ कन्याएँ तथा सुंदर सुवर्ण, मोती और मूँगे महाराज दशरथ को दहेज में दिए। दहेज की कुप्रथा के अतिरिक्त कन्याओं के दिए जाने का वर्णन विशेष ध्यान देने योग्य है। लंकाकांड के १२७वें सर्ग में भरतजी ने रामचंद्रजी के आने का समाचार सुनकर हनुमान्‌जी से कहा है—'इस आनंद-समाचार के सुनाने से मैं तुमको एक लाख गाय, सौ गाँव और सोलह कन्याएँ देता हूँ। वे कन्याएँ कुंडलों से भूषित, अच्छे आचरण-वाली और सोने के रंगवाली हैं। उनकी नाक अच्छी है, वे मनोहर जंघाओं से सुशोभित, चंद्रमुखी, संपूर्ण भूषणों से भूषित तथा सम्पन्न और अच्छे कुल की हैं।' अच्छी जंघाओंवाली कन्याएँ क्यों दी जाती हैं, यह साफ़ ही है। इसी प्रकार उत्तरकांड के ४६वें सर्ग में अनेक राजाओं के रघुनंदन की भेंट को अनेक 'रूपवाली दासियाँ' भेजी हैं। उत्तरकांड के १०४वें सर्ग में लिखा है कि जब महाराज रामचंद्र ने नैमिषारण्य में अश्वमेध यज्ञ करने की तैयारी की, तब भरतजी को वहाँ आगे से भेजा और कहा—'बहुत-सी युवती स्त्रियाँ भी भरत के साथ जावें।' लंकाकांड के १३०वें सर्ग में मंत्रियों, योद्धाओं, नगरवासियों और व्यापारियों से पहले ही रामचंद्रजी का राज्याभिषेक तक 'षोडश कन्याओं ने किया है'। इसका यह कारण नहीं था कि रामचंद्रजी की दृष्टि में स्त्री-समाज विशेष आदरणीय रहा हो, क्योंकि अयोध्याकांड के १००वें सर्ग में वे भरतजी से

कहते हैं—'तुम स्त्रियों पर विश्वास तो नहीं करते ? कभी उनसे गुप्त बातचीत तो नहीं करते ?' स्त्रियों के प्रति उनका व्यवहार ऐसा था कि न केवल शूर्पणखा ही के लिये उन्होंने लक्ष्मण से (अरण्यकांड के १८वें अध्याय में) कहा था कि 'हे पुरुषव्याघ्र, इस कुरूपा, असती, अति मतवाली महोदरी राक्षसी को कुरूप कर दो,' और 'तब लक्ष्मण ने उस राक्षसी के नाक-कान काट लिए।' वरन् अरण्यकांड के ६९वें सर्ग में दिया है कि लक्ष्मण ने खड्ग निकालकर अयोमुखी राक्षसी के कान, नाक और स्तनों को काट लिया। उसने उनसे प्रेम-भिक्षा माँगी थी। और तो और अपनी ही धर्मपत्नी के साथ, जिसने उनके साथ वनयात्रा की थी, इतने कष्ट भोगे थे, राम का बड़ा क्रूर व्यवहार था। लंका-विजय के पश्चात् जिस समय सीताजी उनके सामने लौटकर आती हैं, तो लंकाकांड के ११७वें सर्ग में दिया है कि बजाय सांत्वना देने के आप कहते हैं—'जिस यश के लिये मैंने तुम्हें जीता, उसका लाभ मुझे हो गया। अब तुमसे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं। अब तुम चाहे जहाँ चली जाओ।' इसी व्यवहार का प्रतिबिंब अयोध्या में पड़ा है, जब निष्कारण रामचंद्र ने सीता को घर से निकाल दिया है और लक्ष्मण को आज्ञा दी है कि 'कल सबेरे सुमंत्र से रथ जुतवाकर और उस पर सीता को चढ़ाकर हमारे देश से बाहर छोड़ आओ। निर्जन देश में इस को छोड़कर मेरे पास चले आना।' (उत्तरकांड ४५वाँ सर्ग)। स्त्रियों के साथ ऐसा व्यवहार होते हुए, उनके संबंध में ऐसे विचार होते हुए फिर क्यों रामचंद्रजी का तिलक षोड़श कन्याओं से कराया गया है ? हनुमानजी को भरतजी को, स्वयं रामचंद्रजी को युवती कन्याएँ क्यों दी गई हैं ? इसका कारण यह है कि जिस काल में यह ग्रंथ लिखा गया है, व्यभिचार फैला हुआ था और ग्रंथ के लेखक ने वही चरित्र अपनी कल्पना द्वारा इन पाँचों का भी बता दिया है। उस समय वेश्याओं का पेशा भी शुरू हो गया था। स्वयं वशिष्ठ अयोध्याकांड के तीसरे सर्ग में राम के युवराज नियत किए जाने के प्रबंध में आज्ञा देते हैं कि 'वेश्याएँ अच्छे वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत होकर उपस्थित रहें' और महाराज दशरथ तो ३६वें सर्ग में यहाँ तक कहते हैं कि राम के साथ सेना-सहित वनवास में 'बातचीत करने में चतुर वेश्याएँ जावें।'

जिनको ऋषि और मुनि कहा गया है, उनके आचरण पर भी वर्तमान वाल्मीकीय रामायण अच्छी झलक नहीं डालती। अयोध्याकांड के ६४वें सर्ग में राजा दशरथ धोके से अपने द्वारा श्रवणकुमार को बाण मारने की कथा कौशल्या को सुनाते हैं। श्रवणकुमार के पिता को 'भगवान् ऋषि' कहते हैं, पर यह ऋषि वैश्य थे और इनकी स्त्री शूद्रा थीं, जिनसे श्रवणकुमार उत्पन्न हुए थे। आदि-कांड के ६१वें सर्ग में वर्णन है कि राजा अंबरीष ने ऋचीक ऋषि के पास जाकर कहा कि 'यज्ञ में पशु बनाने के लिये आप अपना पुत्र मुझे दे दीजिए' और ऋषि ने "बहुत-सा सोना, रत्न और लाख गाएँ' लेकर अपना मँझला पुत्र बलि चढ़ाए जाने को बेंच दिया !! अयोध्या-कांड के ९१वें सर्ग में भरत और उनकी सेना का स्वागत करके महर्षि भरद्वाज आज्ञा देते हैं कि 'सुरा इत्यादि पीने के पदार्थों और विविध मांसों को चन्द्रदेव तुरत ही प्रस्तुत और उपस्थित कर दें।' महाराज रामचंद्रजी के यहाँ मदिरा कितने ज़ोरों से चलती थी, इसका वर्णन उत्तर-कांड के ४२वें सर्ग में है, जहाँ दिखाया गया है कि अयोध्या की अशोकवाटिका में 'सीता को पास बैठाकर उन्होंने (रामचंद्रजी ने) अपने हाथ से मैरेय-नामक पवित्र मद्य उन्हें पिलाई, मानो इंद्र इंद्राणी को पिलाते हों। उस समय नाचने और गाने में बड़ी चतुर रूपवती अप्सराएँ किन्नरियों के साथ—मद्यपान से कुछ मस्त होकर—महाराज के सामने नाचने लगीं।' यह सब बातें हिंदुओं का कुसमय आने से ठीक पहले की हैं।

बहुत बुरी तरह के व्यभिचार की कथाएँ वाल्मीकीय रामायण में भरी पड़ी हैं। वरुण एक स्थान पर थे, 'इतने में उर्वशी-नामक अप्सरा सखियों के साथ वहाँ आ गई। वहाँ उस रूपवती को क्रीड़ा करते देखकर वरुण ने चाहा कि उसके साथ संभोग करें। उसने कहा कि हे सुरेश्वर ! मित्र देवता ने अपने साथ सह-वास करने को मुझसे पहले से कह रक्खा है। यह सुन-कर काम से पीड़ित वरुण ने कहा—अच्छा, जो तू मेरे साथ संभोग नहीं चाहती, तो मैं अपना तेज इस देव-निर्मित घड़े में छोड़ दूँगा। उर्वशी ने प्रसन्न होकर कहा—बहुत अच्छा, ऐसा ही कीजिए।' इसका अर्थ यही मालूम होता है कि वरुण ने उर्वशी को गर्भदान दिया; क्योंकि मित्र देवता क्रुद्ध होकर कहते हैं—'अरी

दुराचारिणी ! तू पहले मुझे स्वीकार कर कहाँ खिसक गई थी ? तूने दूसरा पति क्यों किया ?'

इसी कांड के ९३वें सर्ग में है कि 'दंड राजा अपने पुरोहित के आसन में गए। वहाँ राजा दंड ने भार्गव की लड़की को देखा। राजा दंड उसे देखते ही काम-पीड़ित हो गया और गिड़गिड़ाने लगा—हे सुश्रोणि ! मेरे ऊपर कृपा कर, समय न बिता। तेरे लिये मेरे प्राण निकले जाते हैं। तुझे पाकर चाहे मेरा वध हो, चाहे मुझे घोर पाप हो, पर तू तो मुझे स्वीकार कर ले। मैं बहुत विह्वल हो रहा हूँ। यह कहकर उसने बलात्कार से उसके दोनों हाथ पकड़ लिए और यथेष्ट विहार किया।'

उत्तरकांड के १०१वें सर्ग में लिखा है कि 'स्त्री इला वन में घूम रही थी। बुध वहाँ मिला और उसकी ओर देखकर कामबाणों से अचेत-सा हो गया और प्रार्थना की कि हे बरोरुहे ! स्नेह की दृष्टि से तू मुझे भक्ति-पूर्वक संतुष्ट कर। एकांत स्थान में बुध के मुँह से यह बात सुन इला ने कहा—मैं तो कामचारिणी और तुम्हारे वश में हूँ। यह सुनते ही वह कामी बुध उसके साथ विहार करने लगा।'

इस प्रकार की कथाओं को लिखकर ही इस ग्रंथ (वाल्मीकीय रामायण) के लेखक को संतोष न हुआ। उत्तरकांड के ३६वें सर्ग में तो उसने अश्लील भाषा का भी प्रयोग कर डाला है। रावण को रंभा अप्सरा देख पड़ी, तो वह उससे कहता है, 'हे प्रिये ! आज कौन व्यक्ति कमल की-सी सुबासवाले तुम्हारे मुख का अमृत पीकर परितृप्त होगा ? ये तुम्हारे दोनों स्तन—जो सोने के घड़े के तुल्य मोटे, सुंदर और मिले हुए हैं—किस पुरुष की छाती का स्पर्श करेंगे, हे भामिनि ! सुवर्ण-चक्र के समान, सुवर्ण की तागड़ी से भूषित, मोटी और स्वर्ग के तुल्य सुख देनेवाली तुम्हारी इन जंघों पर कौन पुरुष चढ़ेगा ? यह कहकर रावण ने रंभा को पर्वत के शिखर पर लिटा दिया। वह उसके साथ भोग करने लगा।'

यह व्यभिचार, यह मदिरा-पान, यह यज्ञ में बलि-दान, यह ब्राह्मणों का लोभ, यह सामाजिक कुरीतियाँ उस समय की हैं, जब भगवान् बुद्ध को इनके विध्वंस के लिये अवतार लेना पड़ा था और इस ग्रंथ में इनका वर्णन स्वाभाविक ही है, क्योंकि यह ग्रंथ जिसमें बौद्ध-मत का वर्णन है, बौद्ध-मत के प्रचार के बाद ही लिखा गया है। संभवतः जब बौद्ध-मत की अवनति और ब्राह्मण-वंश की बढ़ती होने लगी है, तब का लिखा हुआ हो, परंतु इस ग्रंथ में दो स्थानों पर परदे का भी वर्णन आया है, जिससे ज्ञात होता है कि इस कुप्रथा के भी प्रचलित होने के बाद यह ग्रंथ लिखा गया है और यह कुप्रथा बहुत पुरानी नहीं है।

लंका-कांड के ११३वें सर्ग में मंदोदरी विलाप करती हुई रावण से कहती है—'हे प्रभो ! मैं बिना घूँघट के, नगर के फाटक से निकलकर यहाँ पैदल चली आई हूँ। क्या ऐसी दशा में आने से तुम मुझसे क्रुद्ध हो गए ?' इसी कांड में ११६वें सर्ग में है कि विभीषण जब सीताजी को रामचंद्रजी के समीप लाने लगे, तब उन्होंने (विभीषण ने) वानरों और भालुओं को वहाँ से हटा दिया। इस पर रामचंद्रजी ने कहा कि 'विपत्ति-काल, पीड़ा, युद्ध, स्वयंवर, यज्ञ और विवाह में स्त्रियों का दर्शन दूषित नहीं है। ऐसे समयों में उन्हें परदे में रखना ज़रूरी नहीं।' इसका अर्थ केवल यह है कि अन्य समय में उन्हें परदे में रखना चाहिए और इससे ज्ञात होता है कि परदे की कुप्रथा चल निकली थी।

मेरे यह सब लिखने का तात्पर्य यह कि वाल्मीकीय रायायण रामचंद्रजी के समय का लिखा हुआ ग्रंथ नहीं है। यह वह काव्य नहीं है, जिसे वाल्मीकिजी ने बनाकर लव-कुश को याद कराकर रामचंद्रजी के दरबार में सुन-वाया था। वह आदि-काव्य लुप्त है। रामायण के प्रेमियों को उसका पता लगाने का प्रयत्न करना चाहिए। वर्तमान ग्रंथ इधर हज़ार-डेढ़ हज़ार बरस का लिखा हुआ है। संभव है कि वह एक लेखक की रचना न हो, बरन् समय-समय पर बहुत-से लोगों ने अपनी-अपनी रचनाएँ उसमें जमा कर दी हों और लोगों में प्रचलित करने के लिये ग्रंथ का वाल्मीकिजी ही के नाम से नामकरण कर दिया है।

जिस समय इसलाम का आक्रमण सनातन-धर्म पर हुआ है, उस समय गोस्वामीजी ने रामचरित-मानस की रचना की थी और उसके प्रभाव से सनातन-धर्म की बहुत रक्षा हुई, क्योंकि साधारण जनता योग और शास्त्र के गूढ़ तत्त्वों को नहीं समझ सकी। उसको साधारण बातें

और अपना चरित्र बनाने को आदर्श चरित्र और अपने धर्म का गुण-गान करने को अपने धर्म में पैदा हुए बड़े-बड़े आदमियों और अवतारों की बड़ी-बड़ी बातें चाहिए, वह सब रामचरित-मानस ने दे दीं। इसी प्रकार बौद्ध-धर्म के आक्रमण के समय वाल्मीकीय रामायण की रचना करके सनातन-धर्म के विद्वानों ने उस समय की जनता के लिये वही त्रुटि पूरी करने का उद्योग किया कि जिसे रामचरित-मानस से गोस्वामीजी ने इस तरह पूरा किया, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। रामचंद्र जी ही के चरित्र को हर बार क्यों लिया गया, इस पर रामचंद्रजी के चरित्र पर विचार करते समय अपना मत प्रकट करूँगा।

(अपूर्ण)

रामगोपाल मिश्र

रामजन्म

आनँद असीम की 'बिसारद' लहर नाची,
अवध-निबासी नर-नारिन के गन मैं;
नाची हिए देवन के सुखमयी शांति सीरी,
भावना विशष नाची भालु-बानरन मैं।
मुक्ति नाची मुदित समीप गीधराज के त्यों,
मीच नाची हँसि दश-मौलि के सदन मैं।
राम के जनम खन अमित उछाह भरी,
भक्ति नाची ऋषिन के शुभ आश्रमन मैं।

बलदेवप्रसाद टंडन "बिसारद"

गोस्वामी तुलसीदास

सागर अपार को बिलोरि भरि गागर मैं,
राखी साखि बेदरु पुरान शुभ गत्ता की;
बसुधा सुलभ कीन्हीं सुधा मानसर साँची,
आखर की कामधेनु तू ही अलबत्ता की।
द्विज साधु गुरु श्रीगोसाईं रचि रचना तू,
धरम सिंचाई की नहरि सरबत्ता की।
धुनि गरिमा की, रस परिमा, मधुरिमा की,
मानी जग सत्ता तेरी कबिता महत्ता की।

सूर्यप्रसाद पांडेय "द्विजसाधु"

देखभाल

[चौपदे]

जब लगातार तार ही टूटा।
और झनकार फूटकर रोई।
जब कि बोली न 'बोल' की तूती।
किसलिये बीन तब बजी कोई। १।

सुन उसे सिर धुना अगर 'धुन' ने।
और खटराग राग को भाया।
सुर अगर बेसुरे बने सारे।
किस लिये गीत तो गया गाया। २।

जो निछावर हुई नहीं तितली।
जो न भर भाँवरें भँवर भूला।
रंग बू है अगर नहीं रखता।
तो कहीं फूल किस लिये फूला। ३।

क्यों गँवाएँ न हाथ के हीरे।
भूल पर भूल है अगर होती।
किस लिये लोग मूँदकर आँखें।
पोत को हैं बता रहे मोती। ४।

चढ़ किसी फूल पर न आबस का।
पर गए सब खिले गुलाब झुलस।
देखिए ये उठे हुए बादल।
किस तरह का बरस रहे हैं रस। ५।

हैं न वैसे हरे-भरे पौधे।
फूल में हैं न रंगतें वैसी!
है कहाँ वह बहार बाग़ों में।
आज है बह रही हवा कैसी। ६।

देख करके जमाव कौओं का।
पत्तियाँ बीच हैं छिपी जाती।
है मचा काँव-काँव कुछ ऐसा।
कोयलें कूकने नहीं पातीं। ७।

देख उनकी लुभावनी चालें।
हैं हुए खीज-खीजकर पगले।
चोंच अपनी चला चला करके।
हंस को नोच हैं रहे बगले। ८।

इस तरह क्यों उठा रहे हो सिर।
किस लिये हो बहुत बढ़े जाते।
जो तुम्हें पालती नहीं मिट्टी।
पेड़ तो तुम पनप नहीं पाते। ९।

भूल है मत हँसी करो उसकी।
रूप औ रंग मिल सके जिससे।
धूल की धूल क्यों उड़ाते हो।
पास के फूल तुम महक किस से। १०।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

हत्यारा

(१)

मनुष्य की सबसे सुंदर सृष्टि है । उसके भगवान् उन्हें बनाकर फिर वह उन्हीं से कर्तव्य की प्रेरणा पाता है । दीनानाथ की सबसे सुंदर सृष्टि थी मुक्ति-भावना । क्योंकि उसी से उसे हत्या की प्रेरणा हुई । जिस दिन उसने सोचा—संसार एक बंधन है, एक कारागार है, यहाँ सभी सज़ा भुगत रहे हैं, उस दिन उसकी बेफ़िक्र आत्मा बंदी की तरह छटपटा उठी ।

जिस ख़याल से दो हज़ार साल पहले महात्मा ईसा सलीब पर चढ़ गए थे, जिस विचार से राजकुमार सिद्धार्थ ने कपिलवस्तु के राजमहल छोड़कर रास्ते की खाक़ छानना जीवन का लक्ष्य स्थिर किया था, ठीक उसी ख़याल से दीनानाथ ने इस शताब्दी में अपना नया प्रयोग आरम्भ किया । एक ही जगह के लिये अलग-अलग रास्तों से चलना बुद्धिमानों का स्वभाव है । ईसा अपने लिये नहीं, संसार के लिये मरे थे, बुद्ध ने बोधिसत्व का दुष्कर प्रयास पीड़ित विश्व के लिये ही किया था । दीनानाथ ने भी दीन-दुखियों को मुक्त करना अपना परम कर्तव्य मान लिया ।

पहलेपहल उसे दया आई एक मक्खी पर, जो गंदगी पर बैठने के लिये भिनभिना रही थी । दीनानाथ ने अपनी लंबी शिखा में तीन बार ग्रंथि देकर सोचा—शायद यह दहाड़ मारकर रो रही है या अपने तुच्छ जीवन से बेज़ार है । ओफ़ ! शोक !—परोपकार, तेरी शक्ति क्षीण हो गई ? तू मुझे ज़रा बल नहीं दे सकता कि मैं इस दुखग्रस्त आत्मा को सांत्वना दे सकूँ ? ऐ मायामय अंधकार ! तूने एक प्रकाश की किरण तक मेरे पास नहीं रहने दी ? नाश ! सर्वनाश !

दीनानाथ चौंक पड़ा । एक मकड़ी ने मक्खी को दबोच लिया । थोड़ी-सी भिनभिनाहट, थोड़ी-सी फरफराहट ! फिर सब शांत, मौन, नीरव ।

अंधकार का हृदय चीरकर प्रकाश आँखों में भर गया । अब ज़माना ही कुछ और है । बीसवीं सदी है । महीनों का रास्ता घड़ियों में तय होता है । बुद्ध को शायद छः बरस से ज़्यादा लगा था और दीनानाथ को छः मिनट से भी कम । उन्हें एकांत वन में प्रकाश का साक्षात् हुआ था, इन्हें अपने ज़नानख़ाने की ड्योढ़ी के अंदर ।

दीनानाथ ने मस्त शरीर ज़रा चुस्त करके मकड़ी को शाबाशी दी—वाह, ख़ूब !

(२)

उस दिन से क्यों, उसी क्षण से दीनानाथ मुक्ति का सीधा रास्ता पा गया । क्षण-भर की साधना में उसे प्रकाश की जो ज्योति मिली, वह उसकी समझ से अपूर्व थी । वह संयमपूर्वक पीड़ित विश्व को उस ओर ठेलकर धर्म-संस्थापकों का कठिन कार्य करने लगा ।

उसे प्रत्यक्ष रूप से यह प्रतिभासित हो गया कि प्राणी-मात्र में सुख और शांति की चिरंतन अनुभूति का अभाव है । सभी योनियों में, सभी वर्गों में उस अभाव की विशेष मात्रा से बेकली बढ़ रही है । कहीं भी संतुष्टि नज़र नहीं आती । कष्ट, दुश्चिंता और शोक से जीव-मात्र व्याकुल हो रहे हैं ।

सांसारिक संघर्ष के कारण जीवन में जो क्षोभ उत्पन्न होता है, उससे किसी का भी निस्तार नहीं । वह क्षोभ जितना असह्य और अनिच्छित है, उतना ही वह अनिवार्य-सा हर एक के पीछे लगा है । जो जितने वेग से भागकर उससे प्राण छुड़ाना चाहता है, वह उतनी ही तत्परता से उसके गले का हार बनकर उसके साथ लगा रहता है ।

दीनानाथ को ताज्जुब तो इस बात पर होता था कि अनेक व्यर्थ के आविष्कारों में मनुष्य ने क्यों अपने जीवन का दुरुपयोग किया ? जो चिंता सबसे ज़रूरी थी, वही क्यों नहीं स्वाभाविक रीति से किसी के मस्तिष्क में उदित हुई ? जिन लोगों ने जीवन-मरण के रहस्य को परदे से बाहर लाने का यत्न किया, वे क्यों नहीं कृत-कार्य हुए ? इतना सीधा-सा रास्ता उन्हें क्यों नहीं सूझा ? क्या मृत्यु ही जीवन का परमार्थ नहीं है ?

ओह ! उसकी गोद कैसी विश्रांतपूर्ण है। अनंत सुख और चिरंतन शांति में, वही तो जीवन की समस्त क्रांति को विलीन कर लेती है। उसके द्वार के अंदर पैर रखते ही अभावों का अभाव हो जाता है।

उसी की उज्ज्वल आलोकपूर्ण मुखच्छवि को लोगों ने अंधकार की कालिमा समझने की भूल की है। मनुष्य की भ्रमपूर्ण बुद्धि के नए-पुराने संस्करणों को देखकर कहना पड़ता है कि अगर ऐसी निरर्थक चीज़ कहीं बाज़ार में बिकती होती, तो कोई उसे ताँबे के सिक्कों के मोल भी नहीं ख़रीदता। लेकिन विधाता की परम कृपा का फल मानकर आज भी उसका आसन वैसा ही गौरवास्पद बना है। और अब जब कि दीनानाथ को हत्यता की तह का ठिकाना मालूम हो गया है, तो उसकी महत्ता और भी अक्षुण्ण हो गई है।

बस, मृत्यु को जीवनरूपी दिन की विश्रांतिपूर्ण रात्रि मानकर दीनानाथ मन-ही-मन अपनी सफलता का अनुभव करने लगा। लेकिन यह उसकी विशाल-हृदयता है कि उसने ख़ुद ही उस परम तत्त्व का आस्वादन करने का लोभ नहीं किया बल्कि निर्मुक्त नीलाकाश की तरह, समस्त संसार के लिये उसका द्वार खोल दिया। यही क्यों अपने ही साधनाभिभूत हाथों से उसने इस परम पावन अनुष्ठान का आरंभ किया।

(३)

जीव रक्षा के लिये जैन-साधुओं की सतर्कता प्रशंसनीय है। उनकी दिनचर्या का विशेष अंश अनंत असंख्य कीटाणुओं के बचाव में ही व्यय होता है। दीनानाथ की लगन उनसे भी कहीं बढ़-चढ़कर थी। उसे तो दिन-रात सोते-जागते यही चिंता रहती थी कि किस तरह सृष्टि को सांसारिक क्लेश से छुटकारा दिला दिया जाय। शायद वह एक दिन में उतने जीवों को परलोक अवश्य ही भेज देता था, जितने कई साधु मिलकर बचा न सकते होंगे।

दीनानाथ के एक मित्र के शब्दों में अगर उसकी फ़ुर्ती का वर्णन करने लगें, तो कहेंगे कि उसने विधाता तक को हरा दिया था। बूढ़े शक्तिहीन चतुरानन बाबा जब तक एक की सृष्टि करते थे, तब तक वह चार को समाप्त कर देता था। चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते और सोते-जागते दीनानाथ कभी अपना काम भूलता नहीं था। जो जीव जहाँ नज़र पड़ जाता, तुरंत उसे वह पंच-तत्व में मिला देता। अगर राजकीय क़ानून बाधक न होता और संसार की मूर्खता इतनी सुधर गई होती कि वह उसके कार्य को उद्धारक का काम समझती, तो अवश्य ही अब तक मानव-जाति का भी बहुत कुछ उपकार हो गया होता। लेकिन दुर्भाग्य, क्योंकि मनुष्य के बराबर कोई मूर्ख नहीं। अनंत कष्ट भोगकर भी रात-दिन नारकीय यंत्रणाओं में छटपटाना उसे पसंद है, लेकिन जीवन से छुटकारा पाने की चिंता नहीं। मृत्यु से उसे डर लगता है, परम शांतिदायिनी, मोक्ष की सहचरी से भयभीत रहता है। अनेक तरह के अस्वाभाविक साधनों से वह अपने जीवनकाल को दीर्घतर करने में ही लगा रहता है। बस, एक मानव-जाति पर ही अपना प्रयोग करने में इच्छा रखते हुए भी दीनानाथ समर्थ न हो सका।

मक्खी-मच्छर, कुत्ते-बिल्ली तथा और सभी जानदारों को दीनानाथ बहुत फ़ुर्ती से परमलोक की तरफ़ भेजने लगा। वह एक भी काम ऐसा नहीं करता, जिसके साथ उसके जीवन का लक्ष्य भी दूर न होता जाता हो। एक पैर जमाकर वह दूसरा पैर तब तक नहीं उठाता, जब तक उसे दो-चार जीव दबकर मसल जाने का पूरा विश्वास नहीं होता। इसी तरह बड़ी ख़ुशी, बड़े उत्साह और बड़ी तत्परता से वह हिंसा-व्रत-साधन द्वारा परमार्थ का आदर्श उपस्थित करने लगा।

(४)

कर्मों के अनुसार ही स्वभाव में कोमलता और कठोरता का समावेश होता है। ब्राह्मण परशुराम में क्षत्रित्व और क्षत्रिय बुद्धदेव में ब्राह्मणत्व की विशेषता सभी जानते हैं। दीनानाथ के स्वभाव में भी परिवर्तन शुरू से ही आरंभ हो गया था। धीरे-धीरे दूसरों के दुखों की अनुभूति से उसका मन विरक्त हो गया। छोटे-छोटे जीवों से चलकर वह बड़े-बड़े जीवों को मारने लगा। उनके छटपटाने, उनके चिल्लाने का उसकी अंतरात्मा पर कुछ भी असर नहीं पड़ता था।

एक दिन जब वह लाठी का प्रहार एक सोते हुए कुत्ते पर करना चाहता था, उसके मित्र कालिकासहाय ने आकर कुत्ते को भगा दिया और एक ओर खड़ा होकर हँसने लगा। मित्र की ढिठाई और नादानी पर

दीनानाथ को कितना कष्ट पहुँचा, वह शायद कालिकासहाय को ज्ञात न हुआ। दीनानाथ को इस तरह अपनी ओर घूरते देखकर कालिकासहाय ने हँसकर कहा—क्यों, भला उसने क्या बिगाड़ा था ?

दीनानाथ ने अधिकारपूर्ण स्वर में कहा—तुम जो बात नहीं समझ सकते, उसके लिये फ़िज़ूल माथापच्ची करने से फ़ायदा।

वह इतना कहकर शीघ्रता से अपने काम के लिये चला गया। कालिकासहाय खड़ा-खड़ा उसके विचित्र स्वभाव की आलोचना करता रहा।

दीनानाथ की उससे मित्रता थी, यह बात समझ सकना कठिन है। कारण कि दीनानाथ सदा से ही निर्मोह, निर्द्वंद्व और निस्पृह था। वह किसी से लगाव नहीं रखता था। जहाँ किसी तरह के संबंध की गंध आती, वहाँ से वह दूर जा खड़ा होता। उसके असहाय जीवन ने प्रेम और स्नेह के अत्याचार को कभी सहा न था। मा-बाप थे नहीं। भाई-बहनों की भी उसे याद न थी। उसका जीवन कठोरता और हृदयहीनता के साँचे में ढला था।

कालिकासहाय भी अजब स्वभाव का था। स्नेह-संबंध के कट्टर शत्रु दीनानाथ से बारबार भिड़ना उसे पसंद आता था। जब देखो तब वह उसी के पीछे पड़ा रहता था। उधर दीनानाथ उसकी रंच भी परवा न करता था। इस तरह विचित्र गति से उन दोनों की मित्रता लँगड़े पैरों चल रही थी। एक हाथ की ताली बजाकर ही कालिकासहाय संतोष कर रहा था। लेकिन ऐसा वह क्यों कर रहा था ? इसका जवाब शायद उसके पास भी न था।

आज जब कालिकासहाय ने एकाएक आकर कुत्ते को भगा दिया, तो दीनानाथ सह न सका। वह मन-ही-मन तलमलाकर एकांत में चला गया और किसी विचार में मग्न हो गया। बड़ी देर तक ध्यानावस्थित होने के बाद वह यह सोच सका कि कालिकासहाय अज्ञानी है। उसे इतना ज्ञान नहीं है कि वह एक मक्खी की तरह अपने जीवन की असामर्थकता समझ सके। 'मक्खी' का ध्यान आते ही उसे मकड़ी का भी ध्यान आ गया। उसे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे किसी दिव्य ज्योति ने उसे कुछ संकेत किया है। उसने कहा—हाँ, ज़रूर उसे अज्ञानता से मुक्त करना होगा। वह मुझसे हित मा[illegible] है। शायद उसकी अंतरात्मा इसीलिये उसे बार[illegible] इधर ले आती है। ख़ैर, अब उसे कष्ट नहीं [illegible] पड़ेगा। मैं ख़ुद ही चलकर उसकी आत्मा को अमर[illegible] पहुँचाकर तृप्त करूँगा।

वह चटपट एक चमचमाती हुई छुरी लेकर [illegible] अज्ञानी मित्र की तलाश में निकल पड़ा। थोड़ी ही [illegible] गया होगा कि कराहने की एक क्षीण आवाज़ ने [illegible] चौंका दिया। उसने देखा—एक कंकाल-प्राय मानव[illegible] रास्ते में एक तरफ़ पड़ी थी। उसमें मांस और रक्त [illegible] शायद एकदम अभाव हो चुका था।

दीनानाथ का हृदय न-जाने क्यों यह दृश्य देख[illegible] काँप गया, पर तुरंत सँभलकर खड़ा हो गया। मन [illegible] सुस्थिर करके पूछना चाहा—कहो, विश्रांति की गोद [illegible] जाना चाहते हो ? इस नारकीय संसार से त्राण [illegible] कामना कर रहे हो ? क्या तुम्हें तुम्हारे उद्देश्य [illegible] सहायता दूँ ?

मृत्यु की गोद में छटपटाते हुए पुरुष ने कष्ट से व्यथि[illegible] स्वर में कहा—थोड़ा पानी।

दीनानाथ के तन-बदन में आग-सी लग गई। [illegible] बोला—अभी तक पानी पीने की इच्छा रखते हो ?

उस पुरुष ने आँखें खोल दीं। चारों ओर देख[illegible] कहा—हाँ, राजदुलारी ! कहाँ गई ? मेरी प्यारी बच्ची.

दीनानाथ—क्यों क्या चाहते हो ?

पुरुष—जीवन, मैं केवल जीवन चाहता हूँ। क्या तु[illegible] कोई देवता हो भैया ! हा ! मेरी प्यारी राजदुलारी !

दीनानाथ—जीवन नरक है, तुम नरक की क्यों काम[illegible] करते हो ?

पुरुष—जीवन नरक ! ओफ़ ग़ज़ब, जिसमें अने[illegible] सुखों की उपलब्धि हुई, वह......वह......

दीनानाथ—हाँ, वही ! तुम अज्ञानता में पड़े हो [illegible] कहो तो तुम्हें अज्ञान से छुटकारा दिला दें ? बोलो शी[illegible] मेरा अमूल्य समय जा रहा है। उसने अपनी तेज़ छु[illegible] हाथ में ले ली।

पुरुष की आँखें खुल गईं। उसने कहा—ओह ! तु[illegible] हत्या करोगे, हत्या ! अभी नहीं, मेरी बच्ची राजदुलारी [illegible]

दीनानाथ ने पेट के पास छुरी ले जाकर कहा—तु[illegible] मूर्ख हो। जाओ, यह सीधा रास्ता है—बस।

(५)

अपराह्न-काल की अंतिम किरणें पड़ रही थीं। दीना-नाथ ने जाकर कालकासहाय को पुकारा। कुंडी खुली, दीनानाथ दरवाज़े को ठेलकर अंदर दाख़िल हुआ। वह आश्चर्य से अवाक् खड़ा रह गया। एक अद्भुत लावण्य-मयी कृशांगी सुकुमारी लड़की सामने खड़ी थी। उसके अपूर्व चेहरे पर विषाद की छाया ने आश्रम बना लिया था। दीनानाथ मुग्ध भाव से कई क्षण तक उसकी ओर टकटकी लगाए खड़ा रह गया। वह लड़की भी मूर्तिवत् उसके एक तरफ़ निकल जाने की प्रतीक्षा में उसी तरह अचल बनी रही।

कालकासहाय ने अंदर से पुकारा—क्या करने लगा दीनानाथ? क्या कोई शिकार हाथ लग गया है?

मोह भंग हुआ। दीनानाथ का शरीर एक दफ़ा ऊपर से नीचे तक सिहर उठा। उसने जी पर शासन करके कहा—अजी किधर हो, मैं तो शिकार की ही तलाश में आया हूँ।

इधर छत पर चले आओ—कहकर कालकासहाय उसकी प्रतीक्षा में टहलने लगा। दीनानाथ पहुँचा तो कालकासहाय ने व्यंग के भाव से पूछा—आज क्या ज़रूरत पड़ गई?

दीनानाथ ने अपनी कमर की छुरी पर हाथ फेरकर कहा—मुझे तुम्हारे ऊपर बड़ी दया आती है। कई दिन से मैं यह निश्चय कर रहा हूँ कि कम-से-कम अपने एक परिचित मित्र को तो कुछ उपदेश दे सकूँ।

कालकासहाय ने हँसकर कहा—मैं तो तुम्हारा उपदेश ग्रहण करने के लायक़ नहीं हूँ। अभी मेरी बुद्धि परिपक्व नहीं है, अभी संसार की किसी चीज़ से मुझे विरक्ति नहीं हुई है, इसलिये मैं उसका अधिकारी नहीं। हाँ, तुम्हारे उपदेश का एक श्रोता मुझे मिल गया है। वह मैं तुम्हें सिपुर्द कर सकता हूँ।

दीनानाथ उसके मुँह की ओर देखने लगा। उसने फिर कहा—कहो तैयार हो?

इसी समय कालकासहाय की बहन कमलावती उस लड़की को साथ लेकर छत पर आ पहुँची। कालका-सहाय ने दीनानाथ से कहा—देखो, यही वह लड़की है। इसका पहले ही तुम्हारे मत की तरफ़ झुकाव है, अगर तुम इसे अपने धर्म में नहीं लेते, तो कमलावती सारे पुण्य की भागी होगी। एक तो उसके शरीर में जान ही कितनी है, दूसरे कमलावती उसे ठेलठेलकर यमपुरी भेज देना चाहती है। बेचारी बड़ी ग़रीब असहाय और निराश्रय है। तुम चाहो तो आकर थोड़ा बहुत उपदेश रोज़ कर जा सकते हो। अब वह पूरी तरह से तुम्हारी अनुयायिनी हो जायगी, तो कोई उसे रोकनेवाला नहीं। सच पूछो तो तुम्हारे मत की सार्थकता इसी तरह के प्राणियों में सिद्ध हो सकती है।

बड़े तर्क-वितर्क के बाद कालकासहाय ने दीनानाथ को तैयार कर लिया। उसने मन-ही-मन ख़ुश होकर पुकारा—कमलावती, अपना उपदेश ख़त्म करके उसे इधर ले आ। उसके लिये नए मास्टर साहब रख दिए गए हैं।

कमलावती ने वहीं से पुकारकर जवाब दिया—नहीं, मास्टर की ज़रूरत नहीं है। वह मास्टर से नहीं पढ़ेगी। हम दोनों खेल रही हैं।

कालकासहाय ने ज़रा तीव्र स्वर में कहा—चल-चल, बहुत बात न बना। मालूम पड़ता है, एक मास्टर तेरे लिये भी लाना होगा। दिन-भर खेलती रहती है।

मास्टर के नाम से सहमत हुई कमलावती अपनी सहेली का अंचल पकड़कर उसे कालकासहाय के पास ले आई।

दीनानाथ धर्मोपदेश की तमाम बातें भूलकर एक साधारण मास्टर की तरह उस अज्ञात अपरिचित बालिका को पढ़ाने लगा। ज़रा देर में कालिकासहाय धीरे से उठ-कर नीचे चला गया।

(६)

रात को बड़े गर्व के साथ कालकासहाय ने अपने पिता के सामने कहा—बाबूजी, मैंने ठीक कर दिया है।

पिता ने पूछा—क्या दीनानाथ ने आना स्वीकार कर लिया है? वह बड़ा सैलानी लड़का है, तुम ज़रा उसकी फ़िक्र रखना। वह किसी काम में जी लगा सकेगा, इसका मुझे विश्वास नहीं।

कालकासहाय—जी नहीं, अब वह रोज़ आएगा।

पिता—हाँ, तब तो बहुत ठीक। बेचारी ग़रीब लड़की का जीवन सुधर जायगा और दीनानाथ बंधन-ग्रस्त होने से मनमानी न कर सकेगा।

पिता ने ही नहीं माता ने भी कालकासहाय को उसकी सफलता पर बहुत साधुवाद दिए। तमाम घर

के लोग उसकी तारीफ़ करने लगे। अकेली कमलावती को भाई की योजना बिलकुल पसंद नहीं आई। वह अपने गाल फुलाए हुए एक तरफ़ बैठी रही। लेकिन उसका किसी पर कुछ असर नहीं हुआ। कमलावती यद्यपि दिन में कई बार लड़ाई-झगड़ा करती थी, पर यह उसकी पक्की धारणा थी कि लड़-झगड़कर भी उसका अपनी सखी पर जो अधिकार है, वह किसी दूसरे का हर दम प्यार करके भी नहीं हो सकता।

दीनानाथ दो-तीन दिन तक बड़े उत्साह से उस अनाथ बालिका को पढ़ाने जाता रहा। उसी थोड़े-से समय के प्रयास ने उसके जीवन की धारा में अपूर्व आकांक्षाओं की सृष्टि कर दी। यद्यपि प्रकाश-रूप से वह उन्हें समझ नहीं सका, पर उसकी सूक्ष्म दृष्टि के लिये उनका आभास ही काफ़ी था। यही वजह थी कि अंतरुल्लास के साथ-साथ ग्लानि का एक भाव भी उसके हृदय में अपनी जड़ गहरी जमा रहा था।

एक दिन शाम को जब वह लौटकर आया, तो उसके हृदय में बड़ी अशांति पैदा हो गई। उसे ऐसा प्रतिभास हुआ कि वह सचमुच कई दिन से अपना कर्तव्य पूर्ण नहीं कर रहा है। यद्यपि समय के बहुत बड़े भाग में वह अपने आचार में कोई त्रुटि नहीं करता, फिर भी एक शिथिलता आ गई है। वह एकाएक नींद के झोंके से चौंक पड़ा। उसे प्रतीत हुआ जैसे कालकासहाय ने उसे ठग लिया है। उसके लिये मोह का एक जाल बिछाकर उसने सांसारिक दृष्टि से अपने जीवन की रक्षा कर ली है, पर वास्तव में उसने अपनी आध्यात्मिक मृत्यु कर ली है।

दीनानाथ ने तुरंत तय किया कि वह ऐसा न होने देगा। वह अपने अज्ञान मित्र को अवश्य ही जीवन्मुक्त करेगा।

बस, दूसरे दिन से वह पूर्ववत् बड़ी तत्परता से अपने कार्य में व्यस्त होगा। मास्टर के रूप में कालकासहाय के मकान की तरफ़ जाना बंद कर दिया और कोई न सही, कमलावती तो उसके इस कार्य से प्रसन्न ही हुई।

(७)

कई दिन प्रतीक्षा करने के बाद भी जब कालकासहाय न आया, तो दीनानाथ से रहा न गया। वह ख़ुद ही उसकी तलाश में निकल पड़ा। आज उसने तय कर लिया था कि कालकासहाय की ख़बर लेनी ही होगी।

वह बड़ी तेज़ी से अपने मित्र के मकान की तरफ़ दौड़ गया।

कालकासहाय का मकान सड़क पर था। दूर से उसका द्वार नज़र आता था। दीनानाथ ने देखा, द्वार खुला पड़ा है। उसने मन-ही-मन प्रसन्न होकर कहा—आज अच्छा मौक़ा है। क़ानून को एक बार छका चुका हूँ, आज उसको मसल डालूँगा। पाप के मूलोच्छेद से बढ़िया दूसरा पुण्य इस जीवन में है कहाँ? यह बेढंगा क़ानून सबसे बड़ा पाप है। इसी के नियंत्रण से आज यह संसाररूप भट्टी प्रज्वलित हो रही है और उसमें जल रही हैं असंख्य आत्माएँ।

वह बड़ी तेज़ी से, तीर की तरह, कालकासहाय के मकान में चला गया। उसका हाथ बराबर कमर की छुरी पर था। पहले वह सीधा कालकासहाय के कमरे की तरफ़ गया। वहाँ कोई न था। वह दूसरे कमरे में पहुँचा, वहाँ भी कोई न था। ऊपर के तमाम कमरे देखकर नीचे उतर आया, भीतर मकान में प्रवेश किया।

अंदर पैर रखते ही उसने देखा कि घर में सब लोग बरामदे में इकट्ठे हैं। बड़ी दौड़-धूप और परेशानी का दृश्य उपस्थित हो रहा है। वह झटपट वहाँ जा पहुँचा।

वह मृत्यु को देखकर ख़ुश होता था, लेकिन आज वह रो पड़ा। उसने सजल नेत्रों से अपने मित्र के पिता से पूछा—क्या हुआ है? कालकासहाय कहाँ है?

वे कुछ भी जवाब न दे सके। उसी समय कालकासहाय डाक्टर को लेकर आया। दीनानाथ बड़ी दीनता के साथ उसकी तरफ़ बढ़ा, लेकिन कालकासहाय उसकी तरफ़ ध्यान न दे सका। वह डाक्टर को कुर्सी देकर आप घुटनों के बल चारपाई की पट्टी पकड़कर ज़मीन पर बैठ गया और रोगिणी को पुकारा—राजदुलारी!

राजदुलारी बेहोशी की वजह से आँखें न खोल सकी! डाक्टर ने बड़ी देर तक नब्ज़ हाथ में लेकर देखी और कालकासहाय को साथ लेकर बाहर निकल गया।

दीनानाथ पागल की तरह वहीं खड़ा रह गया। उसके कानों में बराबर राजदुलारी का नाम गूँज रहा था। पहले भी यही नाम एक बार उसके कान में पड़

चुका है, लेकिन वहाँ इसका उसे ध्यान न था। राजदुलारी को पढ़ाते समय तो वह कुछ भी उससे पूछने का साहस न कर सका था। अपने मित्र से भी विशेष कोई बात पूछने की कभी उसने उत्कंठा न दिखाई थी, फिर भी वह नाम से किस तरह परिचित था ?

कालकासहाय दवाई लेकर लौट आया। दीनानाथ शोक से बेहद उत्तेजित हो रहा था। उसने कालकासहाय को रोककर पूछा—डाक्टर ने क्या कहा ?

कालकासहाय ने सूखे मुँह से उत्तर दिया—कहा है कि ईश्वर ही भला करे। आशा तो कुछ है नहीं, एकाएक आघात लगा है। उसकी कमज़ोर देह सँभाल नहीं सकी है!—लाओ मा! प्याली, दवाई पिला दें। आज रात-भर जागना पड़ेगा। आप और पिताजी दो दिन से जाग रहे हैं। आज मैं जाग लूँगा। आप लोग जाकर पड़ रहिए, ज़रूरत होने पर बुला लूँगा।

कोई उठकर नहीं गया। कालकासहाय ने दवाई पिलाकर फिर सबसे लेटने को कहा। बड़ी मुश्किल से सब लोग वहाँ से गए।

दीनानाथ अब तक भौचक्का-सा बैठा था। उसने एकांत पाकर उलाहने के दो-तीन शब्दों में ही हृदय की समस्त वेदना उँडेलकर पूछा—मुझे ख़बर ही न दी ?

कालकासहाय ने धीरे से कहा—तुम मृत्यु को ही जीवन समझते हो, इसीलिये—यद्यपि राजदुलारी ने स्वयं बुख़ार की तीव्रता के समय तुम्हें कई बार याद किया था।

दीनानाथ का सारा शरीर काँपने लगा। राजदुलारी! राजदुलारी! उसके कानों में गूँजने लगा। उसकी आँखों के सामने उस वृद्ध पुरुष की समस्त बातें प्रत्यक्ष हो उठीं। उसे ऐसा मालूम पड़ा, जैसे समस्त संसार चक्कर लगा रहा है। वह आरामकुर्सी पर बेहोश होकर गिर पड़ा।

कालकासहाय रोगिणी की श्वास की गति पर ध्यान दे रहा था। वह दीनानाथ की हालत का अनुमान नहीं कर सका।

थोड़ी देर में दीनानाथ को होश हुआ। सिर उठाया, देखा—कड़ुए तेल के दिए की बत्ती धीमी जल रही थी। कालकासहाय भी अपनी कुर्सी पर ऊँघ रहे थे।

दीनानाथ ने मित्र का कंधा हिलाकर कहा—तुम जाकर लेटो। मैं बैठा हूँ। दिन में सो चुका हूँ, मुझे बिलकुल नींद नहीं है।

कालकासहाय—नहीं।

दीनानाथ—क्यों नहीं, जाओ, तुम जाकर लेट रहो।

कालकासहाय—डाक्टर की ताकीद है। आज की रात्रि अंतिम है। मैं आज उठकर न जाऊँगा।

दीनानाथ सुन न सका, उसकी आँखों में आँसू की बूँदें झलमलाने लगीं। कालकासहाय ने कहा—यह क्या, तुम......तुम......इस तरह...?

हाँ, भाई—कहकर दीनानाथ चुप हो गया। आगे उससे बोला न गया। कालकासहाय उसके मनोभाव को देखकर वहाँ से उठ गया।

दीनानाथ रोगिणी के श्वास पर एकटक ध्यान लगाए बैठा रहा। ज़रा भी स्पंदन होने से वह सजग हो जाता था। उसके टूटे हुए हृदय में एक ही अभिलाष थी। वह भी पूरी न हो सकी। राजदुलारी ने आँखें न खोलीं—न खोलीं। रात्रि के अवसान के साथ उसके जीवन का भी अवसान हो गया।

उसके मृत शरीर में भी जीवन का स्पंदन खोजता हुआ दीनानाथ विकल भाव से चारपाई पर बैठा रहा। जिसका तमाम समय बराबर मृत्यु में ही सुख का अस्तित्व निर्णय करने में व्यस्त था, वह आज जीवन की एक-एक श्वास के लिये तरस गया।

निर्मम में ममता का स्रोत फूट पड़ा। हत्यारे में करुणा की रागिनी बज उठी। असाधारण निश्चय की दृढ़ दीवार एक ही आघात में छिन्न-भिन्न हो गई। हाय रे! परिवर्तन! दीनानाथ चुपचाप भावों की उन्मत्त लहर में राजदुलारी की मृत्यु को अपनी हत्याओं की सूची से अलग रखना चाहता है, पर न-जाने कौन आकर उसका नाम फिर जोड़ देता है। अदृश्य के उस हाथ को रोकने की क्षमता कहाँ ? वह बेहद उद्विग्न और उत्तेजित होकर इधर-उधर देखना चाहता है, पर कुछ दिखाई नहीं पड़ता—कुछ समझ में नहीं आता। संसार के पथ-प्रदर्शन को आज अपने पथ-प्रदर्शन के लिये किसी की बड़ी आवश्यता है।

शंभूदयाल सक्सेना

पावस का दुखिया गगन*

नाम ही नाम हितैषी रहा, हुए अंग-प्रत्यंग हैं खोखले सारे;
शेष सभी पर शून्य रहा, निराधार किसी के नहीं हैं सहारे।
यों गर्मी सर्दी सहके, कहो रो पड़ें कैसे न दुःख के मारे;
पाई बड़ाई भी क्या? जब हो गए सैकड़ों छाती में छेद हमारे।

× × ×

ये वियोग विभावरी दुःख छटा मुझ ही पर ?
व्याकुल हो रहा हूँ;
करती उर को ही विदीर्ण है, विद्युत्-वेदना ?
धीरज खो रहा हूँ।
बना सिंधु ही अश्रु के बिंदुओं को अपने को ?
"हितैषी" डुबो रहा हूँ।
जग सो रहा सुक्ख की नींद में है यक मैं—
दुखिया हूँ जो रो रहा हूँ।

"हितैषी"

स्वराज्य-संग्राम और सांप्रदायिक समझौते

(१)

'स्वराज्य' का शब्दार्थ, अपनी शक्ति द्वारा स्वतंत्र-रूप से सप्रकाश होकर विराजना है। भौतिक जगत् में सूर्य भगवान् स्वराज्य का स्वामी है। किंतु चंद्रमा तथा अन्य ग्रह, उपग्रह न केवल प्रकाश के विषय में, वरन् अपनी सत्ता तथा विद्यमानता के लिये भी सूर्य के द्वार के भिखारी हैं। इससे वे स्वराज्य-संपत्ति से शून्य हैं। मानवजगत् में जो महात्मा इस अमृत का पान कर पाते हैं, उनका सुंदर, सराहनीय स्वरूप सर्वोपमातीत, हो जाता है। उनके अंदर आत्म-संयम और जितेंद्रियता के आधार पर विशेष प्रकार की पवित्र आंतरिक शक्ति का स्रोत बहा करता है। वे अपने सुख और आनंद के लाभ के लिये अपने-आपको और अपने इष्टदेव, सर्वलोकेश प्रभु को छोड़कर कभी भूलकर भी किसी तीसरे व्यक्ति का मुँह नहीं ताकते। वे जिस बात को करना अपना कर्तव्य समझ लेते हैं, उससे फिर कभी पीछे नहीं हटते। कल्याण के मार्ग में विघ्न अनंत आते ही हैं। पर कोई प्रतिकूल बात उनका बाल बाँका नहीं कर सकती। वे सब बाधाओं का शिरोमर्दन करते हुए अपने निश्चित पथ पर स्थिर रूप से चलते जाते हैं। और, अंत में, वे किसी पर अन्याय अथवा अत्याचार करके उसके धन-संपत्ति को दबाकर बड़ा बनने का विचार कभी भी मन में नहीं लाते, और न अपने ऊपर किसी अन्य को अन्यायकारी हो सकने का कभी अवसर देते हैं।

(२)

जातियों के जीवन में स्वराज्य का पारिभाषिक भाव राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवहार में पूर्ण स्वाधीनता लिया जाता है। व्यक्तियों की भाँति जातियाँ भी सामाजिक रूप से अपने-अपने वातावरण, स्वभाव तथा अन्य बातों के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार से विकसित होती हैं। कहीं कृषि की प्रधानता है, तो दूसरी जगह वाणिज्य-व्यापार का खुला मार्ग है। कहीं विशेष शिल्प की सामग्री मौजूद है, तो कहीं दूसरे कला-कौशल की साधना प्राप्त हो रहे हैं। हरएक बात हरएक स्थान पर संभव नहीं। भिन्न-भिन्न देशों में, मानव-जीवन के सुख और विलास के लिये, भोजनाच्छादन के लिये, पठन-पाठन

* प्रेषक—स्वामी स्वराज्यप्रकाश।

और शिक्षा के लिये, सांसारिक उन्नति और आध्यात्मिक मंगल के लिये, अर्थात् प्रत्येक स्वाभाविक प्रवृत्ति को सावसर बनाने के लिये, प्रभु ने विचित्र प्रकार से साधन-सामग्री और प्रकृति के भेद कर दिए हैं। सामष्टिक रूप से वही जाति स्वराज्य के महार्घ मणि से सुभूषित समझनी चाहिए, जो अपने स्वभाव के अनुसार अपनी परिस्थिति से पूरा लाभ उठाने में पूर्णतया स्वतंत्र है। ऐसी जाति सब प्रकार से उन्नति-पथ पर चलती हुई, सब रुकावटों का सफलतापूर्वक सामना करेगी। यदि अन्य जातियाँ उसे उसकी बहुमूल्य भौतिक तथा सामाजिक संपत्तिशालिता से वंचित करने का पापात्मक संकल्प और प्रयत्न करेंगी, तो उन्हें उसको पराजित करने में लोहे के चने चबाने पड़ेंगे। वह दूसरे देशों पर चढ़ाई करने के दुर्विचार से मुक्त रहती हुई अपने घर को सँभालकर रखेगी और अपने सब प्रबंध, अपनी बुद्धि तथा स्थिति के अनुसार, स्वेच्छा-पूर्वक करेगी।

(३)

कोई समय था, जब भारतवर्ष में बसनेवाले लोग भी इस बहुमूल्य भूषण को धारण करते थे। उस समय वे सब अपने-आपको एक 'आर्य' जाति के अंग समझते थे और उसकी मान-मर्यादा की रक्षा के लिये मर मिटने को तैयार रहते थे। प्रत्येक सामाजिक अवयव शारीरिक अवयव की तरह दूसरे अवयवों के साथ क्षीर-नीर होकर रहता था। सब अवयव समानभाव से विकसित होते हुए, अपने-अपने कर्तव्य को पालन करने में अग्रसर बने रहते थे। फिर समय आया। चित्र का दूसरा पहलू सामने आया। स्वार्थ के भूत ने न-जाने, कहाँ से छिद्र पाकर प्रवेश किया। उसने असावधान, सोयी हुई प्रजा पर आक्रमण किया और उसके सिर पर सवार हो गया। नाना प्रकार की फूट फैलने लगी। शनैः-शनैः लाखों वर्षों की कमाई का सार हाथ से निकलने लगा। न केवल राजनीतिक और सामाजिक, बरन् आध्यात्मिक स्वराज्य भी इस मंदभाग्य जाति को अनधिकारी जानकर साथ छोड़ गया। हाँ, इतना संतोष तो है कि यद्यपि लगभग एक हज़ार वर्ष से यहाँ दूसरे लोगों का न्यूनाधिक दबाव चला आया है, तो भी स्वराज्य-संप्राप्ति की प्रवृत्ति और इच्छा अभी तक निःशेष नहीं हो पाई। यहाँ के रहनेवालों ने समय-समय पर खोई हुई संपत्ति को वापस लाने का यत्न भी किया है। भारत की लंबी और दुःखद दासता की कहानी में, ऐसे काले काल का कदापि संकेत नहीं मिलता, जब स्वराज्य-संग्राम सर्वथा ठंडा पड़ गया हो।

(४)

पर क्या कारण है कि इन सब बातों और प्रयत्नों के होते हुए भी देश न केवल परतन्त्र ही चला आता है, बरन् इसकी पराधीनता अधिकाधिक बढ़ती चली आई है? निःसंदेह इस प्रश्न के उत्तर कई होंगे। परंतु विशेष रूप से शोचनीय कारण यहाँ के रहनेवालों का समझौतों की विद्या से अपरिचित होना ही प्रतीत होता है। कदाचित् कुछ लोगों को इस कथन में अत्युक्ति और आश्चर्य प्रतीत हो। पर जब वे यहाँ के मध्यकालीन तथा वर्तमान इतिहास पर समालोचनापूर्वक दृष्टिपात कर लेंगे, तो उन्हें इसकी यथार्थता का निश्चय हो जावेगा। पूर्व कहे प्रकार के अनुसार, स्वराज्य वैयक्तिक और सामाजिक भेद से दो स्थलों पर स्थापित होता है। जो व्यक्ति स्वराज्य-सम्पन्न होना चाहे, उसे चाहिए कि कुछ बातों में अपनी परिस्थिति को अपने अनुकूल बनाने और शेष में अपने-आपको उसके अनुसार ढालने के लिये शक्तिसम्पन्न और तैयार हो। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति का प्रतिक्षण अपने समाज तथा अपने भौतिक वातावरण से किसी-न-किसी बात में अवश्य समझौता होता रहता है। जिन व्यक्तियों को इस समझौते को पूर्ण रूप देना आ जाता है, वे जीवन-यात्रा को सफलता से पूरा कर जाते हैं। इस समझौते के दो स्वरूप देख पड़ते हैं। प्रथम, कर्तव्य और दूसरे, अधिकार। यह अनुभव-सिद्ध बात है कि जो व्यक्ति सदा दूसरों से अधिकार तो चाहे, पर उनके प्रति कर्तव्य-पालन करने को कभी तैयार न हो, वह शीघ्र ही अपमानित होकर नष्ट हो जाता है। ऐसे लोगों का स्वराज्य कामना-मात्र ही रहता है।

(५)

सामाजिक जीवन में भी भिन्न-भिन्न अंगों का आपस में ठीक-ठीक समझौता करने के योग्य होना, सामाजिक विकास के लिये अनिवार्य है। यदि ऐसा न होगा, तो भिन्न-भिन्न दल एक दूसरे के मुक़ाबले में खड़े होकर शक्तिहीन हो जावेंगे। प्रतीत होता है, भारतीय जाति

इस विद्या को रामायण के युग में अच्छी तरह जानती थी। उस समय धर्म, बल, धन और नीति का जिस प्रकार संगठन हो रहा था, वैसा महाभारत तक पहुँचते-पहुँचते ढीला हो चुका था। घर की फूट ने महाभारत को नष्ट किया और इसी चुड़ैल ने हमें अभी तक तंग कर रक्खा है। अरब, ईरान और काबुल के निर्भीक घुड़चढ़े, सैनिक और डाकू यहाँ पर कभी भी पाँव न जमा सकते, यदि यहाँ पर वह पुराना भिन्न-भिन्न शक्तियों का संगठन कुछ शेष रहा होता और यदि जयचंद-ऐसे स्वार्थी और नीतिमंद व्यक्तियों का प्रादुर्भाव न हो गया होता। विद्या, बल और धन तो यहाँ कभी कम नहीं हुआ। हाँ, उन्हें ठीक-ठीक मात्रा में परस्पर जोड़नेवाले ऋषियों की कमी होती गई है।

(६)

यह बात सदा ध्यान में रखने योग्य है कि राजनीतिक विकास के लिये शुद्ध राजनीतिक समझौता ही अपेक्षित होता है। यदि कोई राजपूत किसी राजपूत या मराठे के विरुद्ध होकर किसी अन्य से मिलने को तैयार न होता, तो मुग़लों का साम्राज्य वायु के एक झकोरे से तिनकों के समान पल-भर में छिन्न-भिन्न हो जाता। और, यदि उस साम्राज्य के अंतिम दिनों में, उत्तर, मध्य तथा दक्षिण-भारत की आर्य (हिंदू) शक्तियाँ ठीक संगठित हो जातीं, तो अँगरेज़ी राज्य की स्थापना की भी कोई संभावना न हो सकती थी। सार यह है कि जिस राजनीति के सूक्ष्म दर्शन ने विदेशियों को यहाँ पर अधिपति बनाया है, उसी के अभाव ने यहाँ के निवासियों को अपने ही घर में परपादाक्रांत और निगड़ित कर रक्खा है।

(७)

इस समय चारों ओर राजनीतिक स्वराज्य के जयकारे गुँजाए जा रहे हैं। भारतवर्ष फिर से जग रहा है। क्या इस सारे आंदोलन का कोई स्थिर फल होगा? अवश्य होगा, पर एक शर्त है। यदि भिन्न-भिन्न दलों के परस्पर के समझौते ठीक, शुद्ध राजनीतिक स्वरूप को धारण करके सिद्ध होंगे, तो निःसंदेह सफलता होगी। इस मौलिक नियम की अवहेलना से मंदगति, दुर्गति और नाश को अनिवार्य जानना चाहिए। सबसे पहली बात जो यहाँ प्रत्येक राजनीतिक विचारक को खटके बिना नहीं रहती, वह यह है कि यहाँ प्रत्येक साम्प्रदायिक दल अपने-आपको अलग जाति समझ रहा है और उसी आधार पर पूरी जाति की स्वतंत्रता चाहता है। इस दशा में, एक ही देश में एक से अधिक जातीय स्वराज्य स्थापित नहीं हो सकते। परिणाम यह होगा कि इस आपस के संघर्ष से स्वराज्य किसी को भी न मिल सकेगा। जब तक विदेशियों की एक संगठित शक्ति के मुक़ाबले में यहाँ के सब दल भी एक रूप होकर संगठित होंगे, तब तक स्वराज्य स्वप्न-समान ही समझना चाहिए। प्रत्येक दल को दूसरे दलों के विकास में सहायक होना होगा। परंतु वर्तमान की गति तो उलटी ही देख पड़ती है। मुसलमान हिंदुओं को नीचा दिखाने के लिये अँगरेज़ों के साथ तो किसी समय भी मिलने को तैयार हो जाते हैं। परंतु यह संभव नहीं कि देश को स्वतंत्र बनाने के लिये हिंदुओं का सदा साथ देने को तैयार दिखाई दें। कुछ समय से पंजाब में सिक्ख भी अपने-आपको सर्वथा अलग समझ रहे हैं। राजनीतिक दृष्टि से ऐसी भावना विषरूप कहनी चाहिए। राजनीति का संबंध हमारे सबके लिये उचित भोजन, वस्त्र दिलाने और हमारे परस्पर के व्यवहार में समता स्थापित करने से है। ये सब दल एक देश के अंदर रहते हैं। एक ही मातृभूमि उनकी इन आवश्यकताओं को पूरा करती रही है और आगे भी करेगी। परदेशीय राज्य इस देश वालों को भूखा रखकर, अपना पेट भरना मुख्य बात समझता है। अतः उसके स्थान पर स्वदेशीय राज्य की स्थापना की आवश्यकता है। वही हमारे आपस के झगड़ों में भी न्याय को चरितार्थ करेगा। उसकी दृष्टि में सब समान अधिकार से युक्त होंगे। इस बात पर विचार करने से, सब दल एक जाति के अंग हो जाते हैं। वे अपने-अपने विचारों में भले पृथक् हों, परंतु राजनीतिक व्यवहार में वे परस्पर अभिन्न होकर काम कर सकते हैं।

(८)

जैसे शरीर के भिन्न-भिन्न भाग होते हैं, वैसे ही एक जाति के भी भाग होंगे। उनके होने से कोई हानि नहीं हो सकती। वे शरीर के अंगों के समान परस्पर जुड़कर रहनेवाले होने चाहिए। किसी का किसी पर अन्याय या अनुचित दबाव न हो। यदि बत्तीस करोड़ भारतीय लोगों में एक भी व्यक्ति को अछूत समझा जावेगा, तो यहाँ

एक जाति का भाव पैदा न हो सकेगा। और, एकता के बिना स्वराज्यसंप्राप्ति गगनपुष्प को सूँघने के समान हो रहेगा। इसी प्रकार जातपाँत के ढकोसले भी एकता के मार्ग में बड़े विघातक हैं। यद्यपि कहने को तो हिंदू-जाति एक है, पर इस जाति-विभाग ने वस्तुतः एक-एक व्यक्ति को अलग-अलग कर रक्खा है। जातीय भाव का इसके कारण सर्वनाश हो चुका है। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ की परिभाषा के अनुसार ही सदा सोचता है। देशहित के कार्यों में भी वह इस परिभाषा से पृथक् नहीं हो सकता। हमारे विचार में इस समय ब्राह्मणादि के प्रधान भेद भी सर्वथा निःसार, बनावटी, निरर्थक और हानि-कारक हैं। इनके मौलिक स्वरूप को हम सत्य मानते हैं और हमारा विश्वास है कि वह सदा सुखप्रद और विकास-कारक होगा। परंतु उनका वर्तमान स्वरूप अत्यंत अनुचित घोर अन्याययुक्त है। इस भेद को स्थिर रखकर समाज को रत्ती-भर भी लाभ नहीं हो रहा है। हाँ, इससे हानि होने में, रत्ती-भर भी शंका नहीं। इसी प्रकार, महिला-जाति बड़ी जाति का आधा भाग है। जब तक यह भाग भी दूसरे भाग के साथ स्वराज्यरसपान के लिये पूरा योग्य न हो या न बना दिया जावे, तब तक स्वराज्य पूरा लाभकारी न हो सकेगा। राजनीतिक अंश में चाहे स्वराज्य प्राप्त हो तो हो जावे, परंतु उसका सामाजिक विकास तभी होगा, जब जाति के अवांतर विभाग सम-बल और समभाव होकर परस्पर सहायक हो सकें।

(९)

जो लोग अपने-आपको एक जाति के रूप में समझते हैं, उनके अंदर इन दुर्बलताओं के होते हुए भी, उन्हें राजनीतिक स्वराज्य मिल सकता है। हमारा विश्वास है कि यदि यहाँ केवल हिंदू लोगों का ही निवास होता, तो स्वराज्य भी कब का मिल गया होता और इन बातों का भी इलाज हो गया होता। अतः असली रुकावट, जिसके कारण स्वराज्य नहीं मिल रहा है और जिसके रहने से मिलेगा भी नहीं, वह राजनीतिक निर्णयों को मज़-हबी और सांप्रदायिक दृष्टिकोण से सोचना है। यह अत्यंत हानिकारक और कमसमझी की बात है। राज-नीतिक विकास उन शक्तियों के समझौते से होगा, जिन-को उससे पुष्टि मिलनी है। वे चार हैं—(१) विद्या (२) शारीरिक बल और वीरता (३) धन और (४) श्रम। भारतवर्ष में नागरिक और ग्रामिक विभागों का समझौता भी आवश्यक है। धन के विभाग में व्यापार और शिल्प सम्मिलित हैं। कौन-सा देश है, जहाँ ये विभाग नहीं हैं? इनका होना और परस्पर मिलकर उन्नति करना ही तो किसी देश की सच्ची उन्नति का चिह्न है। दूसरे देशों में ये सब विभाग एक ही जाति के अंग बनकर रहते हैं। पर इस भाग्यहीन देश की विचित्र दशा है। यहाँ पर हिंदू-धन और हिंदू-विद्या, मुसलमान-धन और मुसलमान-विद्या इत्यादि इस प्रकार से विभाग समझा जाता है। भला यह भी कोई बुद्धि-मत्ता की बात है? परिणाम क्या है? यहाँ पर ये सब विभाग तीन-चार भिन्न-भिन्न स्थलों पर या तो बिखरे पड़े हैं और या अस्वाभाविक समझौते का विष पीकर निश्चेष्ट पड़े हैं। धन धन के साथ और विद्या विद्या के साथ खुली तरह मेल नहीं कर पाते। मज़हब का भेद मार्ग को रोककर खड़ा है। इसी कुनीति का यह फल है कि मुसलमान लोग भारतवर्ष से कहीं बढ़कर ईरान और अरब की उन्नति सुनकर प्रसन्न होते हैं।

(१०)

दोनों बातें राजनीतिक दृष्टि से ठीक नहीं हैं। यदि हिंदू-बनिया मंदिर में और दूसरा मसजिद में जाकर पूजा कर लेता है, तो क्या हुआ। देशोन्नति में उनका बनियापन मुख्य है, न कि उनकी पूजा का प्रकार। यदि वे बुद्धिमान् हैं, तो उन्हें आपस के व्यवहार में पूजा की बात को कभी करना ही न चाहिए। उन्हें तो यह सोचना चाहिए कि वे किस तरह मिलकर अपने बनियापन के बल पर अपने देश को उन्नत कर सकते हैं। इसी प्रकार, अन्य भी जितने काम और व्यवसाय हैं, उन सबका स्वाभाविक संगठन ही राजनीतिक लाभ का हेतु हो सकता है। ये सब अवांतर संगठन जातीय महासंगठन के अंदर समा-विष्ट हो सकेंगे। इसी प्रकार यदि मुसलमान भारतवर्ष को सब देशों से, जिनमें अरब भी है, राजनीतिक दृष्टि से अधिक प्यारा नहीं प्रतीत करते, तो उन पर इस देश की राजनीतिक उन्नति के विषय में विश्वास नहीं किया जा सकता। वे किसी भी समय, किसी मुसलमानी देश के लिये, अपने इस देश को भी और हिंदुओं को भी क़ुर्बान कर सकते हैं।

(११)

कितने आश्चर्य की बात है कि जो धर्म मनुष्य-मात्र को भाई-भाई बनाकर प्रभु के साथ जोड़नेवाला हो, वही सांसारिक व्यवहार में सबसे बड़ी अलग करने-वाली शक्ति बनकर हानिकारक हो। पर नहीं, वस्तुतः आध्यात्मिक धर्म के आधार पर संसार में कभी भी फूट नहीं पड़ी। उसका सर्वत्र और सर्वदा एक ही स्वरूप रहता है। वह प्रेम, सत्य और भक्ति का रंग है। वह कभी फीका नहीं पड़ता और न कभी भेदभाव को सह सकता है। वह सदा संयोजक शक्ति ही बनकर आता है। वियोजक तो उसके बाहर के दिखावटी रूप ही हैं। उस निर्मल चित्त-प्रसाद के आधार पर कहाँ समझौते होते हैं? झगड़ा तो मंदिर और मसजिद पर, अज़ां और शंख-घड़ियाल पर होता है। दूसरे देशों में इन बातों को अब राजनीतिक क्षेत्र से सर्वथा निकाल दिया गया है। कोई समय था, जब वहाँ भी इनके कारण नित्य तलवार चमकती थी। पर अब वहाँ पर इस विषय में जनता का स्वरूप बहुत परिवर्तित हो चुका है। पर यहाँ तो सारा जीवन ही इन बातों की परिधि पर ही घूम रहा है। जब से कौंसिलें आदि बनी हैं, तब से इनका मू और भी बढ़ गया है। जिनका वस्तुतः अंदर से इनमें किसी बात पर भी विश्वास नहीं होता, वे पढ़े-लिखे बुद्धिमान् नेता भी जब इनकी दुहाई देते हैं, तो य समझना चाहिए कि अभी स्वराज्य दूर है। विदेशी सरकार तो भला हमें इन बातों के आधार पर नचा औ परस्पर लड़ा-भिड़ा भी सकती थी, पर कांग्रेस आ स्वदेशीय राजनीतिक सभा-समाजों का इन्हीं बातों आधार पर राजनीतिक समझौते करने का प्रयत्न देखक तो बड़ी निराशा होती है। कुछ हो, हम तो य समझते हैं कि इस बालू के ढेर पर स्वराज्य-भव कभी भी खड़ा नहीं हो सकता। इस देश में मनुष्य तभी आराम से जीवन बिताने के योग्य होगा, जब इ निर्मूल, निरर्थक भेद-भावना को राजनीतिक और साम जिक व्यवहार में कभी भी किसी समझौते का आधा न बनाया जावेगा। तभी सच्ची एकजातीयता पै होगी और तभी स्वराज्य-संग्राम का यह प्रथम प्रकार समाप्त होगा।

विश्वबंधु

सरयू-स्तवन

१

जननि सरजु तव तीर नीर विधिवत अवगाहत ;
षटविकार तजि शुद्ध भाव पद प्रेम उमाहत।
ते तन तजि-तजि रामरूप साकेत सिधावैं ;
यह अजगुति गति देखि 'जोतिसी' बोध न आवैं।
मनि-मंडित मुकुट अनंग सर,
धनुष पीतपट कटि लसैं ;
तव तरल तरंगनि मैं रुचिर,
रामरूप केतिक बसैं।

बसि विहंग तव तीर विटप कोटर प्रमोद-जुत ;
सुरतैं अधिक स्वतंत्र पुलिन बिहरत नित इत-उत,
मीन लोल कल्लोल करत कच्छप सुनीर मैं ;
शेष विभव गत शेष भरत सुखजल गँभीर मैं।
तट अनत मदांध गजेंद्र घन,
सघन-घंट रव सुनि त्रसित ;
रिपुरवनि नमित बिन इत नृपति,
तुच्छ सकल संपति लसति।

जगवंदिनि गति गूढ़ सुछंदिनि मानस-नंदिनि ;
भवभंजिनि रंजिनि त्रिलोक अघओक-निकंदिनि।
मुक्त हंस भुवभगिनि बसिष्ठ कुमारि पुण्यपथ ;
धार धराधर हार 'जोतिसी' प्रकृति स्वर्गरथ।
रबिवंस कीर्ति सुर द्रुमलता,
अवध पताका दृढ़ पटल ;
तव तरल तरंगनि मैं अटकि,
भटकि मुक्ति बिहरति अटल।

जे मज्जत ते तरत तरत ते तरत न मदजुत ;
रत पीवत सुचि सलिल निचोरत पाप-ताप उत।
तट घट काक बलाक इंद्र लौं निदरत मन महँ ;
रंक नृपति पति बिभव तुच्छ, निरखत छन-छन महँ।



पं० रामनाथ "ज्योतिषी" अयोध्या राज्य

तव जीवन जीवनि 'जोतिसी'
पाय अवध उर मद भर्‌यो ;
दोउ कूल तरंग-निसेनि-पथ,
रामरूप इत अवतर्‌यो।

तुमहिं बिलोकत जे न बिलोकत पुनि जमराजहिं ;
पय पीवत उर धारि मातु पयपान न साजहिं
जे तव प्रेम निमग्न मग्न भवसिंधु होत नहिं ;
तट सेवत नहिं फेरि 'जोतिसी' सेवत अनतहिं।
जे मज्जत निरय न मज्जहीं,
तरत पूर्वपथ संतरत ;
जगजननि सरजु तव तीर जे,
मरत न ते कबहूँ मरत।

रामनाथ "ज्योतिषी"

उपालंभ

१

कैसे हो खिलाड़ी कैसा खेलते अनोखा खेल,
चाहे जब जैसे तुम पाँसे पलटाते हो।
देते हो किसी को उच्च पद तो किसी को नीच,
एक को सुखी तो एक दुखिया बनाते हो।
रङ्ग-महलों में रँगरेलियाँ मची हैं कहीं,
ठोकरें किसी को पर-द्वार की खिलाते हो।
कौन कहता है समदरशी तुम्हें हे नाथ!
कैसा समता का यह भाव दिखलाते हो।

२

कैसी थी अहिल्या, शबरी को जानता है कौन,
गणिका तरी थी लोग कैसे अनुमानेंगे।
अङ्क में बिठाया, नहलाया आँसुओं से गीध,
देखा ही नहीं जिन्होंने कैसे सच मानेंगे।
रहता कहाँ था रयदास, सधना, मलूक,
कैसा था अजामिल, न कोई पहिचानेंगे।
हम तब जानें जब आओ अब काम नाथ!
झूठी न तो 'श्रीपति' कहानी सब जानेंगे।

३

ममताविहीन होती आपकी कुनीति जो न,
निपट निशंक नट-नागर कहाते क्यों।
भूप हरिचन्द को अनाथ के समान हाय!
डोम-हाथ दीनानाथ! आप बिकवाते क्यों।
बनते भिखारी द्वार-द्वार के न पाण्डु-पुत्र,
आरे पुत्र-शीश पै पिता से चलवाते क्यों।
सरस सनेही हो कि नीरस निठुर नाथ!
अधिक कहें क्या और पोल खुलवाते क्यों।

४

दुखता नहीं क्यों उर आपका दुखी को देख,
नाहक अनाथ-नाथ आप कहलाते हैं।
कैसे हैं कठोर कैसी सीख ली अनोखी बाम,
लाज अपने ही हाथ नाथ! क्यों गँवाते हैं।
दीन ही भले हैं तुमसे तो अरे दीनबन्धु!
दुःख में दुखी के वे तो आशु दुख जाते हैं।
'श्रीपति' बताते क्यों न आप कलपाते कौन,
उन्हें कलपाते जो कहीं न कल पाते हैं।

रमाशंकर मिश्र "श्रीपति"

रामेश्वर-मदुरा-यात्रा

पिछले दिनों की बात है कि योरप के इटली-प्रदेश से लगभग ३०० यात्री भारत में भ्रमणार्थ आए थे, जिनमें वहाँ के प्रधान मंत्री मुसोलिनी की पुत्री तथा उस देश के अन्य कई प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वान् राजसभा के सभासद्, पत्रों के संपादक इत्यादि भी थे। भ्रमण के पश्चात् जब यह यात्रि-मंडल अपने देश को वापस जाने लगा, तो इससे पूछा गया कि "आपको भारत में किस चीज़ ने विशेष आकृष्ट किया?" इसने उत्तर में कहा कि "दक्षिण में मीनाक्षी का मंदिर और उत्तर-भारत में ताजमहल इस देश की प्राचीन शिल्पकला और भवन-निर्माण-कला के अद्भुत नमूने हैं।" क्या आपको मालूम है कि मीनाक्षी का यह सुप्रसिद्ध मंदिर किस नगर में है? यह मदुरा में है, जिसका वर्णन आज हम पाठकों के सम्मुख रक्खेंगे।

मदुरा

कहते हैं कि उत्तर-भारत के मदुरा-नगर के नाम पर ही दक्षिण में मदुरा (मथुरा) नगर स्थापित किया गया था। यह कथन सर्वथा निराधार नहीं प्रतीत होता। पहली बात यह कि तामिल-भाषा में—"थ" अक्षर के स्थान में प्रायः "द" का ही प्रयोग होता है। जैसे—"रंगनाथ" को तामिल में "रंगनादन" इस प्रकार कहा जाता है। दूसरी बात यह है कि न केवल मथुरा अपितु काशी इत्यादि तीर्थ के नाम पर भी यहाँ "शिव-काशी", "कांतीवरम्" (काशीवरम्) इत्यादि स्थान हैं, जो इस प्रांत में बड़े तीर्थ-स्थान समझे जाते हैं। अस्तु।

मद्रास-नगर से मदुरा दक्षिण की ओर ३४८ मील की दूरी पर है। तीसरे दर्जे का रेल-भाड़ा ४॥=) लगता है। मद्रास से यहाँ तक का लगभग २० घंटे का सफ़र है। ठहरने के लिये स्टेशन के पास ही म्युनिसिपैलिटी की ओर से एक धर्मशाला है। (धर्मशाला को इस प्रांत में "छत्रम्" या "चौल्टरी" कहा जाता है।) जिसमें भिन्न-भिन्न कमरों के अनुसार कुछ दैनिक भाड़ा भी देना पड़ता है। इस धर्मशाला के पास ही एक नई धर्मशाला एक मारवाड़ी सज्जन ने बनवाई है, जिसमें उत्तर-भारतीयों को विशेषता दी जाती है। शहर में और भी २-३ "छत्र" हैं।

आबादी की दृष्टि से मदुरा इस प्रांत में मद्रास से दूसरे नंबर पर है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह नगर बहुत प्राचीन है। यह कई हज़ार वर्ष तक हिंदू-राजाओं की राजधानी रहा है। अँगरेज़ इसे दक्षिण-भारत का "एथेंस" कहते हैं। इसकी आबादी २ लाख के लगभग है। मदुरा-ज़िले का केंद्र-स्थान होने के अतिरिक्त रामनद-ज़िले का केंद्र-स्थान भी यही है। कचहरी, स्कूल, अस्पताल, कमेटी, ज़िलाबोर्ड के अतिरिक्त यहाँ दो कालेज भी हैं। शिक्षा-संबंधी संस्थाएँ अधिकतर ईसाइयों द्वारा ही परिचालित हैं।

यहाँ की साड़ियाँ और लकड़ी का सामान प्रसिद्ध है।

मीनाक्षी-मंदिर

यहाँ की सबसे अधिक आकर्षक वस्तु यही मंदिर है, जिसे देखने के लिये न केवल भारत के सब प्रांतों से, अपितु संसार-भर के यात्रीगण यहाँ आते हैं। इसी मंदिर के कारण मदुरा का भारत के तीर्थों में ऊँचा स्थान है और रामेश्वरम् आते-जाते यात्री यहाँ अवश्य उतरते हैं।

मंदिर शहर के बीच में है और उसी के चारों ओर आबादी है। मंदिर क्या है? सच पूछो तो एक क़िले के समान है। इसकी रचना, बनावट (Plan) ६०, ७० और ८० फ़ीट तक ऊँची दीवारें, स्तंभ और उन पर खोदे गए चित्र और नक़्क़ाशी के काम वस्तुतः प्राचीन हिंदुओं की स्थापत्य-विद्या (Engineering) और शिल्पकला (Architecture) का जीवित-जागृत नमूना है। मंदिर के चारों ओर एक बड़ा परकोट है। उसके चारों ओर फिर दूसरा विस्तृत परकोट है। इस प्रकार चार बड़े खुले, ऊँचे और विस्तृत परकोट हैं। इस मंदिर-भवन—परकोटों—के भीतर जाने के लिये चारों दिशाओं में गगन-चुंबी प्रवेश-द्वार हैं। जिन्हें यहाँ 'गो-

पुरम्' कहा जाता है। ये गोपुरम् ८ से १२ मंज़िल तक ऊँचे हैं और उनके ऊपर मंदिर की चोटी है।

मंदिर में चारों ओर भिन्न-भिन्न पौराणिक देवी-देवताओं के चित्रों और मूर्तियों का होना तो स्वाभाविक ही है, पर हमें तो उनकी शिल्पकला से ही संबंध है। ये मूर्तियाँ आकार में बड़ी ऊँची और विशाल होती हुई भी एक ही पत्थर की बनी हैं। बीच में कहीं जोड़ लगाने की आवश्यकता ही नहीं हुई। फिर हमने ऐसी-ऐसी मूर्तियाँ भी देखीं, जो पत्थर के चार ऊँचे स्तंभों के बीच में रक्खी हुई हैं। ये स्तंभ यद्यपि एक ही पत्थर के हैं, पर कुछ ऐसे विशेष मसाले से तैयार किए गए हैं कि यदि उन पर किसी पत्थर वा ईंट के टुकड़े से ठोकर लगाई जावे, तो सारंगी-सा मधुर शब्द निकलता है।

मंदिर के भीतर बड़े-बड़े प्रांगण, लंबे-लंबे परिक्रमा-चक्र और छते हुए विस्तृत बरामदे-से बने हुए हैं। एक प्रांगण ऐसा है, जिसमें १ हज़ार स्तंभ हैं और जहाँ पर १ हज़ार और इससे अधिक ब्राह्मणों का भोज होता है। मंदिर के छते हुए बरामदों और प्रांगणों में बाज़ार भी लगे हुए हैं।

मीनाक्षी कौन थी ?

पाठक पूछ सकते हैं कि यह मीनाक्षी कौन थी ? पौराणिकों के देवी-देवताओं में तो इसका नाम सुना नहीं जाता। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका उत्तर यही दिया जाता है कि मध्य-काल में "सौंदर्यम्-पांड्यम्"-नामक एक हिंदू-राजा की यह लड़की थी। वह अपने पिता की बड़ी प्यारी थी, उसकी मृत्यु हो गई। राजा ने अपनी पुत्री की अंतिम स्मृति में एक समाधि बनवाई, जिसमें उसकी मूर्ति भी रक्खी। बस, यही मीनाक्षी का वृत्तांत है। पीछे से हिंदुओं ने अपने स्वभाव के अनुसार इसके जन्म और जीवन के संबंध में कई विचित्र कल्पनाएँ गढ़ लीं, जिसके फल-स्वरूप इसकी पूजा होने लगी।

मंदिर के संबंध में कुछ अन्य उल्लेखनीय बातें

(१) मंदिर के अंदर जूता, स्लीपर, बूट इत्यादि के ले जाने की आज्ञा नहीं है, पर यदि कोई सूट, बूट, हैट इत्यादि पहने अँगरेज़ी वेश में जावे, तो उसके लिये कोई रुकावट नहीं है। मंदिर के बाहर जो निर्देश-पट्टिका (Noticeboard) लगी है, उसमें ऐसे वेश को Uniform कहा गया है।

(२) मंदिर के अंदर अछूत भाई नहीं जा सकते। पर अछूत कौन हैं, इसका फ़ैसला ब्राह्मण देवता के हाथ में ही है। मदुरा के इस मीनाक्षी-मंदिर में तेली और लुहार जा सकते हैं, पर बाडार, जो इधर बड़ी प्रभावशाली जाति है, नहीं जा सकते। परंतु ट्रिचनापली के "श्रीरंगम्"-मंदिर में, जो यहाँ एक प्रसिद्ध वैष्णव-मंदिर है, बाडार जा सकते हैं और "श्रीवलीपुत्तूर" और "रामेश्वरम्" के मंदिर में तेली, बाडार कोई भी नहीं जा सकता। इधर ईसाई-मुसलमान बिना रोक-टोक जा सकते हैं। जब हम अपने एक मित्र के साथ यह मंदिर देख रहे थे, तब हमारे साथ एक बूढ़ा मुसलमान भी था। इस प्रांत की छूत-अछूत समस्या बड़ी पेचीदा और बेसिर-पैर की है। उसमें अक़्ल का कोई दख़ल नहीं है। इस विषय को एक पृथक् लेख द्वारा हम पाठकों की सेवा में रखने का प्रयत्न करेंगे।

(३) इस मंदिर में ३०० के लगभग वेतन-भोगी पुजारी हैं, जिन्हें यहाँ "भट्टार" कहा जाता है और जो अपने-आपको 'ब्राह्मण' ही कहते हैं। साथ ही, इस मंदिर के साथ संबद्ध २०० या २५० देव-दासियाँ भी हैं। इन भट्टारों और देवदासियों को मंदिर की ओर से ज़मीनें मिली हुई हैं और यात्रियों से जो कुछ ये झटकते हैं, वह अलग है। इस अवस्था में मंदिर की आड़ में जो व्यभिचार-कांड होता है, उसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है।

(४) "देवोत्तर संपत्ति क़ानून" (Hindu Endowment Act) के अनुसार मंदिर की सारी आय सरकारी कोष में जमा होती है। इसका कार्यालय मंदिर के भीतर ही है। मंदिर का सब प्रबंध और हिसाब-किताब सरकार द्वारा नियुक्त एक ट्रस्ट के अधीन है। मद्रास-प्रांत में प्रायः सभी मंदिरों का प्रबंध हाल ही के बने इसी क़ानून के अनुसार होता है।

(५) इस मीनाक्षी-देवी के बहुमूल्य रेशमी और ज़री के वस्त्र और आभूषण भी हैं, जिनकी क़ीमत १ करोड़ रुपए तक कूती जाती है। ये वस्त्र भी प्राचीन कारीगरी के अद्भुत नमूने हैं। यह सब सामान सरकारी खज़ानों में ही बंद रहता है। और किसी विशेष यात्री को ही दिखाया जाता है। वैशाख-मास में रथ-यात्रा का बड़ा उत्सव होता है, जिसमें मीनाक्षी को रथ में बिठाकर

नगर में घुमाते हुए शहर के पास एक तालाब में ले जाया जाता है। उस अवसर पर ये सब बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण उसे पहनाए जाते हैं। प्रसंग-वश हम पाठकों को यह भी बता देना चाहते हैं कि इस बड़े रथ को, जो मूर्ति के अतिरिक्त कई पुजारियों से लदा होता है, खींचनेवाले वही लोग होते हैं, जिन्हें "अछूत" कहा जाता है, और जिन्हें मंदिर-प्रवेश का अधिकार नहीं है। और यदि ख़ुदा-न-ख़ास्ता ये अछूत भाई समय पर न आवें और चकमा दे दें, वा बीच में ही छोड़कर चले जावें, तो देवी-समेत रथ तब तक वहीं पड़ा रहेगा, जब तक वे फिर अगले दिन न आएँगे। ऐसे ठोस परिश्रम के समय छूत-छात न-जाने कहाँ भाग जाती है।

(६) इस मंदिर में—और दक्षिण-भारत के प्रायः सभी मंदिरों में—ऐसे चित्रों और मूर्तियों की संख्या पर्याप्त होती है, जो एकदम नग्न होती हैं। कई जगह तो नग्न चित्रों और मूर्तियों को इतना अश्लील बना दिया गया है कि इसका यहाँ उल्लेख करते भी लज्जा का अनुभव होता है।

तिरुमल नायक का महल

मदुरा के यात्री को यह महल अवश्य देखना चाहिए। यह भी हमारी प्राचीन स्थापत्य (Engineering) और शिल्प-विद्या का एक अद्भुत नमूना है। कहते हैं, अँगरेज़ों के आने से पूर्व यह महल सारे शहर को घेरे हुए था। अब अँगरेज़ी सरकार ने इसका अधिकांश तोड़-फोड़कर कुछ ही रहने दिया है। यह अवशिष्ट अंश भी विस्मय-जनक है। इस महल की विशेषता यह बताई जाती है कि इसके विशाल और ऊँचे स्तम्भ, मोटी और मज़बूत दीवारें तथा छतें और उन पर सुंदर नक़ाशी और चित्र इत्यादि सभी कुछ केवल मिट्टी से ही बनाई गई हैं। इस महल में ईंट-पत्थर का कहीं भी प्रयोग नहीं किया गया। यद्यपि यह महल कई सौ वर्ष का पुराना कहा जाता है, पर देखने से हाल ही का बना प्रतीत होता है।

यह विशाल राजकीय प्रासाद आजकल सरकारी अदालतों के काम आ रहा है, जिसके लिये भद्दी तोड़-फोड़ भी की गई है।

मदुरा में आर्य-समाज

सार्वदेशिक सभा दिल्ली और प्रादेशिक सभा लाहौर की ओर से मदुरा में आर्य-समाज का केंद्र भी स्थापित है, जिसमें गत ८-९ वर्ष से श्रीरामजी शर्मा बड़े उद्योग से कार्य कर रहे हैं। कर्मयोगी स्वामी श्रद्धानंद-जी ने ही आपको इस शुभ-कार्य के लिये उत्साहित किया था। पौराणिकों के गुरु इस नगर में सब प्रकार की विरोधिनी और प्रतिकूल शक्तियों के होते हुए भी, आपने जिस लगन, साहस और धीरता से आर्य-समाज को यहाँ जमाया है, वह अवश्य ही स्तुत्य है। आपका जन्म-स्थान ज़िला बिजनौर (यू० पी०) है।

इस नगर में दक्षिण-भारतीय हिंदी-प्रचार-संघ मद्रास की ओर से हिंदी का केंद्र भी है, जिसमें संघ की ओर से दो समाज हिंदी-प्रचार का कार्य करते हैं। इनका प्रयत्न भी सराहनीय है।

रामेश्वरम् की ओर

मदुरा से रामेश्वरम् १०० मील दूर दक्षिण की ओर है। तीसरे दर्जे का रेल-भाड़ा १॥≈) है। मदुरा से रामेश्वरम् जानेवाली कई गाड़ियाँ हैं। मद्रास (इगमोर) से भी एक सीधी गाड़ी रामेश्वरम्-एक्सप्रेस प्रातःकाल ६ बजे छूटता है, जिससे अगले दिन प्रातः ८ बजे रामेश्वरम् पहुँच जाते हैं। मद्रास से रामेश्वरम् का तीसरे दर्जे का रेल-भाड़ा ४॥≈)॥। है। यह एक्सप्रेस तथा अन्य भी रामेश्वरम् की ओर जानेवाली गाड़ियाँ मदुरा से होकर ही जाती हैं।

हिंदुओं की दृष्टि में रामेश्वरम् तीर्थ का क्या महत्त्व है और इस तीर्थ का क्या इतिहास बताया जाता है, यह लिखने की आवश्यकता नहीं है। यह सर्वविदित ही है। हम यहाँ मंदिर के विषय में कुछ बातें पाठकों के सम्मुख रखना चाहते हैं—

(१) रामेश्वरम् का मंदिर समुद्र के किनारे पर है। मंदिर के बीच में "नंदी" बैल की विशाल मूर्ति है। मंदिर यद्यपि पर्याप्त फैला हुआ है और अभी फैलाया जा रहा है, पर शिल्पकला की दृष्टि से मदुरा के मीनाक्षी-मंदिर से बहुत घटिया है।

(२) मंदिर के भीतर मूर्ति के दर्शन-अर्चन और पूजन के लिये ।-) का टिकट लगता है। बिना टिकट लिये द्वारपाल आपको दर्शन नहीं करने देगा। यदि कोई भक्तजन (?) गंगाजल-द्वारा पूजा करना चाहता हो, तो इसके लिये २) का अलग टैक्स है, परंतु यह जल वस्तुतः गंगा का ही है, इसके लिये कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

(३) मंदिर के भीतर यहाँ भी अछूतों का प्रवेश निषिद्ध है, यद्यपि श्रीरामचंद्र ने स्वयं भिल्लनी के बेर बड़ी प्रसन्नता के साथ खाए थे। मुसलमान बे-रोक-टोक जाते ही नहीं, पर मंदिर में प्रवेश करते हीं उनकी कई दूकानें भी मिलती हैं। यह देखिए हिंदुओं की अक़्ल !

(४) सिर मुँड़ाए बंगाली-विधवाओं की यहाँ भी दुर्दशा देख पड़ी। उत्तर-भारत के तीर्थों पर तो इनकी शोचनीय दशा कई बार देखी थी, पर यहाँ भी वही अवस्था देख बड़ा दुख हुआ। इन तीर्थों पर केवल बंगाल-प्रांत की विधवाएँ ही क्यों पाई जाती हैं और अन्य प्रांतों की नहीं ? क्या अब भी, हमारे बंगाली-हिंदू इस प्रश्न पर तनिक गहराई से सोच, अपनी विधवा-बहनों को इस दुर्दशा से बचाने का यत्न करेंगे ?

(५) रामेश्वरम् नगर एक द्वीप है। उसके दो ओर समुद्र है और दो ओर समुद्र के जलीय अंश हैं, जिन्हें उपसमुद्र कहा जा सकता है। इस उपसमुद्र में जहाज़ इत्यादि भी चलते हैं। इस उपसमुद्र पर पुल बँधा हुआ है। जहाँ से रेल जाती है। परंतु इस पुल के साथ-साथ ही बड़ी-बड़ी चट्टानों और पत्थरों के क्रमबद्ध ढेर पड़े हुए हैं, जो लगभग जल ही में हैं, परंतु रेलगाड़ी से स्पष्ट दीखते हैं। कहते हैं, यही श्रीरामचंद्र के सेतु के अंश हैं। सम्भवतः चट्टानों के बने इस भग्न पुल को देखकर ही सरकार ने उसके पास ही रेल का पुल बनाया है।

धनुष्कोटी और सेतुबंध

रामेश्वरम् से ।) तीसरे दर्जे का रेल-भाड़ा धनुष्कोटी जाने के लिये लगता है। इसे भारत का दक्षिण अंत ही समझना चाहिए। यहीं से लंका को जहाज़ जाते हैं। रेलगाड़ी को लंका जानेवाले जहाज़ के एकदम साथ लकड़ी के प्लेटफ़ार्म द्वारा मिला दिया गया है। यह बंदरगाह देखने योग्य है। धनुष्कोटी-स्टेशन से लगभग १॥ मील पैदल चलकर पूर्व-दक्षिण की ओर समुद्र-तट पर "सेतुबंध" है, जहाँ पर पौराणिक भाइयों के अनुसार श्रीराम ने समुद्र के पुल का दूसरा भाग बाँधने का निश्चय किया था और पूजा इत्यादि की थी। यहाँ कोई पक्का मंदिर वा घाट नहीं है। समुद्र-तट के पास ही झोंपड़े में शिव की मूर्ति रक्खी हुई है, जहाँ लोग पूजा इत्यादि करते हैं। सेतुबंध पर छप्पर की ३-४ बारें भी पड़ी हुई हैं, जहाँ यात्री विश्राम, स्नान-पूजा इत्यादि करते हैं।

सरकार की ओर से एक निर्देश-पट्टिका (Sign board) भी लगा हुआ है, जिसमें यात्रियों को निर्देश किया गया है कि वे समुद्र में ३ फ़ीट से अधिक गहराई के जल में स्नान न करें।

उत्तर-भारत के यात्रियों के लिये कुछ काम की बातें

उत्तर-भारत से यात्रियों की बड़ी संख्या इधर तीर्थ-यात्रा के लिये आती रहती है। उनके सुभीते के लिये हम यहाँ एक-दो बातें निवेदन करना आवश्यक समझते हैं—

(१) इधर का भोजन प्रायः उत्तर-भारतीयों के अनुकूल नहीं पड़ता। इसलिये उसमें विशेष सावधान रहने की आवश्यकता है। उत्तर-भारत की तरह यहाँ ढाबे इत्यादि नहीं हैं, होटल ही हैं। जिनमें काफ़ी लाल-मिरची, इमली, तेल इत्यादि गर्म और स्वास्थ्य-नाशक चीज़ों का बहुत मिश्रण रहता है। शुद्ध घी तो दुष्प्राप्य है, और दूध की तो इधर न्यूनता है ही। इसलिये यात्रीगण यदि स्वयंपाकी हों, तब तो बहुत अच्छा है; नहीं तो मदुरा और रामेश्वरम् में उत्तर-भारत से आए लोगों की एक-दो पूरी की दूकाने हैं उन्हीं से काम चलाना चाहिए।

(२) यात्रीगण यदि जल को एक बार उबाल लें और फिर ठंडा हो जाने पर उसे पिएँ, तो कई व्याधियों से बचे रहेंगे।

(३) इन तीर्थों पर हिंदी से काम चल सकता है।

(४) इधर गँठकतरों का भी दौर-दौरा है। वैसे तो मनुष्य को सदा ही सावधान रहना चाहिए, पर यहाँ यात्रियों को विशेषरूप से सावधान रहने की आवश्यकता है; क्योंकि वे एक अनजान परदेस में होते हैं।

(५) पंडों और उनके एजंटों के हाथों भोले-भाले यात्रियों का बहुत-सा धन नष्ट होता है। इधर के पंडे उत्तर-भारतियों को अनजान समझ विशेषरूप से ठगने की कोशिश करते हैं। इसलिये यात्रियों को उनसे भी यथाशक्ति सावधान रहना चाहिए।

दीनानाथ

अतीत

अहा ! तू कितना मधुर, अतीत !
शैशव की लवली लीलाएँ
बाल्यकाल की कल क्रीड़ाएँ
मृत्युलोक को स्वर्ग बनाकर
गईं सदा को बीत।

उन सबको मैं आज स्मरण कर
बन जाता विदेह-वर क्षण-भर
किंतु जानकर अब उनको गत
हो जाता मुख पीत।

भ्रात-भगिनि-मंडल में मिलकर
अट्टहास्य वह करता खिलकर
अब न मिलेगा; मानो जीवन
हुआ सदा को शीत।

आज हाय ! वे ही बनिकाएँ
वैसी ही कोमल कलिकाएँ
वे ही विकसित पुष्प सरस फल
लेते हृदय न जीत।

भ्रमर-गुञ्ज की कहाँ मधुरिमा
कहाँ पक्षि-कुल-कलरव-गरिमा
पवन-स्पर्श-सुधा-सागर तो
गया मान लो रीत।

दृष्टि जहाँ भी पड़ जाती है
पूर्व-स्मृति में अड़ जाती है
सुख तो मानो हुआ हाय ! अब
भूतकाल का गीत।

तेरा प्रकृत स्वरूप प्रतिक्षण
बनता जाता परम विलक्षण
होती अंतर-संग मधुरता
बढ़ती हुई प्रतीत।

हरिदत्त दुबे

रहस्यवाद और महात्मा कबीर

मनुष्य-जीवन में एक समय आता है, जब उसमें ब्रह्म के प्रति भक्ति-भाव संश्लिष्ट हो जाते हैं। वह ब्रह्म से नेह कर उसी में लीन होने का प्रयास करता है। ब्रह्म से अपना संबंध जानने तथा स्थापित करने के लिये वह अतीव उत्सुक हो उठता है। उसे संसार के सभी व्यापार ब्रह्ममय भासित होने लगते हैं। वह अपने हृदय के अंतःतल में ब्रह्म की प्रतिभापूर्ण एक प्रकार की ज्योति की उपस्थिति का अनुभव करता है। 'सर्वव्यापी ब्रह्म एक है, संपूर्ण जगत् उसकी छाया-मात्र है' के सत्यता की अनुभूति उसे होने लग जाती है। अपने को वह ब्रह्म का एक अल्पतम भाग ही मानता है। वह इस भाव में अकस्मात् इतना लीन हो जाता है कि वह अपने पृथक् के अस्तित्व को बिलकुल भूल जाता है। इस प्रकार ब्रह्म में एकता का अनुभव करना

तथा उसी में लीन हो जाना रहस्यवादियों का मुख्य उद्देश्य । ब्रह्म के अस्तित्व में विश्वास, उसमें अपना व्यक्तिगत संबंध स्थापित कर, ऐक्य के भाव की अनुभूति ही रहस्यवाद है। रहस्यवाद और तत्वविज्ञान में बहुत विभिन्नता है।

तत्वविज्ञान क्रम से तर्क-वितर्क करते हुए ईश्वर के अस्तित्व तथा जीव से उसके संबंध को समझना है। किंतु रहस्यवादी ब्रह्म के अस्तित्व में तर्क-वितर्क नहीं करता। वह पहले आस्तिक—ब्रह्मविश्वासी है और पीछे रहस्यवादी है। नास्तिक रहस्यवादी नहीं हो सकता। रहस्यवादी अद्वैतवादी अर्थात् सूक्ष्म ब्रह्मवादी है। दृश्य जगत् में वह 'सत्' का अनुभव करता है। इससे पृथक् किसी भी शक्ति का अनुभव नहीं करता। महात्मा कबीरदास इसी संप्रदाय के अद्वैतवादी रहस्यवादी थे । वह ब्रह्म को संसार से पृथक् कोई वस्तु न मानकर एक अनुभव ही मानते थे। वह ब्रह्मरूप ज्योति अनुभवसे ही जानी जा सकती है । म० कबीर ने कहा है—'सुन्न सहज मन सुमिर ते प्रकट भई इक जोत'। यही 'जोत' ब्रह्म है, और सबमें समान रूप से वर्तमान है। उपनिषदों में मैं, ब्रह्म और जीवन का विस्तृत वर्णन है । उसमें रहस्यवाद भी है। वेद, महाभारत और गीता में भी रहस्यवाद की झलक है। अवतार के मूल में रहस्यवाद है। आदर्श-पुरुष में ब्रह्म के दर्शन करना परम रहस्यपूर्ण है। साधारण प्रस्तर-मूर्ति में 'सत्' का स्वरूप देखना रहस्यमय ही है।

महात्मा कबीर रहस्यवादी हैं अथच वह ब्रह्म से अपना व्यक्तिगत संबंध मानते हैं। ईश्वर उनका पिता, माता, पति, सखा और सभी कुछ है। वह ब्रह्म कबीर का व्यक्तिगत ब्रह्म है, किसी जनसमुदाय तथा लोक का ब्रह्म नहीं हो सकता। वह गूँगे का गुड़ है सभी उसे नहीं समझ सकते।

महात्मा कबीर ऐसे ही ब्रह्म के उपासक थे। वह इसी ब्रह्म में एकता की अनुभूति के लिये उत्सुक थे। इनका ब्रह्म में विश्वास तथा उसके अद्वैतत्व का विश्वास म० रामानंद के संसर्ग का फल था। महात्मा कबीर पढ़े-लिखे तो थे ही नहीं, अथच ज्ञानार्जन के लिये उन्हें सत्संग और गुरु के अतिरिक्त और कोई साधन उपलब्ध न था। वह भक्तिभाव से अपने गुरु की उपासना तथा उनकी आज्ञानुसार आचरण करते थे। महात्मा रामानंद हिंदू-धर्म के परम अनुयायी और वेद, उपनिषद् आदि में विश्वास करनेवालों में से थे। फलस्वरूप महात्मा कबीर भी उनके अनुयायी हुए। किंतु कबीर साहब का ज्ञान केवल रामानंद पर ही आधारित न था। वह स्वाधीन चिंतना के व्यक्ति थे। महात्माओं का सत्संग उन्हें बहुत प्रिय था। १५वीं शताब्दी में इस महात्मा का जन्म हुआ था। उस काल में सूफ़ी-समुदाय बहुत उन्नति कर चुका था। मलिक मुहम्मद जायसी आदि सूफ़ी-रहस्यवादी कवियों ने आख्यायिका-ग्रंथों के कथानक तक को रहस्यमय बना दिया था । जायसी के पद्मावत का सपूर्ण कथानक रहस्यमय है, जैसा कि उन्होंने ग्रंथ के अंत में स्वयं लिखा है—

चौदह भुवन जो तर उपराहीं । ते सब मानुष के घटमाहीं ॥
तन चित उर मन राजा कीन्हा । हिय सिंघल बुधि पदमिन चीन्हा ॥
गुरू सुआ जेहि पंथ दिखावा । बिन गुरु जगत को निरगुन पावा ॥
नागमती यह दुनिया धंधा । बांचा सोई न एहि चित बंधा ॥
राघव दूत सोइ सैतानू । माया अलाउदीन सुलतानू ॥
प्रेम-कथा यहि भाँति बिचारहु । बूझि लेहु जो बूझै पारहु ॥

इस प्रकार जायसी ने कथा की ओट में माया, ब्रह्म आदि का विस्तृत वर्णन कर डाला है। ऐसे ही अनेक कथानक लिपिबद्ध किए गए। ये सूफ़ी-रहस्यवादी एकेश्वरवादी थे। उस अनंत ब्रह्म को सांसारिक प्रेम का सहारा लेकर प्राप्त करने का प्रयास करते थे। महात्मा कबीर का संसर्ग इन सूफ़ी मतावलंबी संतों से था। वह कई बार मानिकपुर, भूँसी, जौनपुर आदि स्थानों में सत्संग के लिये गए और शेख़ तकी आदि के साथ रहे। अतः फलस्वरूप आपका ज्ञान-मार्ग हिंदू-शास्त्रों के अनुसार तथा उसमें कहीं-कहीं धर्म-सम्मिश्रण सूफ़ी-मत के अनुसार है।

सुआ, नागमती, अलाउद्दीन आदि सांसारिक वस्तुओं को पारलौकिक दृष्टि से देखना रहस्यवादी दार्शनिकों का ही कार्य है। सखी-संप्रदाय के अनुयायी ब्रह्म को पति तथा जगत् को पत्नी-रूप मानते हैं। इस भाव के मूल में रहस्य है, किंतु कालांतर में उन्होंने इस भाव को स्थूल-रूप दे दिया। पूर्ण धार्मिकता के अभाव से इस भाव का सौंदर्य जाता रहा। ईसाइयों के प्राणियों में भ्रातृत्व (ब्रदरहुड) के भाव का अनुभव और इस प्रकार ब्रह्म को पितारूप मानना रहस्य ही है। महात्मा सूरदासजी स्त्रियों को कृष्ण में पति का रूप दिखा उनकी उपासना करते हैं। स्त्रियाँ भक्ति में ओतप्रोत हो 'पिव-दर्शन-प्यासी अति आतुर निसिवासर गुन-गान रटी' हो जाती हैं। यह रहस्य नहीं तो क्या है? रवींद्रनाथ ठाकुर प्रकृति में ब्रह्म और जीव का दर्शन करते हैं।* महात्मा कबीरदास को भी संसार ब्रह्ममय भासित होता है। हम ऊपर ही कह आए हैं कि 'हरि' से उनका व्यक्तिगत संबंध था। 'हरि' उनके 'पीव' और वे राम की 'बहुरिया' हैं। यही नहीं वरन् 'हरि जननी मैं बालक तेरा' का कथन भी कबीर के ब्रह्म में पितारूप दर्शन का परिचायक है। 'हरि' उनके सब कुछ हैं। वे हरि से किसी प्रकार का भी नाता लगावें, कोई उन पर आक्षेप नहीं कर सकता। लोकमत का उनके विचारों के आगे कोई वश नहीं चल सकता।

पिता, माता, पति आदि लौकिक अर्थ में 'ब्रह्म' नहीं हो सकते, परंतु कबीर ने अपने बृहत् ज्ञान-चक्षु से उनमें ब्रह्म का रूप देखा है। कभी-कभी तो वह इस भाव में इतने लीन हो जाते हैं कि वह अपने को भूल ही जाते हैं। सखी-संप्रदाय की भाँति उन्हें सारा विश्व स्त्रीरूप ही भासित होता है। और परब्रह्म में पति के दर्शन होने लग जाते हैं—

दुलहिन गावहु मगलचार, हम घर आए राजा राम भरतार।

× × ×

बहुत दिनन में प्रीतम आए।

× × ×

झूमत आवें बन्ना मोरे अँगना।

आदि। वे ब्रह्म-मिलन की रात्रि को 'सोहाग-की राति' समझने लगते हैं। अथच वे स्त्रीरूप जगत् को उपदेश देने लगते हैं कि वह मिलन के समय न सोवे; क्योंकि 'आए ढोल बजावत साजन' अतः 'खोल घुँघुट मुख देखेगा साजन' वही कबीर का 'साजन' 'बन्ना' का रूप धरकर झूमता आता है।

'साजन' तो तब आता है, जब स्त्रीरूप भक्त भक्ति की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है। किंतु उसके पूर्व तो भक्त को ही निरंतर साजन का ध्यान करना पड़ता है।

* प्रसिद्ध कवि शेली जल, थल, जड़, जन, चेतन्य सभी में उस सत्ता की उपस्थिति का अनुभव करते हैं।

जहाँ गैल सिलसिली चढ़ौं गिरि-गिरि परौं।
उठहुँ सँभारि सँभारि, चरन आगे धरौं॥
समझ सोच पग धरौं, जतन से बारबार डिग जाय।
ऊँची गैल, राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय॥
अधर भूमि जहँ महल पिया को हम पे चढ़ो न जाय।

वह 'पिया' के लिये ऐसे स्थानों में जाने का प्रयास करता है, किंतु उसका 'पिया' उसकी ओर से उदासीन ही रहता है। स्त्री पति से मिलने के लिये निरंतर व्याकुल रहती है। उसे 'दिन नहिं चैन रैन नहिं निंदिया' आती है। वह 'सूनी सेज' पर जन्म गँवा देती है, फिर भी 'साईं बेदरदी सुधि न लिया'। वह प्रेमाकुल है, पति के मिले विना वह जी नहीं सकती; परंतु जायसी के कथनानुसार वह 'बेलि' (स्त्री) सिर से 'पुहमै जो पिय परसै आय'। 'पिय-परस' की ही वह इच्छुक है। अतः वह अपने लौकिक पिता से कहती है—

बाबा मेरा व्याहु कराओ अच्छा बरहित काय ;
जौलौं अच्छा (बर) ना मिलै तौलौं तुमहीं बियाह।*

वह वर की खोज में है। यह विचित्र रहस्य है कि श्रेष्ठ वर न मिलने तक वह (कन्या) पिता से ही विवाह करना चाहती है। यहाँ 'पिता' से गुरु तथा 'वर' से ब्रह्म का आशय है।

उपर्युक्त विकलता की अवस्था तो ब्रह्मानुराग के पूर्व की है। ब्रह्म जब तक जीव से राग नहीं करता, तभी तक जीव की विकलता भासित होती है; किंतु क्रम से जीव जब ब्रह्म से विशेष रूप से अनुराग करने लग जाता है, तब वह अपने को ब्रह्म के अत्यंत निकट पाता है, और 'हम तो तुम्हरी दासी सजना, तुम हमरे भरतार' भाव त्यागकर उसके मिलन पर उसे बाँध र[खने] तक को उद्यत हो उठता है। वह बलपूर्वक अ[पने] 'प्यारे' को अपने समीप ही रखना चाहता है। वह कह उठता है—

अब तोंहि जान न दौं पिव प्यारे।
ज्यौं भावै त्यौं रहो हमारे॥

वैसे तो ब्रह्म कोई बाह्य पदार्थ नहीं है, कि[ंतु] जब तक जीव अंधकार में रहता है, तब तक [व]ह उसके सामीप्य का अनुभव नहीं कर सकता; किंतु प्रकाश में आते ही वह ब्रह्म के सामीप्य का अनुभव करने लगता है। तब उसे इस कथन को—

मोको कहाँ ढूँढ़े बंदे मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में॥

सत्य का अनुभव होता है।

यह अनुभव लगभग सभी रहस्यवादियों को होता है। महात्मा कबीर ने तो 'बैठि गुफा [में] सब जग देखे' और संपूर्ण जगत् को उस अ[न]हद नाद का जो—

चहुँदल कमल तिरपुटी साजे, ओंकार दरसाया है।
ररंकार पदसेत सुभ्र मद खटदल कमल बताया है॥
भँवर गुफा में साऽहं राजे, मुरली अधिक बनाया है।
सत्तलोक सत्पुरुष बिराजे अलख अगम दोउ माया है॥

का भेद बताता है, स्वतः अनुभव किया है। इस अनुभूति के गाहकों की एक भिन्न धारा ही चल पड़ी। निर्गुण संतमत का आविर्भाव हुआ। दादू, धर्मदास, नानक आदि सभी इस मत के अनुयायी हुए। कालांतर में इसकी एक और शाखा हुई। वह शाखा राम-कृष्ण के परम भक्तों की थी। महात्मा कबीर के लगभग सभी विचारों से सहमत होते हुए भी वह लोक-पक्ष में ही रहे

---

* कबीर-ग्रंथावली में यह पाठ है—

बाबल मेरा व्याह करि, बर उत्तम ले चाहि।
जब लगि बर पावै नहीं, तब लग तूँही व्याहि॥

वह कबीर की भाँति लोक-विरागी न थे, इसीलिये तो वह समुदाय कबीर के 'उस साहब परम सयाना' को, जिसका 'ढूँढ़त ठौर ठिकाना दिखै न पंथ' ठीक-ठीक नहीं पहचान सका। उस परम सयाने को 'कोऊ ठहरावै सून्यक कीन्हा, जोति एक परमाना। कोउ कह रूप-रेख नहिं वाके' आदि किंतु उस 'अछर अगोचर रेख' को कबीर-ऐसे संत ही पहचानने में समर्थ हुए। अथच महात्मा कबीर ही इस निर्गुण संतमत के नायक कहे जा सकते हैं।

इस निर्गुण संतमत के नायक पर सूफ़ियों का कुछ प्रभाव तो अवश्य पड़ा था, किंतु महात्मा कबीर के संतमत ने एकदम भिन्न पंथ का ही आश्रय लिया था। वह जायसी आदि की भाँति प्रेम-कथाओं में रहस्य सन्निहित करने के पक्ष में न थे। सांसारिक प्रेम से उनका विशेष लगाव न था। वह तो पारलौकिक प्रेम के उपासक थे। उसकी प्राप्ति के लिये सांसारिक प्रेम का आश्रय लेना विरागी कबीर को अभीष्ट न था। उनमें भारतीय आध्यात्मिकता कूट-कूटकर भरी हुई थी। वे भारतीय थे। भारत में आध्यात्मिकता पुरातन से प्रचुर मात्रा में चली आई है। वैदिक काल से ही भारतीयों में ब्रह्म और आत्मा के संबंध का रहस्य जानने की विकट लालसा उपस्थित थी। उपनिषदों में उस रहस्यमयी सत्ता का भेद जानने के लिये नचिकेता विकल हो उठता है। वह मृत्यु भगवान् से यह रहस्य बताने को बार-बार आग्रह करता है—

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महतिब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मन्नाचिकेता वृणीते॥

'तत्त्वमसि' का गूढ़ सिद्धांत आदि यहाँ की सामान्य बातें हैं। ऐसे आध्यात्मिक वायुमंडल में पलने के कारण तथा स्वामी रामानद का सत्संग होने से महात्मा कबीर के ज्ञान में भारतीय आध्यात्मिकता संश्लिष्ट हुई और वे इस झूठे मायारूपी संसार से उदासीन रहे। उन्होंने सत्संग किया और इस प्रकार अपनी ज्ञानेंद्रियों का सुंदर उपयोग कर—'यहि घट चंदा, यहि घट सूर। यहि घट बाजे अनहद तूर।' के रहस्यमय भावों की अनुभूति की।

रहस्यवादियों का ब्रह्म एक अनुभव ही है। वह केवल कल्पना की ही वस्तु है। उसका काल्पनिक दर्शन ही संभव है। स्थूल रूप का निरुपण उसके दर्शन कराने में समर्थ नहीं हो सकता। ब्रह्म को कल्पना-जगत् में ही पति, पत्नी, सखा, पुत्र, पिता, माता आदि मानना उचित है, जैसा महात्मा कबीर ने किया है। इसके आगे बढ़ना तो कीचड़ में फँसना है। सखी-संप्रदाय की भाँति पति अथवा पत्नी-भाव को स्थूल रूप से देखने में इंद्रियलोलुपता बढ़ती है। इसमें पड़कर रहस्यवादी अपने पवित्र आदर्श से गिरकर नरक तक पहुँच जाता है। अथच रहस्यवादी कल्पना-जगत् के आगे कभी नहीं बढ़ता। उसमें कल्पना की प्रचुरता होती है। महात्मा कबीरदास पक्के रहस्यवादी हैं। उनमें कल्पना का प्राचुर्य है। कल्पना-जगत् की बातें स्पष्टतः दिखाई नहीं पड़तीं। अतः उस ब्रह्म के अस्तित्व की अनुभूति के उद्‌गारों को लिपिबद्ध करने पर भी उसमें हलका-सा परदा पड़ा रहता है। उस परदे की ओट में ही उस ब्रह्म का स्वरूप दिखाई देता है। इसमें संदेह नहीं कि वह ब्रह्म जीव से पृथक् अस्तित्व नहीं रखता, फिर भी उसे स्पष्ट देखना असंभव हो जाता है। केवल कबीर-ऐसे संत ही उसका दर्शन कर पाते हैं।

महात्मा कबीर अनेक रूप से ब्रह्म को देखते हैं। वह अपने ब्रह्म की पारलौकिकता में लौकिक संबंध स्थापित करके ही नहीं रह जाते, वरन् वह इसके आगे बढ़ते हैं। महात्मा कबीर का ब्रह्म जड़-चैतन्य सभी में सदैव अपनी पूर्ण सत्ता-सहित विराजमान रहता है। स्थूल प्रकृति में भी उन्हें ब्रह्म का भास होता है। वह प्रकृति के कण-कण में उस ज्योति का शासन देखते हैं।

अवधू कुदरत की गति न्यारी,
रंक निवाज करै वह राजा, भूपति करै भिखारी,
एते लबँगे फल नहिं लागै, चंदन फूल न फूलै ;
मच्छ सिकारी रमै जँगल में सिंघ समुद्रहिं झूलै।
रेंडा रूख भया मलयागिरि चहुँदिशि फूटी बासा ;
तीन लोक ब्रह्मण्ड खण्ड में देखै अंध तमासा।

ऐसे ही अनेक रहस्यपूर्ण पद महात्मा कबीर ने कहे हैं। एक स्थल पर महात्मा कबीर मनुष्य को नलिनी और जल को ब्रह्म का रूप देकर एक अत्यंत मधुर किंतु रहस्यमय चित्र खींचते हैं—

काहे रीं नलिनी तू कुम्हिलानी। तेरे नालि सरोवर पानीं॥
जल में उत्पति जल में बासा। जल में नलिनी तोर निवासा॥
नातलि तपति न ऊपर आगि। तोर हेत कहु कासनि लागि॥
कहै कबीर जे उदिक समान। तेनहि मुए हमारे जान॥

भला जीव ब्रह्म से उत्पन्न होकर तथा उसी में रहकर क्यों दुखी होवे। उसे तो परम सुखी होना चाहिए; किंतु उसे ब्रह्म में वह लीन है, इस भाव की अनुभूति नहीं होती। इस अनुभूति के उपरान्त फिर उसे कोई भी ताप तप्त नहीं कर सकता। वह तो फिर परम पद तक पहुँच जाता है, इस मृत्यु के बंधन से मुक्ति पा जाता है। मृत्यु उसके लिये अमरत्व का कार्य करती है। तब उसे इस नश्वर संसार में किसी प्रकार के कष्ट झेलने की आवश्यकता नहीं रहती।

इसी प्रकार एक और स्थल पर महात्मा कबीर ने एक रहस्यमय मधुर चित्र अंकित किया है। कलियाँ मालिन को अपनी ओर आते देखती हैं और इस भय से कि मालिन उन्हें तोड़ ले जावेगी, विह्वल हो उठती हैं। वह देखती हैं कि खिले पुष्प तो तोड़ लिए गए हैं; उद्यान में अधखिली कलियाँ ही रह गई हैं। कल तक वे पूर्ण रूप से खिल जायँगी, और तब उनके भी टूटने का समय आ जावेगा। इन कलियों के मिस कबीर साहब इस शरीर की नश्वरता का बड़ा सुंदर वर्णन करते हैं। इन कलियों की नश्वरता देख महात्मा कबीर अपना संबंध उस रहस्यमय ज्योति से जोड़ते हैं, जिससे उन्हें जीवन-मरण का कोई भय नहीं रहता। वह तो संतजन हैं। उन्होंने उस ब्रह्म के द्वारा निर्मित शरीररूपी 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' को जो पाँच तत्त्व और गुन तीनों से युक्त है और जिसे सीने में साईं को दश मास लगे, सुर-मुनियों ने ओढ़कर मैली कर दी, परंतु महात्मा कबीरदास ने यत्न से उसे ओढ़ा और ज्यों-की-त्यों धर दीनी। इसी से मृत्यु का उन्हें कोई भय नहीं रहा। मृत्यु का भय तो उन्हीं को है, जिन्होंने उस चादर को मैली कर अपनी इन्द्रियों का सदुपयोग नहीं किया। ऐसे लोगों को महात्मा कबीर इस रहस्यमय उदाहरण से चेतावनी देते हैं—

खेलि ले नहरवा दिन चारि।
पहिली पठौनी तिन जन आए, नौवा, बाभन, बारी।
बाबुल जी, मैं पैयाँ तोरी लागौं अबकी गवन दे टारी॥
दुसरी पठौनी आपे आये लैकै डलिया कहार॥
धरि बहियाँ डलिया बैठारिन कोउ न लागै गुहार।
लै डलिया आय बन मा उतारिन, कोउ न संगी हमार।

यहाँ 'सुहागिल' स्त्री से मनुष्य का, नैहर से

इस संसार का और 'आपै' (पति) से यमराज का तात्पर्य है।

महात्मा कबीर ने इसी प्रकार की अनेक रहस्यो-क्तियाँ कही हैं। यथा—

अब मोहि ले चलि ननद के बीर, अपनै देसा।
इन पंचनि मिलि लूटी हूँ, कुसँग आहि बिदेसा॥
गंगतीर मोरी खेती-बारी, जमुनतीर खरिहाना।
सातौं बिरही मेरे नीपजे पंचू मोर किसाना॥
कहै कबीर यहु अकथ कथा है कहताँ कहीं न जाई।
सहज भाइ जिहिं उपजे, ते रमि रहे समाई॥

× × ×

तंतो धागा टूटा गगन बिनसि गया, सबद जु कहाँ समाई।
ए संसा मोहि निसिदिन व्यापै, कोई न कहै समझाई॥

× × ×

अष्ट दल कवल निबासिया चहुँ कों फेरि मिलाइरे।
अष्ट कँवल-दल भीतराँ तहाँ श्रीरंग केलि कराइरे॥

आदि। इनकी उलटवाँसी बहुत प्रसिद्ध हैं। इनका अर्थ साधारणतः उलटा मासित होता है, पर वास्तव में यह गूढ़ आध्यात्मिक भावों से भरी रहती हैं, और आध्यात्मिक अर्थ लगाने से स्पष्ट हो जाती हैं। यथा—

चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, राई ना ठहराय,
आवागमन की गम नहीं, तहँ सकलो जग जाय।

यहाँ 'चिउँटी' से वाणी और 'राई' से बुद्धि का अभिप्राय है।

भाष्य में प्रायः सभी संत-कवियों की कविता में थोड़ी-न-थोड़ी मात्रा में रहस्यवाद पाया जाता है। किंतु वह उतना उत्कृष्ट नहीं है। रहस्य-वादियों के सब गुण महात्मा कबीर में विद्यमान हैं। साधारण बोलचाल की भाषा में इन्होंने ब्रह्म और जीव का संबंध भली प्रकार समझाया है। महात्मा कबीर के पश्चात् का रहस्यवाद-पूर्ण संपूर्ण काव्य इनका ऋणी है। सभी रहस्यवादी संत कवियों ने इन महात्मा का किसी-न-किसी प्रकार आश्रय ग्रहण किया है। बीसवीं सदी के प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य पर इन महात्मा की छाप पड़ी है। वे महात्मा कबीर के अनन्य भक्त भी हैं।

आजकल हिंदी-भाषा में कविता की प्रगति एक विशेष ओर बढ़ रही है। कुछ सज्जन उसे रहस्यवाद नाम देते हैं। परंतु मुझे कुछ सुक-वियों की कृति के अतिरिक्त अन्यत्र रहस्यवाद की झलक तक नहीं दिखाई देती। केवल शब्दा-डम्बरपूर्ण कविता जो स्वयं कविताकार की समझ में भी न आवे, रहस्यवाद की परिभाषा के अंदर नहीं आ सकती। भले ही वह कोई अन्यवाद होवे। रहस्यवादी होने के लिये प्रतिभा की आवश्यकता होती है। व्यर्थ के आलाप से कोई रहस्यवादी नहीं हो सकता। महात्मा कबीर प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। उनकी विकसित प्रतिभा का लगाव ब्रह्म-मिलन की ओर था। वह इस कार्य में सफल भी हुए। महात्मा कबीरदास अपने क्षेत्र में आदर्श हैं। इस संसार में न होते हुए भी वह यशःकायेन सदा अमर रहेंगे।

पन्नालाल त्रिपाठी

यौवन का उन्माद

(१)

हमारे यौवन का उन्माद,
साथ लेकर कुछ प्यारी साध,
डूबता-उतराता-सा चला—
विश्व-सागर में, सफल अबाध
एक था हृदय, एक थी याद,
एक ही थी अपनी वह साध,

(२)

यदपि था तूफ़ानों का ज़ोर,
और था लहरों का प्रतिवाद,
अनिच्छा इच्छा का संघर्ष,
आपदाओं का तुमुल निनाद,
किंतु फिर भी बढ़ता ही गया
हमारे यौवन का उन्माद।

(३)

सफलता की मंज़िल पर खड़ा,
बजाता हूँ वीणा के तार।
गूँजता है यह सारा विश्व,
प्रध्वनित होता जय-जयकार।
हमारे यौवन का उन्माद—
सामने है, देखो! साकार!

विद्यार्थी भगवतीप्रसाद मिश्र

बिहारी की सतसई और उसके टीकाकार

(१)

हिंदी-साहित्य में, कला की दृष्टि से, बिहारी-सतसई का आसन बहुत ऊँचा समझा जाता है। सतसई में विविध रसों तथा अन्य मनोभावों का खूबी के साथ अभिव्यंजन है; इसीलिये, कला की दृष्टि से, वह एक उत्तम काव्य है। हाँ, यदि इसे हम उपयोग की कसौटी पर परखें, तो फिर यह कुछ नहीं है; और किसी अंश में तो एक हानि-प्रद वस्तु ठहरेगी! परंतु इस काव्य को उपयोग की कसौटी पर कसना, इस काव्य और इसके कवि पर अन्याय करना होगा। कविवर बिहारीलाल ने किसी लौकिक उपयोग के लिये सतसई की रचना नहीं की है, जो उसकी उस तरह से परीक्षा की जाय। उसमें तो उन्होंने काव्य-चमत्कार दिखाया है—उसमें रसास्वाद ही प्रधान है; अतएव इसी दृष्टि से उस पर विचार होना चाहिए। जब कोई कारीगर भाँति-भाँति की मिठाइयाँ बनाकर प्रस्तुत करता है, तो वह उनकी सफ़ाई, सौंदर्य और आस्वाद पर जितना ध्यान रखता है, स्वास्थ्य पर उतना नहीं। उसके मन में यही भावना रहती है कि मेरी मिठाइयाँ देखने में सुंदर और स्वाद में सुधोपम हों। उस समय वह इस बात का ख़याल नहीं करता कि इन मिठाइयों का जनता के स्वास्थ्य पर क्या असर पड़ेगा। ऐसी मिठाइयों की उत्तमता की परख भी इसी दृष्टि से होनी चाहिए। हाँ, यदि कोई चतुर कारीगर स्वास्थ्य का भी ध्यान रखकर अपनी मिठाइयाँ बनावे और उनके विषय में वह वैसा दावा भी करे, तो वह आदर्श कारीगर है। ऐसे कलाविद् की कला की जाँच करने में सौंदर्य और उपयोग, दोनों कसौटियाँ काम में लाई जायँगी। कविवर बिहारीलाल पहले प्रकार के कवि हैं। उनकी कविता में आस्वाद ही प्रधान है। अतएव इस लेखमाला में हम उनकी कविता पर आस्वाद की ही दृष्टि से विचार करेंगे, सौंदर्य की ही परख करेंगे; उपयोगिता पर उसे न ले जायँगे। परंतु जहाँ वह पाठक के मानसिक स्वास्थ्य के लिये अधिक हानिप्रद प्रतीत होगी, उस पर विशेष दृष्टि रक्खी जायगी; बाज़ार की, खोए और मैदे की बनी, मिठाइयाँ शारीरिक स्वास्थ्य के लिये अच्छी नहीं होतीं। लगातार उनका सेवन करते रहने से स्वास्थ्य बिलकुल नष्ट हो सकता है। परंतु यदि कभी-कभी स्वास्थ और योग्य पुरुष, उचित मात्रा में इन मिठाइयों का स्वाद ले, तो कोई वैसे ख़तरे की बात नहीं है। यही कारण है कि हेल्थ-आफ़िसर लोग इन मिठाइयों की बिक्री पर ध्यान नहीं देते। किंतु यदि कोई अपनी मिठाइयों में कोई विषैली वस्तु मिला दे, उनमें भाँग और अफ़ीम आदि का सम्मिश्रण कर दे कि लोग इन्हें खाकर मस्त हो जायँगे, या मिठाई बनाने में सफ़ाई का ध्यान न रक्खे; अथवा मिठाइयों के रखने का उचित प्रबंध न रक्खे, जिससे मक्खियों आदि के कारण वह विकृत हो जाय, तो फिर उस पर शीघ्र ही हेल्थ-आफ़िसर की नज़र जायगी और उसे अपनी करनी का फल मिलेगा। काव्य की भी यही बात है। तुलसी प्रभृति वे कारीगर हैं, जिन्होंने अपनी मिठाई बनाते समय जनता के मानसिक स्वास्थ्य का भी ध्यान रक्खा है। यही कारण है कि इन की मिठाई की ख़ूब खपत है। हमारे कवि बिहारीलाल आदि कारीगरों की उस कोटि में हैं, जिसमें स्वास्थ्य पर कोई दृष्टि नहीं। कोई हर्ज नहीं, न सही; आस्वाद तो है! पर ऐसे कारीगरों की कृति में ख़तरा बराबर बना रहता है—स्वास्थ्य के लिये; क्योंकि स्वास्थ्य पर उनका ध्यान ही नहीं रहता! एक आदर्श समालोचक का कर्तव्य है कि वह ऐसे कवियों के काव्यों से ऐसी निकृष्ट सामग्री छाँटकर अलग कर दे, जिससे जनता सतर्क हो जाय। सत्समालोचक और हेल्थ-आफ़िसर का एक ही काम है।

'बिहारी की सतसई' पर आज तक बहुत विचार हो चुका है। उसकी कोड़ियों टीकाएँ बन चुकी हैं और अभी तक बनती चली जा रही हैं। अभी-अभी दो नई

टीकाएँ निकली हैं--रत्नाकरी टीका और संजीवन-भाष्य। पुरानी सब टीकाएँ 'गड्डुलिका-प्रवाह' से लिखी गई हैं, सब टीकाकार 'अंधेनेव नीयमाना यथान्धाः' चले गए हैं। प्रायः सभी पिष्ट-पेषण करते चले गए हैं। नई दोनों टीकाओं में कुछ विशेषता है। रत्नाकरी टीका बिलकुल सीधी-सादी है। यही इसकी विशेषता है। इसमें साहित्यिक विचारों का विश्लेषण नहीं किया गया है; अतएव इस लेख-माला में इस पर हम विचार न करेंगे। विचार करने का कोई आधार ही नहीं है। 'संजीवन-भाष्य' में साहित्यिक विचार प्रदर्शित किए गए हैं। इसमें दूसरे कवियों के साथ बिहारी की तुलना भी ख़ूब की गई है। जैसा कि प्रसिद्ध है, यह तुलना अधिकांश में वकालत ही है। संजीवन-भाष्य के प्रणेता के मन में कविवर बिहारीलाल के प्रति इतना गहरा पक्षपात है कि उन्होंने सतसई के दोषों का भी 'परिहार' करने की चेष्टा की है, जो हो नहीं सका है। एक हेल्थ-आफ़िसर अनुचित पक्षपात करके यदि किसी हलवाई की रद्दी मिठाई को भी अच्छी कहने लग जाय, तो फिर 'रक्षक सो भक्षक भए' वाली कहावत पूर्ण चरितार्थ हो जाती है। ख़ैर, इन बातों पर तो यथास्थान विचार होगा ही; अतएव यहाँ विशेष लिखना ठीक नहीं। संजीवन-भाष्य में, कई बातों में, नवीनता ज़रूर है; पर काव्य के अलंकारों का प्रदर्शन जहाँ-जहाँ भी किया गया है, विना विशेष विचार के उन्हीं पुरानी टीकाओं के आधार पर किया गया है, जो अधिकांश स्थलों में बिलकुल ग़लत हुआ है!

हम कह चुके हैं, कला की दृष्टि से सतसई एक उत्तम काव्य है; क्योंकि उसमें रस आदि मानसिक भावों का अभिव्यंजन है। जहाँ रसादि की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ अधिक अलंकारों की ज़रूरत नहीं होती। यही नहीं, प्रत्युत ऐसे मनोहर स्थलों में अधिक अलंकारों का होना एक प्रकार से दोष ही माना गया है। बिहारी की सतसई भी ऐसा ही काव्य है। यही कारण है कि इसमें अलंकारों की भरमार नहीं है। परंतु इसके टीकाकारों की गति-विधि कुछ न्यारी ही है। उन्होंने सतसई में अलंकार-ही-अलंकार देखे हैं! ढूँढ़-ढूँढ़कर अलंकार निकाले गए हैं और सारा ज़ोर ही इन पर लगा दिया गया है! मानो अलंकार ही कविता के सर्वस्व हैं, जिनके विना सतसई दो कौड़ी की हो जायगी! अलंकारों का प्रदर्शन भी ऐसा कि वाह! 'ठोंक-पीटकर वैद्यराज।' आश्चर्य की बात तो यह है कि इस विषय में संजीवन-भाष्य ने भी इन्हीं टीकाकारों का अनुसरण किया है! विशेष दुःख और आश्चर्य की बात तो यह है कि इन अलंकारों के प्रदर्शन में भोंड़ी ग़लतियों का प्रदर्शन हो गया है। इस लेख-माला में इन सब बातों पर विस्तृत विचार किया जायगा।

कई साल पहले 'सरस्वती' में मैंने एक लेख प्रकाशित कराया था, जिसमें 'संजीवन-भाष्य' के उस अंश की संक्षिप्त समालोचना की थी, जिसमें बिहारी की कविता के दोषों का 'परिहार' किया गया है! उस समय मेरी इच्छा हुई कि संपूर्ण संजीवन भाष्य और उसके वृहत् तथा विश्रुत भूमिका-भाग पर एक लंबी लेख-माला निकालूँ। पर अभी तक यह बात हो न पाई। अब पिछले दिनों फिर वह इच्छा जागृत हुई। अब मैंने इसे कार्य-रूप में परिणत कर डालना ही उचित समझकर श्रीगणेश कर दिया है। इस लेख-माला की प्रस्तावना ही इस लेख को आप समझें। इसमें स्वयं बिहारी की कविता पर मैं अपने विचार प्रकट करूँगा और इसमें प्रायः सभी टीकाकारों के मतों की आलोचना भी। संजीवन-भाष्य को मैं सतसई की सब टीकाओं से उत्तम समझता हूँ। खेद है, अभी यह भाष्य पूरी सतसई पर नहीं हुआ है; पर जितना है, बहुत ही बढ़िया है। क्या इस भाष्य के प्रणेता इसे पूर्ण करके साहित्य-जगत् की तृप्ति शीघ्र न करेंगे? साहित्य के उत्तम ग्रंथों में इस भाष्य की गिनती है। परंतु कहीं-कहीं हम इस भाष्य के उल्लेखों से सहमत नहीं हैं। इस लेख-माला में इन्हीं स्थलों पर विचार होगा।

संजीवन-भाष्य के प्रणेता श्रीयुत पद्मसिंहजी शर्मा को हम प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते हैं। उनकी कृपा भी इस जन पर सविशेष रहती है। हमारी धारणा है, इस लेख-माला के निकलने से उनकी कृपा और बढ़ जायगी, घटेगी नहीं; क्योंकि यह पूर्ण सद्भाव से लिखी जा रही है। दूसरे, उनका हृदय विशाल है, क्षुद्र नहीं। वह साहित्यिक विचारों के प्रकट करने के पक्षपाती हैं। स्वयं दूसरे टीकाकारों और कवियों पर पूर्ण सद्भाव रखते हुए उनकी कृतियों की तीव्र समालोचना करते हैं; और मज़ेदार भाषा में। मज़ाक उड़ाने में भी वह अभ्यस्त हैं। "समरथ को नहिं दोष गुसाईं!" पर हम इस लेख

शाला में किसी का मज़ाक न उड़ावेंगे । हम इसके अधिकारी नहीं हैं । हमें मज़ाक करना आता भी नहीं । हम तो सीधी-सादी भाषा में साहित्यिक गुण-दोषों का विवेचन करेंगे । इसीलिये हमारी लेखमाला की भाषा वैसी चटपटी न होगी । पाठक क्षमा करें ।

किशोरीदास वाजपेयी

तपश्चर्या

कुटिल कुचक्रियों को क्रूर कूटनीति और
देख षडयंत्रियों की यंत्र रचना लटी,
मैं तो हार मान दैव बल याचने को गया
जोग साधने को जिस ओर जमुना-तटी।
कुंज की कुटी में ज्यों ही प्रणव उपासना को
नेक मेरी तालु में 'उमेश' रसना सटी,
त्यों ही उस शांति में अशांति की-सी भ्रांति हुई,
और इतने ही में अभूत घटना घटी।

अनावृत होते ही विलोचन बिलोका जो तो
सामने अखंड अत्याचार हाहाकार था,
दाईं ओर द्वेष-दंभ दासता का दुष्टता का
दारुण दरिद्रता का प्रचुर प्रचार था।
ऊपर अपार वायुयानों का उपद्रव था
बाईं ओर विपुल विपत्तियों का भार था,
नीचे नीच लोगों के कुचक्र का बिछा था जाल
पीछे पापियों के पापपुंज का प्रसार था।

मैं तो असहाय था निशस्त्र था 'उमेश' मेरे
आगे मेरे बंधु छलियों से छले जाते थे,
यम-यातनाओं के असंख्य दुख भोग-भोग
नाहक ही दुष्ट दानवों से दले जाते थे।
जिनके न घर था न धन था न विक्रम था
वही आज मशक समान मले जाते थे,
दीन-दुखियों की देख दारुण दशा को आज
भूधर भी धसक धरा के तले जाते थे।

जैसी त्राहि-त्राहि-सी मची थी तटिनी के तीर
तैसी अब तापनाशिनी न तपशाला थी,
पीड़ित जनों की सुन करुण कहानी आज
मुझी को जलाने चली मेरी मनोज्वाला थी।

छिन्नभिन्न सारी ज्ञानमुद्रा की क्रिया थी हुई
खिसक धरा में गई मेरी मृगछाला थी,
इधर कमंडल उछल के गिरा था और
उधर कुमंडल पै मेरी पड़ी माला थी।

एक आततायियों का तांडव-सा हो रहा था
दुष्टवृंद पाठ क्रूरता ही का रहा था गुन,
निबल जनों को कोई देखता न भालता था
धन धनियों का धूर्त धुनिया रहा था धुन।
चारों ओर घोर अघओघ का घिरा था घन
दलित समाज दुख भाड़ में रहा था भुन,
ऐसे में 'उमेश' एक दीनों की पुकार ही में
मैं तो प्रभु-आगम की आहट रहा था सुन।

किंतु शोकावेग में प्रकंपित शरीर हुआ
हृदय नदी में धैर्यबुंद-सा बिला गया,
मेरे अंग-अंग में 'उमेश' रोम-रोम में, न
जानिए कहाँ से घोर संशय समा गया।
एकाएक ऐसा अभ्रभेदी अट्टहास हुआ
छूट के धरातल में मानो वज्र आ गया,
देखते-ही-देखते प्रलय-काल का-सा एक
मेरे सामने तो महा अंधकार छा गया।

एक क्षण में ही मुझे मेरा जब ज्ञान हुआ
देखा जो तो धुंध अंधकार का घटा-सा था,
किंतु वह भूमि थी न कुंज की कुटी थी वह
मेरे सामने तो यंत्र शूली का सटा-सा था।
काल-सी कठिन शृंखला में जकड़ा था आज
मेरे तन पै तो एक अंशुक फटा-सा था,
मैं तो चक्रपाणि के चरण पै पड़ा था और
मेरे मारने को एक दानव डटा-सा था।
देखते ही उसे लोचनों में अश्रुबुंद उठा
उछल धरा पै हो गया जो जल-धार-सा,
चक्र-सा विवर्धित हो वीचि-सा तरंगित हो
प्रबल महान् हुआ मानस की धार-सा।
सुकवि 'उमेश' फिर फैल निम्नगा-सा वह
बढ़के अपार हुआ नद के प्रसार-सा,
एक ही दृगंचल में कूद रिपुमंडल पै
हो गया प्रचंड वही घोर पारावार-सा।

ऐसे अश्रुअंबुधि के तट पै खड़ा था जब
दूर पै दिखाई पड़ा मुझे एक कौंधा-सा,
जिसके प्रकाश में हतप्रभ विपक्षियों का
वृंद हो विमूर्छित गिरा था आज औंधा-सा।
एकाएक उससे सहस्र ज्योतिज्वाला उठीं
जिससे हुआ था चारों ओर चकचौंधा-सा,
सुकवि 'उमेश' मुझे मारने खड़ा था जो कि
भूतल पै टूटके पड़ा था वही पौधा-सा।
क्षण-भर में ही अश्रुसिंधु क्षीरसिंधु हुआ
ज्योतिरश्मियों में प्रभा प्रकटी फणीश की,
होते ही निकट नेक जिसमें 'उमेश' मुझे
देख पड़ी कांति कमनीय रजनीश की।
मेरी शृंखला तो टूक-टूक हो गिरी थी ज्यों ही
मेरे लोचनों में लसी मूर्ति मेरे ईश की,
एक बाँह उसकी उदित शत्रुदाह-सी थी
एक छत्रछाँह-सी बनी थी मेरे शीश की।

"उमेश"

छुट्टी

हम लोग होस्टल में बैठे इस बात पर विचार कर रहे थे कि बड़े दिन की छुट्टी में घर कब चलना चाहिए। इसी समय 'लाल' 'लाल' कहते हुए उमा, बचनू, महावीर, चौधरी और चंदसरूप ने कमरे में प्रवेश किया। चौधरी ने कहा—

"बड़ी साइत से चले थे आज। यह मरदूद कमरे में मिल तो गए।"

उमा०—"अजी तुम लोग कहाँ रहते हो। तीन दफ़े यहाँ से लौट गए। तुम दोनों के कमरे बंद मिले। कब चलने का इरादा है?"

लाल—"परसों से यूनीवर्सिटी बंद है। कल शाम की गाड़ी से चलेंगे। परसों कुछ पढ़ाई-वढ़ाई तो होगी ही नहीं। एक दिन का गैप ही सही।"

मैं—"अजी मारो गोली। कल क्या ख़ाक पढ़ाई होगी। एक दिन की उड़ंत कोई उड़ंत है। मेरी राय में तो आज शाम को ही उड़ंछू होना चाहिए।"

चौ०—"आज हम लोग तैयार नहीं हैं। कल चलेंगे"।

मैं—"अजीब अहमक़ हो तुम। तैयारी के लिये क्या कहीं बारात में जा रहे हो? अम्माँ, घर जा रहे हो।"

बहुमत से दूसरे दिन शाम की गाड़ी से ही चलना

निश्चित हुआ। अस्तु, उस दिन सुबह से ही होस्टल में चहलपहल मच गई। कोई साइकिल पर चौक दौड़ रहा है, तो कोई सामान बाँध रहा है। चार बजते-बजते ताँगे आ गए। थोड़ी देर बाद हम लोग स्टेशन आ पहुँचे। तदुपरांत हम लोग टिकिट लेने पहुँचे। कनसेशन-फ़ार्म पर एक-से दस्तख़त देखकर बाबू ने कहा —

"सब नामों के आगे एक-से दस्तख़त हैं, एक ही आदमी के किए मालूम होते हैं।"

चौ०—"टिकिट भी तो एक-से मिलेंगे।"

मैं—"मालूम होता है, एक-से टिकिट देखते-देखते आपकी अक़्ल चकरा गई है।"

चौ०—क्लार्क रेल और अक़्ल से क्या मेल?"

बा०—"आप लोग हर एक फिर से दस्तख़त कीजिए।"

मैं—"अरे यह उलटा चरख़ा चलवाने से क्या मतलब? सीधे से टिकिट दे दीजिए।"

चौ०—"आठ दस्तख़त और आठ टिकिट। सीधी-सी बात है। न-जाने इनकी नानी क्यों मर रही है।"

बा०—"मैं इस तरह टिकिट नहीं दे सकता।"

मैं—"टिकिट तो तुम्हारे फ़रिश्ते देंगे।"

बा०—"क्या?"

मैं—"यही कि आपको टिकिट देने पड़ेंगे।"

बा०—"मैं नहीं दूँगा।"

मैं—"लाहौलबिलाक़ूवत। कैसी औंधी खोपड़ी से पाला पड़ा है। समझना हराम है।"

चौ०—"निहायत ख़र दिमाग़ है।"

उमा०—"दिमाग़ इनसे कोसों दूर। यह तो निरा ख़र है।"

महा०—चिड़ियाख़ाने में रखने लायक़ है।"

ब०—"तभी तो जँगले के अंदर बंद है।"

चौ०—चले हैं बड़ी ख़ैरख़्वाही करने, मानों कम्पनी के नाती हों।"

बाल०—(बाबू से) "कैन यू काउंट अप टु वन?"

बेचारा बाबू सिट्टी-पिट्टी भूल गया, अब तो उसकी समझ में आ गया कि उसने बर्रों का छत्ता छू दिया। बेचारा खिड़की छोड़कर ऐसा भागा कि फिर सूरत न दिखाई। बड़े बाबू ने आकर टिकिट दिए। टिकिट लेकर हम लोग प्लेटफ़ार्म पर आए। गाड़ी खड़ी थी। एक ख़ाली कम्पार्टमेंट में अपना सामान जमा दिया।

अब हम लोगों ने प्लेटफ़ार्म के एक सिरे से दूसरे सिरे तक टहलना शुरू किया। घूम-घूमकर सुंदरता का निरीक्षण करने लगे। हम लोगों का यह निरीक्षण वैज्ञानिक तथा ईश्वरीय कला को सराहने के उद्देश्य से था। उसमें कोई भावना न थी, अभिलाषा न थी, और न थी वासना की गंदी बू। कमनीयता के उस नंदन-कानन में विचरते देर नहीं हुई थी कि भद्देपन की साक्षात् मूर्ति आँखों के सामने आ गई। यह और कोई नहीं, गार्ड साहब थे।

उन्हें देखते ही मेरे मुँह से अपने-आप यह शब्द निकल पड़े—

"अरे, यह मनहूस शकल कहाँ से सामने आ गई। आज कुशल नहीं है। ज़रूर कुछ गुल खिलेगा।"

चौ०—बड़ी मज़ेदार चीज़ है, ख़ुदा की क़सम। हम लोगों की चुहल के लिये बड़ा अच्छा मैटीरियल (सामग्री) है। ख़ूब लुत्फ़ रहेगा।"

गार्ड साहब की हुलिया का फ़ारमूला था—भद-भद, थल-थल, पिलपिल। ठिंगने—जितने लंबे उतने ही चौड़े। पतलून आपकी बेहद छोटी और ऊँची। पतलून क्या थी, बटनदार पाजामा था। तोंद, जो ऊपर से नाक और नीचे से पैरों को चूमने की कोशिश कर रही थी, किसी तरह ठूँसठाँस कर पतलून के अंदर दाख़िल की गई थी। अगर ऊपर से कोट के बटनों से दबी न होती, तो ज़रूर पतलून के बटन तोड़कर बाहर निकल भागती। नीचे से ऊपर तक काली यूनीफ़ार्म में डटे। चेहरे का रंग यूनीफ़ार्म के रंग से बाज़ी ले रहा था। सिर पर सफ़ेद कबाड़िए हैट ने और भी शोभा बढ़ा रक्खी थी। एक हाथ में लालटेन तथा दूसरे में झंडी। इन सब पँचमेल मसालों के मेल से वह लासिसाल ढाँचा तैयार हुआ था कि जिसके लिये बहुत सोचने पर भी कोई उपमा नहीं मिली। उन्हें देखते ही हम लोगों के दिलों में अद्भुत तथा हास्यरस का संचार हुआ। दिल में एक गुदगुदी पैदा हुई। एक अजीब सुरसुराहट उत्पन्न हुई कि इनसे छेड़ख़ानी करें। जैसे ही नज़दीक पहुँचे, मैंने कहा—

"कंपनी ने इनकी यूनीफ़ार्म में फ़ज़ूल ख़र्च किया। इनके चेहरे का रंग क्या यूनीफ़ार्म के रंग से कम था?"

चौ०—"मालूम होता है, ब्लैकसी (कालासागर) में ग़ोता लगाकर आया है।"

महा०—"अजी कोबरा-पालिश का चलता-फिरता विज्ञापन है।"

उमा०—"आबनूस का कुंदा है।"

चंद्र०—तुम लोग कोई नहीं समझे। कोलतार पुता हुआ है, जिससे दीमक न लग जाय, देखते नहीं हो, मूँछें दीमक चाट गई हैं।"

बचनू—"हाँ-हाँ, कंपनी को अपने नौकरों का बड़ा ख़याल है।"

मैं—"काली रात में इन्हें कोई कैसे देख पाता होगा? एक सर्चलाइट की ब्रेक में भी ज़रूरत है।"

चौ०—"हाथ में लालटेन और किस लिये है?"

गार्ड साहब ने अपने रूप का जो बखान सुना, तो भिन्ना गए। हम लोगों की तरफ़ इस तरह घूरकर देखा, मानों काट ही खाएँगे। मगर कुछ बोले नहीं। चुपचाप ब्रेक में घुस गए। हम लोग भी गाड़ी में जाकर बैठ गए।

इसी समय एक सरदार साहब (सिक्ख) कुली के पीछे दौड़ते हुए हाँफते-हाँफते आए और हमारे कंपार्टमेंट में घुसने लगे। इनकी तोंद देखकर यह धोखा होता था कि सलवार के अंदर ज़रूर कोई छोटा-मोटा ढोल बँधा है। इस वक़्त यह भारी तोंद आपको बहुत खली। गाड़ी का वक़्त हो चुका था; आपका दौड़ना देखकर हँसी आती थी। बेचारे पसीने-पसीने हो रहे थे। एक हाथ से सुथन सँभालते थे। बेचारी सलवार इतनी ऊँची तोंद पर चढ़ने से इनकार कर रही थी। न-मालूम चिकनी थी या सरपट। सलवार उसी प्रकार नहीं रुकती थी, जैसे काई लगी जगह पर पैर। लंबी अधकचरी डाढ़ी, मुँह में बीड़े भरे, आँखों में सुरमा लगाए, तथा सिर पर बड़ा-सा पग्गड़ बाँधे। हम लोगों ने कहा—"यह डिब्बा रिज़र्व है, आगे जाइए।" लेकिन सरदार साहब भला कब माननेवाले थे, घुस ही तो पड़े और लगे कहने—

"हम पलटन का आदमी है। हम यहीं बैठेगा।"

चौ०—"यहाँ बैठते तो हो, लेकिन नानी याद आएगी।"

सर०—"क्या गुस्ताख़ी करते हो, हम पलटन में जमादार है, हम इस मुलक के आदमियों को कुछ नहीं समझते।"

मैं—"अख़्वाह! आप जमादार हैं, क्या टट्टियों के?"

सर०—"हम रेजीमंट में जमादार हैं। हम पिंजाबी हैं, पिंजाबी बहुत बहादुर होता है।"

मैं—"पिंजाबी ताक़तवर तो होते हैं, मगर ज़रा औंधी खोपड़ी के होते हैं।"

सर०—"क्या मतलब?"

मैं—"यही कि अक़्ल से ज़रा कम सरोकार रखते हैं।"

चौ०—"आप कहाँ तशरीफ़ ले जा रहे हैं?"

सर०—"हम छुट्टी लेकर पिंजाब जा रहे हैं।"

हम लोग आपस में विचार करने लगे कि किस तरह इन दोनों चंडूलों (गार्ड और सरदार) को उल्लू बनाएँ। इसी समय गाड़ी रुकी और सरदार उर्फ़ जमादार लपककर गाड़ी के बाहर हो रहे। हम लोगों को संदेह हुआ कि पंछी उड़ा जा रहा है, परंतु यह संदेह कुछ जल्द दूर हो गया। मालूम हुआ कि हमारे सरदार साहब ज़नानी गाड़ी के पास जाकर रुक गए। इसी समय हम लोगों का ध्यान ऊपर की बर्थ पर पड़ा, जिस पर सरदार साहब का एक झाबा रक्खा हुआ था। उधर उन्होंने पीठ फेरी, इधर हम लोगों ने झाबे की छानबीन शुरू की। मालूम हुआ कि झाबे में सेब, संतरे, अमरूद भरे हुए हैं। फिर क्या था, हम लोगों ने पहली दफ़े में ही चौथाई माल निकाल लिया और बिस्तरों के पीछे एक तौलिए में लपेटकर रख दिया। जब गाड़ी चली, तो हम लोगों ने फलों को निकाला, सब अपने-अपने चाकू निकालकर बैठ गए।

मैंने सरदार साहब से कहा—

"जनाब, आप भी नोश फ़रमाइए। हम लोग इलाहाबाद से बहुत तलाश करके अमरूद लाए हैं। हम लोगों को तो पहचान नहीं है। आप देखिए, कैसे हैं?"

सरदार ने अपने टोकरे की तरफ़ देखते हुए कहा—"मुझे माफ़ कीजिए। मेरे पास भी मौजूद हैं।"

मैं—"यह भी आपके ही हैं। लीजिए, तकल्लुफ़ की क्या ज़रूरत है।"

सरदार—"नहीं, नहीं, मैं नहीं खाऊँगा।"

दम-भर में हम लोगों ने सामने के फल साफ़ कर दिए। गाड़ी दूसरे स्टेशन पर रुकी। सरदार ज़नानी डिब्बे की तरफ़ लपके। और इधर हम लोगों ने फिर

झाबे पर धावा बोल दिया। इस बार आधा झावा ख़ाली कर दिया। पिछले दफ़े के फलों के छिलके और अधकटे फल उनके झोले में भर दिए। जब सरदार वापस आए, तो हम लोगों के सामने फिर उतने ही फल देखकर उन्होंने अपने झाबे की तरफ़ एक संदिग्ध दृष्टि डाली, परंतु उसे खोलकर देखा नहीं। मैंने कहा—

"लीजिए जनाब, अब थोड़े-से रह गए हैं।"

सरदार—"पाँच रुपए के मैं भी लाया हूँ। आप इतमीनान से खाइए।"

मैं—"यहाँ आपकी दुआ से कौन बेईमान पैसे ख़र्च करता है। मोल लेकर खानेवाले पर लानत।"

ग़र्ज़ कि हम लोगों की ख़ुशक़िस्मती और सरदार साहब की बदक़िस्मती से वह हर स्टेशन पर ज़नाने-डिब्बे की यात्रा करते रहे और यहाँ यार लोगों ने चार स्टेशनों के पहले ही झाबा ख़ाली कर दिया। छिलके और अधकटे टुकड़े उनके झोले के हवाले कर दिए। जब पेट में इतना मुफ़्त का माल पहुँचा, तो अक़्ल भी तेज़ हो गई। अब ख़्याल यह आया कि इन बुढ़ऊ खूसट को ज़नाने-डिब्बे से क्या इश्क़ पैदा हो गया है। ख़याल आने-भर की देर थी, हम लोगों ने इस बात के अनुसंधान करने का इरादा कर लिया। यहाँ यार लोग भला कब चूकनेवाले थे। दूसरे स्टेशन पर गाड़ी रुकी नहीं कि यार लोग भी मियाँ साहब के पीछे-पीछे जा पहुँचे। देखते क्या हैं कि हमारे सरदार साहब खिड़की पर बैठी हुई सत्रह-अट्ठारह बरस की एक नई नवेली से हँस-हँसकर बातें कर रहे हैं। इस समय सरदार साहब की हुलिया में शृंगाररस के प्रभाव से अजीब परिवर्तन हो गया था। उनके बुड्ढे, झुर्रियों से सुशोभित चेहरे पर हास्य रेखाएँ पड़ गई थीं। छोटी-छोटी गोल आँखों से प्रसन्नता झलक रही थी। बातें करने में कभी-कभी आँखें मटकाते जाते और दाढ़ी हाथ में लेकर हिलाते जाते थे, मानो वह सुंदरी आपकी अधकचरी दाढ़ी पर रीझ जायगी।

हम लोगों ने जो यह हाल देखा, तो लगे क़हक़हा लगाने। यहाँ तक कि सारा स्टेशन गूँज गया और मुसाफ़िर खिड़कियों से सिर निकाल-निकालकर देखने लगे कि माजरा क्या है। सरदार साहब भी चौंके। अपने प्रेमालाप के आनंद में हम लोगों को कंटक जान जलकर कोयला ही हो गए।

हर स्टेशन पर हम लोगों की यही हरकत जारी रही। जब गाड़ी चलती, तो हम लोग अपने डिब्बे की तरफ़ भागते और एक-एक करके लटक-लटककर चढ़ती हुई गाड़ी पर चढ़ते। ज़नाने डिब्बे का ऐसा आकर्षण था कि इस बात की परवा न थी कि चढ़ती हुई गाड़ी पर चढ़ने का क्या हश्र होगा।

गार्ड साहब हम लोगों से पहले ही ख़ार खाए थे। इस चढ़ा-उतरी ने उनके मिज़ाज के पारे को और भी गर्मी पहुँचाई। हम लोगों के पास आकर बोले—"चलती गाड़ी में चढ़ने का हुक्म नहीं है, अगर कोशिश करोगे तो उतार देंगे"। लेकिन यहाँ कौन उन्हें दमड़ी को पूछता था और कौन उनके हुक्म की परवा करता था। यार लोगों ने बिलकुल अनसुनी कर दी। हमारे इस व्यवहार से गार्ड साहब एकदम उबल पड़े। अब तक आग अंदर-ही-अंदर सुलग रही थी, अब उसकी लपटें बाहर आने लगीं। एक स्टेशन पर गाड़ी चली, हम लोग एक-एक करके चढ़ने लगे। चंदू सबके पीछे था। इतने में गार्ड साहब ने आकर चंदू को अलग कर दिया। हरी लालटेन दिखा दी। गाड़ी तेज़ हो गई। चंदू प्लेटफ़ार्म पर से चिल्लाया—"अरे! मैं रह गया"।

लेकिन हम लोग गार्ड साहब के भी चचा थे। यदि वह ज़रा बदमाश थे, तो यहाँ नस-नस में बदमाशी भरी थी। यदि वह चलते-पुरज़े थे, तो यहाँ उन-जैसे सैकड़ों को चरा चुके थे। अस्तु, मैंने दन से ज़ंजीर खींच दी। गाड़ी खड़ी हो गई। हम लोग सोचने लगे कि देखें आगे क्या होता है। इतने में गार्ड साहब भी इस डिब्बे में झाँक, उस डिब्बे को देख, हमारे डिब्बे में फ़ट पड़े। तड़पकर बोले—"किसने ज़ंजीर खींची है"?

मैं—"मैंने?"

गार्ड—"क्यों?"

मैं—"आपने हमारे साथी को क्यों उतार दिया।"

गार्ड—"तुमको पचास रुपया जुरमाना देना पड़ेगा।"

चौ०—रुपयों के नाम पर तुम्हारे सिर पर यह नन्हें-नन्हें मुलायम पचास सिलोंपर ठोकेंगे और एक गिनेंगे।"

गार्ड 'क्या-क्या' कहते हुए चौधरी की तरफ़ लपके। मैंने बीच में आकर कहा—

"जाने दीजिए। आप भी क्या लड़कों की बातों में पड़ते हैं। माफ़ कीजिए, ग़लती हो गई।"

गार्ड—"अब मैं माफ़ नहीं कर सकता। ए० टी० एस० इसी गाड़ी से चल रहा है। मैं मानिकपुर-पुलिस को तार दिए देता हूँ।"

चौ०—"अच्छा, कृष्ण सुख करो। हम समझ लेंगे।"

हम लोग सोचने लगे कि यह बुरा हुआ। अगर जुरमाना देना पड़ा, तो बड़ी किरकिरी हो जायगी। यहाँ पचास रुपए किसके पास रक्खे हैं। घरवालों को मालूम होगा, तो वह खा जायँगे।

मुसीबत जब आती है, तो एक साथ आती है। हमारे सरदार साहब को पाख़ाना भी इसी समय लगना था। अस्तु, उन्होंने लोटा निकालने के लिये अपना झोला उठाया। हम लोगों ने कहा कि अब पूरी मौत है। उस वक़्त ऐसा गुस्सा आया कि अगर बस चलता, तो झोले में आग लगा देते या गाड़ी से बाहर तो ज़रूर ही फेंक देते। लेकिन मजबूर थे।

चुनाँचे उन्होंने ज्यों ही झोले में हाथ डाला, त्यों ही मुट्ठी में फलों के छिलके आ गए। पहले तो उनकी समझ ही में नहीं आया कि झोले ने अंडे दिए हैं या क्या। लेकिन इसी समय लाख रोकने पर कमबख़्त हँसी आ ही गई। हज़रत ने तुरंत उठकर झाबे का मुलाहज़ा किया। फिर तो सब क़लई खुल गई। पलट-कर हम लोगों से कहने लगे—

"तुम लोगों ने मेरे फल क्यों निकाल लिए? मैं पुलिस में रिपोर्ट करता हूँ।"

मैं—"क्या बकते हैं आप, क्या भाँग तो नहीं खा गए?"

सरदार—"मेरा झाबा ख़ाली पड़ा है।"

मैं—"तो हम लोगों से क्या मतलब, आपका झोला भरा हो या ख़ाली।"

चौ०—"हज़रत! ज़रा होश के नाख़ून लीजिए। शरीफ़ आदमियों को चोरी लगाते हो! हम लोग तुम-जैसे दस को ख़रीद सकते हैं।"

सरदार—"और मेरे झोले में यह छिलके कहाँ से आए?"

मैं—"वाह जनाब! क्या ख़ूब सवाल है। अपने झोले का हाल आप जानें या हम।"

वैसे तो बुड्ढा हम लोगों से दब गया, लेकिन फ़िक्र हो गई कि कहीं यह रिपोर्ट न कर दे। सोचने लगे कि यह दुतरफ़ा मुसीबत बुरी गले पड़ी। अब पछताते थे कि कहाँ से कमबख़्त फल छुए। इस वक़्त जान अज़ाब में है। अंत में मैंने सोचकर कहा—

"ख़ैर, कुछ चिंता नहीं। लाल, तुम एक काम करो। तुम्हें गार्ड ने अच्छी तरह नहीं देखा है। मानिकपुर में गाड़ी रुकते ही तुम गार्ड से जाकर कहना कि एक आदमी, जो हमारे डिब्बे में बैठा है, एक औरत भगाए लिए जा रहा है। बाक़ी जो काम करना है, मैं कर लूँगा।" मैंने सबको अपनी तरकीब समझाई।

मानिकपुर पर गाड़ी खड़ी होते ही सब लोग अलग-अलग डिब्बों में जा पहुँचे। इधर लाल को जैसा सिखाया था, वैसा उसने गार्ड से जाकर कहा। मैं उतरकर ज़नाने डिब्बे तक गया और वहाँ से वापस आकर सरदार से कह दिया कि तुम्हारी औरत को टिकिट-कलेक्टर ने टिकिट न होने के कारण उतार लिया है।

इतना सुनना था कि सरदार साहब बौखलाकर दरवाज़े की तरफ़ लपके। उधर से मुसीबत के मारे गार्ड साहब भी आ मरे। अंधेरा था ही। सरदार साहब के पहले ही होश फ़ाख़्ता हो गए थे। न-मालूम आँख बंद करके दौड़े थे या क्या। तरकीब काम कर गई। दरवाज़े पर दोनों तोंदें तड़ाक से भिड़ गईं। मालूम नहीं, एक आध पिचकी या सहीसलामत रही। गार्ड साहब तोंद पर हाथ फेरते हुए प्लेटफ़ार्म पर बैठ गए। पतलून के दो-तीन बटन टूट गए। फिर क्या था, तोंद को अपनी क़ैद से रिहा होने का मौक़ा मिल गया। इधर सरदार साहब गाड़ी में धम से गिर पड़े। कहने लगे—

"ग़ज़ब हुआ। गाड़ी लद गई, अब क्या करूँ। कोई मेरी जनानी को उतार ले।"

मैंने इस मौक़े को ग़नीमत समझा, चटपट गार्ड साहब की लालटेन और झंडी उठाई। लालटेन को सरदार साहब की पीठ के पीछे साफ़े के पुछल्ले से बाँध दिया और झंडी को साफ़े में खोंस दिया। सरदार गाड़ी लदने के ख़याल में कुछ ऐसे बौखला गए थे कि उन्होंने चूँ तक न की। अब मैं भी तमाशा देखने के लिये प्लेटफ़ार्म पर जा पहुँचा। जहाँ मित्रगण फुटफैल होकर भलेमानसों की तरह टहल रहे थे।

गार्ड साहब इस वक़्त बड़ी आफ़त में थे। पतलून बेकाम हो चुकी थी। यदि एक तरफ़ सँभालते, तो दूसरी

बलखलाकर दूसरी तरफ़ निकल पड़ती थी। अब उन्हें इस समय कहाँ से बटन मिले और कहाँ से सुईतागा, और कैसे इस बला से नजात मिले। इसी पशोपेश में पतलून से उलझ रहे थे। उधर गाड़ी लेट हो गई। गार्ड साहब अभी तक दफ़्तर में दस्तख़त करने भी नहीं गए। बदक़िस्मती से सीधे यहाँ चले आए थे। अब जायँ तो कैसे, पतलून तो जवाब दे रही थी। असिस्टेंट गार्ड ने आकर कहा—"साहब नाराज़ हो रहे हैं, लो वह ख़ुद आ रहे हैं।"

ए० टी० एस० ने आकर कहा—"वेल गार्ड! गाड़ी क्यों लेट (देर) हो गया?"

गार्ड साहब उठकर खड़े हुए। लेकिन वैसे ही तोंद एक तरफ़ से निकल पड़ी।

"हुज़ूर! पेट में एक दम बड़ा दर्द उठा, खड़ा नहीं हो सकता हूँ।"—यह कहकर गार्ड साहब तोंद सँभालने की नियत से फिर ज़मीन पर बैठ गए।

सा०—"हम असिस्टेंट गार्ड को गाड़ी लेकर भेजेगा। तुम्हारा लैंप और झंडी कहाँ है?"

अब गार्ड साहब चारों तरफ़ देखने लगे।

सा०—"तुम बड़ा ग़ाफ़िल है। लैंप और झंडी गिरा दिया। हम तुमको Reduce करेगा।"

साहब अपने डिब्बे में चला गया। असिस्टेंट गार्ड को गाड़ी का चार्ज दिया गया। गार्ड साहब अपने भाग्य को कोसते हुए एक तरफ़ चल दिए। कहाँ हम लोगों को उतरवा रहे थे, कहाँ ख़ुद उन्हीं का बोरिया-बँधना बँध गया।

मैंने पीछे से जाकर गार्ड साहब को सलाम किया। मेरी सूरत देखते ही वह आगबबूला हो गए। लेकिन मैं चुपचाप अँधेरे में नौ-दो-ग्यारह हो गया।

गाड़ी चलनेवाली थी, इसी समय पुलिस आ पहुँची। हमारे डिब्बे के पास आकर एक कांसटेबिल बोला—

"उस नंबर का यही डिब्बा है।"

दूसरा—(सरदार की तरफ़ इशारा करके) "यही वह पसींजर मालूम पड़ता है। (सरदार से) उतरिए जनाब! नीचे आइए।"

सरदार—"क्यों-क्यों, क्या यह डिब्बा कटेगा।"

पु० का०—"डिब्बा तो नहीं कटेगा। आपका यावदाना इस डिब्बा से कटेगा। आपको ज़रा थाने की हवा खिलाना है।"

सरदार—"एं! थाना! यह क्यों। मुझे इसी गाड़ी से जाना है।"

दू० का०—"पचास रुपए जुरमाने के अदा कर दो, तो जा सकते हो।"

सरदार—"अरे भाई! जुरमाना कैसा।"

पु० का०—"जंज़ीर और खींचो। अब हमसे पूछते हो, जुरमाना कैसा, उतरो जल्दी करो, गाड़ी जानेवाली है।"

सरदार—"अरे जंज़ीर मैंने नहीं खींची। जिसने खींची, वह तो उतर गया।"

दू० का०—"यह चरके किसी और को देना। उतरते हो या हम ज़बरदस्ती उतारें।"

सरदार—"भाई, मैं तुमको यक़ीन दिलाता हूँ कि—

पु० का०—(दूसरे से) "यह इस तरह नहीं मानेगा। ज़रा गार्ड साहब को तो बुलाना, लो वह आ ही रहे हैं। (अ० गार्ड से) क्यों गार्ड साहब, इसी डब्बे में जंज़ीर खींची गई थी ना।"

अ० गार्ड—"हाँ, इसी में।"

पु० का०—"उतरो जी" (हाथ पकड़कर उतारता है)।

अ० गार्ड—(लालटेन और झंडी देखकर) "अरे लालटेन और झंडी भी इसी ने चुराई थी। ले जाओ इसको थाने पर।"

गार्ड ने सीटी दी, गाड़ी चल दी।

सरदार—"अरे मेरी औरत गाड़ी में है। मुझे अपनी औरत को तो उतार लेने दो।"

मैंने आगे बढ़कर कहा—"इनके और औरत, इनके बाप के भी कभी औरत थी।" इतना कहकर मैं गाड़ी पर चढ़ गया।

का०—"हाँ-हाँ झूठ बकता है। चलो इधर।"

इसी समय अपने मियाँ की चिल्ल-पों सुनकर वह स्त्री खिड़की से झाँकी। अब तो सरदार आपे से बाहर हो गए। चलती गाड़ी की तरफ़ झपटे, मगर कांसटेबिल उन्हें कहाँ जाने देते थे। हम लोगों ने खिड़कियों से झाँककर चिल्लाकर कहा—'पागल है'। अब तो सरदार सचमुच पागल बन गए। लगे हम लोगों को गालियाँ सुनाने और ढेले उठा-उठाकर फेंकने। स्टेशन पर जो लोग खड़े थे, हँसने लगे और कहने लगे कि पागल है।

दूसरे दिन सुबह हम लोग अपने घर पहुँच गए। दो-दो मुसीबतों से साफ़ बचकर निकल आने से और यात्रा का लुत्फ़ सोच-सोचकर बड़े प्रसन्न थे। परंतु इस बात का बड़ा अफ़सोस रहा कि सरदार साहब पर थाने में न-जाने कैसी बीती होगी और उनके बिना उस सुंदरी की न-जाने क्या हालत हुई होगी।

एस्० आर० डी० सक्सेना

आँसू

१

तोड़कर शैल-हृदय के खण्ड,
प्रवाहित प्रखर-स्रोत-सा हाय;
आँसुओं का यह प्रबल प्रवाह।
बनाता है मुझको निरुपाय।

२

बिंदु में व्याकुलता का सिंधु,
छलकने में लहरों का ज़ोर;
जलन में वाड़व का-सा दाह।
प्रवाहों में है निहित हिलोर।

३

छिपाए उर में नीरव-व्यथा,
सरल शिशु-सा, भोला नादान;
आँसुओं का व्याकुल संसार।
मचल पड़ता मुख पर अनजान।

४

वेदना के कीचड़ में लोट,
आँसुओं का बचपन नादान;
कालिमा धोने को कर रहा,
करुण-सुरसरि में अब यह स्नान।

५

प्रणय के आर्द्र-देश का मचल,
पड़ा है व्याकुल अंतर्नाद;
झलकते हैं, दृग में बन चित्र।
जलन, स्मृतियों की कचट, विषाद।

६

उतर आँखों में किसका आज,
सरलता का शैशव सुकुमार;
चलाता है सम्मोहन-मंत्र।
हृदय से पिघलाने को प्यार।

७

आह! नयनों की शोभा! और
हृदय के मूर्तिमान् अनुराग!
ज्वलित उर-दाहों के हिम-लेप!
जलानेवाली शीतल आग!

८

बनाता है शीतल, प्रेमाग्नि,
भिगोकर हिम-जल में यह कौन?
रहा यह बिन बोले क्या बोल—
वेदना का परिचायक मौन?

९

हृदय की रुँधी वेदना ! कहाँ—
वरुनियों में तू उलझी आह !
त्रार कर भगो न, रखो प्रदीप्त।
अरे ! ओ ! मेरे अंतर्दाह !

१०

आह ! नेत्रों की भीगी कसक !
हृदय की मूर्तिमान् उफ़ ! टीस !
ओ ! अरे ! बच, मिश्री की डली !
पलक दें कहीं न तुझको पीस ?

११

हृदय-घावों के मरहम ! पिघल—
नयन में क्यों तुम आए हाय।
किया उर-पीड़ा का न विचार,
छोड़ आए उसको निरुपाय ?

१२

प्रकट प्रियतम पर करना प्रेम,
अरे ! यह मुझे अभीष्ट न लेश।
उन्हें लख, छलक पड़े फिर हाय !
नेत्र से क्यों नीरव-संदेश ?

१३

आज अभिलाषाओं ने किया,
आँसुओं का धारण आकार;
भिगोकर प्रियतम के पद-कञ्ज,
सुनाने अपनी लगीं पुकार।

१४

शून्य वन आँखों का कर रहा,
दसगुना क्या लावण्य ललाम ?
कि उनमें लिख यह दिखला रहा,
प्रेम का दुखद शून्य परिणाम।

१५

हृदय-धन का अपव्यय कर ज्यों,
अरे ! ओ ! पागल-प्रेम ! उदार !
मान जा, आँखों में भर हाय !
लुटा मत मणियों की बौछार !

१६

अधोमुख होकर हे हृदयेश !
बहाओ मत आँसू चुपचाप ?
बताशा सदृश हमारा हृदय—
घुला जाता है अपने-आप।

हृदयनारायण पाण्डेय "हृदयेश"

देशी सास की विलायती वधू



पारसी रंगमंच और हिंदी-नाटक

आज से कई साल पहले पारसी कंपनियों के रंगमंच पर केवल उर्दू-नाटकों का बोलबाला था। वहाँ हिंदी की कोई पूछ न थी। किसी को सपने में भी यह ख़याल न था कि उन्हीं रंगमंचों पर कभी शुद्ध और ठेठ हिंदी में भी नाटक खेले जायँगे और जनता उन्हें चाव से देखेगी। अस्तु। किस हिंदी-प्रेमी का हृदय यह देखकर हर्ष से फूला न समाता होगा कि आज पारसी रंगमंचों पर अधिकतर हिंदी के ही नाटक खेले जाते हैं और उनमें से कई नाटक तो ऐसे हैं, जो अन्य भाषाओं के अच्छे नाटकों से टक्कर ले सकते हैं। आज ऐसे ही एक नाटक की समालोचना इस लेख का उद्देश्य है।

यह नाटक आजकल कलकत्ते की एक पारसी नाटक-कंपनी के रंगमंच पर खेला जा रहा है। नाम है इसका "धर्मी बालक" या "ग़रीब की दुनिया"। पर नाम से इसका विषय प्रकट नहीं होता। असल में नाटक का मुख्य विषय हिंदू-समाज की दहेज़-प्रथा है। नाटक क्या है, अंधे हिंदू-समाज की आँखों में फिर से ज्योति पैदा करनेवाला ममीरे का सुरमा या दहेज़-प्रथा की भट्टी में जलती हुई हिंदू-जाति की आहों की जीती-जागती तसवीर या विवाह की बलि-वेदी पर बलिदान की जाती हुई हिंदू-अबलाओं के हृदयों से निकला हुआ दर्दभरा तराना है। अस्तु, इस दहेज़-प्रथा की बदौलत हमारी समाज में कितनी ख़राबियाँ पैदा हो गई हैं, यह किसी समझदार हिंदू से छिपा नहीं है। इसकी बदौलत लड़का उस लड़की से नहीं ब्याहा जाता, जो गुण में, रूप में, तन्दुरुस्ती में और उम्र में उसके सब तरह से योग्य हो, बल्कि उस लड़की से ब्याहा जाता है, जिसका पिता सबसे अधिक दहेज़ देने में समर्थ होता है। हर एक आदमी की यह स्वाभाविक इच्छा रहती है कि वह अपनी प्यारी लड़की को ऐसे वर के हवाले करे, जो सुशील और सच्चरित्र, सुशिक्षित और समझदार, तंदुरुस्त और रूपवान् हो और जो उस लड़की को हर तरह से आराम पहुँचा सके। पर जब वह अपनी लड़की के लिये वर के पिता के पास जाता है, तो उससे इतना दहेज़ माँगा जाता है कि वह अपना-सा मुँह लेकर लौट आता है। नतीजा यह होता है कि वह लड़की किसी अयोग्य वर के गले मढ़ दी जाती है और ज़िंदगी-भर हिंदू-जाति के अत्याचारों की चक्की में पिसा करती है। किसी लड़की का पिता जब किसी वर के पिता के पास अपनी कन्या के विवाह के लिये पहुँचता है, तो पहला सवाल यही होता है कि कितना दहेज़ दोगे। इस तरह दहेज़ जुटाने की चिंता उसको चिता की तरह भस्म कर डालती है। हर एक हिंदू-गृहस्थ के लड़की पैदा होने के साथ-ही-साथ दहेज़ की चिंता भी पैदा हो जाती है। तब से वह पेट काटकर रुपया जमा करता है और अंत में वर के पिता के चरणों में चढ़ा देता है। न-जाने कितने घर इस राक्षसी प्रथा की बदौलत तबाह हो गए। न-जाने कितनी बीभत्स घटनाएँ और आत्महत्याएँ इस दहेज़-प्रथा की बदौलत हो चुकीं। बंगाल की स्नेहलता का बलिदान अभी बहुत पुराना नहीं हुआ। एक नहीं अनेक स्नेहलताएँ भारत के कोने-कोने में प्रतिदिन इस प्रथा की बलिवेदी पर हलाल की जा रही हैं, पर समाज के सिर पर जूँ तक नहीं रेंगती। इसी प्रथा की बीभत्सता और पाशविकता का जीता-जागता चित्र इस नाटक में जीवित शब्दों में खिंचा हुआ मिलता है।

भाषा इसकी अत्यंत सरल और सीधी है, पर साथ ही निहायत ज़ोरदार और दिल में चुभनेवाली है। इसमें न तो अरबी-फ़ारसी के अनगढ़ शब्दों की भरमार है और न संस्कृत के अनावश्यक क्लिष्ट शब्दों की। असल में जैसी इस नाटक की भाषा है, वैसी ही भाषा आदर्श हिंदी और राष्ट्रभाषा कहलाने का दावा कर सकती है। पर आश्चर्य! महा आश्चर्य! सच्चे हिंदू-भावों से भरे हुए इस नाटक को अत्यंत सरस और सजीव भाषा में लिखनेवाले एक मुसलमान सज्जन हैं। नाम उनका आग़ाहश्र काश्मीरी है। आग़ा साहब अनेक उर्दू

और हिंदी-नाटकों के प्रसिद्ध लेखक हैं। हिंदी-नाटकों में उनका 'आँख का नशा' जिसने देखा, उसकी आँखों में नशा-सा छा गया। इसी तरह "भीष्म-प्रतिज्ञा" उनकी लेखनी से निकला हुआ एक दूसरा हिंदी-नाटक है, जिसके देखने से भीष्म का सच्चा चित्र आँखों के सामने आ जाता है। पर खेद है, हिंदी-भाषा-भाषियों में केवल उन लोगों को छोड़कर, जो पारसी कंपनियों में अक्सर नाटक देखा करते हैं, बहुत कम लोगों को मालूम है कि आग़ा साहब हिंदी के कितने अच्छे लेखक हैं। यही नहीं, जैसी सरस, सुललित और ओजस्विनी भाषा आग़ा साहब लिखते हैं, आजकल के बहुत कम हिंदी-लेखक लिख सकते हैं। पर खेद है, उनका कोई भी नाटक अभी तक छपा नहीं और न कंबख़्त पारसी-नाटकवाले, जिन्होंने ये नाटक आग़ा साहब से लिखवाए हैं, उन नाटकों को कभी छपाने का मंशा ही रखते हैं। इस कारण हिंदी-साहित्य के कई अनमोल रत्न, जो हिंदी-साहित्य के भण्डार की एक बड़ी भारी कमी को पूरा करते, हिंदीवालों से छिपे हुए पड़े हैं और हिंदी-साहित्य उनसे वंचित हो रहा है। मैं तो यह कहूँगा कि हिंदी-साहित्य-सम्मेलन तथा नागरी-प्रचारिणी सभा को इस बात के लिये उन-उन नाटक-कंपनियों पर ज़ोर डालना चाहिए कि आग़ा साहब के सब हिंदी-नाटक—जैसे "आँख का नशा" "भीष्म-प्रतिज्ञा", "मधुर मुरली", "भारत-रमणी", "धर्मी बालक" "भक्त सूरदास" इत्यादि—पुस्तकाकार प्रकाशित किए जायँ और उनका काफ़ी प्रचार हिंदी-संसार में किया जाय।

आग़ा साहब के और नाटकों की समालोचना मैं फिर किसी लेख में करूँगा। इस लेख में केवल "धर्मी बालक" का संक्षिप्त प्लाट और उसकी थोड़ी-सी बानगी देकर लेख को समाप्त कर दूँगा। अस्तु। नाटक का प्लाट बहुत ही सरल और सीधा-सादा है। बाबू कैलाशनाथ एक बहुत ही भले और उदार-हृदय गृहस्थ हैं। कोई उनके दरवाज़े से कभी ख़ाली हाथ नहीं लौटा। एक समय वह ख़ासे धनी थे। बहुत अच्छा रोज़गार चलता था। पर व्यापार में बार-बार घाटा लगने तथा हाथ के खुले होने से उनका सब धन धीरे-धीरे निकल गया, यहाँ तक कि वह केशव बाबू नामी एक महाजन के क़र्ज़दार हो गए। धीरे-धीरे उनकी सब जायदाद निकल गई और अब इनके पास रहने के लिये केवल एक छोटा-सा मकान और स्वर्गीया पत्नी के सिर्फ़ दो-चार ज़ेवर रह गए, जिन्हें वे इसलिये सुरक्षित रक्खे हैं कि आगे चलकर जब उनकी दोनों लड़कियों की शादी होगी, तो दहेज़ देने के लिये काम में आवेंगे।

लड़कियों का नाम गौतमी और सावित्री है। गौतमी बड़ी और सावित्री छोटी है। बड़ी की उम्र १६ और छोटी की १४ वर्ष की है। हिंदू-समाज के प्रचलित नियमों के अनुसार दोनों की शादी इससे पहले ही हो जानी चाहिए। पर पिता की ग़रीबी के कारण उनका ब्याह कहीं भी नहीं लगता। पिता जहाँ जाता है, वहाँ उससे यही सवाल होता है कि कितना दहेज़ दोगे? लड़कियाँ इतनी बड़ी हो गईं और अभी तक उनकी शादी नहीं हुई, इसके लिये पिता को बिरादरी के सामने हेठी सहनी पड़ती है। दोनों लड़कियाँ अत्यंत रूपवती, शीलवती, गुणवती और गृहकार्य में कुशल हैं। अगर कोई दोष उनमें है, तो केवल यह कि वे अब एक ग़रीब बाप की बेटी हैं। पिता उनके विवाह की चिंता में दिन-पर-दिन घुल रहा है। पर उसे कोई उपाय नहीं सूझता कि क्या करे। लड़कियाँ सयानी और समझदार हैं। वे भी पिता की चिंता से अनभिज्ञ नहीं हैं। पर वे करें तो क्या करें। लज्जा के मारे किससे वे खुलकर कह भी नहीं सकतीं कि पिताजी आप हमारे ब्याह की चिंता न करें, हम जीवन-भर अविवाहिता रहकर ज़िंदगी काट सकती हैं, पर आपको चिंतित और दुःखित नहीं देख सकतीं।

अस्तु। केशव बाबू जिसके क़र्ज़दार बाबू कैलाशनाथ हैं, एक निहायत ही लोभी और अर्थ-पिशाच आदमी हैं। साठ बरस का बुड्ढा है, दिल के धड़कन की बीमारी है। एक पैर क़ब्र में लटकाए हुए है। उसकी पहली स्त्री मर चुकी है, पर संतान कोई भी नहीं है। इससे शादी की हबिस उसके हृदय से नहीं जाती। उसका दाँत कैलाशनाथ की लड़कियों पर लगा हुआ है। वह कैलाश बाबू की दो लड़कियों में से एक का पाणिग्रहण करना चाहता है। चूँकि कैलाशनाथ केशव बाबू के क़र्ज़दार हैं, इसलिये वह उनके ऊपर अनुचित दबाव भी डालना चाहता है। इसी उद्देश्य से वह एक पुरोहित को कैलाशनाथ के पास भेजता है।

पुरोहित कैलाश बाबू के साथ सहानुभूति दिखाते हुए पूछता है—"महाशय, लड़कियाँ सयानी हो गईं, उनके लिये कोई वर तलाश किया या नहीं ?" कैलाशनाथ अपनी ग़रीबी का वर्णन करते हैं और कहते हैं कि भाई जहाँ जाता हूँ यही सवाल होता है कि कितना दहेज़ दोगे, इसलिये सर्वगुण-संपन्ना होते हुए भी मेरी लड़कियाँ विवाह के योग्य हो जाने पर अब तक अविवाहिता बैठी हैं। इस पर इशारतन वह पुरोहित केशव बाबू का ज़िक्र करता है और प्रस्ताव करता है कि दोनों लड़कियों में से एक का विवाह केशव बाबू के साथ यदि कर दिया जाय, तो बड़ा ही अच्छा हो। इस प्रस्ताव को कैलाशनाथ ठुकरा देते हैं और पुरोहित से कहते हैं कि मेरी लड़कियाँ ज़िंदगी-भर अविवाहिता रह जायँगी; पर मैं जीते-जी एक बूढ़े के साथ ब्याह कर उन्हें विधवा के भेष में नहीं देख सकता। केशव बाबू का सेक्रेटरी एक श्यामलाल नामी वकील है, जो निहायत ही बद-माश, मुतफ़न्नी और सज़ायाफ़्ता है। वह भी विवाह के लिये केशव बाबू का पैग़ाम लेकर आता है और जब कैलाशनाथ उसके भी प्रस्ताव को घृणा के साथ ठुकरा देते हैं, तो वह उनको धमकाता है कि याद रखना, तुम केशव बाबू के क़र्ज़दार हो, जिस दिन चाहें उस दिन तुम पर डिग्री कराकर तुम्हें जेल की हवा खिला सकते हैं। पर कैलाशनाथ उसकी धमकियों की परवा न करके अपने इरादे पर दृढ़ रहते हैं।

इधर दोनों लड़कियों में से बड़ी लड़की, जो ज़्यादा सयानी और समझदार है, पिता को अपने विवाह की चिंता में व्याकुल देखकर आत्मघात करने का निश्चय करती है कि मेरे आत्मघात कर लेने से पिताजी की आधी चिंता तो कम-से-कम दूर हो जायगी और उनके सिर पर केवल एक ही लड़की के ब्याह का बोझा रह जायगा। यह समझकर वह एक दिन विष घोलकर पी लेती है और इस निर्दयी संसार से बिदा हो जाती है! उसकी बातों से उसकी छोटी बहन को पहले ही से कुछ शक हो जाता है कि शायद वह आत्मघात करने-वाली है। वह अपना शक मिटाने और उसे समझाने के लिये बड़ी बहन के कमरे में आती है और वहाँ उसे मरी हुई पाती है। वह बहन के मृत शरीर पर पछाड़ खाकर गिर जाती है और विलाप करती है, जिसे सुनकर पिता भी वहाँ आ जाता है और शोक में पागल-सा हो जाता है। उसी समय केशव बाबू भी, जिनकी डिग्री कैलाशनाथ पर हो चुकी है, पुलिस के साथ वहाँ आते हैं और कैलाशनाथ को हवालात में ले जाने के लिये गिरफ़्तार करते हैं। एक तरफ़ लड़की मरी हुई पड़ी है और दूसरी तरफ़ पिता गिरफ़्तार होकर हवालात को ले जाया जाता है! कितना करुणाजनक और दर्द पैदा करनेवाला दृश्य है!

पिता के जेल जाने के बाद दूसरी लड़की किसी तरह स्थानीय सेवासमिति की सहायता से अपने दिन काट रही है। इस हालत में केशव बाबू का सेक्रेटरी धूर्त श्यामलाल उस लड़की के पास आकर उसे चकमा देता है कि अगर तू केशव बाबू के साथ शादी करने को राज़ी न होगी, तो तेरे बाप के ऊपर जाली दस्तावेज़ बनाने का एक दूसरा मुक़दमा चलाया जायगा, जिसका नतीजा यह होगा कि जेल से उसका छुटकारा न होगा और शायद वहीं उसकी मौत भी हो जायगी। लेकिन हाँ, अगर तू केशव बाबू से शादी करना मंज़ूर कर ले, तो फिर तेरे बाप पर कोई मुक़दमा न चलाया जायगा, साथ ही वह जेल से रेहा करा दिया जायगा, और अपने बुढ़ापे के दिन आराम के साथ काट सकेगा। एक तरफ़ पिता का प्रेम और दूसरी तरफ़ बूढ़े के साथ ब्याह करके अपनी जवानी के सारे सुखों का बलिदान दोनों में से वह क्या चुने, यह एक कठिन समस्या उसके सामने उपस्थित हुई। अंत में वह अपने पिता को जेल की यातनाओं से मुक्त कराने के लिये बूढ़े केशव बाबू के साथ ब्याह करने को तैयार हो जाती है। इस पर श्याम-लाल, जो यह जानता है कि कैलाशनाथ जेल में सड़-कर मर जाना पसंद करेगा, पर अपनी बेटी का ब्याह बूढ़े के साथ करने को राज़ी न होगा, फिर उस लड़की को समझाता है कि तेरा पिता जेल में मर जाना पसंद करेगा, पर वह कभी यह गवारा न करेगा कि तेरा ब्याह केशव बाबू के साथ हो। इसलिये अगर तू अपने बाप को जेल से सदा के लिये मुक्त कराना चाहती है, तो बाप के लाख समझाने पर भी अपने इस इरादे से कभी न डिगना।

इसके बाद कैलाशनाथ जेल से छूटकर आते हैं और देखते हैं कि उनकी छोटी लड़की नर-पिशाच केशव के साथ ब्याह करने की तैयारी में है। वह लाख उसे

समझाते हैं कि विवाह न करे, पर वह श्यामलाल की धमकी को याद कर अपने निश्चय पर दृढ़ रहती है। अंत में विवाहमंडप सजाया जाता है। केशव बाबू दूल्हा बनकर आता है और सावित्री का पाणिग्रहण करता है। ब्याह-संस्कार समाप्त होता है। पर अब कैलाशनाथ अपने को नहीं रोक सकते और केशव बाबू को धिक्कारते हुए अपने दिल का बोझ हलका करते हैं। केशव बाबू इस अपमान को न सहकर गुस्से से आग-बबूला हो जाता है और ज्यों ही कैलाशनाथ की ओर झपटता है कि उसका कमज़ोर हार्ट फ़ेल हो जाता है और वह अपनी नवविवाहित पत्नी को विधवा बनाकर सदा के लिये इस संसार से कूच कर देता है।

अब कैलाशनाथ के दुःखों का कोई छोर न रहा। वह सब कुछ सह सकते थे, परंतु अपनी प्यारी बेटी को विधवा के भेष में न देख सकते थे। यही आज उन्हें देखना पड़ा। इसी को बरकाने के लिये उन्होंने जेल जाना मंज़ूर किया, पर केशव बाबू के साथ अपनी लड़की का ब्याह करना अपनी इच्छा से स्वीकार न किया। उनका हृदय इस दुःख को बरदाश्त न कर सका। अतएव उसी क्षण उन्होंने छुरी भोंककर अपने दुःखों और क्लेशों का अंत सदा के लिये कर दिया। इस नाटक का यह दृश्य बहुत ही करुणाजनक और हृदय पर असर करनेवाला है।

संक्षेप में नाटक का यही मुख्य प्लाट है। पर इस संक्षिप्त प्लाट से नाटक की ख़ूबियों का पता लगना असंभव है। कैलाशनाथ के चरित्र में एक आदर्श पिता और उदार हिंदू-गृहस्थ का चित्र खींचकर नाटककार ने कमाल की सफलता हासिल की है। मि० अब्दुल रहमान काबुली नाम के ऐक्टर भी, जो पिता का पार्ट करते हैं, इस पार्ट को निहायत ख़ूबी के साथ अदा करते हैं।

नाटक का प्लाट कह चुकने के बाद कुछ थोड़े-से चुने हुए अंश जिन्हें मैं नाटक देखते हुए जल्दी में नोट कर सका हूँ, यहाँ पर दे देना चाहता हूँ, जिनसे इस नाटक की कुछ बानगी मिल जायगी।

× × ×

(स्थान कैलाशनाथ का घर। केशव बाबू का पुरोहित कैलाशनाथ के पास केशव बाबू की शादी का पैग़ाम लेकर आता है)

पुरोहित—कैलाश बाबू, यह बहुत बुरा ज़माना है। आपकी लड़कियाँ जवान हो चुकी हैं। याद रखिए, जिस घर की तिजोरी में सोना-चाँदी हो, उसी घर में चोरी नहीं हुआ करती। जिस घर में रूप और जवानी हो, उस घर पर भी डाका पड़ा करता है।

कैलाशनाथ—मैं तुम्हारा इशारा समझता हूँ, किंतु क्या करूँ? जहाँ रुपया नहीं, वहाँ उपाय भी नहीं। आह! क्या यही देश है, जिसने सबसे पहले संसार को मनुष्यता और सभ्यता सिखाई थी? क्या यही देश है, जिसकी गोद में दया ने जन्म लिया था। पहले इस देश में उपकार राज्य करता था और अब स्वार्थ राज्य करता है। पहले धर्म पूजा जाता था और अब धन पूजा जाता है। पहले लोग लड़की के ब्याह को एक धार्मिक कर्तव्य समझते थे और अब एक व्यापार समझते हैं। पहले पूछते थे कि लड़की कैसी है, और अब पूछते हैं कि लड़की के बाप के पास कितना है। पहले लड़की में रूप, गुण और शील ढूँढ़ते थे और अब गुण की जगह गहने, रूप के बदले रुपए और शील की जगह लड़की के पिता की संपत्ति ढूँढ़ते हैं। आजकल लोग अपने लड़कों का ब्याह सुंदर, सुशील, धर्मपरायण कन्याओं के साथ नहीं, बल्कि रुपयों के साथ करना चाहते हैं। उन्हें गृहलक्ष्मी नहीं केवल लक्ष्मी चाहिए; रूपवती नहीं, रुपयावती चाहिए।

पुरोहित—तो तुम क्या हमें यह समझाना चाहते हो कि तुम्हारे पास कुछ नहीं है।

कैलाशनाथ—क्यों नहीं है। क़र्ज़ का बोझ है, लड़कियों के ब्याह की चिंता है, दुःख है, हायहाय है, आँसू हैं, रुपए के सिवा सब कुछ है। किंतु इस दुनिया में दुःख का कौन ख़रीदार है, आँसुओं की कहाँ क़ीमत मिलती है, ग़रीब की फूटी हुई क़िस्मत कौन मोल लेता है। मेरे-जैसे ग़रीब की लड़की का विवाह कौन करे, क्योंकि मेरे पास लड़के के पिता को देने के लिये सिवा प्रार्थना और आँसुओं के कुछ भी नहीं है और मेरे आँसू ज़मीन पर गिरकर मोती के बिखरे हुए दाने नहीं बन जाते।

× × ×

एक दूसरे दृश्य में कैलाशनाथ लड़कियों के ब्याह की चिंता में चिंतित दिखाई पड़ते हैं। पिता को ऐसे दशा

और चिंता में देखकर लड़कियाँ रोने लगता हैं। इस पर कैलाशनाथ कहते हैं—"रोती हो! क्यों रोती हो? क्या तुम्हारे रोने से मनुष्यरूपी राक्षस देवता हो जायँगे? क्या तुम्हारा रोना देखकर धन की पूजा करनेवाले समाज को दया आ जायगी? अभी तुम्हारे भाग्य में बड़े-बड़े दुःख बदे हैं और तुम्हें हर दुःख पर रोना होगा। इसलिये इन आँसुओं को बचाकर रख छोड़ो; तुम ग़रीब की लड़कियाँ हो, तुम्हें आँसू भी उधार न मिल सकेंगे।"

× × ×

कैलाश बाबू जेल से छूट आने के बाद देखते हैं कि उनकी छोटी लड़की विवाह का वस्त्र पहनकर विवाह-मंडप में जाने को तैयार है। इस पर दोनों में बातचीत होती है—

पिता—बेटी, तू विवाह का वस्त्र पहनकर कहाँ जा रही है। यह वस्त्र नहीं, तेरा कफ़न है। यह लगन-मंडप नहीं, श्मशानभूमि है। यह ब्याह के बाजों की मधुर तान नहीं, तेरी मृत्यु पर तेरे जीवन और जवानी का विलाप है।

सावित्री—पिताजी, दुःख और सुख जीवन के सपने हैं। क्षमा कीजिए, इतनी दूर आने के बाद अब मैं अपने कर्तव्य-मार्ग से वापस नहीं लौट सकती।

पिता—नहीं बेटी, नहीं। जिस रास्ते पर तू आँखें बंद करके जा रही है, वह रास्ता सुख की गोद में नहीं, आँसुओं के राज्य और सदा के अँधेरे में समाप्त होता है। यह ब्याह नहीं, जीवित मृत्यु है। यह ब्याह के गहने नहीं, आग के अंगारे हैं। सती एक बार जलकर राख हो जाती है और तुझे इस ब्याह की चिता में तिल-तिल करके सारा जीवन जलना होगा।

× × ×

अस्तु, ऐसे सर्वांगपूर्ण नाटक में दो-एक त्रुटियाँ गुलाब में काँटे के समान खटकती हैं। एक बात जो इस नाटक में बहुत ज़्यादा खटकनेवाली है, वह इसका 'कामिक' है। जो कामिक इसमें रक्खा गया है, वह ऐसे गंभीर और करुणारसपूर्ण नाटक को शोभा नहीं देता, बल्कि उलटा रसाभार पैदा करता है और नाटक के प्रभाव को कम करनेवाला है। दूसरे यह कि कामिक का नाटक के प्लाट से कोई लगाव भी नहीं है, मानों ज़बर्दस्ती नाटक में ठूँसठाँस के रक्खा गया हो। मुझे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि महज मास्टर मोहन को अपना भड़ौआपन और मिस कूपर को अपना नाज़-नख़रा दिखाने ही के लिये यह कामिक ज़बर्दस्ती इस नाटक में ठूँसा गया है। नहीं तो आग़ाहश्र-जैसे उत्कृष्ट नाटककार अपने नाटक में कभी ऐसा रसाभार न पैदा होने देते। नाटक-कंपनियों को याद रखना चाहिए कि उनका उद्देश्य ख़ाली रुपया पैदा करना ही न होना चाहिए। वे जनता की रुचि को बनाने और बिगाड़ने के ज़िम्मेदार हैं। वे चाहें तो जनता को अच्छे-अच्छे नाटक दिखाकर उनकी रुचि को सुधार सकती हैं, उनके चरित्र को उन्नत बना सकती हैं और उनमें जातिप्रेम तथा देशभक्ति के भाव भर सकती हैं। एक बार इसी संबंध में पारसी नाटक-कंपनियों के एक प्रसिद्ध नाटककार से मुझसे बातचीत हुई। जब मैंने उनसे कहा कि आप अच्छे-अच्छे शिक्षापूर्ण सामाजिक नाटक क्यों नहीं लिखते, जिनसे जनता को लाभ पहुँचे और उनकी कुरुचि बदले, तो उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट की और स्पष्ट शब्दों में कहा कि ये कंपनीवाले कहते हैं—"हम यहाँ रुपया कमाने आए हैं, कुछ साहित्य-भंडार भरने नहीं। देशोद्धार और समाज-सुधार का हमने ठेका नहीं ले रक्खा है। हमें तो जिसमें रुपया मिलेगा, वही करेंगे।" यह है उनकी स्वार्थप्रियता! कैसा उद्दंड जवाब है। ये वही नाटक-कंपनियाँ हैं, जो बड़ा बाज़ार के और ख़ास करके मारवाड़ियों के रुपयों से चलती हैं। आज वे इनका आदर न करें, तो इनका एक दिन भी ठहरना असंभव हो जाय। मैं सुधार-प्रेमी तथा स्वाभिमानी मारवाड़ी नवयुवकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करता हूँ। हिंदू-सभाएँ भी इस संबंध में आंदोलन करके बहुत सुधार करवा सकती हैं। पंजाब की जनता में जान थी। उन्होंने आख़िर 'गणेश-जन्म'-जैसे अश्लील और रद्दी नाटक को बंद करा ही के छोड़ा।

बड़ा बाज़ार का हिंदू सभा का ध्यान मैं इस ओर आकर्षित करता हूँ, जिसमें कि वह जिन नाटकों से जनता में सुरुचि के बदले कुरुचि पैदा हो, उनके संबंध में आंदोलन करके उनके अश्लील अंशों को निकलवाने की कोशिश करे। कौंसिलों में हिंदू-सभा के प्रतिनिधि

भेजने के बजाय यह काम कहीं अधिक महत्त्व का है। इन नाटकों का जो प्रभाव जनता के चरित्र पर पड़ता है, वह सैकड़ों व्याख्यानों से नहीं पड़ सकता। पर इन नाटकों में सुधार करवाने की ओर ध्यान किसी का नहीं जाता। यहाँ तक कि कलकत्ते में कई दैनिक और साप्ताहिक पत्र हिंदी में निकलते हैं, पर मैंने आज तक उन पत्रों में इन नाटकों के संबंध में कुछ लिखा हुआ नहीं देखा, क्योंकि ऐसा अनुमान किया जाता है कि यदि कोई संपादक इन नाटकों की खरी समालोचना अपने पत्र में करेगा, तो फिर इन कंपनियों के नाटक के विज्ञापन उसे मिलना असंभव हो जायगा। इस लोभ से या डर से कोई भी कलकत्ते का पत्र इन नाटकों की खरी समालोचना प्रकाशित करने का साहस नहीं कर सकता। ख़याल कीजिए "धर्मी बालक" कैसा उत्तम और प्रभावपूर्ण नाटक है। उसमें समाज की एक कितनी भारी कुरीति का चित्र कैसी अच्छी और पुरअसर भाषा में खींचा गया है, पर उसी नाटक में कुछ मेमें नचवाई जाती हैं, जो "बोसे दो के बदले चार लो" गाना गाती हैं। ख़ैर, गाना ही तक ग़नीमत थी, पर नहीं चटाख-चटाख चार बोसे भी एक दूसरे का ले लेती हैं और देखनेवाले ख़ाली मर्द ही नहीं औरतें और बच्चे भी रहते हैं। क्या कोई भी पिता अपने लड़कों के साथ या माता अपनी लड़कियों के साथ बैठकर ऐसे दृश्यों को देख सकती है। मैं नाटक-कंपनीवालों से फिर कहता हूँ कि उनकी बड़ी भारी ज़िम्मेदारी है। उन्हें कोई भी दृश्य ऐसा न दिखाना चाहिए, जिसे पिता-पुत्र दोनों साथ बैठकर न देख सकें, वरना पाप का रोज़गार बहुत दिनों तक नहीं चल सकता। जिस दिन हिंदू-सभा या आर्यसमाज-जैसी ज़िम्मेदार संस्था का ध्यान इस ओर आकर्षित हो जायगा, भोली-भाली जनता को इस तरह गुमराह करके रुपया पैदा करना हवा हो जायगा।

एक दूसरी बात इस नाटक की जो खटकनेवाली है, वह भारतमाता, कलियुग और स्वर्ग के दृश्य हैं। पौराणिक नाटकों में इस तरह के दृश्य खप भी सकते हैं, पर 'धर्मी बालक'-जैसे निरे सामाजिक नाटक में स्वर्ग और नरक, भारतमाता और कलियुग कहाँ से घुस आए, यह मेरी समझ में न आया। इसमें भी वही नाटक-कंपनीवालों की स्वार्थपरता और व्यवसाय-नीति दिखाई पड़ती है। वे भी हिंदू-जाति की मज़हबी झुकावट से फ़ायदा उठाकर उसे उल्लू बनाना चाहती हैं; नहीं तो कहाँ सामाजिक नाटक और कहाँ स्वर्ग की सीन और भारतमाता तथा कलियुग का संवाद!

अंत में मैं श्रीयुत आग़ाहश्र साहब को ऐसा सुंदर और सुललित सामाजिक नाटक लिखने के लिये धन्यवाद देता हूँ, और आशा करता हूँ कि वे इसी तरह के अन्य सामाजिक समस्याओं पर नाटक लिखकर समाज-सुधार के प्रशंसनीय उद्योग में सुधारकों का हाथ बटाएँगे।

जनार्दन भट्ट

नारदमोह

(२)

जाते-जाते मग में सोचा उमाकान्त का माँगें रूप,
तुरत डाल देगी जयमाला देख मनोहर रूप अनूप।
कमलापति के रूप छटा के पाने की करके इच्छा,
किया ध्यान प्रगटे श्रीनायक, देने को शिक्षा, भिक्षा।
हरि-दर्शन कर फूल गए ऋषि आनँद से गदगद होकर,
बोले! हे भगवन्, जगस्वामी!, आरत हो, जोड़े दो कर।
अंतर्यामी, त्रिभुवन-स्वामी! दे दो अपना रूपनिधान,
ये ही एक अभिलाषा केवल पूरा कर दो हे भगवान्!
हित जिसमें ऋषि होय तुम्हारा उसमें मुझको क्या संकोच,
पिता-तुल्य मैं उचित करूँगा वत्स न लाओ मन में सोच।
देखा काया कल्प हुआ था, हुए विष्णु तो अंतर्द्धान,
चमक गई बिजली-सी आभा, लगी खेलने मृदु मुस्कान।

नस-नस में नवजीवन आया बढ़े जीतने को वह गढ़,
नस में सूख हुए थे काँटा, तन पर आया पानी चढ़।
मरते थे जिस पर जी देकर उसी जान की इच्छा कर,
घर था किया हृदय में जिसने, सीधे पहुँचे उसके घर।
जो बस रही हमारे मन में, कहा, करें चल बस में हम,
पाँचों अँगुली घी में हैं अब करे चाँद ले बग़ल गरम।
देखा समारोह भारी था, जनसमूह की थी भरमार,
तोरन बंदनवार पताका, कदली-कलश सजा था द्वार।
सुंदर मंडप बना हुआ था, थे विराजते अगणित भूप,
रत्नजड़ित सिंहासन ऊपर दिखा रहे थे छटा अनूप।
रचा स्वयंवर था सजधज से देश-देश के जुटे नरेश,
देख रहे थे राह किसी की मना रहे थे गौरि-गनेश।
मुनिवर भी पा रूप मनोहर मनवांछित अभिलाषा से,
गर्व-सहित ऊँचे आसन पर जा बैठे भर आशा से।
आँख लगी थी जिस रमणी पर, लगा राह पर उसकी आँख,
घूम रही थी जो आँखों में उस पुतली हित खोले आँख।
ढूँढ़ रहे नहीं थिर चित था लगा ध्यान था और कहीं।
आँखें जिसको ढूँढ़ रही थीं भर आतीं या नहीं कहीं।
इतने में नूपुरध्वनि आई, मंडप में इक उठी तरंग,
विश्वमोहिनी ले जयमाला आ पहुँची अलियों के संग।
बैठे सँभल-सँभल सब राजा अपना-अपना रूप सँवार,
फाड़-फाड़कर आँख देखने लगे कुमारी वारंवार।
मंद-मंद गति राजकुमारी झुकती जिधर लिए जयमाल,
इधर उधर के शीश झुकाकर समझे कि हम हुए निहाल।
बिन देखे आगे बढ़ जाती तो इन पर पड़ जाती ओस,
उसकी धुन में सिर धुन अपना रह जाते थे हृदय मसोस।
रमानाथ की पा सुंदरता विश्वविजय करनेवाली,
गर्व-सहित मुनि लालायित थे प्रिय हृदय हरनेवाली।
अब आकर माला पिन्हायगी तनमन देकर मोहित हो,
पल-पल युग-सम बीत रहा था मंद-मंद बढ़ती थी जो।
मुनि की ओर बढ़ी तो समझे, सोए भाग मेरे जागे,
उनकी ओर न आँख उठाई मुँह को फेर बढ़ी आगे।
नारद समझे भूल गई है नहीं जो ताका मेरी ओर,
आँखें चार अगर हो जातीं तो पंजे में आता चोर।
आँख चुराकर निकल गई है ज़रा मिला ले आँखें तो,
दिल तो मिल जाएगा ख़ुद ही आँखों को तो लड़ने दो।
आगे बढ़कर सम्मुख आए लिया मोहनी ने मुँह फेर,
बड़े फेर में पड़े बिचारे समझे नहीं समय का फेर।

बार-बार मुँह लगे दिखाने धेर-धेर मुँह आगे आ,
राजकुमारी आँख बचाकर तुरत बदल देती रसता।
सोचा मुझसे भी क्या सुंदर ढूँढ़ रही है कोई वर,
झक मारेगी, कहीं न पाकर मुझे बनाएगी निज वर।
यह विचार बैठे जा ज्यों ही त्यों ही आए रमानिकेत,
फीका पड़ा रङ्ग औरों का रूप देख सब हुए अचेत।
रूपसुधा पी, विश्वमोहनी ने मोहित होकर तत्काल,
हृदय निछावर करके डाला बाहुपाशयुत जलज-सनाल।
मंगल गान किया सखियों ने दे असीस बरसाए फूल,
हुआ उछाह अथाह ब्याह का गले मिले वर-दुलही फूल।
बाजा बजने लगा ब्याह का, लगे बजाने राजे गाल,
चौपट खेल हुआ सब इनका निकल गया पंजे से माल।
तीन-पाँच बढ़-बढ़ करते थे, समझे थे जो पौ-बारह,
छक्का-पंजा भूल गया सब, छके, हुए नौ-दो-ग्यरह।
हुए तीन-तेरह मनसूबे, कटकर बस रह गए सरोष,
कुछ भी हाथ न आया इनके देने लगे भाग्य का दोष।
बिगड़ गई सब बनी-बनाई, बनी न पाई कर मलते,
बिगड़े बनें फुला गालों को, मुँह को बना, बने चलते।
लगे संग थे शिव के गण जो देख-देख लीला सारी,
हँस-हँस लोट-लोट कहते थे चुटकी ले बारी-बारी।
छूने चले अकाश-तरैया धो आओ गढ़ही में मुँह,
चले ब्याहने राजकुमारी इस सूरत पर देखो मुँह।
बैठो धीरज धर मत उचको तुम मरकट-सा इधर-उधर,
स्वयं डाल देगी जयमाला देख सुंदरी रूप सुघर।
जल में अपना रूप जो देखा चित हो गए लाज में डूब,
इसी जाल में चिड़िया फँसती? उल्लू मुझे बनाया ख़ूब।
मन चल गया स्वयं विष्णु का अब समझे हम उनकी चाल,
मुँह कर दिया हमारा काला, करके अपनी गोटी लाल।
चुल्लू-भर पानी में डूबूँ, प्यारी से तो धोया हाथ,
लाल हुए ग़ुस्सा चढ़ आया बार-बार पीटा निज माथ।
आग बगूला होकर बोले शिवगण से यों देकर शाप—
हँसे बहुत तुम मेरे ऊपर बकते रहे अनाप-शनाप।
हँसे बहुत तो रोवो भी अब, जाओ दोनों हो निश्चर,
बहुत चिढ़ाते थे मुँह मुझको अब मुँहमाँगा पाओ वर।
लोहे का है चना चबाना मुनियों से करना अठखेल,
आ जाती है कभी जान पर, जान आग से करना खेल।
बहुत बनाया था नारद को अब आ बनी जान पर हाय,
सोच-सोच यों पछताते थे शिवगण देख न और उपाय।

खीस निकाल बड़े संकट में अँगुली दाँतों नीचे दाब,
जैसी करनी वैसी भरनी, सूखे पा मुँहतोड़ जवाब।
गुस्सा चढ़ा उतर आया नारद के आँखों में जो ख़ून,
ख़ून इधर सूखा दोनों का, भूला सभी हाँकना दून।
शिवगण सुनकर कठिन शाप यह, पत्थर-सा गड़ गए वहीं।
निकल गई भू पाँव-तले से, पैरों पर पड़ गए वहीं।
पहुँच गए करनी को अपने कब होगा उद्धार प्रभो,
क्षमा कीजिए दया कीजिए कहा गणों ने कातर हो।
भवें चढ़ाए चले वेग से कि विष्णु से समझे चल,
फल पावेंगे मज़ा चखेंगे किया है जो मेरे सँग छल।
दाँत पीसते थे गुस्से से मनो निगल ही जावेंगे,
खा जावेंगे कच्चा ही बस अगर कहीं पा जावेंगे।
इतने ही में श्रीपति सम्मुख हुए उपस्थित जोड़े हाथ,
गले अभी जयमाल पड़ा था विश्वमोहिनी भी थी साथ।
आग लग गई तन में मुनि के जलकर बोले आँख निकाल,
ऐसे भोले बने यहाँ हो वहाँ चल गए हमसे चाल।
पता लगा भारी छलिया हो मुझको हलका किया बड़ा,
सस्ते सदा छूट जाते थे आज बुरे से काम पड़ा।
विषवारुणी और को दे दी, स्वयं किया कमला को हाथ,
आज चल गई मेरे से भी खेले सदा और के साथ।
छल से जो नारीवियोग-दुख मुझको तुमने दिया विशेष,
जाओ देह धारकर तुम भी प्रियवियोग में भोगो क्लेश।
लोर गिराया इन आँखों से, गिरे मेरे आँखों से आब,
भोगोगे कुछ और, नहीं सुख, जो मेरा लूटा है राज।
बन्दर बना नचाया मुझको तुम्हें पड़े निशचर से काम,
तब वानर-भालू ही केवल गाढ़े में आवेंगे काम।
सुनकर शाप प्रभु मुस्काए खींच लिया अपनी माया,
दूर किया परदा आँखों से दृश्य दूसरा दिखलाया।
नारद चौंके भ्रम सब छूटा भङ्ग हुआ माया का जाल,
आया ज्ञान, पतन निज देखा लज्जित हुए सोच निज हाल।
शीश नवा पछताकर बोले आरत हो, हे नटनागर!
डूब रहा था ख़ूब बचाया सागर से करुणासागर,
भूल हुई भ्रम में मैं भूला दिया शाप जो कमलाकर,
चरने गई अक़्ल थी मेरी पड़ा समझ पर था पत्थर।
अब तुम ही हे नाथ उबारो शाप मेरे होवे निर्मूल,
मति फिर गई, बुद्धि गई मारी, क्षमिए नाथ भयंकर भूल।
करुणासिंधु शांति दे बोले, नारद मत तुम घबड़ाओ,
मन विकार जो उदय हुआ था उसे मिटाना था जाओ।
तुमने कुछ भी नहीं किया है मेरी इच्छा है बलवान्,
जिधर-जिधर पतवार घुमाता उधर घूमता है जगयान।
शिवगण के विनती करने पर बोले जब होगा अवतार,
तारेंगे यह तुम दोनों को और हरेंगे भू का भार।
अहंकार का प्रायश्चित करके उदय हुआ नारद को ज्ञान।
करने ध्यान सिधारे नारद अंतर्द्धान हुए भगवान्।

गुरुभक्तसिंह 'भक्त'

दार्जिलिंग

बहुत दिनों से जी चाहता था कि पहाड़ों की सैर करूँ, परंतु जीवन की अनेक बाधाओं ने कभी भी मनोरथ पूरा होने नहीं दिया। कलकत्ते में नौ मास रहने से जब तबियत बिगड़ गई, तो आबहवा बदलने के लिये दार्जिलिंग जाना ही उचित समझा। २३ मार्च सन् १९२९ को कलकत्ते की स्यालदह-स्टेशन से गाड़ी में सवार होकर एक ही रात में सिलीगुड़ी जा पहुँचा।

सिलीगुड़ी कलकत्ते से ३०० मील उत्तर है और यहाँ तक ई० बी० आर० की ट्रेन जाती है। थर्ड क्लास के सिंगल जरनी टिकट के कलकत्ते से क़रीब पाँच रुपए लगते हैं। यह क़स्बा पहाड़ की तराई में बसा हुआ है। यहाँ ट्रेन बदलनी पड़ती है। यहाँ से दार्जिलिंग तक "दार्जिलिंग-हिमालयन-रेलवे" की लाइन जाती है। यह लाइन बहुत छोटी है। लाइन का 'गेज़' सिर्फ़ दो फ़ीट है। बहुत ही छोटे-छोटे इंजिन तथा डब्बे होते हैं। इसी कारण इसको 'ट्वाय रेलवे' अर्थात् खिलौने की रेल कहते हैं।

सिलीगुड़ी से थोड़ी दूर चलने पर पहाड़ की चढ़ाई शुरू हो जाती है। सुकना-स्टेशन पर गाड़ी दो हिस्सों

ने विभाजित हो जाती है और एक इंजिन के साथ गार्ड के डब्बों को छोड़कर तीन-चार डब्बे और होते हैं। यहाँ से रेल सीधी चलना छोड़कर चक्कर में चढ़ना शुरू कर देती है, मानों कलकत्ते शहर की ऊँची अट्टालिकाओं की सीढ़ियों पर चढ़ाई हो रही हो। नाज़ुक प्रकृति-वालों को क़ै शुरू हो जाती है और उनका जी मचलाने लग जाता है। रेल में यह शिकायत बहुत थोड़ों को होती है, पर मोटरलारी में बहुतों को कष्ट होता है। मोटरलारी भी बहुत-सी सिलीगुड़ी की स्टेशन पर खड़ी रहती हैं। दार्जिलिंग तक का भाड़ा प्रत्येक आदमी का दो रुपए दस आना लेती है और दार्जिलिंग रेलगाड़ी से जल्दी पहुँच जाती है। सिलीगुड़ी से दार्जिलिंग रेल या मोटर के रास्ते से क़रीब ५२ मील दूर है।

वक्षःस्थल को काटकर बनाई गई है। चारों तरफ़ हरे पेड़ों से वन ढका हुआ था। यहाँ पर ऐसे पेड़ बहुत होते हैं, जिनकी डालियाँ तने से निकलती हैं और ज्यों-ज्यों ऊँचा होता जाता है, त्यों-त्यों वह पतला होता जाता है। एवं ऊपर सिर्फ़ एक चोटी-सी रह जाती है। इन पेड़ों के नीचे बैठकर लोग आराम नहीं कर सकते हैं। मैदान के पेड़ों की तरह इनके नीचे छाया नहीं रहती। यहाँ पर ये ही पेड़ लाभदायक होते हैं। ठंडा देश होने से छाया की आवश्यकता ही नहीं।

स्थान-स्थान पर पानी के झरने झर रहे हैं और जल-प्रपात का मधुर कलरव हो रहा है। पहाड़ी लोगों के घर घास-फूस या टीन-लकड़ी के बने हुए होते हैं। पहाड़ों में पृथ्वी समतल न होने से मैदानों के घरों की



दार्जिलिंग का रेलवे-स्टेशन

मैं सिलीगुड़ी से मोटर में सवार होकर चला। १० बजे का समय था। मार्च का महीना था। सर्दी का नामोनिशान भी नहीं था। ज्यों-ज्यों पहाड़ पर मोटर चक्कर खाती हुई चढ़ती जाती थी, आँखें प्राकृतिक सुंदरता को देखकर तृप्त होती जाती थीं। मोटर के एक तरफ़ देखने से अथाह खड्डा मालूम होता था और दूसरी तरफ़ बहुत ऊँचा-सा एक पहाड़ सड़क तक ढला चला आता था। यह प्रतीत होता था कि सड़क पहाड़ के

तरह सटे हुए नहीं होते, किंतु दूर-दूर होते हैं। गाँव में एक घर से दूसरे घर जाने में मैदानवालों को कुछ परिश्रम करना पड़ता है। इनके खेत बड़े ही विचित्र होते हैं। एक पहाड़ के ढाल को साफ़ करके ये लोग उसको चौड़ी-चौड़ी पेड़ियों की शकल में काट लेते हैं। प्रत्येक पेड़ी की चौड़ाई पहाड़ के ढाल की लंबाई से निर्धारित होती है। उन पर बीज बो दिए जाते हैं और फ़सल हो जाती है। इनको न हल की आवश्यकता

होती है, न बैलों की। सिर्फ़ कुदाले और फावड़े से मिट्टी पोली कर बीज बो देते हैं। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य बहुत ही सुंदर मालूम होता है। प्रकृति तरह-तरह के रंग खेलती है और हर मिनट के बाद आँखों के सामने एक नया दृश्य देखने में आता है। ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ते जाते हैं, ठंड अधिक मालूम होने लगती है।

मैं सिलीगुड़ी से मोटर में सवार होकर गया था। रास्ते में जोड़बँगलों में उतर गया था, जहाँ से क़रीब दार्जिलिंग चार मील दूर है। इस स्थान की उँचाई ७४०७ फ़ीट है। यह एक बाज़ार है। यहाँ पर ठंड दार्जिलिंग से भी अधिक पड़ती है और चौबीस घंटे में वायुमंडल के बीसों रूप परिवर्तित होते हैं—कभी कोहिरा, कभी आँधी, कभी बादल। जब कभी सूर्यनारायण के दर्शन होते हैं, तो लोग बड़े ही प्रसन्न होते हैं। एक पतली-सी सड़क निकलती है, जिसके दोनों तरफ़ दूकानें हैं। दूकानों के पीछे गहरे ढलते हुए खड्ड हैं। इन्हीं खड्डों की ढाल पर दूकानदारों के बासे बने हुए हैं। इसी तंग सड़क के बीच में से रेलगाड़ी, मोटरगाड़ी, बैलगाड़ी इत्यादि होकर निकलती हैं। सिर्फ़ एक सड़क के सिवा सारी जगह उबड़-खाबड़ है।

यहाँ से दार्जिलिंग के दो-तीन रास्ते जाते हैं। एक जलापहाड़ होकर, दूसरा कलकत्ता-रोड होकर और तीसरा रेल की पटरी के पास से चलते हुए। रेल की पटरीवाला रास्ता ही ऐसा है, जिस पर से मोटर इत्यादि जा सकती है। अन्य दोनों रास्तों से सिर्फ़ पैदल या घुड़सवार जा सकते हैं। दार्जिलिंग जोड़बँगले-जितनी उँचाई पर नहीं बसा हुआ है। दार्जिलिंग की उँचाई क़रीब सात हज़ार फ़ीट के है। इसलिये यहाँ पर जोड़बँगले-जितनी सरदी नहीं पड़ती। वायुमंडल भी साफ़ रहता है और धूप भी निकलती है।

दार्जिलिंग के बीच में एक थोड़ा-सा हिस्सा समतल-भूमि का है। अनाज का प्रसिद्ध बाज़ार यही है। इसको चौकबाज़ार कहते हैं। बाज़ार की बहुत-सी अच्छी-अच्छी इमारतें स्थानीय म्युनिसिपैलिटी की बनाई हुई हैं। बाज़ार के बीच में खड़े होकर देखने से चारों तरफ़ का दृश्य बहुत सुंदर मालूम होता है। बाज़ार एक ढलते हुए पहाड़ की तराई में है, इसलिये पहाड़ की ढाल पर बने हुए मकान और इमारतें साफ़ नज़र आती हैं। यहाँ पर एक ऐम्पिथिएटर (Ampitheatre) का-सा दृश्य मालूम होता है। चारों तरफ़ छाई हुई सुंदर हरियाली बहुत ही मनोहर मालूम देती है।

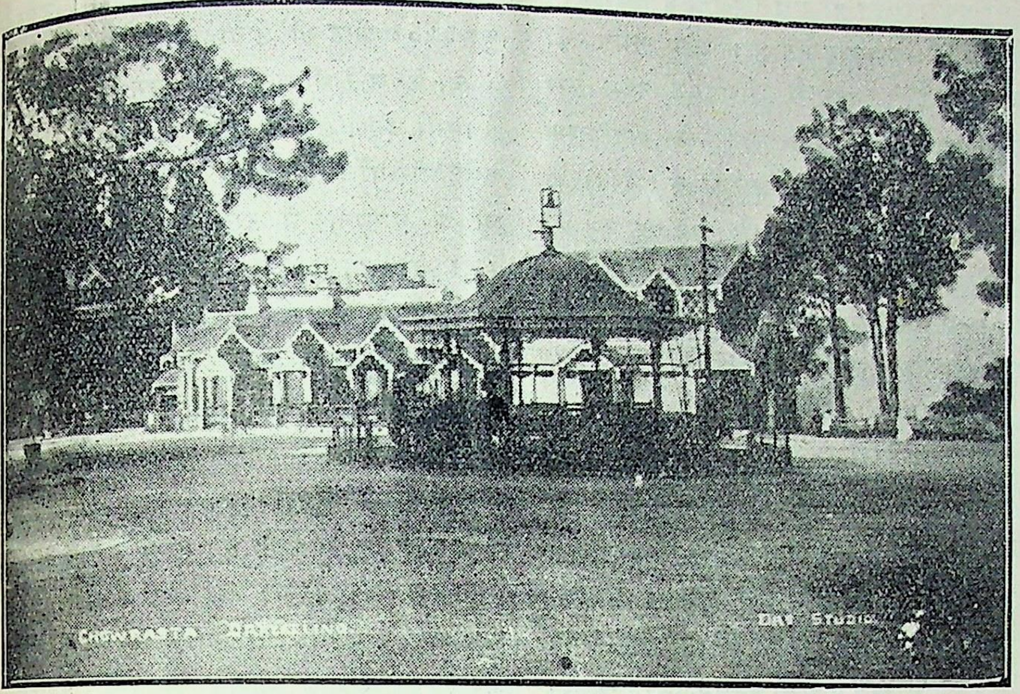
दार्जिलिंग का प्राकृतिक सौंदर्य ही प्रधान है। जो कुछ है, वह प्रकृति और उसकी अनुपम छटा है। प्रकृति के अनुपम सौंदर्य में मनुष्य अपनी थोड़ी-सी कला जोड़ दे, तो उस स्थान का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है, जैसे रमणी के प्राकृतिक सुंदर मुखमंडल पर एक बिंदी लगा दी जाय, तो उसका सौंदर्य द्विगुणित हो जाता है।

दार्जिलिंग-भ्रमण करनेवालों के दर्शनार्थ कुछ स्थानों के नाम दिए जाते हैं, जहाँ पर प्रकृति का सौंदर्य मनुष्य की सजावट के साथ देखने में आवेगा।

चौक-बाज़ार में खड़े होकर देखने से आपको कुछ झंडियाँ नज़र आवेंगी। यह महाकालेश्वर बाबा के मंदिर की झंडियाँ हैं। मंदिर एक ऊँचे पहाड़ की चोटी पर बसा हुआ है। वहाँ जाकर चारों तरफ़ का दृश्य देखने ही योग्य है। इसको आबज़रवेटरी-हिल (Observatory Hill) भी कहते हैं। मंदिर के पास में दो सुरंगों के मुख हैं। कहा जाता है कि एक सुरंग यहाँ से पृथ्वी के भीतर-भीतर काशी-विश्वनाथ-महादेव को और दूसरी नेपाल में पशुपतिनाथ-महादेव को जाती है। यह कहाँ तक सत्य है, परमात्मा जाने। क्या सच-मुच प्राचीन भारतवर्ष में ऐसी कोई कला थी, जिससे सैकड़ों मील पृथ्वी के भीतर-ही-भीतर सुरंग बना लेते थे। यह सुरंगें इस समय तो बंद पड़ी हुई हैं। उनके भीतर घुसने का तो किसी को साहस ही नहीं होता।

दूसरा देखने योग्य स्थान वनस्पति-बाग़ (Botanical Garden) है। यहाँ पर देश-विदेश के पेड़ों के नमूने हैं। बीचोंबीच एक काँचगृह बना हुआ है, जिसमें वे पेड़, पौदे और बेलें हैं, जो खुली ठंडी हवा में हरी नहीं रह सकतीं। अपने यहाँ की तरह यह बाग़ भी एक समतलभूमि पर नहीं लगा हुआ है, बल्कि एक पहाड़ के ढाल पर जिस पर ऊपर से नीचे तक रास्ते काटकर बनाए हुए हैं।

तीसरा देखने योग्य स्थान टाइगर-हिल (Tiger Hill) है। यह जोड़बँगलों से दो-तीन मील की दूरी पर है। इसकी उँचाई क़रीब ८५०० फ़ीट के है। यहाँ पर



दार्जिलिंग का एक चौराहा



दार्जिलिंग का तरकारी-बाज़ार

लोग सूर्योदय के पहले चले जाते हैं । जिस दिन वायु-मंडल साफ़ होता है, तो गौरीशंकर पहाड़ (Mount Everest), जो यहाँ से क़रीब १०७ मील दूर है और किंचिंजंगा (Kinchenjunga) की चोटियाँ, जो यहाँ से क़रीब-क़रीब पचास मील दूर हैं, साफ़-साफ़ दिखलाई देती हैं । उन पर जब प्रातःसूर्य की किरणें

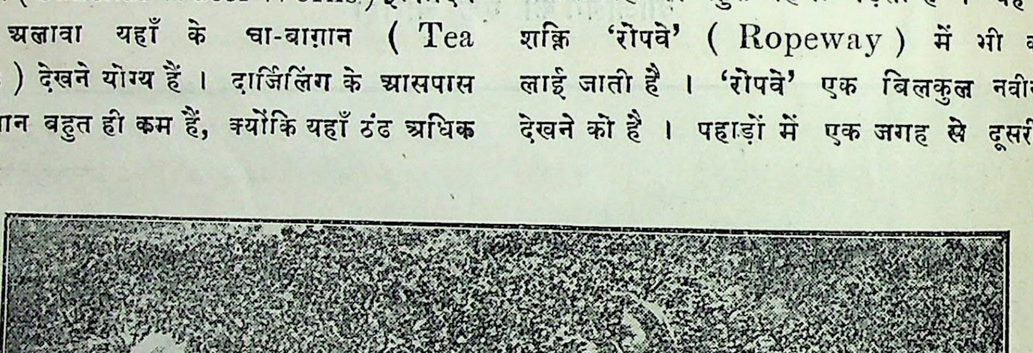
पड़ती हैं, तो एक विचित्र ही गुल खिलता है। बरफ़ में नाना प्रकार के रंग दिखलाई देते हैं। उस समय की शोभा अवर्णनीय है। बहुत-से योरपियन लोग इस दृश्य को देखने आते हैं। कुछ ही मिनटों के बाद बरफ़ में दोनों चोटियों के बीच में अँगरेज़ी यू (U) के आकार का एक खड्डा दिखलाई देता है। यह एक दर्रा है, जो तिब्बत की राह है।

इन तीन स्थानों के सिवा और भी कई एक स्थान देखने योग्य हैं, जैसे विक्टोरिया-पार्क (Victoria Park) और उसका अजायबघर (Museum), बर्चहिल (Birch Hill), लेबांग कैंटोंमेंट (Lebong Cantonment)—यहाँ पर घुड़दौड़ का मैदान है, जला-पहाड़ कैंटोंमेंट (Jalapahar Cantonment)—यहाँ पर फ़ौजी अफसरों के बँगले हैं, सिदरापोंग का पानी से बिजली पैदा करने का कारख़ाना (Hydro-electric Power House), संचलवाटर वर्क्स (Sanchal Water Works) इत्यादि।

इनके अलावा यहाँ के चा-बाग़ान (Tea Estates) देखने योग्य हैं। दार्जिलिंग के आसपास चा के बाग़ान बहुत ही कम हैं, क्योंकि यहाँ ठंढ अधिक पड़ती है। वे थोड़े नीचे आने पर हैं। उत्तर-भारत में चा ३५०० फ़ीट की उँचाई तक अच्छी तरह पनपती है।

चा के सारे बाग़ान योरपियन कंपनियों के हाथों में हैं। सारे दार्जिलिंग में सिर्फ़ तीन ही बाग़ान मारवाड़ियों के हैं और पाँच तथा सात अन्य हिंदुस्तानियों के हैं। चा के बाग़ानों में ख़ूब ही नफ़ा होता है, परंतु पूँजी की आवश्यकता आरंभ में अधिक होती है, तथा कृषि के ज्ञान की भी। मारवाड़ी लोग अशिक्षित होने से तथा उनका व्यापार लिमिटेड कंपनियों द्वारा न किए जाने से वे इस काम को नहीं कर सके हैं। वे सिर्फ़ मोदी का काम पाकर ही संतुष्ट हो गए हैं।

एक-एक चायबाग़ान में क़रीब एक हज़ार से पाँच हज़ार एकड़ भूमि होती है। बड़ी चाय-स्टेटों में चाय तैयार करने की फ़ैक्टरी भी होती है। बहुत-सी जगह आसपास के झरने तथा नाले से बिजली पैदा करके फ़ैक्टरी की मशीन चलाई जाती है, क्योंकि कोयला मँगाना यहाँ पर बहुत महँगा पड़ता है। यह विद्युत्-शक्ति 'रोपवे' (Ropeway) में भी काम में लाई जाती है। 'रोपवे' एक बिलकुल नवीन चीज़ देखने को है। पहाड़ों में एक जगह से दूसरी जगह



दार्जिलिंग में चा का बग़ीचा

सामान ले जाना कठिन है । हर बाग़ान में प्रायः चा-गोदाम और कारख़ाना पहाड़ की तराई में होता है । चा पहाड़ की चोटी तथा ढाल पर होती है । कुली लोग चा की पत्तियों को तोड़कर पहाड़ की चोटी पर स्थित रोपवे-स्टेशन पर ले जाते हैं, वहाँ पर बोरों में भर दी जाती है । प्रत्येक बोरा एक अंकुड़िए में अटका दिया जाता है । प्रत्येक अंकुड़िए में एक छोटा-सा पहिया लगा रहता है । स्टेशन से लोहे की ताँत से बटा हुआ एक मोटा-सा रस्सा आकाश-मार्ग से नीचे की दूसरी स्टेशन या गोदाम तक लगा हुआ रहता है । पहिया जिसके साथ बोरा लगा हुआ रहता है, इसी रस्से पर लुढ़का दिया जाता है । पहिया इस रस्से पर बड़े वेग से दौड़ता हुआ बोरे को अपने साथ लेकर दूसरी स्टेशन तक चला जाता है । बोरा नीचे नहीं गिरता, क्योंकि इसका भार पहिए को रस्से पर चिपकाए हुए रहता है और पहिया बड़ी तेज़ी से नीचे की ओर दौड़ता है । जिस सामान को लाने में पहाड़ की चोटी से नीचे तक घंटों लग जाय, वह कुछ ही मिनटों में 'रोपवे' की सहायता से चला आता है । नवागंतुक को यह दृश्य बहुत ही अद्भुत मालूम देता है । वह तो घाटी में नीचे खड़ा रहता है और उसके दो-चार सौ फ़ीट ऊपर बोरे झनकार की आवाज़ करते हुए दौड़ लगाते हैं। यदि रस्सा बहुत ऊँचा होता है, तो रस्सा और पहिया तो नहीं दिखलाई देते हैं, सिर्फ़ दौड़ते हुए बोरे ही दृष्टि में आते हैं । जब इसी रस्से की सहायता से माल नीचे से ऊपर लाया जाता है, तो विद्युत्-शक्ति काम में लाई जाती है । पहाड़ में सड़कें, रेलें इत्यादि बनाना बहुत कठिन है और यही उपाय माल ढोने में सबसे सस्ता है। लेखक ने यह भी सुना था कि कालिम-पोंग के आसपास में एक रोपवे-सरविस होनेवाली है, जिससे आदमी भी रस्से की सहायता से एक स्थान से दूसरे स्थान को आकाश-मार्ग से जा सकेंगे । न-मालूम यह कहाँ तक सत्य है, परंतु विज्ञान के आगे कोई बात असंभव नहीं है ।

प्रत्येक चा-बाग़ान में सिर्फ़ एक या दो अँगरेज़ रहते हैं, जो मैनेजर तथा इंजीनियर का काम करते हैं । कुली नेपाली हैं और दूकान किसी मारवाड़ी की है । प्रत्येक चा-बाग़ान में सिर्फ़ एक ही मारवाड़ी की दूकान होती है, जो सुई से लेकर मूसल तक प्रायः रात-दिन व्यवहार में आनेवाली सब चीज़ें बेचता है । बड़े साहब को हर हफ़्ते में कुलियों की तनख़्वाह के लिये रुपए जुटाकर देता है और बदले में हुंडी या चेक ले लेता है । एक या दो परसेंट का कमीशन लेकर वह संतुष्ट हो जाता है । वे ही रुपए माल बिकने पर कुलियों के द्वारा कुछ तो उसके पास फिर आ जाते हैं और कुछ हुंडी भेजकर बाहर से मँगा लेता है । अब देखिए साहब को घर बैठे बिना किसी जोखिम के रुपए मिल जाते हैं, और छोटा-मोटा सामान भी मारवाड़ी की दूकान से मँगा लेता है । हमारे मारवाड़ी भाई इतने ही व्यापार से संतुष्ट हैं । कभी भी चा-बाग़ानों पर अधिकार करने का तथा वह कार्य सीखने का प्रयत्न तक नहीं करते, और करें भी तो कैसे । न उनमें शिक्षा है, न संगठन है । उनके पास पूँजी अवश्य है, परंतु वह भी सैकड़ों के पास बिखरी होने से विशेष लाभदायक नहीं है ।

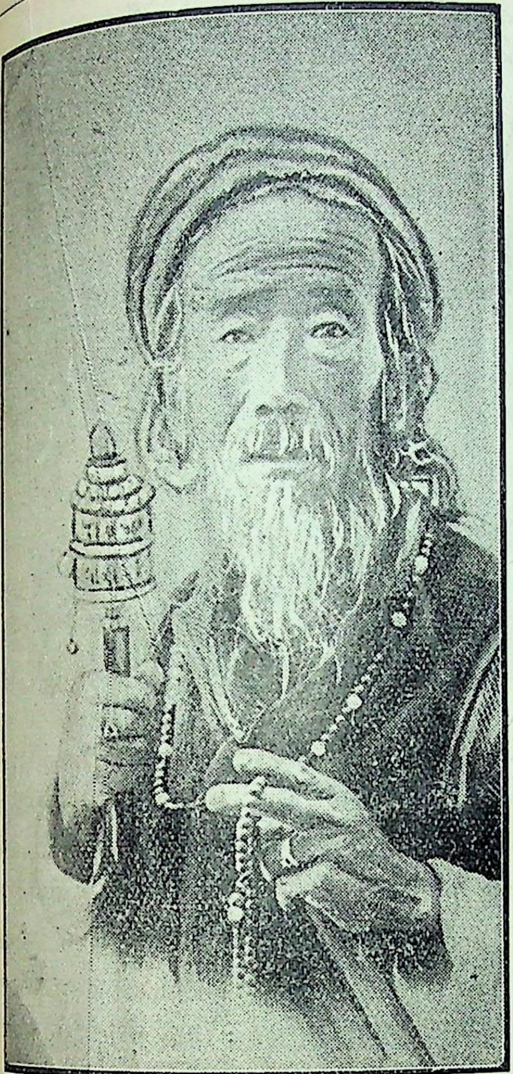
अब चा-बाग़ान के कुलियों की तरफ़ दृष्टि डालिए । इनकी दशा तो हृदयविदारक है । प्रत्येक बाग़ान के मैनेजर के हाथ में इतनी शक्ति है, मानों वह वहाँ का राजा है । हत्या के केस के सिवा और सारे केस वहीं पर तय हो जाते हैं । वह कुलियों को मनुष्य बनाने का कभी भी प्रयत्न नहीं करता । उनको कुली ही रखना चाहता है । कुलियों की तनख़्वाह बहुत कम है । उदाहरण के लिये मैं आपको धोधलिया (Dooteriah)-नामक चा-बाग़ान का वर्णन सुनाता हूँ । यहाँ मनुष्य को प्रतिदिन पाँच आने, स्त्री को चार आने और बच्चे को ढाई आने मिलते हैं । यदि कोई पुरुष दस सेर, स्त्री आठ सेर, और बच्चा पाँच सेर पत्तियों से ज़्यादा तोड़ करके इकट्ठा कर लेता है, तो उसे दो पैसे प्रति पौंड ज़्यादा मिलते हैं । रहने के लिये घास-फूस के मकान तथा बीमार पड़ने पर दवा मुफ़्त मिलती है । स्त्री के बच्चा हो जाने पर उसको क़रीब ३०) मिलते हैं और क़रीब चार महीने तक काम पर नहीं बुलाई जाती है । यहाँ पर ईसाई-मिशन की तरफ़ से एक पाठशाला भी है, जिसके गुरु को आठ रुपए कंपनी से मिलते हैं । स्कूल में सिर्फ़ १५ या २० लड़के पढ़ते हैं । यद्यपि चा-बाग़ान में क़रीब २००० लड़के हैं, ये लोग बहुत ग़रीब हैं । बच्चों को पढ़ाने में सर्वथा असमर्थ हैं । यदि उनको पढ़ावें

और उनसे काम न करावें, तो उनको खिलावें क्या ? यदि कोई दो-चार किताब अँगरेज़ी पढ़ लेता है, तो बड़ा बाबू हो जाता है और उसी चा-बाग़ान में दस बीस रुपए महीने का क्लर्क हो जाता है। बस यहीं पर शिक्षा का ख़ात्मा हो जाता है। अब देखिए इतनी थोड़ी तनख़्वाह से कैसे जीवन-निर्वाह हो सकता है ? प्रथम तो यह बहुत ठंडा स्थान है, इसलिये पहनने तथा ओढ़ने के वस्त्रों की बहुत आवश्यकता होती है। दूसरा सिवा चा के खाने-पीने की बहुत थोड़ी चीज़ें पहाड़ में पैदा होती हैं। सारी चीज़ें नीचे मैदान से आती हैं। इसलिये वे बहुत महँगी बिकती हैं। बेचारा किसी तरह अपना जीवन-निर्वाह कर पाता है। कुलियों का जीवन ढोर-पशुओं से भी ख़राब है।

ज़रा अब इनकी सामाजिक तथा नैतिक दशा पर ध्यान दीजिए। सबके लिये काला अक्षर भैंस बराबर है। अशिक्षित होने से सब प्रकार की बुरी आदतों के पात्र हैं। वेतन थोड़ा होने पर भी शराबी हैं। सिगरेट पाँच वर्ष के बच्चे से लेकर वृद्ध तक पुरुष-स्त्री दोनों पीते हैं और प्रतिदिन एक पैसे की सुपारी तो खाते ही हैं। पुरुष जुआ खेलने के बहुत व्यसनी होते हैं। क़र्ज़-रहित तो कुली हज़ार में एक ही मिलना असंभव है। रहने के मकान बहुत छोटे-छोटे होते हैं। रात को जाड़ा अधिक पड़ने से कोई खुली हवा में बाहर तो सो नहीं सकता है। झोपड़े के कमरे में एक से अधिक जोड़े (पति और पत्नी) सो जाते हैं। एक दूसरे को देख न सकें, इसलिये दीपक बुझा देते हैं। सिर्फ़ अँधेरा ही उनके शील और लज्जा की रक्षा करता है। इसका प्रभाव पास सोनेवाले बच्चों पर कितना बुरा पड़ता है, उसका पाठक स्वयं ही विचार कर सकते हैं।

नैपाली लोग प्रायः बौद्ध-मिश्रित हिंदू-धर्म को माननेवाले हैं, परंतु आजकल ईसाई-धर्म का प्रचार बड़े ज़ोरों से हो रहा है। उपदेश देने की, चा-बाग़ान में, पूर्ण स्वतंत्रता सिर्फ़ पादरियों को है। परंतु ये अपना धर्म-प्रचार करने के सिवा कुलियों का किसी प्रकार का सुधार करते हुए नहीं देख पड़ते हैं। इनके सिवा कोई भी पुरुष कुलियों को किसी प्रकार का उपदेश नहीं दे सकता है। यहाँ तक कि कोई भी उपदेशक बग़ैर साहब की आज्ञा के बाग़ान में प्रवेश नहीं कर सकता है, इसलिये कुली वर्तमान समय के मज़दूर-संगठन तथा हड़तालों से अनभिज्ञ हैं। यदि कोई साहब की हरकतों से तंग आकर दूसरे चा-बाग़ान में चला जाता है, तो उसको वहाँ पर नौकरी नहीं मिलती है और वापस लौटना पड़ता है। यही दशा प्रत्येक चा-बाग़ान के कुलियों की है।

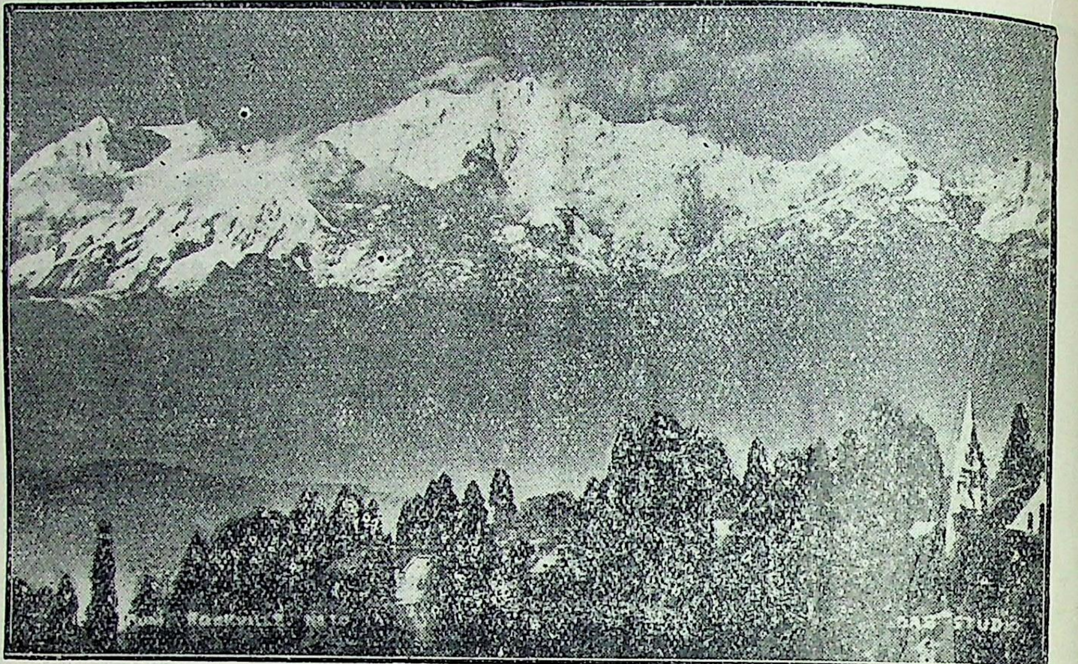
दार्जिलिंग से प्रायः चार मील पर घूम-स्टेशन के पास बौद्धों का एक मंदिर है, जिसको 'गुमा' कहते हैं। यह एक बहुत भव्य स्थान है। मंदिर छोटा-सा परंतु भीतर से बहुत ही परिष्कृत एवं सुसज्जित है। उसके बीचोंबीच दीर्घकाय भगवान् बुद्ध की एक प्रतिमा है और उसके चतुर्दिक् सैकड़ों छोटी-छोटी मूर्तियाँ हैं। सुना था कि प्रधान मूर्ति के बनाने में क़रीब सात हज़ार रुपए ख़र्च पड़े हैं। मंदिर में सैकड़ों ही छोटे-मोटे दीपक जल रहे हैं। और प्रधान प्रतिमा के सामने एक बड़ा दीपक जल रहा है। पहले इन सबमें घी जलता था, परंतु उसका भाव महँगा हो जाने के कारण नारियल का तेल भी काम में आने लगा है। बौद्ध-धर्म के पंडित जिनको, लामा कहते हैं, मंदिर में बुद्ध-भगवान् की मूर्ति के सामने ग्रंथ-पाठ एवं मंत्र-जाप कर रहे हैं। प्रायः सातों दिन ही दीपक जलते रहते तथा लामा लोग पढ़ते रहते हैं। जब कोई बौद्ध-धर्मावलंबी किसी प्रकार की आपत्ति से घिर जाता है, तो वह भगवान् के मंदिर में अपने श्रद्धानुसार दीपक जलाने का तथा लामाओं से पाठ कराने का प्रण करता है। वे इसको एक पवित्र कार्य समझते हैं। लामा लोग लाल रंग के कपड़े पहनते हैं। बौद्ध लोग पृथ्वी पर लंबे-लंबे लकड़ी के लट्ठे खड़े कर देते हैं और नीचे से ऊपर तक उसके एक कपड़ा बाँध देते हैं। कपड़े पर भोटिया-भाषा में मंत्र इत्यादि लिखे हुए होते हैं। जब हवा चलती है, तो कपड़ा फड़फड़ाता है। इसी में ये पुण्य समझते हैं। इनका विश्वास है कि जितना फल बुद्ध-भगवान् के नाम का मुँह से उच्चारण करने से होता है, उतना ही यह लकड़ी का खंभा पृथ्वी में गाड़नेवाले को होता है। इस पर लगा हुआ कपड़ा जिह्वा का काम करता है और वायु में लहराने से मंत्रों का उच्चारण होता है। इसी विश्वास के कारण मंदिर के आसपास में सैकड़ों लट्ठे खड़े किए हुए देख पड़ते हैं।



लामा-जाति का एक मनुष्य
(८८ वर्ष की आयु में भी यह कितना बलवान् है)

दार्जिलिंग में यों तो सब प्रांतों के मनुष्य पाए जाते हैं, पर नैपाली अधिक हैं। ये लोग बलवान्, दीर्घजीवी, परिश्रमी और फुर्तीले होते हैं। निर्धन होने पर भी सच्चे और निष्कपट होते हैं, बुद्धिमान् होते हैं और यदि इनको पूरी शिक्षा दी जाय, तो अँगरेज़ों से किसी तरह कम न निकलें, परंतु प्रायः सब अशिक्षित होते हैं। निर्धनता के कारण इनका जीवन और रहन-सहन संतोषजनक नहीं है। बहुत गंदे रहते हैं और स्नान तो किसी ख़ास वार या त्यौहार पर ही करते हैं। टट्टी में भी पानी का प्रयोग नहीं करते, पेड़ के पत्तों से अपना काम निकालते हैं। टट्टी से आकर पानी से अपने हाथ तक नहीं धोते। इनके कपड़े बहुत गंदे रहते हैं और पहनने के बाद शायद ही कभी धोते हैं। मनुष्यों की कोई ख़ास वेश-भूषा नहीं है, जो कुछ मिलता है, पहन लेते हैं। सिर पर तो टोप रक्खा हुआ है और पैरों में जूते भी नहीं हैं। अस्त्रों में प्रत्येक अपने पास एक कटारी रखता है, जिसको खूखरी कहते हैं। पहाड़ी लोगों के लड़के भी बड़े मज़बूत होते हैं। भार ढोने में बड़े तगड़े होते हैं, परंतु दुर्व्यसनी होते हैं। खुले बाज़ार में भी किसी न किसी प्रकार का जूआ खेलते हुए पाए जाते हैं। नैपाली सब मांसाहारी होते हैं, परंतु हिंदू-धर्म को माननेवाले गाय नहीं मारते। बौद्ध लोग कुत्ते के मांस के सिवा और सब कुछ खाते-पीते हैं। सैकड़ों ही गाएँ ये बौद्ध-भोटिया अँगरेज़ी सिपाहियों के लिये एवं अपने लिये ही मारते हैं। मारवाड़ी इनको अछूत मानते हैं। नैपाली सब परिश्रम करके पैसा पैदा करनेवाले होते हैं, परंतु बौद्धों में भिक्षुक बहुत होते हैं। नैपाली लोग गधे को इतना बुरा समझते हैं कि इसको छूते तक नहीं। अन्य सब जानवरों को पालते हैं।

नैपाली स्त्रियाँ बहुत सुंदर होतीं हैं। यह सौंदर्य प्रकृति ने इनको प्रदान किया है। इनकी वेश-भूषा साधारण होती है। गहने पहनने की बहुत शौक़ीन होती हैं। धनवान् सोने-चाँदी के गहने पहनती हैं, परंतु ग़रीब जरमन-सिलवर एवं दूसरे सस्ते धातुओं के बना लेती हैं। पैरों में कुछ तो बूट, मोज़ा तथा उन पर चाँदी की कड़ियाँ पहने हुई हैं, पर अधिकांश नंगे पैर फिरती हैं। सिर को ढकने के लिये छोटा-सा परंतु सुंदर-सा ओढ़ना पृथक् ही होता है। मख़मल का कपड़ा ये अधिक पसंद करती हैं। मिले तो ईद, नहीं तो रोज़ा ही सही। ठीक यही हाल इनका है। आज पैसे हुए तो गहने बनवा लिए और कल तंगी आ गई तो उनको गिरह रखकर किसी मारवाड़ी महाजन से रुपए उधार ले लिए। स्त्रियाँ बाज़ार में आती हैं, तो बच्चों को पीठ पीछे टोकरी में डालकर लाती हैं। टोकरी से बँधी हुई रस्सी सिर के अग्र भाग से अटकी हुई रहती है। प्रायः स्त्री-पुरुष माल ऐसे ही टोकरी में ढोते हैं। स्त्रियाँ आचार-विचार की बहुत स्वतंत्र होती हैं। माता-पिता को अपने लड़के-लड़कियों के विवाह की कुछ चिंता नहीं रहती। लड़की अपना पति स्वयं ढूँढ़ लेती है। प्रायः देखा



राक विले से बर्फ़ का दृश्य

जाता है कि किसी पुरुष से उसका प्रेम हो जाने पर वे दोनों उस गाँव से भाग जाते हैं। कुछ दिन बाहर रहकर फिर वापस आ जाते हैं। यही इनका विवाह है। लड़की के घरवालों को कुछ लेना होता है, तो अपने जामाता से साठ रुपए ले लेते हैं और साधारण रीति-रस्म कर देते हैं। यदि कुछ देना होता है, तो साधारण दहेज़ दे देते हैं। इस तरह से भागने की प्रथा को वे बुरा नहीं समझते। कृष्ण और रुक्मिणी के आदर्श को मानते हैं। पहाड़ियों में विवाह-संबंध में जाति-पाँति का भेद नहीं मानते। स्त्रियाँ चाहे जिसको अपना पति बना सकती हैं। और तो क्या मारवाड़ के भंगी भी यहाँ आकर पहाड़िन स्त्रियों से विवाह कर लेते हैं। नैपाली-भोटिया स्त्रियों से विवाह कर लेते हैं, परंतु इनके हाथ का बनाया हुआ भात नहीं खाते। यही इनका धर्म है। विधवा-विवाह एवं तलाक़ की प्रथा प्रचलित है। बहुत-से अँगरेज़ विवाह किए बिना ही पहाड़ी स्त्रियों को रखेली की तरह रखते हैं और प्रायः उसके गुजारे के लिये प्रत्येक को चालीस रुपए देते हैं। इस प्रसंग से जो वर्णशंकर संतान पैदा होती है, वे ईसाई मिशनरियों को सौंप दी जाती है। इससे हिंदू-धर्म की बहुत क्षति हो रही है। देश के सुधारकों का ध्यान इस ओर आकर्षित होना आवश्यक है। कहीं मारवाड़ी भी पहाड़ी स्त्रियों को रखेली की तरह रक्खे हुए हैं। ये भी इनके हाथ की चा तथा टिकड़ा बनाया हुआ तो खा लेते हैं, परंतु बनाया हुआ भात खाने में धर्म चला जाता है। पहाड़ में आनेवालों को अपने आचरण का पूरा ध्यान रखना चाहिए; नहीं तो जेब के कुछ ही आने पैसे आचरण एवं पथभ्रष्ट बना देते हैं।

मारवाड़ी भाई जो पहाड़ में रहते हैं, उनका भी रहन-सहन संतोषजनक नहीं देख पड़ता। इतने सुंदर स्थान में आकर भी वे उसका यथार्थ लाभ नहीं उठाते। रहने के मकान गंदे होते हैं। गाँवों में कहीं-कहीं तो टट्टियाँ सात-सात दिन तक साफ़ नहीं होतीं, पर अपार ठंड के कारण महामारी का भय नहीं है, क्योंकि कीड़े-मकोड़े तथा मक्खियाँ देखने में भी नहीं आतीं। जंगलों तथा गाँवों में चील-कौवे भी नहीं पाए जाते। बासे में इतना धुआँ होता है कि उसको यदि काजल की कोठरी कहें, तो अत्युक्ति नहीं होगी। पर्याप्त धूप नहीं निकलने के कारण धोतियाँ वहाँ पर सुखा दी जाती हैं, जो तुरंत काली हो जाती हैं। शायद कुछ धनियों के घरों में यह बात नहीं पाई जाती, परंतु अधिकांश मध्यम तथा साधारण स्थितिवालों के यहाँ तो यही होता है। मार-



बाँस के बर्तन में दूध लिए हुए ग्वाला

वाड़ी बड़े ही रूढ़िवादी हैं। बाप-दादों की लकीर पर तो चलेंगे ही, चाहे उनका नुक़सान कितना ही हो। जोड़बँगले में तथा दार्जिलिंग में मारे ठंढ के मेरे तो हाथ-पैर काँप रहे थे और ये प्रातःकाल के समय ठंढे पानी से खेलकर होली मना रहे थे। धन्य ऐसी बुद्धि को और धन्य है रूढ़िवादिता को।

डेढ़ महीना ख़तम हो गया। दो महीनें दार्जिलिंग में और ठहरना चाहता था। इतने समय में गले का इलाज तीन-चार डाक्टरों से करवाया, परंतु ठीक नहीं हुआ, तो 'लिपतीयाँ' के पास गया। उसने तो कहा—

"Who was the fool who advised you to come here. Better go to sea-side, if you want a change of climate. Leave this place at once, otherwise you will be caught by fever."

डाक्टर का रूखा उत्तर पाकर निराश हो गया और इस सुंदर, भव्य एवं रमणीक स्थान को छोड़ने के लिये बाध्य होना पड़ा और मरुभूमि की लू-सेवनार्थ बीकानेर का टिकट कटाना पड़ा।

गोपीकृष्ण मोहता

समर्प्य वस्तु

आयो सुचि सौरभ समीर माहिं औरै भाँति
औरै भाँति भावना हिए में करै झकझोर;
औरै भाँति आजु कछु मन की दसा लखति
जानि परै दरस दिखैहैं नंद के किसोर।

कविराज हंस कैसो भवन सजाऊँ
काह स्वागत को लाऊँ जासों पाऊँ करुणा की कोर;
और कछु नाहीं कारे कान्ह के समर्पिबे को
मोहिं तो अकेले एक कारे हियरे को जोर।

बलदेवप्रसाद मिश्र

कौटिल्य-चर्चा

संतोष की बात है कि कुछ समय से "कौटिलीय अर्थशास्त्र" की चर्चा मासिक पत्रों में होने लगी है। इस संबंध में मैंने कुछ लेख सरस्वती में प्रकाशित कराए थे। उनकी ओर श्री० उदयवीर शास्त्रीजी का ध्यान आकर्षित हुआ है। मैंने आपकी व्याख्या में जो थोड़े-से दोष प्रसंगवश दिखाए थे, उनका आपने उत्तर देने का भी प्रयत्न किया है। आपने अपनी व्याख्या के समर्थन में जो कुछ कहा है, उस पर मैं अपना वक्तव्य यहाँ संक्षेप में देता हूँ।

पहली बात जो मुझे कहनी है, वह यह है कि मैंने आपकी टीका के समस्त दोषों को दिखाने का प्रयत्न नहीं किया है। अपने विषय के विवेचन में जहाँ कहीं आपकी व्याख्या मुझे अपूर्ण अथवा दोषपूर्ण जान पड़ी, वहीं मैंने आपके दोष दिखाए हैं। 'पिंडे पिंडे मतिर्भिन्ना' के न्याय से अर्थ के संबंध में थोड़ा बहुत मतभेद होना नितांत स्वाभाविक है। यह बात मैं "कौटिलीय अर्थशास्त्र-मीमांसा, प्रथमखंड—कौटिल्य की राज्यशासन-व्यवस्था"-नामक अपनी आलोचनात्मक पुस्तक की प्रस्तावना में स्वीकार कर चुका हूँ। इसलिये तर्क के आधार पर यदि कोई अपना भिन्न अर्थ करे, तो दूसरे किसी को चिढ़ने या कुढ़ने की आवश्यकता नहीं है।

अब मैं आपके "निवेदन" का उत्तर लिखता हूँ।

आपने जो प्रथम बात कही है, उसमें आपने स्वयं यह दिखला दिया है कि उक्त सूत्रों की विस्तृत व्याख्या हो सकती थी, इसलिये अब उस विषय में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। मुझे केवल यही दिखलाना था कि उक्त काल में ब्राह्मण लोगों का दर्जा समाज में सर्वश्रेष्ठ था। इसीलिये मैंने उक्त सूत्रों की विस्तृत व्याख्या नहीं दी। मेरा कथन संक्षिप्त व्याख्या से भी प्रतिपादित हो सकता था। आपने उक्त अर्थ को मेरे कथन के अनुसार अधिक स्पष्ट कर दिया, इसलिये आपको अनेक धन्यवाद।

तथापि 'पूर्वेणापरस्य द्विपणाधरा:' का स्पष्टीकरण करते समय आपने कुछ चिढ़कर जो आक्षेप किया है कि "यहाँ तामस्कर महोदय कौटिल्य के भाव को समझने में भूल कर गए हैं", उसमें मेरी अल्पमति में आपने ही भूल की है। मैंने जो कहा है कि "जैसी जिसकी पदवी होती है, वैसे ही गुरुतर उसके कर्तव्य भी होते हैं और ऐसे लोगों के नियमभंग के अपराध के लिये गुरुतर दंड भी होता है' वह इस संबंध में नहीं है। वह ऐसी बातों के संबंध में कहा गया है कि जिनमें सामाजिक उच्चता-नीचता का प्रश्न है नहीं। वहाँ प्रश्न रहता है अधिक समझ का। ब्राह्मणों से अधिक समझ की आशा कौटिल्य ने की है इसीलिये हितकारी बात बतलानेवाले को मारने पर ब्राह्मण को सबसे अधिक दंड दिया जाय। परंतु एक उच्च जाति का मनुष्य किसी नीच जाति के प्रति जब व्यक्तिगत अपराध करे, तब उसे जो दंड कौटिल्य ने बताया है, वह (जहाँ तक मैंने देखा है) नीच जाति के द्वारा उसी उच्च जाति के प्रति किए गए व्यक्तिगत अपराध से सदैव कम रहा है। बस, यही बात मैंने "अर्थात् ब्राह्मण सर्वोपरि थे। उनकी निंदा करने पर सबसे अधिक दंड होता, और वे यदि दूसरों की निंदा करें, तो उन्हें सबसे कम दंड दिया जाता था" इस कथन में कहा है। यदि श्री० उदयवीरजी अपने ही व्याख्या के अनुसार उक्त दो सूत्रों में बताए दंड विधान पर दृष्टिपात करते, तो यह बात स्पष्ट हो जाती। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण यदि चांडाल की निंदा करता, तो उसे केवल दो पण दंड देना होता, पर यदि चांडाल ब्राह्मण की निंदा करता उसका १२ पण जुर्माना होता था। क्या इससे मेरा कथन स्पष्ट नहीं होता। कहीं के कथन कहीं अन्य स्थान में लागू करने से अनर्थ हुआ करते हैं। इसलिये इस विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। 'प्रकृत्यपवादे' मेरी भूल नहीं है। छोटी-सी बात पर विशेष ज़ोर देना अनुचित है। प्रेस में कुछ कम भूलें नहीं हुआ करतीं। श्री० उदयवीरजी को भी इस बात का अनुभव होगा।

"निष्पतितप्रेमव्यसनिनायोधाता मूल्यं भजेत" के र्थ के विषय में अब मुझे यही कहना है कि आपका र्थ मुझे स्पष्ट नहीं जान पड़ा। आपने जब बड़ा लंबा-चौड़ा उदाहरण देकर अपना अर्थ स्पष्ट कर दिया, तब मुझे भी कहना होगा कि आपके और मेरे अर्थ में कोई भेद नहीं रहा।

"औपशायिक" शब्द के अर्थ के विषय में मुझे यह कहना है कि अब भी मुझे अपना ही अर्थ ठीक मालूम होता है। आपने अपनी पुस्तक में इसका अर्थ दिया है "प्रथम शयन काल में"। पर अपने उत्तर में आपने प्रत्यक्ष नहीं पर अप्रत्यक्ष यह अवश्य मान लिया है कि उसका अ° "उपशयन-संबंधी" है। मेरे अर्थ में जो 'पुरुष' शब्द आया है, वह केवल पुरुष-जाति के अर्थ में नहीं, पर 'मनुष्य' के अर्थ में है। यदि आप 'पुरुष' के स्थान में मनुष्य (पुरुष या स्त्री) लिख लें, तो मेरे अर्थ में कोई दोष नहीं रह जाता। जल्दी के कारण मनुष्य के स्थान में 'पुरुष' लिखा गया है। पर उससे मेरा भाव नहीं बदलता। क्योंकि थोड़ी ही दूर पर 'कन्या' और 'वर' दोनों का विचार किया गया है। 'प्रथम शयन-काल' का आपका क्या अर्थ है, यह मैं नहीं जान सकता। इसका अर्थ यदि है 'प्रथम रात्रि के सहवास के बाद ही', तो मेरा कहना यह है कि इतने शीघ्र पुरुष या स्त्री को परस्पर के शारीरिक दोष मालूम होना संभव नहीं है। और यह बात आपने भी आगे चलकर मान ली है। फिर 'प्रथम शयन-काल' का क्या विशेष अर्थ है यह, आप ही जानें। मैं तो अब भी "औपशायिक" का अर्थ करूँगा "दूसरे किसी (पुरुष या स्त्री) के साथ सहवास करने के संबंध का"। यह स्पष्ट ही है कि जिस किसी (स्त्री या पुरुष) को उपदंशादि व्याधियाँ होंगी, वे मनुष्य पवित्रा-चरण के नहीं हो सकते। इसलिये यह स्पष्ट है कि मेरे अर्थ में उपदंशादि व्याधियाँ होने के दोष भी शामिल हैं।

'सुप्तमत्तप्रव्रजने भर्तुरदाने च द्वारस्य द्वादशपणः। रात्रौ निष्कासने द्विगुणः' के आपके अर्थ पर मैंने जो आक्षेप किया था, वह आपका विवेचन पढ़ने पर भी मुझे ठीक जँचता है। 'सुप्तमत्तप्रव्रजने' का स्पष्टीकरण आपने किया है 'स्त्रियाः सुप्ते मत्ते च भर्तरि प्रव्रजने सति गृहाद् बहिः'। आपने अपने इस स्पष्टीकरण का भाषा में अर्थ दिया है 'भर्ता के सोए हुए और मत्त होते हुए, स्त्री के बाहर चले जाने पर।' संस्कृत में आपने जो स्पष्टीकरण दिया है, वह तो बहुत कुछ ठीक है। मैं केवल यही बात और चाहता हूँ कि 'सुप्ते मत्ते च प्रव्रजने' के पहले 'भर्तुः' शब्द लिख दिया जाता। 'भर्तुः' का आपने 'भर्तरि' क्यों किया यह तो आप ही जानें। मुझे इसका कारण कहीं नहीं देख पड़ता। पर आपसे मैं यह पूछता हूँ कि आपके संस्कृत-विग्रह का उपर्युक्त भाषार्थ कैसे होता है? भाषा में दिए आपके अर्थ में तो 'प्रव्रजने' का कहीं पता ही नहीं है, क्योंकि 'स्त्रियाः......गृहाद्बहिः' आपने जोड़ ही दिया है और इन शब्दों के जोड़ने के संबंध में मेरा कोई झगड़ा है नहीं। उलटा मैं ही आपसे पूछना चाहता हूँ कि यहाँ तो आपने ये शब्द जोड़ दिए हैं और आगे चलकर मुझसे जो आपने पूछा है कि—"'बाहर जाय' यह अर्थ किस पद का किया", वह कहाँ तक संगत है। आप भी स्त्री के जाने के संबंध का ही अर्थ करते हैं और मैं भी। आपने 'गृहाद्बहिः' जोड़ा है और मैंने 'बाहर जाय' जोड़ा है। फिर आपका प्रश्न कैसे उत्पन्न होता है, यह मैं नहीं समझ सकता। हाँ, मैं आपसे पूछ सकता हूँ कि भाषा में अर्थ देते समय 'प्रव्रजने' को आपने कहाँ भगा दिया? यदि आपके विग्रह में 'प्रव्रजने' और 'गृहाद्बहिः' दोनों हैं, तो 'प्रव्रजने' का संबंध किससे है? यदि 'भर्तुः' से है, तो फिर मैंने जो "पति के......घर पर न रहने पर" वाला अर्थ किया, वह कैसे भ्रांत हो सकता है? यदि 'प्रव्रजने' का संबंध 'स्त्रियाः' से जोड़ा जाय, तो दो आक्षेप उत्पन्न होते हैं। पहला आक्षेप व्याकरण-संबंधी है। एक ही समास के तीन शब्दों में से दो शब्द 'भर्तरि' के साथ संबद्ध किए जायँ और तीसरा शब्द 'स्त्रियाः' के साथ जोड़ा जाय, यह किस 'व्याकरण-प्रक्रिया' के अनुसार संभव है? शास्त्रीजी यदि यह बतलाने की कृपा करते कि ऐसा विचित्र समास भी संस्कृत में संभव है, तो बड़ी कृपा होती। दूसरी बात यह है कि फिर जो 'गृहाद्बहिः' शब्द आपने पूर्वापर संबंध से अध्याहृत किए हैं, वे कहाँ भगा दिए जायँ। अध्याहृत करने पर उनका भी अर्थ करना ही होगा। पर आपने अपनी भाषा-टीका में उनका पता नहीं रक्खा है। सारांश, स्त्री के साथ 'प्रव्रजने' और 'गृहाद्बहिः' दोनों नहीं जुड़ सकते। एक तो भी निरर्थक हो जाता है।

'च' के अर्थ पर आपने आक्षेप करने का जो प्रयत्न किया है, वह तो मेरी समझ में आया ही नहीं। आपका आक्षेप क्या है, यही जब स्पष्ट नहीं, तो उत्तर क्या दिया जाय? हाँ, मैं अब भी यही कहता हूँ कि 'च' का अर्थ 'और' ही है और वही उक्त स्थान पर लागू होता है। पति के सोए रहने पर या उसके उन्मत्त रहने पर या घर पर उसके न रहने पर द्वार को खुला छोड़ जाना हानिकारक है और इसलिये अनुचित है। इसीलिये स्त्री दंडनीय है। मेरे अर्थ के अनुसार उक्त सूत्र का अन्वय स्पष्ट और सरल है—'भर्तुः सुप्ते मत्ते प्रव्रजने सति द्वारस्य अदाने च द्वादशपणः'। मैंने तो 'ग़ौर' से देखा, पर 'च' का अर्थ 'और' मुझे अब तक नहीं खटकता? आपको वह कैसे खटकता है, इसे स्पष्ट करते, तो ठीक होता।

अब रहा 'द्वारस्य अदाने' के अर्थ का प्रश्न। आप फ़रमाते हैं कि "द्वार" पद के साथ 'दा' धातु का प्रयोग खोलने के अर्थ में आता है।" मैं स्पष्ट स्वीकार करता हूँ कि मुझे यह प्रयोग ज्ञात नहीं। हाँ, मैं यह जानता हूँ कि 'दान' का अर्थ 'देना' होता है और साधारण प्रयोग में दरवाज़ा लगाने को 'दरवाज़ा देना' भी कहते हैं। 'दरवाज़ा दे दो' यानी 'दरवाज़ा लगा दो'। यहाँ पर 'दान' का निषेध है। इसीलिये मैंने 'द्वारस्य अदाने' का अर्थ किया है 'दरवाज़ा खुला छोड़कर'। इसमें मैं कुछ भी अनुचित नहीं समझता। यदि आपका अर्थ स्वीकृत कर लिया जाय, तो यही कहना होगा कि पतिमहाराज कौटिल्य-काल में ऐसे अत्याचारी स्वामी बन बैठे थे कि यदि उनकी 'इच्छा के विरुद्ध दरवाज़ा बंद कर दिया जाय, तो पत्नी का १२ पण दंड होना चाहिए'। उस समय स्त्री की इच्छा अथवा आवश्यकता की कोई क़ीमत न थी! शास्त्रीजी, मेरी अल्प मति में आपका अर्थ पूर्णतया अग्राह्य है। आप यदि न्याय से काम लेते, तो आपको मेरा अर्थ स्वीकार करना पड़ता; क्योंकि पति के सोए रहने पर या मत्त होने पर या घर में न रहने पर घर का दरवाज़ा खुला छोड़कर बाहर जाना वास्तव में अनुचित है। मेरे कथन का यही अर्थ है। आप ही ज़रा 'ग़ौर' से देखिए कि इस अर्थ में अधिक औचित्य है अथवा आपके अर्थ में। अब रहा 'निष्कासन' का अर्थ। आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि उपर्युक्त दो सूत्रों में स्त्री के बाहर जाने के विषय में ही विवेचन है। इधर तो आप कहते हैं कि पति की इच्छा के विरुद्ध दरवाज़ा बंद कर लेने पर स्त्री का बारह पण दंड हो और उधर आप कहते हैं कि 'यदि कोई स्त्री अपने पति को रात्रि में घर नहीं आने देती, अर्थात् उसको घर से बाहर निकाले रखती है, तो उस स्त्री को २४ पण दंड दिया जावे'। आपके कथनों में कितनी भारी असंगति है! जिस पति महाराज की इच्छा के विरुद्ध घर का दरवाज़ा भी बंद कर लेना घोर अपराध है, उस स्वामी को कौन स्त्री 'बाहर निकाले रख' सकती है? फिर मैं पूछता हूँ कि ऐसी कितनी स्त्रियाँ समाज में ऐसी भारी धृष्टता करेंगी? इससे क्या यह बेहतर नहीं कि 'निष्कासने' का अर्थ पूर्वापर संबंध से 'बाहर जाने पर' किया जाय? मेरे पास इस समय और कोई कोष तो है नहीं, केवल आपटे-कृत बड़ा संस्कृत-अँगरेज़ी कोष है। उसमें 'निष्कासन' का अर्थ 'बाहर निकालना' और 'बाहर निकलना' (यानी बाहर जाना) दोनों दिया है। प्रसंग देखकर यदि अर्थ किया जाय, तो उस स्थान में बाहर निकलने (यानी बाहर जाने) का ही अर्थ उचित जान पड़ता है। इसलिये मैं भी अब पाठकों से कह सकता हूँ कि किसके अर्थ में भूलें हैं, यह आप स्वयं देख लें।

मैं समझता हूँ कि मैंने आपके सब आक्षेपों का उत्तर संक्षेप में दे दिया। खेद इसी बात का है कि आपका और मेरा समय व्यर्थ ही नष्ट हुआ। आप कदाचित् यह समझे बैठे हैं कि हमारी (यानी स्वयं निज की) टीका में कोई दोष नहीं है, और कोई उसमें दोष निकालता है, तो वह अत्यंत धृष्टता करता है। इस पर मेरा नम्र निवेदन है कि (और यह बात मैं अपनी उल्लिखित आलोचनात्मक पुस्तक की प्रस्तावना में स्वीकार कर चुका हूँ कि) कोई कैसा भी उद्भट विद्वान् क्यों न हो, वह 'कौटिलीय अर्थशास्त्र'-जैसे कठिन ग्रंथ का प्रत्येक स्थान में ठीक-ठीक अर्थ नहीं कर सकता। 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः' के न्याय से ही इस ग्रंथ का अर्थ ज्ञात होगा। इस पर कदाचित् शास्त्रीजी कहें कि जब आप 'वाद' करने को तैयार ही हैं, तब 'कालव्यय' की शिकायत क्यों करते हैं। इस पर मेरा यह कहना है कि जब वाद करनेवाला विना उचित युक्ति के अपने अर्थ का समर्थन करता है, तब वाद से कोई लाभ नहीं होता। समया-

...के कारण मैंने आपके आक्षेपों का संक्षिप्त उत्तर ही दिया है। अन्यथा, मैं भी आपकी जैसी लंबी-चौड़ी बातें लिखता, तो अनेक पृष्ठ रँग जाते। पर इससे काम ही क्या ? मुझ-जैसे अल्पज्ञ जब आपके अथवा शाम शास्त्री के अर्थ में भूलें निकालते हैं, तब धृष्टता तो अवश्य देख पड़ती है। पर जहाँ कहीं मैंने ऐसा किया है, वहाँ पर खूब सोच-विचार के बाद ही। मैं अपनी जवाबदेही खूब समझता हूँ, क्योंकि मैं टीकाकार के नाते नहीं किंतु इतिहास-विवेचक के नाते संसार के सामने अपना कथन रखना चाहता हूँ। इसी दृष्टि से मैंने 'कौटिलीय अर्थ-शास्त्र-मीमांसा-प्रथमखंड—कौटिल्य की शासन' व्यवस्था—नामक आलोचनात्मक पुस्तक प्रकाशित की, और अब मैं कौटिल्य-काल की भिन्न-भिन्न प्रकार की स्थिति का विवेचन समयानुसार करता हूँ। मैं यह अपने लेखों में स्वीकार कर चुका हूँ कि यथास्थान शाम शास्त्रीजी की टीका का तथा आपकी टीका का मैं उपयोग करता आ रहा हूँ। पर जहाँ कहीं मेरा किसी से मतभेद होता है, वहाँ मैं अपना भिन्न मत बड़े संक्षेप में अपने भिन्न मत के कारण भी दे देता हूँ। हाँ, यह काम मैं विस्तारपूर्वक नहीं कर सकता, क्योंकि मैं कह ही चुका हूँ कि टीका लिखने का मेरा उद्देश्य नहीं है; मेरा उद्देश्य है ऐतिहासिक विवेचन करने का। संभव है कि इसके बाद भी आपके अर्थों से मतभेद प्रकट करने का अवसर मुझे प्राप्त हो। जब-जब आप यह मतभेद देखें, तब अपमान से उत्तेजित न होकर शांतता से विचार करें और मेरे मतभेदों पर फिर आक्षेप करें। भूलें होना स्वाभाविक है और मैं दावे से कभी नहीं कह सकता कि मेरे सभी अर्थ ठीक ही रहेंगे। जो ऐसा समझता होगा, उसे मैं 'प्रतिनिविष्ट......' के वर्ग में रख सकता हूँ। यह न भूलना चाहिए कि 'पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्ना' होती है। यह लेखक यह दिखला चुका है कि डाक्टर फ़्लीट-जैसे विद्वान् भी भूलें कर सकते हैं। क्या अब तक पुराने विद्वानों की अर्थ की भूलें नए विद्वान् दिखला नहीं रहे हैं ? अर्थ की भूलें स्वीकार करने में कोई मानहानि नहीं होती। श्री० उदयवीरशास्त्रीजी ही क्यों बिगड़ बैठे, यह उन्हें क्या सूझा ? मैं नम्रतापूर्वक यही कह सकता हूँ कि यदि आपके आक्षेपों में कुछ सार रहा, तब तो मैं उत्तर लिखूँगा, अन्यथा मैं अपने समय का व्यय नहीं करूँगा। चिढ़कर व्यर्थ ही सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठ रँगना मुझे ठीक नहीं मालूम होता। हाँ, युक्ति-युक्त वाद हो, तो उसमें मैं दिल खोलकर शामिल हो सकता हूँ। हठवाद का कोई उत्तर नहीं होता।

गोपाल-दामोदर तामस्कर

ओ बटोही !

आँधी है उस पार उठ रही, लौट चली गोधूली ;
श्रांत पथिक ! आगे मत जाओ, राह तुम्हारी भूली।
भरा सकोरे में जल है, लो, पी लो, प्यास मिटा लो ;
दम ले लो, बैठो आसन पर, खा लो कुछ फलमूली।

जाओगे ! मेरे प्राणों में क्रन्दन उमड़ पड़ेगा ;
मैं तो अब खोई-सी हूँ, काँटे-सा गमन गड़ेगा।
आया झोंका एक, खड़े हो निर्मोही ! क्यों बाहर ;
इस टूटी कुटिया में आओ देव ! तुम्हारा ही घर।

हुआ एक युग, मैं भी भटकी ही हूँ, रात अँधेरी ;
बिजली चमक रही है, छाती धड़क रही है मेरी।
यहाँ घोर इस विजन विपिन में हम-तुम, हाँ, बस दो ही,
आज हृदय की तृषा बुझाओ, मेरे श्याम बटोही।

सत्यव्रत शर्मा 'सुजन'

आल्हखण्ड की नर्मदा

श्रीयुत वासुदेवप्रसादजी मिश्र का 'आल्हखण्ड का माड़ौ' शीर्षक लेख वैशाख की माधुरी में पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मिश्रजी ने अपने इस लेख में माँडव (धार-स्टेट) को आल्हखण्ड का माड़ौ सिद्ध किया है। मिश्रजी के इस कथन में तो कोई संदेह नहीं कर सकता कि आल्हखण्ड का माड़ौ यही माँडव है; परंतु यही माँडव है, इस कथन की पुष्टि में जो दलीलें मिश्रजी ने दी हैं, उनमें से माँडव की स्थिति और आल्हखण्ड की नर्मदा के विषय में अवश्य कुछ विवाद है। अतः मैं अपनी शंका, उनकी पुष्टि और अपने विचार पाठकों के सम्मुख उपस्थित करके आशा करता हूँ कि मिश्रजी भी मेरे इस कथन पर उचित विचार करेंगे।

(१) मिश्रजी ने माँडव को मालवा, गुजरात और मारवाड़ की सीमा पर बतलाया है, परंतु माँडव से रतलाम और नीमच तक उत्तर की ओर तथा झाबुआ और मोहद तक उत्तर-पश्चिम की ओर कहीं मारवाड़ की सीमा का पता नहीं है। यदि मारवाड़ की सीमा माँडव तक बताई जायगी, तो तमाम नक़्शों की काया-पलट हो जायगी। मैंने जो स्थान बताए हैं, वे माँडव से ५०-६० मील से ज़्यादा ही दूर हैं, कम नहीं। मारवाड़ का सीमा अजमेर से उत्तर की ओर है। अजमेर मेरवाड़ा कहलाता है और मेरवाड़े के दक्षिण-ओर मेवाड़ है। मेवाड़ और मालवे का सीमा अवश्य मिलती है, परंतु मेवाड़ और माँडव की नहीं। नीमच (मालवा) मेवाड़ की सीमा से लगा हुआ है और नीमच माँडव से १५० मील दूर है। ऐसी स्थिति में माँडव को मारवाड़ की सीमा पर बतलाना असङ्गत है।

मेवाड़-प्रदेश नया है, यह बात भी नहीं है; क्योंकि आल्हखण्ड के समय में ही पृथ्वीराज चौहान की सहायता के लिये रावल समरसी इसी प्रदेश से मुहम्मद ग़ोरी से युद्ध करने के लिये गए थे।

माँडव नीमाड़ और मालवे की सीमा पर अवश्य है। गुजरात की सीमा भी माँडव से उतनी ही दूर है, जितनी दूर मेवाड़ की सीमा। माँडव विन्ध्याचल-पर्वत की घाटियों पर है और यही घाटियाँ मालवा और नीमाड़ को पृथक् करती हैं। पश्चिम की ओर नीमाड़ और मालवा गुजरात की सीमा तक साथ-साथ चले गए हैं।

(२) आल्हखण्ड में माड़ा जाने के लिये नर्मदा उतरना बताया है। मिश्रजी ने भी इस कथन से यह अनुमान किया है कि नर्मदा खलघाट के पास उतरे होंगे। परन्तु आल्हखण्ड का कथन और मिश्रजी का अनुमान दोनों ही असंगत है; क्योंकि नर्मदा माँडव से दक्षिण है, तथा सिरउँज और महोवा, दोनों ही नर्मदा-नदी के उत्तर हैं। ऐसी दशा में महोबा और सिरउँज से माँडव जाने के लिये नर्मदा क्यों उतरनी पड़ी, इसका कारण ज्ञात नहीं होता। मिश्रजी के अनुमानानुसार यदि यह माना जाय कि माँडव आने के लिये ऊदल आदि नर्मदा खलघाट में उतरे होंगे, तो नर्मदा के दक्षिण-

किनारे जाने के लिये भी कहीं नर्मदा एक वक्र और अवश्य उतरनी पड़ी होगी। परंतु नर्मदा के दक्षिण-किनारे अब भी बेहद जंगल है। ऐसी दशा में उस समय कितना जंगल रहा होगा, यह अनुमान से जाना जा सकता है। अकारण ही ऐसे जंगल में होकर फ़ौज को लाना और दो बार नर्मदा उतरना असंभव ज्ञात होता है। यदि यह कहा जाय कि वे नर्मदा के पूर्वी सिरे से निकलकर दक्षिण-किनारे आए, तो यह भी उचित नहीं जँचता; क्योंकि सिरउँज से या महोवे से नर्मदा का सिरा पार करने के लिये और पूर्व की ओर जाना होगा, और फिर उस जंगल में होकर आना होगा, जिसमें होकर आना-जाना आज भी असम्भव नहीं तो मुश्किल अवश्य है।

माँडव के समय में उज्जैन, धारा आदि नगर उन्नत दशा में थे। मिश्रजी ने भी अपने लेख में इन नगरों को राजधानी बताया है। ऐसी दशा में महोवे या सिरउँज से उज्जैन और धारा होकर माँड़ो जाने के बदले नर्मदा के पूर्वी सिरे को लाँघकर तथा विकट जंगल में होकर नर्मदा को फिर पार करने का कोई कारण न था। इन बातों पर विचार करने से यह सिद्ध है कि नर्मदा-नदी पार ही नहीं की गई। अब प्रश्न होता है कि आल्हखण्ड में इसका ऐसा वर्णन किया गया है। इसके लिये केवल इतना ही उत्तर पर्याप्त है कि यह वर्णन करनेवालों की वैसी ही अत्युक्ति है, जैसी तलवार आदि से बबुरीबन को काटने की बात। आल्हखण्ड में लिखी हुई प्रत्येक बात सही है, यह कोई नहीं मान सकता। केवल इस अत्युक्तिपूर्ण वर्णन से यह अनुमान कर लेना कि खलघाट में नर्मदा पार की गई होगी, संगत नहीं है।

मिश्रजी ने यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ऊदल ने जिस कोल्हू में जंबे को पेरा था और जिस बरगद में उसकी खोपड़ी टाँगी थी, वे अब तक मौजूद हैं। परंतु यह चेष्टा व्यर्थ है। जिस तरह उस जगह बरगद का पुराना पेड़ है, उसी तरह माँडव के पुराने हाथीख़ाने में भी बरगद का बहुत पुराना पेड़ है। बल्कि इस बरगद के विषय में तो यह किंवदंती भी प्रसिद्ध है कि जस्सराज की खोपड़ी इसी पर टँगी थी।

मिश्रजी ने धरमपुरी के विषय में अपनी अनभिज्ञता प्रकट की है, अतः धरमपुरी के विषय में भी यहाँ कुछ लिखना असङ्गत न होगा।

धरमपुरी माँडव से १६ मील दक्षिण की ओर नर्मदा-नदी के उत्तरीय किनारे पर है। नर्मदा-नदी यहाँ पर दो धाराओं में फट गई है और बीच में कुछ ज़मीन छोड़ गई है जो अनुमानतः ७-८ वर्गमील होगी। इस छूटी हुई ज़मीन को वहाँवाले बेट कहते हैं। इस बेट में बिल्वामृतेश्वर महादेव का मंदिर है, जिसकी पाण्डवों द्वारा स्थापना बतलाई जाती है।

धरमपुरी से पूर्व की ओर एक मील पर नागेश्वर महादेव का मंदिर है। मंदिर तो कुछ उल्लेखनीय नहीं है; परंतु वहाँ के लिये यह किंवदन्ती है कि इस मंदिर के ऊपर नित्य चिराग़ जलाया जाता था, जिसे भानमती रानी रूपमती के महल के ऊपर से देखकर नित्य नर्मदा-दर्शन के प्रण को निभाती थी। अनुमान यह होता है कि यहाँ पर चिराग़ जलाकर माँडव के दुर्गरक्षकों को यह सूचित किया जाता रहा होगा कि इस समय तक कुशल है, अर्थात् कोई आशंका नहीं है।

धरमपुरी-गाँव में एक व्यंकटविहारी महादेव

का मंदिर है, जो चारों ओर पुख़्ता चहारदीवारी से घिरा हुआ है। चहारदीवारी के भीतर एक पुख़्ता सुरंग का दरवाज़ा है। लोगों का कहना है कि यह सुरंग माँडव से आई है। संभव है, यह ठीक भी हो और माँडव के दुर्ग से निकलने के लिये यह गुप्त मार्ग इस प्रकार मंदिर के अंदर सुरक्षित रक्खा गया हो।

धरमपुरी में बौद्धों की मूर्तियाँ और विहार भी हैं, जो टूटे-फूटे होकर भी अपनी प्राचीनता का परिचय देते हैं।

इन सब बातों से यह अनुमान होता है कि माँडव के उन्नत समय में धरमपुरी भी एक अच्छा क़स्बा रहा होगा।

शंकरप्रसाद दीक्षित

अथर्ववेद

कुछ पाश्चात्य वैदिक साहित्य-समालोचकों का तथा उनके मत से प्रभावित अनेक भारतीय विद्वानों का मत है कि—"ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ये प्राचीन वेद हैं। अथर्ववेद उनकी अपेक्षा नवीन है; क्योंकि प्राचीन ग्रंथों में उक्त तीन वेदों का ही वर्णन है तथा उनके लिये 'त्रयी' शब्द का व्यवहार है, अथर्ववेद का उल्लेख नहीं है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में उक्त वेद-त्रय का ही वर्णन आया है।

"ऋग्भिः प्रातर्दिविदेवरुदयते यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्येऽह्नः सामवेदेनास्तमेति वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्य्य इति"

छांदोग्य-ब्राह्मण में भी 'वेद-त्रयी' का ही उल्लेख है। "अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात्। स एतां त्रयीं विद्यामभ्यगमत्"। नारायण-उपनिषद् में भी 'त्रयी' का ही वर्णन है—"सैषा विद्या त्रयी तपतीति"। अतः स्पष्ट है कि उदाहृत ग्रंथों के समय में अथर्ववेद नहीं बना था।

मनु ने भी निम्न-लिखित श्लोक में अग्नि, वायु और रवि से यथाक्रम ऋग्, यजु और साम के ही आविर्भाव का वर्णन किया है।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्;
दुदोह यज्ञ-सिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्।

तथा 'दशावरा' और 'अवरा' परिषद् में वेद-त्रय के ज्ञाताओं को ही रक्खा है, एवं गुरुकुल में ३६ वर्ष के ही ब्रह्मचर्य-व्रत (ऋग्यजुःसामात्मक वेद-त्रय के प्रत्येक वेद के अनुसार बारह-बारह वर्ष) का नियम किया है—"षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्"।

इन श्लोकों से ज्ञात होता है कि मनुकाल में भी अथर्ववेद की सत्ता न थी।

पर भारतीय वेदज्ञ विद्वानों में 'अथर्ववेद नवीन है' ऐसा विचार नहीं उठा है। हाँ, पश्चिमी विद्वानों ने 'त्रयी' शब्द का अर्थ ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद जैसे समझा है, उसी तरह कुछ भारतीय विद्वानों ने भी समझकर अथर्ववेद के प्रामाण्य होने में संदेह किया है, जिसका निराकरण जयंत-भट्ट* आदि विद्वानों ने किया है। वस्तुतः 'त्रयी' या 'त्रय' का अर्थ ऋग्संहिता, यजुःसंहिता और सामसंहिता नहीं है, अपितु गद्य-पद्य-गानात्मक त्रिविध रचनामयी आप्त-वाणी है। उसे ही वेद, श्रुति और आम्नाय कहते हैं। पद्य का नाम ऋक्, गद्य का नाम यजु और गान का नाम साम है। महर्षि जैमिनि

* जयंत भट्ट का समय ठीक-ठीक नहीं मालूम है। पर वह वाचस्पति मिश्र और बाण भट्ट से नवीन हैं। इन्हीं ने 'न्याय-मञ्जरी'-नामक ग्रन्थ लिखा है। अथर्ववेद पर उसमें तीन निबंध हैं—

१. अथर्ववेद का प्रामाण्य।
२. अथर्ववेद त्रयी के अंतर्गत है।
३. अथर्ववेद अन्य वेदों की अपेक्षा प्राचीन है।

मीमांसा-दर्शन में लिखते हैं कि छन्दःशास्त्र के अनुसार जिनमें पाद-व्यवस्था है, उनकी ऋक् संज्ञा है; जो मंत्र गाए जाते हैं, उनको साम और जो मंत्र न पादबद्ध हैं और न गाए जाते हैं, उनको यजुष् कहते हैं।

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पाद-व्यवस्था—मीमांसादर्श० द्वितीयाध्याय प्रथम पाद ३५ सू०

गीतिषु सामाख्या　　,, ३६ सू०

शेषे यजुःशब्दः　　,, ,,

'त्रयी' पद से चारों वेदों का ग्रहण होता है। जहाँ-जहाँ 'त्रयी' पद आया है, वहाँ 'अथर्ववेद' को भी ग्रहण करना चाहिए।

सर्वानुक्रमणी वृत्तिकार ने भी चारों वेदों में ऋग्-यजुःसाम रूप से त्रिविध मंत्र दिखलाए हैं—

विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते
ऋग्यजुःसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये
अहिर्बुध्नीयमन्त्रं मे गोपायेत्यभिधीयते
ऋक् पादबद्धा गीतं तु साम गद्यं यजुर्मन्त्रः
चतुर्ष्वपि हि वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते

एशियाटिक सोसायटी के प्रसिद्ध वेद-व्याख्याता स्वर्गीय सत्यव्रत सामश्रमी ने निरुक्तालोचन में ('कोऽयं वेदः' नामक लेख में) इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है कि—वास्तव में वेद एक ही है। वह त्रिविध रचना के कारण 'त्रयी' नाम से प्रसिद्ध होने पर भी चार संहिताओं (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद) में विभक्त है। ऋक् लक्षणवाले मंत्र चारों संहिताओं में यद्यपि वर्तमान हैं, तथापि जिस ग्रंथ में ऋक् लक्षणवाले (पद्यात्मक) मंत्रों का बाहुल्य है और यजुर्लक्षणवाले मंत्रों की न्यूनता है, उसे ऋक्-संहिता कहते हैं। इसी प्रकार तीनों संहिताओं में यजुर्लक्षणवाले (गद्यात्मक) मंत्रों के होने पर भी जिस ग्रंथ में गद्य का (यजुर्लक्षणवाले मंत्रों) का आधिक्य है तथा मात्राओं का गद्यत्वेन पाठ और विनियोग है, उसे यजुःसंहिता कहते हैं। अतएव अध्वर्यु ब्राह्मण की भूमिका में सायणाचार्य ने कहा है कि—अध्वर्यु वेद में (यजुर्वेद में) ऋचाओं के होने पर भी उसकी 'यजुर्वेद' ही संज्ञा है; क्योंकि उसमें यजु का (गद्य) आधिक्य है। इसी प्रकार साम-संहिता में यजु (गद्य) और ऋचाओं के होने पर भी गान के अधिक होने से सामवेद नाम पड़ा।

रचनाओं (गद्य-पद्य-गीत) के आधार पर तीन संहिताओं का नाम ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद पड़ा। चतुर्थ संहिता (अथर्व संहिता) का नाम विभागकर्ता के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अथर्व-नामक ऋषि यज्ञ-प्रक्रिया के प्रकाशक हुए हैं। उन्होंने अध्वर्यु, उद्गाता, होता, और ब्रह्मा, इनके कार्यों की सुगमता के लिये यजुर्वेद, सामवेद, ऋग्वेद और अथर्ववेद का विभाग किया है। यजुर्वेद में अध्वर्यु-व्यवहार्य मन्त्र, सामवेद में उद्गातृ-व्यवहार्य मन्त्र, ऋग्वेद में होतृव्यवहार्य मन्त्र और अथर्ववेद में ब्रह्म-व्यवहार्य मन्त्र हैं। अथर्ववेद 'त्रयी' के अंतर्गत है। यह सामश्रमी का मत कपोल-कल्पित नहीं है। सामश्रमी से कई शताब्दी पूर्व न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने लिखा है कि अथर्ववेद त्रय्यात्मक ही है, क्योंकि उसमें ऋचा, यजु और साम ये तीनों हैं (अथर्ववेदस्तु त्रय्यात्मक एव तत्र हि ऋचो यजूंषि सामानि च त्रीण्यपि सन्ति तेन ब्रह्मत्वं क्रियमाणं त्रय्या कृतं भवति)।

'अग्निवायुरविभ्यस्तु' इस मनु के श्लोक में भी त्रय-पद से अथर्ववेद को ले लेना चाहिए। मनु-काल में 'अथर्ववेद की सत्ता न थी'—यह मत समग्र मनुस्मृति के अनध्याय का ही परिचायक है। मनु स्वयं अथर्ववेद का उल्लेख करते हैं—

श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन्।
वाक्शास्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः॥
—अ० ११ श्लोक ३३

मंत्र-भागात्मक वेदों के पश्चात् उपनिषद् और ब्राह्मण-ग्रंथ बने हैं। यह खोज पश्चिमी विद्वानों ने ही की है। जब उनमें समानरूप से चारों वेदों का वर्णन है, तब अथर्ववेद अर्वाचीन है, यह किस आधार पर स्वीकार कर लिया जाय?

सामश्रमीजी ने निम्नलिखित श्रुतियाँ इसके प्रमाण में दी हैं—

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते—ऋ० सं० १६. ४. ५.
अग्निर्जातो अथर्वणा—ऋ० ७. ७. ४. ५
त्वामग्ने पुष्कराद्ध्यथर्वा निरमन्थत—इत्यादि

उपनिषद् और ब्राह्मण-ग्रंथों में अथर्ववेद का वर्णन है । उदाहरण के लिये कुछ प्रमाण दिए जाते हैं—

"ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणश्चतुर्थम्"

—छान्दोग्य

"सोऽयमाथर्वणो वेदः"—शतपथ ब्राह्मण, प्रकरण १३ प्रपाठक ३, कण्डिका ७

ऋचां प्राची महती दिगुच्यते दक्षिणामाहुर्यजुषां साम्नामुत्तराम् । अथर्वणामङ्गिरसां प्रतीची महती दिगुच्यते इति ।

—तैत्तिरीय ब्रा० भा० प्रपाठक, अ० १०

अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा—ब्रह्मोपनिषद्

यह निर्विवाद सिद्ध है कि वेदों का आविर्भाव यज्ञार्थ ही हुआ है । यज्ञ विना ब्रह्मा के नहीं हो सकता है और ब्रह्मा * अथर्ववेदी ही होता है । अथर्ववेद यदि नवीन है, तो अथर्ववेद से प्रथम यज्ञ-कार्य कैसे होता था ?

जयंत भट्ट ने चारों वेदों में अथर्ववेद को ही प्राचीन माना है । उन्होंने लिखा है कि—अथर्ववेद से ही 'प्रणव' की उत्पत्ति हुई है । प्रमाण में निम्नलिखित श्रुति पेश की है—

ब्रह्म ह्वा इदमग्र आसीदित्युपक्रम्याथर्वणं वेदमभ्यास्यदभ्यतपत्सन्मपत्रस्माच्छान्तसन्तप्तादोमिति मन एवोर्ध्वमुदक्रामद् ।

श्रुति का आशय है कि प्रथम ब्रह्म था । उसने तप किया और अथर्ववेद का अभ्यास किया । शांत संतप्त ब्रह्म से ही 'प्रणव' की उत्पत्ति हुई । जयंत भट्ट ने अथर्ववेद से ही महाव्याहृतियों के उत्थान को भी माना है । मनु, याज्ञवल्क्य, शंख, व्यास आदि सभी महर्षियों ने तीनों संहिताओं की ही भाँति 'अथर्ववेद' को भी प्रामाणिक माना है ।

वैदिक सभ्यता संसार की सभी सभ्यताओं से प्राचीन है । वह किसी समय संसार-व्यापिनी थी । यदि किसी विदेशी भाषा में वैदिक शब्द मिलते हैं, तो उससे यह कल्पना न करनी चाहिए कि वेद किसी दूसरे देश से आए हैं । उससे यही समझना चाहिए कि ये शब्द वैदिक-भाषा के ही बचे-खुचे शब्द हैं ।

रामसेवक पांडेय

* प्रजापतिर्यज्ञमकरोत् स ऋचैव होममकरोत् यजुषाध्वर्यवम्, साम्नोद्गात्रम् अथर्वाङ्गिरोभिः ब्रह्मत्वम् ।—गो० ब्राह्मण

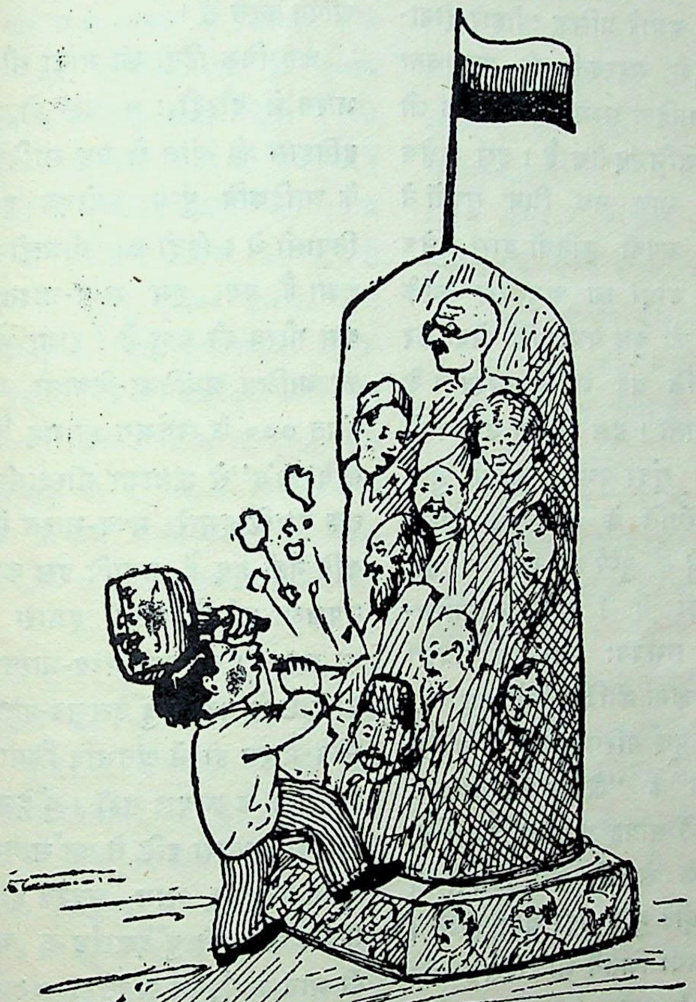
मादक

पिलाकर आसव किधर गया ?
खो देने को, खो जाने को आँखों उतर गया !
मद से मद उसको लेना था,
पटुता का परिचय देना था,
उस अशान्त को देख शान्त मद हँस-हँस बिखर गया !
जीवन में कौतुक भरने को,
मादकता सार्थक करने को,
माना—पी ली, किन्तु मुदित कर मादक किधर गया ?

नीरस मद, हत मादकता है,
दर्शक बिन रस वञ्चकता है,
हाय ! मुकुर-मन हो मुकरी-सी पल में मुकर गया !
अब न पिलाने वह आएगा,
मूक हृदय लख इठलाएगा,
वाणी को वाचाल और आकुल कर अधर गया !

दुर्गादत्त त्रिपाठी

राष्ट्रीय स्तंभ पर दमन-हथौड़े की चोट



मध्य-भारत के हिंदी-कवि

"काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्"

इस सुप्रसिद्ध सुभाषित के अनुसार मध्य-भारत-हिंदी-साहित्य-समिति ने हमारे प्रसिद्ध त्योहार-दीपावली के शुभ अवसर पर देवी सरस्वती की आराधना करने के प्रीत्यर्थ प्रांतीय साहित्य-सम्मेलन करने का जो प्रयत्न किया है, वह सर्वथा अभिनंदनीय है। इस सुक्षेत्र में प्राचीन काल से लगाकर आज तक जिन सुपूतों ने माता सरस्वती के चरणों में अपनी कृतियों द्वारा अनेक सुंदर पुष्प चढ़ाए हैं और उन्हीं का अनुकरण करके वर्तमान मध्य-भारतीय भी जो कुछ यथाशक्ति सेवा कर रहे हैं, कहना नहीं होगा कि वह माता सरस्वती के दरबार में अवश्य ही रुजू होगी। इस प्राचीन उद्यान में जहाँ पहले उत्तान सुगंधयुक्त सुंदर पुष्प विकसित हुए, वहीं पर यदि अब परिस्थिति के प्रभाव के कारण कन्हेर, झेंडू, करसैला आदि के पुष्प ही क्यों न हों, वह उद्यान सूना तो नहीं पड़ा है ! यहाँ पर सम्मिलित सरस्वती देवी के सपूत संभवतः मेरी इस उपमा को पसंद नहीं करेंगे। किंतु क्षमा कीजिए, जो कुछ कहा जाता है, वह परिस्थिति का पूर्ण परिचय करने के अनंतर ही। समिति ने मध्य-भारत के "लेखक और कवि"-नामक निबंध लिखने का मुझे साग्रह अनुरोध किया है, किंतु वर्तमान मध्य-भारत के लेखकों की कृतियों की आलोचना करना मेरे लिये छोटे मुँह बड़ी बात होगी। इस समय मध्य-भारत के प्रायः जितने भी लेखक और कवि हैं, वे प्रसिद्ध लोकोक्ति के अनुसार 'बन चुके' हैं। कोई राजनीतिक चर्चा के उलझन में हैं, कोई ग्रंथ-लेखन की फ़ैक्टरियों के मालिक बन बैठे हैं, और कोई नाम कमाने को काम करना जानते हैं। माता की सेवा करने की जिनमें सच्ची लगन है, वे किसी एक ही विषय को अपनाकर यथासाध्य उसे पूर्ण करने की चेष्टा करते रहते हैं। हमारे मध्य-भारत में ऐसे भी सज्जन हैं, जो सर्वथा सम्माननीय हैं। कभी-कभी आलोचना करना पारस्परिक व्यवहार के लिये घातक होता है। कहीं उसमें किसी को द्वेष टपकता दिखाई देता है, कहीं आत्मश्लाघा। अतः हम उस उलझन में न पड़कर प्राचीन खँडहरों के सौरभयुक्त पुराने पुष्पों का पराग ही साहित्य-मधुकरों को अर्पित करते हैं।

आधुनिक हिंदी की माता सौरसेनी का चाहे मध्य-भारत में दौरदौरा न रहा हो, किंतु हिंदी-साहित्य के इतिहास की खोज से यह साबित हो चुका है कि हिंदी के आदिकवि पुष्य महोदय हमारे मध्य-भारत ही के निवासी थे। हिंदी का बीजारोपण मध्य-भारत ही में हुआ है, क्या हम मध्य-भारतवासियों के लिये यह कम गौरव की बात है ? राजा भोज के पूर्वज राजा मान का आश्रित अवंतिका-निवासी कविवर पुंड उर्फ़ पुष्य संवत् ७७० के लगभग हो गए हैं। उनके अनंतर महाकवि "चंद" से लगाकर गोस्वामी तुलसीदासजी के समय तक यद्यपि हमारे मध्य-भारत में कोई विशेष प्रसिद्ध कवि नहीं हुए हैं, तथापि इस काल की जो कुछ सामग्री उपलब्ध हुई है, उससे हमारा प्रांत ख़ाली नहीं कहा जा सकता। वर्तमान मध्य-भारत की राजकीय व्याख्या की दृष्टि से यद्यपि बुँदेलखंड-प्रांत का भी हमारे प्रांत मध्य-भारत ही में अंतर्भाव किया गया है, तथापि हम इस बात के क़ायल नहीं। बुँदेलखंड एक स्वतंत्र प्रांत है। हाँ, हमारी दृष्टि से वर्तमान मध्य-प्रदेश तथा राजपूताने का कुछ भाग अवश्य ही मध्य-भारत कहा जा सकता है। यदि बुँदेलखंड के कवि भी मध्य-भारतीय ही माने जायँ, तो संवत् १०७९ के कालिंजर-नरेश राजा नंद, महोबा-निवासी आल्हा के प्रणेता जगनिक, रोवाँ-निवासी सेना नाई, महाकवि केशवदास आदि की कृतियों के कारण हमारा मध्य-भारत हिंदी-साहित्य के इतिहास में विशेष स्थान प्राप्त करेगा। किंतु पराजुष्ट होने की अपेक्षा स्वकष्टार्जित पर ही संतोष करना नीतियुक्त है। अतः हम केवल मध्य-भारत के ही कवियों का गुणगान करेंगे।

मध्य-भारत में खोज करने से हमें स्थान-स्थान पर जो अपूर्व ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हुई, उसमें अप्रसिद्ध हिंदी-कवियों की रचना विशेष महत्त्वपूर्ण

है। विगत दस-बारह वर्षों में हम यथासंभव विभिन्न सामयिक पत्रों द्वारा उन्हें प्रकाशित भी करते रहे हैं। मध्य-भारत की ऐतिहासिक खोज में हमें कुछ ऐसी भी कविता प्राप्त हुई, जो परप्रांतीय होने पर भी हमारे प्रांत में सुरक्षित रही और उसको हिंदी-साहित्य के इतिहास में स्थान प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार हमारे मध्य-भारतीय कवियों की कृतियाँ परप्रांतों में भी उपलब्ध हुई हैं। मराठा-राज्य का मध्य-भारत में विस्तार होने के कारण स्वभावतः ही हिंदी-सभ्यता का प्रभाव महाराष्ट्रियों पर भी पड़ा। इसी से महाराष्ट्रियों ने भी पुराने ज़माने से लगाकर आज तक हिंदी की सेवा करने की परम्परा क़ायम रक्खी है। अतः कहना नहीं होगा कि उक्त सभी प्रकार के साहित्य-सेवियों की कृतियों का परिचय इस निबंध के द्वारा कराना हमारा परम कर्तव्य है। हमारे सम्मान्य मित्र ख्यातनामा हिंदी-सेवी श्रीयुत गणेशविहारी मिश्र महोदय के विशेष आग्रह से यह सब सामग्री हिंदी-साहित्य के इतिहास के परिशोधित संस्करण में युक्त कर दी गई है, जिसके शीघ्र ही प्रकाशित होने से प्राचीन साहित्य-क्षेत्र में मध्य-भारत को भी स्थान प्राप्त होने का अवसर मिलेगा। अस्तु।

हिंदी के आदिकवि पुष्य के मध्य-भारत-निवासी होने का हम पीछे उल्लेख कर चुके हैं। शोक की बात है कि उनके अनंतर चौदहवीं शताब्दी तक की कोई ऐतिहासिक हिंदी-सामग्री उपलब्ध नहीं हुई। हाँ, भाषा के विकास की दृष्टि से कुछ शिलालेख और सनदें अवश्य ही महत्त्वपूर्ण हैं, पर पुष्य के अनंतर का कवि कोई प्राप्त नहीं हुआ। मध्य-भारत के दूसरे कवि, जो इस समय की खोज से सबसे पुराने हैं, विष्णुदास थे जो ग्वालियर के महाराज डूँगरसिंहजी के आश्रित थे। ग्वालियर-क़िले पर जो विशाल मूर्तियाँ और चट्टानों पर खुदा हुआ शिल्प मौजूद है, वह महाराज डूँगर-सिंहजी के राजत्वकाल ही का है। विष्णुदासजी का समय संवत् १४९२ निश्चित है। इनके दो ग्रंथ—स्वर्गा-रोहणपर्व और महाभारत-कथा—प्राप्त हुए हैं।

(३) आसकरणदास—यह नरवर-नरेश राजा भीम-सिंह के पुत्र थे। इनका समय संवत् १६०६ है। इनके बहुत-से स्फुट पद पाए जाते हैं। इन्हीं महाराज के वंशज छत्रसिंह, रामसिंह आदि राजाओं के ग्रंथ हमें प्राप्त हुए हैं, जिनका उल्लेख यथासमय किया जायगा।

(४) रामदास—इनका समय संवत् १६०७ है। यह अच्छे गवैए और कवि थे, और बादशाह अकबर के दरबार में रहते थे।

(५) तानसेन—भारतवर्ष में विरला ही मनुष्य होगा, जिसने तानसेन का नाम न सुना हो। गायन-विद्या के द्वारा हिंदी-भाषा का गुण-गान तथा प्रचार जितना तानसेनजी ने तथा उनके पदों ने किया, उतना सौभाग्य अन्य किसी को नहीं प्राप्त हुआ। इनके ग्रंथ संगीत-सार और राग-माला प्रसिद्ध हैं। इनका समय संवत् १६१७ निश्चित है। महाकवि सूरदासजी ने तानसेन के विषय में कहा है—

> बिधना यह जिय जानि कै, सेसहिं दिए न कान।
> धरा मेरु सब डोलते, तानसेन की तान॥

यह कहावत अक्षरशः सत्य है। कवियों के गुण-गायक के नाते—

> तानसेन की तान अभी तक, आत सुनाती।
> जित-तित हिंदी-भाषा का गुण-गान गँवाती॥

हमारे इस कथन पर भी आशा है कि किसी का मत-भेद न होगा।

(६) श्रीगोविंद स्वामी—यह ग्वालियर के निकटस्थ आंतरी-नामक स्थान के निवासी थे और बल्लभ-सम्प्रदाय के स्वामी बिट्ठलनाथजी के शिष्य थे। इनका समय संवत् १६२३ निश्चित है। इनकी कविता बड़ी मनोहारिणी है, इसी से अष्टछाप में भी उसे स्थान मिला है। यथा—

> प्रात समय उठि जसुमति जननी, गिरधर सुत को उबटि नहावति।
> करि शृंगार बसन भूषण सजि, फूलन रचि-रचि पाग बनावति॥
>
> × × ×
>
> लै दर्पन देखै श्रीमुख को गोबिंद प्रभुचरणन सिर नावति॥

(७) खड्गसेन—यह जाति के कायस्थ ग्वालियर के निवासी थे। इनके ग्रंथ दानलीला और दीपमालिका प्राप्त हुए हैं। रचना-काल संवत् १६८५ है। सुप्रसिद्ध ग्रंथ नाभा-दासजी के भक्तमाल की टीका में संभवतः इन्हीं भक्त कवि खड्गसेनजी का वर्णन दिया है।

(८) कनकप्रभ सूरि—यह नरवर के निवासी थे।

इनका लिखा हुआ हिंदी-गद्य-पद्य-युक्त वैद्यक ग्रंथ हमें मिला है । ग्रंथ-रचनाकाल संवत् १५३० है ।

(६) हरिनामजी—इस कवि का संवत् १५५८ का गीता-ज्ञान-प्रकाश-नामक एक ग्रंथ हमें मिला है, जिसमें गीता की विविध छंदों में टीका लिखी हुई है । यह उज्जैन के निवासी थे ।

यह हुई सोलहवीं शताब्दी की बात ।

(१०) सत्रहवीं शताब्दी में नासिकेत-कथा के लेखक जयचंद्र, वैद्यमनोत्सव के लेखक नैनसुख, भक्तप्रिया के लेखक अनंत, भारत-इतिहास-सार के लेखक लालदास, संकटचौथ के लेखक शुक्रजी, वृंदावनशतक तथा बाल-बिहारी के रचयिता रसिकजी, ढोला-मारू की कथा के लेखक चैतराम (१६७३) तथा ग्वालियर के महाकवि सुंदर,जो बादशाह शाहजहाँ के आश्रित थे, मध्य-भारत के मुख्य कवि हैं । इनके ग्रंथ तथा स्फुट कविता हमारे संग्रह में मौजूद है । इन कवियों में रसिकजी तथा सुंदरजी विशेष प्रतिभा के कवि और हिंदी-साहित्य के इतिहास में आदरणीय कहे जा सकते हैं । रसिकजी की कविता का नमूना लीजिए—

रूपसुधा आसो पिये, कछु सम्हार नहिं अंग ।
जाकी छकि सी फिरति सब, बाल बिहारी संग ॥
झुकत चलत लत नवल तल, चकित कोमल अंग ।
ताते कर सों कर गहे, बाल बिहारी संग ॥

तथा महाकवि सुंदर ने—

नगरु आगरो बसत जहँ, जमुना तट सुभ थान ।
तहाँ बादसाही करे, सुंदर साहिजहाँन ॥
× × ×
प्रथम दियो कबिराज पद, बहुरि महा कबिराय ॥
बिप्र ग्वालियर नगर को, बासी है कबिराज ।
जासों साहि मया करे, सदा गरीबनेवाज ॥

महाकवि सुंदर के ग्वालियर के वंशजों से हमें सुंदर श्रृंगार, बारहमासा के अतिरिक्त कुछ स्फुट कविता भी मिली है ।

अठारहवीं शताब्दी में मध्य-भारत के कवियों में छंदमाला - रचयिता केशवराय, छंदशास्त्र - रचयिता गोविंददास, मदनमोहन, ब्रह्मविलास के रचयिता भगवतीदास, अध्यात्मप्रकाश के रचयिता सुखदेव, नासिकेत के रचयिता जगन्नाथ, कोकशास्त्र के रचयिता इंद्रजीत, लालदास, प्रेमरत्नाकर के रचयिता देवीकवि, कविवर बिहारीदासजी, विष्णु, भगवानदास निरंजनी, सुखदेव, विक्रमविलास के रचयिता गंगेश मिश्र (१७३६),करुणा-नाटक के रचयिता लक्ष्मीराम (१७९१), वीरेश्वर, भागीरथ, विक्रमचरित्र के लेखक जिन-चंद्र (१७२४), उपाहरण के लेखक महाराज हरिसिंह (१७०५), माधवदास, माधव, रामचंद्र, परिमल, केशवानंद, देवीसिंह, गोपालसिंह, हेमराज, स्वरूपानंद, जगत्सिंह, ढोला-मारू के रचयिता पूरण (१७७२), मधु-मालती और मैनासतकोप्रसंग के लेखक गोवर्धन, वेश्या प्रवीणराय ये मुख्य हैं । इन कवियों में ग्वालियर के निवासी बिहारीलालजी के विषय में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि हिंदी-साहित्य में उनका नाम अमर है । महाराज हरिसिंह और देवीसिंह की कृतियाँ राजकवि के नाते प्रशंसनीय हैं । कविवर देवी ने महाराज गोपालसिंह करौली-नरेश के लिये "प्रेमरत्नाकर"-नामक एक अनूठे ग्रंथ की रचना की है, जिसमें वर्णित प्रेम की मीमांसा देखने ही योग्य है । अन्य-अन्य रचनाएँ और उनके रचयिता भी हिंदी-साहित्य के इतिहास में अंकित करने योग्य हैं ।

उन्नीसवीं शताब्दी में तो मध्य-भारत के हिंदी-कवियों की संख्या विपुल रूप में दिखाई देती है और उनकी बड़ी लंबी-चौड़ी सूची यहाँ दी जा सकती है । उन कवियों के ग्रंथ हमारे संग्रह में हैं और उनके विस्तृत नोट्स भी लिखे जा चुके हैं । कोलारस-निवासी फतहसिंह ने आधुनिक अकाउंट्स और कारस्पोंडेंस अर्थात् सरकारी दफ़्तरों में हिसाब-किताब और पत्र-व्यवहार करने की जो प्रणाली थी, उसका वर्णन अपने दफ़्तर-नामे में किया है । रतनेश का कान्ताभूषण श्रृंगार-शास्त्र का अच्छा ग्रंथ है । नरवर के कछवाहा-नरेश महाराज रामसिंह स्वयं कवि थे और कवियों के बड़े आश्रयदाता थे । महाराज का लिखा हुआ "जुगुलविलास" ग्रंथ हमें मिला है और इनके आश्रित राम कवि का रस-भेद, हरि कवि की रसमंजरी, नैनसुख की रावनवलसिंह की बाराखड़ी आदि कृतियाँ भी प्राप्त हुई हैं । ग्वालियर के कवि खड्गसेन हमारे हिंदी के कलहण कहे जा सकते हैं । इनका लिखा "गोपाचल-आख्यान"-नामक ग्रंथ अनूठा है । उसमें ग्वालियर-क़िले की नींव पड़ने

समय से, संवत् १८४० में महाराज महादजी के ग्वालियर-दुर्ग जीतने तक का वर्णन अर्थात् लगभग २००० वर्ष तक की घटनाएँ, अनेक राजवंशों और पुरुषों का वर्णन, अलतमश की चढ़ाई के समय के जौहर का वर्णन किया है। जगन्नाथ का हरदौल-चरित्र, बख्तावर का "रसविनोद", महेश कवि का हमीररहठ-काव्य, हरि की राजनीति, बारहट नरहरिदास का "रामायण महाभुक्ति", जगत्सिंह का रसविलास, लालमणि का रस-विलास, दीनदयाल का बुधजनसतसैया, शिव कवि का दौलत-विलास, ऐन कवि की कुंडलियाँ और हाजी कवि का हाजीवलीनामा, नवाब ईस्वीख़ाँ की बिहारी-सतसई की टीका (जो नरवर-नरेश छत्रसिंह के आज्ञानुसार लिखी), केवलकिशन की फिरंगी की लड़ाई, मदनगोपाल की रासपंचाध्यायी, जिनदास का नामकोष, पद्माकर का "आलीजाहप्रकाश" विशेष उल्लेखनीय हैं। मन्नू कवि का यशवंतराव होलकर का वीररसात्मक वर्णन—

इतना जाकर कहो फिरंगी, क्यों तेरी शामत आई।
यशवंतराव हुलकर के मरते, अंग्रेजों की बन आई॥

अनूठा है, तथा—

महाराज को खबरा पहुँची जा बकरीं में नाहार पड़ा।
गपागप जब भाले मारे, फिरंगी का सिर फोड़ा॥
शाहवाजी यशवंतराव, बहादर सवाई डंका बजा दिया।
मंदसौर से मारा, फिरंगी जा जमुना के पार किया॥

नामक हरिबाला कवि का रचा हुआ गीत ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। इस शताब्दी में मराठों का मध्य-भारत में प्रभाव स्थापित हो चुका था। हर्ष की बात है कि कई मराठे महाराजा तथा साधुओं की भी हिंदी-रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं। यहाँ पर यह बात बतलाना भी आवश्यक है कि कई हिंदी-कवि मराठा राजा-महाराजाओं के भी आश्रित थे।

श्री बँसुरिया बाँस की, छलि तप कीन्यों कौन।
उन अधरन लागी रहै, हम चाहति हैं नौन॥

जैसी महाराज महादजी शिंदे की मधुर हिंदी-कविता की पंक्तियों के लेखक द्वारा प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके पुत्र महाराज दौलतराव, दत्तनाथ उज्जैनवाले, महाराज यशवंतराव के गुरु महिपतिनाथ (टोबी बुवा), समर्थ रामदासजी के शिष्य कल्याण स्वामी के वंशज, ग्वालियर-निवासी लक्ष्मण महाराज, महाभारती, बाल-कृष्ण बुवा केशव आदि महाराष्ट्रीय साधुओं की बहुत-सी रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं। गुलाब कवि आंतरी-निवासी के कन्हैयारायसो और खंडेरावरायसो प्रकाशित हो जाने पर हिंदी में वीर-रस की अच्छी वृद्धि होगी। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य-भारत के हिंदी-कवियों ने शिक्षा, समाज, धर्म, राजनीति और साहित्य के प्रायः सभी अंगों और उपांगों पर रचना की है, जो निस्संदेह प्रशंसनीय है। स्थानाभाव के कारण प्रत्येक कवि की कृति और उनके नाम का परिचय इस छोटे-से निबंध के द्वारा कराना असंभव है।

बीसवीं शताब्दी में यद्यपि साहित्य की दिशा पलटी और अँगरेज़ी सभ्यता के प्रभाव के कारण पद्य और गद्य-रचना में ख़ासा परिवर्तन हो गया, तथापि इस शताब्दी के आरंभिक दिनों में तो पुराने ढर्रे की रचना भी हुई है। नरसिंह मेहता के रचयिता मीरादास, कमलावती की कहानी के लेखक रामाजी दादा, वशिष्ठसार के रचयिता वासुदेव, वैद्यराज के रचयिता जनार्दन भट्ट, स्फुट काव्य के रचयिता रामचंद्र, सुखलाल, हीरालाल आदि कवि उल्लेखनीय हैं। पुराने और नए लेखकों की प्रणाली की सीमा पर मालवे के कवि, ग्रामीण-नाट्य उर्फ़ माच के जन्मदाता, बालमुकुंदजी हुए। यद्यपि उनकी रचना नगण्य है, तो भी भाषा का प्रचार करने और प्राचीन उपाख्यानों को आधुनिक स्वरूप में लोगों के सामने रखने में उन्होंने ख़ासा काम किया है। आधुनिक लेखकों में ग्वालियर के मेरे सम्माननीय मित्र स्वर्गीय गणपति जानकीराम दुबे हिंदी के बड़े हितैषी थे। आपके लिखे "जीवन के आनंद", "सरल गीता", "मनोविज्ञान" आदि ग्रंथ और निबंध विशेष उल्लेखनीय हैं। ठा० सूर्यकुमार वर्मा की भी कई अनुवादित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। स्व० निहालचंद्रजी गौड़ ने इंजीनियरिंग पर दो पुस्तकें लिखकर हिंदी के उस विषय को भी अछूता नहीं छोड़ा। मुंशी चतुरबिहारी-लालजी की हिंदी-पाठ्य-पुस्तकें, श्रीयुत रघुनाथ बलवंत भागवतजी के छोटे-मोटे ग्रंथ, श्रीगंगाधरजी जोशी की पुस्तिकाएँ तथा उनके पिता के भूगोल आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। 'जयाजी प्रताप' के संपादक के नाते बाबा रामचंद्र गुप्त तथा मुंशी रामस्वरूप माथुर भी हिंदी-प्रेमी हैं। प्रताप जैसे उत्कृष्ट पत्र को जन्म देने का श्रेय

ग्वालियरी गणेशशंकरजी विद्यार्थी को है। केशवरामजी जोशी की 'अहिल्याबाई की जीवनी' मनोरंजन ग्रंथ-माला काशी में प्रकाशित हो चुकी है। पंडित प्राणनाथ साहब रायबहादुर भी अच्छे लेखक हैं और लाला रामजीदास वैश्य के "काँटों में फूल", "धोखे की टट्टी" उत्कृष्ट उपन्यास कहे जा सकते हैं। उज्जैन के परशुराम कृष्णजी वैद्य और इतिहासज्ञ ठा० कन्हैयालालजी के लेख भी प्रकाशित हो चुके हैं। आगर के गणेशदत्त शर्मा जी ने लगभग एक दर्जन छोटी-बड़ी किताबें लिखी हैं।

पं० सिद्धनाथजी आगर के ही निवासी हैं। आपने दैनिक देशबन्धु तथा साप्ताहिक कर्मवीर के द्वारा मध्य-भारत की अच्छी सेवा की है। यदि सिद्धनाथजी स्थायी साहित्य-रचना की ओर भी ध्यान दें, तो उनकी योग्यता को देखते हुए आशातीत रूप में वह सफल होंगे। पंडित हरिभाउजी उपाध्याय हिन्दी नवजीवन तथा मालवमयूर के द्वारा ख्याति पा चुके हैं। आपको भी साहित्य-सेवा की पूरी धुन है और निस्संदेह योग्य और कर्म-तत्पर हैं।

बाबू शंकरलालजी वर्मा प्रणवीर, तरुण राजस्थान आदि के द्वारा हिंदी-साहित्य-सेवियों की पंक्ति में प्रविष्ट हो चुके हैं। ग्वालियर-राज्य की वर्तमान पाठ्य-पुस्तकों की रचना के कारण पं० ज्वालादत्तजी जोशी येन केन प्रकारेण मध्य-भारत के दो लेखकों में सम्मिलित हो गए हैं। प्रताप और प्रभा के संपादक और हिंदी के उच्च कोटि के कवि के नाते श्रीयुत नवीन उर्फ़ बालकृष्ण शर्मा जी भी हमारे ग्वालियर की ही उपज हैं। भ्रमर और सुदर्शन के भूतपूर्व तथा विद्या के वर्तमान संपादक गोपीवल्लभजी मालवीय ही हैं। महन्त लक्ष्मणाचार्यजी की हिन्दी सरस कविताएँ तथा गौरीशंकरजी शुक्ल के ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। इंदौर के स्व० शिवचंदजी भरतिया प्रतिष्ठित लेखकों में से थे। आपके विचार-दर्शन आदि ग्रंथ अनूठे हैं। श्रीयुत द्वारकाप्रसादजी सेवक ने इंदौर में रहकर नव-जीवन पत्र तथा ग्रंथ के द्वारा हिंदी की अच्छी सेवा की है। सुखसम्पतिरायजी तथा उनके अनुज चंद्रराज भंडारी भी ग्रंथ-लेखन का कार्य कर रहे हैं। सूरजमलजी जैन भी हिन्दी के अच्छे लेखक हैं। प्रयागनारायणजी संगम, विष्णुप्रसाद शर्मा भी, विल्लौरेजी आदि स्फुट लेखक और कवियों ने भी हिन्दी के द्वारा यथा[...] सेवा की हैं। इंदौर के महाराष्ट्रीय विद्वान् सरवटे म[...] शय भी हिंदी के लेखक हैं। हमारे डाक्टर सरजूप्रसा[...] साहब की हिंदी-हितैषिता तो मध्य-भारत के हिंदी [...] इतिहास में कभी भूली नहीं जा सकती। धार [...] नंदकिशोरजी दुबे भी साहित्य-सेवी हैं, तथा महारा[...] होने पर भी अपने 'मार्तंड' साप्ताहिक पत्र के द्वा[...] हमारे मित्र शंकररावजी ओक हिंदी-प्रचार का सा[...] प्रयत्न कर रहे हैं।

सारंगपुर से भी गौड़-हितैषी पत्र निकला था, [...] अब मालवमयूर में सम्मिलित हो गया है। अस्तु।

उक्त उल्लिखित मध्य-भारत के आधुनिक हिं[...] सेवियों के अतिरिक्त और भी कुछ स्फुट लेखक और क[...] मध्य-भारत में मौजूद हैं; किंतु अभी उन्होंने कोई वि[...] स्थान हिंदी-साहित्य-संसार में नहीं प्राप्त किया है। अस्तु

उक्त विवरण से पाठकों को ज्ञात हो जायगा कि क[...] हमारे मध्य-भारत का प्राचीन उज्ज्वल हिंदी-साहि[...] और कहाँ वर्तमान साहित्य की दशा ! पाठक एक [...] चित्र भी देखें और एक यह चित्र भी। अवश्य ही [...] तरस खाएँगे और हमारे आरंभिक उद्गारों की यथा[...] पुष्टि भी करेंगे। आधुनिक काल में मध्य-भारत [...] केवल ग्वालियर ही ने आंशिक रूप में हिंदी की प्राची[...] परंपरा क़ायम रक्खी है। समाचारपत्र और मासि[...] पत्रों के संपादक, स्वतंत्र ग्रंथ-लेखक और अनुवाद[...] कवि, आत्मश्लाघा का ख़याल न करते हुए मैं दावे [...] साथ कह सकता हूँ, हमारे ग्वालियर ही ने मध्य-[...] भारत को प्रदान किए हैं; पर साथ ही अ[...] स्थान के साहित्य-सेवियों की सेवा भी कदापि उपेक्षणी[...] नहीं है। आशा है, हमारे मध्य-भारतीय साहित्य-सेवी[...] बन्धु भविष्य में विशेषरूपेण माता सरस्वती की से[...] करके हिंदी-साहित्य के इतिहास में मध्य-भारत [...] लिये विशेष स्थान रिज़र्व कराने की चेष्टा करेंगे।

अन्त में मध्य-भारत-हिंदी-साहित्य-समिति [...] द्वारा स्थायी साहित्य के रूप में हमारे प्राचीन साहि[...] को प्रकाशित करने के प्रीत्यर्थ एकआध ग्रंथमाला त[...] साहित्य-चर्चा के प्रचार के लिये एकआध त्रैमासिक प्र[...] शित करने की सूचना करता हुआ मैं इस निबंध को सम[...] करता हूँ।

भास्कर रामचन्द्र भाले[...]

महाशक्ति !

(१)

...दे कृपाण से कराली बैरियों का शीश,
...ी, कुचालियों को ख़ाक में मिला दे तू ।
...ी, दग़ाबाज़ों का मिटा दे नाम अम्बे ! शीघ्र,
...नों को "सेवक" सुमन-सा खिला दे तू ।

रेज़े-रेज़े कर दे कलेजे कुविचारियों के,
भाग्य से कृपा का वर भक्त को दिला दे तू ।
क्रूर औ कृतघ्नियों को काल के हवाले कर,
सच्चे प्रेमपात्रों को पियूष माँ ! पिला दे तू ।

(२)

काले-हृदयों में धर दे तू कालकूट आज,
और कालिमा को माँ ! समूल छार कर दे ।
साहस-अजेय, शक्ति-विजय-अखंड देके—
"सेवक"—सुयश को दिगंत में तू भर दे ।

न्यायदंड लेके, न्याय कर दे हमारा शीघ्र,
गृद्ध को मसान, हंस को तू मानसर दे ।
मेरे शत्रुओं को काट-काट के कलेवा कर,
सुजन-सनेहियों को कर तू अमर दे ।

रामसेवक त्रिपाठी

कृतघ्नता

...ी थी वन-वाटिका, नित उसे तेरा रहा आसरा ;
...भी रे मदमत्त कुंजर ! अरे, तूने न सोचा ज़रा ।
...वो ! भरशक्ति भक्षक बना उन्माद में लीन हो ;
...ये मूल—समूल नाश करके—खाके हुआ पीन यों ।
...टे-से अँकुए अशक्त तक को तूने, कृतघ्नी, दला ;
...भी है जगदीश की कुछ कृपा तेरा किया क्या चला ।
वे ही अंकुर आज वृक्ष वनके हैं व्योम को चूमते ;
तू क्या है—कितने अनेक तुझ-से तृष्णा लिए घूमते ।
आशा का यह पिंड किंतु नत हो ज्योंही गिरेगा सखे !
ये शाखामृग वन्य जंतु, फिर भी, प्रेमार्द्र होके सखे .
डालेंगे झट शीश और शव पै—तेरे न पाप हुए—
पुष्पों की प्रिय अंजली समुद हो छाती लगाए हुए ।

मातादीन शुक्ल

नृसिंह-नाद

(१)

पीछे हटने का नाम लेना समझूँगा पाप,
मन में सभी के शुद्धि भक्ति को जगाऊँगा।
गाऊँगा सदैव गुण-गान भव्य-भारती के,
संगर में साहस अजेय दिखलाऊँगा।
लाऊँगा तड़ाक तोड़ तारे आसमाँ से और–
शंकर-सुरेश के भी आसन हिलाऊँगा।
लाऊँगा नवीन-युग विश्व में "प्रताप कवि"
होके विजयी, मैं बाजे जय के बजाऊँगा।

(२)

तप्त होके त्याग-अग्नि में ही ये सुवर्ण-प्रेम-
खरा निकलेगा ; शोभा अपनी बढ़ाऊँगा।
ढाऊँगा महान अभिमान अपकारियों का,
प्रण को "प्रताप" प्राण रहते निभाऊँगा।
भाऊँगा सभी को, यश अपना अमर होगा,
सर होगा समर, वो लगन लगाऊँगा।
गाऊँगा अनंत-आदि-शक्ति के गुणानुवाद,
मंजु-मुक्ति पाके, मुक्ति-मूर्ति बन जाऊँगा।

कुमार प्रतापनारायण



आलोचना और पुस्तक-परिचय

महाकवि सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास
(तुलनात्मक समालोचना)
(१)

दृढबद्धौ भवाब्धौ यद् गाथासेतू सुविस्तरौ ।
तुलसी सूरदासौ च वन्दे तौ पुरुषोत्तमौ ॥

सूर्यास्त के बाद चंद्रदेव अपनी किरणों से जगत् को शीतल करते हैं, सूर और तुलसी भी साहित्याकाश के सूर्य-चंद्र हैं; पर उनके उदय का क्रम सूर्य-चंद्र से भिन्न है—इन दोनों सूर्य-चंद्रों का उदय एक साथ ही हुआ था। साहित्याकाश में इन चंद्र-सूर्य का प्रताप लौकिक चंद्र-सूर्य से कुछ कम नहीं है।

"सूर सूर तुलसी शशी" वाला दोहा बहुत काल से प्रसिद्ध है और आज तक लोग इस तुलना को यथार्थ मानते हैं। हम भी यह मानते हैं कि हिंदी-जगत् के लिये ये दोनों महाकवि चंद्र-सूर के समान हैं। पर हमारी समझ में नहीं आता कि किसको सूर्य कहें और किसको चंद्र। उक्त दोहाकार ने, मालूम नहीं, किस कारण से सूरदास को सूर्य और तुलसीदास को चंद्र की उपमा दी थी। शायद "सूर" और "सूर" शब्दों में समता होना भी इसका एक कारण है। प्रखरता सूर्य का और सरसता चंद्र का प्रधान गुण है। इन गुणों के अनुसार यदि हम जाँच करें, तो क्या सूरदास में सरसता का अभाव है?

हमारी क्षुद्र बुद्धि से तो यह उपमा पूर्णरूप से उपयुक्त नहीं है। हम समझते हैं कि प्रताप और प्रभाव की दृष्टि से दोनों ही कवि सूर्य के समान और सरसता और सुशीलता की दृष्टि से दोनों ही चंद्र के समान हैं। अतः हम केवल यही कह सकते हैं कि सूर और तुलसी हमारे सूर्य-चंद्र हैं।

सूर्य-चंद्र कहने में गुरुता-लघुता या छुटाई-बड़ाई का भी ख़याल होता है। इसी दृष्टि से बहुत-से लोग तुलसीदास को सूरदास से नीचा स्थान देते हैं। इस विषय पर कुछ सम्मति देने के लिये हम अपने को सर्वथा अनुपयुक्त समझते हैं। दो महाकवियों में से एक को छोटा और दूसरे को बड़ा कहना हम अपने अधिकार से बाहर की बात समझते हैं। हमारी बुद्धि दोनों महात्माओं की प्रतिभा पर इतनी मुग्ध है कि वह बड़ाई-छुटाई का अनुमान ही नहीं कर सकती। हम यहाँ दोनों कवियों की विशेषताएँ बताकर उन्हें तुलनात्मक दृष्टि से देखने का प्रयत्न करेंगे। हम पहले दोनों महात्माओं के जीवन के विषय में कुछ विचार करेंगे।

इन दोनों ही भक्तों का स्थिति-काल लगभग एक-सा ही है (सूर० १५४५-१६४२ तथा तुलसी० १५८६-१६८० वि०)। ये सम-सामयिक थे। जिस समय की आवश्यकता ने सूरदास को जन्म दिया, उसी ने तुलसीदास को उत्पन्न किया। दोनों का जन्म एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिया हुआ था। उत्तर-भारत में भक्ति का स्रोत बहाना ही दोनों का जीवनोद्देश्य था। इस व्रत को इन्होंने अपनी कविता-सरिता से पूर्ण किया। एक ने राम-रस की सरिता बहाई, दूसरे ने कृष्ण-भक्ति का नद।

दोनों भक्तराजों के स्थान भी समीप ही थे और उनका समय-समय मिलन भी होता रहता था। इनके मिलन के विषय में कई तरह की कथाएँ प्रचलित हैं, जिनके उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं।

तुलसीदास की कई जीवन-घटनाएँ ऐसी हैं, जो सूरदास की जीवन-घटनाओं से मिलती-जुलती हैं। जो कथाएँ तुलसीदास के विषय में सुनी जाती हैं, उन्हीं के साथ सूरदास का भी संबंध जोड़ा जाता है। स्त्री की आसक्ति में मुर्दे को नाव बनाना, साँप को डोरी समझना आदि ऐसी ही कथाएँ हैं, जो दोनों के विषय में कही जाती हैं।

यदि कथाएँ छोड़ भी दी जायँ, तो भी यह निश्चय ही है कि दोनों का जीवन भक्त जीवन था। भक्ति-तल्लीनता ही दोनों भक्तों की विशेषता है। इसका परिचय दोनों की कविता से मिलेगा।

दूसरी बड़ी भारी समता यह है कि ये लोग जितने बड़े भक्त थे, उतने ही ऊँचे कवि भी थे। यहाँ तक कि हिंदी में इन दोनों की समता का कोई दूसरा कवि नहीं।

अपने-अपने इष्टदेव की भक्ति में दोनों ही मन-प्राण से तल्लीन थे। अपने हृदय-सम्राट् की लीला आदि के वर्णन ही में सूरदास ने सूरसागर-सरीखे बृहत् ग्रंथ की रचना कर डाली और तुलसीदासजी ने भी अपने सभी ग्रंथों को राममय बना डाला।

भक्ति

अपने इष्टदेव के प्रति अनन्यता होते हुए भी ये भक्तगण दूसरे देवों के द्वेषी न थे, विशेषकर राम और कृष्ण को ये महात्मागण एक ही समझते थे। तुलसीदास ने अपने इष्टदेव के अतिरिक्त श्रीकृष्ण की लीलाओं का भी गान किया है और सूरदास ने अपने बालगोपाल की विस्तृत गाथा गाते हुए राम-चरित्र का भी वर्णन किया है। उन्होंने राम शब्द को अनेक बार ईश्वर के अर्थ में व्यवहृत किया है।

चरित-नायक

दोनों ही के चरित-नायक परब्रह्म के अवतार थे। उनके मनुष्य-चरित्र-वर्णन करते हुए भी उनके ईश्वरत्व का बराबर स्मरण रक्खा गया है और पाठकों को इसकी याद बनाए रखने के लिये इसी बात पर बार-बार ज़ोर दिया गया है।

इस पर मिश्रबंधु कहते हैं—

"गोस्वामीजी को ईश्वरत्व प्रदर्शित करने का बड़ा शौक़ था, पर दुर्भाग्यवश उनके नायक राम ने ऐसा बहुत ही कम किया है। इधर सूरदासजी को इसका वर्णन बिलकुल नहीं रुचता था, पर श्रीकृष्णचंद्र का यह शौक़ बहुत चढ़ा-बढ़ा था और जब देखिए तभी वे अपना ईश्वरत्व दिखलाया ही करते थे।" (हि० न०, पृ० ४५)

हमारी समझ में श्रीराम और कृष्ण दोनों ने अपना ईश्वरत्व छिपाकर रक्खा था, क्योंकि उन्हें मनुष्य-चरित्र करना था (हाँ, कभी-कभी अवसर पड़ने पर वे उसे अवश्य प्रकट करते थे); पर उनके भक्त कवि तुलसी और सूर ने इस ख़याल से कि कहीं मनुष्य-चरित्र में लोग उनके ईश्वरत्व को भूल न जायँ, बार-बार इस बात का स्मरण कराया है। यहाँ तक कि कभी-कभी यह बात बहुत-से लोगों को खटकने लगती है। मिश्रबंधु भी इस बात से उकता उठते हैं—

"यह बात ऐसे भोंड़े प्रकार से वे सैकड़ों बार स्मरण

दिखाते हैं कि जी उकता उठता है और यह जान पड़ता है कि गोस्वामीजी पाठक को इतना बड़ा मूर्ख समझते हैं कि कितने ही बार याद दिलाने पर भी वह राम का ईश्वरत्व भुला देगा, अतः उसको पुनः-पुनः स्मरण दिलाने की आवश्यकता है।" (हि० न०, पृ० १५६)

भक्तों का जी उकताने ही वाला है, भला उन्हें कहीं राम-महिमा का बार-बार कथन अच्छा लग सकता है! भक्त हृदय अपने प्रभु की महिमा अनंत बार कहकर भी नहीं अघाता।

आप लोग कहते हैं—"सूरदास में यह बात नहीं है। वे एक-दो बार स्मरण दिलाने को ही समझते हैं, जब श्रीकृष्णचंद्र को स्वयं अपना ईश्वरत्व दिखाने का मौक़ा था। उन स्थानों को छोड़कर सूरदास ने उनका ईश्वरत्व मौक़े-बेमौक़े नहीं दिखाया है।"(पृ० १५६)

इसी पर से आप तुलसीदास को "संकीर्ण हृदय" तक कह डालते हैं।

"......सूरदास ऐसे संकीर्ण हृदय न थे कि यदि उनका कोई नायक या उपनायक स्वयं उनकी राय के प्रतिकूल कुछ कहता, तो उनसे गोस्वामी तुलसीदास की भाँति बिना अपनी राय प्रकाश किए न रहा जाता।" (हि० न०, पृ० १७१)

अपने इष्ट के गुण गाना और बार-बार उसकी तारीफ़ करना जिनको "संकीर्ण हृदयता" मालूम पड़ती है, उनका हृदय अवश्य ही बहुत संकीर्ण होना चाहिए—उस संकीर्ण हृदय में भक्ति-तल्लीनता को समझने की शक्ति कहाँ ?

तुलसीदास ने सूरदास की अपेक्षा अपने नायक के ईश्वरत्व पर अधिक ज़ोर दिया है, उसका कारण यही है कि राम के ईश्वरत्व पर उनका सदा ध्यान रहता था और प्रेमाधिक्य के कारण वे भाव उनके मुख से बार-बार निकल पड़ते थे। सूरदास के भक्ति-भाव में ज़रा अंतर है, वे कृष्ण को ईश्वर तो मानते थे; परंतु उनकी उपासना सखा-भाव की थी। अतः इस भाव-तल्लीनता में वे उनके ईश्वरत्व का ध्यान कभी-कभी भूल जाते थे। दोनों भक्तों की तल्लीनता पूरी थी, पर वह अलग-अलग भावों से थी। इस उपासना-भेद का उल्लेख मिश्र-बंधुओं ने भी किया है—"गोस्वामीजी की भक्ति दास-भाव की थी और इनकी साख्य भाव की। ये महाशय श्रीकृष्णचंद्र को अपना मित्र समझते थे और इसी कारण इन्होंने राधाजी को भी भला-बुरा कहा है और जब श्रीकृष्ण कोई बेजा बात करते थे, तब उन्हें भी सूरदास डाँट देते थे।" (हि० न०, पृ० १५६)

इस उपासना-भेद को जानकर भी वही बात—

"यद्यपि सूरदास स्वयं श्याम के भक्त थे, तथापि उन्होंने गोपियों के मुख से काले की ख़ूब निंदा कराई है और अंत पर्यंत किसी स्थान पर भी तुलसीदास की भाँति कोई सिफ़ारिशी छंद नहीं लिखा।" (हि० न०,पृ० १७१)

शोक है, मिश्रबंधुओं ने इस प्रेम-उपालंभ को "निंदा" समझ लिया।

यह निंदा नहीं, प्रेम-तल्लीनता है जो कि बिना सूरदास के समान सख्य-भाव-पूरित भक्त हृदय रक्खे समझ में नहीं आ सकती। आप न सूरदास का सख्य-भाव समझे और न तुलसीदास का दास-भाव और इसी कारण आप सूर की प्रेममय चुटकियों को "निंदा" और तुलसी के भक्त-उद्गारों को "सिफ़ारिश" कहते हैं। अस्तु।

भक्ति-उद्गार

कहा जा चुका है कि सूर और तुलसी के भावों में अंतर था। सखा-भाव से मानने ही के कारण सूरदास ने भगवान् के प्रति अनेक जगह ख़ूब खरी-खरी चुटकियाँ ली हैं। वे येन केन प्रकारेण कृष्ण को अपने सम्मुख करना चाहते थे। अगर बड़ी विनय करने पर न पसीजते, तो फिर अच्छी फटकार बताते थे। यथा—

मोहिं प्रभु तुमसों होड़ परी।

× × ×

आज हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव अपुन भरोसे लरिहौं॥
अब हौं उधरि नचन चाहत हौं, तुम्हें बिरद बिन करिहौं।

× × ×

पतित जानि तुम सब जन तारे रह्यो न कोई खोट।
तब जानौं जब मोहिं तारिहौ सूर कूर कवि ढोट।"

× × ×

पतितपावन हरि बिरद तुम्हारो कौन नाम धर्यो।
गणिका तरी आपनी करनी नाम भयो प्रभु तेरो।

सूर ने तो भगवान् को प्रेम-वश लंपट, चोर आदि सभी कुछ कह डाला है—

धूर्त धौल लंपट जैसे हरि तैसे औरन जानैं ।
मधुकर श्याम हमारे चोर ।

यद्यपि ये सब प्रेम के उद्गार हैं, पर तुलसीदास के काव्य में ऐसे वचनों का भी मिलना असंभव है। केवल एकआध पद में गुसाईंजी ने राम को कुछ कहा है, पर वह भी विनय तथा नम्रता से पूर्ण है—

यद्यपि नाथ उचित न होत अस प्रभु सों करों ढिठाई ।
तुलसीदास सींदत निशि-दिन देखत तुम्हारि निठुराई ॥

गुसाईंजी का दास-भाव कभी उनके मुँह से ऐसे वाक्य नहीं निकलवा सकता। उन्होंने तो हमेशा नम्रता और दीनता के वचन कहे हैं। इस प्रकार के दीनता-सूचक वचनों से सूरसागर और विनयपत्रिका तथा रामचरितमानस भरे पड़े हैं। अपने को अत्यंत दीन समझकर अपने प्रभु को दीनोद्धारक समझना ही इन दोनों भक्तों की भक्ति का मूलतत्त्व है।

एक और बड़ी भारी समता यह है कि तुलसीदास और सूरदास दोनों ही अपने को भक्ति-उद्रेक में अत्यंत पतित और नीच कहकर अपने उद्धार के लिये प्रभु से प्रार्थना करते थे। इतने भारी महात्मा होकर भी अपने को इतना अधिक नीच और पापी समझना बहुत लोगों को आश्चर्यजनक प्रतीत हो सकता है, पर भक्त-हृदय ही इसके तत्त्व को समझ सकता है। यहाँ हम दोनों कवियों के इस प्रकार के दीनतासूचक मिलते-जुलते हुए पदों के उदाहरण दे देना चाहते हैं—

मैं प्रभु सब पतितन को राजा ।
हरि हौं सब पतितन पतितेश ।
माधव जू और न मोते पापी ।
बिनती करत मरत—हौं लाज ।
नख-शिख लौं मेरी यह देही है पाप की जहाज ॥
और पतित आवत न आँखितर देखत अपनो साज ।
गछे भयो न आगे ह्वैहै सब पतितन सिरताज ॥
(सूरदास)

कौन जतन बिनती करिए ।
माधव जू मो सम मंद न कोऊ ।
× × ×
तऊ न मेरे अघ अवगुन गनिहैं ।
जो यमराज काज सब परिहरि यही ख्याल उर अनिहै ।
चलिहैं छूटि पुंज पापिन के असमंजस जिय जनिहै ॥
× × ×

माधव मो समान जग माहीं ।
सब बिधि हीन मलीन दीन अति लीन विषय कोऊ नाहीं ।
(तुलसी)

प्रभु के पतितपावन होने का इन भक्तों को अटल विश्वास था—

मैं हरि पतितपावन सुनैं ।
मैं पतित तुम पतितपावन दोऊ बानिक बनैं ॥
× × ×
ऐसी प्रभु करत दास पर प्रीति ।
विरद हेतु पुनीत परिहरि पामरन पर प्रीति ॥
(तुलसी)

सूर पतितपावन पद अंबुज
कहाँ सो परिहरि जाऊँ ।
(सूरदास)

प्रभु की दीन-पोषकता, भक्त-वत्सलता, दास-अनुग्रह, दयालुता, समता आदि पर तो दोनों भक्तों ने अनेक पद कहे हैं, जिनमें से कुछ के उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

काहू के कुल तन न बिचारत ।
रामभक्त बत्सल निज बानो ।
जाति गोतें कुल नाप गनत नहिं, रंक होय कै रानौ ॥
युग युग विरद यहै चलि आई भक्तन हाथ बिकानौ ।
(सूर)

× × ×
श्री रघुबीर की यह बानि ।
नीच हूँ सों करत प्रीति सुनेह मन अनुमानि ।
राम सहज कृपालु कोमल दीनहित दिनदानि ॥
(तुलसी)

× × ×
प्रभु को देखो एक सुभाई ।
अति गंभीर उदार उदधि सरि जानि शिरोमणि राई ॥
बदन प्रसन्न कमल पद सन्मुख दीखत ही है जैसे ।
बिमुखहु भये कृपा वा मुख की जब देखौ तब तैसे ॥
भक्तबिरह कातर करुणामय दौरत पाछे लागे ।
सूरदास ऐसे प्रभु कहँ कत दीजत पीठ अभागे ॥
(सूर)

× × ×

ऐसी हरि करत दास पर प्रीति ।
निज प्रभुता बिसारि जन के वश होत सदा यह रीति ॥
विरद गरीबनिवाज राम को ।
सुनु सीतापति शील स्वभाऊ ।
मोद न मन तन पुलकि नयन जल सो वर ते हरषाऊ॥
(तुलसी)

भक्त-हेतु अवतार धर्यो । (सू० २२)
हम भक्तन के भक्त हमारे । (सू० २३) इत्यादि ।

इन भक्तों ने मन की प्रबलता बताकर रोकने के लिये ईश्वर से अनेक प्रार्थनाएँ की हैं—

अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल ।
काम क्रोध को पहिरि चोलना कण्ठ विषय की माल । (सू०सा०)

तुलसीदास का पद भी बिलकुल इसी से मिलता-जुलता है—

नाचत ही निशि-दिवस पर्यो ।
तब ही ते थिर न भयो जब ते जीव नाम धर्यो ॥
बहु वासना विविधि कंचुकि भूषण लोभादि भर्यो ॥
(वि० ९१)

माधव जू मन हठि कठिन पर्यो ।
माधव जू मन सबही विधि पोच ।
मेरो मन मतिहीन गुसाईं ।
माधव जू नेक हर को गाइ ।
निशिवासर यह भ्रमति इत उत अगह गही न जाय ।
(सू०) इत्यादि

मेरो मन हरि जू हठ न तजै ।
निशिदिन नाथ देउँ सिख याही करत स्वभाव निजै ॥ इत्यादि ।
(तुलसी)

दोनों ने भगवान् से अपने उद्धार पाने, माया से छुटने, निर्मल निष्काम भक्ति पाने आदि की भी विनती की है। ये लोग मुक्ति को भक्ति के सामने तुच्छ समझते थे। दोनों का निष्काम भक्ति पर ही लक्ष्य था—किसी विशेष कामना से भक्ति करना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। दोनों की भक्ति निष्काम निर्विकार थी । जन्म-मरण से छूटने की दोनों की इच्छा थी, पर भक्ति प्राप्त होने पर वे जन्म-मरण से छूटने की भी इच्छा न करते थे—

जहँ जाय जन्मउँ कर्म-वश तहँ रामपद अनुरागऊँ ।
जन्म जन्म प्रभुपद सुखकंजा ।
बढ़ै प्रीति चकोर जिंमि चंदा ॥

तथा—

जन्म जन्म रतिरामपद यह वरदान न आन ।
इत्यादि ।

चहिय न सुगति सुमति संपति सुख रिधि सिधि विपुल बड़ाई ।
हेतु रहित अनुराग रामपद बढ़ै अनुदिन अधिकाई ॥
(तुलसी)

× × ×

माँगत है सूर त्यागि जिहि तन मन राता ।
अपनी प्रभु भक्ति देहु जासों तुम नाता ॥ इत्यादि ।
(सूर)

(क्रमशः)

ब्योहार राजेंद्रसिंह

१—नारी-जीवन—लेखक, श्रीसुरेंद्र शर्मा; प्रकाशक, शारदासदन, कटरा प्रयाग; मू० १)

इस पुस्तक में, नारी-जीवन की जटिल समस्याओं को सुलझाने का जो कुछ प्रयत्न किया गया, वह सर्वतोभावेन माननीय नहीं, तो प्रशंसनीय अवश्य है । वर्तमान परिस्थिति पर ध्यान देकर भारत की सभ्यता के अनुकूल और पाश्चात्य रंग-ढंग के दोषों को दिखाते हुए जो विवेचना की गई है, उस पर शिक्षित नारी-समाज को ठंडे दिमाग़ से विचार करना चाहिए । संयम, सादगी, पातिव्रतधर्म और भारतीय आदर्श के संबंध में जो शिक्षाएँ इस पुस्तक में दी गई हैं, वह स्त्रियों के लिये सर्वथा लाभकारी सिद्ध होंगी । इस पुस्तक में अन्य बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिनके द्वारा महिला-मंडल काफ़ी लाभ उठा सकता है । पुस्तक की भाषा और लिखने का ढंग बड़ा अच्छा है । स्त्रियों को यह पुस्तक प्रकाशक से मँगाकर अवश्य पढ़नी चाहिए ।

× × ×

२—बाल-कथा-कहानी—लेखक पं०रामनरेश त्रिपाठी; प्रकाशक, हिंदी-मंदिर, प्रयाग; मूल्य ६ आने ।

इस छोटी पुस्तिका के ६० पृष्ठों में, छोटे बालक-बालिकाओं के पढ़ने योग्य दस कहानियाँ दी गई हैं । कहानियाँ सभी मनोरंजक और शिक्षाप्रद हैं । पुस्तक की छपाई रंगीन और चिकना काग़ज़ है । बाल-कथा-कहानी का यह छठा भाग है । अभिभावकों को चाहिए कि अपने बच्चों को इस प्रकार की पुस्तकें मँगाकर पढ़ने को दें ।

× × ×

३—कल्याण (रामायणांक)—संपादक, श्री० ज्वाला-प्रसाद कानोड़िया तथा श्री० हनुमानप्रसाद पोद्दार; पृष्ठ-संख्या ५१२; मूल्य २॥=) ; "कल्याण" के ग्राहकों को मुफ़्त ।

इस अंक में २०६ लेख कविताएँ तथा १६७ एकरंगे, तिरंगे, चौरंगे चित्र, मानचित्र, लिपिचित्र एवं हेडिंग-चित्र हैं । रामायण पर इतने विद्वानों के विचार एकत्र करके हिंदी-संसार के सम्मुख उपस्थित करने का यह प्रथम ही प्रयास है । कुछ कविताएँ भी बहुत सुंदर हैं । रंगीन चित्रों में भी धार्मिक दृष्टि से बड़ा चमत्कार दिखाई पड़ता है ।

देशी-विदेशी पंडितों के विचार-संग्रह के लिए जो परिश्रम किया गया है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है । 'रामायणांक' हिंदी-जगत् की एक स्थायी संपत्ति के रूप में सदा आदर पाता रहेगा—ऐसा मेरा विश्वास है । अपने ढंग का यह अद्वितीय अंक है । साथ ही "कल्याण" नाम को सार्थक करता है । विशेष प्रशंसा करना उसके महत्त्व को घटाना होगा । हमारी प्रत्येक हिंदी-प्रेमी से अपील है कि वह इस विशेषांक को मँगाकर अवश्य पढ़े । इससे "लोक काहु परलोक निबाहू" दोनों साधनाएँ सफल होंगी । हम युगल संपादकों को—विशेषकर श्री० हनुमानप्रसादजी पोद्दार को—'माधुरी' की ओर से बधाई और धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने अपनी सुरुचि और परिश्रम का इतना अच्छा उपयोग किया है कि धार्मिक संसार उनका चिर ऋणी रहेगा । ईश्वर करे, 'कल्याण' चिरंजीवी हो और उसके द्वारा संसार का सदा कल्याण होता रहे । तथास्तु ।।

रामसेवक त्रिपाठी

× × ×

पं० जवाहरलाल नेहरू (जीवनी और व्याख्यान)—लेखक और संकलनकर्ता, पं० गोपीनाथ दीक्षित बी० ए० ; प्रकाशक, दी नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रयाग ; पृष्ठ-संख्या ढाई सौ ; मूल्य २)

पं० जवाहरलाल नेहरू वह भारतीय लाल हैं, जिन पर प्रायः प्रत्येक भारतीय को नाज़ है। उनका त्याग, उनकी लगन, उनकी दर्या-दिली और उनका दर्देदिल सब हमें उस रूसी राजकुमार प्रिंस क्रोपाटकिन का स्मरण दिलाते हैं, जिसने शासन-सत्ता और संपत्तिवाद से मोर्चा लिया था। सच यह है कि पं० जवाहरलाल के हृदय में अमानुषीय अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह का अग्नि-कांड धधकता है, जिसमें उनके भोग-विलास की भूत-कालीन सारी सुषमा जलकर राख हो चुकी है और वह भावी भारत के स्वतंत्र ललाट पर विभूति की भाँति देदीप्यमान हो रही है। ऐसे ही त्यागवीर की यह जीवनी है और जीवनी भी ग़ज़ब की लिखी है। दीक्षितजी की शैली और ज़ोरदार भाषा पाठक के हृदय को एक बार विचलित कर देती है। पंडितजी की जीवनियाँ आए-दिन निकलती ही रहती हैं ; पर यह जीवनी अधिक प्रामाणिक है। पाठकों को चाहिए कि एक बार इसे पढ़ने की कृपा करें।

× × ×

सुषमा—लेखक, पं० श्रीजगदीश झा 'विमल'; प्रकाशक, पं० जगदेव पांडेय ; पुस्तक-प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता, चौक, मुंगेर; मूल्य ॥=) ; पृष्ठ-संख्या १०६

यह हिंदी-साहित्य-सरोज-ग्रंथमाला का आठवाँ पुष्प है। इसमें विमलजी की कविताओं का संग्रह है। विमलजी की कविताएँ कैसी होती हैं, यह हिंदी-पाठकों से छिपा नहीं। कविता के संबंध में विमलजी के विचार भी स्पष्ट हैं। पुस्तक के प्राक्कथन में आप लिखते हैं—"कवित्व-गुण, शब्दों की झंकार और छंदों के प्रस्तार में नहीं रहते ; अनुप्रास की लड़ी और यमक की कड़ी उसको बाँधकर नहीं रख सकती। उसका जन्मस्थान आत्मा है, अतएव जिस कविता में आत्मविकास की शक्ति नहीं, वह कविता नहीं कही जा सकती है...कविता हृदय-तंत्री की झंकार है, जिसके हृदय में जितना ही अधिक नाद गूँजेगा, वह उतनी ही सरस सुंदर एवं मधुर कविता कर सकेगा।" इत्यादि। पुस्तक बनैली-राज्य के साहित्यानुरागी राजकुमार श्रीमान् कृष्णानंदसिंहजी को समर्पित है और यह उचित ही है। महाराजकुमार स्वयं विद्याव्यसनी एवं काव्य-पारखी हैं। आप ही के संरक्षण में 'गंगा' नाम की पत्रिका शीघ्र निकलने जा रही है। हमें आशा है, आपके सहयोग से हिंदी-साहित्य का बहुत कुछ उपकार होगा। 'सुषमा' की अधिकांश कविताएँ पठनीय एवं सुबोध हैं। कुछ हमें नहीं रुची और इसका कारण रुचि-वैचित्र्य ही है।

× × ×

रत्नहार—लेखक, पं० जगदीश झा 'विमल'; प्रकाशक, पं० जगदेव पांडेय, चौक ; मुंगेर ; मूल्य सजिल्द १।), सादी १) ; पृष्ठ-संख्या २००

भूमिका में लेखक लिखते हैं—"कथानक कोरी कल्पना नहीं है और न किसी को लक्ष्य कर अचूक निशाना लगाने की निशानी है ; बल्कि यह है समाज के कलेजे पर नित्य खुल-खुलकर नंगा नृत्य करनेवाली घटनाओं का जीता-जागता चित्र।" इत्यादि।

इसमें सामाजिक कुरीतियों के रूप का प्रत्यक्षीकरण किया गया है। पत्रों के रूप में, अनेक समाज-पीड़ित विक्षत हृदयों के चित्र देखने को मिलते हैं। लेकिन पत्रों में कहीं-कहीं विशृंखलता आ गई है। फिर भी पत्र-साहित्य में इसे अपना स्थान प्राप्त होगा। पुस्तक बरारी-स्टेट (भागलपुर) के साहित्यानुरागी ज़मींदार तथा बैंकर श्रीमान् बाबू केशवमोहनजी ठाकुर को समर्पित है।

× × ×

अंतर्ध्वनि (प्रथम भाग)—लेखक, ज्वालाप्रसाद गुप्त ; साहित्य-निकेतन, चिड़ावा (राजपूताना) ; मूल्य सजिल्द १) ; पृष्ठ-संख्या १०+१२२+४

भूमिका में लेखक लिखते हैं—"मैं इस पुस्तक को कोई अपना कविता-कौशल दिखाने के लिये नहीं प्रकाशित कर रहा हूँ और न कोई प्रतिष्ठा प्राप्त करने का ही मेरा ध्येय है। किंतु मैं तो उस अखिल अनंत अज्ञेय महामहिम सर्वव्यापक मायामय के रहस्यपूर्ण लीला-चमत्कार से चमत्कृत और विश्व-वेदना की विकल व्यथा से व्याकुल एवं उद्भ्रांत हूँ। मेरा तो हृदय उसी की अंतर्ध्वनि से प्रतिध्वनित और उसी की वेदना से एकांत-विह्वल रहा करता है। और, यह पुस्तक भी उसी उद्विग्न हृदय के करुणोद्गारों का परिणाम है।" अस्तु, उसी

अखिल अनंत अज्ञेय महामहिम मायामय की रहस्य-पूर्ण लीलाओं की ओर ही पुस्तकांतर्गत पद्यों का प्रवाह जान पड़ता है। लेखक भावुक जान पड़ते हैं। उनका हृदय विक्षुब्ध एवं प्रताड़ित है और कोई वेदना तथा जगज्जन्य निराशा से वह आविर्भूत हैं। कवित्व भी उनमें है और यदि उसका ठीक दिशा में उपयोग हुआ, तो उनकी कृति में कुछ विशेषता आवेगी। हमको "बैठा था मैं एक ओर" कविता अधिक पसंद आई। शेष प्रायः हृदयोद्गार हैं, जिसका कला से सर्वत्र उतना संबंध नहीं है।

मातादीन शुक्ल

कृषि, शिल्प और वाणिज्य

१. गन्ने की बीमारियाँ

यदि आप गन्ने के खेत के चारों तरफ़ चलें और प्रत्येक गन्ने को ध्यान देकर देखें, तो आपको कहीं-कहीं ऐसे गन्ने दिखाई देंगे, जो अनोखे तौर से सिकुड़े और सिमटे हुए होंगे। ऐसी सिमटन या तो गन्ने के नीचे हिस्से में ही दिखाई पड़ती है या तमाम गन्ने में फैल जाती है, ऐसा गन्ना या ऊख रस निकालने के योग्य नहीं। ऐसा बहुधा दिखाई पड़ता होगा कि एक गन्ने के पत्ते हरे और तन्दुरुस्त हैं और गन्ने का तना कमज़ोर और बीमारी लिए हुए है। अक्सर बीमारी ज़मीन की तरफ़ से चलकर ऊपर पौदे की चोटी तक की ख़बर लेती है और इसीलिये अक्सर देखने में आता है कि बहुत-से पौदों के तने कमज़ोर हैं, परंतु पत्ते हरे-भरे हैं। इस बीमारी को Fungus कहते हैं। हिंदी में इसको धरती का फूल कह सकते हैं। फ़ंगस एक प्रकार का पौदा होता है, जो दूसरे पौदों पर अपनी ज़िंदगी बसर करता है। इसका डीलडौल व बनावट बहुत लंबे-लंबे सफ़ेद धागों की होती है। यह धागे तमाम गन्ने में फैल जाते हैं और गन्ने से अपनी ग़िज़ा हासिल करते हैं। ऐसा करने से तमाम गन्ना सुकड़ जाता है। यह फ़ंगस एक और बीमारी फैलाता है यानी यदि एक बीमारी लगे हुए गन्ने को बीच से चीरा जाय, तो लाल-लाल लकीरें गन्ने में दिखाई देंगी। बाज़ दफ़े बावजूद गन्ने के सिकुड़ने पर भी यह लाल-लाल लकीरें गन्ने में दिखाई पड़ती हैं। इसलिये इसका नाम Red rot of sugurcane है। यह बीमारी इसलिये फैलती है कि किसान लोग ऐसे गन्ने के टुकड़े बोते हैं, जिनके अंदर यह बीमारी मौजूद होती है। यह बीमारी इस तरीक़े से उन तमाम गन्नों में प्रवेश कर जाती है, जो कि इस गन्ने के टुकड़े से पैदा होते हैं। यदि खेत के पानी का निकास अच्छा हो और खेत में नालियाँ नवीन तरीक़े के अनुकूल हों, तो यह बीमारी कम फैलती है। यदि बीमारी लगे हुए गन्ने खेत में छोड़ दिए जावें, तो ये गन्ने दूसरे तन्दुरुस्त गन्नों में भी यही बीमारी फैला देते हैं, और इसी तरह से बीमारी आसपास के खेतों में भी फैल

जाती है, और फ़सल को बहुत बड़ा नुक़सान पहुँचाती है।

इस बीमारी से बचने के लिये किसानों को नीचे लिखे हुए तरीक़े अमल में लाने चाहिए—

(१) जहाँ तक हो सके सिर्फ़ तन्दुरुस्त और बीमारी से बचे हुए ही गन्नों के टुकड़े बोने चाहिए।

(२) खेत को तैयार करते समय इस बात का ध्यान ज़रूर रखना चाहिए कि खेत में पानी का निकास बहुत अच्छा हो। इसके लिये बोने का नवीन तरीक़ा अमल में लाना चाहिए यानी नालियाँ बनाकर बोना चाहिए। ऐसा करने से पैदावार भी बहुत होती है, दूसरे ज़रूरत से ज़्यादा आबपाशी नहीं करनी चाहिए। गन्ने का खेत कुछ ढालू लिए भी होना चाहिए, मगर ऐसा न हो कि एक तरफ़ ही पानी भरा रहे।

(३) बीमारी लगे हुए गन्ने जितने खेत में दिखाई दें, सबको जला देना चाहिए। यदि बीमारी गन्ने के कुछ हिस्से तक पहुँची हो, तो केवल उसी हिस्से को काटकर जला देना चाहिए।

(४) जिस खेत में बीमारी लगी हुई हो, उसको अच्छी तरह से जोतना चाहिए और खेत में बीमारी को मारने के लिये उसे मई-जून के महीनों में जोतकर ख़ाली छोड़ देना चाहिए।

(५) अक्सर किसान लोग गन्ने की फ़सल को काटकर खेत को बिना जोते पड़ा रहने देते हैं और इसी से दूसरे साल की फ़सल ले लेते हैं। इसको अँगरेज़ी में Ratooning कहते हैं।

जिस खेत में बीमारी लगी हुई हो, उसमें ऐसा कदापि नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा किया जावेगा, तो तमाम फ़सल तबाह हो जायगी। जिस बीमारी का अब तक ज़िक्र किया गया है, उसको बुटेनी (Botany) में Colletotatri cham Falcatum कहते हैं। कुछ ध्यान देने पर ही यह बीमारी क़ब्ज़े में आ सकती है। अब हम गन्ने की दूसरी बीमारी का थोड़ा-सा ज़िक्र और करते हैं, जो कि Virus or mosaic disease 30 to 80% कहलाती है। इस बीमारी से फ़सल को ३० से २० फ़ी सदी नुक़सान पहुँचता है। यदि आप किसी गन्ने की पत्ती को रोशनी के सामने देखें, तो आपको बहुत-सी पत्तियों के रंग निराले दिखाई देंगे यानी कुछ काले-पीले धब्बे या रक़बे नज़र आएँगे। ये वे धब्बे होते हैं, जो कि बीमारी कहलाते हैं। ये बीमारी लगे हुए गन्ने अक्सर मुरझा जाते हैं। ऐसा गन्ना छोटा, पीला और कमज़ोर रह जाता है और आख़िर में सूख जाता है। यह बीमारी गन्ने के मुक़ाबले में पौंड़े में ज़्यादा लगती है। जो इलाज पहली बीमारी में लिखे हैं, उनके अलावा नीचे लिखे हुए और अमल में लाने चाहिए—

(१) जब यह बीमारी पत्तों पर दिखाई दे, तो Spraying करना चाहिए, यह एक पिचकारी लगी हुई मशीन होती है। इस मशीन में बीमारी को मारने वाली दवा का सल्यूशन हल करके डालते हैं, जो हवा के ज़ोर से फ़ेन की तरह निकलता है और बहुत बारीक तह में पत्तों पर गिरकर बीमारी को मार देता है।

(२) ऐसी गन्ने की क़िस्में इस्तेमाल करनी चाहिए जिसमें बीमारी न लगती हो।

(३) फ़सल का दौर व बारी ऐसी रखनी चाहिए कि इस दौर में मका की फ़सल न आ सके।

जो किसान इस फ़सल से फ़ायदा उठाना चाहते हैं, उनको इन बीमारियों का इलाज ज़रूर करना चाहिए और इससे बचना चाहिए। पाठक को गन्ने की और-और बीमारियाँ बतलाई जायँगी।

विश्वनाथ वर्मा

× × ×

२. व्यापारिक प्रबंध

प्रबंध-कला

आज व्यापारिक संगठन, प्रबंध और संचालन के लिये व्यापारिक शिक्षा की बड़ी भारी आवश्यकता हो गई है। पहले की सी बात अब नहीं रही है कि बनिए का बेटा तो व्यापार ही करेगा, उसके लिये क्या कठिनता है। थोड़े-से पट्टी पहाड़े और हिसाब-लेखा सीख लिया कि चली बैठे दुकान पर और बन गए व्यापारी। कहना होगा कि आज स्वजात बुद्धि होने पर भी व्यापारिक विद्या की बड़ी आवश्यकता है और इसकी शिक्षा बिना काम नहीं चलने का। अब व्यापार की रीति, नीति, गति और प्रणाली आदि सब बातें एक बड़ी भारी कला, विद्या और चातुरी का काम हो गई हैं और व्यापार के लिये

[इ]न सबके संयोजित और विशाल ज्ञान का होना [ब]ड़ा ज़रूरी है। स्वजात बुद्धि भी काम की चीज़ है, [प]र उसके प्रस्फुटन, उपयोग और व्यवहार के लिये आज-[क]ल के नवीन ज्ञान और शिक्षा की बड़ी भारी आव-[श्य]कता है।

वह पुराना ज़माना अब गया, जिस समय हमारे [व्या]पारी घर पर बैठे-बैठे चाहे जैसे व्यापार चलाते रहे। [बा]हर से माल मँगाया और बेच दिया या अपने यहाँ [से] बाहर भेज दिया और घर बैठे मुनाफ़ा हो गया। [क्या] भाव आया और क्या भाव बेचा, कोई पूछनेवाला [न]हीं था। पर अब ज़माने ने पलटा खाया है और कोई [भ]ी पदार्थ हो, कहाँ से आता है, कैसे आता है, क्या [दा]म पड़ता है आदि बातें छिपी नहीं हैं, सब कोई जान [स]कते हैं। यह भी नहीं कि एक पदार्थ एक ही जगह [से] आता हो या एक आप ही मँगानेवाले हों। इस [भ]ाँति यह बात प्रत्यक्ष है कि आज व्यापारिक संसार [में] जो बातें पैदा हो गई हैं एवं जो प्रतिद्वंद्विताएँ मच [ग]ई हैं, वे पहले न थीं। व्यापारिक क्षेत्र में आज जो [चि]ंताएँ और झंझटें सामने आती हैं, वे कुछ समय [प]हले तक न थीं और इसलिये उस समय व्यापारिक [शि]क्षा की भले ही आवश्यकता न रही हो, पर आज [व्य]ापार की शिक्षा एक ही रूप में नहीं, पर उसके [भि]न्न-भिन्न अंग-प्रत्यंग और शाखाओं में शिक्षा और [ज्ञ]ान का प्राप्त करना आवश्यक हो गया है। प्राचीन [स]मय में इस व्यापार का आज-जैसा भीम रूप न था [औ]र वह छोटे रूप में होने पर भी मुनाफ़ा काफ़ी था [ए]वं आज की भाँति पग-पग पर हानि का भय नहीं [र]हता था। स्थानीय किंवा दूरदेशीय किसी भी तरह [क]ी आज के सदृश प्रतिद्वंद्विता का भय न था और न [उ]स समय दुनिया की सारी शक्तियाँ दुनिया के बाज़ारों [प]र आज की तरह दाँत चबाए बैठी थीं। एक और [मु]सीबत यंत्रकला के प्रचुर प्रचार और उपयोग से [प]दार्थों के बेहद निर्माण से पैदा हो गई है और बनाने-[व]ाले पर किसी तरह से अपने पदार्थ को खपाने की [चि]ंता सवार है। एक तरफ़ एक पदार्थ का बनानेवाला [द]ुनिया के किसी प्रदेश को अपना बाज़ार बनाकर अपने [प]दार्थ को खपाना चाहता है, तो वह प्रदेश स्वयं भी [उ]स पदार्थ को बनाकर उसे खपाने की चिंता में ग्रस्त है, यथा लंकाशायर की मिलें अपने कपड़े की भारत में बिक्री के लिये व्यग्र और चिंतित हैं, तो भारतीय मिलें स्वयं अपने कपड़े का यहाँ किसी तरह खपाने की चिंता में हैं। माल को लाने और ले जाने के साधन रेल और जहाज़ों में दूर देशों से शीघ्र और सस्ते भाड़े में माल के आने-जाने ने भी व्यापार के क्षेत्र को विस्तृत बना दिया है और सारी दुनिया ही एक बाज़ार बन गया है। इन सब बातों से व्यापार का भेद और परदा निकल गया है और देश-विदेशों में प्रायः सर्वत्र एक से फ़र्क या समान भाव पर चाहे जहाँ माल मिल सकता है। समान ही नहीं पर बहुधा उल्टी गंगावाली बात भी देखी जाती है अर्थात् उपज की जगह से बिक्री की जगह माल सस्ता मिल जाता है। बात यह होती है कि माल ला-लाकर ढेर कर दिया जाता है और माल जम जाने से भाव गिर जाता है। इसी भाँति पहले माल ख़रीद-कर फिर बेचा जाता था, पर आजकल आमदनी बेचने की प्रणाली जारी है, किंवा माथे धरकर भी बेचा जाता है, जिससे तेज़ी-मंदी, सस्ते या महँगे भाव के पदार्थ के आने के पहले ही दूरदेशीय बाज़ारों में आ धमकती है। डाक और तारों द्वारा ख़बरों के आने-जाने से भी बाज़ारों में तेज़ी-मंदी और चढ़ाव-उतार बात-की-बात में आ जाते हैं। उदाहरणार्थ विलायत से हड़ताल की ख़बर आते ही भाव चढ़ जाते हैं। चाहे हड़ताल कुछ दिन रहे या शीघ्र ही शेष हो जाय, पर एक बार तो ख़बर के आने से हलचल मच ही जाती है।

इस प्रकार पदार्थ के भाव-ताव एक नहीं, पर कई बातों पर आश्रित हैं। स्थान, श्रम और पूँजी इन तीन बातों के साथ ही आज एक चौथी बात "प्रबंधविद्या" भी खड़ी हो गई है और आधुनिक व्यापार-संसार में यह बात बड़े महत्त्व की हो रही है। प्राचीन समय का सीधा-सादा प्रबंध उस समय के लिये भले ही काफ़ी था, पर उससे आज काम चलना कठिन ही नहीं, बल्कि असंभव हो गया है। हम तो हमारे चले आए हुए मार्ग पर ही चलेंगे; क्योंकि वह हमारा प्राचीन मार्ग है। ऐसा कहने या करने से इस नए ज़माने की तेज़ घुड़दौड़ में पीछे रहने के सिवा और कुछ नहीं हो सकता और कहना होगा कि यह अपने नाश और मर मिटने के उपाय का आह्वान करना है। समय के साथ जो जाति,

देश या राष्ट्र नहीं चलता है उसकी अधोगति और नाश के सिवा और क्या भवितव्य हो सकता है । समय की गति और लहर को रोक लेना असंभव है, इसलिये इस लहर में जो अपने को ठीक से सजाकर ठीक दिशा में उतरता है, उसे वह लहर सफलता और समृद्धि तक पहुँचाती है और यदि उसी का विरोध किया गया, तो इससे उल्टी राह में पड़कर नीचे दब रहने के सिवा और क्या हो सकता है । व्यापारी संयोजन और प्रबंध-कला की उन्नत और परिष्कृत शिक्षा की ओर अभी तक भारत में उचित ध्यान नहीं दिया जाता है और चाहे जिस तरह बिना किसी निश्चित प्रणाली के काम आरंभ कर दिया जाता है । एक नहीं सैकड़ों व्यापारिक उद्योग—जो बिना पूर्ण इतिहास, वर्तमान दशा और भविष्य की तद्विषयक संभावनाओं के ज्ञान के बिना आरंभ किए गए—उनको बीच में ही खंड-भंड होना पड़ा है । कभी-कभी व्यापार में हुल्लड़ मच जाया करता है, जिसे अँगरेज़ी में बूम (Boom) कहते हैं । ऐसे समय में सबका ध्यान उसी व्यापार की तरफ़ दौड़ जाता है और उससे वह व्यापार वास्तविक व्यापार न रहकर उसमें सट्टा ज़ोर पकड़ लेता है । तब पदार्थ के दाम बेहिसाब बढ़ जाते हैं और उस समय लोगों को मुनाफ़ा ही मुनाफ़ा दीखने लगता है । यह सब कोई भूल जाते हैं कि ऐसा समय एक असाधारण समय हुआ करता है । वह सदा नहीं टिक सकता । इसलिये जब उस बूम का अंत होता है, सट्टा भी अपने उतार पर आता है और भाव नीचे डूब जाते हैं । इस तरह की बातों पर बिना ध्यान दिए जो भी व्यापार, व्यवसाय आरंभ कर दिए जाते हैं, उनकी दशा शीघ्र ही चिंताजनक हो जाती है । बूम के समय बड़ी-बड़ी आशाएँ और भविष्य नज़र आते हैं और उस समय उसमें पड़ने में ज़ोर नहीं आता, पर जब उस बूमरूपी ज्वार-भाटे का उतार आता है, उस समय कुछ समझ में नहीं आता कि क्या किया जाय । महायुद्ध के समय में हैसियत की बाहरी माँग के कारण जूट-मिलों ने भारी मुनाफ़ा कमाया । उस समय शेअर-बाज़ार में कितना ज़ोर का सट्टा फाट का चला और युद्ध समाप्त होने पर उस बूम का भी अंत हुआ और शेअर-बाज़ार की सारी चहल-पहल और श्री भी न-जाने कहाँ गई । इसी भाँति उस समय कपड़े के बाज़ार में भी बाहर से माल आने में प्रतिरोध के कारण बहुत तेज़ी आई और एक-एक के दो-दो हुए। कपड़े के बाज़ार में भी नंबरी माल का सट्टा फाट का चल पड़ा था एवं नए-नए इंपोर्टर खड़े हो गए । अँगरेज़ जो बड़े कुशल व्यापारी हैं, समझे हुए बैठे थे कि चढ़ाव के बाद उतार आना अवश्यंभावी है, इसलिए युद्ध समाप्त होने पर कपड़े के बाज़ार में जो सुस्ती आई, उससे अँगरेज़ इंपोर्टरों को कोई क्षति नहीं पहुँची; क्योंकि उन्होंने बिना आफ़र के बाहर से माल मँगाना बंद कर दिया था । बाज़ार की आफ़र न होने पर वे अपने मुसद्दियों और दलालों से आफ़र लेने लगे, पर बिना आफ़र के काम करने की उन्होंने मानों शपथ ले ली। इससे यह हुआ कि बहुतेरे मुसद्दी और दलालों ने पहले जो रुपया बनाया था, वह उन्हें निकाल चुकाना पड़ा और बिना समझ इंपोर्ट का कार-बार करनेवालों की भी वही दशा हुई । ये सब उदाहरणस्वरूप बातें हैं कि आजकल व्यापारिक शिक्षा एवं भूत-भविष्य के विचार बिना व्यापार करने से क्या दशा होती है। इसीलिये कहना पड़ेगा कि आजकल व्यापार में आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं क़ानूनी सब तरह की बातों पर विचार करना ज़रूरी हो गया है।

व्यापार की संयोजना के लिये पहले यह सोचना चाहिए कि किस व्यापार को करेंगे, वह एक चलता हुआ काम है या नया काम उठाना है । यह निश्चय हो जाने पर उसके बाबत पूर्ण अन्वेषण करना चाहिए । पूर्व परिस्थिति का अध्ययन, उसकी वर्तमान के साथ तुलना एवं भविष्य में उसके फैलाव और उन्नति की गुंजाइश पर पूर्ण विचार करना चाहिए । कितनी चालू पूँजी चाहिए, कितनी लगा रहे हैं और आगे में आवश्यकता होने पर जुगाड़ का क्या साधन हो सकेगा, ख़र्च क्या होगा और साधारण स्थिति में क्या लाभ होगा एवं आकस्मिक हानि और लाभ की क्या और कितनी संभावनाएँ हैं, इन सब बातों का पूर्व में ही भली भाँति विचार कर लेना योग्य है । यह सब विचार कर लेने पर व्यापारिक उद्योग में पड़ना चाहिए । व्यापारिक योग्यता के लिये व्यापारिक बुद्धि एवं शिक्षा दोनों वांछनीय हैं और दोनों के मेल से 'सोना और सुगंधवाली बात' हो जाती है । पहले अपने-आप कारबार करने और वर्ष में

थोड़े-से उथले कर लेने पर भी काम चल जाता था; क्योंकि मुनाफ़ा अधिक था, चाहे कारबार का परिमाण थोड़ा रहता था। पर आजकल अधिक-से-अधिक काम और थोड़े-से-थोड़े मुनाफ़े में ही व्यापारिक कौशल रह गया है। कहावत है कि "थोड़ा मुनाफ़ा अधिक उथले' "Small profit and quick returns."।' आज लाखों-करोड़ों की पूँजी और एक कारबार में बहुत-से साझीदारों का जुटाव, दुनिया के दूरदेशों के साथ संबंध, संपर्क, सैकड़ों-हज़ारों मज़ूरों और काम करनेवालों का संगठन और प्रबंध आदि सब बातों की शिक्षा और ज्ञान का होना आवश्यक है। एक व्यक्ति से आजकल के विशाल कारबारों को चलाना अधिक संभव नहीं, इसलिये कंपनी अर्थात् मिलकर काम करने के लिये नियम और क़ानून बने हुए हैं। उनका ज्ञान होने से और उनके अनुरूप चलने से किसी बात की कठिनाई नहीं आती और कारबार में विशेष सुविधा रहती है। इसी भाँति कारबार बड़ा और विशाल होने से काम के करनेवाले भी बहुत होते हैं। उनकी देख-रेख और संचालन का ज्ञान भी होना आवश्यक है। केवल यही नहीं कि कारख़ानों में ही मज़ूरों और काम करनेवालों का प्रबंध करना पड़े, पर आफ़िसों (दफ़्तरों) का भी विशाल आयोजन और उनमें क्लर्कों और भिन्न-भिन्न विभागों के कार्यकर्ताओं का संगठन और संचालन करना होता है। कारबार के परिमाण के हिसाब से ही आफ़िस का संगठन करना पड़ता है। आज भारतीय व्यापारियों के अपने दिलों में ही बड़े व्यापारी और कारबारी बने रहने से कुछ नहीं होता; क्योंकि बहुतों के हिसाब-किताब और लेखे का कुछ भी पता नहीं रहता, वर्षों तक आँकड़े जुड़ नहीं पाते और क्या हानि-लाभ रहा, इसका कुछ पता नहीं चलता। विदेशों की बात छोड़ दीजिए, यहाँ भारतवर्ष में भी जो बड़ी कंपनियाँ हैं, उनकी आफ़िसों में काम करनेवालों की लंबी क़तार और संख्या देख-सुनकर आश्चर्य हो जाता है। ईस्ट-इंडिया-रेलवे कंपनी के दफ़्तर में सौ, दो-सौ, पाँच-सौ नहीं, पर हज़ारों की संख्या में क्लर्क लोग काम करते हैं और वे सब कई विभाग (Divisions) और उनके कई उपविभाग (Departments) में विभक्त हैं—यथा लोको, आडिट, ट्राफ़िक, अकाउंट, स्टोर, इंजीनियरिंग, प्रिंटिंग आदि इतना विशाल करबार उचित संयोजना के बल पर ही चल सकता है। बिना संयोजना के एक छोटे-से कारबार, दुकान या गद्दी के काम में भी कितना अंधेर और गोलमाल रह सकता है। कारख़ानों और फ़ैक्टरियों की संयोजना और प्रबंध की बात छोड़ दीजिए, आफ़िसों के प्रबंध में भी उचित ज्ञान और शिक्षा की बड़ी भारी आवश्यकता है। भारतीय कारबारियों की आफ़िसों के संगठन और संचालन में बिड़ला-ब्रादर्स की आफ़िस का ढंग बड़ा अप-टू-डेट और प्रशंसनीय है। भारतीय व्यापारियों की ऐसी आफ़िसें कम ही देखने में आईं। वह दिन कब आवेगा, जब भारतवर्ष में भारतीय व्यापारियों द्वारा संचालित एक नहीं, पर कई तरह के काम करनेवाली बिड़ला-ब्रादर्स-जैसी सैकड़ों व्यापारिक आफ़िसें नज़र आवेंगी। व्यापारिक शिक्षा में एक नहीं, कई शाखाएँ बन चुकी हैं, यथा प्रबंध-विद्या (Managership), हिसाब-विद्या (Accountancy), विक्रय-कला (Salesmanship), मंत्रित्व (Secretaryship), बीमा (Insurance), बैंक (Banking), विज्ञापन (Advertisment) आदि कितनी ही शाखाएँ व्यापारिक विद्या की मौजूद हैं। यद्यपि भारतवर्ष में इनकी पृथक्-पृथक् उच्च शिक्षा का समुचित आयोजन नहीं है। विदेशों में इन विषयों की उच्च शिक्षा दी जाती है और भिन्न-भिन्न शाखाओं के प्रवीण कारबारी (Experts) ऊँचे पदों को प्राप्त कर बड़ी-बड़ी तनख़्वाहों पर यहीं भारत में भी सैकड़ों की संख्या में मौजूद हैं। वहाँ के साहित्य में भिन्न-भिन्न विषयों पर सैकड़ों पुस्तकें मौजूद हैं और इन विषयों का वर्णन इस छोटे-से लेख में करना असंभव है। यहाँ तो केवल व्यापारिक प्रबंध का महत्त्व दिखाने से गरज़ है इसलिए अब व्यापारिक संगठन का हाल सुनिए।

व्यापारिक संगठन

किसी भी व्यापारिक प्रयास को एक व्यक्ति अकेला भी उठा सकता है। इसमें सब कार्य का कर्ता-धर्ता और हानि-लाभ का स्वामी वही रहता है। किंतु बहुधा यह होता है कि किसी व्यक्ति में किसी मुख्य व्यापार के लिये विद्या, बुद्धि और कौशल तो है, पर आवश्यकीय पूँजी का जुगाड़ नहीं है। इस दशा में किसी पूँजीपति को खोजकर उसे अपने काम में जुटा लेने की ज़रूरत पड़ती है। दोनों के जुड़ जाने पर वे

भागीदार हो जाते हैं और निश्चित किए हुए परिमाण में वे उठाए हुए कारबार में हानि-लाभ के ज़ुम्मेवार हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के व्यापार में एक साथ जुटने के और भी कारण हो सकते हैं, पर यह एक प्रधान कारण होता है। यह भी हो सकता है कि व्यापारिक योग्यता रखनेवाला पूँजी न होने पर उधार लेकर कारबार चलावे, पर यह सर्वदा संभव नहीं और उचित भी नहीं। इज़्ज़त और नाम होने पर उधार मिलना भी कठिन नहीं एवं आधुनिक समय में बैंकों द्वारा भी बहुत काम चल जाता है, पर पहले अपनी कुछ पूँजी होना आवश्यक है और इस विषय के अनुभव रखनेवालों का तो कहना है कि पूँजी, अच्छी काफ़ी होना चाहिए। एक कहावत भी है कि "ओछी पूँजी धनी को खाय" अर्थात् उपयुक्त पूँजी न होने से, कारबार का नाश हो जाता है। इसलिये यह सब कुछ उधार लेकर काम चलाने की बात सर्वोचित नहीं। इसी भाँति पूँजीवाला योग्य पुरुषों को नौकर रखकर भी काम चला सकता है और बहुधा ऐसा होता भी है। पर यह बात सहज ही समझ में आ सकती है कि जिस व्यक्ति की कारबार के हानि-लाभ में हिस्सा-पाँति है, वह उस कारबार की उन्नति और वृद्धि के लिये जितनी जी-जान लड़ावेगा वैसा और किसी प्रणाली से संभव नहीं। इस प्रकार भागीदारों के जुटान पर कारबार की सफलता बहुत कुछ आश्रित है। भागीदार का अर्थ यही है कि किसी कारबार में जो अपनी पूँजी, श्रम या बुद्धि को जुटाकर उस कारबार के हानि-लाभ में अपने को भागीदार बनाते हैं, वे भागीदार हैं। इसमें पारस्परिक विश्वास पर काम चलता है और इसलिये भागीदार बनाते समय भागीदारों की नेकनियती और आचार-व्यवहार का भली भाँति विचार कर लेना चाहिए। बात यह है कि भागीदारी के काम में प्रत्येक भागीदार कारबार की देन-लेन का अन्तिम पाई तक का ज़ुम्मेवार रहता है। कारबार में किसी भी भागीदार की पाँति चाहे जितनी कम या अधिक हो अथवा उसने चाहे जितनी पूँजी लगाई हो, देनदारी में उसकी ज़ुम्मेवारी अपरिमित रहती है। इसलिये एक भागीदार की ग़लती या बेईमानी का फल सब भागीदारों को सहना पड़ता है। प्रत्येक भागीदार कितनी पूँजी लगावेगा, और कितनी पाँति रहेगी इन सब बातों का पहले ही भली भाँति निर्णय और लिखा-पढ़ी हो जाना चाहिए। कारबार आरंभ करते समय यह बात ध्यान में नहीं आती कि आज भागीदारों के दिल जैसे हैं, वैसे सदा रहना संभव नहीं। एवं आकस्मिक हानि या लाभ के समय बखेड़ा खड़ा होना बड़ी बात नहीं। इसलिये पहले ही सब ठीक-ठाक कर लेना अच्छा है। पाँति-पूँजी के परिमाण में नहीं रहती है। अधिक पूँजी लगानेवाले की पाँति थोड़ी लगानेवाले से कम या बराबर भी हो सकती है। काम करनेवाले भागीदार की पाँति के लिये उसके काम का विचार किया जाता है और कभी-कभी उसे वेतन या हाथ-ख़र्च अलग दिया जाता है। इस तरह काम करनेवाला (Working) और पूँजी लगानेवाला (Sleeping or financing) भागीदार, ये दो भेद हुए।

भारत में बिना समुचित लिखा-पढ़ी या निर्णय के ही भागीदार मिलकर भागीदारी में कारबार करने अथवा अपने संयुक्त कुटुम्ब (Joint family) के रूप में चले आए हुए कारबार को करने की प्रणाली बहुत प्रचलित है। इस प्रकार बिना सरकार में रजिस्ट्री कराए कारबार करने से बहुत हानियाँ हैं, पर इस पर कौन ध्यान देता है। कह देते हैं "कौन खटपट करे, हमें क्या आवश्यकता है, जैसे चलता है वैसे चलने दो।" प्रारंभ की थोड़ी-सी खटपट बचाने से आगे बड़ी-बड़ी दुविधा और संकटों में पड़ना पड़ता है। रजिस्ट्री कराने से क्या-क्या लाभ हैं, इस बात को न जानने एवं रजिस्ट्री कराने से कारबार-संबंधी सब बात प्रकट हो जायगी, इस भय के कारण बहुधा लोग कंपनी ला (Company Law) के उपयोग से वंचित रहते हैं। कारबार को 'लिमिटेड' (Limited) अर्थात् नुक़सान की दशा में लगाई हुई पूँजी तक परिमित न करने के कारण भागीदारों को अथवा कुटुंब के छोटे-बड़े प्रत्येक व्यक्ति को अन्तिम पाई तक निकाल देने की संकटावस्था में गिरना पड़ता है। एवं एक कारबार के बिगड़ जाने पर अन्यान्य कारबारों को धक्का लगता है और बहुधा एक कारबार का नाश या संकट अन्य सब कारबारों को ले बैठता है। इसके अतिरिक्त सरकार के यहाँ रजिस्ट्री न होने से इनकमटैक्स के चुकाने में कितनी बड़ी हानि और असुविधा होती है, यह बात ध्यान देने योग्य है। उदाहरण

यह बात स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिए एक रजिस्ट्री की हुई फ़र्म को एक वर्ष में ५ लाख रुपया मुनाफ़ा हुआ है। उसमें बराबर की पाँति के ५ भागीदारों में प्रति भागीदार एक लाख रुपया आया। इस दशा में प्रत्येक भागीदार की पाँति में आई हुई एक लाख की रक़म पर अलग-अलग इनकमटैक्स लगेगा। प्रथम ५० हज़ार पर सुपरटैक्स मुआफ़ होने से बाक़ी ५० हज़ार पर एक आना प्रति रुपया के हिसाब से प्रति भागीदार ३१२५) रुपया लगा। यही अविभाजित ज्वाइंट फ़ेमली कारबार में बराबर की पाँति के पाँच भागीदार होने पर भी कुल ८२८१२॥) रुपया लग जायगा। क्योंकि इस दशा में ५ लाख की रक़म एक ही समझी जायगी और उसमें से प्रथम ७५ हज़ार पर छोड़कर बाक़ी ४$\frac{1}{4}$ लाख पर टैक्स लगने से पहले २५ हज़ार पर एक आना प्रति रुपया लगेगा और फिर प्रति ५० हज़ार पीछे आध आना प्रति रुपया बढ़ता जायगा और इस हिसाब से कुल ८२८१२॥) रुपया लगेगा। रजिस्ट्री की हुई फ़र्म को केवल १५६२५) रुपया लगेगा।

भागीदारी के काम में जोखिम बड़ी भारी रहती है। नुक़सान के समय प्रत्येक भागीदार की लगाई हुई रक़म के अतिरिक्त जो कुछ माल-मिल्कियत भागीदारों के पास होगी, वह देनदारी चुकाने में समूची दे देनी पड़ेगी और इस तरह से वर्षों के श्रम और बचत से एकत्रित की हुई निजी संपत्ति भी पानेवालों के लिये खुली रहेगी। इसलिये यदि किसी कारबार को प्रारंभ में लिमिटेड रूप देना संभव न हो, तो आगे चलकर जब प्राइवेट भागीदार ही का कारबार अच्छी उन्नत दशा को प्राप्त हो जाय, तब उसे 'लिमिटेड कंपनी' के रूप में परिवर्तित कर देना बहुत ही अच्छा है। कितने दुःख की बात है कि भारत में इस कंपनी-क़ानून और व्यापारिक संगठन से बड़े-बड़े कारबारी भी अनभिज्ञ रहते हैं एवं यह सब करने में ख़र्च और झंझट समझकर इस प्रणाली से उचित लाभ नहीं उठाते। इँगलैंड में १०० पौंड से लेकर ऊपर में १० लाख पौंड तक की पूँजीवाली कई प्राइवेट कंपनियाँ हैं। वहाँ यह बाधा या विचार उपस्थित नहीं होता कि कम पूँजी से किस प्रकार रजिस्ट्री कराई जाय। भागीदारी के कारबार की अपेक्षा 'ज्वाइंट-स्टाक-कंपनी' के रूप से काम करने में कई लाभ हैं। ज्वाइंट-स्टाक-कंपनियाँ दो तरह की होती हैं—एक प्राइवेट और दूसरी पब्लिक। दो व्यक्ति मिलकर प्राइवेट और कम-से-कम ७ से पब्लिक कंपनी खोली जा सकती है। पहली में अधिक-से-अधिक ५० भागीदार हो सकते हैं; पर दूसरी में इसकी कोई सीमा नहीं।

भागीदारी के काम में और कंपनी में बहुत भेद है। यथाः—

(क) कंपनी उसके मेंबरों (भागीदारों) की क़ानून द्वारा स्थितिप्राप्त एक संस्था है। जिसकी स्थिति मेंबरों से सर्वथा भिन्न होती है।

(ख) भागीदारी के काम में प्रत्येक भागीदार की कारबार में अपरिमित ज़ुम्मेदारी रहती है। कंपनी में ऐसा नहीं है। कंपनी के शेअरहोल्डर आपस में एक दूसरे के प्रतिनिधि नहीं होते और न कंपनी को ही उसके शेअरहोल्डरों का प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। इसलिये शेअरहोल्डर लोग कंपनी की देनदारी के अर्थ अपने शेअरों की रक़म के अतिरिक्त और कुछ ज़ुम्मेवार नहीं होते।

(ग) कंपनी का प्रबंध डाइरेक्टरों के बोर्ड द्वारा परिचालित होता है और डाइरेक्टरों का चुनाव शेअरहोल्डर लोग करते हैं। इसलिये कोई भी व्यक्तिगत किसी भी तरह की ज़ुम्मेवारी में कंपनी की तरफ़ से नहीं उतर सकता और न कंपनी की मिल्कियत को व्यवहार में ला सकता है। भागीदारी के काम में प्रत्येक भागीदार को कारबार में लेन-देन आदि का बराबर अधिकार रहता है।

(घ) कंपनी का शेअरहोल्डर कंपनी के साथ कंट्राक्ट अर्थात् लेन-देन कर सकता है, पर भागीदारी के काम में भागीदार अपनी फ़र्म के साथ कंट्राक्ट नहीं कर सकता है।

इँगलैंड में सन् १९२६ में ९७५८८ कंपनियाँ थीं, जिनमें ८१३४८ प्राइवेट और १६२४० पब्लिक थीं। इस हिसाब से वहाँ की रजिस्ट्री की हुई कंपनियों की समूची संख्या में प्राइवेट कंपनियों की संख्या ८३ प्रतिशत थी। भारतवर्ष में मिलों और कारख़ानों का संगठन अवश्य-ज्वाइंट-स्टाक कंपनी के रूप में है, पर अन्य कारबारों में इस प्रणाली का व्यवहार बहुत कम पाया जाता है। यहाँ इसके लाभ से अनभिज्ञता और रजिस्ट्री कराने के झंझट के भय से इस प्रणाली का उचित प्रचार नहीं है। इँगलैंड में रजिस्ट्री कराने और ज्वाइंट-स्टाक-

कंपनी का रूप देने में विशेष झंझट नहीं होती और तभी वहाँ कम-से-कम १०० पौंड की पूँजी से भी प्राइवेट ज्वाइंट-स्टाक-कंपनियाँ रजिस्ट्री की हुई हैं। बहुधा ज्वाइंट-स्टाक के रूप में रजिस्ट्री कराने से यह भय रहता है कि कंपनी की पूँजी, पैदा आदि बातों को प्रकाश में लाना पड़ेगा। इस विषय में यह ध्यान रखना उचित है कि पब्लिक-ज्वाइंट-स्टाक-कंपनी को अवश्य अपने हानि-लाभ के आँकड़े और रिपोर्ट रजिस्ट्रार के यहाँ पेश करनी पड़ती है, पर प्राइवेट-ज्वाइंट-स्टाक-कंपनी के लिये यह आवश्यक नहीं। प्राइवेट-ज्वाइंट-स्टाक-कंपनी की ये विशेषताएँ हैं कि उसे अपनी नियमावली (Prospectus), आँकड़े या रिपोर्ट (Balance sheet and profit and loss account) पब्लिक कंपनियों की तरह रजिस्ट्रार के पास पेश करना नहीं होता और न उसके हिसाब पासशुदा आडीटर से जँचाने की आवश्यकता होती। इस प्रकार प्राइवेट ज्वाइंट-स्टाक-कंपनी की आर्थिक परिस्थित दूसरों के सामने प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं होती। केवल रुपया भरी हुई पूँजी (Paid up capital) रजिस्ट्रार को बतलानी पड़ती है। इस प्रकार प्राइवेट कंपनी के रूप में कारबार करने से बहुत सुविधाएँ हैं। जुम्मेवारी परिमित रहती है और साथ ही ५० की संख्या तक अच्छे-अच्छे व्यक्तियों का चुनाव कर उन्हें शेअरहोल्डर बनाकर पूँजी का जुटाव किया जा सकता है। प्राइवेट कौटुंबिक कारबार का मालिक बहुत आसानी से अपने कारबार को प्राइवेट लिमिटेड कंपनी के रूप में परिवर्तित कर अपने पुत्र और पुराने विश्वासी नौकरों के हाथ में कारबार को सौंप सकता है।

इस प्रकार वाणिज्य-व्यवसाय में संगठन का काम सबसे प्रधान है। व्यापारिक प्रबंध के विचार में यह बात सबसे मुख्य है। विना भली प्रकार सोचे-विचारे फ़ुर्ती के जुटान से न-जाने क्या-क्या संकट उपस्थित हो सकते हैं। इसलिये पहले संगठन का काम भली भाँति सोच-विचार कर समुचित रूप से सम्पन्न करना चाहिए।

कारबार का स्थान और अन्य साधन

कारबार का भला-बुरा उसकी जगह पर बहुत कुछ आश्रित है। दुकान, गिद्दी या आफ़िस चाहे जो कहो सबके लिये स्थान का चुनाव बहुत सोच-विचारकर करना उचित है। दुकान ऐसे मौक़े की जगह पर होनी चाहिए, जहाँ ग्राहक आसानी से अधिक-से-अधिक संख्या में पहुँच सकें। चाहे भाड़ा कुछ अधिक लग जाय, पर जगह मौक़े की हो। थोड़े-से भाड़े की बचत के लिये दुकान कहीं गली-कूचे में पीछे-ही-पीछे लेना कभी हितकर नहीं हो सकता, जहाँ ग्राहक कभी भूले-भटके ही पहुँचने पावें। इसी भाँति आफ़िस की स्थापना में कई बातों के विचार की आवश्यकता है एवं उसका विधि-विधान समुचित और अच्छे ढंग का होना चाहिए, जिससे किसी भी प्रकार की बदला-बदली, कमज़ोरी या उन्नति-अवनति की बात फ़ौरन् ध्यान में आ जाय। भिन्न-भिन्न विभागों का संचालन और निरीक्षण सुगमतापूर्वक हो सके और किसी भी तरह की कठिनाई न पड़े, साथ ही वायु और प्रकाश का आवागमन अच्छा हो एवं स्वास्थ्य-कर स्थान हो; क्योंकि आफ़िस के कार्य-संचालन में ये बातें बहुत सहायक होंगी। मैले और अँधेरे स्थान में जहाँ दिन के बहु भाग में भी बिजली जलानी पड़ती है, काम-काज में फ़ुर्ती और सफ़ाई नहीं आ सकती है।

इसी भाँति आफ़िस ऐसे स्थान में होनी चाहिए, जहाँ उस काम की अन्य आफ़िसें हों एवं उस व्यापार का होनेवाला बाज़ार भी समीप हो, जिससे बाज़ार की घट-बढ़, तेज़ी-मंदी आदि बातें तत्काल मालूम होती रहें। जो आफ़िसें बाज़ार से दूर होती हैं, वे बाज़ार की स्थिति का अनुसरण उतनी अच्छी तरह नहीं कर सकतीं, जितनी उस कारबार के बीचो-बीच बसी हुई अन्य आफ़िसें कर सकती हैं। जगह काफ़ी होनी चाहिए और भविष्य में यदि अधिक स्थान की आवश्यकता पड़े, तो स्थान बदलने की अपेक्षा वहीं अधिक जगह मिल जाना वांछनीय होगा; क्योंकि एक बार जिस स्थान पर काम जम गया एवं जो ठिकाना प्रख्यात हो गया, उस जमे हुए स्थान को बदलना अच्छा नहीं होगा। स्थान को बदलने में परिश्रम और व्यय के अतिरिक्त कई नए-पुराने ग्राहकों के टूट जाने का भय रहता है। एक बात यह ज़रूर है कि जब आरंभ में थोड़े स्थान की आवश्यकता हो और निकट-भविष्य में अधिक फैलाव की कोई आवश्यकता या संभावना न हो, ऐसी दशा में पहले से ही बहुत भारी स्थान घेर लेना व्यर्थ और फ़िज़ूलख़र्ची ही होगी।

स्थान ऐसा हो, जहाँ ग्राहकों के आने-जाने में सुविधा हो। यद्यपि लिफ़्ट हो, तो भी जैसी एक आँगन या पहले तल्ले की आफ़िस में ग्राहकों का खुला आवागमन और पूछ-ताँछ रहेगी, वैसी एक पाँचवें तल्ले पर स्थित आफ़िस के लिये आशा नहीं हो सकती। आफ़िस का भीतरी निर्माण भी बहुत सोच-विचारपूर्वक होना चाहिए। चाहे जहाँ कुर्सी-मेज़ या अन्य सामान के पड़े रहने अथवा भिन्न-भिन्न विभागों का उचित निर्माण न होने से देखने में अच्छा न लगने के अतिरिक्त कार्य में भी सुविधा नहीं रहती। सब विभागों की स्थापना इस तरह से होना चाहिए, जिससे संचालन देखने में अच्छा लगे और काम-काज, आपस की पूछ-ताँछ, आवागमन आसानी से हो सके। जिन विभागों का निकट-संबंध हो, वे एक दूसरे से सटे हुए होने चाहिए। मुख्य-मुख्य विभागों के उच्च अफ़सरों के कमरे मालिक (Proprietor) या सबसे उच्च अफ़सर (Head manager) के कमरे के समीप होने चाहिए। समूचे स्थान को छोटे-छोटे कमरों में विभाजित कर देने से प्रकाश और वायु में बाधा पहुँचेगी। इससे अलग कमरा केवल मालिक या प्रधान कार्यकर्ता का हो, जिसके काम-काज में एकांतता और गुप्तता की आवश्यकता होती है। अन्य सब आफ़िसों का निर्माण खुले स्थान में हो। हाँ, आवश्यकतानुसार छोटी छड़ें या कठघरे से भले ही विभाजित कर दिया जाय।

जहाँ बाहर से मिलने आनेवालों की संख्या बहुत रहती हो, वहाँ उनके लिये जबतक दूसरा भीतर कमरे में हो, बाहर इंतज़ारी करने के लिये एक वेटिंग रूम हो, जहाँ एक मेज़ और कुर्सियाँ हों तथा मेज़ पर व्यापार-संबंधी पत्र-पत्रिकाएँ रक्खी हों। यह बात आजकल की उत्तम आफ़िसों में बहुधा पाई जाती है।

कारबार के स्थान अथवा आफ़िस-निर्माण की इस नवीन प्रणाली के लिये बहुत यह कह दें कि इससे हमें क्या मतलब है, हमारे लिये तो हमारा पुराना ढंग ही अच्छा है, हम क्यों किसी की नक़ल करें। इस जगह थोड़ा-सा वर्णन हमारे स्थानों का, जिन्हें गद्दी या पेढ़ी कहते हैं, कहना अनुचित न होगा; क्योंकि इससे यह बात समझ में आ जायगी कि जिस प्रकार हमारे कारबार के अन्य कई ढंग अच्छे और समयानुसार नहीं हैं, उसी प्रकार यह गद्दियों का ढंग भी काम-काज की उत्तमता में सहायक नहीं। गद्दियों में मनों रुईवाले लंबे-लंबे गद्दे और मसनद-तकिए होते हैं, जो हज़ारों खटमल और कीड़ों-मकोड़ों के घर होते हैं। दोपहर में काम-काज करनेवालों का इनके सहारे इधर-उधर लुढ़क जाना अथवा ऊँघना ही कह देता है कि हमारी इस प्राचीन प्रणाली से काम-काज में फ़ुर्ती और अच्छापन कहाँ तक आ सकता है। इसी गद्दी पर एक ओर बीमार पड़ा है एवं रात को तो सब मुनीम-गुमास्ते इन्हीं गद्दियों पर सोते ही हैं। वर्ष में केवल एक या दो बार दिवाली या रामनवमी के समय गद्दे उठाकर नीचे से झाड़ना-बुहारना किया जाता है एवं कई बार सोनेवाले गद्दियाँ ख़राब तक कर देते हैं। चाँदनियाँ मैली और गंदी हो जाती हैं, पर धोबी धोकर लावेगा तब बदली जायँगी। एक बार इन चाँदनियों के बनाने में १००-१५० रुपया भले ही लग जाय, पर इनकी जगह मेज़-कुर्सी लगाकर अँगरेज़ी ढंग कौन करे। इसी भाँति यदि कोई १० से ५ बजे तक काम करने को कहे, तो मालिक चट से कह देंगे, यहाँ पर अँगरेज़ी टाइम करने से काम नहीं चलेगा। यहाँ तो रात को भी काम करना होगा। शौचादिक और ऊपर बासे में रोटी खाने का एक-डेढ़ घंटा बाद देकर सुबह से शाम तक और रात्रि के बारह (कहीं-कहीं एक दो बजे तक) मुनीम-गुमास्ते यहीं गद्दियों पर आबाद चाहिए, चाहे वे बैठे इधर-उधर गप्प लड़ाते हों, ऊँघ रहे हों, किंवा अपने दादों को खुजलाते और मसों को पपोलने में ही अधिकांश समय क्यों न बिता दें। यह बात भलीभाँति सिद्ध हो चुकी है कि उचित और नियमित काल तक काम करने से फ़ुर्ती और तेज़ी का परिमाण अधिक रहता है या न-जाने ढीलम-ढाले काम के ढंग को छोड़कर तेज़ी और फुर्ती के साथ १० से ५ या ६ तक काम करने का ढंग नौकर और गुमास्तों में एवं उसी प्रकार काम लेने की तमीज़ मालिकों में कब आवेगी। भारत में मजूरों और श्रम-जीवियों के रहन-सहन और परस्थिति पर बहुत कुछ आलोचना हुआ करती है, पर इन ऊँची-ऊँची कोठियों में गद्दी या पेठियों में काम करनेवाले गद्दी के कीड़ों या कीड़ों द्वारा सताये जानेवालों की दशा में भी बहुत कुछ सुधार और परिवर्तन की आवश्यकता है। इस जगह विलायत

से आये हुए एक अँगरेज़ की बातचीत का उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा। उसने यहाँ के ढंग को देखकर पूछा—

बड़े बाज़ार के ये कारबारी लोग कलकत्ते में अकेले रहते हैं या घर-बार-सहित? (Mr. Barjatya! Do these people of Burrabazar live in Calcutta with their families or alone?)

मैंने कहा—"अधिकांश अकेले रहते हैं।" (Bigger portion lives without their family.)

उसने पूछा—"घर-बार कलकत्ते से कितनी दूर है?" (How far are their familes?)

मैंने कहा—जितनी दूर आपके इँगलैंड का एक कोने से दूसरा कोना होगा उससे कम नहीं।" (Their native places are not much below the distance between one corner of your country to the other.)

उसने कहा—"तब वे अपने घर कैसे जाते हैं?" (Then how do they go to their homes?)

मैंने कहा—"वे एक-दो वर्ष बाद या तो स्वयं बीमार और काम करने में असमर्थ हो जाते हैं तब या घर पर किसी के बीमार होने की ख़बर आने पर जाते हैं।" (They visit their homes after one or two years when either they fell ill or unable to work or they hear any news of some member's illness at home.")

उसने पूछा—"तब ये लोग कहाँ रहते हैं और कहाँ सोते हैं?" (Then where do these people live and where they sleep?)

मैंने कहा—"रहने को तो जहाँ काम करते हैं, वहीं समझिए और सोने की उन्हें बहुत कम आवश्यकता होती। है एवं वहीं सो जाते हैं, जहाँ काम करते हैं।" (They live where they work, and as for sleeping they require a very small sleep and roll over very late in the night where they work.)

उसने कहा "ओह बद जात्या यह कितना बुरा है।" (Oh Barjaty! a how dirty and undesir... ble it is?)

यह सब होने पर भी इंपोर्ट एक्सपोर्ट के काम... गद्दीवालों को भी मेज़-कुर्सी लगानी पड़ती है, क्यों... बाबू (अँगरेज़ी जाननेवाला क्लर्क) एवं मिलने आ... वाले साहब लोगों (विदेशियों) के लिए मेज़-कु... चाहिए। पर यह सब उचित रीति से आफ़िस न हो... गद्दी के दूसरी ओर एक कोने में मेज़-कुर्सी लगाकर... काम निकाल लिया जाता है। बहुधा इन इंपो... एक्सपोर्ट वालों के काम की प्रणाली संतोषजनक नहीं... फाइल का सिस्टम इतना भद्दा कि एक काग़ज़ के ढूँ... में दो-चार घंटे लग जाना बड़ी बात नहीं। इसी भाँ... जमादार या पियून के रखने में इतनी किफ़ायत ... जायगी कि काम पड़ने पर गुमास्ते को दौड़ाओ ... स्वयं दौड़ते हुए बैंक आदि में जाओ। मिलने आ... वालों के लिए एक-एक कर आने का कोई प्रबंध नहीं... एक ही साथ सबके मिलने आने से बातचीत ... सुविधा नहीं होती और न काम ही उचित रीति ... निपट पाता। एक बात यह होती है कि कोई कि... लिये आया है, तो कोई क्या शिकायत लाया है—आदि... सबका भेद सबको एक साथ भीतर आने से प्रकट ... जाता है। उदाहरणार्थ समझिए कि एक दुकानदा... किसी इंपोर्टर के यहाँ माल के चालान लेट होने ... शिकायत लेकर आया, और बैठा बातें कर रहा है। इ... अर्से में एक और ख़रीददार आया जो माल की कालि... के विषय में अर्थात् माल के घटिया होने की शिका... यत करना चाहता है। इसे माल के चालान लेट होने ... विषय में कोई विचार न था, पर वहाँ आने पर एक ... नई और मिल गई और यह सब बातचीत करने के लि... भीतर सबके एक साथ आने के कुप्रबंध के कारण... सबके एक साथ मिलने आने से असुविधा और हानि... दोनों हैं। इसलिए अच्छे ढंग की आफ़िसों के लिये एक... एक कर आने की प्रणाली बहुत ज़रूरी है। जहाँ दिन... भर में बीसियों मिलने आते हों, वहाँ इस प्रकार ए... साथ मिला जाय, तो एक की भी बात का सुनना और... उसका उत्तर देना कठिन हो जायगा। हाँ, एक बात ... अवश्य ध्यान में रखने योग्य है कि इस तरह की प्रणाली... में यह न हो कि मिलने आनेवाले को बाहर घंटों ...

ली करनी पड़े और उसकी कोई बारी ही न आवे ; यह भी वांछनीय नहीं कि भीतर आए हुए की कुछ सुनी नहीं कि उसे निकाल बाहर किया । यह भी नहीं चाहिए कि उससे बैठे हुए मज़े गप लड़ा रहे हैं और बाहर खड़े हुए लोग झिल्ली से झाँक-झाँककर भीतर आने के लिये उकता रहे । यदि विषय लंबा हो तो दोपहर के बाद, जिसे के पीछे कहते हैं, समय नियत कर दिया जाय; जब अन्य आनेवालों की संख्या कम पड़ जाती हो । इस प्रकार कारबारी स्थान और अन्य साधनों के विषय में यह थोड़ी-सी चर्चा हुई । उसका समुचित वर्णन करना यहाँ संभव नहीं; क्योंकि यह भी एक ऐसा विषय है, जिस पर पाश्चात्य साहित्य में एक नहीं बीसियों ग्रंथ मौजूद हैं ।

व्यापारिक आचार-व्यवहार

व्यापारिक सफलता के लिये सचाई, सच्चा व्यवहार और ईमानदारी बहुत महत्त्वपूर्ण गुण हैं । जिस प्रकार सचाई का फल जीवन के प्रत्येक कार्य में मीठा लगता है, उसी भाँति व्यापार में भी सचाई का व्यवहार अत्यंत लाभदायक है । बुरा नाम और बेईमानी की शोहरत होने में देर नहीं लगती और एक बार नाम ख़राब हो जाने पर सुधारना बड़ा कठिन है । इसीलिये कहा गया है—"जा जो लाख रह जो साख" अर्थात् चाहे जो हानि उठानी पड़े, पर इज़्ज़त-आबरू में बट्टा न लगे । आज व्यापार में दुनिया के साथ संबंध-संपर्क होता है और इसलिये ईमानदारी या बेईमानी की बात भी दूर-दूर तक पहुँचती है । इसलिये व्यापार में सचाई के लिये नाम और ख्याति प्राप्त करना चाहिए । यद्यपि यह कहा जा सकता है कि सफल और समृद्ध व्यापारी सचाई के आदर्श नहीं होते, तथापि यह निश्चय है कि इसका फल मीठा ही नहीं, पर स्थायी होता है । आजकल हमारे यहाँ सामनेवाले की आँख में धूल झोंकना ही व्यापारिक कला और चातुरी समझी जाती है और इसीलिये दुकानदार की भावना के लिये एक कहावत है—"आता कोई आँख का अंधा गाँठ का पूरा" । अर्थात् ऐसा बेसमझ ग्राहक आवे, जो अपने मुँह-माँगे दाम देकर चला जावे । यदि एक बार ग्राहक धोखे में आकर अनुचित दाम दे भी गया, तो इससे क्या हुआ; क्योंकि उसे मालूम हो जाने पर कि उसे ठगाई हो गई है, वह उस दुकान पर क्या फिर से चढ़ेगा । 'काठ की हंडी एक ही बार चढ़ती है' वाली कहावत व्यापार में प्रत्यक्ष चरितार्थ होती है । सचाईरूपी उत्तम गुण की अवहेलना से ऐसा मालूम होने लगा है, मानों झूठ बिना व्यापार चल ही नहीं सकता । कोई-कोई दुकानदार किसी पदार्थ के चौगुने-पचगुने दाम तक माँग बैठता है और उस समय ग्राहक बड़ी दुविधा में पड़ जाता है कि वह कहाँ तक कम मूल्य कहे, पर जैसे के साथ तैसा ही होना पड़ता है । जिस परिमाण में बढ़ाकर दाम कहे गए हैं, उसी अनुसार घटाकर जब ग्राहक दाम कहता है, तो दुकानदार क्रोधित हो जाता है । यह कितने विचार की बात है । इस जगह बचपन में देखी हुई एक सच्ची घटना का उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा । गर्मी की छुट्टियों के दिनों में जब अपना एक आदमी दौरे पर जाने लगा, तो पिताजी ने कहा कि तुम भी साथ चले जाओ, जयपुर, आगरा आदि देख आना । मुझे इस पर बहुत ख़ुशी हुई और साथ जाने की तैयारी कर ली । जब जयपुर पहुँचे, तो वहाँ के बाज़ार में निकले । साथ जो सज्जन थे, वे बड़ी-बड़ी दाढ़ी रखते थे । इसलिये उन्होंने एक कपड़े की दुकान पर जाड़िया (दाढ़ी जमाने के लिये दाढ़ी पर बाँधने की ४-५ अंगुल चौड़ी मलमल या नैनसुख की पट्टी), जो सांगानेरी छपा हुआ था, देखा और उसके दाम पूछे । दुकानदार ने उस जाड़िया का मूल्य चार आना बताया । मेरे साथी सज्जन ने तीन पैसे कहे । चार आने की वस्तु के तीन पैसे कहने पर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, पर थोड़ी देर में पता चल गया कि तीन पैसे कहना उन्होंने बुरा काम नहीं किया । दुकानदार ने पहले तो कहा—"जा-जा कांई लेवेलो कोड़ासूं डाढ़ी चेप ल्यायो है" । मुझे दुकानदार के इस अशिष्ट व्यवहार पर बड़ा क्रोध आया, पर आगे क्या होता है यह देखने के लिये चुपचाप रहा । इतने में चार पैसे कहे गए और ज्यों ही पाँच पैसे उच्चारण किए गए कि दुकानदार बोला—"आछो तो लेल्यों बोवणी ही करी" । यह हमारे यहाँ की ख़रीद बिक्री का एक साधारण दृश्य है । इस भाँति एक साधारण वस्तु की लेना-बेची में बेचने और लेनेवाले का न-जाने कितना समय व्यर्थ नष्ट किया जाता है । चाहे जितनी जाँच-पड़ताल से एक पदार्थ ख़रीदा

जाय, पर अंत में यह धोखा तो बना ही रहता है कि कहीं ठगा तो नहीं गए। पदार्थ का एक सच्चा मूल्य, जिससे कम में बेच नहीं सकते, वही यदि सर्वप्रथम कह दिया जाय तो इससे लेनेवाले का विश्वास जमा रहेगा और दोनों का समय भी व्यर्थ नहीं जायगा। जयपुर से चलकर जब हम लोग आगरा पहुँचे, तो मेरे साथी सज्जन नामी हलवाई की दुकान पर गए और एक सेर सोहनहलुआ देने को कहा। विचारने की बात है कि यहाँ पर उन्होंने भाव-ताव नहीं किया, सीधे जाते ही 'एक सेर सोहनहलुआ दो' ऐसा आदेश किया। हलवाई ने तोलकर सोहनहलुआ दिया और उन्होंने उसे एक रुपया दे दिया और चलते बने। मैंने उनसे पूछा—"यहाँ तो आपने सिरमारी नहीं की"। वे बोले—"यहाँ पर इसकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि कोई भाव करे या न करे चाहे बच्चा ही क्यों न आ जाय किंवा कोई बड़ा भारी हुशियार भाव-ताव करनेवाला आवे एक रेट रुपए सेर का बँधा हुआ है"। देखिए, दोनों तरह की दुकानदारी में कितना अंतर है। पर हमारे यहाँ सचाई एवं एक भाव की बात तो दूर रही, बोलने में मिठास और शिष्ट व्यवहार की भी बड़ी भारी कमी रहती है। कभी-कभी तो इसी भाव की ऊँचाई में लेने और देनेवाले के बीच झगड़ा-फ़साद और गाली-गलौज तक की नौबत आ जाती है।

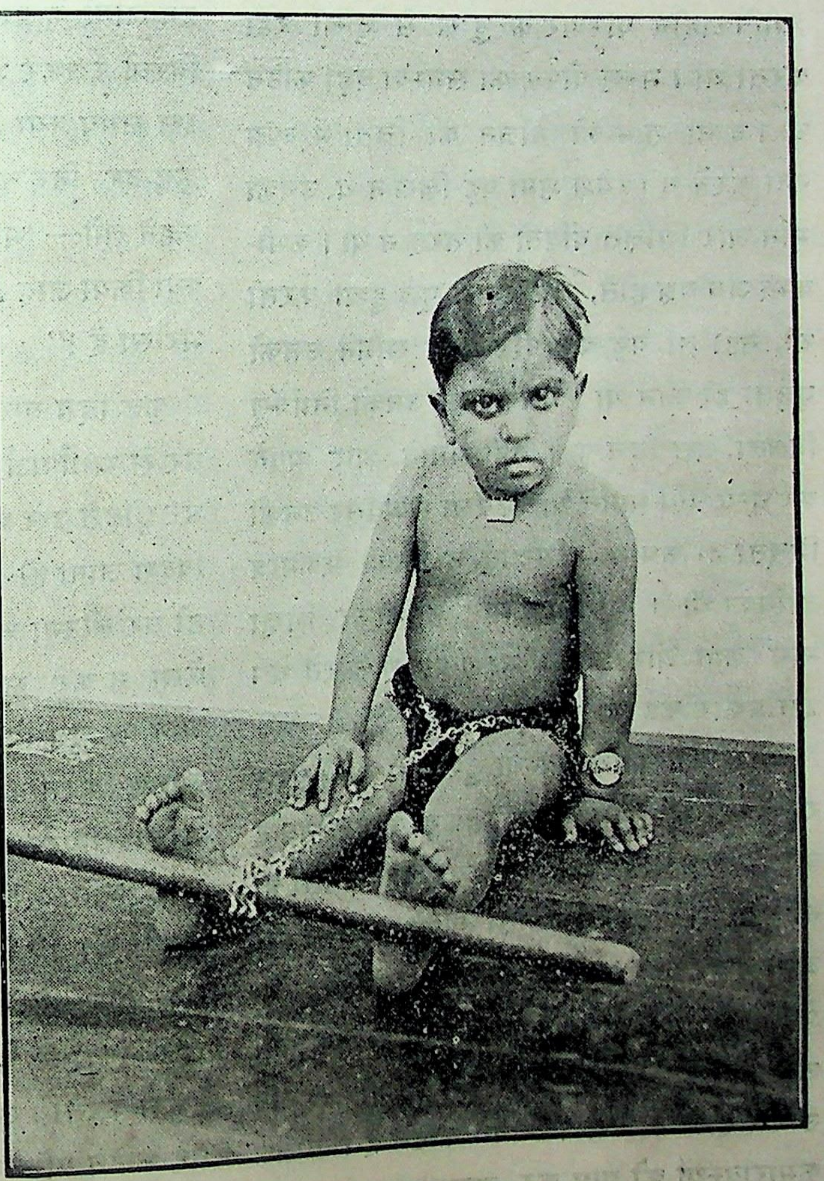
यह बात ध्यान में रखना योग्य है कि सद्व्यवहार और मिष्ट भाषण व्यापार में बड़ा काम देते हैं। कारबार को बिगाड़ना सहज और बनाना कठिन है। अशिष्ट व्यवहार कारबार को नष्ट करने में प्रधान कारण समझना चाहिए। जिस संबंध को बनाने में कई वर्ष लगे हों, उसे एक कड़ी चिट्ठी, ढीठ उत्तर या टेलीफ़ोन पर ही रूखा वार्तालाप क्षण-भर में तोड़ डालने के कारण हो जाते हैं। रक़म के तकादे की चिट्ठियाँ भी ठीक ढंग और चतुराईपूर्वक लिखी होने पर जैसा असर करती हैं, वैसा अन्य से नहीं। कारबार के स्थान में जहाँ इतना शोर-ग़ुल और बाहरवालों का आवागमन और उनसे मिलने का काम बहुत रहता है, वहाँ अपने स्वभाव को स्थिर और नम्र बनाए रखना वास्तव में योग्य पुरुषों का काम है। जो अपने-आप पर शासन कर सके, वही दूसरों पर शासन करने योग्य कहला सकता है। अपने घर, सभा-सोसाइटी या मित्र-मंडली में जो बड़े हँसमुख और ख़ुशमिज़ाज होते हैं, उन्हें भी बहुधा कारबार के स्थान में संगीन और मुँह चढ़ाए हुए देखा है। बहुत लोग भूल जाते हैं कि कारबार में भी शिष्ट और मिष्ट व्यवहार की बड़ी आवश्यकता है। उग्र, रूखा और अशिष्ट व्यवहार कारबार में कदापि उचित नहीं। अपने ग्राहकों से ऐसा व्यवहार उनसे हाथ धोने का काम देगा, पर अपने नीचे काम करनेवालों से भी भला व्यवहार करना योग्य है। जब हमारे यहाँ नीचा दाम कहने पर या कोई पदार्थ नहीं ख़रीदने पर ग्राहक पर क्रोध तक कर बैठते हैं। विदेशी दूकानों में देखा है कि उनके यहाँ ग्राहक के साथ कैसा अच्छा व्यवहार और वार्तालाप किया जाता है। वहाँ कुछ नहीं लेने पर भी यही कहा जायगा "अच्छा, तो आप फिर आने की कृपा कीजिएगा"। अशिष्ट व्यवहार का छोटे कारबार में ही नहीं, पर बड़े कारबार में भी क्या फल होता है, इसका एक उदाहरण सच्ची घटना का दिया जाता है। थोड़े दिनों की बात है कि एक बड़े एक्सचेंज-बैंक का मैनेजर एक बहुत उग्र मिज़ाजवाला आया। वह एक्सचेंज के लिये उसके पास आनेवाले दलालों और ग्राहकों के साथ बहुत अशिष्टता से पेश आता और बहुधा यह कह देता 'बाहर जाओ' (Go out)। बड़े-बड़े फ़र्मोंवाले, जिनसे उस बैंक में भारी काम होता था, उसके व्यवहार पर बहुत असंतुष्ट हुए और फलस्वरूप उस बैंक से अपना काम कम करने लगे एवं बाहर अपने आढ़तियों को उस बैंक में हुंडी काटने की मनाही लिख दी। हेड आफ़िस को कारबार की इस प्रकार घटी पर बड़ा विचार हुआ और फ़ौरन् एक डाइरेक्टर को इस बात के अन्वेषण के लिये भेजा। ग्राहकों को बुलाकर जब पूछा गया, तो मालूम हुआ कि बैंक के नए मैनेजर ने अपने उग्र व्यवहार के कारण अच्छे-अच्छे ग्राहकों को रुष्ट कर दिया है। उसने यह आश्वासन देकर कि अब फिर ऐसा नहीं होगा और यह कहकर कि हम आपका पुराना साहब यहाँ है, आपको किसी बात की तकलीफ़ नहीं होगी अपने काम को फिर से बढ़ाने और ग्राहकों को जुटाने की कोशिश की। इस भाँति प्रत्यक्ष है कि व्यापार में व्यवहार का अच्छा या बुरापन कितना महत्त्व रखता है।

मोहनलाल बड़जात्या

बाल-महिला-मनोरंजन

१. एक होनहार बालक

यह चित्र प्रोफ़ेसर के० के० शा० जैन सेंडो पाटनवालों के चिरंजीवि पुत्र चंपकलाल का है। जिसकी अवस्था इस समय सिर्फ़ ३½ वर्ष की है। ता० ७-३-२८ के दिवस पाटन-शहर (उत्तर गुजरात) के जैन-बोर्डिंग हाउस के विशाल मैदान में १,५०० जनता के समक्ष १३५ रतल को झेल सकनेवाली शृंखला इस बाल सेंडा ने तोड़ी थी। पश्चात् इसके कोमल नन्हे शरीर के ऊपर से एक गाड़ी (विना आदमियों की) भी निकाली गई थी। इस समय जनता के चेहरों पर तो भय की रेखा का चित्र मालूम पड़ता था, परंतु बालक का मुख-कमल अधिक तेजस्वी और रम्य बना हुआ देखते ही बनता था। इसके उपलक्ष में



बालक चंपकलाल

जवेरी हेमचंद मोहनलाल पाटनवालों की तरफ़ से इसको एक सुवर्णपदक समर्पण करने में आया था।

(प्राप्त)

× × ×

२. अनोखी सूझ

भगवानपुर ग्राम में रमेश शर्मा नाम का निर्धन ब्राह्मण रहता था। पत्नी और एक पुत्र के सिवा उसके दूसरा कोई न था। उसकी स्त्री सुभद्रा जीविकाहीन परिवार के दुःख से दुःखी रहा करती थी। भरण-पोषण की समस्या बड़ी कठिन थी। दोनो शाम को भोजन की चिंता में व्यग्र रहा करते थे। रमेश शर्मा पढ़े-लिखे न थे, उनका मान और शिक्षित पंडितों की तरह न था। कभी-कभी जब यज्ञ होते, तब उनकी पूछ हुआ करती थी, नहीं तो बड़े-बड़े पंडितों के सामने उनको पूछता ही कौन था। जिस दिन उनको निमंत्रण मिलता, उस दिन फूले नहीं समाते, और अपने को धन्य-धन्य मानते थे; पर ऐसा सुअवसर उनको मिलता ही कब था। भिक्षावृत्ति उनकी एकमात्र जीविका थी। प्रतिदिन ग्राम में जाकर भिक्षा माँग लाते और अपना भरण-पोषण करते थे। इस प्रकार कई वर्ष बीत गए।

रमेश की आर्थिकावस्था बुरी तो थी; परंतु रमेश सरल स्वभाव से रहकर जीवन-निर्वाह करता था। चालबाज़ी और ठगी वह जानता ही नहीं था। माता की ममता अपने बालकों पर जैसी हुआ करती है, उसी के अनुसार सुभद्रा का प्रेम अपने एकमात्र लाल पर बहुत अधिक था। उसे बड़ा होते देख माँ के मन में जो सद्भाव उत्पन्न होते थे, उसे लिखना कठिन है। बालक कुमारावस्था को प्राप्त कर चुका था। माताओं की लालसा जिस प्रकार पुत्र-वधू का मुख देखने को होती है, उसी तरह सुभद्रा नवविवाहिता पुत्र-वधू का मुख-मंडल देखने के लिये अधीर थी। एक दिन रमेश शर्मा से कहने लगी—"मेरा लाल आँखों का तारा, प्राणों का प्यारा, बुढ़ापे का का सहारा—अब प्रौढ़ावस्था को प्राप्त कर चुका, अब आपको विलंब न करना चाहिए। उपनयन तथा विवाह का शीघ्र प्रबंध न होगा, तो समाज में बड़ी बदनामी होगी और लोग उपहास करेंगे। हम लोगों के पास धन नहीं, न सम्पत्ति है जिसे गिरवी रखकर भी काम चलाया जाय। आप इस समय क्या सोच रहे हैं......" रमेश शर्मा कुछ देर निरुत्तर हो बैठे रहे। कुछ देर बाद कहने लगे—"भगवान् की ऐसी ही दया हो, तो क्या किया जाय! वह सबका मालिक है, उसी का भरोसा है।"

कुछ दिन बाद सुभद्रा से सम्मति लेकर रमेश घर से अर्थोपार्जन करने के लिये निकला। प्यारा घर छोड़ते उसे बड़ा मोह आया; पर बाध्य होकर विदेश जाना ही पड़ा। कुछ दूर जाकर, प्रेमार्दित हो घर लौटना चाहा; परंतु लोक-लज्जा के भय से ऐसा न कर सका। संध्या-समय घर लौटकर आने पर पुत्र-पिता का सहभोज, बच्चे का स्नेह स्मरण करते-करते उसकी आँखें आँसुओं से भर गईं। परंतु क्या करता, जाना ही था। इस तरह भाँति-भाँति का संकल्प-विकल्प करता-करता, वह कई दिनों के बाद एक नगर में पहुँचा। नगर में प्रतिदिन घूम-घूम वह भिक्षाटन करता और संध्या-समय जो कुछ मिलता, बेचकर पैसा इकट्ठा करता। ज्यों-ज्यों उसे कुछ मिलने लगा, वह कठिन परिश्रम करने लगा। इस प्रकार उसने कुछ रुपया इकट्ठा कर लिया। निर्धन होने के

धारण और कठिन परिश्रम से उपार्जित धन की रक्षा बड़ी सावधानी से करता था । रात को सजग होकर सोता और आधा पेट खा-खाकर धन-संग्रह करता था । उसको इस बात की बड़ी फ़िक्र थी कि किसी पर यह विदित न होने पावे कि उसके पास रुपए हैं । वह एकांत में स्नान करता था और कमर में एक झोली बाँधकर रुपए रखा करता था । एक दिन वह बहुत दूर निकल गया और कहीं दूसरी जगह रह जाना पड़ा । प्रातः-काल एक निर्जन स्थान में वह स्नान करने गया। कोई देख न ले, इसलिये बहुत जल्दी-जल्दी स्नान कर रहा था । अकस्मात् उसकी थैली कुएँ में गिर पड़ी। अब क्या था—'मणि बिनु फणि की' हालत हो गई, वह अधीर हो गया । वह नीचे-ऊपर देखता, कुएँ के चारो ओर घूमता, छाती पीटता और हाय ! हाय ! करता था ; पर वहाँ उसका कोई सहायक न था । वह स्थान ग्राम से दूर था। कुछ देर बाद एक केवट गउओं को चराता, कुछ दूर पर दीख पड़ा । उसकी नज़र उस ब्राह्मण पर पड़ी । उसकी व्यग्रता देखकर वह दौड़ा-दौड़ा आया । ब्राह्मण की बेचैनी का कारण बार-बार उत्सुकतापूर्वक पूछा । ब्राह्मण डर गया और सोचने लगा, इसने सब कुछ देख लिया और सब दिन की कमाई चली गई । बार-बार पूछने पर जब वह ब्राह्मण डर के मारे नहीं बताता था, तब वह चरवाहा उसे पागल समझकर लौट जाना चाहा। अब अपना कोई सहायक न देखकर ब्राह्मण डरता-डरता सारी कहानी कह सुनाई । ५००) की थैली का हाल भी अंत में कह दिया । रमेश बार-बार उससे आग्रह करता कि वह थैली निकाल दे, परंतु कुएँ की भयानकता उसे डरा देती थी । अंत में ब्राह्मण ने सोचा कि आख़िर तो थैली जा ही रही है, इसे कुछ दे देने की लालच दूँ । केवट लालच देने पर राज़ी हुआ ; परंतु वह क्या लेगा, इस पर बहुत देर विवाद चला । अंत में यह निश्चय हुआ कि जो वह उचित समझेगा, वह ब्राह्मण को देगा । ब्राह्मण ने लाचार होकर इस शर्त को मान लिया, पर केवट ने इसकी लिखा-पढ़ी करा लेना चाही; क्योंकि उसको इस बात की आशंका रही कि पीछे बखेड़ा उपस्थित होगा। एक शर्तनामा तैयार हुआ, जो इस प्रकार था—

"जो केवट मन भावे, सोई ब्राह्मण पावे ।"

केवट उस थैली को निकालने के लिये पानी में डूबा, थैली निकाल लाया। ब्राह्मण थैली देखते ही हर्षित हुआ और थैली अपने हाथ में ले लेनी चाही। केवट भी कम चतुर नहीं था । केवट ने थैली का रुपया गिना और उसमें से २५) पंडित को देना चाहा । रमेश हाय-हाय कर धरती पर गिर पड़ा और छाती पीटने लगा । अंत में यह मामला गाँव के मुखिया के पास उपस्थित किया गया और शर्तनामे के अनुसार केवट की डिगरी हुई । ब्राह्मण उस न्याय से संतुष्ट न हुआ और दूसरे न्यायकर्ता के यहाँ जाने का आग्रह किया। दोनों ने एक न्यायकर्ता के सामने अपने-अपने बयान दिए और फिर भी डिगरी केवट की हुई। सबों ने डिगरी उसी शर्तनामे के आधार पर दी। केवट ने अब रुपए ले लेने चाहे । रमेश फिर छटपटाने लगा और फिर से आग्रह किया कि किसी दक्ष न्यायी के पास चलना चाहिए । केवट राज़ी न होता था, परंतु बहुत कहने-सुनने पर राज़ी हुआ।

घूमते-घूमते वे एक पंडित के दरवाज़े पर पहुँचे, जिसकी ख्याति न्याय के लिये प्रसिद्ध थी। उनके सामने सब बातें पेश की गईं । पंडितजी

किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गए, क्या करें, क्या न करें। इसी विचार-सागर में पड़े-पड़े चिंतित थे। दूसरे दिन फ़ैसला सुनाना था। क्या निर्णय करें कुछ सूझ नहीं पड़ता था। शर्तनामा, परिस्थिति जिसमें वह लिखा गया था तथा दो न्यायकर्ताओं की डिगरी आदि पर विचार कर निर्णय सुनाना टेढ़ी खीर थी। इसी विचार में लीन हो पड़े थे। उनका लड़का गणेशशंकर प्रखर बुद्धिवाला था। पिता की चिंता उसके लिये असह्य थी। पिता की चिंता का कारण जानकर उसको एक बात सूझ पड़ी। उसने पिता से कहा—"शर्तनामा सत्य है। ब्राह्मण ने बाध्य होकर उसे लिखा है और शर्तनामा स्पष्ट बतलाता है—"जो केवट मन भावे" अर्थात् जितना केवट को ले लेने की इच्छा हो, वही ब्राह्मण को मिले। अर्थात् केवट २५) ब्राह्मण को देकर सब अपने लिये ले लेना चाहता है, यही रक़म अर्थात् ४७५) ब्राह्मण को मिलेंगे और २५) केवट को।" गणेशशंकर के इस तर्क को सुनकर पिता आह्लादित हो उठे और उसे हृदय से लगा लिया। दूसरे दिन जब मामला पेश हुआ, तो पंडितजी ने उस शर्तनामे की सत्यता के विषय में बार-बार पूछा और केवट ने प्रत्येक बार उसे सच बतलाया और कहा कि मेरा न्याय वही करेगा। पंडितजी ने जब अपना निर्णय पढ़ सुनाया, तो केवट के होश उड़ गए और अपने दुर्भाग्य पर पश्चात्ताप करने लगा। रमेश शर्मा ने न्याय की दुहाई और भगवान् को धन्यवाद देकर अपने घर के लिये प्रस्थान किया।

लड़को, देखा गणेशशंकर की प्रखर बुद्धि! किस चतुराई से उसने काम किया। अगर तुम भी उसी तरह अग्रसोची बनोगे, तो लोग तुम्हारी भी प्रशंसा करेंगे। लक्ष्मीनारायणसिंह

× × ×

३. चोरी

१

चोरी करना महापाप है,
इसे बालको छोड़ो तुम;
हुआ पूर्व जो उसे भूलकर,
अब इससे मुख मोड़ो तुम।

२

झूठ कपट छल आदिक अवगुण,
अति दुखदायी पाओगे;
निजकुल कुलांगार होओगे,
और कुपुत्र कहाओगे।

३

छोड़ोगे यदि नहीं कभी तो,
बन्दी-गृह तुम जाओगे;
कुल-मर्यादा मातु-पिता की,
भावी आश मिटाओगे।

४

पतित नीच से नीच तुम्हें,
सब दुर्गुण का घर समझेंगे;
आदर नहीं करेंगे अपने
पास न वे आने देंगे।

५

छोड़ो चोरी से दुर्गुण को,
बनो सद्गुणी प्यारे लाल।
चोरी से तुम डरो सदा ही,
समझो इसे भयंकर काल।

६

महापतित यह कार्य-हानि अति,
होती इसके करने से;
त्याज्य कार्य है यह हे बालक,
पाओगे सुख तजने से।

७

प्यार करेंगे तुमको सज्जन,
कुल-गौरव कहलाओगे;
उदाहरण होओगे सबका,
आदर सबसे पाओगे।

८

धन आदिक सब हर्ष सहित
तुम पर भेंट चढ़ावेंगे;
प्रमुदित होंगे देख तुम्हारे
गुण सर्वत्र सुनावेंगे।

हरिश्चंद्रप्रसाद "इंदु"

× × ×

४. स्वच्छता

कालूराम बड़ा मैला लड़का था। वह न तो कभी नहाता ही था और न अपने शरीर का मैल ही छुड़ाता था। उसकी माँ जब कभी नहाने को बुलाती, तो रोकर बाहर भाग जाया करता था। यद्यपि कालूराम शरीर का गोरा था, तो भी उसके हाथों-पाँवों पर इतना मैल जमा रहता था कि कोई उसके गोरे शरीर को देख ही न पाता था। ठंड के दिनों में तो वह ठंडे पानी की कौन कहे, गरम पानी से भी पक्का वैर कर लेता था। जब शरीर को पानी के पास ही नहीं जाने देता था, तब मैल दूर होगा ही कैसे? परिणाम यह होता था कि उसके हाथ मैल के कारण फट जाते थे। जगह-जगह से लहू निकलने लगता था, असह्य पीड़ा होती थी। रोता था, चिल्लाता था; किंतु मैल को दूर नहीं करने देता था। शायद उसका यह अनुमान था कि देह का मैल निकल जाने से मैं दुबला-पतला पड़ जाऊँगा।

जब कालूराम के शरीर का यह हाल था, तब उसके कपड़े कैसे रहते होंगे, यह बात थोड़ा ही सोचने से समझ में आजाती है। कपड़े क्या थे, मैल का पूरा घर। जैसे तुम लोगों ने तेलियों या हलवाइयों के कपड़े देखे होंगे, जो अपना रोज़गार करते समय पहन लेते हैं। उसके कपड़ों से ऐसी बदबू आने लगती थी कि कोई उसे अपने पास बैठने तक को नहीं कहता था। आज कालूराम को नया कपड़ा पहनाया। बस, दो घंटे बाद देख लो, वह भी पहले के कपड़ों के समान काला। कारण यह था कि वह हमेशा धूल मे खेला करता था और उसी से अपना शरीर तथा कपड़े मैले कर डालता था।

एक दिन नगर में सरकस गया। गाँव भर में विज्ञापन बाँटे गए। कई मनुष्य उसे देखने के लिये चल पड़े। कालूराम का मामा शोभालाल भी अपनी बग्गी सहीस से जुतवाकर सरकस देखने चल दिया। रास्ते में कालूराम खेलता मिल गया। शोभालाल ने विचार किया, चलो इसे भी साथ लेते चलें। किंतु उसका मैलापन देखकर वह पास ही वाले मकान के सामने बग्घी खड़ी कर भीतर चला गया और अपनी बहन से बोला—शांता, यदि तुम कालूराम को जल्दी साफ़ कपड़े पहनाकर तथा उसका मैल अलग कर मेरे साथ सरकस देखने भेज सको, तो भेज दो।

शांता ने कहा—भैया, मुझे कालूराम के भेजने में कोई दिक़्क़त नहीं है; पर क्या वह जल्दी साफ़ हो सकता है। उसे साफ़ करने को पूरे पाँच घंटे से कम न लगेंगे। अब तो शोभालाल को अपना विचार बदलना पड़ा और चुपचाप लौटकर अपनी बग्घी पर आ बैठा। सहीस ने घोड़ों को सरकस की ओर बढ़ाया।

मामा को घर में जाते देख कालूराम भी उसके

साथ-साथ पीछे चला गया था। वहाँ माँ और मामा की बातचीत सुन बोला—माँ, मैं तो सरकस देखने जाऊँगा। उसकी माँ ने कहा—तुम्हारे मामा कह गए हैं कि जब कल्लू सफ़ाई से रहना सीख जावेगा, तब उसे सरकस दिखाने ले जाऊँगा। बेचारा क्या करता, रोते-रोते कहने लगा—माँ, मैं आज से कभी मैला न रहूँगा। लो, अपने दोनों कान पकड़ता हूँ माँ। कल ही सारी देह बिलकुल साफ़ कर लूँगा, फिर मामा के साथ सरकस देखने भेज देना माँ! शांता उसकी बात पर राज़ी हो गई।

सबेरा होते ही कालूराम साबुन लेकर मैल छुड़ाने बैठ गया। सारे शरीर का मैल अलग कर उसने अपने बाल बनवाए, नाख़ून कटवाए, सिर में तेल डाला, साफ़ कपड़े पहने, फिर मामा के पास जाकर बोला—लो मामाजी, मैंने कल ही से प्रण कर लिया है कि कभी मैलेपन से न रहूँगा। देखो, आज मैंने ही अपने हाथों से सब सफ़ाई की है। कहो, अब तो सरकस दिखाने को चलोगे न?

मामा ने ज़रूर कहते हुए कालूराम को अपनी गोद में उठाकर बैठा लिया और कहा—भैया, स्वच्छता संसार में सबसे अच्छी चीज़ है। यदि तुम स्वच्छ रहोगे, तो तुम्हें कोई बीमारी न हो सकेगी। मनुष्य के मैलेपन के ही कारण उसे तरह-तरह की बीमारियाँ होती हैं। यदि तुम भी कल इसी प्रकार साफ़ होते तो मेरे साथ सरकस देखने न चलते। अच्छा, अब आज तुमको ज़रूर वहाँ लिवा ले चलूँगा?

बोलो बच्चो, तुम्हें क्या पसंद है?

हरिप्रसाद द्विवेदी "श्रीहरि"

× × ×

५. फूल

हरी लताओं की क्यारी में;
शुचि शाखाओं की डारी में।
अहा! फूल तुम खिलते हो;
बड़े मनोहर लगते हो।
शीतल-मन्द पवन से मिलकर;
महँकाते उपवन खिल-खिल कर।
ख़ूब किलोलें करते हो;
बड़े मनोहर लगते हो।
भ्रमरों को पीयूष पिलाते;
थके हुओं की थकन मिटाते।
दुखियों के दुख हरते हो;
बड़े मनोहर लगते हो।
शोभित करते हाथ किसी के;
बन जाते हिय-हार किसी के।
देवों के सर चढ़ते हो;
बड़े मनोहर लगते हो।
फूल! बड़े तुम भाग्यवान हो;
"सुकवि नेह" सुषमा-निधान हो।
विश्व-विमोहित करते हो;
बड़े मनोहर लगते हो।

शंभूदयाल त्रिपाठी "नेह"

× × ×

६. झोपड़ी से महल

एक राजा था! उसे कहानियाँ सुनने का बड़ा शौक़ था। जो कोई भी चाहता, उसे एक कहानी सुना आता और इनाम लेकर घर लौटता। उसी राज्य में एक बहुत ग़रीब ब्राह्मण रहता था। एक दिन ब्राह्मणी ने कहा—"व्यर्थ पड़े रहते हो, यदि कुछ काम-धंधा करना नहीं है तो राजा को एक कहानी सुनाकर ही कुछ क्यों नहीं ले आते?"

ब्राह्मण ने कहा—"मुझे कहानी भी तो नहीं आती।"

ब्राह्मणी बोली—"कोई हर्ज नहीं; जाओ, जो कुछ रास्ते में देखना वही राजा को सुना देना।"

ब्राह्मण कहानी सुनाने के लिये दरबार की ओर चला। राह में देखा कि एक चूहा बिल खोद रहा है। बस, तुरत उसने बनाया—

खोदत है भई खोदत है।

आगे जाने पर एक साँप को कुंडली मारकर बैठे हुए देख, उसने कहा—

उकरूँ-मुकरूँ बैठा है।

फिर आगे बढ़ा। कुछ ही दूर जाने पर उसे एक सारस दिखलाई पड़ा। ब्राह्मण तुरत चिल्ला उठा—

मूँड़ उठाए देखत है।

आगे जाने पर राजमहल से धन्नूशाह को निकलते देखकर ब्राह्मण ने कहा—

धन्नूशाह भई धन्नूशाह।

राजा के पास पहुँचकर ब्राह्मण ने यों कहानी सुनाई—

खोदत है भई खोदत है।
उकरूँ-मुकरूँ बैठा है।
मूँड़ उठाए देखत है।
धन्नूशाह भाई धन्नूशाह।

कहानी सुनकर राजा हँसने लगा। ख़ज़ांची को बुलवाया और ब्राह्मण को पाँच सौ रुपए देकर विदा किया। वह उस ब्राह्मण की सरलता पर बहुत प्रसन्न हुआ।

धन्नूशाह ने जब यह बात सुनी, तो बहुत क्रोधित हुआ। सोचा—"हम लोग बराबर राजा की ग़ुलामी करते-करते थक गए, मगर आज तक फूटी कौड़ी नसीब नहीं हुई; और आज इस नाचीज़ ब्राह्मण को केवल दो-चार बातें कह देने के लिये पाँच सौ रुपए मिले। चलो राजा के घर में चोरी करें।"

ऐसा विचारकर उसी दिन रात में धन्नूशाह राजा के घर में चोरी करने गया। सेंध देने लगा, तब तक उसने राजा की बोली सुनी। बात यह थी कि राजा अपनी रानी को वही कहानी सुना रहा था, जो ब्राह्मण ने उसे सुनाई थी। राजा ने रानी से कहा—

खोदत है भई खोदत है।

धन्नूशाह ने सुना—तो होश उड़ गए। समझा, 'राजा ने मुझे देख लिया।' तब तक राजा ने फिर कहा—

उकरूँ-मुकरूँ बैठा है।

धन्नूशाह सिर उठाकर देखने लगा। तब राजा ने कहा—

मूँड़ उठाए देखत है।

धन्नूशाह बहुत डर गया और थरथर काँपने लगा। तब तक राजा ने फिर कहा—

धन्नूशाह भाई धन्नूशाह।

अब तो धन्नूशाह के शरीर में काटो, तो ख़ून नहीं। कोड़ने के हथियार आदि तो वहीं छोड़ दिए और घर भाग गया।

दूसरे दिन धन्नूशाह ने राजा के आगे अपना क़सूर स्वयं जाकर क़बूल कर लिया; क्योंकि उसे विश्वास था कि राजा ने मुझे देख लिया है और ज़रूर पकड़वा मँगावेगा। उसने राजा के आगे हाथ जोड़कर कहा—"हुज़ूर! मैं कल रात में आपके महल में सेंध देने गया था—सो आपने मुझे देख लिया। अब कृपाकर इस बार मुझे माफ़ कर दें, फिर ऐसी ग़लती कभी न होगी। मैं हाथ जोड़ता हूँ, पैर पड़ता हूँ—इस बार मुझे क्षमा की भीख मिलनी चाहिए।"

ग़रीब ब्राह्मण की कहानी के कारण आज राजा का ख़ज़ाना लुटने से बचा। राजा तो रानी

को कहानी सुना रहे थे और उससे चोर पकड़ा गया। राजा ने धन्नूशाह को माफ़ कर दिया और उस ब्राह्मण को बुलवाकर उसे पाँच हज़ार रुपए इनाम दिए। ग़रीब ब्राह्मण को इतने रुपए मिले, तो फूला अंग नहीं समाया। तुरत घर गया और ब्राह्मणी के आगे रुपए उँडेल दिए। उस दिन से दोनों सुखपूर्वक रहने लगे। कुछ दिनों में उनकी झोपड़ी के स्थान पर एक सुंदर महल बन गया।

श्रीजगन्नाथप्रसादसिंह

× × ×

७. मुक्ताओं का मोल

नयन के मुक्ताओं का मोल—
कहाँ है? बता गाँठ को खोल?
'नहीं', तब क्या लेकर, अनजान!
चला है करने को व्यापार?
वेदनाओं का क्रीड़ागार—
बनाने मेरा मधुमय प्यार
कहा क्या—'हैं बूँदें दो-चार,
भला इनका भी मोल?' अपार,
अरे! इनमें अतीत की याद—
उमड़ती है बन पारावार—
शरद का वह अतृप्त अभिसार,
मिलन की वे घड़ियाँ सुकुमार,
प्राणधन की वह निर्मम खोट,
कुसुमशर के फूलों का चोट॥
समाए हैं इनमें ही आन—
अमिट, पर हो अदृश्य तस्वीर—
कामनाओं के घूँट अधीर,
विरह के मीठे तीखे तीर॥
अरे! कुछ समझा इनका दाम?
'यही होगा दो-चार छदाम,
करूँगा क्या पर इन्हें ख़रीद?'
बजाता है क्या मुँह का ढोल?
मूढ़! यदि रखे हृदय को खोल,
न होगा तब भी इनका मोल॥

कुमारी गंगादेवी भार्गव "छलना"

× × ×

८. एक स्वप्नमय आवेश में

धीरे-धीरे क्षितिज को फाड़कर पूर्णिमा के चंद्रदेव चारों ओर अपनी स्निग्ध शुभ्र किरणों की पुष्प-वर्षा करते हुए ऊपर उठ रहे थे। सारा आकाश ज्योत्स्ना से प्लावित हो रहा था। सुंदर नभ में इधर-उधर नक्षत्रों की क्षीण ज्योति ऐसी मालूम पड़ती थी कि उनमें जीवनी शक्ति है ही नहीं—निशापति ने मानों उनका आलोक हरण कर लिया हो! कोएल नदी का निर्मल और स्फटिक के-ऐसा स्वच्छ जल उस चंद्रालोक में गलित रजतधारा की भाँति देख पड़ता था। क्षुद्रा तटिनी मृदु मंजुल कलकल ध्वनि करती हुई वही चली जा रही थी। छोटी-छोटी लहरें आपस में टकराकर खिल-खिलाकर हँसती हुई नदी-वक्ष में लोट रही थीं। नदी के अल्प आलोड़ित जल में पूर्णेन्दु, नक्षत्रों और तुषार-धवल बादलों के छोटे-छोटे टुकड़ों की मनोहर प्रतिच्छाया पड़ रही थी। मेरी आँखें उस मृदु कंपित नदीवक्ष की ओर इस तरह निबद्ध थीं, मानों वहाँ पर मैं रहस्यमय और स्वप्नमय कोई अपूर्व सुंदर चित्र देख रही हूँ! ऊपर अनंत, असीम अंबर और नीचे विशाल पृथ्वी। उस उज्ज्वल चंद्रालोक में एक स्वर्गीय आभा से मंडित-सी देख पड़ती थी। चारों ओर अपूर्व शांति तथा पूर्ण निस्तब्धता विराज रही थी। वह दृश्य अलौकिक, वह समय अपार्थिव था।

उस ज्योत्स्नामयी रात्रि के-ऐसा सुंदर, शांति-मय और गंभीरतापूर्ण और कोई भी चीज़ मैंने नहीं देखी है। सत्य है—जगत् इससे बढ़कर और दिखा ही क्या सकता है? ओह, यह गंभीर और सुंदर दृश्य! परमेश्वर! तुमने मेरी आँखों के सामने शांति, सौंदर्य और गभीरता का यह भंडार क्यों खोल दिया है? मेरी पार्थिव आँखें इस अपूर्व महान् भाव की, प्रकृति के इस नैसर्गिक सौंदर्य को सह नहीं सकतीं। तो भी, तो मैं प्रकृति के इस मोहिनी दृश्य में निबद्ध अपनी दृष्टि दूसरी ओर फेर नहीं सकता हूँ। किसी सुंदर स्वप्न के-ऐसा ही मधुर, मंजुल, कोमल, विचित्र और आवेशमय था वह दृश्य!

नदी के किनारे एक चिकने चट्टान पर निर्वाक् विमुग्ध-सी मैं बैठी थी। निर्वाक्? हाँ, संपूर्ण रूप से निर्वाक् थी मैं—एक बात भी मेरे ओठों से बाहर नहीं आई। फिर भी, बातों का प्रयोजन ही क्या? इस परिपूर्ण निस्तब्धता में ही मुझे एक मधुर आलाप सुन पड़ा। नदी, वृक्ष, फूल, पत्तियाँ, आकाश और स्वयं प्रकृति-देवी भी नीरव भाषा में मनोहर आलापन कर रही है। सारा विश्व नीरव संकेतों से परिपूर्ण हो रहा है। यदि सुन सको, तो सुनो; परंतु इस विचित्र सुंदर आलाप को अपनी पार्थिव भाषा से बाधा मत प्रदान करो। इस गंभीर निस्तब्धता को क्यों अपनी साधारण बातों से तुम नष्ट करोगे? क्या प्रयोजन है इसका? और उस परिपूर्ण नीरवता में तुम्हारी अपनी बातें ही अजीब-सी मालूम पड़ेंगी। सारी प्रकृति का नीरव हास्य तुमको इस रूढ़ता के लिये ठट्ठा करेगा! आह, अपने को भूल जाओ इस समय—अरे क्षण-भर के लिये भी तो पार्थिव वस्तुओं की चिंता छोड़ो। प्रकृति की आत्मा में अपनी सत्ता को डुबा दो। अपने अंतरतम प्रदेश में सुप्त चेतना को अब जगाओ—जागने का उपयुक्त समय तो यही है। आँखें खोलकर देखो कि प्रकृति तुम्हें क्या दिखा रही है! सारी जगह में छाए हुए इस सौंदर्य से अपने चित्त को भर लो। अहा! ज़रा प्रकृति की नीरव संगीत को तो सुन लो! सारे वायुमंडल में इस अपूर्व गीति की मंजु गुंजनध्वनि काँपती हुई वह जा रही है। परंतु हाय, कोई उसे सुनते ही नहीं! क्या यह मृदु मधुर संगीत वृथा ही मेरे पास से होकर चली जायगी? हाय मानव! क्षण-मात्र के लिये भी तो अनुभव करो कि एक ही स्वर्ण सूत्र में तुम्हारी और प्रकृति की आत्मा ग्रथित है! तब किसलिये तुम प्रकृति की अवमानना कर रहे हो, मानव?

चारों ओर आनंद और सौंदर्य की लहरें उमड़ रही थीं; परंतु यह क्या! इस आनंद में दुःख की कणें क्यों मिश्रित हैं? मेरे चारों तरफ़ आनंद का प्रस्तवन बह रहा था, परंतु मेरे मन में शोक की यह छाया किधर से आ पड़ी? प्रत्यक्ष अनुभूत हुआ कि इस आनंद के बीच में भी प्रकृति-देवी अपनी मानव-संतानों की अव-हेला के कारण मर्मपीड़िता हो रही है। हाय मानव! क्यों अपनी प्रकृतिमाता को दुःख देते हो? क्षणस्थायी है तुम्हारा जीवन, तो क्यों इस अल्प समय के लिये भी अपनी चिरस्नेहमयी माता को कष्ट देते हो? क्या है तुम्हारा जीवन? किसका गर्व तुम करते हो मानव? उस असीम राज्य से क्षण-भर के लिये अतिथि के-ऐसा यहाँ आए हो। यह तुम्हारा अपना घर है थोड़े? फिर भी तो अपनी प्रकृतिमाता के गोद में सोना पड़ेगा, जब जीवन के युद्ध से क्षतविक्षत और

श्रांत होकर मृत्यु की गोद में ढल पड़ना चाहोगे, तब एकमात्र वे ही स्नेहमयी माता के-ऐसा अपनी छाती से लपेटकर तुम्हारे तप्त ललाट पर अपना स्निग्धशीतल हाथ फेर देगी, तुम्हें सांत्वना, शक्ति, उत्साह केवल वही देगी और देंगे वे परम पिता जो नित्य तुम्हारा कल्याण चाहते हैं और जिनके सामने इस जीवन का अवसान होने पर तुम्हें जाना ही होगा। तब क्यों क्षणिक घमण्ड में आकर उनकी अवहेला करते हो तुम ? तुम्हारा जीवन तो पानी का बुद्बुद है । शरद् की मेघ-मालाओं की भाँति, ग्रीष्मकाल के वाष्प के-ऐसा यह जीवन तो तुरंत ही अदृश्य हो जायगा, तब पार्थिव बंधनों पर व्यर्थ ही घमंड कर रहे हो। जब अनंत के सुस्पष्ट आह्वान को सुन-कर यह आत्मा अपने चिरप्रिय घर को लौटने के लिये उन्मुख हो उठती है, उस समय क्या कोई भी पार्थिव आकर्षण इसे रोक सकता है ? जब उषादेवी की कोमल अरुणाङ्गुलियों के स्निग्ध स्पर्श से स्फुटोन्मुख गुलाब अपने दलों को खोल देता है, उस समय क्या कुछ भी उसे खिलने से रोक सकता है ? सुंदर वसंत के आगमन से पक्षियों को मधुर स्वागत-गीति से वायुमण्डल जब परिपूर्ण हो जाता है, तब क्या किसी बाधा के कारण भी पक्षियों की वह आनंद-काकली रुक सकती है ? ठीक इसी तरह इस शुष्क संसार के दुःखशोक के उपरांत मानव-आत्मा जब असीम आनंदलोक में प्रवेश करने के लिये उत्सुक हो उठती है, तब वह किसी भी पार्थिव बाधाविघ्न के कारण नहीं रुकती । तब हे मानव ! किसलिये संसार की माया में जकड़े पड़े हो आर पार्थिव बधनों का गर्व करते हो ?

यह संसार मृगतृष्णा के समान अलीक है। यथार्थ सुख इस संसार में कहाँ ? हाय ! चारों ओर ही इस जीवन की अनित्यता और संसार की असारता दीख पड़ती है । नवीन जीवन की परिपूर्णता में मानव-मृत्यु की छाया का अनुभव कर काँप उठता है । स्फुटोन्मुख सौंदर्यमय यौवनकाल में मनुष्य के मन में न-जाने क्यों वृद्धावस्था की बातें जाग उठती हैं ! सूर्योदय के साथ ही-साथ मनुष्य सूर्यास्त के विषय सोचता है, जन्म के साथ ही मृत्यु की चिंता हृदय में जागती है। जीवन और मरण इस प्रकार उलझे हुए हैं कि उनको पृथक् करना मानवशक्ति के बाहर है।

सूर्योदय और सूर्यास्त—हाँ, वहीं पर तो हम मानव-जीवन के आरंभ और अन्त, पार्थिव आनंदों के उदय और अस्त को देख पाते हैं। उगता हुआ बालारुण मानव के जन्म की सूचना देता है और अस्ताचलगामी तपन मनुष्य के पार्थिव जीवन के अवसान को अत्यंत स्पष्ट रूप से दिखला देता है।

प्रकृति के उस अर्द्ध-विकसित अपूर्व सौंदर्य के बीच बैठकर मैंने इस सत्य को तीव्र भाव से अनुभव किया—क्यों हम लोगों का जन्म होता है ? किसलिये हम लोग इस पृथ्वी में आते हैं ? और जब आते ही हैं, तब क्यों निष्ठुर काल के कराल कवल में हम जा गिरते हैं—ठीक उसी समय जब कि हम पार्थिव वस्तुओं को पकड़ना और अपने जीवन के उद्देश्य को सोच निकालना चाहते हैं ! कौन इस पहेली का उत्तर देगा ? इस अपूर्व संसार में जीवन-मरण के इस अद्भुत रहस्य का पार कौन लगावेगा ? मनुष्य कितना भी सोचे, परंतु वह इस रहस्य का पता कभी नहीं लगा सकेगा। जितना ही अधिक सोचेगा, उतना ही उसकी चिंताजालें उलझती जायँगी, और वह

स्वयं ही उसमें इस प्रकार फँस जायगा कि छुटकारा पाना मुश्किल होगा ! इस प्रकार सोचने और तर्क-वितर्क करने से वह कदापि भी अपने चिंतासूत्र के शेष किनारे तक नहीं पहुँच सकेगा। इस चिंताजाल से छुटकारा पाने का केवल एक ही उपाय है कि ईश्वर में अपने मन को लीन कर दो, उस आद्याशक्ति में अपनी क्षुद्र शक्ति को मिला दो, एवं संपूर्ण रूप से परमात्मा के चरणों में अपने को समर्पण कर दो। तब—केवल मात्र तब ही, उसके पहले नहीं, तुम देखोगे मानव, कि तुम्हारी आँखों के सामने आश्चर्य की बातों से भरी हुई प्रकृति की किताब खुली पड़ी है। उसी समय जीवन-मरण का अनंत रहस्य तुम्हारे लिये सुगम हो जायगा।

इस सुंदर मधुर आत्मसमर्पण में ही ज्ञान—दिव्य ज्ञान का अनंत भंडार छिपा पड़ा है। उस ज्ञान को लाभ करने के लिये, मनुष्य इस सहज उपाय को छोड़कर गर्व और अहंज्ञान से अंध होकर व्यर्थ ही भटकता फिरता है। हाय ! मानव, जानते तो कुछ भी नहीं, कणमात्र भी अपना ज्ञान तुम्हें नहीं है—तब क्यों यह गर्व, क्यों इतना अहङ्कार ? इन चिंताओं से मेरा चित्त व्यथित हो रहा था। सच ही है, चिंताओं का शेष नहीं होता ! हटाओ इन्हें—इनका क्या प्रयोजन ? मैं भी इस सुंदर ज्योत्स्नामयी रात्रि में इस गंभीर पवित्र मुहूर्त में ईश्वर के चरणों में अपने को समर्पण कर दूँ। परमेश्वर ! तुम्हारी ही इच्छा पूर्ण हो'—यह विश्वव्यापी प्रार्थना मेरे मर्मस्थल के गोपन और निभृत प्रदेशों में गूँज उठे !

श्रीमती शोभनानारायण

× × ×

९. पथिक से

अरे पथिक ! क्यों पूछ रहा है, मेरी करुणकहानी ;
क्यों मैंने निर्जन कानन में, है रहने की ठानी ।
ग्रीष्म, शीत, वर्षा के दिन औ, यह अँधियारी रातें ;
आँधी, लपटें क्यों सहती हूँ, सारे जग की घातें ।
'निर्जन वन' घर क्यों है मेरा, ग़म खा भूख भगाती ;
क्यों नयनों के खारी जल को, पीकर प्यास बुझाती ।
पूछोगे ही पथिक हमारी, सारी करुण-कथाएँ ;
सही आज तक क्यों है मैंने, भारी विरह-व्यथाएँ ।
अरे इसी निर्जन कानन में, वह 'मन-मोहन' मेरा ;
छिपा हुआ है खोज थकी मैं, हाय ! जिसे बहुतेरा ।

* * *

खोज रही हूँ उसे आज भी, करती हुई तपस्या ;
देख रही हूँ कब सुलझेगी, मेरी 'भाग्य-समस्या' ।

कुँवर मोहरसिंह चँदेल "केसरी"

× × ×

१०. प्रेम की विजय

उस समय रजनी का द्वितीय प्रहर समाप्त हो चुका था। सारा संसार सब कामों को त्याग-कर आनन्द के खर्राटे ले रहा था; परंतु दज़ला अपने अटल नियमानुसार कलकल करती बह रही थी। लहरें उठती, चट्टानों से टकराती और फिर अथाह जल में निमग्न हो जाती थीं । उस समय पूर्णचन्द्र की प्रेममयी किरण-राशि दज़ला की तरङ्गों पर नृत्य कर रही थी। चंद्रमा की उस विमल ज्योति में नदी-तट पर शीतल रेत के कणों पर मीना बैठी थी। शीतल, मन्द और सौरभमय वायु के झोंकों से उसके केश वायु में विहार कर रहे थे; परंतु उसके मुखारविंद से निराशा का भाव दृष्टिगोचर होता था।

प्रसन्नवदन चन्द्रमा था, वसन्त का मधुर विलास था, सुमनों का सौरभ और शीतल मलय समीर का मृदुल हिल्लोल था । कलकल-मयी दज़ला का मधुर प्रवाह भी था; और कोकिल की मदमयी कूक भी थी। सब कुछ ही था, केवल मीना का जीवनाधार यूसुफ़ नहीं था । मीना चुपचाप बैठी जलक्रीड़ा देख रही थी। सहसा बोल उठी—क्या शाह यूसुफ़ को न छोड़ेगा ?

उषा-समय शक्ति भङ्ग करते हुए शाह ने प्रवेश किया, जिसने मीना का हृदयरत्न छीन लिया था, उसके बसे घर को उजाड़ दिया था। मीना चौंक उठी; और वियोगदुःख के भाव से बोली—क्या अभी कुछ बाक़ी है ज़ालिम ? शाह बोला—प्यारी आख़िर कुछ सबब तो बता, जिससे तू मुझसे इस क़दर नाराज़ है। क्या करूँ ? बेबस हूँ। जब तेरी इन मदभरी आँखों और फूटती जवानी को देखता हूँ, तो दिल चाहता है तुझे सीने से लगाकर दिल की आग ठंढी करूँ। यह दौलत और यह बादशाही क़ुर्बान कर दूँगा तेरी मुहब्बतभरी निगाहों पर । प्यारी फ़क़त तेरी ख़ातिर उस युसुफ़ को क़ैद कर रक्खा है । तू हुक्म कर कि इस काँटे को निकालकर बाहर रख दूँ।

यह कहकर शाह ने मीना का आलिङ्गन करने के लिये हाथ बढ़ाया। मीना सुंदरी थी, नाज़ुक थी; परंतु अपनी मानरक्षा के लिये न-जाने उसमें कहाँ से सिंहनी का बल आ गया था । वह दो-तीन पग हट गई ; और कड़ककर बोली—बेहया तुझे शर्म नहीं आती ?

शाह प्रेमोन्मत्त था; परंतु था स्वतंत्र प्रकृति का मनुष्य। कितनी ही बार वह मीना की लांछनाएँ, उसका तिरस्कार सह चुका था । इस बार तिरस्कार पराकाष्ठा तक पहुँच गया । क्रोध से उसका मुख तमतमा उठा—एक नाचीज़ ज़मींदार की लड़की की यह ताक़त । ओठों को चबा-कर बोला—कल यूसुफ़ को चर्ख़ी से बाँधा जायगा,

और फिर देखूँगा तेरी मुहब्बत उसे कैसे बचा सकती है—यह कह शाह शीघ्रता से चला गया। सहसा पपीहा बोल उठी—पी कहाँ, मानो उसे भी मीना से सहानुभूति थी।

मीना पकड़कर बग़दाद लाई गई। जल्लादों ने यूसुफ़ को चर्खी से बाँधा। चर्खी चलनेवाली ही थी कि शाह ने रोक दिया; और मीना से बोला—अगर अब भी मेरी बात मंज़ूर है, तो यूसुफ़ छूट सकता है। मीना असमंजस में पड़ गई—अस्वीकार करने से प्रेमी की हत्या थी, तो स्वीकार करने से मानहानि! एक ओर अतुल संपत्ति और ऐश्वर्य था, तो दूसरी ओर प्रेम का अमूल्य रत्न। एक ओर शाह की हृदयेश्वरी का पद था, तो दूसरी ओर अनंत प्रेम की अनंत परीक्षा। अंत में प्रेम ने विजय प्राप्त की। मीना ने गर्व से सिर ऊँचा करके कहा—मुहब्बत ज़बर्दस्ती नहीं की जाती। शाह को क्रोध नहीं आया। उसके मुख से ऐसा प्रतीत होता था, मानों उसने कोई नई बात मालूम की। शाह ने यूसुफ़ को चर्खी से उतार दिया, और उसका हाथ मीना के हाथ में देकर कहा—जाओ मीना, तुम्हारा प्रेम तुम्हें मुबारक हो। तुम आज से आज़ाद हो। तुमने आज मुहब्बत का असली सबक़ सिखाया।

श्रीमती मोहिनीसहाय



१. संस्कृत में महाकवि विहारी

चैत्र की 'माधुरी' में भट्ट श्रीमथुरानाथजी शास्त्री का एक नोट उपर्युक्त शीर्षक में निकला है, जिसमें आपने विहारी-सतसई के दस दोहों का संस्कृत-अनुवाद दोहा-छंद में ही दिया है, और कुछ विचार भी प्रकट किए हैं कवि परमानंदजी के संस्कृत-अनुवाद 'शृंगार-सप्तशती' के विषय में। आपकी दृष्टि में कवि परमानंदजी का संस्कृत-अनुवाद ठीक नहीं हुआ है; क्योंकि उसमें बहुत-सी भाषा और भाव-संबंधी ग़लतियाँ हैं। यह बात ठीक है, अवश्य 'शृंगार-सप्तशती' में ग़लतियाँ हैं, यह हमें भी स्वीकार है; परंतु हमें भट्टजी के अनुवाद में भी निर्दोषता नज़र नहीं आती है—इसमें भी ग़लतियाँ हैं। आपने जो दस दोहे 'माधुरी' में प्रकाशित कराए हैं, प्रायः सब दोष-पूर्ण हैं!

इससे पहले यही नोट संस्कृत के 'सुप्रभातम्' या 'सूर्योदय' में शायद प्रकाशित हुआ था, ऐसा ख़याल में आता है। उसी का हिंदी-रूपांतर आपने शायद हिंदी-वालों की जानकारी के लिये 'माधुरी' में प्रकाशित कराया है। अब हम आपके दोहों के विषय में कुछ कहेंगे।

> साखि सोहत **गोपाल के,** उर गुंजन की माल;
> बाहर लसत मनौं पिये, दावानल की ज्वाल!

इस दोहे का आपने यह अनुवाद किया है—

> राजति गुञ्जामालिका वक्षसि **मुरमथनस्य**;
> लसति निःसरन्ती बहिः शिखेव दवदहनस्य।

मूल के 'पिये' का अनुवाद कुछ भी नहीं हुआ है! शायद इसीलिये आपने 'पिये' की जगह 'बहैं' पाठ कर दिया है! न-जाने, कौन किसका अनुवाद है! दूसरी बात यह कि गोपाल (ग्वाले) ही गुंजाओं की माल पहना करते हैं, अतएव विहारी ने दोहे में 'गोपाल' शब्द दिया है। आपने उसके लिये 'मुरमथन' दिया है! मुरमथन विष्णु गुंजमाल नहीं धारण करते, सहृदय इस पर विचार करें।

मूल

सोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलोने गात ;
मनो नीलमनि-सैल पर, आतप पर्यो प्रभात ।

अनुवाद

श्यामसमधुरमूर्त्तिर्हरिः　　पीतपटेन　　विभाति　;
उषसि नीलमणिशैल इव　बालातपेऽभियाति ।

यहाँ आपने 'प्रभात' को 'उषसि' रूप में अनूदित किया है, जो ठीक नहीं। रात्रि के अंतिम भाग को उषः-काल कहते हैं। सूर्योदय के पहले-पहले का समय उषःकाल है और अनंतर का प्रभात। ऋग्वेद में उषः-काल का ख़ूब वर्णन है। वहाँ सर्वत्र उपर्युक्त समय ही लिया गया है—सूर्योदय अथवा उसके पश्चात् का नहीं। विहारी ने जो बात कही है, उसके लिये 'प्रभात' की ज़रूरत है, 'उषः' की नहीं। सूर्योदय-काल का नाम 'प्रभात' है—'प्रकर्षेण भातुं प्रवृत्तम् ।' किसी-किसी कोषकार ने 'उषः' के पर्यायों में प्रभात भी लिख दिया है। मालूम होता है—इसी आधार पर भट्टजी ने 'प्रभात' के लिये 'उषः' लिख दिया है, परंतु यह ठीक नहीं। कोष में वैसा आने पर भी कवि-जन वैसा प्रयोग नहीं करते। और, इन दोनों शब्दों का भेद तो प्रत्यक्ष है, कोई छिपी हुई बात नहीं है।

मूल

छिप्यो छबीलो मुँह लसै, नीले आँचर चीर ;
मनौं कलानिधि झलमलै, कालिंदी के तीर ।

अनुवाद

राजति　　नीलपटान्तरमेतन्मुखमवधेहि ;
कलितकलानिधिरुल्लसति कालिन्दीसलिले हि ।

मूल में 'छबीलो' शब्द अत्यंत सुंदर और चमत्कारी है, उसे अनुवाद में छोड़ दिया गया है, और व्यर्थ का 'अवधेहि' दे दिया गया है। अंत में 'हि' भी अजागल-स्तन की तरह लटक रहा है। केवल तुक भिड़ाने के लिये ही यह दिया गया है।

भट्टजी ने कवि परमानंदजी के अनुवाद में कई व्यर्थ पद ढूँढे हैं, परंतु आपके दोहों में तो "प्रथमग्रासे मक्षिकापातः ।"

मूल

खेलन सिखये आलि ! भलैं चतुर अहेरी मार ;
काननचारी नैन दृग मृग, नागर नरन सिकार ।

अनुवाद

मृगनयने ! मृगयाविधिं मदनो मञ्जुमुवाच ;
वनचरनयनमृगाविमौ नागरनरमृगया च ।

जब कि नयनों में मृगों का आरोप किया गया है, तो नायिका के लिये 'मृगनयने' संबोधन ठीक नहीं है। 'मञ्जु' शब्द भी मञ्जु नहीं रहा ! वस्तुतः 'मञ्जु' शब्द शब्दगत माधुर्य और सौंदर्य का वाचक है। ऐसी दशा में 'मृगया-विधि' का उसे विशेषण बना देना अनुचित है। यदि इसे सामान्यतः माधुर्य-वाचक मान भी लिया जाय, तो भी यहाँ ठीक नहीं जमता। मृगयाविधि तो बड़ी नृशंस और कठोर है। वह 'मंजु' कब हुई ? यदि इसे क्रियाविशेषण के रूप में रक्खा जाता, तो कुछ ठीक भी हो जाता। मूल में 'भलैं' क्रियाविशेषण ही है, जिसका यह गड़बड़ अनुवाद है। 'भलैं' का अर्थ है—'ख़ूब अच्छी तरह।' 'सिखये' का अनुवाद आपने कर दिया है—'उवाच' ! कितना अंतर है ? किसी विषय की अच्छी तरह शिक्षा देने में और एक बार उसे कह भर देने में कितना फ़र्क़ है ? जब तक किसी को किसी कला की अच्छी तरह शिक्षा न दी जाय, तब तक वह उसमें कैसे दक्ष हो सकता है ? केवल कह भर देने से कोई किसी कला में निष्णात नहीं हो सकता ! और, फिर काननचारी ! जंगली जीवों को कोई बात सिखाने में विशेष कौशल और धैर्य चाहिए। केवल 'कह' देने से वे कोई हुनर न सीख लेंगे, विशेषतः मृगया ! फिर, मृगया भी कैसी ? विहारी के दोहे में देखिए। एक बात और। यहाँ 'उवाच' में काल-संबंधी भी दोष है। यहाँ परोक्ष देकर सामान्य भूतकाल में क्रिया देना उचित था, जैसा कि विहारी के दोहे में है। 'उवाच' ? किस जन्म में ?

आपने 'नागर-नरों' में 'मृगया' का आरोप कर दिया है, सो भी बहुत बुरा ! 'मृगया' क्रियाविशेषण है। उसका आरोप नागर-नरों में उचित नहीं है। नागर-नर तो लक्ष्य हैं। हिंदी में 'शिकार' उस क्रिया-विशेष का नाम भी है, और लक्ष्य-भूत वन्य पशुओं को भी 'शिकार' कहते हैं। अतएव मूल में 'शिकार' शब्द बहुत अच्छा है। आपने आँखें मूँदकर उसका अनुवाद 'मृगया' कर दिया है ! फिर इस 'नागर-नर-मृगया' का संबंध भी वाक्य में ठीक बैठता है ? और यह 'च' किसलिये है ?

शिकार सिखानेवाले उस्ताद का नाम विहारी ने 'मार'

दिया है। जो मारना-काटना सिखाता है, उसका नाम 'मार' होना ही चाहिए। अनुवाद में 'मार' के लिये 'मदन' आया है। इन दोनों शब्दों पर तुलनात्मक विचार कीजिए।

मूल

कहा लड़ैते दग किये, परे लाल बेहाल;
कहुँ मुरली कहुँ पीत पट, कहूँ मुकुट बनमाल।

अनुवाद

विषमशीलदृग्भ्यामहो का गतिरियमारोपि;
क्वचिद्वेणुरालि! क्वचित्पटः स्रजः क्वचिन्मुकुटोऽपि।

विषम शील और दगों ने उनकी वह दशा नहीं कर दी है। वह तो और ही किसी कारण से है! विषम शील और दग तो स्वयं उसके कार्य-स्वरूप हैं। ऐसी दशा में अनुवाद का पूर्वार्द्ध चिन्त्य है। अनुवाद भी दोहाछंद में है; परंतु इसके तीसरे चरण की मात्राएँ तो गिनिए! देखिए, क्या ठीक है?

मूल

सटपटाति-सी ससिमुखी, मुख घूँघट पट ढाँकि;
पावक झर सी झमकि कैं, गई झरोखा झाँकि।

अनुवाद

सलज्जेव सा शशिमुखी मुखमवगुण्ठ्य पटेन;
दहनलतेव गता द्रुतं मामवेक्ष्य चकितेन।

मूल के 'सटपटाति-सी' का अर्थ है—'सिटपिटाती-सी।' अर्थात् कोई देख न ले, इससे कुछ डरती-घबराती-सी वह झमककर झाँक गई। सिटपिटाना का अर्थ लजाना नहीं होता, अतएव 'सलज्जेव' अच्छा नहीं है।

'चकितेन' न मालूम क्या है और इसका कहाँ क्या संबंध है? 'चकितेन'? केन? किम्?

इस दोहे पर भट्टजी ने कुछ विचार भी किया है। आप कहते हैं—"उज्ज्वलता होने पर भी नायिका को 'पावक झर' के साथ साम्य देना संस्कृतवालों को खटकेगा। इसलिये 'ज्वलतो वह्नेर्लताकारा इव दृश्यमाना दहनज्वाला दहन-लता।' (जलती हुई अग्नि की लता-जैसी आकारवाली शिखा 'दहन-लता') यों कुछ औचित्य लाया गया है।" संस्कृत के विद्वानों से प्रार्थना है कि आप लोग भट्टजी के इस गोरखधंधे में औचित्य ढूँढ़िए, शायद हाथ लग जाय! हमें तो कहीं नहीं देख पड़ता।

भट्टजी ने 'पावक झर' और नायिका में 'उज्ज्वलता' साधारण धर्म समझ रक्खा है! नहीं जी, उसकी उज्ज्वलता के लिये तो 'शशिमुखी' पद ही पर्याप्त है। यहाँ तो नायिका और 'पावक-झर' में 'झमककर चला जाना, साधारण धर्म है, जो बिलकुल साफ़ है। भ्रम की गुंजाइश तो भी नहीं। इस प्रकार पावक-झर के नायिका का नहीं, उसकी गति-विशेष का साम्य है, तब कहाँ और क्या अनौचित्य है, जिसके दूर करने के लिये आपने घोर भगीरथ-श्रम किया है?

'झरोखा' की जगह 'औचकाँ' पाठ भट्टजी ने कर दिया है; क्योंकि आपने अनुवाद में 'द्रुतम्' कर दिया है! ठीक है, जैसे आजकल के वैदिक स्वयं वेदों के अनुसार न चलकर वेदों को ही अपने अनुसार चलाते हैं।

मूल

टटकी धोई धोवती, चटकीली मुखजोति;
लसति रसोई के बगर, जगर मगर दुति होति।

अनुवाद

रुचिरा मुखरुचिरा लसति विशदा शाटी भाति;
महाकान्तिराभावहा महानसे प्रतिभाति।

अनुवाद के प्रथम चरण में पुनरुक्ति की छटा देखिए और साथ ही तृतीय चरण में भी! विहारी ने 'टटकी धोई धोवती' से जो आर्य-सभ्यता झलकाई है, उसका 'विशदा शाटी' में लोप हो गया है!

मूल

आड़े दै आले बसन, जाड़े हू की राति;
साहस कै कै नेह बस, सखी सबै ढिंग जाति।

अनुवाद

घनतरशीतनिशास्वपि च वसनमार्द्रमपिधाय;
साहसेन सन्निधिमयति सखीजनः स्नेहाय।

पूर्वार्द्ध में 'च' न-जाने किस मर्ज़ की दवा है? प्रबल वैयाकरण पता लगावें कि 'स्नेहाय' यहाँ कैसे ठीक है! बस, इत्येष संक्षेपः। अलं परकीयदोषोद्भावनेन!

किशोरीदास वाजपेयी

× × ×

२. प्राचीन भारत में विज्ञान

(पूर्व संख्या ८६ से संबद्ध)

हिंदुओं का एक प्रयत्न अत्यंत आदरणीय है। उनके विचार में समस्त पदार्थ कणों द्वारा ही बने हुए हैं, परंतु

उनके यथार्थ परिमाण के विषय में उनके विचार क्या थे ? केवल विचार करने से कहीं भी कोई काम नहीं चलता है। उन्होंने उसे कार्यरूप में परिणत कर दिया और 'अणु के परिमाण' की गणना कर ही तो दी। सील लिखते हैं—"दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थों में सबसे क्षुद्र [सबसे क्षुद्र कणिका जो कि टेढ़ी सूर्य की किरणों में देख पड़े] त्रसरेणु का परिमाण, वराहमिहिर के मतानुसार, ३×२^{-२०} अथवा एक इंच के $\frac{१}{३४६५२५}$ वें भाग के बराबर होता है। अनुसार एक गोल त्रसरेणु का आयतन, भास्कर के अनुसार, $\frac{४}{३} ग ३^{३} २^{-६३}$ घन इंच के बराबर है। यह ध्यान में आ जाना चाहिए। एक प्राचीन आचार्य के मतानुसार एक त्रसरेणु में ३० और दूसरे के मत से ६० रासायनिक कण (Chemical atoms) होते हैं। इसके अनुसार एक कण का परिमाण $ग \times ३ \times ५^{-१} \times २^{-६२}$ घनइंच से कम ही लिया गया होगा। [सबसे आश्चर्यजनक वार्ता यह है कि परिमाण में, जलजान (Hydrogen) के कण के सबसे बाद के जाने गए परिमाणों से, यह अंक बहुत अंश में मिलते हैं।]"

परंतु उनकी धातुशोधन-प्रणाली तथा उन धातुओं का प्रयोग व वास्तु-विद्या (Engineering) यह सबकी-सब एक अति उन्नत अवस्था में थी। उनकी व्यावहारिक रसायन-विद्या (Industrial chemistry) बहुत ही उन्नत थी। काग़ज़ तथा कपड़ों इत्यादि के स्वाभाविक रंग को उतारने का कार्य, रँगना, वस्त्रों पर रंग छापना, चमड़े को पक्का करना और उसको सब व्याधियों से बचाने का प्रयत्न करना, साबुन बनाना, कठिन लोहे का बनाना, बारूद व आतशबाज़ी तथा सीमेंट (Cement) बनाना इत्यादि ऐसी विद्या के ज्ञान से परिवर्धित सैकड़ों कलाएँ हिंदुओं को ज्ञात थीं। सील लिखते हैं—'भारत के तीन बड़े आविष्कारों के कारण, जिसके द्वारा भारत पूर्व व पश्चिम की बाज़ारों का अधिपति हो गया था और समस्त जगत् के सब देशों की रासायनिक कला तथा बाहर वस्तुओं के भेजने के व्यापार में जिन्होंने भारत को अग्रगण्य बना दिया था, व्यावहारिक विद्वान् लोग ही थे। वे तीनों आविष्कार हैं—(१) जल्दी चढ़नेवाले रंग जिनके द्वारा कपड़े रँगे जाते थे और जो कि फिटकरी को कुछ प्राकृतिक रंगों-जैसे मंजिष्ठा के सम्मिश्रण अथवा ऐसे पदार्थ जैसे कसीस इत्यादि के गोबर के सम्मिश्रण से बनते हैं, (२) नील के पेड़ से उसका सत निकालना, जो कि थोड़ा भद्दा तो अवश्य था, परंतु प्रथा में बिलकुल ही आधुनिक है और (३) फ़ौलाद पर पानी चढ़ाना, जो कि आजकल की प्रथा की समानता करता है और जिसके ही द्वारा अर्द्धप्राचीन समय में संसार को डेमस्कस की तलवारें प्राप्त होती थीं।"

इंजीनियरिंग

"पदार्थविद्या प्राचीन काल में कितनी उन्नत हुई थी, रामेश्वर का सेतुबंध तथा उड़ीसा के कनारक और भुवनेश्वरपुरी आदि के मंदिर इत्यादि इसके ज्वलंत दृष्टांत हैं। कनारक के मंदिर के पत्थरों का काम देखकर पश्चिमी इंजीनियर लोग अभी तक चकित होते हैं। उनको अभी तक यही समझ में नहीं आता है कि ये पत्थर कहाँ से लाए गए, कैसे लाए गए, और कैसे ऊपर चढ़ाए गए।" फिर दिल्ली का खंभ भी आधुनिक वैज्ञानिकों को एक आश्चर्य की वस्तु हो गया है। इस पर बहुत-से विद्वानों ने अन्वेषण किया, पर वे इस पहेली को अब भी नहीं सुलझा पाए हैं। उनमें से एक सर राबर्ट हैडफ़ील्ड बैरिस्टर एफ़० आर० एस० भी थे। उन्होंने इस खंभे के विषय में लिखा है—"यह ध्यान में रखते हुए कि उन दिनों न तो वाष्प-हथौड़े ही थे, न भाप के दबाने के यंत्र ही थे, यह लौहखंभ एक आश्चर्यजनक वस्तु है। इसकी पूरी लंबाई ७·२२ मीटर है और भूमि के ऊपर इसकी उँचाई ६·७१ मीटर। इसके ऊपर के भाग का व्यास ३१·८ सेंटीमीटर, नीचे के सिरे का व्यास ४१·६ सेंटीमीटर और इसका पूरा वज़न ६००० किलोग्राम (६ टन के लगभग) है। यह बात कि इसकी सबसे बड़ी मोटाई ४१·६ सेंटीमीटर है, यह और भी अधिक चक्कर में डालती है कि यह खंभा बनाया कैसे गया होगा। यदि खंडों में बनाया गया है, तो इतने व्यास तथा इतने क्षेत्रफलवाले खंडों का परस्पर जोड़ना सुगम कार्य नहीं है। तिस पर ऊपर के भाग में १·२५ मीटर की दूरी तक वह खंभा अत्यंत सुंदरता से भिन्न-भिन्न चित्रों द्वारा निरूपण किया गया है। परंतु, इससे किसी भी दशा में घटकर नहीं, यह खंभ एक और भाव में चक्कर डालता है। आज १६०० वर्ष हो गए (कदाचित् इससे भी अधिक),

परंतु इस खंभे में, जो कि संपूर्णतया शुद्ध लौह (९९·७%) का बना है, तनिक भी मुर्चा नहीं लगा। यह बात यदि हम दिल्ली की शुष्क जलवायु का विचार भी कर लें, तो भी नहीं समझाई जा सकती है।" और उसके मुर्चे से बचने के दो कारण बताए गए हैं, परंतु वे दोनों ही तनिक भी उपयुक्त नहीं हैं। प्रथम तो यह कि उसमें कोई और धातु बहुत कम अंशों में मिली हो, पर यह बातें यथार्थ में मिलती ही नहीं और द्वितीय साल में एक बार किसी पूजा में उस खंभे पर घी लगाया जाता है और कदाचित् इसका ही प्रभाव उस पर पड़ा हो, परंतु यह भी ठीक नहीं है, घी सब स्थानों पर नहीं लगाया जा सकता है और वह साल भर रह भी नहीं सकता और एक-घी में डुबोकर और फिर अलग रख देने से किसी और उसी प्रकार के शुद्ध लोहे में मुर्चा लग जाता है। इन सब बातों पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि हिंदुओं को जो बात मालूम थी, वह अब तक भी लोगों को नहीं ज्ञात है।

आयुर्वेद का स्थान चिकित्सा

आजकल की चिकित्साशास्त्रों में ऊँचा ही है। इतने दिनों से विज्ञान ने जो-जो किया, वह थोड़ा नहीं है। उससे चिकित्साजगत को जो सहायता मिली, वह भी थोड़ी नहीं है। फिर भी आयुर्वेद का इतना मान है। प्राणि-शास्त्र में जो-जो नूतन आविष्कार होते हैं, नई-नई व्याधियाँ जो मनुष्य के दृष्टिगोचर होती हैं, वे सबके-सब किसी दूसरे छिपे हुए नाम में आयुर्वेद के अंदर वर्तमान हैं। इसकी ओषधियाँ आज भी पाश्चात्य देश की ओषधियों में एक बहुत बृहत् योग दे सकती हैं, और ओषधियों का उपचार तथा व्याधियों के निर्मूल करने का यत्न, यह सब बड़ी प्राचीन बातें हैं। जब कि सारी दुनिया अज्ञान के अंधकार से आच्छादित थी और जब वे लोग व्याधियों को देवी, देवता, दैत्य, दानव इत्यादि का क्रोध बताकर उसकी अर्चना करते थे, तब भारतवासी किसी घास व किसी जड़ को खिला-पिलाकर बीमारों को अच्छा करते थे। यह दशा वेदों और उसके पहले की है। परंतु उस समय यह सब बातें सिद्धांतबद्ध न थीं। अमुक वस्तु अमुक व्याधि में लाभ करती है, परंतु क्यों और कैसे, यह सब उस समय की बातें न थीं, यद्यपि एक पेशा वैद्यों का अवश्य ही था। उनका काम बीमारों को ओषधि देना तो था ही, परंतु इससे भी अधिक कठिन काम नूतन ओषधियों का आविष्कार करना भी था। देश और काल के प्रभाव से हिंदू लोग सर्वथा बेलाग न थे। ओषधियों के साथ देवताओं की कृपादृष्टि को मिलाते थे। योरप में उस समय सबसे विद्वान् ग्रीसवाले ही थे और सर प्रफुल्लचंद्र राय के मतानुसार उन्होंने अपने चिकित्साशास्त्र की शिक्षा भारतवर्ष से ही पाई, परंतु उस समय 'रसायन' (धातु के बने हुए पदार्थ) नहीं दिए जाते थे। पर चक्रपाणिदत्त तथा उनके बाद के लोग 'रसायन' का भी प्रयोग करने लगे, और फिर उन लोगों की ओषधियाँ इतनी उत्तम थीं कि उनसे वे बूढ़ों को युवा कर देते थे। आजकल भी यह प्रथा है, परंतु उसमें अस्त्रचिकित्सा ही का श्रेय है। अलबरूनी लिखता है—"उनके यहाँ (भारत में) भी रसविद्या के समान एक विज्ञान है, जो कि उनको विशेष रीति से ज्ञात है। वे उसे 'रसायन' कहते हैं, जिसकी उत्पत्ति 'रस' शब्द (सुवर्ण) से ही है। इसका तात्पर्य उस कला से है, जिसमें कुछ ओषधियाँ तथा जड़ों का ही प्रयोग किया जाता है। इसका गुण उन मनुष्यों को भी लाभ देना, जिनकी दशा आशा को भी पार कर गई है, और जो बूढ़ों को भी युवावस्था प्रदान करता है, और इस प्रकार कि लोग पूर्णतया यौवनावस्था को प्राप्त होते हैं, उजले केश फिर काले हो जाते हैं, बुद्धि कुशाग्र हो जाती है, कौमारिक तेज व चपलता फिर से आ जाती है, यहाँ तक कि स्त्री-संभोग की भी शक्ति प्राप्त हो जाती है और इस पृथ्वी के मनुष्यों की आयु भी बढ़ जाती है।" और वे जीवन को बढ़ाने में सिद्धहस्त थे। मनुष्य की पूरी आयु १०० वर्ष की मानी गई, पर कुछ ओषधियों के सेवन से मनुष्य की आयु १५० अथवा २०० वर्ष की भी हो जाती है। ऐसा श्री यूलेस (Yules) ने अपनी पुस्तक मैक्रोपोलो (Macropolo) द्वितीय खंड के ३०० पृष्ठ में लिखा है। उन्होंने अपने ओषधिशास्त्र को इतनी उन्नत अवस्था में पहुँचाया था कि जब पहले-पहले पोर्चुगाल के लोगों के साथ यहाँ आतशक का पदार्पण हुआ, तो उन्होंने अपने को उससे लड़ने के लिये समर्थ पाया। उसे वे मारे हुए पारे तथा चोबचीनी से बिलकुल अच्छा करते थे और यही लोग थे, जिन्होंने पारे तथा उसके द्वारा बनाई हुई ओषधियों का खाना

पहले-पहले बताया था। यह नहीं, सब प्रकार की धातुओं के बनाए पदार्थों को खिलाने की मौलिकता हिंदुओं ही को प्राप्त है और हिंदुओं को एक और विचित्र बात ज्ञात थी कि पृथ्वी के समस्त पदार्थ जीवनदायी तथा जीवन-हारी इन्हीं दो श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं और ऐसा एक सिद्धांत बिलकुल नया भी है। कुछ लोगों का कहना है कि Injections का भारत में आगमन अभी थोड़े दिनों से हुआ है और इनका श्रेय योरपीय विद्वानों को ही है, परंतु मद्रास के गवर्नर लार्ड एम्थिल साहब ने १६०५ साल के फ़रवरी महीने के लेक्चर में यह बात कही थी कि "भारत से ही चिकित्साविद्या अरब में और अरब से योरप में गई थी। इतना तक कि चेचक-रोग के दूर करने के लिये तथा प्लेग का विष नाश करने के लिये जो टीका आदि दिया जाता है, उसकी भी शिक्षा आर्य-जाति से ही योरप के लोगों ने प्राप्त की है।" 'आयुर्वेदोक्त चिकित्साशास्त्र कितनी उन्नति पर पहुँचा था, सो इसके नाड़ीज्ञान-शास्त्र के पाठ करने ही से ज्ञात हो सकता है, जिसकी सहायता से नाड़ी-परीक्षा द्वारा सकल प्रकार के रोगों का भली भाँति निदान हो सकता है और जिसमें विलक्षणता यह है कि एकमात्र नाड़ी-ज्ञान से ही तीन मास, छः मास अथवा उससे अधिक काल पूर्व में भी भविष्यत् के रोग का ज्ञान हो सकता है। यह नाड़ीज्ञान-शास्त्र इतना गंभीर तथा सूक्ष्म है कि आज तक पश्चिमी विद्वान् उसको समझ नहीं सके हैं।"

"चिकित्साविद्या में जो-जो विषय रहने से उसकी पूर्ण उन्नति समझी जा सकती है, वे सभी हिंदू-आयुर्वेद में थे। शस्त्रविद्या, रसायनविद्या, धातुप्रयोगविद्या और काष्ठादिभेषज-प्रयोगविद्या सभी आयुर्वेद में पाई जाती है। दूसरी ओर जलचिकित्सा (Hydropathy) शस्त्रचिकित्सा, अर्कचिकित्सा आदि सभी बातें इस सिद्धांत में मिलती हैं। यहाँ तक कि डाक्टर हेनिमन द्वारा आविष्कृत होमियोपैथिक-चिकित्सा का जो 'विषस्य विषमौषधम्'-नामक मौलिक सिद्धांत है, वह भी आयुर्वेद में पाया जाता है।" केवल मनुष्य की चिकित्सा ही नहीं, पशु आदि की चिकित्साप्रणाली भी आयुर्वेद में वर्णित है। शस्त्रचिकित्सा में भी प्राचीन आर्यों ने बहुत उन्नति की थी। डाक्टर रेली साहब ने बड़ी प्रशंसा के साथ मुक्तकंठ होकर कहा है "प्राचीन भारतवासियों के ग्रंथ देखने से प्रकट होता है कि वे शस्त्रचिकित्सा में विशेष निपुण थे। प्रायः १२७ प्रकार के शस्त्रों का वे शरीर पर प्रयोग किया करते थे और शस्त्रव्यवहार के साथ नाना प्रकार की ओषधियों का भी प्रयोग किया करते थे।" वेबर साहब ने कहा है—"शस्त्रचिकित्सा में प्राचीन आर्यगण पूर्णता प्राप्त कर चुके थे और इस विद्या में पश्चिमी लोग अभी उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। जैसा कि विकृत कान या नाक को सुधारकर नया बना देने की चिकित्सा पश्चिमी चिकित्सकों ने प्राचीन हिंदुओं से ही प्राप्त की है।" डाक्टर हंटर साहब ने भी ऐसी ही आर्यचिकित्सा की बड़ी प्रशंसा की है। मिस म्यानिंग ने कहा है कि "प्राचीन हिंदुओं के शस्त्रचिकित्सा के यंत्र ऐसे उत्तम और सूक्ष्म हुआ करते थे कि उनसे केश तक सीधे लंबे फाड़े जा सकते थे।" आजकल की Surgery के समान इसकी भी सब विद्यार्थियों को शिक्षा दी जाती थी और इसका ज्ञान प्रत्येक वैद्य के लिये अनिवार्य है। "सुश्रुत के मतानुसार अस्त्रचिकित्सा के विद्यार्थी के लिये शव की चीड़-फाड़ अनिवार्य है और इस विषय का सबसे बड़ा प्रमाण (सुश्रुत) इस प्रकार के व्यावहारिक ज्ञान को बड़ा महत्त्व देता है।" इस प्रकार से पश्चिमी विद्वान् तथा एतद्देशीय सभी पुरुषों ने प्राचीन आर्यजाति के चिकित्सा-शास्त्र की महिमा प्रकट की है। इस विद्या को (शस्त्र-चिकित्सा) आर्यलोग और सबसे उत्तम गिनते थे तथा सब प्रकार की व्याधियाँ, जो आजकल अच्छी की जाती हैं, अच्छी करते थे।

शरीरशास्त्र तथा प्राणिशास्त्र ये दोनों शस्त्रचिकित्सा के एक अंग हैं। हिंदुओं के ये दोनों शास्त्र अपनी पूर्णता तथा उत्तमता में यदि अद्वितीय न थे, तो आधुनिक शास्त्र के समान तो अवश्य पहुँच चुके थे, यहाँ तक कि Hoemle साहब पर आश्चर्य टपक ही पड़ा। चरक और सुश्रुत दोनों ने ही अस्थियों की गणना की और उनकी संख्या आजकल की गणना के अनुसार बिलकुल ठीक है। उन्होंने पेट तथा मेदे का वर्णन पूर्णतया कर दिया था और उन्होंने भोजन से रक्त बनने के कारण का स्पष्टीकरण कर दिया था। जब कि योरप में कोई रुधिर के विषय में, उसके लाल होने के अतिरिक्त, कुछ न जानते थे, तब भी भारतवासी रक्त का धमनियों तथा स्नायुओं द्वारा इधर-उधर जाना

बताते थे। केवल वे यही न जानते थे कि फेफड़ों (Lungs) की रुधिर के शुद्ध होने में क्या आवश्यकता पड़ती है। नसों के जाल का ठीक-ठीक वर्णन उस समय के विद्वानों का देना पश्चिमी डाक्टरों को आश्चर्य में डाल देता है। उस समय की एक बात आजकल की बातों से बढ़ भी गई है। जब वे किसी शव को चीड़ते-फाड़ते थे, तो उसे वे ओषधियों में डालकर तनिक-सा सड़ा लेते थे, जिससे ऊपर की त्वचा के निकालने में बहुत सुविधा होती थी और भीतर की नसें वैसी ही रहती थीं। आजकल के लोग किसी ऐसी वस्तु की खोज में हैं, पर वह मिलती ही नहीं।

गर्भविषयक ज्ञान भी उनका पर्याप्त था। यह तो कहना ठीक न होगा कि हिंदुओं को इस विषय में आजकल के समान ज्ञान था। डारविन (Darwin) को भी इतना अधिक न मालूम था। पर आर्यों का व्यावहारिक ज्ञान इतना सुदृढ़ था और उनके परोक्ष मत इतने परिपक्व थे कि उनको इस विषय में पंडित कहना अनुचित न होगा। उनके कुल ज्ञान को एक साथ लेकर देखने से ज्ञात होगा कि उनका (हिंदुओं का) पलड़ा भारी था। इन सबके देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदुओं का शरीर के विषय में अच्छा ज्ञान था। जब कि हिंदू लोग अपने पुराणों में ऐसा लिखते हैं कि अमुक मनुष्य व स्त्री अपनी मनुष्ययोनि को त्याग कर पाषाण हो गई, तो हम यह सोचने लगते हैं कि कदाचित् लिखनेवाले मूर्ख थे अथवा पागल हो थे। परंतु बहुधा पागलों की बातें सत्य ही हुआ करती हैं, केवल वे समयानुकूल नहीं होतीं। हम लोगों को ये बातें कहीं देख न पड़ने के कारण व्यर्थ प्रलाप ज्ञात पड़ती हैं। परंतु अब हम क्या देखते हैं कि लाहौर में एक लड़की पत्थर हो गई। सब लोग आश्चर्य तो भले ही करें, परंतु अब यह कहने का तो मुँह नहीं होगा कि हमारे पूर्वज मूर्ख (Our fathers are fools) हैं। इन सब बातों के होते हुए भी हमारे पूर्वजों का प्राणिशास्त्र अद्वितीय रहा है।

उस समय के जो उपाय थे, उनका अवलंबन कर जो एक मानव कर सकता है, वह सभी आर्यों ने किया है। उनके पास सूक्ष्मदर्शकयंत्र नहीं था, इससे इस शास्त्र में बहुत कुछ उन्नति वे न कर सके, पर तो भी व्यावहारिक ज्ञान तथा सिद्धांतों में उन्होंने थोड़ा काम नहीं किया। जो सिद्धांत उनकी दशा में कोई प्रतिपादित कर सकता है, वे सब उन्होंने किए। प्रथम तो उन्होंने वनस्पतियों में प्राण तथा चेतनशक्ति का होना बताया और फिर उन्होंने वृक्षों के लिंगों को निर्धारित किया, इन लिंगों का मूल अंश पुष्पों ही में बताया गया है। उनमें स्वयं प्रकाश (Phosphorescence) तथा जल का बाहर निकलना, इन सब बातों की परीक्षा की गई है। उन्होंने यह भी बताया कि वृक्षों तथा उनसे काटी हुई लकड़ी की समस्त शक्ति सूर्य से ही आती है। लाल, पीले तथा नारंगी रंग का प्रकाश, जो बहुतायत से डूबते हुए सूर्य के प्रकाश में होता है, वृक्षों के लिये मुख्यतः लाभदायक होता है। उनमें प्राणिमात्र के समान रुधिर (उनका रस) की गति होती है, परिचालना करने की शक्ति, चेतनता, बढ़ाव तथा सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति सभी होती हैं। उदयान ने अपने 'पृथ्वीनिरूपणम्' में ऐसा लिखा है—

वनस्पतिशास्त्र

वृक्षादयः प्रतिनियतभोक्त्र्यधिष्ठिताः, जीवन-मरण-स्वप्न-जागरण-रोग-भेषज-प्रयोग-बीजसजातीयानुबन्धानुकूलोपगमप्रतिकूलापगमादिभ्यः प्रसिद्धशरीरवत्।

और आधुनिक सिद्धांतों में सर जगदीश वसु का सिद्धांत है क्या? केवल जो बात इस अकेले श्लोक में घुसेड़ी गई है, वही उन्होंने अपने कई एक ग्रंथों में लिखा है। गुणरत्न ने अपने सद्दर्शन-समुच्चय में लिखा है कि वनस्पति में भी कतिपय अवस्थाएँ होती हैं—लड़कपन, जवानी तथा बुढ़ापा। उनकी वृद्धि नियत होती है, उनकी किसी टेक तक पहुँचकर उसे पकड़ने की भी इच्छा होती है, उनके भी घावों से पीड़ा होती, वे अपना खाद्यपदार्थ पृथ्वी से खींच लेते हैं, वृक्षायुर्वेद का पालन अक्षरशः करते हुए बहुधा वृक्ष पाए जाते हैं। उनके भी व्याधियाँ होतीं और वे सभी ओषधियों द्वारा निवारण भी होती हैं। उनके गर्भ रह जाय, इसलिये उन्हें कुछ मुख्य खाद्यपदार्थ दिए जाने चाहिए, और रात्रि में किए हुए पेड़ों के घाव शीघ्र अच्छे नहीं होते; क्योंकि प्रकाश की शक्ति तो उस समय होती ही नहीं (और इसी लिये तो रात्रि को फूल व पत्ती तोड़ना मना है)। यह सब तो था ही, परंतु सरकार यह कहने से नहीं चूके कि हिंदुओं का वनस्पतीय वर्गीकरण योरपीय से कहीं अच्छा है।

इसकी उस समय इतनी अधिक उन्नति न थी और न इतने साधन ही थे, पर फिर भी इन्होंने बहुत कुछ किया। वर्गक्रम का विन्यास, यद्यपि योरप-जैसा पूर्ण नहीं था, तथापि उसे पूर्ण करने का प्रयत्न अवश्य किया गया था। पशुओं के औषधालय थे और ईसा से ३ शताब्दी पूर्व जब कि योरपवाले पशुओं के साथ कोई व्यवहार न करते थे, तो उनकी औषधि करना कैसा। अश्व, अज, भेड़, खर, हाथी, सर्प, पक्षीगण इन सबके विषय में वे पूर्ण पंडित थे। जोंक, मेंढक तथा केंचुआ—इन सबके विषय में भी उन्हें यथेष्ट ज्ञान था। एक आश्चर्य की बात यह है कि हिंदुओं को इस विषय में इतना कम ज्ञान था, पर मानवशरीर के विषय में उनका इतना ज्ञान अधिक था। आजकल के डाक्टर पहले अपना हाथ पशुओं ही पर साफ़ करते हैं, पर हिंदुओं को इसकी आवश्यकता न प्रतीत हुई होगी और यदि हुई भी, तो उन्होंने दो-एक पालुओं से काम चला लिया। दयानंद के मतानुसार हिंदू बैक्टीरियालोजी पूर्ण थी।

जीवादि-शास्त्र

जब लोग यह कहते हैं, अब योरपियनों ने वायुयानों का आविष्कार किया, तब क्या वे यह जानते हैं कि वे प्राचीन भारत के समस्त कार्यों पर पानी फेर रहे हैं। परंतु यह उनका दोष नहीं, केवल यह उनके मन की परिस्थिति का कारण है। वह यह जानकर भी मानने में आनाकानी करेंगे कि वास्तव में, भारतवर्ष में वायुयान पहले के हैं। "प्राचीन काल में पृथ्वी पर सर्वत्र आने-जाने के लिये आर्यगण के पास यान आदि का भी अभाव नहीं था। प्राचीन इतिहास-पुराणादि में जो द्रुत-गामी रथ, पोत आदि का प्रमाण मिलता है, जिनके द्वारा थोड़े ही समय में स्थल, जल और आकाश-मार्ग में बहुत दूर तक जाने की बात बताई गई है, उनके द्वारा आधुनिक जहाज़, वेलन, योरोप्लेन आदि का अस्तित्व सिद्ध होता है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में ३७ सूक्त की प्रथम ऋक् यह है—

जल तथा वायुयान

> क्रीलं वः शर्द्धो मारुतमनर्वाणं
>
> रथे शुभम् कण्वा अभिप्रागयत।

इसमें 'अनर्वाणम्' शब्द का अर्थ 'अश्वरहित' है और 'मारुत' शब्द का तात्पर्य 'मरुद्दत्त या वाष्पदत्त' बल से है—अतः पूरे ऋक् का यह अर्थ निकलता है कि 'हे कण्वगोत्रोत्पन्न महर्षिगण! जिस प्रकार से वाष्प के प्रभाव से अश्वरहित रथ चल सकता है, उसकी शिक्षा हमें दीजिए।' अतः इस ऋक् के द्वारा अश्वरहित वाष्पीय रथ प्राचीन काल में था—ऐसा सिद्ध हुआ है" फिर वाल्मीकीय रामायण के सुंदर-काण्ड, सप्तम सर्ग के ११ व १३ श्लोक इस प्रकार हैं—

> पुष्पाह्वयं नाम विराजमानं
>
> रत्नप्रभाभिश्च विवर्धमानम्।
>
> वेश्मोत्तमानामपि चोच्चमानं
>
> महाकपिस्तत्र महाविमानम्॥
>
> प्रवालजाम्बूनदपुष्पपक्षाः
>
> सलीलमावर्जितजिह्मपक्षाः।
>
> कामस्य साक्षादिव भान्ति पक्षाः
>
> कृता विहंगाः सुमुखाः सुपक्षाः॥

उपर्युक्त पुष्पक विमान बहुत मूल्यवान् था और बहुत ही दीर्घकाय था और बड़े भवनों से भी ऊँचा था—इस लिये इसके चलाने के लिये बड़ी शक्ति की आवश्यकता होगी, और वह चलेगा ही कैसे, आजकल के वायुयानों के समान वह भी वायु की तरंगों ही से चलता था, और यह तरंगें पंखों द्वारा की जाती हैं, और उसमें भी की जाती थीं; पर वे पंखे मामूली बिजली के पंखे-ऐसे नहीं थे, वरन् बहुत सुंदर पक्षियों के पंखों के समान थे, और वे पंख आप-से-आप चलते भी थे, और बड़ी शक्ति भी साधारण न थी। आजकल के इंजीनियर लोग अपना नाम अश्वशक्ति (Horse power) रखते हैं, परंतु पौराणिक इंजीनियर इसको बहुत छोटा जान-कर, और गजशक्ति को भी पर्याप्त न जानकर, एकदम कूदकर निशाचर (व राक्षस) शक्ति पर पहुँच गए, और इस विमान की शक्ति एक सहस्र राक्षस की थी, जैसा कि सुंदर-काण्ड के आठवें सर्ग के ७ वें श्लोक में देखा जा सकता है—

> वहन्ति यं कुण्डलशोभिताननाः
>
> महाशना व्योमचरा निशाचराः।
>
> विवृत्तविध्वस्तविशाललोचना
>
> महाजवा भूतगणाः सहस्रशः॥

जब कि वायुयान ऐश्वर्यवालों का यान था, तब जल-यान एक आवश्यकता की वस्तु हो गया था—और आर्य-

गण इसके निर्माण करने की कला में अत्यंत कुशल थे। वे काष्ठ-विज्ञान में दक्ष थे, और उत्तम-उत्तम जहाज़ बनाते थे। पूर्व काल में जहाज़ तो सभी स्थानों में थे, परंतु वे आजकल की तरणियों से भी बढ़कर थे। परंतु यही बात आर्यों में लागू नहीं हो सकती है, वह जहाज़ ऐसे थे जिनमें सभी प्रकार के यंत्र थे। ध्वजा थी और पवन-वेग के सहने की शक्ति थी, और वे वेगवान् थे। आधुनिक जहाज़ों में यही बातें होती हैं—इसके लिये महाभारत आदिपर्व का निम्न-लिखित श्लोक देखना चाहिए—

ततः प्रवासितो विद्वान् विदुरेण नरस्तदा।
पार्थानां दर्शयामास मनोमारुतगामिनीम्॥
सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम्।
शिवे भागीरथीतीरे नरैर्विश्रम्भिभिः कृताम्॥

बंदूकें व तोपें

किसी-किसी अर्वाचीन पुरुष का यह संदेह है कि जब आर्य-जाति बंदूक और तोप का व्यवहार नहीं जानती थी, तो उनमें युद्ध-विद्या की उन्नति कैसे हो सकती है ? परंतु प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात करने से उनका यह संदेह मिथ्या प्रमाणित हो जायगा। जब प्राचीन भारत के अनंत अस्त्र-शस्त्रों में नालास्त्र और शतघ्नी आदि का वर्णन देखते हैं, और बड़े-बड़े युद्धों में उन सबका प्रयोग भी देखते हैं, तो प्राचीन आर्य-जाति की युद्ध-विद्या के विषय में इस प्रकार का संदेह करना सर्वथा निर्मूल है। प्राचीन ग्रंथों के देखने से प्रमाणित होता है कि वे तोप को शतघ्नी, बंदूक को नालास्त्र, बारूद को ऊर्ध्वघ्नी और गोला को गुड़क कहा करते थे। इस प्रकार के युद्ध-यन्त्र आर्य-जाति के युद्ध में व्यवहृत होते थे, इसमें संदेह नहीं।

'ऊर्ध्वघ्नीं' प्रोथितां कृत्वा शतघ्नीं गुडकैर्युताम्।

अर्थात् बारूद और गोले से भरकर युद्ध में तोप चलाई गई। इन सब प्रमाणों से प्राचीन काल में बंदूक, तोप आदि अस्त्र व्यवहृत होते थे। सम्राट् पृथ्वीराज के समय में भी तोपों का व्यवहार था। इसका प्रमाण उनके जीवन-चरित्र के इतिहास में पाया जाता है। यथा—

जंबूर तोप छुटहिं भनंकि।
दस कोस जाय गोला भनंकि॥

प्रसिद्ध गंगा की नहर खोदते समय सर आर्थर कटलि साहब ने उत्तर-पश्चिम प्रदेश में पृथ्वी-मध्य स्थित एक बृहत् नगर का ध्वंसावशेष पाया था, और उसमें कई एक तोपें भी मिली थीं, जिससे उक्त साहब ने यह सिद्धांत निश्चय किया कि प्राचीन भारतवासी गण तोप का व्यवहार जानते थे। प्रोफ़ेसर विल्सन साहब ने कहा है कि 'हिंदुओं के चिकित्सा-शास्त्र के पाठ करने से पता लगता है कि वे बारूद प्रस्तुत करना जानते थे, और उनके ग्रंथों में भी इसके प्रयोग का वृत्तांत बहुधा मिलता है; और यही नहीं, उनको बम का भी नुलख़ा और उपयोग, दोनों ही ज्ञात थे, और वे इसे बहुधा काम में लाते थे। इतना होने पर भी आर्यों का इस विषय में यह मत था कि अस्त्र धर्म के नहीं, वरन् अधर्म के थे। क्योंकि इसमें योधाओं की शक्ति की यथेष्ट परीक्षा न होती थी, बरन् उनकी ख़ून-ख़च्चर की सहिष्णुता की ही परीक्षा होती थी।

अब एक और आइटम बाक़ी रहा, और वह है बेतार का तार।

बेतार का तार

इस विषय में बड़ी सफ़ाई करनी है। एक तो प्राचीन भारत में न तो Transmitter ही थे, और न Receiver ही थे, परंतु इस बात में संदेह है कि ऐसी तारबर्क़ी भी न थी। अभी-अभी मिलन युनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर ने यह दिखाया है कि आँखों से भी एक प्रकार की किरणें निकलती हैं, जिनके परिमाण तथा तरंग की लम्बाई (wave length) अत्यंत शुद्धता से नापी जा सकती है। मस्ताना जोशी का मत है, और उसने इसे अपने अप्रैल सन् १६२८ के अंक में छापा भी है कि यह बात बड़े मतलब की है। इससे भारतवासियों के 'बेतार के तार' की कला पर बहुत प्रकाश पड़ता है। मिलन के प्रोफ़ेसर साहब इन किरणों द्वारा ही दो मनुष्यों में बिना किसी तार के संबंध करने का प्रयोग कर रहे हैं, और किसी अंश में उनका यह प्रयोग सफल भी हुआ है। अब प्रश्न होता है कि क्या मस्तिष्क से भी ऐसी किरणें निकल सकती हैं (और क्यों न निकलेंगी, यह भी समझ में नहीं आता है) यदि निकलेंगी, तो क्या उनके द्वारा बेतार बर्क़ी न हो सकेगी। और जब हम यह देखते हैं कि वास्तव में ही ऐसी बातें होती हैं कि शिमला का साधू लंदन की युवती से जाकर आध घंटे के अंदर बातें करके लौट आवे, तब इस बात में हमें विश्वास अवश्य हो जाता है कि उनके

स्तिष्क से किरणें ज़रूर चलती हैं । उनके द्वारा तार-र्की भी होती थी । केवल अब उस तारबर्क़ी के कार्यकर्ता की एकाग्रता न होने के कारण नहीं मिलते हैं। ी एक और बात है, वह यह कि हमारे पिताजी बिच्छू डंक मारने की दवा एक विचित्र रीति से करते हैं। वह घास को, जिसका नाम "दुद्धी" है, लेकर व्यथित ष्य को दिखाते हैं और उसे तुरंत ही आराम होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस घास से भी एक र की ओषधिरश्मियाँ निकलकर, आँख द्वारा शरीर प्रविष्ट होकर उस विष के प्रभाव को नष्ट करती हैं। विष्य में इस प्रकार की ओषधि का बड़ा प्रचार होना व है, और यह बड़ा प्रभावशाली तरीक़ा भी है। इन बातों से उपर्युक्त सिद्धांत परिपुष्ट होता है कि आर्यों को इस प्रकार की तारबर्क़ी की कला ख़ूब आती थी।

इस प्रकार हमारे पूर्वजों के कार्यों की कथा पूरी होती है। भारतवर्ष के इतिहासरूपी सिरपेंच में वह काल क अत्यंत प्रज्वलित कोहेनूर था, विद्वत्ता में और कार्य-कुशलता में तथा सदैव निर्लिप्तता में उनकी समानता करनेवाली जाति उस समय कोई न थी, और अब तो उसके होने में संदेह है। जिस जाति का एक मुख्य अंश—वह अंश बिलकुल छटा हुआ था—ब्राह्मण वर्ण रखकर स्वयं अपने लिये चिंता न करके सदैव पर-हित में रत रहे, वह जाति छोटी नहीं हो सकती है। और जो अर्वाचीन जातियाँ आजकल बढ़ी हुई हैं, वे सब उन्हीं निःस्वार्थ वैज्ञानिकों के कारण से हैं, जिन्होंने जन्म भर पूरे पेट भोजन न करके, अपना सारा जीवन संसार की वेदी पर बलिदान करके, सब लोगों के ऐश व आराम में लुटा दिया—फिर भी उनके यहाँ कोई ऐसी जाति न थी, जिसका धर्म ही निःस्वार्थ सेवा रहा हो और न अब भी है—इसलिये इतने अधिक साधन होने पर भी उतनी उन्नति नहीं होती है। प्राचीन भारत में, जब शव चीरने के लिये बाँसों की खपचियों के सिवा कुछ भी न था, हमारे विद्वान् वैद्यों ने शवों को चीर मानव-शरीर की रचना पर जो प्रकाश उस समय डाला था, वह अब तक इतने उत्तम तथा शुद्ध साधन होने पर भी और बढ़ नहीं सका है। इस पूर्व कथन से यह तो ज्ञात ही हो जायगा कि समस्त जातियों के गुरु हमीं लोग थे।

परंतु आजकल क्या हमारी स्थिति वही है? क्या हम अब भी अपने को भारतवासी कहने की क्षमता रखते हैं? 'भूत वही जो सिर चढ़ बोले', भारतवासी अपने को वही कह सकता है, जो भारतवासी के गुणों का स्वामी हो—क्या हम लोग अब भी ब्राह्मण होकर वैश्यों का लालच, क्षत्रियों का क्रोध और शूद्रों की ख़ुशामद छोड़ सके हैं? क्या अब भी हम अपने को अच्छे गुरु तथा अच्छे शिष्य कहने की हिम्मत रखते हैं? क्या विलायत की यह कहावत "Imitative as Imitns अथवा "Imitative as a monkey" हम लोगों का उत्तम शिष्य होना सिद्ध करती है या हमें कपि के सदृश एक बर्बर जाति होना सिद्ध करती? और हम बर्बर तथा असभ्य कहे जाने पर चिढ़ते क्यों हैं, जब हम राक्षसों की भाँति प्रत्येक दोष को ग्रहण कर लेते हैं, जब हम हैट लगाकर मुँह में चुरुट दबाकर अपने किसी निर्धन भ्राता को गाली देने में अपनी बड़ी बड़ाई समझते हैं?

परंतु क्या हमको अपना 'बर्बर' विशेषण परिवर्तन करने की इच्छा है? केवल इच्छा तो सभी मनुष्य करते हैं, परंतु इच्छा करके चुप न हो जाना चाहिए। जैसे मोटर में बिजली जलकर मोटर को और तीव्र करती है, उसी प्रकार यह इच्छा हमारे हृदयों में जलकर हमको अपने मार्ग में अधिक वेग से चलावे। इस बिगड़े हुए लड़के भारतवर्ष को किंगस्ले की शिक्षा ही सबसे उपयुक्त होगी—

Do noble things, not dream them, all day long,
And so makes life, death, and that vast forever, one grand, sweet sony,

परंतु हम लोगों में एक मर्ज़ और है। इच्छा से एक क़दम हम और बढ़कर उस बात पर ख़ूब चिल्लाते हैं, ख़ूब द्वंद्व मचाते हैं, पर करते कुछ भी नहीं, यही एक भयानक व्याधि है। हमको धोखे में डालकर यह हमें अधो-गति प्रदान करती है। हम समझते हैं कि हम बड़े पर-सेवी हो गए हैं, परंतु वास्तव में हम बड़े गर्वीले हो जाते हैं। नेपोलियन ने एक समय अपने सिपाहियों से कहा था—विजय ने कभी "उनका परित्याग नहीं किया, क्योंकि वे सदैव शूर, संतोषी तथा एक रहे हैं।" हम लोग

भो यदि विजय की आकांक्षा करते हैं, तो हमें शूर, संतोषी तथा एक होना चाहिए। परंतु हमारी वीरता ही क्या है और हमको अपनी शूरता दर्शाने के लिये लड़ाइयाँ ही कहाँ मिलती हैं, न युद्ध हों और न हम अपनी वीरता ही दिखावें। एक अँगरेज़ी कवि बहुत ही सत्य कहता है—

"The drying up a single tear has more.

Of honest fame than shedding seas of gore."

और आजकल भारतवर्ष में आँसुओं की कमी नहीं, कोई पोछनेवाला तो हो। करोड़ों नर-नारी भूखों मर रहे हैं, और अपने महाजनों की यातनाओं से दबे हुए हैं। ज़मींदार लोग उनको मारे डालते हैं; परंतु फिर भी उनके आँसू नहीं पुँछते। चारों ओर दारिद्र्य और असंतोष का साम्राज्य फैला है और इसका कारण क्या है? भारतवर्ष में द्रव्य की कमी। जो कुछ रुपया अन्न बेचने से मिलता है वह सब-का-सब और उससे भी अधिक कमख़ाब, मख़मल, मलमल, ब्रांडी, मोटर, पिटरोल, सिगरेट इत्यादि तरह-तरह की वस्तुओं के मोल लेने में चला जाता है, और फिर हम लोग रोते और भूखों मरते हैं।

निकल आओ देश के शूरो! रुपए को बाहर जाने से रोको और अपने देश के भाइयों के आँसू पोंछो। रुपया बाहर जाने से रोकने के लिये दो काम हो सकते हैं, दोनों ही को करो—अपने शौक़ों को घटाओ। स्वयं बहुत सादे बनो, सादगी का महत्त्व दूसरों की दृष्टि में बढ़ाओ और स्वयं अपने देश में इन वस्तुओं को प्रस्तुत करो। जब और देश विज्ञान में इतने बढ़ गए हैं, तब यह कार्य बड़ा कठिन होगा। परंतु क्या कठिनता के कारण कोई कार्य त्याग दिया जाता है? यह तो कायरों का काम है। हमें चाहिए, सब ब्राह्मण होकर विद्याध्ययन करने तथा यथार्थ विद्या ग्रहण करने में दत्तचित्त हों, और उससे देश का कार्य सुधारें। विद्वान् होकर विद्या को देशहित में न लगाना लोहे में मुर्चा लगाने के समान है। प्रोफ़ेसर रामन को विद्वान् कहने में हम लोग कभी नहीं चूकते, परंतु शूर कहने में अवश्य ही हिचकते हैं। उन्होंने अच्छी-से-अच्छी उन्नति तो अवश्य की, पर अपने आविष्कारों को बचाकर भारत के काम में नहीं लगाया, उनके आविष्कारों को पश्चिम ही उपयोग में ला रहा है। सर जगदीश वसु तथा सर प्रफुल्ल राय विद्वान् तथा शूर दोनों ही हैं, उन्हीं का अनुकरण हम सबको करना चाहिए। शूर और विद्वान् होना बहुत बड़ी बात है। इस देश में मान तो होता ही है, पर मोक्ष भी मिलना निश्चय हो जाता है। भारत का भाग्य अब भी उज्ज्वलता से पूर्ण है, केवल एक परदा हटाना है। क्या हम लोग एक परदे को भी नहीं हटा सकते हैं? क्या हम इतना भी न करके अपने को भारतवासी कहलावेंगे? भारतवर्ष को अभी बहुत बड़ा होना है, और हम लोग उसे बड़ा कर सकते हैं।

हृषीकेश त्रिवेदी

जीवन-ज्योति

१. स्तुति और अनुष्ठान

"भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम"

संसार का समीक्षण करने से पता लगता है कि सर्वत्र स्तुति का साम्राज्य है।

स्तुति द्वारा अनुपादेय उपादेय अग्राह्य ग्राह्य एवं दुःखद वस्तु सुखद बना दी जाती है। कहाँ तक बताया जाय, स्तुति द्वारा वस्तु का वास्तविक स्वरूप सर्वथा बदल दिया जाता है। कपड़ा कितना ही जीर्ण, क्षिप्र ही क्षीण होनेवाला क्यों न हो, विना वीक्षण किए ही स्तुति श्रवण-मात्र से ग्राहक उसे ग्रहण करने के लिये सद्यः सन्नद्ध हो जाता है। स्तुति-सहित साररहित औषध के लिये विना ईक्षण किए ही कठिनता से कमाए हुए कार्षापण को किसान कर से फेंक देता है एवं आचरणहीन, विद्याविहीन, प्रलोभनपूर्ण और स्वार्थप्रवीण प्राणियों की अनेक विधि स्तुति की जा रही है, उन्हीं के आशीर्वाद में परमपद प्राप्ति की प्रतीक्षा है!

अहो! असत्य स्तुति-श्रवण से ही सार-रहित वस्तु के ग्रहण करने के लिये लाखों लोग लालायित हो रहे हैं। सदोष पुरुष की स्तुति करने के लिये मनुष्य-मंडल पूर्ण प्रयत्न कर रहा है।

परमानंदप्रद प्रभु की यदि स्तुति की जाती, तो आज इस मर्त्यलोक में मनुष्य-मंडल के लिये संकीर्ण कंटकाकीर्ण मार्ग न रहता।

परमेश्वर की स्तुति करने से क्या अनिष्ट कर्म नष्ट हो जाते हैं?

उत्तर—नहीं। विना भोगे अनिष्ट कर्मों का फल तो नष्ट नहीं होता है, किंतु भविष्य में अनिष्ट कर्म बनते नहीं हैं, अर्थात् मनुष्य दुःखजनक अनिष्ट कर्मों को नहीं करता है। मनुष्य-मात्र का स्वभाव है कि किसी व्यक्ति में किसी विशेषता को देखता है, तो उस विशेषता को अपने अंदर लाने का यत्न करता है। जब किसी के बल की तारीफ़ की जाती है, तो प्रत्येक श्रोता अपने अंदर बल लाने का यत्न करता है। नींबू के स्मरण से जीभ पर पानी आ जाता है। और शायद पाठक जब इस लेख में नींबू का नाम पढ़ेंगे, तब उनको दंतोदक-संप्लव अवश्यमेव होने लगेगा। परमपद से पतित, मायाभिमुख,

प्रलोभनपूर्ण पृथ्वी पर पर्यटन करनेवाला प्राणी यदि परमात्मदेव की स्तुति करेगा, तो उसकी पाप-प्रवृत्ति अवश्यमेव नष्ट होगी और पुण्य-प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव होगा।

"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्"—परमात्मदेव की स्तुति और तदनुकूल अनुष्ठान से विवेक-ज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है। शुद्धांतःकरण से की हुई परमात्म-स्तुति संसार-सागर से पार जाने के लिये नौका है, विविध बाधनाओं की बढ़ती हुई बाढ़ को रोकने के लिये दृढ़ दीवार है, स्वर्गारोहण का सोपान है।

परमात्मदेव की स्तुति शुभ कर्म है और शुभ-कर्म का फल उसकी अपेक्षा अधिक होता है। इस विषय में एक दिन एक बैरिस्टर साहब ने मुझसे पूछा कि "यावत् कर्म तावत् फलम्"—यावत् कर्म होता है, तावत् ही फल होता है। यह नहीं कि कर्म न्यून हो और फल अधिक हो।

मैंने उत्तर दिया कि कर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) अन्वयी, (२) व्यतिरेकी। व्यवस्था-विधि के अनुकूल कर्म को अन्वयी और व्यवस्था-विधि के प्रतिकूल कर्म को व्यतिरेकी कहते हैं। अन्वयी कर्म का फल अधिक और व्यतिरेकी कर्म का फल यावत् कर्म—उतना ही—होता है। जैसे—उपजाऊ भूमि में जौ, गेहूँ, चावल, चना, मूँग, मटर के एक दाने को बो देते हैं, तो उस एक दाने के (एक से अधिक) अनेक जौ, गेहूँ, चावल, चना, मूँग और मटर के दाने हो जाते हैं। यहाँ पर यथा व्यवस्था-विधि के अनुकूल कर्म का अधिक फल हुआ है। तथैव व्यवस्था-विधि के अनुकूल की गई परमात्म-स्तुति भी अधिक फलप्रदा होगी।

प्रतिकूल कर्म का उतना ही फल होगा, जितना कर्म हो। जैसे—एक मनुष्य ने एक चने का दाना अग्नि में डाल दिया, वह दाना अग्नि में जल गया। खत्ती, खास और खेती में पड़े हुए चनों की कोई हानि नहीं हुई। सिर्फ़ एक जला है। एक की ही हानि हुई है, क्योंकि यह प्रतिकूल कर्म है। जितना प्रतिकूल कर्म होगा, उसका उतना ही फल होगा।

बैरिस्टर—"यावत् कर्म तावत् फलम्" का यह अभिप्राय है कि जब तक कर्म, तब तक फल रहता है। क्योंकि—"कालान्तरेणाऽनिष्पत्तिः हेतुविनाशात्"—महर्षि गौतम ने बताया है कि समयांतर फल नहीं होता है, क्योंकि हेतु नष्ट हो जाता है। अर्थात् विनष्ट कारण से कुछ भी कार्य नहीं होता।

मैं—ठीक है कि विनष्ट कारण से कोई कार्य नहीं होता किंतु यहाँ पर तो यह विवेचना है कि कर्म की समाप्ति के साथ ही फल-समाप्ति होती है, या नहीं। मेरा विचार है कि कर्म के नष्ट होने पर भी उसका फल रहता है। जैसे—किसी मनुष्य की उँगली कट गई, यहाँ उँगली कटना कर्म है। यद्यपि कटना बंद है, किंतु उसका फल रक्त देर तक निकलता रहता है, यंत्रणा देर तक रहती है। भोजन करने के बाद भी कुछ घंटों के लिये क्षुधानिवृत्ति हो जाती है, विद्याध्ययन छोड़ने के बाद भी तज्जन्य फल, ज्ञान, देर तक रहता है। यदि यह सत्य सिद्धांत होता, तो जब तक उँगली पर छुरी चले, तभी तक रक्त निकले, छुरी के पृथक् होते ही रक्त बंद भी हो जाय, पीड़ा भी न होने पावे। जब तक दाल-भात, पूड़ी-पकौड़ी का पेट में पाचन होता रहे, तब तक भूखभवानी भागी रहे, जब चौके से चलना आरंभ हो, तब भूखभवानी का अकांड तांडव होने लगे और अध्ययन छोड़ने के साथ ही उसका ज्ञान भी नष्ट हो जाय, तो ऐसा होने से संसार की स्थिति ही बिगड़ जायगी; क्योंकि कोई भी मनुष्य डाक्टर, वकील नहीं बन सकता है और आप बैरिस्टर भी नहीं बन सकते हैं। अध्ययन की समाप्ति के साथ ही तदध्ययनफल ज्ञान भी नष्ट हो जाना चाहिए, किंतु ऐसा नहीं होता है। अतः यह सिद्धांत सर्वथा असत्य है कि जब तक कर्म, तभी तक फल रहे।

मेरे लिखने का यह अभिप्राय है कि पूर्णानंदप्रद प्रभु की स्तुति छोड़, जड़ अथवा चेतन की स्तुति से परमानंद प्राप्ति की जो आशा रखता हो, उसकी आशा निराशा में इस प्रकार परिणत हो जायगी, जैसे नीम से नींबू, खजूर से अंगूर, कचनार से अनार और चावल से चना चाहनेवालों की आशा निराशा में परिणत हो जाती है।

भगवद्भक्त जब भगवान् की स्तुति शुद्धांतःकरण से करता है, तब वह अनुभव करता है कि मैं प्रभु के आनंद की अभंगतरंगा-गंगा में ग़ोता लगा रहा हूँ। महर्षि पतंजलिजी ने भी बताया है—"तदा द्रष्टुः स्वरूपे-स्थानम्"—यह कि परमात्मा के स्वरूप में अपने-आपको बैठा देखता है। किसी को शंका हो सकती है कि प्रद

की स्तुति से अनिष्ट-प्रवृत्ति नष्ट कैसे होगी ? मनुष्य में अनुकरण करने की शक्ति आरंभ से ही पाई जाती है। बचपन में जिसका कुर्ता देखा, बस अपने लिये भी वैसा ही चाहता है। स्कूल और कालेज में जिसको अच्छा पाता है, खुद भी वैसा ही बनना चाहता है। राममूर्ति को देखकर प्रायः पुरुष पहलवान बनना चाहता है। किसी ने ठीक कहा है—"As a man thinketh so he becometh" अर्थात् मनुष्य जैसा सोचता है, वैसा वह बन जाता है। माता के हृदय में जैसे भाव रहते हैं, वैसे ही प्रभाव का गर्भस्थ बालक हो जाता है। यदि यह मननशक्ति इतना प्रभाव रखती है, तो प्रभु की स्तुति का मनन किया जायगा। प्रभु के गुण भी श्रोता में अवश्य आवेंगे। प्रभु के गुणों के आने से पाप-प्रवृत्ति विनष्ट होगी। इसलिये वेद ने आदेश किया है—

"भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम।"

अर्थात् आपकी बहुत प्रकार की स्तुतियाँ नम्रतापूर्वक सदा प्रशंसा किया करें और सर्वदा आनंद में रहें।

धुरेंद्र शास्त्री

× × ×

२. पाश्चात्य संस्कृति का भारत पर प्रभाव

भारत ! तुम दीनता की बेड़ियों में जकड़े हुए हो। अंधकार में पड़े-पड़े तुम्हारी ज्ञान-दृष्टि विलीन हो गई है और दैहिक यातनाएँ भोगते-भोगते तुम्हारा शरीर जर्जर हो गया है। तुम इतने अपढ़ और मूर्ख हो कि तुममें मित्र-शत्रु, भले-बुरे, हित-अहित का विवेक किंचिन्मात्र नहीं रहा। तुमको ख़बर नहीं। तुम्हारी मानसिक संपत्ति का भी अपहरण कर लिया गया है। संसार को चकित करनेवाले जिन आविष्कारों के निर्माणकर्ता तुम थे, उन पर उनकी मुहर लगी हुई है।

भारत की अधोगति का मुख्य कारण प्राचीन संस्कृति का त्याग और विदेशी का ग्रहण है। कहाँ वह समय था, जब सभ्य देशों में भारतीय संस्कृति का मान था और कहाँ अब वह समय आ गया है कि सर्वत्र उसका निरादर होता है। कुछ विचार-शून्य भारतीय उसे त्यागने में ही उन्नति-सोपान समझते हैं। ज़रा इतिहास की ओर ध्यान दीजिए। सम्राट् अशोक ने बौद्ध-धर्म के साथ-साथ रहन-सहन और साहित्य का प्रचार करने के लिये बौद्ध-भिक्षु और धर्म-उपदेशक बर्मा, श्याम, चीन, तिब्बत, अफ़ग़ानिस्तान, मंगोलिया, मिसर, यूनान आदि सुदूरवर्ती देशों में भेजे थे। अब भी एशिया-महाद्वीप के अनेक देशों में हमारी प्राचीन संस्कृति का वैभव छिपा पड़ा है।

भारत के अक्षय ज्ञान-भंडार ने देश-देशांतरों में इतनी ख्याति प्राप्त कर ली थी कि वहाँ के निवासी अपनी ज्ञान-पिपासा शांत करने के लिये नगण्य संख्या में यहाँ आते थे। वे पूर्ण विद्वान् होकर और यहाँ की संस्कृति के साँचे में ढलकर प्रसन्नवदन स्वदेश लौट जाते थे। वर्तमान युग में भी यहाँ की संस्कृति के चिह्न बौद्ध-देशों में थोड़े-बहुत पाए जाते हैं। वहाँ धर्म-भिक्षु और महंतों के वस्त्र अशोककालीन आचार्यों के समान होते हैं।

हमारी प्राचीन संस्कृति इतनी उच्चतम थी कि स्वयं विजयी सिकंदर अपने साथ यहाँ के कवियों, पंडितों और शिल्पकारों को इसका प्रचार करने के लिये ले गया था। महमूद ग़ज़नी ने भी यहाँ के कारीगरों के हाथ से बनी हुई इमारतों से अपनी राजधानी को अलंकृत किया था और यहाँ की पुस्तकों का अनुवाद फ़ारसी-भाषा में कराया था। भारतीय कवि और पंडित उसकी सभा के सदस्य थे।

मुसलमान बादशाहों ने अपनी संस्कृति को यहीं का रूप दिया था। मध्यकालीन भारत में विदेशी संस्कृति का देशी नीति, रहन-सहन, भाषा आदि पर प्रभाव अवश्य था, पर सूक्ष्म रूप से। वह देशी में मिलकर विलीन हो गई थी।

पलासी-युद्ध के पश्चात् भारत में पाश्चात्य संस्कृति उत्तरोत्तर उन्नति करती रही। बहुत समय तक तर्क-वितर्क होता रहा कि शिक्षा का माध्यम अँगरेज़ी हो या भारतीय भाषाएँ। अंत में बड़े वादानुवाद के बाद यह निश्चय हुआ कि शिक्षामाध्यम अँगरेज़ी हो। इसमें ब्रिटिश-सरकार की चाहे जो कुछ नीति रही हो, पर इससे भारत को लाभ की अपेक्षा अधिक हानि पहुँची है। यह शिक्षा इतनी महँगी है कि साधारण स्थिति-वालों के लिये इसे प्राप्त करना कोई सरल कार्य नहीं है। इसी कारण एक शताब्दी तक लगातार प्रयत्न करने पर भी भारत शिक्षित न हो सका। एक तो मौलिकता के अंकुर अँगरेज़ी-भाषा के प्रचंड आतप से झुलस जाते हैं; दूसरे थोड़े-बहुत जो लोग शिक्षित होते हैं, वे भी मूर्ख या स्वार्थी रहते हैं। तीसरे, रहन-सहन विदेशी होने से करोड़ों रुपया बाहर चला जाता है। चौथे, सामाजिक नियम टूटते जाते हैं। पाँचवें, भारतीय धर्म पर विदेशी की विजय होती जाती है। छठे, राजनैतिक क्षेत्र में भारत बहुत पिछड़ गया है और उसकी पराजय होती जाती है और सातवें, उसकी शारीरिक और मानसिक, दोनों शक्तियाँ जाती रही हैं। मेकाले के समय से अब तक लगभग सौ वर्ष हुए। अब यह सोचने की बात है कि इस अवधि में भारत में कितने प्रतिशत स्त्री-पुरुष शिक्षित हुए और इससे आधे समय में जापान में कितने। कुछ लोगों का कहना है कि विदेशी-भाषा के बिना विचार-विनिमय नहीं हो सकता। यह किसी अंश में ठीक है। मातृ-भाषा द्वारा शिक्षा के पश्चात् विदेशी भाषा के पठन-पाठन से उच्चतर विनिमय हो सकता है यद्यपि योरप के प्रत्येक देश में पहले अपनी भाषा द्वारा शिक्षा प्रदान की जाती है, तथापि यदि किसी भाषा में कोई उच्चकोटि का ग्रंथ प्रकाशित होता है, तो उसका अनुवाद अन्य भाषाओं में हो जाता है।

बात यह है कि वहाँ मातृ-भाषा का प्राबल्य है, परंतु अन्य योरपीय भाषाओं का पठन-पाठन शिक्षा-प्रणाली के अंतर्गत है। विद्यार्थी उसी विदेशी भाषा का अध्ययन करता है, जिसमें उसकी विशेष रुचि होती है। फलतः लोग अन्य भाषाएँ जानते हुए भी प्रेम अपनी ही भाषा तथा संस्कृति से रखते हैं।

योरप में एक देश की संस्कृति का दूसरे देश की संस्कृति से महान् अंतर नहीं है, फिर भी प्रतिदेश के निवासी प्रधानता अपनी ही को देते हैं और यथाशक्ति उसकी रक्षा और प्रसार के लिये कटिबद्ध रहते हैं। फिर भारत के लिये, जो योरप से हज़ारों मील की दूरी पर है और जहाँ के सामाजिक नियमों और जलवायु में वर्णनातीत अंतर है, वहाँ की संस्कृति कैसे कल्याण-कारिणी हो सकती है। जिस देश की जैसी संस्कृति होती है, वैसे ही विचार उस देश की भाषा और साहित्य में अभिव्यक्त किए जाते हैं। यही कारण है कि आधी अवस्था विदेशी भाषा के पढ़ने में लगा देने पर भी कोई बिरला ही होगा, जो भली भाँति अपने विचार अभिव्यक्त कर सकता हो। कहीं वाक्-पटुता और वाक्-निर्भीकता की आवश्यकता होती है, तो बहुत-से युवक शारीरिक और मानसिक बल होने पर भी मूक हो जाते हैं और दबकर काम करते हैं। हाय! यह विदेशी भाषा हम वीर-संतान को कितना कायर बना रही है। इसने हमारी ज़बान पर इतना ज़बर्दस्त ताला लगा दिया है कि हम अपने स्वत्वों के लिये कुछ देर तक निर्भीक होकर बोल या जिस रुख़ चाहें अपनी लेखनी भी नहीं उठा सकते।

साहित्य किसी देश की संस्कृति का साँचा है, जिसमें कुछ काल के पश्चात् पाठक ढल जाते हैं। जब हमें विदेशी साहित्य की बालकपन से शिक्षा दी जाती है, तो युवक होते-होते हमारा रूप उसी के अनुसार हो जाता है और जो विचार हमारे मस्तिष्क में आ जाते हैं, उन्हें कार्यान्वित किए बिना हमें कल नहीं पड़ती। फिर उन्हें त्यागने के लिये बड़े-से-बड़े उपदेशक और नेताओं के उपदेश एवं परामर्श अरण्य-रोदन होते हैं। यदि हम अपने साहित्य के मर्मस्पर्शी पद बालक के मस्तिष्क में भर दें, तो यह निश्चय है कि युवावस्था में वे उसमें अमोघ शक्ति उत्पन्न कर देंगे। यदि बालक शिवा को संस्कृत और मराठी के सैकड़ों पद कंठाग्र न होते, तो क्या वह दक्षिण में स्वराज्य स्थापित कर सकता?

वह आदर्श संस्कृति कितनी बढ़ी-चढ़ी थी, जिसमें गुरु और शिष्य का नाता पिता-पुत्र के समान था। केवल आज्ञा-पालन ही उस शिक्षा-प्रणाली को उच्चतम बनाए हुए था। गुरु निःस्वार्थ शिक्षा प्रदान करते थे और विद्यार्थी दत्तचित्त हो श्रद्धापूर्वक उसे ग्रहण करते थे। गुरु-निंदक महापातकी समझा जाता था। शिक्षा में तनिक भी बनावट न थी। अब तो इस बनावटी भाषा और बनावटी साहित्य से हमारे शिष्य और गुरु के हर काम में बनावट ही बनावट रहती है। आजकल तो वही विद्यार्थी कुशाग्रबुद्धि और होनहार समझा जाता है, जिसमें चपलता कूट-कूटकर भरी हो और जो ज़ुल्फ़ें निकालकर, दुम-कटा बंदर बना स्कूल आवे; और वही गुरु दक्ष है, जो अपनी वाणी से लड़कों को मुग्ध कर ले। हैट, बूट, सूट पहनकर स्कूल आवे और सदा ट्यूशनों की घात में रहे। कहाँ तो पुरा काल में निःशुल्क शिक्षा प्रदान की जाती थी और कहाँ अब पाठशाला में काफ़ी शुल्क लिया जाता है। यदि साधारण बुद्धि का धनी विद्यार्थी घर पर पढ़ाने के लिये अध्यापक न रक्खे, तो उत्तीर्ण नहीं हो सकता। अब बताइए, ऐसी शिक्षा में कहाँ तक गुरु-शिष्यों में सहानुभूति तथा निष्पक्षता हो सकती है।

आप प्राच्य और पाश्चात्य संबंधिनी दो संस्थाओं का निरीक्षण कीजिए और दोनों के छात्रों और अध्यापकों को ध्यानपूर्वक देखिए, तो आपको विदित होगा कि एक में शरीर-रक्षा, पठन-पाठन तथा मानसिक विकास और दूसरी में बाह्य आडंबर पर विशेष ध्यान दिया जाता है। गुरुकुल काँगड़ी और शांति-निकेतन आदि संस्थाएँ प्राचीन शिक्षा-प्रणाली के आधार पर स्थापित की गई हैं।

कभी वह समय था, जब हम लोग इतर देशों में शिक्षक भेजते थे। आज इतना अज्ञान छा गया है कि अन्य देश के शिक्षक आकर हमें शिक्षा प्रदान करते हैं। वे वास्तव में हमें शिक्षित तो क्या बनाते हैं, पर अपनी संस्कृति की छाप हम पर लगा कर हमारी को लुप्त कर देते हैं। फलतः हममें प्राचीन विद्वानों तथा राजनीति-विशारदों के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।

शिक्षा द्वारा इस विदेशी संस्कृति ने हमारे आंतरिक जीवन में बड़ी भारी क्रांति उत्पन्न कर दी है। प्राचीन पिता धर्मोदेश से पुत्र में लोकहित की भावना उत्पन्न करके उसे अपने से श्रेष्ठ बनाने का प्रयत्न करता था। पुत्र पिता के जीवनकाल तक सेवा-सुश्रूषा करके भी पैतृक ऋण से मुक्त नहीं होता था। वह पिता की मृत्यु पर भी उसकी स्मृति में कुएँ, तालाब और पाठशालाएँ बनवाता और दीन-दुखियों और विद्यार्थियों को भोजन करवाता था। गार्हस्थ्य-जीवन में आज्ञापालन की मर्यादा का कहाँ तक वर्णन किया जाय। पुत्र पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करके वन में मारा-मारा फिरता, भाई राज्य मिलने पर भी उसका प्रतिनिधि होकर राज करता और लौटने पर राज-पाट सब उसे सौंप देता था। बहू सास-ससुर की सेवा दत्तचित होकर करती थी। अब तो शिक्षित पुत्र पिता की, जिसने नाना प्रकार की कठिनाइयों का सामना करके पढ़ाया-लिखाया, तनिक भी चिंता नहीं करता और बात-बात पर तीव्र आलोचना करता है। आप तो बूट-सूट डाँटता है और पिता फटे पुराने कपड़े पहनता है। आप तो फ़ैशन, सिगरेट और मदिरा में रुपए का अपव्यय करता है, परंतु पिता को पेट-भर भोजन भी नहीं नसीब होता। स्त्री लँडूरी-सी बनी धृष्ट होकर घूमती फिरती है और वृद्धा माता फटी चादर पहने लाज के मारे गड़ी-सी जाती है। बहू तो सेज पर पड़े-पड़े नाविलें पढ़ती, ताश खेलती और सखी-सहेलियों में हँसी-मज़ाक़ करती है और सास घर के काम में पिसी जाती है। सहोदर और निकटसंबंधी भूखों मरते हैं और आप होटलों के पुजारियों की भेंट में ख़ूब रुपया चढ़ाते हैं। अपने लड़के तो ज़रूरत से ज़्यादा खाते-ख़र्चते हैं, पर ग़रीब भाई के लड़कों के भाग्य में सूखी रोटी भी नहीं है।

आज हम सोवियट रूस की मुक्त-कंठ से प्रशंसा करते हैं। वहाँ तो केवल राष्ट्र ही में सर्वसाधारण को समान अधिकार हैं। किंतु प्राचीन काल में यहाँ घर-घर सोवियट रूस था। घर का प्रति सदस्य सामर्थ्यानुसार काम करता था। किसी को अपनी अर्जित संपत्ति के इच्छानुसार अपव्यय करने का अधिकार न था। प्रति सदस्य को आवश्यकतानुसार भोजन तथा वस्त्र मिलते थे। संक्षेप में यहाँ तो 'मुखिया मुख सों चाहिए, खान-पान कहँ एक' वाली कहावत पूर्णरूप से चरितार्थ की जाती थी। कोई यह कहेगा कि कुछ सदस्य अकर्मण्य हो जाते होंगे। नहीं, हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना धार्मिक निषेध था। शक्ति-अनुसार काम करना प्रतिजन का कर्तव्य था।

एक समय वह था, जब इँगलैंड और अमेरिका के विवाह-विच्छेद के मुक़द्दमे सुनकर हमारे शरीर में बिजली दौड़ जाती थी और हम राम-राम कहकर कानों पर उँगली रखते थे। आज वह समय आ गया है कि यहाँ भी ऐसे मुक़द्दमों की कमी नहीं है। उस भारत में—जहाँ यह विश्वास था कि मृत्यु पर भी पति-स्त्री का साथ नहीं छूटता और जहाँ पति स्त्री को देवी और स्त्री पति को देवता समझती थी—आज कतिपय अवस्थाओं में ज़रा-सी अनबन पर पति-पत्नी का साथ जीवनकाल ही में छूट जाता है और कभी-कभी यहाँ तक नौबत आती है कि एक दूसरे का प्राणघातक हो जाता है। घर भी भारतीय विचारों के स्त्री-पुरुष चाहे शिक्षित हों या अशिक्षित, न केवल इस लोक में, किंतु परलोक में भी समवाय संबंध समझते हैं। आर्य-संस्कृति की महिलाएँ गृह का काम-काज स्वयं करती हैं और यथाशक्ति पति की गाढ़ी कमाई का एक पैसा भी नष्ट नहीं होने देतीं, अतिथियों और संबंधियों का वे यथायोग्य सम्मान करती हैं। किंतु पाश्चात्य बाह्य आडंबर से मोहित स्त्रियाँ आप तो कुछ काम करती नहीं, दूसरों से करवाया करती हैं। फलतः असंतोष और अकर्मण्यता के जाल में फँसकर स्वास्थ्य से भी हाथ धो बैठती हैं और सैकड़ों रुपया अपनी और निर्बल संतान की चिकित्सा में हकीम, वैद्य, डाक्टर को भेंट करती हैं। गृहस्थी के जंजाल में पड़कर पति को इतनी चिंता हो जाती है कि उसकी असामयिक मृत्यु तक हो जाती है। यह सब झूठ है कि अँगरेज़ स्त्रियाँ कुछ नहीं करतीं, सब काम नौकरों से कराती हैं। विलायत में अधिकांश लोग नौकर नहीं रख सकते। वे सब काम, जिन्हें शायद हम ग़रीब-से-ग़रीब भारतीय न करेंगे, स्वयं करते हैं। यहाँ भी बहुत से अँगरेज़, जिनकी आमदनी भारतीयों से अधिक है, घर का लगभग सब काम-काज आप करते हैं।

पाश्चात्य रहन-सहन इतना महँगा है कि स्त्रियों को भी काम की तलाश में पुरुषों की नाईं मारी-मारी फिरना पड़ता है। कहा जाता है कि भारत में स्त्रियों को लोग

गुलाम बनाए हुए हैं। हाँ, कुछ अंश में यह बात सत्य है। यह सब बाहर से आए हुए परदे की प्रथा की बदौलत है। भारत में पति, भाई पिता, पुत्र स्त्रियों को भोजन देते हैं, पर वहाँ तो वे उनको कार्यालयों में काम करने भेजते हैं, जहाँ उन्हें अनेक कठिनाइयों और कभी-कभी मान-हानि का सामना करना पड़ता है। शोक ! बेचारी अबलाएँ गर्भावस्था में भी काम करती हैं। कभी-कभी कठिन परिश्रम से गर्भपात तक हो जाते हैं और कुछ स्त्रियाँ सदैव के लिये बंध्या रहती हैं। भारत में सरकार की उदासीनता तथा सामाजिक कुरीतियों के अस्तित्व से विधवाओं की संख्या बढ़ गई, पर योरप और अमरीका की अविवाहित स्त्रियों की संख्या से यह न्यून है।

पश्चिम के सामाजिक नियम भिन्न हैं। वहाँ पिता पुत्र को अपनी अर्जित संपत्ति दे या न दे, उसे पूर्ण अधिकार है। यहाँ मरने पर भी प्रतिनिधि छोड़ने के लिये पुत्र उत्पन्न करना प्रति पुरुष का धर्म है। पुत्र को पिता की अर्ध समाप्त कृतियों को पूरा करना पड़ता है। चाहे पिता मरते समय एक पैसा भी न छोड़ जाय, पिता का ऋण चुकाना पुत्र का धर्म है। अस्तु, पिता धर्म-बद्ध होकर अर्जित संपत्ति पुत्र को सौंप जाता है, जिसका सदुपयोग करना उसका धर्म है। न्याय के आदेश से पुत्र का अर्थहीन एवं विकलांग पिता की सहायता करना परम कर्तव्य है।

पश्चिम में किसी का विशेष आदर-सत्कार करने की प्रथा नहीं है। कोई आदमी किसी के यहाँ अधिक समय तक अतिथि-सत्कार नहीं प्राप्त कर सकता। माता-पिता को विवाहित पुत्र से किसी प्रकार का सत्कार एवं आर्थिक सहायता प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं। यहाँ तो मसला ही दूसरा था। चाहे आप भोजन न करें, पर अतिथि का मान ईश्वर के समान करते थे। प्राचीनकाल में संपन्न पुरुष विना किसी को भोजन कराए स्वयं भोजन नहीं करते थे। अब मान-सत्कार तो दूर रहा, अतिथि घृणास्पद हो जाता है और "सर्वस्याभ्यागतो गुरुः" वाली कहावत केवल पुस्तकों में रह गई है।

प्राचीन भारत में अनुशासन की शृंखला पिता-पुत्र से लेकर राजा तक चली गई थी। फलतः प्रजा राजवत्सल थी, यही कारण है कि प्राचीनकाल में राज-विद्रोह का बहुत कम उल्लेख है। अब पाश्चात्य इतिहास की ओर दृष्टिपात कीजिए। वहाँ आपको प्रतिशताब्दी में राज-विद्रोह के हत्याकांड दृष्टिगोचर होंगे।

यह वही संस्कृति है, जिसने चार्ल्स प्रथम का शिरच्छेद कर डाला था और लीयर की कन्याओं को पिता का बहिष्कार करने के लिये बाध्य किया था। इससे क्या हम सामाजिक सुधार की आशा कर सकते हैं ? यह तो स्वार्थ और पाखंड से भरी है, और हमें अराजकता का पाठ सिखाती है। आजकल देश में चहुँदिशि जो राज विद्रोह की घटा छाई हुई है, वह पाश्चात्य संस्कृति के फलस्वरूप है। यहाँ राजा प्रजा को सुखी रखने के लिये होता था। जैसा कि निम्न-लिखित श्लोक से विदित होता है—

असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्वो मगधप्रतिष्ठः ;
राजा प्रजापालनलब्धवर्णः परन्तपो नाम यथार्थनामा।

रघुवंश

'राजा' शब्द की व्युत्पत्ति भी 'रञ्ज' धातु से है, जिसका अर्थ प्रसन्न करना है। रञ्जयतीति राजा। फिर भारतीय संस्कृति के अनुसार उसमें स्वार्थ कहाँ से हो सकता है। प्राचीन राजाओं में स्वार्थ और पक्षपात नाममात्र को न था। राजा का अनियंत्रित शासन कभी न था। उसके कर्मचारी केवल निरीक्षक का काम करते थे। प्रजा सब झगड़े पंचायत से निर्णय कर लेती थी। दैवी आपद् का होना राजा ही का पाप समझा जाता था। वह उसे शांत करने के लिये शक्ति-भर प्रयत्न करता था। यदि वह इसमें सफल नहीं होता था, तो राज-संचालन का कार्य पुत्र या मंत्री को सौंपकर स्वयं वन में तप करने के लिये चला जाता था। भारतीय राजनीति को दृष्टि में रखकर महात्मा तुलसीदास ने कहा है—'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवस नरक अधिकारी', आजकल भारत में जनता महामारी और अकाल का ग्रास हो रही है, तिस पर तुर्रा यह कि स्वास्थ्य रक्षा के लिये हर प्रांत में एक विभाग है, और बिस्वा-बिस्वा ज़मीन जोती-बोई जाती है। इसका कारण यह है कि राजा की ओर से यहाँ की संस्कृति के अनुसार प्रबंध नहीं होता। राजा भेष बदलकर यह देखता था कि कहीं कोई दुःखी तो नहीं है या किसी पर अन्याय तो नहीं हो रहा है। आजकल तो ज़मींदार और राजकर्मचारी मनमाना काम करते हैं। वे

ग़रीब प्रजा से हर प्रकार की बेगार लेते हैं। पुलिस अपना राग अलग अलापती है। सरकार की ओर से ज़रा-सी भी जाँच-पड़ताल नहीं होती। क्या ख़ूब राजनीति है? ज़रा पुरानी राजनीति से तो इसका मिलान कीजिए।

इस संस्कृति ने हमारे सामने विकट आर्थिक समस्या उपस्थित कर दी है। इसकी पूर्ति करना हमारे लिये सरल कार्य नहीं है। इसने हमारे साधारण रहन-सहन को कृत्रिम बना दिया है। हम अपने सामाजिक वस्त्रों से घृणा करते हैं, पर कोट, पतलून, वास्कट आदि धारण करके अत्यंत गौरवान्वित होते हैं। साधारणतः उत्तम और मध्यम स्थिति के लोग पाश्चात्य वस्त्रों के धारणकर्ता होते हैं। ग़रीब भी उनका अनुकरण करने लगते हैं। वे भोजन की अपेक्षा वस्त्रों पर अधिक व्यय करते हैं। अस्तु, पर्याप्त और स्वस्थकर भोजन न मिलने से उनका मुख म्लान और शरीर निर्बल हो जाता है। उन्हें थोड़ी दूर चलने के लिये सवारी की आवश्यकता होती है। उत्सव में सम्मिलित होने के समय भड़कीले वस्त्रों का होना उनके लिये अनिवार्य है, और यदि अप-टु-डेट वस्त्र न मिलें, तो कायरता के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। उस समय ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने घोर पाप कर डाला है। वास्तव में इस बाह्य आडंबर ने हमें अत्यंत दब्बू और झेंपू बना दिया है। यदि हमारे पास बहुमूल्य और तड़क-भड़क के वस्त्र नहीं हैं, तो हमें अत्यंत आवश्यक कार्य के लिये किसी बड़े से मिलने का साहस नहीं होता। जब हम किसी स्थान को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, तब हमें पहले वस्त्रों की, फिर कार्य मिलने की चिंता होती है। इस विलासिता ने हमारी आवश्यकताओं को बढ़ा दिया है। अपव्ययता के साथ हमारी चिंता बढ़ती जाती है। आधुनिक समय में भी बड़े बूढ़े, नवयुवकों और बालकों की अपेक्षा स्वस्थकर भोजन की ओर अधिक ध्यान देते हैं। वे उनकी तरह मनमोहक वस्तुओं की ओर फटकते तक नहीं। यह मानी हुई बात है कि जितना मनुष्य अपव्ययी या कृपण होगा उतना ही स्वार्थी एवं दोषपूर्ण होगा। वही दानवीर हो सकता है, जो अपनी आवश्यकताओं को घटाकर दूसरों की सहायता करता है।

भारतीय धर्मों की जननी उसकी संस्कृति है। यद्यपि भारत अनेकानेक धर्मों की भूमि है तथापि उसके लिये हिंदू-धर्म ही उपयुक्त है, जो उसकी जलवायु के आधार पर बनाया गया है। प्रातःस्नान और त्रिकाल-संध्या से मन और शरीर दोनों शुद्ध रहते हैं। उष्णता के कारण स्नान प्रति भारतीय के लिये अनिवार्य रक्खा गया है। फिर वस्त्र उतारकर मुँह-हाथ धो, ताज़ा भोजन करना बताया गया है। कारण, बाहर अनेक प्राणघातक कीटाणु शरीर में लग जाते हैं। वे भोजन करते समय शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। बाहर से आते ही वस्त्रों को उतार देने से न तो कीटाणु शरीर में प्रवेश करते हैं और न घर में फैलते हैं। अब तो बाहर भीतर के कपड़ों में कोई अंतर नहीं है। कहाँ तो बाहर के कपड़े घर के एक भाग में अलग खूँटी पर टाँग दिए जाते थे और जूते डेवढ़ी पर रख दिए जाते थे, कहाँ अब मिस्टर बूट और सूट का प्रवेश घर के प्रति भाग में है।

हिंदू-धर्म के पर्व भी वैज्ञानिक दृष्टि से रक्खे गए हैं। दृष्टांत के तौर पर होली और दिवाली के पर्व लीजिए। वर्षा-ऋतु में अनेक कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं। उसके अंत में जूड़ी-बुखार बड़ी तीव्रता से फैलने लगता है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने प्राणघातक कीटाणुओं द्वारा जनता का संहार देखकर एक दिन नियुक्त किया, जिससे मनुष्य अनिवार्य रूप से घरों की सफ़ाई करें, और अबोध जनता को यह कहकर समझाया कि यदि घरों की सफ़ाई न होगी, तो लक्ष्मी देवी तुम पर कृपा न करेंगी। वास्तव में यह ठीक ही है। जिनका स्वास्थ्य ख़राब है, वे काम-काज करने में अशक्त रहकर धन उपार्जन नहीं कर सकते, वे अस्वस्थ रहकर निर्धनता के पाश में ँसे रहते हैं। इसी प्रकार होली के अवसर पर हर मुहल्ले के चौराहे और घर पर अग्नि जलाने और हवन आदि करने से दो ऋतुओं के समागम से उत्पन्न होनेवाले कीटाणुओं का नाश हो जाता है, और टेसू के पानी से स्नान करने से ग्रीष्म-ऋतु में त्वचा-संबंधी रोग नहीं पैदा होते। इसी दृष्टि-कोण से अन्य पर्व भी रक्खे गए हैं। इनका यथाविधि अनुष्ठान न होना भी हमारे सामाजिक, आर्थिक और नैतिक अधःपतन का कारण हो सकता है।

अब कार्य-क्रम की ओर ध्यान दीजिए। यहाँ उसकी

की झूठी नक़ल है । योरप शीत-प्रधान देश है । वहाँ सूर्योदय देर में होता है। प्रकृति लोगों को नौ बजे के पूर्व काम करने की अनुमति नहीं देती। वहाँ तो दूसरी ही बात है। यहाँ प्रातःकाल ही काम करने का अच्छा समय है। मध्याह्न में गर्मी के कारण काम में बड़ी रुकावट होती है। अँगरेज़ों के आगमन के पूर्व सब कार्यालयों में प्रातःकाल छः या सात बजे से लेकर ग्यारह या बारह बजे तक काम होता था । यदि आवश्यकता हुई, तो सायंकाल को भी। यह नहीं था कि लोग भोजन ठाटकर पसीने से शराबोर आफ़िस व स्कूल को दौड़े जायँ, और बिना खाए-पिए चार-पाँच बजे तक काम में जुटे रहें। भोजन के पश्चात् ही शारीरिक या मानसिक श्रम करने से शिक्षित-समाज का स्वास्थ्य लगातार बिगड़ता जाता है। चश्मे की सौ में पचास को आवश्यकता होती है, और कब्ज़ तो लगभग सभी को बना रहता है ।

यदि प्राचीन नियमों का अनुकरण करके प्रातःकाल सब काम हुआ करें, तो कितना अधिक और सुंदर हो सकता है। कुछ लोग गृहस्थी के झंझटों या धनोपार्जन के अन्य साधनों में लिप्त रहने से अपने को इतना थका देते हैं कि फिर उनसे स्कूल या दफ़्तर का काम अच्छी तरह नहीं होता। लेखक को स्वयं इस बात का अनुभव है। इस व्यतिक्रम से मालिक और नौकर, पाठक और विद्यार्थी को कितनी हानि पहुँचती है । साधारणतः हमारे अपढ़ किसान भाई निर्धनता और अज्ञान में डूबे होने पर भी बाबुओं और अध्यापकों से बलिष्ठ हैं। कारण, वे कार्य-क्रम में प्रकृति की इतनी अवहेलना नहीं करते, जितनी शिक्षितगण। वे सूर्योदय के पूर्व ही अपना काम आरम्भ कर देते हैं, और मध्याह्न तक करते रहते हैं। वे कार्य-क्रम ऋतु के अनुसार रखते हैं और भोजन के पश्चात् थोड़ा-बहुत विश्राम अवश्य कर लेते हैं।

विदेशी माल की खपत के लिये योरप और अमरीका ने भारत में अपनी संस्कृति का प्रचार बड़े ज़ोर-शोर के साथ किया। खीष्टीय मत के प्रसार ने इस काम में बड़ी सहायता दी। नगरों में नवीन खीष्टियों के रहन-सहन ने जनता पर बड़ा प्रभाव डाला । अबोध जनता को उनकी वेष-भूषा आदर्श जँची । पश्चिमी आमोद-प्रमोद की सामग्री ने भारत में पदार्पण करना आरम्भ कर दिया । मदिरा और सिगरेट आवश्यक वस्तुओं में सम्मिलित हो गईं । वस्त्र तथा आमोद की सामग्री के आयात ने कच्चे माल का निर्यात बढ़ा दिया, जिससे भारत अपना भोजन देकर और कृत्रिमता का सहारा लेकर वास्तविकता से हाथ धो बैठा, और साथ-ही-साथ अपने शिल्पकारों के हाथ कटवा डाले । वे बेचारे लुंज होकर कहीं के भी न रहे । विवश होकर उन सबको कृषि का अवलंबन लेना पड़ा । अब बताइए, किस देश की उदर-पूर्ति केवल एक व्यवसाय से हो सकती है ? फलतः अखिल भारत में क्षेत्रों के लिये जंगल और चरागाह, जिनका अस्तित्व वैज्ञानिक तथा आर्थिक दृष्टि से नितान्त आवश्यक है, नष्ट कर डाले गए। जो चीज़ जहाँ उत्पन्न होती है, यदि उसकी खपत वहीं हो, तो उसकी खाद से पृथ्वी की उर्वरा-शक्ति कम नहीं होती । इस बात को हम प्रकृति से सिद्ध कर सकते हैं। यदि समुद्र का पानी वर्षा और नदियों द्वारा उसमें न लौटे, तो कुछ दिन में वह सूख जाय। फलतः पृथ्वी पर वृष्टि न हो, और जल के न होने से सब प्राणी मर जायँ । बाग़ों, जंगलों और चरागाहों के नष्ट होने तथा हड्डी, चमड़े एवं अनाज के निर्यात से पृथ्वी की उर्वरा शक्ति कम होती जाती है। इसके अतिरिक्त चारा और खली के अभाव से दूध देनेवाले और खेती करनेवाले जानवरों की अधिक संख्या में हत्या की जाने लगी है। जिस देश में इतनी उपज हो कि दूसरों का भी पेट भरे, वहाँ के जानवर और मनुष्य भूखों मरें ! जिस देश में दूध की नदियाँ बहती थीं, वहाँ के बच्चे ज़रा से दूध को तरसें। यदि कोई मुसलमान भाई गाय की क़ुर्बानी करता है, तो हिंदू आपे से बाहर हो जाते हैं; परंतु चमड़े और मांस के निर्यात और सेना-विभाग में मांस की खपत से लाखों गायों की हत्या होती है, तो किसी के कान में जूँ तक नहीं रेंगती ।

पश्चिम में लोग इतने काम-काजी हैं कि उन्हें पैदल चलने को समय कहाँ । जितनी देर वे दस-पाँच मील चलने में लगावें, उतनी देर में दो-तीन रुपए की मज़दूरी कर सकते हैं । भारत के उद्यमहीन लोग पैदल चलकर रुपए की बचत कर सकते हैं । यहाँ मोटरलारियों और बाइसिकलों के अधिकाधिक प्रयोग से लोग दिन-पर-दिन निर्बल, ग़रीब और निठल्ले होते जाते हैं । इस बेकारी की दशा में यहाँ तक नौबत

आ गई है कि यदि किसी ग्रामीण को दस-बीस मील जाना होता है, तो सड़क पर बैठा-बैठा मोटर की राह देखता है। कभी-कभी तो उसकी प्रतीक्षा में इतना समय लग जाता है कि यदि वह पैदल चले, तो अपने स्थान को उतने ही समय में पहुँच जाय चाहे उसे पेट-भर अन्न और तन ढकने को वस्त्र न मिले, लेकिन मोटर पर वह बड़े गर्व के साथ यात्रा करता है। विदेशियों और भारतीय पूँजीपतियों को लाभ पहुँचानेवाली मोटरलारियों ने कितने बैलगाड़ी, इक्के और ताँगेवालों की जीविका का अपहरण कर लिया है। अब बताइए, वे बेचारे कौन-सा धंधा करें? उनके पास न तो इतना धन है, जो मोटर मोल लेकर किराए पर चलावें; न खेत ही मिल सकते हैं, जो खेती करें और न देश-भर में मिल, कारख़ाने हैं, जो मज़दूरी कर सकें।

अब हमें संसार पर मानसिक विजय प्राप्त करने के लिये आधुनिक योरप एवं अमेरिका और प्राचीन भारत की तरह संसार के कोने-कोने में संस्थाएँ स्थापित करनी चाहिए। इस संस्कृति प्रसार के लिये अमेरिका और योरप के सब देश एक दूसरे से होड़ ले रहे हैं। उनकी धारणा है कि जिसकी संस्कृति प्रबल होगी, उसी का राजनैतिक तथा व्यापारिक महत्त्व संसार में अधिक फैलेगा। इसी धारणा को दृष्टि में रखकर ग्रेट ब्रिटेन ने अपनी संस्थाएँ लगभग हर देश में स्थापित की हैं। हांगकांग-विश्वविद्यालय और संघाई के जानसन-विश्वविद्यालय ने चीन में अँगरेज़ी-संस्कृति का महत्त्व बढ़ाने के लिये इंद्रजाल का-सा काम किया है। आधुनिक टर्की का पाश्चात्यीकरण का श्रेय अमेरिका ही को है। वह अपनी संस्कृति फैलाने के लिये "भगीरथ-प्रयत्न" कर रहा है। इसी हेतु वह देश-देशांतरों में करोड़ों रुपए ख़र्च करके पादरी भेजता और संस्थाएँ स्थापित करता है।

अन्य देशों में भारतीय संस्कृति को आर्य-समाज फैला रहा है। यदि हम देश का भला चाहते हैं तो हम लोगों को, चाहे जिस संप्रदाय के हों, इस काम में उसका हाथ बँटाना चाहिए। जब तक हम संसार को यह न बता देंगे कि हमीं सर्वश्रेष्ठ संस्कृति के जन्मदाता हैं, तब तक हम असभ्य और बर्बर समझे जायँगे। हमें कुछ प्रवासी सज्जनों को धन्यवाद देना चाहिए, जो दूसरे देशों में भारतीय संस्कृति का महत्त्व बढ़ाने में दत्तचित्त हैं। गोआ-प्रांत-निवासी प्रोफ़ेसर धर्मानंद कौशांबी आज-कल सोवियट-रूस में भारत के प्राचीन बौद्ध-धर्म और संस्कृति का प्रचार कर रहे हैं। जर्मनी के बर्लिन-नगर में श्रीमुनिविजयजी हिंदुस्थान हाउस के संरक्षक हैं और श्रीताराचंद रायजी बर्लिन-विश्वविद्यालय में हिंदी के अध्यापक हैं। नैटाल में श्रीनिवास शास्त्री ने प्रवासी भारतीयों की शिक्षा के लिये उत्कट परिश्रम किया है। उन्होंने भारतीय शिक्षकों के लिये एक कालेज भी खुलवाया है।

अँगरेज़ और अमेरिकन जिस देश में जाते हैं, अपनी भाषा भूलकर वहाँ की भाषा नहीं अपनाते और जल-वायु की कठिनाइयाँ सहते हुए भी रहन-सहन अपने देश ही का रखते हैं। फलतः उनकी संस्कृति बराबर उन्नति करती जाती है और दूसरे देश उसके रंग में रँगते जाते हैं।

संक्षेप में यदि हम भारत का पुनरुत्थान चाहते हैं, तो हमें पाश्चात्य संस्कृति का बहिष्कार करके अपने को उठाना और न केवल इस देश में वरन् अन्य देशों में भी इसका प्रसार करना चाहिए।

त्रिलोकीनाथ मेहरोत्रा

× × ×

३. श्रीतुकारामजी के समय की शंका का समाधान

माधुरी के वर्ष ७, खंड १, सं० ५ के कवि-चर्चा-कालम में 'महाराष्ट्र साधु श्रीतुकारामजी'-नामक एक निबंध निकला था। इसमें श्रीगौरांग महाप्रभु तथा छत्रपति महाराज शिवाजी दोनों ही के तुकारामजी के समकालीन होने का दो स्थानों में उल्लेख देखकर निबंध-लेखक महोदय को भ्रम हुआ है, और उसका वे निवारण भी नहीं कर सके हैं। अंत में उन्होंने इस भ्रम के निवारण तथा निर्णय के लिये भी श्रीगौरांग महाप्रभु के भक्तों से प्रार्थना की है। अस्तु, अब तक किसी विद्वान् ने इस विषय पर विशेष प्रकाश नहीं डाला है, इसलिये जो कुछ मेरे विचार हैं, वे पाठकों के सम्मुख रक्खे जाते हैं। आरंभ में उनकी संक्षिप्त जीवनी दी जाती है।

तुकारामजी का जन्म सन् १६०८ ई० में पूना के निकट इंद्रायणी-नदी के किनारे देहू-नामक एक गाँव में हुआ था। आप जाति के शूद्र थे और व्यापार करते थे। आपका वंश साधु-सेवा और बिठोबा की सेवा में

लिये प्रसिद्ध था। सन् १६२९ ई० में दक्षिण में घोर अकाल पड़ा, जिसमें आपके माता-पिता, स्त्री और कुटुम्ब के सभी प्राणी मर गए। इन सांसारिक क्लेशों से आपका चित्त ऊब गया और आप साधुओं के साथ भजन-कीर्तन करने में लग गए। आपने अपने एक अभंग में निज जीवन के विषय में भी कुछ कहा है। जिसका तात्पर्य यह है—"मैं जाति का शूद्र एक व्यापारी हूँ। हमारे वंश में बिठोबा की पूजा चली आ रही है। हे संतो! यद्यपि कहना उचित नहीं है, तथापि आप लोगों के पूछने पर मैं कहता हूँ। अकाल में मेरा और देश का सर्वनाश हो गया और भगवान् का मंदिर गिर गया, तब हमको बड़ा कष्ट हुआ। हमने शांति पाने के लिये भक्तों के भजन याद किए। भक्तों के चरणोदक को हमने बहुत पवित्र समझा, हमने उन लोगों की सेवा की। भले-बुरे का विवेक हमने अपने-आप किया। दूसरों के कहने पर कुछ नहीं विचारा और अपना काम करने में हमने कभी कुछ लज्जा नहीं की। स्वप्न में मेरे गुरु ने जो कहा हमने उसको माना। भगवन्नाम में मेरा दृढ़ विश्वास हुआ। तब हम कविता बनाने लगे। हमने बिठोबा की शरण ली। 'तुका' कहते हैं कि यही मेरा कथन है। पांडुरंग जो कहलाते हैं, हम वही कहते हैं।" जब देश में शांति हुई, तब तुकारामजी ने फिर विवाह किया। इस विवाह से आपके पुत्र भी हुआ, पर आप घर का काम-काज अधिक नहीं देखते थे। आपकी रुचि बदल गई थी, इसलिये आप बराबर एकांत में बैठकर भजन-कीर्तन करते तथा साधुओं की सेवा करते थे। अब आप अपने अभंगों को गाकर जनता में भगवन्नाम का प्रचार करने लगे। आपके अभंगों का बड़ा प्रभाव पड़ा और बड़े-बड़े लोग आपको आदर की दृष्टि से देखने लगे। इससे ब्राह्मण-समाज बिगड़ खड़ा हुआ। मंबाजी-नामक एक दुष्ट ब्राह्मण ने आपको एक दिन अकेले में पाकर नाग-फनी के काँटों पर फेंक दिया और ऊपर से डंडे से पीटने लगा। आपने उसका यह अपराध क्षमा कर दिया, जिससे वह ब्राह्मण आपका शिष्य हो गया। इसके बाद ब्राह्मणों ने एक सभा कर आपको बुलाया और आपके लिखे अभंगों की पुस्तक को नदी में फेंक देने की आज्ञा दी। पुस्तक पत्थर में बाँधकर नदी में फेंक दी गई। आपने अन्न-जल छोड़ दिया और मंदिर के द्वार पर बैठकर नाम-कीर्तन करने लगे। दो-तीन दिन बाद पुस्तक ज्यों की त्यों नदी पर तैरती हुई दिखलाई पड़ी, जिसे देखकर सब लोग बड़े चमत्कृत हुए। पुस्तक लाकर आपको दे दी गई और बहुतेरे पंडित आपके शिष्य हो गए।

अब आपकी ख्याति समग्र देश में फैल गई। महाराज शिवाजी ने, जो साधु-महात्माओं के बड़े प्रेमी थे, आपकी ख्याति सुनकर आपको अपने दरबार में बुलाया। शिवाजी ने उन्हें बुलाने के लिये अपने आठ प्रधान सामंतों को भेजा, पर तुकारामजी नहीं गए। उत्तर में आपने कई अभंग लिख भेजे थे, जिनका सारांश यह है—"साधुओं को राजदर्शन से क्या लाभ? हम अपने हरि का भजन करते हैं, पृथ्वी पर शयन करते हैं और कुछ भिक्षा माँगकर पेट भर लेते हैं। आनंद से भगवद्भजन में दिन बिताते हैं। तुम्हारे पास आने का कष्ट व्यर्थ क्यों उठावें? हे राजन्! परोपकार में सदा निरत रहो, बुरे मनुष्यों को दूर रक्खो। सच्चे स्वदेशा-भिमानी पुरुषों को राज-काज में नियुक्त करो। असहायों की अत्याचारियों से रक्षा करो। तुम सब जानते हो, हमसे भेंट करने से कोई लाभ नहीं। हमारे अब बहुत थोड़े दिन बचे हैं। सब प्राणीमात्र में भगवान् को एक रूप में देखो। भगवान् में विश्वास करो और अपने को समर्थ रामदास में देखो, तुम्हारा जन्म धन्य। 'तुका' कहते हैं कि हमारा बचन मानो। तुम्हारा कल्याण होगा।"

यह उत्तर पाकर शिवाजी की श्रद्धा और भी बढ़ी तथा वह स्वयं दर्शन को गए। तुकारामजी ने उनको उपदेश देते हुए कई अभंग कहे थे। उसका सारांश यह है—"शिवाजी सुनो! रामदास में एक निष्ठा रक्खो, वही तुम्हारे गुरु हैं, जाओ, उनको साष्टांग प्रणाम करो। पांडुरंग तुम्हारी रक्षा करेंगे। तुम एकमात्र रामदास का भरोसा करो। 'तुका' कहते हैं—अपने गुरु को नमस्कार करो।" तुकारामजी सिद्ध पुरुष थे। आजकल के गुरु नहीं थे, जो सोने की चिड़िया फँसती देखकर उसे चट फँसा लेते। आप सिद्ध महात्मा थे। आपने देखा कि मेरा समय अब निकट है और शिवाजी का जीवन अभी आरंभ हो रहा है। सन् १६४९ ई० के लगभग आपने स्वर्ग यात्रा की और शिवाजी सन् १६८० ई० तक जीवित रहे। शिवाजी को जिस महान् क्षेत्र में काम करना था उसमें

एक महात्मा की सहायता उनके लिये परम आवश्यक थी और विना उनमें निष्ठा हुए काम न चलता। इसीलिये आपने उन्हें बार-बार 'श्रीसमर्थ' की शरण में जाने का उपदेश दिया था। समर्थदासजी भी तुकाराम-जी को पूज्य दृष्टि से देखते थे, जैसा कि महाराष्ट्र कवि महीपथी-कृत भक्तमाल से ज्ञात होता है। एक बार पंढरपुर में साधुओं का सम्मेलन हुआ। देश-भर के साधु लोग आए थे और साधु-प्रेमी शिवाजी स्वयं महात्माओं की सेवा करने वहाँ पहुँचे थे। तुकारामजी ने अपने भजन-कीर्तन से सबको प्रसन्न कर दिया। उत्सव के अंत में शिवाजी एक थाली में रत्नादिक रखकर तुकारामजी को भेंट करने के लिये ले चले। तुकारामजी आपका यह विचार देखकर एकाएक आसन से अंतर्द्धान हो गए। शिवाजी यह देख बड़े चिंतित हुए और समर्थ-रामदास-जी से इसका कारण पूछा। आपने उत्तर दिया—"वत्स! तुकोबा सच्चे साधु हैं, त्रैलोक्य की संपत्ति उनके लिये तुच्छ है।" तुकारामजी ने सन् १६४६ ई० में स्वर्ग-यात्रा की और इसी वर्ष आपकी आज्ञानुसार शिवाजी ने समर्थ गुरु रामदास से दीक्षा ग्रहण की। इससे ज्ञात होता है कि शिवाजी की तुकारामजी पर कितनी श्रद्धा थी। तुकारामजी के मंत्र-गुरु श्रीगौरांग महाप्रभु थे। श्रीगौरांग द्वारा भगवन्नाम का उपदेश आपको स्वप्न में दिया हुआ मालूम पड़ता। तत्कालीन पंडित लोगों ने एक शूद्र को मंत्र देना उचित नहीं समझा और इधर तुकारामजी गुरु की खोज में बड़े विह्वल हुए। जब उनके अनुकूल कोई गुरु नहीं मिला, तब वह बड़े दुःखित हुए और श्रीपांडुरंगजी से प्रार्थना करने लगे कि अब हम गुरु खोजते-खोजते हार गए। हमने आप ही को गुरु माना। इसलिये आप ही हमको मंत्र दीजिए। भगवान् सदा से भक्त की इच्छा पूरी करते आए हैं और करते। श्रीभगवान् ने तुकाराम की सच्ची निष्ठा देखकर उनको प्रत्यक्ष हो मंत्र दिया। इस विषय पर तुकारामजी ने कई अभंग कहे हैं। एक अभंग का भावार्थ इस लेख के प्रारंभ में दिया गया है। इसी विषय पर कहे गए दूसरे अभंग का भावार्थ इस प्रकार है—"गंगा-स्नान को जाते समय श्रीगुरुदेव ने कृपाकर हमको दर्शन दिया। हमसे भिक्षा माँगी और मस्तक पर हाथ रक्खा। हाथ रखते ही मेरा बाह्य ज्ञान लुप्त हो गया। हमको श्रीराघव केशव और श्रीचैतन्य की कथा सुनाई। अपना नाम बाबाजी बतलाया और राम-कृष्ण-हरि का मंत्र दिया। माघ-शुक्ल दशमी गुरुवार के दिन 'तुका' को अंगीकार किया।

तीसरा अभंग, जिसमें श्रीगौरांग का नाम स्पष्ट लिखा है, उसी भाषा में पाठकों के संदेह-निवारणार्थ दिया जाता है—

अभंग

कसे गुरु चे पाय बापा कसे गुरु चे पाय ॥ टेक ॥
स्वप्नांत मला दर्शन दिधले ॥
मंत्र दीले यादोराय ॥
राम कृष्ण हरी मंत्र दीधले ॥
मस्त केले गुरुराय ॥ बापा—॥ १ ॥
माघ सुदी दशमी चे दिवसो ॥
कृपा केली हरीराय ॥
मंत्र घेता सिद्ध झालो ॥
मस्त झालो गुरुराय ॥ बापा— ॥ २ ॥
ह्मणे तुकोबा ऐका जना हो ।
भजा गुरू चे पाय ॥
लालदास कर जोडूनी साँगे ॥
भजा गौर हरी राय ॥ बापा कसे गुरु चे पाय ॥ ३ ॥

इन अभंगों द्वारा श्रीगौराङ्ग का तुकारामजी को मंत्र देना सिद्ध हो जाता है। श्रीगौराङ्ग, महाराज शिवाजी, तुकारामजी और समर्थ रामदास सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इन लोगों का समय इतिहास द्वारा निर्दिष्ट है। उसमें कुछ भूल नहीं हो सकती। श्रीगौराङ्ग और शिवाजी के अनेक जीवन-चरित्र तत्कालीन लेखकों द्वारा लिखित प्राप्त हैं, जिनमें संवत् आदि स्पष्ट लिखे हैं। अब हम इन व्यक्तियों में से न किसी को पीछे ले जा सकते हैं और न किसी को आगे ले आ सकते हैं। तुकारामजी के अभंगों को भी अवश्य मानना पड़ेगा। कलियुग-पावनावतार श्री-श्रीगौराङ्ग स्वयं भगवान् थे। जब कि सच्चे भक्त-महात्माओं के विषय में यह कहा जाता है कि वे लोग सिद्ध देह से सदा उपस्थित रहते हैं और लोगों को दर्शन भी देते हैं, तब स्वयं भगवान् के विषय में कुछ शंका करना उचित नहीं। श्रीकबीर-दासजी और श्रीहितहरिवंशजी से रस के विषय में वार्तालाप होना भी प्रसिद्ध है, इन लोगों के समय में कितना अंतर है। फिर भी घड़ी दो घड़ी के लिये आप लोगों में सत्संग होना कहा जाता है। यदि श्रीगौराङ्ग ने तुकारामजी को एक क्षण के लिये स्वप्न में या प्रत्यक्ष दर्शन दे मंत्र दिया, तो इसमें क्या आश्चर्य? इससे तुकारामजी गौराङ्ग के समकालीन नहीं कहे जा सकते। वह शिवाजी के ही समय में हुए थे। आश्चर्य तो यह है कि यह संशय स्वयं श्रीगौराङ्ग महाप्रभु के जीवन-चरित्र के लेखक को हुआ है।

ब्रजभूषणदास

संगीत और विनोद

स्वरकार—पं० शिवप्रसाद त्रिपाठी संगीताचार्य] [शब्दकार—पं० सोहनलाल द्विवेदी

राग-सोरठ (तेवड़ा ताल)

पद

आई सरद ऋतु मनहरन ।
चाँदनी छिटकन लगी निसि, करि भुवन सित बरन ॥
लगे चमकन व्योम बिच, सत सत नखत के पुंज ।
सुखद सर बिच लगे बिहँसन, मृदुल कैरव कुंज ॥
लगी उपवन बीच सुरभित मधुर मालति खिलन ।
करत गुन गुंजार अलिकुल, लगे हिय सों मिलन ॥
नील नभ बिच लग्यो प्रगटन, बिमल ससि चितचोर ।
ग्रान पाय लग्यो बिलोकन, सुधि बिसारि चकोर ॥
कहि सकत किमि जिमि सजायो, सरद निरमल साजु ।
गगन निरमल, अवनि निरमल जलधि निरमल आजु ॥

ताल			ताल		ताल		सम			ताल		ताल	
१	२	३	४	५	६	७	१	२	३	४	५	६	७
			आ	ऽ	ई	ऽ	स	र	द	ऋ	तु	म	न
			स	रे	म	प	निसं	रें	नि	धप	ध	म	ग
ह	र	न											
रे	रे	ग											

			आ	ऽ	ई	ऽ	चाँ	ऽ	द	नी	ऽ	छि
			स	रें	म	प	म	—	प	नि	—	सं
क	न	ल	गी	ऽ	नि	सि	क	रि	भु	व	न	सि
प	प	प	नि	सं	रें	—	नि	नि	सं	नि	सं	रें
ब	र	न										
ध	प	प										

अन्तरा

			आ	ऽ	ई	ऽ	ल	गे	ऽ	च	म	क
			स	रे	म	प	रे	रे	रे	ग	रे	प
ब्यो	ऽ	म	बि	च	स	त	स	त	न	ख	त	ऽ
ग	—	रे	स	रे	स	स	रे	म	म	प	ध	
पुं	ऽ	ज										
ध	प	प										

संकेत-सूची

१. जिस स्वर के नीचे बिंदु हो, उसे मंद्रसप्तक का, जिस स्वर में कोई बिंदु न हो, उसे मध्यसप्तक का और जिस स्वर के ऊपर बिंदु हो उसे तारसप्तक का स्वर समझना चाहिए। जैसे क्रमशः ग, ग, गं। शेष सब स्वर एक-एक मात्रा के हैं।

२. जिस स्वर के नीचे पड़ी पाई हो, उसे कोमल स्वर समझना चाहिए—जैसे नि, अवशेष को शुद्ध स्वर।

३. जिन स्वरों के नीचे (‿) चिह्न हो, उन्हें एक मात्रा में बजाना चाहिए।

---

२. वैद्यजी की रसिकता

वैद्यक-ग्रंथों में भी कहीं-कहीं अनूठा काव्य मिल जाता है। इनमें लोलिंबराजजी के काव्य की बड़ी उत्कृष्टता है। इसलिये उन्हीं के यत्र-तत्र प्राप्त श्लोक पाठकों के मनोरंजनार्थ उद्धृत कर, उस पर विचार करूँगा।

साहित्य न जाननेवालों पर आक्रमण करते हुए क्या ही अच्छा फ़र्माते हैं—

"येषां न चेतो ललनासु लग्नं,
मग्नं न साहित्यसुधासमुद्रे।
ज्ञास्यन्ति ते किं मम हा प्रयासान्,
अन्धा यथा वारबधूविलासान्॥"

ठीक ही तो कहा है—भला, जिसका मन ललना में मग्न नहीं हुआ, लुप्तप्राय या विलीन नहीं हुआ और साहित्य-सुधा के समुद्र में डूब नहीं गया, केवल किनारा छूकर या स्नान करके ही भाग गया या आया ही नहीं, वह मेरे परिश्रम को क्या जाने (किं ज्ञास्यन्ति) नैव ज्ञास्यन्ति। अंधा मनुष्य कुल बधू, नहीं वारबधू, वेश्या के हाव-भाव—अकस्मात् क्रोध, स्मित, चमत्कारमुख (विष्कूननं) को क्या समझ सकता है, जब कि आँखवालों में भी बिरला ही कोई समझ पाता है।

एक कवि ने कहा है—

"तंत्रीनाद कवित्तरस, सरस राग रतिरंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे, जे बूड़े सब अंग।"

रोग होने पर पथ्य सेवन करने के विषय में क्या ही अच्छा पद्य है—

"पथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः।
पथ्येऽसति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः॥

अर्थात् रोगी को पथ्य करने पर औषधिसेवन से क्या फ़ायदा ? (वास्तव में फ़ायदा तो ज़रूर होता है, पर यहाँ काव्य-सौष्ठव के लिये कहा है।)

रोगी के अपथ्य करने पर औषधिसेवन से क्या फ़ायदा ? हाँ, वैद्यजी ! रोगी पथ्य करे, तब तो। अगर कहीं पथ्य की उम्मीद पर औषधि करना रोगी छोड़ दे, तो वैद्य लोगों की वृत्ति भी मारी जाय।

एक जगह अपने ग्रंथ 'वैद्यजीवन' के अध्ययन पर दुःख-सुख का एक साथ कैसा मनोहर वर्णन करते हैं—

"इह गमिष्यति वैद्यमतिः श्रमं,
प्रथममेव पुनस्तु महासुखम् ।
प्रियतमस्य मृगाक्षिसमागमे,
नवकरग्रहणा गृहिणी यथा ॥"

पाठकों को पहले तो महान् श्रम अर्थात् कष्ट प्रतीत होगा, पर पीछे महासुख मिलेगा । जैसे कि नव-विवाहिता स्त्री को प्रथम रात्रि में घोर कष्ट और पश्चात् महान् सुख होता है । पाठकों की यहाँ स्त्री से उपमा देकर वैद्यजी ने लोगों को 'ललनासु लग्नं' ही नहीं किया, बल्कि एकदम मामला ही उलट दिया । पुरुष को स्त्री बना डाला ।

भयंकर पित्तज्वर में दाह-शांति का अमोघ नुसख़ा भी सुनने लायक़ है—

"श्रीखण्डमण्डितकलेवरवल्लरीणां,
मुक्ताफलाकुलविशालकुचस्थलीनाम् ।
वैदग्धमुग्ध वचसासुविलासिनीना-
मालिङ्गनं सकलदाहमपाकरोति ।"

इस पद्य का विशेष वर्णन ज़रा भद्दा होगा, इसलिये इतना ही पर्याप्त है कि विभूषित तरुणी का आलिंगन ही वैद्यजी को सबसे अच्छा रामबाण नुसख़ा दाह-शांति का मिला । उसी से सकल दाहें अपा करने को तैयार हो गए ।

पित्तज्वर की दूसरी दवा भी, जो अनुभूत है, लीजिए—

"पित्तज्वरे किं रसफाण्टलेपैः,
किं वा कषायैरमृतेन किं वा ।
पेयं प्रियाया मुखमेकमेव,
लोलिम्बराजेन सदानुभूतम् ।

पित्तज्वर में रसफांट के लेप से भला क्या हो सकता है । कषाय, चूर्ण, गोली व्यर्थ ही है । अमृत से भी कुछ नहीं हो सकता । इसमें अपनी प्रिया के अधरामृत का पान ही, रसास्वादन हो रामबाण या अमोघ औषधि है । लोलिंबराज-जैसे वैद्यराज का यह शतशोऽनुभूत प्रयोग है !

और भी सुनिए—

"सद्यः तापहरः सुधाधिकतरः कान्ताधरः केवलम् ।"

केवल स्त्री का अधर (अब तो अधरामृत भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह अब तो 'सुधाधिकतरः' होकर अमृत से भी बढ़ गया है) तुरंत ही भयंकर पित्त-ज्वर के ताप को दूर करनेवाला और अमृत से अधिक सुस्वादु तथा जीवन देनेवाला है । फिर तो केवल कांता-धर से अच्छी कोई दवा ही नहीं है । पहले पद्य में मुख भर में यह गुण था, पर अब तो उसमें भी अधर ने अपना नंबर मार लिया ।

वैद्यराज ने नारायणचूर्ण और तैल की भी तारीफ़ में क़लम तोड़ दी है, अब इससे अधिक कोई कह ही क्या सकता है—

"नारायणं भजत रे जठरेण युक्ता
नारायणं भजत रे पवनेन युक्ताः ।
नारायणं भजत रे भवभीतियुक्ता
नारायणात् परतरं नहि किञ्चिदस्ति॥

ऐ उदररोगियो ! नारायण को भजो, अर्थात् नारायणचूर्ण का सेवन करो । ऐ वातरोगवालो ! नारायण को भजो, अर्थात् नारायणतैल की मालिश करो। अगर सांसारिक दुःख हो, तो नारायण का भजन करो ।

ब्रह्मेश्वर शर्मा शास्त्री

सुमन-संचय

१. बच्ची की बात

भाइजी, मंदिल में तलो ना। घंटी बद रही है—कहते हुए मेरी नन्ही बच्ची ने कंधा हिलाया।

मैं आरामकुरसी पर पड़ा हुआ विचारों में मग्न था। बोला—त्या तरेंगी बाई ?

बच्ची—तलो ना।

मैं—कहाँ ?

बच्ची—मंदिल की घंटी बद रही है।

मैं—वहाँ त्या तरेंगी ?

बच्ची—तलो ना।

मैं—मंदिल तो तेले यहाँ है (हृदय पर हाथ रखकर) वहाँ त्या तरेंगी ? भगवानूजी यहाँ रहते हैं, उतको देखो।

बच्ची—कैथे देखें ?

मैं—अतल से (अक़्ल से)।

बच्ची—कैसे अतल से ?

मैं गड़बड़ाकर बोला—छच बोलना, अत्था ताम तरना। और, हँस दिया।

यह सच था कि बच्ची संतुष्ट न हुई और न मैं ही। इस उत्तर से किसी तरह वह भूली, पर उसकी बातें अभी तक मेरे सामने हैं।

इसी 'अक़्ल' को सुलझाने में दुनिया लोट-पोट हो खोटी-खरी कर रही है।

ज़रा-ज़रा-सी बच्ची भी समय पा कैसे-कैसे प्रश्न कर बैठती हैं।

प्रत्येक क्षण में न-मालूम कितने बहुमूल्य प्रश्न हमारे सामने रोज़ आते और चले जाते हैं, परंतु हमारा मस्तिष्क ख़ाली ही बना रहता है।

वह तो अपने जड़वाद की क्रिया को उलट-पुलटकर नित्य नए तमाशे करता और बूँद की महिमा को छोड़ सागर का निरीक्षण करता है।

हमें चाहिए कि छोटे-से-छोटे वातावरण से भी शुद्ध भाव ग्रहण करें, उसका स्पष्टीकरण करें और गौरव तथा गर्व के साथ जीवन सफल बनाने में संलग्न रहें।

प्रभुलाल काबरा

× × ×

२. शिक्षणकला में मनोविज्ञान का स्थान

निपुण वैद्य होने के लिये अन्यान्य बातों के अतिरिक्त शरीर की विभिन्न क्रियाओं और यंत्रों का ठीक और सुव्यवस्थित ज्ञान आवश्यक है। अच्छा माली होने के लिये वनस्पतिशास्त्र का अध्ययन अपरिहार्य है। चतुर खनिया होने के लिये भूगर्भशास्त्र का मार्मिक ज्ञान ज़रूरी है। इसी प्रकार अच्छा शिक्षक होने के लिये मन की विभिन्न क्रियाओं, कार्यों और नियमों का वैज्ञानिक ज्ञान अथवा दूसरे शब्दों में मनोविज्ञान की कुछ जानकारी आवश्यक है; क्योंकि शिक्षणकला के सामान्य सिद्धांत मनोविज्ञान से ही निकले हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि वैद्य का जो संबंध शरीरशास्त्र से है, शिक्षक का वही संबंध मनोविज्ञान से है। मनोविज्ञान शास्त्र है, तो शिक्षा कला है। मनोविज्ञान मन के नियमों का सिद्धांतरूप से निर्णय करता है, तो शिक्षा स्थूल और व्यावहारिक रीति से छात्र के मन को शिक्षित करती है। कलाएँ शास्त्रों या विज्ञान में से सीधी तरह निकल नहीं पड़तीं, इन दोनों के बीच में किसी आविष्कारक मन व मानस की आवश्यकता होती है, जो विज्ञान के बताए हुए सिद्धांतों का प्रयोग व्यावहारिक जीवन में अपनी चतुराई और बुद्धि द्वारा करे। बहुत-से स्थूल निरीक्षणों के अनंतर कला की उत्पत्ति होती है। इस भाँति विद्यालय का कमरा वह स्थान है, जहाँ पर शिक्षक की चतुराई, आविष्कारक-शक्ति तथा छात्रों के प्रति सहानुभूति के द्वारा शिक्षणकला का जन्म हुआ है। यह ठीक है कि मनोविज्ञान से वे सामान्य और मौलिक सिद्धांत निकले हैं, जिनके द्वारा शिक्षणकला की प्रणालियाँ नियमित होती हैं। किंतु शिक्षा देने के लिये केवल इन सिद्धांतों का ज्ञान ही अलम् नहीं है। इसलिये जिस भाँति यह ज़रूरी नहीं है कि कोई निपुण नैयायिक अच्छा सोचनेवाला ठहरे, उसी भाँति यह भी आवश्यक नहीं है कि कोई दक्ष मनोविज्ञानी सर्वदा चतुर शिक्षक साबित हो। यदि मनोविज्ञानी निपुण शिक्षक होना चाहे, तो यह अपरिहार्य है कि उसे छात्रों के वर्गों में निश्चित और व्यावहारिक रीति से बोलने और कामों के करने में चतुराई और बुद्धिमत्ता के प्रयोग करने की क्षमता प्राप्त करनी होगी।

यदि शिक्षक यह आशा करे कि मनोविज्ञान से उसे शिक्षा के उद्देश्य की प्राप्ति होगी, तो यह उसकी बड़ी भारी भूल है। इस बात में उसे पूरी तरह से निराश होना पड़ेगा। मानस के नियमों का शास्त्र होने के कारण मनोविज्ञान से यह आशा करना भी व्यर्थ है कि छात्र-वर्गों में व्यवहार किए जाने के लिये शिक्षा की रीतियों और प्रबंधों को वह शिक्षक के लिये प्रस्तुत करे। शिक्षा का उद्देश्य कुछ भी क्यों न हो, हम उसे मनोविज्ञान से नहीं पा सकते, ठीक उसी भाँति जैसा पवित्र जीवन का उद्देश्य शरीरशास्त्र से नहीं मिल सकता। शिक्षा का उद्देश्य तो धुरंधर शिक्षाचार्यों को निर्णय करना चाहिए अथवा यों कहिए कि शिक्षाविज्ञान से उसकी प्राप्ति होगी।

अब तक तो मैंने यह बताया कि मनोविज्ञान से हमें क्या नहीं मिल सकता। अब यह देखना है कि मनोविज्ञान से हमें क्या मिल सकता है। निषेध के बाद अब विधि की बारी आई है। मनोविज्ञान से शिक्षक को नीचे लिखी सहायताएँ मिल सकती हैं और मुझे आशा है कि शिक्षक-समुदाय इनसे लाभ उठावेगा।

मनोविज्ञान के द्वारा शिक्षक शुद्ध अनुभवमूलक प्रणाली के बहुत-से दोषों से बच सकता है, क्योंकि यह निश्चित है कि मनोविज्ञान की परीक्षाओं और जाँचों को काम में लाने से शिक्षक का रास्ता तंग हो जायगा और उसका बहुत-सा समय और परिश्रम व्यर्थ जायगा। मनोविज्ञान व्यावहारिक कार्यों में हमें अपनी परिस्थितियों और अवस्थाओं का ज्ञान कराकर शिक्षा की रीतियों को स्पष्ट और पूर्वापरविरोधिरहित कर देता है। यह विज्ञान शिक्षक के काम को युक्तिसंगत और वैज्ञानिक आधार पर रखता है तथा उसे यह विश्वास दिलाता है कि उसका अभ्यास या व्यवहार सिद्धांत से अनुमोदित है। इस भाँति मनोविज्ञान से शिक्षक को अपनी छात्र-कक्षासंबंधी कार्यवाही में आत्मविश्वास प्राप्त होता है। इस शास्त्र का न जाननेवाला शिक्षक अपनी कार्यवाहियों का कारण यथार्थ रूप से नहीं बतला सकता। अतएव ऐसे शिक्षक की अपेक्षा मनोविज्ञान से शिक्षक को अपने काम में अधिक सफलता होती है और उसके द्वारा पढ़ाए गए पाठ से छात्रों को भी विशेष लाभ होता है, क्योंकि वह लकीर का फ़क़ीर नहीं होता। सबसे बढ़कर बात तो यह है कि मनोविज्ञान से शिक्षक की स्वाधीनता बढ़ जाती है। पढ़ाने में उसकी रुचि उत्ते-

जित होती है तथा अपने काम को वह उत्साह और साहस से करता है।

इस भाँति मनोविज्ञान का अध्ययन शिक्षक के लिये बहुत लाभदायक है। इसके द्वारा बच्चों के मानसिक विकास के नियमों का ज्ञान शिक्षक को प्राप्त होता है, जिससे वह बाल-विकास की विविध अवस्थाओं के अनुकूल अपनी शिक्षा-प्रणाली को बना लेता है। इन नियमों से अनभिज्ञ शिक्षक संभवतः बच्चों को ऐसे विषय पढ़ा सकता है, जो उनकी योग्यता के ध्यान से बहुत नीचे या बहुत ऊँचे हैं। उदाहरणार्थ, जो शिक्षक मनोविकास के नियमों का जाननेवाला है, वह छोटे बच्चों के सामने ऐसा विषय कभी नहीं रक्खेगा, जिसमें मनोयोग और तर्क की अधिक आवश्यकता हो। वह उच्च प्रारंभिक विभाग के छात्रों को ज्यामिति-विज्ञान कभी नहीं पढ़ावेगा। वह विना समझी हुई बातों को तोतों की तरह रटाकर छात्रों के काम को नीरस और भद्दा नहीं बनावेगा, जैसा कि मनोविज्ञान का न जाननेवाला शिक्षक प्रायः करता है। बल्कि वह बच्चों की प्राकृतिक कुतूहलशक्ति और अभिरुचि को अपने कौशल से उत्तेजित करके उनका ध्यान पाठ्य-विषय की ओर आकर्षित करेगा। ध्यान कैसे बँधता है और किन-किन उपायों से पाठ में अभिरुचि उत्पन्न होती है, इन बातों को जाने विना कुछ पुराने शिक्षक छड़ी का भय दिखाकर अपने विद्यार्थियों के ध्यान को आकर्षित करने की चेष्टा करते थे और अब भी करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि मनोविज्ञानी शिक्षक ऐसे-ऐसे दोषों से मुक्त रहेगा। उसकी समझ में यह रहस्य झटपट आ जायगा कि छात्रों का न ध्यान देना, एकदम न ध्यान देना नहीं है। वे ध्यान नहीं देते सो बात नहीं है, किंतु वे अधूरा ध्यान देते हैं; क्योंकि उनका ध्यान पूरी तरह से पाठ्यविषय में न लगकर इधर-उधर बँट जाता है। बालकों के ध्यान को इधर-उधर बाँट देनेवाले कारणों को हटा देने से और पाठ को रोचक बना देने से ध्यान आप-से-आप आकर्षित होने लगेगा।

मन के नियमों से परिचित होने पर कोई शिक्षक नीचे लिखी जैसी अशुद्ध भावनाओं को अपने मन में स्थान नहीं दे सकता, जैसा कि उन नियमों से अपरिचित शिक्षक की धारणा हो सकती है—

(१) मन एक सादी पट्टी है।

(२) मानसिक शक्तियाँ संपूर्णतः मानों भिन्न-भिन्न बंद कोठरियाँ हैं।

(३) शिक्षा देने में छड़ी अपरिहार्य है।

(४) छात्रों के सामने पहले नियम रखकर तब उदाहरणों को रखना।

(५) वर्णन करने के पूर्व परिभाषा कह देना।

(६) सूक्ष्म का ज्ञान देकर तब स्थूल का ज्ञान देना।

इसलिये अच्छा शिक्षक होने के लिये मनोविज्ञान की जानकारी आवश्यक है। अब विचारना यह है कि निपुण शिक्षक के लिये मनोविज्ञान का जानना आवश्यक तो है, पर कितना? इस विषय में प्रो० विलियम जेम्स साहब का कथन है कि शिक्षकों के लिये मनोविज्ञान विशेष रूप से जानने की ज़रूरत नहीं। उनके लिये सामान्य ज्ञान बस होगा। किंतु जो कुछ ज्ञान वे प्राप्त करें, वह सच्चा ज्ञान होना चाहिए। वह फिर कहते हैं—"मैं अपने सहयोगी प्रो० मंसटरवर्ग के साथ काफ़ी ज़ोरों के साथ बहस नहीं कर सकता, जब कि वह कहते हैं कि स्थूल और नैतिक होने के कारण बच्चों के प्रति शिक्षक की आस्था मनोविज्ञानी निरीक्षक की आस्था के बिलकुल विरुद्ध है, जो सूक्ष्म और विश्लेषणात्मक है।" इन दोनों अध्यापकों के मतों पर विचार करते हुए प्रो० जेम्स सली साहब के कथन का सारांश यह है कि मनोविज्ञान ही सब कुछ नहीं है, जिसको शिक्षक को आवश्यकता है। दूसरे मनोविज्ञान के सब भाग उसके लिये समान रूप से लाभदायक नहीं।

प्रो० सली की सम्मति है कि शिक्षक को विज्ञान का स्वयं अध्ययन करके उसके नियमों की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। आश्चर्य है कि अमेरिका-निवासी मनोविज्ञान के प्रसिद्ध प्रतिनिधि उपर्युक्त दोनों अध्यापकों ने इस सम्मति में आपत्ति की है। सली साहब ने उनको जो प्रत्युत्तर दिया है, उसका संक्षिप्त विवरण नीचे लिखा जाता है।

यदि कोई वैद्य यह कहकर कि केवल वैज्ञानिक शिक्षा से निपुण वैद्य नहीं बनाया जा सकता, शरीर-रचना-शास्त्र का अध्ययन बंद कर देने का प्रस्ताव करे, तो उसकी सम्मति कैसी होगी? बस, ठीक वही दशा उस शिक्षक की होगी, जो मनोविज्ञान की अवहेलना

ज्ञाता है। यह ठीक है कि शिक्षक को मनोविज्ञान के विशेष सूक्ष्म और सैद्धांतिक भागों को अधिकांश में छोड़ देना चाहिए, परंतु दूसरे पक्ष में संपूर्ण विषय का पूरा ज्ञान वांछनीय है; क्योंकि यद्यपि शिक्षक का संबंध विशेषकर ज्ञान की प्राप्ति और पुनरुत्पादन की क्रियाओं से है, तथापि उसे उचित है कि वह अपने छात्र के बुद्धि-विषयक (Intellectual) पहलू से अधिक की जानकारी रक्खे, कारण, भाव (Feeling) अभि-रुचि के रूप में और संकल्प ध्यान के रूप में, दोनों ही, शिक्षा की प्रणाली में सम्मिलित हो जाते हैं।

बच्चों के मन का स्वतंत्र रूप से अध्ययन मनो-विज्ञान से संबंध रखता है। इसे बालाध्ययन (Child study) कहते हैं। प्रो० सली की सम्मति है कि अच्छे शिक्षक के लिये बालाध्ययन आवश्यक है। बच्चों के शिक्षक या गुरु को उत्साहित करना चाहिए। वह बालकरूप घटना (Child phenomena) का निरीक्षण और उद्घाटन स्वयं करे। परंतु प्रो० जेम्स का कथन है कि शिक्षक का कर्तव्य छात्र के मानस को बनाना या निर्माण करना है, न कि उसका विश्लेषण करना। दोनों कार्य एक दूसरे से विभिन्न हैं। इसलिये संभव है कि बालाध्ययन का सर्वोत्तम मसाला जुटाने-वाला मनुष्य निकृष्टतम शिक्षक निकले और सर्वोत्तम शिक्षक निकृष्टतम मसाला जुटानेवाला ठहरे। शिक्षक व्यावहारिक कार्यकर्ता है और मसाला जुटानेवाला सैद्धांतिक निरीक्षक।

यह कहा जा सकता है कि संसार में ऐसे लोग भी हो गए हैं जो मनोविज्ञान नहीं जानते थे, पर तो भी निपुण शिक्षक थे। इसका कारण क्या? यदि कोई माली वनस्पति-विज्ञान को त्याग दे तो त्याग सकता है, परंतु प्रकृति के अध्ययन को कभी त्याग नहीं सकता, अर्थात् वनस्पति-विशेष के उगने योग्य भूमि में बीज बोकर समुचित जल, प्रकाश और खाद्य उसे अवश्य देना होगा। इसी प्रकार कोई शिक्षक मनोविज्ञान के नियमों को ज्ञात रूप से भले ही न जानता हो, परंतु उन प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन वह कभी नहीं कर सकता, जिनके अनुसार मनोविकास होता है। यदि वह सचमुच निपुण शिक्षक था, तो इन नियमों का ज्ञान उसे अपने अनुभव द्वारा अवश्य हो गया था। कवियों के सदृश शिक्षक भी जन्म से होते हैं, बनाने से नहीं, यह कहावत ठीक जान पड़ती है। ऐसे आदर्श अध्यापक मनुष्य-जाति के बड़े भाग्य से संसार में अवतार लेते हैं। उनका मनोविज्ञान जानना और न जानना दोनों ही बराबर है। यथार्थ में ऐसे ही लोगों को, विज्ञान के मौलिक नियमों को अपने अनुभव से निकालने के कारण विज्ञान का जन्मदाता कहना उचित है, परंतु ऐसे शिक्षक बहुत ही कम पाए जाते हैं। सभी अच्छे शिक्षकों के लिये मनोविज्ञान का जानना अपरिहार्य है, यही नियम है। बिना मनोविज्ञान का अध्ययन किए अच्छा शिक्षक होना अपवाद है। अपवाद नियम को प्रमाणित करता है, यह कहावत सचमुच सच है।

मुझे मालूम है कि मनोविज्ञान के संबंध में बहुत-से शिक्षकों को भ्रम है। उन्हीं भ्रमों को दूर करने की चेष्टा इस लेख में की गई है। मेरा अनुरोध है कि प्रत्येक शिक्षक, चाहे वह ट्रेनिंग स्कूल या कालेज में पढ़ा हो या न पढ़ा हो, ज्ञान की प्राप्ति और पुनरुत्पादन की क्रिया-अभिरुचि उत्पन्न करने की विधि तथा ध्यान आकर्षित करने के उपाय, कम-से-कम इन तीन विषयों को मनो-विज्ञान की किसी सरल पुस्तक से पढ़कर समझ ले, तब पढ़ाई का काम करे। हमारी प्राचीन शिक्षणकला की भित्ति आत्मविज्ञान पर थी, जो मनोविज्ञान का जनक है। अब जो कुछ भी हो गया हो, पर याद रहे, आज भी हमारी शिक्षा के अधःपात की जड़ में आत्मविस्मृति है।

दामोदरसहायसिंह

× × ×

३. स्मृति

१

जीवन की रंगथली में, तेरा मोहक मुसकाना,
मेरे-मानस-उपवन में, सुरभित सुख-सुमन खिलाना।
सूनी मेरी कुटिया में, तेरा वह आना-जाना;
सूनेपन में करुणा का, शुभ पारावार बहाना।
कैसे मैं भूल सकूँगा घटनाएँ सरस पुरानी;
अंतर्पट पर चित्रित है, तेरी वह करुण-कहानी।

२

अब उस निकुंज के उर में, अलिगण का मोहक गुंजन;
तेरे गुणगण गाता है, करता पल-पल हृत्कंपन।

अब प्रतिदिन बैठ विजन में, निज अश्रुकणों को चुन-चुन ;
उर चित्रित तेरी छवि का, करता है नित आराधन ।
वृत है मेरा अब तेरी—स्मृति में गाने गाना ;
तेरी कल्पित प्रतिमा पर, अंतर के सुमन चढ़ाना ।

व्रजकिशोर शर्मा "व्रजेश"

× × ×

४. अविदित चाह

क्या बतलाऊँ, किसे सुनाऊँ अपने चित की अविदित चाह ?
आशा के मधुमय नयनों का मतवाला, भूला हूँ राह ।
पीकर कटु माधुरी खो दिया आँखों ने अपनेपन को ;
जीवन-धन को छोड़ चला मैं जीवन-धन के दर्शन को !
आँखमिचौनी खेल रही थी, निर्जन वन में लुप्त हुई ;
जग हँसता है, वे तो छूटे ही थे, वह भी छूट गई ।
किससे क्या मुँह लेकर पूछूँ ? क्या पूछूँ कुछ ज्ञान नहीं ;
मा वसुंधरे ! ठौर बता, हो जाऊँ अंतर्द्धान कहीं ।

पुरुषोत्तमलाल "मधुप"

× × ×

५. संध्या-लालिमा

सांध्य गगन की ललित लालिमा,
अयि ! मृदु मधुर हास्ययुत लोल ;
किसको कहो मोहने आई
रूप-राशि लेकर अनमोल ?
रक्तोत्पल की रंजित आभा
का तुम लिए विशद भंडार ;
पश्चिम-दिशि समुद्र के तट पर,
किसे केलि-हित रहीं पुकार ?
मंथर-गति-आगता शर्वरी
का हो ललित भ्रांतियुत हास ;
अथवा श्रमित भानु-पूषन का
हो अनंत अन्तिम उल्लास ।
किस अबोध शिशु के अधरों की
हो तुम अमल मंद मुसकान ?
बतलाओ तो किस वीणा से
क्वणित भावमय अनुपम गान ?
किस पलाश-वन की लाली हो,
किस उभरे यौवन की कांति ?
उपजाती किन मृदु अधरों की,
अहो ! लालिमा अनुपम भ्रांति ।
किस स्नेही के कहो हृदय का
हो निरीह निश्चल अनुराग ?
अथवा किसी दुखी के उर की
हो प्रचण्डतम भीषण आग ।
बतलाओ तो किस रसिया ने
खेली यह अबीर की फाग ?
अयि सुंदरि ! कुछ परिचय तो दो
अभी न जाओ यों ही भाग ।

हरिशंकर गौतम "हरि"

× × ×

६. सदाचार और शिक्षा-विभाग

१. भारतवर्ष ही आचार-प्रधान देश प्राचीन काल से है । यहीं की आचारचंद्रिका की सुधामयी वर्षा से सारे संसार को लाभ पहुँचा है। राजा हरिश्चंद्र, इंद्रियविजयी अर्जुन, धर्मावतार भीष्म पितामह ने इस भूमि को पवित्र करके सदाचार को अद्वितीय श्रेणी तक निभाकर सारे संसार को चकित कर दिया है । आचार-क्षेत्र में स्त्रियाँ भी मनुष्यों के पीछे नहीं रहीं । उन्होंने स्त्री-समाज में सीता, दमयंती, शकुंतला इत्यादि नाना रत्नों को उत्पन्न कर, आदर्श तथा अकाट्य श्रेणी के सदाचार के ज्वलंत उदाहरण दिखाकर, पुरुषों की भाँति अखिल भूमंडल को सदाचार का पाठ सिखाकर अपना नाम सदा के लिये अमर कर दिया है ।

२. वह शक्ति, जो देशोन्नति करता है, वह शक्ति जो उसे शक्तिशाली बनाती है, वह शक्ति जो उसे चमका देती है, वह शक्ति जिसके प्रभाव से

सारे संसार में बल का संचार होता है, जनता के हृदय में सद्विचारांकुर दृढ़ होता है, जिसके कारण मनुष्य को सम्मान प्राप्त होता है और लाखों मनुष्य उसे सिर नवाते हैं, जिसके प्रभाव से जातियों का घमंड चूर-चूर हो जाता है, जिससे मनुष्य आज्ञाकारी हो जाते हैं, जो बड़प्पन की खान है, जो जाति और देश की सच्ची गद्दी, मुकुट और तलवार है—वह शक्ति खूनखच्चर का संदेश नहीं है, वह कैसर का संदेश नहीं है, वह केवल बुद्धिमत्ता का संदेश नहीं है, वह है मनुष्य की सच्ची वीरता सदाचार का संदेश।

३. भारतवर्ष में सदाचार-संबंधी विचार इतने बढ़े-चढ़े थे कि प्रत्येक आचार्य अपने पठन-पाठन के विषय के साथ अपने शिष्यों की सदाचारिता पर निरंतर सूक्ष्म रूप से ध्यान देते थे। उनके विचारानुसार शिष्य का पहाड़ से गिरकर मर जाना श्रेष्ठ था, उनकी दृष्टि में उसका भूखा तथा प्यासा मर जाना अच्छा था, परंतु उन्हें उसका दुराचारी होकर संसार में जीवन व्यतीत करना कदापि सह्य नहीं था। इसके कई कारण हैं, जिनको विचारते हुए स्वयं श्रीकृष्ण जी ने गीता में कहा है—

"ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ;
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ;
स्मृति भ्रंशात्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।

अर्थात् विषयों का ध्यान करते-करते कुविचारों का संग हो जाता है। इस कुसंगति के कारण मनुष्यों के हृदय में काम की उत्पत्ति होती है। काम के कारण क्रोध जन्म लेता है। क्रोध से मन की एकाग्रता नष्ट होती है। मन एकाग्र न होने से बुद्धि का नाश होता है। बुद्धि के नाश होते ही स्वयं मनुष्य भी नाश को प्राप्त हो जाता है। कहने का सारांश यह है कि विषय से मनुष्य का नाश हो जाता है।

४. दुराचार के कारण ही त्रिभुवन-विजयी, सकल शास्त्रवेत्ता, समस्त वेदों का प्रकांड पंडित, अपने शौर्य से देवताओं को भी कँपानेवाला रावण भी अधोगति को प्राप्त हुआ। काम के प्रभाव के कारण सुरेश के शरीर में हज़ार छिद्र हुए, और उसे अपने पद से च्युत होना पड़ा। दुराचार के कारण नारद की मति भ्रष्ट हो गई और वह अपने इष्ट तथा आराध्यदेव भगवान् को भूल गए—उनको शाप तक दे डाला। दुराचार के कारण ही सशस्त्र व्याध को निःसहाय अबला दमयंती के कोपानल में भस्म होना पड़ा था। स्वयं कामदेव को महादेवजी पर कुत्सित प्रभाव डालने के अपराध में भस्म हो जाने का कठिन दंड सहना पड़ा था। एक-सौ एक कौरव दुराचार के कारण ही पाँच सदाचारी पांडवों के सामने नहीं ठहर पाए। इससे यह प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि कवि का निम्न-लिखित कथन—

राजा रईस कवि पंडित साधु शूर ;
जो दें सुरेश तक का कर गर्व चूर।
जो हों कभी पतित हो सुचरित्रहीन ;
वे भी बिकें फिर टके पर तीन-तीन।

अक्षरशः सत्य है। उन्हीं कारणों को ध्यान में रखते हुए हमारे पूर्वजों ने कहा है—

वरं विन्ध्याटव्यामनशनतृषार्तस्य मरणं
न शीलाद्विभ्रंशो भवतु कुलजस्य श्रुतवतः॥

एक कवि कहते हैं—

गिरि तें गिरि परिबो भलो, भलो पकरिबो नाग ;
अग्नि माहिं जरिबो भलो, बुरो शील को त्याग।

स्वयं तुलसीदासजी कहते हैं—

जहाँ सुमति तहँ संपति नाना; जहाँ कुमति तहँ बिपतिनिदाना।

५. समय किसी का एक-सा नहीं रहता। आज समय जिसके अनुकूल है, कल उसी के विपरीत हो जायगा। जो चढ़ता है, वह गिरता भी है। ठीक यही बात हमारे भारतवर्ष के साथ हुई है। जहाँ पर आचार्यगण दुराचारियों को पृथ्वी का भार समझते थे, जहाँ पर दुराचारियों का दर्शन पाप था, आज उसी सरस्वतीदेवी के मंदिर में दुराचार का अड्डा जमा है, उसी देवी के ज्ञान-मंदिर में बालक बलपूर्वक भ्रष्ट किए जा रहे हैं। खेद तो यह है, स्वयं अध्यापकों तथा मुख्याध्यापकों के कानों पर, दुराचार के भीषण दृश्य देखने पर भी, जूँ तक नहीं रेंगती, बरन् संभव है, वे स्वयं भी उस घृणित कार्य में किसी प्रकार से संबंध रखते हों, और यही कारण है कि ऐसे नीच कार्यों के दृष्टिगोचर होते हुए भी उनका ख़ून नहीं उबलता। उनके हाथ दुराचार-जैसे भयंकर रोग को जड़-मूल से उखाड़ने में नहीं उत्तेजित होते। ऐसा करते समय वे चरित्र-संगठन के द्वारा देशोद्धार करने के अपने मुख्य उद्देश्य का उल्लंघन करते हैं।

६. उनकी इस भयंकर भूल के कारण बालक निस्तेज, निर्बल, निरुत्साह, अस्वस्थ हो जाते हैं। उनकी भयंकर भूल का दुष्परिणाम बालक के माता-पिता तथा उसके अन्य बांधवगणों को सहना पड़ता है। इससे बालक किसी के भी काम का नहीं रहता, बल्कि वह स्वार्थान्ध हो जाता है। बालक देश की उन्नति के भावी नेता हैं। वे ही इस जीर्ण-शीर्ण भारत की सभ्यता के भावी स्तंभ हैं। जब इस प्रकार शैशव काल में ही बालकों का आचार भ्रष्ट हो गया, तो इससे भावी भारतवासी अशक्त हो जायँगे। सबल निर्बल को दबाकर इस संसार में अपनी स्थिति स्थापित करते हैं। निर्बलों का नाश होना प्रकट ही है। इससे दुराचार के कारण भारत की जातियाँ अवनति को प्राप्त हो रही हैं, और भविष्य में भारत को ग़ारत कर देंगी। यह भूल इतनी भयंकर है कि उन्हें यदि देश-द्रोही भी कहा जाय, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। उनकी खाल खिंचा ली जाय, तो भी कम है। प्रायः प्रत्येक स्कूल में यह भयंकर रोग फैला हुआ है। कहीं प्रकट रूप से है, और कहीं गुप्त रूप से।

७. अंत में, शिक्षा-संचालकों, शिक्षा-विशेषज्ञों तथा पालकों से प्रार्थना है कि वे दुराचारी अध्यापक तथा विद्यार्थी का शीघ्र ही इस प्रकार बहिष्कार कर दें, जैसे ख़रगोश के सिर से सींग। भविष्य में शिक्षा-विभाग को नियुक्ति करते समय सदा उनके सदाचार पर ध्यान रखना चाहिए। बालक स्कूल के बाहर दुष्ट मंडली से पीटे जाते हैं तो इसके लिये आचारभ्रष्ट बालकों के दंडनार्थ भी कोई धारा (क़ानून) बन जानी चाहिए, जिसके अनुसार उनका चालान हो सके।

रामचन्द्र गौड़

Registered No. A. 1127.

यदि आपको
अपने रूप-रंग की परवाह है तो

हिमानी स्नो

का

व्यवहार कीजिए !



चेहरे की सुंदरता को बढ़ाने के लिये देशी उपचारों में एकमात्र यही प्रशंसित वस्तु है ।

बहुत-से नक़्क़ाल पैदा हो गए हैं, उनकी चीज़ों की परीक्षा करना भी ख़तरे से बाहर नहीं है ।



और भी

उत्तम स्नान के पवित्र साबुन और सुगंधित तैल आदि

हिमानी

के निशान के साथ मिलते हैं, जिससे इत्मीनान कर लेना चाहिए कि सबसे उत्तम चीज़ है ।

इसके प्रशंसक

पंडित जवाहरलाल नेहरू, मिस्टर जे० एम० सेन गुप्ता आदि ।

हिमानी वर्क्स
सोप मेकर्स और परफ़्यूमर्स,
कलकत्ता ।

सोल एजेंट्स—
शर्मा बनर्जी ऐंड कंपनी,
३, स्ट्रैंड रोड, कलकत्ता ।

Printed & Published by K. D. Se... at the Newul Kishore Press, Lucknow.



अध्यक्ष—श्रीविष्णुनारायण भार्गव

वर्ष ६ खंड १ } कार्त्तिक, ३०७ तुलसी-संवत् (१९८७ वि०) { संख्या ४ पूर्ण संख्या १००

विवशता

तुम चाहते हो न हमें दिल से,
यह तो न किसी से बताया करो;
हमको तुम नाहक दोष न दो,
कुछ और ही बात बनाया करो।

इतनी तो दया दिखलाया करो,
तुम नाथ ! हमें न भुलाया करो;
तरसाया करो तड़पाया करो,
कलपाया करो पर आया करो।

गोपालशरणसिंह

काव्य-साहित्य

मनुष्य-मन की श्रेष्ठ रचना काव्य है। विचार की ऊँची दृष्टि से उसकी निष्कलुषता तक पहुँचकर शब्दब्रह्म से उसका संयोग प्रत्यक्ष करने के पश्चात् यहाँ के लोगों ने उसे ब्राह्मी स्थिति क़रार दिया। अन्यान्य देशवालों ने भी तरह-तरह के तरीक़े इख़्तियार कर एक अप्रत्यक्ष दिव्य शक्ति को ही काव्य के कारण के रूप से सिद्ध किया। काव्य में यदि कोई कवि अपने व्यक्तित्व पर ख़ास तौर से ज़ोर देता हो, तो इसे उसका अक्षम्य अहंकार न समझ, मेरे विचार से, उसकी विशाल व्याप्ति का साधन समझना निरुपद्रव होगा। कारण, अहंकार को घटाकर मिटा देना जिस तरह पूर्ण व्याप्ति है—जैसा भक्त कवियों ने किया, उसी तरह बढ़ाकर भूमा में परिणत कर देना भी पूर्ण व्याप्ति है—जैसा ज्ञानियों ने किया। शंकर, कबीर, रवींद्रनाथ, गेटे बढ़नेवालों में हैं और तुलसीदास, सूरदास तथा अपर भक्त कवि आदि अहंकार की भूमि से घटनेवालों में, दोनों जैसे एक ही शक्ति की अणिमा और द्राघिमा विभूति हों। काव्य के विचार के लिये भाषा, भाव, रस, अलंकार आदि आलोचक के लिये यथेष्ट शस्त्र हैं। विचार केवल काव्य का उचित है, न कि अन्य असंगत बातों का।

जिस तरह कवियों पर एकदेशीयता के दोष लगाए जाते हैं, उसी तरह प्रायः अधिकांश आलोचक भी अपने ही विवर के व्याघ्र बने बैठे रहते, अपनी ही दिशा के ऊँट बनकर चलते हैं। जैसे, हिंदी-साहित्य की पृथ्वी पर अब व्रजभाषा का प्रलय-पयोधि नहीं है, वह जलराशि बहुत दूर हट गई, राष्ट्रभाषा के नाम से उससे जुदा एक दूसरी ही भाषा ने आँख खोल दी, पर "धृतवानसि वेदम्" के भक्तों की नज़र में अभी यहाँ वही सागर उमड़ रहा है। नहीं मालूम, "बेवक़्त की शहनाई" के और क्या अर्थ हैं। एक समस्या पर २२ ज़िले के कवि ढेर हो जाते हैं। "प्रेमचंद"जी के उपन्यासों ने नई आन डाल दी, भाषा का सरल संगत प्रवाह बहा दिया, "प्रसाद" जी की प्रतिभा के सूर्य का मध्याह्नकाल हो गया। "पंत"जी के "पल्लव" की परी सोलहवें साल पर क़दम रख चुकी; पर साहित्य का मंगलाप्रसाद पारितोषिक इन्हें मिला? क्यों नहीं मिला, कारण आप जानते हैं?—आलोचकों की योग्यता!!!

ऐसे आलोचक प्रायः सभी देशों में रहते हैं। हिंदी तो अभी बालिका है, उसकी इज़्ज़त नहीं की जाती तो न की जाय; समय उसके सेवकों को और बड़ा पुरस्कार देगा। अँगरेज़ी, जिसके प्रतापका सूर्य कभी अस्त होता ही नहीं, ऐसे सदाशयों से ख़ाली नहीं। टामस हार्डी अभी उस दिन मरे हैं। तब भी साहित्य की पताका इसी तरह आकाश में फहरा रही थी। पर तिरस्कार के प्रति हार्डी कहते हैं—

"Mock on! mock on, yet I'll go pray
To some Great Heart, who happily may
Charm mental miseries away."

(हँसो, मज़ाक़ करो, फिर भी मैं किसी महान् आत्मा से प्रार्थना करता जाऊँगा जो कदाचित् मानसिक दुःखों को अपनी प्रभा से चकित कर हटा सकती है।)

बंगाल में जब रवींद्रनाथ की प्रतिभा की किरणें सत्साहित्यिकों के हृदय के कमलों को खोल रही थीं और सब लोग उनकी प्रशंसा करने लगे थे, उस समय कितना विरोध हुआ था! रवींद्रनाथ ने एक पद्य में इसकी कैफ़ियत दी थी। उसमें उनके कवि-हृदय का करुण-स्रोत ही फूट पड़ा है।

"अश्रु झलिछे शिशिरेर मत,
पोहाइये दुख-रात!"

[ये आँसू हैं, मित्र, (शब्द नहीं) जो ओस-कणों की तरह दुःख की रात पार कर अब चमक रहे हैं।]

"जान कि बंधु, उठियाछे गीत
कतो व्यथा भेद करि।"

(हे मित्र, क्या तुम जानते हो, ये गीत कितनी व्यथा पार कर निकले हैं?)

एक दिन सुमित्रानंदन को भी आलोचनाओं से घबराकर भवभूति की तरह इस भाषा में लिखना पड़ा था

"न पिक-प्रतिभा का कर अभिमान,
मनन कर मनन, शकुनि नादान !"

गोस्वामी तुलसीदास को इन आलोचकों से कम वब-राहट न थी।

"भाषा-भनित मोरि मति थोरी।
हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी।"

ज़रा सोचिए तो, समालोचकों की किस वृत्ति का इन पंक्तियों से परिचय मिलता है। श्रीहर्ष के मामा ने कहा, मैंने काव्य के दोष-दर्शन के लिये व्यर्थ ही इतना परिश्रम किया, तुम्हारे नैषध में सब दोष एकत्र मिल जाते हैं। और यह वह नैषध है, संस्कृत-साहित्य में जिसकी जोड़ का दूसरा काव्य-ग्रंथ है ही नहीं, जिसके उदय से किरातार्जुनीय और शिशुपाल-वध-जैसे महा-काव्यों की प्रभा मंद पड़ गई। आलोचकों की कृपा जिन पर नहीं हुई, ऐसे भाग्यवान् कवि संसार में थोड़े ही होंगे।

जिन तीन साहित्य-रथियों का मैं ज़िक्र कर चुका हूँ, "प्रेमचंद"जी, "प्रसाद"जी और "पन्त"जी, वे कृति तैयार करनेवाले हैं, उनकी आलोचनाएँ कैसी भी हों, वे आलोचनाओं से पहले हैं, पीछे नहीं। आज भी हिंदी-साहित्य के व्याकरण की निंदा होती है, महात्मा गांधी-जैसे श्रेष्ठ मनुष्य का कहना है कि यू० पी० वालों की भाषा ठीक नहीं होती—अगर कोई ऐसे हैं, तो महात्माजी को इसका ज्ञान नहीं, पर इससे हिंदी-साहित्य की प्रगति नहीं रुक रही, और भाषा के व्याकरण पर दोष देनेवालों की दिक़्क़तें भो, बामुहाविरा हिंदी लिखनेवाले यू० पी० के बड़े-बड़े साहित्यिकों को, जिन्हें अपर दो-एक साहित्यों के व्याकरण का भी ज्ञान है, मालूम हो जाती हैं। इसके कारण के लिखने की यहाँ जगह नहीं। मैं सिर्फ़ यही कहूँगा कि व्याकरण जिस तरह भाषा का अनुगामी है, समालोचक उसी तरह कृति का। कृति की दुर्दशा करके, यदि उस कृति के फूल खुले हैं और उनमें सुगंध है, समालोचक अपना जितना भी ज़बरदस्त ठाट खड़ा करे, वह कभी टिक नहीं सकता। इसलिये समालोचक को कृति के साथ ही रहना चाहिए। "प्रसाद"जी की आजकल जैसी आलोचनाएँ निकल रही हैं, उनमें अस्सी फ़ी सदी आलोचना सहानुभूति से रहित और आक्रमण है। पंडित रामचंद्र शुक्ल की "काव्य में रहस्यवाद" पुस्तक उनकी आलोचना से पहले उनके अहंकार, हठ, मिथ्याभिमान, गुरुडम तथा रहस्य-वादी या छायावादी कवि कहलानेवालों के प्रति उनकी अपार घृणा सूचित करती है। ऐसे दुर्वासा-समालोचक कभी भी किसी कृति-शकुंतला का कुछ बिगाड़ नहीं सके, अपने शाप से उसे और चमका दिया है।

फूल का मुख्य गुण है उसकी सुगंध, कृति का मुख्य गुण उसकी रोचकता। पर जिस तरह चीनियों को घी में बदबू मिलती है और सोड़े में डुबोकर जीते हुए तिलचट्टे खाने में स्वाद, उसी तरह यदि पूर्वोक्त-जैसे कृतिकारों की रचनाएँ किसी को रुचिकर प्रतीत न हों और गुणों की गणना से दोषों की ही संख्या बढ़ रही हो, तो संदेह उन्हीं की रुचि-योग्यता पर होगा, जो एक हिंदुस्थानी चीज़ को अँगरेज़ी चीज़ (Cheese—पनीर) बना डालते हैं (कहते हैं, जिस पनीर में कीड़े पड़ जाते हैं—सड़कर बदबू आने लगती है, वह खाने में ज़्यादा स्वाददार समझी जाती है, कारण, कीड़े कुछ मीठे होते हैं)। दूसरा कारण यह भी है कि "उग्र"जी की कृति पढ़कर समालोचक अपनी आलोचना की तोप में बर्नार्डशा, डी० एल्० राय और रोमाँरोलाँ को भरकर दागते हैं। "उग्र"जी भी बर्नार्डशा होते यदि आपका समाज अँगरेज़ों के समाज की तरह शिक्षा तथा सभ्यता की उतनी ही सीढ़ियाँ तय किए हुए होता। रही बात योग्यता की, सो "उग्र"जी की योग्यता का पता लगाने से पहले बर्नार्डशा की ही योग्यता का पता लगाकर बतलाइए कि वह किस विश्व-विद्यालय से Ph. D होकर निकले हैं, जो यह फ़िलासफी छाँट रहे हैं, और कहाँ के वह साहित्य के डाक्टर हैं, जो नोबेल-पुरस्कार प्राप्त कर लिया। जैसे उनके लिये अँगरेज़ी सुगम है, वैसे ही "उग्र"जी के लिये हिंदी; उनके अँगरेज़ी के चित्र, अँगरेज़-समाज के परिचायक हैं, "उग्र"जी के हिंदी के चित्र हिंदी-समाज के परिचायक। आपको अच्छा न लगे, तो चीन या विलायत चले आइए, यहाँ क्यों व्यर्थ घी की बदबू में सड़ रहे हैं ?

कृतिकार कहाँ से सौंदर्य, सत्य और भावना पाता है, यह भारतीयों के स्वर से कंठ मिलाकर राबर्ट ब्रिजेज़ ने कहा है—

"Thy work with beauty crown,
thy life with love ;

Thy mind with truth uplift to God above;
For whom all is, from whom was all begun;
In whom all Beauty, Truth and Love
are one."

(तुम्हारी कृति सौंदर्य-किरीटिनी हो, तुम्हारा जीवन सप्रेम; तुम्हारा मन सत्य के साथ ऊपर ईश्वर तक चढ़ा हुआ हो; जिसके लिये ही सब कुछ है, जिससे सब शुरू हुआ, जिसमें सब सौंदर्य, सत्य और प्रेम एक है।)

सत्य या ईश्वर ही का वह रंग है, जो रस के रूप से कृतिकार की आत्मा के भावों की तरंग को पाठक की आत्मा से मिला देता है। अनेक प्राणों में एक ही प्रकार की सहानुभूति, एक ही मधुर राग बज उठता है। ब्रिजेज़ के ये भाव भारत के हृदय में चिरंतन सत्य की प्रतिष्ठा पा रहे हैं। इन पंक्तियों में सत्य का जो सूत्र है, उससे भारत और इँगलैंड बँधा हुआ है। दोनों आत्माएँ एक हैं, जातिगत कोई भी वैषम्य यहाँ नहीं।

प्रिया के चित्र को कितनी ख़ूबसूरती से कविवर विलियम् शेक्सपियर खींचते हैं! देखिए—

"Mine eye hath play'd the painter and
hath stell'd
Thy beauty's form in table of my heart;
My body is the frame where in it is held,
And perspective it is best painter's art.
For through the painter must you see
his skill,
To find where your true image pictured lies,
Which in my bosom's shop is hanging still,
That hath his windows gazed with
thine eyes.
Now see what good turns eyes for eyes
have done;
Mine eyes have drawn thy shape, and
thine for me
Are windows to my breast..............."

(मेरी आँखों ने चित्रकार का काम किया। तुम्हारे सौंदर्य की तस्वीर मेरे हृदय की मेज़ पर रख दी। मेरा शरीर उसका साँचा है, जिसके अंदर वह रक्खी है। शीशे के अंदर से देख पड़ती हुई-सी वह सर्वश्रेष्ठ चित्रकार की कला है; क्योंकि उस चित्रकार के भीतर से तुम अवश्य उसकी कुशलता प्रत्यक्ष कर लोगी। तुम समझ लोगी, कहाँ तुम्हारी सच्ची मूर्ति खिंची हुई रक्खी है। वह तस्वीर मेरे हृदय की दूकान में निस्तब्ध लटक रही है, जिसे देखने के झरोखे तुम्हारी हेरती हुई आँखें हैं। अब देखो कि आँखों ने आँखों को कैसा बदला दिया। मेरी आँखों ने तुम्हारी तस्वीर खींच ली, और तुम्हारी आँखें मेरे लिये मेरे हृदय की खिड़कियाँ हैं।) कितना कमाल है!

"लोचन-मगु रामहिं उर आनी।
दीन्हे पलक-कपाट सयानी।"—

में स्नेह का प्रकाश तो है, पर इतना बड़ा सौंदर्य अवश्य नहीं। क्या इस तरह के भाव को, यदि इसके दो एक कारण—जैसे, मेज़ का उल्लेख है, हटा दिए जायँ, तो क्या किसी भारतीय के लिये अपनी चीज़ कहने में कोई असुविधा हो सकती है? इस प्रकार की एक उक्ति और याद आई—

"नयन झरोखे बैठि कै, सबको मुजरा लेय।
जाकी जैसी चाकरी, ताको तैसो देय।"

भावों की उच्चता पर कुछ भी नहीं कहना, पर कला की जो ख़ूबसूरती शेक्सपियर में है, वह इसमें भी नहीं। इस तरह के भाव—"तेरे नैनन-झरोखे बीच झाँकता सो कौन है" अनेक लड़ियों में गुँथे हुए मिलते हैं। हिंदी में कहीं मैंने शेक्सपियर की-सी उक्ति पढ़ी है, मुझे स्मरण नहीं। प्रिया और प्रियतम के स्नेह का आदान-प्रदान इस तरह की उक्तियों से बढ़ा दिया जाता है, इसलिये सांसारिक दृष्टि से इस कला को बहुत बड़ा महत्त्व प्राप्त है।

"I fear thy kisses, gentle maiden,
Thou needest not fear mine,
My spirit is too deeply laden
Ever to burthen thine,
I fear thy mien, thy tones, thy motion,
Thou needest not fear mine;
Innocent is the heart's devotion
With which I worship thine."
—P. B. Shelley.

(हे धीर कुमारी, मुझे तुम्हारे चुंबनों से भय है, पर तुम्हें मेरे चुंबनों से नहीं घबराना चाहिए, क्योंकि

...ती शक्ति इतनी दबी हुई है कि वह तुम्हारी शक्ति का ...र नहीं सँभाल सकती।

मैं तुम्हारी छवि, वाणी और गति से डरता हूँ, पर तुम्हें मेरी चेष्टाओं से नहीं डरना चाहिए; क्यों? हृदय के जिस अर्घ्य से मैं तुम्हें पूजता हूँ, वह निर्दोष है।)

शेली की इन पंक्तियों में, कविता-कुमारी की साधना ...र वह कितना कोमल बन गया था, इसका प्रमाण मिल जाता है। प्रायः कवियों को हम कुमारियों की प्रार्थना करते हुए, अनेक प्रकार की स्तुतियों से उन्हें प्रसन्न करते हुए देखते हैं। पर शेली अपनी सुंदरी कुमारी की छवि, शब्द तथा गति से भी डरता है, जैसे कुमारी की गति से उसी के सुकुमार प्राण काँप उठते हों—इतनी कोमलता।

कल्पनामय, शब्दों में प्रांजल रवींद्रनाथ—

"अलख निरंजन—
महारव उठे बंधन टूटे
करे भय-भंजन।
वक्षेर पाशे घन उल्लासे
असि बाजे झंझन।
पंजाब आजि उठिले गरजि—
"अलख निरंजन।"
एसेछे से एक दिन
लक्ष पराणे शंका ना जाने
ना राखे काहारो ऋण।
जीवन मृत्यु पायेर भृत्य
चित्त भावनाहीन।
पंच नदीर घिरि दशतीर
एसेछे से एक दिन॥
दिल्ली-प्रासाद-कूटे
होथा बार-बार बादशाजादार
तंद्रा जेतेछे छुटे।
कोदर कंठे गगन मंथे
निविड़ निशीथ टूटे,
कादेर मशाले आकाशेर भाले
आगुन जेसेछे फुटे॥

("अलख निरंजन" महान रव उठता, बंधन टूट जाते, भय दूर हो जाता है। कटि में सोल्लास असि झन-झन बज रही है। आज पंजाब "अलख निरंजन" गरज उठा।

वह भी एक दिन था, जब लाखों प्राण शंका नहीं जानते थे। किसी का ऋण नहीं रखते थे। जीवन और मृत्यु पैरों के भृत्य-से थे, चित्त चिंता से रहित। पाँचों नदियों के दसों तट घेरकर वह भी एक दिन आया था।

दिल्ली के प्रासाद-कोट में बार-बार बादशाहज़ादे की आँख खुल रही है। आधी रात के स्तब्ध आकाश को मथता हुआ यह किनका कंठ है?—आकाश के भाल पर फूटती हुई यह किनके मशालों की आग है?)

कल्पना, चित्रण तथा ओज एक ही पद्य में मिल जाता है, पढ़कर हृदय की काव्य-तृष्णा मिट जाती है। हिंदी में यदि चारों ओर से परकोटा घेरकर अन्य देशों तथा अन्य जातियों की भावराशि रोक रक्खी गई, तो इस व्यापक साहित्य के युग में हिंदी के भाग्य किसी तरह भी नहीं चमक सकते, और उसके साहित्य में महाकवि तथा बड़े-बड़े साहित्यिकों के आने की जगह, चिरकाल तक "बनी रहे—ठनी रहे" होता रहेगा। पुराना साहित्य हिंदी का बहुत अच्छा था, पर नया और अच्छा होगा, इस दृष्टि से उसकी साधना की जायगी। पुराने साहित्य का जितना दायरा था, नए का उससे बहुत अधिक बढ़ गया है। जो लोग ब्रजभाषा के प्रेमी हैं, उनसे किसी को व्यक्तिगत द्वेष नहीं, जब तक वे हिंदी की नवीन संस्कृति के बाधक नहीं बनते। पर जब वे अकारण हिंदी की नवीन कृतियों को नीचा दिखाने पर तुल जाते हैं, प्रायः ब्रजभाषा की श्रेष्ठता ज़ाहिर करने के लिये, तब उनकी इस रुचि की वजह उन्हें प्रयत्न करके साहित्य के व्यापक मैदान से हटा देना चाहिए। उनके द्वारा साहित्य का उपकार नहीं हो सकता। वे तो सिर्फ़ मनोरंजन के लिये काव्य-साधना करते हैं, किसी उत्तर-दायित्व को लेकर नहीं उनकी आँखों में दूर तक फैली हुई निगाह नहीं है। वे अपने ही घर को संसार की हद समझते हैं। साहित्यिक प्रतिस्पर्द्धा क्या है, अपने व्यक्तित्व को साहित्य के भीतर से एक साहित्यिक किस प्रकार बढ़ा सकता है, अपर साहित्यों से भावों के आदान-प्रदान के लिये कैसी शिष्टता, कितनी उदारता होनी चाहिए, किस-किस प्रकार के भावों से अपना प्रकृति-गत स्वभाव बना लेना चाहिए, वे नहीं जानते। कौन-से भाव सार्वजनीन और कौन-से एकदेशीय हैं, उन्हें पता नहीं। चिरकाल से एक ही समाज के

चित्र देखते-देखते उनकी रुचि उन्हीं के अनुसार बन गई है, वे उसे बदल नहीं सकते और जब बदली हुई कोई अच्छी भी रुचि उनके सामने रक्खी जाती है, तब अपनी अपार भारतीय संस्कृति की दोहाई देकर उसके देशनिकाले पर तुल जाते हैं। पर यदि इनसे पूछा जाता है कि वे किसी भी एक क़ायदे का बयान करें, जो उनकी चिरंतन भारतीय संस्कृति हो और जिस ढंग की संस्कृति दूसरे देशों में न हो, तो महाशय-गण उत्तर देने की जगह दुश्मन की तरह देखने लगते हैं। कोट के सामने आधुनिक मिर्ज़ई की प्राचीनता-भक्ति की तरह उसके पहननेवाले यदि विचारपूर्वक देखेंगे, तो मिर्ज़ई भी उनकी सनातन पोशाक न ठहरेगी। एक बार बनारस में अपनी गुर्जरी पवित्रता की व्याख्या करते हुए मेरे एक मित्र ने कहा, हम लोग पीतांबर पहन-कर खाते हैं। इस बीसवीं सदी में उनका पीतांबरधर दिव्य रूप आँखों के सामने आया तो बड़ी मुश्किल से हँसी को रोकना पड़ा, जैसे आजकल के वकीलों का झब्बा देखकर अकस्मात् जटायू की याद आ जाती है। मैंने मन-ही-मन कहा, पहले के आदमी पीतांबर पहनकर भोजन करते थे या दिगंबर होकर, यह सब बतलाना बहुत कठिन है। पर अगर ज़रा अक़्ल का सहारा लिया जाय, तो दिगंबर रहना ही विशेष रूप से सनातनधर्म जान पड़ता है, कारण सनातन पुरुष के बहुत बाद ही कपड़े का आविष्कार हुआ होगा, और इस प्रथा को माननेवाले सिद्ध नागे महाराजों का इस समय भी कमी नहीं। अस्तु, अभिप्राय यह कि भारतीयता के नाम पर जिस कट्टरता तथा सीमित भावों और कार्यों का प्रचार किया जाता है, रक्षा की जाती है, वह अस्तित्व को क़ायम रखने की जगह नष्ट ही करती है। अस्तित्व तो व्याप्ति ही से रह सकता है। यहाँ का सनातनधर्म व्याप्ति है भी।

देखने के लिये जो दो-चार उद्धरण दिए गए हैं, उनमें उच्चतम वेदांत-वाक्य से लेकर शृंगार के अत्यंत आधुनिक चित्र तक हैं, पर वे अभारतीय होकर भी भारतीय हैं। कारण उनमें प्रकाश तथा जीवन है। जो भाव या चित्र किसी देश की विशेषता को सूचित करते हैं, वे उतने अंश में एकदेशीय हैं। पर जहाँ मनुष्य मन के आदान-प्रदान हैं, वहाँ वह व्यापक साहित्य ही है। सिर्फ़ उसके उपकरण अलग-अलग होते हैं। शेक्सपीयर की नायिकाओं के परिच्छद एकदेशीय हो सकते हैं, पर उनकी आत्मा, प्यार, भाव व्यापक हैं। परिचम के लिये जिस तरह यहाँ के भावों की गहनता, त्याग, सतीत्व की शिक्षा आवश्यक है, उसी तरह वहाँ के प्रेम की स्वच्छता, तरलता, उच्छ्वसित वेग यहाँवालों के लिये ज़रूरी है। इस समय वहाँवालों का ख़ूनी प्रेम भी शक्ति-संचार के लिये यहाँ आवश्यक-सा हो गया है। यह है आसुरी, राक्षसी गुण अवश्य, पर कभी-कभी दुर्बल देवताओं में राक्षस ही प्रबल होकर बल पहुँचाते हैं, और कभी देवताओं के नायक विष्णु भी सती असुर-पत्नी का सतीत्व नष्ट करते हुए नहीं हिचकते। हिंदी के भारतीय लोगों ने "तुलसी" की कथा पढ़ी होगी। यहाँ के साहित्य में मद्य-पान बहुत कम है, पर वेदों में मादक सोम-रस की जैसी महिमा है, प्रायः सभी लोग जानते हैं; और मद्य के प्रचार का कहना क्या? जिस गुजरात में अब ताड़ी के पेड़ कट रहे हैं, वहीं द्वापर में अवतार-श्रेष्ठ श्रीकृष्णजी के वंशज यादवों ने शराब पीकर एक ही दिन में अपना संहार कर लिया था। शायद शराब का ऐसा रोचक इतिहास शायद योरप भी नहीं दे सकता। शराब अच्छी भी है, बुरी भी अवश्य। यहाँ मैं देश-प्रेम की बातें नहीं कर रहा। साहित्य की शराब मुझे तो अत्यन्त रुचिकर जान पड़ती है और बिना विचार के इसे भारतीय कर लेने की इच्छा होती है। किसी मुसलमान विद्वान् ने कहा था, योरप शराब से डूबा हुआ है, पर कहीं के धर्म से भी शराब की तारीफ़ न करनेवाले एशिया ने शराब की कविताओं से योरप को मात कर दिया। शराब से सख़्त नफ़रत करनेवाले कितने ही पंडितों को मैं जानता हूँ, जिन्हें दवा के रूप से ब्रांडी दी गई और वे बिना शिखा हिलाए पी गए। सुना है, यदि दवा के तौर पर प्रतिदिन थोड़ी-सी शराब पी जाय, तो स्वास्थ्य को निहायत फ़ायदा पहुँचाती है। यों तो मैं जानता हूँ, हर खाद्य पेट में पहुँचकर पहले शराब बनता और नशा पहुँचाता है, उसी के रासायनिक अनेक रूप शरीर की जीवनी शक्ति बनते हैं। नशे की नींद के बाद ही जागरण का आनंद मिलता और जागरण की ज़रूरत के साथ नींद की भी आवश्यकता सिद्ध होती है। इसी तरह इन दिव्य भारतीयों की कुछ प्रसन्न करने के लिये आसुर शराबी भाव भी आवश्यक

है; पर देश के साहित्यिक सुधारपंथी नेतागण अवश्य उसके ख़िलाफ़ विद्रोह खड़ा कर मेरी स्त्री की तरह अपनी दिव्यता का परिचय देंगे ।

यहाँ ज़रा अपनी धर्मपत्नीजी की दिव्यता का परिचय दे दूँ । खेद है कि अपनी दिव्यता के कारण ही वह इस समय दिव्यधामवासिनी हो रही हैं । पंडितों ने मेरा और उनका संबंध पत्रा देखकर जोड़ा था, मुझे और उन्हें देखकर नहीं । इसलिये विवाह के पश्चात् मेरी और उनकी प्रकृति वैसे ही मिली, जैसे पंडितों की पोथियों के पत्र एक दूसरे से मिले रहते हैं । वह अखंड भारतीय थीं और मैं प्रत्यक्ष राक्षस—रोज़ मांस खाता था । उन्होंने मुझे विश्राम-सागर, पद्म-पुराण, शिव-पुराण, और न-जाने कौन-कौन-से ग्रंथ, गुटके और पद-टिप्पणियाँ दिखलाकर कहा, इससे बड़ा पाप होता है, तुम मांस खाना छोड़ दो । तब मैं कुछ मूर्ख था, और वह मुझसे हिंदी में ज़्यादा पंडिता थीं । मांस खाने से कितनी भयंकर सज़ा मिलती है, उसके जो चित्र उन्होंने दिखलाए, उनके स्मरण-मात्र से मेरे प्राण सूख जाते । कुछ दिनों तक मैंने मांस खाना छोड़ दिया । तब मेरा स्वास्थ्य मुझे छोड़ने लगा । स्वास्थ्य की चिंता तो होती थी, पर यमदंड के भय के सामने स्वास्थ्य का विचार न चलता था । मेरी पत्नी को मेरे स्वास्थ्य का उतना भय न था, जितनी प्रसन्नता उन्हें मेरे मांस छोड़-कर भारतीय बन जाने की थी । धीरे-धीरे सूखकर काँटा हो गया । एक दिन नहाने के लिये जा रहा था, कुएँ पर मैं एक पूज्य वृद्ध ब्राह्मण मिले । मुझे देखकर बड़े ताज्जुब में आए, पूछा "तुम क्या हो गए ?" मैंने कहा, "मांस छोड़ दिया, इसलिये दुबला हो गया हूँ ।" उन्होंने कहा, "तो मांस क्यों छोड़ा ?" मैंने कहा, "विश्राम-सागर में लिखा है, बड़ा पाप होता है, मरने पर मांसा-हारी को यम के दूत बड़ा दंड देते हैं ।" उन्होंने पूछा, "तुमने अपनी इच्छा से छोड़ा या किसी के कहने पर ?" मैंने सचसच बतला दिया । उन्होंने कहा "तो तुम फिर खाओ, कनवजियों को पाप नहीं होता, उनको वरदान है ।" मैंने पूछा, "कहीं लिखा भी है ?" उन्होंने कहा, "हाँ, है क्यों नहीं ? वंशावली में है ।" मुझे जैसी प्रसन्नता आज तक कभी नहीं हुई । पत्नी पर बड़ा गुस्सा आया । उनसे तो मैंने कुछ भी न कहा, शाम को बाज़ार से आधा सेर मांस तौला लाया । मकान में लाकर रक्खा, तो श्रीमतीजी दंग । उस समय मेरे घर के और लोग विदेश में थे । श्रीमतीजी रूमाल में ख़ून के धब्बे देखकर समझ गईं, पूछा, यह क्या है ? मैंने कहा "मांस" । "तो क्या फिर खाओगे ?" मैंने कहा, "हाँ, हमें वरदान है ।" श्रीमतीजी हँसने लगीं ? पूछा—"कहाँ मिला यह वरदान ?" "हमारे पूर्वजों को मिला है, वंशावली में देख लो, तुम्हें विश्वास न हो ।" श्रीमतीजी ने कहा, "ख़ुद तो पकाते हो ही, अपने मांसवाले बरतन अलग कर लो, और जिस रोज़ मांस खाओ, उस रोज़ न मुझे छुओ और न घर के और बरतन और तीन रोज़ तक कच्चे घड़े नहीं छूने पाओगे ।" मैंने कहा, "इस समय तो रोज़ खाने का विचार है, क्योंकि पिछली कसर पूरी कर लेनी है ।" उन्होंने कहा, "तो मुझे मेरे मायके छोड़ आओ" मैंने कहा "लिख दो, कोई ले जाय; नहीं तो नाई भेज दो, किसी को बुला लावे; मैं जहाँ मांस पकाता हूँ, वहीं दो रोटियाँ भी ठोंक लूँगा ।" श्रीमतीजी चली गईं । पत्रा-प्रेम इसी तरह तीन-चार साल कटा । चार महीने मेरे यहाँ रहतीं, आठ महीने मायके । अंतिम बार मायके में इंफ्लूएंज़ा के साल, उन्हें भी इंफ्लूएंज़ा हुआ । मैं तब बंगाल में था । मेरे पास तार गया । जब मैं आया, तब महाप्रयाण हो चुका था । क़स्बे के डाक्टर मेरे परिचित मित्र थे । उनसे मिला, तो अफ़सोस करने लगे । कहा, "फेफड़े कफ से जकड़ गए थे, प्यास ज़्यादा थी, मैंने पानी की जगह अखनी पिलाने के लिये कहा, वैसी ही डाक्टरी दवा भी देने के लिये पूछा, उन्होंने इनकार कर दिया, कहा, दस बार नहीं मरना है ।" इस दिव्य भावना ने अगर कुछ भी मेरे साथ सहयोग किया होता, तो शायद यह अकाल मृत्यु न हुई होती और जीवन भी कुछ सुखमय रहता । इस तरह साहित्य को जीवित रखने के लिये उसमें अनेक भाव, अनेक चित्रों का रहना आवश्यक है, और जब कि अपने-अपने स्थान पर सभी भाव आनंदप्रद और जीवन पैदा करनेवाले हैं । व्यापक साहित्य किसी ख़ास संप्रदाय का साहित्य नहीं । शराब, कबाब, नायिका, निर्जन साज और संगीत के कवि उमरख़य्याम की इज़्ज़त साहित्य-संसार के लोग जानते हैं । ग़ालिब मशहूर शराबी थे । पर उनकी कृति

कितनी सुंदर है! व्यापक भावों के कवि रवींद्रनाथ ने भी इससे फ़ायदा उठाया है—

"कालि मधुयामिनीते ज्योत्स्ना-निशीथे
कुंजकानने सुखे
फेनिलोच्छल यौवन-सुरा
धरेछि तोमार मुखे।
तुमि चेये मोर आंखी परे
धीरे पात्र लयेछ करे
हेसे करियाछ पान चुंबनभरा
सरस बिंबाधरे
कालि मधुयामिनीते ज्योत्स्ना-निशीथे
मधुर आवेश-भरे॥

(कल वसन्त-ज्योत्स्ना की अर्धरात्रि को सुख से बग़ीचे के कुंज में छलकती हुई फेनिल यौवन की सुरा मैंने तुम्हारे मुख पर रक्खी थी। तुमने मेरी आँखों की ओर देखकर धीरे से पात्र (प्याला) हाथ में ले लिया, और हँसकर चुंबनों से खिले हुए सरस बिंबाधरों से मधुर आवेश में आ पी गईं।)

यहाँ रवींद्रनाथ से एक बड़ी ग़लती हो गई है। पहले उन्होंने "यौवन-सुरा" लिखकर सुरा के यथार्थ भाव में परिवर्तन करना चाहा था। वहाँ उन्होंने तरंगित यौवन को ही सुरा बनाया है। पर अंत तक नहीं पहुँच सके। क्योंकि अंत में उनकी प्रिया की जो क्रिया है, वह सुरा पीने की ही है, यौवन-सुरा पीने की नहीं। विदेशी भावों को लेते समय ज़रा होश दुरुस्त रखना चाहिए। मुसलमानी सभ्यता के कवि इस कला में एकच्छत्र सम्राट् हैं। एक जगह और रवींद्रनाथ ने लिखा है—

"दुःख-सुखेर लक्ष धाराय
पात्र भरिया दियाछि तोमाय
निठुर पीड़ने निगाड़ि वक्ष
दलित द्राक्षा सम"

(दुःख और सुख की लाखों धाराओं से मैंने तुम्हारा प्याला भर दिया है—अपने वक्ष को निष्ठुर पीड़नों से दलित द्राक्षा की तरह निचोड़-निचोड़ कर।)

"दलित द्राक्षा" का भाव उमरख़य्याम का है। सुरा की कविताओं में मुसलमानों ने कमाल कर दिया कि मयख़ाने को मसजिद से बढ़कर बतला दिया और पाठकों को पढ़कर आनंद आता है।

"दूर से आए थे साकी सुनके मयख़ाने को हम।
बस तरसते ही चले अफ़सोस पैमाने को हम॥"

क्या यहाँ मयख़ाना मंदिर नहीं और पैमाना अमृत का कटोरा?

"मय भी है, मीना भी है, सागर भी है, साकी नहीं।
दिल में आता है लगा दें आग मयख़ाने को हम॥"

यहाँ साकी क्या अमृत पिलानेवाला गुरु नहीं?

इस तरह शराब के लक्ष्य से बहुत बड़ी-बड़ी बातें कह दी गई हैं जिनका किसी भी साहित्य के लिये गर्व हो सकता है। उर्दू-शायरी की काफ़ी निंदा पश्चात्‌ काल के सुधारकों ने की है। पर यह प्रायः सब लोग मानते हैं कि पहले की शायरी का आनन्द अब दुष्प्राप्य है।

काव्य-साहित्य में लक्ष्य तथा भाव की परीक्षा की जाती है, उपकरणों की नहीं।

"क़िस्मत को देखिए कि कहाँ टूटी जा कमन्द।
दो-चार हाथ जब कि लबे बाम रह गया॥"

असफलता की कितने सुंदर सरस ढंग से वर्णना की, सफलता तक पहुँचाकर असफल कर दिया।

हमारे काव्य-साहित्य की दृष्टि बहुत व्यापक होनी चाहिए, तभी उसका कल्याण हो सकता है। पश्चिमी कवियों के हृदय में पूर्व के लिये अपार सहानुभूति उमड़ चली थी। उनका यही साहित्यिक पौरुष तथा प्रेम आज संसार-भर में फैला हुआ है। ये सत्रहवीं और अठारहवीं सदी की बातें हैं, वर्ड्सवर्थ और उनके मित्र कालरिज(Samuel Tailor) ने पूर्व का वर्णन किया है। इधर दो सौ वर्ष में पश्चिमी सभ्यता का वैज्ञानिक चमत्कार कहाँ तक पहुँचा है, इसका हिंदी-भाषियों को भी यथेष्ट ज्ञान है।

"........the Great Mogul, when he
Erewhile went forth from Agra or Lahore,
Rajas and Omrahs in his train........"
—Wordsworth

लाहौर या आगरे से यात्रा में राजा और उमराओं को लेकर चलते हुए प्रतापी मोग़ल-बादशाह का ज़िक्र है। इस समय के इँगलैंड के कुछ आगे-पीछे होनेवाले कवियों में पूर्व के साथ शेली का प्रगाढ़ प्रेम देख पड़ता है। पूर्व के रहस्यवादियों तथा सन्तों को वह चाव से याद

जाता है। "Lines to an Indian Air" (लाइंस टु ऐन इंडियन एयर), "Revolt of Islam" (रिवोल्ट ऑव् इस्लाम), "Queen Mab" (क्वीन् माब) आदि-आदि अनेक कविताएँ, काव्य नाटक, खंड-काव्य हैं, जिनमें शेली ने पूर्व की बड़ी इज़्ज़त की है। ब्रह्म, शिव और बुद्ध भी उसकी रचना में हैं। कीटस भी पूर्व की छवि से मुग्ध है। भारत का उल्लेख उसने भी किया है, भारत के अमर स्नेह में डूबा हुआ है। पूर्व देशों का इनमें सबसे ज़्यादा ज्ञान बायरन को था। उसने तुर्किस्तान की सैर भी की थी और इस तरह काव्य में अपना प्रत्यक्ष अनुभव लिखा है, जिससे उसकी वे रचनाएँ और भी महत्त्वपूर्ण हो गई हैं। "The Corsair", "The Bride of Abydos", 'The Seige of the Corinth" आदि रचनाएँ उसके भ्रमण के ही कारण साहित्य को मिलीं। लीला, ज़ुलेखा आदि उसकी प्रधान पात्रियाँ हैं। नैपोलियन की उसने तैमूर से तुलना की। और भी बहुत कुछ उसने लिखा। टेनीसन ने भी पूर्व पर काव्य लिखे। टेनीसन फ़ारस के सौंदर्य पर मुग्ध था। परंतु फिर भी पूर्व पर टेनीसन की बहुत श्रद्धा न थी।

कुछ ही व्यापक साहित्य की इस प्रकार सृष्टि हुई। गद्य की बातें नहीं लिखी गईं। यह सब पूर्व के लिये इंगलैंड का पद्य-प्रवाह है। पर हमारे साहित्य में क्या हो रहा है—यह भारतीय है, यह अभारतीय, असंस्कृत। धन्य है हे संस्कृति के बच्चो!—नस-नस में शरारत भरी, हज़ार वर्ष से सलाम ठोंकते-ठोंकते नाक में दम हो गया, अभी संस्कृति लिए फिरते हैं।

सबसे बड़ी आफ़त ढा रहे हैं कुछ साहित्यिक सुधारपंथी, जो स्वयं तो कुछ लिख नहीं सकते, दूसरों की कृति पर हमला करके महालेखक बन जाना चाहते हैं। सुधार और प्रोपागांडा से साहित्य मंज़िलों दूर है। "प्रसाद"जी की जैसी आलोचना निकली है, जैसा दोष भाषा-क्लिष्टता का बनारसीदासजी ने उन पर लगाया है, वह यदि वास्तव में मनुष्योचित शौर्य तथा पर्यवेक्षण के साथ आलोचनाएँ करते हैं, तो मैं उनसे कहूँगा, आप डी० एल० राय के ऐतिहासिक नाटकों को पढ़िए, फिर देखिए नव साल की बच्ची और दो रुपिट्टी का नौकर गज़-गज़ भर के समस्त पद बोलते हैं या नहीं, और यह देखकर, यदि अभी तक आप आँख मूँदकर ही राय महोदय के पीछे-पीछे चलते आए हों, एक वैसा ही नोट जैसा 'प्रसाद'जी की भाषा के संबंध में लिखा है, उसी लहजे में लिखकर "मार्डन रिव्यू" में छपवा दीजिए, मैं तभी आपकी इस आलोचना को आपकी मर्यादा के योग्य समझूँगा। अवश्य यहाँ प्रत्यालोचना की जगह नहीं। समय मिला तो अन्यत्र लिखूँगा। पर यह ज़रूर है कि आलोचकों ने वरदान से "प्रसाद"जी को शाप ही अधिक दिया है, जो एक बहुत बड़के साहित्यिक अन्याय में दाख़िल है। आलोचकों ने अपने को जितना बड़ा समझदार समझ लिया है, यदि कुछ हद तक "प्रसाद"जी को भी उसी कोटि में रखते, तो इतनी बड़ी त्रुटि न होती।

साहित्य में अनेक दृष्टियों का एक साथ रहना आवश्यक है, नहीं तो दिग्भ्रम होने का डर है। इसीलिये मैंने तमाम भावों की एक साथ पूजा करने का समर्थन किया। हिंदी के साहित्यिकों का अन्याय सीमा को पार कर जाता है। उन्हें अपनी सूझ के सामने दूसरे सूझते ही नहीं। हमें उनकी आँख में उँगली कर-करके समझाना है, और बहुत शीघ्र वैसे संकीर्ण विचारवालों को साहित्य के उत्तरदायी पद से हटाकर अलग कर देना है। तभी साहित्य का नवीन पौधा प्रकाश की ओर बढ़ सकेगा। हमें अपने साहित्य का उद्देश्य सार्वभौमिक करना है, संकीर्ण एकदेशीय नहीं। राष्ट्रभाषा को राष्ट्र-भाषा के रूप से सजाना और अलंकृत करना है।

सूर्यकांतत्रिपाठी "निराला"

फूल-पत्ते

चौपदे

है जिन्हें तोड़ना भले ही वे,
तोड़ लें आसमान के तारे।
ए फबीले इधर-उधर फैले,
फूल ही हैं हमें बहुत प्यारे।
जो हमें भेज दे रसातल को,
यों हवा में कभी नहीं मुड़ते।
चींटियों का लगा-लगाके पर,
हम नहीं आसमान पर उड़ते।
सूझकर सूझता नहीं जिनको,
सूझवाले कहीं न हों ऐसे।
कब कहाँ कौन पा सका पारस,
देस के काम दास के पैसे।
क्यों टटोला करें अँधेरे में,
सींक-सा क्यों हवा लगे डोलें।
क्यों बुनें जाल उलझनें डालें,
आँख अपनी न किस लिये खोलें।
सूझता है नहीं अँधेरे में,
जोत में ही सदा रहेंगे हम।

क्यों किसी आँख में करें उँगली,
बात देखी-सुनी कहेंगे हम।
दिन अँधेरा भरा नहीं होता,
जगमगाती नहीं सभी रातें।
है खुला दिल खुली हुई आँखें,
फिर कहें क्यों न हम खुली बातें।
बाल की खाल काढ़ते रहता,
है करामात बात की खोता।
जो उसे गढ़ न दे बना कोई,
बात गढ़ना बुरा नहीं होता।
बाँधने से हवा नहीं बँधती,
हो सकेंगे कभी न सच सपने।
दूसरे रंग लें जमा, हम तो,
मस्त रहते हैं रंग में अपने।
हों हमारे कलाम क्यों मीठे,
वे शहद से भरे न छत्ते हैं।
किस तरह हम उन्हें अमोल कहें,
पास मेरे तो फूल-पत्ते हैं।

"हरिऔध"

मसूरी

हिमालय की गोद सदियों पहले से दुनिया के सामने आकर्षण की नई चीज़ रही है । कितने गौरव से, कितने उल्लास से हिमालय ने अपनी अनंत रूपराशि को चुन-चुनकर हम भारतीयों के लिये दे रक्खा है, कुछ कहना नहीं । हिमालय का विशाल वक्षस्थल हमारे पूर्वजों की अपनी चीज़ थी । उन्होंने समझा था, हिमालय का हृदय कितना कोमल, कितना रसीला है। हाँ, कोमलता और रसीलापन तो अब भी है, पर उसमें आल्पस् की बीसवीं सदी का वह स्रोत और आवर्तों की वह तरलता आ गई है, जिससे शायद हिमालय का हृदय फटकर बह चला है। आह भारत की कितनी विभूतियाँ, कितना सौंदर्य अनंत में विलीन हो गया होगा, कौन कह सकता है। आज तो यहाँ पाश्चात्य सभ्यता का नग्न चित्र हिमालय की गोद में विहँसता दिखाई देता है । जहाँ कहीं देखिए, हिमालय की तपोभूमि प्रेम के पुजारियों से, सरकारी आफ़िसों-दफ़्तरों से और विलासिता के रंग में रँगे हुए हमारे देशी नरेशों से भरी पड़ी है । सब जगह हमारे गौरांग प्रभुओं और भारत के पूँजीपतियों के अड्डे हैं, हमारे शासकों के विहारस्थल हैं, विलासियों के श्रीनिकेतन हैं। यहाँ न तो मैदानों की लपटती लू चलती है, और न भोग-विलासमय जीवन में कोई बाधा है, बस यहाँ मज़ा-ही-मज़ा है ।

यों तो गर्मी से बचने के लिये, आनंद और मौज का जीवन बिताने के लिये लोग शिमला, नैनीताल, दार्जिलिंग, लैंसडाउन तथा ऐसे ही अन्यान्य हिम-प्रांतों में जाते हैं, किंतु सच पूछिए तो जितनी सुंदरता, जितना आकर्षण और सादगी मनुष्य और प्रकृति, दोनों ने मिलकर मसूरी को दिया है, उतनी और किसी को नहीं। पर्वतमालाओं से घिरी मनोहर छटा, नेत्ररंजक हरियाली, जलप्रपातों की मधुर वीणा और पक्षियों का मधुमय कलरव मसूरी के लिये प्रकृति की अपनी देन है। मसूरी की इसी रूपराशि और अनुपम सौंदर्य में अपना नाम 'पहाड़ी-प्रांतों की रानी (Queen of the Hill Stations) बना रक्खा है । इसमें कोई अतिशयोक्ति, कोई बढ़ावा नहीं । मसूरी में किसी भी जगह रुक जाइए, आप देखेंगे, प्रत्येक व्यक्ति का मुखमंडल चाहे वह अँगरेज़ हो चाहे हिंदुस्थानी, युवक हो चाहे युवती, एक अजीब आभापन से आलोकित रहता है । क्योंकि उसे न तो किसी एम्० एल्० सी० से मिलने जाना है और न किसी और के यहाँ किसी बात की सिफ़ारिश ही लेकर दर-दर की ख़ाक छाननी है, जिसकी चिंता में बेचारा व्याकुल हो । जितने मिलते हैं, सभी अनोखे ढंग के अलहड़ और सैलानी से जान पड़ते हैं । कोई तो झरनों को देखने जा रहा है, हाथ में बजाय टेस्टमोनियल के पुलिंदे या इसी क़िस्म की और चीज़ें लेने के, तसवीर खींचने का केमरा है, खाने-पीने की कुछ चीज़ें हैं या दूरबीन है । किसी को पहाड़ की चोटियों की पड़ी है । पाँव बढ़ाए हुए कितनी द्रुतगति से जा रहा है, न तो शौक़ है ऐसेंबली के मेम्बरों से मिलने का, साहबों को दावत देने का और न इम्तिहान के नतीजे की ही कतर-ब्योंत करने का । कुछ लोग पैसे के धनी हैं । उन्हें नाच-रंग में मज़ा आता है, डांडी-रिक्शे, पैदल, जैसे बन पड़ता है, बेचारे स्टीफल, पिलैडियम, सेवाय और-और जगह पर बड़ी आतुरता से धावा बोलते हैं, मानों चींटियाँ मिश्री की महक पा गई हों या मधुमक्खियाँ फूलों की गंध । मसूरी कोई ऑफ़िशियल जगह तो है ही नहीं जहाँ लोग कलेक्टर, कमिश्नर, गवर्नर, वायसराय से मतलब गाँठने जायँ । जाते वे ही लोग हैं जिन्हें स्वतंत्रता प्रिय है, शुभ्र श्वेतांगियों की कमनीय कलाबाज़ियों और अठखेलियों में जिन्हें मज़ा आता है । यहाँ सभी एक हैं, कोई भेद नहीं । एक दूसरे से बराबर की हैसियत से मिलते हैं । एक दूसरे की प्राइवेट दिनचर्या से बिलकुल संबंध नहीं (Live ond let live, smile and let smile) अपने मौज से रहो और दूसरों को भी मौज से रहने दो । ख़ुद भी हँसो और दूसरों

को भी हँसने दो। यही यहाँ का एक दूसरे का संबंध है। आजकल के अन्य पहाड़ी जगहों की अपेक्षा बहुत कुछ अंशों में यह संबंध, मेरी समझ से, यहाँ व्यवस्थित भी रक्खा गया है।

देहरादून से हमें मसूरी जाना होता है। देहरा-रेलवे स्टेशन से चौदह मील ऊपर, शिवालिक के समानांतर पूर्व से पश्चिम जानेवाली पहाड़ी पर मसूरी बसी हुई है! प्रकृति के आँचल में मसूरी का यह भव्य रूप कितना मोहक, कितना आकर्षक है, देखनेवालों से यह छिपा नहीं है। दूनघाटी का मुकुट मसूरी का दक्षिणी भाग है। सर से नीचे की तरफ़ दूनघाटी कोसों ज़मीन पर हरी साड़ी की अलबेली छटा दिखलाती है। लोगों का कहना है कि दुनिया की ख़ूबसूरत घाटियों में हिमालय और शिवालिक के बीच की यह दूनघाटी भी एक है। हिंदुस्थान की कोई भी पहाड़ी जगह ऐसी नहीं है, जिसके इतने नज़दीक देहरादून ऐसा शहर हो। जिस दिन बादल न हों, उस दिन देखिए, मालरोड से साफ़ दिखलाई देता है। गंगा बाँईं और यमुना दाहिनी ओर शिवालिक से गलबहियाँ करती हुई दूर मैदान में चली जा रही हैं। कितना सुंदर दृश्य है। और जगहों में भी सुंदर दृश्य देखने को हमें ज़रूर मिलते हैं, पर इसी तरह चलते-फिरते सड़कों से नहीं। उनको देखने के लिये ऊँची चोटियों से देखना होता है। फिर चढ़ाई में सारा मज़ा किरकिरा पड़ जाता है। दिन में ही नहीं रात में इसी सड़क से देहरादून की रोशनी देखने में आती है। सच, आप ही बताइए, मसूरी की ओढ़ी हुई साड़ी (दून-घाटी) पर ये अमूल्य जवाहरात कैसे जड़े गए हैं? यही तो मनुष्य ने प्रकृति को दिया है। यों भी सरकुलर-रोड से मसूरी ही को देखिए, गले में मनोहर चमकती हुई मोतियों की माला शोभायमान् है। कितना उल्लास, कितनी मस्ती छा जाती है। दिन में देखिए, यहाँ से उत्तर-हिमालय का हिम-मंडित श्वेत शिखर देख पड़ता है। बरसात के बाद उजेली रात में इस सुंदरता की झाँकी देखने को ख़ूब मिलती है। कितना रमणीक दृश्य आँखों के सामने नाचने लगता है। मनुष्य प्रकृति की इस मनोहर छटा के सामने अपने को नन्हा सा बच्चा समझने लगता है। उसके अंदर श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का उदय होने लगता है।

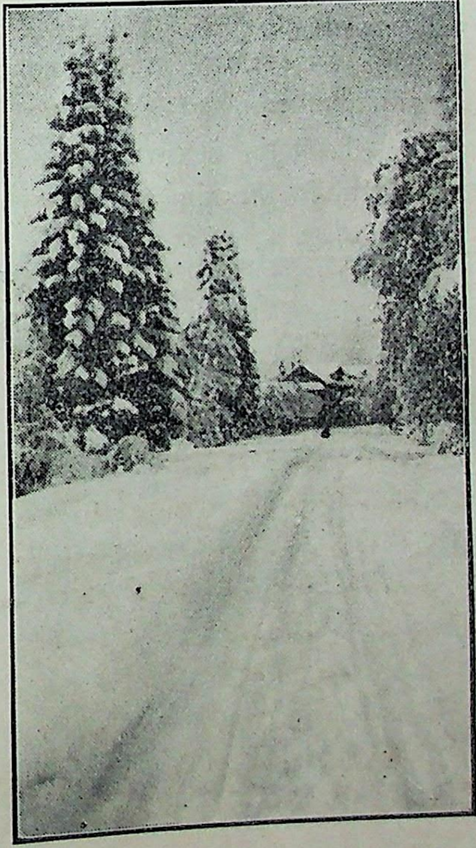
अभी कल ही से मसूरी ने अपने कलेवर को आज का यह रूप-रंग दिया है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक मसूरी में न तो आज की तरह चहल-पहल थी, और न खेल-तमाशे ही थे। उजाड़ और वीरान जगह थी। लोगों ने १८१४ से समझना शुरू किया कि यह जगह इतनी आरोग्यवर्द्धक और स्वास्थ्यप्रद है। सबसे पहले मि० शोर और कैपटेन यंग ने केमल्सबैक पर एक छोटा-सा झोंपड़ा डाल रक्खा था। आज भी मुलींगर (Mullinger) और ह्वाइट पार्क फ़ारेस्ट (White Park Forest—Amefield) कैप्टेन यंग के बनाए मसूरी में शायद पहले घर हैं। मि० शोर ने बड़ी दौड़-धूप के बाद टेहरी राज्य से मसूरी की हद में आनेवाली ज़मीन कई शर्तों पर ली थी, जिसके लिये अब भी शायद कुछ देना पड़ता है। १८३२ में करनल एवरेस्ट ने पार्क में अपना आफ़िस बनाया, और फिर १८४२ में म्युनिसिपैलिटी क़ायम की गई। स्टेशन-लाइब्रेरी सन् १८४३ में खोली गई। तब से मसूरी दिन दूनी रात चौगुनी तरक़्क़ी पर है।

मसूरी (Mussoorie) नाम क्यों पड़ा, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। यहाँ आसपास की पहाड़ियों पर मसूरी नाम का जंगली बेर बहुतायत से पैदा होता है। बहुतों का कहना है कि इसी से इस स्थान-विशेष को भी 'मसूरी' नाम मिला है। कुछ लोग मंसूरी भी इसे कहते हैं। इस नामकरण के लिये एक ऐतिहासिक प्रमाण भी मिलता है। मंसूर नाम का कोई प्रधान हो गया है, जिसका इन पहाड़ियों पर कुछ दिनों आधिपत्य रहा है। मंसूर से होते-होते मसूरी हो गया होगा। जो कुछ हो, इसके नाम से कोई बहस नहीं। तो भी इतना तो मानना ही होगा कि यह जगह पौराणिक काल से लेकर अब तक ऐतिहासिक युगों से घनिष्ट संबंध रखती रही है। इसमें संदेह नहीं कि यह स्थान हिमालय की उस तपोभूमि में से रहा होगा, जिसे हम आज केदारखंड से परिचित पाते हैं। लोगों का कहना है कि यहाँ निकट के पहाड़ों पर श्रीराम और लक्ष्मण को रावण के मारने के लिये वर्षों तपस्या करनी पड़ी थी। महाभारत-काल में जब पांडव हिमालय गलने चले, तो उस समय उन लोगों को यहाँ कुछ काल के लिये रुकना पड़ा था, आज भी चकरौता में, जो यहाँ से कुछ ही मील दूर है,

एक विजय-सूचक पत्थर, अशोक द्वारा खुदाया हुआ, देखने को मिलता है।

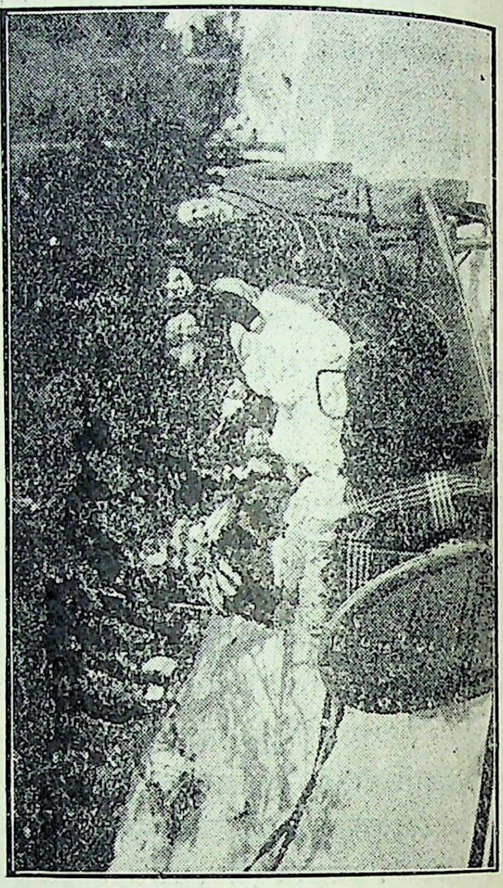
और बातें तो मसूरी की सुंदरता, उम्दगी और अलौकिकता दिखाने को हैं ही, पर साथ ही एक और बड़ी बात है, और वह है यहाँ का जलवायु। यहाँ के जलवायु के विषय में दुनिया की बड़ी लंबी-चौड़ी बातें कही गई हैं, पर किसके लिये? मेरी समझ में यहाँ के जलवायु का असर केवल महलों की प्राणप्रतिष्ठित प्रतिमाओं पर ही पड़ता होगा, जिन्हें मैदानों की लू-झक्कड़ हवा-पानी तथा आज की ग़रीब भारत की दुनिया नापसंद है, अहितकर है और बेचारी तंदुरुस्ती पर छापा मारनेवाली है; नहीं तो वहाँ के निवासियों को, जिनके मुँह पर मनों गट्ठर ढोते-ढोते बीस-बाईस वर्ष से ही झुर्रियाँ पड़ने लगती हैं, आँखे खोहों में जा बैठती हैं, गाल पिचक जाते हैं और होठ सिकुड़ने लगते हैं, वहाँ की स्वर्गीय जलवायु अपने छू-मंतर का प्रभाव बेचारों को किस अपराध से न दिखाती। मर-मरकर दिन-रात काम करते हैं, तब भी बुरी हालत है। जहाँ कहीं पहाड़ी नर-नारी मिलते, लल्ला साहब और हममें घंटों बेचारों की बेकसी और ग़रीबी की चर्चा चलती। हाँ, उधर तिब्बतवाले तो ज़रूर तंदुरुस्त, मेहनती और मज़बूत होते हैं। हमलोग देखते, मसूरी में बहुत कुछ शारीरिक श्रम से संबंध रखनेवाले रोज़मर्रा के काम इन्हीं के ज़िम्मे रहते थे। मकानों को बनाने, सड़कों को ठीक करने और पहाड़ों को तोड़ने में तिब्बत की तरफ़ के ही कुली थे।

तो भी यहाँ की आबहवा की बुनियाद को, जिसकी प्रशंसा के पुल बँधे है, इस बेरहमी से मिटा देना मेरे लिये कोरा अन्याय होगा। शायद इस अपराध से मैं बचने भी न पाऊँ। इसलिये यहाँ की आबहवा की कुछ विशेषताएँ मैं अपने प्रेमी पाठकों को बताता जाऊँ, तभी अच्छा है। यहाँ की आबहवा की तारीफ़ में शायद सबसे बड़ी एक बात यह भी कही जा सकती है कि इधर डेढ़ सौ वर्षों से भारत को मिले तोहफ़ों में से पहाड़ों पर से एक भी नहीं आने पाया है। न तो कहीं यहाँ सड़कों पर कालरे के रोगी चिथड़े लपेटे मिलते हैं, और न प्लेग-मलेरिया के प्रकोप से कराहते दुधमुहे बच्चे। किस बेदर्दी, किस बेरहमी से इन सहस्रों संक्रामक रोगों से आज हमारी मुक्ति हुआ करती है, भला कौन कहेगा! सुनते हैं, यहाँ इसका नाम ही नहीं। यहाँ न मैदानों की ग़रीबी है और न इससे उपजनेवाली दुनिया-भर की तमाम आफ़तें। अँगरेजों ने मसूरी को वह चमन बना रक्खा है, जहाँ मौसमबहार मैदानों की हू-हू करती लू से सहमकर इन पहाड़ियों की शरण ले लेता है। इधर वसंत जाता है—तमाम मुसीबतों का सताया हुआ, उधर इसका स्वागत होने लगता है। लोग झुंड-के-झुंड पहुँचना शुरू करते हैं। कितना नशा, कितनी उत्सुकता उनके चेहरों पर रहती है, यह देखते ही बनता है। जनवरी से मार्च तक का मौसम बहुत ठंढा होता है। बर्फ़ गिरती है, सूरज नहीं निकलता और दिन बहुत बुरे होते हैं। हवा बहुत तेज़ चलती है। कभी कभी तो ऐसा होता है कि ऊपर टीन की छतें भी उड़ जाया करती हैं। आधे मार्च तक मसूरी बिलकुल सुनसान जान पड़ती है। स्कूल-कालेज और लोगों के बहलाव



जाड़े में

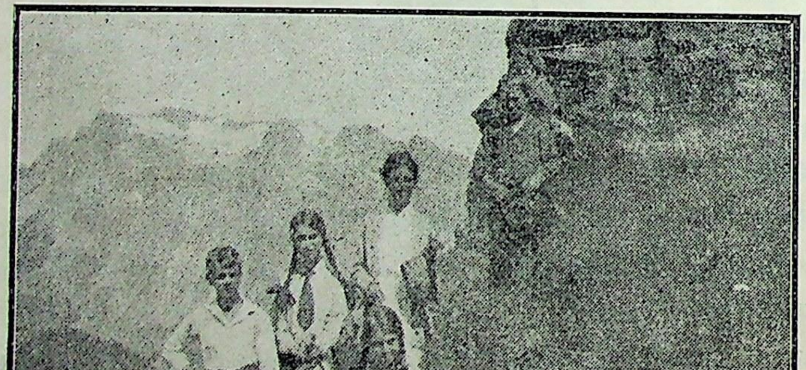
की सारी संस्थाएँ बंद रहती हैं। एप्रिल से लोग आने लगते हैं। मसूरी की मायाविनी मूर्ति फिर धीरे-धीरे दूज के चाँद की भाँति छविमयी होने लगती है। यौवन की एक नई रेखा, जीवन के प्रभात की पहली किरण मसूरी के मोहक मुखड़े पर खेलने लगती है। नई मस्ती, नया अनुराग और अलौकिक सुंदरता की नशीली आभा मसूरी के अंग-अंग से चंद्रज्योत्स्ना की भाँति बरसने लगती है। आक्टोबर तक मसूरी अपनी रूपराशि को नाना प्रकार से सजती रहती है; कभी खिले पुष्पों के संग हँसती और कभी लता-द्रुमादिकों से अठखेलियाँ करती है। सारा अंचल हँसते हुए फूलों से लद जाता है। इन दिनों मसूरी की शोभा बहुत बढ़ जाती है। जाड़ा आता है—आह! मसूरी का सारा आकर्षण, सारा वैभव, सारी सम्पत्ति कितनी निर्ममता से, कितनी बेरहमी से बर्फ़ के नीचे दबनी शुरू होती है। थोड़े दिनों के लिये मसूरी भूल जाती है—अपनी सारी ममता, सारा सौंदर्य और सारी विलास-प्रियता—शांत और स्थिर, चिरवियोगिनी की नाईं इसका एक-एक क्षण सिसकियाँ भरते बर्फ़ में जमता जाता है। इठलाता शरद-समीर पैंतरे बदलता आता, और चला जाता है। बर्फ़िस्तान का दृश्य देखनेवाले सैलानी युवक और युवतियों की मगन टोली आँख उठाकर मसूरी को एक बार देखती और खिलखिला उठती है। बच्चे-बच्चियों से भरे स्लेजेज़ (बर्फ़ पर चलनेवाले बे-



पहिए की गाड़ी) और स्केटस पहने कुमार और कुमारियाँ मनचाहा आनंद लिया करती हैं। पर क्या कभी मसूरी ने किसी से अपने दुःख-दर्द की कहानी कही है—किसी से याचना, किसी से प्रार्थना की है? यही तो यहाँ की आब-हवा का रूप है, जो पाठकों के सामने रक्खा गया है।

× × ×

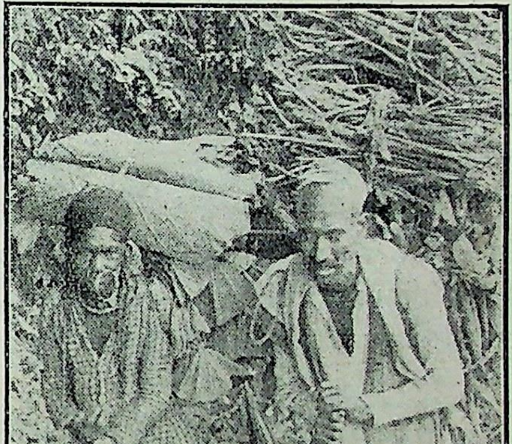
रोज़ की-सी संध्या थी। महाराज के पत्र की प्रतीक्षा में हम लोग बैठे थे। थे तो हम रुद्रपुर में, पर तबियत मसूरी के लिये चटपटा रही थी। संयोग से रात को पत्र मिला। लल्ला साहब ने कहा—बस, कल ही यहाँ से राम-दो-तीन, नहीं तो उधर कालेज



लड़के तथा लड़कियों का आनंद

…जायगा । फिर सारा मज़ा जाता रहेगा । मैंने कहा—बहुत ठीक, मसूरी पहुँचने में ही अब कल्याण है । उस… देरी कर दी थी, पूरा मज़ा भी नहीं मिल पाया । …सुबह हुई । हम लोग चलने को तैयार हुए । जाड़े के कपड़े सुखाए गए । सारा सामान ठीक किया गया । यही …थी कि कब मसूरी पहुँचें । रात की ट्रेन से हम लोग मसूरी के लिये चल पड़े । फिर न पूछिए, कितनी परेशानी, कितने तरद्दुद से चार-पाँच दिन ट्रेन के काटने पड़े । …की दुपहरी । धधकती लू चलती थी । आँख, कान, …धूल से भरती जाती थी । तबियत घबड़ाती थी । सारा दिन और सारी रात सोते-बैठते और रह-रहकर करवटें बदलते बीतती थीं । सब मंज़ूर था, सामने एक मनोहर प्रतिमा थी, जिसकी दुनिया-भर की हमारी परेशानी, आफ़तें और मुसीबतें बलैयाँ लेती थीं । हम कुर्बान थे और हमारी सारी शक्तियाँ मोहित थीं । हमारी गाड़ी भी तो सारी आफ़तों को चीरती हुई बड़े वेग से …ती आगे बढ़ती जा रही थी । इसे भी तो कोई ऐसी …आतुरता रही होगी ।

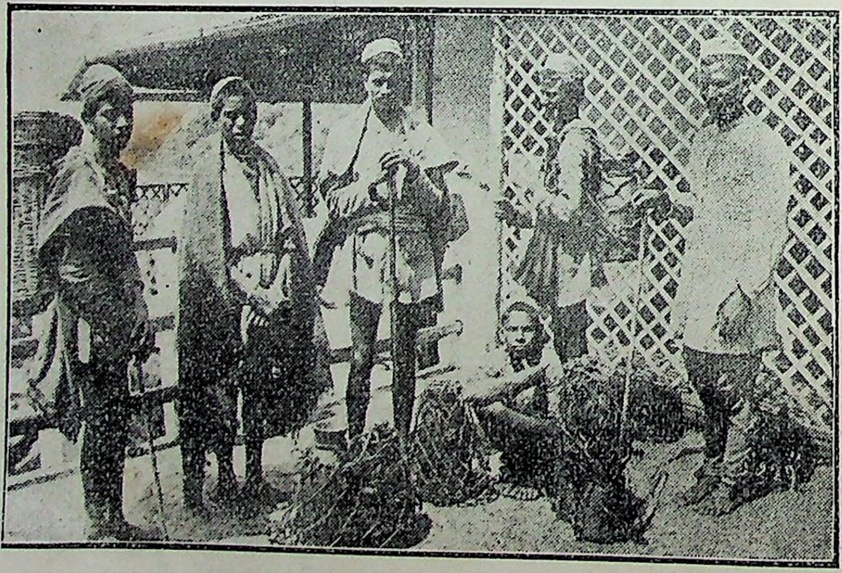
प्रातःकाल देहरादून पहुँचे । यहाँ हमें शांति मिली । …परेशानी और ट्रेन की थकावट का मलाल जाता रहा । पर्वतमालाओं को चूम-चूमकर हवा की सरस …रें मन्थर गति से आने लगीं । उनके अंदर गज़ब …उन्माद था, जो हमें मसूरी के लिये व्याकुल बना …था । मसूरी के लिये हम लोग चल पड़े । देहरादून …राजपुर तक तो पहले ही से बराबर मोटरें आती-…ती हैं । किंतु अब की साल से मसूरी के एक मील …चे सनी व्यू (Sunny View) तक पहाड़ …टकर मोटर का रास्ता बना लिया गया है, और मोटरें आने-जाने लगी हैं । राजपुर तक तो हम लोग मोटर में …। मज़े-मज़े चले आए । मोटरवाले को पैसा दिया और …से आ बैठे ; पर इधर राजपुर से मसूरी तक पैदल …ने की ठनी । मैदान का चलना तो था नहीं । चले …रहे हैं झूमते हुए, यहाँ ता मानो फूँक-फूँककर …सीढ़ियों पर पैर रखना था । होश ठिकाने आ गए । …आँखों के सामने तितिलियाँ उड़ने लगीं । एक लाज …थी । वह यह कि महाराज यों भी मसूरी से राजपुर तक कभी-कभी आते-जाते रहते हैं । फिर हम लोगों के लिये …एक झेंप की बात होती कि हम मोटर से आते और पहाड़ की चढ़ाई से डर जाते । दूसरी बात यह कि हमें पूरा मज़ा भी न मिल पाता । बस, हम लोगों ने चढ़ना शुरू किया । रास्ते में एक डाक्टर साहब और एक अन्य सज्जन, दो महाशय और मिले । मज़ा दोबाला हो गया । रास्ते में दुनिया-भर की बातें होती जातीं । मोटर चलने से लोग इस रास्ते से बहुत कम आने-जाने लगे हैं । साँप की तरह लोटती मोटर की सड़क को हम लोग बख़ूबी चलते हुए देख रहे थे । रह-रहकर मोटरें, बच्चों की मोटरों की तरह इधर-उधर भागती नज़र आती थीं । अब इस रास्ते कुली भी कम आने लगे हैं । अपना सामान अब अपने पास कार ही में लोग रखते हैं । तब भी आप लकड़ी, पटरे तथा और भी तरह-तरह के सामान पीठ पर लादे हुए कुलियों से बच नहीं सकते । ये आपस में 'फालतू' (Faltoo) नाम से प्रसिद्ध हैं । मनों बोझ



लकड़ी बेचनेवाले पुरुष और स्त्री

इनकी पीठ पर होता है । इनको देखकर आप कह उठेंगे—अरे ! यह कैसा अन्याय ! जिस मसूरी में स्वर्गीय सुख है, बहिश्त के मज़े हैं, विलास का राज है और जहाँ

ऐश्वर्य की सामग्री है, वहाँ यह नारकीय जीवन कैसा ! पेट की जलन कैसी ! क्यों, क्या स्वर्ग में भी नरक की यातना भुगतनी होती है ? वह पहाड़ी मार्ग जिसे देखने से भय होता—नीचे गहरे खड्ड, सामने आकाश को छूती हुई भयावह ऊँची पहाड़ की दीवाल ! कुली बेचारे मसूरी की सारी ऐश्वर्य-सामग्री अपने सिर-माथे ढो-ढोकर पहुँचाते रहते हैं । कैसा भयंकर पहाड़ी मार्ग है और कैसे साहसी ये कुली हैं ! राजपुर से मसूरी को सामान ढोते रहते हैं, और मसूरी में, जहाँ कोई भी गाड़ियाँ नहीं हैं, ये कुली डांडी और रिक्शा (Ricksha) चलाते हैं—वह भी दिन-रात । नींद आई, पहाड़ों की टेक दे सो लिया । मानो इन्हें न तो ठंढ लगती है और न थकान । बेचारों के जीवन में न हर्ष मालूम पड़ता है और न विषाद । रात-दिन नधे-से रहते हैं । इनमें न चोरी है न दग़ाबाज़ी—बड़े विश्वसनीय, ईमानदार, शुद्ध तथा थोड़े में संतुष्ट होनेवाले । इनकी क़तार-की-क़तार आपके असबाब को ढोती हुई राह में नज़र आती है । देखिए, पसीने से भीगे जा रहे हैं, बोझ के मारे झुके हुए हैं, किंतु आगे चलते ही जाते हैं । जब ज़्यादा थक जाते हैं, तो थोड़ी देर के लिये किसी पहाड़ में टिककर दम ले लेते हैं । इन बेचारों के चेहरे से कितनी ग़रीबी, कितनी बेकसी टपकती है । इनकी बदौलत देश का गया पैसा कुछ भी तो लौट आता है, यही बड़े भाग्य की बात है ।

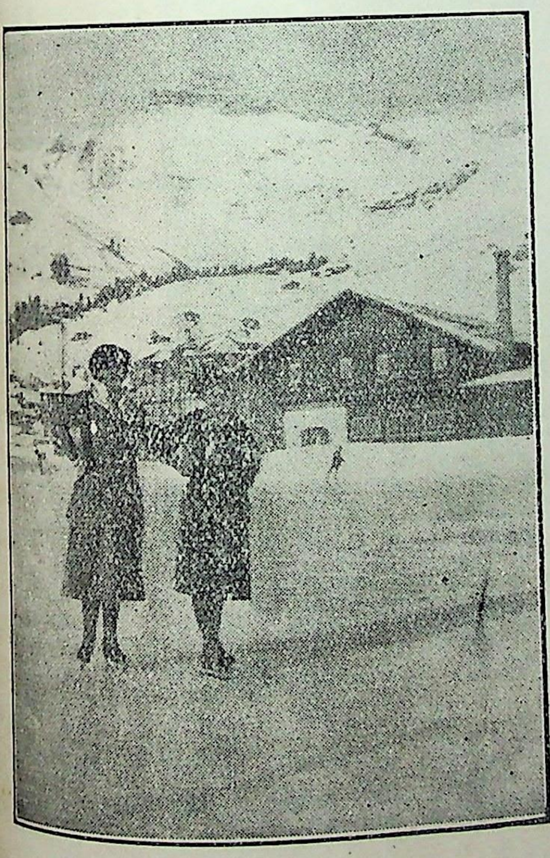


दूध-बेचनेवालों का एक गिरोह

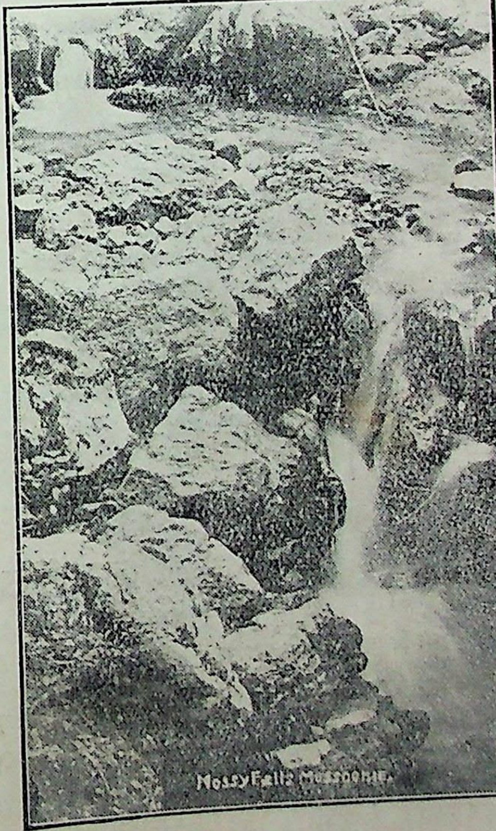
सबसे मज़े की बात है आँखों के सामने मसूरी का दिखाई देना और रह-रहकर छिप जाना । इसमें कुछ अजीब कौतुक-सा जान पड़ता है । हाफ़ वे हाउस (Half Way House) के आगे चलने पर यों ही मसूरी आँखों के सामने आती और चली जाती है । लोग समझते हैं अब तो हम पहुँच गए । पर सच कहिए, तो चलना अभी घंटों है । हम लोग पूरे चार घंटों में मसूरी पहुँचे । रास्ते में पानी ख़ूब बरस रहा था । ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ते, ठंड और पानी से तंग होते जाते थे । एक बात हम लोगों ने बड़ी अच्छी की थी । बारलोगंज (Barlowganj) से चलते समय ग्रैंड इंडियन होटल में महराज को फ़ोन कर दिया था । इसलिये वहाँ पहुँचने से पहले सबके लिये भोजन तैयार था । महाराज, लल्ला साहब और मैं सब लोग खाने बैठे । दिन के दो-सवा दो थे, जब हम लोग दोपहर का भोजन कर रहे थे । तब से शायद ही कभी भोजन में जल्दी की गई होगी । सुबह होती, नव-साढ़े नव से हम लोग स्केटिंग (Skating) करने रिंक (Rink) चलते । महाराज को फ़्रेंच पढ़ना रहता था, इसलिये वह हम लोगों की अपेक्षा बहुत 'पंक्चुअल' थे । ठीक सात बजे अपने फ़्रेंच-टीचर के पास पहुँच जाना महाराज के लिये बहुत ज़रूरी था । विद्यार्थी तो हम लोग भी थे, किंतु उस समय पढ़ने की लगन उतनी थी । रिंक में पहुँचने पर कभी-कभी स्केटिंग करते हुए हमें महाराज मिलते थे । फ़्रेंच पढ़ने के बाद वहीं चले आते । जाने के दूसरे ही दिन हम लोग रिंक में लोगों को स्केट करते देखने गए थे । महाराज ने कहा—तुम लोग भी सीख लो, कोई मुश्किल नहीं । कुछ ही दिन में ऐसे ही स्केट करने लगोगे । इधर प्राण संकट में पड़े । कहाँ मसूरी आए थे सैर-सपाटा करने और कहाँ स्केटिंग में दम-दम दम पटकनियाँ खाना पड़ेंगी । देखते थे, लोग यों ही पटाखे की तरह चारों खाने चित्त गिरते थे । नवसिखियों की तो और बुरी हालत थी । बेचारे न स्केट पहने खड़े रह सकते

…े और न आगे चल ही सकते थे । आफ़त थी । …से बड़ी झेंप तो तब मालूम देती थी कि …धर चोट आई और उधर गैलरी से लड़के-लड़कियों की हँसी आने लगी । ख़ैर सीखनेवाले सीखते थे और स्केट करनेवाले तीर को तरह सारे हाल का बड़ी …ूबी से चक्कर भी दे डालते थे । उनमें ग़ज़ब की लचक और कमाल रहता था । देखकर तबियत सचमुच रीझ जाती थी । उनका पैर अनोखे ढंग से सधा रहता था । न तो उनको झिझक मालूम देती और न गिरने की ही कोई शंका रहती । उनकी चाल क्या ख़ूब थी । मालूम …ेता, फ़रिश्ते के पर लगे हों । हाँ, तो हम लोगों का भी गला न छूटा । राम-राम कहकर दूसरा दिन बीता; पर तीसरे ही दिन से हमलोग बराबर स्केटिंग करने जाने लगे । इससे एक प्रकार को कसरत भी हो जाती और एक इल्म से जानकारी भो होती थी । जो कुछ भय था, वह बस पहले ही दिन था । फिर न तो किसी प्रकार की झिझक मालूम देती और न किसी प्रकार का भय । अच्छे खेलाड़ियों के लिये तो स्केटिंग बड़े कौतुक की चीज़ थो । वे स्केटिंग के साथ-साथ डांस भो करते जाते थे । उनके पैर बहुत सधे रहते थे । पर हम लोगों ने तो चक्कर दे लेना तक ही अच्छी तरह सीख लिया । महाराज को अभ्यास था, वह स्केट बख़ूबी कर लेते ।

यों भी अनेकों मनबहलाव की चीज़ें आजकल मसूरी में जहाँ-तहाँ हैं । कुछ तो मनोविनोद के लिये हैं, और कुछ का स्वास्थ से भी घनिष्ट सम्बन्ध है । सबसे बढ़कर स्वास्थ्यकर और विनोद को चीज़ मसूरी के झरने हैं । वहाँ आप चलिए, आपको बड़ा ही मानसिक आनंद और शांति मिलेगी । केम्टी (Kempty falls), मोसी (Mossy falls), भट्टा (Bhatta falls), हार्डी (Hardy falls) और सहस्रधारा विशेष दर्शनीय हैं । झरनों के विषय में तो कहना ही क्या है, उन पर कुछ-न-कुछ हमारे सभी कवियों ने लिखा है । साधारण बुद्धि भो इस प्रकार इनके अनंत काल के सतत प्रवाह को सोचते ही सिहर उठती है । वे गाते



जाड़े में बर्फ पर स्केट करते हुए

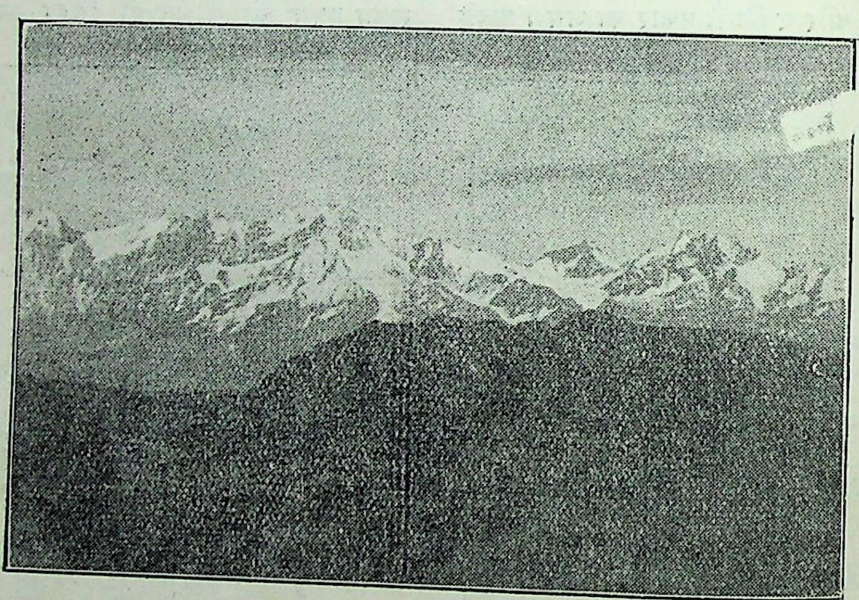


मासी-झरना

हैं कोई ऐसा गीत, जिसमें वेदना भरी है, आह छिपी है। उनके राग में कितनी कसक, कितना अंतर्दाह ओतप्रोत है, कौन कह सकता है। गिरते हैं, प्रेमी के पथ पर पानी बनकर। सरिताएँ समुद्र के संग मिलने जाती हैं, और बेचारे ये निर्झर उनका आँचल पकड़े देखते हैं—पीछा छुड़ाए नदियाँ कितनी मस्ती से बलखाती नीचे चली जा रही हैं। इनका झर-झर रोना, मानो कहता है, यही तो दुनिया है।

झरनों के अलावा पहाड़ की चोटियाँ भी ऐसी हैं, जहाँ से हमें प्रकृति की सुंदरता का नमूना देखने को मिलता है। एक लाल टिब्बा (Lall Tibba) है। इसकी ऊँचाई समुद्र-सतह से हज़ार फ़ीट है, शायद मसूरी में यही सबसे ऊँची जगह है। यहाँ से हिमालय का हिममंडित श्वेत शिखर साफ़-साफ़ देख पड़ता है। बदरीनाथ, केदारनाथ, नंदादेवी, श्रीकांत आदि अनेक स्थानों की रमणीक झाँकी यहाँ से देखने को मिलती है। कुहरा पड़ती है। अच्छा हुआ मसूरी में बिजलियों-सी तड़पती मोटरें अपनी दानवी दौड़ नहीं लगातीं ; नहीं तो सारा लुत्फ़ जाता रहता। न वहाँ वह शांति रह पाती और न मसूरी की वह गंभीरता और कमनीयता। हमारे यहाँ शहरों में देखिए, पता नहीं कब किधर से मोटर की बला डकारती चली आए, जी चाहे जिसको दबा दे, कुचल दे। मसूरी में अभी तक तो इसका डर नहीं है।

मसूरी में रहने के लिये सबसे सुंदर प्रबंध होटलों का है। बहुत साफ़, बड़े रम्य और लुभानेवाले यहाँ के होटल हैं। इनका प्रबंध, इनकी सफ़ाई और सज-धज सारे हिंदुस्थान के होटलों को मात करनेवाली कही जाती है। दो सौ से लेकर हज़ारों तक के महीने के होटल हैं। सेवाय (Savoy), शार्लिविल (Charlevile) और हैकमैंस ग्रैंड होटल (Hakmans Grand Hotel)—ये तीन बड़े अच्छे होटल योरपियनों के हैं। इनका सारा प्रबंध उन्हीं के हाथ है। अँगरेज़ लोग तो अपनी चीज़

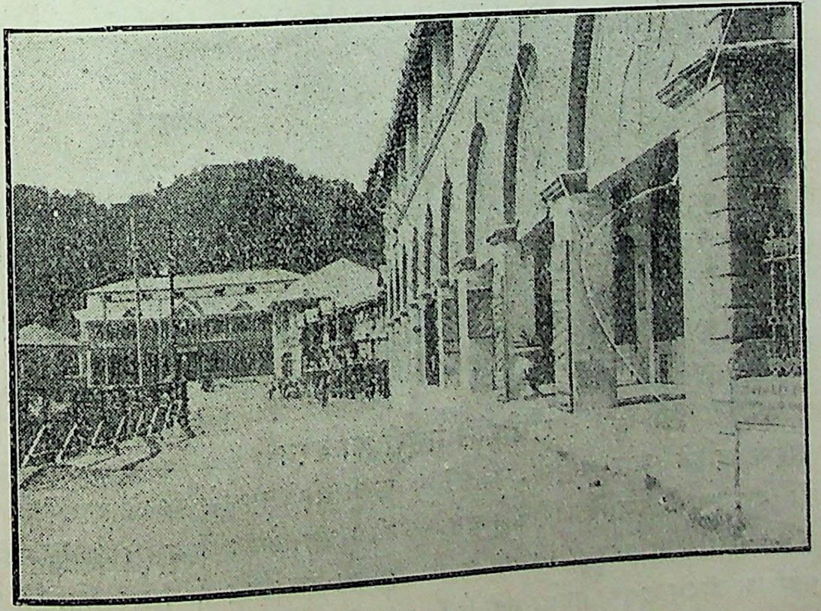


बदरीनाथ की बरफ़ से ढकी हुई पहाड़ियाँ

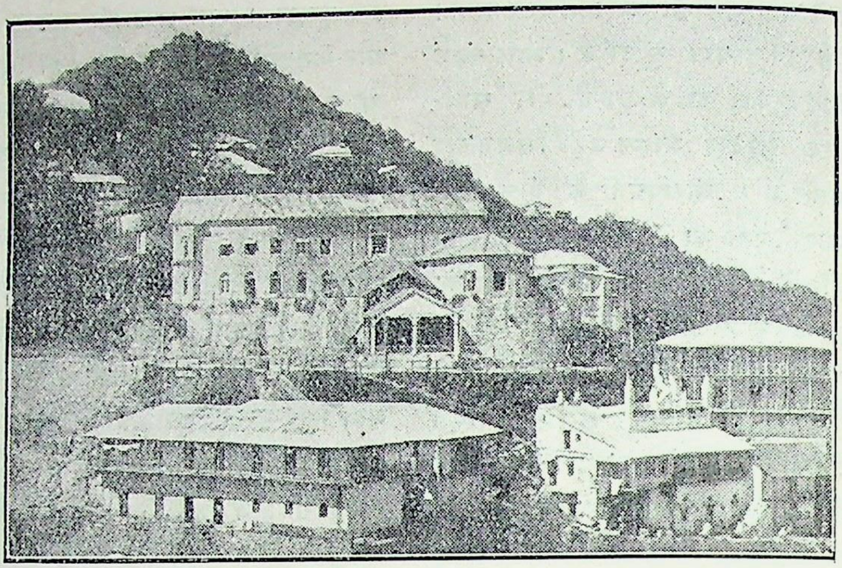
जब न रहे, तभी इधर के मैदान और उधर के उपर्युक्त स्थानों के पहाड़ी दृश्य देखे जा सकते हैं। नहीं तो मुफ़्त की पहाड़ की चढ़ाई सर उठानी पड़ती है, क़ाफ़िया तंग हो जाता है। पछताना पड़ता है, सो अलग। मसूरी की सारी जगहें पैदल या डांडी-रिक्शे से ही पहुँचनी होती हैं। बहुत जगहें तो ऐसी हैं, जहाँ डांडी और रिक्शे का कोई बस नहीं चलता। अपने पाँवों की ही ख़ैरियत मनानी समझकर इनमें रहते ही हैं और इनके लिये सुबीता भी है ; किंतु हमारे मनचले हिंदुस्थानी भाई भी ग़ज़ब के शौक़ीन होते हैं। तबियत नहीं मानती, और सुनते हैं हज़ार फेर खाते हुए भी इन्हीं होटलों में अपना पैर अड़ाए रहते हैं। यहाँ कई हिंदुस्थानी होटल भी काफ़ी अच्छे हैं। इनके मालिकों का प्रबंध, रोज़-रोज़ का आपस का व्यवहार बहुत बढ़िया और सभ्य रहता है। हमलोग

ग्रांड इंडियन होटल में थे। यह लाइब्रेरी के पास ही है। होटल तो छोटा-सा है, किंतु बड़ा सुंदर है। रहन-सहन तथा खाने-पीने का प्रबंध यहाँ का अच्छा है ही, साथ-ही-साथ इसके मालिक सरदार साहब बड़े मिलनसार और हँसमुख जान पड़ते थे। योरपियनों के बीच रहते हुए उन्हें अपनी भारतीयता का काफ़ी ख़याल था। ऐसी जगह इन होटलों को खोलकर हमारे देश का लाखों रुपया अँगरेज़ बाहर ले जाते हैं और तुर्रा यह कि रहनेवालों पर शान भी गाँठते रहते हैं। सुना, कोई साहब ऐसे ही किसी होटल के प्रोप्राइटर से मिलने गए। उनको खद्दर पहने देख प्रोप्राइटर बेचारा बुरी तरह चौंक पड़ा और कहने लगा—आप तो साहब, ऐंटी-ब्रिटिश हैं, यह ठीक नहीं। होटल में ऐंटी-ब्रिटिशों के लिये जगह नहीं। क्या हुआ, ठीक पता नहीं। शायद अपना-सा मुँह लिए उन्हें लौट आना पड़ा। नमक-मसाले के व्यापार के लिये जब मुग़ल-सम्राटों के सामने नाक रगड़नी थी, उस समय ऐंटी-ब्रिटिश होने का ख़याल इन्हें था कि नहीं, यह हम नहीं जानते। आज हमारे ऐंटी-ब्रिटिश होने की इन्हें पड़ी है।

थोड़े में मसूरी को देखने के लिये इसके पाँच टुकड़े किए जा सकते हैं। देखिए—बारलोगंज से स्कूल-कालेज और इनसे संबंध रखनेवालों के निवासस्थान का भू-भाग है। दूसरा हिस्सा लाइब्रेरी-बाज़ार से लेकर मालरोड और केमलसबैक रोड का है। यही हिस्सा मसूरी की सभी जगहों से अधिक रम्य, आकर्षक और सुहावना है। यहाँ स्टेशन-लाइब्रेरी है ही, सामने बैंड स्टैंड है। यहाँ बैंड बजता है, और नीचे मैदान का सुंदर दृश्य दिखाई देता है। सारी सड़क सिनेमा-घरों तथा अनेक मन-बहलाव की चीज़ों से सजी है। मैजेस्टिक सिनेमा, स्टीफल, पिलेडियम, आक्शन् घरों तथा रिंक और पिक्चर-पैलेस मसूरी की ख़ास-ख़ास आनंद मनाने की जगहें हैं, जहाँ नाच-तमाशे हुआ करते हैं। रिंक में स्केटिंग तो होती ही है, साथ-ही-साथ कभी-कभी सिनेमा और नाटक भी होते रहते हैं। यहाँ हर साल अखिल भारत-वर्षीय वाक्सिंग टूर्नामेंट होता है। उस दिन बड़ा जलसा मनाया जाता है। रिंक के सामने ही तिलक-मेमोरियल-लाइब्रेरी है। यहीं हमें पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएँ देखने को मिल सकती हैं। स्टेशन की लाइब्रेरी तो केवल योरपियन और ऐंग्लो-इंडियन लोगों के लिये ही है, वहाँ हम हिंदुस्थानियों की गुज़र नहीं। तीसरा हिस्सा विनसेंट हिल (Vincent Hill) और हैप्पी वैली (Happy Valley) का है। हैप्पी वैली में आजकल तेरह-चौदह टेनिस कोर्ट हैं। यही एक चीज़ है, जो पहाड़ के लिये अचम्भे की कही जा सकती है।

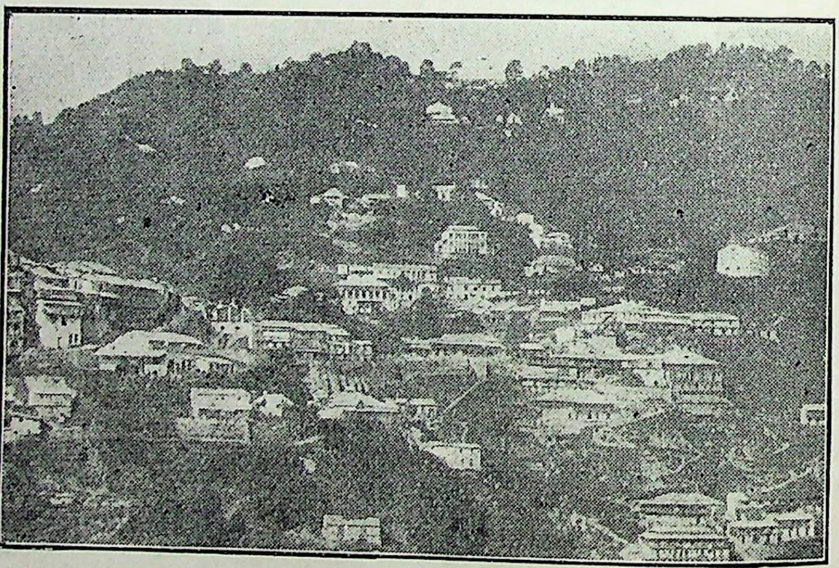


लाइब्रेरी-बाज़ार



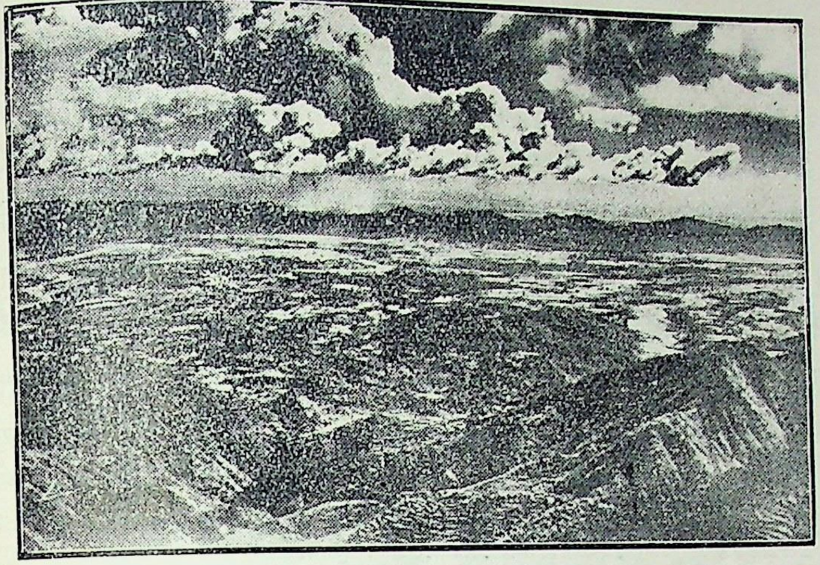
रिंक और तिलक-लाइब्रेरी

यहाँ "हैप्पी वैली क्लब" भी है । चौथा और पाँचवाँ हिस्सा लंधौर बाज़ार (Landour Bazar) और लंधौर डिपो (Landour Depot) है । लंधौर बाज़ार तो मैदान के शहरों का एक नमूना है । बीच में क़रीब



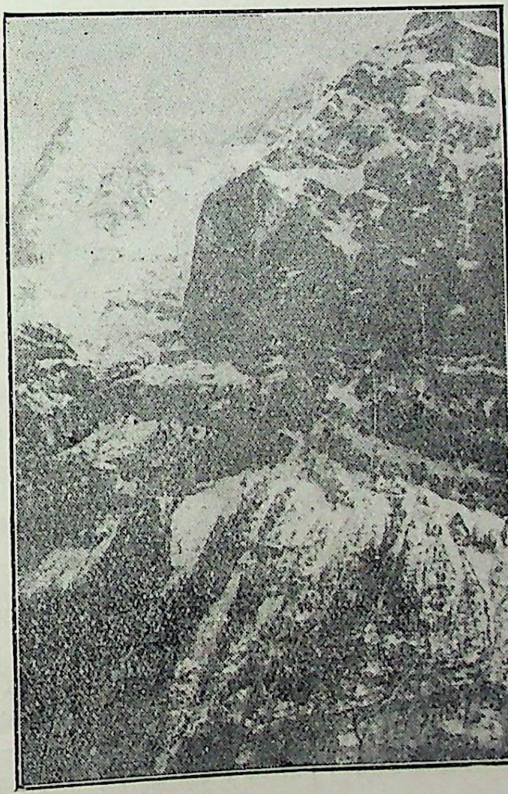
लंधौर से मसूरी का दृश्य

डेढ़ मील की लंबी सड़क दाहने और बाएँ हैं, जिसके दोनों ओर ऊँची-ऊँची गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ हैं । बस, यही लंधौर-बाज़ार है । क़ाफ़ी घना बसा है । यहाँ सब चीज़ें मिलती हैं । यहाँ का जीवन उतना महँगा नहीं है । रहने के मकान सस्ते और कम दामों में किराए पर मिल सकते हैं, पर है गंदा और सकरा । केवल रोज़ी-रोज़गार करनेवालों के लिये है । लंधौर से आगे 'डीपो' आता है । यहाँ मिसनरी और गोरे सिपाही रहते हैं । तमाम डीपो इन्हीं से भरा पड़ा है । बीच-बीच में छोटी-छोटी दूकानें या तो पहाड़ियों की हैं या देशवालों की । बस, इतने में मसूरी है, जिसको हमने देखा और सुना । एक शब्द में मसूरी अँगरेज़ों की दुनिया है, और हमारे उन राजा-महाराजाओं की विहारभूमि है, जिनके जीवन का मूल-मंत्र है खाओ, पीओ, मौज करो ।



मसूरी से दून का मैदान

अब हम लोगों की घर चलने की ठनी । फिर वही बेचैनी, वही उतावलापन ! एक-एक क्षण पहाड़ जान पड़ता था । दिन के चार बजे चलने को तैयार हुए । महाराज सनी व्यू (Sunny View) तक साथ थे । हम लोग मोटर में बैठे । मोटर चलनी शुरू हुई । पग-पग नीचे खड्ड में ले जा रही थी । कितने वेग से, कितनी आतुरता से ! एक बार, दो बार हमने दूर सनी व्यू के एक पहाड़ी टीले पर महाराज को देखा । फिर मसूरी का विमान उस सुरलोक की परी के समान पृथ्वी से ऊपर उठता दिखाई देने लगा, जो एक बार मृत्यु-लोक में आई थी । हम मोटर में बैठे हुए नीचे चले जा रहे थे—शांत और स्थिर । मोटर पहाड़ के खड्ड में थी । इधर भी पहाड़, उधर भी पहाड़, ऊँचा और भयावह ! सामने गहरी, अथाह खाड़ियाँ थीं, और घनी वृक्षों से लदी हुई आँखों के सामने मसूरी का मोहक रूप सिनेमा के चित्र की तरह आया और ग़ायब हो गया । हाँ, दूर से ट्रेन में बैठे हुए रात को हम मसूरी की बिजली की रोशनी देखते रहे । लो यह भी लोप हो गई । देखते-ही-देखते सारी बत्तियाँ तारे बनकर आकाश में नाचने लगीं । एक बार, दो बार, कई बार देखा; कुछ दिखाई नहीं दिया । रात्रि के घने अंधकार ने मसूरी को अपने में समेट लिया था । सामने काले मेघ की तरह पहाड़ की ऊँची दीवाल नज़र आने लगी—भयंकर डरावनी । कुछ ही घंटे पहले जिसकी एक-एक



खिड़की के बाहर

पत्तियाँ हमसे ठठोलियाँ करती थीं, जो फल हँसते थे, लताएँ होड़ लगाती थीं, वे सब न-जाने कहाँ चले गए ।

कुबेरनाथ पाठक

नेह-नाटक

मान रचि राख्यो नेह-नाटक जौ कल्पित कै,
ताही कौ प्रतच्छ करि चाह साँचिबे की है ;
आली! ह्वै चुक्यो है सब कृत्य नृत्य नाँदी आदि
पारी त्यों पुरोचन 'रसाल' राँचिबे की है।

नैपथ में कै दियो अनंग पूर्व रंग-राग,
बस अब बेर पट के उलाँचिबे की है,
करि मन-मोहन सुरूप नट-नैनन कौ,
रूप-रंग-मंच पै उमंग नाचिबे की है।

रामशंकर शुक्ल "रसाल"

रंगभूमि और वैनिटी फ़ेयर

(२)

(पूर्ण संख्या ८० से संबद्ध)

अब यहाँ संक्षेप में वैनिटी फ़ेयर के जार्ज आसबर्न का परिचय दे देना अनिवार्य हो गया है।

जार्ज आसबर्न सेडली का धर्मपुत्र था और पिछले २३ वर्षों से इस परिवार का सदस्य था। जब वह डेढ़ महीने का था, तो उसे जान सेडली ने एक चाँदी का प्याला भेट किया था......आदि......(४१); उसका पिता किसी समय कौड़ी-कौड़ी को मुहताज था, जिसे सहायता देकर सेडली ने इस उरूज पर पहुँचाया था, जो दंभी था, विश्वासघातक था और अपने भूतपूर्व आश्रयदाता सेडली की विपदवस्था के दिनों में उनके बराबर बिच्छू की तरह डंक मारता रहता था (२७७); पुत्र विलासी था, अपव्ययी था, ख़ुशामदपसंद और घमंडी था (१६४—१६७, २८४—२६५, २६६—३०८, ३३८—३४६)। मतलब यह है कि विनय के साथ किसी दशा में भी तोले जाने योग्य नहीं था।

रही राजकुमार होने की बात। सो जार्ज आसबर्न यदि राजकुमार होने योग्य था, तो अमेलिया राजकुमारी समझी जानी चाहिए थी। स्वयं जार्ज आसबर्न के पिता के शब्दों में अमेलिया का पिता उससे दस हज़ार पाउंड का अधिक धनी था (तीसरा भाग ६६)। अमेलिया जार्ज को अपनी संपन्नावस्था में ही राजकुमार समझती थी—क्यों? इसलिये नहीं कि वह मालदार था, वह स्वयं भी कम न थी, बल्कि इसलिये कि वह इसकी विलासप्रियता पर मुग्ध थी, उसकी गलमुच्छों पर आसक्त थी और उसकी ऐंठ-अकड़ पर मरती थी—उसी प्रकार जिस प्रकार संसार की अन्य अगणित बालिकाएँ अपने प्रेमियों पर मोहित होती थीं, हैं और रहेंगी। रंगभूमि की सोफ़िया विनय के वैभव पर आसक्त नहीं थी, उसके ऐश्वर्य को तुच्छ समझती थी। यदि विनय जार्ज आसबर्न की नाईं सोफिया को अमेलिया समझकर अपने कृत्यों की डींग मारते, आत्मप्रशंसा करते, तो शायद उसे उनसे अरुचि हो जाती (४६१)। जब उसे विनय और प्रभुसेवक ने कविता के निर्णय के लिये न्यायाधीश बनाया, तब भी विनय की ओर देखकर उसने मन-ही-मन कहा था—कैसा आदर्श जीवन है। (१२३) इसी को कहते हैं Distostion of facts।

इसके बाद हमारे मित्र अवधजी ने एक लंबा-सा उद्धरण देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि अमे-

लिया की भावी ननद उसे हीन दृष्टि से देखती थी। उन्हें आश्चर्य होता था कि 'आसबर्न उस पर न-मालूम क्यों मुग्ध हो गया है।' वे उसे समझातीं कि 'यदि तुम अमेलिया से विवाह करोगे, तो तुम्हारे त्याग की मात्रा बहुत ही अधिक कही जायगी।' यहाँ अवधजी ने अनावश्यक विस्तार से काम लिया है, हम इतने से ही संतुष्ट हैं।

यहाँ कई प्रश्न उठते हैं। क्या अमेलिया और आसबर्न की भाँति सोफ़िया और विनय भी विवाह करने को उत्कंठित थे?—क्या इन्दु के हृदय में भी वही मनोवृत्ति काम कर रही थी, जिसके वशीभूत होकर आसबर्न-भगिनियों ने अपने भाई को मना किया था?—(यहाँ हास्यरसाचार्य थैकरे ने अपनी स्वभावसिद्ध व्यंग्यपटुता के साथ स्त्रीजाति के इस विस्मय का चित्र खींचा है, जो किसी सुंदरी बालिका के गुलाबी गालों और नील नेत्रों को देखकर उद्भूत होता है। थैकरे कहता है—"माना कि इस नैतिक आदर्शवादिनी प्रिय जाति के कथनानुसार रूप की अपेक्षा गुण कहीं मूल्यवान् पदार्थ है......और यह भी माना कि साधुतापूर्ण स्त्रीचरित्र—जिसकी महिलाओं की दृष्टि में इतनी महत्ता है—एक भोले-भाले, सुस्मित और कौशलरहित, कोमल और नैसर्गिक आभा से कांत, मुखड़े की अपेक्षा अधिक गौरव और यश का पदार्थ है—पर हतभाग्य निरीह बालिकाओं को जिन्हें रूप का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है, इसी में अपनी सांत्वना समझनी चाहिए कि कुछ भी हो, आदमी तो उनकी आराधना करते हैं!") क्या उसके हृदय में वही स्त्रीसुलभ कुत्सित भावना अपना काम कर रही थी?—और क्या वह भी सोफ़िया को आसबर्न-भगिनियों की भाँति नीचा समझती थी? रंगभूमि में इन सब बातों का पता तक नहीं है। सोफ़िया ने अपने प्रेम को अंत तक दबाने का प्रयत्न किया, और विनय तो स्वयं उपाध्यायजी की ज़बानी अपने को धोखा देता रहा था, वह कई-कई दिन तक घर में न आता, सेवा-समिति के कार्यों में व्यस्त रहता, मिस सोफ़िया की ओर आँख तक उठाकर न देखता, उसके साए से भागता। इंदु ने इस भेद को जान लिया, पर उसके हृदय पर कुत्सा ने क्षण-भर के लिये भी अधिकार नहीं किया। उसने तो सोफ़िया से स्वयं कहा कि यदि धर्म बाधक न होता, तो माताजी उसे अपनी पुत्रवधू बनाकर छोड़तीं (और स्वयं अवधेशजी ने भी इसका उद्धरण दिया है)। वह उसे नीच समझता थी?—तनिक भी नहीं। उसने इस संबंध के विषय में कभी गंभीरता के साथ विचार किया था?—ज़रा भी नहीं। और यह बात उदयपुर में विनय के आत्मकथन से प्रकट है 'समझ गया, इंदु की सरलता ने यह आग लगाई है। उसने हँसी-हँसी में अम्माजी से कह दिया होगा। न-जाने उसे कभी बुद्धि होगी या नहीं। उसकी तो दिल्लगी हुई, और यहाँ मुझ पर जो बीत रही है, मैं ही जानता हूँ।" वास्तव में उसने विनय को सोफ़िया से प्रेम करने से कभी रोका ही नहीं था। उसे डर था कि कहीं विनय सोफ़िया की आँखों से न गिर जाय (और कोई भी स्नेहमयी बहन इसे सहन नहीं कर सकती) और इसी साधुभावना से प्रेरित होकर जिसमें माता का सदनुष्ठान भी सम्मिलित था—उसने विनय को इस पथ पर जाने से रोका था। विनय उस पथ पर बहुत आगे बढ़ चुका था, उसने अपना अपराध स्वीकार किया, उस मार्ग से लौट सकने में असमर्थता प्रकट की, पर साथ-ही-साथ इंदु को यह भी आश्वासन दिया कि 'इस आग की एक चिनगारी या एक लपट भी सोफ़ी तक न पहुँचेगी'। वह थैकरे का कामुक आसबर्न, उच्छृंखल आसबर्न, कुत्सित मनोवृत्तियोंवाला आसबर्न न था। उसने प्रतिज्ञा की कि 'मेरा सारा शरीर भस्म हो जाय, हड्डियाँ तक राख हो जायँ, पर सोफ़ी को इस ज्वाला की झलक तक न दिखाई देगी'। (यहाँ प्रतिभासंपन्न लेखक की लेखनी अत्यंत सजीव हो उठी है) उसके हृदय में पश्चात्ताप की वेदना हो रही थी। उसने निश्चय किया कि 'जितनी जल्दी हो सके, वहाँ से चला जाय'। पर उपाध्यायजी अपने सविस्तर उद्धरण में यह अंश भला क्यों सम्मिलित करने लगे!—उससे गणितीय समिकरण की असिद्धि की जो आशंका थी! हाँ, उन्होंने यह लिखने की उदारता अवश्य दिखाई है—'तदनंतर विनय इसे सोफ़िया से गुप्त रखने और हट जाने की प्रतिज्ञा करता है'। जार्ज आसबर्न ने भी कुछ ऐसा ही किया था क्या? फिर सादृश्य कहाँ रहा?

हमारे मित्र उपाध्यायजी को सीधी-सादी बात को जटिल रूप दे देने, बात का बतंगड़ खड़ा कर देने, सुई का

फावड़ा बना देने और नई-नई बातों के आविष्कार करने का बड़ा शौक़ है। हम अमेलिया के चरित्र-चित्रण में यह बात स्पष्ट कर आए हैं कि वह आवश्यकता से अधिक लजीली है, अपनी भावी ननदों के सामने बावली-बौरंगी बनी बैठी रहती है, और वे उसे बेहूदा और बेशऊर ख़याल करती हैं। पर वह जार्ज आसबर्न के कई-कई दिनों तक सूरत न दिखाने पर तंग आकर उसके पिता के घर जाती है। उसके वहाँ जाने का उद्देश्य जार्ज आसबर्न को देख आना रहता है, पर वहाँ पहुँचते ही वह अपनी ननदों की असह्य सहृदतया से विकल हो जाती है और वहाँ से किसी-न-किसी प्रकार निकल भागने का अवसर देखती है। अवधजी कहते हैं कि 'अमेलिया मानापमान का कुछ भी विचार नहीं करती। यद्यपि आसबर्न की बहनें उसे नहीं चाहती थीं (पर इंदु तो सोफ़िया के पीछे जान देती थी!), तथापि वह उसके पास जाने में तनिक भी नहीं लजाती थी।'......आदि।

इसके बाद अवधजी कहते हैं—'अब यह देखना चाहिए कि इस संबंध में सोफ़िया के विचार कैसे थे और दोनों प्रेमिकाओं में कुछ समानता है या नहीं।'...इसके बाद उन्होंने रंगभूमि के १६६ पृष्ठ का उद्धरण देकर बीज-गणितीय नैपुण्य के साथ सिद्ध किया है कि सोफ़िया 'तनिक भी नहीं लजाती थी।' हम दोनों प्रेमिकाओं के प्रेम, उनकी आधार-भूत स्थितियों, उनके लक्ष्यों और उनकी आकांक्षाओं को स्पष्ट रूप से लिख आए हैं। यदि अमेलिया और सोफ़िया के प्रेम में कोई सादृश्य स्थापित किया जा सकता है, तो रेबेका और सोफ़िया की उससे भी अधिक सुगमता से समता हो सकती है। उसमें आप निर्लज्जता भी पाएँगे और निर्भीकता भी। इस स्थान पर सोफ़िया की दशा तो उस प्रेम-वेदना-विकल प्राणी-जैसी है, जो अपने भाव-गोपन में अंत में असमर्थ हो जाता है, और अपने विश्वास-पात्र व्यक्ति के सामने हृदय खोलकर रख देता है। सोफ़िया अपने भाई पर विश्वास रखती थी; क्या अमेलिया भी अपनी ननदों पर विश्वास रखती थी? (और विस्मयकारी बात यह है कि यहाँ समालोचक महोदय ने प्रभुसेवक को बात-की-बात में इंदु के पद पर अधीष्ठित किया है। आख़िर सादृश्य भी तो किसी प्रकार स्थापित करना ही था!) शायद पाठक इतने ही से संतुष्ट हो जायँगे।

तदनंतर उपाध्यायजी ने यह पता लगाने का प्रयत्न किया है कि 'वैनिटी फ़ेयर में विवाह के संबंध में आसबर्न के माता-पिता (हम अवधजी को विश्वास दिलाना चाहते हैं कि आसबर्न की माता उस समय से बहुत पहले मर चुकी थी) की क्या राय है और इसी के अनुसार रंगभूमि में विनय तथा विनय की प्रेमिका सोफ़िया के माता-पिता की क्या राय है।'

अब देखिए क्या-क्या शिगूफ़े खिलते हैं। सुनिए—

'आसबर्न का पिता नहीं चाहता था कि उसके पुत्र का विवाह अमेलिया से हो। उसका पूर्ण विश्वास था और यह बात वास्तव में सत्य भी थी कि आसबर्न की शादी अमेलिया से बहुत ही अधिक धनवान् तथा श्रेष्ठ घर में हो सकती थी। अतएव वह इस विवाह के बहुत ही विरुद्ध था। वह स्पष्ट रूप से अपने पुत्र से कह देता है कि तुम अपनी शादी अमेलिया से मत करो। वह आसबर्न को अमेलिया से बोलने तक के लिये मना कर देता है। इसीलिये जब एक दिन आसबर्न अमेलिया से बातें करता था, तब आसबर्न की बहन ने उससे कहा—अमेलिया से क्यों बातें कर रहे हो? पिताजी तो मना करते हैं, परंतु आसबर्न ने कहा—अमेलिया से मैं अवश्य ही बातचीत करूँगा। कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो मुझे अमेलिया से बातचीत करने से मना कर सके।' (इस उद्धरण के अंतिम अंश के प्रारंभिक भाग में सुखसागर के भाषा-लालित्य और अंतिम भाग में क़ुरान के उर्दू भाष्य का शब्दसौष्ठव देखने को मिलता है। हाँ, 'मना कर सके' के स्थान पर 'कर सके मना' हो जाता, तो वाक्य और भी चटपटा बन जाता।) पाठकगण आसबर्न के पिता के संबंध में जो कुछ कहा गया है, उसका ध्यान रक्खें।

इसके बाद आपने वैनिटी फ़ेयर का एक उद्धरण दिया है, जिसमें वर्णित है कि किस प्रकार जार्ज का महत्त्वाकांक्षी पिता—जो खींच-तानकर एक लार्ड के परिवार से अपना रक्त-संबंध प्रसिद्ध करना चाहता था—जो किसी बड़े आदमी को देखते ही भीगी बिल्ली की तरह आदर से अभिवादन करता था—जो शुष्क था, दंभी था, निरंकुश-प्रकृति था, चिड़चिड़ा और संकीर्ण-हृदय था—जो शराब बहुत पीता था, अपने से अधिक पढ़े-लिखे आदमी के सामने दब्बू बन जाता था, पर उन्हें ख़रीदकर छोड़ देने की शक्ति रखता था, ख़ुशामद-पसंद

था और अपनी हठ के आगे किसी की नहीं सुनता था—संक्षेप में जो यशलोलुप था, धनलोलुप था और केवल सभ्य समाज में प्रवेश पा सकने की लालसा से लड़के को हज़ारों की थैलियाँ देता था, जिनसे वह लार्डों के लड़कों के साथ निकृष्ट जीवन व्यतीत करता था; जो जब तक उसकी स्त्री जीवित रही, उसे नाना प्रकार के दैहिक और मानसिक कष्ट देता था, जिसने अपनी पुत्र-वधू अमेलिया के साथ पाशविक व्यवहार किया था—और जो कुँअर भरतसिंह या रानी जाह्नवी से उसी प्रकार समता किए जाने के अयोग्य था, जिस प्रकार कोई अन्य वासना-लोलुप धनी पं० मोतीलाल नेहरू या उनकी धर्मपत्नी से समता किए जाने के अयोग्य है (और इस तुलना की कल्पना-मात्र से हृदय काँप उठता है)—हाँ, हम कह रहे थे कि अवधजी ने एक उद्धरण देकर दिखाया कि किस प्रकार जार्ज का महत्त्वाकांक्षी पिता अपने पुत्र का नाम कुलीनों और तेजस्वियों के नाम के साथ देखकर परमोल्लास और अभिमान से फूल जाता था और किस प्रकार उसे आंतरिक विश्वास हो गया था कि उसका पुत्र अवश्य ही प्रतापी बैरन देश प्रस्थापक होगा। (आश्चर्य है, अवधजी ने यशोलोलुप वृद्ध आसबर्न का मर्यादा-लोलुप महेन्द्रकुमार के साथ सादृश्य स्थापित क्यों नहीं किया!) जार्ज आसबर्न के पिता के चरित्र का विशद अध्ययन करने के लिये पाठकों को वैनिटी फ़ेयर के निम्नलिखित पृष्ठ देखने चाहिए -१६६—१६७—१७३, २४४, २७१, २९३—२९५, ३१९—३३२; दूसरा भाग ११५—१२५, २३१—२३७, २८३, २८६, ३३९, ३४०; तीसरा भाग २४, २७—२९, ३०, ४०—८६, ८७—८८, ९९—१०६।

अब विनय की माता जाह्नवी की क्या आकांक्षा थी, क्या चरित्र था, कैसी मनोवृत्तियाँ थीं, सो स्वयं सहृदय अवधजी के उद्धरण की सहायता से ही देखिए। अवधजी कहते हैं—'अब पाठकों को आसबर्न के पिता के उपर्युक्त कथन से रानी जाह्नवी के कथन का मिलान करना चाहिए।' हम भी इससे अधिक कुछ नहीं चाहते—'रानी जाह्नवी ने सोफ़िया से कहा—बेटी......। फिर तो वीरतापूर्ण कथाओं के पढ़ने का मुझे ऐसा चस्का लगा कि राजपूतों की ऐसी कोई कथा नहीं, जो मैंने न पढ़ी हो। उसी समय से मेरे मन में जाति-प्रेम का भाव अंकुरित हुआ। एक नई अभिलाषा उत्पन्न हुई—मेरी कोख से भी कोई ऐसा पुत्र जन्म लेता, जो अभिमन्यु, दुर्गादास और प्रताप की भाँति जाति का मस्तक ऊँचा करता। मैंने व्रत किया कि पुत्र हुआ, तो उसे देश और जाति के हित के लिये समर्पित कर दूँगी।.........विनय इन लोगों के साथ जा रहा है और मैं गर्व से फूली नहीं समाती कि मेरा पुत्र जातिहित के लिये यह आयोजन कर रहा है, और तुमसे सच कहती हूँ, अगर कोई ऐसा अवसर आ पड़े कि जातिरक्षा के लिये उसे प्राण भी देना पड़ें, तो मुझे ज़रा भी शोक न होगा। इसी प्रकार पृष्ठ २५१ में रानी ने जातीय गर्व का उल्लेख किया है।'

'एक दिन रानी जाह्नवी ने देखा कि विनय सोफ़िया की ओर प्रेमपूर्ण दृष्टि से देख रहा है और सोफ़िया भी विनय पर लट्टू है। बस, अब क्या कहना है। (अभी तो बहुत कुछ कहना है)। रानी जाह्नवी का विकसित शांत मुखमंडल तमतमा उठा, मानों बाग़ में आग लग गई। अग्निमय नेत्रों से विनय की ओर देखकर बोली—तुम कब जा रहे हो? तदनंतर रानी से उन्हें वहाँ से जाने के लिये विवश कर दिया। रानी डर गईं कि यहाँ रहने से विनय सोफ़िया से विवाह कर लेगा। रानी को यह विवाह पसंद नहीं था, इसीलिये रानी ने विनय को खदेड़ कर ही दम ली (? लिया)'। पर रंगभूमि के पाठक, विनय सोफ़िया के विवाह की आशंका से डरी नहीं थीं। उनके जातिगर्व-गर्वित हृदय को इस बात के विचार-मात्र से आघात पहुँचा कि एक पुत्र जिसे उन्होंने देश को अर्पण किया था—जिसका जीवन त्यागमय बनाने के लिये स्वयं उन्हें अनेक शारीरिक कष्ट उठाने पड़े थे—(पर अवधजी लेखक की इस उक्ति से नाराज़ हैं; वह कहते हैं कि रानी जाह्नवी का यह कथन कि उन्हें जाति की अधोगति को देखकर अपनी विलासिता पर लज्जा आती थी, उसके उद्धार के लिये उन्होंने अपने पुत्र को न कभी गद्दों पर सुलाया, न कभी महरियों और दाइयों की गोद में जाने दिया, न मेवे खाने दिए, अस्वाभाविक है। उन्हें विश्वास नहीं होता कि राजकुमार विनय को बाल्यावस्था में कोई मेवा न मिला हो।' उनकी समझ से 'इतनी दासियों के रहते हुए यह भी संभव नहीं मालूम होता कि विनय दासियों की गोद में न गया हो।' किंतु हम उन्हें परामर्श देंगे कि

लेखक के कथन को ही चुपचाप मान लिया करते हैं—अन्यथा गति ही क्या है ? यदि इस लेखक के चरित्र-चित्रण में इस प्रकार आशंका करने लगेंगे, तो टालस्टाय की सर्वोत्कृष्ट रचना War and Peace के पीरी-जैसे कामुक और आलसी जीव का एक दार्शनिक के रूप में कायाकल्प असंभव हो जायगा और विक्टर ह्यूगो को अपनी फ्रेंच साहित्य की—मेरी समझ से विश्वसाहित्य की—अमूल्य संपत्ति Les Miserable के जीन वल-जीन-जैसे पतित और अधम जीव को साधु के रूप में परिवर्तित करने के असाधारण रचनाकौशल के पुरस्कार में मिली हुई स्विनबर्न-जैसे विख्यात कवि और कला-विवेचक की सनद, जो सहृदयता और कृतज्ञता व्यक्त करने में अपनी सानी नहीं रखती—The son of Consolation (शांति-सांत्वना का पुत्र)—लाचार होकर वापस करनी पड़ेगी ।) जिनके प्राण तक बलिदान करने में वह पश्चात् पद नहीं थीं—उनके जीवन के महान् उद्देश्य, एक-मात्र आकांक्षा, स्वर्गीय अनुष्ठान और नैसर्गिक व्रत की, इस प्रकार गर्हित वासनाओं में फँसकर, इस बुरी तरह हत्या करने पर उतारू है । इसीलिये उन्हें क्रोध आ गया था, मुँह तमतमा उठा था—भीति का तो कहीं चिह्न भी नहीं था—यह वस्तु उनके स्वभाव के लिये अभिभ्रणीय (Incompatible) थी । इसी ज़रा-सी बात का अवधजी ने इतना बतंगड़ खड़ा किया है । अब तो पाठकों की समझ में आ गई न ? अस्तु ।

हमने पाठकों से वादा किया था कि हम उनका कुछ 'शिगूफ़ों' से मनोरंजन करेंगे, लीजिए। पाठकगण, अभी यह तो न भूले होंगे कि अवधजी ने कहा था कि इस विवाह-संबंध के वरपक्ष के पिता बहुत ही विरुद्ध थे। (यद्यपि वस्तुस्थिति ऐसी न थी । वह तो रेबेका से प्रेम-संबंध स्थापित करनेवाले वैनिटी फ़ेयर के जोसेफ़ सेडली के पिता जान सेडली की नाईं, उदासीन थे, और आश्चर्य है, यह बात निपुण विवेचक की दृष्टि से कैसे बच गई । सादृश्य तो बड़ी सुविधा के साथ स्थापित हो सकता था !) पर अब—सुनने के लिये तैयार रहिए, हृदय को कड़ा कीजिए, और इस विस्मयकारी आश्चर्य-व्यापार को देखिए और अवाक् रह जाइए । कुँवर विनयसिंह के पिता कुँअर भरतसिंह—कहते कष्ट होता है—जिस प्रकार पायनियर के संपादक मि० विल्सन के प्रसिद्ध लेख The disinherited father की बदौलत महान् पं० मोतीलाल नेहरू अपने तेजस्वी पुत्र पं० जवाहरलाल के पिता के पद से च्युत कर दिए गए थे—अपने पितापद से लादावा कर दिए गए । अब उन्हें डाबिन का पार्ट खेलना पड़ेगा, वह इस विवाह-संबंध से सहमत हो गए और इतने ही से संतुष्ट नहीं रहे; उन्होंने कन्या के पिता-माता को भी राज़ी करने का प्रयत्न किया; क्यों ?—क्योंकि वैनिटी फ़ेयर में भाती डाबिन ने वरवधू के माता-पिताओं को राज़ी करने की चेष्टा की थी; यह आपत्ति इस समय उठाना व्यर्थ है कि साहब आप तो डाबिन की एक अलग सत्ता मान चुके हैं ; इसका कुँअर भरतसिंह में निरूपण किस प्रकार कर दीजिएगा ?

सोफ़िया की मा अमेलिया की मा की तरह असहमत नहीं थी । अमेलिया की मा तो इस संबंध को हृदय से चाहती थी । 'उसने प्रेमी-प्रेमिका को कमरे में जी भरकर आलिंगन-चुंबन करने के लिये छोड़ दिया' (२७१) अवधजी को सोफ़िया की मा का सादृश्य अमेलिया की मा के साथ स्थापित करना चाहिए था, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया है । उन्होंने मा का काम पिता से लिया है । अर्थात् विनय के पिता कुँअर भरतसिंह संधिसंदेशवाहक का रूप धारण करके सोफ़िया की मा के पास पहुँचते हैं, जो अमेलिया के पिता का काम देती है । अब यह देखना चाहिए कि सोफ़िया की मा और अमेलिया के पिता में क्या अंतर है । जिन्होंने 'रंगभूमि' पढ़ी होगी, वे अच्छी तरह जानते होंगे कि मिसेज़ जान सेवक संकीर्णहृदया, धर्मोन्मादिनी और तीखे स्वभाव-वाली थीं । वह धार्मिक मतभेद होने पर अपनी लड़की को घर तक से निकाल सकती थीं और कुत्सा का यह हाल था कि रानी जाह्नवी-जैसी सहृदया महिला तक उनका हृदय अपने आदर-सत्कार से न जीत सकी थीं। वह सोफ़िया के आत्म-हत्या कर लेने पर विक्षिप्त हो गई थी और आए-गयों को 'आड़े हाथों' लिया करती थीं (और इस दृष्टि से तो अवधजी को मिसेज़ सेवक की तुलना मिसेज़ सेडली से करनी चाहिए थी) । मि० सेडली बड़े उदार विचार के थे, अपने अच्छे दिनों में जी खोलकर ख़र्च किया करते थे, अपनी पत्नी और पुत्री को प्राणों से अधिक प्यार करते थे । वह प्रसन्नचित्त थे

और अपने मोटे लड़के का मज़ाक़ उड़ाया करते थे। विपत्ति के दिनों में वह विक्षिप्त नहीं हुए। उन्हें अपनी शोचनीय स्थिति का ज्ञान हो गया। वह बड़े आदमियों को देखते ही नम्रता के साथ बातें करते थे और अपने समृद्धिपूर्ण अतीत की चर्चा करके क्लबवालों की नाक में दम कर देते थे। वह अपने धेवते को बाग़ में खिलाने ले जाते और किसी के पूछने पर उसके मृत सैनिक पिता का बड़े गौरव के साथ परिचय देते थे। (२५—२६, ३१—३२, ३८—४०, ४८, १७२, २२५—२२७, २३८—२४१; दूसरा भाग १६१, १६३—१६७, २४४—२७१, २७३, २७८, ३३६; तीसरा भाग ३६, ६८—६६, ६५, ६६—६६।) असह्य विपत्ति का दुर्बल हृदय प्राणियों पर दो प्रकार का प्रभाव पड़ता है। या तो वह इस कोलाहलपूर्ण संसार के दैनिक आनंद या शोक के उत्सवों से उपरामवृत्ति धारण कर लेता है, उनसे अपने को एक विशिष्ट प्रकार का जंतु समझने लगता है, जिसका अवशिष्ट मानवसमाज से कोई सम्पर्क नहीं रहता और वह अपनी स्थिति में ही अकथनीय गर्व की अनुभूति करने लगता है। (कुछ-कुछ सेमुयेल बटलर की तरह *); या फिर उसे अपनी वस्तु-स्थिति का आवश्यकता से अधिक बोध रहता है। वह दूसरों की पदमर्यादा को अपनी स्थिति के तराज़ू पर रखकर तोलता है। वह अपने को अधम, क्षुद्र और पतित समझता है, आत्मगौरव से वंचित एक घृणित, गर्हित प्राणीमात्र! वह अपने से उच्च स्थितिवालों के आदर का भूखा रहता है। विक्टर ह्यूगो के शब्दों में 'तिरस्कृत व्यक्ति आदर का इच्छुक रहता है' (Ignominy wants respect) और दोनों मनोवृत्तियों वाले व्यक्तियों में, प्रेमचंदजी के शब्दों में, दिशाओं का अंतर है। कहना न होगा कि मिसेज़ जान सेवक पहले वर्ग से संबंध रखती थी और मि० सेडली दूसरे वर्ग से।

और इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को थोड़ी देर के लिये जाने दीजिए। 'अमेलिया के पिता उसका विवाह आसबर्न से नहीं करना चाहते थे—इसका अवधजी के पास क्या प्रमाण है। वैनिटी फ़ेयर में तो साफ़-साफ़ लिखा है कि वह इस विवाह-संबंध से नहीं, वर के क्रूर-हृदय पिता वृद्ध आसबर्न से क्रुद्ध थे। इसके अतिरिक्त दोनों की सगाई किसने तोड़ी थी? वृद्ध आसबर्न ने। वह अपने घोर शत्रु को आत्मसमर्पण करने को तैयार न थे। उनकी असहमति कृत्रिम थी, और उनका रोष अस्थायी था। डाबिन को—जो जार्ज आसबर्न का मित्र था, जो दोनों पक्षों में सुलह कराकर विवाह कराना चाहता था, और जिसे अवधजी की रंगभूमि में हम कुँअर भरतसिंह के रूप में देखते हैं—थैकरे के शब्दों में "उतना भय मि० सेडली के रोष का न था, जितना वरपक्ष के पिता का था, और उसे स्वीकार करना पड़ा कि उसे रसेल स्क्वेयर के उस क्रूर वृद्ध व्यापारी के आचरण के विषय में अत्यंत संदेह है। डाबिन ने सोचा कि उन्होंने विवाह का निषेध कर ही दिया है। और वह अच्छी तरह जानता था कि वृद्ध आसबर्न कैसे दृढ़ निश्चय के ज़िद्दी आदमी थे और अपनी बात पर किस बुरी तरह जम जाते थे" (२७१—२७२)।

जब यह शांति-संदेशवाहक मि० सेडली के पास पहुँचा और उसने इस संधि का भूमिकाभास आरंभ किया और उनके भावी जामाता का ज़िक्र उठाया, तो वृद्ध सज्जन ने चिढ़कर कहा, तब क्या वह मुझसे समवेदना प्रकट करता है? (२७७) दुरवस्था में हमें अपने शत्रु की समवेदना से अधिक और कोई वस्तु असह्य नहीं होती। शत्रु सामने आया और हम अपनी निम्नावस्था भूले, हमने मुखमण्डल पर उपेक्षा की मुस्कराहट उत्पन्न की, ऐंठ के साथ गर्दन उठाई और बग़ल से निकल गए। हम ऐसी स्थिति में अवसर ताकते रहते हैं कि किसी प्रकार उसे लांछित और अपमानित करने का अवसर मिले। होश-हवास दुरुस्त होने पर शायद हम इसे अत्यंत कुत्सित कार्य समझते, पर उस समय शत्रु को आघात पहुँचा सकने के सुखकर विचार से हम उन्मत्त हो जाते हैं। अतः जब डाबिन ने उन्हें विश्वास दिलाया कि इस विवाह से रसेल स्क्वेयर के मानी व्यापारी को असह्य आघात पहुँचेगा, तो "अपने शत्रु आसबर्न को ऐसा निर्मम आघात पहुँचाने के विचार से वृद्ध सज्जन को कुछ सांत्वना मिली...उनके मुखमंडल पर संतोष की-सी आभा उदित हो गई।" और अंत में उन्होंने यह कहकर बातचीत समाप्त की कि "भई, तुम लोग बड़े

* प्रसिद्ध समालोचक एडवर्ड शैनकूस के शब्दों में सेमुयेल बटलर 'महा घमंडी' (Morbidly Vain) था।

शैतान हो" (२७८) और स्वीकृति मिल गई। और इतने पर अवधजी कहते हैं "ऐसा सादृश्य! कितना आश्चर्य है!" हम भी उनके स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं—"ऐसा वैषम्य! कितना आश्चर्य है!"

इसके आगे अवधजी लिखते हैं—'रंगभूमि में सोफ़िया एक ऐसा पत्र लिखती है, जिसे पढ़कर विनय का हृदय विदीर्ण हो जाता है और वे शोक-सागर में डूबने-उतराने लगते हैं।...इसी प्रकार वैनिटी फ़ेयर में अमेलिया ने भी अपने प्रेमी आसबर्न को इस प्रकार लिखा था ...।' इसके बाद आपने वैनिटी फ़ेयर का पत्र उद्धृत किया है।

रंगभूमि के २४६ पृष्ठ पर हमें लिखा मिलता है—

"एक दिन इन भावनाओं ने उसे इतना व्याकुल किया कि वह रानी के कमरे में जाकर विनय के पत्रों को पढ़ने लगी ...! देखूँ मेरी ओर कोई संकेत है या नहीं...। विनय के पत्र ऐसी ही वीरकथाओं से भरे हुए थे। सोफ़िया यह हाल पढ़कर विकल हो गई। वह इतनी विपत्ति झेल रहे हैं और मैं यहाँ आराम से पड़ी हूँ। वह इसी उद्वेग में अपने कमरे में आई, और विनय को एक लंबा पत्र लिखा, जिसका एक-एक शब्द प्रेम में डूबा हुआ था। अंत में उसने बड़े प्रेम-विनीत शब्दों में प्रार्थना की कि मुझे अपने पास आने की आज्ञा दीजिए, मैं अब यहाँ नहीं रह सकती।"

अमेलिया का पत्र पारस्परिक संबंधविच्छेद की सूचना है, सोफ़िया का पत्र प्रेम में डूबा हुआ। अमेलिया ने पत्र अपने पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये लिखा था, जिसके जार्ज आसबर्न के पास पहुँचने के समय शायद वह उसके पहले प्रेमपत्रों के पुलिंदों से अपना सिगार सुलगा रहा होगा, या बाज़ियाँ बद रहा होगा, या घूँसेबाज़ी का आनंद ले रहा होगा या निश्चिंत मन से शराब पी रहा होगा। सोफ़िया ने पत्र अपनी स्वतंत्र इच्छा से लिखा, किसी के दबाव से नहीं? अवधजी का यह कथन ठीक नहीं है कि "इतना ही नहीं, दोनों उपन्यासों में प्रेमिकाओं ने स्वयं ऐसा पत्र नहीं लिखा, किंतु दोनों ही ऐसा करने के लिये विवश की गई थीं।"

केवल घटनाओं के आधार पर ही यदि अवधजी सादृश्य स्थापित करने लगेंगे, तो संसार का कोई विरला ही उपन्यास इस आरोप से बच सकेगा। ऐसा कौन-सा उपन्यास है, जिसमें प्रेमी प्रेमिका को, या प्रेमिका प्रेमी को पत्र नहीं लिखती? सादृश्य स्थापित करने के लिये यह भी प्रमाणित करना अनिवार्य है कि वस्तुतः दोनों प्रकार के पत्र एक-जैसी परिस्थिति में लिखे गए, एक-जैसे भावों से प्रेरित होकर लिखे गए, और उनका दूसरे पर एक जैसा प्रभाव पड़ा। अन्यथा रेबेका ने राउन को पत्र लिखा था और मिसेज़ ड्यूट ने पिंकरटन को।

एक पत्र में लिखा होता है—'मैं स्वयं इस संबंध को तोड़ देना चाहती हूँ, क्योंकि हम लोगों की दशा बहुत ही बिगड़ गई है और ऐसी दशा में आपसे संबंध नहीं हो सकता, और दूसरा पत्र विनयसिंह से प्रार्थना करता है कि वह उसकी लेखिका को अपने पास आने की आज्ञा दें, क्योंकि वह अब वहाँ नहीं रह सकती।"

एडवर्ड शैंक्स ने अपनी एक पुस्तक की भूमिका में लिखा है—"समालोचक बनने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को मानव-जाति के मनोविज्ञान का अध्ययन करना चाहिए।" और, कोई समझे या न समझे, अवधजी समझ गए होंगे कि इस उद्धरण से हमारा क्या आशय है।

तदनंतर अवधजी ने अमेलिया की समानता सोफ़िया के साथ तनिक स्पष्ट रूप से स्थापित की है, और एक बार नहीं दो बार; और ऐसे-वैसे नहीं, बीजगणितीय समीकरणों की सहायता से, और अंत में सफलतापूर्वक सिद्ध कर दिया है कि अमेलिया का प्रेमी और कोई नहीं है, स्वयं विनय है, जो रंगभूमि में सोफ़िया के प्रेमी का पार्ट खेलता है। पर इतने परिश्रम की तो कोई आवश्यकता न थी। यह तो आप पहले भी अनेक बार कह आए हैं। और शायद इस बीजगणितीय समीकरण से अवधजी का जी भी उकता गया होगा। अब आपने एक नई खोज की है। वैनिटी फ़ेयर में तो वृद्ध आसबर्न और वृद्ध सेडली का कुछ व्यापारिक संबंध था ही—रंगभूमि में भी वही बात है। ऐसा सादृश्य! कितना आश्चर्य है!

वैनिटी फ़ेयर के १७२ पृष्ठ पर वृद्ध आसबर्न अपने पुत्र को अमेलिया से प्रेम-संबंध तोड़ने की सलाह देते

कहते हैं—"मैं इस बात से इनकार थोड़े ही करता हूँ कि मैं सेडली ही की बदौलत बना हूँ ; या यह कहना चाहिए कि उन्होंने मुझे वह रास्ता दिखा दिया जिस पर चलने से अपने बुद्धि-कौशल के प्रताप से मैं बन गया। और मैंने सेडली के प्रति इसको कृतज्ञता भी दिखा दी है। तुम मेरी चेक-बुक देखो तो पता चले। पर, मैं तुमसे भेद की बात कह देता हूँ, मैं सेडली के व्यापार को विश्वास की दृष्टि से नहीं देखता।...... और जब तक हमें दहेज़ में अमेलिया के साथ दस हज़ार पाउंड न मिले, तुम उसके साथ शादी मत करना। मैं किसी कँगले की लड़की को अपने घर में नहीं घुसेड़ना चाहता।"

अवधजी ने रंगभूमि के जिस स्थान से कुछ अंश उद्धृत किया है, वहीं हमें लिखा मिलता है ; "कुँअर साहब सांसारिक पुरुष न थे।...... धूर्तों ने उन्हें मानव-चरित्र का छिद्रान्वेषी बना दिया था।... पर संयम-शीलता जहाँ इतनी सशंक रहती है, वहाँ लाभ का विश्वास होने पर उचित से अधिक निःशंक हो जाती है।... उनकी दृष्टि में जान सेवक अब केवल धन के उपासक न थे, बरन् हितैषी मित्र थे। ऐसा आदमी उन्हें मुग़ालता न दे सकता था। बोले—जब आप इतनी किफ़ायत से काम करेंगे, तो आपका उद्योग अवश्य सफल होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। आपको शायद अभी मालूम न हो, मैंने यहाँ एक सेवा-समिति खोल रक्खी है। कुछ दिनों से यही ख़ब्त सवार है। उसमें इस समय लगभग एक सौ स्वयंसेवक हैं।... मैं चाहता हूँ कि उसे आर्थिक कठिनाइयों से सदा के लिये मुक्त कर दूँ ....। उसके निर्विघ्न संचालन के लिये एक स्थायी कोष की व्यवस्था कर देना चाहता हूँ।... आपके अनुमान में कितने रुपए लगाने से एक हज़ार की मासिक आमदनी हो सकती है ?"

"जान सेवक की व्यावसायिक लोलुपता ने अभी उनकी सद्भावनाओं को शिथिल नहीं किया था। जान सेवक ऐसा उत्तर देना चाहते थे, जो स्वार्थ और आत्मा दोनों ही को स्वीकार हो।"

अवधजी लिखते हैं—"जान सेवक ने कुँअर साहब को ख़ूब धोखा देने का प्रयत्न किया है और झूठ-सच बोलकर हिस्से बेचने का प्रयत्न किया है।"

यहाँ पर अवधजी की शतोमुखी विवेचनात्मिका प्रतिभा में वस्तुस्थिति और अतिशयोक्तिपूर्ण और मन-गढ़ंत बातों का कुछ ऐसा विलक्षण सम्मिश्रण हो गया है कि विश्लेषण करते नहीं बनता। इसका सुगम उपाय यह है कि हम हरएक बात को नंबरवार रखते जायँ।

१. वैनिटी फ़ेयर में द्रव्य-लालसा के वशीभूत होकर वर का पिता दस हज़ार पाउंड की इच्छा करता है।

रंगभूमि में वर का पिता पचास हज़ार के हिस्से ख़रीदता है (अर्थात् रुपए देता है, लेता या लेने की आकांक्षा नहीं करता।) इससे भी बड़ी बात यह है कि वह निःस्पृहभाव के साथ स्वयंसेवक-मंडली की आर्थिक समस्या को सुधारने के लिये ऐसा करता है।

२. वैनिटी फ़ेयर का वृद्ध आसबर्न अपने 'प्रतिद्वंद्वी' वृद्ध सेडली को घृणा, कुत्सा और द्वेष की दृष्टि से देखता है। वस्तुतः वह अपने लड़के को उसकी लड़की से संबंध-विच्छेद करने की सलाह (जो आगे चलकर आदेश के रूप में परिवर्तित हो जाती है) देता है।

रंगभूमि के कुँअर भरतसिंह की दृष्टि में उनके 'मित्र और हितचिंतक' जान सेवक (और जान सेडली और जान सेवक, क्या इन दोनों में विलियम डाबिन और विलियम क्लार्क जैसा नाम-सादृश्य नहीं है ?—जान सेवक भी लड़की का पिता था और जान सेडली भी !—ऐसा सादृश्य ! कैसा आश्चर्य है !) 'अब केवल धन के उपासक न थे, बरन् हितैषी मित्र थे।' कंपनी के हिस्से ख़रीद लेने से दोनों का सौहार्द्र दृढ़तर हुआ और उपन्यास के अंत तक अक्षुण्ण बना रहा, वृद्ध आसबर्न और वृद्ध सेडली की तरह कुत्सा और द्वेष में परिणत नहीं हो गया।

३. हमने भी वैनिटी फ़ेयर को ध्यान से पढ़ा है और हम कह सकते हैं कि आसबर्न और सेडली में व्याव-सायिक संबंध किसी प्रकार का न था। ऊपर के उद्धरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। सेडली बाज़ार-भाव का एक दलाल था और आसबर्न एक व्यापारी था। यदि किसी को आर्थिक सहायता देने से व्यापारिक संबंध स्थापित हो जाता है, तो ऐसा अवसर शायद गणितज्ञ अवधजी को भी अनेक बार पड़ा होगा।

हाँ, जान सेवक और कुँअर भरतसिंह का व्यापारिक संबंध भी था।

वैनिटी फ़ेयर और रंगभूमि की एकरूपता का एक और उदाहरण लीजिए। हमारे सहृदय मित्र अवधजी लिखते हैं—"जब आसबर्न का उसके पिता से मनमुटाव हो गया, तब उसके पिता ने उसे धन देना बंद कर दिया। आसबर्न का पिता समझता था कि जब आसबर्न को द्रव्य की आवश्यकता होगी, तब वह अवश्य ही दौड़कर मेरे पास आवेगा। परंतु आसबर्न ने इसकी कुछ भी परवा नहीं की। इसका अंतिम फल यह निकला कि आसबर्न को रुपए माँगने के लिये अपने पिता के यहाँ आने का अवसर नहीं मिला और पुत्र पिता के द्रव्य से वंचित रह गया। इन दिनों आसबर्न और उसके पिता में कोई बातचीत नहीं होती थी। आसबर्न प्रायः घर आता ही न था। परंतु दोनों में लज्जा और ग्लानि के भाव उदय हो गए थे। पिता ने पुत्र को अपना अंतिम निश्चय सुना दिया कि जब तक तुम अपने इस विचार को नहीं बदलोगे, मैं तुम्हें कुछ भी द्रव्य नहीं दे सकता। (और इतने पर भी 'दोनों में लज्जा और ग्लानि के भाव उदय हो गए थे !')

इसके बाद आपने रंगभूमि के ७७२ पृष्ठ का हवाला दिया है, जिसमें वर्णित है कि किस प्रकार विनयसिंह के पाँडेपुर के सत्याग्रह में भाग लेने पर सरकार के कोप से भयभीत होकर जान सेवक के परामर्शानुसार कुँअर भरतसिंह ने आयदाद को कोर्ट आफ़ वार्ड्स के सिपुर्द कर दिया था, किस प्रकार वह हुक्काम की हाँ में हाँ मिलाना हेय समझते थे—किंतु किस प्रकार 'हुक्काम की नज़रों में गड़ना, उनके हृदय में खटकना, इस हद तक कि वे शत्रुता पर तत्पर हो जायँ, उन्हें बेवक़ूफ़ी मालूम होती थी—' किस प्रकार वह 'विनय को सीधी राह पर लाने' के लिये चाहते थे कि 'सोफ़िया से उसका विवाह हो जाय—' किस प्रकार उनका दृढ़ विश्वास था कि वे 'इस बेड़ी में जकड़कर उसकी उद्दंडता शांत' कर सकेंगे—किस प्रकार वह इसीलिये जान सेवक और उनकी पत्नी से (जो इस संबंध की घोर शत्रु थीं) मिले और (जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं) उनकी सलाह से उन्होंने जायदाद कोर्ट्स आफ़ वार्ड्स के क़ब्ज़े में दे देने का निश्चय किया—किस प्रकार उन्होंने प्रत्यक्ष में विनय के लिये कोई व्यवस्था करने में असमर्थ होने के कारण अपनी वृत्ति में से कुछ-न-कुछ देते रहने का निश्चय किया—और इसी लिये किस प्रकार वह अपने एकमा[त्र] उत्तराधिकारी को न्याय स्वत्व से वंचित करते [हुए] लज्जित होकर उससे आँखें चुराते थे—पर किस प्रकार वह इसके लिये विवश हो गए थे, अन्यथा सरकार [के] कोप की आशंका थी।

जार्ज आसबर्न के पिता अपने पुत्र का विवाह [एक] धनी कन्या से कराना चाहते थे। जार्ज आसब[र्न] असहमत हुआ। ज़िद्दी थे ही, उसे घर से निका[ल] दिया। जब उन्हें सूचना मिली कि उसने अमेलिया [से] विवाह कर लिया, तो उन्होंने उसे अपनी संपत्ति [से] वंचित कर दिया। उन्होंने उसे बड़ी ताकीद कर दी [कि] वह भविष्य में उनसे किसी प्रकार का संबंध न रक्खे। वह इतने कलुषित और क्रूर हृदय के थे, ऐसे निष्ठुर [और] निर्मम थे कि पुत्र के युद्ध में मारे जाने पर भी उन्[हों]ने उसे क्षमा नहीं किया; उसकी निराश्रय पत्नी को आश्र[य] नहीं दिया। वह अपने पुत्र को प्यार करते थे, प्रा[णों] से भी अधिक; "उस पर उन्हें कितना-कितना अभिमा[न] था !" (३२८) पर वह निरंकुश प्रकृति के [थे] और अपनी इच्छा में किसी का व्याघात न सह सक[ते] थे। वह उसके घोर शत्रु हो जाते थे। चाहे वह स्व[यं] उनका पुत्र ही क्यों न हो। वैनिटी फ़ेयर के दूसरे भाग [के] ११५ पृष्ठ पर लिखा मिलता है—'बस, अब मेल [की] कोई संभावना नहीं थी (उनका पुत्र वाटर लू युद्ध [में] काम आ चुका था)। सबसे बड़ी बात तो यह थी [कि] अब उनके तिरस्कृत और क्रुद्ध गर्व को विनीत शब्दों [में] सांत्वना देने का साधन नष्ट हो गया था और इ[स] विषाक्त उष्ण रक्तप्रवाह को स्वाभाविक गति पर ला[ने] की कोई संभावना न थी। और यह कहना कठिन [है] कि इस घमंडी पिता के हृदय को किस प्रकार की वेद[ना] ने व्यथित किया—इतना कि उनका पुत्र अब क्षमा [की] परिधि से बाहर चला गया था या यह कि जिस [...] की उनके गर्व को आशा-प्रतीक्षा थी, वह उनके हाथ से निकल गई।" "वह अपने पुत्र को अब भी प्यार कर[ते] थे और अब भी उन्होंने उसे क्षमा नहीं किया था" (दूसरा भाग ११८)।

एक पिता किसी निर्दिष्ट कन्या से अपने पुत्र [का] विवाह कराने के लिये स्वयं प्रयत्नशील होता है। इस[से] उसकी उद्दंडता नष्ट हो जायगी और वह बंधन में पड़[...]

पिता के कोप से बच जायगा और अपनी पैतृक संपत्ति का उपभोग करेगा। दूसरा पिता एक निर्दिष्ट कन्या से विवाह न करने का अपने पुत्र को कड़ा आदेश देता है, और उसके आज्ञाभंग करने पर अपनी संपत्ति से उसे वंचित कर देता है, उसे अंत तक क्षमा नहीं करता और उसकी विधवा की शक्ल नहीं देखना चाहता। अंतरम्! महदन्तरम्!! (पर अवधजी कहेंगे 'कैसा सादृश्य है! कैसा आश्चर्य है!')

हम पीछे एक स्थान पर दिखा चुके हैं कि अवधजी की सम्मति में 'रानी जाह्नवी का यह कथन' कि उन्होंने विनय को न कभी गद्दों पर सुलाया, न कभी महरियों और दाइयों की गोद में जाने दिया और न कभी मेवे खाने दिए, बड़ा 'अस्वाभाविक मालूम होता है'। पर चूँकि वैनिटी फ़ेयर में इस बात का ज़िक्र है, इसलिये उसी आधार पर अवधजी की रंगभूमि में भी उसका आना आया है। अवधजी का विचार है कि अमेलिया अपने पुत्र को स्नेहाधिक्य के कारण (अवधजी ने लिखा है, 'इतना अधिक प्यार करती थी'; पाठकगण इस मार्मिक वाक्य को भूल न जायँ, आगे इससे काम लेना) 'किसी दूसरे की गोद में भर सक नहीं जाने' देती थी, इसी के ही 'आधार पर रंगभूमि में उक्त विषय ठूँस दिया गया है, जो उनकी राय में 'बहुत ही अस्वाभाविक हो गया है'। क्योंकि उन्हें 'विश्वास नहीं होता कि राजकुमार विनय को बाल्यावस्था में कोई खिलौना न मिला हो'। हमें भी विश्वास नहीं होता कि उपाध्यायजी ने जान-बूझकर ऐसा अन्याय कर डाला होगा। अस्तु।

रंगभूमि के पाठक अच्छी तरह जानते हैं कि रानी जाह्नवी ने विनय को महरियों और दाइयों की गोद में देकर और मेवों से वंचित रखकर, किस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये कष्टसहिष्णु बनाया था। अतएव उसके संबंध में अधिक कहकर हम अनावश्यक विस्तार नहीं करना चाहते। अब हमें वैनिटी फ़ेयर की अमेलिया और उसके स्नेहपालित पुत्र का वर्णन करना है, जिससे पाठकों को पता लग जायगा कि दोनों के लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा और आचार-व्यवहार में कैसा आकाश-पाताल का अंतर है। [आश्चर्य की बात तो यह है कि अवधजी ने यहाँ अमेलिया के साथ—सोफ़िया की नहीं—(क्योंकि उस अभागी को असमय ही आत्म-हत्या करनी पड़ी थी; और यह बात स्वयं अवधजी की समझ में भी असंभव थी, क्योंकि 'यहाँ तो विनय का विवाह ही नहीं हो पाया है' और 'आसबर्न के पुत्र के पार्ट के अनुसार विनय के पुत्र का वर्णन हो ही नहीं सकता, इसलिये'—पाठकगण इस रसायन-क्रिया को हृदयङ्गम कर लें—'आसबर्न के पुत्र का भी कुछ अंश विनय में ही आना चाहिए') रानी जाह्नवी की अनुरूपता स्थापित की है।]

सहृदय पाठकगण अमेलिया के चरित्रविश्लेषण को देखकर इस बात से पूर्णतः अवगत हो गए होंगे कि वह एक सीधी-सादी भोली-भाली ऐहिक सुखों की इच्छुक बालिका थी, जो एक स्मृति-मात्र को अपने हृदय में पंद्रह-पंद्रह वर्ष तक रखकर उसकी आराधना कर सकती थी, जिसका सारा सुख-आनंद अपने बच्चे के पोषण में केंद्रित था—(और क्या बच्चों का पोषण माताओं के लिये स्वयं एक अनिर्वचनीय—ऐसा जिसकी तुलना केवल दांपत्य-सुलभ सहवास से ही की जानी संभव है, क्योंकि वह भी अपने आनंद की एक निजी सत्ता रखता है—विलास-भावना समुद्भूत सुख नहीं है?) जो बच्चे को उसके धर्मपिता को थोड़ी देर के लिये खिलाने की अनुमति क्या देती, उस पर अपनी अतुल कृपा-वर्षा समझती; जो इस फ़िक्र में लगी रहती कि बच्चे का बालसुलभ स्नेह और किसी की सहानुभूति की ओर आकृष्ट न हो जाय, जो दरिद्र जीवन में आप भूखों रहकर उसे अच्छी-अच्छी चीज़ें खिलाती, आप फटे-पुराने कपड़े पहनकर अपने विवाह के कपड़े काट-छाँटकर उसके लिये तड़क-भड़क के कपड़े तैयार करती, जिसकी भीरुता और वात्सल्य-स्नेह ने बच्चों को अनिवार्यतः हठी, क्रोधी और शासन-प्रिय बना दिया था। (रंगभूमि के १४८ पृष्ठ पर लिखा हुआ है "नित्य कम्बल बिछाकर ज़मीन पर सोता और कंबल ही ओढ़ता है, पैदल चलने में कई बार इनाम पा चुका है। जलपान के लिये मुट्ठी-भर चने, भोजन के लिये रोटी और साग, बस इनके सिवा संसार के और सभी भोज्य पदार्थ इसके लिये वर्जित से हैं।") जो उस लड़के की घोर शत्रु हो जाती, जो नन्हें जार्जी को उँगली छुआता, जो एक बार एक लड़के के साथ उसके द्वंद्वयुद्ध की कथा सुनकर अधमरी-सी

हो गई थी (रंगभूमि के १४६ पृष्ठ पर हम उसकी माता को कहते पाते हैं—"उसे प्राण भी देना पड़े, तो मुझे ज़रा भी शोक न होगा।" ८४६ पृष्ठ पर उसकी माता उसकी आत्महत्या के बाद सोफ़िया को सांत्वना देती है—"क्यों रोती हो बेटी ? विनय के लिये ? वीरों की मृत्यु पर आँसू नहीं बहाए जाते, उत्सव के राग गाए जाते हैं...।" आदि)। कदाचित् एक बात भी ऐसी नहीं है, जिससे हम विनय को जार्जी के समान कह सकें। बीजगणितीय समीकरणों की बात दूसरी है !

आशा है, पाठकों को विनय के पालन-पोषण का ढंग अवधजी की तरह 'बहुत ही अस्वाभाविक' न लगता होगा। जाह्नवी के इसी कथन में उपन्यास के विनय से संबंध रखनेवाले अंशों की मार्मिकता निहित है।

इसके बाद एक बार आपने फिर अपने कथन का प्रतिपादन किया है। आप लिखते हैं कि वैनिटी फ़ेयर का आसबर्न ही रंगभूमि का विनय है और वैनिटी फ़ेयर में आसबर्न की प्रेमिका अमेलिया थी और उसने अपने विवाह के पहले मन में कभी दूसरे पुरुष की कल्पना तक नहीं की, और अमेलिया के माता-पिता एक प्रकार से इस विवाह के विरुद्ध थे (जो अब से कुछ ही देर पहले घोर विरुद्ध थे !) किंतु अमेलिया के मन से आसबर्न कभी दूर नहीं हुआ, और अपने पिता के कहने से अमेलिया ने आसबर्न को एक कड़ा पत्र तो अवश्य लिख दिया, पर उसमें अमेलिया ने अपनी ओर से कड़े शब्दों का नहीं प्रयोग किया। (हृदय में भगवद्भक्ति का उद्रेक हो रहा है) और वह तो आसबर्न से ही अपनी शादी करना चाहती थी।

बस, अवधजी का यह कथन है। अब से कुछ देर पहले अवधजी ने अमेलिया के पत्र के साथ सोफ़ी के पत्र का सादृश्य स्थापित किया था, जिसका विवेचन हम कर आए हैं। अब अवधजी को मालूम हुआ है कि उसमें कोई कड़ा शब्द नहीं था, और वह तो आसबर्न से ही अपनी शादी करना चाहती थी। सोफ़िया ने भी पत्र लिखा था, और कमबख़्त इतने ही से संतुष्ट नहीं हुई। वह विनय को जेल में भी दिक़ करने पहुँच गई और बोली—"अच्छा, अब तैयार हो जाओ।"

अभागे क़ैदी ने सशंकित नेत्रों से ताकते हुए पूछा—"किस बात के लिये।" पर संतोष की बात है कि उसे किसी बलिदान के लिये तैयार नहीं किया जा रहा था, बात सिर्फ़ जेल से बाहर हो जाने तक सीमित थी, जिसके एक सप्ताह बाद वह उससे दिल्ली में मिलेगी, और फिर विधाता भी उन्हें अलग न कर सकेगा।

यह बोलती-चालती भाषा में डबल सादृश्य का लाता है !

पर हम अवधजी से विनीत भाव से पूछेंगे कि क्या वैनिटी फ़ेयर में भी "बौरंगी ऐनी" "छैल आसबर्न" को, मुक्ति का (या सौत का, एक ही-सी बात है) परवाना लेकर, किसी क़ैदख़ाने में गई थी ? अभी तक तो आप केवल वस्तुस्थिति का ही विकृत परिचय दे रहे थे—किसी हद तक क्षंतव्य बात थी—अब आप घटनाओं की उड़ाने लगे ! हमने भी वैनिटी फ़ेयर पढ़ा है, एक बार नहीं, कई बार, और ऐसे-वैसे नहीं, निशान लगा-लगाकर पुस्तक का सत्यानाश करके; पर हमें ऐसी कोई घटना दृष्टिगोचर न हुई। हमारे पास Standard Literature Company, London का इंपीरियल ऐडीशन है। यदि और किसी प्रेस के संस्करण में ऐसी कोई बात हो, तो क्या हम आशा करें कि उपाध्यायजी उसकी सूचना देकर हमें उपकृत करेंगे ?—हम धन्यवाद भी देंगे।

आगे बढ़िए। वैनिटी फ़ेयर में आसबर्न की शादी अमेलिया से हो जाती है और तब दोनों ब्रिसेल्स को जाते हैं। यहाँ दोनों में कुछ मनमुटाव-सा हो जाता है। इस समय यद्यपि वे दोनों एक ही स्थान पर हैं, और सब प्रकार से साथ-ही-साथ रहते है, किंतु प्रायः वे मिलते नहीं।... इस समय दोनों का विवाह हो चुका था और दोनों सहवास का आनंद उठा सकते थे। उनके मार्ग में कोई बाधा नहीं थी, 'किंतु वे स्वयं अपने मार्ग के कंटक बने हुए थे'। यह कथन मेरा नहीं, अवधजी का है। इस लेखक में इतना साहस नहीं था कि वास्तविकता की ऐसी घोर हत्या करता। हाँ, तो यह कथन अवधजी से संबंध रखता है।

आगे आप लिखते हैं—"अब यह देखना चाहिए कि 'रंगभूमि' में भी विनय और सोफ़िया की दशा ऐसी कहीं थी, या नहीं। क्या रंगभूमि में कहीं दोनों स्वा

होने पर भी एक दूसरे से नहीं मिलते थे।" हम पाठकों को विश्वास दिला देना चाहते हैं कि 'रंगभूमि' में विनय और सोफ़िया की दशा ऐसी कहीं नहीं थी, दोनों ख़ूब ज़ोर-शोर के साथ मिलते थे और दोनों में किसी प्रकार का मनमुटाव नहीं था। पर जिस कुत्सित मिलन की ओर विवेचक महोदय का निर्देश है, वह दोनों में असंभव था; क्यों?—सामाजिक बंधनों के कारण। क्या उपाध्यायजी की दृष्टि में उनका कोई महत्त्व नहीं है, और क्या उन्हें सोफ़िया को रेबेका की भाँति विनय को लार्ड स्टेइन बनाकर भ्रष्ट जीवन बिताते देखकर संतोष होता? अमेलिया और जार्ज में मनमुटाव था, क्यों?—जार्ज रेबेका के पीछे लगा फिरता था, रातों घर न आता था, शराबख़ोरी करता था, जुआ खेलता था। पर यह अवधजी को कैसे ज्ञात हुआ कि दोनों सहवास का आनंद न उठा सके और कोई बाधा न होने पर भी अपने मार्ग के कंटक स्वयं बने रहे? आप तो अभी-अभी जार्ज और अमेलिया के पुत्र की तुलना विनय से कर आए हैं?

वास्तव में वैनिटी फ़ेयर में इस बात का ज़िक्र तक नहीं है। सीधी-सादी बात वह थी जो हम ऊपर लिख आए हैं, जब कि विनय और सोफ़ी का परस्पर संसर्ग-विषयक संयम सोफ़ी की दृष्टि में अपने लिये नहीं, विनय के लिये आवश्यक था। वह ऐसा कोई कर्म करने को तैयार न थी, जिससे विनय का अपमान, उसकी अप्रतिष्ठा अथवा उसकी निंदा हो। उसकी समझ से आत्मिक मिलाप के लिये कोई बाधा नहीं होती; पर सामाजिक संस्कारों के लिये अपने संबंधियों और समाज के नियमों की स्वीकृति अनिवार्य थी, 'अन्यथा वे लज्जास्पद हो जाते हैं।' और यदि सोफ़ी ऐसा कोई असंयत कर्म कर बैठती, तो शायद अवधजी ही सबसे पहले उसकी रेबेका के साथ तुलना करते! (पर संतोष की बात है कि अब ऐसे भय का कोई कारण नहीं है।)

इसके बाद अवधजी ने एक लंबे-चौड़े प्रकरण में कुछ अजीब गुल खिलाए हैं। आप कहते हैं कि वैनिटी फ़ेयर में आसबर्न की मृत्यु हुई, सो भी लड़ाई में; रंगभूमि में भी विनय की मृत्यु हुई, और लड़ाई में हुई (शायद आत्मघात और युद्ध-संबंधी मृत्यु में अवधजी के निकट कोई भेद नहीं है—क्या आत्मघाती मनुष्य को अपनी हत्या करने से पहले, अंतर्द्वंद्व का सामना नहीं करना पड़ता?) आसबर्न की स्मृति में गिरजे में एक स्मारक पाषाण खड़ा किया गया, जिसे देखकर उसकी बहनें अपने हृदयावेश को न रोक सकीं और रोने लगीं, विनय की आत्महत्या के बाद सोफ़िया उसे देखने के लिये चल पड़ी; पर शोकातिरेक के वशीभूत होकर मार्ग में एक मील के पत्थर पर बैठकर बिसूर-बिसूर कर रोने लगी (पर आपकी सम्मति में गिरजेवाला पाषाणचिह्न उपयुक्त है और मीलवाला अनुपयुक्त; साथ ही आपकी राय में सोफ़िया का वहाँ बैठना असमयोचित था और इसे मार्ग में रुकने की कोई आवश्यकता नहीं थी, और हम इसके उत्तर में उन्हें एक बार फिर ऐडवर्ड शैन्क्स के कथन की याद दिलाना ही पर्याप्त समझते हैं और आगे बढ़ते हैं); दोनों पुस्तकों में युद्धों के अवसर पर दोनों नायिकाएँ समरस्थली से दूर रहती हैं;—वैनिटी फ़ेयर में अमेलिया वाटरलू से १४-१५ मील दूर रहती है और रंगभूमि में सोफ़िया पांडेपुर से एक-आध मील, और यदि सोफ़िया समरस्थली में ही उपस्थित रहती, तो भी यदि १४-१५ की दूरी से एक-आध मील की दूरी का परिमाण सादृश्य के रूप में परिवर्तित हो सकता है, तो एक-आध इंच या एक-आध फ़ीट का भी क्यों नहीं?—इस सर्वसम्मत नियम की व्यापकता में किसी को संदेह ही क्या हो सकता है?—और इसीलिये हम उपाध्यायजी से प्रार्थना करेंगे कि आपने उदयपुरवाले 'वाटरलू' में सोफ़िया की उपस्थिति की चर्चा नाहक़ छोड़ दी। उपर्युक्त नियम से बीजगणितीय समीकरणों की सहायता से दोनों का सादृश्य बड़ी सुविधा के साथ स्थापित हो सकता है—हाँ, अपने विषय पर आना चाहिए (और यदि पाठकों को अप्रासंगिक बातें अरोचक मालूम हों, तो वे उन्हें न पढ़ें); वृद्ध आसबर्न अपने पुत्र की मृत्यु पर शोक करते हैं, सोफ़िया भी शोक करती है। (यहाँ उसने विनय के पिता का परिधान पहन लिया था, जिस प्रकार वह, आसबर्न की बहनों की नाईं, मील के पत्थर पर बैठते समय, विनय की बहन के रूप में परिवर्तित हो गई थी—पर इतनी कृपणता की तो कोई आवश्यकता न थी, क्या विनय के पिता भरतसिंह को शोक न हुआ होगा?—और क्या आसबर्न की बहनों का पार्ट खेलने के लिये विनय की बहन

इंदु मौजूद नहीं थी ?) वृद्ध आसबर्न अपने पुत्र की मृत्यु का कारण अपने-आपको समझते हैं, और सोफ़िया भी पत्थर पर बैठी-बैठी (अर्थात् इंदु के रूप में) विनय की हत्या का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेती है। (कुँअर भरतसिंह का कलेवर पहने ! एँ न ?—अर्थात् इस समय वह सोफ़िया, इंदु, कुँअर भरतसिंह तीनों का मिश्रित मातम मनाने का महत्त्वपूर्ण भार अपने ऊपर लेती है ! उस समय बेचारी के जी में रह-रहकर ये भाव उठ रहे होंगे—

मेरी क़िस्मत में ग़म गर इतना था ;
दिल भी या रब कई दिये होते ।

और हम नन्हीं-सी सोफ़ी की इस असहायावस्था में हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं। (हे भगवान्, इस रहस्यवाद की जटिल समस्या को यह जड़जीव किस तरह हल कर सकेगा !)

एक और बात है। जिस प्रकार दूरी या नैकट्य के न्यूनाधिक परिमाण परस्पर सादृश्य स्थापित करने में कोई व्याघात उपस्थित नहीं करते (या नहीं कर सकते, एक ही बात है), उसी प्रकार यदि घंटों, दिनों या महीनों का अपेक्षाकृत अंतर परस्पर एकरूपता स्थापित करने में कोई बाधा न दे सके, तो पाठकों को विस्मय-आश्चर्य से मुँह बाने का क्या अवसर हो सकता है ? वाटरलू युद्ध की रात्रि को अमेलिया जागी (प्रेम की किस अवस्था में अथवा प्रणय की किस श्रेणी पर ?—सो नगण्य-सी बात है। वास्तव में वह युद्ध-यात्रा की सूचना से पूर्णतः अनभिज्ञ थी और अपने पति को रेबेका के साथ प्रेमालाप करते देखकर अन्य सब स्त्रियों की भाँति मूक वेदना के साथ पलँग पर आ पड़ी थी) इसलिये नहीं कि आसबर्न युद्ध में जा रहा है, बल्कि उसको नाच से वापसी की प्रतीक्षा में। सोफ़ी भी जागी—विनय उदयपुर को रवाना हो गया—इसके सात-आठ महीने बाद सोफ़िया भी वहाँ जा पहुँची—(और आसबर्न विदा के कुछ ही घंटों बाद गोली का शिकार हो गया था) ।—उसके बाद एक दंगा हुआ, जिसमें सोफ़िया और विनय दोनों मौजूद थे—फिर एक वर्ष तक विनय सोफ़िया को डाकुओं के पंजे से छुड़ाने की चेष्टा करता रहा—फिर दोनों एक वर्ष तक भीलों के गाँव में रहे—फिर कई महीने तक दोनों बनारस में साथ-साथ रहे—उसके बाद सोफ़िया स्वयं उसे पांडेपुर के संघर्ष में सम्मिलित करने का कारण बनी—और तब कहीं जाकर विनय के प्राण निकले अर्थात् 'युद्धयात्रा'—(यदि उदयपुर-गमन को युद्धयात्रा कहा जा सकता हो तो—) की रात को जागने के तीन साढ़े तीन वर्ष बाद ! ऐसा अवधजी का बीज-गणितीय एकीकरण ! 'आप तो गणितज्ञ ठहरे, आपको इन बंधनों की क्या चिंता !' (पर अवधजी इस वाक्य से मुझ पर नाराज़ न हों, यह प्रेमचंदजी की सम्मति है)

हम अवधजी के आरोपों का अपने ब्रैकटों की सहायता से साथ-ही-साथ उत्तर भी देते चले आए हैं, और शायद वे पर्याप्त होंगे। फिर भी हम अपने सहृदय पाठकों के पूर्ण संतोष के लिये कुछ अधिक स्पष्टता से काम लेना चाहते हैं।

१. अमेलिया युद्धयात्रा की रात्रि को युद्ध की चिंता से नहीं, किंतु स्त्री-सुलभ सौतिया डाह से जागी थी, जब सोफ़िया प्रेम के प्रारंभिक स्टेज में वियोग होने की असह्य वेदना से जागती रही थी।

२. आसबर्न यात्रा के थोड़े ही घंटों बाद मारा गया था, जब कि विनय तीन साढ़े तीन वर्षों तक सकुशल रहा था और अंत में अपने ही हाथों प्राणघात करके मरा था।

३. आसबर्न के पिता के शोकोद्रेक और सोफ़िया के शोकोद्रेक में कोई समता स्थापित नहीं की जा सकती। वह अपने पुत्र को अब भी प्यार करते थे और अब भी उन्होंने उसे क्षमा नहीं किया था (वैनिटी फ़ेयर, दूसरा भाग ११८)। 'उसे इस समय प्रबल आकांक्षा हुई कि वहाँ जाते ही मैं भी उनके चरणों पर गिरकर प्राण त्याग दूँ।.................मैंने अपने जीवन को नष्ट कर दिया, ऐसे नररत्न को धर्म की पैशाचिक क्रूरता पर बलिदान कर दिया' (रंगभूमि ८२८)।

४. आसबर्न की बहनों को अपने मृत भाई का स्मारक देखकर, उसकी मृत्यु के कई महीने बाद, पुनः ताज़ी हो आई। अर्थात् उस स्मृति के जागृत करने का एक-मात्र कारण वह स्मारक पत्थर था। सोफ़ी के शोकोद्रेक से उस मील के पत्थर का कोई संबंध न था। वह हृदयावेग को दमन न कर सकी। उसके हृदय में भाव

रहे थे—'वहाँ कैसे जाऊँ ? कैसे उन्हें स्पर्श करूँगी ? उनकी मरणावस्था का चित्र उसकी आँखों के सामने खिंच गया। उनकी मृत देह रक्त और धूल में लिपटी हुई भूमि पर पड़ी हुई थी। इसे उसने जागते देखा था। उसे इस जीर्णावस्था में वह कैसे देख सकेगी ?' (कैसा स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी चित्रण है।)

५. आसबर्न की मृत्यु का समाचार किसने सुनाया, यह कहीं कुछ नहीं लिखा हुआ है। वाटरलू-युद्ध से वापस आते हुए सैनिकों में से किसी ने कह दिया होगा। सोफ़िया को यह समाचार नायक राम-नामक एक विशिष्ट व्यक्ति ने सुनाया।

६. वाटरलू-युद्ध और पांडेपुर के सत्याग्रह की कोई तुलना नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त आसबर्न युद्ध करता हुआ दूसरों के हाथों मारा गया, जब कि विनय सैनिकों और जनसाधारण के पारस्परिक भीषण संघर्ष के प्रतिरोध के प्रयत्न में अपने हाथों !

आशा है, इतने से पाठकों की संशय-निवृत्ति हो जायगी।

रुद्रनारायण अग्रवाल

उषा का आह्वान

१

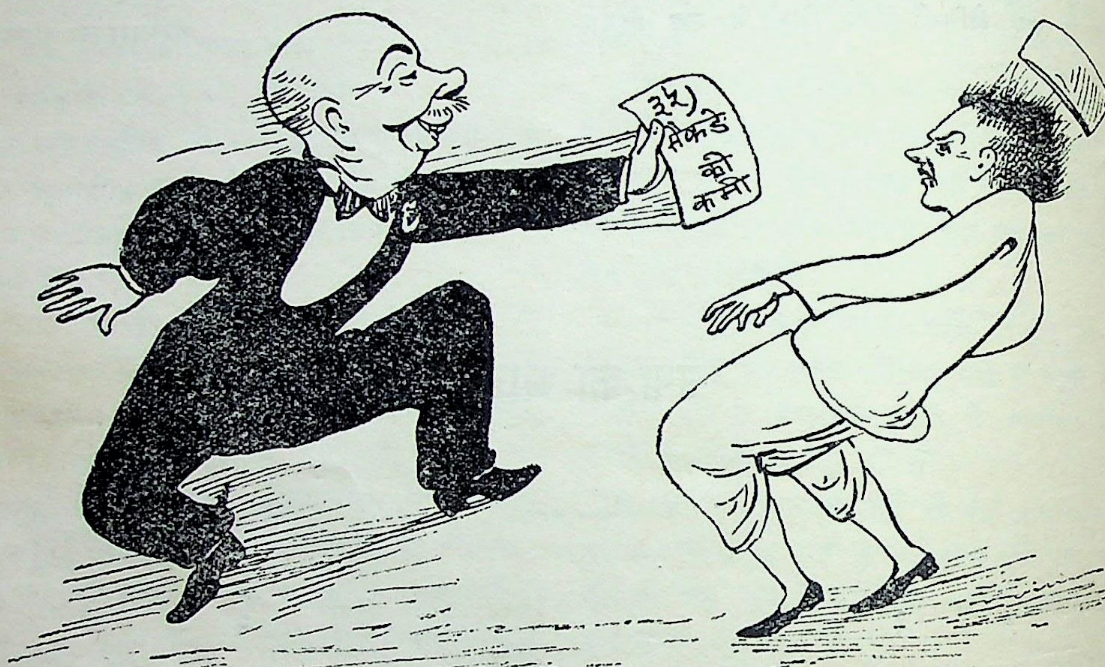
होकर सचेत आँख खोलकर देखा जब,
　नीरव निशा में तो निराशा ही नवीन थी;
मंद था मयंक मुख रश्मि-राशियों से हीन,
　दीन-सी कुमोदिनी थी, कौमुदी मलीन थी।
क्रांति लय-कारी "बनवारी" चारों ओर थी, न—
　शोर करती हुई चकोरी रसलीन थी;
क्षीण था निपट रजनी का भुकता का पट,
　फट कर प्राची, ज्योति-राशि में विलीन थी।

२

शीतल-सुगंधयुत मंद था समीर और
　दिव्य था दिगंत आसमान भासमान था;
कली में विकास था फलों में परिपाक था,
　अवाक् चक्रवाक में सुयोग का विधान था।
विहँग-बिहान था प्रकृति-मुसकान और—
　उदित उद्यान था, अपूर्व अलि-गान था;
मनोमुग्धकारी 'बनवारी' अवधान था या—
　मंगल-निधान यह उषा का आह्वान था।

बनवारीलाल

वेतन में न्यूनता



मिलन

प्रकाश अपने मा-बाप का अकेला लड़का था। जिस साल उसने लखनऊ-विश्वविद्यालय से बी० ए० पास किया, उसके माता-पिता के आनंद की सीमा न रही। प्रकाश ही उनकी अभिलाषाओं का केंद्र था। उसी का मुँह देखकर जीते थे। उनकी वृद्धावस्था में प्रकाश ही उनका जीवनसर्वस्व था। प्रकाश के पिता बाबू शिवसहाय, मेरठ के प्रसिद्ध वकीलों में गिने जाते थे। शहर में उनकी अच्छी ख्याति थी। ईश्वर की कृपा से उन्होंने यश एवं प्रतिष्ठा के साथ धनोपार्जन भी खूब किया था। उनकी हार्दिक इच्छा यह थी कि प्रकाश भी उन्हीं की तरह वकालत पास करके मेरठ में ही प्रैक्टिस शुरू करे।

गरमी की छुट्टियाँ आरंभ हो गई थीं। प्रकाश घर आया। संध्या को वह कहीं घूमने जाने के विचार में था। उसकी छोटी बहन मुन्नी ने आकर बड़े प्यार से उसका हाथ पकड़कर कहा—"भैया, मैं भी चलूँगी।" प्रकाश ने उसे गोद में उठाकर कहा—"अवश्य—तुझे आज कंपनीबाग़ घुमाने अवश्य ले चलूँगा।" मुन्नी खिल-खिलाकर उसके गले से लिपट गई। प्रकाश का हृदय भ्रातृ-स्नेह से विकसित हो उठा। मुन्नी की आँखें प्रसन्नता से चमक उठीं, उसने कहा—"भैया, तो मैं कपड़े पहन आऊँ"। उत्तर की प्रतीक्षा न कर वह भाई की गोद से कूदकर भीतर चली गई। प्रकाश थोड़ी देर तक घर की ओर देखता रहा। फिर बोला—भगवन्! तुमने शैशव को ही मानवजीवन में सर्वोत्तम बनाया है, जिसमें पवित्रता, सुख, अज्ञानता और कौतुक का प्रेमरूप में अद्वितीय सम्मिश्रण रहता है।

× × ×

मुन्नी का हाथ पकड़े हुए प्रकाश धीरे-धीरे कंपनीबाग़ की रविशों पर टहल रहा था। मुँह से कुछ गुनगुनाता भी जाता था। फूलों से निकलती हुई भीनी-भीनी सुगंध चित्त को प्रसन्न कर रही थी। बाग़ के किनारे-किनारे मोरपंखी के वृक्ष लगे थे। उनका स्पर्श करके ठंढी-ठंढी हवा चल रही थी। सामने गुलाब के फूल पर एक रंगबिरंगी तितली आकर बैठी। मुन्नी उसे देखते ही पकड़ने दौड़ी। तितली एक फूल से उड़कर दूसरे पर जा बैठी, मुन्नी ने वहाँ भी उसका पीछा न छोड़ा। उसने तितली को पकड़ने के लिये सैकड़ों प्रयत्न किए, किंतु वह हाथ न आई। प्रकाश मुन्नी की चेष्टाओं को देख रहा था और मन-ही-मन हँसता जाता था। तितली गुलाब की क्यारी छोड़कर उड़ चली। मुन्नी चिल्लाती हुई उसके पीछे दौड़ी—"भैया, मैं इसे लूँगी"। प्रकाश ने रोका, किंतु मुन्नी तितली के पीछे पागल हो रही थी। लाचार वह भी बहन के पीछे-पीछे चला। तितली जाकर एक चंपा के फूल पर मँडराने लगी। मुन्नी बराबर उसके पीछे दौड़ती चली जा रही थी। उसका ध्यान तितली पर था। राह में एक पत्थर से ठोकर खाकर वह गिर पड़ी और रोती-रोती बोली—"तितली, तितली"। प्रकाश ने मुन्नी को गिरते देखा। वह कुछ पीछे था। वह तेज़ी से आगे बढ़ा ही था, किंतु उसके वहाँ तक पहुँचने के पहले ही दो कोमल हाथों ने मुन्नी को उठा लिया था। प्रकाश अवाक् रह गया। एक षोडशी बालिका मुन्नी को गोद में लिए बड़े प्रेम से उसके कपड़ों की धूल झाड़ रही थी। मुन्नी को सिर में हलकी-सी चोट आ गई थी। प्रकाश ने फ़ौवारे के जल में अपना रूमाल भिगोकर आहत स्थल पर बाँध दिया। इसके बाद उसने अत्यंत कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि से बालिका की ओर देखा। बालिका भी उसकी ओर निर्निमेष नेत्रों से देख रही थी। दोनों की आँखें चार हुईं। बालिका लजाकर नीचे की ओर देखने लगी। संध्या के समय अस्त होते हुए सूर्य की आभा उसके मुखमंडल पर पड़कर उसे भी अपने समान प्रदीप्त बनाने की चेष्टा कर रही थी। उसके शुभ्र ललाट पर स्वेदकण झलक रहे थे। बालिका एक पारसी साड़ी पहने थी। यद्यपि वह असाधारण सुन्दरी न थी, तो भी सुशीलता, सरलता और सहृदयता की मनोरम मूर्ति-सी ज्ञात होती थी। प्रकाश ने मुन्नी को अपनी गोद में उठाकर कुछ

हिचकते हुए कहा—"देवि ! मैं आपकी इस कृपा का धन्यवाद देने में असमर्थ हूँ। मैं आपका चिर-ऋणी रहूँगा"। बालिका ने कुछ उत्तर न दिया, किंतु उसके नेत्र उसके मनोगत भावों को प्रकट कर रहे थे। केवल एक बार उसने अपनी शर्मीली आँखों से प्रकाश की ओर देखा। फिर सिर नीचा किए हुए शीघ्रता से एक ओर चली गई। प्रकाश ने देखा—थोड़ी दूर पर एक पालकी-गाड़ी खड़ी थी, बालिका अपनी दासी के साथ जाकर उस पर बैठ गई। क्षण-भर बाद गाड़ी कंपनीबाग़ पार करके सिविल लाइंस की ओर जाती हुई दिखाई दी। प्रकाश ने एक ठंढी साँस ली। मुन्नी को लेकर फिर घर को चल दिया।

× × ×

प्रकाश अपने कमरे में एक आरामकुर्सी पर आँखें बंद किए पड़ा था। मेज़ पर लैंप जल रहा था। उसके सामने एक किताब खुली पड़ी थी, वह किसी गंभीर चिंता में निमग्न था। पिछले दिन की घटना ने उसके चित्त पर बड़ा प्रभाव डाला था। वह भी उसके जीवन का एक नया पृष्ठ था। उसके मुँह पर निराशा की झलक प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रही थी। वह कुछ सोच रहा था। इतने में नीचे सड़क के ऊपर से किसी के गाने की आवाज़ आई—"सबै दिन नाहिं बराबर जात"। इस गाने में स्वर न था, लालित्य न था, रस न था; किंतु न जाने क्यों प्रकाश इसे सुनकर चौंक पड़ा। उसने खिड़की से झाँककर नीचे देखा। एक भिखमंगा सड़क पर गाता चला जा रहा था। रात्रि की निस्तब्धता में उसका गीत कोने-कोने से प्रतिध्वनित होकर गूँज रहा था। प्रकाश कुछ देर तक खड़ा सुनता रहा। इसके पश्चात् लौटकर फिर कुर्सी पर लेट रहा। घड़ी की ओर दृष्टि डाली, साढ़े ग्यारह बज चुका था। रात्रि का द्वितीय प्रहर था, किंतु प्रकाश की विचित्र दशा थी। उसकी आँखों में नींद न थी। मेज़ से किताब उठाकर दो-चार पृष्ठ उलटे। उसे भी एक ओर रख दिया, लैंप बुझाकर बाहर छत पर आया। रात्रिकालीन, शीतल और मंद वायु की अपूर्व बहार थी।

आकाश में असंख्य तारिकाओं के मध्य में दिव्य लावण्य-युक्त पूर्ण शशधर विराजमान थे। ज्योत्स्ना से पृथ्वी प्रसन्न हो रही थी। प्रकाश ने ऊपर की ओर देखकर ठंढी साँस ली। सुनील स्वच्छ आकाश में तारों की अवर्णनीय शोभा थी। उसमें प्रकाश ने किसी हृदयांकित मूर्ति का पूर्ण आभास देखा। उसके मन में बड़ी व्यथा थी। यद्यपि वह मानसिक आवेगों को यथासाध्य गुप्त रखने का प्रयत्न कर रहा था, तो भी उसके चेहरे का चढ़ाव-उतार उसके आंतरिक भावों को प्रदर्शित करता था। जिस दिन अपरिचित बालिका से कंपनीबाग़ में साक्षात् हुआ, उसी दिन से प्रकाश की जीवनचर्या में अपूर्व परिवर्तन होने लगा। बालिका के रूप-गुण-माधुर्य एवं सलज्ज व्यवहार ने उसके हृदय पर अधिकार कर लिया। उसी लावण्यमयी मूर्ति को प्रकाश ने अपने हृदयमंदिर में स्थापित किया। पवित्र प्रेम का भी सौंदर्य अपूर्व होता है। प्रकाश प्रतिदिन कंपनीबाग़ जाता, परंतु फिर उस अनुपम प्रभा के दर्शनों से वंचित लौट आता। उसी आराध्य देवी के चिंतन में प्रकाश के दिन बीतने लगे। बालिका के परिचय से वह सर्वथा अनभिज्ञ था, पर वह अपने हृदय से उस मूर्ति का ध्यान न त्याग सका।

प्रकाश थोड़ी देर तक छत पर टहलता रहा। फिर आप-ही-आप बोल उठा—"भगवन्, तुमने इस जगत् में स्मृति और वियोग दोनों की सृष्टि की है, फिर क्या कारण है, जो एक को ही प्रधानता देकर दूसरे को उससे विमुख रखते हो! क्या तुम्हारे समदर्शी होने का यही प्रमाण है?"

× × ×

"विनोद, तुम लखनऊ से कब आए?"—प्रकाश ने पूछा।

"कल शाम की ट्रेन से।"

"और कोई आया है?"

"कोई नहीं, केवल मैं ही आया हूँ, बनारस जाने का विचार था, किंतु तुम्हारे भी कुछ समाचार न मिले थे, सोचा, तुमसे भी भेंट कर लूँ।"

"तो अभी दो-चार दिन तो रहोगे ही, संभवतः मैं भी तुम्हारे साथ बनारस चलूँ।"

"हाँ, परसों रात की गाड़ी से जाने का विचार है।"

विनोद प्रकाश का सहपाठी था। दोनों अभिन्नहृदय मित्र थे। विनोद लखनऊ में ही रहता था। उसके पिता सेक्रेटरी के दफ़्तर में काम करते थे। गर्मी की छुट्टियों में विनोद अपनी फूफी के पास बनारस जा रहा था। प्रकाश से मिलने वह मेरठ आया था।

"इतने शीघ्र चले जाओगे ?"—प्रकाश ने कहा—"अभी दो-चार दिन तो ठहरो ।"

"नहीं प्रकाश, मुझे बनारस जाना ही पड़ेगा । बड़ा आवश्यक कार्य है । अगर तुम भी चलो, तो बड़ा अच्छा रहे ।"

"यदि तुम परसों न जाकर दो दिन बाद चलो, तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूँ । बनारस देखने की मेरी भी बड़ी इच्छा है । परसों पिताजी आ जायँगे । उनसे आज्ञा लेना आवश्यक है ।"

"अच्छा—जो तुम चलने को कहो, तो मैं दो दिन और ठहर जाऊँगा ।"

"तो ठीक हो गया ?"

"हाँ, बिलकुल ठीक ।"

"प्रकाश, भाई अब बिदा दो तो, चलूँ । कल सबेरे फिर भेंट होगी ।"

"नहीं विनोद, ठहरो कुछ जलपान तो कर लो, तब जाना ।" 'मुन्नी मुन्नी"—प्रकाश ने पुकारा ।

"आई भैया"—कहती हुई मुन्नी कमरे में आ खड़ी हुई ।

"जाओ, कुछ जलपान के लिये ले आओ ।"

मुन्नी चली गई—थोड़ी देर बाद एक चाँदी की तश्तरी में कुछ मिठाई ले आई । दोनों मित्र खाने बैठे । प्रकाश बोला —"विनोद, तो बनारस में ठहरने का क्या प्रबंध किया जाय ?"

"क्यों ? जहाँ मैं ठहरूँगा, वहीं तुम भी रहना । स्थान खोजने की आवश्यकता ?"

"किंतु मेरा विचार गंगाजी के तट पर किसी रमणीय स्थान में ठहरने का था ?"

"फिर कोई और स्थान ठीक करो । मैं तुम्हारे साथ ही ठहरूँगा ।"

"श्याम बाबू मेरे पिता के बड़े मित्र हैं । उनकी एक कोठी बनारस में दशाश्वमेधघाट पर है । पिता से कहूँ, तो वहाँ ठहरने का प्रबंध हो जाय । अच्छा स्थान है ।"

"यदि वहाँ रहने का प्रबंध हो सके, तो फिर कहना ही क्या है ।"—हाथ धोते-धोते विनोद ने कहा ।

"अवश्य । पिताजी को आने दो, उनसे कहूँगा । वह श्याम बाबू को पत्र लिख देंगे । सब काम हो जायगा ।"

"अच्छा प्रकाश, तो यह काम तुम्हारे ज़िम्मे रहा । अब इस समय मैं चलता हूँ । कल सबेरे आऊँगा, तब और बातें होंगी । प्रणाम ।"

"प्रणाम भाई ।"

विनोद चला गया ।

× × ×

बनारस पहुँचकर दोनों मित्र श्याम बाबू की हवेली में ठहरे । गंगा का किनारा निकट होने के कारण वह स्थान बहुत ही रमणीक था । हवेली के सामने एक छोटा-सा बग़ीचा था, जिसने उस स्थान की शोभा दुगनी कर रक्खी थी ।

प्रातःकाल गंगास्नान के उपरांत शहर घूमने की ठहरी । विनोद तो अपनी फूफी के यहाँ चला गया । प्रकाश ने एक ताँगा किराए पर करके शहर की राह ली । अनेक देवमंदिरों का दर्शन करने के पश्चात् छावनी के निकट आकर उसने ताँगेवाले को बिदा किया और पैदल ही एक ओर चल पड़ा । दिन चढ़ रहा था । क्रमशः धूप तेज़ होती जाती थी, किंतु प्रकाश किसी धुन में मस्त चला जा रहा था । वह कितनी दूर निकल आया, इसका उसे किंचित् ज्ञान न रहा । अकस्मात् अपने पीछे आती हुई मोटर का हार्न सुनकर वह चौंक पड़ा । उसने ज्यों ही चाहा कि रास्ते से हटकर फ़ुटपाथ पर हो रहे, त्यों ही उसे मोटर का धक्का लगा और वह सड़क पर गिरकर बेहोश हो गया । मोटर भों-भों करती हुई उसके ऊपर से निकल गई ।

× × ×

जब प्रकाश होश में आया, तो उसने अपने को अस्पताल के कमरे में एक पलँग पर पाया । आहत स्थान से रक्त अधिक निकल जाने के कारण उसका सिर चक्कर खा रहा था । निर्बलता के लक्षण स्पष्ट थे । उसने अपने को एक अपरिचित स्थान में पाकर आश्चर्य से इधर-उधर दृष्टि डाली । देखा, सामने कुर्सी पर एक नर्स बैठी हुई किताब पढ़ रही है । प्रकाश ने अपने सिर पर हाथ रक्खा, तो ज्ञात हुआ कि पट्टी बँधी हुई है । एक-एक करके पहले की सब घटनाएँ उसके ध्यान में आ गईं । उसने कुछ बोलने की चेष्टा की, परंतु निर्बलता के कारण मुँह से शब्द न निकला । नर्स ने उठकर एक मात्रा ओषधि प्रकाश के मुँह में टपका दी ।

प्रकाश को कुछ चेतनता आई। उसने दाहनी ओर करवट लेते हुए अति क्षीण स्वर में पूछा—"मिस, मैं कहाँ हूँ ?"

नर्स ने कहा—"महाशय, आप सिविल हास्पिटल में हैं। कहिए, कुछ कष्ट तो नहीं है ?"

प्रकाश ने उसकी बात सुनी-अनसुनी करके फिर पूछा—"मुझे यहाँ कौन लाया ?"

"महाशय, आप मोटर के नीचे आ गए थे। आपके सिर में बड़ी चोट लगी है। यहाँ एक लेडी, आपको दाख़िल करा गई है।"

"क्या आप उनका नाम बता सकती हैं ?"

"नहीं, मुझे उनका नाम तो नहीं मालूम। शायद अस्पताल के रजिस्टर पर हो। बतलाइए आपको तकलीफ़ तो नहीं हो रही है।"

प्रकाश ने फिर कुछ अन्यमनस्क भाव से कहा—"मैं कितने समय से यहाँ हूँ ?"

"आपको हास्पिटल में दाख़िल हुए आज तीसरा दिन है। लगभग साठ घंटे के बाद आपकी बेहोशी दूर हुई है। कहिए, सिर में दर्द तो नहीं है ?"

"नहीं, अब अच्छा हूँ। केवल थोड़ी कमज़ोरी मालूम होती है।"

नर्स उठकर चली गई। प्रकाश फिर बिछौने पर करवटें बदलने लगा।

× × ×

संध्या के समय प्रकाश बरामदे में आरामकुर्सी पर लेटा हुआ "पायोनियर" पढ़ रहा था। अस्पताल के नौकर ने आकर कहा—"बाबूजी, एक मिस साहब आपसे मिलना चाहती हैं—वही हैं, जो उस दिन आपको अपनी गाड़ी पर लाकर अस्पताल में दाख़िल करा गई थीं। बड़े साहब से अभी इजाज़त लेकर आई हैं।"

"तुम उन्हें पहचानते हो ? क्या वही मुझे यहाँ लेकर आई थीं ?"—प्रकाश ने पूछा।

"हुज़ूर की बात—मैंने उन्हें अच्छी तरह पहचाना है। वही आपको यहाँ लाई थीं।"

"जाओ, भेज दो।"

नौकर ने एक कुर्सी लाकर रख दी। फिर बाहर चला गया।

थोड़ी देर बाद एक युवती ने आकर प्रकाश को प्रणाम किया। युवती की वेष-भूषा साधारण थी, तो भी वह अपूर्व सुंदरी ज्ञात होती थी। उसके शरीर पर गुलाबी रंग की बनारसी साड़ी बड़ी भली मालूम देती थी। चाल-ढाल से वह किसी भले घर की लड़की जान पड़ती थी। प्रकाश ने उसके प्रणाम का उत्तर देकर अख़बार नीचे डालते हुए कहा—"बैठिए।"

वह कुर्सी पर बैठ गई। फिर पूछा—"अब आप कैसे हैं ?"

"अच्छा हूँ।"—प्रकाश ने कुछ लजाते हुए उत्तर दिया।

"यहाँ किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं है ?"

"नहीं, कष्ट तो कोई नहीं है; परंतु घर के कुछ समाचार नहीं मिले हैं ?"

"आपका निवासस्थान कहाँ है ?"

"मेरठ।"

"मेरठ !"—युवती ने बड़े आश्चर्य में कहा। प्रकाश ने अकचका कर उसके मुँह की ओर देखा। चेहरा कुछ परिचित-सा ज्ञात हुआ। वही बड़ी-बड़ी लजीली आँखें थीं—शुभ्र ललाट, हँसता हुआ फूल-सा मुखमण्डल। प्रकाश के मुँह से बात न निकली। अस्फुट स्वर में उसने कुछ कहा ! उसका सारा बदन काँप रहा था। दोनों एक दूसरे की ओर कई क्षण तक देखते रहे। युवती की आँखों में आँसू छलछला आए। प्रकाश ने घबड़ाकर आँखें बंद कर लीं।

× × ×

जब प्रकाश कुछ स्वस्थ हुआ, तो उसने चकित होकर अपने चारों ओर देखा, उसके पास कोई न था, अँधेरा हो चला था। मेज़ पर दवा की शीशी के पास एक विज़िटिंग कार्ड चमक रहा था। उस पर लिखा था—"कुमुद।"

× × ×

जून की २७वीं तारीख़ थी। पिता का तार पाकर प्रकाश मेरठ वापस आ गया। घर आने पर उसने जो कुछ सुना, उससे वह व्याकुल हो उठा। बाबू शिवसहाय ने बिना प्रकाश को बतलाए ही उसका विवाह बनारस के रईस बाबू हरगोविंददयाल के यहाँ पक्का कर लिया था, विवाह का मुहूर्त इत्यादि सब प्रकाश की अनुपस्थिति ही में निश्चित हो चुका था। २ जुलाई को लग्न थी। माता के द्वारा प्रकाश को सब हाल ज्ञात

ना। यह भी सुना कि लड़की पढ़ी-लिखी, सुंदर, शील और गृहकार्य में दक्ष है। अपने पिता की वह एकमात्र संतान है। घर के सब लोग विवाह की तैयारी रहे थे। प्रकाश अकेला अपने कमरे में बैठा सिर रहा था। उसके मन में रह-रहकर यही भावना ती थी कि उसके पिता का, बिना उसकी राय लिए, विवाह ठीक कर लेना कहाँ तक उचित था। प्रकाश त्य सिद्धांतों का समर्थक था, किंतु उसके पिता ने विचारों के आदमी थे। उन्होंने विवाह के विषय लड़के से सलाह लेना बिलकुल अनावश्यक समझा। प्रथा न थी।

तिलक चढ़ चुका था। पर बेचारा प्रकाश! उसका उत्साह, उसकी समस्त अभिलाषाएँ, आकांक्षाएँ, के उत्कृष्ट विचार सब पूर्वप्रचलित सामाजिक प्रथा वेदी पर बलिदान हो चुके थे। प्रकाश अपने मनो-ओं को यथासाध्य दबाने की चेष्टा करता था, पर सब र्थ। उसकी उद्विग्निता उसके चेहरे से स्पष्ट थी। उसे कुमुद का ध्यान था। कौन कुमुद? उसकी मनोनीत अधिष्ठात्री देवी कुमुद। जीवनसर्वस्व कुमुद, जिसको प्रथम साक्षात् में ही वह अपना हृदय दे चुका था। वह हृदय अब दूसरे का कैसे हो सकता था। हाय! उस कुमुद को भी आसुरी प्रथा की भेंट चढ़ना पड़ा। प्रकाश के मन में अनेक प्रकार के विचार क्रमशः उठे और नष्ट हो रहे थे। कभी वह घर से भाग जाने का विचार करता, कभी आत्महत्या करके अपने दुःखमय जीवन की समस्त ज्वालाओं से शांति पाने की सोचता। किंतु कर्तव्य! उसकी कुम्हलाती हुई आशाओं पर विजयी होकर उसे वर्तमान परिस्थिति में संतोष करने का उपदेश दे रहा था। उसी कर्तव्य के सम्मुख प्रकाश लाचार हो गया। अपने जीवन में कभी उसने माता-पिता की आज्ञा नहीं टाली थी, किंतु क्या उसका यही अंतिम परिणाम था। प्रकाश का हृदय अंतर्ज्वाला से धधक उठता था। मन कहता था डूब मरो, ऐसे जीने से न जीना ही अच्छा है। कर्तव्य कहता था—नहीं, संसार में कर्म ही सर्वप्रधान है। मातापिता की आज्ञा मानना तुम्हारा धर्म है। उनके आदेश-पालन के सम्मुख इस जगत् के संपूर्ण पदार्थ तुच्छ हैं। आशा बिचारी निरुत्साह होकर एक कोने में मुँह छिपाए पड़ी थी।

इस प्रकार एक शिक्षित आर्यसंतान के भावी जीवन-रूपी भाग्य का निपटारा हो रहा था।

× × ×

विवाह कार्य सकुशल समाप्त हो गया। बारात लौट आई। मातापिता का हृदय उत्साह और उमंग से उछला पड़ता था। उन्होंने सर्वगुणसंपन्न सुशीला वधू पाई थी। उनके आनंद की सीमा न थी। छोटे से लेकर बड़े तक सब लोग प्रसन्न थे। कन्यापक्षवालों ने देने-लेने में कोई कसर न रक्खी थी। सब लोग प्रशंसा कर रहे थे। किंतु प्रकाश!—उसके जीवन की सब आशाओं का अंत विवाह के साथ ही होना था। वही एक हृदय था, जो कर्तव्य की बेड़ियों में जकड़ा जाकर प्रकट में शांत पर वास्तव में चिता की नाईं धू-धू करके जल रहा था। विधाता की लीलाओं को कौन जान सकता है। प्रकाश ने अपने भाग्य को—दैव को ही—दोषी ठह-राया। उसे सांसारिक जीवन से एकदम घृणा हो गई। उसने पूर्ण त्याग को ही उन्नति का मंत्र मानकर उसे ही अपनाने का विचार किया।

वाह रे हिंदू समाज—तेरी बलिहारी है।

× × ×

रात को लगभग दस बजे थे। प्रकाश अपने कमरे के किवाड़ बंद किए लैंप के सामने अकेला बैठा स्वामी रामतीर्थ की कोई पुस्तक पढ़ रहा था। उसकी मान-सिक ज्वाला शांत न हुई थी। पुस्तक में उसका जी नहीं लग रहा था, पर आँखों में नींद भी न थी। कभी पढ़ते-पढ़ते रुककर वह कुछ सोचने लगता था। अपने भावी जीवन का चित्र उसकी आँखों के आगे घूम रहा था, जो निराशा के कलि-कलेवर से आच्छादित होकर धूमिल दिखाई देता था।

उसने पुस्तक बंद करके मेज़ के नीचे डाल दी। फिर आप-ही-आप कहने लगा—

'शोक, इन महात्माओं को देखिए। वेदांत का कैसा ढोंग रचकर एक पाखंड बनाते हैं, कैसे-कैसे सिद्धांत निश्चित करते हैं, किंतु फिर भी धर्म की ओट में, कर्तव्य की आड़ में अत्याचार होते देखकर इनका हृदय नहीं पसीजता। प्रथा—सामाजिक प्रथा—आसुरी प्रथा—इसी से भारतीय समाज का सत्यानाश हुआ। न विचारों की स्वतंत्रता है न कार्य की। हम भारतीयों

के जीवन का रहस्य इसी प्रथा के परदे से ढका है। इसी प्रथा द्वारा हम मनुष्य से पशु बनाए जाते हैं। हम अपने अधिकारों से वंचित किए जाते हैं, समाज का यही शासन-दण्ड है। ऐसे समाज को धिक्कार है, जो शिक्षित जनता के मार्ग में कंटक बनकर उसका वास्तविक स्वत्व छीन लेता है। मैं ही नहीं, मेरे-जैसे सैकड़ों मनुष्य इस समाज के प्रथा-रूपी अस्त्र का लक्ष्य बन चुके हैं। उनका जीवन भी मेरे जीवन के सदृश नष्ट किया जा चुका है। ऐसे समाज को दूर ही से प्रणाम है। बड़े-बड़े सुधारक बनते हैं, किंतु केवल वाणी से, कर्म से नहीं! यदि जीवित रहा, तो इस समाज में एक ऐसी क्रांति उत्पन्न करूँगा, जिसकी प्रचंड उष्णता में प्रथा का समूल अंत हो जायगा। वह विप्लव ऐसा अद्भुत और विकराल होगा कि उसकी लपेट में आकर सारा भारतीय समाज..........."

इसके आगे प्रकाश कुछ न कह सका।

× × ×

कमरे का किवाड़ धीरे से खुल गया। प्रकाश चौंक उठा। वह घबराकर एक क्षण द्वार की ओर देखता रहा। उसकी नवविवाहिता पत्नी ने कमरे में प्रवेश किया। प्रकाश उठकर खड़ा हो गया। इसके पहले दोनों कभी साक्षात् न हुआ था।

लज्जित भाव से उसने घुटनों के बल बैठकर प्रकाश के दोनों पैर पकड़कर कहा—"प्राणेश!"

प्रकाश ने पत्नी के मुँह पर दृष्टि डाली। उसकी आँखों में आँसू छलछला आए। उसने कहा—"कुसुम! तुम!" आगे उसके मुँह से कोई बात न निकली।

दोनों मिल गए। छत पर ज्योत्स्ना छिटकी हुई थी। चंद्रदेव आकाश में हँस रहे थे। प्रकृति की शांत गोद में सारा लोक अचेत था। केवल पवनदेव निशासुंदरी से अठखेलियाँ कर रहे थे।

वह अपूर्व "मिलन" था।

लक्ष्मीशंकर मिश्र

सूक्ति-कुंडल *

कुंडलिया

मित्र! टाँग के दर्द से, नहीं हुआ हूँ पार;
दवा दारु उपचार ने, किया मुझे लाचार।
किया मुझे लाचार, बिगाड़ा मैंने पैसा;
गए बीत छः मास, हाल वैसे का वैसा।
कहे 'देव' भर आह, दर्दघटना है विचित्र;
हट-हट आवे लौट, बड़ा सत्याग्रही, मित्र!

शालिनी

आते मौक़े, तात! उत्थानवाले;
ले लेते हैं, लाभ जी-जानवाले।
वे पाते हैं, स्थान सम्मानवाले;
जो जाते हैं, जूझ ईमानवाले।

भुजंगी

कहाँ है नहीं जो बहे धार में?
रहे जो तना तेग की मार में।
सदा हो डटा बीच मैदान में;
सभी वार दे देश की आन में।

दोहा

जीवन तो रणखेत है, जूझो निर्भय होय;
तिलक-विजय जिन पाइया, बड़भागी हैं सोय।
बाधा-बाधा करत है, तू मूरख नादान;
बाधा का बध बिन किए, क्या पावगा मान?

सत्यदेव परिव्राजक (जर्मनी)

* अनुभवसागर से।

बिहारी की सतसई और उसके टीकाकार

(२)

बिहारी की सतसई तुलसी-सौरभान्वित वह 'मानस' नहीं है, जो राजहंसों के सेवन-योग्य है। यह तो बिहारी का विहार-सरोवर है, जो अपने ढंग का अवश्य अनूठा है, सुंदर है, चेतोहर है। परंतु अत्यधिक 'विहार' होने के कारण कहीं-कहीं इस सरोवर का जल बिलकुल पंकिल हो गया है, अतएव अपेय हो गया है। हाँ जो जल के दोष दूर करके उसका स्वच्छ भाग ग्रहण करने में पटु हैं, वे आवश्यकतानुसार इसके जल का सेवन कर भी सकते हैं; परंतु जो ऐसी सामर्थ्य से वंचित हैं, उन्हें इधर न झुकना चाहिए, विशेषतः 'अपरिपक्व-मति' जनों को। कारण, इसके अंधाधुंध सेवन से बड़े भारी और कष्टातिशयकर रोगों के हो जाने का डर है—असाध्य बीमारियों के हो जाने का ख़तरा है।

"बड़े मियाँ तो बड़े मियाँ, छोटे मियाँ सुभान अल्लाह!" बिहारी ने तो अपने 'रसिक' आश्रय-दाता मिर्ज़ा जयसिंह को ख़ुश करने के लिये जो कुछ किया सो किया ही है; पर उसके टीकाकार कहीं-कहीं उनसे भी आगे बढ़ गए हैं! हद कर दी है! इस लेखमाला में आगे इसका आभास मिलेगा।

हम इस सतसई के विषय को, अधिकांश में दूषित, पर उसके अभिव्यक्त करने के ढंग को बहुत बढ़िया समझते हैं—विषय जीवन को और उसके अभिव्यंजन का ढंग मन को हरनेवाला है। थोड़े में यही हमारी इस काव्य के विषय में सम्मति है।

सतसई का पहला दोहा है—

> मेरी भौ बाधा हरौ, राधा-नागरि सोय;
> जा तन की झाईं परे, स्याम हरित दुति होय।

दोहा बहुत बढ़िया है और वस्तुतः सतसई के मस्तक पर ही विराजमान होने के योग्य है। अक्षर प्रसन्न हैं—भाव साफ़ झलकता है। पर खेद की बात है कि इस मंगलाचरण के दोहे से ही टीकाकारों ने अपनी कुत्सित मनोवृत्ति का परिचय देना शुरू कर दिया है। एक तो 'ठोंक-पीटकर' इस दोहे के 'विविध' अर्थ करके अनर्थ कर डाला गया है—बेचारे दोहे की दुर्दशा कर डाली गई है; फिर एक ऐसा अर्थ करने की धृष्टता भी की गई है, जो शिष्ट साहित्य-समाज में अक्षम्य अपराध है। हरि कवि ने अपनी टीका में इस दोहे का बड़ा ही उच्छृंखल—अश्लील—अर्थ किया है। परंतु अतिशय खेद की बात तो यह है कि यह अश्लील अर्थ 'संजीवन-भाष्य' में भी ख़ूब नोन-मिर्च लगाकर उद्धृत किया गया है। ऐसा दोष करके फिर 'अनुवादी न दुष्यति' लिख देने से अपराध-परिमार्जन नहीं हो सकता। अर्थ देखिए—

"१—अथवा—नायिका—(श्रीराधा) को मानिनी देखकर नायक (श्रीकृष्ण) प्रार्थना (मिन्नत, ख़ुशामद) करते हैं कि 'हे राधा नागरि! मेरी भौ (भय) बाधा, हरौ, अर्थात् तुम्हारा मान (कोप-नाराज़गी) देखकर जो मुझे भौ (भय) है, उससे उत्पन्न बाधा (दुःख) को हरो। अभिप्राय यह कि मान छोड़ प्रसन्न हो जाओ। नायक महात्मा मान छोड़ने का ढंग बताते हैं और काम की बात पर आते हैं—क्या करके, 'सोय—' या को अर्थ हमारे पास शयन करिकै।" तुम्हारे तन की कांति पड़ने से हमारा (श्रीकृष्ण का) जो यह श्याम शरीर है, 'सो, सानंद होत है।' क्यों न हो, हुआ ही चाहे।"

—संजीवन-भाष्य

कहिए, यह घासलेट-साहित्य है, या क्या? संजीवन-भाष्य के निर्माता घासलेट-साहित्य के प्रमुख विरोधियों में होकर भी अपनी क़लम से ये गंदे शब्द लिखते हैं! पाठक इस औचित्य या अनौचित्य पर स्वयं सोचें!

इस दोहे के पदों पर विचार करते हुए 'संजीवन'-भाष्य-कार लिखते हैं—"मेरी भव-बाधा" शब्द में (शब्दों में?) उपासक-बोधक 'मेरी' पद से—"जगन्नाथस्याऽयं सुरधुनि! समुद्धार-समयः—" के

समान अपनी अधमतातिशयता (अपना अधमता-तिशय ?)-द्योतन द्वारा इष्टदेव की निरतिशय महिमा की ध्वनि निकलती है !''

विचार करने पर ऊपर लिखी बातें भ्रम-पूर्ण सिद्ध होती हैं। न तो 'मेरी' पद से कोई ध्वनि निकल सकती है और न कुछ; शर्माजी ने जो पंडितराज का पद्यांश मिसाल के तौर पर पेश किया है, उसके 'जगन्नाथस्य' पद में अवश्य वह ध्वनि है। उस पद्यांश का भाव यह है कि हे भगवति सुरधुनि! (गंगे!) यह जगन्नाथ के समुद्धार का समय है, ज़रा सँभलकर हाथ बढ़ाइए, यह मामूली पतित नहीं, पतिताग्रगण्य 'जगन्नाथ' है! यहाँ वस्तुतः 'जगन्नाथस्य' पद से प्रार्थयिता अपना अधमतातिशय-द्योतन करता है।

बात यह है कि यहाँ गंगाजी से प्रार्थना करनेवाले स्वयं जगन्नाथ हैं; अतएव सर्वनाम 'मम' का प्रयोग होना चाहिए था, 'जगन्नाथस्य' का नहीं। इसीलिये यह 'जगन्नाथस्य' पद अनुपपन्न होकर अधमतातिशयविशिष्ट-मदर्थ का बोध कराता है। प्रकृत दोहे के 'मेरी' पद में यह कुछ भी नहीं है, कोई बात ही नहीं है। सीधा-सादा 'मेरी' पद का प्रयोग है, जो अपने सामान्य अर्थ का अभिधान करता है। ध्यान रखने की बात है कि 'अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य'-नामक ध्वनि लक्षणा-मूलक है, और लक्षणा तभी होती है, जब कोई पद बाधित हो, अनुपपन्न हो, जैसे 'जगन्नाथस्याऽयं सुरधुनि! समुद्धार-समयः' अथवा 'वीर-सतसई' के इस द्रौपदी-प्रणयानुरोध में—

''जाहु भलैं कुरुराज पहँ, धारि दूतवर वेष;
जैयो भूलि न कहुँ वहाँ केशव! द्रौपदि केश।''

'वीर-सतसई' के इस दोहे के 'द्रौपदि' इस अंश में अवश्य वह अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य ध्वनि है। 'मेरी भौ (भव) बाधा' में 'मेरी' पद बाधित या अनुपपन्न नहीं है जिससे लक्षणा करनी पड़े और फिर उससे वह ध्वनि—व्यंग्य—निकले, जो उक्त लक्षणा का फल है। सारांश यह कि इस 'मेरी' पद में कोई भी ध्वनि नहीं है।

एक बात और। शर्माजी ने इस 'मेरी' पद से 'इष्ट-देव की निरतिशय महिमा' की भी ध्वनि निकाली है! यह कैसी रही! यह कैसी 'मेरी' है, जो एक-से-एक बढ़कर ध्वनि-कुमारों का विश्रृंखल जनन करती चली जाती है! साहित्यिक बंधुओं के सोचने की बात है।

फिर भी आगे लिखा है—''काव्य प्रकाशके ... प्रकरणोदाहृतः—

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्॥

पद्य के 'त्वां' 'अस्मि' 'विदुषां' आदि पदों के समान 'मेरी' पद में लक्षणा-मूलक अविवक्षित-वाच्य अर्थान्तर-संक्रमित रूप ध्वनि है।''

'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य-दर्पण' आदि में उक्त ... वाक्यगत उक्त ध्वनि के उदाहरण में उद्धृत किया गया है। इस पद्य के 'त्वां' 'अस्मि' और 'वच्मि' पदों से ध्वनि निकलती हैं; पर 'विदुषां' पद से कोई भी ध्वनि नहीं निकलती। न-जाने, शर्माजी ने क्या सोचकर 'विदुषां' से ध्वनि निकलना लिखा है? मालूम नहीं, क्या ध्वनि उन्होंने इससे निकाली है? ख़ैर, जो है, सो तो है ही। पर इस मिसाल से भी शर्माजी को अभीष्ट-सिद्धि नहीं होती—इस पद्य के सहारे भी उस 'मेरी' से वह ध्वनि नहीं निकल सकती। इस संस्कृत पद्य में वे सब पद, जिनसे वे ध्वनियाँ निकलती हैं, एक प्रकार से अनुपपन्न हैं, ... एव लक्षणा करके कुछ विशिष्ट अर्थ प्रतिपन्न होता है और इसीलिये, फल-स्वरूप, वे-वे ध्वनियाँ निकलती हैं।

संस्कृत-पद्य में 'अस्मि' अव्यय 'अहम्' के अर्थ में है। जिससे बात कही जा रही है, वह सामने ही है, ... फिर 'त्वां' के कहने की कोई ज़रूरत नहीं। इस ... 'त्वां' पद अनुपपन्न होकर अन्य-व्यावृत्तिविशिष्ट ... लक्षित कराता है, जिससे निरतिशय प्रेम व्यक्त होता है। वक्ता का अभिप्राय है कि मैं तुमसे—सिर्फ़ तुमसे—बात कहता हूँ, यदि और कोई होता, तो मुझे ... ग़रज़ न पड़ी थी! इसी प्रकार अहमर्थक 'अस्मि' ... अनुपपन्न है। 'वच्मि' क्रिया का कर्ता 'अहम्' या ... मर्थक 'अस्मि' के अतिरिक्त और कोई हो ही ... सकता। तो फिर इस दशा में 'अस्मि' के देने की ... ज़रूरत न थी। यों यह पद अनुपपन्न होकर हितकारित्व-विशिष्ट अहमर्थ लक्षित कराता है, जिससे अत्यंत हि... पिता और वत्सलता अभिव्यक्त होती है। मतलब ... कि मैं—केवल मैं—हूँ, जो तुझे ऐसी सीख की बात ... रहा हूँ। और कोई तुझे ऐसी बातें बताने का नहीं। इसी तरह 'वच्मि' भी है। वह भी अनुपपन्न होकर 'कहता हूँ'

इस सामान्य अर्थ को छोड़कर 'उपदेश करता हूँ'—इस विशिष्ट अर्थ को लक्षित कराता है और उसके प्रातिशय्य का ध्वनन करता है।

परंतु प्रकृत दोहे का 'मेरी' पद किसी भी दशा में बाधित या अनुपपन्न नहीं है, जिससे उक्त ध्वनि निकले। यदि दोहे में 'मेरी' पद न हो, तो वह अर्थ किसी प्रकार निकल ही नहीं सकता, जो कवि को, इस मंगलाचरण के कर्ता को अभिप्रेत है। 'मेरी' पद के विना—'भव-बाधा हरौ'—जन्म-मरण की पीड़ा और अन्य सांसारिक दुःख श्रीराधा दूर करें, किसके?—सो कुछ खुलासा नहीं। अतएव यहाँ 'मेरी' पद आवश्यक है, वह अनुपपन्न नहीं है; इसीलिये लक्षणा का प्रवेश-द्वार बिलकुल बंद है, जिसके विना वह ध्वनि यहाँ शशशृंगायमाण है, जिसके स्वप्न 'संजीवन-भाष्य' में देखे गए हैं।

इस दोहे के अलंकारों को गिनाते हुए शर्माजी अपने 'संजीवन-भाष्य' में लिखते हैं—"दूसरे अर्थ में 'हेतु' अलंकार है—

"हेतोर्हेतुमता सार्द्धं वर्णनं हेतुरुच्यते।" (कुवलयानन्द)
'हेतु' अलंकृत होय जब, कारण कारज संग।"
—भाषाभूषण

अर्थात् जहाँ हेतु—(कारण) पूर्वक हेतुमान् (कार्य) का वर्णन किया जाय, वह 'हेतु' अलंकार कहाता है—जैसे यहाँ राधाजी का पीत वर्ण और श्रीकृष्णजी का श्याम वर्ण हरे रंग के होने में कारण है।"

शर्माजी का यह सब लिखना और उनके प्रमाणभूत 'कुवलयानन्द' तथा 'भाषा-भूषण' का यह 'हेतु'-लक्षण, सब कुछ ग़लत-सलत और बेमज़े का है। कारण और कार्य के एक साथ ही होने में 'हेतु' नहीं, 'अतिशयोक्ति' अलंकार का एक भेद होता है। जैसे—

समयेव समाक्रांतं द्वयं द्विरदगामिना।
तेन सिंहासनं पित्र्यं मण्डलं च महीक्षिताम्॥

गजगामी रघु ने अपने पिता का सिंहासन और राजाओं के मंडल को एक साथ ही अधिकृत किया। मतलब यह कि राजगद्दी पर बैठते ही अनति विलंब सब राजाओं को दबा दिया। यहाँ कारण—सिंहासनारोहण—और कार्य—राजाओं के मंडल को दबाना—एक साथ ही कहे गए हैं। ऐसा कहने में ख़ास चमत्कार है, जो अलंकार का बीज है। यदि इसी प्रकार का कारण कार्य-सहभाव अभिप्रेत है, तो ऐसी जगह 'हेतु' नहीं, 'अतिशयोक्ति' अलंकार होगा—इसका वह भेद, जो कारण-कार्य के सहवर्णन में होता है। सो, यहाँ 'हेतु' अलंकार नहीं है। 'हेतु' तो तब होता है, जब कारण का कार्य के साथ अभेद कथन किया जाय, जैसे संस्कृत के इस पद्य में—

"तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसम्पदो हासः।
धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम्॥"

यहाँ वशीकरण का हेतु नायिका है, जो वशीकरण रूप से कही गई है।

सारांश यह कि 'कुवलयानन्द' और 'भाषा-भूषण' में जो 'हेतु' का लक्षण किया गया है, वह ग़लत है। जिसे इन्होंने 'हेतु' लिखा है, वह 'अतिशयोक्ति' अलंकार का एक भेद है। पर इस दोहे में यह 'अतिशयोक्ति' भी नहीं है और 'हेतु' तो है ही नहीं। फलतः इन लक्षणों के आधार पर शर्माजी ने जो इमारत खड़ी की थी, वह बैठ गई।

अनवरख़ाँ के अनुसार इस दोहे में शर्माजी ने एक नया अलंकार 'श्लेषाभास' भी लिखा है—'भव-बाधा' में 'भव' शब्द के अनेकार्थता को लक्ष्य में रखकर अनवरख़ाँ ने 'श्लेषाभास' भी लिखा है। अर्थात् 'भव-बाधा' समस्त-पद-गत 'भव' शब्द में, हे भव शिव ! मेरी बाधा हरो' इत्यादि भ्रम होता है।"

वस्तुतः न तो यहाँ 'हे भव शिव !' आदि का भ्रम ही होता है और न यह कल्पित अलंकार ही है। यदि कहीं भ्रम हो भी, तो इस प्रकार का कोई अलंकार वैचित्र्याभाव के कारण हो नहीं सकता और न किसी साहित्य-ग्रंथ में इस अद्भुत अलंकार की कोई कथा ही है। मालूम होता है, 'पुनरुक्तवदाभास'-नामक शब्दालंकार की धुँधली स्मृति ही इस नवीन अलंकार-कल्पना की भूल का कारण है।

इसी प्रकार कितने ही मनगढ़ंत अलंकारों और अर्थों की कल्पना की गई है। एक और अर्थ किया गया है।

"२—अथवा—तुम्हारे तन की झाईं (कांति) जब मिज़ाज (समागम) के समय हमारे (श्रीकृष्ण के) शरीर पर पड़ती है, तब श्याम—श्यामवर्ण शृंगाररस या (रतिपति) काम—सो पल्लवित होता है।" (संजीवन-भाष्य)

फिर "कामदेव और शृंगाररस दोनों का वर्ण श्याम है। सो, यहाँ 'साध्यवसाना' लक्षणा करके 'श्याम' पद से श्यामवर्ण-विशिष्ट 'काम' या 'शृंगार' का ग्रहण करना चाहिए।" इस प्रकार यह लिखकर, आगे साध्यवसाना लक्षणा का लक्षण आदि लिखकर सोदाहरण इसकी उत्पत्ति की गई है। शर्माजी की यह सब कल्पना निरी कल्पना ही है—कुछ तथ्य इसमें नहीं है। न तो इस दोहे का यह अर्थ ही हो सकता है और न 'श्याम' से 'काम' या 'शृंगार' का ग्रहण ही। साध्यवसाना लक्षणा का तो ठिकाना ही नहीं है। यह लक्षणा—या कोई भी लक्षणा—तभी होती है, जब मुख्यार्थ बाधित हो, और रूढ़ि किंवा प्रयोजन, इन दो कारणों में से कोई भी एक अवश्य हो। यहाँ न तो 'श्याम' पद बाधित ही है और न कुछ। यदि किसी प्रकार 'श्याम' पद अनुपपन्न मान भी लिया जाय, तो भी रूढ़ि या प्रयोजन का अभाव होने से उक्त लक्षणा अशक्य है। यहाँ लक्षणा करने का प्रयोजन तो कोई है ही नहीं, न शर्माजी ने लिखा ही है और न मेरी बुद्धि में सम्भावित ही है। रही रूढ़ि, सो, 'श्याम' पद की रूढ़ि 'काम' या 'शृंगार' में नहीं, श्रीकृष्णचंद्र में ही है। सो इस प्रकार यहाँ साध्यवसाना लक्षणा हो नहीं सकती। 'श्याम' पद से 'काम' या 'शृंगार' का बोध हो नहीं सकता, अतएव इस का सहारा लेकर किया जानेवाला वह ऊटपटाँग अर्थ कभी समर्थित हो नहीं सकता।

इसी प्रकार और भी कितनी ही मज़े की बातें इस दोहे पर विभिन्न टीकाकारों ने—संजीवन-भाष्यकार ने भी—लिखी हैं। उन सबका उल्लेख करने के लिये न तो यहाँ स्थान ही है और न अवकाश ही। जो जन अभिलाषी हों, वही इसका आनंद लें।

किशोरीदास वाजपेयी

मुकुर के प्रति—

(१)

भूषित सदैव करते हो कररंज वह,
सुखद सनेह की सुधा को बरसाते तुम;
प्रीतम की मूर्ति हृदमंदिर बसा के मंजु,
आँखों से मिलाने में न आँख सकुचाते तुम।
रूपरस पीकर अघाते नहीं बार-बार,
बाहर दिखाते कभी उर में छिपाते तुम;
आरपार हृदय दिखाके अपना ये शुभ्र,
जग को कठिन प्रेम-पंथ सिखलाते तुम।

(२)

मिलते हमें हैं जब प्राणाधार मंदिर में,
आँखें सकुचाके पाँव पर अड़ जाती हैं;
उठती नहीं हैं समझावे कितना भी कोई,
जाने कौन मंत्र यह मौन मन गाती हैं।
जाते हो हृदयधन ढूँढ़ती व्यथित होके,
जाने फिर हाय इतना क्यों अकुलाती हैं;
मुकुर! तुम्हीं हो धन्य देखते ही मूर्ति वह,
आँखों से समोद बस आँखें मिल जाती हैं।

(३)

जग में न स्वच्छ तुम-सा है और कोई कहीं,
कालिमा ज़रा-सी लगते ही रूठ जाते तुम;
ऊषा जिस छवि पै लुटाती माल मोतियों की,
उसके ही कर में सप्रेम छवि पाते तुम।
थकित हुए हैं चित्रकार चित्र-चित्रण में,
चित्र उसका ही शीघ्र उर में बनाते तुम;
मलिन हृदै में हृदयेश हैं न आते कभी,
मुकुर! यही क्या सब जग को सिखाते तुम?

(४)

जिस रूपराशि पै करोड़ों कंज खिलते हैं,
उसका ही हृदयसरोज विकसाते तुम;
छाया-मात्र जिसकी छिपाए फिरता है चंद्र,
मूर्ति छविधाम वह अंक में बिठाते तुम।
जिस प्रतिबिंब पै मचलता नदी में नीर,
शांति से उसे ही नित्य उर से लगाते तुम;
अग प्रति अंग में बसाके मूर्ति प्रीतम की,
भाग्य तक हाथ में उन्हीं के सौंप देते तुम।

(५)

सहके वियोग-यातनाएँ घबराते नहीं,
रवि सम प्रखर प्रकाश दिखलाते तुम;
चाहे कितना भी दुख देवें अनुदारता से,
"आह!" तक जीभ पै कभी भी नहीं लाते तुम!
जानते भली विधि कठोरता हो प्रेमियों की,
तो भी निशिवासर उन्हीं के गुण गाते तुम;
मुकुर! तुम्हीं तो रूपराशि के पुजारी धन्य,
आँखें दिखलाते वह हृदय दिखाते तुम।

के० पी० दीक्षित "कुसुमाकर"

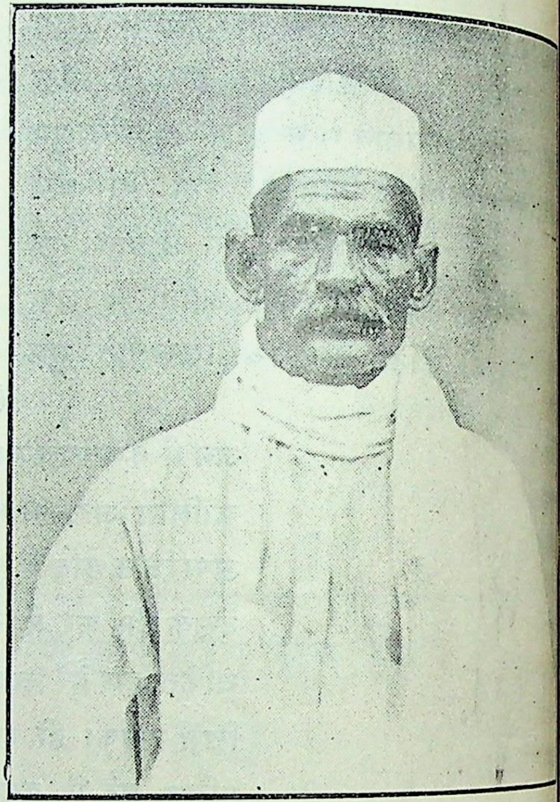
स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी 'दीन'

जन्म

लाला भगवानदीनजी 'दीन' का जन्म फतेहपुर (हसवा) ज़िलांतर्गत बरवट ग्राम में श्रीयुत मुंशी कालिकाप्रसादजी बख़शी के घर, श्रावण शुक्ल ६ संवत् १९२३ वि० को हुआ था। आप श्रीवास्तव दूसरे कायस्थ थे। आपके पूर्व-पुरुष पहले रायबरेली में निवास करते थे। अनंतर ग़दर के समय वे लोग रामपुर चले गए और वहीं उन्हें स्थानीय नवाब की ओर से 'बख़शी' का सम्मानसूचक ख़िताब मिला था।

नामकरण

प्राय: देखा जाता है कि समय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये होनेवाली महान् पुरुषों की जन्म-घटनाओं में कुछ-न-कुछ दैवी शक्ति अवश्य अंतर्हित रहा करती है। कविवर 'दीन'-जी का जन्म भी इस ईश्वरीय नियम के अनुसार ही हुआ था। आपके माता-पिता के बहुत कालपर्यंत कोई भी संतति न हुई थी। अंत में किसी साधु ने आपकी माता को संतानोत्पत्ति के लिये भगवान् सूर्य की कठिन तपस्या का विधान बताया। तदनुकूल उस देवी ने ज्येष्ठ-मास की कड़ी धूप में अनुष्ठान आरंभ किया था और प्रति रविवार को वह सूर्योदय के समय एक थाली में प्रज्वलित चतुर्मुख दीपक के साथ अन्य पूजन सामग्री संकलित कर सूर्याभिमुख खड़ी हो जाया करती थीं। ज्यों-ज्यों सूर्य भगवान् घूमते, आप भी घूमतीं और सूर्यास्त होने पर संकलित सामग्री से भगवान् का पंचोपचार पूजन कर वहीं लेट रहा करती थीं। इस प्रकार दो रविवार तक तो वह देवी अपने अनुष्ठान में पूर्णत: कृत-कार्य हुई; किंतु तीसरी बार मध्याह्न होते-होते सूर्य के प्रखर ताप के कारण वह वहाँ बेहोश हो गिर पड़ीं। अनंतर भगवान् के प्रसाद से हिंदी-साहित्याकाश के लिये सूर्यवत् आपको एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ और इसीलिये आपका नाम भगवानदीन रक्खा गया।



स्व० लाला भगवानदीन 'दीन'

पारिवारिक स्थिति एवं शिक्षारंभ

'दीन'जी के पिता साधारण स्थिति के गृहस्थ थे। बहुधा आजीविकावश उन्हें बाहर ही रहना पड़ता था। अत: उन्होंने पुत्र को माता के पास रखकर बरवट में ही उर्दू-फ़ारसी की आरंभिक शिक्षा दिलानी आरंभ की। जब 'दीन'जी की अवस्था ग्यारह वर्ष की हुई, आपकी माता का देहावसान हो गया, जिससे आपके पिता उन्हें अपने साथ बुंदेलखंड नौकरी पर ले गए। वहाँ नौगाँव छावनी में अपने फूफा के पास रहकर 'दीन'जी ने फ़ारसी की विशेष शिक्षा प्राप्त की। चार वर्ष पीछे आप फिर घर लौट आए और वहाँ दो वर्ष तक मदरसे में पढ़ते रहे। आपने इसी समय अपने दादा से, जो एक परम भक्त पुरुष थे, साधारण हिंदी सीखी। अनंतर सत्रह वर्ष की

अवस्था में फ़तेहपुर के इँगलिश स्कूल में आप भरती हुए, वहाँ से सात वर्षों में एंट्रेंस-परीक्षा पास की । स्कूल में भरती होने के कुछ ही दिनों पश्चात् आपके लाड़-प्यार के एकमात्र आधार दादाजी का भी देहांत हो गया । ऐसी दशा में आपके पिताजी ने आपकी देखरेख का कुल भार वहाँ अपने घनिष्ठ मित्र श्रीपुत्तू सोनार को सौंप दिया ।

प्रतिभा का विकास एवं गार्हस्थ्य-जीवन में प्रवेश

'दीन'जी छुटपन से ही विनय की मूर्ति तथा भक्ति के उपासक थे, अतः आप पर श्रीपुत्तू चाचा के स्नेह-स्रोत के प्रवाह का सहसा उमड़ पड़ना स्वाभाविक ही था । दूसरे, उनके कोई संतान भी न थी । इसलिये 'दीन'जी को दादाजी का वियोग भूल-सा गया । साथ ही, श्रीपुत्तू सोनार के एक विधवा बहन भी थी, जो निःसंतति हो अपने रँडापे के दिन वहीं खे रही थी । कहना न होगा कि इन मनियाँ बुआ के कारण 'दीन'जी का मातृ-वियोग भी बहुत कुछ हलका हो गया । इन मनियाँ बुआ का शरीरपात अभी ३-४ वर्ष पूर्व हुआ है और 'दीन'जी पर बराबर इनका स्नेह एक-सा पाया गया । अस्तु ; इस प्रकार शिक्षा पाते हुए 'दीन'जी जब आठवीं कक्षा में पहुँचे, आपकी अवस्था बाईस वर्ष की थी । अतः श्रीपुत्तू चाचा ने बिना इनके पिताजी से पूँछ-ताँछ किए ही इनका ब्याह कर दिया । यहाँ तक कि इनकी शादी में इनके पिताजी सम्मिलित भी न हो सके । इसी समय आपने आठवीं कक्षा पास की । उस समय तक वह स्कूल मिडिल तक ही था, अतः 'दीन'जी की विद्योपार्जन-संबंधी पिपासा ने उन्हें व्यग्र-सा बना दिया । उधर, श्रीपुत्तू चाचा ने भी आगे शिक्षा दिला सकने में अपनी असमर्थता प्रकट कर दी, जिससे आपकी वह व्यग्रता और भी बढ़ गई । किंतु संयोगवश उसी साल उस स्कूल के हाई-स्कूल होने की आज्ञा प्रांतीय शिक्षाविभाग से आ गई और अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होने के कारण 'दीन'जी को दो वर्ष के लिये आठ रुपए मासिक की छात्रवृत्ति भी मिलने लगी । किंतु इतने में 'दीन'जी का सपत्नीक निर्वाह होना असंभव था, अतः प्रधानाध्यापक से मिल-कर आपको एक ट्यूशन भी करनी पड़ी और आपने वहीं से एंट्रेंस परीक्षा पास की ।

आजीविका एवं काव्योदयकाल

अब लालाजी ने प्रयाग आकर वहाँ कायस्थ-पाठशाला में नाम लिखाया । इस समय आपको पाठशाला से वृत्ति मिलती थी और गृहस्थी के बोझ के कारण दो-एक जगह ट्यूशन भी करनी पड़ती थी । एफ़० ए० तक शिक्षा प्राप्त करने के अनंतर आपको गृहस्थी की झंझटों के कारण लाचार हो पढ़ना छोड़ना पड़ा और आप वहीं कायस्थ-पाठशाला में अध्यापक नियुक्त हो गए । वहाँ आपने डेढ़ वर्ष काम किया, बाद प्रिंसिपल की अनुमति से स्थानीय ज़नाना-मिशन-गर्ल्स हाईस्कूल में छः मास तक फ़ारसी के शिक्षक होकर रहे । अनंतर आप राज्य-स्कूल के सेकेंड मास्टर होकर छत्रपुर (बुंदेलखंड) चले गए और सन् १८९४ से १९०७ तक वहीं रहे । इस बीच आपको हिंदी-साहित्य के अध्ययन का ख़ासा अवसर प्राप्त हुआ । यद्यपि हिंदी की ओर आपकी अभिरुचि पहले से ही उत्पन्न हो चुकी थी और आप फ़तेहपुर में अपने दादाजी को, जो एक परम भक्त पुरुष थे, नित्य तुलसीकृत रामायण का पाठ सुनाया करते थे और एक बार अपने पिताजी के साथ हरिद्वार जाने पर वहाँ दो मास रहकर उन्नीस वर्ष की अवस्था में "कृष्णचौसठिका"-नामक कविता भी बनाई थी ; तथापि आपकी साहित्यिक प्रतिभा के विकास का अवसर पहलेपहल छत्रपुर में ही प्राप्त हुआ । यहाँ आप अवकाश के समय बाबू जगन्नाथ-प्रसाद के पुस्तकालय की पुस्तकें पढ़ा करते थे और प्राचीन कवियों की कविता के अध्ययन के लिये आपको प्रायः राजकीय पुस्तकालय से यथेष्ट सहायता मिलती थी, जहाँ प्राचीन हिंदी-साहित्य के ग्रंथों का अच्छा संग्रह अब भी मौजूद है । इसके अतिरिक्त वहीं आपने श्रीगंगाधर व्यासजी से अलंकार तथा काव्य के कुछ नियम भी सीखे । बस, अब क्या था ! आपकी साहित्यिक प्रतिभा प्रदीप्त हो उठी, आपका कवि-हृदय कमनीय कल्पनाओं के क्षेत्र में स्वतंत्र विचरण करने लगा, एवं आपके काव्य-कौशल की चर्चा चारों ओर छिड़ गई ।

अनुभवज्ञान

बुंदेलखंड में रहकर 'दीन'जी को प्रांतीय भाषाओं की जानकारी का अच्छा अवसर मिला । दूसरे, आप अव्वल दरजे के अनुभवी पुरुष थे । वहाँ रहते हुए नित्य संध्या समय आप कभी

पर्वतश्रृंगों पर, कभी किसी नदी या सरोवर के तट पर, कभी जंगलों में एवं कभी प्रसिद्ध गठौरा की प्रशस्त युद्ध-भूमि में टहलने निकल जाया करते थे। छुट्टियों के दिन तो आप प्राय: दिन-भर का सफ़र लगाया करते थे। आपकी यह प्रकृति-पर्यवेक्षण एवं तत्संबंधी ज्ञान की लिप्सा जीवन में कभी कम न पाई गई। यहाँ तक कि बुँदेलखंड में एक बार आपकी इच्छा शेर की माँद देखने की हुई। फलस्वरूप आप अपने एक मित्र के साथ पहाड़ की ओर निकल पड़े। ऊपर जाकर, एक घने जंगल में, आपको एक माँद दिखाई दी और ज्यों ही आप झुककर माँद में झाँकने लगे, आपको भीतर चमकती हुई आँखें दिखाई दीं, साथ ही गुर्राहट का कुछ शब्द भी सुन पड़ा। अब आप लोग वहाँ से खिसक आए। दूसरी बार, एक समय आप घूमते हुए किसी सघन वन में निकल गए और वहाँ एक पर्वत-शिला पर बैठ तुलसीकृत 'विनय-पत्रिका' के पद, जिन्हें आप सदा गाया करते थे, गाने लगे। इतने में आप क्या देखते हैं कि सामने से एक अजगर आ रहा है, जो शिला से थोड़े फ़ासले तक आकर ठमक गया। 'दीन'जी उस पद को निर्भयता के साथ गाते ही रहे। अजगर भी बड़े ध्यान से उसे सुन रहा था। पद समाप्त होने पर आपने उत्कंठा के साथ पूछा—"क्या और पद सुनाऊँ ?" इस पर अजगर ने स्वीकृति में सिर हिलाया और 'दीन'जी ने और भी दो-एक पद गाकर सुनाए। जब अजगर चलने लगा, तो 'दीन' जी ने फिर पूछा—"क्या कल भी आकर कुछ पद सुना जाऊँ ?" इस पर भी अजगर ने सिर हिलाकर स्वीकृति दी। 'दीन'जी बराबर सात दिनों तक संध्या समय वहाँ जा-जाकर विनय-पत्रिका के पद गाया करते, जिसे सुन अजगर नित्य आकर उन्हें सुना करता। अंतिम दिन पुन: आने के लिये पूछने पर अजगर ने सिर हिलाकर निषेध किया और फिर 'दीनजी' ने भी वहाँ जाना बंद कर दिया। किंतु इस घटना ने 'दीन'जी को आश्चर्यान्वित अवश्य कर रक्खा था। अत: उन्होंने वहाँ के एक पहुँचे हुए साधु से पूछा, जिस पर उन्होंने बताया कि अजगर के वेष में लक्ष्मणजी आते थे; क्योंकि उस वन में उनका निवास-स्थान है। इसे सुन 'दीन'जी पुन: कई बार वहाँ गए, किंतु अब उस अजगर के दर्शन कहाँ ? कहने का तात्पर्य इतना ही कि 'दीन'जी स्वभाव से ही निर्भय प्रकृति-पर्यवेक्षी एवं अनुभवी पुरुष थे, जिसके कारण आपकी कविताएँ बड़ी सजीव हुआ करती थीं। कहना न होगा कि इस प्रकार के प्राकृतिक तथ्यों के समावेश द्वारा कविता में जो चीज़ आ जाया करता है, उसे सहृदय व्यक्ति ही समझ सकते हैं! यही कारण है कि आज दिन भी आदि-कवि वाल्मीकि तथा कवि-कुलगुरु कालिदास का आसन काव्य-जगत् में ऊँचा पाया जाता है। 'दीन'जी की कविता-संबंधी ये बातें, साहित्य-प्रेमियों के समक्ष निकट-भविष्य में ही उनकी कविताओं का संग्रह हो जाने पर दिखाई जा सकेंगी, ऐसी हमें आशा है। यहाँ पर एक बात यह और भी ध्यान देने योग्य है कि 'दीन'जी इधर कुछ दिनों से एक महाकाव्य 'मित्रादर्श' लिख रहे थे, जिसके लिये बहुत-सा प्राकृतिक मसाला संग्रह करने के लिये आपको गत वर्ष सुदामापुरी, द्वारकाजी आदि स्थानों में जाना पड़ा था।

काव्योत्थान-काल एवं साहित्य-सेवा का आरंभ

जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, 'दीन'जी छत्रपुर में सन् १८९४ से १९०७ तक—तेरह वर्ष—रहे। इतने दिनों के भीतर आपने हिंदी के प्राचीन काव्य का ख़ासा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। साथ ही आप अरबी, फ़ारसी की बहुत उच्च शिक्षा पहले ही प्राप्त कर चुके थे। अत: आपकी खड़ीबोली की कविताओं में इन दोनों के गंगा-जमुनी सम्मिश्रण ने उस समय के विकासोन्मुख खड़ीबोली के पद्य-क्षेत्र में युगांतर-सा उपस्थित कर दिया था, जिसके लिये हिंदी-काव्य-जगत् को 'दीन'जी का चिरऋणी रहना पड़ेगा। इसके प्रमाण में आपका एक बहुत बड़ा वीररसात्मक ग्रंथ "वीर-पंचरत्न" उपस्थित किया जा सकता है, जिसे आपने बाद को काशी में आकर लिखा था। उधर छत्रपुर में उन दिनों काव्यांगों का अध्ययन करने के पश्चात् आपने 'श्रृंगार-शतक', 'श्रृंगार-तिलक' तथा 'तुलसी-सतसई' के दोहों पर कुंडलियों की रचना की थी और हिंदी-साहित्य के प्रचारार्थ 'कवि-समाज' और 'काव्य-लता'-नामक दो सभाएँ एवं 'भारती-भवन'-नामक एक पुस्तकालय भी खोल रक्खा था। 'काव्य-लता'-नाम्नी सभा के सदस्यगण कविताएँ बना लाया करते थे, जिन्हें उनके गुरु श्रीपं० गंगाधर व्यासजी शुद्ध किया करते थे। इस समय 'दीन'जी ने और

[क]विताओं के अतिरिक्त बड़े चुटीले फाग भी लिखे हैं, [जि]नका बहुत बड़ा संग्रह आपके घर में मौजूद है। आपके [फा]गों का सम्मान वहाँ के राज-घराने में विशेष रूप से [था] और होली के दिनों में वे गाए जाते थे। उस समय [आप]की फुटकल कविताएँ तथा लेख 'रसिकमित्र', [रसि]क-वाटिका', 'लक्ष्मी-उपदेश-लहरी' आदि स-साम-[यि]क पत्र-पत्रिकाओं में बराबर छपा करते थे। सन् [१९]०९ ई० में 'दीन'जी को गया से निकलनेवाली मासिक [पत्रि]का 'लक्ष्मी' का संपादन-कार्य भी मिला, जिसे आपने [बड़]ी योग्यता के साथ बहुत दिनों तक निकाला।

[अ]ब 'दीन'जी का मन छत्रपुर से उचटा। कारण, आप एक विस्तृत साहित्य-क्षेत्र में आकर काम करना चाहते थे। इसके लिये आपने काशी को उपयुक्त स्थान [सम]झा और उन्होंने अपने दो काशीस्थ मित्रों को [इस]के लिये पत्र भी लिखे। इन मित्रों ने 'दीन'जी [क]ी योग्यता की चर्चा श्रीबाबू श्यामसुंदरदासजी से [की]। उन्हीं दिनों बाबू साहब को संयोगवश छत्रपुर [क]ी ओर जाना भी पड़ा और वह 'दीन'जी से वहीं [मिल]कर, उनकी योग्यता देख उन्हें काशी बुला लाए। [उ]स समय आपको काशी में दो काम करने को मिले। [एक] तो आप हिंदू-स्कूल में पर्शियन के अध्यापक नियुक्त [हुए], दूसरे नागरी-प्रचारिणी सभा से निकलनेवाले [प्रा]चीन कवियों के ग्रंथों का संपादन इन्हें सौंपा गया, [जि]से आपने बड़ी उत्तमता के साथ किया। उसी के [फल]-स्वरूप प्राचीन कवियों के कितने ही अमुद्रित पड़े [हु]ए दुर्बोध ग्रंथ-रत्न प्रकाशित हो साहित्य-संसार की [शो]भा अद्यावधि बढ़ा रहे हैं। इनमें 'हिम्मतबहादुर-[वि]रदावली', 'सुजानचरित', 'राजविलास' आदि ग्रंथों के [ना]म विशेष उल्लेखनीय हैं। 'लक्ष्मी'-पत्रिका का संपादन [तो] आप पहले से ही कर रहे थे। जिस समय आप [ना]गरी-प्रचारिणी-सभा में कार्य कर रहे थे, उसी समय ['हिं]दी-शब्द-सागर' के नाम से हिंदी का एक बहुत [बड़]ा कोश निकालने का सभा ने निश्चय किया। लालाजी [उस]के पाँच उप-संपादकों में से एक उप-संपादक बनाए [गए] और आपने बड़े अध्यवसायपूर्वक 'म' तक उसका [सं]पादन भी किया। बाद को अपनी स्पष्टवादिता के [का]रण आपको सन् १९१८ के लगभग सभा से हट जाना पड़ा, और वहाँ से छूटते ही आप हिंदू-विश्व-विद्यालय में हिंदी के लेक्चरार नियुक्त हो गए।

'दीनजी' पुराने कैंडे के परम अध्यवसायी पुरुष थे। आपको जीवन में काम करते रहने की जितनी अधिक धुन रहा करती थी, उसकी चौथाई फ़िक्र भी नाम पैदा करने की नहीं रहा करती थी। इसी अध्यवसाय के कारण 'दीन'जी एक ओर तो नागरी-प्रचारिणी सभा में रहकर प्राचीन कवियों के अनेकानेक ग्रंथों का संपादन कर रहे थे, दूसरी ओर घर पर भी 'वीर-पंचरत्न'-सरीखे लोकप्रिय ग्रंथ की रचना, 'विहारी-बोधिनी', 'कवितावली' आदि ग्रंथ-रत्नों की प्रामाणिक टीकाएँ तथा 'सूक्ति-सरोवर', 'अलंकार-मंजूषा' आदि अति प्रचलित ग्रंथों का निर्माण करते जाते थे। काशी आने के बाद आपका यह नियम-सा हो गया था कि वह प्रतिवर्ष एक नई पुस्तक निकाला करते थे। इसके अतिरिक्त समय-समय पर समालोचना-क्षेत्र के परिष्कार एवं हिंदी-साहित्य के प्रचार के लिये निरंतर विद्यादान की ओर भी आपका ध्यान बराबर बना ही रहता था। आपके कई आलोचनात्मक लेख 'बिहारी और देव' के नाम से कई पत्र-पत्रिकाओं में बड़ी शान के साथ निकल चुके हैं, जिनमें आपने हिंदी-साहित्य-संसार में कविवर बिहारी को कविवर देव से ऊँचा आसन दिलाया है। दूसरी ओर लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् श्रीपं० कृष्णविहारी मिश्रजी ने 'देव और बिहारी'-शीर्षक एक आलोचनात्मक निबंध लिखा था, जो पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो चुका है।

जिस समय 'दीन'जी सभा में काम कर रहे थे, उसी समय सन् १९१५ के लग-भग हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की स्थापना हुई और उसकी परीक्षाओं का प्रचार-कार्य प्रारंभ हुआ। ऐसी दशा में काशी के कुछ छात्रों में इन परीक्षाओं की ओर विशेष अभिरुचि का होना स्वाभाविक था। फलस्वरूप उन्होंने सम्मेलन की परीक्षाएँ देने का दृढ़ संकल्प कर पारी-पारी से सभी स्थानीय विद्वानों के दरवाज़े खटखटाए, पर सभी के पास समयाभाव ही रहा। अंत में यह उत्सुक विद्यार्थीवृंद 'भगवान' के दरवाज़े पहुँचा। सर्वत्र से निराश इन विद्यार्थियों की दीनावस्था को 'दीन'जी तुरंत समझ गए और पढ़ाने की सहर्ष स्वीकृति ही

[विस्तृ]त साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश

व्यापक साहित्य-सेवाएँ एवं आलोचना-क्षेत्र

हिंदी-साहित्य-विद्यालय की स्थापना

नहीं दी, बरन् दूसरे ही दिन से अपने घर में ही पढ़ाना भी आरंभ कर दिया। जब विद्यार्थियों की संख्या अधिक बढ़ी, तब घर में स्थानाभाव के कारण 'दीन'जी उन्हें स्थानीय कंपनीबाग़ की हरी-हरी घास पर पढ़ाने लगे। किंतु बरसात के दिनों में पानी के कारण कठिनाई होने लगी। अतः ये लोग नागरी-प्रचारिणी सभा के बरामदे में एकत्र होने लगे। पर इनकी इस प्रकार की अद्भुत लगन से न-जाने क्यों सभा के संचालकों को भय हुआ। फल-स्वरूप सभा की हद के भीतर पढ़ाई ग़ैरक़ानूनी क़रार दी गई। अंत में यह बैठक 'हिंदी-साहित्य-विद्यालय' के रूप में परिणत होकर सनातन-धर्म-स्कूल और दयानंद-स्कूल के पुराने भवनों से होती हुई मालती-शारदा-सदन-पुस्तकालय, चौक में आ गई है। कहना न होगा कि यह विद्यालय अब बहुत प्रौढ़ावस्था को पहुँच चुका है और इसके संचालकों ने 'दीन'जी की स्मृति को सदैव बनाए रखने के लिये इसका नाम "भगवान 'दीन'-साहित्य-विद्यालय" कर दिया है। इस विद्यालय द्वारा कितने ही छात्र अब तक हिंदी-साहित्य की उच्च शिक्षा प्राप्त कर हिंदी-संसार में बहुत कुछ काम कर रहे हैं और भविष्य में भी इससे बहुत कुछ उपकार होने की आशा है। इस विद्यालय के संबंध में विशेष गौरव की बात यह है कि 'दीन'जी का यह एक-मात्र कीर्ति-स्तंभ आरंभ से ही हीन आर्थिक दशा में होते हुए भी, लालाजी की अपूर्व लगन एवं अध्यवसाय के कारण हिंदी-साहित्य-संसार में बड़ी शान के साथ काम करता आया है। इसमें पढ़कर कितने ही छात्र 'साहित्य-रत्न' तथा 'विशारद' हो चुके हैं। अब तक सम्मेलन की 'साहित्य-रत्न' उपाधि-परीक्षा को प्रथम श्रेणी में पास करने का गौरव यदि किसी को प्राप्त हुआ है, तो इसी विद्यालय के एक छात्र को हुआ है। विशारद-उपाधि-परीक्षा में तो इसके छात्र कितनी ही बार सर्वप्रथम तथा द्वितीय आए हैं एवं किसी समय इसका नतीजा शतप्रतिशत तक हुआ है।

प्रकृति एवं काव्य-कौशल

हिंदू-विश्वविद्यालय में लेक्चरार हो जाने पर 'दीन'जी, पहले से ही संबंध-विच्छेद पर भी, यदा-कदा नागरी-प्रचारिणी सभा के कार्यकर्ताओं के आग्रहवश प्राचीन काव्य के संपादन का कार्य कर दिया करते थे। जिस समय सभा ने 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादन का निश्चय किया, लालाजी से इस कार्य में सहयोग-दान देने की प्रार्थना की गई। उस समय लालाजी ने गोस्वामी तुलसीदासजी के प्रति अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति का परिचय देते हुए इस कार्य को बिना किसी पुरस्कार के करने की उदारता दिखाई थी। लालाजी की प्रकृति के संबंध में विशेष महत्त्व की एक बात यह थी कि वह यद्यपि समय की गति को भली भाँति समझते-बूझते थे, तथापि पुस्तक-प्रकाशन के समय उसकी भूमिका के विस्ताररूपी आडंबर के बाज़ारूपन से उन्हें बहुत चिढ़ थी। यही कारण था कि पहले बहुत दिनों तक आप बराबर ग्रंथों की भूमिकाओं में उतनी ही बातें दिखाया करते थे, जितनी विशेष महत्त्व की हुआ करती थीं। हाँ, इधर आकर आपके दो-चार ग्रंथों में जो भूमिका-विस्तार पाया जाता है, वह आपके कुछ प्रिय शिष्यों के आग्रहवश आपको करना पड़ा है। यही कारण है कि बिहारी और केशव-सरीखे महाकवियों के ग्रंथ-रत्नों की अत्यंत प्रामाणिक एवं सुबोध टीकाएँ करने का महान् श्रम उठाते हुए भी, आपको इनकी भूमिका के विस्तार से हाथ खींचना पड़ा था। 'कठिन काव्य के प्रेत' आचार्य केशव की कविता के संबंध में यह कहावत मशहूर थी—"कवि को देन न चहै बिदाई, पूँछै केशव की कबिताई"—सो लालाजी की ज़बरदस्त क़लम की करामात के आगे वह कितनी सुबोध हो गई, इसका पूरा परिचय उसके अध्येताओं को भली भाँति प्राप्त हो चुका होगा। लालाजी का व्रज, बुँदेलखंडी तथा अवधी भाषाओं पर इतना अधिक अधिकार था कि आपको जिस किसी कठिन-से-कठिन छंद का भी अर्थ लगाते देर नहीं लगा करती थी। आपके इस गुण का पता बहुतों को लग चुका था और कितने ही लोग बहुधा नए-नए छंदों को लेकर उनका अर्थ लगवाने आपके पास आया करते थे। इतना ही नहीं, आपने अपने हिंदी-साहित्य-विद्यालय में इसके लिये एक कठिनाई-निवारक सभा ही खोल रक्खी थी, जिससे बाहरवाले भी बहुधा लाभ उठाया करते थे।

सादगी एवं मिलनसारी

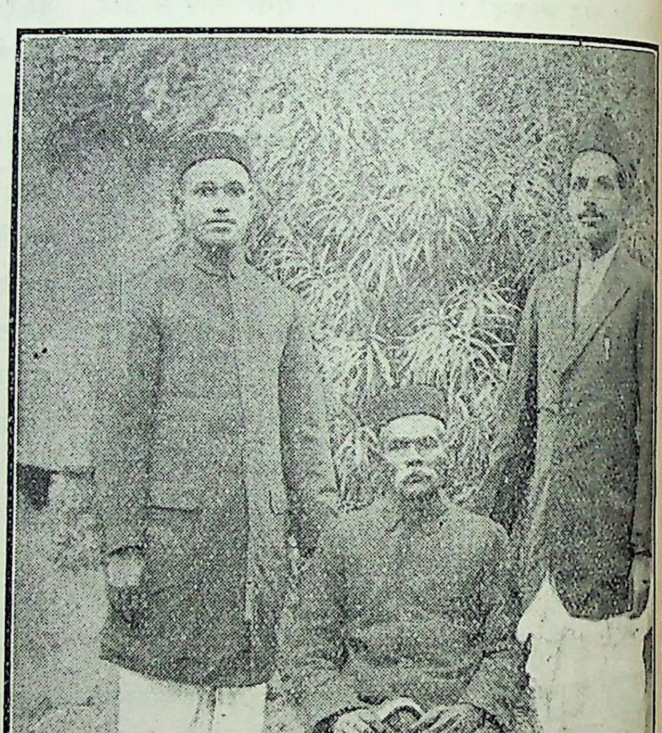
लालाजी आजीवन सादगी की प्रतिमूर्ति तथा मिलनसारी के सच्चे उपासक थे। इनके अतिरिक्त भी आपमें जो अनेक व्यावहारिक सद्गुण पाए जाते थे, उन

स्पष्टवादिता एवं विनोदशीलता के गुण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'दीन'जी को गर्मी की छुट्टियों में अपने गाँव बरवट में मोटी धोती की कछनी काछे, कंधे पर एक अँगोछा तथा हाथों में सोंटा-खुरपी लिए बाग़ को जाते हुए जिस किसी ने देखा होगा, उससे देश की प्राचीन सादगी का अद्भुत रहस्य किसी प्रकार भी छिपा हुआ न रह गया होगा। आप बाल्यावस्था में प्रकृति से कुछ चंचल भी थे। वह अन्य बालकों के साथ नित्य प्रातःकाल बाग़ में जाते और चरने को जाती हुई भेड़ों के झुंड में से किसी पिछड़ी हुई भेड़ को पकड़ ये लोग उसे एक गड्ढे में लिटा देते और उसकी गर्दन पर जूता रख दिया करते थे, जिससे वह चुपचाप पड़ी रह जाती थी। कुछ देर बाद चरवाहों को दूर निकल गया देख ये उस भेड़ को उठाकर छोड़ देते और जब वह 'में-में' करती पीछे-पीछे दौड़ती, तो चरवाहे भेड़ को पीछे छूटी हुई समझ घबड़ा-से जाते। पेड़ों पर चढ़कर कूदना, निकटवर्ती नदी-तालाबों में जाकर तैरना आदि तो आपके नित्य के कार्य थे। आप अपनी मिलनसारी के गुण के कारण आजीवन सबके प्रिय थे। क्या शिक्षा-जीवन, क्या साहित्य-क्षेत्र और क्या अध्यापक-जीवन—सदैव आप अपने इस गुण के कारण अपने सहपाठी, मित्र, छात्र तथा सहाध्यापकों के प्रिय रहे। यहाँ तक कि कभी-कभी आपके मित्रों द्वारा जान-बूझकर भी किए गए आपकी विद्वत्ता की आज़माइश के प्रश्नों का उत्तर आप, इसे जानते हुए भी, बड़े प्रेम से दिया करते थे और जब कभी मौक़ा आ जाता, तो आप हाज़िर जवाबी से भी नहीं चूकते थे। हिंदू-विश्व-विद्यालय तथा हिंदी-साहित्य-विद्यालय में पढ़ाने का आपका ढंग भी अनोखा ही था। आप जिस कक्षा में पढ़ाने को जाते, सबसे पूर्व छात्रों को खूब हँसाकर पढ़ाना आरंभ करते। आपका कहना था कि हँसने से मस्तिष्क में विकास एवं प्रफुल्लता आती है, जिससे विद्यार्थी आसानी के साथ अपने पाठ से अभ्यस्त हो सकते हैं। कहा जाता है कि आपके अध्यापन-संबंधी उत्कर्ष को, संभवतः सहन न कर सकने के कारण किसी ने एक बार इसकी शिकायत आपकी कक्षा में शोर अधिक होने के व्याज से मालवीयजी तक पहुँचाई थी। लालाजी के पास जिस समय भी जो आदमी आता, उससे—कहो कैसे चले?—यह विना पूछे आप न रहते और उसकी बातों को बड़े प्रेम के साथ सुन अपनी सामर्थ्य-भर उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते। आप स्पष्टवादी तो इतने अधिक थे कि अपने समय को व्यर्थ नष्ट होता देख, अपने बड़े-से-बड़े प्रेमी तक से "अच्छा, अब आप जाइए, मुझे काम करना है।"—यह कहते तनिक भी नहीं सकुचाते थे। उन लोगों से लालाजी की सदा चिढ़ रहा करती थी, जो नाम के पीछे सदा दीवाने से फिरा करते हैं, आपका यह अटल सिद्धांत था कि काम करो, नाम स्वयं पीछे-पीछे दौड़ा फिरेगा। अपनी स्पष्टवादिता के ही कारण आपको अगर-मगर के कँटीले रास्ते से सदा झिझक थी और कभी-कभी तो काम आ पड़ने पर इस प्रकार की बातें करनेवालों से बेहद चिढ़ भी जाया करते थे। दीनदयालु वह परले दर्जे के थे। कितने ही विद्यार्थी उनसे रुपए और पुस्तकें बातें बनाकर हो झटक ले जाते। अपनी विनोदशील प्रकृति के कारण आप अपने मित्रों एवं छात्रों के सम्मुख सदा हँसते हुए ही पाए जाते थे। यहाँ तक कि आपने अपने अनेक मित्रों के विभिन्न विनोदात्मक नाम 'मुग्धा नायिका', 'परकीया नायिका' आदि रख छोड़े थे। कहने का तात्पर्य इतना ही कि 'दीन'जी में जितनी अधिक सादगी थी, उतनी ही मिलनसारी भी थी और जितनी अधिक स्पष्टवादिता थी, उतनी ही विनोदशीलता भी पाई जाती थी।

व्यापकता

'दीन'जी की विद्वत्ता सर्वतोमुखी थी। आप सुकवि थे, समालोचक थे, लेखक थे, अनुवादक थे, टीकाकार थे और थे कुशल संपादक। 'दीन'जी ने समय-समय पर बहुत-सी कविताएँ की हैं, किंतु खेद है कि अभी तक आपके 'वीर-पंचरत्न' और 'नवीन बीन'-नामक दो ही ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। आपने कविता के लिये उर्दू की बहरों के ढंग पर एक नया छंद ही निकाल रक्खा था। इसके अतिरिक्त आपने पद तथा अन्य प्रचलित छंद भी कहे हैं। आप कविता करते समय रसों के अनुकूल छंद का प्रयोग करना अत्यावश्यक समझते थे। समस्यापूर्ति में आप इतने अधिक पटु थे कि कवि-सम्मेलनों में जाकर विना अपना हाथ दिखाए नहीं आते थे। आपकी कविताएँ बहुधा राष्ट्रीय भावों से ओत-प्रोत और शिक्षाप्रद हुआ करती थीं। इधर आपको कुछ ऐसी धुन-

सी बँध गई थी कि प्रायः कुल पूर्तियाँ आप श्रीराम-जानकी के संबंध की ही किया करते थे, जिससे आपकी अनन्य रामभक्ति का पता मिलता है। आपने 'मित्रादर्श'-नामक महाकाव्य तथा 'महाराष्ट्र देश की वीरांगनाएँ'-नामक खंडकाव्य भी लिखना आरंभ किया था, किंतु इनके थोड़े-से अंश ही लिखे जा सके। समालोचना-क्षेत्र में तो आपके उस्तादी के हाथ इतनी सफ़ाई से पड़ते थे कि पाठकों के सम्मुख आलोच्य कवि के वास्तविक गुण-दोषों का चित्र-सा खिंच जाया करता था। किंतु कभी-कभी आप इसमें अपनी स्पष्टवादिता का इतना अधिक समावेश कर दिया करते थे कि आधुनिक युग के कुछ लोगों को वह खटकती हुई-सी मालूम पड़ा करती थी। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि समस्त काव्यांगों के ज्ञाता एवं प्रकृति के परम पुजारी होने के कारण आप समालोचना-क्षेत्र में आलोच्य कविता की तह तक की बारीकियों को सहज ही दिखा सकने में सदा समर्थ पाए जाते थे। कहना न होगा कि हिंदी-साहित्य में पिछले दिनों के संकुचित समालोचना-क्षेत्र के प्रसार का बहुत कुछ श्रेय 'दीन'जी को प्राप्त है। 'दीन'जी की लेखन-शैली एक विचित्र ढंग की थी। आपकी भाषा, साधारण बोल-चाल की उर्दू-मिश्रित बामुहावरा हुआ करती थी। मँजी हुई भाषा में चुस्त मज़मून बाँधना आपको सदा पसंद था। फलस्वरूप आवश्यकता से अधिक लेख-विस्तार को आप नापसंद करते थे। 'दीन'जी का अनुवाद भी विद्वत्तापूर्ण हुआ करता था। अनुवाद करते समय मूल-लेखक के भावों के विलुप्त न होने का आप सदा ध्यान रखते थे। संपादन-कला और टीकाकारी में तो 'दीन' जी इतने अधिक सिद्धहस्त थे कि हिंदी-साहित्य के कितने ही दुर्बोध प्राचीन ग्रंथों को, जिन्हें क्लिष्टता के कारण बहुत कम लोगों को पढ़ने का साहस होता था, सर्वसाधारण के लिये सुबोध बना दिया। किसी ग्रंथ का संपादन करते समय उसमें पाठांतर कर देना आपको रुचिकर न था, इसलिये बहुधा आप ऐसे अव्यक्तार्थ स्थलों के लिये मूल-पाठ से मिलता-जुलता कोई साभिप्राय पाठ ही ढूँढ़ निकाला करते थे; क्योंकि पाठांतर देकर प्रस्तुत विषय को घपले में रख छोड़ना आप संपादकों की कमज़ोरी समझते थे। 'दीन'जी ने इस क्षेत्र में इतना अधिक काम किया है कि उसके कारण कुछ लोगों को आपके कोरे संपादक तथा टीकाकार होने का भ्रम-सा हो गया है। किंतु ऊपर दिखाई गई आपकी साहित्य-क्षेत्र की व्यापकता को देखते हुए यह उन लोगों का भ्रम ही कहा जायगा। यह बात दूसरी है कि इस क्षेत्र में आप इतने अधिक सिद्धहस्त हो गए थे कि अपना सानी नहीं रखते थे। आपकी टीकाएँ बड़ी विशद हुआ करती थीं। इसका कारण आपका अगाध ज्ञान-बल ही था।



स्व० लाला भगवानदीन (अपने दो शिष्यों-सहित)

आपकी साहित्यिक जानकारी इतनी बढ़ी-चढ़ी हुई थी कि किसी कविता का अर्थ करते समय कवि के मर्म को खोलते आपको देर ही न लगती थी। इसके अतिरिक्त साहित्य के गौण अंगों—ज्योतिष, वैद्यक, तंत्रशास्त्र आदि—में भी आपका ख़ासा प्रवेश था। आपने अलंकार पर 'अलंकार-मंजूषा' तथा व्यंग्य पर 'व्यंग्यार्थ-मंजूषा' नामक रीति-ग्रंथ भी लिखे हैं। 'दीन'जी की अध्यापन-शैली इतनी मनोहर थी कि घंटों पढ़ने के बाद भी विद्यार्थियों का मन पढ़ने से नहीं उचटता था। आपके पढ़ाए हुए कितने ही छात्र कवि, लेखक, संपादक आदि होकर हिंदी-साहित्य-संसार में बहुत कुछ काम कर रहे हैं। आपके छात्रों में मुख्य ये हैं—राय गोविंदचंद्र बी० ए० विशारद, श्रीपं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र 'मुकुंद' साहित्यरत्न, श्रीपं० रामचंद्र शर्मा 'साहित्य-रत्न', श्रीपं० श्रीदेवाचार्य 'देव' साहित्यरत्न, श्रीबाबू कृष्णदेवप्रसाद गौड़ एम्० ए० एल्० टी० विशारद, श्रीपं० बेचन शर्मा 'उग्र', श्रीपं० मोहनवल्लभ पंत बी० ए० विशारद, श्रीपं० रमाकांत चौबे विशारद, श्रीबाबू कालिकाप्रसाद विशारद (सहकारी संपादक 'आज'), श्रीपं० रामप्रसाद पांडेय विशारद, श्रीपं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा 'रसिकेश' एम० ए०, श्रीबाबू बजरंगबली गुप्त विशारद, श्रीपं० श्रीकृष्ण शुक्ल विशारद आदि।

कुटुंब

लालाजी अपने माता-पिता की एकमात्र संतान थे। आपकी तीन शादियाँ हुई थीं और उनसे कई संतानें भी हुईं, किंतु सभी काल-कवलित हो गईं। आपकी दूसरी शादी प्रसिद्ध कवयित्री श्रीमती बुँदेलाबाला के साथ हुई थी। आपने स्वयं इन्हें पढ़ा-लिखाकर सुशिक्षित एवं कवयित्री बनाया था। आजकल आपकी विधवा पत्नी 'बाला'जी की छोटी बहन हैं। लालाजी अपने बाद अपनी विधवा स्त्री, पुस्तकें, हिंदी-साहित्य-विद्यालय (अब भगवान 'दीन'-साहित्य-विद्यालय) तथा शिष्य छोड़ गए हैं। सुना जाता है कि स्थानीय नागरी-प्रचारिणी सभा लालाजी के स्मारकस्वरूप उनका चित्रोद्घाटन करनेवाली है।

'दीन'जी ने यों तो अनेक ग्रंथों का संपादन, प्रणयन,

समादृत ग्रंथ तथा पुरस्कृत लेख एवं कविताएँ

टीका-टिप्पणी, अनुवाद आदि किए हैं, किंतु आपके 'वीर-पंचरत्न' का समादर हिंदी-संसार में विशेष रूप से है। यहाँ तक कि मध्यप्रदेश में यह पुस्तक घर-घर पाई जाती है और इसके अध्याय-के-अध्याय लोगों को याद हैं, जिन्हें वे गीति-काव्य की भाँति गाया करते हैं। आपको 'अलंकार-मंजूषा' ने साहित्य-संसार में विशेष ख्याति पाई है। 'भक्ति-भवानी'-नामक कविता लिखने पर कलकत्ते की बड़ाबाज़ार-लाइब्रेरी से आपको एक स्वर्ण-पदक मिला था। 'रूस पर जापान क्यों विजयी हुआ?'-शीर्षक निबंध के लिये एक बार आप एक सौ रुपए के पुरस्कार से पुरस्कृत किए गए थे। आपने कई एक प्राचीन कवियों की प्रामाणिक जीवनियाँ भी लिखी हैं।

रुग्णावस्था के कुछ संस्मरण

माया-नटी के आदेश से विकराल काल के छाया-रूप परदे के भीतर कविवर 'दीन'जी के जीवन-नाटक का अंतिम दृश्य, लगभग चौंसठ वर्ष की अवस्था में ही, बड़ी तेज़ी के साथ तैयार किया जा चुका था। इसके आरंभ का समय ता० ६ जुलाई सन् १९३० ई० का मध्याह्नोत्तर-काल नियत था, जब कि 'दीन'जी अपनी गर्मी की छुट्टियाँ बरवट गाँव (फ़तेहपुर) में ही बिता, कालेज खुलने का समय सन्निकट देख, अपने काशीस्थ मित्रों एवं छात्रों के सम्मिलन-रूपी विविध मनोरथों के रथ पर सवार हो घर से निकल पड़े। रेल पर सवार होते-होते आपको बड़े ज़ोरों का ज्वर चढ़ा और ज्यों-त्यों रात में आप काशी पहुँचे। सवेरा होते ही आपके बाएँ अंग में, काँख के नीचे, कुछ लाल सूजन देख पड़ी, जो दिनोंदिन बढ़ती जाती थी और उसकी असह्य वेदना ने आपको व्याकुल कर रक्खा था। यहाँ आने पर सभी साध्य उपाय किए गए, किंतु ज्वर में अंतर पड़ने पर भी सूजन में किसी प्रकार की कमी न हुई। अनंतर ता० १९ जुलाई को स्थानीय किंग एडवर्ड अस्पताल के इन्चार्ज डाक्टर एल्० एन्० राय बुलाए गए और उन्होंने सूजन के रोग का निदान "इरिपलास" (जहरबात) के नाम से किया। डाक्टर से यह भी पता चला कि 'दीन'जी के उसी बाएँ कंधे पर जो एक बड़ा मसा था, उसकी निवृत्ति के लिये लालाजी द्वारा उस पर आम के टूँसे का रस

लगाए जाने पर, उसके फट जाने से उसका विष उनके अंग में फैल गया है। साथ ही, डाक्टर की राय उन्हें अस्पताल ले चलने की हुई और 'दीन'जी ता० १६ को अस्पताल पहुँचाए गए। कौन जानता था कि 'दीन'जी आजीवन अपने कंधे पर काल को ढोए फिरते हैं। इतने पर भी काल को तरस न आई! न आई!

अस्पताल का जीवन सर्वथा दुःखकर होते हुए भी अपने प्रिय विद्यालय के छात्र-मंडल के बीच 'दीन'जी सदा प्रफुल्लित ही पाए जाते थे। यौवनकाल में हृदय में सवेग बहनेवाली रसिकता का वह प्रवाह यद्यपि कुछ मंद पड़ गया था, तथापि उसका प्रवाह निरंतर जारी था और उनके प्रकृति-पर्यवेक्षण की पूर्वाभिलाषा, बहुत अधिक अशक्त होते हुए भी, ज्यों-की-त्यों पाई जाती थी। अस्पताल पहुँचते ही वहाँ अचानक कोयल कुहुक पड़ी। इसे सुन 'दीन'जी-सरीखा रसिक एवं प्रकृति-पर्यवेक्षी पुरुष भला रोग-शय्या पर कैसे लेटा रह सकता था! वह कहने पर तुरंत उठाकर बैठाए गए; किंतु उनका दूसरा अनुरोध उन्हें कोयल तक ले चलने का उस समय पूरा न किया जा सका। फलस्वरूप कुछ देर बाद, अपने को वहाँ अकेला पा वह स्वयं कोयल के शब्द की ओर चल पड़े। इतना ही नहीं, उन्हीं दिनों अस्पताल में ही अपने छात्रों का एक वर्षा-कवि-सम्मेलन करने के लिये आप परम उतावले देख पड़ते थे, जिसमें स्वयं भी अपनी कविताएँ सुनाने की अभिलाषा प्रकट करते थे। अस्पताल में २-३ दिन ही बीत पाए थे कि सूजन को बैठता हुआ देख सबके हृदयों में आशा की झलक कुछ दिनों के लिये आभासित हो उठी। इसी समय, एक दिन 'दीन'जी को कविवर 'देव' की यह सवैया याद आई—

"माखन सौं मन दूध सौं जोबन है दधि तैं अधिकै उर ईठी,
छैल रँगीलिका छाछिके आगे समेत सुधा बसुधा सब सीठी;
नैननि नेह चुवै कवि 'देव' बुझावत चैन वियोग अमीठी,
ऐसी रसीली अहीरी अहै कहु क्यों न लगै **मनमोहनै "मीठी"**

इसे वहाँ उपस्थित छात्रों को सुनाकर "मनमोहनै मीठी" शब्दों को लेकर आप 'देव' कवि की ज़बाँदानी पर बेहद झुँझला उठे और कहने लगे कि लालाजी तो शब्दों पर मरनेवाले हैं। जब दूध, दही, माखन आदि सब सामान अहीरिन के साथ ही मौजूद हैं, तो "मनमोहनै मीठी" कैसा? इतने में आपके एक प्रिय शिष्य ने यह कहा कि गुरुजी, क्या यहाँ 'गोपालहिं' शब्द चाहिए? आप मुस्कराकर कहने लगे—'हाँ, यही मैं भी कहता हूँ।' 'दीन'जी के इन शब्दों में ज़बाँदानी की कितनी गर्वोक्ति मौजूद थी, इसे कोई सहृदय व्यक्ति ही समझ सकता है। हिंदी-साहित्य-क्षेत्र के इस महारथी ने अपने जीवन में जिस व्रत का अवलंबन कर रक्खा था, उसका वह आजीवन, मरते दम तक, पूरा प्रयासी पाया गया। किंतु 'दीन'जी का वह प्रयास भ्रांत आधार पर कभी स्थित न हुआ, बल्कि सदा सत्य आधार ही ढूँढ़ता रहा।

अस्तु, इसके दो-एक दिन बाद ही लोगों की आशा की वह झलक दुराशारूप में परिणत हो गई। कारण, आपकी वह सूजन स्वयं तो बैठ गई, किंतु त्रिदोष-सरीखे भयंकर रोग को उसने उत्पन्न कर दिया, दस्तों का ताँता बराबर आठ दिनों तक बँधा रहा रही-सही शक्ति भी जाती रही तथा आपके हृदय में तेज़ी के साथ उठी हुई श्वास की धड़कन ने सभी के दिलों को धड़का दिया। इतने पर भी 'दीन'जी का ज्ञान पूर्ववत् बना रहा, आपकी रसिकता का सरस बिरवा मुरझाने न पाया और ज़बाँदानी का हौसला पस्त न हुआ। आशा की झलक ने दुबारा फिर पलटा खाया, किंतु अधिक दिनों तक वह न रह सकी। पहले की वह बैठी हुई सूजन निर्मूल न हुई थी, जिससे समय पाते ही ता० २५ की शाम को दाहनी कनपटी पर वह कालरूप में आ डटी। प्रातःकाल, नित्य के नियमानुसार डाक्टर ने सुई लगाई। सुई देते समय नित्य की भाँति "सीताराम-सीताराम" की रट लगाते हुए लालाजी आज झुँझलाकर कह बैठे—"यार! तुमने तो तमाम बाँह छेद डाली, इतने छेद तो आशिक-माशूक भी नहीं करते हैं।" 'दीन'जी ने इस वाक्य से, इस अत्यंत अशक्तावस्था में भी, डाक्टर से कोमल शब्दों में 'तरस' की भिक्षा कैसे मार्मिक ढंग पर माँगी थी, इसे बिरला सहृदय व्यक्ति ही समझ सकता है! धन्य! साहित्यिकता के आजीवन दीवाने 'दीन' और आपका कवि-हृदय, जिसने मरते दम तक आपका साथ देते हुए रुग्णावस्था की दारुण-से-दारुण यंत्रणाओं तक को भुला रक्खा था। इसी दिन आपने अपने एक छात्र से यह भी कहा था कि मैं डाक्टरों की दवाओं से नहीं अच्छा होऊँगा। एक अच्छा कवि-सम्मेलन करो और मुझे बढ़िया आम की भाँग छनाकर कविताएँ सुनाओ, तो मैं अच्छा हो जाऊँ।

स्वर्गवास

इसके अनंतर ता० २८ जुलाई, सन् १६३० ई० का वह दिन उपस्थित हुआ, जिसने हिंदी-संसार की कितनी ही आशाओं पर पानी फेर दिया, साहित्यिक क्षेत्र पर वज्रपात का कारण हुआ और कविता-कामिनी को अंत में विधवा बनाकर ही छोड़ा। अर्धरात्रि से ही कफ के प्राबल्य तथा कनपटी की सूजन के गलेपर्यंत भयानक रूप में प्रसार के कारण लालाजी की बेचैनी अधिक बढ़ गई। प्रातःकाल हुआ और—और उसके गर्भ में एक साहित्यिक के जीवन की अनित्यता का कुछ प्रत्यक्ष आसार लक्षित हो रहा था तथा विकराल काल की छाया उसमें प्रच्छन्न रूप से अंतर्हित थी। ऐसी दशा में लालाजी की अर्जित सुकृति-राशि ने ज़ोर पकड़ा और अपने अमर कीर्तिस्तंभ 'हिंदी-साहित्य-विद्यालय' के प्रति आपके प्रगाढ़ प्रेम में उफान आया। चट पालकी मँगाई गई और आप विद्यालय-भवन में लाए गए। यहाँ पहुँचते ही बग़ल के श्रीराधाकृष्ण के मंदिर से विष्णु-चरणोदक आया, जिसे पान कर आपने बहुत कुछ सांत्वना प्राप्त की।

भगवान् के अत्यंत क्षीण हो जाने के कारण आज का दिन भी शीघ्र ही बीत चला। संध्या के रूप में विकराल काल की छाया प्रकट हो चली, जिसकी सहायता पा रोग-राहु ने आज रात में साहित्यिक संसार में अवश्य राहज़नी करने का दृढ़ संकल्प कर लिया। संभवतः यही कारण था कि भगवान् दिनकर आज शीघ्र ही भाग निकले। संध्या हो चुकने पर बग़ल के ठाकुरद्वारा में आरती हुई और लालाजी को आरती दी गई। राहु बराबर अपनी ताक में लगा हुआ था, जिसके कारण अपने सहायक मित्र भगवान् का भावी अनिष्ट स्मरण कर हिमकर भी चिंतित देख पड़ता था। एक प्रहर रात बीतते-बीतते भय-विह्वल हिमकर ने अपनी ज्योति क्षीण कर दी, ताकि राहु को अंधकार में मार्ग ही दिखाई न दे सके। हुआ भी यही, भुवनभास्कर भगवान् तो पहले से ही भाग निकले थे, हिंदी-साहित्याकाश के भगवान् में उसे उनका भ्रम हुआ और उसने आ दबाया। 'दीन' जी के जीवन-नाटक का अंतिम भयावह कारुणिक दृश्य समाप्त हुआ, उनके नेत्रपटलों का अंतिम परदा पड़ गया, दर्शक चीख़ उठे और प्रकृति निस्तब्ध हो उठी।

देवाचार्य देव

दीपक-दीप्ति

(१)

तेरी प्रशंसा क्या करें,
तू श्रेष्ठ और अनूप है;
हे दीप ! इस संसार में
तू ब्रह्म का ही रूप है।

(२)

उपकार में तल्लीन ही,
नर नित्य पाते हैं तुझे;
तो भी न गाते गुण कभी,
पर वे जलाते हैं तुझे।

(३)

तू निज दशा को देखकर,
होना कभी मत शोक में;
है, क्योंकि मिलता सुख नहीं
उपकारियों को लोक में।

(४)

आश्च[illegible] बात का,
तू स्नेह-युत होकर भला;
करता नहीं है स्नेह, पर
देता शलभ को है जला।

(५)

प्रेमी-निरादर कर महा,
जो लूटते असु-संपदा;
तेरी तरह वे भी जगत में,
हैं जला करते सदा।

(६)

नीचे हुआ तमयुक्त क्यों,
द्युतिमय बनाकर गेह को;
करता मुदित क्यों तू हमें,
अपनी जलाकर देह को।

(७)

खाकर तिमिर तू ज्योति को,
उत्पन्न कैसे कर रहा?
क्यों कालिमा से कांतिमय,
है गेह को तू भर रहा?

(८)

संभव यही, है उगलता,
तू भुक्ततम को इस तरह;
है भस्म रह सकती बता,
तेरे उदर में किस तरह?

(९)

है कामिनी-शृंगार में,
जो काम आता सर्वदा;
है लोचनों का हार जो,
या है, अलौकिक संपदा।

(१०)

है यामिनी जब जगत की,
तेरा दिवस होता तभी;
उस काल तू सो जायगा,
जब जाग जाते हैं सभी।

(११)

कर प्राप्त उच्चासन सदा,
सम्मान पा करके महा;
है प्राणियों को प्रेम से
उपदेश तू यह कर रहा।

(१२)

"मेरे सदृश ही जागती,
है ज्योति तुममें कांतिमय;
पर, दीप्ति मेरी भ्रांतिमय
है और वह सुख-शांतिमय।

(१३)

"मुझको जलाने से कभी,
उद्धार हो सकता नहीं;
मन का अँधेरा बंधुओ,
मुझसे मिटेगा क्या कहीं?"

(१४)

"उससे मिलाओ ज्योति को,
अपनी मिटाओ आपदा;
है जगमगाती ज्योति जो
सर्वत्र, सबमें, सर्वदा।"

कुमार प्रतापनारायण

कालिदास का मदन-दहन

(शेषांश)

किंतु कालिदास का पूरा कुमारसंभव तथा उनके अन्य ग्रंथ पढ़ने पर एक और बात भी मन में स्थान कर लेती है। कालिदास उस समय के कवि थे, जब भारतवर्ष में पौराणिक देवताओं का अस्तित्व विश्वसनीय था; और जल के देवता वरुण, आग के देवता अग्नि, मृत्यु के देवता यम आदि की ही भाँति मनोविकारों के देवता और देवी काम और रति माने जाते थे। पौराणिक कथाओं के अनुसार मदन-दहनवाली इस प्रसिद्ध घटना के पूर्व 'काम' भी अन्य देवताओं की भाँति शरीरधारी था, और इसी घटना के बाद वह अशरीरी, अतनु, होकर संसार में रहने लगा।

मेरा विश्वास है कि कालिदास अपने काव्यों में हमारे सामने तत्कालीन भारत के उस विश्वास को लेकर ही आते हैं। यह बात और स्पष्ट हो जाती है, जब हम आगे देखते हैं कि मदन-दहन होने पर काम की स्त्री रति का विलाप एक पूरे सर्ग में कराया जाता है। वास्तव में देखा जाय, तो काम-विकार के नष्ट होने पर 'रति' नाम की किसी वस्तु या विकार का बाक़ी रह जाना और विलाप करना असंभव है। पर कालिदास काम के देव-स्वरूप को स्वीकार करते हैं और प्रत्येक देवता के साथ उसकी पत्नी का होना स्वाभाविक होने के कारण वे 'रति' को भी अपने काव्य से हटा नहीं सकते! और इसी विश्वास के अनुसार वे इंद्र और काम का संवाद करा देते हैं। हमें भी कवि के इस विश्वास के होते हुए भी, उसके साथ उसी रस का उपभोग करते हुए चलने में कोई आपत्ति तब तक नहीं है, जब तक वह इस विश्वास के कारण किसी स्थान पर यह न भूल जाय कि काम वास्तव में एक विकार है। अर्थात् वह उसके शरीरी होने से कोई अनुचित लाभ न उठाए।

इस प्रकार कवि ने अपना क्षेत्र बहुत कोमल, बहुत नाज़ुक बना लिया है। देखें, वह कितना सफल होता है!

अब तक कथा के साथ-साथ हम शंकर के आश्रम के पहरेदार नंदी के प्रसंग तक आ चुके हैं; और यहीं से यह कोमल क्षेत्र और कोमल होता जाता है, अतः आगे बढ़ने के पहले हमें इस प्रसंग पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए।

वसंत की सेना का आगमन, प्रकृति का उद्दीपक परिवर्तन देखकर शिव के गणों का नायक नंदी अन्य गणों को सावधान रहने का संकेत करता है। उसकी आज्ञा का तुरंत पालन होता है। गण ही नहीं—वे तो उसके अधीन थे ही—पर सारा कानन (शायद कानन का रूपक गणों के साथ बाँधा गया है!) उनकी आज्ञा मानता है, शांत हो जाता है। सारा लड़ाई का जोश ठंढा हो जाता है।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यह नंदी कौन है? क्या वास्तव में शंकर का कोई सेवक है? पर यदि ऐसा है, तो उसने वसंत द्वारा परिचालित प्रकृति को किस तरह वश में किया?

मेरी समझ में इसका बड़ा सुंदर अर्थ इस प्रकार होगा। शंकर समाधि-मग्न हैं। अपनी आत्मा का अवलोकन कर रहे हैं। उनकी सारी इंद्रियाँ इस समय अचेत हैं। उनकी देह, उनके बाह्य उपकरण, सब निर्जीव-प्राय हैं। क्योंकि शंकर का ध्यान उधर नहीं! शंकर की देह के इन बाह्य उपकरणों का ही रूपक शायद नन्दी के साथ बाँधा गया है। नंदी का यहाँ मुख्य कार्य यही होता है कि वह प्रकृति के उद्दीपन को रोक देता है। दूसरे शब्दों में—वसंत-जनित प्रकृति का उद्दीपन शंकर की देह-स्थित भिन्न-भिन्न इंद्रियों के साथ टकराना चाहता है, उन्हें भी उद्दीप्त करना चाहता है। यदि वे इंद्रियाँ चेतन होतीं, तो अप्सराओं के गाने से शंकर के कान मुग्ध हो जाते, फूलों की सुगंध से घ्राणेंद्रिय मत्त हो उठती, शीतलवायु के स्पर्श से शरीर रोमांचित हो उठता, वह सुहावना दृश्य देखकर आँखों में एक विचित्र भाव

उत्पन्न हो जाता। पर शंकर समाधिस्थ थे, उनकी इंद्रियों से टकराकर प्रकृति की वह उद्दीपन-शक्ति नष्ट हो गई; अर्थात् उस उद्दीपन का शंकर की इंद्रियों पर कोई प्रभाव न पड़ा—और इस प्रकार, नंदी की आज्ञा से प्रकृति की चंचलता दूर हो गई !

किंतु—

"दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरःशुक्रमिव प्रयाणे ।
प्रान्तेषु संसक्तनमेरुशाखं ध्यानास्पदं भूतपतेर्विवेश ॥४३॥

काम शंकर के आश्रम में घुस जाता है। नंदी की देखरेख का कोई फल नहीं होता। क्यों? इसीलिये कि काम सूक्ष्म विकार है। वह जाकर उन अचेतन इंद्रियों में स्थान कर लेता है। ज्यों ही शंकर सचेत होंगे—उनकी इंद्रियाँ 'काम' के आदेश से मचल उठेंगी। और इस प्रकार काम का शंकर के आश्रम में इस प्रकार प्रवेश करना बड़ा रहस्य-पूर्ण है।

वहाँ जाकर कामदेव क्या देखता है—

"स देवदारुद्रुमवेदिकायां शार्दूलचर्मव्यवधानवत्याम् ।
आसीनमासन्नशरीरपातः त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श ॥ ४४ ॥
पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायं ऋज्वायतं सन्नमितोभयांसम् ।
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये ॥ ४५ ॥
भुजङ्गमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम् ।
कण्ठप्रभासङ्गविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥४६॥

एक देवदारु के वृक्ष के नीचे सिंह-चर्म पर संयमी शंकर समाधि में बैठे हैं। पर्यंक-बंधन आसन लगाए हैं। शरीर बिलकुल सीधा है। दोनों कंधे झुके हुए हैं। गोद में उत्तान रक्खे हुए दोनों हाथ खिले हुए कमलों के समान जान पड़ते हैं। उनका जटा-कलाप साँपों से बँधा हुआ है। कानों में दुहरी अक्षमाला पड़ी हुई है, और ग्रंथि-युक्त कृष्ण मृग के चर्म का आर्जन धारण किए हुए हैं।

यह तो हुआ शंकर का शारीरिक स्थूल वर्णन! जिससे कामदेव ख़ूब परिचित था। पर आगे जो कुछ देखा वह कामदेव के लिये विशेष भावोत्पादक था।

"किञ्चित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैः भ्रूविक्रियायां विरतप्रसङ्गैः ।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैः लक्ष्यीकृतघ्राणमधो मयूखैः ॥ ४७ ॥
अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरङ्गम् ।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥४८॥
कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैः ज्योतिःप्ररोहैरुदितैः शिरस्तः ।
मृणालसूत्राधिकसौकुमार्य्यां बालस्य लक्ष्मीं ग्लपयन्तमिन्दोः॥४९॥
मनोनवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम् ।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥ ५० ॥

उनके आँखों की भीषण, चमकदार पुतलियाँ निश्चल होकर नासिका की ओर देख रही थीं और भौंहें चढ़ी हुई थीं। क्या यह रूप देखकर भी कामदेव न डरा होगा?

अंतश्चर प्राणादि वायु-समूह को रोकने से उनकी विचित्र ही आकृति हो गई थी। कवि इस संबंध में तीन उपमाएँ देता है। (१) वे विना बरसते हुए बादलों के समूह के समान जान पड़ते थे। (२) अथवा वे तरंग-हीन समुद्र की भाँति थे। (३) या वायु-रहित स्थान में निश्चल दीप-शिखा की भाँति!

कितनी उत्तम उपमाएँ हैं! शंकर की समाधि-अवस्था का कैसा सुंदर चित्र है। उनकी गंभीरता और निश्चलता का अपूर्व दृश्य सामने आ जाता है। उनके सिर के कपाल-नेत्र की राह जो ज्योति के अंकुर निकल रहे थे, उनके आगे बालेंदु की शोभा फीकी पड़ रही थी। कितना शांत दृश्य है।

वे अपने मन को समाधि द्वारा भीतर-ही-भीतर नवों द्वारों के मार्ग से हटाकर अपने वश में करके उस आत्मा को अपने ही में देख रहे थे, जिसे आत्मज्ञानी लोग अक्षर, अनाशवान् कहते हैं।

शंकर का इतना सुंदर वर्णन पढ़ते-पढ़ते भी पाठक को यह वर्णन अधिक विस्तृत-सा जान पड़ता है, उसका जी ऊबने लगता है—वह सोचने लगता है कि वह तो 'किरातार्जुनीय' के नारद-वर्णन से कुछ कम नहीं! वह संस्कृत के कवियों के वर्णनों की इस अहैतुक विस्तृति पर झुँझलाना ही चाहता है कि सहसा वह देखता है—

स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम् ।
नालक्षयत्साध्वससन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात् ॥५१॥

(अर्थात्—इतने पास से शंकर का यह रूप देखकर कामदेव डर के मारे इस प्रकार जहाँ का तहाँ खड़ा रह गया कि उसके हाथ से धनुष-बाण कब गिर गए—यह उसे जान भी न पड़ा!)

पाठक का सारा संदेह दूर हो जाता है। कवि की प्रतिभा के सामने मस्तक झुका देता है। कवि को शंकर भी समाधि-अवस्था से मदन को भयभीत करा देना इष्ट है। इसकी पूर्ति वह कदापि इतनी सफलता से न कर सकता, यदि वह शंकर की समाधि-अवस्था का, उस

शांति पूर्ण तेजस्वी मूर्ति का, उनकी प्रभावमयी गंभीरता का इस प्रकार वर्णन न करता ! यदि संक्षिप्त रूप में शंकर का वर्णन करके कवि कामदेव के हाथों से डर के मारे धनुष-बाण छुड़वा देता, तो यह अस्वाभाविक-सा जँचता। शंकर का प्रभाव तो उससे अवश्य कुछ बढ़ जाता, पर कामदेव सर्वथा कायर बन जाता। फिर वह शिव को जीतने चला ही किस बूते पर था ? किंतु अब ऐसा होना महा स्वाभाविक है, परम सुंदर है !

पर अब तो इस प्रकार कवि सारा काम ही चौपट किए दे रहा है। इस प्रकार डरकर यदि काम अपने कार्य से विमुख हो गया, तब तो कुछ बात ही नहीं हुई। किंतु कालिदास ने यह विघ्न भी डालकर अपना काम ही बनाया है, और वह भी बड़ी ख़ूबी के साथ !

जिस समय कामदेव इस प्रकार भयभीत होकर जहाँ का तहाँ खड़ा रह गया, उसी समय—

निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्य्यं संधुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन ।
अनुप्रयाता वनदेवताभ्यामदृश्यत स्थावरराजकन्या ॥ ५२ ॥

अपने शरीर की शोभा से कामदेव के निर्वाण-प्राप्त वीर्य को प्रज्वलित करती हुई-सी पार्वती आती दिखाई पड़ीं।

कैसा अपूर्व दृश्य है ! इसी बहाने पार्वती का सौंदर्य भी कितने स्वाभाविक रूप से कितने उच्च शिखर पर पहुँचा दिया गया है। जिसे देखकर कामदेव की गई हुई हिम्मत फिर लौट आई। वह यथार्थ ही असामान्य सुंदरी होगी।

इस प्रकार पहले कामदेव को शंकर के रूप से डराकर, उसको उसके कार्य में निरुत्साह करके कवि ने फिर पार्वती को बुलाकर जिस ख़ूबी से उसमें फिर उत्साह उत्पन्न किया है—यह सब अत्यंत कवित्वपूर्ण है, परम सुंदर कल्पना है ! इससे इसमें कितना नाट्य-सौंदर्य बढ़ जाता है, यह रसिक पाठक ही अनुभव कर सकते हैं।

गोसाईंजी ने इस समय यहाँ पार्वती को नहीं बुलाया है। संभवतः पार्वती को काम का अस्त्र बनाना भक्त तुलसीदास को न रुचा हो ! किंतु यदि यथार्थ में देखा जाय, तो पार्वती के न होने पर कामदेव का अपना काम पूरा कर लेना एक अनर्गल कल्पना ही है ! मैं पहले ही कह चुका हूँ कि कालिदास यद्यपि कामदेव को एक देवता समझकर, एक व्यक्ति मानकर, उसकी कहानी कह रहे हैं ; पर वे यह कभी नहीं भूले कि वह एक मानसिक विकार है। वे उसके वास्तविक स्वरूप को भूल जाने का दुस्साहस नहीं कर सके। तभी तो उन्होंने बिना किसी स्त्री के काम का कार्य पूरा होते नहीं समझा। यह बराबर उनके ध्यान में था कि दोनों आलम्बन-विभावों (नायक-नायिका) के बिना काम का कार्य अधूरा ही रहता है। काम का कार्य शृंगार-रस से संबंध रखता है। नायक के मन में काम-विकार उत्पन्न करने के लिये जो सर्वोत्तम साधन हो सकते थे, उन्हीं से यहाँ कालिदास ने काम लिया है। सबसे पहले नायक के आसपास उसने शृंगार-रसोत्पादक वायुमण्डल बनाने की आवश्यकता समझकर उद्दीपन-विभाव उत्पन्न किया। यह काम वसन्त की सहायता से संपन्न हुआ। सारी प्रकृति मत्त होकर नायक को उन्मत्त करने का प्रयत्न करने लगी। किन्नरियाँ नाना प्रकार के सुंदर गीत गाने लगीं। उद्दीपन-विभाव का पूरा सामान कर दिया गया। साधारण कामी पुरुष के मन को उत्तेजित करने के लिये तो इतना ही पर्याप्त होता है; उसका मन इतने ही से विचलित हो जाता है। किंतु संसार में ऐसे पुरुष भी कम नहीं, जिनके मन केवल उद्दीपन-विभाव से ही विचलित नहीं होते। फिर ये तो शंकर ही थे। उन पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। अब कामदेव का असली साधन था—नायिका ! शृंगार-रस का कार्य है नायक-नायिका में परस्पर रति उत्पन्न करना, किंतु जब नायिका ही न होगी, तब नायक के मन में रति उत्पन्न होगी ही किसके लिये ? काम का यही तो मुख्य साधन है। उसके बिना काम से शंकर को जीतने का प्रयत्न कराना उसके वास्तविक स्वरूप को समझने के सिवा क्या है ! काम एक मानसिक विकार है, जो नायक-नायिका में परस्पर एक दूसरे के प्रति उत्पन्न होता है—यह एक साधारण बात है।

पर गोसाईंजी को संभवतः काम के वास्तविक स्वरूप का ध्यान न रहा। वे उसे एक व्यक्ति ही समझकर सब कुछ करा गए। मानो वह भी कोई ऐसा ही साधारण प्रकार का शत्रु था, जो तीर चलाकर किसी को मार डालता।

अस्तु ! यहाँ पार्वती का आना नितांत आवश्यक था और इन्हें लाकर कालिदास ने अपनी पूर्ण प्रतिभा का परिचय-मात्र दिया है।

पार्वती की शोभा का, उनके सौंदर्य का वर्णन भी कालिदास ने यहाँ परिस्थिति के अनुकूल ही किया है। उस समय पार्वती जो आभूषण पहने थीं, वे सब पुष्पों के ही थे। कवि जानता था कि ऐसे समय, जब कि वहाँ का सारा वायु-मंडल ही प्रकृति की सुंदर छटा दिखा रहा है, पार्वती का पुष्प-शृंगार ही सबसे सुंदर जान पड़ेगा—और सारे शृंगार इस समय फीके पड़ जायँगे। इस प्रकार इस दृश्य में एक प्रकार का सात्त्विक सौंदर्य भी लाने का प्रयत्न किया गया है। वे उस समय साक्षात् प्रकृति देवी की ही मूर्ति बन गई थीं। वन-देवियाँ उनके पीछे आ रही थीं। अशोक के फूलों के गहनों के सामने पद्मराग मणि फीकी पड़ती थी; कर्णिकार के फूल सोने को लज्जित करते थे; सिंधुवार के फूल मोतियों के कलाप जान पड़ते थे—इस प्रकार उनके सारे आभूषण पुष्पमय ही थे। यही नहीं, बल्कि कवि तो उन्हें चलती-फिरती हुई लता के ही रूप में देख रहा है। कैसी सुंदर कल्पना है। स्तनों के भार से मानो कुछ झुकी हुई-सी पार्वती के साथ फूलों के बोझ से झुकी हुई लता का कैसा सुंदर साम्य है। कामदेव की दूसरी प्रत्यंचा के रूप में जो केसर की माला की करधनी वे पहने थीं, उसके कुछ नीचे खिसक जाने के कारण वे हाथ में उठाए हुए हैं! कैसा सुंदर चित्र है, कितना स्वाभाविक! उनके सुगंधित निश्वास से खिंचकर एक भौंरा उनके बिंबाधर के पास मँडरा रहा है, जिसे चंचल दृष्टि से देखती हुई वे अपने हाथ के कमल से हटा रही हैं। कैसा सजीव चित्र है! धन्य हो कवि! रति को भी लज्जित करनेवाली ऐसी सर्वांग-सुंदरी पार्वती को देखकर जितेंद्रिय शिव को भी जीतने का 'काम' को विश्वास हो गया—

पार्वती का यह विचित्र रूप-वर्णन अपूर्व है। संस्कृत के छंदों का लालित्य, भाषा का माधुर्य देखते ही बनता है—

"अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्धुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥ ५३ ॥
आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥ ५४ ॥
स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनःपुनः केशरदामकाञ्चीम् ।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण मौर्वीं द्वितीयामिव कार्मुकस्य ॥५५॥
सुगन्धिनिःश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम् ।
प्रतिक्षणं सम्भ्रमलोलदृष्टिः लीलारविन्देन निवारयन्ती ॥ ५६ ॥
तां वीक्ष्य सर्वावयवानवद्यां रतेरपि ह्रीपदमादधानाम् ।
जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंस ॥५७॥

इस कोमल-कांत-पदावली में कैसा सुंदर चित्र छिपा हुआ है! पाठक मुग्ध हो जाते हैं। किंतु अब तो और भी मधुर, और भी कोमल दृश्य सामने आ रहा है।

"भविष्यतः पत्युरुमा च शम्भोः समाससाद प्रतिहारभूमिम् ।
योगात्स चान्तःपरमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपारराम ॥ ५८ ॥
ततो भुजङ्गाधिपतेः फणाग्रैरधः कथञ्चिद्धृतभूमिभागः ।
शनैः कृतप्राणविमुक्तिरीशः पर्यङ्कबन्धं निविडं बिभेद ॥ ५९ ॥
तस्मै शशंस प्रणिपत्य नन्दी शुश्रूषया शैलसुतामुपेताम् ।
प्रवेशयामास च भर्तुरेनां भ्रूक्षेपमात्रानुमतप्रवेशाम् ॥ ६० ॥

अब पार्वती अपने भावी पति शंकर के आश्रम के द्वार पर पहुँच गईं, और उसी समय दैवयोग से शिव भी परमात्मा की ज्योति के दर्शन कर चुके, तथा समाधि तोड़कर आसन-भंग किया। इसी समय उनके द्वारपाल नन्दी ने अभिवादन करके पूजन करने को आई हुई पार्वती के प्रवेश के संबंध में पूछा। शिव ने भौंहों के संकेत से उनके आने की स्वीकृति दे दी, और पार्वती का प्रवेश कराया गया।

नंदी के रूपक के संबंध में जो बात मैं कह चुका हूँ, वह यहाँ भी लागू होती है। शंकर का बाह्य इंद्रियाँ ही 'नंदी' हैं। इसका विश्लेषण पहले प्रसंग में मैं कर ही चुका हूँ। यहाँ भी इसकी संगति अच्छी तरह मिल जाती है। शंकर ने समाधि से जागकर अपनी इंद्रियों को चेतन कर दिया। उनकी नेत्र आदि इंद्रियों ने पार्वती की उपस्थिति का अनुभव करके शंकर को सूचना दी। यही नंदी का कार्य हुआ।

अब कामदेव शंकर से लड़ाई छेड़ता है—

"तस्याः सखीभ्यां प्रणिपातपूर्वं स्वहस्तलूनः शिशिरात्ययस्य ।
व्यकीर्यत त्र्यम्बकपादमूले पुष्पोच्चयः पल्लवभंगभिन्नः ॥ ६१ ॥
उमापि नीलालकमध्यशोभि विस्रंसयन्ती नवकर्णिकारम् ।
चकार कर्णच्युतपल्लवेन मूर्ध्ना प्रणामं वृषभध्वजाय ॥ ६२ ॥"

पहले पार्वती की सखियों ने उन्हें प्रणाम करके अपने हाथ से तोड़े हुए वसंत-ऋतु के फूल उनके चरणों पर चढ़ाए। उमा ने भी शंकर के सम्मुख अपना मस्तक झुकाया, किंतु ऐसा करते समय उनके कृष्ण केशपाश

हैं तथा कर्णिकार का फूल और कान से कोमल पल्लव उनके आगे गिर पड़े।

एक ही क्रिया को दो विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रकारों से कराकर कवि ने कैसा कौशल दिखाया है! सखियाँ प्रणाम करती हैं और साथ ही फूल भी चढ़ाती हैं। किंतु उमा प्रणाम करती हैं, तो उनके शरीर से फूल गिरकर स्वयं ही चढ़ जाते हैं। इस कल्पना-मात्र ही में सौंदर्य होने पर भी शंकर पर इसका एक अद्भुत प्रभाव डालना कवि का प्रधान उद्देश्य है। इस प्राकृतिक भाव-भंगी से सचमुच शंकर मुग्ध हो गए होंगे! पर अभी कवि ने उनके भाव को प्रकट नहीं कराया।

"अनन्यभाजं पतिमाप्नुहीति सा तथ्यमेवाभिहिता भवेन।
न हीश्वरव्याहृतयः कदाचित्पुष्णान्ति लोके विपरीतमर्थम् ॥६३॥"

शंकर ने आशीर्वाद दिया कि "अनन्यभाक् (जो तुम्हारे अतिरिक्त और किसी भी स्त्री को प्रेम न करे) पति पाओ!"

अब—

"कामस्तु बाणावसरं प्रतीक्ष्य पतंगवद्वह्निमुखं विविक्षुः।
उमासमक्षं हरबद्धलक्ष्यः शरासनज्यां मुहुराममर्श ॥ ६४ ॥"

काम, समय निकट आया जान, उमा के सामने शंकर पर निशाना बाँधकर बार-बार प्रत्यंचा को छूता हुआ तीर छोड़ने के अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

अब कामदेव की करामात, कवि के कौशल और इस कथा के मुख्य भाग का सर्वोत्तम अंश आता है। काम यदि इस समय सफल हो गया, तो शंकर की हार है, पार्वती की जीत! देवताओं के बाजे बजने लगेंगे और फूल बरसने! पर यदि कामदेव हार गया और शंकर जीत गए तो? तब तो पार्वती और देवतागण सभी अत्यंत निराश हो जायँगे। देखें, कवि क्या कराता है।

"अथोपनिन्ये गिरिशाय गौरी तपस्विने ताम्ररुचा करेण।
विशोषितां भानुमतो मयूखैः मन्दाकिनी पुष्करबीजमालाम् ॥६५॥
प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात् त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च।
सम्मोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम् ॥ ६६॥
हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्य्यः चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिंबफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥ ६७॥
विवृण्वती शैलसुतापि भावमंगैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥ ६८ ॥"

शंकर को प्रणाम करके, उनका आशीर्वाद पाकर पार्वती सूर्य की किरणों में सूखे हुए मंदाकिनी के कमलों के बीजों की माला अपने कोमल लाल-लाल हाथों में लेकर महादेव को पहनाने के लिये आगे बढ़ीं। अपने भक्त को प्रिय होने के कारण शंकर ने उस माला को अपने गले में डलवा लिया—और इसी समय कामदेव ने अपने धनुष पर 'सम्मोहन' नाम का अमोघ बाण चढ़ाया! शंकर कुछ अधीर हो गए—ठीक उसी भाँति जिस प्रकार चन्द्रोदय के आरंभ में समुद्र का जल! और उन्होंने बिंबाफल के समान रक्त अधर और ओंठवाले उमा के मुख की ओर ताका! उनको अपनी ओर ताकते देख उमा के हृदय में भी भाव—प्रेम—उत्पन्न हुआ। उनके अंग छोटे-से कदंब के समान पुलकित हो गए; और लज्जित होकर उन्होंने बड़ी सुंदरता से अपना मुख तिरछा करके आँखें नीची कर लीं।

पर शंकर तो परम संयमी थे! अधिक देर तक यह भाव उन पर अधिकार नहीं किए रह सकता था—

"अथेन्द्रियक्षोभमयुग्मनेत्रः पुनर्वशित्वाद्बलवन्निगृह्य।
हेतुं स्वचेतोविकृतेर्दिदृक्षुः दिशामुपान्तेषु ससर्ज दृष्टिम् ॥ ६९ ॥
स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम्।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥ ७० ॥"

उन्होंने बलपूर्वक अपने इंद्रिय-क्षोभ को रोक लिया और अपने चित्त-विकार के हेतु को देखने के लिये चारों ओर दृष्टि डाली। क्या देखते हैं कि वीरासन पर बैठा हुआ काम कंधा झुकाए, प्रत्यंचा खींचे—बस तीर छोड़ने ही वाला है! (अर्थात् शंकर के विवेक ने उनके प्रबल काम-विकार की सूचना उन्हें दे दी!)

कैसा सुंदर वर्णन है! कालिदास ने काम की क्रियाओं को बड़े उपयुक्त रूप में दिखाया है। कवि ने कामदेव को तीर नहीं छोड़ने दिया; क्योंकि उसके तीर छोड़ने का अर्थ ही कामोत्पादन कर देना है। फिर तो शंकर काम-विजयी नहीं कहा सकते। और न कवि ने यही किया है कि शंकर के मन में तनिक भी विकार उत्पन्न न हो। ऐसा होने पर भी काम-विजय में उन्हें कुछ अधिक श्रेय न मिलता। जिसके मन में विकार ही न आए, उसके काम को जीतने में कोई विशेष बात नहीं! अतः कवि ने बड़ी सुंदरता से शंकर का मन कुछ चंचल करके एकदम उन्हें सम्हाल दिया है।

और इस प्रकार मदन-दहन हो जाता है—

"ततः परामर्शविवृद्धमन्योर्भ्रूभंगदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य तस्य ।
स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात ।।७१।।
क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ।। ७२ ।।

अंत को क्रुद्ध शंकर के तीसरे नेत्र (अर्थात विवेक-बुद्धि) से आग निकल पड़ी और आकाश में देवताओं की ख़ुशामद की आवाज़ फैलने भी न पाई थी कि काम-देव उस अग्नि से जलकर राख हो गया ।

देवताओं की आशा चूर्ण हो गई । शंकर को यह सबक़ मिल गया कि 'काम' से बचने के लिये स्त्री-सन्निकर्ष का त्याग करना अत्यंत आवश्यक है । वे वहाँ से चल दिए—

"तमाशु विघ्नं तपसस्तपस्वी वनस्पतिं वज्र इवावभज्य ।
स्त्रीसन्निकर्षं परिहर्तुमिच्छन्नन्तर्दधे भूतपतिः सभूतः ।। ७४ ।।

कालिदास ने यहाँ अपने एक मत का भी प्रतिपादन किया है । संसार में कुछ लोगों का विचार है कि विकार-हेतु के रहने पर विकार किसी प्रकार दबाया ही नहीं जा सकता । यह आग और फूस का संबंध है, अतः वे ही महान् हैं, जो इनको साथ-साथ न रहने दें, विकार-हेतु को नष्ट कर दें; अपने मन को भी रोकें, पर विकारो-त्पादक वातावरण से सदा दूर रहें । किंतु दूसरे प्रकार के लोगों का विश्वास है कि ऐसा तो सब कोई कर सकता है । किंतु महान् वही है, जो विकार के हेतु के रहने पर भी मन को वश में कर लें । उनके विचार से मन को संयत रखने का अभ्यास करने से यह साध्य है ।

कालिदास ने शंकर को दूसरे मत के प्रतिपादक के रूप में उपस्थित किया है । जब (पहले सर्ग में) हिमाचल ने पार्वती को शंकर के आश्रम में उनकी सेवा करने को भेजा, तब शंकर ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया । उन्होंने सोचा—

"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः" ।। १ । ५९ ।।

किंतु अब वही शंकर इतना प्रयत्न करके भी अपने उस विचार के अनुसार कार्य करने में सफल न हो सके । अंत को उनका मन बदल गया । वे पहले प्रकार के विचार-वाले लोगों में मिल गए । उन्होंने भी स्वीकार किया कि विकार का हेतु रहने पर मन को वश में करना असंभव है । तभी तो—

'स्त्रीसन्निकर्षं परिहर्तुमिच्छन्
अन्तर्दधे भूतपतिः सभूतः ।'

वे स्त्री का सान्निध्य छोड़कर चले गए । इस प्रकार जान पड़ता है कि कालिदास भी पहले प्रकार के मतवाले लोगों में हैं, और उसी मत की विजय यहाँ उन्होंने कराई है ।

इस प्रकार एक ओर तो शंकर के विचारों में ज़बर्दस्त परिवर्तन होता है, और दूसरी ओर पार्वती भी चेतती हैं ।

"शैलात्मजापि पितुरुच्छिरसोऽभिलाषं,
व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च ।
सख्योः समक्षमिति चाधिकजातलज्जा,
शून्या जगाम भवनाभिमुखी कथञ्चित् ।।७५।।"

पार्वती का जो यह विचार बन-सा गया था कि शंकर मेरे रूप को देखकर मुग्ध हो जायँगे और मेरे पिता की तथा मेरी अभिलाषा पूरी होगी, उस पर बड़ा भारी आघात पहुँचा । उन्हें अपना रूप बिलकुल फीका जान पड़ने लगा । इस पर भी सखियों के सामने अपना यह अपमान ! बहुत लज्जित होकर पार्वती अपने घर को लौट गईं ।

किंतु वास्तव में इस प्रकार पार्वती का कोई अनिष्ट नहीं हुआ । उनके विचारों में भी बड़ा भारी परिवर्तन हो गया । वे समझ गईं कि प्रेम-साम्राज्य में रूप-सौंदर्य को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है । रूप से प्रेमी को वश में नहीं किया जा सकता । इसके लिये तो प्रेम-त्याग-तप की आवश्यकता है । इसीलिये इन्होंने अपने रूप को अब व्यर्थ समझा—

'व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च ।'

पाँचवें सर्ग में हम पार्वती को तपस्या के लिये तैयार देखते हैं । वहाँ पार्वती इस सिद्धांत पर आ गई हैं—

"तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती ।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ।।५।१।।
इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ।।५।२।।

पार्वती ने अपने रूप की निंदा की; क्योंकि यदि प्रेमी प्रसन्न न हुआ, तो उस रूप से क्या लाभ ? अतः उन्होंने तपस्या करके शंकर का प्रेम पाने का निश्चय कर लिया ।

इस प्रकार पार्वती रूप, विकार आदि की निम्न-श्रेणी से उठकर प्रेम के विशाल साम्राज्य में आती हैं । वे

त्याग-तपस्या का महत्त्व समझती हैं, और अंत में शंकर-पार्वती का विवाह होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मदन-दहन में कालिदास के नायक और नायिका, दोनों ही के सिद्धांतों में बड़ा भारी परिवर्तन होता है। एक और चमत्कार है! पहले हम देखते हैं कि काम की जीत होने पर ही शंकर-पार्वती का विवाह संभव है। कवि पाठक पर इस प्रकार से यह प्रभावित कर देता है कि वह बराबर यही चाहता है कि काम की जीत हो और नायक-नायिका का सम्मिलन। पर बात-ही-बात में कवि पासा पलट देता है। पार्वती, देवता—सभी निराश हो जाते हैं और साथ-ही-साथ पाठक भी! पर कुछ देर में कवि वह कौशल दिखाता है कि सभी दंग रह जाते हैं। मदन-दहन होने पर भी शंकर-पार्वती का विवाह होता है। अब पार्वती, देवता, सभी की आशाएँ पूरी होती हैं, सभी प्रसन्न होते हैं, साथ-ही-साथ पाठक भी! पर पाठक अब एक दूसरे ही प्रकार के वायुमंडल का अनुभव करता है। वह देखता है कि यदि पहली सीढ़ी पर सफलता मिली होती, तो वह बहुत ही नीची श्रेणी की होती। किंतु यह तो अपूर्व है! कितनी सात्त्विक!

इस प्रकार तमोगुणी विजय से सतोगुणी विजय, रसातल से देवलोक, तालाब से समुद्र में पहुँचकर पाठक कवि की पूजा किए बिना नहीं रह सकते।

यही है मदन-दहन का वास्तविक महत्त्व! किंतु अब हम गोसाईंजी की ओर लौटते हैं। गोसाईंजी का यह प्रसंग और ही ढंग का है। उनका शिव-पार्वती की भक्ति से परिप्लावित हृदय कालिदास की भाँति पार्वती को कामदेव का साधन बनाना सहन न कर सका। वे जगन्माता पार्वती का यह रूप कल्पना में भी नहीं देखना चाहते। किंतु यहाँ गोसाईंजी चूक गए हैं। वे कालिदास की छाया भी नहीं छू सके। मैं यह नहीं कहता कि गोसाईंजी में वह प्रतिभा नहीं थी। पर वे यहाँ कुछ भ्रम में अवश्य पड़ गए। उनकी भक्ति-प्रवणता और भावुकता के ही कारण यह सब हुआ।

किंतु दो कवियों के दो प्रसंगों की तुलनात्मक आलोचना करते समय इस प्रकार की छूट नहीं दी जाती। यहाँ पर काव्य-कार की आलोचना 'कवि'—'कलाकार' की दृष्टि से ही की जाती है, 'भक्त' की दृष्टि से नहीं! भक्त-हृदय क्षमा करें—गोसाईंजी यहाँ कालिदास से निश्चय ही बहुत पीछे रह गए हैं। इस भारी भ्रम के कारण तुलसीदास का यह प्रसंग बहुत फीका पड़ गया है। उन्होंने पार्वती को शिव के सामने उपस्थित न करके इस प्रसंग को प्राणहीन कलेवर-सा कर दिया है। इस प्रकार उन्होंने कामदेव को 'काम' (एक मानसिक विकार) न समझकर केवल एक व्यक्ति ही समझ लिया है। पर कालिदास ने काव्य-सौंदर्य की रक्षा के लिये काम को एक व्यक्ति का रूप तो दिया ही है! साथ ही वे एक महाकवि की भाँति उसके वास्तविक स्वरूप को भी नहीं भूले और इसीलिये उन्हें 'मदन-दहन' के प्रसंग में बड़ी अद्भुत सफलता मिली है।

तुलसीदास ने इधर का प्रसंग इस भाँति लिखा है—

"रुद्रहिं देखि मदन भय माना। दुराधर्ष दुर्गम भगवाना॥
फिरत लाज कछु कहि नहिं जाई। मरन ठानि मन रचेसि उपाई॥
प्रगटेसि तुरत रुचिर ऋतुराजा। कुसुमित नव तरुराज बिराजा॥
बन उपबन बापिका तड़ागा। परम सुभग सब दिसा बिभागा॥
जहँ तहँ जनु उमगत अनुरागा। देखि मुएहु मन मनसिज जागा॥
जागइ मनोभव मुएहु मन बन सुभगता न परै कही।
सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन अनल सखा सही॥
बिकसे सरन बहु कंज गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।
कलहंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अपछरा॥
सकल कला करि कोटि बिधि, हारेउ सेन समेत।
चली न अचल समाधि सिव, कोपेउ हृदय-निकेत॥
देखि रसाल बिटप बर साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदन मन माखा॥
सुमन चाप निज सर संधाने। अति रिस ताकि स्रवन लगि ताने॥
छाँड़ेसि बिषम बिसिख उर लागे। छूटि समाधि संभु तब जागे॥
सौरभ पल्लव मदन बिलोका। भयउ कोप कंपेउ त्रयलोका॥
तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भयउ जरि छारा॥"

इस प्रकार तुलसीदास ने अपने कामदेव से 'कोटि-विधि' से 'सकल कला' कराकर उसे हरा दिया। किंतु सिवा एक वसंतोद्दीपन के (जो अकेले वसंत ने ही कर डाला) उससे कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कराया गया। फिर वह क्या-क्या कोटि विधि की सकल कला करके हार गया? क्या उसने शिव के सम्मुख कोई अपूर्व सुंदरी तरुणी भी खड़ी कर दी?

एक और भी अच्छा मज़ाक रहा। यह सारा का

सारा कार्य हो रहा है शिव-पार्वती के विवाह के लिये ! ऐसी अवस्था में जब कामदेव शंकर के मन को विकृत करने गया है, तब उसे निश्चय ही पार्वती को ही आलंबन बनाना चाहिए। यदि किसी अन्य सुंदरी को वह उनके सम्मुख ले जाता है और उस पर शंकर का मन चंचल हो जाता है, तब तो उनके उसी से विवाह करने की अधिक संभावना है। फिर इससे शंकर-पार्वती के विवाह में कौन-सी सुविधा होती ?

इसीलिये इस समय कालिदास ने जो सबसे उत्तम साधन इस समय हो सकता था, वही ग्रहण किया। वे साक्षात् पार्वती को और बड़े स्वाभाविक ढंग से वहाँ ले आए। किंतु तुलसीदास यों ही रह गए। कालिदास की पार्वती के कारण शंकर का मन विकृत होते देख उनका सिर लज्जा से नीचा हो गया। उन्हें कालिदास पर क्रोध आया, और साथ ही उनकी पार्वती पर भी ! उन्होंने पार्वती को अपने इस प्रसंग में आने ही न दिया।

समझ में नहीं आता—इस प्रकार गोसाईंजी का कामदेव क्या काम करने आया था ! यदि कामदेव की विजय ही हो जाती, जिसके लिये वह आया ही था और शंकर काम के वश में हो जाते, तब क्या वे (शिव) किसी काल में पार्वती के आने की प्रतीक्षा करते रहते ? या उनका कामातुर मन वहाँ जिसे पाता, उसी पर रम जाता ! हो सकता था कि ऐसी अवस्था में वहीं की किसी अप्सरा पर ही वे मुग्ध हो जाते, और कुछ देर तक आनंद भोग करके वे तृप्त हो चुकते और फिर यदि आगे (देवताओं की अभिसंधि से ?) पार्वती उनके पास आतीं, या पार्वती से विवाह करने का उनसे प्रस्ताव किया जाता, तब उस समय तक वे विकार-रहित हो चुके हुए रहते, और उन पर कोई भी प्रभाव न पड़ता। इस प्रकार कामदेव उन पर विजय प्राप्त करके भी कुछ काम न बना सकता। किंतु कालिदास के कामदेव की यदि जीत हुई होती, तो निश्चय ही शंकर-पार्वती का विवाह हो जाना निश्चित रहता। क्योंकि वे पार्वती के कारण ही काम से हारते—उन्हीं के कारण विकार-ग्रस्त होते। अस्तु।

कालिदास 'काम' के वास्तविक स्वरूप को भूले नहीं थे, यह केवल उतने ही से प्रकट नहीं होता। अनेक स्थलों पर इसके प्रमाण मिलते हैं। जिस समय पार्वती ने शंकर को सिर नवाकर प्रणाम किया और उनके कानों से फूल गिर पड़े, उस समय कामदेव ने अपनी प्रत्यंचा को कई बार छुआ। इससे कवि का स्पष्ट संकेत है कि पार्वती की उक्त क्रिया से शंकर के मन में जो एक अव्यक्त विकार का भाव उदय हुआ होगा, वही 'काम' का अपने धनुष की प्रत्यंचा को छूना है। और इसीलिये, उस समय शंकर के मन में जिस किसी भी अंश में विकार उत्पन्न हुआ, उसे कवि ने स्पष्ट शब्दों में प्रकट करना आवश्यक नहीं समझा। कवि समझता था कि 'काम' की इस क्रिया का चित्र खींचने से ही शंकर के मन की विकारोत्पत्ति का कथन हो जाता है।

इसके बाद जिस समय पार्वती ने शंकर के गले में माला डालने को हाथ बढ़ाया और शंकर ने उसे स्वीकार कर लिया, उस समय पार्वती के कर-स्पर्श, आदि से शंकर के मन में जो विकार उत्पन्न हुआ, उसे स्पष्ट रूप से न कहकर कवि पाठकों का ध्यान काम की ओर आकर्षित करता है, जो अपने धनुष पर 'सम्मोहन' (मोहनेवाला) नाम का अपना अमोघ बाण चढ़ा रहा था। अर्थात् शिव मोहित हो गए !

कैसा क्रम-पूर्वक (Step by Step) कार्य हो रहा है, मानो कवि यहाँ 'काम' की पूरी व्याख्या ही करने बैठा है ! वह उसके धनुष-बाण का रहस्य समझा रहा है ! वह बता रहा है कि इस अपूर्व धनुष-धारी (काम) के तीर चढ़ाने के पूर्व प्रत्यंचा को बार-बार छूने का क्या रहस्य है, उसके धनुष पर तीर चढ़ाने का क्या अर्थ है और उसको खींचने का ('चक्रीकृतचारुचापं'), छोड़ने को तैयार होने का ('प्रहर्तुमभ्युद्यतम्') क्या भाव है। कामदेव को तीर चढ़ाकर धनुष खींचने तक का अवसर देकर ही कालिदास रुक गए। उन्होंने उसका तीर छूटने न दिया। क्यों ? केवल इसीलिये कि यदि वह छूट जाता, तब तो ले हो बीतता ! उसका तीर 'अमोघ' है। इसी से यह स्पष्ट है कि तीर छूट जाने का—उनके शरीर में लग जाने का—अर्थ है उनका परास्त हो जाना, काम के आधीन हो जाना।

कालिदास ने यहाँ काम के तीर छोड़ने की क्रिया को चार भागों में बाँट दिया है—प्रत्यंचा को छूना, धनुष पर तीर रखना, तीर खींचना, और उसे छोड़ देना। यहाँ

पर पहले तीन कार्य तो हो चुके— बस चौथा ही न हुआ! ज्ञानी शंकर के सामने जब उनका एक शत्रु (मित्र के वेश में) आकर खड़ा हुआ, तब उन्होंने उसकी ओर ताका, उसके आने पर प्रसन्नता प्रकट की, उससे बात-चीत की, पर इतने ही में (शायद उसकी बातचीत में कुछ अस्वाभाविकता-सी पाकर) वे उसे पहचान गए और उसे आत्म-समर्पण न होने दिया!

इस प्रकार कालिदास के शंकर 'काम-वासना' के वश में होकर संभवतः उसके क्रियात्मक होने के समय तक चेत गए और आत्म-दमन कर लिया—अथवा मदन-दहन कर दिया!

किंतु गोसाईंजी के मदन-दहन का कोई भाव नहीं है, कोई अर्थ नहीं!

अस्तु! कामदेव को देखकर, अर्थात् उसे शत्रु के रूप में अपने मन में प्रवेश किए देखकर कालिदास के शिव का तीसरा नेत्र खुल जाता है—उन्हें ज्ञान होता है, विवेक की विजय होती है—और कामदेव का नाश हो जाता है। कैसा सुंदर चित्र है।

कालिदास का कुमारसंभव-काव्य शिव-पार्वती के विवाह को लेकर ही रचा गया है और इसीलिये मदन-दहन का प्रसंग उनके लिये अत्यंत महत्त्व-पूर्ण था। पर गोसाईंजी तो राम-कथा के गायक कवि हैं। शायद राम की भक्ति प्राप्त करने के लिये ही उन्होंने शिव-चरित भी संक्षेप में कह दिया है, पर कुछ बेमन से, कुछ विरक्ति के साथ! अथवा यों कहिए कि यह उनका विषय नहीं था, इसमें उन्हें रुचि नहीं थी, इसका स्वाद उनके लिये मीठा न था, यह उनकी चटनी थी। इसीलिये गोसाईं-जी ने शिव-चरित के एक छोटे-से अंश 'मदन-दहन' पर उतनी सूक्ष्मता से विचार न किया होगा, जितना कालि-दास ने। यही कारण है कि इस प्रसंग के वर्णन में कालिदास से तुलसीदास की कोई समता नहीं।

यह तुलना तो मैंने यों ही कुतूहल-वश कर डाली है। वास्तव में पाठकों को कालिदास के इस अपूर्व कवित्व-कौशल की दिव्य झाँकी दिखाने के लिये ही मैंने इतना लिखा है।

सुमंगलप्रकाश

पवित्र-परिवर्तन

लोला भूतनाथ ने तृतीय नेत्र क्रुद्ध होके,
ज़ालिमों की ज़ालिम-जमात जलने लगी।
चालबाज़ियों का चक्रव्यूह चूर-चूर कर—
चाल चौगुनी से अग्निधारा चलने लगी।

सुतल-वितल औ रसातल-तलातल में,
गर्व की अदंड-मंडली भी गलने लगी।
पाप का प्रचंड अभिशाप दूर होके, आज—
पुण्य के प्रताप की सुवेलि फलने लगी!

रामसेवक त्रिपाठी

चोर

१

"अम्मा, क्या तुमने मेरी जेब से कुछ निकाला है ?"

"नहीं तो, मैंने तेरा कोट छुआ तक नहीं। क्यों क्या हुआ ?"

"कल मैंने जेब में ३२ रुपए रख दिए थे। दो रुपए तो पड़े हुए हैं लेकिन दस-दस के तीन नोट ग़ायब हैं।"

रामकिशोर की कालेज की पढ़ाई इसी साल इलाहाबाद में आरंभ हुई थी। जन्माष्टमी की छुट्टियों में वह घर आया था। छुट्टियाँ पाँच दिनों की थीं; परंतु समाप्त होने के एक दिन पहले ही इलाहाबाद जाने का उसका इरादा था। सब तैयारी हो गई थी। बाबूजी (पिता) से उसने एक महीने के खर्च के लिये तीस तथा रेल-खर्च के लिये दो रुपए ले लिए थे। लेकिन देर हो जाने के कारण गाड़ी छूटने की आशङ्का से उस दिन उसका जाना न हो सका। मा, चाची तथा छोटी बहन के कहने से वह एक दिन के लिये रुक गया था।

रुपए जेब में रखकर उसने कोट अपने कमरे में टाँग दिया। एक बार उसके मन में आया कि कहीं ऐसा न हो कि कोई उन्हें निकाल ले जाय। लेकिन उसका कमरा दुमंज़िले में था। वहाँ घर के लोग तथा कहार को छोड़कर कोई न जाता था। इसलिये उसने सोचा—यहाँ से रुपए कौन ले जायगा ? फिर एक दिन की बात है, कल तो चला ही जाऊँगा। कौन अब जेब से निकालकर बकस में रक्खे ?

उस समय का टँगा हुआ कोट दिन-भर और रात-भर टँगा रहा। दूसरे दिन जब जाने का समय आया, तब उसने कोट उतारा। जेब में देखा, तो तीस रुपए के नोट ग़ायब। सोचा, शायद अम्मा ने निकालकर रख लिए हों। खोने के डर से वह ऐसा कई बार कर चुकी थीं। अम्मा का यह उत्तर सुनकर कि मैंने तो तेरा कोट छुआ तक नहीं, वह आश्चर्य में पड़ गया। कोट की जेबों को फिर से देखा, कमरे में चारों ओर देखा, किताबों को उलट-पलटकर देखा, पर नोटों का कहीं पता न लगा। खोने के लिये तो उसने कई बार दो-दो एक-एक रुपए खो दिए थे, पर घर से इस प्रकार उसके रुपए कभी नहीं खोए थे। चाची से पूछा, बहन से पूछा, छोटे भाई से पूछा; परंतु जब किसी से भी कुछ पता न लगा, तब वह समझ गया कि किसी ने उन पर हाथ साफ़ कर दिया।

रामकिशोर की मा के लिये तीस रुपए खो जाने की बात छोटी न थी। एक तो इतने रुपए खो गए, दूसरे उसी के बेटे द्वारा। उसका कलेजा धक से हो गया। एक ही क्षण बाद वह कहार के सम्मुख आ खड़ी हुईं। उन्होंने पूछा—"बोल, तूने तो रुपए नहीं निकाले ?"

कहार बर्तन माँज रहा था। उसने उत्तर दिया—"चाची, हमका जानी ? कैसे रुपइया ?"

इतने ही में रामकिशोर की आँखें उस ओर गईं। उसने मा को बुला लिया और कहा—"अभी थोड़ी देर ठहर जाओ; जल्दी न करो।

देखो शायद यहीं कहीं मिल जायँ। अभी किसी से इसके बारे में कुछ न कहना।"

बहुत ढूँढ़ा, पर नोट न मिले। अब वह सोचने लगा कि चोर का पता किस प्रकार लगे? और फिर उसके साथ क्या करना चाहिए? सोचा—कहार को छोड़कर कोई दूसरा व्यक्ति मेरे कमरे में आता ही नहीं। वही कमरा साफ़ करने, चारपाई बिछाने तथा अन्य समय भी आता है। वह यहाँ हर समय आ सकता है। उसको छोड़कर यह काम किसी दूसरे का नहीं हो सकता। क्या करना चाहिए। उसे समझाऊँ? शायद चोरी स्वीकार कर ले।

कहार को बुलाकर पूछा, परंतु उसने उत्तर दिया—"मालिक, हमका नाहीं मालूम। हम तो कोट छुआ तक नाहीं। संझा का चरपइया बिछावत मा चाचा का बुलाय लीन रहै। हम नहीं लीन।" रामकिशोर ने कहा—"अच्छा, जाओ।" वह चला गया।

उसके रुख से रामकिशोर को एक प्रकार का विश्वास-सा हो गया था कि उसी ने रुपए लिए हैं—"शाम का चाची के बुलाने की कौन ज़रूरत थी? क्या वह कमरे में अकेले नहीं जा सकता था? सफ़ाई देने के लिये वह चाची को बुला लाया। अवश्य उसी ने नोट निकाले हैं।" उसे पूरा विश्वास हो गया था कि कहार ही ने चोरी की है। वह जानता था कि इस प्रकार बिना देखे किसी पर शक न करना चाहिए। वह जानता था कि सारे सबूत होने पर भी संभव हो सकता है कि उसने रुपए न लिए हों। पर उसका हृदय नहीं मानता था। वह तर्क से काम लेने की बहुत चेष्टा करता था; पर उसका हृदय उसे बार-बार विश्वास दिलाता था कि कहार ही ने नोट निकाले हैं।

अब सवाल उठा कि करना क्या चाहिए। उसने सोचा—ग़लती तो मेरी ही थी। मैंने कोट में इस तरह रुपए रक्खे क्यों? मुझे इतना लापरवाह न होना चाहिए था। बाबूजी को मालूम होगा, तो बहुत क्रुद्ध होंगे। मैं तो किसी प्रकार उनका क्रोध सह भी लूँगा, पर उस बेचारे की मौत हो जायगी। उसे वह धमकायँगे पीटेंगे, पिटवायँगे पुलिस में देकर जेल भिजवा देंगे। उसकी न-जाने क्या-क्या दुर्गति होगी!

वह सुना करता था कि ग़रीबों पर क्या-क्या अत्याचार होते हैं। आज उसे इस बात का दुःख था कि उसी के कारण एक ग़रीब पर मार पड़ेगी। वह सोचता था, एक तो यही निश्चित नहीं कि वही चोर है। फिर यदि हो भी तो उसका क्या दोष? दोष मेरा ही है। मैंने रुपए इस प्रकार छोड़ दिए। कोई भी—स्वयं बाबूजी—इस प्रकार रुपए पड़े पा जायँ, तो कौन कह सकता है कि उसकी नियत न डोल जायगी?

इस समय रामकिशोर के नेत्रों के सम्मुख—मानसिक नेत्रों के सम्मुख—उस बेचारे कहार की दयनीय दशा का नग्न चित्र खिंच रहा था—"बेचारे के दो छोटे-छोटे बच्चे हैं, उनकी न-जाने क्या दशा होगी? स्त्री है, उसका क्या हाल होगा? यों ही भारतवर्ष में स्त्रियों के प्रति इतना निर्दय व्यवहार होता है। उफ़्! उस बेचारी ने क्या अपराध किया है, जिससे उसका प्राणाधार जेल की दीवारों के अन्दर सड़े? क्या करूँ? क्या यह बात फैला दूँ कि रुपए मिल गए? हाँ, अच्छा तो है—परंतु मेरे पास फिर रुपए कहाँ से आवेंगे? महीने का ख़र्च किस प्रकार चलेगा? हर महीने यों ही ख़र्च की कमी रहती है, फिर तीस रुपए कहाँ से लाऊँगा? कोई ऐसा

मित्र भी तो नहीं है, जिससे इतने रुपए उधार ले सकूँ ।"

इस समय रामकिशोर त्रिशंकु हो रहा था। एक ओर तो ग़रीबों के प्रति सहानुभूति और दूसरी ओर रुपए न होने के कारण वह निश्चय न कर पाता था कि क्या करना चाहिए। वह उस ग़रीब को कष्ट में न डालना चाहता था। सबसे अधिक तो उसे उसके बच्चों तथा उस अबला पर दया आती थी, जिसकी हर तरह से दुर्दशा होने की संभावना थी। पर वह यह भी जानता था कि उसे रुपए कहीं से नहीं मिल सकते।

अंत में उसने यह निश्चय किया कि उसे जेल तो न जाने दूँगा। बहुत करेंगे, तो बाबूजी इसे मार लेंगे। इसे थाने तक न भिजवाने दूँगा, फिर चाहे मुझे घर ही से क्यों न लड़ना पड़े।

२

"चाची, हमका बचाय लेओ, चाचा थाने भेज देहैं। चीप साहब औ एक सिपाही नीचे बैठ हैं। चाचा बजार गेहैं।"

"बचा तो मैं लूँ। पर क्या मालूम कि तूने चोरी नहीं की ?"

"चाची, तुम्हरी नौकरी माँ चार बरस हुइगे, अब तक हमसे ऐस कबहूँ नहीं भा।"

वास्तव में कहार को रामकिशोर के यहाँ नौकरी करते पाँच वर्ष से भी अधिक हो गए थे। बहुत दिनों से वह चार ही वर्ष कहता आया है। अभी तक उसने पाँच वर्ष कहना आरंभ ही नहीं किया। वह पहले एक गाँव में रहता था। बेकारी के कारण उसे अपना गाँव छोड़ना पड़ा। आकर 'सहर' में रहने लगा। अपनी गँवारी भाषा का वह बहुत कुछ परित्याग कर चुका था, लेकिन फिर भी अभी वह 'सहर' की बोली नहीं बोल सकता था। उसकी भाषा में 'सहर' और देहात दोनों की झलक दिखाई देती थी।

रामकिशोर की मा ने कहा—"हाँ नौकरी करते तो बहुत दिन हो गए। पर क्या मालूम कि अब तू धीरे-धीरे सब गुन सीखता नहीं जाता ?"

"चाची, रुपइया तो हम नहीं लीन। कैसे बताई। थाने में हमपै मार पड़ी। चार-छै रुपइया डाँड़ पर जैइहैं। लड़कन-बच्चन का पूछैंवाला कौनौ न रही। उनकी का दसा होई ?"

यह कहते हुए उसके आँखों में आँसू भर आए। आगे उससे कुछ कहते न बना। रामकिशोर की मा का हृदय बहुत कोमल था। वह उसके आँसू न देख सकीं। उन्हें उसकी दशा पर तरस आया। सोचा, "यह चोरी नहीं कर सकता। चोर की सूरत ही दूसरी होती है। फिर अगर इसने रुपए लिए भी हों, तो क्या थाने भिजवाने से मिल जायँगे ?"

वह बेचारी रामकिशोर के पास गईं। कहा—"बेटा, उसको थाने भिजवाने से क्या होगा, क्या रुपए मिल जायँगे ? सुना है, नीचे चीप साहब और एक सिपाही आए हैं। बाबूजी नहीं हैं। जाओ, चीप साहब को भगा दो, कह दो हमारे यहाँ चोरी-ओरी कुछ नहीं हुई, तुम यहाँ क्यों आए हो ?"

रामकिशोर को मा की बात सुनकर संतोष हुआ। वह स्वयं चाहता था कि कहार पुलिस में न दिया जाय। उसने सोचा कि कम-से-कम अम्मा तो मेरा साथ देंगी।

उसने कहा—"मैं भी तो यही चाहता हूँ कि बेचारे की दुर्गति न हो। जाता हूँ, चीप साहब से बातें करूँगा। भगा तो नहीं सकता; क्योंकि बाबूजी के बुलवाने पर ही वे आए होंगे, परंतु

मैं हर तरह से कोशिश करूँगा कि वह पुलिस में न दिया जाय।''

३

रामकिशोर के बाबूजी ने जैसे ही इस चोरी का हाल सुना, वैसे ही उन्होंने कहार को बुलाकर उससे पूछा—''बता रुपए कहाँ रक्खे?'' परंतु कहार ने यही कहा कि मैंने चोरी नहीं की। उन्होंने उसे डराया, धमकाया; पर कुछ फल न हुआ। एक तमाचा मारा, पर उसका भी कुछ असर न पड़ा। तो अब उन्हें चीप साहब को बुलवाना पड़ा। उन्हें पक्का विश्वास था कि मार से भूत भी भागते हैं। उन्होंने सोच लिया था कि यदि वह पुलिस की मार से चोरी स्वीकार कर लेगा, तो अच्छा है, नहीं तो जेल भिजवा दूँगा।

उन्होंने चीप साहब के पास आदमी भेजा। उत्तर आया कि आते हैं। जब आधे घंटे तक चीप साहब न आए, तो वह एक काम से बाज़ार चले गए। उनके बाज़ार जाने के लगभग बीस मिनट बाद ही चीप साहब एक सिपाही के साथ आ धमके। लोगों ने उन्हें कुर्सी पर बैठाया। बैठकर उन्होंने और आदमियों से चोरी के बारे में पूछना आरंभ कर दिया। उनके आने के १५ मिनट बाद रामकिशोर भी आ गया। उसे देखते ही चीप साहब दुआ-सलाम करने के बाद बोले—

''क्या आप ही के कोट से चोरी हुई थी?''

''जीहाँ, मेरा ही कोट था। तीस रुपए के नोट कोई ले गया। अच्छा है, उसी के काम आएँगे।''

''वाह! आपने भी खूब कही। इसीलिये तो इतनी चोरियाँ होती हैं। अगर किसी को चोरी की सज़ा न मिली, तो उसकी हिम्मत बढ़ जाती है और वह धीरे-धीरे पक्का चोर बन जाता है। अगर पहली ही बार उसे सज़ा मिल जाय, तो फिर वह चोरी का नाम भी न लेगा।''

''सज़ा पाने से लोग और अधिक बिगड़ जाते हैं। यदि कोई एक बार जेल हो आए, तो फिर वह वहाँ जाकर पक्का बदमाश बन जाता है। अधिकतर लोग आरम्भ में ग़रीबी ही के कारण चोरी करते हैं। जब बेचारों के पास खाने को नहीं रहता, पहनने-ओढ़ने के कपड़े भी नहीं रहते, बाल-बच्चे भूखों मरते हैं, तभी वे चोरी करते हैं। उस समय उनके मस्तिष्क में अनुचित-उचित का विचार नहीं रह जाता। अगर वे दो-चार रुपयों की चीज़ें चुरा लेते हैं, तो उन पर मार पड़ती है, वे जेलों में ठूँस दिए जाते हैं। वहाँ पर उनके साथ अमानुषिक व्यवहार होता है, इधर घर में लड़के-बच्चे, बहन, भाई, माता-पिता सब भूखों मरते हैं। जब तक वे जेल से छूटते हैं, तब तक उनकी अच्छी मनोवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। समाज भी उनका तिरस्कार करता है। अंत में वे सब बुराइयाँ सीख लेते हैं—चोरी करते हैं, शराब पीते हैं। और जहाँ दो-चार बार जेल हो आए, फिर तो जेल से ज़रा भी नहीं डरते। वहाँ पर उन्हें घर से भी अधिक आराम मिलने लगता है। उन्हें जेल के अंदर भी बदमाशी करने का मार्ग मिल जाता है।''

''तो फिर आपका क्या मतलब? क्या आप यह चाहते हैं कि किसी को दंड दिया ही न जाय?''

''हाँ, मैं यही चाहता हूँ?''

''वाह, फिर तो एक दिन के अंदर ही दुनिया तबाह हो जाय, दिन-दहाड़े डाके पड़ें, चोरियाँ हों। किसी को ज़रा भी भय न रहे।''

''तो क्या इन सब बातों के रोकने का कोई दूसरा उपाय नहीं हो सकता?''

"दूसरा उपाय क्या होगा ? क्या आप यह चाहते हैं कि सबको उपदेश दिया जाय ? परंतु आपको यह समझ लेना चाहिए कि उपदेश से कहीं कुछ भी नहीं होता। सब जानते हैं कि झूठ बोलना बुरा है ; पर कितने मनुष्य हैं, जो कभी झूठ नहीं बोलते। उपदेश का असर बहुत देर तक नहीं रह सकता।"

"नहीं, मैं यह नहीं कहता कि उपदेश देने से ही बुराइयाँ दूर होंगी। मेरा तो यह कहना है कि जिन कारणों से बुराइयाँ होती हैं, उन कारणों को ही दूर कर दीजिए। चोरियाँ इसीलिये होती हैं कि लोग भूखों मरते हैं। सरकार को चाहिए कि ऐसा प्रबंध करे कि सबको खाने-पीने को मिलने लगे।"

'यह होना नामुमकिन है। और क्या आप यह समझते हैं कि ऐसा करने से दुनिया में चोरियाँ नहीं होंगी ?"

"चोरियाँ तो अवश्य होंगी, पर इतनी नहीं।"

"तब फिर दुनिया से चोरियाँ मिट नहीं सकतीं। और फिर चोरों को दंड देना ज़रूरी है।"

"पर उनके साथ अमानुषिक व्यवहार करना ज़रूरी नहीं है। ऐसा करने से आप उनका सुधार नहीं कर सकते, उलटा बिगाड़ देंगे। सरकार को चाहिए कि उन्हें शिक्षा दे और कला-कौशल सिखावे। उन्हें बिगाड़ने के बजाय डेढ़-दो साल के अंदर उनकी मानसिक एवं नैतिक शक्ति विकसित की जा सकती है। ऐसा करने से वे बदमाशी करने का नाम तक न लेंगे, और स्वतंत्रतापूर्वक अपना जीवन-निर्वाह कर सकेंगे। बहुत संभव है, उनकी वे शक्तियाँ, जो बुराई की ओर लगी थीं, अच्छाई की ओर लग जायँ, तथा वे साधारण मनुष्य से अधिक उन्नति कर संसार के इतिहास में अपना नाम अमर कर जायँ।"

"जैसा आप कहते हैं, वह न तो कभी हुआ है और न हो ही सकता है। दुष्ट के साथ दुष्टता करनी चाहिए। आपकी बातें तो मेरी समझ में नहीं आतीं।"

इसी समय रामकिशोर के बाबूजी भी बाज़ार से लौट आए।

ये बातें चीफ साहब की समझ में किस प्रकार आतीं ? उनका जीवन तो दूसरे ही साँचे में ढला था। वह कहते थे कि चोर और डाकू बड़े नीच हैं, उन्हें कड़ी-से-कड़ी सज़ा देकर ही उनका अस्तित्व मिटाया जा सकता है। लेकिन यदि उनका अस्तित्व मिट जाता, तो शायद सबसे अधिक विपत्ति इन्हीं के ऊपर आती—इनकी शान न रह जाती, इनकी छड़ी का जन्म सार्थक न होता, मुँह से किसी को गालियाँ सुनने को न मिलतीं, और न जेब ही गरम होती।

रामकिशोर के बाबूजी आते ही उनसे बोले— "कहिए चीफ साहब, मिजाज़ तो ठीक है। आपको चोरी का सब हाल तो मालूम ही हो गया होगा।"

"जीहाँ, मालूम तो हो गया, पर आपको किस पर शक है ?—उसी कहार पर ?"

"उसी ने चोरी की है, यह काम किसी दूसरे का नहीं हो सकता। पर यह तो बताइए कि उसके साथ क्या किया जाय।"

"बस, उसे थाने में दे दीजिए। या तो चोरी कबूल लेगा या जैसा किया है वैसा भुगतेगा।"

"पर बिना पक्का सबूत पाए आप उसे कैसे ले सकते हैं ? कोई आँखों का देखा सबूत तो है नहीं।"

"हाँ, क़ानूनन तो नहीं ले सकता, पर इससे क्या होता है। कोई दिखलाकर तो चोरी करता नहीं। आप जानते ही हैं कि चोरी उसी ने की। वह चोर है, उसे सज़ा मिलनी ही चाहिए।"

बाबूजी भी यही चाहते थे। वह केवल अपनी ओर से झूठा गवाह पेश नहीं करना चाहते थे। चीफ साहब ने तो उनके मन की ही बात कह दी। वह बोले—"हाँ, बात तो ठीक है।"

चीप साहब बोले—"जीहाँ, बदमाश को तो सज़ा ज़रूर मिलनी चाहिए। अभी पंद्रह दिन की बात है, मैं ख़ज़ाने में रुपए लेने गया। गिन-कर रुपए रक्खे, बीस रुपए की एक गड्डी वहीं रक्खी रह गई और मैं थाने चला आया। एक आदमी वहीं पर बैठा हुआ था, उसी ने रुपए उठा लिए। परंतु जब उससे पूछा, तो वह साफ़ इनकार कर गया। अब किसी भी डकैती के मामले में फँसा-कर बीस की जगह बीस सौ ख़र्च करा दूँगा।"

रामकिशोर बाबूजी के सम्मुख चुपचाप बैठा था। वह उनकी बात को काटना नहीं चाहता था। वह यह जानते हुए कि वह बुरा कर रहे हैं, उन्हें किसी काम में रोकता न था। यहाँ तक कि वह स्वयं अच्छे-से-अच्छे काम को केवल इसी-लिये नहीं करता था कि घरवाले बुरा मानेंगे। वह समझता था कि उसके सिर पर उनके ऋण का एक बोझ लदा हुआ है। यही बात उसके मार्ग में बड़ी रुकावट पैदा करती थी। लेकिन अब वह चुप न बैठ सका। वह नहीं चाहता था कि एक ग़रीब पर अत्याचार हो। इसलिये बोला—"पर यदि उसने चोरी की ही न हो? और यदि की भी हो, तो उस बेचारे को जेल भिजवाने से क्या फ़ायदा होगा? ज़्यादा-से-ज़्यादा यह कोशिश कीजिए कि अगर उसने चोरी की हो, तो स्वीकार कर ले। आपको रुपए लौटा दे, फिर उस पर और उसके घरवालों पर विपत्ति लाने से हमें क्या फ़ायदा होगा?"

पहले तो बाबूजी ने रामकिशोर की बात न मानी, पर अंत में उन्हें माननी पड़ी। रामकिशोर भी आज अपनी बात पर दृढ़ था। वह यह नहीं चाहता था कि कहार पर चीप साहब के कोड़े पड़ें। अंत में बाबूजी ने यह तय किया कि उसे सज़ा न हो, पर उससे चोरी स्वीकार कराई जाय। रामकिशोर समझता था कि डराने-धमकाने और ज़्यादा-से-ज़्यादा दो-एक घूँसे मारने से भी यदि वह स्वीकार न करेगा, तो छोड़ दिया जायगा।

बाबूजी को उसने अकेले में समझा दिया कि "यदि आप उसे थाने भेजिएगा, तो चीप साहब उससे कुछ रुपए लेकर छोड़ देंगे और कह देंगे कि मैं क्या करूँ, वह कबूलता ही नहीं।" अतः घर पर ही एक कमरे में चीप साहब के सामने कहार बुलाया गया।

कहार फुसलाया, डराया और धमकाया गया। परंतु जब इसका कुछ असर न हुआ, तो उस पर मार पड़ी। रामकिशोर इसे देख न सका। वह वहाँ से हट गया। कहार ने बाबूजी के हाथ जोड़े, पैर पड़े; पर जब तक वह चोरी स्वीकार न करता तब तक वे उसे किस प्रकार छोड़ सकते थे?

४

रामकिशोर की मा का विश्वास था कि कहार ने चोरी नहीं की। उन्होंने बाबूजी से कहा—

"क्या मालूम कि उसी ने चोरी की है?"

"अगर चोरी न करता, तो वह इतना भोला नहीं है कि तीस रुपए लाकर दे देता?"

"रुपए न देता, तो करता क्या? डरता था कि जेलख़ाने भिजवा दिया जाऊँगा। बेचारा घर के गहने गिरवी रखकर रुपए लाया। पहले तो वह तुम्हारे ही पास गहने लाया था। बेचारा कहता था कि गहने जमा कर लो और तनख़्वाह

से ३० रुपए काटते रहना । परंतु तुम उस पर उलटे ग़ुस्सा हुए ।"

"मैं उसकी सब चालाकी जानता हूँ । सोचता रहा होगा कि दया में आकर रुपए न लेंगे । गहनों का सब ढकोसला था । घर में रुपए रक्खे हैं । दो-एक दिन में गहने छुड़ा लेगा । और दिखाने के लिये यह हो गया कि उसने चोरी नहीं की ।"

"मेरी समझ में तो उसने चोरी की ही नहीं फिर जैसा तुम समझो । अब उसे नौकरी से अलग न करना, तुम्हीं ने उसे विश्वास दिलाया था कि अगर चोरी स्वीकार कर लोगे, तो नौकरी से न हटाऊँगा ।"

"हाँ, अभी तो न हटाऊँगा, पर सोचता हूँ कि दो-एक महीने में कोई दूसरा आदमी तलाश कर लूँगा । मैं नहीं चाहता कि मेरे घर में चोर रहे । आज उसने तीस रुपए चुराए । कल वह बड़ी चोरी कर सकता है । उसका क्या विश्वास ?"

"विश्वास करने से धोखेबाज़ भी विश्वासपात्र बन जाते हैं, और अविश्वास करने से विश्वास-पात्र भी धोखा देने लगते हैं ।"

"ख़ैर, आप मुझे शिक्षा देने की कृपा न कीजिए । मैं स्वयं समझता हूँ कि मुझे क्या करना चाहिए ।"

इसके लिये रामकिशोर की मा के पास कोई उत्तर नहीं था । बेचारी पहले ही डरती थीं, समझती थीं कि पुरुषों के कामों में दख़ल देने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है । जानती थीं कि दुनिया में उन्हें किसी को भी समझाने का कोई हक़ नहीं है । स्त्रियों को यदि किसी के समझाने का हक़ है, तो अपने ही को । उन्होंने भी यह सोचकर अपने को समझा लिया कि हाँ, ठीक है, जैसा वह कहते हैं, वही ठीक होगा । वह अधिक बुद्धिमान् हैं, अपना कर्तव्य अच्छी तरह जानते हैं । मैं भला कैसे कह सकती हूँ कि कहार ने चोरी नहीं की । मैं उसके पेट का हाल क्या जानूँ !

वह कभी किसी बात में अपने पति से बहस नहीं करती थीं । आज उनके हृदय में उस बेचारे कहार पर बहुत दया आई, इसीलिये उन्होंने इतनी बातें कीं । इन बातों में भी बहस करने का उनका विचार न था । उन्होंने तो साहस कर केवल अपने विचार प्रकट किए थे । इसी में उन्हें संतोष था । अपने पति को वह किसी प्रकार का मानसिक आघात नहीं पहुँचाना चाहती थीं । वह उनके मार्ग में रोड़े न अटकाकर फूल ही बिछाना चाहती थीं । ऐसा करने के लिये वह सब कुछ त्याग सकती थीं । अपने अधिकारों को स्वयं अपने पैरों से कुचल सकती थीं । यदि सच पूछा जाय, तो उन्हें किसी अधिकार की आवश्यकता न थी, वह अपने ऊपर भी अपना अधिकार नहीं चाहती थीं । उनके हृदय में जो तूफ़ान आया था, वह ज्यों-का-त्यों बैठ गया । वायुमंडल पहले की तरह फिर शांत हो गया ।

× × ×

रामकिशोर ने सब कुछ देखा । कहार पर मार पड़ते उसने अपने चर्म-चक्षुओं से तो अच्छी तरह नहीं देखा, परंतु कमरे के अंदर—कमरे के अंदर नहीं—अपने मस्तिष्क के अंदर उसने उसके चीख़ने, हाय करने और कराहने को सुना तथा चीफ़ साहब के निर्दय प्रहारों को भी देखा ।

एक ग़रीब और उसकी समझ में निरपराध व्यक्ति पर यह अत्याचार ! और यह सब उसी के कारण हुआ ! यदि वह रुपए ठीक तौर से रखता, तो यह सब क्यों होता ? वह सोचता था, अगर इसकी जगह मैं होता, तो शायद डूब मरता । वह नहीं समझता था कि मामला यहाँ तक बढ़

जायगा कि उससे रुपए इस प्रकार वसूल किए जायँगे।

अब क्या करना चाहिए, यही उसके सामने प्रश्न था। क्या वह चुपचाप बैठा रहे? कहार के पिटवाने में उसका कोई हाथ नहीं था। उसका बस चलता, तो वह उससे कुछ कहता तक न। अतएव वास्तव में उसका कोई दोष न था। परंतु इससे क्या होता है? वह तो यह समझता था कि मेरी लापरवाही से ही इसकी यह दुर्दशा हुई है, और अब मेरा कर्तव्य है कि मैं इसके लिये कुछ-न-कुछ अवश्य करूँ। वह अपनी मा की तरह चुप बैठनेवाला व्यक्ति न था। हाँ, वह दूसरों पर अपना अधिकार नहीं समझता था, परंतु अपने ऊपर तो वह अपना ही अधिकार मानता था। वह यह जानता था कि उसे अपने बाबूजी का कहना मानना चाहिए, परंतु वह यह भी भली भाँति जानता था कि कहार के प्रति उसका क्या कर्तव्य है।

परंतु वह जो कुछ करना चाहता था, वह कर सकता था या नहीं? घर की बातों में उसका कोई हाथ न था। घर का एक पैसा भी वह छू न सकता था। उसकी कुछ समझ में न आया कि क्या करे। बेचारा बड़ी देर तक बैठा इसी के बारे में सोचता रहा।

५

इस चोरी के कारण रामकिशोर सबेरे की गाड़ी से इलाहाबाद न जा सका, अतः अब उसने शाम की गाड़ी से जाना निश्चय किया।

घर से चलने में अब केवल पंद्रह मिनट रह गए थे कि उसने कहार को चुपचाप अपने कमरे में बुलाया।

कहार बेचारा सहम गया। उसकी समझ में न आया कि रामकिशोर ने उसे क्यों बुलाया। रुपए तो ले ही लिए गए थे, अब उससे क्या काम है? फिर भी वह संकेत पाते ही चुपचाप चला गया। रामकिशोर ने कहा—

"मुझे बहुत दुःख है कि मेरी लापरवाही के कारण तुम पर इतनी आफ़त आई।"

कहार ने कुछ उत्तर न दिया, परंतु उसने मन में कहा—हाँ आफ़त तो आई, पर इससे आपको क्या मतलब?

रामकिशोर ने फिर कहा—"मैं नहीं चाहता था कि बाबूजी चीफ साहब को बुलाते। मेरा बस चलता, तो यह कुछ न होने पाता। भला तुम्हीं बताओ मैं क्या कर सकता था।"

इस बार भी उत्तर देने का उसे साहस न हुआ। परंतु उसने अपने मन में कहा—कर तो सब कुछ सकते थे, परंतु यों कहो कि कुछ करना न चाहते थे। अब मीठी-मीठी बातें बनाने चले हैं। मैं सब समझता हूँ। मैं आपकी बातों में नहीं आ सकता।

यद्यपि उसने कुछ उत्तर न दिया, पर उसकी मुखाकृति से रामकिशोर साफ़-साफ़ समझ गया कि वह उसकी बात से असंतुष्ट है।

इस बार रामकिशोर ने उसके कंधे पर हाथ रखकर कहा—"भाई, तुम नहीं जानते कि मुझे कितना दुःख है। मैं ज़्यादा तो नहीं कर सकता, पर जिस प्रकार हो सकेगा तीस रुपए जमा करके तुम्हें दे दूँगा। तुम ज़रा भी दुःख न करो। जो कुछ हो गया वह अब हो गया। उसके लिये दुःख करने से क्या होगा? अभी यह दस रुपए का नोट लो, और मैं जब-जब छुट्टियों में आऊँगा, तुम्हारे लिये रुपए ज़रूर लाऊँगा। यदि तुम्हारे पास कुछ रुपए हों, तो गहने छुड़वा लो, नहीं तो

मैं जल्दी-से-जल्दी छुड़वाने की कोशिश करूँगा। तुम्हारे ऊपर बहुत बुरा कलंक लग गया; और मेरे ही कारण—इसके लिये मैं हाथ जोड़कर तुम से क्षमा चाहता हूँ।"

कहार हक्का-बक्का हो गया। उसके मुँह से एक शब्द भी न निकल सका। रामकिशोर की आँखों से आँसू टपकने लगे।

अब वह अधिक देर तक न ठहरा। इक्के पर सामान लद चुका था। वह आँसू पोंछकर जैसे ही कमरे से निकला, वैसे ही किसी ने उसे पुकारा। वह समझ गया कि इक्कावाला जल्दी मचा रहा है। ज़ीने से नीचे उतरा और बाबूजी के चरण-स्पर्श कर इक्के पर सवार हो गया। इक्के पर दो सवारियाँ पहले ही से बैठी थीं। उसके बैठते ही घोड़ा चल दिया।

इधर कहार नोट को मुट्ठी में लिए रामकिशोर के मुँह की ओर देखता ही रह गया। पहले तो बेचारा समझ ही न सका कि क्या हो रहा है। जब तक सब बातें उसकी समझ में आईं, जब तक उसने रामकिशोर का सच्चा रूप देखा, तब तक वह यह निश्चय न कर सका कि क्या करे। और जिस समय उसे पश्चात्ताप हुआ, जिस समय उसकी इच्छा हुई कि रामकिशोर के पैर पकड़कर अपने अपराध की माफ़ी माँगे और आँसुओं की धारा से अपने हृदय को साफ़ करे, उस समय तक रामकिशोर का इक्का चल पड़ा था।

रामकिशोर अपने हृदय का तूफ़ान उस बेचारे दोषी कहार के हृदय में छोड़ गया था। यह तूफ़ान दो-चार-छः घंटे या चार दिनों के अंदर शांत होनेवाला तूफ़ान न था। वह तो तभी शांत होगा, जब रामकिशोर घर लौटेगा। क्या संसार में चोर को इससे भी कड़ा दण्ड दिया जा सकता है?

दामोदरदास

भारतीय वीर-देवियाँ *

१

केवल न कोमल कमल रहती हैं सदा,
काम पड़ता तो वज्र-रूप बन जाती हैं;
'रसिकेंद्र' हाथ दिखलातीं काट-छाँटवाले,
भूतल में वैरियों के बदन बिछाती हैं।
क्रोध करतीं तो जल उठती कराल ज्वाला,
पल में प्रबल खल-मंडल जलाती हैं;
शक्ति है अशेष देश भारत की देवियों की,
वीर-वेश धारतीं तो प्रलय मचाती हैं।

२

सौख्य की तुला में तुलतीं जो सुमनों से सदा,
डुलतीं समीर लगने से सुकुमारियाँ;
खींचती हैं चित्त में पवित्र पति-भक्ति-चित्र,
सींचती हैं प्रेम-वाटिका की नित्य क्यारियाँ।
वे ही जब वीरता की मूर्ति बनती हैं, तब—
धर्म पर आहुति की करतीं तयारियाँ;
अमरों की प्यारियाँ भी लेतीं बलिहारियाँ हैं,
होतीं पूज्य भारत में ऐसी वीर-नारियाँ।

× × ×

३

बरछी-बरौनियों से वेधती विमूढ़-बल,
कुटिलों को काटती कटाक्ष की कटारी से;
लंपटों की लालसा लचाती लाल लोचनों से,
अंत अधमों का करती हैं ओज-आरी से।
देख देह-दीप्ति दंभियों का दर्प दूर होता,
पातकी परास्त होते पति-प्रेम प्यारी से;
तरणि-सा तेज तचता है तरुणी का तब—
वैरी बन कौन बचता है वीर-नारी से?

'रसिकेंद्र'

* अप्रकाशित 'पारिजात-हरण'-नामक खंड-काव्य से। —लेखक

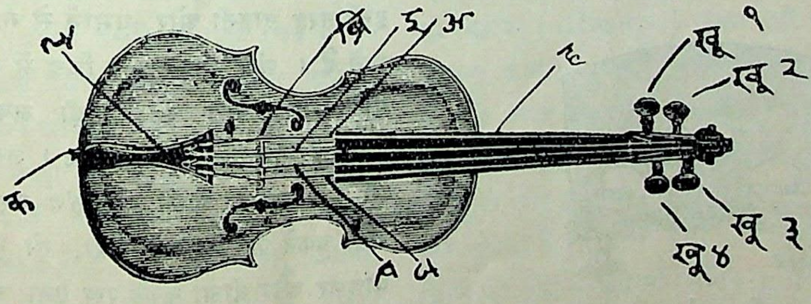
वायोलिन

प्राचीन आचार्यों के मत से वाद्य साढ़े तीन प्रकार के हैं—(१) चाम (२) तार (३) हवा से बजनेवाले, और आधे में मंजीरा, झाँझ-जातीय वाद्य माने गए हैं। विदेशी लोगों के साथ-साथ भारत में भी वहाँ के बाजे आ पहुँचे। हारमोनियम, प्यानो, वायोलिन, मैंडोलिन, कार्नेट, क्लेरियोनेट इत्यादि अँगरेज़ी राज्य के साथ-साथ भारत में आए हैं। इन दिनों भारतवर्ष में हारमोनियम का ख़ूब प्रचार है। छोटे-छोटे गाँवों तक में यह पहुँच चुका है। इसके प्रचार का एक मुख्य कारण यह है कि इसमें ज़्यादा बुद्धि ख़र्च करने की ज़रूरत नहीं है। स्वरों को मिलाने या दुरुस्त करने की कोई ज़रूरत नहीं पड़ती। धम्मन खोलकर ज्यों ही उसे दबाया कि आवाज़ निकली। हमेशा हर घड़ी तैयार है। सिर्फ़ बजाना सीखने की ज़रूरत है। सितार या सारंगी की तरह खूँटियाँ मरोड़कर स्वर मिलाने की ज़रूरत नहीं है।

पहले हारमोनियम का प्रचार योरप में बहुत ज़्यादा था। अब वहाँ इसका स्थान प्यानो ने छीन लिया है। वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि हारमोनियम के कर्कश स्वर मस्तिष्क को हानि पहुँचाते हैं। भारत में हारमोनियम का प्रचार बहुत बढ़ रहा है। जर्मन या अमेरिकन रीड के सस्ते हारमोनियम बहुत बिकते हैं। इनसे दिमाग़ को अत्यंत हानि पहुँचती है। महँगे पेरिस, के सरिल स्वर के हारमोनियम हीं, जो बहुत महँगे होते हैं, अच्छे ट्यून किए हुए हों, तो हानि कम पहुँचाते हैं। इसीलिये विदेशी लोगों ने हारमोनियम का बुरी तरह बहिष्कार कर प्यानो बजाना शुरू कर दिया है। प्यानो महँगा वाद्य है, इसलिये सर्वसाधारण इसे ख़रीद सकने में भी असमर्थ हैं।

'वायोलिन', जिसके बजाने की विधि हम लिख रहे हैं, तंतुवाद्य है। यह वाद्य विदेशी है। इसका भारत में बंगाल को छोड़कर बहुत कम प्रचार है। यहाँ तक कि लोग इसके नाम तक से परिचित नहीं हैं—देखना तो दूर रहा! बंगाल में इसका बहुत प्रचार है। वहाँ लोग घर-घर इसे बजाते देखे जाते हैं। यह विदेशों से भी बनकर आता है और अब भारत में भी बनने लगा है। चित्र नं० १ के देखने से इसकी सूरत-शक्ल का पता लग जायगा। इस बाजे को अँगरेज़ी में वायोलिन (Violin) और भारतीय भाषा में बेला कहते हैं। हमारे देश में भी इस क़िस्म का एक बाजा होता है। उसे चिकारा कहते हैं। यह चिकारे का सुधरा हुआ रूप कहा जा सकता है। सारंगी भी इसी प्रकार की होती है, किंतु बहुत भिन्नता

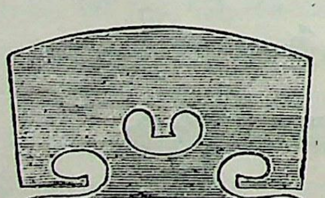
सारंगी में नीचे फ़ौलाद या पीतल के तार होते हैं, जिन्हें तुरप कहते हैं, और ऊपर के तार ताँत के होते हैं। वायोलिन में सिर्फ़ चार ही तार होते हैं—देखिए चित्र नं० १ में चार तार साफ़ दिखाए गए हैं। इसका पहला तार रुपहला होता है और शेष तार ताँत या फ़ौलाद के मोटे या पतले क्रम से लगते हैं, देखो चित्र में अ, इ, उ और ए। ये तार बाज़ारू तार नहीं होते, ख़ास करके इसी के लिये तैयार किए जाते हैं, जो वायोलिन बेचनेवालों के यहाँ से मोल मिल सकते हैं।



चित्र० नं० १

तार चढ़ाने का तरीक़ा यह है कि टेलपीस (Tail piece) (चित्र में देखो 'टे') में चार छिद्र होते हैं। उन चारों छेदों में एक-एक तार डाल देना चाहिए। इन तारों के एक छोर पर धातु की एक ऐसी छोटी-सी चीज़ बँधी रहती है, जो तारों को वहाँ से निकलने नहीं देती। यदि न बँधी हों, तो आप तार के सिरे पर गाँठ लगा दें या ऐसी कोई वस्तु बाँध दें, जिससे तार छिद्रों में अड़ जायँ। अब पहले तार को ब्रिज (देखो चित्र में ब्रि) के पहले गड्ढे में से ले जाकर खूँटी नं० १ (देखो चित्र में खूँ० १) के छेद में डालकर घुमाओ और कस दो। इसी प्रकार दूसरे तार को ब्रिज पर से ले जाकर दूसरी खूँटी में और तीसरे को तीसरी खूँटी में तथा चौथे तार को चौथी खूँटी में लगा दो। यहाँ समझाने के लिये प्रत्येक खूँटी पर नंबर डाल दिए गए हैं। अ तार खूँ० १ पर, इ तार खूँ० २ पर, उ तार खूँ० ३ पर और ए तार खूँ० ४ पर होगा। खूँटियों पर अच्छी तरह लिपट सके, इसलिये तार हमेशा ४-६ अंगुल बड़ा रखना चाहिए।

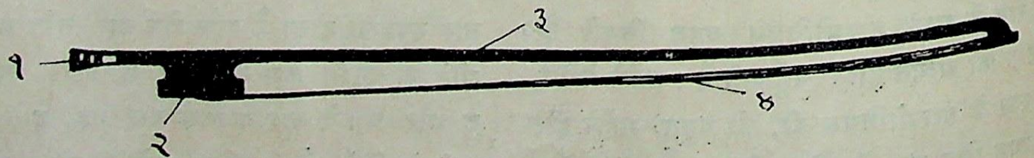
इस बाजे में चार तारों की चार खूँटियाँ होती हैं। इन्हें अँगरेज़ी में पेग्स (Pegs) कहते हैं। कुछ लोग इन्हें चाबी कहते हैं। जिस काली पटरी के ऊपर से ये तार खूँटियों तक पहुँचते हैं, उस भाग को टंग (Tongue) कहते है। देखो चित्र नं० १ में 'टे'। टेलपीस और टंग के बीच में जो एक लकड़ी का टुकड़ा-सा खड़ा किया जाता है और जिस पर तार गुज़रते हैं, वह ब्रिज कहलाता है। इसे हिंदी-भाषा में घोड़ी कह सकते हैं। वायोलिन के चित्र नं० १ में यह साफ़ नहीं दिखाई पड़ती, परंतु चित्र नं० २ देखिए। यह ब्रिज का चित्र है। यह ब्रिज कहाँ लगाया जाना चाहिए ? यह बात चित्र नं० १ में देखी जा सकती है। वायोलिन के पेंदे में एक छोटा-सा आँकड़ा होता है। देखो चित्र नं० १ में 'क'। टेलपीस एक ताँत के टुकड़े से इस आँकड़े में फँसाया जाता है।



चित्र नं० २

तार चढ़ाने की दो पद्धतियाँ हैं—(१) पाश्चात्य और (२) भारतीय। पाश्चात्य पद्धति में पहला तार रुपहला होता है और शेष तार मोटी-पतली ताँत के क्रम से लगते हैं। भारतीय पद्धति में पहला तार रुपहला और शेष तार फ़ौलाद के लगाए जाते हैं। इन दोनों पद्धतियों में से भारतीय पद्धति अच्छी है ; क्योंकि ताँत के तारों से जब मींड़ निकाली जाती है, तो उसके रेशे निकलने लगते हैं, किंतु तारों में यह दोष नहीं आने पाता। साथ ही भारतीय पद्धति के तारों से, संगीत में माधुर्य उत्पन्न होने के कारण, वह आकर्षक बन जाता है।

यह बाजा जिस वस्तु से बजाया जाता है, उसे बो (Bow) कहते हैं। हिंदी में इसे गज़ कहा जा सकता। सारंगी बजाने के गज़ से यह अधिक लंबा होता है। देखो चित्र नं० ३। गज़ के एक सिरे को जहाँ एक का अंक लिखा गया है, बाईं ओर घुमाने से नं० २ का भाग सरकने लगता है और उसमें लगे बाल तंग हो जाते हैं। इसी तरह दाहनी ओर घुमाने से गज़ के बाल ढीले हो जाते हैं। अंक तीन इस चित्र में यह बता रहा है कि यह भाग अर्थात् सीधी छड़ी लकड़ी है और नीचे की ओर बाल हैं। देखो अंक ४। जब वायोलिन बजाना हो, तब गज़ के बालों को तंग कर लेना चाहिए और बजा चुकने पर जब रखना हो, तो बालों को रूमाल से पोछकर और ढीला करके रख देना चाहिए। बजाने के पहले गज़ के बालों को राजिंस (Rosins) पर धीरे-



चित्र नं० ३

में घिस लेना चाहिए । राजिंस को हिंदी में बेरची या बिरोजा कहते हैं । किसी भी वाद्ययंत्र-विक्रेता के यहाँ से राजिंस दो-तीन आने में ख़रीदा जा सकता है ।

अब वायोलिन के स्वरों को मिलाना चाहिए । पहले तार को अर्थात् चित्र नं० १ में दिखाए गए 'अ' तार को स्वर में मिला लो । अर्थात् उसका स्वर क़ायम कर लो । अब दूसरा तार अर्थात् चित्र नं० १ के 'इ' तार को पहले तार के स्वर के पंचम में मिला लो । तीसरे तार को पहले तार के तीव्र स्वर में अर्थात् टीप में मिलाओ । अर्थात् वह पहले तार के स्वर से दुगुन स्वर में हो । इसी तरह दूसरे तार में चौथे तार को दुगुन में मिलाओ । समझने के लिये यों मान लीजिए कि हारमोनियम के प्रथम सप्तक के षडजस्वर में पहला तार, पंचम में दूसरा तार और दूसरे सप्तक के षडज में तीसरा तथा पंचम में चौथा मिला लो । पहलेपहल विना किसी स्वर-वाद्य के वायोलिन का मिला सकना नौसिखिए के लिये कठिन होता है, इसलिये हारमोनियम आदि किसी बाजे से मिला लेना चाहिए और धीरे-धीरे विना बाजे के तारों को स्वर में मिला सकने का अभ्यास बढ़ाना चाहिए ।

वायोलिन बजने के लिये तैयार हो गया । अब उसे किस प्रकार पकड़ना चाहिए, यह बताना बाक़ी रह गया । इसके पकड़ने की दो तरकीबें हैं—एक देशी और दूसरी विदेशी । देशी पद्धति में वायोलिन ठुड्डी के नीचे दबा रहकर, बाएँ हाथ पर नाक की सीध में सामने रखा जाता है और विदेशी पद्धति के लिये चित्र नं० ४ देखिए । वायोलिन किस प्रकार पकड़कर बजाना चाहिए, यह बात चित्र नं० ४ से आपको भली भाँति समझ में आ सकती है । चित्र में अच्छी तरह देख लीजिए कि टंग के नीचे की लकड़ी के बाएँ ओर बाएँ हाथ का अँगूठा रहेगा और दाहनी तरफ़ शेष चारों उँगलियाँ, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिका टंग के दाहनी तरफ़ रहेंगी । इन्हीं उँगलियों को यथास्थान तारों पर रखने और उठाने से वायोलिन में स्वरों की उत्पत्ति होती है ।

बाजे को बाएँ हाथ से थाम लो । और दाहने हाथ में गज़ (Bow) उठा लो । गज़ को उस जगह से पकड़ना चाहिए, जहाँ उसके दाहने भाग पर अँगूठा रखने



चित्र नं० ४

के लिये स्थान बना होता है । एक तरफ़ अँगूठे का पहला पोर जमाकर दूसरी ओर तीन उँगलियाँ गज़ की लकड़ी पर झुकी हुई रखनी चाहिए और कनिष्ठिका को गज़ के स्क्रू (Screw) पर रखना चाहिए । गज़ को बिरोजा (Rosins) लगा लो । विना बिरोजा लगाए आवाज़ अच्छी नहीं निकलेगी । ब्रिज और टंग के बीच में गज़ को रखकर चलाना चाहिए । इधर-उधर होने से अच्छी आवाज़ नहीं निकलती । ब्रिज की ओर गज़ जाने पर चर्र-चर्र की आवाज़ निकलने लगती है । गज़ को दूसरे सिरे से नौ इंच तक के हिस्से को ज़ोर से चलाना चाहिए । ऐसा करने से स्वर पर अधिकार हो जाता है । वायोलिन की आवाज़ कई दिनों तक बजने के बाद खुलती है ।

अब इस बाजे में से स्वर निकालना है, इसलिये उँगली रखकर स्वर निकालने का अभ्यास करो । इसमें परदे नहीं होते, इसलिये स्वर बाँधना बजानेवाले की उँगलियों और कानों पर अवलंबित है । पहलेपहल

बड़े धैर्य और शांति के साथ आरंभ करना चाहिए, जल्दी करने से काम बिगड़ जायगा।

रागशास्त्र में मुख्य स्वर सात माने गए हैं। पाँच इनमें कोमल होते हैं। षडज (स्वर) और पंचम कभी कोमल नहीं बनते। वायोलिन के तार भी षडज, पंचम और षडज पंचम में मिले होते हैं। इसलिये पहले तार पर ऋषभ, गंधार और मध्यम (रे, ग, म) और दूसरे पर धैवत और निषाद (ध, नो) स्वरों को निकालना बाक़ी रह जाता है। पहले तार पर पंचम और दूसरे पर अगले तार का स्वर भी निकाला जा सकता है।

रुपहले तार (Silver wire) पर धीरे-धीरे गज़ चलाओ और इस बात का ध्यान रक्खो कि स्वर में टूट न मालूम हो और यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि एक तार से दूसरे तार पर जब गज़ आवे, तब आवाज़ न टूटने पावे। अब दाहने हाथ की तर्जनी उँगली टंग पर के उस ऊँचे उठे भाग के नीचे, जिस पर से तार खूँटियों पर जाते हैं, दो अंगुल के अंतर पर रखने से 'रे' स्वर निकलेगा। तर्जनी से सवा अंगुल नीचे मध्यमा रखने से 'ग' स्वर निकलेगा। मध्यमा के पास ही अनामिका रख देने से 'म' स्वर निकलेगा। अब सब उँगलियाँ उठाकर पास के दूसरे तार पर गज़ लाइए, यह पंचम 'प' है। इस दूसरे तार पर भी 'रे' निकालने की तरह दो अंगुल दूरी पर उँगली रखिए, 'ध' बन जायगा और उससे सवा अंगुल दूरी पर मध्यमा उँगली रखकर 'नी' और उसी के पास अनामिका रखकर 'सा' स्वर निकाल लेवें। इस प्रकार सा, रे, ग, म, प, ध, नी, एक सप्तक बन गया। अब शेष दो तारों पर भी इसी तरह सप्तक निकालो।

यह शुद्ध स्वरों के सप्तक निकालने की विधि बताई गई है। कोमल निकालने के लिये उँगलियों को शुद्ध स्थान से आगे-पीछे सरकाकर उनका अभ्यास कर लेना चाहिए।

अब हम आगे थोड़ा-बहुत आरंभिक सरगम देना चाहते हैं, इसलिये उनके विषय में यहाँ कुछ संकेतों को निश्चय कर लेना ज़रूरी है। हम पहले सप्तक के नीचे अक्षरों के बिंदु रक्खेंगे, मध्यम-सप्तक के अक्षरों पर कोई चिह्न न होगा। और टीप (तार) सप्तक के अक्षरों पर ऊपर बिंदु रक्खेंगे। कोमल के लिये '^' ऐसा चिह्न रक्खा जायगा। इससे अधिक झगड़े में हम नौसिखियों को डालना ठीक नहीं समझते। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ें, त्यों-त्यों अपना अभ्यास और अध्ययन बढ़ाते जावें। प्रत्येक वाद्य के सरगम एक ही होते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि हारमोनियम के सरगम वायोलिन पर बजाने से वह न बजे। आगे चलकर किसी भी पुस्तक से सहायता ली जा सकती है। आरंभ में तो वायोलिन पर सरगम ख़ूब तैयार हो जाना चाहिए। 'सां' से 'नी' तक के चढ़ाव को राग-शास्त्र में आरोह और 'नीं' से 'सा' तक के उतार को अवरोह कहते हैं। वायोलिन सीखनेवालों को सबसे पहले आरोह और अवरोह का ख़ूब अभ्यास कर लेना चाहिए। बाद में नीचे लिखी तरह सरगम तैयार कर लें।

(१) सारे. गम, पध, निसां

सांनी, धप, मग रे सा

(२) सारे सारेग, रेग रेगम, गम गमप, मपमपध, पध पधनी, धनी धनी सां।

सांनी सांनीध, नीध नीधप, धप धपम, पम पमग, मग मगरे, गरे गरेसा।

(३) सारेग, रेगम, गमप, मपध, पधनी, धनीसां। सांनीध, नीधप, धपम, पमग, मगरे, गरेसा।

(४) सारेगम, रेगमप, गमपध, मपधनी, पधनिसां। सांनीधप, निधपम, धपमग, पमगरे, मगरेसा।

एक-एक गज़ के खिंचाव में एक-एक बोल निकलना चाहिए। जब चार-चार स्वर निकलने लगें, तब पाँच-पाँच, छः-छः और सात-सात एवं आठ-आठ तक एक गज़ में बजाने का अभ्यास कर लेना चाहिए।

वायोलिन पर गायन बजाने के पूर्व नीचे लिखे सरगमों का अच्छा अभ्यास कर लेना चाहिए। ऐसा करने से उँगलियाँ अच्छी तरह चलने लगेंगी—

(१) सारे गरेसा

(२) सारेगम गरेसा

(३) सारेगमप मगरेसा

(४) सारेगमपध पमगरेसा

(५) सारेगमपधनी धपमगरेसा

(६) सारेगमपधनीसां नीधपमगरेसा

(७) सारेगमपधनीसांरें, सांनिधपमगरेसा

(८) सारेगमपधनीसांरेंगं रेंसांनीधपमगरेसा

(९) सारेगमपधनीसांरेंगंमं गरेंसांनिधपमगरेसा

(१०) सारेगमपधनीसांरेंगंमंपं मंगंरेंसांनिधपमगरेसा

हाथ की अच्छी तैयारी हो जाने पर गायन बजाने का अभ्यास आरंभ करना चाहिए। सबसे पहले, सीधे और सरल गायन निकालने चाहिए। फिर धीरे-धीरे आगे बढ़ते जाना चाहिए। यहाँ हम किसी गायन का सरगम देकर व्यर्थ ही स्थान नहीं रोकना चाहते। और यदि एक-दो सरगम लिख भी दें, तो उससे लाभ भी क्या होगा? जिन्हें आगे जानने की इच्छा हो, वे किसी भी ऐसी पुस्तक से, जिसमें राग-रागिनियों के सरगम लिखे हों, सहायता ले सकते हैं। हारमोनियम सिखाने की पुस्तकों में बहुत-से सरगमें होंगे, वे ही सरगमें वायोलिन पर बजाने से राग-रागिनियाँ बन जायँगे। हारमोनियम और वायोलिन के सरगमों में कोई भिन्नता नहीं है। आशा है, पाठक इस लेख से लाभ उठावेंगे।

गणेशदत्त शर्मा गौड़ "इन्द्र"

कोकिल के प्रति—

बैठि अटान लौं ऊँची सिखान पै,
टेरिबे में तो कछू छति नाहीं;
भौंर की भीरनि मौरनि के मिस,
गाओ बसंत के गीत सदाहीं।

वे दिन बीते, पिरीते कहाँ, उन-
की तो रही कहनाउति नाहीं;
ये चढ़ि मेघ जुड़ावत भेकन,
रावरी तो सुधि आवति नाहीं।

मातादीन शुक्ल

मयूर-नृत्य

सुनि घहरनि धुनि गहिरि घटान केर,
मोर मतवारे भए प्रेम की तरंग में;
बिपिन में बागन में नगन में हिलि-मिलि,
चुंबत अलिंगत कलोलत उमंग में।

नैन सुखवारे, नैनछापवारे पुच्छ पच्छ,
सुंदर फुलाए फहराए नाचैं रंग में;
हिय हुलसावैं मन मोद उपजावैं सिव,
लखत अनंद सब पावैं अंग-अंग में।

शिवनंदनसहाय

खोज

राका पट घूँघट रचाइ रुचिरानन पै,
प्रकृति-वधूटी दुरी प्रबिसि प्रतीची मैं;
छलकि परे जे जल-बिंदु अँखिया तैं वाके,
बिखरि परे ते नभ निलय दिशीची मैं।

ताके खोजिबे को कर लीन्हें मनि-दीप-ज्योति,
आकुल कढ़्यो है कौन उमँगि उदीची मैं;
पावत न खोज चोज वारो बढ़ि रोज-रोज,
हेरत हनोज बिश्वराट की बगीची मैं।

लक्ष्मीनारायणसिंह 'ईश'

गोलमेज़-सभा के लिये आयोजन



आलोचना और पुस्तक-परिचय

न्यायप्रदीप—लेखक, साहित्यरत्न श्रीदरबारीलाल न्यायतीर्थ ; प्रकाशक, साहित्यरत्न-कार्यालय, जुबिलीबाग़, तारदेव, बंबई ; पृष्ठ-संख्या १३६ ; मूल्य एक रुपया ।

वास्तव में यह बड़े खेद की बात है कि हिंदी में दर्शन-ग्रंथों का अभाव-सा है । संस्कृत में दर्शन-शास्त्र के प्रत्येक विभाग में ऐसे अनेक ग्रंथ हैं, जिनको सरलता-दुरूहता के क्रम से प्रत्येक श्रेणी का विद्यार्थी पढ़ सकता है। प्रवेशिका के विद्यार्थी के लिये यदि तर्क-संग्रह मौजूद है, तो क्रम से सीढ़ी पार करते हुए जब वह आचार्य बन जाता है, तो उसके लिये शक्तिवाद रक्खा हुआ है । मीमांसा-परिभाषा से श्लोकवार्तिक तक ग्रंथों की सोपान-परंपरा बनी हुई है, जिन पर क्रमशः पाद-विन्यास करते हुए कोई भी पांडित्य के परम शिखर पर पहुँच सकता है । वेदांत, व्याकरण, अलंकार—सभी इसी प्रकार कृत-तीर्थ हैं। हिंदी में भी इसी प्रकार से साहित्य-निर्माण की ओर जिस दिन संगठित रूप से हिंदी-भाषा-भाषी विद्वान् ध्यान देंगे, उसी दिन हमारी मातृभाषा में छोटे-बड़े सबके लिये सत्य-अर्थ को बतानेवाले प्रामाणिक ग्रंथ मिल सकेंगे । अभी तो सर्वत्र उच्छृंखलता है । प्रत्येक दर्शन के पृथक्-पृथक् छः विद्वान् भी अपने शास्त्र के लिये इस प्रकार क्रम-शृंखलित ग्रंथमाला निकालने पर ध्यान दें, तो बहुत शीघ्र इस अभाव की पूर्ति हो सकती है । इतना भूमिकारूप में है ।

प्रस्तुत ग्रंथ न्याय-दर्शन की प्रवेशिका श्रेणी से कुछ ऊँचे विद्यार्थियों के लिये अच्छा है । ग्रंथकार का कहना यह है कि उन्होंने 'अनेक शास्त्रों का सहारा लेकर प्रत्येक विषय पर बुद्धि के अनुसार चिंतन किया है, उसके अनुसार जो सामग्री उपलब्ध हुई, वही इसमें रक्खी गई है। फिर भी इसमें बहुत-सी त्रुटियाँ और अशुद्धियाँ रह गई होंगी । उनके लिये क्षमा माँगने के सिवा और क्या किया जा सकता है ?' हो सकता है कि लेखक ने ग्रंथ के लिखने में बहुत परिश्रम किया हो, पर वह अपने प्रयत्न में सफल नहीं हुए। मुख्य त्रुटि यह है कि उन्होंने ग्रंथ की कोटि या कक्षा (Standard) का ध्यान नहीं रक्खा । कहीं लक्षण ही लिखकर छोड़ दिए हैं, उदाहरण नहीं दिए । कहीं लक्षणों को भी स्पष्ट करने की ओर पूरा ध्यान नहीं दिया गया । लेखक कुछ

जल्दी में लिखते हैं। न्याय का विषय यों ही बहुत सूखा है, उसको यदि पल्लवित न किया जाय, तो बिलकुल ही नीरस हो जाता है। कहीं (पृ० ११ पर) वह शास्त्रार्थ में इतना चले गए हैं कि बिना आचार्य के सिद्धांत सुगम नहीं हो सकते। पुस्तक को भिन्न-भिन्न वादों का क्रीड़ा-स्थल न बनाकर तर्क-शास्त्र की परिभाषाओं को ही विशेष स्पष्ट और निश्चित रूप से बताना चाहिए। किन्हीं अंशों में साहित्यरत्नजी ने इस ओर ध्यान दिया है, फिर भी दूसरे संस्करण में इसी ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। न्याय एक ऐसा विषय है, जिसमें आधुनिक लेखक को नया कुछ नहीं कहना है। उसे पूर्व-निर्धारित परिभाषाओं और लक्षणों को ही स्पष्ट करने की ओर विशेष ध्यान देना उचित है।

लेखक ने जैन-न्याय पर भी तीन अध्याय लिखे हैं, जो औरों से बहुत अच्छे हैं। गौतमीय न्याय पर लिखते हुए (चौथा अध्याय) तो उनके वाक्यों से बार-बार यही ध्वनि निकलती है कि ब्राह्मण तार्किकों ने थोथी चालाकियों और शास्त्रार्थ के कड़े बंधनों में ही जैन (या बौद्ध) दार्शनिकों को जकड़कर बोलने से वंचित कर दिया और मिथ्या हार घोषित कर दी। न्यायतीर्थजी हार-जीत के पचड़े में न पड़कर लक्षणों के उदाहरण विस्तार से लिखते, तो अच्छा होता।

चतुर्थाध्याय में सूक्ष्मतः देखने पर 'निग्रह-स्थान' के विवेचन में कई त्रुटियाँ मालूम पड़ीं। शास्त्रार्थ का निर्णय देनेवाले मध्यस्थों को यह अवश्य बताना पड़ता था कि किस स्थान पर (Stage indiscussion) वादी या प्रतिवादी का निग्रह हो गया, जिससे उसकी हार मानी गई। यदि निग्रह-स्थान के बाद भी शास्त्रार्थ जारी रहे, तो फिर वहाँ धौल-धप्पा मचने लगेगा। वादी ने एक प्रतिज्ञा की, प्रतिवादी से उसका उत्तर नहीं बन पड़ा। ऐसी हालत में प्रतिवादी अंड-बंड कहने लगे, तो परिषत् उसको निगृहीत कह देगी। गौतम ने बाईस तरह के निग्रह-स्थान बताए हैं। उन सबमें परस्पर सूक्ष्म भेद हैं। लेखक इसे भूल जाते हैं। 'न्यून' को वह निग्रह-स्थान नहीं मानते। प्रतिज्ञा के पाँच अवयव पूरे होने से साध्य पूर्ण होता है। 'न्यून को निग्रह-स्थान मानना बिलकुल व्यर्थ है, क्योंकि प्रतिज्ञा और हेतु से ही काम चल सकता है। इसलिये अगर उदाहरण उपनय-निगमन का प्रयोग न भी किया जाय, तो पराजय नहीं माना जा सकता।' (पृ० ९३) प्रश्न 'न किए जाने' का नहीं है, न कर सकने का है। अगर उदाहरण माँगा जाय और आप न दे सकें, तो अवश्य आपकी हार हुई और परिषत् निर्णय देगी कि 'न्यून' निग्रह-स्थान से आपकी हार हुई। 'अधिक होने से कुछ नुक़सान नहीं है, क्योंकि इससे वक्तव्य दृढ़ और स्पष्ट होता है। इससे पराजित होने का कुछ भी संबंध नहीं है।' (पृ० ९३) प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिये जिन पाँच अंगों की आवश्यकता है, उससे अधिक यदि वादी को कहने का मौक़ा दिया जाय, तो शास्त्रार्थ शैतान की आँत की तरह बढ़ाया जा सकता है, एक की जगह दस-दस विभिन्न और असंबद्ध हेतु देने से भी वादी न रोका जा सकेगा। पर्वत में आग है, क्योंकि उसमें धुआँ भी है, और प्रकाश भी है। इस प्रकार दो हेतु देना अधिक है। यदि आप बिना दोनों के पक्ष का मंडन कर ही न सकें, तो अवश्य हार है; क्योंकि बिना एक हेतु की हार के दूसरा स्वतंत्र और व्याप्तिमान् हेतु देना अनावश्यक है। इस प्रकार करने से वादी सैकड़ों हेतु देने का दावा कर सकेगा। पहला कट जाने के बाद वह दूसरा देगा, दूसरे के बाद तीसरा। यद्यपि सब हेतु कटते रहेंगे, तो भी वादी की हार न होगी; क्योंकि उसे फिर भी अधिक हेतु देने का अधिकार रहेगा। इसी तरह यदि एक ही शास्त्रार्थ में दो प्रतिज्ञाएँ मिला दी जायँ, तो वाद कभी समाप्त ही न होगा।

न्याय में 'पुनरुक्त' (Repetition) भी निग्रह-स्थान अर्थात् हार का कारण है। लेखक कहते हैं कि इसे भी निग्रह-स्थान न मानना चाहिए। हमारी समझ में पुनरुक्त अवश्य निग्रह-स्थान है। एक बार एक वाक्य कहकर आप शब्दों की योजना से उसी अर्थ को पचास बार नहीं कह सकते। यदि ऐसा ही होने लगे, तो सत्य-अर्थ का निर्णय कभी न हो। हारनेवाला चाहे जब एक ही बात को घुमाकर फिर-फिर कहता रहे और परिषद् बुद्धू की तरह सुनती रहे। कारणवश अर्थ को स्पष्ट करने के लिये भावार्थ को दोहराना पुनरुक्ति नहीं है; पर यदि कोई विपक्षी ऐसा ही करने का हठ करे, तो अवश्य उसकी हार कही जायगी। लेखक ने 'अनुवाद' और पुनरुक्त के भेद को भुलाकर

बड़ी भूल की है। आप लिखते हैं—'पुनरुक्त को निग्रह-स्थान न मानना चाहिए ; क्योंकि शब्द की पुनरुक्ति तो यमक अलंकार में भी होती है' (पृ० ९१)। महर्षि गौतम इस बात को अच्छी तरह जानते थे और इसी-लिये उन्होंने लिख दिया है—

अनुवादे त्वपुनरुक्त शब्दाभ्यासादर्थविशेषोपपत्तेः । ५।२।१५

अर्थात् जहाँ शब्दों के दो बार कहने से किसी विशेष अर्थ की उद्भावना हो, वहाँ पुनरुक्त दोष है ही नहीं। उसका नाम अनुवाद है। वह सहेतुक होता है। यमक में अर्थविशेष के चमत्कार के लिये द्विरुक्ति होती है। पाणिनि ने भी नित्य और वीप्सा अर्थों में आम्रेडित संज्ञा कही है। हठपूर्वक पुनर्वचन करनेवाले को परिषद् रोके नहीं, तो क्या जयपत्र लिख दे!

इसी तरह 'अप्राप्तकाल' को भी आप निग्रह-स्थान नहीं मानते। न्याय (Syllogism) में अवयवों को उलटा-पलटा करके कहना अनुचित है। पहले प्रतिज्ञा, फिर हेतु, उदाहरण आदि क्रम से चलना चाहिए। मान लिया कि आपने पहले हेतु कहकर तब प्रतिज्ञा कही। यदि वादी ने अर्थ समझ लिया, तो शास्त्रार्थ में रुकावट न पड़ी। पर यदि उसने डाँटकर कहा कि पंचावयवों को ठीक-ठीक कहिए और फिर भी आप गड़बड़ाते ही रहे, तो परिषद् समझेगी कि निग्रह हो गया अर्थात् आपमें शास्त्रार्थ की क्षमता नहीं है कि विचारों को क्रम से सजा भी सकें। इसलिये अप्राप्तकाल की गिनती निग्रह-स्थानों में है।

इसी तरह 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' भी निग्रह-स्थान है, पर लेखक कहते हैं कि 'इस निग्रह-स्थान से पराजय मानना अनुचित है' (पृ० ९२)। जब विपक्षी निग्रह-स्थान में पड़ जाय और वादी उसे टोके नहीं, बल्कि उसकी उपेक्षा करके उसे बोलता रहने दे, तो परिषद् का धर्म है कि वादी को संकेत करे कि तुम्हारा विपक्षी निगृहीत होने के योग्य है। इतना चिताने पर भी यदि वादी उस दोष की उपेक्षा करके विपक्षी को बोलने ही दे, तो परिषद् का धर्म है कि वादी को ही निगृहीत कहकर शास्त्रार्थ बंद कर दे। इस निग्रह-स्थान का महत्त्व वहाँ मालूम होता है, जहाँ वादी-प्रतिवादी कूट अभिसंधि करके मिल जाते हैं (Collusive disputants). सिर्फ़ वहीं, वादी प्रतिवादी को परिषद् के कहने पर भी निगृहीत नहीं करेगा। तो क्या परिषद् फ़ालतू है, जो इस प्रकार के धोखे को चलने दे? इसकी सज़ा यही है कि उपेक्षा करनेवाले वादी को ही हारा हुआ घोषित किया जाय। इस प्रकार पर्यनुयोज्योपेक्षण (Overlooking to censure when there is an occasion for censure) बहुत महत्त्व का निग्रह-स्थान है। खेद की बात है कि लेखक ने इन परिभाषाओं के असली तत्त्व को नहीं खोला, जिससे भ्रम फैल सकता है। अच्छा हो, यदि लेखक अधिक सावधानी से पुस्तक का दूसरा संस्करण निकालें।

× × ×

तत्त्वचिंतामणि—लेखक, श्रीजयदयाल गोयन्दका ; प्रकाशक, गीता-प्रेस, गोरखपुर; पृष्ठ-संख्या ३६५; मूल्य ॥।-)।

समर्थ गुरु भगवान् रामदास ने कहा था कि उपासना करनी चाहिए। जिसे उपासना का बल नहीं होता, उसे चाहे जो कूट डालता है। इन 'चाहे जो' शब्दों में शरीर में बसनेवाले काम क्रोध लोभ मोह अहंकार आदि रिपु और बाहर रहनेवाले दुष्ट आततायी दोनों ही आ जाते हैं। शरीरस्थ आध्यात्मिक वैरियों से अपना बचाव करके, परम निःश्रेयस् की प्राप्ति का उद्देश्य करके संसार के यथाप्राप्त कर्मों को अनासक्ति से करते रहना सर्वोत्तम जीवन-सिद्धांत है। इसी का आश्रय लेकर श्रीहनुमान-प्रसादजी पोद्दार ने कल्याण मासिक पत्र और गीता-प्रेस के द्वारा गोरखपुर में देश में फैले हुए मुमुक्षु और साधकों का एक बहुत ही सच्चा केंद्र स्थापित किया है। सत्य-भाव के साथ भगवान् की उपासना करना कल्याण से संबद्ध सब लोगों का मूलमंत्र है। उनमें कितने ही ऐसे पहुँचे हुए जन हैं, जो आत्मा को जानने के मार्ग में बहुत आगे बढ़ गए हैं। 'तत्त्वचिंतामणि' के लेखक श्रीजयदयालजी ऐसे ही सत्पुरुषों में हैं। उक्त पुस्तक उनके 'कल्याण' में समय-समय पर प्रकाशित उन्तीस लेखों का संग्रह है। पुस्तक में धर्म का भाव बड़ा जागरूक है, प्रत्येक पृष्ठ से सचाई और सात्त्विकी श्रद्धा प्रकट होती है। लेखक को अपने मत का प्रचार नहीं करना है, इसलिये उन्हें किसी बात का आग्रह नहीं है। उन्होंने जगत् के तत्त्वों को अपनी आँखों से अपने लिये देखने की कोशिश की है, यही उनको इसका अधिकारी बना देता है कि उनकी बात सुनी जाय। लेखकी

ने एच० जी० वैल्स के लिये लिखा है—"Whoever sees the world genuinely through his own eyes challanges the world," अर्थात् जो सचाई के साथ संसार को स्वयं देखता है, वह औरों के मत को चुनौती देता है। इसलिये वह नए ढंग से बात कहता है और यह उसकी श्रवणार्ह योग्यता है। तत्त्वचिंतामणि इसी ढंग की पुस्तक है, जो श्रद्धालु मनुष्यों को स्वयं सोचने और सत्कर्म करने पर बाध्य करती है। प्रायः इस 'श्रद्धालु' शब्द की इस शताब्दी में बड़ी दुर्दशा हो रही है। अहंकार-विमूढ़ अविश्वासी जनों के लिये श्रद्धा भोंदूपन है। हम मानते हैं कि पुरानी दिए की बत्ती और आधुनिक बिजली के बल्व में बहुत अंतर है। पर बिजली की चकाचौंध में रहने-वाले ही आज लैंबेथ कानफ़्रेंस में रो रहे हैं कि सात्त्विकी श्रद्धा के लोप हो जाने से पुरुष-जीवन और मनुष्य-समाज की नींव खोखली हो गई है। मानसिक जगत् का काम मशीनों से कौन ले सकता है? आधुनिक सभ्यता, धर्म और दर्शन को वास्तविक जीवन से परे हटा हुआ समझती है। व्यक्ति की नीति-विषयक स्वच्छंदता उच्छृंखलता में परिणत हो गई है। पुराने संयम के बंधन तोड़ तो डाले गए, पर उनके स्थान में उससे अच्छी कोई चीज़ प्रतिष्ठित न हो सकी। ऐसी दशा में जहाँ प्राचीन श्रद्धा के अनुसार मुक्ति-पथ के अनुरूप जीवन ढालने का सदुद्योग हो, वहाँ हमें सहसा हँस देने का अधिकार नहीं रह जाता। यों तो पुस्तक के सभी लेख सुपाठ्य हैं और उनमें धर्म का प्रबल भाव पाया जाता है, तो भी 'ज्ञान की दुर्लभता', 'निराकार-साकार-तत्त्व', 'भगवान् क्या हैं', 'गीता में भक्ति', 'सच्चा सुख,' 'गीतोक्त संन्यास' और 'निष्काम कर्मयोग का स्वरूप' तथा 'व्यापार-सुधार की आवश्यकता' और 'व्यापार से मुक्ति'-शीर्षक लेख बहुत ही सुंदर और लाभप्रद हैं। पिछले दो लेख तो अमृत-रूप हैं। यदि हमारा वर्तमान वैश्य या व्यापारी वर्ग गोयन्दकाजी के इन शब्दों पर ध्यान दें—'दूकानदार को यह बुद्धि रखनी चाहिए कि उसकी दूकान पर जो ग्राहक आता है, वह साक्षात् परमात्मा का ही स्वरूप है...' तो वित्त-मोह के कारण वे जिस कलिल में पड़े हुए हैं, उससे उनका अनायास ही छुटकारा हो जाय। 'संसार का सब धन परमात्मा का है, हम सब उसी की प्रजा हैं। परमात्मा ने योग्यतानुसार सबको ख़ज़ाना सँभलाकर हमें उसकी रक्षा और यथायोग्य व्यवहार की आज्ञा दी है।' इन उत्तम वचनों पर आज ध्यान देने की फ़िक्र किसे है?

श्रीजयदयालजी के वेदांत-विषयक विचार बहुत कँचे हुए और सच्चे हैं। थोड़े लोग, जो माया और असत्वाद के तत्त्व को नहीं समझते, एकदम कह देते हैं कि जगत् कल्पित है, मानो वे वक्ता स्वयं सत्य हैं। श्रीजयदयालजी ने इसे स्पष्ट किया है—"वेद, शास्त्र और तत्त्ववेत्ता महापुरुषों का भी यह कथन है कि एक शुद्ध बोध ज्ञानस्वरूप परमात्मा ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, परंतु किसी भी व्यक्ति के द्वारा 'संसार असत् है' यों कहा जाना उचित नहीं; क्योंकि वास्तव में यों कहना बनता नहीं। संसार को असत् मानने से संसार के रचयिता सृष्टिकर्ता ईश्वर, विधि-निषेधात्मक शास्त्र, लोक-परलोक और पाप-पुण्य आदि सभी व्यर्थ ठहरते हैं, और इनको व्यर्थ कहना या मानना अनधिकार की बात है। जिस वास्तविकता में शुद्धब्रह्म के अतिरिक्त अन्य का आत्यंतिक अभाव है, उसमें तो कुछ कहना बनता नहीं; कहना भी वहीं बनता है, जहाँ अज्ञान है। और जहाँ कहना बनता है, वहाँ सृष्टि के रचयिता, संसार और शास्त्र आदि सब सत्य हैं और इन सबको सत्य मानकर ही शास्त्रानुकूल आचरण करना चाहिए।" (पृ० १७) शुष्क वेदांत की मरुभूमि में ज्ञान, भक्ति और कर्म में से कोई भी पौदा पल्लवित नहीं होता।

वासुदेवशरण

× × ×

हिंदू-भारत का उत्कर्ष (या राजपूतों का प्रारंभिक इतिहास)—लेखक, श्रीयुत चिंतामणि विनायक वैद्य एम्० ए०, एल्-एल्० बी०; अनुवादक, श्रीयुत भगवानदास; प्रकाशक, ज्ञानमंडल, काशी; सजिल्द; पृष्ठ-संख्या ५२६; मूल्य ३॥)

श्रीयुत सी० वी० वैद्य ने अँगरेज़ी में मध्यकालीन हिंदू-भारत का इतिहास (History of Mediaeval Hindu India)-नामक एक इतिहास लिखा है। उसके तीन भागों में ई० स० ६०० से १२०० तक का हिंदू-भारत का इतिहास है।

प्रस्तुत पुस्तक उसी इतिहास के दूसरे भाग का हिंदी-अनुवाद है और इसमें ई० स० ७५० से १००० ईसवी तक का हाल है।

इसके पहले अध्याय में राजपूतों की उत्पत्ति और उनके कुल आदि पर विचार किया गया है, दूसरे में उस समय के अन्यान्य हिंदू-राज्यों का इतिहास है, तीसरे में उस समय के रीति-रिवाजों का वर्णन है और परिशिष्ट में कुछ ख़ास बातों का उल्लेख है।

वैद्य महाशय एक विद्वान्, अनुभवी और प्रतिभा-संपन्न पुरुष हैं। जिन्होंने आपके 'महाभारत-मीमांसा' आदि ग्रंथ पढ़े हैं, वे आपकी विद्वत्ता और विचारशैली से अवश्य ही परिचित होंगे।

वैसे तो किसी ख़ास विषय पर दो ऐतिहासिकों में मतभेद होना एक स्वाभाविक-सी घटना है, परंतु वैद्य महाशय की सर्वतोमुखी गवेषणा और निर्णायक शक्ति को अंगीकार करने में किसी का मतभेद न होगा।

आशा है, हिंदी-संसार इस पुस्तक का आदर कर वैद्य महाशय को अपनी अमूल्य पुस्तकों का अनुवाद हिंदी में प्रस्तुत करवाते रहने के लिये उत्साहित करेगा।

इस पुस्तक के ऐसे सरल और सुंदर हिंदी-अनुवाद को प्रस्तुत करने के लिये हम, यहाँ पर, श्रीयुत भगवानदासजी को भी हार्दिक धन्यवाद देना आवश्यक समझते हैं।

विश्वेश्वरनाथ रेउ

× × ×

अफ़ग़ानिस्तान—लेखक, पं० मातासेवक पाठक; प्रकाशक, हिंदी-साहित्य-मंदिर, २-३ चित्तरंजन एवन्यू (साउथ), कलकत्ता; पृष्ठ-संख्या २७६; मूल्य २)

अफ़ग़ानिस्तान हमारा पड़ोसी देश है। इस देश का हमारे देश से प्राचीन काल से संपर्क रहा है। इसलिये हमें इस देश के भूगोल तथा इतिहास का जानना आवश्यक है। अभी तक हमने हिंदी में अफ़ग़ानिस्तान-विषयक कोई पुस्तक नहीं देखी थी। यह पुस्तक इस कमी को बहुत कुछ पूरा करती है। कुछ समय हुआ, अफ़ग़ानिस्तान के भूतपूर्व शाह अमानुल्ला के आकस्मिक ऐश्वर्य प्राप्त करने और फिर शीघ्र ही पारस्परिक कलह के कारण निर्वासित होने के कारण भारतवासी अफ़ग़ानिस्तान का आधुनिक इतिहास जानने के बहुत उत्सुक हो गए थे। इसलिये लेखक महाशय ने अफ़ग़ानिस्तान के इतिहास के इसी भाग पर विशेष ध्यान दिया है। पुस्तक सचित्र है, कवर पर "अफ़ग़ानिस्तान के उद्धार-कर्त्ता अमानुल्लाख़ाँ" का रंगीन चित्र है। भीतर भूतपूर्व शाह के जीवन-संबंधी कई चित्र हैं। अफ़ग़ानिस्तान का भौगोलिक वर्णन भी है।

पुस्तक पढ़ने से यह साफ़ प्रकट होता है कि लेखक महाशय अमानुल्ला के भक्त हैं। लेखक महाशय का हृदय इस विषय में भारतीय हृदय का सच्चा प्रतिबिंब है। शाह अमानुल्ला की असफलता के लिये लेखक महाशय मुल्लाओं और अँगरेज़ों को उत्तरदायी ठहराते हैं। मुल्लाओं का दोष तो प्रकट ही है। अँगरेज़ों का कहाँ तक हाथ था, यह बताना कठिन है। परंतु यह निश्चय है कि कई अँगरेज़ राजनीतिज्ञों ने अमानुल्ला को पहले ही चेतावनी दे दी थी कि अफ़ग़ानिस्तान उजड्ड देश है, यहाँ बहुत शीघ्र सुधार की दौड़ लगाने का प्रयत्न न कीजिएगा। सच पूछिए तो शाह अमानुल्ला की असफलता का यही कारण था कि सच्चे देश-भक्त होते हुए भी उन्होंने देश की स्थिति के विरुद्ध बहुत शीघ्र उसे उन्नत करने का प्रयत्न किया। शाह अमानुल्ला के पतन से हमें यह शिक्षा मिलनी चाहिए कि समाज स्वभावगत परंपरापूजक है; उसे ठीक मार्ग पर लाने के लिये धैर्य और शिक्षाप्रचार की आवश्यकता है। यदि शाह अमानुल्ला ३० वर्ष तक शिक्षाप्रचार पर ही ध्यान देते, तो जो सुधार वह चाहते थे, उनके लिये प्रजा तैयार हो जाती और तब सुधार भी दृढ़ होते।

× × ×

राष्ट्रीय शिक्षा का इतिहास—लेखक, श्रीयुत कन्हैयालाल; प्रकाशक, काशीविद्यापीठ, काशी; पृष्ठ-संख्या २११; मूल्य २)

भारतीय शिक्षा-प्रणाली का एक रूप तो वह है, जो सरकारी नियंत्रण में है, और दूसरा वह, जो सरकारी नियंत्रण से स्वतंत्र है। यद्यपि विस्तार के विचार से इस स्वतंत्र शिक्षा-प्रणाली का क्षेत्र अभी बहुत संकुचित है, तथापि राष्ट्रीय जागृति के नाते इसका महत्त्व किसी प्रकार से कम नहीं है। अभी तक हिंदी में कोई ऐसी पुस्तक न थी, जिसमें भारतीय शिक्षा के इतिहास की विवेचना होती और वर्तमान राष्ट्रीय शिक्षालयों का विवरण

होता। इस कमी को काशी-विद्यापीठ के संचालकों ने श्रीकन्हैयालालजी की लेखनी द्वारा पूरा किया है। इस सेवाकार्य के लिये हम उन्हें हार्दिक बधाई देते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक महोदय ने सरकारी शिक्षा-प्रणाली के गुण-दोष की जाँच की है; राष्ट्रीय शिक्षा के मुख्य-मुख्य सिद्धांतों की विवेचना की है, और वर्तमान राष्ट्रीय शिक्षालयों का विवरण देकर इन सिद्धांतों के व्यावहारिक रूप में लाने का जो कुछ प्रयत्न हो रहा है, उसे सफल या असफल समझने का भार पाठकों पर छोड़ दिया है। लेखक महाशय ने राष्ट्रीय शिक्षा के इतिहास को तीन भागों में विभक्त किया है, उनमें से अंतिम भाग सन् १९२० से प्रारंभ होता है। इधर यदि विचार कर देखिए, तो सरकारी शिक्षा के इतिहास में भी सन् १९२० से एक नए युग का आगमन होता है। सन् १९२० तक शिक्षा की नीति सरकार के हाथ में थी, परंतु सन् १९२० से शिक्षा की नीति जनता के हाथ में आ गई है। यह ठीक है कि कोष पर पूर्ण अधिकार न होने के कारण सरकारी शिक्षा-प्रणाली को राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली के रूप में परिवर्तित करने में कुछ बाधाएँ पड़ी हों; परंतु शिक्षानीति पर जनता को जो कुछ अधिकार मिले, वह चाहे शिक्षाप्रसार में कुछ हद तक असमर्थ होते, परंतु शिक्षाप्रणाली में परिवर्तन करने के लिये यथेष्ट थे। यदि सरकारी शिक्षाप्रणाली अब भी राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं होने पाई है, तो इसमें हमारा, हमारे प्रतिनिधियों तथा अध्यापकों का ही दोष है।

इस समय जो आंदोलन हो रहा है, उसका और जो कुछ परिणाम हो, परंतु इसमें संदेह नहीं कि शिक्षा-क्षेत्र में जनता के अधिकारों में जो कुछ अभी तक कमी रही है, वह पूरी हो जायगी। ऐसी दशा में हमारा कर्तव्य है कि हम अपने प्रतिनिधियों को आदेश दें कि वे सरकारी शिक्षाप्रणाली को राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुकूल बनावें।

राष्ट्रीय शिक्षा के सिद्धांतों की जो विवेचना प्रस्तुत पुस्तक में हम पाते हैं, उससे हमें विश्वास होता है कि राष्ट्रीय शिक्षा और प्रचलित सरकारी शिक्षा में इतना भारी भेद नहीं है कि एक का दूसरे से सम्मिलन न हो सके। पृष्ठ ६७ में राष्ट्रीय शिक्षा के जो मुख्य सिद्धांत दिए गए हैं, वे कोई ऐसे नहीं हैं, जिनके मानने से प्रलय की संभावना हो। सूत कातने और रुई धुनने की शिक्षा तथा खादी पहनना अनिवार्य करना तो चाहे असंभव हो, परंतु हमारे शिक्षाविभाग को इस बात के मानने में कोई आपत्ति इस समय भी नहीं है कि अध्यापक और बालक ख़ुशी से खादी पहन सकते हैं और सूत कातने तथा कपड़ा बुनने का काम सीख सकते हैं। क्या ही अच्छा हो, यदि निकट भविष्य में राष्ट्रीय शिक्षालयों के प्रतिनिधि तथा प्रांतीय शिक्षामंत्री और शिक्षाविभाग के संचालक एक साथ बैठकर एक राष्ट्रव्यापिनी शिक्षानीति निश्चित कर लें। अभी तो देश के इने-गिने राष्ट्रीय शिक्षालय विस्तृत सागर में दीपगृह के समान मार्गप्रदर्शक ही का काम दे रहे हैं, वे व्यापक अंधकार के दूर करने में असमर्थ हैं। सरकारी शिक्षा के राष्ट्रीयता के अनुकूल होने पर इनका प्रकाश देश के कोने-कोने में व्याप्त हो जायगा।

कालिदास कपूर

कृषि, शिल्प और वाणिज्य

१. हमारा समुद्रतट का व्यापार

अलिखित, किंतु अंतरराष्ट्रीय समझौते के अनुसार प्रत्येक देश को अपनी भूमि के ऊपर की वायु पर भी अधिकार है और उसे पूरा हक़ है कि दूसरे देश के वायुयानों को अपनी सीमा में उड़ने दे अथवा नहीं। किंतु वायुयान तो अभी बने हैं और वायु के प्रभुत्व का प्रश्न भी अभी छिड़ा है। हाँ, जल का उपयोग हज़ारों वर्षों से चला आया है और जल पर अधिकार करने के लिये लाखों जानें गई हैं तथा प्राचीन स्मार्टा, फ़ोयेनीशिया (Smartans and Phoenicians) यूनान, अरब तथा कुस्तुन्तुनिया साम्राज्य से लेकर नवीन युग तक कितने ही साम्राज्यों का पतन और अभ्युदय जल पर अधिकार के कारण, सामुद्रिक व्यापार के कारण तथा इस व्यापार पर अधिकार करने की चेष्टा के कारण हुआ है।

मोरक्को के मूर-मुसलमानों ने रोमन-साम्राज्य के नष्ट होने पर वेनिस नगर के अभ्युदय-प्राप्त व्यापार को नष्ट कर वेनिस का सत्यानाश कर डाला। फ्रांस, हालैंड तथा इँगलैंड सदियों तक केवल भारतीय व्यापार की कुंजी—भूमध्य-सागर (Mediternean sea)—के लिये लड़ते रहे। अस्तु, यह जल पर अधिकार का प्रश्न बड़ा विकट है और इसने सबसे उग्र रूप गत १९१४-१८ के महासमर में धारण कर लिया था। जिस प्रकार भूमि में "तटस्थ" अथवा न्यूट्रल (Neutral) राज्य थे, उसी प्रकार समुद्र में 'तटस्थ' पानी था और अमरीका सदृश मज़बूत तटस्थ 'राज्य के तटस्थ' जल में प्रवेश करने के अपराध और उसके तटस्थ जहाज़ "ल्यूसीरानिया" को डुबाने के पाप के कारण जर्मनी के शत्रुओं के साथ अमरीका भी मिल गया।

व्यवहार में "राज्य का जल" शब्द उसी समय अधिक प्रयोग में आया। किंतु बहुत समय से यह बात स्वीकृत है कि प्रत्येक देश को अपने तट के किनारे, कम-से-कम एक मील तक के जल पर अधिकार है। उसको पूरा हक़ है कि उस सीमा के भीतर दूसरे देश का जहाज़ आने दे, अथवा नहीं। उसे पूरा हक़ है कि उस सीमा के भीतर अपना ही व्यापार रक्खे या आनेवाले जहाज़ों से मनमाना किराया वसूल करे। प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्रवेत्ता स्वर्गीय जान स्टुअर्ट मिल ने

इस अधिकार को स्वीकार किया है। चुंगीरहित, अबाधित, मुक्त व्यापार (Free tarde) के सर्वोच्च पैग़ंबर तथा अर्थ-शास्त्र के जगत्-प्रसिद्ध पंडित मि० ऐडम स्मिथ ने भी अपने समुद्र-तट के व्यापार को "घरेलू व्यापार" तथा स्वतंत्र व्यापार का अपवाद माना है।

ब्रिटिश उपनिवेशों को भी यही अधिकार प्राप्त है। फ़्रांस, अमरीका, जर्मनी आदि स्वतंत्र राज्यों का तो कहना ही क्या है। आस्ट्रेलिया ने अपने तट के व्यापार को अपने ही हाथों में रख छोड़ा है। पिछले दो शताब्दियों तक जिस समय इँगलैंड को अपना व्यापार पुष्ट करना पड़ा था, ऐसा ही क़ानून बनाना पड़ा था। किंतु जब भारतीय अपना यह हक़ चाहते हैं और अपने व्यापार को अपने हाथ में लेकर अपना करोड़ों रुपया बाहर जाने से बचाना चाहते हैं, तो उन्हें मूर्ख अर्थ-शास्त्री कहा जाता है।

भारतीय समुद्र-तट का व्यापार इस समय दो ब्रिटिश कंपनियों के हाथ में है। एक है ब्रिटिश इंडिया स्टीम नेविगेशन कंपनी (British India Steam Nevigation Co.) और दूसरी है एशियाटिक स्टीम नेविगेशन कंपनी (Asiatic Steam Nevigation Co.). ७५-६० फ़ी सदी व्यापार इन्हीं के हाथों में है। बाक़ी के बचे-खुचे व्यापार में सिंधिया स्टीम नेविगेशन कंपनी (Sindhia Steam Nevigation Co.) तथा और भी कई साझेदार हैं।

व्यापार के लिये माल ले आने और ले जानेवाले कितने जहाज़ हैं—भिन्न-भिन्न देशों के कितने जहाज़ काम करते हैं, यह निम्न आँकड़ों से मालूम हो जायगा—

	महासमर के पूर्व	सन् १६२३ में
ब्रिटिश—	२५६३	२४५०
जर्मन—	२२५	४३
आस्ट्रो-हंगेरियन—	११६	—
जापान—	६२	१३६
फ़्रांस—	२८	४
रूस—	१३	—
अमेरिका—	—	८४
चीन—	—	४

और, भारत के हाथ केवल ११ प्रतिशत अपने समुद्र-तट का व्यापार है तथा उसका विदेशी व्यापार पूर्णतः विदेशी कंपनियों के हाथ में है, केवल दो प्रतिशत भारतीय जहाज़ों को व्यापारिक अवसर मिलता है।

१६२३ में समुद्र-तट का व्यापार २२२ करोड़ रुपए का था। अधिकतर माल रंगून में उतरा था—और यद्यपि हमारे पास पूरे आँकड़े नहीं हैं, जिससे यह ठीक अंदाज़ लगाया जा सके कि उसमें से भारत को कितना मिला था, तथापि गोल शब्दों में स्वदेशी—निज तट-व्यापार के दूसरों के हाथ में होने के कारण हर साल भारत का १२ करोड़ रुपया नुक़सान होता है और विदेशी व्यापार एकदम दूसरों के हाथ में होने के कारण, प्रवासी-व्यापार में ही केवल ४० करोड़ रुपए की वार्षिक हानि होती है।

१६२७ में मदरास में भारतीय औद्योगिक कांग्रेस (Indian Indestrial Congress—1927) के अधिवेशन में अध्यक्ष-पद से श्रीमान् नरोत्तम मुरारजी ने हमारे उपरिलिखित शब्द दुहराए थे! श्रीमान् साराभाई नेमचंद हाजी ने आज से छः वर्ष पूर्व कराँची से मि० ए० टी० गिडवानी के संपादकत्व में प्रकाशित होनेवाले "टु-मारो" (To-morrom) मासिक पत्र में इसी विषय पर बड़ा सारगर्भित लेख लिखा था। आप वर्षों से भारतीय समुद्रतट के व्यापार को भारतीयों के हाथ में लाने की चेष्टा कर रहे हैं। उनके उसी लेख ने जनता में इस ओर बड़ी रुचि उत्पन्न कर दी थी। इस समय भी आप व्यवस्थापक महासभा के सदस्य हैं। वहाँ आपने इसी आशय का एक प्रस्ताव बहुत समय से रख छोड़ा है। इस प्रस्ताव का सबसे प्रबल विरोध योरपीय हित के साधक योरपियन एसोसियेशन, ब्रिटिश कंपनियों के वेतनभोगी राजनीतिज्ञ तथा स्वतः सरकार कर रही है। बड़ी कठिनाई से यह प्रस्ताव एक "सेलेक्ट-कमिटी" के सुपुर्द किया गया और वहाँ से ख़राशने के बाद विचारणीय विषयों में आया। लोगों को भय था कि अध्यक्ष पटेल के एसेम्बली-पद से त्यागपत्र दे देने के बाद, अधिकांश राष्ट्रीय सदस्यों की ग़ैर-हाज़िरी के कारण, इस अवसर का लाभ उठाकर सरकार प्रस्ताव को रद्द करा देगी; पर दैवयोग से ऐसा नहीं हो सका है और यह विचारणीय विषय अभी "विचारणीय" ही है।

बहुत समय से व्यवस्थापक-सभा द्वारा ऐसा निर्णय कराने का प्रयास किया जा रहा है, किंतु कोई सफलता नहीं हो रही है। बहुत ज़ोर देने पर १९२३ में सरकार ने एक भारतीय मर्केण्टाइल मेरीन कमेटी (Indian Mercantile Marine Committee) बनाई थी। उसमें ब्रिटिश इंडिया स्टीम नेविगेशन कंपनी के मैनेजिंग एजेंट (सर आर्थर फ़्रूम को छोड़कर (आप भी कमेटी के एक मेम्बर थे !) और सबने तट-व्यापार के संरक्षण की सलाह दी थी। किंतु वह सलाह सुनी नहीं गई और परिणाम भविष्य के गर्भ में है।

भारत ने अपने तट के व्यापार को अपने हाथ में रखने की पर्याप्त चेष्टा की, इसमें कोई संदेह नहीं। पिछले ५० सालों में (सन् १८७७ से १९२७ तक) ३२ भारतीय कंपनियाँ बनीं। किंतु विदेशी कंपनियों ने इनके विरुद्ध इतनी भयंकर प्रतिस्पर्द्धा (Rate-war) शुरू कर दी कि इनमें से २३ का दिवाला निकल गया और इनकी पूँजी आदि का १२ करोड़ रुपया ज़ाया गया। समय तथा धन की हानि के साथ ही साख भी मारी गई।

इस समय सबसे अधिक कारोबार ब्रिटिश इंडिया स्टीम नेविगेशन कंपनी का है। यह बंबई-रंगून के बीच कारोबार करती है। मूलधन ६ लाख ५७ हज़ार पाउंड (एक पाउंड साढ़े तेरह रुपए का) है। १९०१ से १९२५ के बीच में इस कंपनी को अपना पाई-पाई ख़र्चा निकाल देने पर भी ५१ लाख ७१ हजार पाउंड का लाभ था। पाठक इस लाभ की तुलना हमारी असफल कंपनियों से करें।

भारतीय कंपनियों में दो के नाम ही उल्लेखनीय हैं। एक तो सिंधिया स्टीम नेविगेशन कंपनी है। यह १९१९ में क़ायम हुई थी। इसका एक जहाज़ अपना है और ७ ख़रीदे हुए हैं। कारोबार काफ़ी होने पर भी विदेशी प्रतिस्पर्द्धा इसको मारे डालती है। यह शुद्ध भारतीय कंपनी है और यदि थोड़ा-सा त्याग कर भारतीय इसे अपना लें, तो थोड़े ही समय में, अपने सुप्रबंध, सुव्यवस्था तथा साराभाई हाजी के सुसंचालन में यह उपर्युक्त ब्रिटिश कंपनी से होड़ ले सकती है।

बंबई स्टीम नेविगेशन कंपनी भी स्वदेशी है, किंतु इसके मूलधन का कुछ भाग विदेशी भी है तथा मैनेजिंग एजेंट तो विदेशी हैं ही। सिंधिया कंपनी के पहले से इसका कारोबार चल रहा है, पर प्रतिस्पर्द्धा इसकी भी हानि कर रही है। बिना क़ानूनी मदद के भारतीय कंपनियाँ नहीं पनप सकतीं।

परिपूर्णानंद वर्मा

× × ×

२. डबल एंट्री सिस्टम एकाउंट्स और हमारा बही-खाता

(१)

इतिहास

पाश्चात्य देशों में सन् १३०० ई० पर्यंत आय-व्यय-लेखनप्रणाली का कोई उत्कृष्ट ढंग नहीं था। सन् १३४० ई० में जेनोआ की गवर्नमेंट के कर्मचारियों की आय-व्यय-लेखनप्रणाली डबल एंट्री सिस्टम एकाउंट्स (Double Intry System Accounts)-सी पाई गई। बाद में कतिपय व्यवसायियों ने उक्त प्रणाली को उत्कृष्ट समझ अपना भी आय-व्यय का हिसाब वैसे ही रखना प्रारंभ कर दिया, यद्यपि उसमें इतनी शुद्धता और सरलता नहीं थी, जितनी कि आधुनिक समय में डबल एंट्री में बताई जाती है। जो हो, मिस्टर एफ़०-डब्ल्यू० पिकसले के मतानुसार सर्व-प्रथम सन् १४९५ ई० में इटली-निवासी मिस्टर लुकाइन डी बर्गो (Lucuin De Burgo) द्वारा डबल एंट्री सिस्टम का आविष्कार हुआ, और इन्होंने ही उक्त विषय के प्रथम ग्रंथ की रचना की। बस, इनके समय से ही डबल एंट्री सिस्टम का नियमपूर्वक प्रचार होना माना जाता है। सन् १७०० ई० में इटली से डबल एंट्री सिस्टम का पदार्पण इँगलैंड में हुआ। पश्चात् वहीं यह वर्धित हो, वर्तमान पूर्णावस्था को प्राप्त हुई है।

किंतु जब हम अपने बही-खातों के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं, तब निराश होना पड़ता है। बही-खाता का ही क्यों, समग्र भारतवर्ष का कोई प्रामाणिक प्राचीन इतिहास प्राप्त नहीं है। इसका कारण भारत पर क्रमबद्ध इतर जातियों के आक्रमण और उनका पुस्तकजारण-प्रेम बतलाया जाता है। जो हो, उपलब्ध प्रमाणों से यह अवश्य प्रकट होता है कि भारतवर्ष में आय-व्यय-लेखन का प्रचार अति प्राचीन समय से है। कुछ ही दिन हुए, 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र'-नामक एक

महत्त्वपूर्ण ग्रंथ मैसूर के राजकीय पुस्तकालय से प्राप्त हुआ है। यह ग्रंथ साधारण अर्थशास्त्र का नहीं, किंतु असाधारण राजनीति का है। विद्वानों का मत है कि उक्त ग्रंथ ३२१ और ३०० बी० सी० के मध्य अर्थात् चंद्रगुप्त मौर्य के समय का, उसके महामान्य मंत्री चाणक्य (कौटिल्य) का लिखा हुआ है। उक्त ग्रंथ के 'अध्यक्ष-प्रचार-अधिकरण' में मोहकमे हिसाब, उसके निरीक्षकादि के कर्तव्यों और हिसाब के ४० प्रकार गबन (Embezzlement) के भिन्न-भिन्न उपायों का विशद वर्णन उपलब्ध होता है। आषाढ़-मास में गत वर्ष का हिसाब चुकता कर देने का आदेश है, और इस आज्ञा का उल्लंघन करने पर दंड का विधान भी लिपिबद्ध हुआ है ; परंतु यह हिसाब किन-किन बहियों में किस प्रकार रखना चाहिए, यह उक्त ग्रंथ से नहीं प्रकट होता। ऐसी ही दशा अन्य भारतीय अर्थशास्त्रों की है।

सिद्धांत

मिस्टर स्पाईसर और पेजलर ने स्वकृत 'बुककीपिंग एंड एकाउंट्स'-नामक पुस्तक में पाश्चात्य देशी हिसाब-लेखन-प्रणाली (डबल एंट्री सिस्टम एकाउंट्स) के सिद्धांत के विषय में लिखा है—

"The theory of Double Intry is not that for every debit there must be a Credit and vice-versa. Double Intry is that system of Book-keeping which takes advantage of the fact that every transaction that can be recorded in terms of account has two aspects ; the one envolving the recuving of benefit by one account or accounts, and the other the yielding of that benefit by another account or accounts."

अर्थात् डबल एंट्री (दोहरे इंदराज) का यह सिद्धांत नहीं है कि प्रत्येक जमा के लिये एक नावें और नावें के लिये एक जमा होना ही चाहिए। यह तो उस पद्धति का परिणाम-मात्र है। दोहरे इंदराजवाली (डबल एंट्री सिस्टम) बही-खाते की वह पद्धति है, जिसको प्रत्येक व्यापार के संपूर्ण प्रभावों की वास्तविक याददाश्त रखने का लाभ प्राप्त हो, और वे प्रभाव हिसाब के नियमानुसार सदैव दो स्थलों पर हुआ करते हैं—

(१) यह कि जिसमें एक अथवा अधिक खाते लाभान्वित हुआ करते हैं अर्थात् उनमें वस्तु की आय होती है।

(२) यह कि जिसमें एक अथवा अधिक खाते उक्त लाभ देते हैं अर्थात् जो व्यय-ग्रस्त होते हैं।

हमारे बही-खातों में भी उपर्युक्त विवेचन का अक्षरशः समावेश है अर्थात् किससे क्या कितना प्राप्त हुआ है, और किसको क्या कितना दिया गया है, अथवा लिखा है ; जब तक उभय पक्ष समानरूपेण लिखित न हों, तब तक उक्त हिसाब-लेखन उचित नहीं समझा जाता। कथन का तात्पर्य यह है कि पाश्चात्य देशी आय-व्यय-लेखन-प्रणाली (डबल एंट्री सिस्टम एकाउंट) और भारतीय आय-व्यय-लेखन-प्रणाली (हमारा बही-खाता) का मूल-सिद्धांत सचमुच एक ही है।

खातों के प्रकार

डबल एंट्री सिस्टम के मतानुसार संपूर्ण खाते प्रकार-त्रय में विभक्त हो सकते हैं, वे चाहे किसी गवर्नमेंट के हों अथवा व्यवसाय के। यथा—

(१) "वैयक्तिक" [जिनको अँगरेज़ी में पर्सनल एकाउंट्स (Personal Accounts) कहते हैं।]—वे सर्वखाते हैं, जिन व्यक्तियों के हम अथवा जो हमारे ऋणी हैं, उनके नामों से खोले जाते हैं।

(२) "वस्तुगत" [जिनको अँगरेज़ी में रियल इम्पर्सनल एकाउंट्स (Real Impersonal Accounts) कहते हैं।]—वे सर्व मालखाते उक्त प्रकार के अंतर्गत होते हैं; जिन वस्तुओं का व्यवसाय व्यवसायी करता है अथवा जिनसे लाभ की आशा कर सकता है, भले ही दैवयोग से बाद में उनसे हानि ही प्राप्त हो और जो उन्हीं वस्तुओं के नामों से खोले जाते हैं।

(३) "अपदार्थिक" [जिनको अँगरेज़ी में नोमीनल एकाउंट्स (Nominal Impersonal Accounts) कहते हैं)—वे सर्व खाते हैं, जो ऐसे संबंध उत्पन्न करते हैं, जिनसे राज्य अथवा व्यवसाय की आय या तो मुफ़्त में अधिक हो जायगी या मुफ़्त में कम हो जायगी अर्थात् जैसे लाभ, हानि और कतिपय आय-व्ययों के, जो उनके नामों से ही खोले जाते हैं।

खातों के विभाग भली भाँति अवगत हों, इस हेतु हम नीचे एक नक़्शा देते हैं—

- खाता
  - व्यक्तिगत
    - ऋणी
      - (१) खाता नारायणदास
    - ऋणदाता
      - (२) खाता मनीराम
  - अव्यक्तिगत
    - वस्तुगत
      - (१) खाता नक़दी
      - (२) खाता आरायशी सामान
      - (३) खाता गेहूँ स्टोर
    - अपदार्थिक
      - (१) खाता हुंडावन डिस्काउंट
      - (२) खाता कर्मचारियों का पुरस्कार
      - (३) खाता किराया मकान
      - (४) खाता सायर ख़र्च
      - (५) खाता लाभ-हानि
      - (६) खाता पूँजी (कैपिटल)

भारतीय आय-व्यय-लेखन-प्रणाली के खातों के विषय में केवल इतना लिखना ही पर्याप्त होगा कि वे सब भी उपर्युक्त प्रकार-त्रय में ही विभक्त रहते हैं। यह सत्य है कि भारतीय आय-व्यय-लेखन-प्रणाली (हमारा बही-खाता) के नियमानुसार नक़दी का खाता नहीं डाला जाता। इसका कारण यथास्थान वर्णित होगा।

आवश्यक पुस्तकें डबल एंट्री सिस्टम के नियमानुसार निम्न-लिखित तीन पुस्तकें आवश्यक हैं—

(१) "किताब रोज़नामचा"—जिसको अँगरेज़ी में वेस्ट बुक (Waste Book) कहते हैं। इस पुस्तक में नित्य-प्रति के सब आय-व्यय, क्रय-विक्रय, कई प्रकार के ख़र्चे इत्यादि चाहे वे नक़द हों अथवा उधार, सब-के-सब तारीख़वार आवश्यक विवरण सहित लिखे जाते हैं। किंतु वर्तमान समय में रोज़नामचा का व्यवहार उठ-सा गया है; अधिकांश व्यवसायियों के यहाँ नहीं रक्खा जाता और रोज़नामचे का काम निम्न-लिखित काग़ज़ातों से लिया जाता है—

(१) चेक, (२) रसीदें, (३) वाउचर्स, (४) नक़दी बिक्री के पर्चे (कैशमेमो); (५) क्रय माल के बीजक, (६) विक्रय माल के बीज़क, (७) डेबिट नोट व क्रेडिट नोट इत्यादि-इत्यादि।

(२) "किताब नक़ल"—जिसको अँगरेज़ी में जरनल (Journal) कहते हैं। इस पुस्तक में रोज़नामचे की सब आय-व्ययों की रक़मों को अपने-अपने खातों में लिखने के लिये, जिन-जिन पर कि उनका प्रभाव पड़ता है, क्रमबद्ध किया जाता है जिससे खाते में लिखे (खत) जाने के बाद उनसे यह प्रकट हो सके कि व्यवसाय के मूलधन पर उनका क्या प्रभाव हुआ है। आधुनिक समय में विशेषतः अँगरेज़ी की नक़ल (जरनल) बही को दो भागों में विभक्त करना आवश्यक समझा जाने लगा है। यथा—

पहले में सब नक़दी के आय-व्यय के और दूसरे में सब उधार क्रय-विक्रय के जमाख़र्च लिपिबद्ध होते हैं।

(३) "किताब खाता"—जिसको अँगरेज़ी में लेजर कहते हैं। इस पुस्तक में सब आय-व्यय अपनी-अपनी क़िस्मवारी में छाँटे जाकर इंदराज पाते हैं और यही पुस्तक हिसाब में सबसे उपयोगी है। रोकड़ बही कैशबुक (Cash Book) अँगरेज़ी बही-खातों में कोई स्वतंत्र बही नहीं है, वह खातावही का ही एक अंगमात्र अर्थात् नक़दी का एक खाता होता है।

भारतीय आय-व्यय-लेखन-प्रणाली में मुख्य निम्न-लिखित तीन बहियाँ आवश्यक हैं—

(१) रोकड़
(२) नक़ल
(३) खाता

उपर्युक्त रोकड़ और नक़ल बही पूर्वोक्त डबल एंट्री सिस्टम की नक़ल अर्थात् जरनल के भागद्वय के समान और खाता खाता के समान है। विभेद केवल बहियों की लेखन-शैली और स्वरूप में होता है, वह यथा-स्थान प्रदर्शित होगा।

अब यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि जिन गवर्नमेंटों अथवा व्यवसायियों के यहाँ नित्यप्रति शताधिक लेने-देने-वालों की भीड़ लगी रहती है, क्या उनके यहाँ भी उक्त पुस्तक-त्रय से कार्य-निर्वाह हो सकता है ? निरीक्षण कीजिए, वहाँ के हिसाब का सिद्धांत भी निस्संदेह उपर्युक्त पुस्तक-त्रय पर ही निर्भर करता है। उभय पद्धति में ही पूर्वोक्त सप्त प्रकार के काग़ज़ात आवश्यक हैं सत्य, किंतु मुख्य पुस्तक-त्रय भी नाना विभागों में विभक्त कर ली जा सकती है। यही नहीं, अन्य भी अनेक प्रकार की पुस्तकें प्रस्तुत की जा सकती हैं। उदाहरणार्थ—मज़दूरी लिखने का रजिस्टर, मालगोदाम की बही इत्यादि-इत्यादि। किंतु स्मरण रखना चाहिए कि यह पुस्तकें या किताबें या तो मुख्य पुस्तकों के अंग ही होती हैं, नहीं तो उनकी सहायक पुस्तक-मात्र।

आय-व्यय लिखने का रहस्य

पाश्चात्य देशी आय-व्यय-लेखन-प्रणाली (अँगरेज़ी बही-खाता) में भी भारतीय आय-व्यय-लेखन-प्रणाली (हमारा बहीखाता) की भाँति ही बाईं ओर जमा अर्थात् डेबिट (Debit) लिखा जाता है, और दाहनी ओर नावें अर्थात् क्रेडिट (Credit) लिखने का चलन है। तथापि पाश्चात्य देशी महानुभावों का और भारतीयों का आय-व्यय-लेखन का दृष्टिकोण सर्वथा विपरीत है। वे विपक्षी की दृष्टि से और भारतीय अपनी दृष्टि से आय-व्यय लिखते हैं। यदि डबल एंट्री सिस्टम और हमारे बही-खाते में कोई विभेद है, तो मुख्य यही; कांडज्ञान-हीन व्यक्ति इसको समझने में असमर्थ रहते हैं, तथापि वे अन्यों को भ्रम में निमग्न करने से विरत नहीं होते। अस्तु, प्रथम हम डबल एंट्री सिस्टम के नियमानुसार जैसे आय-व्यय लिखा जाता है, उसका दिग्दर्शन कराते हैं—

कल्पना कीजिए, यज्ञदत्त देवदत्त को ५००) दिए और देवदत्त ने उक्त प्राप्त ५००) कुंजविहारी को दे दिए। यदि देवदत्त अपना हिसाब अँगरेज़ी पद्धति से रखता है, तब तो वह उक्त आय-व्यय को अपनी नक़ल (जरनल) बही में निम्न प्रकार लिखेगा—

नक़दी के खाते में ५००) डेबिट (Debit) अर्थात् जमा और यज्ञदत्त के खाते में ५००) क्रेडिट (Credit) अर्थात् दिए हुए अथवा नावें।

चूँकि देवदत्त की बही में नक़दी के खाते को उक्त ५००) का लाभ हुआ है, इसलिये वे नक़दी के खाते में 'जमा' लिखे जायँगे, और यज्ञदत्त के खाते के उक्त ५००) रुपए दिए हुए हैं, इसलिये उसमें वे दिए हुए अर्थात् 'नावें' लिखे जायँगे। इसके विरुद्ध देवदत्त ने जो ५००) नक़द कुंजविहारी को दिए हैं, वह देवदत्त ने अपनी बही नक़दी के खाते से दिए हैं, इसलिये वे नक़दी के खाते में दिए हुए अर्थात् 'नावें' लिखे जायँगे, और कुंजविहारी के खाते ने उक्त ५००) प्राप्त किए हैं, इसलिये देवदत्त की बही में ही वह कुंजविहारी के खाते में प्राप्त अर्थात् 'जमा' लिखे जायँगे।

यदि देवदत्त अपना हिसाब भारतीय आय-व्यय-पद्धति से रखता है, तब वह उक्त ५००) को अपनी रोकड़-बही में निम्न प्रकार लिखेगा—

५००) यज्ञदत्त के खाते में 'जमा' क्योंकि वह यज्ञदत्त के खाते में प्राप्त ए हैं: और ५००) कुंजविहारी के खाते में 'नावें', क्योंकि वह कुंजविहारी के खाते में दिए गए हैं।

अँगरेज़ी पद्धति के नियमानुसार जो 'जमा' और 'नावें' है, वह हिंदुस्तानी पद्धति के नियमानुसार 'नावें' और 'जमा' लिपिबद्ध होगा। इसका कारण यह है कि अँगरेज़ी पद्धति में खातों से खातों में, और हिंदुस्तानी पद्धति में व्यवसायकर्ता को जिन खातों में जैसा आय-व्यय होगा, वैसा लिपिबद्ध होगा। निस्संदेह जो व्यवसायी अपने बही-खाते अँगरेज़ी पद्धति पर रखता है, वह भी वंध्या-पुत्रवत् सारे आय-व्यय का ज़िम्मेवार होता है, और भारतीय तो स्पष्टतर ही है।

दुर्गादत्त जोशी

बाल-महिला-मनोरंजन

१. प्रसून

(१)

दुग्ध-रूप जल से सिंचित,
होकर ही तुम बढ़ते हो !
मेरे नन्हे से उपवन को
सौरभ से भरते हो !

(२)

सुंदर सुखद सुशीतल हो तुम,
विकसित न्यारे फूल !
तव छवि निरख युगल दृग से,
अपनापन जाती भूल !

(३)

ओस-बिंदु अपने पर रख,
करते हो निज शृंगार !
तुमको और कहूँ क्या मैं ?
तुम हो मम प्रिय 'हियहार' !

सुशीला भल्ला 'हियहार'
(आयु १३ वर्ष)

× × ×

२. सोने का संदूक

किसी देश में एक सेठ रहता था। उसके पास इतना धन था कि वह उसको रखते-रखते हैरान हो गया था। उस गाँव में चोर ज्यादा थे। इससे उसका धन बहुधा वे ले जाया करते थे। सेठ बहुत हैरान था कि क्या करे ? उसका लड़का बड़ा बहादुर था। सबसे ज्यादा रंज उसी को था कि पिता के मर जाने पर मेरी क्या दशा होगी ? इसलिये वह हरएक आदमी से पूछता था कि मैं अपना

धन कहाँ रक्खूँ ? कई लोगों ने कहा कि धन को गाड़कर रख दो, तो चोर पता न पा सकेंगे। कई कारणों से लड़के को यह बात जँचती न थी। एक दिन वह लड़का बाज़ार में घूम रहा था, उसने वहाँ एक साधु को देखा। लड़का देखते ही उसके पास गया और बोला—"महाराज, मेरा धन चोर ले जाया करते हैं, यदि आप कोई युक्ति जानते हों, तो बतलाइए, जिससे मैं अपना धन हिफ़ाज़त से रख सकूँ।" साधु बोला—"भाई, उपाय तो कोई नहीं है, पर हाँ, मेरे जंगल के पास कुछ राक्षस रहते हैं, उनके पास एक संदूक़ है; वह सोने का है। पर ऊपर से लोहे का-सा दिखाई देता है। इस संदूक़ में जो आदमी धन रखता है, फिर वह धन उस आदमी के सिवा और कोई दूसरा नहीं निकाल सकता।"

लड़के को साधु की बात जँच गई। बस, दूसरे ही दिन वह अपनी लड़ाई की पोशाक पहनकर उस जंगल की ओर चल पड़ा। चलते-चलते क़रीब तीसरे दिन वह एक निर्जन वन में जा पहुँचा। लड़का थक गया था, भूख भी सता रही थी, इससे वहीं ठहर गया। सवेरा होते ही वह फिर चल पड़ा, और एक ऐसी जगह पहुँचा जहाँ चार राक्षस रहते थे। पर जब लड़का पहुँचा, तब वहाँ एक छोटा लड़का इधर-उधर टहल रहा था। उस लड़के ने सेठ के लड़के को देखकर कहा—"भाई, तुम यहाँ कैसे आ निकले ? अब सम्हलो, तुम्हारी जान की ख़ैर नहीं।" लड़का बहादुर था, उसकी धमकी से बिलकुल न डरा; बरन् आगे बढ़कर बोला—"भाई, तुम तो हमारे भाई हो, हमीं से कहते हो, तुम्हारी ख़ैर नहीं।" राक्षस का लड़का बोला—अच्छा, तुम यहाँ कैसे आए हो ?" उस लड़के ने कहा—"ऐसे ही चला आया हूँ।" राक्षस का लड़का सोचने लगा कि लड़का बहादुर है, शायद संदूक़ लेने न आया हो। उसने उस लड़के को जादू से मक्खी बनाकर डिब्बी में छिपा लिया।

शाम होते ही चारों राक्षस वहाँ पर आ गए। लड़के को अकेला बैठा देखकर बोले—"यहाँ मनुष्य की गंध आती है।" लड़का बोला—यहाँ मनुष्य कैसे आ सकता है ?" चारों राक्षस थके-माँदे थे। उन्होंने झटपट रोटी खाई और खाट पर लेटकर ख़र्राटे लेने लगे। जब सवेरा हुआ, तो चारों राक्षस फिर अपने भोजन की सामग्री ढूँढ़ने निकले। राक्षस के लड़के ने उस लड़के को फिर मक्खी से आदमी बना लिया। होते-होते कई दिन बीत गए। एक दिन दोनों लड़के एक मनोहर बग़ीचे में घूमने गए। वहाँ सेठ के लड़के ने देखा कि एक पेड़ की खोह में एक काला छोटा-सा संदूक़ रक्खा है। लड़का ताड़ गया कि हो-न-हो, यही 'सोने का संदूक़' है। दूसरे दिन फिर वे दोनों उस बग़ीचे में घूमने गए। सेठ का लड़का बहादुर था; उसने देखा कि राक्षस का लड़का फूल तोड़ने और फल खाने में लगा है। ठीक इसी समय उसने संदूक़ उठा ली और घोड़े पर सवार हो भागा। घोड़ा तो चाबुक की जलेबी खाते ही हवा हो गया। राक्षस का लड़का फल-फूल ही तोड़ रहा था। उसे इस बात का ज़रा भी पता न चला। जब वह शाम को घर लौटने लगा, तो देखता क्या है कि लड़का लापता है। वह समझ गया। पर अब हो ही क्या सकता था।

सेठ का लड़का कुछ दिनों बाद घर आया। उसने अपने पिता को वह संदूक़ दिखलाया। पिता बड़ा प्रसन्न हुआ। उस लड़के का नाम उस दिन से 'वीरसिंह' रक्खा गया। सेठ के यहाँ फिर कभी चोरी नहीं हुई।

गौरीशंकर 'शांत'

× × ×

३. धूर्त कौवे

सभी लड़के कौवे को पहचानते होंगे। यह बड़ा ही साहसी और धूर्त होता है। यह अपनी शक्ति के अनुसार कोई वस्तु उठाकर भाग जाता है। कभी-कभी तो रुपयों की गठरी, क़लम, साबुन या ऐसी ही कोई वस्तु उठाकर भाग जाता है। इन्हीं कौवों की एक कहानी हम आज तुम्हें सुनाते हैं।

एक दिन कुछ कौवे पेड़ पर बैठे हुए एक कुत्ते को देख रहे थे। कुत्ता मांस का एक बड़ा टुकड़ा लिए खा रहा था। मालूम होता था कि कौवे कह रहे हैं—"यह टुकड़ा तुम्हारे लिये नहीं है।" एक 'काँव' के साथ ही सभी कौवे पेड़ से नीचे उतरे, मानों उस मांस के टुकड़े पर एक-एक चोंच मारकर भाग जायँगे। कुत्ता गुर्राता हुआ दाँत निकालने लगा, पर कौवे नहीं डरे। जैसे उस टुकड़े को ले ही लेंगे।

परंतु कुत्ता भी उस टुकड़े को चाहता था और वह उसी के अधिकार में था। वह उसे छोड़ना नहीं चाहता था। एक कौवा चुपचाप कुत्ते के पास तक चला गया और चोंच मारकर, मांस का एक छोटा टुकड़ा नोंचकर पेड़ पर उड़ गया। सभी कौवे पेड़ पर चले गए और वहीं से 'काँव-काँव' करने लगे। उस टुकड़े में से लेशमात्र भी उन्होंने न खाया। वे संपूर्ण टुकड़ा चाहते थे। इसीलिये शायद वे सलाह कर रहे थे कि अब आगे क्या किया जाय।

कुछ देर के बाद मालूम हुआ कि उन्हें कोई युक्ति सूझ गई, क्योंकि 'काँव-काँव' बंद हो गया था। सभी कौवे नीचे उतर आए और धीरे-धीरे उसके पास जाने लगे। इसी समय उस कौवे ने मांस के छोटे टुकड़े को उस कुत्ते के ठीक सामने गिरा दिया। मानों उसने कहा— "लो अपना टुकड़ा, हम इसे नहीं चाहते।" कुत्ता लालची जानवर था। वह बड़े टुकड़े को छोड़कर उस छोटे टुकड़े की ओर लपका। इसी समय 'काँव-काँव' करके सभी कौवे उस बड़े टुकड़े पर टूट पड़े और उसे चोंच में उठाकर पेड़ पर भाग गए। अब सभी कौवे मिलकर उस टुकड़े को खाने लगे। मालूम होता था कि वे 'काँव-काँव' करके उस कुत्ते को चिढ़ा रहे थे। कुत्ता बेचारा क्रोधित होकर ऊपर की ओर मुँह किए भूक रहा था।

बब्बनप्रसादसिंह

× × ×

४. 'मुख-शुद्धी'

राजनगर नाम का एक गाँव राप्ती नदी पर बसा है। इस गाँव में अहीरों की संख्या अधिक है। पंडित सूर्यनारायणजी त्रिपाठी इन लोगों के गुरु थे। वह साल-भर में एक या दो बार अपनी जजमानी में अवश्य चक्कर लगाते और वहाँ पर पंद्रह-बीस दिन तक ठहरकर अहीरों को उपदेश देते थे। अहीर लोग पंडितजी का ख़ूब आदर-सत्कार करते थे। कोई एक दिन निमंत्रित करता था, तो कोई दो दिन। दिन-भर पंडितजी के पास आदमियों की भीड़ लगी रहती थी। जजमान लोग तरह-तरह की चीज़ें पंडितजी को भेट करते थे। कोई एक नदिया दही लेकर पहुँचता, तो कोई एक लोटा दूध ही पंडितजी को अर्पण करता। पंडितजी भी चेलों को उनकी इच्छानुसार आशीर्वाद देते थे। पंडितजी भोजन के पश्चात् कसइली काटकर खाया करते थे। एक दिन पंडितजी के पास कसैली चुक गई। पंडितजी ने अपने एक भक्त से कहा—चेथारु राउत, जरा दो पैसे की 'मुखशुद्धी' ला दो।

चेथारु—बाबाजी, मैं अभी बाज़ार जाकर लाए

देता हूँ। उसने बाज़ार जाकर दो पैसे की कसइली पंडितजी को ला दी।

चेथारु राउत ने पूछा—पंडितजी! इसको खाने से क्या लाभ है?

पंडितजी बोले—इसको भोजन के पश्चात् खाने से मुख शुद्ध हो जाता है और सबको 'मुखशुद्धी' भोजन के पश्चात् अवश्य खानी चाहिए।

पंडितजी दो-चार दिन और रहने के बाद अपने घर को चले गए।

पंडितजी के चले जाने के बाद एक दिन गाँव की चौपाल में अहीरों की सभा हुई। सब दूसरे मामले तय हो जाने के पश्चात् चेथारु राउत ने उपस्थित जनता में यह प्रस्ताव रक्खा कि भोजन के पश्चात् 'मुखशुद्धी' अवश्य खाई जाय; क्योंकि पंडितजी ने कहा था कि इसके खाने से मुँह पवित्र हो जाता है। यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। अब हरएक अहीर के घर तीन-चार आने की कसैली रोज़ आने लगी और वे शौक़ से खाने लगे। इससे उन लोगों का ख़र्च बहुत अधिक हो गया। कुछ दिनों के बाद चौपाल में फिर सब लोगों की बैठक हुई। उसमें यह तय हुआ कि एक 'मुखशुद्धी' लाकर ताक पर रख दी जाय और लोग भोजन के पश्चात् आकर उसे जीभ से चाट लें और अपने काम पर चले जायँ। तब से यही होने लगा।

दूसरे वर्ष पंडितजी फिर चेलों में आए। उन लोगों ने पंडितजी का ख़ूब सत्कार किया। एक दिन सौभाग्यवश पंडितजी के पास 'मुखशुद्धी' चुक गई। पंडितजी ने एक चेले से उसके लिये कहा, वह दौड़ा गया और चौपाल से जूठी कसैली लाकर दे दी। पंडितजी ने उसे काटकर खाया। कुछ देर बाद एक अहीर भोजन करके आया और 'मुखशुद्धी' खोजने लगा। उसे पता लगा कि वह पंडितजी के पास है। उसने पंडितजी से माँगा।

पंडितजी ने उत्तर दिया—उसे मैं खा गया।

अहीर ने कहा कि हम लोगों के पास तो वह ६ महीने से थी।

जब पंडितजी को सब मामले का पता चला, तो वह बहुत क्रोधित हुए तथा पंचगव्य वग़ैरह पीकर शुद्धि के लिये प्रयाग गए। तब से यदि कोई 'मुखशुद्धी' कहे, तो पंडितजी क्रोधित होते थे।

लड़को! समझ-बूझकर काम करना चाहिए। मूर्खों को शिक्षा देने में होशियारी से काम लेना चाहिए।

फणींद्र गोरखपुरी

× × ×

५. आद्यशक्ति का जागरण

सन् १६३० ई० के भारत के सत्याग्रह में कुछ विशेषताएँ हैं।

एक विशेषता के संबंध में यहाँ पर कुछ लिखा जाता है।

इस बार सत्याग्रह-आंदोलन का कोई अङ्ग ऐसा नहीं है, जिसमें हमारी माताएँ और बहनें व्यावहारिक भाग न ले रही हों। शहरों में ही नहीं, छोटे-छोटे देहातों तक में अनेक बहनें तत्परता और परिश्रम से काम कर रही हैं।

सत्याग्रह-आंदोलन गत ६ एप्रिल से सार्वदेशिक रूप में आरंभ हुआ है और अब तक के थोड़े-से काल में ही सैकड़ों महिलाएँ जेल-प्रवासिनी बन चुकी हैं। यह बात नहीं कि शहर की बहनें ही जेल गई हों, गाँवों की अनेक देवियाँ भी आज जेल की चहारदीवारियों के भीतर हैं। सुशिक्षिता और अशिक्षिता का भी भेद नहीं रहा है। इँगलैंड की पढ़ी भी गई हैं और अधपढ़ वा अपढ़ भी।

और वह जो आजकल आंदोलन में भाग ले रही हैं, उनकी संख्या तो सैकड़ों में है। देश का कोई प्रांत, कोई नगर, कोई गाँव ऐसा नहीं, जहाँ आंदोलन के अगुआ पुरुष हों और वहाँ की स्त्रियाँ उनसे पीछे हों। जहाँ ज़रा भी काम है, वहाँ कोई-न-कोई—एक ही सही—महिला—भले ही परदे में रहकर—काम ज़रूर कर रही है। यहाँ हम ऐसी ही कतिपय देवियों के सचित्र चरित्र देते हैं, इन चरित्रों को जान-बूझकर यहाँ बहुत संक्षिप्त रूप में दिया जा रहा है।

श्रीमती रुक्मिणी लक्ष्मीपति

गत सन् २१ ई० के असहयोग-आंदोलन और वर्तमान सत्याग्रह-आंदोलन में भी मदरास-प्रांत की महिलाएँ सबसे पहले जेल गईं। सन् २१ में श्रीमती सुब्बमा गरू पहलेपहल जेल गईं। [आपका सचित्र चरित्र अन्य आदरणीया महिलाओं के चरित्र के साथ हम आगामी संख्या में लिखेंगे] और इस वर्ष भी भारत में सबसे प्रथम जेल जानेवाली देवी का नाम है श्रीमती ए० रुक्मिणी लक्ष्मीपति। आप एक परम विदुषी और देशसेविका महिला-रत्न हैं। आंध्र-देशवासी श्रीयुत लक्ष्मीपति की धर्मपत्नी हैं। आपके पति अपने प्रांत के प्रसिद्ध वैद्य हैं। श्रीमती रुक्मिणीजी मदरास-विश्वविद्यालय की सीनेट की सदस्य, 'वाइस



श्रीमती रुक्मिणी लक्ष्मीपति

आफ़् यूथ' की संपादिका, मदरास-यूथ-लीग की अध्यक्षा और चिंगलपट-ज़िला-बोर्ड की मेम्बर हैं। प्रांत-भर में आपका बड़ा मान है, उच्च कोटि की शिक्षिता और अँगरेज़ी की पंडिता होने पर भी आपकी यह विशेषता है कि आप भारतीय सभ्यता और हिंदू-संस्कृति की परम भक्त हैं। लाहौर-कांग्रेस के साथ जो महिला-सम्मेलन हुआ था, उसकी सभानेत्री आप ही थीं।

श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय

श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय भारत की उन पाश्चात्य-शिक्षा-दीक्षित महिलाओं में हैं, जो पाश्चात्य प्रणाली पर भारत में स्त्री-आंदोलन की प्रमुख सचालिका हैं। इस दृष्टि से श्रीमतीजी बड़ी कर्तव्यपरायण महिला हैं, और भारत-महिला-परिषद् (Woman's Indian Association) की मन्त्रिणी की हैसियत से स्त्री-शिक्षा-प्रचार और सामाजिक सुधार के संबंध में वह कुछ-न-कुछ करती ही रही हैं। अब की बार के सत्याग्रह-



श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय

आंदोलन की यह विशेषता है कि कितने ही ऐसे स्त्री-पुरुषों पर महात्मा गांधी के जादू का प्रभाव पड़ा है, जिनकी आशा नहीं की जाती थी। श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय ने सत्याग्रह-आंदोलन के आरंभ होते ही उसमें व्यावहारिक भाग लिया। गत ६ एप्रिल से वस्तुतः आंदोलन आरंभ हुआ है, और आपने उसके दूसरे ही दिन ७ एप्रिल को बंबई के महालक्ष्मी स्थान में सदलबल जाकर नमक बनाया और व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक रूप से हज़ारों रुपए में उसे बेचा। १५ मई तक आपने नमक-आंदोलन को बंबई में बड़े ज़ोरों से चलाया। आंदोलन की अन्य दिशाओं में भी बड़ी तत्परता से काम करती रहीं। बंबई की महिलाओं को संगठित करके सार्वजनिक क्षेत्र में लाने का बहुत कुछ श्रेय श्रीमती कमलादेवी को है।

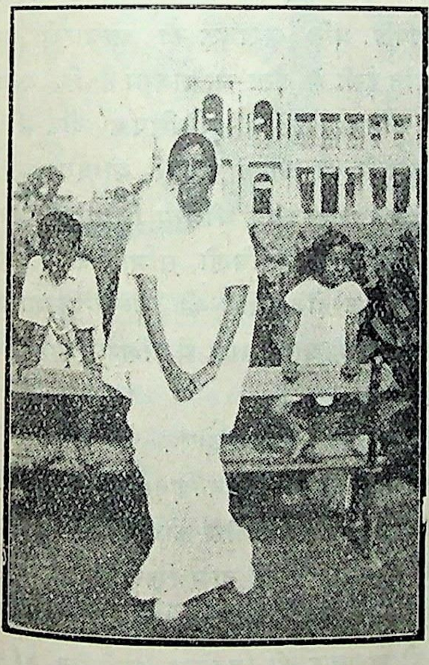
श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय १६ मई को बंबई में गिरफ़्तार की गईं। इस आंदोलन में जेल जानेवाली भारतीय वीरांगनाओं में आपका नंबर दूसरा है। महात्माजी की भाँति इन्हें भी रात के सन्नाटे में ३॥ बजे सोते हुए पकड़ा गया। इन पर नमक क़ानून की दफ़ा ४७ और ताज़ीरात हिंद की दफ़ा ११७ के अभियोग लगाए गए। १७ मई सन् १९३० ई० को श्रीमतीजी को मजिस्ट्रेट मि० खरडालावाला की अदालत से ९॥ मास की सादी क़ैद की सज़ा दी गई। मुक़दमे की कारवाई में इन्होंने कोई भाग नहीं लिया, बैठी केवल मुसकुराती रहीं।

श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय श्रीमती सरोजिनी नायडू के छोटे भाई श्रीयुत हरींद्रनाथ चट्टोपाध्याय की धर्मपत्नी हैं। हरींद्र बाबू अपनी विश्व-विख्यात कवयित्री बहन की भाँति उच्च कोटि के तो कवि नहीं हैं, लेकिन हैं वह प्रतिभाशाली कवि, निपुण गायक और कुशल नाट्यकार। वह इस समय भारत के बाहर हैं, और वहाँ अपने मिशन 'भारत में नाट्यकला का नवीन आंदोलन' का प्रचार कर रहे हैं। उन्होंने अपने इन गुणों के कारण पर्याप्त धन और यश कमाया है। अपने पति के कला-संपन्न जीवन की छाप श्रीमती कमलादेवी पर भी पड़ी है। वह भी एक प्रवीण गायिका और रंगमच की कलाविद् अभिनेत्री हैं। इस कला में उन्हें कमाल हासिल है। वह भारत में अपने पति के मिशन को पूरा कर रही हैं—नाट्यकला में संशोधन की अग्रणी हैं। अभी पिछले वर्ष वह रवींद्र बाबू के एक नाटक के फ़िल्म में कवींद्र के साथ अभिनय करनेवाली थीं। श्रीमतीजी कुशल पत्रकार और ओजस्विनी वक्ता भी हैं। आप मदरास से 'शमा'-नामक उच्च कोटि की एक त्रैमासिक अँगरेज़ी पत्रिका निकालती रही हैं। श्रीमती कमलादेवी अँगरेज़ी, फ्रेंच, जर्मन आदि कई भाषाओं की ज्ञाता और अंतरराष्ट्रीय महिला-प्रश्न की विशेषज्ञ हैं। अंतरराष्ट्रीय महिला-सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि की हैसियत से

वह बर्लिन गई थीं । योरप और अमेरिका भी घूम आई हैं ।

श्रीमती सत्यवती

धर्मवीर स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानंदजी को आज कौन नहीं जानता । आप उन्हीं की दौहित्री हैं । सत्यवती नाम भी उन्हीं का रक्खा हुआ है । दिल्ली में अपने पति श्रीबलभद्र विद्यालंकार के साथ रहती हैं । आपके पिता लाला धनीराम लुधियाने के रहनेवाले और दिल्ली के नामी ऐडवोकेट हैं । सत्यवतीजी की अवस्था इस समय २३ वर्ष की है । देशभक्ति का पाठ आपने अपने माता-पिता विशेषकर माता और नाना तथा मामा (प्रो० इंद्र) के संसर्ग से पढ़ा । सन् १९२१ ई० के सत्याग्रह-आंदोलन के समय भी आपने अपनी माता श्रीमती वेदकुमारी के साथ काम किया था । उस समय आप पंजाब-विश्वविद्यालय की प्राज्ञ-परीक्षा के लिये तैयारी कर रही थीं, लेकिन असहयोग आरंभ हो



श्रीमती सत्यवती
(अपने बच्चों सहित)

जाने के कारण फ़ीस दाख़िल कर देने पर भी, लाला धनीरामजी ने आपको परीक्षा में नहीं बिठाया ।

आज से ९ वर्ष पूर्व जो अंकुर सत्यवतीजी के हृदय में पैदा हो चुका था, वह अनुकूल समय पाकर लहलहा उठा । दिल्ली के महिला-समाज में—और महिला-समाज में ही क्यों, सर्वसाधारण में—आज जो जीवन है, उसके उत्पन्न करने में आपका बहुत बड़ा भाग है । आंदोलन के आरंभ से ही आप घर-बार और अपने दोनों बच्चों के मोह को त्याग दिन और रात काम करती रहीं । दिल्ली नगर की महिलाओं को खद्दर के रंग में रँग दिया और परदे में रहनेवाली अनेक देवियों को बाहर आंदोलन में सम्मिलित किया है ।

२४ मई को आप दफ़ा १०८ के मुताबिक़ गिरफ़्तार की गईं । आप पर मुक़दमा चला । आपसे "नेकचलनी" की ज़मानत माँगी गई ।

श्रीमती सत्यवतीजी ने अदालत की काररवाई में कोई भाग नहीं लिया, अलबत्ता एक लिखित बयान पढ़ सुनाया ।

श्रीमती सुनीति मित्रा

श्रीमती सुनीति मित्रा बी० ए० हैं । सन् १९२० ई० में वह कलकत्ता-विश्वविद्यालय में इस क्लास की एक प्रतिभाशालिनी छात्रा थीं । उस समय आपका नाम



श्रीमती सुनीति मित्रा

कुमारी सुनीति चटर्जी था। युनिवर्सिटी से ग्रेजुएट होकर निकलने के बाद बंगाल-प्रांतीय शिक्षा-विभाग में बालिका-विद्यालयों की इंस्पेक्ट्रेस नियुक्त हुईं। इतने ही में महात्मा गांधी ने असहयोग-आंदोलन प्रारंभ किया। आपने उसी समय सरकारी नौकरी छोड़ दी।

कर्म-पथ की पथिक

उस समय देश के महिला-समाज में बहुत कम जागृति थी। सन् २१ में कलकत्ते में स्वर्गीय देशबंधु-दास की धर्मपत्नी श्रीमती वासंती देवी और देशबंधु की बहन श्रीमती उर्मिलादेवी बड़ी तत्परता से काम कर रही थीं। उन्होंने स्थानीय कांग्रेस-संगठन के अंतर्गत स्त्रियों के लिये "भारी कर्म-मंदिर"-नामक एक संस्था स्थापित कर रक्खी थी। आप भी इसमें सम्मिलित हो गईं और श्रीमती वासंतीदेवी एवं श्रीमती उर्मिलादेवी के साथ बंगाल के देहातों में भ्रमण करके वहाँ के स्त्री-समाज में ख़ूब काम किया।

इन दिनों कलकत्ते में असहयोग-आंदोलन ख़ूब ज़ोर पर था। प्रिंस आफ़् वेल्स आनेवाले थे, अतएव पुलीस ने आज्ञा जारी करके वालंटियर-टुकड़ियों को घूम-घूमकर खद्दर बेचने की मनाही कर दी थी। इस पर कांग्रेस की ओर से दल-के-दल स्वयंसेवक खद्दर बेचने के लिये बड़ा-बाज़ार की ओर भेजे गए। इसी दिन, ७ दिसंबर १९२१ ई० को दिन के क़रीब डेढ़ बजे कुमारी सुनीति देवी भी देश-बंधु की धर्मपत्नी और बहन के साथ खद्दर बेचने के लिये कुछ स्वयंसेवकों के साथ निकलीं और गिरफ़्तार हो गईं।

अधिकारियों ने तीनों महिलाओं से कहा कि वे ज़मानत पर छोड़ी जा सकती हैं, लेकिन इन्होंने इससे साफ़ इनकार कर दिया। तब वे विना शर्त के ही आधी रात के लगभग छोड़ दी गईं। इसके बाद भी कुमारी सुनीति चटर्जी काम करती रहीं। इसके बाद आंदोलन स्थगित हो गया।

गृहस्थी-प्रवेश

चार मास उपरांत, एप्रिल १९२२ ई० में, कुमारी चटर्जी ने कलकत्ते के 'इँगलिशमैन' के संपादकीय विभाग के श्रीयुत एन्० एम्० मित्र के साथ विवाह किया। मि० मित्र ने बाद को 'इँगलिशमैन' से नौकरी छोड़ दी और वह संयुक्त-प्रांत में भारत की समाचार-प्रसारक संस्था एसोशिएटेड प्रेस के प्रमुख प्रतिनिधि (Chief representative) नियुक्त हुए। श्रीमती सुनीति मित्र प्रयाग आ गईं और वहाँ के क्रास्थवेट-गर्ल्स-स्कूल में अध्यापिका हो गईं। श्रीयुत मित्र ने, जो घरेलू कार्यों की वजह से कलकत्ते में रह गए थे, दिसंबर १९२२ ई० में एसोशिएटेड प्रेस-आफ़िस का चार्ज लिया। थोड़े समय बाद श्रीमती मित्र भी प्रयाग से लखनऊ चली आईं।

पुनः सार्वजनिक सेवा-क्षेत्र में

लखनऊ आते ही आपने स्त्री-शिक्षा और महिला-आंदोलन में गहरी दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी। वह हरिमती-गर्ल्सस्कूल की प्रबंधकारिणी की सदस्या निर्वाचित हुईं। लखनऊ-कांग्रेस-कमेटी में भी वह सम्मिलित हो गईं।

जब साइमन-कमीशन लखनऊ आया, तब आपने उसके बायकाट-आंदोलन में स्थानीय कांग्रेस-नेता बाबू मोहनलाल सक्सेना के साथ ऐसा काम किया कि लखनऊ में कमीशन का बड़े ज़ोरों से बायकाट हुआ।

गत म्युनिसिपल निर्वाचन के समय आप भी गणेश-गंज वार्ड की ओर से मेम्बरी की उम्मीदवार हुईं, और आपके प्रति लखनऊ की साधारण जनता का आदर-भाव इसी से कूता जा सकता है कि बहुत ज़्यादा वोटों से कामयाब हुईं। म्युनिसिपल बोर्ड की सदस्या की हैसियत से भी आपने अपनी योग्यता का परिचय दिया। इसके फलस्वरूप श्रीमती मित्रा बोर्ड की शिक्षा-समिति और शिशु-हितैषिणी समिति की सदस्या निर्वाचित हुईं। उन्होंने बोर्ड की कन्या-पाठशालाओं का पुनर्संगठन किया और नगर में शिशु-रक्षा के काम को ख़ूब बढ़ाया।

आंदोलन

ज्योंही सत्याग्रह-आंदोलन छिड़ा, श्रीमती सुनीति मित्रा उसमें कूद पड़ीं। वह कांग्रेस-कार्यकारिणी की मेम्बर बन गईं और सत्याग्रहियों में नाम लिखा लिया। १४ एप्रिल को बाबू मोहनलाल सक्सेना की गिरफ़्तारी के बाद श्रीमतीजी लखनऊ की डिक्टेटर मनोनीत हुईं। आपने विदेशी कपड़े की दूकानों पर बड़े ज़ोरों की पिकेटिंग संगठित की। २२ मई को श्रीमती मित्रा तथा १५ अन्य कार्य-कर्ताओं के नाम गिरफ़्तारी का वारंट निकला; लेकिन बाद को अधिकारियों ने किसी महिला को पकड़ने का विचार त्याग दिया, अतः श्रीमतीजी और श्रीमती बख़्शी बच गईं।

लखनऊ का हज़रतगंज मुहल्ला यहाँ की सिविललाइंस है। गवर्नमेंट ने विना आज्ञा प्राप्त किए, इस बस्ती में से जलूस ले जाने की मनाही कर दी है। लेकिन लखनऊ की सत्याग्रह-संचालिका श्रीमती मित्रा ने २५ मई को इस हलक़े में होकर जुलूस ले जाना तय किया। उन पर सरकारी परवाना जुलूस न निकालने के लिये तामील किया गया; लेकिन आपने पुलीस के आर्डर को नहीं माना। वह सबसे आगे जुलूस को लेकर चलीं। लेकिन जुलूस हज़रतगंज से अभी बहुत दूर था कि श्रीमती मित्रा गिरफ़्तार कर ली गईं।

लखनऊ के इन अत्याचारों की जो सरकारी तहक़ीक़ात हुई थी, उसमें इन ज़ुल्मों का पर्दाफ़ाश हो चुका है, और तहक़ीक़ाती जज ने स्वयं इनकी निंदा की है।

जेल-यात्रा

३० मई को श्रीमती मित्र सिटी मजिस्ट्रेट मि० बशीर सिद्दीक़ की अदालत में ज़िला-जेल में पेश की गईं। उन्हें ताज़ीरात हिंद की दफ़ा १४५ का अपराधी क़रार दिया गया, और ६ मास की सादी क़ैद सुना दी गई। श्रीमती सुनीति मित्रा ने मुक़दमे की कार्यवाही में कोई भाग नहीं लिया और सज़ा के हुक्म को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया। (क्रमशः)

मंगलदेव शर्मा



१. "कि"

यह एक छोटा-सा फ़ारसी-भाषा का शब्द है। उस भाषा में इसके कई प्रयोग हैं, जिनमें से प्रायः सभी उर्दू में और कई एक हिंदी में ले लिए गए हैं। बड़े ही आश्चर्य की बात है कि हम लोग 'अगर' के बदले 'यदि' और 'मगर' के बदले 'परंतु' लिख सकते हैं; पर इस छोटी 'कि' से अपना पिंड नहीं छुड़ा सकते। इस शब्द (फ़ारसी-व्याकरण के 'हर्फ़') ने हमारी भाषा की एक वाक्यरचना ही बदल डाली है। किसी विदेशी शब्द के पर्यायवाचक प्रयोग से भाषा की उतनी हानि नहीं होती, जितनी उसके रचनात्मक प्रयोग से होती है। मालूम नहीं, किस समय और अवसर से इस 'कि' का प्रयोग हिंदी में चला है। शब्द-शास्त्रियों को इस विषय की खोज करनी चाहिए। इस खोज से उस समय का पता लगेगा, जब से हिंदी पर उर्दू के प्रभाव का आरंभ हुआ है और यह प्रश्न हिंदी-भाषा के इतिहास की दृष्टि से बड़े महत्त्व का है।

फ़ारसी के अनुसार "कि" के जो प्रयोग केवल उर्दू में होते हैं, उनमें से कुछ ये हैं—

(१) संबंधवाचक—जैसे, "उनमें से एक बड़ा नाकंद, कि होनहार था, वह भी मुझे दिया"। "इस चौक के ग़रबी ज़िले में बहुत बड़ा दरवाज़ा है कि आसमान से बातें करता है"।

(२) संयोजक—जैसे, "बाज़े लोग, कि वह ... हिंदू थे, उनका यह क़ायदा था"। "रात को शमा काफ़ूरी रोशन हुआ करती थी कि उसके ऊपर से पानी की चादर पड़ती थी"।

(३) कारणवाचक—

"बग्घियाँ नूर की तैयार कर आए बूए समन।
कि हवा खाने को निकलेंगे जवानाने चमन।"
"नसीम जागो, कमर को बाँधो,
उठाओ बिस्तर कि रात कम है।"

इसी प्रकार की रचना राजा शिवप्रसाद की पुस्तकों में पाई जाती है; जैसे, सरकार ने जेनरल ...

लोनी को कि अब ख़िताब मिलकर सर डेविड अक्टर लोनी हो गया था, नैपाल पर चढ़ाई करने का हुक्म दिया"।

हिंदी में इस प्रकार के फ़ारसी-रूपी उदाहरण तो नहीं पाए जाते; पर और अनेक अर्थों में "कि" का प्रयोग पाया जाता है। उदाहरण के लिये यहाँ कुछ प्रयोग लिखे जाते हैं—

(१) स्वरूप-वाचक—जैसे, "उसने कहा कि मैं जाता हूँ"। "सुनते हैं कि कल मंत्री आवेंगे"।

(२) उद्देशवाचक—जैसे, "हम तुम्हें वृन्दावन भेजा चाहते हैं कि तुम उनका समाधान कर आओ"। "रसीद लिख दी कि सनद रहे"।

(३) विभाजक—जैसे,

"कज्जल के कूट पर दीप-शिखा सोती है,
कि श्याम घन-मंडल में दामिनी की धारा है।
बड़ा कि छोटा कुछ काम कीजे।
परंतु पूर्वापर सोच लीजे॥"

(४) संयोजक—जैसे, मैं जाने को ही था कि आप आ गए। वह अभी चार ही बरस का हो पाया था कि उसका बाप मर गया।

यद्यपि "कि" फ़ारसी का शब्द है, तथापि वह कई एक निरे हिंदी-शब्दों से भी मिलकर आता है; जैसे—क्योंकि, जो कि, यहाँ तक कि, इसलिये कि। फ़ारसी के चूँकि, हालाँ कि, ताकि, गोकि आदि शब्दों में "कि" का मिलना स्वाभाविक है; पर वह हिंदी-संबंधवाचक शब्दों से भी मिल जाता है; जैसे—जब कि, जहाँ कि, जैसे कि, जितना कि। कभी-कभी "कि" संबंध-वाचक शब्दों के पहले भी आ जाता है; जैसे—"किसी समय राजा हरिश्चंद्र बड़ा दानी हो गया है कि जिसकी कीर्ति संसार में अब तक छाय रही है।" "कौन-कौन-से समय के फेर इन्हें झेलने पड़े कि जिनसे ये कुछ के कुछ हो गए।" इस प्रकार के प्रयोग अब हिंदी में बहुत कम हो गए हैं; पर उर्दू में उनकी बहुतायत है।

हिंदी की पुरानी कविता में 'कि" का स्वरूपवाचक प्रयोग बहुधा नहीं पाया जाता। उसमें इसका केवल विभाजक प्रयोग मिलता है; जैसे—

"रखिहैं भवन कि लैहैं साथा"। (राम०)

"सत्व सत्वगुण को कि सत्य ही की सत्ता शुभ,
सिद्धि की प्रसिद्धि कि सुबुद्धि-वृद्धि मानिए।"
(कवि०)

रमा कि राधा कै गिरा गिरिजा कै रति जानि।
(भारती०)

इस "कि" के प्रयोग में एक विशेष बात यह है कि यद्यपि फ़ारसी में इसका विभाजक प्रयोग पाया जाता है; जैसे, "ईं किताब मी ख़ाही कि आँ" (यह किताब चाहते हो कि वह); तो भी उर्दू में 'या' के बदले 'कि' का प्रयोग बहुत कम मिलता है। कदाचित् वह अशिष्ट समझा जाता है। पर उसे हिंदी के गद्य में भी शिष्ट समझते हैं; जैसे—आप वहाँ जायँगे कि नहीं।

हिंदी के सिवा दूसरी पश्चिमी आर्य-भाषाओं में भी यह फ़ारसी "कि" किसी-न-किसी रूप और अर्थ में आती है, जिससे इस छोटे-से शब्द की व्यापकता स्पष्टतः प्रकट होती है। पूर्वी आर्य-भाषाओं में "कि" के बदले 'जे' का प्रयोग होता है; जैसे उड़िया में "से कहिला जे मूँ जिबि" (उसने कहा कि मैं जाऊँगा)। पुरानी मराठी में भी 'कि' के बदले 'जे' का प्रयोग पाया जाता है; जैसे—"तें थें लिहिलें होतें जे सल्ला करून तुम्हीं आम्हीं एक व्हावें" (मराठी व्याकरण)। हिंदी में भी कई स्थानों में "कि" के स्थान में "जो" आता है; जैसे—आपने बड़ी कृपा की जो यह पुस्तक मेरे पास भेजी। ऐसा न हो जो इंद्र यह समझे।

संस्कृत में "कि" का अर्थ सूचित करने के लिये "इति" के साथ अथवा अकेला "यत्" आता है; जैसे—सत्योयं जन प्रवादो यत् संपत्संपदमनुबध्नाति इति (यह जनप्रवाद सत्य है कि संपत् संपत् का अनुगमन करती है)। इसी यत् से हिंदी का "जो" और बँगला का "जे" निकला है। हिंदी में "जो" का प्रचार अब कम हो गया है—केवल कुछ विशेष अर्थों में रह गया है और उसके स्थान में उर्दू-फ़ारसी का "कि" आ गया है।

यत् और इति की सहायता से संस्कृत में प्रत्यक्ष-भाषण-संबंधी दो प्रकार की रचना होती है; जैसे—"सोऽब्रवीत्, यथेच्छं गम्यताम् इति"। "मया एतावन्तं कालं न ज्ञातं, यत् त्वम् अत्र वससि"। इनमें से 'इति'-वाली रचना का प्रचार हिंदी को छोड़ अन्य कई आधुनिक आर्य-भाषाओं में पाया जाता है; जैसे, मराठी—मी बघेन म्हणून तो म्हणाला [मैं देखूँगा (यह) कहकर वह बोला]। बँगला—आमि देखिब बलिया से कहिल। उड़िया—मूँ देखिबि बोलि से कहिला। इन भाषाओं

में 'यत्'-वाली रचना भी पाई जाती है ; परंतु हिंदी में केवल इसी पिछली रचना का प्रचार है। हमारी भाषा में 'इति'' के अर्थ का कोई अव्यय भी नहीं है; पर मराठी, बँगला आदि भाषाओं के प्रभाव से जब कभी हिंदी में ऐसी रचना आ जाती है, तब उसमें "यह" वा "ऐसा" का प्रयोग होता है, पर इससे पूर्णतः वह "इति-वाली" रचना के समान नहीं जान पड़ती ; जैसे—"मैं देखूँगा, यह (ऐसा) उसने कहा।" तथापि हिंदी-भाषा की प्रवृत्ति ऐसी रचना की ओर नहीं है। हिंदी की जिन बोलियों पर मराठी अथवा बँगला (वा उड़िया) का निकट प्रभाव पड़ा है, उनमें अवश्य इति-वाली रचना का समावेश हुआ है। मध्यप्रदेश में छत्तीसगढ़ी एक ओर उड़िया से और दूसरी ओर मराठी से घिरी हुई है; इसलिये उसमें यह रचना पाई जाती है ; जैसे, मैं देखिहौं कहिके ओ-हर कहीस। छत्तीसगढ़ के शिक्षित और नगर-निवासी जब खड़ीबोली बोलते हैं, तब वे उसमें अपनी मातृभाषा के प्रभाव से बहुधा ऐसी ही रचना का प्रयोग करते हैं ; जैसे, मैं देखूँगा करके उसने कहा।

यद्यपि हिंदी के प्रायः सभी प्राचीन काव्यों में "कि" का प्रयोग नहीं है, तथापि उनमें यत्-संबंधी रचना का अधिक प्रचार है। राम-चरित-मानस में कहीं-कहीं इति-वाली रचना भी पाई जाती है ; जैसे—

भरत भुआल होयँ यह साँची।

× × ×

रा अस नाम सुनत दशकंधर।

× × ×

सोहमस्मि इति वृत्त अखंडा।

संस्कृत के समान प्राकृत में भी "इति"वाली रचना का प्रचार अधिक है। इस भाषा के उदाहरणों में हमें 'यत्'वाली रचना के उदाहरण नहीं मिले। "कर्पूरमंजरी" (प्राकृत) से लिए गए इतिवाली रचना के कुछ उदाहरण ये हैं—

(१) सा देवण्णेहिं आदिट्ठा, एसा चक्कवट्टिघरिणी भविस्सदि त्ति। (सा दैवज्ञैरादिष्टा, एषा चक्रवर्त्तिगृहिणी भविष्यति इति)।

(२) वअस्स, सव्वं एदं भैरवाणन्दस्स विजम्भिदं त्ति तक्केमि। (वयस्य, सर्वमेतत् भैरवानंदस्य विजृम्भितम् इति तर्कयामि)।

प्राकृत के पश्चात् अपभ्रंश का समय आता है। इस भाषा के जो उदाहरण यत्र-तत्र उद्धृत पाए जाते हैं उनमें इति वाली रचना नहीं मिलती।

उसके स्थान में यत्-वाली रचना के उदाहरण अधिकता से उपलब्ध होते हैं; पर संयोजक शब्द 'जो' (यत्) का बहुधा लोप रहता है; जैसे—

"ढोल्ला, मइ तुहुँ वारिया, मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमही रत्तड़ी, दड़वड़ होइ विहाणु॥"

(प्रिय, मैं तुम्हें रोकती हूँ कि बहुत मान मत करो। निंद में रात बीत जायगी और जल्दी सबेरा हो जायगा।)

"बिट्टीए, मइँ भणिय तुहुँ, मा कुरु बंकी दिट्ठि।
पुत्ति, सकण्णी भल्लि जिव मारइ हिअइ पइट्ठि॥"

(हे बेटी, मैं तुझसे कहता हूँ कि तू टेढ़ी दृष्टि मत कर। हे पुत्री, यह नुकीले भाले के समान हृदय में पैठकर मारती है।)

"भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि महारा कंतु।
लज्जेज्जन्तु वयंसिअहु जई भग्गा घर एन्तु॥

[हे बहन, अच्छा हुआ जो मेरा कन्त मारा गया, (क्योंकि) यदि वह भागा हुआ घर आता, (तो) मैं सखियों में लज्जित होती।]

इन उदाहरणों में से केवल तीसरे में "कि" के अर्थ में 'जु' आया है; अन्य दो में उसका अध्याहार हुआ है, जैसा वर्तमान हिंदी-गद्य में कभी-कभी और प्राचीन पद्य में बहुधा होता है। यह "जु" संस्कृत के "यत्" का ही अपभ्रंश हो सकता है, "यदि" का नहीं; क्योंकि "यदि" का अपभ्रंश "जइ" इस उदाहरण की दूसरी पंक्ति में आया है। अपभ्रंश का यही "जु" वर्तमान हिंदी का "जो" है, जिसके बदले अब "कि" का प्रयोग अधिक होने लगा है।

पृथ्वीराज-रासो में भी जहाँ तक मैं पता लगा सका हूँ "कि" का उपयोग नहीं है; पर उसमें भी 'यत्'-वाली रचना पाई जाती है, जैसा कि नीचे लिखे उदाहरणों से प्रकट होता है—

उच्छिष्ट छंद चंदह वयन सुनत सुजंपिय नारि।
तनु पवित्त पावन कविय उकति अनूठ उधारि।
कवीं कव्वि चंद सु माधौ-नरिंद।
सुरतान भट्ट मधु-माद इंद॥

इन सब उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि अपभ्रंश में और उसके पश्चात्, प्राकृत की इतिवाली रचना का लोप हो गया और हिंदी-गद्य में "यत्" के बदले "जो" का प्रयोग होने लगा। फिर उर्दू में "कि" का प्रचार बढ़ जाने से समागम के कारण हिंदी में "जो" का प्रयोग कम हो चला और उसके स्थान में "कि" प्रयुक्त होने लगा। यह प्रयोगांतर कब से हुआ, इसका निर्णय एक स्वतंत्र खोज का विषय है; पर ऐसा अनुमान होता है कि "खड़ीबोली" के प्रचार के समय से ही "कि" के प्रयोग का आरंभ हुआ है। व्रजभाषा के प्राचीन गद्य में और संभवतः आजकल भी "कि" के बदले "जो" ही प्रयुक्त किया जाता है।

कामताप्रसाद गुरु

× × ×

२.विज्ञान-वैभव

गोलाकार ताश के पत्ते

अब इँगलैंड में गोलाकार ताश के पत्ते बनने लगे हैं। पत्तों में छः-छः जगह छापे और नंबर लगे रहते

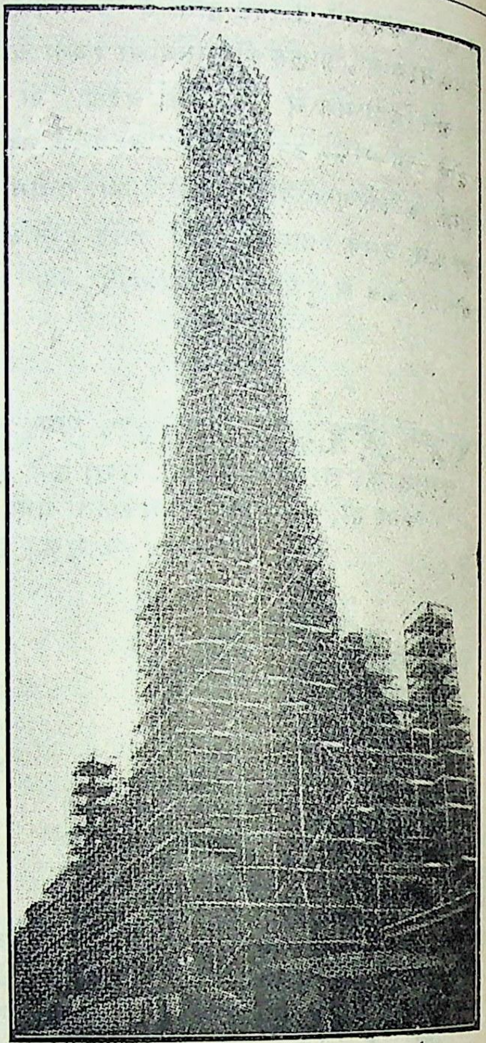


गोलाकार ताश के पत्ते

हैं, जिससे नंबर ताश की किसी भी अवस्था में सरलता से पढ़े जा सकते हैं। ताश के आकार में यह रद्दोबदल कई वर्षों के बाद हुआ है।

हवेलीनुमा स्वर्ग-निसेनी

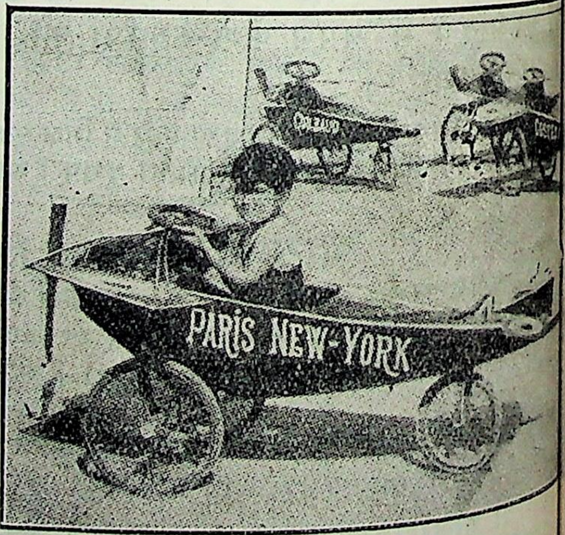
न्युयार्क शहर में कालेजिएट-चर्च के पासवाली सड़क पर भी आने-जानेवालों की भीड़ अधिक रहती है; इससे वहाँ दुर्घटनाएँ—ताँगा-मोटर से पैदल चलनेवालों का दबना तथा सवारी-से-सवारी का भिड़ना—होने की अधिक संभावना रहती है। ख़ास कर पैदल चलनेवाले बहुत दबा करते हैं; इससे वहाँ हवेलीनुमा स्वर्ग-निसेनी बना दी है, जिससे पैदल चलनेवाले ऊपर से जायँ और सवारियाँ नीचे से।



हवेलीनुमा स्वर्ग-निसेनी

बालकों के स्पर्द्धार्थ छोटे-छोटे पहिएदार हवाई जहाज़

फ्रांस ने हवाई जहाज़ बनाने में उन्नति क्या की—वहाँ के बालक भी हवाई-बुद्धि (Air-minded) वाले हो गए और होड़ बदकर छोटे-छोटे पहिएदार

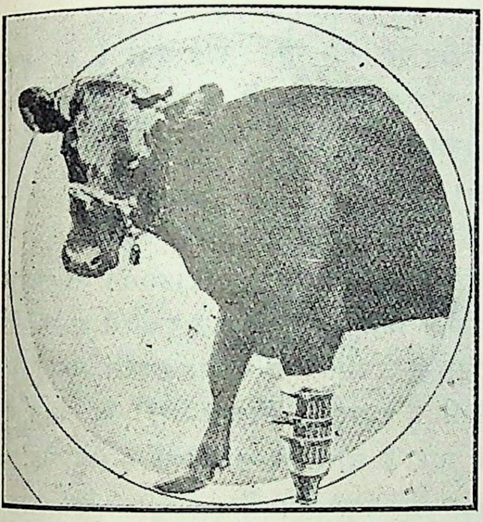


पहिएदार हवाई जहाज़

हवाई जहाज़ों में दौड़ लगाते हैं । इन पहिएदार हवाई जहाज़ों में तीन-तीन चक्के होते हैं । जिस प्रकार तिपहिया साइकिल और पैर-मोटर चलाई जाती है, उसी प्रकार ये पहिएदार हवाई-जहाज़ चलाए जाते हैं ।

लकड़ी के पैर से चलनेवाली गाय

डेन्मार्क की गाय जब किसी पैर से लँगड़ी हो जाती है या उसका कोई पैर टूट जाता है, तब उसके पैर की नाप से लकड़ी का पैर बाँध दिया जाता है । गाय बड़े मज़े में चलने लगती है । यहाँ एक गाय का चित्र दिया जाता है, जिसका एक पैर टूट गया था और



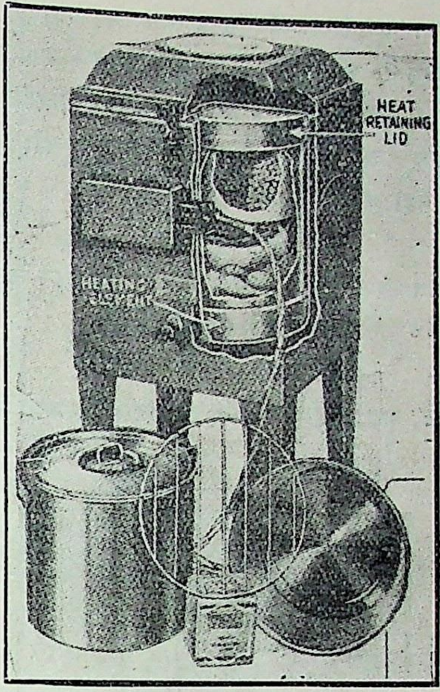
लकड़ी के पैर से चलनेवाली गाय

बेचारी को चलने में बड़ी तकलीफ़ होती थी ; पर जब से उसे लकड़ी का पैर मिल गया, तब से वह बड़े आनंद से चला करती है । कहते हैं, जिस प्रकार अन्य गाएँ चला करती हैं, वैसो ही यह भी बड़ी सरलता से चलती है ।

भारतीय तो गाय को अपनी मा के समान मानते हैं । भारत में ऐसी हज़ारों गाएँ होंगी, जिनके पैर भी किसी-न-किसी कारण से ख़राब हैं । अच्छा होता यदि उक्त गायों के मालिक भी अपनी-अपनी गाय के लिये लकड़ी का पैर बनवा देते ।

अजीब चूल्हा

यह मिट्टी का चूल्हा नहीं है, यह यंत्र है । इस यंत्र में छः मनुष्यों के लिये चार क़िस्म की तरकारियाँ और काफ़ी गोश्त एक ही समय में बना सकते हैं । बहुत जल्द और सुगंधित भोजन तैयार करनेवाला यह यंत्र बहुत ही उपयोगी है ।



अजीब चूल्हा

झाड़ू या कपड़ा

यह बुहारी बड़ी जल्दी तैयार हो जाती है और



झाड़ू या कपड़ा

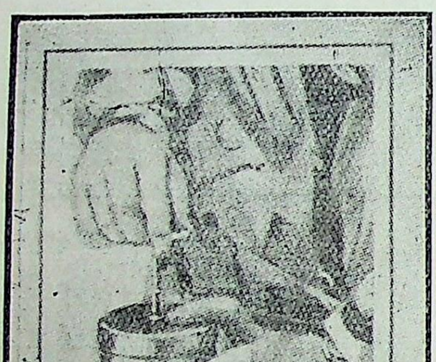
फ़र्श को इतनी अच्छी तरह साफ़ कर देती है, मानों फ़र्श कपड़े से पोंछ दिया गया हो । इससे दीवाल को भी झाड़ते हैं । दीवाल को यह खरोचती तथा खोदती नहीं । यह झाड़ू अड़चन की जगहों को जहाँ दूसरी बुहारी पहुँच नहीं पाती, झाड़ देती है ।

गुलाब का तेल

क़रीब एक औंस गुलाब के तेल के लिये लगभग ४०,००० गुलाब की कलियाँ चाहिए ।

झटपट भोजन बनानेवाला डब्बा

आटे, दूध और अंडे आदि की लपसी इस डब्बे में छोड़



झटपट भोजन बनानेवाला डब्बा

दी जाती है और एक छड़ से घोंटकर झटपट स्वादिष्ठ एवं बलवर्द्धक भोजन तैयार कर लिया जाता है ।

पुलिस के कालर में बम

लंदन की पुलिस को उनके कालर में रखने के लिये टेनिस की गेंद के बराबर बम का गोला दिया जाता है । ये पुलिसवाले जब देखते हैं कि चोरों की मोटर जा रही है, तब ये मोटर के चकों पर बम फेंक देते हैं, जिससे टायर के टुकड़े-टुकड़े हो जाते और मोटर के खड़ी होने पर वे उन्हें गिरफ़्तार कर लेते हैं ।

गाना गाकर जगानेवाली घड़ी

यह एक नई क़िस्म की घड़ी है, जो ग्रामोफ़ोन से जुड़ी रहती है । रात को अलार्म लगा दीजिए और



गाना गाकर जगानेवाली घड़ी

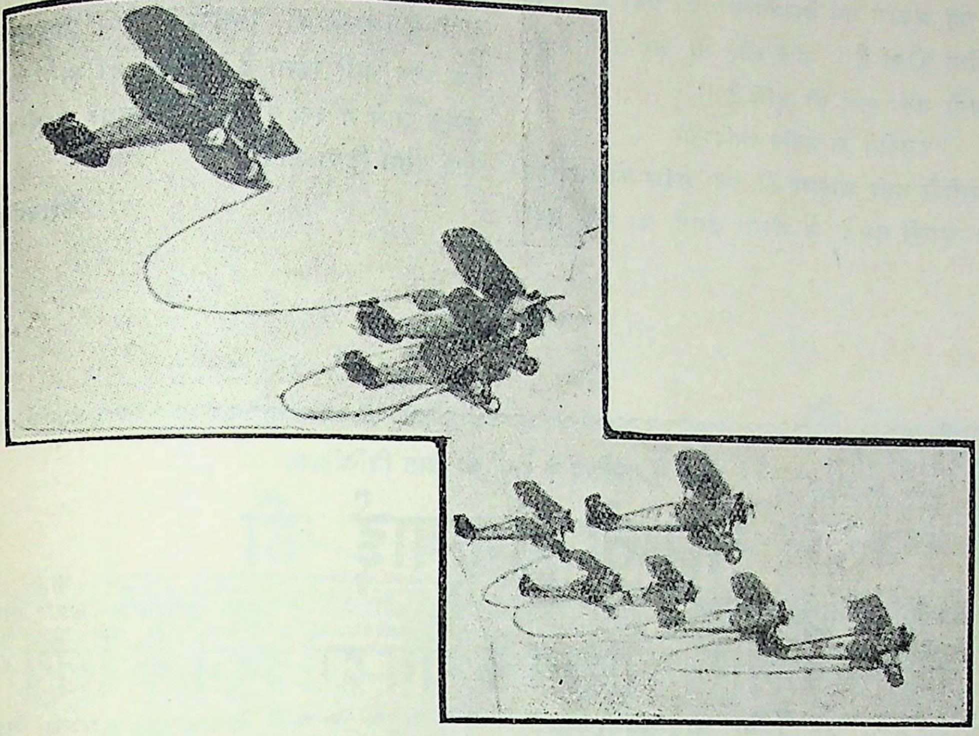
ग्रामोफ़ोन पर जो प्लेट आप सवेरे (या जब कभी आप चाहें) सुनना चाहें लगा दें ; आपको आपकी इच्छानुसार समय पर घड़ी गाना गाकर जगा देगी ।

नागफनी का विशाल वृक्ष

अर्जना रेगिस्तान (Arizona desert) के हिंदुस्तानी नागफनी के विशाल वृक्षों से शक्कर निकालते हैं । इसका उपयोग अधिकतर शरबत बनाने के काम में होता है । शरबत चिकनी मिट्टी के बर्तन में बंद किया जाता है और १-२ साल तक ख़राब नहीं होता । नागफनी के फल वर्ष में एक बार काटे जाते हैं । औरतें लाल और पके फल बाँसों से तोड़ती हैं । बाँसों में पत्थर के ढले हुए हुक (Hook) लगे रहते हैं । फलों से अँगूठी में लगे हुए नुकीले कीलों द्वारा (जो कुछ मुड़े रहते हैं) गूदा निकालते हैं । आधे दिन में एक मनुष्य (या औरत) लगभग १ सेर या ½ गैलन गूदा निकाल सकता है । मर्द लोग भट्ठी जलाते और गूदों के अर्क को तब तक उबालते हैं, जब तक वह बर्तन में रखने योग्य शरबत नहीं बन जाता । नागफनी के फल से अचार या मुरब्बे भी बनाए जाते हैं । बीजों की तरकारी बनती है । मुर्ग़ियों आदि के बच्चों को भी बीज चुनाते हैं ।

तीन-तीन हवाई जहाज़ों का आपस में बँधकर उड़ना

अब तीन-तीन हवाई जहाज़ आपस में ४० फ़ीट लंबे रस्से से बँधकर उड़ा करते हैं । इस तरह ख़तरे वाले उड़ावे में हवाई जहाज़ों का अग्रभाग कभी-कभी तो १५ फ़ीट के अंतर में आ जाता है । ये हवाई जहाज़

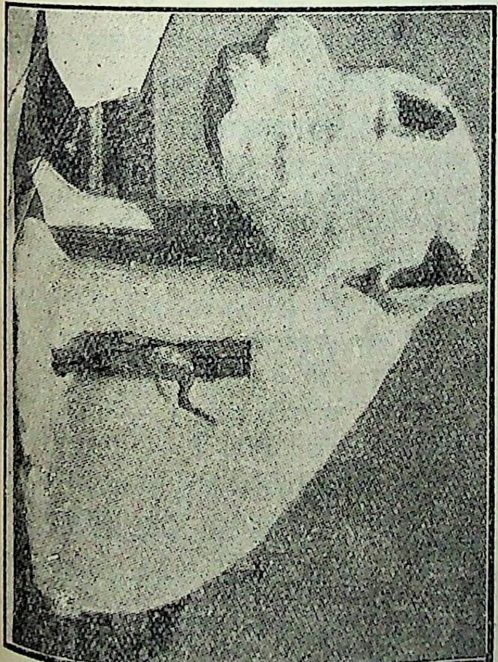


तीन-तीन हवाई जहाज़ों का आपस में बँधकर उड़ना

जब तीन-तीन के ग्रूप में उड़ते हैं, तब इनका नाम 'Vee of Vees रहता है ; किंतु जब नौ-नौ का ग्रूप रहता है, तब "V" कहलाते हैं।

डागहाउस

केलीफ़ोर्निया में एक ऐसा मकान है, जो कुत्ते की शक्ल का बना है। इसे 'डागहाउस' (Dog house)





इसतीरी का नवीन आविष्कार

कहते हैं। यह मकान नए देखनेवालों को बड़ा आश्चर्य-कारक प्रतीत होता है। कोई-कोई तो कह उठते हैं—वाह ! कितनी बड़ी कुत्ते की मूर्ति है !!

इसतीरी का नवीन आविष्कार

यह इसतीरी बड़ी आराम की तथा शरीर को सुरक्षित रखती है। इससे कपड़े में आग लगने का भय नहीं रहता। रस्सी आप-ही-आप भीतर की चर्ख़ों से निकलती जाती है। रस्सी की रफ़्तार के लिये चर्ख़ी-घर के ऊपर एक बटन लगा रहता है। काम हो जाने पर इसतीरी उसके खाने में रख दी जाती है तथा रस्सीवाले छेद में कार्क लगा दिया जाता है।

केशवप्रसाद वर्मा

जीवन-ज्योति

१. गौश उर्वा

'एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यक्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति'

—महाभाष्य

भारतवर्ष के इतिहास का माध्यमिक युग, जिसे हम दूसरे शब्दों में याज्ञिक काल भी कह सकते हैं, हमारे लिये एक अत्यंत दुर्बोध पहेली के समान है। इस पहेली का यथार्थ रूप समझने का प्रयास बहुत-से विद्वानों ने किया, मगर उस सारे प्रयास के बाद भी अगर हम ध्यानपूर्वक देखें, तो शायद किसी उर्दू-शायर की इस शेर को दोहरा देना कुछ अयुक्त न होगा—

……………मुद्दत से चूँचरा हुई ।
मगर ख़ुदा की बात जहाँ थी वहीं रही ।

भारतवर्ष सदा से धर्मप्रधान देश रहा है। धर्म ही उसकी जान है, धर्म ही उसकी शान है और धर्म ही उसका मान है। इसी धर्म की रक्षा के लिये एक दिन उसके सम्राट् महाराज हरिश्चंद्र ने उस अतुल ऐश्वर्य और भोग पर, उस अनंत वैभव और संपत्ति पर और उस चक्रवर्ती साम्राज्य पर लात मारकर एक चांडाल के यहाँ दासवृत्ति स्वीकार की । इसी धर्म के लिये मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र ने राजपाट ठुकराकर १४ वर्ष की घोर तपस्या—जिसका नाम लेते रूह काँप जाती है—करने के लिये जंगल का रास्ता पकड़ा था। हमारे इस याज्ञिक काल में भी भारतवर्ष का आदर्श वही था। वह अपने ध्येय पर अब भी उसी तरह अटल था, मगर उस धर्म के स्वरूप में—जो उसका अंतिम लक्ष्य था—अब भेद हो गया था। शरदऋतु की वह निर्मल और पवित्र धारा, जिसे देखकर देवता भी मुग्ध हो जाते थे, चक्र के विकराल परिवर्तन के साथ वर्षाऋतु की गँदली और भयानक तूफ़ानी धार के रूप में परिवर्तित हो गई थी, जिसे देखकर सहृदय पुरुष घृणा से मुँह फेर लेते थे। भारतवर्ष का 'अहिंसा परमो धर्मः' वाला सिद्धांत आज का नया सिद्धांत नहीं है और न यह भगवान् बुद्ध का चलाया हुआ पंथ है, बल्कि यह है महर्षि मनु का आदेश और भगवान् वेद की अटल आज्ञा । यही गंगा की निर्मल धारा थी, जिसने इस याज्ञिक काल में, 'वैदिकी हिंसा अहिंसा' के रूप में अपने उस विशुद्ध स्वरूप को, मलिनता में परिवर्तित कर दिया। भारतवर्ष के आदर्श—इस नवीन धर्म—'वैदिकी हिंसा अहिंसा' के नाम पर

तात्कालीन भारत में सचमुच हिंसा और अत्याचार का नग्न नृत्य हो रहा था, जिसे देखकर महात्मा बुद्ध की आत्मा रो उठी और एक आस्तिक राजवंश में पैदा होकर भी बुद्ध ने इस प्रकार के घृणित आदेश देनेवाले (बुद्ध की समझ में) वेदों से घृणा के साथ मुँह फेर लिया। संस्कृत-साहित्य की आलोचना के बाद अगर हम उस समय के किसी ग्राम या नगर का काल्पनिक चित्र अपने दिमाग़ में खींचें, तो उसे देखकर स्वयं हमारे रोंगटे खड़े हो जायँगे। यह संभव नहीं कि कोई भी सहृदय पुरुष उस अत्याचार और नृशंसतापूर्ण घृणित चित्र को देखने के बाद भी तत्कालीन वैदिक धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा और सहानुभूति क़ायम रख सके। थोड़ी देर के लिये उस समय के किसी अच्छे काल्पनिक शहर में घुसकर उसकी परीक्षा कीजिए। शहर में घुसते ही दिमाग़ सबसे पहले जलते हुए मांस की बदबू के मारे सड़ जायगा। कहीं घोड़े का मांस जल रहा है, तो कहीं गोमेध की आहुति में गाय काटकर जलाई जा रही है और कहीं इससे भी बढ़कर साक्षात् नरमेध की होलिका प्रदीप्त हो रही है। सड़क पर कहीं किसी की खोपड़ी पड़ी है, तो कहीं किसी की टाँग। एक ओर ख़ून से ज़मीन लाल हो रही है, तो दूसरी ओर चर्बी की भयानक दुर्गंध उठ रही है। याज्ञिक काल के वैदिक मतानुयायियों की इस आदर्श नगरी को देखकर ज़बान से बेअख़्तियार निकल पड़ता कि परमात्मा इस प्रेतपुरी में दुश्मन को भी न ले जाय। ख़ैर, जैसे-तैसे करके आप यहाँ से निकल भी गए और किसी गृहस्थ के घर अतिथि बने, तो सबसे पहले 'मधुपर्क' के द्वारा आपकी अभ्यर्थना की जायगी, और आपकी उस पूजा की सामग्री को जुटाने के लिये वह ग़रीब और

> अपि सदैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
> वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या भूतिमिच्छता॥

का कट्टर अनुयायी गृहस्थ सरतोड़ परिश्रम करके भी एक पवित्र और निरपराध वत्सतरी बछिया को लाएगा, उसके गले पर धर्म के नाम पर हँसते-हँसते ज़हरीली कटारी फेर देगा; क्योंकि यही 'समांसो मधुपर्कः' धर्म का आदर्श है और यही भगवान् वेद की आज्ञा है। सारांश यह कि उस शहर को शहर के बजाय बूचड़ख़ाना कहने में भी शायद अत्युक्ति न होगी। आजकल के शहरों में बूचड़ख़ानों की संख्या एक-दो करके उँगलियों पर गिनी जा सकती है, मगर याज्ञिक काल के नगरों का प्रत्येक घर बूचड़ख़ाना बना हुआ था। और उस पर भी ख़ुसूसियत यह कि यह सब था केवल धर्म के नाम पर और वेद की दुहाई देकर!

हमारा विश्वास है कि वेद-ज्ञान ईश्वरीय देन है, वह अक्षय ज्ञान का भंडार है, उसमें मानव-जीवन की उपयोगिनी समस्त विद्याएँ मूलरूप में पाई जाती हैं और उसका उद्देश्य संसार में सुखसमृद्धि की वृद्धि एवं मानव-जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करना है। इस प्रकार के वेदों से इस निर्दयतापूर्ण शिक्षा या आज्ञा की आशा करना नितांत अयुक्त है। यह हम केवल अपने विश्वास के आधार पर ही नहीं लिख रहे हैं, बल्कि वेदों के मर्मज्ञ ऋषियों की साक्षियों के आधार पर ज़ोरदार शब्दों में कह सकते हैं कि भगवान् वेद ने आज तक कभी ऐसी आज्ञा नहीं दी। यह सब करतूत सिर्फ़ भाष्यकारों और टीकाकारों के दिमाग़ की कल्पना है, जिन्होंने वेदों के अर्थ को —

> जाकी रही भावना जैसी,
> प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।

समझ लिया है। टीकाकारों और भाष्यकारों के दिमाग़ में एक भूत घूम रहा था। उन्होंने जहाँ गोमेधशब्द देखा, झट उसका अर्थ गौ काटकर किया जानेवाला यज्ञ कर दिया। और, अब संस्कृत के विद्यार्थियों के यह संस्कार इतने प्रबल हो गए हैं कि उनके सामने जब गोमेध शब्द आता है, तो वह इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते कि 'गोमेध' शब्द का इससे अच्छा एवं सुसंगत कुछ और भी अर्थ हो सकता है।

संस्कृत-साहित्य के विद्यार्थियों के लिये इस प्रकार की समस्याओं का सामना करना एक साधारण-सी बात हो गई है। अपने विषय का अध्ययन करते समय उनके सामने इस प्रकार की न-जाने कितनी समस्याएँ उपस्थित होती रहती हैं, जिनका हल न उनके पास है और न उनके गुरुओं के और अगर अत्युक्ति न समझी जाय, तो इससे एक क़दम और आगे बढ़कर मैं कह सकता हूँ कि उन समस्याओं का कोई ऐसा हल सारे संस्कृत-साहित्य के पास नहीं, जो दृढ़ता-पूर्वक विषय को स्पष्ट कर सके। मगर हाँ, Comparative study of religions

विद्यार्थी के लिये इस प्रकार की पहेलियों की जटिलता कुछ कम अवश्य हो जाती है ।

इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं कि वैदिक धर्म दुनिया के सारे धर्मों में सबसे प्राचीन है । और अब भारतीय और पाश्चात्य Researches ने इस बात को सिद्ध कर दिया है कि वैदिक धर्म ही सब धर्मों का आदिस्रोत है। इसलिये प्रायः हर एक धर्म पर वैदिक धर्म की गहरी छाप लगी हुई है और वैदिक धर्म के बहुत-से सिद्धांत एवं उपाख्यान ज्यों-के-त्यों संसार के अन्य धर्मों में पाए जाते हैं। वैदिक धर्म के बहुत-से ऐसे सिद्धांत हैं, जिनका प्रारंभिक युग अत्यंत उज्ज्वल और पवित्र था; परंतु काल-चक्र के परिवर्तन के साथ-साथ उनका विशुद्ध स्वरूप भी विकृत होता गया और इस प्रकार वैदिक धर्म के उस सिद्धांत का विशुद्ध रूप, बजाय वैदिक साहित्य के, उस-उस धर्म के साहित्य में सुंदर और उज्ज्वल रूप में देखने को मिलेगा । हम अपने आज के गोमेध-यज्ञ के सिद्धांत को भी अगर इसी कसौटी पर कसें, तो हम देखेंगे कि वास्तव में उसका अपना स्वरूप क्या है और वह कितना उज्ज्वल है । नीचे की पंक्तियों में हम गोमेध के उसी मनोरम रूप की एक झाँकी लेने का यत्न करेंगे ।

हमारे याज्ञिक काल के यज्ञों में गोमेधयज्ञ का स्थान बहुत ऊँचा है । भगवान् मनु ने इसका उल्लेख 'गो सव' शब्द से किया है ; यथा—

यजेत वाश्वमेधेन स्वार्जितं गोसवेनवा ।

इस गोमेध या 'गो सव' शब्द से, जैसा कि हम पहले कह आए हैं, उस यज्ञ का ग्रहण होता हो जिसमें गाय काटकर उसके मांस को आहुति दी जाती है। परंतु हमारी समझ में इस नृशंसतापूर्ण कार्य का आदेश न भगवान् वेद ने दिया है और न दे सकते हैं । हमारी इस राय के विरोध में विपक्षी, वेद से गोमेध शब्द निकालकर दिखाने का यत्न करेंगे, मगर इससे क्या । हम यह तो नहीं कहते कि वेद में गोमेध शब्द आया ही नहीं : हमारा कथन तो सिर्फ़ इतना है कि गोमेध स्वरूप यह नहीं जो इस समय माना जाता है । अपने इस कथन की पुष्टि के लिये हम गोमेध की परीक्षा अपनी पूर्व निर्दिष्ट कसौटी पर करना चाहते हैं ।

Zarostrian religion या पारसी-धर्म संसार का एक अत्यंत प्राचीन धर्म है । इस धर्म के विशेषज्ञों का कथन है कि इस धर्म के सिद्धांत वैदिक धर्म के सिद्धांतों से बिलकुल मिलते-जुलते हैं । और तो और, भाषाशास्त्र के पंडितों ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि—

The Avasta is written in a purely Aryan dilect, the elder sister of Sanskrit.

इसी संबंध में टिप्पणी करते हुए Asiatic Society के संस्थापक William Zones ने लिखा है—

When I persued the Zend glossory I was inexpressibly surprised to find six or seven words in ten are pure Sanskrit.

इसी पारसी-धर्म की धर्मपुस्तक ज़िन्दावस्ता 'गाथा' भाग के yooxxixवें एक उपाख्यान आता है, जो हमारे गोमेध के साथ बहुत कुछ टक्कर खाता है । हम अवस्ता के उस सारे लंबे-चौड़े प्रकरण को उद्धृत न करके Martin Maug के शब्दों में उसका सारांश उद्धृत करते हैं—

The Geushurva, the soul of animated creation, was crying aloud in consequence of attacks made upon his life, and innploring the assistance of the archangels...............
............Mazda answered that Geushurva was being cut into pieces for the benefit of the agriculturists................

कुछ और आगे बढ़ डा० माग ने इस प्रकरण पर अपनी टिप्पणी करते हुए लिखा है कि—

Geushurva means the universal soul of the earth, the cause of all life and growth. The literal meaning of the word 'soul of the cow' inplies a simile; for the earth is compared to a cow. By its cutting and dividing ploughing is to be understood.

The meaning of the decree issued by Ahura mazda and the heavenly council is that the soil is to be tilled.

इन दोनों उद्धरणों से हम इस परिणाम पर बड़ी सरलता से पहुँच सकते हैं कि पारसी-धर्म का वह उपाख्यान—जिसमें गाय के मारे जाने का उल्लेख आता है—और जो दूसरे शब्दों में गोमेध का रूपांतर है—आलंकारिक रूप से कृषि का उपदेश देता है ।

हमारी समझ में ठीक यही explanation वेदों में आए गोमेध शब्द के साथ भी बड़ी सुंदरता के साथ जोड़ा जा सकता है। वैदिक साहित्य के 'गोमेध' शब्द का 'गो' पारसी-साहित्य में अपने साथ उर्वा जोड़कर 'गौश उर्वा' के रूप में परिवर्तित हो जाता है और 'मेध' में मेद्ध हिंसापादवाले भाव की भी व्याख्या 'attack on his life' कर रहा है। फलतः वैदिक साहित्य का 'गोमेध' (गौ की हिंसा) और पारसी 'गौश उर्वा की हत्या' एक ही वस्तु के दो भिन्न रूप हैं।

'गोमेध' शब्द की पद (कृषिरूप) व्याख्या हमारी अपनी कल्पना नहीं है, बल्कि यह है एक सचाई, जिसका प्रकाश बीसवीं सदी के विधाता ऋषि दयानंद ने किया था।

स्वामी दयानंद के इस अर्थ ने वेदों के ऊपर से एक भारी कलंक का धब्बा मिटा दिया और 'गोमेध'-यज्ञ का यथार्थ और उज्ज्वल चित्र हमारे सामने रख दिया। मगर यह थी शायद सिर्फ़ Outlines—एक अस्पष्ट चित्र—उसमें गोमेध-यज्ञ के सौंदर्य का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। सिर्फ़ Outlines और एक सर्वांग सुंदर चित्र में जितना अंतर है, उतना ही अंतर ऋषि दयानंद के गोमेध और उसके यथार्थ स्वरूप में था। आज इस 'गौश उर्वा' ने उस चित्र में रंग दे दिया है और इस 'गौश उर्वा' की बदौलत वैदिक साहित्य का 'गोमेध'-यज्ञ आज अपने यथार्थ और पूर्ण विकसित रूप में हमारे सामने उपस्थित है।

सूर्य की किरणें स्वयं नहीं दिखतीं। वह जब किसी वस्तुप्रतिक्षिप्त होकर लौटती हैं, तभी उनका ज्ञान होता है—वैदिक गोमेध का यथार्थ स्वरूप संस्कृत-साहित्य में नहीं दिखा, मगर 'गौश उर्वा' पद से प्रतिक्षिप्त होकर वह जगमगा उठा।

विश्वेश्वर

× × ×

२. भक्ति से मुक्ति

संसार के प्रत्येक प्राणी को दुःख के कारण जीवन दुःखमय प्रतीत होता है। उससे बचने के लिये वह कई प्रकार के उपाय सोचता है।

शारीरिक, मानसिक और प्राकृतिक, जिन्हें आधि, व्याधि और उपाधि कहते हैं, आधिभौतिक दुःख कहलाते हैं। दो प्रकार के दुःख और हैं, जिन्हें आधिदैविक और आध्यात्मिक कहते हैं। इन दुःखों से मुक्त होना ही मोक्ष कहलाता है। इन दुःखों का प्रतीकार कैसे किया जाय, इस पर अनेक आचार्यों ने भिन्न-भिन्न विचार दिए हैं। जिस तरह जैसा रोग हो वैसी ही औषध दी जाती है, उसी तरह जीव को जैसा दुःख होता है, उसी प्रकार उससे मुक्त होने का उपाय भी किया जाता है। दुःख का संबंध संसार के साथ है और संसार का अंत मुक्ति पाने पर होता है, इसलिये संसार से अलग होने के लिये मुक्ति की आवश्यकता है।

वेद-ग्रंथों में मुक्ति के कर्म, ज्ञान और भक्ति ये तीन उपाय बतलाए हैं। इन तीनों में कौन-सा श्रेष्ठ है, इसका विचार कई आचार्यों ने किया है। जिस प्रकार वैदिक विज्ञान में नवयुग नई-नई खोज कर रहा है, उसी तरह दुःख-निवृत्ति किस तरह हो, इस पर भी खोज हुई है।

सांख्यशास्त्र के रचयिता कपिल मुनि ने ऐसा माना है—प्रकृति और पुरुष के संबंध से संसार उत्पन्न होता है। प्रकृतिजाल में जीव पकड़ा जाता है और इसी कारण उसे दुःखाऽनुभव करना पड़ता है। इसलिये प्रकृति-पुरुष का संबंध ही न होने देना चाहिए। सत्त्व, रज और तम, इन भेदों से प्रकृति त्रिगुणात्मक है। इन गुणों के कारण पुरुष उस पर मोहित होकर कर्म में प्रवृत्त होता है। कर्म की प्रवृत्ति दुःख का मूलकारण है। कर्मप्रवृत्ति से दूर रहना ही मुक्ति का मुख्य साधन है।

योगशास्त्र-प्रणेता महर्षि पतंजलि का मत है कि केवल कर्म से दूर होकर ही मनुष्य मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता; इंद्रिय-निग्रह की भी आवश्यकता है, क्योंकि इंद्रियाँ बिना लगाम के घोड़े हैं। योगसाधन के द्वारा इन्हें वश में कर, समाधिस्थिति को प्राप्त होकर, आधिदैविक रूप में निमग्न होता हुआ संसार से निवृत्त हो जाता है।

नैयायिक तथा वैशेषिक सिद्धांतियों ने "ज्ञान द्वारा मोक्ष होता है" ऐसा माना है। यह ज्ञान कई प्रकार से उत्पन्न होता है। फिर भी उसके दो मुख्य भेद हैं। पहला विद्या और दूसरा अविद्या। अविद्या से वास्तविक वस्तु का ज्ञान नहीं होता, इसलिये विद्या से अविद्या का नाश कर लेना ही दुःखनिवृत्ति है।

जैमिनि मुनि ने यह लिखा है कि "कर्म के अनुसार ही मनुष्य को दुःख भोगने पड़ते हैं" इसलिये ऐसे कर्म करे, जिससे दुःख की निवृत्ति हो। बस, यही स्वर्ग है।

बादरायण व्यास के विचार इन विचारों से पृथक् हैं। आपने मोक्ष-प्राप्ति के लिये ज्ञान को मुख्य माना है।

वेद के पूर्व कांड में यज्ञ का वर्णन है, परंतु वेद का रहस्य केवल पूर्वकाण्ड में ही नहीं है; उपनिषद् भी वेद का ही अंग है। उन्हें भी देखना चाहिए। वहाँ (उपनिषदों में) ज्ञान को मुख्य माना है। इसलिये दुःख-समुद्र को पार करने के लिये ज्ञानरूपी नौका की आवश्यकता है। व्यासजी के बनाए हुए ब्रह्मसूत्र इस बात का अच्छी तरह से प्रतिपादन कर रहे हैं। इन सूत्रों का रहस्य जानने के लिये अनेक आचार्यों ने अपनी-अपनी बुद्धि का चमत्कार दिखाया है, पर वे शंकराचार्य-लिखित भाष्य के सानी न हुए। आदि-आचार्य श्रीशंकरजी ने ही इस पर उत्कट भाष्य लिखा है।

जिस समय संसार में बौद्ध-धर्म के प्रचार से वैदिक धर्म का अनादर होने लगा था, श्रीशंकराचार्यजी ने ही वैदिक धर्म की स्थापना की थी।

श्रीशंकराचार्यजी के विचार से "मुक्ति साध्य नहीं किंतु सिद्ध है।" अज्ञान के कारण जीव निर्मुक्त रहता है और ज्ञानप्राप्ति के अनंतर मुक्त समझने लगता है।

श्रीमद्वल्लभाचार्य ने भक्तिमार्ग का उपदेश दिया। वेद के मुख्य दो काण्डों की ओर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि एक में कर्म और दूसरे में ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। परंतु वेद का तात्पर्य यहीं पर पूरा नहीं हो सकता। एक और भी उपाय वेद में कहा गया है और वह भक्ति है। यहाँ पर प्रेमलक्षणा भक्ति का उदाहरण दिया जाता है।

"पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तं स्पृशाति त्वा
शवसावन् मनीषा। ऋ० मं० १-११-५-११

अर्थात् "हे बलिष्ठ प्रभो! जिस तरह पतिप्रेमा स्त्रियाँ

पति का स्पर्श करती हैं, उसी प्रकार मेरी वृत्तियाँ भी आपका स्पर्श करती हैं।'' इससे यह भी सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण की भक्ति अत्यंत प्राचीन है।

कर्मयोग से मुक्ति होना इस कलियुग में अत्यंत दुर्लभ है। कारण, कर्मानुष्ठान के लिये मंत्र, द्रव्य, हवनकर्ता, देश ये सब शुद्ध होने चाहिए। यदि भाग्य से मिल भी गए, तो ''स्वर्ग कामो यजेत'' के अनुसार स्वर्गप्राप्ति के सिवा और कुछ नहीं; क्योंकि ''क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति'' इत्यादि वाक्यों से यह ज्ञात होता है कि पुण्य-क्षय होने पर फिर मृत्युलोक की शरण लेनी पड़ती है। इसलिये केवल ज्ञानमार्ग को ही मुक्ति का साधन मानना पड़ेगा। परंतु यह भी ठीक नहीं जँचता। कारण, ''ज्ञानमार्ग'' में प्रपञ्च से दूर रहना पड़ता है, अर्थात् गृहस्थाश्रम को छोड़कर संन्यास धारण करना पड़ता है, और संन्यासी का ज्ञानमय जीवन हो जाता है और ''अहं ब्रह्मास्मि'' का भाव हृदयपटल पर पूर्ण रीति से अंकित हो जाता है। इसी तरह मानते-मानते वह ब्रह्म में लय हो जाता है। इस प्रकार वहाँ मोक्ष की प्राप्ति होता है।

परंतु इस प्रकार की दुःखनिवृत्ति से क्या लाभ? जिस तरह बाँस के जल जाने पर भस्म शेष रह जाता है, उसी तरह ज्ञान से पूर्ण मोक्षप्राप्ति नहीं होती। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

''क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥''

गी० अ० १२ श्लोक ५।

उन सच्चिदानंद घन, निराकार, ब्रह्म में आसक्त चित्त-वाले पुरुषों के साधन में क्लेश अधिक होता है, क्योंकि देहाभिमानियों द्वारा अव्यक्त-विषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है, अर्थात् जब तक शरीर में अभिमान रहता है, शुद्ध सच्चिदानंद घन, निराकार ब्रह्म में स्थिति होना कठिन है।

''ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायंत उपासते॥ ६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

अर्थात्—जो सब कर्मों को मुझे अर्पण कर अनन्य भक्ति से मुझे भजते हैं, हे अर्जुन! मैं उनको शीघ्र ही इस असार-संसार के बंधन से मुक्त कर देता हूँ''—इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कर्म और ज्ञान-मार्ग से भक्ति में कहीं विशेषता है। कर्मज्ञान का उपदेश केवल ब्राह्मण, वैश्य और क्षत्रियों को ही दिया जा सकता है, अन्य को नहीं, ऐसा शास्त्रांतर में मिलता है। इस तरह यदि शूद्र और स्त्रियों को अलग कर दिया जाय, तो बेचारों का उद्धार ही न होगा। वे निरंतर दुःख ही भोगा करेंगे। इसलिये उनके उद्धार के मार्ग की भी आवश्यकता है।

भले ही शूद्रों और स्त्रियों को कर्मज्ञान का उपदेश न दे सकें, परंतु भक्ति का अधिकार सबको है। कर्म और ज्ञान प्रत्येक के उपयोगी नहीं हो सकते, इसलिये—

''स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम्।''

के अनुसार सर्वसाधारण के लिये भक्ति ही एक मोक्ष-प्राप्ति का सच्चा मार्ग है।

मनुष्य का उद्देश्य उस मोक्ष से नहीं है, जिससे पुण्य का क्षय हो और फिर संसार की शरण लेनी पड़े, इसलिये मोक्ष से भी अधिक फलप्राप्ति की इच्छा के लिये भक्ति ही श्रेष्ठ है। भक्ति-साधन मोक्ष से अधिक फल देनेवाला है।

शांडिल्य-भक्तिसूत्र में कहा है कि ''ईश्वरेऽतीवानु-रागः स्नेहो भक्तिरभिधीयते''—ईश्वर में परम स्नेह को ही भक्ति कहते हैं।

पुष्टिसिद्धांतानुसार यह भक्ति दो प्रकार की है—(१) शीतला और (२) उष्णा। शीतला भक्ति में भाव की शिथिलता रहती है और उष्णा भक्ति में भक्त का हृदय विरह के कारण क्षण-क्षण में दीर्घ और उष्ण निःश्वास निकालता है, प्रेम से विह्वल हो जाता है। नारदादि की भक्ति शीतला कही गई है। गोपियों की भक्ति उष्णा कही गई है। उष्णा भक्ति ही श्रेष्ठ है, इसलिये उसी का उदाहरण यहाँ दिया जाता है।

रास-क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्ण भगवान् जब गोपियों के मंडल में से अंतर्धान हो गए, तो गोपियाँ अत्यंत व्याकुल हो गईं। जिस तरह हथिनियों की टोली से हाथी बिछुड़ जाता है, उस समय जो हथिनियों की दशा होती है, इनकी अवस्था उससे भी बढ़ी-चढ़ी थी। उन्होंने श्रीकृष्ण को ढूँढ़ने का प्रयत्न

गीं । वन-वन उन्मत्त की भाँति फिरने लगीं ! वृक्षों वनस्पतियों से पूछने लगीं । हे वट-वृक्ष ! हे पीपल ! उदुंबर ! तुमने प्रेम तथा हास्य से हमारे चित्त को हरनेवाले श्रीकृष्ण को देखा है ? यदि देखा है, तो बताओ हमें कहाँ मिलेंगे ? हे अशोक ! हे कदंब ! तुमने हमारे मन को हरण करनेवाले श्रीबलदाऊजी के छोटे भइया श्रीकृष्ण को यहाँ से जाते हुए देखा है ? हे तुलसी ! तू निरंतर श्रीकृष्ण के चरण-कमलों में रहती है, तूने तो हमारे श्रीकृष्ण को अवश्य देखा होगा । हे लताओ ! तुमने हमारे हृदय के भाव को जाननेवाले श्रीकृष्ण भगवान् को देखा है । जब इन प्रश्नों का किसी ने उत्तर नहीं दिया, तब गोपियाँ श्रीयमुनाजी की रमण-रेती में कृष्ण का गुण-गान करने लगीं । यहाँ तक कि गाते-गाते उन्हें । नेत्रों से अश्रुपात होने लगे । कंठ गद्गद् हो गए । श्रीकृष्ण भगवान् ने, जो अदृश्य रूप से सब कार्य देख रहे थे, विचार किया कि अब इनका अहंकार चूर्ण हो गया है । इनमें दैन्यभाव पैदा हो चुका है । अब अधिक विलंब करने से ये प्राण छोड़ देंगी । इस प्रकार सोचते श्री भगवान् प्रकट हो गए । यह है अनन्य भक्ति का गाढ़ परिचय । इसे कहते हैं उष्णा भक्ति ।

इस प्रकार की भक्तिवाले भक्त की युक्ति भी दूसरे प्रकार की है । इसे हम आत्यंतिक दुःख की निवृत्ति नहीं कह सकते । यह है अलौकिक आनंद का अनुभव । परब्रह्म अविच्छिन्न आनंदरूप है । उसके साथ सब प्रकार के मनोरथ सिद्ध करना कृष्णभक्ति के ही उच्छ्वास हैं । और इसे ही सर्वोत्कृष्ट मुक्ति या मोक्ष कहना चाहिए । अस्तु ।

भक्ति के और भी कई ऐसे उदाहरण हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि उस परब्रह्म परमात्मा की अनन्य भक्ति से इस असार संसार से मुक्ति पा ब्रह्मरूप अर्थात् साक्षात् परमात्मा हो जाता है और फिर संसार में उसका कोई काम बाक़ी नहीं रह जाता ।

आजकल की भक्ति और प्राचीन भक्ति में बहुत अंतर हो गया है । आजकल के भक्तों को तो—"टका धर्मष्टका कर्म टकैव परमं तपम् । यस्यगृहे टका नास्ति हा टका टकटकायते ।"—टके से मतलब है । बगला-भक्ति के सिवा इनको और कुछ भी नहीं सूझता । बताइए फिर मुक्ति कहाँ से हो ! इसलिये मुक्ति का पथ इस संसार में अत्यंत सीधा होते हुए भी कठिन-सा प्रतीत होने लगा है । इसका कारण यदि देखा जाय, तो केवल व्यभिचार-मात्र है ! व्यभिचार की सीमा इतनी बढ़ी हुई है कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं । यदि व्यभिचार से मनुष्य अपनी मनोवृत्तियाँ संकुचित कर ईश्वर में अनुराग करे, तो अवश्य वह "अंतर्यामी" उसे इस संसार से पार लगा देगा । भाइयो ! व्यभिचार छोड़ो और ईश्वर से प्रेम करो । बस, इस ज़माने में यही मुक्ति है !

के० एल्० तैलंग

× × ×

३. हिंदुओं की जाति-पाँति और इस्लाम का भारत-प्रवेश

माधुरी की पूर्ण संख्या ८४ में उपर्युक्त-शीर्षक से एक लेख श्रीसंतरामजी का प्रकाशित हुआ है । लेख को आद्योपांत पढ़ने पर उसमें प्रौढ़ विचार का पूर्ण अभाव ही पाया जाता है । लेखक ने ब्राह्मणसमाज को कोसने और उसे संसार की दृष्टि में हेय बनाने की भरपूर चेष्टा की है । लेख से लेखक के खोखले ज्ञान और अदूरदर्शिता का भी पूर्णतः पता चलता है । इस स्थल पर उनकी सभी बातों का उत्तर देना अनुचित है। संतरामजी ने कोई नई बात नहीं कही है । आजकल हवा ही ऐसी बह रही है कि लोग शांतचित्त से किसी भी विषय पर बिना विचार किए ही समाचारपत्रों में दौड़ने का साहस कर बैठते हैं और मनगढ़ंत बातों को लेकर आकाश-पाताल एक किया करते हैं । वे यह नहीं समझते हैं कि उनका उत्तरदायित्व कितना है और उनके विचारों का प्रभाव जनता पर कैसा पड़ सकता है । संतरामजी समस्त जीवों को प्रेम का पाठ पढ़ाने चले हैं, परंतु ब्राह्मणजाति के प्रति उन्होंने जैसे भाव प्रकट कर उसके विरुद्ध अन्य लोगों को भड़काने की चेष्टा की है, क्या इसे ही सच्चे प्रेम का आदर्श समझा जा सकता है ? क्या उनके ईसा और बुद्ध ने उन्हें यही आदर्श बताया है ? जो हो, संतरामजी से मेरा कुछ कहना-सुनना नहीं है । ब्राह्मणजाति के संबंध में वह जैसे भाव रक्खें, उन्हें मतस्वातंत्र्य है, परंतु अलीक लांछनों से किसी को लांछित करना और किसी जाति-विशेष के प्रति घृणा उत्पन्न कराना तो सभ्यता, कुलीनता और उच्च शिक्षा के आदर्श की परिधि के बाहर है ।

संतरामजी तथा इन्हीं की तरह अन्य कुछ लोग वर्ण-व्यवस्था को हानिकारक मानते हैं, परंतु इन्होंने वर्णव्यवस्था के तत्त्वों के अनुशीलन करने का कभी प्रयत्न ही नहीं किया है ।

अनुशीलन के विषय पर विशेष कुछ लिखना अनावश्यक है, क्योंकि अनुशीलन का मार्ग एक ही है और उसे भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में इस प्रकार बताया है—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥"

जिस जगह इस नियम पर ध्यान ही नहीं रक्खा जा[ता] है, वहाँ पर ज्ञान का काम ही क्या ।

फूट और प्रमाद का कारण वर्ण-व्यवस्था को बताना इतिहास का गला घोंटना है । यदि प्रमादरहित होकर कभी विचार किया जायगा, तो पता चलेगा कि एकता और शक्ति की उत्पादिका वर्ण-व्यवस्था ही है । हिंदू-ब्राह्म[णों के विरोधियों] निकों की तो बात दूर रहने दीजिए, पाश्चात्य विद्वा[न्] भी संतरामजी के उक्त विचारों से सहमत नहीं हैं । यहाँ पर मैं पाश्चात्य विद्वानों के मत का उल्लेख करूँगा, पर पाठकों को यह नहीं भूलना चाहिए कि जिन पाश्चात्य विद्वानों के मत यहाँ पर लिखे जायँगे, वे भी हिंदू-सभ्य[ता] को कोसने में संतरामजी से किसी प्रकार कम नहीं हैं, परं[तु] वे संतरामजी के गुरु हैं, जिनके बहुत-से भावों को लेकर संतरामजी तथा वैसे ही विचार रखनेवालों ने भारत में हो-हल्ला मचा रक्खा है । इतने पर भी वर्ण-व्यवस्था के भीतर जो बुद्धिमत्ता संचारित हुई है, उसका अनुभव किए बिना पाश्चात्य विद्वान् भी नहीं रह सके हैं । इन विद्वानों के मत के उल्लेख के पूर्व अँगरेज़ी में वर्णव्यवस्था के लिये व्यवहृत होनेवाले शब्द Caste (कास्ट) के संबंध में कुछ विचार कर लिया जाय । कारण, संतरामजी ने अपने उपर्युक्त लेख में Caste शब्द का जो अर्थ समझा है, उससे उनके अँगरेज़ी साहित्य के अधू[रे] ज्ञान का भी पता लगता है, परंतु अपनी कमज़ोरी का बिना अनुभव किए ही ज़बर्दस्ती किसी भले आदमी के पीछे पड़ उसे मूर्ख सिद्ध करने को उतारू होना एक शिक्षित कहे जानेवाले के लिये लज्जा की बात है । उनके अधूरे ज्ञान का कुफल समाज पर कितना पड़ेगा, इसका भी विचार उन्हें पहले करना चाहिए । Caste (कास्ट) के संबंध में संतरामजी ने लिखा है कि "नाई और नव्वाब श्रेणियाँ (Classes) हैं, ज्ञातें (Castes) नहीं। योरप में एक लुहार-लड़का........लार्ड (नवाब) बन सकता है । फिर वह लार्ड लोगों के यहाँ ब्याह-शादी कर सकता है" इत्यादि । इतिहास से पता लगता है कि १६वीं सदी में पोर्तुगाल के कुछ असभ्य नाविकों ने वर्णव्यवस्था का नाम Caste (कास्ट) रक्खा था । राइट आनरेबल श्री० मैक्समूलर के० एम्०-जैसे संस्कृत-साहित्य के प्रगाढ़ विद्वान् ने Caste (कास्ट) के संबंध में लिखा है—

"This term caste has proved most mischievous and misleading and the less we avail ourselves of it the better we shall be able to understand the true state of society in ancient times of India."

मोक्षमूलर का कहना है कि Caste (कास्ट) शब्द बहुत ही चतिकर और भ्रमपूर्ण सिद्ध हो चुका है और प्राचीन भारतीय समाज को समझने के लिये इस का जितना कम प्रयोग किया जाय, उतना ही अच्छा हमारे लिये होगा।

मोक्षमूलर ने तो यहाँ तक कहा है—

"To ask what caste means in India would be like asking what caste means in England or what fetish (feitico) means in Portugal."

अर्थात् यह पूछना कि Caste (कास्ट) का क्या अर्थ भारत में है, वैसा ही प्रश्न है जैसे विलायत में कास्ट (Caste) और पोर्तुगाल में Fetish (फेटिश) का क्या अर्थ है यह पूछना।

मैक्समूलर-जैसे धुरंधर विद्वानों ने Caste (कास्ट) के संबंध में जो मत प्रकाशित किया है, संतरामजी को उसका अनुशीलन करना चाहिए। जिन अँगरेज़ों ने भारतीय ग्रेजुएटों के दिमाग़ भ्रष्ट सिद्धांतों से बिगाड़ दिए हैं, आज उन्हीं विदेशियों में से एक विशिष्ट विद्वान् की प्रखर बुद्धि Caste (कास्ट) के संबंध में चकरा गई और उसे बाध्य होकर अपने भाइयों को, जो प्राचीन भारत का अध्ययन करने की अभिलाषा रखते हैं, इस कास्ट शब्द की बुराइयों से सावधान करना पड़ा है।

क्या हम आशा कर सकते हैं कि मोक्षमूलर के उपदेशानुसार संतरामजी तथा उन्हीं की जैसी धारणा के सज्जन अपने भ्रम को हटाने की चेष्टा करेंगे और व्यर्थ के दुराग्रह का आश्रय ले भोलीभाली जनता को अपने अज्ञान के अज्ञान-मार्ग में घसीटने का दुस्साहस नहीं करेंगे।

Dubois ने लिखा है—

"The division of the people into castes existed also amongst the Egyptians. With them as with the Hindus the law assigned on occupation to each individual which was handed down from father to son. It was forbidden for any man to have two professions or to change his own.

Each caste had a special quarter assinged to it and people of a different caste were prohibitted from settling there."

अर्थात् इजिप्ट में भी हिंदुस्थान की तरह वर्ण-व्यवस्था थी। हिंदुओं की तरह उनके क़ानून ने भी प्रत्येक मनुष्य का पेशा नियत कर दिया था, जो पीढ़ी दर पीढ़ी चलता था; एक मनुष्य को दो प्रकार के पेशे करने का अधिकार नहीं था और न वह अपना पेशा ही बदल सकता था। प्रत्येक वर्ण के लोगों के निवासस्थान निर्दिष्ट थे और एक वर्ण का मनुष्य दूसरे वर्ण के मुहल्ले में नहीं रह सकता था।

आगे चलकर Dobois ने कहा है—

And be it noted this plan of dividing the people into castes is not confined to the lawgivers of India.

"The wisest and most famous of all lawgivers, Moses, availed himself of the same institution as being one which offered him the best means of governing the intractable and rebellous people of whom he had been appointed the patriarch."

अर्थात् यह ध्यान में रखना चाहिए कि मनुष्यों का वर्ण-विभाग करना केवल हिंदुस्थान के क़ानून बनानेवालों के ही दायरे के अंतर्गत नहीं था। सबसे बुद्धिमान् और क़ानून के सर्वश्रेष्ठ पंडित Moses (मोज़ेज़) ने भी इस भेद का उपयोग किया था; क्योंकि शासन की उपेक्षा करनेवालों और नियंत्रण के विरुद्ध चलनेवालों के शासन का यही सर्वोत्तम साधन था; उसे भी ऐसे ही लोगों का शासक होना पड़ा था।

संतरामजी वर्णव्यवस्था के नाम से ही चिढ़ते हैं; क्योंकि उन्हें इसमें दूषण-ही-दूषण समझाया गया है। पर उन्हें इन पंक्तियों को ग़ौर से पढ़ना चाहिए—

"It must be remarked, however, that the four great professions without which a civilised nation could not exist namely the army, agriculture, commerce and weaving are held everywhere in the highest esteem."

अर्थात् फ़ौज, कृषि, व्यवसाय और कपड़े बुनना सर्वत्र ही बड़े आदर से देखे जाते हैं। इनके बिना किसी सभ्य राष्ट्र का अस्तित्व ही नहीं रह सका।

हिंदू-स्मृतिकारों की कृतियों से जिनका कुछ संबंध रहा है, वे यह कह सकते हैं कि प्रत्येक वर्ण के भिन्न-भिन्न कर्म उनके स्वाभाविक गुणों के अनुसार निर्णय कर उन महात्माओं ने भारतवासियों का कैसा उपकार किया है। ऊपर की बातों से यह स्पष्ट है कि जिन चार बातों को पाश्चात्य विद्वान् किसी जाति के जीवन के लिये परमोपयोगी समझते हैं, भारत के त्रिकालदर्शी महर्षि उनसे सूक्ष्म विचार के बल पर ऐसी व्यवस्था कर चुके हैं, जिन्हें जीवन के अस्तित्व के लिये कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता है। यह इसी सुव्यवस्था की पुष्ट नींव है, जिसके कारण अनादि काल से शत्रुओं के आक्रमण होने पर भी हिंदू-जाति का ढाँचा गिरकर धूल में नहीं मिल पाया है।

जिन मनुष्यों की सभ्यता का इतिहास अभी प्रारंभ ही नहीं हुआ, परंतु जो अपने को संसार में सभ्यता के चुडांत शिखर पर पहुँचा समझते हैं, उनको भी बाध्य होकर आर्य-सभ्यता की प्रशंसा और समाज-संगठन की नीति की प्रशंसा करनी ही पड़ती है।

Dubois ने एक स्थल पर कहा है—

"I have heard some persons sensible enough in other respects, but imbued with all prejudices that they have brought with them from Europe, pronounce what appears to me an altogether erroneous judgment in the matter of caste divisions amongst the Hindus. In their opinion caste is not only useless to the body politic, it is also ridiculous and even calculated to bring trouble and disorder on the people. For my part having lived many years in friendly terms with the Hindus I have been albe to study their national life and character closely and I have arrived at a quite oppoite decision in this subject of caste. I believe caste division to be in many respects the chef-dceuvre, the happiest effort of Hindu legislation. I am pursuaded that it is simply and solely due to the distribution of the people into castes that India did not lapse into a state of barbarism and that she preserved and perfected the arts and sciences of civilisation whilst most other nations of the earth remained in a state of barbarism."

अर्थात् अन्य प्रकारों से बुद्धिमान् परंतु योरप से लाए हुए अपने मिथ्या ज्ञान के कारण अपना मत Caste (कास्ट) वर्णविभाग के संबंध में जैसा प्रकट करते हैं, वह मुझे नितांत ही भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है। उनकी सम्मति में राजतंत्र में वर्णविभाग केवल व्यर्थ ही नहीं है, परंतु यह हास्यास्पद और लोगों में विपत्ति और उच्छृंखलता का कारण है। हिंदुओं के साथ मित्र-भाव से बहुत वर्षों तक मैं रहा हूँ और उनका राष्ट्रीय जीवन तथा उनके आचरण का पूरा-पूरा अध्ययन किया है और इस वर्णविभाग के संबंध में मैं उनसे ठीक विपरीत भाव रखता हूँ। मेरा विश्वास है कि हिंदू-क़ानून-निर्माण में वर्णव्यवस्था कई प्रकार से अत्यंत मनोहर उद्योग का फल है। मुझे यह दृढ़ विश्वास है कि वर्णविभाग के ही कारण हिंदुस्थान बर्बरता को नहीं पहुँचा है, उसने सभ्यता के ज्ञान और विज्ञान को पूर्ण किया और उन्हें सुरक्षित रक्खा। इसके विपरीत संसार की अन्य जातियाँ बर्बर अवस्था में रहीं।

अपने अनुभव से Dubois ने यह भी लिखा है—

"We can judge what the Hindus would have been like had they not been held within the pale of social duty by caste regulations, if we glance at neighbouring nations, west of the peninsula and east of it beyond the Ganges so far as China... After much careful thought I can discover no other reason except caste which accounts for the Hindus not having fallen into the same state of barbarism as their neighbours and as almost all nations inhabiting the Torid Zone."

अर्थात् भारत के पश्चिम और गंगा के पूर्व से चीन तक के राष्ट्रों की ओर एक दृष्टि डालने से यह पता लगेगा कि यदि वर्णविभाग के नियमानुकूल हिंदुओं को सामाजिक बंधनों के अंतर्गत नहीं रक्खा जाता, तो आज उनकी क्या दशा होती। बहुत विचार करने पर मुझे यही तथ्य मिला है कि अपने पड़ोसियों की तरह बर्बरता में न फँसने का कारण हिंदुओं के लिये वर्णविभाग के सिवा दूसरा कुछ नहीं है।

(क्रमशः)

धन्नूलाल शर्मा

संगीत और विनोद

स्वरकार—गौरीशंकरसिंह
(संगीत-मास्टर क्षत्रिय हाईस्कूल, जौनपुर)

राग दुर्गा—ताल झपताल

शब्दकार—जगदीशसहाय माथुर

गीत

कैसा सुदिन आज, सुंदर मधुर साज ।
सुनता विजयनाद, भारत मा जयतु ॥
सुत तेरे अति वीर, सहते कठिन पीर ।
गाते हैं गंभीर, भारत मा जयतु ॥

स्थायी

प	—	मप	ध	ध	(प) म	प	(म) रें	सा	सा
कै	ऽ	साऽ	ऽ	सु	दि	न	आ	ऽ	ज
सा	सा	ध	ध	ध	म	प	रें	सा	सा
सु	ऽ	न्दं	रं	म	धु	र	सा	ऽ	ज
सा	सा	रें	म	म	प	ध	पध	सं	सं
सु	न	ता	ऽ	वि	ज	य	नाऽ	ऽ	द
म	प	मप	ध	ध	पम	प	रें	सा	सा
भा	ऽ	रऽ	ऽ	त	मा	ऽ	ज	य	तु

अंतरा

म	म	ध	—	संध	सां	सां	सां	—	सां
सु	त	ते	ऽ	रे	अ	ति	वी	ऽ	र
ध	ध	सां	—	रें	ध	सां	ध	(प) म	म
स	ह	ते	ऽ	क	ठि	न	पी	ऽ	र
सं	पं	रें	सां	रें	ध	सं	ध	(प) म	म
गा	ऽ	ते	ऽ	हैं	गं	ऽ	भी	ऽ	र
म	प	मप	ध	ध	म	प	र	स	स
भा	ऽ	रऽ	ऽ	त	मा	ऽ	ज	य	तु
×		२			०		३		

ग्रामीण गुरु

एक समय श्रीगुरुनारायण, मेरे घर पर आए थे,
　　एक गँवार साथ ही अपने चेला भी वे लाए थे;
दरवाज़े पर सघन वृक्ष थे, छाया हरदम रहती थी,
　　इसल शीतल हो जाता था हवा जिस समय बहती थी।
लदी फलों से जामुन-शाखा झूम-झूम भू छूती थी,
　　टपक-टपककर पवन-झोंक से महुए-सी वह चूती थी;
उसी पेड़ के नीचे गुरुजी ठाकुर-पूजा करते थे,
　　अक्षत, फूल बेल की पत्ती धो-धो चेला धरते थे।
पूजा कैसी! आँख मूँदकर पिनक भंग की लेते थे,
　　उसी नशे में चूर-चूर हो चेला पहरा देते थे;
गुरुजी ने घंटों तक मल-मल ठाकुरजी को नहलाया,
　　चंदन पोत धूप का धूआँ दिया, दिया फिर दिखलाया।
भोग लगाने को कुछ घर से तब नौकर से मँगवाया,
　　चीनी-दही लबालब भरकर एक कटोरा वह लाया;
आसन पर उसको रखकर जब शंख बजाते बाबाजी,
　　सुनकर भों-भों करता दौड़ा आया तब टामी पाजी।
नहीं ख्याल कर उसका कुछ भी आँख मूँद फिर ध्यान किया,
　　पास पहुँचकर तब टामी ने भरा कटोरा साफ़ किया;
समझ वस्तु खाने की कोई ठाकुरजी को ले भागा,
　　उसके बाद आध घंटे पर तब जाकर पहरू जागा।
सिंहासन पर उनके बदले जामुन चूकर थी आई,
　　काले ठाकुर काली जामुन नहीं भिन्नता लख पाई;
आँख खोलकर श्रीगुरुजी ने जब इधर-उधर देखा भाला,
　　पूछा दही?—कह उठा चेला—ठाकुरजी ने खा डाला।
जामुन एक मिली आसन पर समझे खाने आए थे,
　　वे जल्दी के कारण से ही ऊपर पहुँच न पाए थे;
पोंछा दबा दही का छींटा बाहर आकर बीज पड़ा,
　　"यह क्या?" चेला बोला—इनको पानी दे-दे दिया सड़ा!

राजाराम त्रिपाठी 'शास्त्री'

सुमन-संचय

१. श्रीमती विमलादेवी 'रमा'

भारतवर्ष में अन्य प्रांतों के अतिरिक्त बिहार-प्रांत में भी स्त्रियों में काफ़ी जागृति के शुभ चिह्न दिखलाई पड़ते हैं। समाज में, राजनैतिक वायुमंडल में एवं हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में सभी जगह उत्साहवर्धक चहल-पहल नज़र पड़ रही है। आदिशक्ति के इस स्फूर्तिमय जागरण ने देश को, प्रत्येक क्षेत्र में, पर्याप्त सहायता प्रदान की है। आशा की क्षीण रश्मियाँ प्रकृति का सामयिक सहयोग पाकर शरदृतु की पूर्णिमा के रूप में आकुल तथा संतप्त हृदयों को मनमानी शांति दे रही हैं। उज्ज्वल भविष्य की एक अमिट रेखा हमारे दृष्टिपथ पर अंकित हो रही है। हमारा चिर-सुख-सपना शीघ्र सफलीभूत होगा—ऐसा पूर्ण विश्वास हो रहा है। ईश्वर करे, ऐसा ही हो।

आज मैं बिहार-प्रांत की एक ऐसी सुयोग्य महिला का परिचय पाठकों को देना चाहती हूँ, जिन्होंने केवल अपनी घरू सनातन शिक्षा की बदौलत ऐसे सभी गुण प्राप्त किए, जिनका समाज और देश के लिये होना आवश्यकीय है।

आपका शुभ नाम सौभाग्यवती श्रीविमलादेवी "रमा" है। शाहाबाद के प्रसिद्ध वकील श्रीभगवत-सहायजी आपके पिता थे। वकील साहब बड़े ही समाज-सुधारक और स्त्रीशिक्षा के प्रेमी थे। उन्होंने इस संबंध में बहुत-से कार्य किए, और इसी भावना को लेकर उन्होंने अपनी पुत्री श्रीविमलादेवी को पठन-पाठन के अतिरिक्त संगीत और धार्मिक ज्ञान भी विशेष रूप से दिलाया। प्रसन्नता की बात है कि वकील साहब का ध्येय पूरा हुआ और देवीजी का जीवन-पथ वैसा ही बन गया, जैसा वह चाहते थे। देवीजी का जन्म ६ जून सन् १६०२ में और विवाह सन् १६१६ ई० में हुआ। इनका विवाह डुमराँव-राज्य के मुंतज़िम साहब के द्वितीय पुत्र श्रीमदनमुकुंदप्रसादजी के साथ किया गया। श्रीमदनमुकुंदप्रसादजी भी हिंदी के बड़े ही प्रेमी और समाज-सुधारक हैं। इस अनुकूल वायुमंडल को पाकर देवीजी का उत्साह और भी बढ़ा। आप गद्य और पद्य दोनों लिखती हैं। आर्यमहिला, मनोरमा और माधुरी आदि में भी आपकी रचनाएँ प्रकाशित



सौ० श्रीमती विमलादेवी "रमा"

होती रहती हैं। आपने "शिक्षा-सौरभ"-नामक पुस्तक भी लिखी है। इसमें अपनी रचनाओं के अतिरिक्त प्राचीन नवीन प्रसिद्ध लेखक-कवियों की कृतियों का चुनाव भी बड़ी उत्तमता से किया गया है। यह पुस्तक स्त्री-शिक्षा-दायिनी संस्थाओं में प्रचलित है। इस पुस्तक की भूमिका में इलाहाबाद के प्रो० व्रजराज एम्० ए० बी० एस्-सी० एल्-एल्-बी० लिखते हैं कि—"मुझे पुस्तक देखकर बड़ा हर्ष हुआ। संपादन बड़ी उत्तमता से किया गया है। आपका अध्ययन गहरा है।...इस पुस्तक में साहित्य के सभी अंगों से संग्रह लिया गया है। मैं हिंदी-संसार और हिंदी-छात्रों से अनुरोध करता हूँ कि वे इस पुस्तक से अवश्य लाभ उठावें...।" आपकी हिंदी-प्रियता देखकर "शिवा-प्रतिभा"-नामक पुस्तक श्रीरामचंद्र शर्मा काव्य-कंठ ने आपको ही समर्पित की है। देवीजी ने बालकों और उनकी माताओं के लिये "शिशु-जननी" नामक एक और पुस्तक तैयार की है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगी। आपकी लगन और प्रेम का पता पाठकों को इतने से ही चल जायगा।

कालेज के सार्टीफ़िकेटों से वंचित रहने पर भी, आपने नवीन युग के साथ उचित सहयोग करके जो सेवा-व्रत लिया है, वह अन्य स्त्रियों के लिये शिक्षा और गौरव की बात होनी चाहिए। हमारा तो विश्वास है कि नई पाश्चात्य शिक्षा के वायुमंडल से दूर रहकर, अपनी प्राचीन शिक्षा के द्वारा भी स्त्रियाँ उतना ही काम कर सकती हैं, जितना इस युग में करना चाहिए। संपन्न घर को पाकर भी सज्जनता, उदारता और नम्रता का जो आदर्श देवीजी ने अपने सामने रक्खा है, वह प्रशंसनीय है। आपके व्यवहार में शुद्धता और प्रेम में पवित्रता है। मुझे थोड़े दिनों के परिचय से जो आभास मिला है, उससे मेरी श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। धन और संपन्नता पाकर आजकल स्त्रियों में फ़ैशन और विलासिता का भूत सर पर चढ़ जाता है, अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करने लगती हैं। नई रोशनी में पाश्चात्य-शिक्षा का रंगीन चश्मा उनकी आँखों को तिलमिला देता है। ऐसी बहनों को देवीजी के चरित्र से शिक्षा लेनी चाहिए। हमारी परम पिता परमात्मा से प्रार्थना है कि वे आपको चिरायु करें। आपके दिल में वह लगन लगावें, जिससे आपकी उदारता और कर्तव्यनिष्ठा प्रतिदिन बढ़ती जावे। सेवा के पवित्र मार्ग में विशुद्ध भाव से अग्रसर होती जावें। इस प्रकार अपना कल्याण करें और अपनी पिछड़ी हुई बहनों को सुमार्ग दिखा सकें।

ईश्वर करे, इस देश में ऐसी हज़ारों ललनाएँ उत्पन्न हों और अपनी सेवा द्वारा आदर्श उपस्थित करती हुई देश का मुख उज्ज्वल करें।

सुशीलादेवी त्रिपाठी

× × ×

२. पुष्प

(१)

आकाश के किसी अदृष्ट केंद्र से एक पुष्प टूटकर पृथ्वी पर आ गिरा। किंतु दुर्भाग्य ने उसे ऐसा स्थान दिया, जहाँ बीहड़ वन के सिवा कुछ न था। उसने अपनी छोटी

छोटी कोमल पँखुरियाँ फैलाकर दर्शकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहा, किंतु वहाँ कोई दर्शक ही न था। देखता कौन ? वह वहाँ पड़ा-पड़ा पछताता और करुण क्रंदन करता रहा। किंतु उसकी कौन परवा करता। दिन को सूर्य की सुनहली किरणें उसकी पँखुरियों को सोने से मढ़ देती थीं और रात्रि को सुधांशु अमृत बरसाकर उसमें नवीन जीवन-ज्योति डाल देते थे। ओस के कण उस पर गिरकर मोती बन जाते थे और शीतल-मंद वायु उसके सम्पर्क से सुवासित हो समस्त वनप्रांत को एक अनिर्वचनीय स्वर्गीय सौरभ से परिपूर्ण कर देती थी। किंतु जिसके लिये संसार में उस देवलोकीय दुर्लभ पदार्थ की सृष्टि हुई थी, वह उससे बहुत दूर था। पक्षीगण उस पर बैठ-बैठकर तांडव नृत्य करते थे और वह पड़ा-पड़ा इस दुर्गति पर अपने को सैकड़ों बार धिक्कारता था। किंतु परवश था, कर ही क्या सकता था ? वाराहादि पशुगण आकर उसकी ओर देख घूरते थे और एक ही फुंकार में उसे उड़ाकर दूर फेंक देते थे। वह धूल-धूसरित एवं क्षत-विक्षत हो तड़पने लगता और वे सब आमोदित हो, उत्फुल्ल मन से नाचने लगते। इतना कष्ट सहकर भी वह आकाश को लौटकर नहीं जाना चाहता था—जा भी नहीं सकता था। कारण, उसमें 'वासना' निहित थी !

(२)

दैववशात् एक दिन उस वन में मूसलधार वृष्टि हुई। प्रलयकाल की सूचना देनेवाले जल की एक बड़ी-सी बाढ़ ने उस वन को प्लावित कर दिया। उसमें एक कोमलाङ्गी राजकुमारी बहती हुई दिखलाई दी। जल भीषण गर्जन करता हुआ ऊपर आने लगा। भयविह्वल राजकुमारी ने और कोई अवलम्ब न देख प्राण-रक्षा के लिये एक वृक्ष की डाली पकड़ ली। पुष्प उसके पास ही था। ज्यों ही उसकी दृष्टि पुष्प पर पड़ी, त्यों ही वह उपस्थित प्राण-संकट को भूल-सी गई। उसने उत्कंठित हो पुष्प की ओर अपने दोनों हाथ बढ़ा दिए। किंतु इतने ही में जल की एक उत्ताल तरंग ने पुष्प को उठा पर्वतशिखर पर रख दिया। राजकुमारी के हाथ फैले ही रह गए। उसने जिस डाली को अवलंब मानकर पकड़ा था, वह भी जलमग्न हो न जाने कहाँ चली गई। उसने पीछे लौटकर देखा, किंतु वहाँ जल के सिवा कुछ न था, उसे अपनी मूर्खता पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। किंतु उपाय ही क्या था ! "दुविधा में दोऊ गए माया मिली न राम" की कहावत चरितार्थ हो उठी। वह निरवलंब हो उसी असहायावस्था में पड़ी 'पुष्प-पुष्प' कहकर चिल्लाने लगी। किंतु वहाँ कोई न था।

(३)

धीरे-धीरे जल घटने लगा। राजकुमारी भी स्वस्थ हो धारा को चीरती हुई धीरे-धीरे पर्वत के किनारे जा लगी। वर्षा बंद हुई। आग के गोले की नाईं पूर्वाचल से निकलकर भगवान् भास्कर ने संसार पर अपनी प्रखर किरणें फैला दीं। राजकुमारी ने चमकती हुई बालू पर बैठकर अपने भीगे वस्त्र सुखाए। सिर का जूड़ा खोलकर लटें फैला दीं। सूर्य के प्रकाश में वे स्वर्ण की नाईं चमकने लगीं। वायु ने प्रेम से उनका चुम्बन किया और 'फर-फर' शब्द करती हुई उन पर से आनंद-पूर्वक बहने लगी। पक्षियों ने उसे देख कलरव प्रारंभ किया और वृक्षों ने झुक-झुककर स्वागत किया। किंतु इनकी ओर उसका कुछ भी ध्यान न था। वह टक लगाए पर्वत की ओर देख रही थी। अचानक एक पदार्थ पर उसकी दृष्टि पड़कर अटक गई। वह उसका ध्येय एकमात्र वांछित पदार्थ—वही पुष्प था। पुष्प ने भी उसे देखा। दोनों मिलन-लालसा से व्याकुल हो उठे। किंतु न तो पुष्प ही में इतनी शक्ति थी कि उड़कर राजकुमारी के पास आ जाता, न राजकुमारी ही में इतनी शक्ति थी कि पर्वत पर चढ़कर पुष्प से लिपट जाती। निदान वह वहीं पर्वत के किनारे बैठ उसकी आराधना करने लगी। पुष्प की आशा ने उसे संसार-चिंता-शून्य कर दिया ! वर्षों बीत गए। शरीर सूखकर काँटा हो गया। रूपलावण्य एवं यौवनोन्माद उसे छोड़कर चल दिए। किंतु पुष्प की आशा नहीं गई। वह दिन-दूनी होती गई। वही आशा उसके प्राणों की यंत्रिका—जीवन की एकमात्र सहचरी थी। वही दुर्लभ स्वर्गीय वस्तु असार संसार की सत्यता थी। उसी में उसे पूर्ण संतोष की झलक दिखलाई दी। उसी को लेकर वह परम प्रसन्न थी। उसी के कारण वह उस बीहड़ वन को राजमहल से भी अधिक सौख्यपूर्ण समझती थी। उस पर्वत के आगे उसे संसार के बड़े-से-बड़े

और उच्च-से-उच्च राज्यसिंहासन तुच्छ प्रतीत होते थे। उसे उनकी किंचित् आकांक्षा नहीं थी।

(४)

राजकुमारी नित्य निर्मल स्रोत में स्नान कर फूलों की माला गूँथती और उन्हें पुष्प के लिये यत्न से रखती जाती थी। वह झरनों के झरझर शब्द के साथ पुष्प के लिये मधुर गीत गाती थी और रात्रि की चटक चाँदनी में उसकी कमनीय कांति देख मुग्ध हो उस पर तन-मन न्योछावर कर देती थी। वह मन-ही-मन कहती थी—यदि परमात्मा ने उसे पक्षी बनाया होता, तो वह उड़कर पुष्प पर—प्रियतम पुष्प पर—जा पड़ती। यही सोचकर वह बार-बार मानव-जीवन को धिक्कारती और भगवान् से यही याचना करती थी कि दूसरे जन्म में उसे पक्षी की ही योनि मिले! करुणा-वरुणालय जगदीश्वर ने उसकी पुकार सुन ली। एक दिन फिर वैसी ही मूसलधार जल-वृष्टि प्रारंभ हुई। बाढ़ के साथ-साथ राजकुमारी ऊपर चढ़ने लगी। वह शीघ्र ही पुष्प के निकट पहुँच गई। उसने एक बार चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। सब जगह जल-ही-जल दिखलाई दिया। अन्य कोई उपाय न देख उसने पुष्प को हाथ में ले लिया। धीरे-धीरे जल राजकुमारी के चरणों का स्पर्श कर ऊपर चढ़ने लगा। राजकुमारी को डूबते देख पुष्प निकलने के लिये छटपटाने लगा। राजकुमारी ने यह कह-कर कि "रे कायर! अब कहाँ जा सकता है, मरना है, तो मेरे साथ मर, जीना है तो मेरे साथ जी" मुट्ठी बाँध ली। पुष्प की सारी पँखुरियाँ टूट गईं। शरीर चत-विक्षत हो गया। उसने निष्कृति पाने की आशा से एक बार ऊपर आकाश की ओर देखा। उत्तर मिला—"वह संसार है, स्वर्ग नहीं। जो पदार्थ अनित्य है, उसमें इससे अधिक और मिल ही क्या सकता है?"

आत्माराम देवकर

× × ×

३. भीख

मैं आया—सोचा था—उर की जलती आग बुझाऊँगा;
दिल की व्यथा, हृदय का क्रंदन, तुमको आज सुनाऊँगा।
हृदय-पटल को अश्रु-सलिल से स्वच्छ बनाकर लाऊँगा;
तेरी सौम्य-मूर्ति उस पर ही, अंकित कर सुख पाऊँगा।
धुँधली आँखों से तुमको पहले जो देखा करता था;
निरख-निरखकर, परख-परखकर मूक बना मैं रहता था।
इस वियोग में इन आँखों को धोया ख़ूब विचारा था—
इन दोनों सुस्वच्छ पात्र से रूपसुधा को पीऊँगा।
पर हा! कहाँ छिपी हो कलिके! हृदय चूर क्यों करती हो?
अंतरपट से चित्रांकित यह—रम्य मूर्ति क्यों हरती हो?
अगर न तुम आती मुझको ही ज़रा पास आ जाने दे!
हाय! हृदय को वेग तोड़ मत अपनी हविस मिटाने दे!
मत रोना मेरे दुख पर तू हँसती ही रहना दिन-रात;
व्यथित हृदय की—करुण रुदन में—कह तो लेने दो दो बात!
नहीं चाहता हृदयरत्न तव—प्रेम नहीं मैं चाहूँगा;
विरही हूँ मैं विरह-राग को पल-पल निशिदिन गाऊँगा।
हृदय व्यथित हो तड़प-तड़पकर रहता—हाय! हुआ निरुपाय!
सुमनकली ऐ! अधिक नहीं तो झाँकी भी दिखला जा हाय!

यदुनंदनप्रसाद "नवल"

× × ×

४. स्वार्थ

भूखे, टूटे, सर्दी खाए,
पीड़ित जब नज़रों में आए,
वल वेदना का झोंका जब लगा हृदय में आन,
अलापी उसने अपनी तान। १।
बनाया आहों ने तब सर्द;
दया ने किया हृदय में दर्द।
ली दर्द के दलने को हम करते यत्न अनेक।
छोड़कर अपनी सबकी टेक। २।
कहो तब कहाँ हुआ उपकार?
स्वार्थ सम्मुख दिखता साकार।
से खुले शब्दों में कहते हैं हम, स्वार्थ महान;
न जिसका होता है अवसान। ३।

"सम्राट्"

× × ×

५. मासिक पत्रों का राजा

यंग ईस्ट (Young East)-नामक मासिक पत्र में मि० सियजी नोमा (Mr. Seiji Noma) नाम के एक जापानी का जीवन-वृत्तांत प्रकाशित हुआ है, जो जापान की जनता में "Magazine King" अर्थात् मासिक पत्रों के राजा के नाम से विख्यात हैं। आपके जीवन-वृत्तांत से आपकी असाधारण कार्यकुशलता एवं जापानी जनता के समाचारपत्रप्रेम का जो परिचय मिलता है, वह भारतीय पाठकों के लिये विशेष शिक्षाप्रद होने के कारण उसका सारांश यहाँ प्रकाशित किया जाता है।

आज से बीस वर्ष पूर्व मि० सियजी नोमा जापान की एक प्रांतीय पाठशाला के एक स्वल्पवेतनभोगी शिक्षक के सिवा और कुछ भी नहीं थे। किंतु वही व्यक्ति आज एक लखपती होने के सिवा स्वेज़नहर के पूर्व के भूभाग का सबसे बड़ा पुस्तक एवं मासिक पत्र-प्रकाशक गिना जाता है। उनके द्वारा प्रकाशित विभिन्न पत्रों की संख्या देखने से वह कल्पनातीत जान पड़ती है। असंख्य पुस्तकों के प्रकाशक होने के अतिरिक्त आप नौ बड़े-बड़े मासिक पत्रों के अध्यक्ष हैं। इन मासिक पत्रों में "किंग" ("King")-नामक एक पत्र के १५ लाख ग्राहक हैं। इसके सिवा आपके और दूसरे-दूसरे पत्रों में से भी किसी के ग्राहक १ लाख से कम नहीं हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि आपके मासिक पत्रों के पाठकों की संख्या एक करोड़ से अधिक है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि प्रत्येक पाँच जापानी में एक आपके मासिक पत्रों का पाठक है।

अच्छा, अब आपकी इस अद्‌भुत सफलता का कारण क्या है, सो सुनिए। पाठक समझेंगे कि मि० नोमा ने कोई बड़ी भारी पूँजी लगाकर यह व्यवसाय शुरू किया था। किंतु बात ऐसी नहीं है। पूँजी तो आपके पास नाम-मात्र की भी नहीं थी। यदि हम यह कहें कि उपर्युक्त अवसर से लाभ उठाकर सर्वसाधारण की रुचि के अनुकूल कार्य करने की असाधारण क्षमता मि० नोमा में वर्तमान थी, तो यह बात भी ठीक नहीं जँचती; कारण, उनमें ऐसी कोई असाधारण योग्यता नहीं पाई जाती। असल बात तो यह है कि जब से मि० नोमा ने अपना यह व्यवसाय प्रारंभ किया है, तब से आप बराबर सचाई एवं उत्साह के साथ परिश्रमपूर्वक कार्य कर रहे हैं। आपका यह विराट् व्यवसाय इसी अनवरत उद्योग के ऊपर निर्मित हुआ है। इसके निर्माण का और कोई दूसरा कारण नहीं है। मि० नोमा आज नौ बड़े-बड़े मासिक पत्रों के अध्यक्ष-रूप में उस गौरवरूप पद को प्राप्त हुए हैं, जिसे देखकर दूसरे लोगों के हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न होती है। किंतु इतने बड़े धनाढ्य होने पर भी आप एक दिन भी आलस्य में नहीं व्यतीत करते। प्रातःकाल से लेकर संध्याकालपर्यंत आप अमानुषीय शक्ति के साथ कार्य करते रहते हैं। आपके दैनिक कार्यक्रम में भोगविलास एवं विश्राम के लिये कोई स्थान ही नहीं है। सभी समय में एकमात्र इसी समस्या पर आपका समस्त ध्यान लगा रहता है कि आपके मासिक पत्रों का प्रत्येक अंक उनके पिछले अंकों से किस प्रकार सुंदर प्रकाशित हो सके। कभी एक सफल संपादक के रूप में, कभी एक सुयोग्य लेखक के रूप में, कभी एक कुशल व्यवसायी के रूप में और कभी एक निपुण विज्ञापक के रूप में आप देख पड़ते हैं। आप दिन-भर में इतना काम कर लेते हैं, जितना पाँच या दस मनुष्य कर सकते हैं। आपके दृष्टांत से उत्साहित होकर आपके

अधीन काम करनेवाले कर्मचारीगण भी बड़े उत्साह एवं परिश्रम से आनंदपूर्वक काम किया करते हैं।

आपके मासिक पत्रों का प्रत्येक पृष्ठ आपके व्यक्तित्व, आपके विचार एवं भावों का द्योतक है। आप इस बात को कभी नहीं भूलते कि आपके व्यावहारिक जीवन का आरंभ एक शिक्षक के रूप में हुआ था। अतएव आपकी यह सदैव इच्छा बनी रहती है कि आप अपना समस्त जीवन एक शिक्षक के रूप में ही समाज की सेवा करते हुए व्यतीत करें। यह कहना कुछ अत्युक्ति नहीं कि वर्तमान काल में आप जापान के सर्वश्रेष्ठ लोकप्रिय शिक्षकों एवं आध्यात्मिक नेताओं में से एक अन्यतम हैं। आपके द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रों में एक स्त्रियों के लिये, एक बालक-बालिकाओं के लिये, एक छोटे-छोटे बच्चों के लिये, एक और दूसरा केवल विशुद्ध मनोरंजन के लिये तथा और दूसरे दूसरे विषयों से संबंध रखनेवाले हैं। किंतु इन सबमें एक अनूठा मासिक पत्र "Xuben" अर्थात् वक्तृत्वशक्ति-नामक है, जो अपने ढंग का एक ही है और जिसके लिये मि० नोमा को विशेष अभिमान है। वक्तृत्वकला के संबंध में अनेक पुस्तकें पाई जाती हैं, किंतु जापान को छोड़कर संसार में कोई भी दूसरा देश नहीं है, जहाँ एकमात्र इसी विषय को लेकर कोई पत्र प्रकाशित होता हो। मि० नोमा का यह सबसे प्यारा मासिक पत्र है—सिर्फ़ इसलिये नहीं कि यह वेजोड़ है, बल्कि विशेषतः इस कारण से कि इसी पत्र की बदौलत आप मासिक पत्रों के प्रकाशक के रूप में दृढ़तापूर्वक क़दम बढ़ाने में समर्थ हुए हैं।

जगन्नाथप्रसाद मिश्र

× × ×

६. मैं और वे

दूर होके मुझसे वे पाते हैं न चैन कभी,
ध्यान उन्हें प्रतिपल मेरा बना रहता।
होकर अकेले सुख मिलता मुझे भी नहीं,
आँखों में समाया उनका ही रूप रहता।
छाए रहते हैं घन आशा के हृदय पर,
मानस में मेरे भावसिंधु है लहरता।
दोनों ओर अब तो गई है लग प्रेम-आग,
देखें कौन बुझता है और कौन जलता।

केदारनाथ अग्रवाल "बालेंदु"

× × ×

७. भारतीय चित्रकला

(१)

कला की उन्नति सभ्यता का एक प्रधान संकेत है। भिन्न-भिन्न कलाओं तथा विज्ञानों के सम्मिश्रण से ही सभ्यता की सृष्टि हुई है और उन्हीं के निरंतर प्रसार से इसकी श्रीवृद्धि होती है। मानव-हृदय की गूढ़तम प्रवृत्तियों एवं चेष्टाओं को विशद रूप देना ललित कला का मुख्य कार्य है। कलाओं के विकास से मनुष्य की प्रकृति-कल्पना तथा कार्य में सूक्ष्मता के संग श्रेष्ठता की मात्रा बढ़ती है, और इससे मनुष्य भावुक एवं कर्म-शील बन सकता है। देखा भी जाता है कि असभ्य पुरुष की बुद्धि विमल एवं सूक्ष्म नहीं होती; परंतु सभ्यता के प्रकाश से मनुष्य अपने भावों का क्षेत्र बढ़ा सकता है और वह अपने विचार में ऐसी सूक्ष्मता प्रदर्शित कर सकता है, जो एक असभ्य के लिये सर्वथा असंभव है। पर्यायवाचक शब्द इस सिद्धांत की पुष्टि करते हैं। कोमल-मृदुल-स्निग्ध-मसृण इत्यादि शब्दों में जो सूक्ष्म विभेद है, उसका समझना सभ्य पुरुष के लिये सहज है; परंतु असभ्य मनुष्य तो केवल कोमलता समझता है। कोमलता के भी भेद एवं मात्रा हो सकती हैं, इसका ज्ञान उसकी बुद्धि के बहिर्गत है। तात्पर्य यह है कि कलाओं की उन्नति से मनुष्य के कार्य तथा विचार-प्रणाली में विभिन्नता एवं विचित्रता आती है और इसके द्वारा उसका जीवन अतिशय गहन तथा सरस बन जाता है।

कला एक बड़ा व्यापक शब्द है। स्थान एवं प्रकरण के साहाय्य से इसकी द्योतकता निर्णीत होती है। महा-मति टालसटाय का मत है—

"Art is a means of union among men, joining them in the same feelings."

अर्थात् "समान भावों में संलग्न कर कला मानव-जाति को संयुक्त करती है"। ध्यान देने से ज्ञात होता है कि यह सिद्धांत सर्वथा निर्दोष है। यदि पाँच मनुष्य एक उत्तम तैल-चित्र की ओर देखें, तो चित्र के विषय के अनुसार उनके हृदय में समान भाव उत्पन्न होंगे। संभव है, व्यक्तिगत विकास के अनुसार उनके भावों की सूक्ष्मता में तनिक भेद हो; परंतु वस्तुमात्र की कल्पना में विभिन्नता असंभव है। यही कारण है कि असंख्य वर्षों से एक ही सभ्यता, आचार-व्यवहार एवं विचार-पद्धति में रहकर एक जाति अपनी व्यक्तिगत विशेषता धारण करती है और इसी के द्वारा वह अन्य जातियों से विभक्त की जा सकती है।

कला के अंतर्गत चित्र-रचना का स्थान अत्युच्च है—उत्कृष्ट आलेख्य अपना प्रभाव मानव-हृदय के अंतस्तल तक शीघ्र पहुँचाता है और मनुष्य इससे ख़ूब लाभ उठा सकता है। रेखा, रंग एवं छाया के द्वारा चतुर चित्रकार मनुष्य के प्रायः संपूर्ण भावों, चेष्टाओं तथा आकृतियों का चित्रण कर अपनी रचना को सजीव बना डालता है और उससे अस्वाभाविकता का बहिष्करण ही कला की चरम सीमा है। कवि अपनी गूढ़मयी वाणी से मनुष्य की आत्मा को प्रभावान्वित करता है, परंतु चित्र-कार अपनी वर्णिका तथा वर्तिका की सहायता ले चक्षु-मार्ग से मानव-हृदय पर अधिकार स्थापित करता है। एक सिद्धहस्त चित्रकार का कथन है—

"A good painter has two chief objects to paint, viz (a) man, and (b) the intention of the soul. The first is easy and the second difficult, because he has to represent it through the altitude and movements of his limbs."

अर्थात् उत्तम चित्रकार के लिये दो प्रधान वस्तुओं का चित्रण आवश्यक है—(१) मनुष्य और (२) उसकी आत्मा की आकांक्षा। प्रथम का चित्रण तो सहज है, परंतु द्वितीय का कठिन है; क्योंकि अवयवों के परिचालन एवं उत्सेध के द्वारा उसका प्रदर्शन करना पड़ता है। पाठकों के मनोरंजनार्थ इन्हीं विचारों की सहायता से हम भारतीय चित्रकला की विशेषताओं पर दृष्टिपात कर उसकी श्रेष्ठता की परीक्षा करेंगे।

संस्कृत-ग्रंथों के अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन आर्य कला को विशेष आदर की दृष्टि से देखते थे और वे उसकी उन्नति भी करते थे। इन पुस्तकों में "चतुःषष्टि-कला" का वर्णन मिलता है और कहावत है कि भगवान् कृष्णचंद्र इन चौसठ कलाओं में प्रवीण थे। अवसादग्रस्त भारत से यह प्रथा क्रमशः अंतर्हित हो गई। शोक है कि आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था में एक भी कला के विकास का अवसर प्राप्त नहीं है। यदि भारत-चित्र की मूल-प्रकृति के विषय में हमारी धारणा स्पष्ट न हो, तो केवल भारतवर्ष में

रहकर अथवा भारतवर्षीय विषय का अवलंबन कर चित्रचर्चा करने से भारत-चित्र नहीं होगा—भारत-चित्र के प्रकृतिगत अनन्य साधारण विशिष्ट लक्षण ही इसके प्रकृत मानदंड हैं। भारत में यह कथा प्रसिद्ध है—

"यथा सुमेरुः प्रवरो नगानां, यथाण्डजानां गरुडः प्रधानः।
यथा नराणां प्रवरः क्षितीशस्तथा कलानामिह चित्रकल्पः॥

अर्थात् जैसे पर्वतमालाओं में सुमेरु सर्वलोक वरेण्य, अण्डजात जीवगण के बीच गरुड़ सर्वप्रधान तथा मनुष्य-जाति के बीच राजा सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार कलासमूह के मध्य चित्रकला सर्वमान्य है।

इस श्लोक के पाठ से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतवर्ष में चित्र-कला ने अत्यधिक गौरव एवं आदर प्राप्त किया था। उस समय जो वस्तुएँ थीं, वे अब प्राप्य नहीं; अभी तक जो कुछ शेष है, वह अजंतागुहा की चित्रावली है। परंतु वहाँ भी जो कुछ अवशिष्ट है, वह प्रकृत चित्र नहीं। केवल चित्राभास है। चित्र-संसार के मध्य ये प्राचीन भारत-चित्र के असम्यक् निदर्शन हैं। ये (चित्र) तो केवल साहित्य-दर्पण के "दोष-परिच्छेद" के अनायासलभ्य उदाहरणस्वरूप हैं। हमारा विश्वास है कि ये चित्र विलासव्यसनमुक्त, योगयुक्त, अनासक्त संन्यासी-संप्रदाय के निभृत-निवास के केवल भित्ति-विलेपन हैं; विचक्षण चित्रसमालोचक के निकट भक्ति भारावनत नमस्कार के योग्य होने पर भी ये भारत-चित्रोचित-प्रशंसा के अनुपयुक्त हैं। ये सब इस कला में एक श्रेणी के साधारण कर्म हैं और इनका प्रधान प्रयोजन अलंकरण है। इन चित्रों के दर्शन से जो कुछ चित्रगुण का परिचय प्राप्त होता है, वह पूर्णतः अयत्न-संभूत, आकस्मिक तथा अलौकिक है। किसी समय भारत में सभी घरों के लिये ऐसे भित्तिचित्र की व्यवस्था थी। किस प्रकार के घर में किस श्रेणी का चित्र अंकित किया जायगा, इसके लिये भी निर्दिष्ट नियम थे। इन भित्ति-चित्रों में कोई भी चित्र सौंदर्य की परा काष्ठा की आशा नहीं करता था; क्योंकि प्रतिमा के अनिंद्य निदर्शन के निमित्त भित्ति-स्थल उपयुक्त गण्य नहीं होता था।

स्थानं प्रमाणं भूलम्भो मधुरत्वं विभक्तता।
सादृश्यं क्षयवृद्धी च गुणाष्टकमिदं स्मृतम्॥
स्थानहीनं गतरसं शून्यदृष्टिमलीमसम्।
चेतनारहितं वा स्यात्तदशस्तं प्रकीर्तितम्॥

उस समय "स्थान, प्रमाण, भूलम्भ, माधुर्य, विभक्तता, सादृश्य, क्षय एवं वृद्धि, पारिभाषिक संज्ञानुसार चित्र के प्रधान गुण माने जाते थे। स्थानदोष, रसदोष तथा चित्रदोष विकार के कारण निंद्य थे। इन सब चित्रगुणों एवं चित्रदोषों के यथार्थ परीक्षक के निकट अजंतागुहा की चित्रावली भारत-चित्र के मध्य सर्वांग-सुंदर कहकर मर्यादा पाने में सर्वथा असमर्थ है। जिन लोगों की अध्यक्षता में ये भित्ति-चित्र अंकित किए गए थे, वे लोग पुरातन भारत में 'चित्रवित्' के नाम से गण्य नहीं हो सकते थे; वे नमस्कार के योग्य तो अवश्य थे, किंतु चित्र के हेतु नहीं वरन् चरित्र के कारण। उन साधुओं के भित्ति-चित्र प्रशंसा के योग्य हैं, परंतु उनमें कला-लालित्य नहीं, केवल विषय-माहात्म्य-मात्र है।

हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने चित्रकारों को यथार्थतः समझने की पूर्ण चेष्टा की थी। वायु-संचारण से जल में तरंगें उठती हैं—प्रज्वलित हो अग्नि-शिखा विकास करती है—धूम गगनमंडल में आरोहण करता है—पताका आकाश में वायुवेग से अंग-विस्तार करती है—सिद्धहस्त चित्रकार ही इन सब गतिभंगियों को यथार्थ रूप में चित्रित कर सकते हैं। सुप्तावस्था में मनुष्य के प्राण-स्पंदन की चेतना लुप्त नहीं होती, मृत्यु के पश्चात् ही उसका नाश होता है; शरीर के संपूर्ण अंश समान नहीं हैं। कोई अंग उन्नत है और कोई अंग अवनत—जो लोग इस सब पार्थक्य को प्रकट कर स्वाभाविक चित्र अंकित कर सकते हैं, वे ही यथार्थ चित्रवित् हैं। यथा—

तरङ्गाग्निशिखाधूमं वैजयन्त्यम्बरादिकम्।
वायुगत्या लिखेद्यस्तु विज्ञेयः स तु चित्रवित्॥
सुप्तञ्च चेतनायुक्तं मृतं चैतन्यवर्जितम्।
निम्नोन्नतविभागं च यः करोति स चित्रवित्॥

उपर्युक्त श्लोक से ज्ञात होता है कि केवल आकारांकण में सिद्धहस्त होने से ही कोई चित्रवित् कहलाकर मर्यादा नहीं पा सकता है। प्राणहीन पदार्थ की गतिभंगी का चित्रण अपेक्षाकृत सहज है, परंतु सजीव की स्थितिभंगी को अंकित करना अतिशय दुष्कर है; क्योंकि इसमें चेतना-व्यंजक शिल्प-कौशल की अत्यंत आवश्यकता है। इसी चेतना के साहाय्य से प्राणरहित वस्तु एवं

मय जीव के मध्य पार्थक्य प्रदर्शित किया जा ता है। ऐसे चित्र को इस प्रकार से बनाना चाहिए दर्शनमात्र से ही प्रकट हो जाय कि श्वास-प्रश्वास भाविक रूप से प्रवाहित हो रहे हैं और यही आलेख्य तः चित्र के शुभ लक्षणों से संयुक्त भी होता है। शास्त्र में कहा है—'सश्वास इव यच्चित्रं तच्चित्रं लक्षणम्' अर्थात् श्वासयुक्त चित्र अपने शुभगुणों से कृत होता है।

भारत-चित्र के अनेकों विभाग प्रचलित हैं अर्थात् प-भेद, पद्धति-भेद, प्रयोजन-भेद इत्यादि। हमारे चीन साहित्य में चित्र के लिये मुख्य प्रतिशब्द लेख्य' मिलता है और इसका प्रधान विषय नायक-यिका का चित्रण है। महामति वात्स्यायन के द्वारा प्रकरण पूर्णतः प्रतिपादित हुआ था—इस विषय विशद करने के लिये टीकाकार यशोधर ने एक लोका संपूर्णतः उद्धृत की है अर्थात्—

रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभङ्ग इति चित्रं षडङ्गकम्॥

यथार्थतः भारत-चित्र के ६ अंग होते हैं। सुतरां जिस में ये षडङ्ग वर्तमान न हों, वह आलेख्य अंगहीन चित्राभास है।

प्रथम अंग—रूपभेद

रूप के भेद—साधन के अंतर्गत वस्तुतः रूप क्या है, विषय का ज्ञान नितांत आवश्यक है। प्रथमतः ही एक पारिभाषिक संज्ञा होती है। इसमें सौंदर्य यथार्थ विवरण होता है। हमारा प्रत्येक अंग एक-एक का विशेष आधार माना जाता है। चित्र-विज्ञान क रूप से अन्य रूप की विभिन्नता के दर्शन का नाम भेद है और यह चित्रगुण के विवरण में 'विभक्तता' नाम से प्रसिद्ध है—साधारणतः लोग इसको 'रेखा-न्यास' भी कहते हैं। रेखा-विन्यास से रूप-भेद की ति तो ज्ञात होती है, किंतु इसकी सहायता से का यथार्थ आशय व्यक्त नहीं होता। अलंकार-होकर भी जिस शक्ति के प्रभाव से अंग-प्रत्यंग जान पड़े, उसी का नाम 'रूप' है। यथा—

ङ्गान्यभूषितान्येव केनचिद्भूषणादिना।
न भूषितवद्भाति तद्रूपमिति कथ्यते॥

अलंकृत पदार्थ तो रूपमय नहीं है, वह तो सर्वथा अरूप है। विशुद्ध रूप अंग-प्रत्यंग की सहायता से स्वयं ही व्यक्त हो जाता है और वह मन को बलात् आकृष्ट कर लेने में समर्थ होता है। रूप वस्तुतः अनुभव करने के योग्य तथा अतींद्रिय है। वह तो आत्मोत्कर्ष से ही दृष्टिगम्य हो सकता है। भारतीय चित्रविद्या का मत है कि इस रूप के प्रदर्शन के लिये साधारण रेखा वस्तुतः रेखा नहीं है, रूप-रेखा ही रूप की पुष्टि करती है। रूप-रेखा जितनी ही विशुद्ध एवं स्वाभाविक होगी, चित्र उतना ही उत्कृष्ट एवं सुंदर होगा। चित्र के विविध प्रकार की अभिव्यक्ति से भिन्न-भिन्न रुचियुक्त मनुष्यों का मनोविनोद होता है, परंतु सभी में रूप केंद्र-स्थल है। आचार्यगण 'रेखा' की प्रशंसा करते, विचक्षणगण आलोक तथा छाया का गुण गाते, प्रदर्शकगण 'वर्तना' की स्तुति करते, रमणीगण भूषण-विन्यास के प्रति अनुरागी होता तथा अन्य साधारण पुरुष 'वर्णाढ्यता' के ही पक्षपाती होते हैं। कहावत है—

रेखां प्रशंसन्त्याचार्या वर्तनां च विचक्षणाः।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यामितरे जनाः॥

चित्र में प्रथम रूप-भेद की रचना अत्यावश्यक है। शिल्प-शास्त्र में इसकी पूर्ण विधि का उल्लेख मिलता है। प्रथम 'अनुलोम' तथा द्वितीय 'प्रतिलोम'-नामक दो प्रणाली हैं। मस्तक के चतुर्दिक् रेखा-विन्यास का नाम 'अनुलोम-पद्धति' है तथा चरणयुगल से रेखा के निर्माण का नाम 'प्रतिलोम-प्रणाली है। यही कारण है कि देव-मूर्ति के चित्रण में 'अनुलोम-पद्धति' का आश्रय अतिशय श्रेयस्कर माना जाता है। रूप-भेद में शरीर के संपूर्ण अवयवों का प्रदर्शन उचित नहीं है; क्योंकि सब अंग रूप के आधार नहीं होते हैं। रूप के आधार सभी अंगों को पृथक्-पृथक् भाव में प्रदर्शित करना चाहिए, नहीं तो 'चित्रदोष' की उत्पत्ति होती है। अविभक्तता ही इस सुपरिचित चित्रदोष की एक संज्ञा है। यही कारण है कि भारतीय चित्रों में कोई अंग तो अणुमात्र ही व्यक्त होता है तथा अन्य अंग सुनिर्दिष्ट रेखाविन्यास के द्वारा सुचारु भाव से विभक्त देख पड़ते हैं। भारतीय चित्रों में इस रूपभेद की सामान्य रीति की अनभिज्ञता के कारण पाश्चात्य देशों के कुछ ग्रंथकारों ने भारत-चित्र को 'रेखात्मक' कहकर गर्हित माना है; परंतु भारत-चित्र वस्तुतः रेखात्मक नहीं, वरन् रूपात्मक है।

द्वितीय अंग—प्रमाण

ताल-हीन संगीत की नाईं मानहीन चित्र भी रसबोध कराने में सर्वथा असमर्थ होते हैं। अंग-प्रत्यंग के मध्य एक परिमाण-पार्थक्य का वर्तमान रहना अत्युत्तम है। दैर्घ्य-विस्तार और वेध दोनों सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव से अंग-प्रत्यंग की स्थिति के सामंजस्य की रचा कर गति-विधान की सहायता करते हैं और यह रेखाविन्यास को सुसंयत कर चित्र-सौंदर्य को विकसित करता है। यह कोई अनावश्यक शासन-शृंखला नहीं और चित्र के निर्माण में इसकी अवहेलना का स्थान नहीं है। केवल एक स्थान में इसका व्यतिक्रम हुआ है और वह हास्यरस की अवतारणा में अभिव्यक्त किया जाता है। किंतु उस स्थान में भी साधारण परिमाण में व्यतिक्रम होने पर रसानुगत परिमाण सर्वथा अनतिक्रमणीय है। सीमा को सुनिर्दिष्ट कर चित्र को सुसंगत बनाना ही 'प्रमाण' का प्रधान कार्य है। शिल्प में इसके द्वारा स्वेच्छाचार की मात्रा कम हो जाती है, किंतु इससे प्रतिभा-प्रकाशन में उच्छृंखलता भी नहीं होने पाती है।

तृतीय अंग—भाव

भाव वस्तुतः अशारीरिक चित्त-वृत्ति है। यह तो विभावजनित शरीरेन्द्रिय वर्ग की विकार-विधायक चित्त-स्थिति है।

> शरीरेन्द्रियवर्गस्य विकाराणां विधायकाः।
> भावा विभावजनिताश्चित्तवृत्तय ईरिताः॥

भिन्न-भिन्न भावों की शक्ति से शरीरेन्द्रिय वर्ग में पृथक्-पृथक् विकार का जन्म होता है। अतएव मानव-चित्तवृत्ति रस का अनुगमन करती है और उसी के अनुकूल भाव नियमित रहता है—हम नेत्र के आकार-पार्थक्य की सहायता से इसका शीघ्र परिचय पा सकते हैं।

> चापाकारं भवेन्नेत्रं मत्स्योदरमथापि वा।
> नेत्रमुत्पलपत्राभं पद्मपत्रनिभं तथा॥
> शशाकृतिर्महाराज पञ्चमं परिकीर्तितम्।

नेत्र के आकार पाँच श्रेणियों में विभक्त किए गए हैं अर्थात् (क) चापाकार (ख) मत्स्योदर (ग) उत्पलपत्राभ (घ) पद्मपत्रनिभ (ङ) शशाकृति। चापाकार का यथार्थतः भाव धनुराकृति अतएव वक्ररेखा तुल्य है। शरीर एक सुपरिचित शरीरेन्द्रिय है। किसी निर्दिष्ट भाव के प्रभाव से शरीर में विकार देख पड़ता है और इसी के अनुसार उसके आकार में विशेष परिवर्तन होता है। यही कारण है कि सब अवस्थाओं में सभी स्त्री-पुरुषों के नेत्र का आकार एक समान नहीं हो सकता है। सूत्रोक्त पाँच प्रकार की आँखों में पाँच भिन्न-भिन्न भावों के आकार दृष्टिगोचर होते हैं और भिन्न-भिन्न भावों के प्रभाव से इन सब आकारों में पार्थक्य उत्पन्न होता है। यथा—

> चापाकारं भवेन्नेत्रं योगभूमिनिरीक्षणात्॥
> मत्स्योदराकृतिः कार्य्या नारीणां कामिनां तथा।
> नेत्रमुत्पलपत्राभं निर्विकारस्य शस्यते॥
> त्रस्तस्य रुदतश्चैव पद्मपत्रनिभं भवेत्।
> क्रुद्धस्य वेदनान्तस्य नेत्रं शशाकृतिर्भवेत्॥

योगभूमि के निरीक्षण से नेत्र की आकृति धनुष की नाईं हो जाती है—कामुक एवं विलासिनी रमणी के नेत्र मत्स्योदराकृति के होते हैं, निर्विकार चित्तयुक्त पुरुष के नेत्र उत्पलदल के समान होते हैं, त्रस्त अथवा रुद्यमान मनुष्य के चक्षु पद्मपत्र के सदृश और क्रुद्ध अथवा व्यथित मनुष्य के नयन शशाकृतितुल्य होते हैं। शरीरेन्द्रिय में एक प्रकार की विकार-विधायक चित्तवृत्ति का नाम 'भाव' है। चित्र में इस भाव का त्याग नहीं हो सकता है। इसके अभाव से चित्रदोष की संभावना है।

चतुर्थ अंग—लावण्य

यह एक प्रकार का औज्ज्वल्य-साधन है और लावण्य-शब्द के व्यवहार से स्पष्टरूप में प्रकट होता है। जैसे मुक्ता के चारों ओर से एक तरंगायमान् प्रभा निकलती है, उसी प्रकार अंग-प्रत्यंग से प्रस्फुटित तरंगायमान द्युति का नाम 'लावण्य-योजन' है—यह लावण्य भी एक पारिभाषिक शब्द है; यथा—

> मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
> प्रतिभाति यदङ्गेषु लावण्यं तदिहोच्यते॥

सभी स्त्री-पुरुष के संपूर्ण अंग-प्रत्यंग से अल्प मात्रा में एक तरंगायमान् आलोक झलकता हुआ पड़ता है—यह प्रभा जीवित मनुष्य को मृतक से भिन्न दिखलाती है। जिस शिल्प-कौशल से यह द्युति प्रकट की जाती है, उसका नाम 'लावण्य-योजन' है। इसमें तरलता एक प्रधान गुण है, वस्तुतः यह छाया या कांति की तरलता है। टीकाकारगणों ने इसे तरंगायमान् कहकर व्याख्या की है। लावण्य अंग-प्रत्यंग

तरंग की नाईं उठकर विलुप्त हो जाता है। सुतराम् इसमें केवल औज्ज्वल्य ही नहीं है, किंतु यह चलोर्मिवत् गतनोन्मुख है। इसी लावण्य के साहाय्य से चित्र निर्जीव होकर भी सजीव के समान देख पड़ता है।

चित्र-भंगी के मध्य इस तरह के लावण्य की गति-भंगी का संचार न होने से चित्र 'दौर्बल्य-दोष' के कारण उत्तम नहीं होता है। अविभक्तता अर्थात् रूप-भेद का अभाव एक चित्र-दोष है। यदि रूप-भेद को प्रकट करनेवाला रेखाविन्यास स्थूलता की अवतारणा करे, तो वह भी चित्र-दोष में गण्य हो जाता है और इसका साधारण नाम 'स्थूलरेखात्व' है—वर्णसांकर्य में भी इसी प्रकार का एक दोष है; यथा—

> दौर्बल्यं स्थूलरेखत्वमविभक्तत्वमेव च ।
> वर्णानां सङ्करश्चात्र चित्रदोषाः प्रकीर्तिताः ॥

पंचम अंग—सादृश्य

दृश्य के साथ तुल्यता का नाम 'सादृश्य' है। दृश्य के जाने बिना सादृश्य का समझना सहज नहीं है। प्रत्येक वस्तु में दो विषय वर्तमान रहते हैं अर्थात् (१) वस्तुसत्ता एवं (२) वस्तुदृश्य। गाय एक चतुष्पद जंतु है, किंतु सब प्रकार के अवस्थानों में उसके पद-चतुष्टय समानरूप में नहीं देख पड़ते हैं। मनुष्य जिस वस्तु को देख सकता है, उसका नाम 'दृश्य' है तथा इस दृश्य के साथ तुल्यता की संज्ञा 'सादृश्य' है। पाश्चात्य शिल्प-समालोचक रस्किन (Ruskin) ने भी इस विषय को समझने की चेष्टा की थी। अमुक वस्तु में जो कुछ है, इस ज्ञान के आधार पर चित्र बनाना उत्तम नहीं; बरन् वस्तु में जो देख पड़े, उसका चित्रण अतिशय प्रशंसनीय है। 'दृश्य' दो श्रेणी में विभक्त किया गया है अर्थात् बाह्य एवं अंतर। दृश्य बाह्य जगत् में वर्तमान हो अथवा उसकी कल्पना अंतर्जगत् में की गई हो, परंतु जो दृश्य है, उसी के संग सादृश्य का होना अत्यावश्यक है। पाश्चात्य देशों में भावात्मक एवं आकारात्मक-नामक शिल्प के दो विभाग किए गए हैं, किंतु भारतशिल्प में इसका विवरण अपरिज्ञात है। 'आकार' तो भारत-शिल्प का 'अविषय' है, परंतु दृश्य इस शिल्प का मुख्य विषय है और इसी की उन्नति से चित्र आनंददायक होता है। दृश्य तो वस्तुतः दृश्य ही है—यह आकार से सर्वथा विभिन्न है। आकार के अंतराल में रूप, भाव, लावण्य एवं दृश्य वर्तमान रहते हैं और यही भारत-चित्र के निर्माण के श्रेष्ठ विषय हैं। हमारे अधिकांश प्राचीन चित्र इसी प्रणाली के आधार पर चित्रित हुए हैं। इस कारण भारत-चित्र आकार का अनुकरण नहीं करता—इस चित्र के द्वारा अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है और मानव-हृदय आनंद के स्रोत में मग्न हो जाता है। इसी से यह 'सादृश्य' शब्द सूचित हुआ है। यह सादृश्य शब्द तुल्यता नहीं, यह तो तुल्यता का केवल हेतुमात्र है।

षष्ठ अंग—वर्णिका-भंग

जिस वर्ण का समावेश जिस स्थान में आवश्यक है, उस स्थान में उस वर्ण-विन्यास का नाम 'वर्णिका-भंग' है। इस वर्ण-विन्यास के व्यतिक्रम से 'संकरता'-नामक दोष की उत्पत्ति होती है और यह एक सुपरिचित चित्र-दोष है। भारतीय चित्र-साहित्य में चित्र-वस्तु एवं चित्रांकण की वस्तु के उल्लेख मिलते हैं; ये दो श्रेणी की रचनाएँ दो नाम से विख्यात हैं, अर्थात् (१) चित्र-सूत्र तथा (२) चित्र-कल्प। चित्र की मूलपद्धति 'चित्र-सूत्र' में तथा चित्रांकण-पद्धति 'चित्र-कल्प' में लिपिबद्ध की गई है।

स्थान, काल एवं चेष्टा एक ही मनुष्य के दृश्य को अनेकों भाव में प्रदर्शित करते हैं, अतएव पूर्णरूप में चित्र आकारात्मक नहीं हो सकता है। यद्यपि दृश्य बाह्य वस्तु के आकार का अवलंबन कर अभिव्यक्त किया जाता है, तो भी यह आकारानुकृति नहीं, केवल दृश्य सृष्टि है। यह कहना कदापि संभव नहीं कि दृश्य के संग अस्थि-संस्थान-विद्या का संपर्क अत्यधिक है। अस्थि तो अदृश्य है—किसी-किसी स्थान में इसकी स्थिति स्पष्ट देख पड़ती है, किंतु दूरवर्ती दर्शन स्थान से यह अदृश्य ज्ञात पड़ती है, अतएव चित्र में इसका प्रदर्शन न्याय-संगत नहीं है। किंतु अंग-प्रत्यंग के अस्थि-शिरा-मांसपेशी प्रभृति स्वाभाविक संस्थान के लिये जो सब नतोन्नत दृश्य स्पष्ट ज्ञात होते हैं तथा जो दूर से भी दृष्टि-गोचर हो सकते हैं, उनका चित्रण परमावश्यक है; क्योंकि यही चित्र के पांडुलेख्य (Outline) के आधारस्वरूप हैं। भारत-चित्र में शिरा इत्यादि के प्रदर्शन के निषेध-वाक्य प्रचलित हैं, इस सिद्धांत से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि भारत-चित्र के विद्वान् अस्थि-संस्थान-विद्या को

उदाहरण-रूप में आत्म-प्रकाश करने के योग्य नहीं समझते थे। अतएव उन्होंने चित्र से स विषय का बहिष्कार किया था। यही भारत-चित्र के मूल-सिद्धांत का संक्षिप्त विवरण है—हम इससे चित्रकला की उन्नति की मात्रा समझ सकते हैं। यह कला प्राचीन भारत में अपनी चरम सीमा (Zenith) पर आरूढ़ थी; पर आधुनिक कला की क्या दशा है !*

श्रीराजेश्वरीप्रसाद

× × ×

८. कलिका

(१)

किसने उस विकसित कलिका का—
सहसा आज विनाश किया ?
किस मतवाले बेदरदों ने—
मद में यह उपहास किया ?

(२)

जीवन के उपवन का मेरा
सारा सौरभ धूल हुआ;
खोजूँ कहाँ, कहाँ मैं जाऊँ !
ईश्वर ही प्रतिकूल हुआ !

(३)

अन्वेषण है विफल और
सारी इच्छाएँ हैं निर्मूल।
उस कलिका के बिना विश्व—
वैभव लगता है मुझको शूल।

कृष्णचंद्र मुग्दल 'दुःखित'

× × ×

९. भ्रांति

नाहक तूने मुझे भुलाया !
विकल वेदना का संचित धन,
आह पथिक कब कहाँ गँवाया ?
मैंने आँसू के झरने से,
विश्व अनेक बार नहलाया।
ओस-बिंदु से धुली कली थी,
रोकर कैसी छुपकी माया।
प्रेम-विभोर करुण कंपन में,
मैंने विरह विधुर ही गाया।
क्षीण कंठ की आकुलता ने,
कभी न क्षण-भर मन बहलाया।
किंतु चेतना कांतिमयी थी,
फिर क्या लहर उठी थी काया।
द्युति धन जीवनवेदी पर,
दुख से सुख, रोकर अलसाया।

मुकुंदीलाल गुप्त

* बँगला के एक लेख के आधार पर।

Registered No. A. 1127.

Printed & Published by ... D. Seth, at the Newul Kishore Press, Lucknow.

लेख-सूची

चित्र-सूची

१—रंगीन

२—व्यंग्य-चित्र



अध्यक्ष—श्रीविष्णुनारायण भार्गव

वर्ष ९ खंड १ | मार्गशीर्ष, ३०७ तुलसी-संवत् (१९८७ वि०) | संख्या ५ पूर्ण संख्या १०१

विष-पान

जाग उठी है दारुण ज्वाला
    इस अनंत मधुवन में;
कैसे बुझे, कौन कह देगा
    इस नीरव निर्जन में।
यह अनंत अवकाश नीड़-सा
    जिसका व्यथित बसेरा;
वही वेदना जाग रही
    पलकों में भरे सबेरा।

काँप रहे हैं चरण पवन के
    विस्तृत नीरवता - सी;
घुली जा रही, अनजाने
    दिगंत की मलिन उदासी।
जीवन की वह प्यास
    विकलता से लिपटी बढ़ती है;
युग-युग की असफलता का
    अवलंबन ले चढ़ती है।

विश्व विपुल आतङ्कत्रस्त है
अपने ताप विषम से;
फैल रही है घनी नीलिमा
अंतर्दाह परम से।
उद्वेलित है उदधि, लहरियाँ
लोट रहीं व्याकुल-सी;
चक्रवाल की धुँधली रेखा
देख पड़ रही झुलसी।
सघन धूम-कुंडल में कैसी
नाच रही यह ज्वाला;
तिमिर फणी पहने है मानो
अपनी मणि की माला।
जगतीतल का सारा क्रंदन
हा हा कार, विषमता;
चुभनेवाली अंतरङ्ग
छल की दारुण निर्ममता।
जीवन के वे शत-शत दंशन
जिनकी आतुर पीड़ा;
कलुष चक्र-सी नाच रही है
बन आँखों की व्रीड़ा।
स्खलन चेतना के कौशल का
मूल जिसे कहते हैं;
एक बिंदु! जिसमें विषाद के
नद उमड़े रहते हैं।
आह वही अपराध!
हमारी दुर्बलता की माया;
धरणी की वर्जित मादकता
संचित तम की छाया।
नील गरल से भरा हुआ
यह चंद्र कपाल लिए हो;
इन्हीं निमीलित ताराओं में
कितनी शांति पिए हो!
अखिल विश्व का विष पीते हो
सृष्टि जिएगी फिर से;
कहो अमर शीतलता इतनी
आती तुम्हें किधर से।
बैठे अचल, अनंत
नील लहरों पर आसन मारे;
देव! कौन तुम झरते तन से
श्रम-कण से ये तारे।*

जयशङ्कर "प्रसाद"

* अप्रकाशित काव्य से।

भारतीय कला में त्रिविक्रम

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।
समूढमस्य पांसुरे ॥

वेद की श्रुति में कहा गया है कि विष्णु ने तीन पैर रखकर त्रिलोकी को नाप लिया । पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्यौ के तीन विभाग उसके तीन चरणों के विस्तार में सीमित हो गए । यह मंत्र भारतीयों के अनेक संस्कारों पर पढ़ा जाता है, जीवन के प्रत्येक अवसर पर त्रिविक्रम विष्णु के त्रेधा पाद-विहरण के वैज्ञानिक सिद्धांत से शिक्षा ग्रहण की जा सकती है ।

जितना ब्रह्मांड है सब विष्णुरूप है । ब्रह्मांड में व्यापक होने से ही विष्णु की संज्ञा हुई है । यह ब्रह्मांड त्रिगुणात्मक प्रकृति की रचना है । तीन गुणों के वैषम्य से ही सृष्टि होती है । सत्व-रज-तम के ही नामांतर ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं । इन्हीं में सृष्टि का आदि, मध्य और अंत समाया हुआ है ।

उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय के तीन चरणों में सारे भूत बँधे हुए हैं । ब्रह्मांड में एक परमाणु भी ऐसा नहीं है, जो सर्ग-स्थिति-लय के अखंड नियम से नियंत्रित न हो । जहाँ तक विष्णुरूप ब्रह्मांड है, वहीं तक विराट् के चरणों ने सबको नाप रक्खा है । फिर क्या आश्चर्य जो ऋषियों ने समाधि में इस तत्त्व का अनुभव किया हो कि सृष्टि में त्रिक का ही प्राधान्य है । इसी वैज्ञानिक नियम को उन्होंने इस मंत्र में कहा है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।
समूढमस्य पांसुरे ।

किसी भी विज्ञान-संबंधी नियम की पराकाष्ठा यही है कि वह अतिशय सामान्य शब्दों में व्यक्त किया गया हो । वह जितना व्यापक होगा, उतना ही श्रेष्ठ है और प्रकृति के उतने ही अधिक रहस्यों की कुंजी है । साथ ही वह जितना अधिक व्यापक होगा, उतना ही उसे सरल भी होना चाहिए (The more generalised a scientific law is, the simpler it is.) विष्णु ने तीन पैर में त्रिलोकी को नाप लिया, इससे सरल और व्यापक नियम की संभावना कहाँ है । प्रत्येक परमाणु के अंतःकरण पर और विराट् सौर-मंडल के वक्ष पर यही नियम लिखा हुआ है—

विष्णु ने तीन चरणों में तीन लोकों को नाप लिया है, पिंड और ब्रह्मांड सभी आदि, अंत और मध्यवाले हैं, सभी को रज, सत और तम की अवस्थाओं में से निकलना पड़ता है, कोई भी सर्ग, स्थिति और प्रलय के चक्र से नहीं बचा है । इसलिये जातकर्म के संस्कार में हमारे त्रिप्रगण हमें स्मरण दिलाते हैं—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।

अर्थात् यह जो नवजात शिशु तुम देखते हो, जिसके शतसांवत्सरिक जीवन-सत्र के आदि उत्सव में आज इतने विह्वल हो, वह रह-रहकर याद दिलाता है कि विष्णु ने पहला चरण उठाया है, उसके दो चरण आगे आनेवाले हैं । हममें से हर कोई इन्हीं तीन चरणों के विन्यास में कहीं-न-कहीं पड़ा हुआ है । विवाह के आमोद में जब नववधू के कटाक्ष में त्रिलोकी विस्मृत हो जाती है, ऋत्विक् लोग यही घोषित करते हैं—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।

लेकिन अब की क्या हो रहा है ?

समूढमस्य पांसुरे—

विष्णु के मध्य चरण में लोग समूढ़ हो जाते हैं । यह पांसुल प्रदेश है. इसमें अविवेकी जन विमूढ़ होकर आगे आनेवाले उस चरण को नहीं देखते, जब चिता की भस्म के विलेपन-समय, ऋत्विक् लोग फिर पुकारकर यहीं सुनायेंगे—

इदं विष्णुर्विचक्रमे ... ...

यह शरीर एक चिति ही है, इसकी अंतिम आहुति देने के लिये जो समिधाओं का चयन किया जाता है, उसी का नाम चिता है । वह अमंगल करनेवाली है सही, परंतु प्रत्येक प्राणी की देह में किसी-न-किसी दिन अवश्य उस अमंगलास्पद भस्म का अंगराग लगाया जायगा । जिसने 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' के वैज्ञानि

तत्त्व को जान लिया है, वही कालिदास के स्वर में स्वर मिलाकर कह सकेगा—

तदंगसंसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुवं चिता-भस्म-रजोविशुद्धये ।

अर्थात् विष्णु का जो तीसरा चरण है, वह रुद्र बनकर प्राणियों को रुलाता है, परंतु विवेकी जन उसी में शिव-तत्त्व के दर्शन करते हैं। विनाश में भी कल्याण का मर्म छिपा है, चिता भी परम शुद्धि का हेतु है, यही प्राकृतिक विधान है। शिव ने जिस भस्म को संस्पृष्ट कर दिया है, उसमें अमंगल का लेश भी नहीं है। जो इस रहस्य में पारंगत हो गया है, उसी के लिये व्यक्त से अव्यक्त-स्थिति में चले जाने से परिदेवना नहीं है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ गीता ॥

अव्यक्त, व्यक्त और फिर अव्यक्त, यही विष्णु का त्रेधा विचक्रमण है। इसी को कृष्ण ने कौमार, यौवन और जरा भी कहा है और 'समूढमस्यपांसुरे' के उत्तर में बताया है कि धीर इस चक्र में पड़कर मोह को नहीं प्राप्त होते।

धीरस्तत्र न मुह्यति—गीता २।१३ ।

नटराज शिव के नृत्य के श्रीगणेश, मध्य और पर्यवसान के साथ ही काल के तीन परिच्छेद भूत, वर्तमान और भविष्य भी मिले हुए हैं। इन्हीं में विश्वभूत समाए हुए हैं। इसलिये समस्त विश्व मर्त्य है। काल ने जिनको ग्रस लिया है, वे ही मरणधर्मा हैं। सारी सृष्टि को देश और काल (Time space) ने परिच्छिन्न कर रक्खा है। वह सब विष्णु के तीन चरणों में नाप ली गई है। उससे परे अमृत ब्रह्म है, जहाँ प्रकृति का प्रपंच नहीं है, उसे ही विष्णु का परमधाम कहा गया है। वह परमपद है। उस धाम में एक शहद का कुआँ है, जिसके मधु-स्वाद को ज्ञानी सदा चखते हैं। जिनके चक्षु हैं, वे उस परमपद को आकाश में फैला हुआ देखते हैं। परम-तत्त्व अविवेकियों के लिये कितना भी गूढ़ क्यों न हो, ज्ञानियों को वह सर्वत्र फैला हुआ जान पड़ता है—

दिवीव चक्षुराततम् ।

'इदं विष्णुः' के वैदिक मंत्र में जो कलात्मक सूत्र है, उसने सारे देश के जीवन को कलामय बनाने में भाग लिया है। भारतीय भूमि पर जन्म लेनेवाला कोई दर्शन, धर्म, विज्ञान या कलामय विकास इस त्रैगुण्य के प्रभाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। जहाँ इन तीनों का समन्वय किया गया है, वही जीवन-क्रम एकांगी या ऐकांतिक होने से बचा रहा है। त्रैगुण्य या ब्रह्मा-विष्णु-महेश के सामंजस्य में सौंदर्य है, उनकी एकनिष्ठता में संघर्ष और विरोध है।

वेद-त्रयी के समन्वय ने ज्ञान कर्म और उपासना के रूप में समस्त जीवन को समन्वय-विशिष्ट बनाया है। एतद्देशीय ज्ञान-विज्ञान का विकास ही इन तीन पक्षों में हुआ है। परंतु सर्वातिशायी सौंदर्य वहीं मिलेगा, जहाँ इन तीनों के वैषम्य में भी सामंजस्य का मार्ग निकाला गया है। काव्य में कालिदास और तुलसीदास की अमर कृतियों में हरि-हर का समन्वय किया गया है। वही उनकी ऐकांतिक सफलता का रहस्य है।

कला के क्षेत्र में भी ब्रह्मा, विष्णु और महेश का ही प्राधान्य है। तीनों 'देवों' के प्रतिनिधि तीन गुणों ने एक साथ मिलकर भारतीय कला को जो अमर सौंदर्य और आध्यात्मिकता प्रदान की है, वह पृथ्वीतल में अभूत-पूर्व ही है। उस कला की निःशेष व्याख्या करनेवाला महामहिम सूत्र 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' है। वेदत्रयी के साथ इसका संबंध है; प्रणव की तीन मात्राओं में जिस संस्थान (System) का संकेत है, वह भी इस सूत्र में है। बिना इन तीनों के भारतीय कला का जन्म हो ही नहीं सकता था। दर्शन, अध्यात्म, विज्ञान और काव्य के सदृश कला भी राष्ट्रीय संस्कृति की आत्मा का एक विकसित रूप है। वह इस त्रिक से कैसे बच सकती थी। वस्तुतः भारतीय संस्कृति समन्वय-प्रधान (Synthesis loving) है। हमारे देश के अंतःकरण को वह वस्तु रुचती ही नहीं, जिसमें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का सम्मिलन न हो। इन तीनों गुणों के परिपाक से भारतीय कला में विलक्षण शांति, आनंद और सौंदर्य की स्थिति है। भविष्य के कलाकोविद इस विशेषता को ध्यान में रक्खें, तभी वे राष्ट्रीय कला के सच्चे प्रतिनिधि कहला सकेंगे।

इन तीन गुणों को अच्छी तरह समझ लेना प्रत्येक कला-मर्मज्ञ के लिये भी आवश्यक है; क्योंकि बिना इनका ज्ञान हुए वह प्राचीन कला का सहानुभूति-पूर्ण अनुशीलन करने से वंचित रहेगा और साथ ही उन अनेक विशेषताओं को न समझ सकेगा, जिन्होंने गौण रूप से समवेत होकर राष्ट्र के कलात्मक जीवन में भाग लिया है।

सत्यं=Reality—ब्रह्मा
शिवं=Spirituality—शिव
सुन्दरं=Decorativeness—विष्णु

सत्य और सुंदर में उन सब द्वंद्वों का परिहार हो जाता है, जिन्होंने वस्तु-स्थितिवाद (Realism) और आदर्शवाद के नामों से समस्त संसार के कलाविदों को दो श्रेणियों में बाँट दिया है। भारतवर्ष में इस प्रकार का द्वंद्व कभी सुनने में नहीं आया। सत्य और सुंदर वस्तु के सम्मिलन से ही मानव-हृदय परितृप्त होता है। परंतु भारतवर्ष की आध्यात्मिक भूमि में कला का जन्म ही न होता, यदि शिवात्मक गुणों के साथ कला का तादात्म्य न कर दिया जाता। यदि कला भी अध्यात्म-सामग्री का अंग नहीं है, तो उसे आत्म-प्रधान जीवन में स्थान कहाँ मिल सकता है। और, आत्म-पराङ्मुख होकर किसी भी वस्तु का मूल्य नहीं है। मध्यकालीन भारतीय कला पर बाह्य प्रभाव के कारण शिवात्मक अंश का ह्रास हो गया था। फलतः भारत के उच्च आध्यात्मिक जीवन से कला का संबंध विच्छिन्न हो गया, और कला में जो संजीवनी शक्ति थी, वह भी शृंगार विष से मूर्च्छित होकर निष्प्राण बन गई। कला की शुष्क परिभाषा के अनुशासन से बाधित होकर शृंगार-प्रधान काव्य-चित्र-प्रासादादि को हमें कला का नाम भले ही देना पड़े, परंतु एतद्देशीय कला के ऐतिहासिक विकास में भोगोन्मुख कला बहुत निकृष्ट और जघन्य श्रेणी की है। विशुद्ध भारतीय कला का युग मुस्लिम-कला के उदय से पूर्व ही समाप्त हो गया था।

सत्य, शिव और सुंदर के त्रिक में से एक-एक गुण की विशेष अभिव्यक्ति देखने के लिये हमें विदिशा, अजंता और इलोरा के दर्शन करने चाहिए। सत्यं-शिवं-सुन्दरम् के समान ही विदिशा-अजंता-इलोरा भी भारतीय कला का प्रमुख सूत्र हैं। जिस प्रकार कला के सिद्धांतों में ब्रह्मा-विष्णु-महेश का समन्वय है, उसी प्रकार कला की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति में भी 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' का अव्यभिचारी नियम पाया जाता है। इस त्रिक के साथ साहित्य में भास, कालिदास और शंकर का सूत्र है। इस सूत्रत्रयी में संक्षेप में भारतीय कला का सिद्धांत, इतिहास और साहित्यिक अनुप्राणन सब कुछ सम्मिलित हो जाता है। वह इस प्रकार है—

सत्यम्	भिलसा	भास
सुंदरम्	अजंता	कालिदास
शिवम्	इलोरा	शंकर

यों तो सर्वत्र सब गुणों की उपस्थिति मिलती है, तथापि एक-एक के साथ एक-एक गुण का विशेष संबंध है। विदिशा और साँची के स्तूपों में वस्तु-स्थिति को चित्रित और प्रकट करने की ओर अधिक लक्ष्य है। उसमें सजावट और सौंदर्य की जो कमी है, उसी का प्रतिबिम्ब भास के नाटकों में पाया जाता है। भास के नाटक कर्मप्रधान हैं, उनमें वस्तुग्रंथन बहुत समुदीर्ण है। पात्रों में सजीवता तो है, परंतु सौंदर्य की कमी है। भास ने अपने स्त्रीपात्रों को भूषित, सज्जित करने की ओर ध्यान नहीं दिया। परंतु कालिदास के स्त्रीपात्रों में जो शृंगार है, उसी की छटा अजंता की प्रत्येक गुहा में है। उनके सौंदर्य-विधान के अध्ययन में और अजंता के सौंदर्योपकरण से उसकी तुलना करने के लिये एक पूरे ग्रंथ की आवश्यकता है। भास के नाटक विदिशा और साँची के स्थपति सम्राट् और तक्षकों के आभ्यन्तरिक विचारों का परिचय कराते हैं, तो कालिदास के काव्य अजंता-कला के सर्वोत्तम व्याख्याता हैं। अजंता के साथ ही बाघ के कला-मंदिर भी हैं। उनके चित्रकारों ने सौंदर्य की चरम व्यंजना के उद्देश्य से सुकुमार तूलिका के द्वारा जिन चित्रों को उन्मीलित किया, उन्हीं को उन्मिषित करने में कुमारसम्भव और शकुंतला के प्रणेता कालिदास का परम कौशल था। कुमारसंभव के प्रथम सर्ग में पार्वती का वर्णन करते हुए कवि-कुलगुरु ने साक्षात् लिखा है—'उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रम्।' एक ओर पार्वती की उषःकालीन सुनहली कांति का प्रकाश हो रहा है, दूसरी ओर कलाविदों के काव्य और चित्र उसी शोभा को पदों और वर्णों में व्यंजित कर रहे हैं। कलाविष्णु के इस चरण में सौंदर्य की उपासना प्रधान है। उस सौंदर्य में आध्यात्मिकता की मात्रा भी है, पर वह इस प्रकार छिपी हुई है जिस प्रकार मेघदूत, कुमारसंभव और शकुंतला में काव्य के पीछे दर्शन छिपा हुआ है। काव्य के आनंद से तृप्त हो जानेवालों को उस मनोहर दर्शन का आस्वादन नहीं हो पाता ; पर जो एक बार वहाँ तक पहुँच जाता है, वह सुंदर और शिव के इस विलक्षण सम्मिलन से सदा के

लिये पराभूत होकर उसी अमृत-पान का इच्छुक बना रहता है। प्रथम सर्ग की पार्वती के सौंदर्य में अभिमान है, वहाँ केवल सौंदर्य के कारण मोह की सामग्री है। इसलिये पार्वती ने रूप के बल पर शिवजी को मोह लेना चाहा था, पर वैसा हो नहीं सका और शिव ने काम को भस्म करके रूप के गर्व को खर्वित कर दिया। रूप को परास्त करके कवि ने नए संगीत की तान छेड़ी—

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥

अर्थात् जब पिनाकपाणि शिव ने मनोभव को भस्म कर दिया, पार्वती के मनोरथ भी भग्न हो गए। चारुता के विफल होने से स्वयं पार्वती ने, जिसे कुछ क्षण पहले रूप का अभिमान था, अपने रूप को बहुत धिक्कारा। शिवात्मक तत्त्व से विरहित सौंदर्य की धिक्कृति में कालिदास ने भारतीय कला के सर्वोच्च रहस्य को प्रकट कर दिया है। कला को ग्राह्य बनाने के लिये नए आयोजन का सूत्रपात हुआ और कवि की वीणा से—

'इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां तपोभिरास्थाय समाधिमात्मनः।'

के स्वर गुंजारने लगे। प्रथम सर्ग की पार्वती में चमक-दमक बहुत है, पर उसमें तपस्या का तेज नहीं है। पंचम सर्ग में कवि ने पहली पार्वती को तपाकर खूब निखारा है; अंत में समस्त मलीमसों से परिशुद्ध उनके दर्शनार्ह तेज को देखकर हमें अलौकिक आनंद और शांति प्राप्त होती है। ज्ञानी या ऋषि की स्थिति में पहुँचे हुए मनुष्य को भी पंचम सर्ग की पार्वती आनंद दे सकती हैं।

इस प्रकार तप से सँवारी हुई कला लोक-पराङ्मुख रहे, तो भी आनंद नहीं होगा। इसलिये अंत में सप्तम सर्ग की पार्वती है, जिनके तपोऽवदात शरीर को कवि ने उसी प्रकार सजाया है, जैसे सुवर्णकार तपे हुए सोने पर अपनी कला के सौभाग्य को निछावर करता है। प्रेम और संयम के रहस्य-तारतम्य की व्याख्या करके भी कवि ने कला की प्रधानता को ओझल नहीं होने दिया। प्रथम, पंचम और सप्तम सर्ग की पार्वती के तीन सूत्रों को समझकर, 'सत्यं शिवं सुंदरम्' का रहस्य अवगत करके अजंता-कला का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी को अपूर्व आनंद की प्रतीति होगी।

विष्णु का तीसरा चरण इलोरा के कैलाशमंदिर में रक्खा गया था। जिस शताब्दी ने शंकर को जन्म दिया, उसी में कैलाशमंदिर का निर्माण हुआ। शंकर के पूर्ववर्ती बाणभट्ट हैं, जिनके काव्य में सुंदरता की सामग्री के आपाततः वर्णन की परा काष्ठा है। बाणभट्ट कलाभवन में प्रवेश करके उसके रोम-रोम को सँवारना चाहते हैं। उनके वर्णनों का अंत नहीं है, वह अपने ही नेत्रों से हमें सब कुछ दिखाना चाहते हैं। यदि लोमश और मार्कण्डेय की आयु हमें प्राप्त हो, तब कदाचित् हम बाणभट्ट के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कला-परमाणुओं का पूरी तरह से ज्ञान करने में समर्थ हो सकें। कला के प्रत्येक अणु को साक्षात् करने की प्रवृत्ति और प्रत्येक व्यक्ति में आत्मतत्त्व को पहचानने की प्रवृत्ति में घनिष्ठ संबंध था। मूर्ति के साथ पाषाण का कोई अंश ऐसा नहीं था, जिसमें सौंदर्य के दर्शन न हो सकें, मानों प्रत्येक सूक्ष्मांश अंतःवृत्त होकर अपने अंतःकरण के सारे सौंदर्य को हमारे लिये प्रकट कर देना चाहता था। प्रत्येक पुरुष के भीतर भी आत्म-तत्त्व की खोज हो रही थी। ऐसा प्रतीत होता है, मानों कला का निर्माता बड़ी समाधि के साथ एक-एक अंग पर निदिध्यासन करता हुआ आगे बढ़ता है। इलोरा और एलीफेंटा के कैलाशमंदिरों के स्तंभों में कैसी अनंत सजावट भरी हुई है। उनकी व्याख्या बाण की कादंबरी में है।

कला-पुरुष जब इस प्रकार अंतःवृत्त होकर अध्यात्म-अन्वेषण में तल्लीन था, उसी समय शंकर ने आकर एक ही सपाटे में 'अहं ब्रह्मास्मि' के दुंदुभि-घोष से मनुष्य को देव बना दिया। कलाविदों को साढ़े तीन हाथ की प्रतिमाओं से संतोष क्यों होने लगा? उनके मस्तिष्क के वामन-पुरुष ने विराट् रूप धारण कर लिया। उसके फलस्वरूप इलोरा के विभ्राट् कैलाश-मंदिरों का निर्माण हुआ, जहाँ के स्थपति मनुष्य को ब्रह्म बनाकर देखने की प्रतिज्ञा करके बैठे थे। दन्तिदुर्ग राष्ट्रकूटों ने शंकर के सिद्धांतों को मूर्तिमंत देखने का संकल्प किया और कैलाश-मंदिर के विशालकाय दुर्घट दंतियों को गढ़कर तैयार किया। ब्रह्म के संस्पर्श से आत्मा में भी विभूति और ऐश्वर्य (Grandeur, Majesty) के भावों का प्रादुर्भाव हुआ। कैलाश के दर्शन करनेवाले प्रत्येक यात्री के मुँह से विभूतिमान् और ऐश्वर्यवान्, ये दो विशेषण अनायास ही निकल पड़ते हैं। ब्रह्मात्मैक्य-वाद के प्रचार से बृंहणता के तत्त्व को गौरव प्राप्त हुआ, फलतः मनुष्य के बौने आकार से तिगुनी-चौगुनी विशा-

लतावाली प्रतिमाएँ बनने लगीं। मनुष्य-देह के साधारण परिमाण में बँधी हुई आत्मा वामन थी, वही ब्रह्मज्ञान पाकर विराट् बनी। उसके विराट् परिधान को प्रकट करने के लिये इलोरा के कलाकोविदों ने सहर्ष प्रयास किया है। इस प्रयास में स्वाभाविक उमंग छिपी हुई है। कहीं भी कातरता का लेश नहीं है।

संसार के भार से अध्यासित आत्मा पहले दबी जाती थी, वही अब इस विपुल गौरव-भार को प्रसून के समान धारण करती है। कैलाश-मंदिर की स्थापत्य-कला ऊपर से देखने पर अस्वाभाविक जान पड़ती है, परंतु दार्शनिक तत्त्व के साथ मिलाकर देखने से उसमें स्वाभाविकता की प्रचुर मात्रा मिलती है। यदि 'अहं ब्रह्माऽस्मि' का सिद्धांत ठीक है, तो कैलाश-मंदिर से बढ़कर उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति और हो ही नहीं सकती। दसवीं शताब्दी में इलोरा के कैलाश-मंदिर का अनुकरण करके, सागरमध्यवर्ती घारापुरी द्वीप में (जिसे आजकल एलीफेंटा कहते हैं) दुर्गम पर्वतों का तक्षण करके एक दूसरे कैलाश-मंदिर का निर्माण हुआ। इसके अलक्ष्य तोरण पर भी कलाकार ने वही विभूति और ऐश्वर्य नामक (Transcendental) विशेषण लिख दिए हैं। इसके विपुल प्रांगण में आश्चर्यमुग्धता से खड़े हुए शिव-शिव जपनेवाले दर्शक को ऐसा प्रतीत होता है, मानों वह इस भवन से ऊपर उठकर ब्रह्म भाव के साथ अभिन्न हो रहा है (ब्रह्म भूयाय कल्पते, ब्रह्मभूयाय कल्पते) और तब वह उरुगाय विष्णु के विराट् रूप का ध्यान करके कह उठता है—

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।
उरु विष्णो विक्रमस्वोरुक्षयाय न स्कृधि ॥

इलोरा के बाद भारतीय कला का ऊर्जित सत्त्व समाप्त हो गया। परंतु कलामय विष्णु के त्रेधा विचंक्रमण से अब भी हमें शाश्वत आनंद प्राप्त हो रहा है।

वासुदेव

अगस्त्य भगवन् !

(१)

नाम रतनाकर यथारथ पर्‌यो है यातैं,
चौदहौ रतन धारे सोहतै रहति है!
तरल तरंगनि उमंगनि के संगनि सों,
बिस्व-मोहिनी कौ मन मोहतै रहति है।
निखिल नदी-नद कौ निपुन निधानु एकै,
बोहित के बृंदनि वियोहतै रहति है।
ए हो कुम्भजात ! एतो बारिधि बढ़्यौ तौ कहा
रावरी कृपा की कोर जोहतै रहति है।

(२)

मान्यो न मुनीनु के मनाए मन-मान्यो कियो,
आयो रबि रोपन को आड़े व्योमतल के।
बढ़न बिभावरी बिसद बसुधा में लगी,
सारे जीव-जन्तु बिललाने जल-थल के।
घट-घट व्यापी घटयोनि ! जो तुम्हारी टेक
नीच नीच ह्वैगो तुल्य जोजन जुगल के।
दाबतै अगूँठा के पताल को परातो जो पै,
होती बिन्ध्य-बासिनी न अंक बिन्ध्याचल के।

'अनूप'

मालवे का उजड़ा स्वर्ग माँडू

बहुत दिनों से मालवे की प्रशंसा सुन रक्खी थी। कालिदास ने इस भूमि की दिल खोलकर तो प्रशंसा की थी ही, जहाँगीर ने भी अपने रोज़नामचों में मालवे और विशेषकर माँडू की तारीफ़ के पुल बाँध दिए हैं। धार में आते ही हम लोग मुग़ल-काल के उन वैभवशाली स्थानों को देखने के लिये उत्सुक हो उठे। कहते हैं, बरसात में माँडू दुलहिन हो जाती है, इसीलिये वर्षा की ही प्रतीक्षा होने लगी। पानी पड़ते ही मित्रों की उत्सुकता और बढ़ी और एक दिन सबेरे ही सब-के-सब मोटरों में चल पड़े। अँधेरा ही था, रास्ता मीलों का था और ऊपर डर यह लगा था कि कहीं पानी न बरसने लगे। धार से नालछा तक तो पहाड़ियों के मार्ग का चढ़ाव-उतार देखते ही बनता था। बादल हो चले थे और मोटर की तेज़ी से हवा की ठंढक और भी बढ़ गई थी। पर हम लोग कपड़े ख़ूब पहने थे और कम्बल भी लेकर चले थे। जिनके पास कम्बल न थे, वे बरसाती कोट ही ओढ़े थे। नालछे के आगे पहुँचते ही कुछ बूँदें पड़ने लगीं और हम लोगों ने समझा कि मज़ा किरकिरा हुआ। रास्ते में 'काकराकोह'-नामक स्थान पर ड्राइवरों ने मोटरें रोक दीं और लड़के उतर-उतरकर उछलने लगे। देखते हैं, तो सामने बड़ा भारी खोह है, जिसके नीचे कोई १०० गज़ गहरा खड्ड है, जो माँडू की पहाड़ी के चारों ओर तक फैल गया है। इसके दक्षिण ओर नीमाड़ का चौड़ा मैदान है और माँडू को राजधानी बनानेवाले सुलतानों ने सचमुच बड़ा ही रमणीक और सुरक्षित स्थान पसंद किया था, यह बात यहीं से स्पष्ट होने लगती है। पास ही एक कुटिया है, जिसके नीचे एक छोटा-सा सोता है, जिसमें से बारह महीने पानी बहता है। इसी पानी से वहीं एक पक्का कुण्ड बना दिया गया है, जिसके बनानेवाले कोई रैदास भक्त बतलाए जाते हैं। खड्ड की गहराई और चौड़ाई बहुत ही भयानक है और बीच में खड़े होकर नीचे ताकने से एक बार होश दंग हो जाते हैं। ऊपर से जो आसपास का पानी इकट्ठा होकर बहता है, उससे एक छोटा-मोटा प्रपात बन गया है। इसके बहाव के बीच में एक पत्थर के ऊपर आल्हा के घोड़े की टाप का चिह्न बना हुआ है, जो अब भी स्पष्ट दिखाई देता है। कहते हैं, आल्हा का घोड़ा "बेंदुला" इसी रास्ते माँडवगढ़ को गया था।

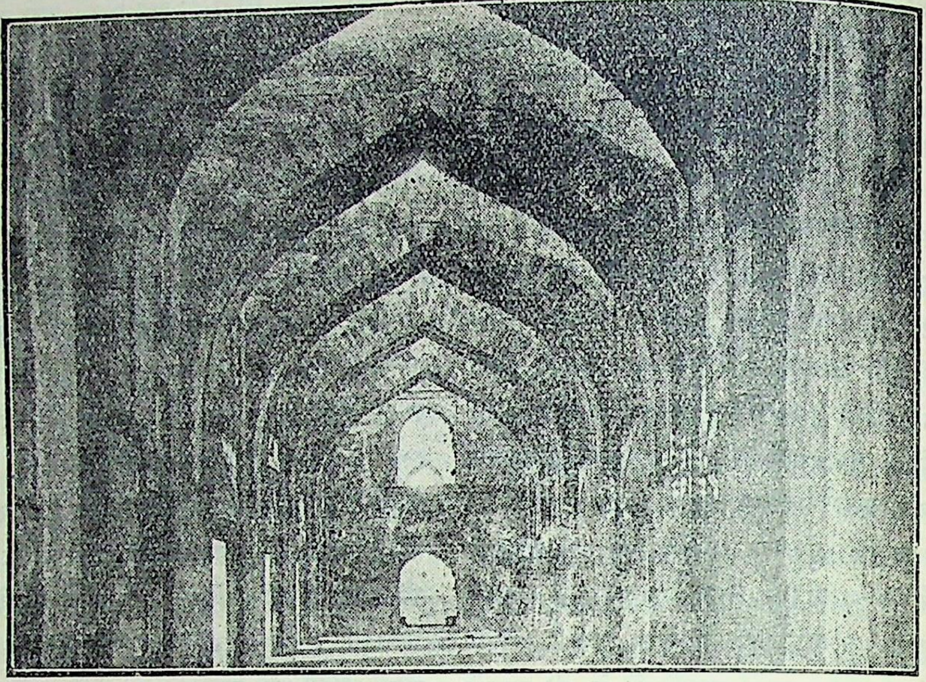
इसके आगे सड़क टेढ़ी-मेढ़ी होने लगती है और साधारण मोटर हाँकनेवालों की नाक में दम हो जाता है। पग-पग पर माड़ और चढ़ाव-उतार हैं। माँडू या मांडवगढ़ के भीतर प्रवेश करने के लिये पहलेपहल आलमगीरी दरवाज़ा मिलता है, जिसके ऊपर एक शिला-लेख है। इसमें लिखा है कि आलमगीर अर्थात् औरंगज़ेब के समय में इस दरवाज़े का जीर्णोद्धार हुआ था। आगे चलकर भंगी-दरवाज़ा मिलता है, जिसके विषय में एक छोटी-सी दंतकथा है। कहा जाता है कि जब यहाँ का क़िला बन चुका, तो एक भंगी का बलिदान दिया गया था। जिस स्थान पर देवी-देवताओं के प्रसन्न करने के लिये बेचारे मेहतर की जान ली गई थी, वहाँ अब भी दीवार में एक पत्थर लगा हुआ है। पता नहीं, क़िले की रक्षा के लिये भंगी के ही प्राणों की आवश्यकता थी क्या। परंतु इसकी बनावट हिंदू-प्रणाली की है और उसका बहुत-सा भाग तो गिरा पड़ा है।

यहाँ से आगे पहाड़ी का चढ़ाव और बढ़ जाता है और सड़क के दोनों ओर का जंगली दृश्य बड़ा ही मनोहर है। ऊपर चढ़ते हुए वहाँ से मालवे के मैदान का विहंगम दृश्य देखते ही बनता है। थोड़ी ही दूर पर दिल्ली-दरवाज़ा आता है, जो बहुत ही मज़बूत तथा सुंदर बनाया गया है। लाल पत्थर का यह प्रवेश-मार्ग अनेक आक्रमणों से टूट-फूट गया है, परंतु फिर भी इसकी मौलिकता में अंतर नहीं पड़ सका है। इसके भीतर आगे चलकर धार-रियासत के चिह्नस्वरूप दो हाथी, कमल के फूल तथा चक्र बने हुए हैं, जो उससे बहुत बाद के बनाए गए हैं।

यहाँ से थोड़ी दूर चलकर सड़क दो भागों में बँट जाती है, जो आगे जाकर फिर मिल जाती हैं। एक सड़क सीधी जाता है, जिस पर अनेक पुरानी इमारतें हैं, और दूसरी पूरब होती हुई मुंज-तालाब के पास से फिर माँडू को चली गई है। प्रायः लोग छोटी सड़क की इमारतें देखकर लौटते समय शेष इमारतें देखते हैं। हम लोगों ने भी ऐसा ही किया और यहाँ से पहलेपहल हथियापोल-गेट देखने गए। इस दरवाज़े पर दो बड़े-बड़े हाथी दोनों ओर बने हैं, पर टूटे हुए हैं। ये हाथी शायद आगरे के क़िले के दरवाज़े पर बने हुए दोनों हाथियों की नक़ल हैं, जिन्हें अकबर ने चित्तौड़ के राणा को विजय करके स्मृतिस्वरूप आगरे में बनवाए थे। इसके पास ही सड़क के दूसरी ओर दो पुरानी बावड़ियाँ हैं, जो उजाली बावड़ी और अँधेरी बावड़ी के नाम से प्रसिद्ध हैं। आगे चलकर एक और बावड़ी है, जिसका नाम है चम्पा-बावड़ी। जान पड़ता है, इन्हीं बावड़ियों से ही महलों को पानी पहुँचाया जाता था। किसी समय में इनकी शोभा और ही रही होगी; क्योंकि ज़मीन के नीचे घाट इनमें बने हैं। वे अब तक पुराने होने पर भी मज़बूत हैं और इनका पानी भी स्वच्छ रहता है। इन स्थानों पर कड़े पहरे रहते थे, जैसा कि सर टामसरो के विवरण से मालूम होता है। अँधेरी बावड़ी के दोनों ओर खम्भेदार रास्ते के कारण इसमें बहुत अँधेरा रहता है। पता नहीं, चम्पा-बावड़ी नाम कैसे पड़ा, पर इस समय भी यह बावड़ी तीनों में सबसे अच्छी अवस्था में है। यहाँ से थोड़ी दूर पर सूरज-ताल है, पर जान पड़ता है कि पास के महलों का काम चम्पा-बावड़ी से ही चलता था। कहा जाता है कि किसी समय यहाँ १२,००० सुंदरी स्त्रियाँ रहती थीं और देखने से भी यही पता चलता है कि इन सबके नहाने-धोने का प्रबंध इसी बावड़ी से होता था। नीचे-ही-नीचे रास्ते बने हैं और ऊपर से छत बनी है, जिसमें से रोशनी और हवा आ-जा सकती है। गर्मी के दिनों में तो इसके नीचे बहुत ही ठंडा रहता होगा। पास ही बड़े-बड़े हम्माम बने हुए हैं, जिनमें पानी आने-जाने के लिये छोटी-छोटी ख़ूबसूरत गलियाँ बनी हैं, जो अब तक ज्यों-की-त्यों दिखाई पड़ती हैं। पानी के इधर-उधर आने-जाने के लिये ऐसे चक्करदार रास्ते बने हैं कि देखते ही बनता है।

दिलावरख़ाँ ग़ोरी की क़ब्र इसके पास ही है और सामने ही हिंडोला-महल भी है। हिंडोला-महल बाहर से देखने में कई हिंडोलों का समूह जान पड़ता है और लगभग पाँच सौ बरस का पुराना है। नीचे एक लम्बा-चौड़ा दीवानख़ाना है और ऊपर जाने के रास्ते बहुत चौड़े हैं। इनमें से एक का नाम है "हाथी-चढ़ाव"। कहा जाता है कि पालकी तथा घोड़ों के अतिरिक्त सवारी लिए हुए सीधे हाथी भी इस रास्ते से ऊपर तक चले जाते थे। यह प्रायः बेगमों के लिये बनाया हुआ जान पड़ता है; क्योंकि रास्ता अभी तक ऐसा है कि बड़े-से-बड़ा हाथी ऊपर तक जा सकता है। ऊपर महिलाओं के बैठने और वहाँ से नीचे के सभी तमाशे देखने का भी प्रबंध है। यहीं पर हम लोगों को एक नवयुवक भील का लड़का मिला, जो प्रायः लोगों को पुरानी इमारतों के दिखाने का काम करता है। इसे थोड़ी-बहुत अँगरेज़ी भी आती है और दूसरे भीलों की अपेक्षा यह कहीं अधिक चालाक भी है। यहाँ के आसपास के गाँवों तथा जंगलों में प्रायः भीलों की ही बस्ती है। ये सब बहुत निडर और मिहनती होते हैं और अभी तक बहुधा नंगे ही रहते हैं। पुरानी इमारतों को हमें दिखा-दिखाकर यह लड़का कहता था कि यह सब मुसलमानों की बनवाई नहीं, बल्कि एक हिंदू-राजा जाम्बूराय की बनवाई हुई हैं। कभी-कभी बीच-बीच में यह बाँसुरी भी बजाता और एक-आध अँगरेज़ों के वाक्य भी बोलता जाता था। यह सब इसने साहबों के संसर्ग से सीख लिया है; क्योंकि साल का शायद ही कोई दिन जाता होगा, जब कोई-न-कोई ये पुरानी इमारतें देखने न आता हो। प्रायः अँगरेज़ तथा जैनी लोग आते हैं। जैनियों का यहाँ एक बड़ा मंदिर है, जहाँ ये लोग एक प्रकार की तीर्थयात्रा करने आते हैं।

हिंडोला-महल के इर्द-गिर्द कई सुरंगें हैं, जो शायद महल के नीचे-नीचे बेगमों के आने-जाने के लिये बनी थीं। अब तो ये भठ-सी गई हैं, पर देखने से स्पष्ट जान पड़ता है कि किसी समय ये अच्छी हालत में रही होंगी। भील का लड़का तो कहता था कि चम्पा-बावड़ी के नीचे से एक सुरंग माँडू से धार तक जाती है। स्मरण रखना चाहिए कि धार और माँडू के बीच का रास्ता पहाड़ी और जंगली है और दूरी प्रायः २५ मील के लगभग

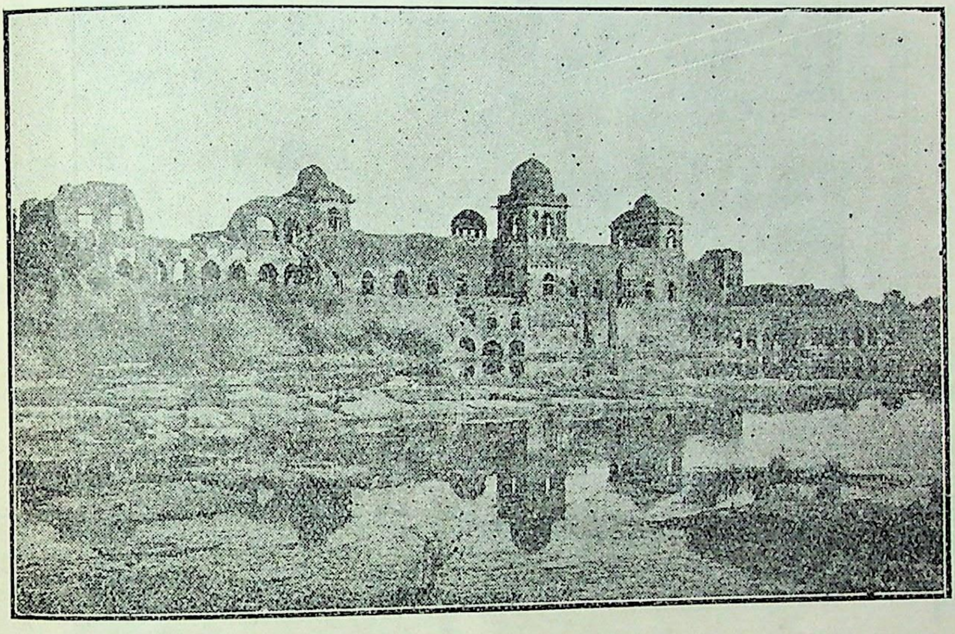


हिंडोला-महल के भीतर का एक दृश्य

है । नीचे-ही-नीचे एक रास्ता दिलावरख़ाँ की मसजिद तक जाता है, जो माँडू की सबसे प्राचीन मुसलमानी इमारत कही जाती है । यह सन् १४०५ ई० में बनी थी और इस प्रकार ५०० वर्ष से भी ऊपर की है । इस पर एक शिलालेख भी है, जिसमें लिखा है कि यहाँ का दीवान, नसीरुद्दीन दिलावरख़ाँ ने ८०८ हिजरी में बनवाया था । इस दीवान के कुछ भाग हिंदू-प्रथा के अनुसार बने हैं और ऊपर कँगूरे भी नहीं हैं । यहाँ से थोड़ी दूर पूर्व की ओर 'नाहर-झरोखा'' है, जहाँ से बादशाह सलामत प्रतिदिन प्रातःकाल लोगों को अपना दर्शन दिया करते थे । झरोखे के पास ही एक चीते की मूर्ति है, जहाँ से बादशाह खड़े होकर दर्शन देते थे । इससे जान पड़ता है कि हिंदू-प्रणालीवाला दर्शन-दान अकबर के पूर्व भी प्रचलित था; क्योंकि प्रायः धारणा यही है कि अकबर ने ही पहलेपहल यह प्रथा चलाई थी ।

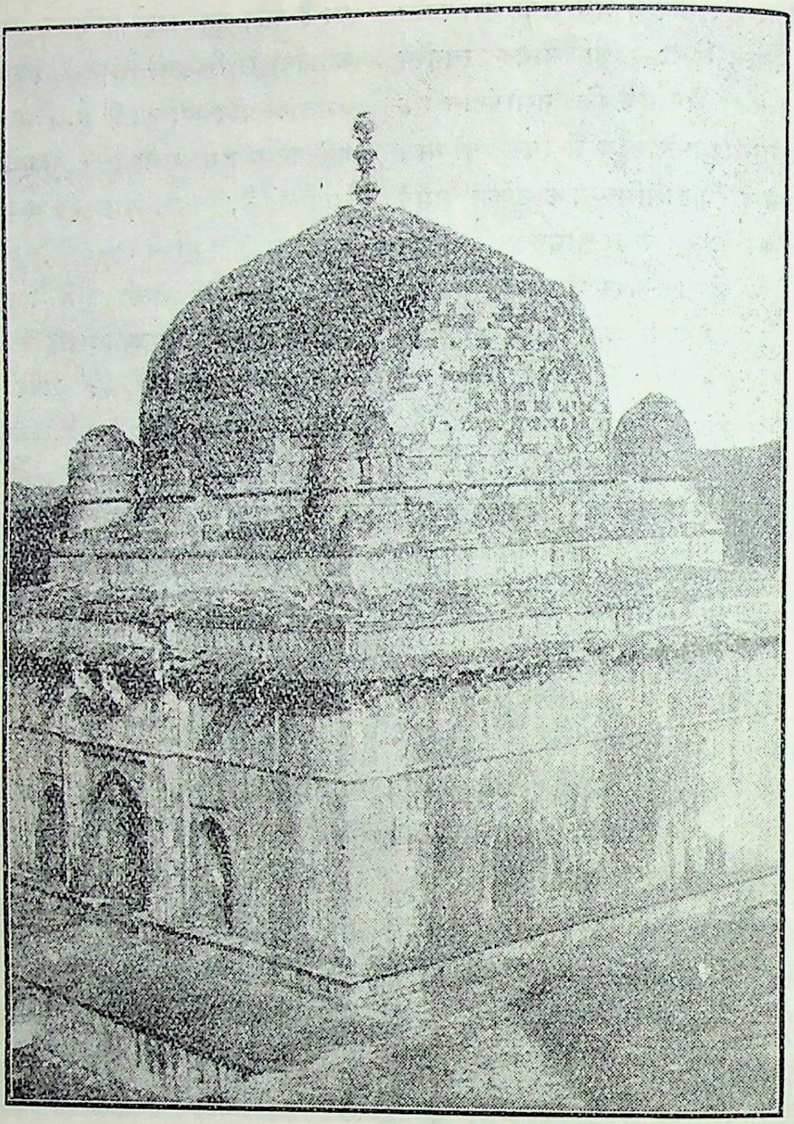
यहाँ से बढ़कर मुंज-तालाब के पास बना हुआ जहाज़महल दिखाई देता है । बीच में सड़क है, दूसरी ओर कपूर-तालाब है; जहाज़-महल पानी के बीच में है । किसी समय महल के चारों ओर पानी लबालब भरा रहता था; क्योंकि नीचे से पानी के आने-जाने का रास्ता अभी तक बना हुआ है, जिससे पानी बराबर चलता रहता था और सड़ता न था । पानी के बीचो-बीच यह महल सचमुच जहाज़ का ही पूरा दृश्य उपस्थित करता रहा होगा; क्योंकि तालाब बहुत बड़ा है । इसके निर्मल जल में अब भी महल के ऊँचे-ऊँचे मीनारों की परछाईं स्पष्ट दिखाई पड़ती है । इसके ऊपर-नीचे कई जगह बढ़िया हम्माम बने हुए हैं, जिनकी कारीगरी अब तक अपना जोड़ नहीं रखती । ऊपर चढ़ते समय एक तरफ़ पानी का एक बड़ा हौज़ दिखाई पड़ता है, जिसमें रातदिन पानी भरा रहता था और वहीं से नालियों द्वारा हम्मामों में जाता था । ये नालियाँ अब तक टूटे-फूटे रूप में वर्तमान हैं । यह महल शायद ग़यासुद्दीन का बनवाया हुआ है और चार सौ वर्ष से ऊपर का है । इसकी लम्बाई लगभग ४०० फ़ीट और चौड़ाई केवल ५० फ़ीट है । इसकी शकल बिलकुल जहाज़ की-सी ही दिखाई देती है । लौटते समय हम लोगों ने एक कोने में देखा, दीवार में एक स्थान पर एक प्राचीन हिंदू अथवा जैन-मूर्ति उलटी लगाई हुई है, जिससे संदेह होता है कि पुराने मंदिरों के मसालों से इस महल की बनावट में काम लिया गया है । भील ने तो इसे भी जाम्बूराय का ही बनवाया बतलाया । ऊपर की छत से सायंकाल का दृश्य बहुत ही मनोरम एवं प्रभाव-

खाली दिखाई देता है; स्नानागार में जब पानी भरा रहता होगा, तो ग्रीष्मऋतु में ऊपर का आनंद स्वर्गीय हो जाता रहा होगा। कहा जाता है कि नसीरुद्दीन एक बार नशे में इसी स्नानागारवाले हौज़ में गिर पड़ा था। जो कुछ हो, पर ये महल विलासप्रियता के उत्तम नमूने ही हैं। यहाँ से माँडू का मैदान तथा सोनगढ़ की पहाड़ी भली भाँति दिखाई देते हैं। ऊपर की सारी छत पर एक कोने से दूसरे कोने तक पानी जाने के लिये छोटी-छोटी नालियाँ बनी हुई हैं। माँडू के सभी महलों में यह महल सर्वोत्कृष्ट बना हुआ है।



तालाब के किनारे जहाज़-महल
(पानी में पुराने कँगूरों की परछाईं देखिए)

इसके सामने ही "तबेलामहल" है। संभवतः यहाँ नौकर-चाकर, सिपाही तथा साईस और घोड़े रहते रहे होंगे। यह भी दुमंज़िला है; नीचे शायद अस्तबल रहा होगा और ऊपर आदमी रहते होंगे। तबेलामहल के आगे माँडू गाँव तक और कोई इमारत नहीं है। गाँव में पहुँचने पर पहलेपहल दाहनी ओर एक विशालकाय मकबरा तथा मसजिद दिखाई देती है। सड़क के दूसरी ओर राममंदिर तथा अशरफ़ी-महल हैं। पास ही धार-रियासत की तहसील तथा पी० डबल्यू० डी० विभाग के दफ़्तर आदि हैं। गाँव तो बहुत छोटा ही-सा है और यहाँ खाने-पीने का सामान भी कभी-कभी कठिनता से मिलता है। यह देखकर माँडू के उस प्राचीन वैभव की याद आ जाती है, जिसकी छत्रच्छाया में बड़े-बड़े नवाब तथा राजा सिर झुकाते थे। मक़बरा होशंगशाह का है, जिसके पास ही जामा मसजिद-नामक एक बहुत बड़ी इमारत बनी है, जो ४०० वर्ष से ऊपर की है। मक़बरे के भीतर जाने से उसमें अपूर्व शांति एवं गम्भीरता का साम्राज्य दिखाई देता है। भीतर सब कुछ संगमरमर का बना है; ऊपर प्रत्येक कोने में एक-एक मटके लटका दिए गए हैं, जिनके कारण इसको देहात के लोग चरवा-मसजिद भी कहते हैं। कहा जाता है कि बाहर की छत से गर्मी के दिनों में क़ब्र के ऊपर पानी की बूँदे टपकती थीं। कुछ दिन पूर्व ऊपर का एक मटका किसी अँगरेज़ यात्री ने पत्थर से फोड़ दिया, तो उसमें से ख़ून निकला। बात जो कुछ हो, पर वहाँ जानेवालों पर एक विशेष प्रकार का प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसके बग़ल में ही एक शिलालेख है, जिससे पता चलता है कि अकबर के दरबार के बड़े-बड़े हिंदू तथा मुसलमान-इंजीनियर इन इमारतों को देखने आए थे। वास्तव में इनकी बनावट मुग़ल-काल की इमारतों में

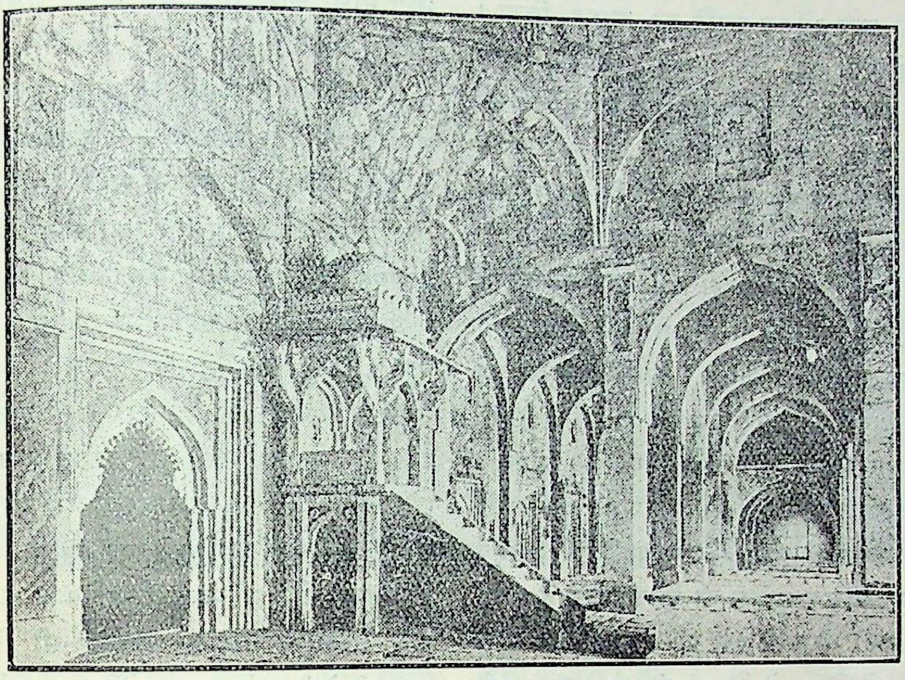


हुसेनशाह ग़ोरी का मक़बरा

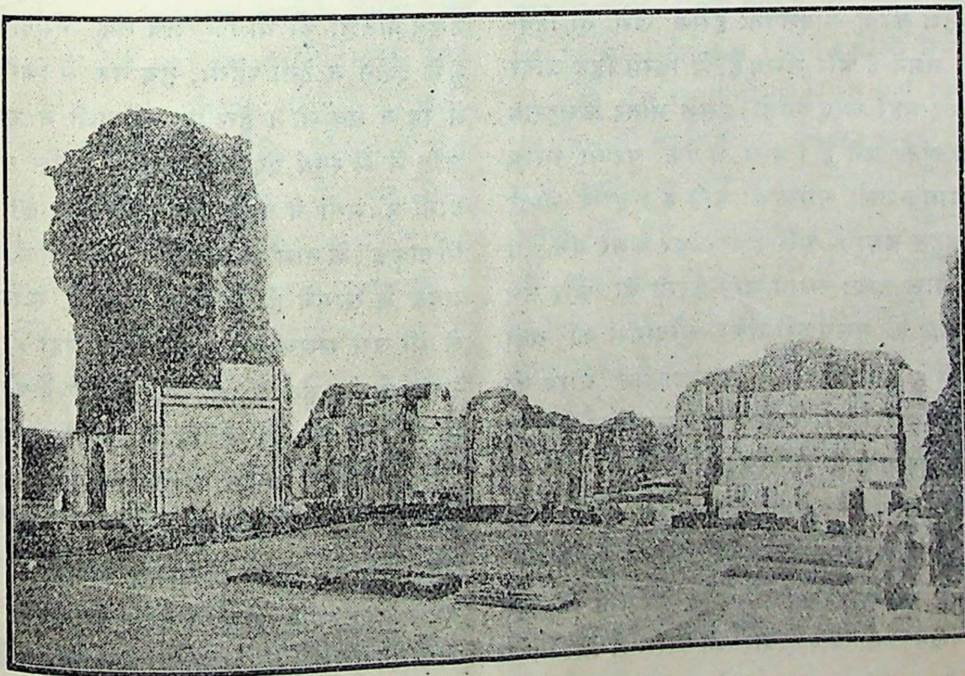
अपना एक ख़ास स्थान रखती है और उन दिनों माँडू कला की दृष्टि से ऊँची श्रेणी की राजधानियों में गिना जाता था, इसमें कुछ संदेह नहीं ।

सामने ही जामा-मसजिद है, जिसको होशंगशाह ने बनवाना प्रारंभ किया था; पर पूरा किया था महमूद ख़िलजी ने । यह मसजिद भारतवर्ष की मसजिदों में मशहूर है और एक-आध स्थान पर लिखा है कि यह दमासकस की मसजिद का अनुकरण है । इसके भीतर की पच्चीकारी देखने ही योग्य है और अब तक इसमें इतना स्थान है कि कई सौ आदमी एक साथ नमाज़ पढ़ सकते हैं । प्रत्येक क़तार के पेश-हमाम के लिये एक संगमरमर का मेहराब बना है और कहा जाता है कि इनके ऊपर की चित्रकारी हिंदू-कारीगरों की कला का फल है । मसजिद के ऊपर के बड़े-बड़े गुंबज इस ढंग से बनाए गए हैं कि प्रत्येक नमाज़ी मुसलमान नीचे खड़ा हुआ अपने को ख़ान-ए-ख़ुदा के अंदर समझकर गर्व कर सके । बीच के बड़े मेहराब या मेम्बर के भीतर खड़े होने पर, पश्चिमवाले बड़े दरवाज़े की ठीक सीध पर सामने अशरफ़ी-महल का ज़ीना है । यह अशरफ़ी-महल पुराने ज़माने में एक बड़ा मदरसा या कालेज था, जहाँ अरबी तथा फ़ारसी की पढ़ाई हुआ करती थी । इसी तरह पूरब की ओर त्रिपोलिया-दरवाज़ा-नामक एक पुराने दरवाज़े के खँडहर दिखाई देते हैं । मदरसा जब गिर गया, तो लोग इसका नाम भूल गए और इसकी सुंदरता के लिये इसे अशरफ़ी-

महल कहने लगे। यहाँ की अनेक इमारतों के इसी तरह मनमाना नाम रख लिए गए हैं, जैसे छप्पनमहल लालबँगला इत्यादि। इसके एक कोने पर एक विजय-स्तम्भ बना है, जिसे मेवाड़ के राना कुंभ को जीत लेने पर महमूद ख़िलजी ने स्मृति-स्वरूप बनवाया था। इसके पास ही महमूद ख़िलजी की क़ब्र भी है—भाग्य का फेर यही है कि पास-ही-पास एक ही सुलतान का विजयस्तम्भ तथा मक़बरा दोनों ही हैं। जहाँगीर ने अपने रोज़नामचे में भी इसका उल्लेख किया है, जिससे पता लगता है कि उस समय भी यह स्तंभ गिर चुका था।



जामा-मसजिद का भीतरी दृश्य

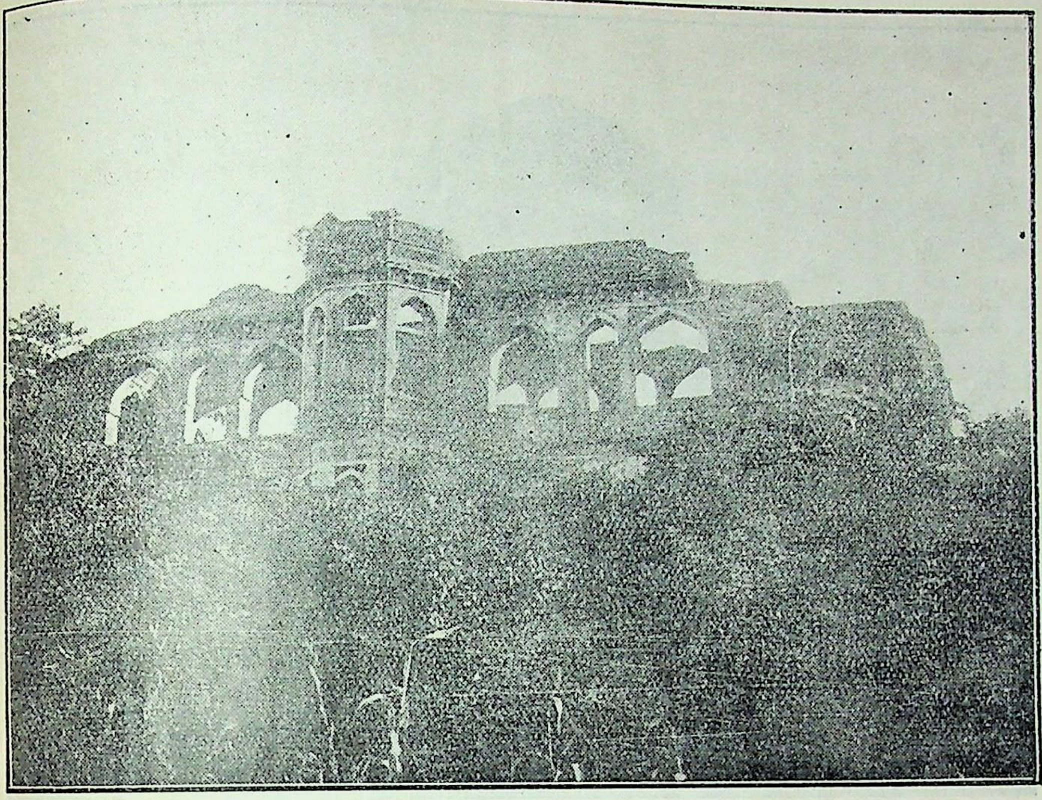


सुलतान महमूद ख़िलजी की क़ब्र

अशरफ़ी-महल देख ही रहे थे कि हमारे पुराने परिचित राममंदिर के महंतजी ने दर्शन दिए। आप रियासत धार के जागीरदार हैं और यहाँ के बड़े पूज्य-मान्य व्यक्ति हैं। यह मंदिर भी सैकड़ों वर्ष का पुराना है और इससे पर्याप्त आय भी होती है। महंतजी ने हम लोगों को प्रसाद खिलाया और भोजन आदि का आग्रह किया। यद्यपि समय हो गया था, तो भी हम लोगों को देखना बहुत कुछ था, इससे लौटकर राममंदिर में ठहरने का वचन देकर हम लोग आगे चल पड़े। रास्ते में कई छोटी-छोटी इमारतों के खँडहर दिखाई पड़ें, उनमें से मुख्य-मुख्य थे दरियाख़ाँ की क़ब्र, लालसराय तथा हाथीमहल। इसी रास्ते पर कहीं सर टामस रो भी ठहरा था; क्योंकि उन दिनों बादशाह माँडू में ही थे। सागर-तालाब नाम का एक बड़ा तालाब भी पास ही है और सड़क के दूसरे किनारे पर दो-तीन छोटी-छोटी इमारतें हैं, जिन्हें "दाई का महल" तथा "दाई की छोटी बहन का महल" कहते हैं। ये दोनों ही औरतों की क़ब्रें जान पड़ती हैं। इसके पास ही मलिक मुग़ीस की मसजिद है, जो महमूद ख़िलजी के बाप मलिक मुग़ीस की बनवाई हुई है। यह सन् १४३२ में बनी थी और इस पर फ़ारसी की कुछ पंक्तियाँ हैं, जिनमें लिखा है कि उसकी छत आकाश में लग जाती है! इस मसजिद की बनावट आधी हिंदू, आधी मुसलमानी ढंग की है—विशेषतः इसके खंभे तो हिंदू-चित्रकारी के नमूने हैं और संभव है, वे किसी हिंदू-मंदिर से निकालकर यहाँ लाए गए हों। इसके भीतर के मेहराब भी बहुत ही सुंदर बने हैं। पास ही एक पुरानी सराय भी है, जो शायद उसी समय की बनी है। इसके भीतर का आँगन बहुत बड़ा है और इधर-उधर कमरे बने हैं। मसजिदों के पास प्रायः सराय बना करती थी और उन दिनों की सराएँ तो मुसाफ़िरों तथा सौदागरों की बड़ी रक्षा करती थीं। इस दृष्टि से वे मध्यकालीन योरप की सरायों की भाँति हैं। कमरों में शायद मुसाफ़िर सामान रखते थे और बरामदों में सोते थे।

जहाँ सड़क मुड़ती है, उसके पास ही जालीमहल-नामक एक छोटा-सा स्थान है, जिसमें दो-तीन पुरानी क़ब्रें हैं। पता नहीं, ये क़ब्रें किसकी हैं और कब बनी थीं, पर इनके भीतर खिड़कियों और दीवारों की कारीगरी और विशेषतः जालियाँ बहुत ही उत्कृष्ट कला के नमूने हैं और इसी से इसका नाम ही जालीमहल पड़ गया है। क़ब्रें कुछ टूट-फूट गई हैं और एक-आध अच्छी पच्चीकारी के नमूने शायद निकाल भी लिए गए हैं। यहाँ से सड़क फिर चढ़ाव की ओर चलती है और थोड़ी दूर जाकर एक ऐसे ऊँचे स्थान पर पहुँच जाते है, जहाँ से माँडू की पहाड़ी तथा नीचे चारों ओर का मैदान भली भाँति दिखाई पड़ने लगता है। दूर से ही दो-तीन मीनारें दिखाई दे रही थीं, पास पहुँचने पर मालूम हुआ कि ये रूपमती तथा बाज़बहादुर के हवा खाने की जगहें थीं। माँडू-भर में रूपमती का बैठकख़ाना सबसे ऊँचे स्थान पर है। कहा जाता है कि रूपमती यहीं से अपने गीत गाकर बाज़बहादुर को सुनाया करती थी और फिर उसका प्रेमी आकर उससे यहीं मिलता था। दोनों के महल पास-ही-पास हैं और एक से दूसरा दिखाई देता है। रूपमती के महल से मालवे के मैदान का बहुत-सा दृश्य दिखाई पड़ने लगता है और क्षितिज के पास एक ओर नर्मदाजी की उज्ज्वल धारा भी चमकती देख पड़ती है। यहाँ से देखने पर चारों ओर ऊँची-नीची पहाड़ियाँ और हरियाली-ही-हरियाली दृष्टि में आती है और वास्तव में माँडू नई दुलहिन-सी दिखाई देती है। रूपमती ऐसी कवि-हृदय प्रेमिका के लिये यह स्थान सर्वथा उपयुक्त था और दंतकथा अब तक प्रसिद्ध है कि उसने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक नर्मदाजी नित्यप्रति मुझे दर्शन न देती रहेंगी, तब तक मैं किसी प्रकार माँडू में रह न सकूँगी। इस पर नर्मदाजी ने स्वप्न दिया कि माँडू में मैं स्वयं प्रकट हो गई हूँ। इस स्वप्न के सहारे दोनों प्रेमियों ने वह स्थान खोज निकाला, जो अब तक "रेवाकुंड" के नाम से प्रसिद्ध है। यह ठीक बाज़बहादुर के महल के सामने ही है और संभव है, रूपमती की बैठक से भी उस समय यह स्पष्ट दिखता रहा हो; क्योंकि इस समय तो रेवाकुंड के घाट टूट-फूट गए हैं और चारों ओर से जंगल ने उस पर अधिकार जमा लिया है।

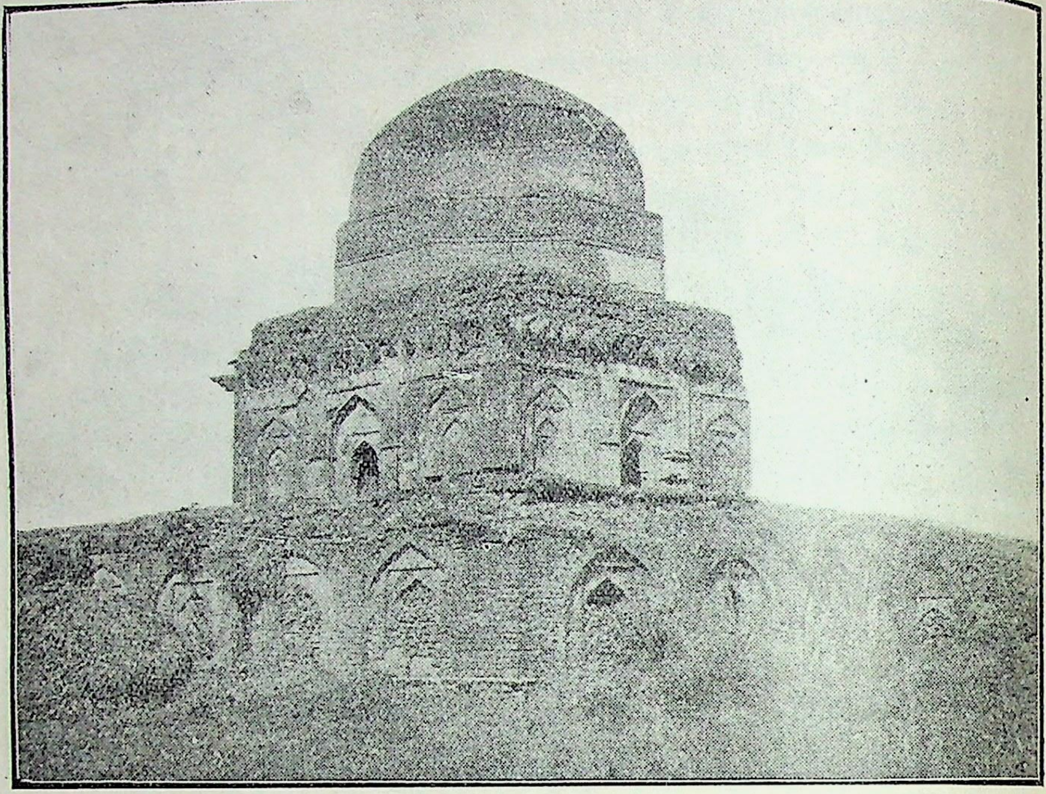
पाठकों को फिर कभी रूपमती और बाज़बहादुर के प्रेम की कथा विस्तार-पूर्वक सुनाई जायगी, पर इसमें संदेह नहीं कि संसार के प्रसिद्ध प्रेमियों में इन दोनों का बहुत ऊँचा स्थान रहेगा। प्रेम के लिये दोनों ने जो त्याग किया था, वह इतिहास में अतुलित है और इनकी कीर्ति सदैव अमर रहेगी। खेद यही है कि इस अमर



बाज़बहादुर का महल

और अनुपम गाथा के ये दो-चार स्मारक ऐसी अच्छी अवस्था में नहीं हैं कि उन दोनों प्रेमियों के प्रणयाभिनय का वास्तविक रूप हमारे सामने चित्रित हो सके। परंतु इसमें संशय नहीं कि ये कीर्तिस्तम्भ सदा के लिये प्रेम के विजय की पताका माँडू में ही नहीं, संसार-भर में फहराते रहेंगे; क्योंकि धार-राज्य इन स्थानों की अच्छी मरम्मत करता रहता है। हम लोगों के सामने ही इनके पास मोटर जाने का रास्ता बन रहा था और इसी से हमें ऊपर तक पैदल चलना पड़ा। लौटती बार रास्ते में ड्राइवरों ने एक स्थान पर झट से मोटरें रोक दीं और लगे भोंपू बजाने। भोंपू बजाते ही सामने से पों-पों आवाज़ आने लगी और हम सब लोगों को आश्चर्य होने लगा। बात यह है कि दाई के महल के पास ही एक ऊँची-सी इमारत बनी है, जिसके सामने बोलने से ठीक उसी की प्रतिध्वनि साफ़-साफ़ आती है। यह पता लगते ही साथ के लड़के लगे तरह-तरह की बोली बोलने और प्रत्येक का उत्तर ज्यों-का-त्यों मिलता। यह सुनकर हम लोगों को बड़ी हँसी आई और आश्चर्य भी होने लगा। किसी ने ज़ोर से कहा—"चाचा; यहाँ आओ" तो उधर से भी उत्तर आया—"चाचा, यहाँ आओ" फिर दूसरे ने कहा—"तुम बेवक़ूफ़ हो" और उन्हें भी वही ख़िताब झट मिल गया। छोटे बच्चे तो समझने लगे कि हो न हो, उस मकान में कोई भूत-प्रेत रहता है। हमारे एक मित्र तो कहते थे कि जब वह अपनी बुढ़िया मा के साथ वहाँ गए और प्रतिध्वनिवाली इस इमारत को देखने जाने लगे, तो उनकी मा लगी सिसक-सिसककर रोने, क्योंकि वे समझ रही थीं कि मेरा लड़का उस पिशाच के घर में जा रहा है! बात भी ठीक ऐसी ही जान पड़ती है और यकायक यह विश्वास ही नहीं हो पाता कि वहाँ कोई आदमी नहीं बोल रहा है।

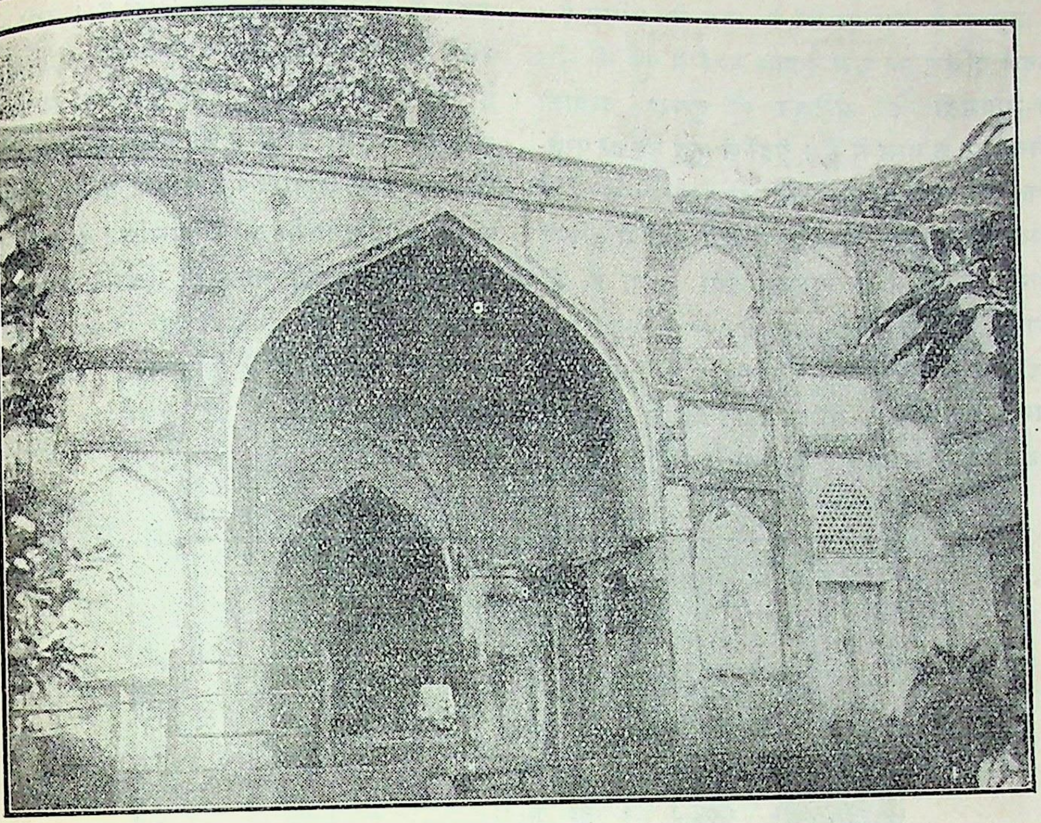
यह तमाशा देखकर हम लोग लौटकर राममंदिर की ओर चले। रास्ते में मोड़ पर छप्पनमहल देखने गए। यह स्थान किसी रईस का मक़बरा मालूम होता है और इसे छप्पनमहल इसलिये कहते हैं कि इसकी मरम्मत संवत् १९५६ में हुई थी। इस समय तो इसमें अर्वाचीन पद्धति के चा-पानी के सामान रक्खे हैं और



वह स्थान जहाँ से प्रतिध्वनि आती है

योरपियन लोगों के ठहरने का प्रबंध है। पास ही वाइसराय का पड़ाव पड़ा करता हैं; क्योंकि यहाँ एक छोटा-सा चौरस मैदान है और प्रायः बड़े दिन की छुट्टियों तथा बरसात के दिनों में अँगरेज़ लोग यहाँ शिकार और तमाशे के लिये आते हैं। छप्पनमहल का दूसरा नाम बार्न्स-कोठी है; क्योंकि मेजर बार्न्स ने इसे यह नया रूप दिया था। इस स्थान पर मालूम हुआ कि यहाँ से थोड़ी दूर पर नीलकंठेश्वर-महादेव का मंदिर है। मोटरवालों ने कहा कि रास्ता बहुत ख़राब है, पर वास्तव में वे भूखे थे और लौटना चाहते थे। परंतु हम लोगों की उत्सुकता और बढ़ गई थी; सब-के-सब पैदल ही चल दिए। रास्ते में कुछ कीचड़ तथा पानी अवश्य मिला, पर रास्ता अच्छा था। सड़क के पास एक थम्म और चोरकोट नाम के दो स्थान मिले, जो पुराने शिकारी अड्डे जान पड़ते हैं। जंगली रास्तों और टीलों से होते हुए चलकर नीलकंठेश्वरजी का स्थान मिला। यहाँ की प्राकृतिक छटा तो देखते ही बनती है! अतीव रमणीक स्थान है। ऊपर से एक सोता बराबर बारह महीने बहता रहता है, जिसका जल आकर ठीक शिवजी के ऊपर गिरता है। नीचे दूसरी ओर एक लंबी-चौड़ी घाटी-सी है, जो बहुत गहरी तथा सुंदर है। ऊपर मंदिर में बैठकर ताकने से दूर तक दृष्टि हरियाली-ही-हरियाली पर जाती है। यहाँ थोड़ी देर तक हम लोग दम मारते रहे; क्योंकि धूप भी हो चली थी और सब-के-सब थक गए थे। देखा, मंदिर के दरवाज़े पर ही फ़ारसी के कई शिलालेख हैं, जिनसे प्रकट होता है कि यह स्थान ६८२ हिजरी में बनवाया गया था और अकबर यहाँ आकर ठहरा था। जहाँगीर यहाँ कई महीने तक ठहरा था और सर टामस रो भी बादशाह के साथ था। इतिहास से यह भी पता लगता है कि अकबर चार बार माँडू आया था।

नीलकंठेश्वर से थोड़ी ही दूर पर सोनगढ़ का क़िला है, जो माँडू की पहाड़ी के एक कोने पर है। बीच में सोनपुर-दरवाज़ा है और एक ओर क़िले की दीवार के स्थान में एक लंबा नाला बहता है। माँडू के क़िले के चारों ओर कई दरवाज़े हैं। एक दरवाज़ा, जो नीलकंठे-

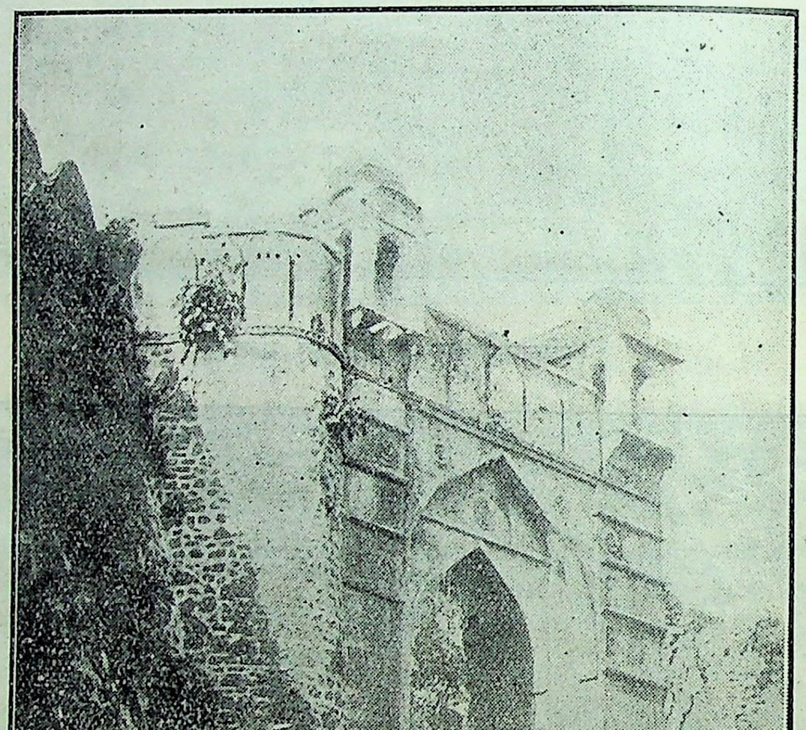


नीलकंठेश्वर-महादेव का मंदिर

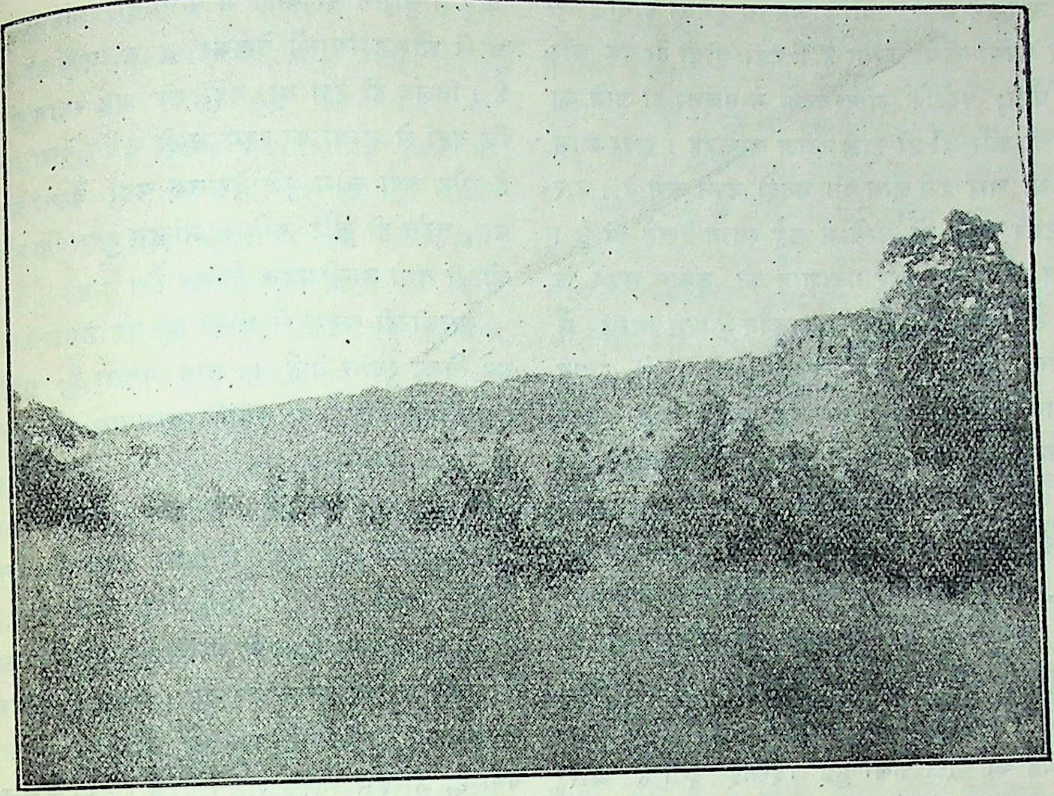


भगवनियाँ दरवाजा

श्वर के पास ही है, तारापुर-गेट के नाम से प्रसिद्ध है। यह एकदम दक्षिण की ओर है और यहाँ से पूर्व की ओर रूपमती-भानमती के सन्निकट ही दूसरा दरवाज़ा भगवानिया-गेट के नाम से है। यहाँ से कुछ दूर पर पूरब-किनारे का दरवाज़ा है, जो सोनपुर-दरवाज़े के ठीक आमने-सामने लगभग दो मील पर है। यहाँ से क़िले की दीवार के स्थान में फिर दूसरा लंबा नाला है, जो पश्चिमवाले नाले से कहीं बड़ा है। जहाँ यह नाला समाप्त होता है, उसी के पास "सातसौ सीढ़ी" नाम का एक स्थान है। यहाँ बहुत-सी सीढ़ियाँ केवल क़िले की रक्षा के ही लिये बना दी गई हैं; क्योंकि जहाँ तक नाला बहता है, वहाँ तक एक लंबी घाटी है। उसी को सुरक्षित रखने के लिये नीची ज़मीन पर पक्की सीढ़ियाँ-सी बनी हैं, जो दीवार का काम देती हैं। यहाँ से आगे बढ़कर रामपोल गेट है, जो माँडू की बस्ती के पास है और इसी के समानांतर लोहानी-गेट-नामक दरवाज़ा पश्चिम की ओर है। लोहानी-गेट जामा-मसजिद के पास ही है और वहाँ से एक पगडंडी जाती है, जिसके आगे गाँव है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर माँडू का क़िला बहुत सुरक्षित बना हुआ जान पड़ता है और चारों ओर से प्राकृतिक रक्षा का स्वयं प्रबंध है, जो राजनैतिक दृष्टि से सर्वथा आवश्यक है।



सोनगढ़-क़िले का प्रवेश-द्वार



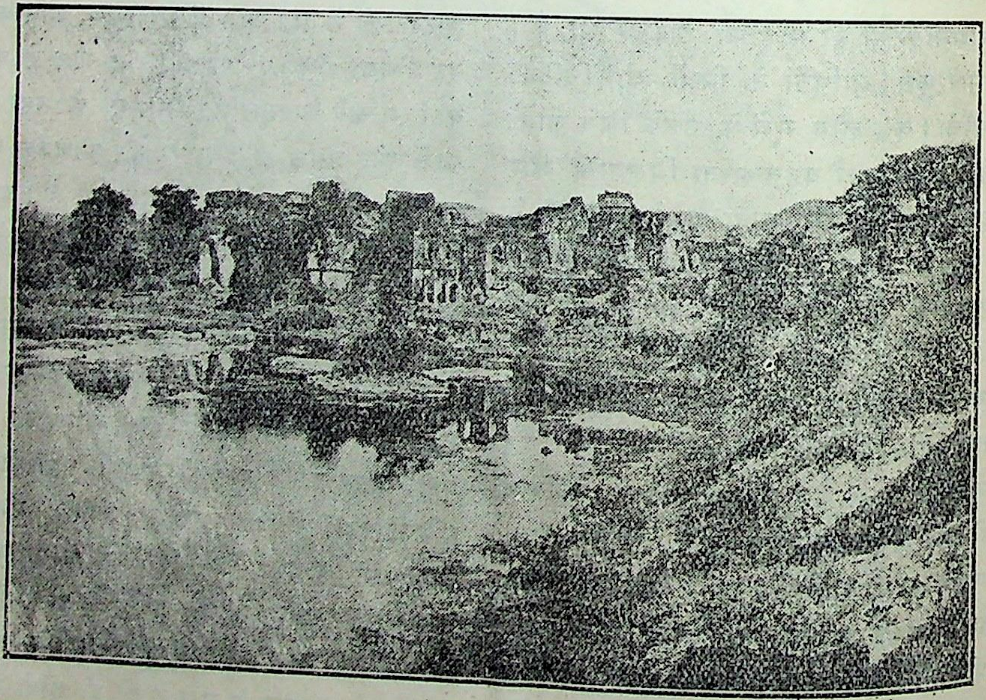
सोनगढ़ का क़िला

नीलकंठेश्वर से लौटकर हम लोग सीधे महंतजी के यहाँ गए। राममंदिर में ही माँडू का डाकघर भी है। वहाँ से हमारे कुछ साथियों ने मित्रों को चिट्ठियाँ लिखने की सोची। कुछ लोग भूखे थे, उनके लिये खोया मँगाया गया। खोया यहाँ बहुत सस्ता मिलता है और यहाँ की देहाती भाषा में उसे 'मावा' कहते हैं। यारों ने शकर-मावा ख़ूब उड़ाया और जब महंतजी ने बतलाया कि भोजन तैयार है, तो हमारे बंगाली बाबू बोल उठे—"हमारी छोटी पेट है, फूल गया है। उसमें जायगा नहीं है।" यह सुनकर सब लोग ठट्ठा मारकर हँसने लगे। बहुत देर बाद बंगाली बाबू भोजन करने को तैयार हुए तो कई पूड़ियाँ उड़ा गए। परोसनेवाले सज्जन ने जब एक पूड़ी और लेने का आग्रह किया, तो हाथ जोड़कर लगे भादुड़ी महाशय चिल्लाने और कहने—"नहीं, नहीं, पेट फाट जायगी, फूट जायगी"। बड़ा आनंद रहा और खाते-पीते तीन-चार बज गए। थोड़ी देर आराम करके फिर सब-के-सब चल दिए। अब महंतजी भी हमारे साथ हो लिए।

पहले हम लोग लालबँगला देखने गए, यद्यपि मोटरवालों ने वहाँ जाने में भी बड़ी आनाकानी की। यह बँगला थोड़ी दूर पर जंगल के बीच में बना है और यहाँ मालवे के सुलतान गर्मियों में रहा करते थे। चारों ओर जंगल-ही-जंगल है और आजकल यहाँ शिकार करने के लिये लोग प्रायः आया करते हैं। इसका दूसरा नाम लालमहल भी है और इसके तीन बड़े-बड़े भाग हैं। पास ही एक हम्माम के खँडहर हैं। हम लोग जो भीतर जाने लगे, तो छत की ओर से चमगीदड़ों और अबाबीलों के झुंड-के-झुंड लगे निकलकर उड़ने। वहाँ सील और बदबू इतनी थी कि ठहरने की हिम्मत न पड़ी, बाहर जाकर खड़े हो गए। वहाँ भी इधर-उधर हड्डियाँ पड़ी थीं। हमारे मार्गप्रदर्शक भील महोदय कहने लगे कि यहाँ एक बड़ा शेर आया था, उसी ने बैल मारकर खाया है और हड्डियाँ छोड़ दी हैं। यह सुनकर हरी और कमला कुछ डर-से गए। हम लोग आगे बढ़े। महल के सामने ही दो छोटी बावड़ियाँ हैं, जिनका पानी बहुत स्वच्छ है। शायद पहले इनमें

फ़ौवारे लगे रहे होंगे; क्योंकि अब भी इनका पानी इधर-से-उधर आया-जाया करता है। यहाँ थोड़ी देर तक और ठहरना पड़ा; क्योंकि मोटरवालों ने पंक्चर हो जाने का स्वाँग रचा और यों ही टालमटोल करते रहे। इधर शाम हो रही थी और हम लोग भी जल्दी करने लगे थे। धार को लौटकर चले, तो रास्ते में कई स्थान देखने को थे। गदाशाह का महल और गदाशाह की दूकान सड़क के पास ही हैं। पता नहीं, गदाशाह कौन थे और वास्तव में यह दूकान जान भी नहीं पड़ती—दोनों ही स्थान मेदिनीराय के बनवाए हुए बतलाए जाते हैं और यहाँ दीवाने-आम-सा था। इनकी दीवारों पर चित्रकारी भी की गई थी, जो इस समय बिगड़ गई है और कठिनता से दिखाई देती है। थोड़ी ही दूर पर चिश्तीख़ाँ का महल है, जो लालमहल की भाँति जंगल के बीच में बना हुआ है। इस समय तो यह बहुत नष्ट-भ्रष्ट अवस्था में है, पर इसके चारों ओर का प्राकृतिक दृश्य अब भी बड़ा चित्ताकर्षक है। ऊपर चढ़कर देखने से सामने तीनों ओर काकड़ाकोह की घाटी फैली हुई दिखाई देती है और एक ओर मालवे का चौड़ा मैदान। यहाँ शायद अमीर लोग बरसात के दिनों में रहा करते थे; क्योंकि इस ऋतु में सामने की घाटी में पानी-ही-पानी रहता है और चारों ओर हरियाली देखकर हृदय प्रफुल्लित हो उठता है। विलंब हो रहा था, नहीं तो यह स्थान तो ऐसा है कि यहाँ से संध्या का दृश्य भली भाँति देखा जा सकता है और सभी लोग कुछ देर तक यहाँ बैठना चाहते थे। बस, तुरंत ही लौट पड़े। मालूम हुआ कि अभी सप्त-कोठरी तथा जालीमहल देखना है।

सप्तकोठरी सड़क से थोड़ी दूर पर जंगल के नीचे एक बड़े विकट स्थान में है। जान पड़ता है, यहाँ किसी समय हिंदू-मंदिर था; क्योंकि आसपास टूटी-फूटी मूर्तियों के टुकड़े ज़मीन में गड़े पड़े थे। नीचे वह गुफ़ा है, जिसे सप्तकोठरी कहते हैं। ऊपर से पानी आकर नीचे गुफ़ा में होकर एक कमरे में जमा होता है। इस कमरे के भीतर और पाँच-छः छोटी-छोटी कोठरियाँ हैं, जिनके भीतर की मूर्तियाँ पानी के नीचे डूब गई हैं। कहते हैं, यह पानी बराबर साल-भर बहा करता है। सामने एक ख़तरनाक खड्ड है और ऊपर की ओर एक पुराना कुँआ बना है, जो इस समय भठ गया है। यहाँ से लौटती बार रास्ते में मक्का के कुछ खेत मिले, जिनमें भीलों की झोपड़ियाँ पड़ी हुई थीं। खेतों में पानी भरा था।



महलों के खँडहरों का एक दूर-दृश्य

हम लोग मुश्किल से जूते-मोज़े कीचड़ से बचा सके। ज्यों-त्यों करके हम सब सड़क पर आए और वहाँ से सड़क की दूसरी ओर जालीमहल देखने गए। यह दूसरा जालीमहल है, जिसके अंदर शायद किसी का मक़बरा था। यह भी जंगल के बीच में एक ऊँचे चबूतरे पर बना है और एक ओर किनारे पर एक लंबा स्तंभ खड़ा पड़ा है। मक़बरे की दीवारों पर जाली का काम बहुत ही सुंदर बना है, पर भीतर ज़मीन पर क़ब्र टूटी पड़ी है और इधर-उधर कुछ चरवाहों ने ठंड से बचने अथवा चिलम पीने के लिये आग जलाई थी, जिसकी राख पास ही बिखरी हुई है। लौटते समय पूरब की ओर जो देखा, तो लंबी-लंबी सीढ़ियों का समूह टूटा पड़ा था, जिससे जान पड़ता था कि किसी ज़माने में यहाँ मेला-सा लगता रहा होगा। पास ही एक बड़ी पुरानी कुइयाँ के खँडहर भी हैं, जिससे यह धारणा और भी दृढ़ हो जाती है।

माँडू का यह अंतिम दृश्य था; भील के लड़के को कुछ इनाम देकर हम लोग चल दिए। सब-के-सब खूब थक गए थे। जल्दी में शुक्लजी अपनी सुतली की डोरी उसी भील के पास छोड़ आए। शुक्लजी ने अपने बाबा का उपदेश मानकर लोटा-डोरी ले चलना यात्रा के लिये आवश्यक समझा था और अभी तक वह उस डोरी के लिये पछताते रहते हैं, यद्यपि कहीं भी आज तक उन्होंने इसका उपयोग नहीं किया। इतनी दूर कानपुर से बेचारे इसे ले आए थे और यद्यपि शुक्लजी ने बाद को लिखा कि डोरी मिल गई है, तो भी अभी तक वह शुक्लजी महाराज को नहीं मिली। हमें डर है कि उनके बूढ़े बाबा कहीं उनसे इसका हिसाब न माँगने लगें।

माँडू से लौट तो आए, पर अभी तक हृदय में इस प्राचीन विशाल नगर के अतीत वैभव का दृश्य जमा हुआ है। कोई समय था जब माँडू का नाम था "शादिया-बाद" अर्थात् विलास का नगर; पर अब उसके वह दिन हैं, जब महलों के खँडहरों पर चील और कौवे बैठते हैं, इधर-उधर भीलों की झोपड़ियाँ पड़ी हैं। जहाँ सुंदर ललनाओं की विलासिता के स्थान थे, वहाँ गीदड़ और लोमड़ियाँ भागती फिरती हैं। यह दशा देखकर हृदय रो उठता है और विश्वास हो जाता है कि मनुष्य के ही लिये नहीं, स्थानों के लिये भी समय के फेर से बड़े-बड़े परिवर्तन आ जाते हैं और उनका भी भाग्य पलटा खाता है। सच है, जैसा कालिदास ने कहा है—

"नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण"।

और उनके ये शब्द भोजराज की धारा-नगरी के ही लिये नहीं, बल्कि उससे कहीं अधिक उसके पड़ोसी माँडू अथवा माँडवगढ़ के लिये सत्य हुए हैं। भगवान् ही जाने, माँडू के वे पुराने दिन फिर लौटकर आवेंगे या नहीं।*

श्रीरामाज्ञा द्विवेदी 'समीर'

---

* पाठकों को माँडू के संबंध में और जानना हो, तो निम्न-लिखित पुस्तकें देखें—

(१) Gazetteer of the Dhar State by Col. Luard, (२) Memoirs of Emperor Jahangir by D. Price, (३) Mandu, the City of Joy by G. Yazdani (Oxford University Press).

आवेश

छद्मवेश में मुझको अब तक
नहीं किसी ने पहचाना ;
मैंने भी तो अपने को था
कभी नहीं कुछ भी जाना ।
दिव्य प्रेरणा प्रेरित करती
वैसा ही मैं हो जाता ;
काव्योदधि में प्लावित होकर
मोती या हीरे लाता ।
मुझको अभिमानी कहते हो
बुरा न मानूँगा कह लो ;
सुमन वचन यदि प्रिय हैं तुमको
कुलिश वाक्य ये भी सह लो ।
देखा ही क्या तुमने अब तक
अपने लोलुप लोचन से ;
काव्य-जगत् में पहुँच सकोगे
क्या ऐसे ही साधन से ?
अगर मुझे वैरागी समझा
तुम भी फिर वैरागी हो ;
वह तो हृदय और ही होगा
जिसमें मुझ-सा त्यागी हो ।
नहीं चुभेगा पैरों में जो
मैं ही तो वह कंटक हूँ ;
साधक हूँ मैं अपनी धुन का
संत-मार्ग का शोधक हूँ ।

चुरा-चुराकर सुमन-राशि से
संचित की है कोमलता ;
मुझमें है वह शांत लालिमा
जिसका तुमको नहीं पता ।
रीझ-रीझकर नाच उठोगे
मतवाले हो जाओगे ;
मुक्त हुए मादकता से यदि
फिर तो तुम पछताओगे ।
मैं तो वह नैराश्य-निशा हूँ
जीवन की कलुषित काया ;
सूर्य-राशि पर भी जो अपनी
फैला देवेगी छाया ।
मैं ही वह उजड़ा उपवन हूँ
जिसके बिखरे हुए सुमन
अनहद-राग तपस्या के हित
बार-बार करते चिंतन ।
जाकर कह दो उदधिराज से
वरुण-अंक में छिप जावे ;
कर दो यह संकेत चंद्र को
यहाँ नहीं सम्मुख आवे ।
मेरी हृदयोत्ताल तरंगें
मुझको ही ले डूबेंगी ;
अथवा किसी शिला के प्रस्तर
पर ले जाकर फेंकेंगी ।

सत्यप्रकाश

उन्माद

(१)

मनहर ने अनुरक्त होकर कहा—यह सब तुम्हारी कुर्बानियों का फल है बागी, नहीं आज मैं भी किसी अँधेरी गली में, किसी अँधेरे मकान के अंदर, अपनी अँधेरी ज़िंदगी के दिन काटता होता। तुम्हारी सेवा और उपकार हमेशा याद रहेंगे। तुमने मेरा जीवन सुधार दिया—मुझे आदमी बना दिया।

बागेश्वरी ने सिर झुकाए हुए नम्रता से उत्तर दिया—यह तुम्हारी सज्जनता है मानू, मैं बेचारी भला तुम्हारी ज़िंदगी क्या सुधारूँगी, हाँ तुम्हारे साथ मैं भी एक दिन आदमी बन जाऊँगी। तुमने परिश्रम किया, उसका पुरस्कार पाया। जो अपनी मदद आप करते हैं, उनकी मदद परमात्मा भी करते हैं। अगर मुझ-जैसी गँवारिन किसी और के पाले पड़ती, तो अब तक न-जाने क्या गत बनी होती।

मनहर मानो इस बहस में अपना पक्ष समर्थन करने के लिये कमर बाँधता हुआ बोला—तुम जैसी गँवारिन पर मैं एक लाख सजी हुई गुड़ियों और रंगीन तितलियों को न्योछावर कर सकता हूँ। तुमने मेहनत करने का वह अवसर और अवकाश दिया, जिसके बिना कोई सफल हो ही नहीं सकता। अगर तुमने अपनी अन्य विलास-प्रिय, रंगीन-मिज़ाज बहनों की तरह मुझे अपने तक़ाज़ों से दबा रक्खा होता, तो मुझे उन्नति करने का अवसर कहाँ मिलता। तुमने मुझे वह निश्चिन्तता प्रदान की, जो स्कूल के दिनों में भी न मिली थी। अपने और सहकारियों को देखता हूँ, तो मुझे उन पर दया आती है। किसी का खर्च पूरा नहीं पड़ता। आधा महीना भी नहीं जाने पाता और हाथ ख़ाली हो जाता है। कोई दोस्तों से उधार माँगता है, कोई घरवालों को ख़त लिखता है। कोई गहनों की फ़िक्र में मरा जाता है, कोई कपड़ों को। कभी नौकर की टोह में हैरान, कभी बैद की टोह में परेशान। किसी को शांति नहीं। आए दिन स्त्री-पुरुष में जूते चलते रहते हैं। अपना जैसा भाग्यवान् तो मुझे कोई देख नहीं पड़ता। मुझे घर के सारे आनंद प्राप्त हैं और ज़िम्मेदारी एक भी नहीं। तुमने ही मेरे हौसलों को उभारा, मुझे उत्तेजना दी। जब कभी मेरा उत्साह टूटने लगता था, तुम मुझे तसल्ली देती थीं। मुझे कभी मालूम ही नहीं हुआ कि तुम घर का प्रबंध कैसे करती हो। तुमने मोटे-से-मोटा काम अपने हाथों से किया, जिसमें मुझे पुस्तकों के लिये रुपए की कमी न हो। तुम्हीं मेरी देवी हो, और तुम्हारी बदौलत ही आज मुझे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मैं तुम्हारी इन सेवाओं की स्मृति को हृदय में सुरक्षित रक्खूँगा बागी, और एक दिन वह आवेगा जब तुम अपने त्याग और तप का आनंद उठाओगी।

बागेश्वरी ने गद्गद होकर कहा—तुम्हारे यह शब्द मेरे लिये सबसे बड़े पुरस्कार हैं मानू। मैं और किसी पुरस्कार की भूखी नहीं। मैंने जो कुछ तुम्हारी थोड़ी बहुत सेवा की, उसका इतना यश मुझे मिलेगा, मुझे तो आशा भी न थी।

मनहरनाथ का हृदय इस समय उदार भावों से उमड़ा हुआ था। वह यों बहुत ही अल्पभाषी, कुछ रूखा आदमी था और शायद बागेश्वरी को मन में उसकी शुष्कता पर दुख भी हुआ हो, पर इस समय सफलता के नशे ने उसकी वाणी में पर से लगा दिए थे। बोला—जिस समय मेरे विवाह की बातचीत हो रही थी, मैं बहुत शंकित था। समझ गया कि मुझे जो कुछ होना था हो चुका। अब सारी उम्र देवीजी की नाज़बरदारी में गुज़रेगी। बड़े-बड़े अँगरेज़ विद्वानों की पुस्तकें पढ़ने से मुझे भी विवाह से घृणा हो गई थी। मैं इसे उम्र-क़ैद समझने लगा था, जो आत्मा और बुद्धि की उन्नति का द्वार बंद कर देती है, जो मनुष्य को स्वार्थ का भक्त बना देती है, जो जीवन के क्षेत्र को संकीर्ण कर देती है। मगर दो ही चार मास के बाद मुझे अपनी भूल मालूम हुई। मुझे मालूम हुआ कि सुभार्या स्वर्ग की सबसे बड़ी विभूति है, जो मनुष्य के चरित्र को उज्ज्वल और पूर्ण बना देती है, जो आत्मोन्नति का मूल-मंत्र है। मुझे मालूम हुआ कि विवाह का उद्देश्य भोग नहीं, आत्मा का विकास है।

बागेश्वरी की नम्रता और सहन न कर सकी। वह किसी बात के बहाने से उठकर चली गई।

मनहर और बागेश्वरी का विवाह हुए तीन साल गुज़रे थे। मनहर उस समय एक दफ़्तर में क्लार्क था। सामान्य युवकों की भाँति उसे भी जासूसी उपन्यासों से बहुत प्रेम था। धीरे-धीरे उसे जासूसी का शौक़ हुआ। इस विषय पर उसने बहुत-सा साहित्य जमा किया और बड़े मनोयोग से उनका अध्ययन किया। इसके बाद उसने इस विषय पर स्वयं एक किताब लिखी। इस रचना में उसने ऐसी विलक्षण विवेचना-शक्ति का परिचय दिया, उसकी शैली भी इतनी रोचक थी कि जनता ने उसे हाथोंहाथ लिया। इस विषय पर वह सर्वोत्तम ग्रंथ था।

देश में धूम मच गई। यहाँ तक कि इटली और जर्मनी-जैसे देशों से उसके पास प्रशंसापत्र आए, और इस विषय की पत्रिकाओं में अच्छी-अच्छी आलोचनाएँ निकलीं। अंत में सरकार ने भी अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया—उसे इँगलैंड जाकर इस कला का अभ्यास करने के लिये वृत्ति प्रदान की। और यह सब कुछ बागेश्वरी की सद्प्रेरणा का शुभ फल था।

मनहर की इच्छा थी कि बागेश्वरी भी साथ चले। पर बागेश्वरी उनके पाँव की बेड़ी न बना चाहती थी। उसने घर रहकर सास-ससुर की सेवा करना ही उचित समझा।

× × ×

मनहर के लिये इँगलैंड एक दूसरी ही दुनिया थी, जहाँ उन्नति के मुख्य साधनों में एक रूपवती पत्नी का होना भी था। अगर पत्नी रूपवती है, चपल है, चतुर है, वाणी-कुशल है, प्रगल्भ है, तो समझ लो कि उसके पति को सोने की खान मिल गई; अब वह उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है। मनोयोग और तपस्या के बूते पर नहीं, पत्नी के प्रभाव और आकर्षण के बूते पर। उस संसार में रूप और लावण्य व्रत के बंधनों से मुक्त, एक अबाध सम्पत्ति थी। जिसने किसी रमणी को प्राप्त कर लिया, उसकी मानो तक़दीर खुल गई। यदि कोई सुंदरी तुम्हारी सहधर्मिणी नहीं है, तो तुम्हारा सारा उद्योग, सारी कार्यपटुता निष्फल है। कोई तुम्हारा पुरसाँहाल न होगा। अतएव वहाँ लोग रूप को व्यापारिक दृष्टि से देखते थे।

साल ही भर के अँगरेज़ी समाज के संसर्ग ने मनहर की मनोवृत्तियों में क्रांति पैदा कर दी। उसके मिज़ाज में सांसारिकता का इतना प्राधान्य हो गया कि कोमल भावों के लिये वहाँ कोई स्थान ही न रहा। बागेश्वरी उसके विद्याभ्यास में सहायक हो सकती थी, पर उसे अधिकार और पद की उँचाइयों पर न पहुँचा सकती थी। उसके त्याग और सेवा का महत्त्व भी अब मनहर की निगाहों में कम होता जाता था। बागेश्वरी अब उसे एक व्यर्थ-सी वस्तु मालूम होती थी, क्योंकि उसकी भौतिक दृष्टि में हरएक वस्तु का मूल्य उससे होनेवाले लाभ पर ही अवलंबित था। अपना पूर्व जीवन अब उसे हास्यास्पद जान पड़ता था। चंचल, हँसमुख, विनोदिनी अँगरेज़ युवतियों के सामने बागेश्वरी एक हलकी, तुच्छ-सी वस्तु जान पड़ती—इस विद्युत्-प्रकाश में वह दीपक अब मलिन पड़ गया था। यहाँ तक कि शनैः-शनैः उसका वह मलिन प्रकाश भी लुप्त हो गया।

मनहर ने अपने भविष्य का निश्चय कर लिया। वह भी एक रमणी की रूपनौका द्वारा ही अपने लक्ष्य पर पहुँचेगा। इसके सिवा और कोई उपाय न था।

× × ×

रात के नौ बजे थे। मनहर लंदन के एक फ़ैशनेबुल रेस्ट्राँ में बना-ठना बैठा था। उसका रंग-रूप और ठाट-बाट देखकर सहसा यह कोई नहीं कह सकता था कि अँगरेज़ नहीं है। लंदन में भी उसके सौभाग्य ने उसका साथ दिया था। उसने चोरी के कई गहरे मुआमलों का पता लगा दिया था, इसलिये उसे धन और यश दोनों ही मिल रहा था। वह अब वहाँ के भारतीय समाज का एक प्रमुख अंग बन गया था, जिसके आतिथ्य और सौजन्य की सभी सराहना करते थे। उसका लबो-लहजा भी अँगरेज़ी से मिलता-जुलता था। उसके सामने मेज़ के दूसरी ओर एक रमणी बैठी हुई उसकी बातें बड़े ध्यान से सुन रही थी। उसके अंग-अंग से यौवन टपका पड़ता था। भारत के अद्‌भुत वृत्तांत सुन-सुनकर उसकी आँखें ख़ुशी से चमक रही थीं। मनहर चिड़िया के सामने दाने बिखेर रहा था।

मनहर—विचित्र देश है जेनी, अत्यंत विचित्र। पाँच-पाँच साल के दूल्हे तुम्हें भारत के सिवा और कहीं देखने को न मिलेंगे। लाल रंग के कामदार कपड़े,

सिर पर चमकता हुआ लंबा टोप, चेहरे पर फूलों का झालरदार बुर्क़ा, घोड़े पर सवार चले जा रहे हैं। दो आदमी दोनों तरफ़ से छतरियाँ लगाए हुए हैं। हाथों में मेहदी लगी हुई—

जेनी—मेहदी क्यों लगाते हैं ?

मनहर—जिसमें हाथ लाल हो जायँ। पैरों में भी रंग भरा जाता है। उँगलियों के नाखून लाल रंग दिए जाते हैं। वह दृश्य देखते ही बनता है।

जेनी—यह तो दिल में सनसनी पैदा करनेवाला दृश्य होगा। दूल्हिन भी इसी तरह सजाई जाती होगी ?

मनहर—इससे कई गुना अधिक। सिर से पाँव तक सोने-चाँदी के ज़ेवरों से लदी हुई। ऐसा कोई अंग नहीं जिसमें दो-दो चार-चार गहने न हों।

जेनी—तुम्हारी शादी भी उसी तरह हुई होगी। तुम्हें तो बड़ा आनंद आया होगा ?

मनहर—हाँ, वही आनंद आया था जो तुम्हें मेरी गोरा-राउंड पर चढ़ने में आता है। अच्छी-अच्छी चीज़ें खाने को मिलती हैं, अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने को मिलते हैं। ख़ूब नाच-तमाशे देखता था और शहनाइयों का गाना सुनता था। मज़ा तो जब आता है जब दुलहिन अपने घर से बिदा होती है। सारे घर में कुहराम मच जाता है। दुलहिन हरएक से लिपट-लिपटकर रोती है जैसे मातम कर रही हो।

जेनी—दूलहिन रोती क्यों है ?

मनहर—रोने का रिवाज चला आता है। हालाँकि सभी जानते हैं कि वह हमेशा के लिये नहीं चली जा रही है, फिर भी सारा घर इस तरह फूट-फूटकर रोता है, मानो वह कालेपानी भेजी जा रही हो।

जेनी—मैं तो इस तमाशे पर ख़ूब हँसूँ।

मनहर—हँसने की बात ही है।

जेनी—तुम्हारी बीवी भी रोई होगी ?

मनहर—अजी कुछ न पूछो, पछाड़ें खा रही थी, मानो मैं उसका गला घोट दूँगा। मेरी पालकी से निकलकर भागी जाती थी, पर मैंने ज़ोर से पकड़कर अपनी बग़ल में बैठा लिया। तब मुझे दाँत काटने दौड़ी।

मिस जेनी ने ज़ोर से क़हक़हा मारा और मारे हँसी के लोट गई। बोली—हारिबिल! हारिबिल! क्या अब भी दाँत काटती है ?

मनहर—वह अब इस संसार में नहीं है जेनी। मैं उससे ख़ूब काम लेता था। मैं सोता था, तो वह मेरे बदन में चप्पी लगाती थी, मेरे सिर में तेल डालती थी, पंखा झलती थी।

जेनी—मुझे तो विश्वास नहीं आता। बिलकुल मूर्ख थी।

मनहर—कुछ न पूछो। दिन को किसी के सामने मुझसे बोलती भी न थी, मगर मैं उसका पीछा करता रहता था।

जेनी—ओ! नाटी बॉय! तुम बड़े शरीर हो। थी तो रूपवती ?

मनहर—हाँ, उसका मुँह तुम्हारे तलवों-जैसा था।

जेनी—नानसेंस! तुम ऐसी औरत के पीछे कभी न दौड़ते।

मनहर—उस वक़्त मैं भी मूर्ख था जेनी।

जेनी—ऐसी मूर्ख लड़की से तुमने विवाह क्यों किया ?

मनहर—विवाह न करता तो मा-बाप ज़हर खा लेते।

जेनी—वह तुम्हें प्यार कैसे करने लगी ?

मनहर—और करती क्या। मेरे सिवा दूसरा था ही कौन। घर से बाहर निकलने न पाती थी। मगर प्यार हममें से किसी को न था। वह मेरी आत्मा और हृदय को संतुष्ट न कर सकती थी। जेनी, मुझे उन दिनों की याद आती है, तो ऐसा मालूम होता है कि कोई भयंकर स्वप्न था। उफ़! अगर वह स्त्री आज जीवित होती, तो आज मैं किसी अँधेरे दफ़्तर में बैठा क़लम घिसता होता। इस देश में आकर मुझे यथार्थ ज्ञान हुआ कि संसार में स्त्री का क्या स्थान है, उसका क्या दायित्व है, और जीवन उसके कारण कितना आनंदप्रद हो जाता है। और जिस दिन तुम्हारे दर्शन हुए, वह तो मेरी ज़िन्दगी का सबसे मुबारक दिन था। याद है तुम्हें वह दिन ? तुम्हारी वह सूरत मेरी आँखों में अब भी फिर रही है।

जेनी—अब मैं चली जाऊँगी। तुम मेरी ख़ुशामद करने लगे।

(२)

भारत के मजूरदल-सचिव थे लार्ड बारबर और उनके प्राइवेट सेक्रेटरी थे मि० कावर्ड। लार्ड बारबर भारत के सच्चे मित्र समझे जाते थे। जब कैंसरवेटिव और लिबरल दलों का अधिकार था तो लार्ड बारबर भारत की बड़े

ज़ोरों से वकालत करते थे। वह उन मंत्रियों पर ऐसे-ऐसे कटाक्ष करते कि उन बेचारों को कोई जवाब न सूझता। एक बार वह हिंदुस्थान आए थे और यहाँ कांग्रेस में शरीक भी हुए थे। इस समय उनकी उदार वक्तृताओं ने समस्त देश में आशा और उत्साह की एक लहर दौड़ा दी थी। कांग्रेस के जलसे के बाद वह जिस शहर में गए, जनता ने उनके रास्ते में आँखें बिछाईं, उनकी गाड़ियाँ खींचीं, उन पर फूल बरसाए। चारों ओर से यही आवाज़ आती थी—यह है भारत का उद्धार करनेवाला। लोगों को विश्वास हो गया कि भारत के सौभाग्य से अगर कभी लार्ड बारबर को अधिकार प्राप्त हुआ, तो वह दिन भारत के इतिहास में मुबारक होगा।

लेकिन अधिकार पाते ही लार्ड बारबर में एक विचित्र परिवर्तन हो गया। उनके सारे सद्भाव, उनकी उदारता, न्यायपरायणता, सहानुभूति अधिकार के भँवर में पड़ गए। और, अब लार्ड बारबर और उनके पूर्वाधिकारियों के व्यवहार में लेशमात्र भी अंतर न था। वह भी वही कर रहे थे, जो उनके पहले लोग कर चुके थे। वही दमन था, वही जातिगत अभिमान, वही कट्टरता, वही संकीर्णता। देवता अधिकार के सिंहासन पर पाँव रखते ही अपना देवत्व खो बैठा था। अपने दो साल के अधिकार-काल में उन्होंने सैकड़ों ही अफ़सर नियुक्त किए थे, पर उनमें एक भी हिंदुस्थानी न था। भारतवासी निराश हो-होकर उन्हें 'डाइहार्ड' और 'धन का उपासक' और 'साम्राज्यवाद का पुजारी' कहने लगे थे। यह खुला हुआ रहस्य था कि जो कुछ करते थे मि० कावर्ड करते थे। हक़ यह था कि लार्ड बारबर नियत के इतने शेर थे, जितने दिल के कमज़ोर। हालाँकि परिणाम दोनों दशाओं में एक-सा था।

यह मि० कावर्ड एक ही महापुरुष थे; उनकी उम्र ४० से गुज़र चुकी थी, पर अभी तक उन्होंने विवाह न किया था। शायद उनका ख़याल था कि राजनीति के क्षेत्र में रहकर वैवाहिक जीवन का आनंद नहीं उठा सकते। वास्तव में वह नवीनता के मधुप थे। उन्हें नित नए विनोद और आकर्षण, नित नए विकास और उल्लास की टोह रहती थी। दूसरों के लगाए हुए बाग़ की सैर करके चित्त को प्रसन्न कर लेना इससे कहीं सरल था कि अपना बाग़ आप लगाएँ और उसकी रक्षा और सजाव[ट] में अपना सिर खपाएँ। उनकी व्यावहारिक और व्यापारि[क] दृष्टि में यह लटका उससे कहीं आसान था।

दोपहर का समय था। मि० कावर्ड नाश्ता करके सिगार पी रहे थे कि मिस जेनी रोज़ के आने की ख़बर हुई। उन्होंने तुरंत आइने के सामने खड़े होकर अपनी सूरत देखी, बिखरे हुए बालों को सँवारा, बहुमूल्य इत्र मला और मुख से स्वागत की सहास छवि दरसाते हुए कमरे से निकलकर मिस रोज़ से हाथ मिलाया।

जेनी ने कमरे में क़दम रखते ही कहा—अब मैं समझ गई कि क्यों कोई सुंदरी तुम्हारी बात नहीं पूछती। आप अपने वादों को पूरा करना नहीं जानते।

मि० कावर्ड ने जेनी के लिये एक कुरसी खींचते हुए कहा—मुझे बहुत खेद है मिस रोज़, कि मैं कल अपना वादा पूरा न कर सका। प्राइवेट सेक्रेटरियों का जीवन कुत्तों के जीवन से भी हेय है। बारबार चाहता था कि दफ़्तर से उठूँ, पर एक-न-एक काम ऐसा आ जाता था कि फिर रुक जाना पड़ता था। मैं तुमसे क्षमा माँगता हूँ। बाल में तुम्हें ख़ूब आनंद आया होगा।

जेनी—मैं तुम्हें तलाश करती रही। जब तुम न मिले, तो मेरा जी खट्टा हो गया। मैं और किसी के साथ नहीं नाची। अगर तुम्हें न जाना था, तो मुझे निमंत्रणपत्र क्यों दिलाया था?

कावर्ड ने जेनी को सिगार भेंट करते हुए कहा—तुम मुझे लज्जित कर रही हो जेनी। मेरे लिये इससे ज़्यादा ख़ुशी की और क्या बात हो सकती थी कि तुम्हारे साथ नाचता। एक पुराना बेचेलर होने पर भी मैं उस आनंद की कल्पना कर सकता हूँ। बस, यही समझ लो, तड़प-तड़पकर रह जाता था।

जेनी ने कठोर मुस्कान के साथ कहा—तुम इसी योग्य हो कि बेचेलर बने रहो। यही तुम्हारी सज़ा है।

कावर्ड ने अनुरक्त होकर उत्तर दिया, तुम बड़ी कठोर हो जेनी। तुम्हीं क्या, रमणियाँ सभी कठोर होती हैं। मैं कितनी ही परवशता दिखाऊँ, तुम्हें विश्वास न आएगा। मुझे यह अरमान ही रह गया कि कोई सुंदरी मेरे अनुराग और लगन का आदर करती।

जेनी—तुममें अनुराग हो भी। रमणियाँ ऐसे बहानेबाज़ों को मुँह नहीं लगातीं।

कावर्ड—फिर बहानेबाज़ कहा। मजबूर क्यों नहीं कहतीं ?

जेनी—मैं किसी की मजबूरी को नहीं मानती। मेरे लिये यह हर्ष और गौरव की बात नहीं हो सकती कि आपको जब अपने सरकारी, अर्द्धसरकारी और ग़ैरसरकारी कामों से अवकाश मिले, तो आप मेरा मन रखने को एक क्षण के लिये अपने कोमल चरणों को कष्ट दें। मैं प्रेम और काम के हीले नहीं सुनना चाहती। इसी कारण तुम अब तक पड़े झीख रहे हो।

कावर्ड ने गंभीर भाव से कहा—तुम मेरे साथ अन्याय कर रही हो जेनी। मेरे अविवाहित रहने का क्या कारण है, यह कल तक मुझे ख़ुद न मालूम था। अब आप-ही-आप मालूम हो गया।

जेनी ने उसका परिहास करते हुए कहा—अच्छा! तो यह रहस्य आपको मालूम हो गया। तब तो आप सचमुच आत्मदर्शी हैं। ज़रा मैं भी सुनूँ, क्या कारण था?

कावर्ड ने उत्साह के साथ कहा—अब तक कोई ऐसी सुंदरी न मिली थी, जो मुझे उन्मत्त कर सकती।

जेनी ने कठोर परिहास के साथ कहा—मेरा ख़याल है कि दुनिया में ऐसी औरत पैदा ही नहीं हुई, जो तुम्हें उन्मत्त कर सकती। तुम उन्मत्त बनाना चाहते हो, उन्मत्त बनना नहीं चाहते।

कावर्ड—तुम बड़ा अत्याचार करती हो जेनी!

जेनी—अपने उन्माद का प्रमाण देना चाहते हो?

कावर्ड—हृदय से, जेनी! मैं उस अवसर की ताक में बैठा हूँ।

× × ×

उसी दिन शाम को जेनी ने मनहर से कहा—तुम्हारे सौभाग्य पर बधाई। तुम्हें वह जगह मिल गई।

मनहर उछलकर बोला—सच! सेक्रेटरी से कोई बातचीत हुई थी?

जेनी—सेक्रेटरी से कुछ कहने की ज़रूरत ही न पड़ी। सब कुछ कावर्ड के हाथ में है। मैंने उसी को चंग पर चढ़ाया। लगा मुझसे इश्क़ जताने। पचास साल की तो उम्र है, चाँद के बाल झड़ गए हैं, गालों पर झुर्रियाँ पड़ गई हैं, पर अभी तक आपको इश्क़ का ख़ब्त है। आप अपने को एक ही रसिया समझते हैं। उसके बूढ़े चोंचले बहुत बुरे मालूम होते थे, मगर तुम्हारे लिये सब कुछ सहना पड़ा। ख़ैर, मेहनत सुफल हो गई। कल तुम्हें परवाना मिल जायगा। अब सफ़र की तैयारी करनी चाहिए।

मनहर ने गद्गद होकर कहा—तुमने मुझ पर बहुत बड़ा एहसान किया है जेनी।

(३)

मनहर को गुप्तचर-विभाग में ऊँचा पद मिला। देश के राष्ट्रीय पत्रों ने उसकी तारीफ़ों के पुल बाँधे, उसकी तस्वीर छापी और राष्ट्र की ओर से उसे बधाई दी। वह पहला भारतीय था, जिसे यह ऊँचा पद प्रदान किया गया था। ब्रिटिश सरकार ने सिद्ध कर दिया था कि उसकी न्यायबुद्धि जातीय अभिमान और द्वेष से उच्चतर है।

मनहर और जेनी का विवाह इँगलैंड में ही हो गया। हनीमून का महीना फ़्रांस में गुज़रा। वहाँ से दोनों हिंदुस्थान आए। मनहर का दफ़्तर बंबई में था। वहीं दोनों एक होटल में रहने लगे। मनहर को गुप्त अभियोगों की खोज के लिये अकसर दौरे करने पड़ते थे। कभी काश्मीर, कभी मदरास, कभी रंगून। जेनी इन यात्राओं में बराबर उसके साथ रहती। नित नए दृश्य थे, नए विनोद, नए उल्लास। उसकी नवीनता-प्रिय प्रकृति के लिये आनंद का इससे अच्छा और क्या सामान हो सकता था।

मनहर का रहन-सहन तो अँगरेज़ी था ही, घरवालों से भी संबंध-विच्छेद हो गया था। बागेश्वरी के पत्रों का उत्तर देना तो दूर रहा, उन्हें खोलकर पढ़ता भी न था। भारत में उसे हमेशा यह शंका बनी रहती थी कि कहीं उसके घरवालों को उसका पता न चल जाय। जेनी से वह अपनी यथार्थ स्थिति को छिपाए रखना चाहता था। उसने घरवालों को अपने आने की सूचना तक न दी। यहाँ तक कि वह हिंदुस्थानियों से बहुत कम मिलता था। उसके मित्र अधिकांश पुलीस और फ़ौज के अफ़सर थे। वही उसके मेहमान होते। वाक्-चतुर जेनी सम्मोहन-कला में सिद्धहस्त थी। पुरुषों के प्रेम से खेलना उसकी सबसे आमोदमय क्रीड़ा थी। जलाती भी थी, रिझाती भी थी, और मनहर भी उसकी कपट-लीला का शिकार बनता रहता था। उसे वह हमेशा भूलभुलैया में रखती, कभी इतना निकट कि

छाती पर सवार, कभी इतनी दूर कि योजनों का अंतर—कभी निष्ठुर और कठोर, कभी प्रेम-विह्वल और व्यग्र। एक रहस्य था जिसे वह कभी समझता था, कभी हैरान रह जाता था।

इस तरह दो वर्ष बीत गए और मनहर और जेनी कोण की दो भुजाओं की भाँति एक दूसरे से दूर होते गए। मनहर इस भावना को हृदय से न निकाल सकता था कि जेनी का मेरे प्रति एक विशेष कर्तव्य है। यह चाहे उसकी संकीर्णता हो, या कुल-मर्यादा का असर कि वह जेनी को पाबंद देखना चाहता था। उसकी स्वच्छंद वृत्ति उसे लज्जास्पद मालूम होती थी। वह भूल जाता था कि जेनी से उसके संपर्क का आरंभ ही स्वार्थ पर अवलंबित था। शायद उसने समझा था कि समय के साथ जेनी को अपने कर्तव्य का ज्ञान हो जायगा, हालाँकि उसे मालूम होना चाहिए था कि टेढ़ी बुनियाद पर बना हुआ भवन जल्द या देर में अवश्य भूमिस्थ होकर रहेगा। और उँचाई के साथ इसकी शंका और भी बढ़ती जाती थी। इसके विपरीत, जेनी का व्यवहार बिलकुल परिस्थिति के अनुकूल था। उसने मनहर को विनोदमय, विलासमय जीवन का एक साधन समझा था और उसी विचार पर अब तक स्थिर थी। इस मंत्र को, वह मन में पति का स्थान न दे सकती थी, पाषाण-प्रतिमा को अपना देवता न बना सकती थी। पत्नी बनना उसके जीवन का स्वप्न न था। इसलिये वह मनहर के प्रति अपने किसी कर्तव्य को स्वीकार न करती थी। अगर मनहर अपनी गाढ़ी कमाई उसके चरणों पर अर्पित करता था, तो उस पर कोई एहसान न करता था। मनहर उसी का बनाया हुआ पुतला, उसी का लगाया हुआ वृक्ष था। उसकी छाया और फल को भोग करना वह अपना अधिकार समझती थी।

(४)

मनोमालिन्य बढ़ता गया। आख़िर मनहर ने उसके साथ दावतों और जलसों में जाना छोड़ दिया, पर जेनी पूर्ववत् सैर करने जाती, मित्रों से मिलती, दावतें करती और दावतों में शरीक होती। मनहर के साथ न जाने से उसे लेशमात्र भी दुःख या निराशा न होती थी। बल्कि वह शायद उसकी उदासीनता पर और भी प्रसन्न होती। मनहर इस मानसिक व्यथा को शराब के नशे में डुबाने का उद्योग करता। पीना तो उसने इँगलैंड ही में शुरू कर दिया था, पर अब उसकी मात्रा बहुत बढ़ गई थी। वहाँ स्फूर्ति और आनन्द के लिये पीता था, यहाँ स्फूर्ति और आनंद को मिटाने के लिये। वह दिन-दिन दुर्बल होता जाता था। वह जानता था, शराब मुझे पिए जा रही है; पर उसके जीवन का यही एक अवलंब रह गया था।

गर्मियों के दिन थे। मनहर एक मुआमले की जाँच करने के लिये लखनऊ में डेरा डाले हुए था। मुआमला बहुत संगीन था। उसे सिर उठाने की फ़ुर्सत न मिलती थी। स्वास्थ्य भी कुछ ख़राब हो चला था। मगर जेनी अपने सैर-सपाटे में मग्न थी। आख़िर एक दिन उसने कहा—मैं नैनीताल जा रही हूँ। यहाँ की गर्मी मुझसे सही नहीं जाती।

मनहर ने लाल-लाल आँखें निकालकर कहा—नैनीताल में क्या काम है?

वह आज अपना अधिकार दिखाने पर तुल गया था, जेनी भी उसके अधिकार की उपेक्षा करने पर तुली हुई थी। बोली—यहाँ कोई सोसाइटी नहीं। सारा लखनऊ पहाड़ों पर चला गया है।

मनहर ने जैसे म्यान से तलवार निकालकर कहा—जब तक मैं यहाँ हूँ, तुम्हें कहीं जाने का अधिकार नहीं है। तुम्हारी शादी मेरे साथ हुई है। सोसाइटी के साथ नहीं हुई। फिर तुम साफ़ देख रही हो कि मैं बीमार हूँ तिस पर भी तुम अपनी विलासप्रवृत्ति को रोक नहीं सकतीं। मुझे तुमसे ऐसी आशा न थी जेनी। मैं तुमको शरीफ़ समझता था। मुझे स्वप्न में भी यह गुमान न था कि तुम मेरे साथ ऐसी बेवफ़ाई करोगी।

जेनी ने अविचलित भाव से कहा—तो क्या तुम समझते थे, मैं भी तुम्हारी हिंदुस्थानी स्त्री की तरह तुम्हारी लौंडी बनकर रहूँगी और तुम्हारे तलवे सहलाऊँगी? मैं तुम्हें इतना नादान नहीं समझती। अगर तुम्हें हमारी अँगरेज़ी सभ्यता की इतनी मोटी-सी बात मालूम नहीं, तो अब मालूम कर लो कि अँगरेज़ स्त्री अपनी रुचि के सिवा और किसी की पाबंद नहीं। तुमने मुझसे इसलिये विवाह किया था कि मेरी सहायता से तुम्हें सम्मान और पद प्राप्त हो। सभी पुरुष ऐसा करते हैं और तुमने भी वही किया। मैं इसके लिये तुम्हें

बुरा नहीं कहती। लेकिन जब तुम्हारा वह उद्देश्य पूरा हो गया, जिसके लिये तुमने मुझसे विवाह किया था, तो तुम मुझसे अधिक आशा क्यों रखते हो? तुम हिंदुस्थानी हो, अँगरेज़ नहीं हो सकते। मैं अँगरेज़ हूँ और हिंदुस्थानी नहीं हो सकती। इसलिये हममें से किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरे को अपनी मर्ज़ी का ग़ुलाम बनाने की चेष्टा करे।

मनहर हतबुद्धि-सा बैठा सुनता रहा। एक-एक शब्द विष की घूँट की भाँति उसके कंठ के नीचे उतर रहा था। कितना कठोर सत्य था। पद-लालसा के उस प्रचंड आवेग में, विलासतृष्णा के उस अदम्य प्रवाह में वह भूल गया था कि जीवन में कोई ऐसा तत्त्व भी है, जिसके सामने पद और विलास काँच के खिलौनों से अधिक मूल्य नहीं रखते। वह विस्मृत सत्य इस समय अपने करुण विलाप से उसकी मद-मग्न चेतना को तड़पाने लगा।

शाम को जेनी नैनीताल चली गई। मनहर ने उस की ओर आँख उठाकर भी न देखा।

(५)

तीन दिन तक मनहर घर से न निकला। जीवन के पाँच-छः वर्षों में उसने जितने रत्न संचित किए थे, जिन पर वह गर्व करता था, जिन्हें पाकर वह अपने को धन्य मानता था, अब परीक्षा की कसौटी पर आकर नक़ली पत्थर सिद्ध हो रहे थे। उसकी अपमानित, ग्लानित, पराजित आत्मा एकांत रोदन के सिवा और कोई त्राण न पाती थी। अपनी टूटी झोपड़ी को छोड़कर वह जिस सुनहले कलशवाले भवन की ओर लपका था, वह मरीचिका-मात्र थी, और अब उसे फिर उसी टूटी झोपड़ी की याद आई, जहाँ उसने शांति, प्रेम और आशीर्वाद की सुधा पी थी। यह सारा आडंबर उसे काटे खाने लगा। उस सरल शीतल स्नेह के सामने ये सारी विभूतियाँ तुच्छ-सी जँचने लगीं। तीसरे दिन वह भीषण संकल्प करके उठा और दो पत्र लिखे। एक तो अपने पद से इस्तीफ़ा था, दूसरा जेनी से अंतिम बिदा की सूचना। इस्तीफ़े में उसने लिखा—मेरा स्वास्थ्य नष्ट हो गया है, और मैं इस भार को नहीं सँभाल सकता। जेनी के पत्र में उसने लिखा—हम और तुम दोनों ने भूल की और हमें जल्द-से-जल्द उस भूल को सुधार लेना चाहिए। मैं तुम्हें सारे बंधनों से मुक्त करता हूँ तुम भी मुझे मुक्त कर दो। मेरा तुमसे कोई संबंध नहीं है। अपराध न तुम्हारा है, न मेरा। समझ का फेर तुम्हें भी था और मुझे भी। मैंने अपने पद से इस्तीफ़ा दे दिया है, और अब तुम्हारा मुझ पर कोई एहसान नहीं रहा। मेरे पास जो कुछ है वह तुम्हारा है, वह सब मैं छोड़े जाता हूँ। मैं तो निमित्त-मात्र था, स्वामिनी तुम थीं। उस सभ्यता को दूर से ही सलाम है, जो विनोद और विलास के सामने किसी बंधन को स्वीकार नहीं करती।

उसने ख़ुद जाकर दोनों पत्रों की रजिस्टरी कराई और बिना उत्तर का इंतज़ार किए वहाँ से चलने को तैयार हो गया। (शेषांश आगामी अंक में)

प्रेमचंद

दो मोती

कैधौं मनोकामना बिबिध की दुगुन पाँति,
मिलित लखाई आइ प्रगट बिसाल है;
कैधौं राम-हिय मंजु मंदिर पै डारिबे की,
भाई अनुपम या कमंद छबि-जाल है।
कैधौं बहु बरन 'बिसारद' सुजोरि सुभ,
लिपि ही बसीकर रचाई बेमिसाल है;
सुंदर सगुन सुचि सुमन सँवारी कैधौं,
सिय-कर-कमल सुहाई जयमाल है।

धरिबो अहै लात भुजंगहि पै,
मृगराज ते हाथ मिलावनो है;
धँसिबो है खरी मँझधार मैं धाय,
दवागिन को त्यों मँझावनो है।
पथ-नेह मैं देइबो पाँय 'बिसारद'
नाँहि बिनोद सुहावनो है,
बरछीन-अनीन ह्वै है कढ़िबो,
'तरवारि की धार पै धावनो है'।

बलदेवप्रसाद टंडन 'बिसारद'

अमर-कीर्ति

१

रक्त से रंजित क्रुद्ध-कृपाण—
रणस्थल में नचकर निःशंक—
विजय का लेकर नव उपहार—
कभी सोती थी तेरे अंक!

२

शूल, शोणित पीकर सानंद!
मिटाते थे वैभव की प्यास!
किया करते थे तीखे तीर!
कभी कायरता का उपहास!

३

नृत्य करते थे, मुंड-विहीन,
रुंड शूरों के होकर रुष्ट!
धराशायी कर अगणित मल्ल—
किया करते थे तुझको तुष्ट!

४

हृदय पर पत्थर रखकर देवि!
कभी मा की ममता! तत्काल!
सौंप देती थी तुझको आह!
समर करने को अपने लाल!

५

आह! तेरे हित कितने भाल—
हुए सहसा सिंदूर-विहीन!
मिट गईं तेरे पथ पर हाय!
वीर-बालाएँ बनकर दीन!

६

चिताएँ रच-रचकर साहर्ष—
चारु-चरिता कितनी अकलंक!
विश्व के वक्षस्थल पर अंत—
कर गईं अंकित तेरे अंक!

७

कामना के अविकच नव कुंज—
भरा जिनमें था मधुर पराग!
लजीली लतिका के प्रिय पुष्प—
जतति जो अपना अनुराग!

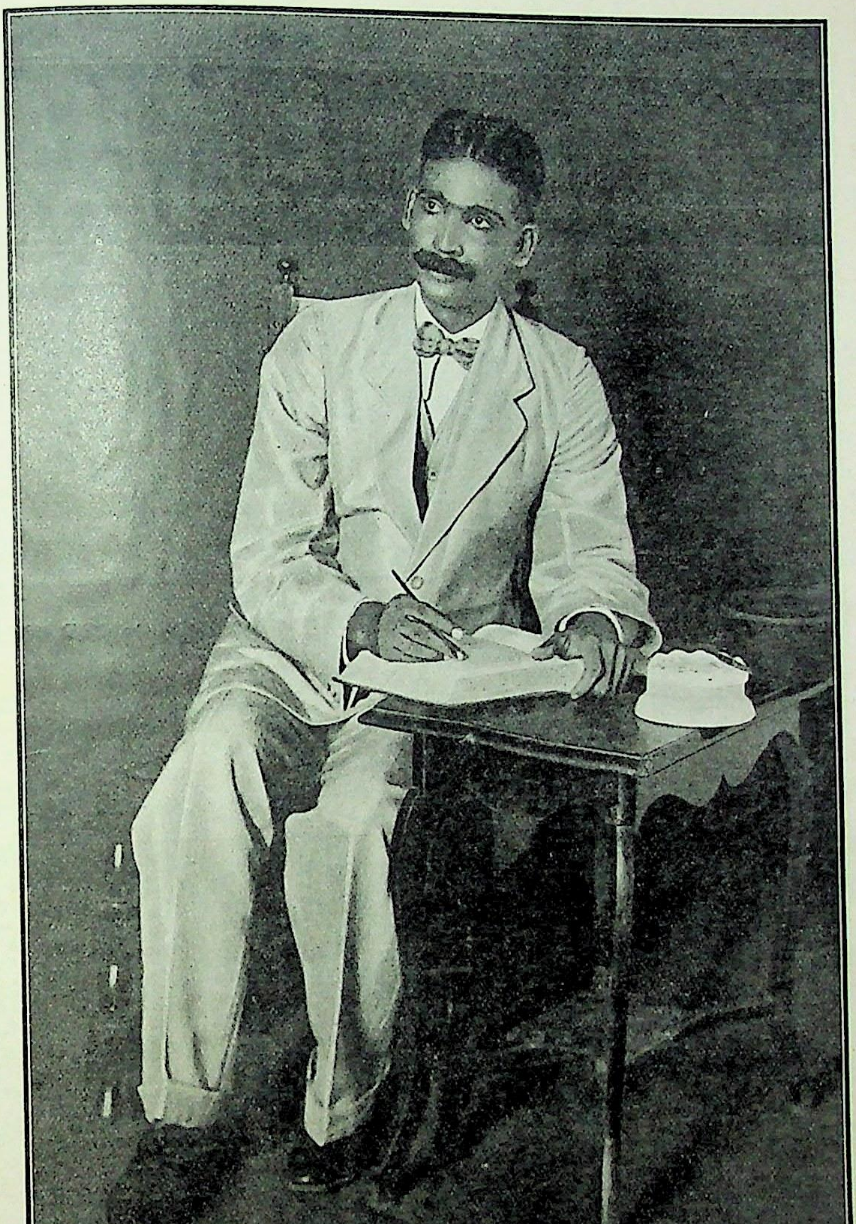
८

विना बिखराए सौरभ मंजु—
प्रणय-चुंबन का ले अभिशाप!
अलौकिक तेरी लीला देख—
जले सहसा पाकर परिताप!!

९

हुए कितने प्रभुता से हीन!
मला तूने कितनों का मान!
गिरे कितने उन्नत उद्भ्रांत!
चाहती तब भी तू बलिदान!

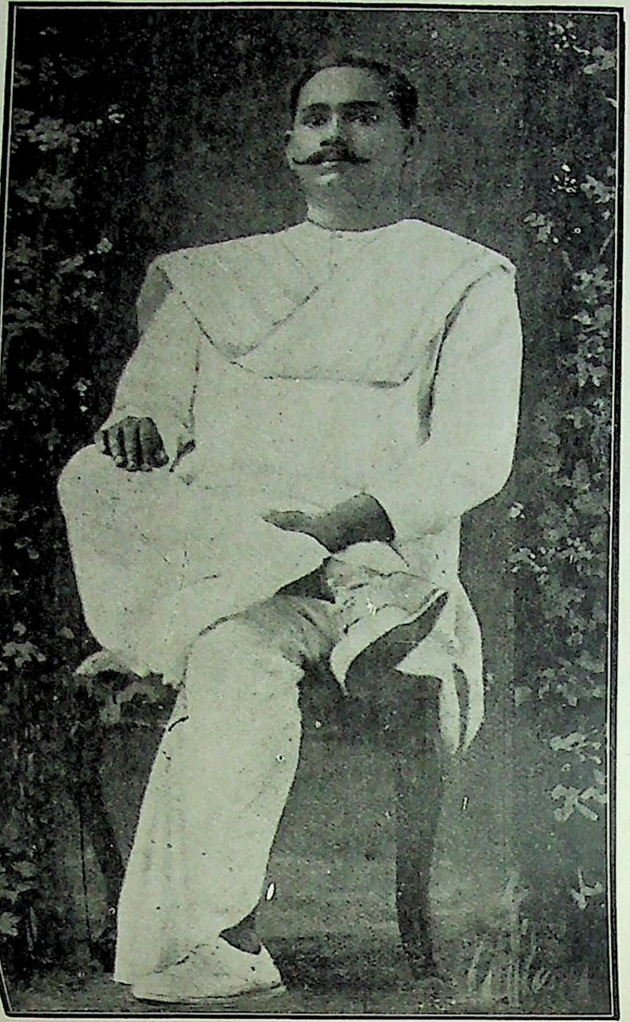
रमाशंकर मिश्र 'श्रीपति' (कविरत्न)



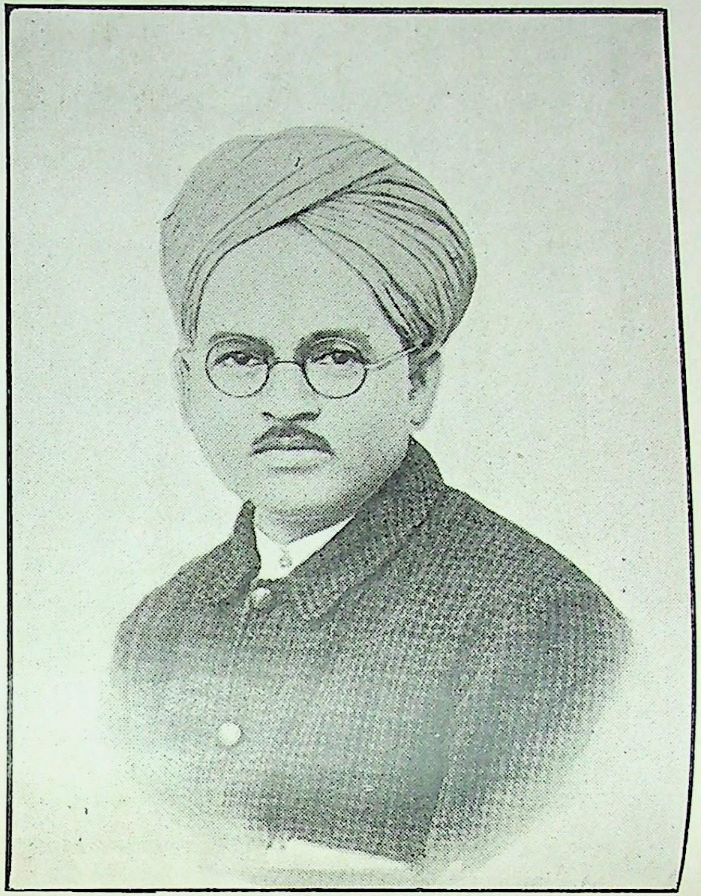
माधुरी के सुकवि

कविरत्न पं० रमाशंकर मिश्र 'श्रीपति'

["मध्यप्रांत के हिंदी-लेखक और कवि" लेख से संबद्ध]



साहित्यशास्त्री पं० मातादीन शुक्ल काव्यभूषण



श्रीसिद्धनाथ माधव आगरकर बी० ए०
संपादक "कर्मवीर"

हंगरी का उद्धार

कहा जाता है, असहयोग निरंकुश शासन को नष्ट करने की शक्ति रखता है; बड़ी-बड़ी व्याधियों और विपत्तियों को क्षण-भर में दूर कर देने का यह प्रबल साधन है। असहयोग द्वारा ही हंगरी ने स्वतंत्रता प्राप्त की। असहयोग ही द्वारा आयरलैंड ने परतंत्रता की शृंखला को तोड़कर स्वराज्य स्थापित कर दिया। असहयोग ही द्वारा मिश्रदेश ने निरंकुश सरकार के छक्के छुड़ा दिए और कोरिया ने स्वाधीनता प्राप्त कर ली।

स्वाधीनता प्राप्त करने की विकट लड़ाई में सर्वप्रथम हंगरी ही ने असहयोग की शरण ली थी। इस स्वातंत्र्य-संग्राम में हंगरी ने कैसी-कैसी विपत्तियों का सामना किया, हृदयहीन शासकों ने कैसी क्रूरता का व्यवहार किया, हंगरी-प्रदेश में दमन का कैसा दौरदौरा रहा, देश के दीवानों ने इन अत्याचारों का कैसे हँस-हँसकर सामना किया और अंत में मदांध शासकों ने कैसी मुँह की खाई, आज पाठकों को यही सुनाना है।

× × ×

दो शताब्दी पूर्व अस्ट्रिया और हंगरी दोनों ही प्रदेश परतंत्र थे। दोनों ही ने धीरे-धीरे शक्ति संचय कर वैरियों पर धावा बोल दिया और बात-की-बात में बंधन-मुक्त हो गए। अस्ट्रिया और हंगरी दोनों ही ने आपस में समझौता कर लिया और स्वतंत्र राष्ट्रों की तरह अपना-अपना कार्य-संचालन करने लगे। वायना (Vienna)-नामक नगर अस्ट्रिया में है। अस्ट्रिया और हंगरी दोनों का शासन-केंद्र वायना ही था। हंगरी-निवासी आमोद-प्रमोद में लीन रहते थे। वे राष्ट्र की ओर से कुछ उदासीन-से थे। उत्तर-दायित्व-हीन स्वतंत्रता रंग लाने लगी। अस्ट्रिया-नरेश ने हंगरी पर अपना प्रभुत्व जमाना प्रारंभ कर दिया। हंगरी के कुछ आत्माभिमानी युवकों से यह न देखा गया। उन्होंने अस्ट्रिया के विरुद्ध मंत्रणाएँ करना आरम्भ कर दिया। अस्ट्रिया को इन षडयंत्रों का पता लग गया। कठोर-हृदय शासकों ने उन वीर देशभक्तों को प्राणदंड दे दिया। हंगरी की राष्ट्र-बलि-वेदी पर बलिदान की यह पहली आहुति थी।

अस्ट्रिया ने हंगरी को अपने पंजों में कर लिया। षडयंत्रकारी देशभक्तों की फाँसियों ने हंगरी में कुछ जागृति पैदा कर दी। अंकुश की चोट पड़ते ही समस्त हँगरी में स्फूर्ति-सी पैदा हो गई। लोगों के हृदय में स्वाभिमान और स्वतंत्रता के भावों का उद्रेक होने लगा।

अस्ट्रिया को कुछ सैनिकों की आवश्यकता पड़ी। उसने सोचा कि हंगरी से सैनिकों को भर्ती कर अपनी विजय और उन्नति के लिये उन मूक-आत्माओं की बलि दें। हंगरी-निवासी निरे मस्तिष्क-हीन पशु न थे। प्रत्येक हंगरी-निवासी के हृदय में कसक-सी हो रही थी। अस्ट्रिया के इस संकेत के उत्तर में हंगरी के नेताओं ने एक स्वर से यही कहा—'सैनिकों की भर्ती का एकमात्र अधिकार केवल हमारी व्यवस्थापिका सभा (Diet) ही को है।' अस्ट्रियावाले अपना-सा मुँह लिए रह गए। पाँच वर्ष तक हंगरी में बड़ी अशांति रही, विभिन्न आंदोलनों की विकट लपटें उठती रहीं। मालूम होता था, प्रलय की घड़ी निकट आ गई है। अस्ट्रियावालों को अमंगल की आशंका होने लगी। उनका हृदय थर-थर काँपने लगा। उन्होंने हंगरी को शांत करने के लिये, रोटी का एक टुकड़ा उनकी ओर उछाल दिया। नरम-दलवाले तो मुँह बाए खड़े ही रहते हैं, इतने ही में प्रसन्न हो गए। १८३३ में हंगरी में एक केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा की स्थापना हुई। पानी के एक छींटे-से, खौलते हुए राष्ट्र का उफान क्षण-भर के लिये शांत हो गया।

हंगरी में उस समय कोसथ (Kossuth), वेसलनी (Wesselyeni), जान बैलग (John Balogh) आदि बड़े प्रभावशाली नेता थे। हंगरी में भी महात्मा गांधी के टक्कर का एक आत्म-संयमी त्यागी नेता था। इस यशस्वी महात्मा का नाम था फ्रैंसिस डीक (Francis Deak)। हंगरी के नेताओं का यह सिरताज था। समस्त देश में इन्हीं की तूती बोलती थी। पूर्ण स्वतंत्रता इनका लक्ष्य था और असहयोग में इन्हें विश्वास था। महात्मा डीक में असीम आत्मशक्ति थी और अपार

साहस था। शेर की माँद में सिर डाल देना तो उनके लिये खेल था।

जिस समय देशद्रोही, भीरु-हृदय नरमदलवालों ने कहा कि 'हम शक्तिहीन हैं, अस्ट्रिया से युद्ध में पार नहीं पा सकते, सिवा इसके कि वर्तमान स्थिति ही में संतोष करें और रामभजन करते हुए जीवन की रही-सही घड़ियाँ भी काट दें, और कोई चारा नहीं, उस समय महात्मा डीक ने इन कायरों को ख़ूब ही धिक्कारा। महात्मा डीक ने कहा—"हा! दुःख है कि तुम्हारे जन्म सिद्ध अधिकारों की अवहेलना हो और तुम मूक रहो! तुम्हारे सामने ही तुम्हारे राष्ट्र का मान-मर्दन हो और तुम उफ़ न करो! वे पशु हैं, जो अन्याय और अत्याचार को चुपचाप सह लेते हैं! ऐसे राष्ट्र का मिट जाना ही अच्छा है, जिस राष्ट्र के स्त्री-पुरुष स्वयं ही परतंत्रता की शृंखला पहनने को तैयार हैं।"

इन ओजस्वी शब्दों का नरमदलवालों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वे पानी-पानी हो गए, लज्जा और ग्लानि से उनकी गर्दन झुक गई। उधर एक और बड़े मार्के की घटना हो गई। व्यवस्थापिका सभा में विश्वास करनेवालों ने कोसथ के नेतृत्व में वहाँ भी उधम मचा रक्खा था। व्यवस्थापिका सभा ने राष्ट्रीय शिक्षाप्रणाली प्रचलित करने की एक तजवीज़ पास की, परंतु अस्ट्रियन सरकार ने उसे अस्वीकार कर दिया। अस्ट्रियन सरकार की इस हरकत से सभी के दिल में एक ठेस-सी लगी। हंगरी में उत्तेजना फैल गई। कोसथ ने देश-भर में आग लगाना शुरू कर दिया। जिसने सुना, उसी ने अस्ट्रियन सरकार की इस नीति का घोर विरोध किया और ख़ूब ही धिक्कारा। अस्ट्रियन सरकार ने कोसथ को अपनी ओर मिलाना चाहा। बड़ी अनुनय विनय की, उच्च पदाधिकारी बना देने का भी लालच दिया—यश, वैभव, अतुल सम्पत्ति और उपाधियों का सब्ज़बाग़ दिखाया; मगर कोसथ इस मायाजाल में न फँसा। उसने इनकी ओर आँख उठाकर भी न देखा। बड़े गर्व के साथ कोसथ ने अस्ट्रियन सरकार के इन नीच प्रस्तावों को ठुकरा दिया। स्वतंत्रता के उपासक के लिये संसार की सारी सम्पदा तृण-मात्र थी।

अब क्या था। अस्ट्रियन सरकार ने भी रुख़ बदला, रौद्र रूप धारण कर लिया। गिरफ़्तारियों का बाज़ार गर्म हुआ। जेल भरे जाने लगे। सुज़ेनी (Szechenyi) कोसथ, वेसलनी और व्यवस्थापिका सभा के सदस्य जान बेलाग महोदय को कई वर्षों के लिये कठिन कारावास का दंड मिला। बेलाग को कारावास हो जाने पर उनके केंद्र में फिर से चुनाव हुआ। परिणाम यह हुआ कि जनता ने बड़े उत्साह और उल्लास के साथ अपने प्यारे नेता बेलाग को ही अपना प्रतिनिधि चुना। दो वर्ष के बाद हंगरी की पार्लामेंट की बैठक हुई, उसमें सर्वप्रथम राजनैतिक बंदियों की मुक्ति ही की चिल्ल-पुकार मची। अस्ट्रियन सरकार ने इस माँग के उत्तर में हँसकर कहा—"हाँ, हमें स्वीकार है, यदि तुम अपनी रफ़्तार बदल दो।"

महात्मा डीक ने तुरंत ही मुहतोड़ जवाब दिया—"नहीं, मित्रों के प्रति सहानुभूति दिखाने की अपेक्षा हमारा देश के प्रति कर्तव्य अधिक मूल्य रखता है। इन दामों स्वतंत्रता ख़रीदना, कारागृह में पड़े हुए देशभक्तों को कभी प्रिय नहीं हो सकता। जेल की कठिन-से-कठिन यातनाओं को वे हँसकर सह लेंगे, परंतु अपनी मुक्ति के लिये वे अपनी रफ़्तार नहीं बदल सकते, देशहित का गला घुटते नहीं देख सकते।"

डीक ने इन शब्दों को कहा और देश-भर ने दुहरा दिया। अस्ट्रियन सरकार के विरुद्ध आंदोलन प्रतिदिन बढ़ता ही जाता था। वह घबड़ा उठी। एक-एक राजनैतिक क़ैदी मुक्त कर दिए गए। कोसथ ने पिंजड़े से निकलते ही समाचार-पत्रों के सहारे देश के कोने-कोने में चिनगारियाँ पैदा करना शुरू कर दिया। लोगों को महात्मा डीक के बाद अपने सेनापति कोसथ पर बड़ा भरोसा और विश्वास था। ज्यों ही कोई कठिन समस्या सामने आ पड़ती थी, लोग पूछ बैठते थे—"बोलो, लुइस कोसथ की क्या सम्मति है?"

× × ×

लुइस कोसथ नेशनलिस्ट दल के प्रमुख नेता थे। कोसथ के लिये सभी के हृदय में श्रद्धा थी, प्रेम था। कोसथ के दल ने स्वतंत्रता-संग्राम में महात्मा डीक का अंत तक साथ दिया। नेशनलिस्ट-दलवालों ने बड़ा कुहराम मचाया। अस्ट्रियन सरकार ने हंगरी की मातृ-भाषा को ही उस देश की राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लिया, मगर मालगुज़ारी में एक पाई की भी कमी न की। कोसथ

ने हंगरी के वाणिज्य-व्यवसाय की उन्नति के लिये एक हंगेरियन लीग आफ़ इंडस्ट्री ऐंड कामर्स"-नामक संस्था खोली। इससे अस्ट्रिया के धन-कुबेरों को भारी धक्का पहुँचा। अस्ट्रियन सरकार यह कब सहन कर सकती थी। उसने इस संस्था को धूल में मिला देने का बीड़ा उठाया। धूर्तता, अन्याय, अत्याचार, छल-कपट तथा निष्ठुरता का साम्राज्य स्थापित हो गया। अस्ट्रियन सरकार को उचित-अनुचित तथा लोक-परलोक किसी की चिंता न रही। वह तो स्वार्थ-सिद्धि में लगी थी। चाहे जैसे भी हो, उसे तो अपना उल्लू सीधा करना था। हंगरी-निवासियों से यह सब देखा न जाता था, वे पागल हो उठे थे। सब कोसथ की ओर टकटकी लगाए देख रहे थे। उसके संकेत की प्रतीक्षा कर रहे थे। सहसा कोसथ ने गर्जकर कहा—'हंगरी-निवासियो, यदि तुम सचमुच मनुष्य हो...... ?' कोसथ के मुख से इतने ही शब्द निकल पाए थे कि लोग सोते हुए उठ बैठे, पल-भर में हंगरी में खलबली मच गई। लोगों ने उपाधियाँ अस्ट्रियन सरकार को वापस कर दीं और सभी ने उससे स्पष्ट कह दिया कि हमारा तुम्हारा आज से कोई नाता नहीं।

× × ×

हंगरी-पार्लमेंट के अगले चुनाव में कोसथ विजयी हुआ। कोसथ पार्लमेंट में अपने दल-बल-सहित पहुँच गया था। पार्लमेंट-भवन में कोसथ और उनके सैनिकों का ही मजमा था। पूर्ण स्वतंत्रता की तजवीज़ पेश हुई और व्यवस्थापिका सभा ने इसे सर्वसम्मति से पास कर दिया। अस्ट्रियन सरकार के हृदय पर गाज-सी गिर पड़ी। अस्ट्रिया की प्रभुता धीरे-धीरे लुप्त हो रही थी, उसका प्रकाश शनैः-शनैः क्षीण हो रहा था। यदि ऐसे अवसर पर भी अस्ट्रियन सरकार न चेतती, तो दीपक ही बुझ जाता। अस्ट्रिया ने बुद्धि से काम लिया; नहीं तो बेड़ा ग़र्क होने में देर न थी। हंगरी को तुरंत ही पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान कर दी। हंगरी में चारों ओर खुशियाँ मनाई गईं, ख़ूब जलसे हुए, बाजे बजे और आतशबाज़ियाँ छूटीं। वे समझ बैठे थे कि दुःख के दिन सदा के लिये दूर हो गए, सभा राग-रंग में रँग रहे थे। क्षण-भर में ही उनका भ्रम दूर हो गया, सुख-स्वप्न भंग हो गया।

अस्ट्रिया में एक दल ने हंगरी के विरुद्ध जाल बिछाना प्रारंभ कर दिया। इस दल ने सरबिया, क्रोट आदि को हंगरी के विरुद्ध भड़काकर धावा बुलवा दिया। उन्होंने सोचा था कि हंगरी ऐसी अवस्था में अस्ट्रिया से सहायता माँगेगा और अस्ट्रिया को एक बार फिर हंगरी में पैर जमाने का अवसर मिल जायगा। हंगरी के सैनिकों में नया जोश था, एक युग से उन्हें रणभूमि में अपना जौहर दिखाने का अवसर न मिला था। उनके हाथ खुजला रहे थे, भुजाएँ फड़क रही थीं, उनकी शमशीरें रक्त की प्यासी थीं। युद्ध हुआ, हंगरी ने वैरियों को बात-की-बात में पछाड़ दिया। अस्ट्रियावाले देखते ही रह गए। जब यों दाल न गली, तो दूसरी चाल खेले। अस्ट्रिया-सम्राट् श्रीफरडीनेंड महोदय ने काउंट लैंबर्ग को हंगरी का नया वाइसराय नियुक्त कर हंगरी को अपने शिकंजों में जकड़ने की चेष्टा की। हंगरी-निवासी किसी के दबाए दबनेवाले न थे। लोगों ने लैम्बर्ग को वायसराय स्वीकार करने से इनकार कर दिया और उनकी राष्ट्रीय सभा ने घोषणा जारी कर दी कि जो इस नवीन वायसराय को किसी प्रकार भी मुँह लगाएगा, आश्रय देगा अथवा बात भी करेगा, वह देशद्रोही समझा जायगा। लैम्बर्ग महोदय ने हंगरी के अंतस्तल से निकली हुई गगनभेदी गर्जना को बंदर-घुड़की-मात्र ही समझा। प्रभुता और पद के मद में चूर लैम्बर्ग बुदापेस्थ में जा पहुँचे। जाने को तो चले गए, परंतु एक तड़पते हुए राष्ट्र की शक्तिशाली घोषणा की उपेक्षा करने का उन्हें तुरंत ही प्रसाद मिल गया। नवीन वायसराय का स्वागत लपलपाती हुई तलवार की तीखी धार ने किया। लैम्बर्ग की हत्या की ख़बर सुनकर अस्ट्रिया का दिल दहल उठा।

इस बार अस्ट्रिया-नरेश ने जेलाशिच-नामक सेनापति को, जिसने कभी अपने नेतृत्व में हंगरी-निवासियों से मोरचा लिया था और अनेकों हंगरी के वीर सैनिकों का ख़ून बहाया था, वायसराय नियुक्त किया और उसे दलबल-सहित हंगरी पर क़ब्ज़ा कर लेने की आज्ञा दी। हंगरी-निवासियों ने यह समाचार सुना और हँस दिया। देश के दीवानों के लिये मृत्यु का भय कहाँ। वे तो सिर से कफ़न बाँधे बैठे ही थे।

कोसथ के ख़ून में गरमी थी। उसने क्रांतिकारी दल

को सचेत किया, सैनिकों की भर्ती प्रारंभ कर दी। महा-युद्ध के साज सज गए और दोनों ओर से रणवाद्य बजने लगे। आर्थर जौरजी के सेनापतित्व में हंगरी के सच्चे सिपाही जी तोड़कर लड़े, वैरियों को पीछे हटना पड़ा, उनके पैर उखड़ गए। परंतु दैव की इच्छा कुछ और ही थी। रूस-जैसे साम्राज्य ने भी नृशंसों का साथ दिया। अस्ट्रिया के सैनिकों को हटते देख रूस के सैनिकों का टिड्डीदल उनकी सहायता को आ गया। हंगरी के इने-गिने रणबाँकुरे ललकारते हुए वैरियों की अथाह सेना में कूद पड़े। हाथियों के झुंड में हंगरी के वीर, सिंह की तरह झपट रहे थे। वैरियों के दाँत खट्टे कर दिए, जिधर आँखें घूम गईं, उधर ही प्रलय कर दिया। परंतु अगणित वैरियों से मोरचा लेना हँसी-खेल न था। हंगरी के वे मोती क्षण-भर में धूल-धूसरित हो गए। हवा का एक प्रचंड झोंका आया और हंगरी की राष्ट्र-पताका झूमकर नीचे झुक गई। वहाँ अब अस्ट्रिया की विजय-पताका फहरा रही थी, सैनिकों का पहरा था, वैरियों के वाद्य बज रहे थे।

हंगरी की स्वतंत्रता पैरों से कुचल दी गई। उसकी राष्ट्रीय संस्थाओं का मान मिट्टी में मिला दिया गया, उसकी राष्ट्र-भाषा जूते की नोक से ठुकरा दी गई, प्रत्येक नगर की स्थानीय कौंसिलों में ताले डाल दिए गए। इस दुधमुँहे राष्ट्र की सत्ता मिटा देने के लिये क्रूर अस्ट्रिया ने क्या नहीं किया। हंगरी में सैनिक शासन का युग प्रारंभ हो गया। जिसने सिर उठाने की कोशिश की, स्वतंत्रता का नाम भी लिया, वह वहीं मसल दिया गया।

× × ×

हंगरी में कुछ समय के लिये सन्नाटा-सा छा गया। ऐसा मालूम होता था कि हंगरी निर्जन है, पशु-पक्षियों की भी कंठध्वनि नहीं सुनाई पड़ती थी। नेशनलिस्ट-दलवाले तो बिलकुल ही शांत हो गए थे। परंतु महात्मा डीक के आश्रम में अब भी उनके इष्ट-मित्रों और भक्तों की छोटी-मोटी बैठकें होती रहती थीं। यद्यपि चारों ओर शांति थी, कोई चूँ तक नहीं करता था, फिर भी अस्ट्रिया-वाले बेचैन थे। महात्मा डीक को देखकर उनके हृदय में भूकंप-सा उठने लगता था। महात्मा डीक को फुसलाने और मचले हुए राष्ट्र को बहलाने के लिये अस्ट्रिया-सरकार ने महात्मा को 'ग्रैंड जस्टीशियरी' का लोभ दिखाया। महात्मा ने उत्तर में कहा—"धन्यवाद, जिस समय हमारे राष्ट्र की स्वतंत्रता—उसकी १८४८ वाली खोई हुई राजव्यवस्था—वापस मिल जायगी, तब मैं आपके इस प्रस्ताव पर ग़ौर करूँगा।"

अस्ट्रियन सरकार ने महात्मा डीक से कहा कि यदि नहीं तो कम-से-कम आप अपने कुछ प्रतिनिधियों को साथ ले वायना में होनेवाली गोलमेज़-कांफ्रेंस में ही सम्मिलित होने की कृपा कीजिए। उन्होंने तुरंत ही उत्तर दिया—"क्षमा कीजिए, मैं अस्ट्रियन-सरकार से संधि की बातचीत तब तक कदापि नहीं करूँगा, जब तक हमारा देश इस वर्तमान अपमानजनक सैनिक-शासन का शिकार बना हुआ है।"

महात्माजी जब मनाए न माने, तो अस्ट्रिया ने चाणक्य-नीति का आश्रय लिया। पनपते हुए राष्ट्र को जड़ से उखाड़ उसकी नींव में मट्ठा भर देने की बात तय हुई। हंगरी को जर्मन-साम्राज्य के अंतर्गत कर देने का निश्चय हुआ, जिससे यदि भविष्य में हंगरी स्वतंत्रता के लिये हाथ-पैर पटके, तो उसके सिर पर प्रशा, सैक्सनी, बवेरिया आदि भी सवार हो जायँ। फ्रांस से यह अन्याय न देखा गया। उसने इसका विरोध किया। अस्ट्रिया की यह कूट-मंत्रणा फ्रांस के कारण सफल न हो सकी।

महात्मा डीक हंगरी के स्वदेशी कारबार और राष्ट्रीय शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार में व्यस्त थे। कोसथ आदि देश से कभी के निर्वासित हो चुके थे। वे जहाँ थे, वहाँ के लोगों को हंगरी की करुण कहानी नित्य सुनाते थे। अनेकों देशों को हंगरी की इस दीन अवस्था पर दुःख हुआ, सहानुभूति हुई और उन्होंने समवेदना भी प्रकट की। हंगरी को बहुत-से देश प्यार करने लगे—आपस में घनिष्ठता बढ़ गई—हंगरी का वाणिज्य-व्यवसाय चमक उठा।

१८५७ का युग था, समस्त संसार में क्रांति की चिन-गारियाँ भड़क उठी थीं। हंगरी भी अपने को परतंत्रता के पिंजड़े में बंदी देखकर छटपटा उठा था। हंगरी की बढ़ती हुई शक्ति अस्ट्रियन-साम्राज्य के क्रूर शासकों की आँखों में काँटे की तरह चुभ रही थी तथा चिंता और भय का भी कारण बन रही थी।

आस्ट्रिया के मंत्रि-मंडल ने अस्ट्रिया और हंगरी को एक दृढ़ प्रेमरज्जु में फिर ग्रथित करने की तरकीब सोची। प्रधान मंत्री ने अस्ट्रिया-नरेश से प्रार्थना की कि यदि आप हंगरी स्वयं पधारें और वहाँ राजसी दरबार बड़ी धूमधाम से हो, तो सारा कार्य सिद्ध हो जाय—विपत्ति के बादल छिन्न-भिन्न हो जायँ—आपस का मनमुटाव दूर हो जाय।

हंगरी के समाचारपत्रों के नाम एक सरकारी विज्ञप्ति जारी की गई। उस विज्ञप्ति के अनुसार सभी अख़बारों ने कड़ाकेदार शीर्षक दे हंगरी-भर में सूचना कर दी कि सम्राट् हंगरी में एक नवीन युग की नींव डालने पधारेंगे, राजनैतिक क़ैदियों को उनकी ज़ब्त की हुई सारी सम्पत्ति वापस दी जायगी, हंगरी-निवासियों को स्नेहमय आशीर्वाद भेंट किया जायगा—सभी का यह धर्म है कि महाराजाधिराज का हृदय से स्वागत करें।

लेकिन महात्मा डीक टस-से-मस न हुए। बड़ी उदासीनता के साथ बोले—"मैं तो हंगरी-नरेश की प्रजा हूँ, अस्ट्रिया-नरेश से मेरा क्या नाता? जब जोज़ेफ़ महोदय हंगरी की शासन-व्यवस्था, उसके जन्मसिद्ध अधिकार को स्वीकार कर लेंगे और उनका राजतिलक हंगरी की राजधानी बुदापेस्थ में होगा, तभी मैं उनका स्वागत करूँगा, इसके पूर्व मैं उनको मस्तक झुकाना, उनकी आवभगत करना अपना अपमान समझता हूँ"।

१८६७ की यह भयंकर घड़ियाँ थीं। संसार के पर्दे पर लोहू की छींटें हवा के प्रत्येक झोंके के साथ गिर रही थीं। इधर हंगरी में अस्ट्रिया-नरेश के दरबार की तैयारियाँ हो रही थीं। अस्ट्रिया-सम्राट् के आगमन में 'जो हुज़ूरों' ने और सरकारी पदाधिकारियों ने बड़ी ख़ुशियाँ मनाईं, जलसे किए, बड़ी-बड़ी दावतें दीं। राग-रंग, दीपमालिका, आतिशबाज़ी आदि से हंगरी में ख़ासी चहल-पहल मच गई। महारानी जहाँ-जहाँ गईं, हंगरी की वेशभूषा-विशेष में गईं और हंगरी के ही नाच-तमाशों को देखने की रुचि प्रकट की। जोज़ेफ़ महाराज 'एकेडेमी' में तशरीफ़ ले गए, वहाँ हंगरी की राष्ट्र-भाषा की बड़ी सराहना की, तारीफ़ों के पुल बाँध दिए। नरम दलवाले पसीज उठे। उन्होंने आपस में काना-फूसी प्रारंभ कर दी और बोले कि अस्ट्रिया-नरेश को उनके शुभागमन में एक अभिनंदनपत्र अवश्य देना चाहिए। किंतु महात्मा डीक ने कहा—"नहीं, कदापि नहीं, जिसने हंगरी की शासन-पद्धति का तिरस्कार किया है, उसका आदर-सत्कार कैसा?" नरम दलवाले कब माननेवाले थे। यदि किसी ने उनकी ओर देखकर भूल से मुस्किरा भी दिया, तो वे तुरंत यही समझ लेते थे कि बस यह तो मुझ पर हज़ार जान से निसार हो गया। अस्ट्रिया-नरेश ने तनिक पुचकार दिया, थपथपा दिया, बस, नरम दलवाले पैरों पर लोट गए और लगे दुम हिलाने। महात्मा के निषेध करने की भी परवा न की, और अभिनंदनपत्र दे ही मरे! अस्ट्रिया-अधिपति ने मधुर मुसकान में शराबोर धन्यवादसूचक दो शब्द कहकर अभिनंदनपत्र स्वीकार कर लिया। शासन-प्रणाली में हेर-फेर, नवीन राज्यव्यवस्था अथवा स्वराज्य की बात तक न की। नरमदलवाले हाथ मलते रह गए। महात्मा डीक ने उनकी ओर देखा और देखकर हँस दिया। उस हँसी में एक तीखा व्यंग्य था!

१८५९ का ज़िक्र है। एकाएक बात-ही-बात में फ़्रांस और अस्ट्रिया में खटक गई, घमासान युद्ध हुआ। अस्ट्रिया की हार हुई। फ़्रैंसिस जोज़ेफ़ महोदय की बुद्धि विपत्ति में चेती। जोज़ेफ़ ने प्रधान मंत्री बैक को पदच्युत कर हंगरी के बैरन जोसिका को उसके स्थान पर नियुक्त करने के लिये निमंत्रित किया। जोसिका ने बड़े ओजस्वी शब्दों में जोज़ेफ़ को उसके निमंत्रण का उत्तर दिया। उसने कहा, "महाराज! मैं हंगरी-निवासी हूँ, अस्ट्रिया के वातावरण में पला नहीं, मैं अस्ट्रिया-निवासियों की प्रवृत्ति और मनोवृत्ति से परिचित नहीं, मेरे लिये अस्ट्रिया पर शासन करना उतना ही कठिन और असंभव है, जैसे एक अस्ट्रिया-निवासी के लिये हंगरी पर। मैं अस्ट्रिया का शासन-सूत्र अपने हाथ में नहीं ले सकता; क्योंकि मैं एक अपरिचित विदेशी हूँ। मैं उनके दुःख-सुख को क्या समझूँगा? इस पद के लिये तो अस्ट्रिया का ही कोई सुयोग्य लाल अधिकारी हो सकता है।"

अस्ट्रिया-नरेश ने एक पोल-निवासी को प्रधान मंत्री नियुक्त कर दिया। हंगरी से संधि करने के अभिप्राय से हंगरी के छः प्रमुख नेताओं को अपनी प्रिवी कौंसिल में सम्मिलित होने का न्योता भेजा। निमंत्रित व्यक्तियों ने महात्मा की ओर देखा। डीक ने कहा, "मत जाओ,

यदि फ्रैंसिस जोज़ेफ़ को हंगरी से सलाह लेनी और संधि करनी है, तो वह स्वयं यहाँ पधारें और हमारी व्यवस्थापिका सभा से संधि-चर्चा करें ।" महात्मा के शब्द हंगरी के शब्द थे। निमंत्रणपत्र सधन्यवाद वापस कर दिए गए ।

जोज़ेफ़ को अब पता चला कि केवल मौखिक सहानुभूति और ऊपरी लाड़-प्यार-मात्र से ही हंगरी से संधि हो जाना संभव नहीं। जोज़ेफ़ ने इस बार 'कौंटी-कौंसिलों' को पुनर्जीवन प्रदान किया और हंगरी-संबंधी तमाम समस्याओं को हल करने के लिये एक 'हंगेरियन रायल कमीशन' भी नियुक्त किया । महात्मा डीक इस बाह्य आडंबर छूँछे भुलावों में फँसनेवाले असामी न थे। महात्मा ने कड़ककर कहा, "इस ओछे कमीशन के सदस्यो! कमीशन बैठालने का अधिकार एक-मात्र हमारी ही पार्लामेंट को है, वापस कर दो इस अपमानजनक कमीशन की मेम्बरी के निमंत्रण-पत्र !" महात्मा ने कहा और सबने कमीशन की मेम्बरी के नियुक्ति-पत्र ठुकरा दिए ।

हंगरी महात्मा के नेतृत्व में धीरे-धीरे एक भयंकर राष्ट्र बन गया था। हंगरी अपनी सत्ता और शक्ति, धर्म और अधिकार, मान और अपमान समझने लगा था। महात्मा के संकेत-मात्र पर हंगरी अपने प्राणों की बाज़ी लगा देने को तैयार बैठा था। महात्मा उसके पथ-प्रदर्शक थे और हंगरी आँख बंद किए उनके पीछे चल रहा था। यह अपार शक्ति, अनोखा संगठन और अनंत जागृति हंगरी के हित में जादू सा काम कर गई।

१८६१ में अस्ट्रियन सरकार ने बड़ी कसमसाहट के साथ हंगरी की कौंटी-कौंसिलों और पार्लामेंट को फिर से स्थापित करने की आज्ञा दी। थोड़ी-सी स्वतंत्रता मिली थी कि हंगरी-निवासियों ने प्रतिरोध लेना प्रारंभ कर दिया। उचित भी था। अस्ट्रिया के सहस्रों अफ़सरों को नौकरी से हाथ धोना पड़ा। अस्ट्रिया की वर्तमान सेना का ख़र्चा बंद कर दिया गया। सम्राट् जोज़ेफ घबड़ाया हुआ था, उसने डीक से गिड़गिड़ाकर कहा कि मुझे अवसर दो, मैं तुम्हारी सारी माँगे पूर्ण कर दूँगा। महात्मा ने तनिक सोचा और बोल उठे, "........अच्छा ।"

अप्रैल छः को हंगरी की पार्लामेंट की बैठक हुई। सभी राष्ट्रीय लिबास में थे, पार्लामेंट-भवन स्वतंत्रता के नारों से गूँज रहा था। कार्यवाही प्रारंभ हुई। सम्राट् जोज़ेफ़ का विशेष संवाद पढ़ा गया। सम्राट् जोज़ेफ़ ने अपने इस संवाद में कहा था कि 'हंगरी की पार्लामेंट केवल छोटी-छोटी बातों को तय करने की पंचायत-मात्र रहेगी तथा हंगरी की व्यवस्थापिका सभा अपने कुछ प्रतिनिधि वायना की 'इंपीरियल पार्लामेंट' में भेजा करेगी। इस प्रकार वायना-पार्लामेंट ही हंगरी की मुख्य समस्याओं का निर्णय किया करेगी। यह सम्राट् सुनकर लोगों की आँखों में ख़ून उतर आया। असंतोष और रोष से सभी का चेहरा तमतमा उठा। महात्मा ने तड़पकर कहा, "हंगरी यह अपमान नहीं सह सकता। हंगरी अपने भाग्य का निर्णय एक विदेशी पंचायत के हाथों कराए?—अपमान! घोर अपमान है!"

हंगरी की पार्लामेंट ने भी इस नादिरशाही फ़रमान का उत्तर बड़े कड़वे शब्दों में दिया। उन शब्दों में हंगरी की विदीर्ण तथा दुखी आत्मा की आह भरी तड़प थी। उसके यह शब्द वायुमंडल में बार-बार प्रतिध्वनित हो रहे थे—"भले ही हंगरी पर प्रलय के बादल गरजें, दुख की आँधियाँ चलें, दमन और अत्याचार के शोलें बरसें और भविष्य के स्वातंत्र्ययुद्ध में हंगरी के बच्चे-बच्चे को अपने रक्त से हंगरी-मही सींचनी पड़े, परंतु हंगरी कभी यह नीच अपमानजनक प्रस्ताव नहीं स्वीकार कर सकता। हम अपने घर में स्वयं ही शासन करेंगे, पूर्ण स्वतंत्रता लेकर रहेंगे या प्राण दे देंगे।"

सम्राट् जोज़ेफ़ को यह सुनकर क्रोध आ गया। सम्राट् ने हंगरी-पार्लामेंट को फिर भंग कर दिया। अस्ट्रिया के सैनिकों का पार्लामेंट-भवन पर पहरा हो गया। महात्मा डीक ने अपना सिगार जलाया और धूम्रपान करते हुए ध्यानमग्न अपने आश्रम की ओर चले गए।

प्रत्येक कौंटी-कौंसिल ने सम्राट् जोज़ेफ़ की इस मनमानी घरजानी नीति की तीव्र आलोचना की और विरोधसूचक प्रस्ताव भी पास किए। सम्राट् जोज़ेफ़ जल-कर ख़ाक हो गया। उसने कौंटी-कौंसिलें भी तोड़ दीं। हंगरी में एक बार फिर अंधकार छा गया। सम्राट् जोज़ेफ़ ने हंगरी को सैनिक-शासन की कठिन शृंखला में फिर जकड़ दिया।

× × ×

सम्राट् जोज़ेफ़ अपनी कुटिलता और दुष्टता से बाज़ न आते थे, इधर महात्मा डीक भी नित्य नई नीति, नई चालें सोचते रहते थे । एक ओर शक्तिशाली सम्राट्, असंख्य सैनिक, भूधराकार तोपें और विकट बंब के गोलों का अम्बार था, तो दूसरी ओर थे पूर्ण स्वतंत्रता के उपासक, अहिंसात्मक सत्याग्रह के पुजारी, शांति और त्याग के प्रतिमूर्ति निहत्थे महात्मा डीक । महात्मा डीक ने अपने आश्रम में अपनी गोष्ठी की एक बैठक की और अहिंसात्मक विरोध की एक विस्तृत स्कीम पर विचार किया। दूसरे ही दिन महात्मा डीक ने इस नवीन आंदोलन की सूचना चारों ओर फेर दी । अहिंसात्मक युद्ध आरंभ हो गया । किसानों ने महात्माजी के आदेश से सरकार को कर देने से स्पष्टतः इनकार कर दिया । अफ़सर लगान वसूल करने जाते और खिसिआया सा मुँह लेकर लौट आते थे । किसान बड़ी विनम्रता और सज्जनतापूर्वक लगान माँगने पर भी नहीं कर देते । ज़ब्ती शुरू हो गई । सरकार को विकट समस्या का सामना करना पड़ा । न तो कोई नीलाम करनेवाला ही मिलता था और न कोई उन ज़ब्त की हुई चीज़ों की बोली बोलनेवाला ही नज़र आता था । यदि किसी अस्ट्रिया-निवासी को बुलाकर चीज़ें उसके हाथ नीलाम भी कर दी गईं, तो उन वस्तुओं का कोई ढोनेवाला नहीं मिलता था । सम्राट् के नाकों दम आ गया । यह आग कोने-कोने में फैल चुकी थी । अस्ट्रिया-सम्राट् में क्या दम था, जो इस दावाग्नि को शांत कर लेते । हंगरी में अस्ट्रिया के सैनिकों का रहना हराम हो गया । जब अस्ट्रिया-सैनिक गलियों से निकलते, तो मुहल्ले-भर के बच्चे इकट्ठा होकर उनके पीछे तालियाँ पीटते और उनकी बड़ी खिल्ली उड़ाते । अस्ट्रियन सैनिकों का खाना-पीना, उठना-बैठना यहाँ तक कि दम लेना भी मुश्किल हो गया ।

अस्ट्रियन सरकार ने भी तेवर बदले । अहिंसात्मक आंदोलन का विनाश करने के लिये सम्राट् जोज़ेफ़ ने दिल खोलकर दमन किया, जेलों को असहयोगियों से भर दिया; अस्ट्रिया के वस्त्रों और वस्तुओं का बहिष्कार जुर्म करार दे दिया । लेकिन ज्यों-ज्यों दवा की, मर्ज़ बढ़ता गया। अंत में अस्ट्रियन सरकार को ही नीचा देखना पड़ा। सारे राजनैतिक बंदियों को मुक्त करना पड़ा, हंगरी की राष्ट्रीय संस्थाओं को लंबी-लंबी रक़में भी दीं । बड़ी कोशिशें कीं कि बिगड़ी बन जाय ।

यद्यपि हंगरी की व्यवस्थापिका सभा की बैठक न होती थी, फिर भी देश-भर में अनेकों सभा-संस्थाएँ राष्ट्रीयता के उच्चतम भावों का प्रचारकार्य ख़ूब संलग्न होकर कर रही थीं ।

इधर दैवयोग से अस्ट्रिया और प्रशा में खटपट हो गई । भीषण युद्ध को आशंका देख अस्ट्रिया-सम्राट् ने महात्मा डीक के सामने घुटने टेक दिए । डीक ने बड़ी दृढ़ता से उत्तर दिया कि हम आपकी सहायता तभी करेंगे, जब हंगरी को उसकी स्वतंत्रता मिल जायगी । चारों ओर अफ़वाहें उड़ने लगीं कि अब की कुछ होकर रहेगा, महात्माजी कुछ लेकर मानेंगे । अपने स्वार्थ-लाभ के लिये सम्राट् जोज़ेफ़ फिर हंगरी आए—दरबार-अभिनय हुआ । इस बार हंगरी का तिरंगा राष्ट्रीय झंडा जगह-जगह फहरा रहा था । अस्ट्रिया-नरेश ने अपनी मुहब्बत का इज़हार बड़ी लटपटी और रसभरी भाषा में किया—पार्लामेंट को पुनर्जीवन प्रदान करने की आशा दिलाकर चले गए ।

महाराज फ्रैंसिस जोज़ेफ़ ने सोचा कि हंगरी हाथ से जाता है । उन्होंने प्रशा से संधि करने की बड़ी कोशिशें कीं, परंतु उसने एक न मानी । रणवाद्य बजने लगे ।

फ्रैंसिस जोज़ेफ़ ने घबड़ाकर तुरंत वायना में वर्तमान 'इंपीरियल पार्लामेंट' को भंग कर दिया और हंगरी को स्वतंत्र घोषित कर दिया । महात्मा डीक ने कहा, "हाँ, ख़याल तो अच्छा है, मगर कहीं यह पार्लामेंट भी बालू की भीत अथवा बच्चों का खिलवाड़-मात्र न हो ?"

× × ×

व्यवस्थापिका सभा की बैठक, महात्मा डीक के ही नेतृत्व में हुई । इस नवीन चुनाव में महात्मा डीक के अनुगामियों ने पार्लामेंट पर अधिकार कर लिया । पार्लामेंट का सबसे पहला भैरवनाद यही हुआ कि १८४८ की राज्य-व्यवस्था से किसी प्रकार हेय या कम महत्त्व-पूर्ण व्यवस्था हम स्वीकार न करेंगे ।

दिसंबर १४ को हंगरी की राष्ट्रीय वेशभूषा और भाषा में सम्राट् जोज़ेफ़ ने पार्लामेंट का उद्घाटन करते हुए एक बड़ी चिकनी-चुपड़ी तथा मधुमय वक्तृता दी ।

लोगों ने वाह-वाह किया, तालियाँ पीटीं, मगर महात्मा डीक मौन ही रहे। महात्मा डीक को सम्राट् जोज़ेफ़ की इस रसयुक्त मादक वक्तृता में कुछ छलकपट की बू आ रही थी। बात भी सच ही निकली। देखने में सम्राट् जोज़ेफ़ ने हंगरी को सारे अधिकार दे दिए थे, परंतु वास्तव में कुछ भी नहीं दिया था। भड़कीली तक़रीर, वह झिलमिली मुसकराहट, वह चित्ताकर्षक प्रेमप्रदर्शन केवल एक मायाजाल ही था। हंगरी की पार्लामेंट वास्तव में आज भी अस्ट्रिया के पैरों तले थी। उसकी १८४८ की पुरानी राज्यव्यवस्था को वापस देने को कौन कहे, सम्राट् जोज़ेफ ने हंगरी के आहत हृदय को अपनी इस अंतिम धृष्टता से और भी ज़ख़्मी कर दिया।

महात्मा डीक ने कहा, "देश के दीवानो! सावधान! कहीं इस मधुर मुसकान के प्रबल प्रवाह में मत बह जाना। अमृत की घूँट समझ विष का प्याला न चढ़ा जाना। हम सम्राट् जोज़ेफ़ से समझौता या संधि करने को किसी भी शर्त पर तैयार नहीं, स्वतंत्रता हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है, हम उसे लेकर रहेंगे।" पार्लामेंट में सम्राट् महोदय के नाम एक घोषणापत्र सर्वसम्मति से पास हो गया। घोषणापत्र क्या था, एक तड़पते हुए राष्ट्र का तीखा तीर था। तीर निशाने पर बैठ गया, सम्राट् जोज़ेफ़ छटपटा उठा। "यदि तुम हंगरी की स्वतंत्रता न स्वीकार करोगे, तो तुम्हें आज से इस राष्ट्र का बच्चा-बच्चा अपना वैरी समझेगा और भविष्य में तुम्हारे साथ वैसा ही व्यवहार भी होगा।" यह हंगरी की पार्लामेंट की प्रबल घोषणा थी और इस घोषणा के नीचे महात्मा डीक के हस्ताक्षर थे।

× × ×

हंगरी में पार्लामेंट की बैठकें होती रहीं, राष्ट्रीय झंडा उसी आनबान से फहराता रहा। इधर अस्ट्रिया की हालत एकाएक शोचनीय हो गई। प्रशा के सैनिक बढ़ते ही चले आ रहे थे। बात-की-बात में प्रशा के सैनिकों ने प्रेग-नामक नगर पर क़ब्ज़ा कर लिया। वैरियों की जयध्वनि से आकाश गूँज रहा था। अस्ट्रिया पर प्रलय के बादल मँडरा रहे थे। इस साम्राज्य का तख़्ता अब लौटा तब लौटा, हर घड़ी यही आशंका हो रही थी। फ्रैंसिस जोज़ेफ़ के पैरों के नीचे से ज़मीन निकल गई। उसे आज आटे-दाल का भाव मालूम हो गया। उसे अपनी करनी पर रह-रहकर दुःख और पश्चात्ताप होने लगा। कहीं यदि हंगरी विमुख न हुआ होता, तो अस्ट्रिया को यह दिन क्यों देखने पड़ते?

अर्धरात्रि की निस्तब्धता में सम्राट् जोज़ेफ़ ने महात्मा डीक को उनके आश्रम में बड़ी विनम्रतापूर्वक बुला भेजा। अस्ट्रिया-नरेश के हाथ-पैर फूल रहे थे, उनके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। चिंताग्रस्त, मलिनमुख सम्राट् बड़ी बेचैनी के साथ अपने शयनागार में टहल रहे थे। एकाएक सम्राट् जोज़ेफ़ का ध्यान टूटा। महात्मा डीक को सामने खड़े मुसकराते देख जोज़ेफ़ महोदय तिल-मिला उठे। जोज़ेफ़ ने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया और उन्हें निकट ही पड़ी हुई एक आरामकुर्सी पर बड़े प्रेम से बिठाया। सम्राट् जोज़ेफ़ का गला भर आया, रो दिए—"महात्मा डीक, आप ही बताइए, मैं अब क्या करूँ?" फ्रैंसिस जोज़ेफ़ यह कहकर चुप हो गए।

डीक ने तुरंत उत्तर दिया, "संधि कर लो, और हंगरी को स्वतंत्र कर दो।" जोज़ेफ़ ने बड़ी उतावली से पूछा, "यदि मैं हंगरी को १८४८ वाली राज्य-व्यवस्था स्वीकार कर लूँ, तो क्या वह मुझे इस युद्ध में सहायता देगा?"

डीक ने गरजकर कहा, "नहीं, कदापि नहीं!—मैं इस समय हंगरी की स्वतंत्रता का भाव-ताव करने नहीं आया हूँ।"

सम्राट् जोज़ेफ़ के मुख से एक आह-सी निकल गई। महात्मा डीक सिगार से धुआँ फेंकते हुए सम्राट् जोज़ेफ़ के राज्य-भवन से बाहर हो गए।

× × ×

अस्ट्रिया के मुख पर कालिख लग गई। अस्ट्रिया और प्रशा से घमासान युद्ध हुआ और अंत में अस्ट्रिया की हार हुई। सम्राट् जोज़ेफ़ ने अपने मंत्रियों को एक-त्रित करके इस शोचनीय अवस्था और अस्ट्रिया-हंगरी की जटिल समस्या पर ग़ौर किया। जोज़ेफ़ ने अपने मंत्रिमंडल से पूछा, "अब लाज कैसे बचे?" मंत्रियों ने कहा, "पाशविक बल से, भाले की नोक से, कारागार के भय से इस महात्मा डीक और इसके दीवाने भक्तों पर विजय प्राप्त कर लो।" सम्राट् जोज़ेफ़ ने अपने केश धूप में सफ़ेद नहीं किए थे। अनुभव ने

...चतुर बना दिया था। दमन दावाग्नि भड़का देगी, यह उसे भली भाँति विदित था।

फिर भी सम्राट् जोज़ेफ़ अपनी मक्कारी से बाज़ न आए। परंतु महात्मा डीक से टक्कर लेना कोई हँसी न थी। सम्राट् जोज़ेफ़ ने महात्मा डीक से कहा—"हाथ बढ़ाओ, आज से अस्ट्रिया और हंगरी भाई-भाई की तरह जीवन व्यतीत करेंगे—ले लो, जो चाहो ले लो। पार्लमेंट भी रक्खो और अपना ज़िम्मेदार मंत्रिमंडल भी स्थापित कर दो।" सम्राट् ने इस बार बड़े तपाक से यह प्रस्ताव पेश किया था। परंतु सम्राट् जोज़ेफ़ का विश्वास तो कभी का उठ चुका था। नरमदलवाले क्या, गरमदलवाले क्या, हंगरी के भेड़-बकरी भी सम्राट् के शब्दों पर एतबार लाने को तैयार न थे। न तो महात्मा डीक ने इस नई घोषणा पर कोई विशेष ध्यान दिया और न हंगरी-निवासियों ने ही। झूठे वादों और छूँछे प्रस्तावों तथा ऊपरी प्रेम-प्रदर्शन से सभी का जी ऊब उठा था। यह बेरुख़ी, यह उदासीनता देख सम्राट् जोज़ेफ़ भी खटक उठे। सम्राट् ने प्रधान मंत्री बीअस्ट को महात्माजी से मिलने और इस पुरानी समस्या को सदा के लिये तय कर डालने को भेजा। मौखिक समझौता तो हो गया, परंतु महात्मा डीक अब भी गंभीरता धारण किए रहे, अपने स्थान से न डिगे।

१५ दिसंबर १८६६ को हंगरी की पार्लमेंट ने सम्राट् जोज़ेफ़ के पास साफ़-साफ़ लिखकर भेज दिया कि—"जब तक हंगरी को उसकी पूर्ण स्वतंत्रता नहीं मिल जाती तथा इस स्वतंत्र राष्ट्र की सत्ता को अस्ट्रियन-सरकार स्पष्ट रूप से नहीं स्वीकार कर लेती—उसके पूर्व हम अस्ट्रिया से बात भी करना उचित नहीं समझते।" इस मुँहफट घोषणा का बड़ा तीखा उत्तर मिला। सम्राट् जोज़ेफ़ ने एक आज्ञा-पत्र जारी किया, जिससे हंगरी का प्रत्येक नवयुवक सैनिक-शिक्षा के लिये बाध्य हो गया। हंगरी के नौजवान सैनिकों का ख़ून भविष्य में होनेवाले अस्ट्रिया-प्रशा-महायुद्धों में बहाने की यह भूमिका थी। अस्ट्रिया-नरेश की ओर से यह एक बड़ा उद्दंड और अपमानजनक आज्ञापत्र था। हंगरी-निवासी अस्ट्रिया-नरेश के ख़रीदे हुए ग़ुलाम तो थे नहीं।

इस नई घोषणा ने आग लगा दी। चारों ओर कोलाहल मच गया। हद हो चुकी थी, सहनशक्ति का बाँध टूट गया। हंगरी का बच्चा-बच्चा पागल हो उठा। जो जहाँ था, जिस अवस्था में था, गरजकर खड़ा हो गया। सभी अपनी जान हथेली पर धरकर निकल आए। जयध्वनि से आकाश गूँजने लगा। हंगरी ने एक स्वर से अस्ट्रिया को अंतिम चेतावनी दे दी। चेतावनी सम्राट् जोज़ेफ़ के कानों में पड़ी। सम्राट् जोज़ेफ़ भय से सिहर उठे।

यह क्रांति की लहर फूँक मारने से शांत होनेवाली न थी। तभी तो सम्राट् जोज़ेफ़ ने अपनी कुटिलता और धृष्टता को त्याग हंगरी की इस विकट प्रलय-सूचक चेतावनी के उत्तरस्वरूप उसकी मुँह माँगी मुराद दे दी। फ़रवरी १८६७ की वह शुभ घड़ी हंगरी के इतिहास में सुनहले अक्षरों में अंकित है। हंगरी में एक नवीन युग का प्रादुर्भाव हुआ। हंगरी से अस्ट्रिया का पैशाचिक सैनिक-शासन उठ गया, राजनैतिक क़ैदियों की मुक्ति हो गई, हंगरी में पूर्ण स्वतंत्रता स्थापित हो गई। दीन-दुखियों की बन आई, उन्हें तो राम-राज्य मिल गया। महात्मा डीक ने जो कुछ भी कहा, अस्ट्रिया सम्राट् ने चुपचाप मुसकराते हुए स्वीकार कर लिया।

दो-एक दिन के बाद, हंगरी-स्वातंत्र्य-युद्ध के विकट नेता, जिसके वध के लिये अस्ट्रिया-सरकार ने सहस्रों क्राउन पुरस्कार देने की घोषणा की थी, उसी जूलियस एंडरेंसी को सम्राट् जोज़ेफ़ ने वायना में निमंत्रित किया और उसका बड़ा शानदार स्वागत किया। फ्रैंसिस जोज़ेफ़ ने एंडरेंसी को अपना प्रधान मंत्री नियुक्त किया और मंत्रिमंडल का निर्वाचन करने की आज्ञा दी। अस्ट्रिया-सम्राट् जिस एंडरेंसी के ख़ून के प्यासे थे, आज उसी के लिये उन्होंने अपने पलक-पाँवड़े बिछा दिए। कैसा अलौकिक दृश्य था!

१८ फ़रवरी १८६७ को हंगरी की पार्लमेंट की बैठक हो रही थी। हंगरी की अंतिम चेतावनी के उत्तर में सम्राट् जोज़ेफ़ का क्या वक्तव्य है, सब यही जानने को उत्सुक थे। सम्राट् जोज़ेफ़ का वह दिव्य वक्तव्य पढ़ा गया। ख़ुशी के उन्मादपूर्ण भीषण चीत्कार से पार्लमेंट-भवन की नींव तक हिल उठी। बाहर खड़ी उत्सुक जनता ने इस चीत्कार की तुरंत ही प्रतिध्वनि की, हर्ष और आनंद से जनता उन्मत्त हो उठी। सारे हंगरी में स्वतंत्रता की शुभ सूचना बिजली की तरह दौड़ गई।

हंगरी का हृदय गद्गद हो उठा। सदियों के बाद आज यह पहला अवसर था, जब हंगरी-निवासियों के चेहरे पर वास्तविक उल्लास, सुख और संतोष की रेखाएँ झलकती हुई दिखाई दे रही थीं।

महात्मा डीक और आस्ट्रिया-सम्राट् के बीच सारा समझौता लेखनीबद्ध हो गया। सम्राट् जोज़ेफ़ ने हंगरी को स्वतंत्रता ही नहीं प्रदान कर दी, वरन् उसके आहत हृदय की रही-सही व्यथा भी दूर कर दी। हंगरी के निर्वासित बंदी वापस बुला लिए गए। आज़ादी के जंग में शहीद हो जानेवाले सैनिकों के परिवारों की धन-धान्य से सहायता की गई। हंगरी को स्वतंत्र और सुखी देख देवता स्वर्ग से पुष्पवर्षा करने लगे—प्रकृति नृत्य कर उठी।

सम्राट् जोज़ेफ़ स्वराज्य-दिवस मनाने तथा नवीन शासनप्रणाली को आशीर्वाद देने पस्थ-नगर में पधारे। समस्त देश में उत्साह छाया हुआ था। घर-घर बधाइयाँ बज रही थीं—उत्सव मनाए जा रहे थे। लोग प्रायः नाचरंग और मदिरा-पान में मस्त थे।

महात्मा डीक तो सचमुच एक आदर्श महात्मा ही थे। वह शांतिप्रिय संन्यासी थे। उन्हें नाचरंग, छल-कूद, खेल-तमाशे और आतशबाज़ी में मज़ा न आता था। वह तो जीवन को केवल त्याग, तपस्या तथा बलिदान की चीज़ समझते थे। हंगरी में धूम मची हुई थी, चारों ओर मनोरंजन तथा विनोद और विलास की ही सामग्रियाँ नज़र आ रही थीं, परंतु महात्मा डीक ने इस उच्छृंखल उल्लास-प्रदर्शन में भाग न लिया।

हंगरी की पार्लामेंट ने अपने प्यारे महात्मा को उसकी आजीवन देश-सेवा, आदर्श-त्याग और अलौकिक बलिदान के उपलक्ष्य में अपना 'प्रोटेक्टर' या 'पैलेटाइन' बनाकर अपने हृदय-मंदिर के उच्चतम सिंहासन पर आरूढ़ करना चाहा, परंतु डीक ने हँसकर नाहीं कर दी। सम्राट् जोज़ेफ़ ने एंडरेंसी से पूछा कि महात्मा डीक का उनके अपूर्व बलिदान के बदले समुचित सम्मान कैसे हो? एंडरेंसी ने कहा, "सचमुच यह कठिन समस्या है, त्यागी महात्मा डीक के सामने संसार की सारी संपदा, उपाधियाँ, यश और वैभव केवल मिट्टी का ढेर है।" सम्राट् जोज़ेफ़ ने अपना और महारानी आस्ट्रिया का बहुमूल्य रत्नजटित चित्र-पट महात्मा डीक को सादर भेट किया। महात्मा को माया का लोभ न था। महात्माजी ने हँसकर सधन्यवाद यह भेट भी अस्वीकार कर दी। महात्मा डीक ने कहा, "बुरा न मानना, मैं इन बहुमूल्य भेटों का क्या करूँगा? जब मैं मर जाऊँ, तो एक बार यह कह देना कि फ़्रांसिस डीक एक सीधा, सच्चा, ईमानदार मनुष्य था। मेरे लिये इससे बढ़कर बहुमूल्य पुरस्कार और क्या हो सकता है?" इन शब्दों में कितना महत्त्व है!

लोगों ने लाख मिन्नतें कीं, मगर सब व्यर्थ। महात्मा डीक ने प्रधान मंत्री होने से विनम्रतापूर्वक इनकार कर दिया, मंत्रिमंडल का सदस्य होना भी सादर अस्वीकार कर दिया। वह तो संसार के झगड़ों से दूर रहना चाहते थे। उन्हें तो आजीवन अनवरत परिश्रम के बाद आराम करने की इच्छा थी। उनकी एकमात्र अभिलाषा यही थी कि दूर से बैठे हुए हंगरी को फलते-फूलते, हँसते-खेलते सुखी और स्वस्थ देखा करें।

केहली-नामक ग्राम में महात्मा डीक का एक छोटा-सा घर था। यह एक बड़ा सुंदर सलोना तथा शांत-स्थान था। महात्मा डीक की बड़ी लालसा थी कि जीवन की रही-सही घड़ियाँ अपनी कुटिया में ही व्यतीत करें। परंतु इस वृद्धावस्था में भी देश के उस अनन्य भक्त और अनंत सेवक को लोगों ने चैन न लेने दिया। सचमुच देशसेवकों को तो शांति क़ब्र ही में मिलती है। इच्छा न होते हुए भी देश की प्रार्थना के सामने मस्तक झुकाना ही पड़ा। महात्मा डीक ने पार्लामेंट का साधारण सदस्य होना स्वीकार कर लिया। महात्मा डीक केवल लोगों का मन रखने के ही लिये कभी-कभी पार्लामेंट-भवन में जा बैठते थे। संसार से तो उन्हें वैराग्य-सा हो रहा था।

महात्मा डीक की छत्रच्छाया में हंगरी पल्लवित हो उठा। उन्होंने नौ वर्ष तक अपनी आँखों हंगरी को स्वतंत्र पक्षी की तरह चहकते देखा। १८७६ में दैव ने महात्मा डीक को हंगरी की गोद से उठा लिया। हंगरी का प्यारा, हंगरी का सर्वस्व, वह क्रांतिकारी, शक्तिशाली संन्यासी चल बसा, जिसके संकेत-मात्र पर हंगरी मरने-मारने को तैयार रहता था, जिसकी सत्ता आस्ट्रिया-सम्राट् के लिये भय और चिंता की वस्तु थी, जिसमें एक राष्ट्र को बनाने-बिगाड़ने की शक्ति थी, शौर्य था, वह

...रा के लिये बिदा हो गया । हंगरी शोक-सागर में ...मग्न हो गया । वह करुणामय हृदय-विदारक दृश्य ! ...फ़ !—हंगरी की महारानी फूट-फूटकर रो रही थीं, ...सिस जोज़ेफ़—जिनसे महात्मा डीक का आजीवन ...संघर्ष चलता रहा—वे भी महात्मा की मृत्यु पर सिर ...धुन-धुनकर रो रहे थे । हंगरी-निवासियों की दशा देखकर पाषाणहृदय भी पिघल उठता था । समस्त देश में हाहाकार मच रहा था । चारों ओर, बस, केवल महात्मा डीक की मृत्यु की ही चर्चा थी । संसार के इस महापुरुष की मृत्यु का शोक एक युग तक छाया रहा * ।

पृथ्वीपालसिंह

प्रेम

छिति, जल, पावक, समीर औ गगन में भी—
प्रेम का प्रभाव कैसा प्रकट दिखाया है।
तीनों लोक, चौदहो भुवन में यही है शोर—
'सार सृष्टि का तो इसी प्रेम में समाया है।'

ब्रह्मा, विष्णु, शंकर न पाते जिसकी हैं थाह,
ऐसा अविचल योग प्रेम ने जगाया है।
प्रेम परमेश्वर है, प्रेम ही बना है जीव,
देखिए जहाँ भी वहाँ प्रेम ही की माया है।

विद्यार्थी भगवतीप्रसाद मिश्र

असीम अंतर

(१)

सारे विश्व को थे जो बनाते शिष्य अपना औ—
प्रेम से लुटाते थे ख़ज़ाने दिव्य-ज्ञान के;
काम अभिराम-राम और घन-श्याम-श्याम—
वश में थे जिनकी सदैव शुचि आन के।
सच्ची कर्मशीलता से स्वर्ग में सदेह जाके—
पाते अमरत्व, गाते देव यश-गान के;
तारे आसमाँ के जो उतार लाते छण में थे,
वे ही गिनते हैं आज तारे आसमान के।

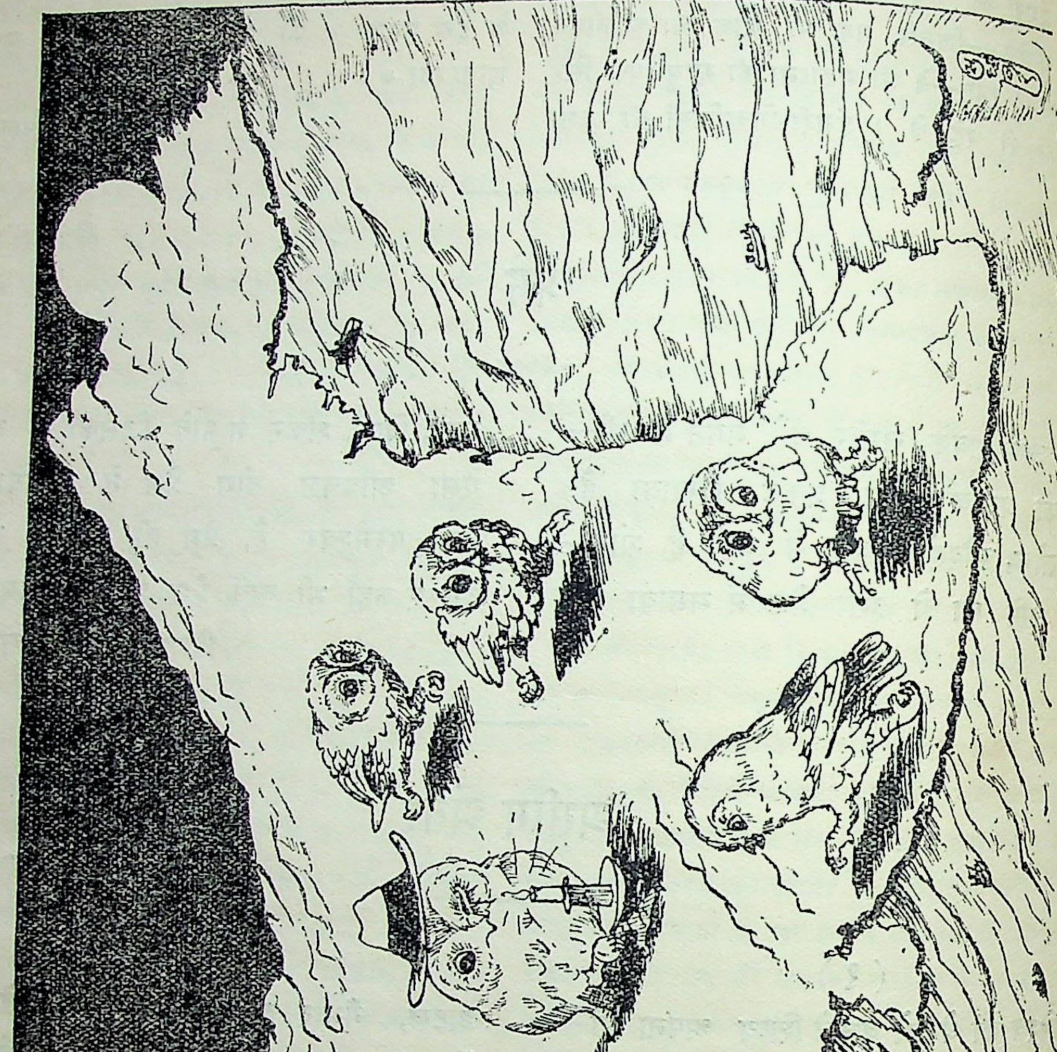
(२)

अटल, गँभीर वर-वीर, रणधीर जो थे,
वे ही आज कायर-कपूत कहलाते हैं;
काल से भी ताल ठोंकते थे जो कभी, वे हाय!
गीदड़ों के शोर से भगे ही चले जाते हैं।
देते अन्न-वस्त्र जो थे विश्व को प्रसन्नता से,
होके दुखी दीन दिन रोकर बिताते हैं;
कोष जो कुबेर का लुटाते याचकों को, वे ही
याचना में आज एक दमड़ी न पाते हैं।

(कविरत्न) कुमार प्रतापनारायण

---

* 'दी रिसरेक्शन आफ़ हंगरी'—नामक पुस्तक के आधार पर।



दोपहर में सप्तर्षि-मंडल

पुराणों में प्राप्त समय की जटिलता

(शेषार्द्ध)

पुराणों में समय मोटे हिसाब से प्रायः वर्षों में दिया है दिनों और महीनों की बारीकी उनमें नहीं है। अतः समय-संबंधी बातों और उलझनों में महीने का प्रश्न नहीं आता। दिव्य-दिवस का परिमाण पुराणों में केवल समय-विभाग के सिलसिले में दिखला दिया है। यदि यह न दिखला दिया होता, तो समय-संबंधी समस्या का सिलसिले से समुचित सबल सूत्र नहीं मिलता। यह दिव्य दिन-रात्रि, साधारण तथा दिव्य-काल के मध्य में दोनों का तुलनात्मक संबंध बतलानेवाला सूत्र है। यह बड़े महत्त्व का है।

दिव्य वर्ष

नं० ७ में एक दिव्य वर्ष का ३६० मानव-वर्ष के बराबर होना लिखा है। नं० ५ और ६ में दिए हुए परिमाणों के आधार पर यह ठीक ही है। दिव्य शब्द को विशेष महत्त्व देते हुए इसमें दिखलाया गया है कि जब १ दिव्य दिन साधारण १ वर्ष अथवा ३६० दिन के बराबर है, तो उसी समय-गणना के आधार पर १ दिव्य वर्ष ३६० साधारण वर्ष के बराबर होगा। यहाँ पौराणिक समय के उलझाव का पूरा डौल पड़ गया है। साधारण मनुष्यों के समान देवों के लिये भी साधारणतः ३६० की संख्या पर ही वर्ष क़ायम कर दिया है। यदि नं० ५ तथा ६ में दिव्य दिवस का स्पष्ट परिमाण न दिखलाया होता, तो केवल अनुमान से ही एक दिव्य वर्ष के ३६० मानव-वर्ष को बहुत ही संदिग्ध भाव के साथ अपने ३६० साधारण वर्ष मान लेना होता। १ दिव्य रात्रि को १ मानव-वर्ष के बराबर दिखलाकर एक दिव्य वर्ष को ३६० मानव-वर्ष का मान लेना पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है। इनके आधार पर वर्ष-संबंधी कोई उलझन ऐसी नहीं रह जाती, जो सुलझ न सके।

परंतु फिर आगे ऐतिहासिक राजाओं का समय देने में उलटा हिसाब रखकर बहुत गड़बड़ किया गया है। वैवस्वत-मनु की आयु ३६,००० वर्ष लिख दी है। इसी प्रकार दर्जनों राजाओं की ३०,२०,१०,५ हज़ार वर्षों की आयु लिखी गई हैं। इन वर्षों को दिव्य मानें, तो ये ३६० गुना मानव-वर्ष होकर लाखों पर पहुँचते हैं। और यदि मानव-वर्ष ही मान लें, तो भी विवेक-बुद्धि इतनी लंबी-चौड़ी आयु होना स्वीकार नहीं करती। वेदों में केवल १०० वर्ष की आयु होने की प्रार्थनाएँ की गई हैं। अतएव कठिन समस्या उपस्थित हो जाती है। विचार करने से जान पड़ता है कि समय-परिमाण की तो वही प्रणाली रक्खी गई है, परंतु देव अथवा आर्य-मनुष्यों को अपनी यथार्थ आयु-सहित प्रथम देव मान लिया है, और फिर केवल उनके आयुकाल को ३६० से गुणा करके मानवकाल में परिणत कर दिया है। इस प्रकार मानवों की आयु को जैसे-का-तैसा न लिखकर प्रायः ३६० गुना करके रख दिया है, जिससे विषय संदिग्ध-सा हो गया है। अतः प्राकृतिक नियम के विरुद्ध पुराण में दी हुई लंबी आयु को ३६० से विभाजित कर लेने की आवश्यकता है। पौराणिक लंबी आयु आदि के संबंध में यह रीति बहुधा ठीक बैठती है।

'दिव्य' शब्द का प्रभाव नियमित अथवा सर्वथा अनियमित ढंग पर प्रायः हर जगह पौराणिक समय पर पड़ा है।

आर्य ही देव थे। 'मनुष्य' शब्द को तुच्छ अथवा साधारण मानकर आर्य देवों की यथार्थ आयु मनुष्यों की बुद्धि के लिये उनके देव और मानव-वर्ष के तुलनात्मक भेद के अनुसार ३६० गुणा करके रख दी गई थी। यही देव और मानव-वर्ष का तुलनात्मक भेद आगे प्रायः सभी पौराणिक समयों, युगों आदि की संख्याओं में रख दिया गया था। और, फिर कुछ दिन उपरांत दिव्य वर्षों से बने मानव-वर्षों को ही दिव्य वर्ष लिख दिया गया था। ऐसे हिसाब तथा नाम आदि के परिवर्तनों से एक ढंग पर समय का मेल खाना कठिन कर दिया गया था।

युग

नं० ८—११ में पुराणों में दिव्य वर्ष के उपरांत युग कालों के परिमाण लिखे हैं। ये काल ४ हैं। सबसे पहला सत्ययुग—(१७,२८,००० वर्ष), उसके उपरांत त्रेता (१२,९६,०००वर्ष), उसके उपरांत द्वापर (८,६४,००० वर्ष) और सबसे पीछे चौथा कलियुग (४,३२,००० वर्ष) लिखा है; फिर सबका योग (४३,२०,००० वर्ष) बतलाकर सबके संध्यांशों की संख्या का योग ७,२०,००० वर्ष) लिखा है। इन सबको एक चतुर्युगी, महायुग या देवयुग नं० १२ कहा है। फिर ७१ चतुर्युगी का एक मन्वंतर होना कहा है, तथा प्रत्येक मन्वंतर के आरंभ में एक-एक संध्या का होना भी बतलाया है। अंत में १४ मन्वंतरों का १ कल्प अथवा ब्रह्मदिन होना लिखा है, और इसी कल्प को सृष्टि की आयु बतलाया है। सृष्टि की आयु ४,३२,००,००,००० वर्ष की कही है। इन काल-परिमाणों में से युग ही मुख्य जान पड़ते हैं। अतः हम युगों पर विचार करते हैं।

युगों का काल एक विचित्र नियमित ढंग से उत्तरोत्तर कम होता हुआ लिखा मिलता है। पुराणों में लिखे क्रम के अनुसार उनके काल का, ऊपर से नीचे के क्रम से, तुलनात्मक परिमाण ४,३,२ और १ है। इसके उपरांत चारों युगों की वर्ष-संख्याओं का योग दिया है। इस योग के उपरांत "कुल संध्यांशों के योग के नाम से उस योग के छठवें अंश के बराबर की संख्या (७,२०,००० वर्ष) रक्खी गई है। ध्यान-पूर्वक देखा जाय, तो युगों का क्रम और उनके नाम तथा समय आदि संवत्-पूर्व या ईस्वी-पूर्व अथवा बी० सी० की रीति पर रक्खे मिलते हैं, वे पूर्वातिपूर्व नियम-पूर्वक क्रम से बढ़ते हुए चले गए हैं, और उनके परिमाण, क्रम तथा नाम का मूल कलियुग है तथा उसी के अंतिम वर्ष के अंत से उनके समय का आरंभ होता है। अर्थात् कलि का अंतिम वर्ष ही उनकी गणना के लिये प्रथम वर्ष है, और युगों के लिये जो वर्ष लिखे गए हैं, वे चलते हुए वर्ष या संवत् हैं। इस प्रकार कलि का अंतिम वर्ष उनकी गणना के लिये प्रथम वर्ष है। यह प्रथम वर्ष "कलि" और पुराणों में दिए हुए युगों के वर्ष इसी "कलि" से पहले का काल "कलिपूर्व" था। हम सब जगह इसी प्रकार लिखेंगे।

निदान कलि के अंतिम (१) वर्ष से भूतकाल को चलने से पहले कलियुग मिलता है, फिर आगे बढ़कर द्वापर आता है, द्वापर से पहले त्रेता और फिर त्रेता से पूर्व सतयुग मिलता है। इस प्रकार पूर्वातिपूर्व जाने से क्रमशः कलि (पहला), द्वापर (दूसरा), त्रेता (तीसरा) और सतयुग (चौथा) मिलते हैं। उनके नाम ही उनके क्रम के प्रदर्शक हैं, अथवा क्रम के अनुसार ही उनके नाम हैं। प्रत्येक युग की वर्ष-संख्या भी इसी बी० सी० प्रथा के अनुसार है अथवा संख्या के अनुसार ही प्रत्येक युग का क्रम और स्थान है। उनके संबंध में दी गई संख्याएँ कलि के अतिरिक्त औरों के भोग्य काल की द्योतक नहीं हैं, वरन् प्रत्येक के अंत (अथवा बी० सी० की रीति पर आरंभ) की बोधक हैं, और उन युगों का भोग्यकाल उनके क्रमागत संख्या-भेद के अनुसार है। अतएव उसी बी० सी० की रीति पर भूतपूर्व को चलने से पहले कलि के भोग्यकाल के ४, ३२, ००० वर्ष मिलते हैं, अर्थात् कलियुग के अंत (कलि प्रथम वर्ष) से हिसाब लेकर ४,३२,००० वर्ष कलि-पूर्व से कलि आरंभ होकर अपने इसी काल तक रहा था। यह ४,३२,००० वर्ष उसका भोग्यकाल है। उससे पूर्व अथवा दूसरा द्वापर ८,६४,००० वर्ष कलि-पूर्व से कलि के आरंभ तक अर्थात् ४,३२,००० वर्ष कलि-पूर्व तक था। इसी प्रकार तीसरा त्रेता-युग कलि के ही भोग्यकाल के बराबर १२,९६,००० वर्ष कलि-पूर्व से द्वापर के आरंभ तक था। और, उससे पूर्व कलि के बराबर ही सतयुग १७,२८,००० वर्ष कलि-पूर्व से त्रेता के आरंभ तक था। इस प्रकार इन चारों युगों का कुल भोग्यकाल १७,२८,००० वर्ष कलि-पूर्व से कलि के अंत तक था। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि आर्यों के पूर्वज बी० सी० की प्रथा पर समय का स्थिर करना जानते थे। पीछे वे इस नियम को इस प्रकार भूले कि जिसे पहले स्वयं उन्होंने स्थिर किया था, उसी को नहीं समझ सके, और उसको उलटा-सीधा मानकर सब भ्रष्ट कर दिया। वर्तमान काल में बी० सी० की रीति को भली भाँति जानते हुए विद्वान् लोग भी अपने पूर्वजों की विद्वत्ता को संदिग्ध मानकर पुराणों में दिए बी० सी० प्रथा के काल को अनर्गल कहते हैं और अनुमान से उसको मनमाना बैठा लेते

है। यथार्थ में वह ठीक है । उसकी लंबी-लंबी संख्याएँ दिव्य और मानव-काल-परिमाणों पर निर्भर हैं । गढ़ी हुई नहीं हैं । वे पूर्णतः माननीय हैं ।

उपर्युक्त कथनों से पूर्णतः प्रमाणित है कि युगों के संबंध में कलियुग प्रधान था । उसका भोग्यकाल ४,३२,००० वर्ष था, और उससे पूर्व बी० सी० की प्रथा पर उसी के काल के बराबर काल का प्रत्येक युग (द्वापर, त्रेता और सतयुग) बीतता था । ये चारों लगभग १७,२८,००० वर्ष कलि-पूर्व से कलि के आरंभ तक हुए थे । पुराणों में कलि-पूर्व-द्योतक संख्याओं को स्वतंत्र भोग्यकाल मानकर सबका जोड़ रख दिया है। यह पीछेवालों की भूल अथवा कारस्तवाई है, अथवा विषय को प्राचीनता-बोधक करने के लिये चतुराई से गोरखधंधा पैदा किया गया है । सतयुग के लिये दिखलाए हुए उसके आरंभ-काल के भीतर ही चारों युग हुए हैं । निदान इनका योग या जोड़ (४३,२०,०००) व्यर्थ है । उससे केवल संधि-संख्या या संध्यांश का परिमाण स्थिर करने में सहायता अवश्य मिलती है । अस्तु ।

इन्हीं युगों के साथ युगों की संध्याओं, संधियों, युगों, योगों या जोड़ों के नाम से कुछ काल बीतना लिखा मिलता है । ऐसे ही संधियाँ या युग—युगों, महायुगों तथा मन्वन्तरों के सिलसिले में भी कहे गए हैं । उनके संख्या-परिमाण और स्थिति में भेद मिलते हैं, तथा उनके इन्हीं मूल-संख्याओं में सम्मिलित होने अथवा स्वतंत्र होने के विषय में भी मतभेद हैं ।

सबसे पहले ऐसा संधि का नाम युगों के संबंध में आता है । प्रत्येक युग के लिये संधि कही गई है, और फिर चारों युगों की संख्याओं के पूरे जोड़ (४३,२०,०००) के उपरांत 'संध्याओं के जोड़'' के नाम से ७,२०,००० की संख्या मिलती है । ये युगों की मूल-संख्याओं तथा उनके जोड़ से स्वतंत्र हैं, इसी से स्वतंत्र ढंग से उन्हें पुराणों में लिखा गया है ।

युगों और मन्वन्तरों आदि सभी के संबंध में संधि होने की बात के आधार पर हम संधि को प्रत्येक युग के साथ, इसकी मूल-संख्या से अलग ही मानते हैं, और युगों के जोड़ तथा उनके संबंध की संध्यांशों की संख्याओं के आधार पर सब जगह संधि को मूल का छठा भाग होना मानते हैं । प्रत्येक युग के साथ संधि का छठा अंश बैठालने से युगों की संख्याओं के अनुसार चारों युगों की संधियों का अंतिम अंक भी, दिए हुए संध्यांशों की योग-संख्या के बराबर ही आता है । मूल युग कलि के संबंध में संधि के ७२,००० वर्ष है, और अन्य युगों के साथ संधि-संख्या उनकी समय-संख्या के अनुसार बढ़ती हुई अंत में योग के बराबर ७,२०,००० ही हो जाती है । यहाँ भी संधि का योग व्यर्थ है; क्योंकि वह कलि की संख्या में जुड़कर सब कालों में फैल चुकी है । परंतु इन सबके हिसाब के आधार पर संधि का छठा अंश होना निश्चित होता है ।

इससे यह भी जान पड़ता है कि चारों युगों का मूल यथार्थ में ''सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि'' थे । संध्या अथवा योग या युग की जोड़नेवाली बीच की संख्या, 'युग' नाम से प्रत्येक के साथ जोड़े जाने से मूल-नामों के साथ 'युग' शब्द मिलाया गया था । तब उनके नाम ''सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग'' हुए थे । इनमें युग शब्द अलग से भी अपना स्वतंत्र अर्थ तथा उपयोगिता और काल-परिमाण रखता है । चारों युगों में मिले होने से वह ''चतुर्युग'' का बोधक भी है । निदान संध्यांशों सहित कलियुग ५,०४,००० वर्ष का था । इसी के अनुसार शेष तीनों युग थे । संध्यांशों-सहित इन चारों युगों का ठीक-ठीक कुल काल, बी० सी० की रीति से, १७,२८,००० और २८,८०,००० कुल २०,१६,००० वर्ष था । अर्थात् इन चारों युगों में से प्रथम सतयुग का आरंभ २०,१६,००० कलि-पूर्व में हुआ था । यह चारों का भोग्यकाल है, केवल सत्य का नहीं ।

उपर्युक्त संध्यांश-सहित चारों युगों का समय यथार्थ में मानव-वर्षों में दिया गया है । इनका मानव-वर्ष होना ऊपर कहे गए तुलनात्मक वर्ष-परिमाण आदि से प्रमाणित है, और कहीं-कहीं यह बात बराबर की दिव्य संख्याएँ दिखाकर स्पष्ट दर्शाई हुई भी मिलती है । अतः इन २०,१६,००० मानव-वर्षों में ३६० का भाग देकर दिव्य अथवा देव-आर्यों के यथार्थ वर्ष बनाए गए, तो पूरे ५,६०० वर्ष होते हैं । निदान चारों युग ५,६०० वर्षों के काल में बीते थे, और यह काम बी० सी० की रीति पर कलि के अंतिम वर्ष से पूर्व था । अर्थात् सतयुग का आरंभ कलि से ५,६०० वर्ष पूर्व हुआ था, तथा कलि १,४०० वर्ष का था ।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कलि तो १,४०० वर्ष का था, कलि से पूर्व-वर्ष अथवा उसके आदि या अंत, कहाँ से चलना या समाप्त होना माना जाय ? अर्थात् अपने वर्तमान संवतों से पौराणिक काल किस तरह मिलाकर, अपनी समझ में आने योग्य, समय निश्चित किया जाय। हमने कलि का प्रथम वर्ष, बी० सी० की रीति पर, उसका अंतिम वर्ष माना है। परंतु वह अंतिम वर्ष, अपने चलतू संवतों में से किसी वर्ष से मिलना आवश्यक है। "कलि" नाम का आधार "कल्कि" अवतार की कथा जान पड़ती है। पुराणों में लिखा है कि कलि के अंत में कल्कि-अवतार होगा। वह दुष्टों, विरोधियों का दमन करके फिर सतयुग के आचरणों अथवा सतयुग को लावेगा। यहाँ पर हमको कल्कि-अवतार, गौतम बुद्ध अथवा बुद्धावतार तथा उसका समय, महाभारत की घटना तथा उसके संबंध के समय आदि के आर्य-ग्रंथों और आधुनिक इतिहासों के निर्णय इत्यादि का आधार लेकर अंत में शकारि विक्रम पर ध्यान देने की आवश्यकता है। इसके पौराणिक काल का स्थान अपने वर्तमान संवत् या ईसा के सन् से नहीं मिलाया जा सकता। केवल कलि अथवा किसी युग का काल कह देने से उसका आदि-अंत वर्तमान समय से मिलाकर जान लेना दुर्लभ है; क्योंकि पौराणिक काल में मुक़ाबले के वर्तमान प्रचलित संवत् नहीं दिए गए हैं। इसी प्रकार वर्तमान समय में पुराणों और युगों का काल कहीं भी मुक़ाबले में लिखा नहीं मिलता है। निदान वे दोनों भिन्न-भिन्न-से हैं।

सब बातों का आधार लेकर ऐतिहासिकों ने गौतम-बुद्ध और महाभारत के निर्णय किए हैं। हमारे हिसाब से भी उनमें विशेष भेद नहीं पड़ता है। निदान हम उन्हीं को मानते हैं। महाभारत लगभग १,४०० बी० सी० में हुआ था। और १,४०० गत कलि ही ऊपर लिखे अनुसार कलि का आरंभ था। अतः ऊपर के हिसाब से कलि का अंत विक्रम-संवत् अथवा मोटे तौर पर ईस्वी सन् के आरंभ में हुआ था। इसी समय के आसपास पुराणों के अनुसार कलि के अंतवाला कल्कि का अवतार होना चाहिए। विक्रम ने विदेशी शकों को निकाला था, तथा कदाचित् फिर से आर्य-हिंदू तथा हिंदू-धर्म की सत्ता स्थापित की थी। कदाचित् हिंदू-धर्माध्यक्षों ने इन्हीं को कल्कि माना था। इन्होंने अपना संवत् भी चलाया था, जो अब तक बराबर चल रहा है। उसी समय से पौराणिक समय, कलि-संवत् या युधिष्ठिर-संवत् का बंद हो जाना भी कहा जाता है। अतः विक्रम अथवा ईसा के प्रथम वर्षों के आसपास ही विक्रम अथवा और जो कोई हो, "कल्कि-अवतार" माना गया था। इस अवतार के नामाधार पर कलियुग का नाम अथवा कलियुग के नामाधार पर 'कल्कि' नाम पड़ा था। यहीं से बी० सी० की रीति पर पुराणों में कलि तथा अन्य युगों का काल रक्खा गया था। निदान युगों की गणना और संख्या विक्रम-संवत् के प्रथम वर्ष के आरंभ से पूर्व रक्खी गई थी। इतने बड़े काल के लिये ५७ वर्ष का भेद विशेष हानिकारक न माना जाय, तो बी० सी० की रीति पर "पौराणिक काल बी० सी० या कलि-पूर्व या विक्रम-पूर्व" कुछ भी कहा जा सकता है।

इस प्रकार सतयुग ५,६०० विक्रम-पूर्व में आरंभ हुआ था, और कलियुग विक्रम-संवत् के आरंभ में पूर्ण हुआ था। अर्थात् मोटे तौर पर विक्रम-पूर्व या बी० सी० ही पौराणिक काल के लिये कलि-पूर्व है।

युग-काल के लिये नीचे की तालिका उपयोगी होगी—

युग-काल के लिये निम्न तालिका उपयोगी होगी—

युगों के काल-नाम	चलतू मूल-काल-वर्ष	संध्यांश या मूल-काल-वर्ष	संवत्-पूर्व या बी०सी०
सत्य	४८००	८००	५६००
त्रेता	३६००	६००	४२००
द्वापर	२४००	४००	२८००
कलि	१२००	२००	१४००

इसी प्रकार पुराणों में मिलता है और यह पूर्णतः ठीक है।

प्रतिपालसिंह

खैयाम की रुबाइयाँ

(१)

जिस प्याले ने अस्फुट स्वर से ऐसा उत्तर दिया महान;
कभी जीवयुत था अवश्य वह करता रहता था रसपान।
इसके जड़ होठों पर मैंने होंठ रखे हैं अपने आज;
वे भी कभी सजीव बनेंगे और सजेंगे चुम्बन-साज।

(२)

जो रस से भरी हरी यह अति सुकुमार लता अभिराम;
झूम-झूमकर चूम रही है सरिता के मृदु होठ ललाम।
टिकते हो तो टिको यहाँ, पर देखो, दो हलका ही भार;
संभव है, इसकी जड़ में हो कोई मधुर अधर सुकुमार।

(३)

गिरतीं जो प्याले से बूँदे—धरती जिनको करती पान;
कहाँ डूबकर छिप जाती हैं वे रज के भीतर अनजान।
संभव है, भीतर हों कोई आँखें व्यथाभरी चुपचाप;
ढलतीं ये आँसू-सी उन पर हरने को उनका संताप।

(४)

पाटलपुष्प न यह बन सकता वैसा सुंदर लाल विशाल;
जो न खात में पा सकता है किसी भूप का रक्त रसाल।
तथा डिठौना-सा स्थित जो था किसी गाल पर कभी समोद;
तिल वह आज पल्लवित होकर गिरता है उपवन की गोद।

बलदेवप्रसाद मिश्र

पर्दा-प्रथा और संयुक्तप्रान्त

संसार में ऐसी अनेकों घटनाएँ दृष्टिगोचर हुआ करती हैं कि आरंभ में किसी काम को ऊँचे आदर्शों एवं समाज के कल्याण के हित से उठा देते हैं, फिर कुछ काल बीतने पर स्थिति के बदल जाने के कारण वे आदर्श भुला दिए जाते हैं या अन्य नवीन शक्तियों का प्रभाव पड़ने लगता है। अथवा उन्हें लाभ के बजाय हानि होने लगती है। उदाहरणार्थ, मिलों का प्रादुर्भाव तथा कल-पुर्ज़ों का आविष्कार, जो मनुष्य का वह समय, जो कि अन्यथा एक ही तरह के वायुमंडल में अथवा जीवन-संबंधी भाँति-भाँति की साधारण आवश्यकताओं के निवारण करने मात्र में लगता, बचाने के अभिप्राय से किया गया था, आज पूँजीपतियों की तृष्णा-शान्ति का साधन एवं नाना प्रकार के अत्याचारों का मूलकारण बन रहा है। इसी प्रकार अंत्यजों के साथ खान-पान न रखते हुए भी जो प्रेम और सहानुभूति पूर्व-काल में विद्यमान थी, उसका लोप हो गया है, और आज हम घृणा, तिरस्कार तथा अवहेलना से उनके साथ व्यवहार करते हैं। ठीक उसी तरह शील, सौजन्य तथा सतीत्व की रक्षा के लिये किए गए संयम ने आज पर्दे की कठिन शृंखलाओं का रूप धारण कर लिया है। इस शृंखला को शृंखला न मानकर एक मनोहर आभूषण मानने में ही कुछ लोग अपने को गौरवान्वित समझते हैं। इतना ही नहीं, वरन् पर्दे-जैसी अनुचित प्रथा के समर्थन में तरह-तरह के तर्क प्रस्तुत करते, चुनी-चुनी दुर्घटनाओं को अतिशयोक्ति

के साथ सामने रखते हुए पर्दे को मर्यादा की रक्षा का एकमात्र उपाय ठहराते हैं, और कभी-कभी यहाँ तक कहते सुने जाते हैं कि जिस दिन पर्दा भारत से उठ जायगा, उस दिन भारतवर्ष का घोर पतन प्रारंभ हो जायगा तथा भारत की आभा रसातल को चली जायगी। पर्दा-प्रथा की स्तुति में वे लोग कभी-कभी विवेक एवं न्यायदृष्टि को तिलांजलि देकर सविनय सुधार-चेष्टा को भी पाश्चात्य सभ्यताजनित रोग के नाम से संबोधित करते तथा आत्मबल एवं सत्साहस दिखानेवाले किसी नवयुवक के साध्यवसाय-प्रयत्न का उपहास करते हुए अंत में अपने ही अनुभव को मान्य समझते हैं।

इतना होते हुए भी देश की स्थिति में अब बहुत अंतर हो गया है, और भारतवर्ष अब वह भारत नहीं रहा, जो १५ वर्ष पूर्व था। अभ्युदय की लहर उठ पड़ी है, और स्त्रियाँ उन-उन स्थानों में भी अपने बंधनों को महसूस करने लगी हैं, जहाँ अब तक सख़्त पर्दे का रिवाज़ क़ायम है, और जो बंबई, गुजरात, महाराष्ट्र, कोकन, मालाबार, काश्मीर, आधा मध्यप्रांत एवं उत्तर-पंजाब की तरह आगे बढ़े हुए नहीं हैं।

यद्यपि यह सच है कि संयुक्तप्रांत में पर्दा-तोड़क आन्दोलन उस ढंग से नहीं शुरू हुआ जिस ढंग से श्रीमती राधाबहन गांधी तथा राजकिशोरी देवी मिश्र ने, सन् १९२८ में, बिहार में प्रारंभ किया था, तथापि लखनऊ, कानपुर, काशी, मेरठ और प्रयाग-जैसे नगरों में पर्दा उठ रहा है, और स्त्रियाँ अधिकाधिक साहस का परिचय देने लगी हैं, साथ ही पुरुष लोग उनकी सहायता जी-जान से कर रहे हैं। वे लगन, तत्परता और निस्पृहता से काम लेकर, बड़ों की अप्रसन्नता को विनयपूर्वक ओढ़ते हुए प्रतिकूल वायुमंडल को बदलने का सतत प्रयत्न कर रहे हैं।

श्रीविष्णुपुराण में स्त्री और पुरुष के संबंध की घनिष्ठता का जो वर्णन है उससे यह स्पष्ट है कि स्त्री पुरुष का कितना महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक अंग है। उसमें यहाँ तक कहा गया है कि पुरुष यदि मंत्र है तो स्त्री उच्चारण, पुरुष सूर्य तो स्त्री आभा, पुरुष युद्ध तो स्त्री शक्ति, पुरुष दीपक, तो स्त्री प्रकाश और पुरुष यदि संगीत है, तो स्त्री स्वर, पुरुष आत्मा तो स्त्री शरीर है।

सोचने की बात है कि जब स्त्री का स्थान ऐसा उच्च है, तो यह हालत कि स्त्री पर्दे में रहे, और पुरुष सानंद जहाँ चाहे विचरे, कहाँ तक संतोषजनक है।

श्रीरामायण में भगवान् शिवजी ने सती से, उनके भगवान् रामचंद्र को पहलेपहल देखने पर किन उदार और भव्य शब्दों में संदेह निवारण कर आने को कहा था! उन्होंने बजाय इसके कि डाँट-डपट कर बैठा दिया हो, क्या नहीं कहा था कि—

जो तुमरे मन अति संदेहू, तो किन जाय परिच्छा लेहू;
जब लगि तुम अइहौ मोहिं पाहीं, तब लगि बैठि रहौं बट छाहीं;

पूजनीय महात्मा गांधी का साबरमती में जो सत्याग्रह-आश्रम है वह गत १५ वर्षों से भारत में राष्ट्र निर्माण के कार्य कर रहा है, उसमें स्त्रियों की काफ़ी बड़ी तादाद रहती है और कभी-कभी तो आजकलकी अपेक्षा तिगुनी-चौगुनी हो जाया करती है। उसमें लगभग प्रत्येक प्रांत की महिलाएँ तथा कुलीन बधुएँ जाकर रहती और सात्विक जीवन का पाठ पढ़ती हैं। उनमें अनेक बहनें धनाढ्य घरों की भी होती हैं। परंतु न तो वे पर्दा ही करती हैं और न ज़ेवर ही पहनती हैं। महात्मा

गांधी-जैसे मर्यादाशील पुरुष पर्दे और ज़ेवर की अनावश्यकता को पुकार-पुकारकर कह रहे हैं, उनका यह काम किसी क्षणिक आवेश या अँगरेज़ी-सभ्यता के द्वारा उत्पादित रोग नहीं कहा जा सकता, और न इसी बहाने को पेश किया जा सकता है कि दक्षिण की तथा आगरे-अवध की सामाजिक स्थिति में अंतर है। दक्षिण में सहज़ पर्दा न होने से कोई भी दुर्घटना नहीं सुन पड़ी। अस्तु, पर्दे को उठा देने से जो अनेक लाभ होंगे उनमें से कुछ ये हैं—

(१) दिन-भर मुख ढके रहने से स्वास्थ्य पर जो कुप्रभाव पड़ता है, वह न पड़ेगा। सब चीज़ों को स्त्रियाँ सुगमता से देख सकेंगी, स्वास्थ्य भी कुछ सुधर जायगा।

(२) दिन-भर नीची निगाह रखते-रखते जिस शक्ति का ह्रास हो जाता है, वह बच जायगा।

(३) जेठ, ससुर इत्यादि को चीज़ें माँगने और आकृति पहचानने में सुविधा हो जायगी, जिससे समय और शक्ति का सदुपयोग होगा।

(४) आगंतुकों या पति से मिलने आए हुए व्यक्तियों को स्पष्ट उत्तर मिल जाने से वह क्षति न होगी जो अन्यथा होती है।

(५) स्त्रियों में प्रफुल्लता बढ़ेगी। वे सभाओं में जा सकेंगी और शिक्षा ग्रहण कर सकेंगी।

(६) स्त्रियों में से वे रत्न, जो अवसर के अभाव से दबे पड़े रह जाते हैं, अपनी उपयोगिता प्रदर्शित कर सकेंगे।

(७) स्त्रियाँ भी संसार की चकाचौंध को देख सकेंगी, जिससे वे पशु-जीवन से ऊँचे उठकर अधिक उपयोगी कार्य कर सकें।

(८) स्त्रियों में साहस बढ़ेगा और क्रमशः वे अपनी रक्षा करने में अपने-आप समर्थ होंगी।

(९) पापाचार बहुत कम हो जायगा और स्त्रियों का कौतूहल नए व्यक्तियों तथा स्थानों को देखने पर इतना न होगा, जितना अब होता है।

(१०) घर के पुरुषों से अधिक उपयोगी सहयोग संभव हो सकेगा और पति के भीतरी भावों में स्त्री की पैठ बढ़ जायगी, जिससे कलह मिट जायगी।

(११) ईश्वर के समीप स्त्रियों को पर्दे की दासता के बंधन से मुक्त कर देना न्याय माना जायगा।

परंतु पर्दे को उठा देने का अर्थ यह नहीं कि स्त्रियों को उच्छृंखल बना दिया जाय अथवा वे अँगरेज़ी स्त्रियों की नक़ल हर बात में करने की तैयारी करने लगें, या पहनावे-उढ़ावे में अर्धनग्न रहने में फ़ैशन समझें या कि पति की अवहेलना करके परपुरुषों के साथ सैर-सपाटे किया करें। और न पर्दे को उठा देने के अर्थ यही होंगे कि स्त्रियाँ अनावश्यक अवसरों पर, अप्रासंगिक विषयों पर हर समय अपनी सम्मति ही दिया करें या पैरिस के नए फ़ैशनों की नक़ल करने में आर्य-मर्यादा की अन्त्येष्टि-क्रिया कर दें। पर्दा उठा देने का अर्थ उसका बिलकुल दूसरा छोर नहीं है; क्योंकि पूर्वी और पाश्चात्य सभ्यताओं की प्रणालियाँ बिलकुल भिन्न हैं, अलग-अलग रंग और अलग-अलग ख़ुशबू रखती हैं, जुदा-जुदा आधारों पर वे अवलंबित हैं तथा पृथक्-पृथक् संस्कृतियों की द्योतिका हैं। पूर्वी सभ्यता बहुत प्राचीन और संयमशील होने के कारण आत्म-बलिदान, परोपकार और अहिंसामूलक है, और पाश्चात्य सभ्यता में शरीर-पूजा, विलास और भौतिक सुख की आकांक्षा को प्रधान स्थान दिया गया है। उसमें पिता-पुत्र तथा पति-पत्नी के

उस प्रेममय एवं धार्मिक संबंध का वैसा समावेश नहीं, जैसा भारतीय सभ्यता में है। यही कारण है कि अमेरिका और योरप के २०-२५ मुल्कों में गृह-कलह, अशांति, चांचल्य, स्वच्छन्दता, अविश्वास और शुष्कता बढ़ती जा रही है, जिसका प्रतिफल या तो हज़ारों की संख्या में बढ़ता हुआ तलाक़ होता है, या विवाह के प्रति कुमारियों में अरुचि की वृद्धि होती है। दोनों ही स्थितियाँ भोगविलासी और नूतन आविष्कारों के वायुमंडल में भयावह हैं।

यह सच है कि पश्चिम से स्वच्छता, नियमितता, नियंत्रण एवं लगन इत्यादि सद्गुण जिन्हें हम खो बैठे हैं, सीखने पड़ेंगे, और यह भी सच है कि पर्दा वहाँ नहीं है, और हम भी पर्दे का लोप चाहते हैं; परंतु केवल एक बात के उभयनिष्ठ होने पर सब अंशों में अनुयायी बनना आवश्यक या हितवर्धक कदापि नहीं कहा जा सकता। और फिर, उनके यहाँ जो अर्थ पर्दा उठाने के लगाए गए हैं, वे अर्थ हमारे हिंदू-समाज के लिये अनुपयुक्त हैं। हिंदू-समाज की संस्कृति में विशेषता यह है कि वह पर्दे के विषय में उदारता को लिए हुए स्त्रियों के शील की रक्षा पर्याप्त रूप से करती है।

हाँ, तो पर्दा न करने का तात्पर्य यह नहीं कि स्त्रियाँ अपना स्वाभाविक शील छोड़ दें, और न आज तक भारतवर्ष में पर्दा-प्रथा का यह आशय निकाला गया है। जिस प्रकार आजकल अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति का ऐसा जटिल रूप है कि एक देश यदि अपने को दूसरे से सर्वथा पृथक् मानना चाहे, तो यह असंभव-सा हो गया है, ठीक उसी प्रकार भारतवर्ष में जो नई ज्योति प्रवेश कर रही है, वह पर्दा-प्रथा के वर्तमान रूप के रहते धुँधली पड़ जायगी, इसमें संदेह नहीं।

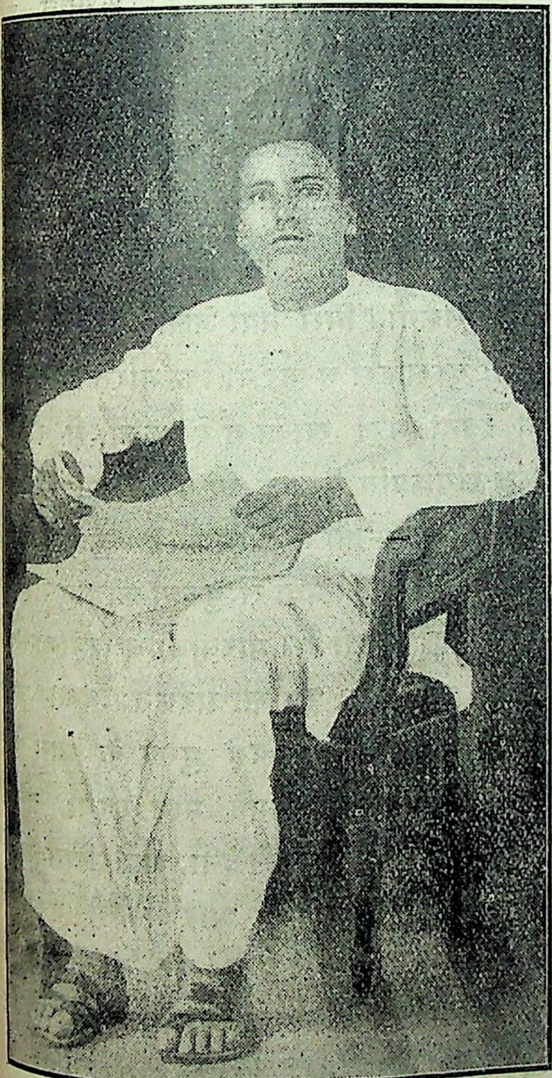
× × ×

अतएव हम लोगों का कर्तव्य है कि पर्दे के कट्टर पक्षपातियों को प्रेम और आदर से अपनी ओर क्रमशः लावें, समाज में ऐसी पब्लिक ओपिनियन जागृत करें कि जिससे सच्चे दिल से सुधार में संलग्न व्यक्तियों का उपहास न हो, प्रत्युत वे समाज में अपने साहस के लिये आदर की दृष्टि से देखे जायँ और उनका उत्साह भंग न होकर बढ़ता ही रहे।

हिंदू-समाज बदल रहा है, उन्नति के पथ पर वह दृढ़ता से आरूढ़ हो चुका है और उसे नवयुवकों के बाहु-बल का भरोसा है। उसमें अब बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, आभूषण-मोह, सामाजिक दासता इत्यादि कुरीतियों के लिये स्थान नहीं। संयुक्तप्रांत से महात्माजी बहुत आशाएँ करते हैं। गत अक्टूबर मास में 'यंगइंडिया' में उन्होंने इस प्रांत की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। परंतु वह उस प्रशंसा का पात्र तभी हो सकेगा, जब हम नैतिक बल का परिचय देंगे और शुद्ध बलिदान का आह्वान करेंगे। संयुक्तप्रांत के कुछ हिस्से में पर्दा वैसा ही जटिल रूप धारण किए है, जैसा मध्यभारत, पूर्वी राजपूताना अथवा उत्तर-बिहार में। परंतु बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ, मेरठ और कानपुर-जैसे शहरों में पर्दा कम हो चला है, और स्त्रियाँ हज़ारों की संख्या में जुलूसों और सभाओं में आने लगी हैं। लेकिन यह तो श्रीगणेश ही समझा जायगा; क्योंकि पर्दा सद्भाव से उठा देने में जिस नैतिक बल, साहस और संयमशीलता की आवश्यकता पड़ती है, वह सब पूरे तौर पर जाग्रत नहीं हुआ है। वह तो तब ही जाग्रत होगा जब पर्दे की अनावश्यकता

गृहस्थ लोग भली भाँति समझ लेंगे और अपने विश्वासों को कार्यरूप में परिणत करने के लिये कमर कसकर तैयार हो जायँगे।

इसी चिंता में मैंने कई बार इस प्रांत की दशा पर आँसू बहाए, विचार किया कि अभी और धैर्य की आवश्यकता है, तब वह ज़माना देखने को मिलेगा जैसा पूजनीय महात्माजी सत्याग्रह-आश्रम की स्त्रियों में १५ वर्ष से लाए हुए हैं, और जिसका पदार्थ-पाठ वे कब से पढ़ा रहे हैं। इसी खोज में, मारवाड़ी-समाज के एक युवक-रत्न से मेरा परिचय हुआ और उनसे वार्तालाप का भी अवसर प्राप्त हुआ। उनके निज के प्रयत्न का सारा वृत्तांत सुना और यह निष्कर्ष निकाला कि निःसंदेह अब पर्दा-प्रधान मारवाड़ी-समाज अवश्य और शीघ्र उन्नति कर जायगा।



श्रीगजानंदजी खेमका

जिन मारवाड़ी युवक-रत्न का ज़िक्र हम कर रहे हैं, उनका नाम है श्रीगजानन्द खेमका। आप अत्यंत विचारशील, गंभीर, साहसी एवं सुशिक्षित व्यक्ति हैं। चरित्र को व्यापक अर्थ में लेते हुए आप उच्च कोटि के व्यक्ति हैं, और मारवाड़ी-समाज के एक चमकते हुए सितारे हैं। स्त्री-शिक्षा के प्रेमी और पर्दा-प्रथा के कट्टर विरोधी हैं। जो चरित्र प्रौढ़ अवस्थावालों में—सेठ जमनालाल और घनश्यामदास—में है, वैसा ही चरित्र आपमें है। मेरे अनुभव में ऐसे समाज-हितेच्छु और शांतिप्रिय युवक इस समाज में इने-गिने ही हैं। उनके कुछ विचार ये हैं—

"मारवाड़ी-समाज की अनेक कुप्रथाओं में से पर्दा तथा आभूषण, यह दो प्रथाएँ भी अत्यंत भयानक हैं। इनके कारण हमारी देवियाँ वीरोचित शिक्षा से वंचित हैं। और यही कारण है कि इस समय बीभत्स व्यभिचार फैला हुआ है। इन कुप्रथाओं को दूर करने के लिये मारवाड़ी-युवकों को शीघ्र-से-शीघ्र अग्रसर होना चाहिए। यह सच है कि इस कार्य के करने में अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ेगा, लेकिन समाज को पतन से बचाना तो धर्म है। इसलिये ईश्वर की शरण होकर शांत और अहिंसक रहते हुए सब बाधाओं का आनंदपूर्वक सामना करना चाहिए।"

साबरमती के आश्रम को छोड़कर स्त्रियों में आभूषण का मोह मैंने बहुत पाया है और इस मोह को छुड़ाने के लिये मुझे जिस मान-

सिक वेदना का सामना करना पड़ा, उसे अनुमान में लाना कठिन नहीं। ऐसी स्त्रियाँ विरली ही मिलेंगी, जो अपनी इच्छा से आभूषण पहनने का चाव युवावस्था में या धन के रहते हुए छोड़ दें। लाचारी या विवशता में त्याग करना त्याग नहीं कहलाता; क्योंकि कोई वृद्ध पुरुष या दस-वर्षीय बालक यदि अपने ब्रह्मचर्य पर गर्व करे, तो वह मिथ्याभिमान है। इसी प्रकार यदि अस्वस्थ दशा में अहिंसा का दम भरे, तो उसकी विडम्बना-मात्र है। ऐसे ही ज़ेवर पहनने का शौक़ है। त्याग सराहनीय वही है, जो साधन के अस्तित्व में भी अपने को उससे वंचित रक्खे।

पर्दे के पक्ष में आज तक लज्जा और शील की रक्षा के अतिरिक्त और कोई दलील पेश नहीं की गई; परंतु यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध है और प्रत्येक मनुष्य के अनुभव में आती है कि पर्दे के होते हुए भी गुप्त दुराचार हुआ ही करता है। कहीं-कहीं तो यह तक देखा जाता है कि पर्देवाले घरानों में शील और मर्यादा का ह्रास आजकल जितना हो रहा है, उतना पर्दा न करनेवाले कुटुम्बों में नहीं। इतना ही नहीं, बलिक स्वतंत्रता की लहर ने यहाँ तक टक्कर मारा है कि स्त्रियाँ अब पर्दे को निरर्थक-सा मानने लगी हैं; वे खुली हवा के सेवन को वांछनीय समझती हैं और जहाँ जहाँ उनके मार्ग को कंटकाकीर्ण बनाया जाता है, वहाँ वे अनुकूल अवसर पाकर पर्दे के आवरण को नाम-मात्र के लिये बनाए रखकर वास्तव में उसे तोड़ देती हैं तथा बलात्कार से सुरक्षित रक्खी गई कुलकान, मर्यादा-रक्षा के वास्तविक तात्पर्य को लुप्तप्राय कर देती हैं। कट्टर-से-कट्टर सनातनधर्मी यदि हृदय पर हाथ रखकर सोचेगा, तो उसे यथोचित सावधानी को रखते हुए पर्दा तोड़ देना ही उचित प्रतीत होगा। भारतभूषण पं० मदनमोहनजी मालवीय की पुत्रवधू पर्दा नहीं करतीं और न काशी-विश्वविद्यालय में पढ़ने-वाली सयानी लड़कियाँ ही सड़कों पर मुख खोलकर निकलने में संकोच करती हैं। बिहार के नेता बाबू राजेन्द्रप्रसादजी की पत्नी व पुत्रवधू कानपुर-कांग्रेस में महात्माजी के सामने अन्य पुरुषों से परदा करती थीं; परंतु एक ही साल बाद महात्माजी के आश्रम में रह आने पर पर्दा छोड़ दिया।

आजकल की दम्पतिकलह, अशांति और कुमति का एकमात्र उपाय स्त्रियों को नक़ली पर्दे से मुक्त करके बाहरी संसार देखने-सुनने का अवसर देना है; क्योंकि तभी वे पतियों के साथ सच्ची सहानुभूति रख सकेंगी और तभी वे उनके दिन भर के परिश्रम की रेखाओं को सहृदयता से समझ सकेंगी। मिस मेयो-जैसी लेखिकाएँ फिर इतना दुस्साहस न करेंगी कि भारत की स्त्रियों का इतना भद्दा खाका ग़ैर मुल्कों में खींचें। परंतु संयुक्तप्रांत में पर्दे का बंधन कायस्थ तथा कान्यकुब्ज-जातियों में अधिक है। कुछ कायस्थ-कुटुम्बों में स्त्रियाँ स्त्रियों से, पुरुषों की अनुपस्थिति में भी, पर्दा करती हैं। मारवाड़ी व खत्री-जातियों में जो रूप पर्दे का साधारणतः देखा जाता है, वह यह कि पति से बड़े पुरुष के आगे मुख ढके रखना, उनके सामने मौन रहना, उनको पानी, पान इत्यादि दूर से देना, अपरिचित आगंतुकों को उत्तर न देना और किसी पुरुष के वस्त्रों का स्पर्श न होने देना। यह बंधन पति से छोटी उम्रवाले या मायके के गाँव अथवा मुहल्ले-वालों पर लागू नहीं किया जाता, फिर वह व्यक्ति स्वयं उस स्त्री के बराबरवाला या उससे

बड़ा ही क्यों न हो। भारतीय कन्याएँ आजकल शिक्षा-प्रणाली के सुव्यवस्थित रूप में न होने के कारण जो बातें सीख पाती हैं, उन्हें परंपरागत रीतियों से प्राप्त करती हैं, और इसके फलस्वरूप पर्याप्त मात्रा में स्वावलंबन, आत्मबल, साहस और संयम नहीं आ सकता, जो शंकर के समय सती में अवश्य होना चाहिए।

कभी-कभी तो वे इतना चरित्रबल तक नहीं दिखातीं कि लालच के सामने टिक सकें और दगिया बंधुओं से अपने दामन को बचा सकें। और, यह ऐसी स्थिति में स्वाभाविक ही है, जब कि उन्हें अमली तालीम नहीं दी जाती और वे छोटी ही अवस्था से अलग रक्खी जाती हैं। उनमें मनुष्य-स्वभाव को पहचान और मौक़े पर काम कर जाने की व्यावहारिक बुद्धि का विकास नहीं होने पाता। मारवाड़ी-समाज में जो परिस्थिति है, वह स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न है। उसमें कई पार्टियाँ, कई रीति-नीति की पोषिका पैदा हो गई हैं और उनकी दलीलें भी जुदा-जुदा हैं। इसी समाज में सेठ जमनालालजी-जैसे नेता और श्रीगजानंद-जी-जैसे नवयुवक भी मौजूद हैं, जो अन्याय और अनीति के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठा रहे हैं। सन् १९२८ में सेठ जमनालालजी के साथ गौहाटी जाने का मुझे अवसर मिला। उनके साथ उनका परिवार भी था। एक अवसर पर मैंने जानकी बहनजी बजाज़ के पर्दे के विषय में उनसे कुछ प्रश्न किए। वह मधुर शांत और निश्चित शब्दों में बोले कि भाई हम मर्द लोग कब तक स्त्रियों की रक्षा करते रहेंगे? सच्चा पर्दा तो वे स्वयं अपने ही हाथों कर सकती हैं।

सन् १९२६ में साबरमती में पूजनीय महात्मा-जी से एक बार पर्दे के विषय में बातचीत



श्रीगजानंद खेमकाजी की धर्मपत्नी

करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। प्रसंग आने पर उत्तर में वह बोले—पर्सराम! क्या तू समझता है कि मैं "बा" के बारे में कम सचेत रहता हूँ? और इस आश्रम में जो बाहरी दर्शक लोग नित्य आया करते हैं, उनमें से क्या सब-के-सब शुद्ध दृष्टि और उत्तम भावनावाले ही होते हैं? परंतु क्या किया जाय? मैं सोच में पड़ गया। —"ठीक है बापू" के अतिरिक्त कुछ न कहते बना।

दो मिनट बाद उन्होंने अपना वक्तव्य पुनः प्रारंभ किया और कहा—पर्दा फ़िज़ूल-सी चीज़

है, कुदृष्टिवाले लोगों के भय से पर्दा कराना कायरता है और निरर्थक है। उनके आश्रम में न पर्दा है, न आभूषण-प्रेम, न कपड़ों में चमक-दमक, न बाहरी टीम-टाम और न कृत्रिमता का प्रदर्शन; तो भी शील का आदर्श-रक्षण, स्वच्छता, सौभाग्य-चिह्न तथा स्वास्थ्य—ये सब चीज़ें मौजूद हैं। लम्पट, कुचाली और अशुद्ध हृदयवाले व्यक्तियों के दृष्टिपात के भय से सख़्त पर्दा कराना उन्हें अवसरों से वंचित रखना है। द्रौपदी, दमयंती, सीता और पद्मिनी आदि सतियों पर तक आक्रमण हुए, बुरी नज़र डाली गई; परंतु इनके पतियों ने इन्हें बंद करके नहीं बैठाया। आदर्श सती पर भी जब शरीराघात, आक्रमण एवं कुचेष्टा होती है, तब साधारण स्त्रियों को क्या सबक़ न सीखना चाहिए? उनका सतीत्व उनकी वीरता और एकनिष्ठा में होता है। इस बात की चिंता छोड़ देना ही श्रेयस्कर है कि कोई धूर्त हमारी पत्नी को घूर रहा है या छिपे-छिपे ताक रहा है। अपनी आत्मा से यह चोर निकाल देना ही मार्ग को सुगम बना सकता है। यह समझना चाहिए कि सब लोग अपने-अपने काम में व्यस्त हैं और किसी अमंगलसूचक अशुभ विचार का आह्वान न करना चाहिए।

निर्दोष बाला पर फेंकी गई दृष्टि मानसिक तस्करता करनेवाले आततायी का ही अहित करेगी; वह किसी दिन अपने हाथों अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारेगा और सती के शाप का पात्र होगा।

> पृथिव्यां यानि तीर्थानि सतीपादेषु तान्यपि।
> तेजश्च सर्वदेवानां मुनीनां च सतीषु च॥

(पृथ्वी के समस्त तीर्थ सती के पैरों में विद्यमान हैं और सब देवताओं तथा मुनियों का तेज सती में होता है।)

आगामी वर्ष महात्मा गांधी के प्रौढ़ विचारों एवं अटल सिद्धांतों के प्रतिपादन में होंगे; उनमें घृणा, स्वार्थपरायणता तथा संकुचित विचारों के लिये स्थान न होगा और न उनमें संदेहशीलता, हिंसा एवं क्रूरता का समावेश होगा—उनमें पर्दे के वर्तमान रूप के मूल में जो अविश्वास और नास्तिकता की झलक है, वह भी न होगी और न होगा दंभ, आडम्बरप्रियता अथवा कृत्रिमता। उस युग को लाने के लिये उत्साही और दृढ़ नवयुवकों की सहायता की आवश्यकता है और यह सहायता मारवाड़ी-कुलभूषण उपर्युक्त श्रीखेमकाजी-जैसे गंभीर, सत्यनिष्ठ एवं उदार व्यक्तियों के सहयोग में छिपी पड़ी है।

परशुराम मेहरोत्रा

पश्चात्ताप

मेरी वीणा में मिलकर तूने उस दिन जो कुछ गाया;
अब तक उन गीतों के भावों को मैंने न समझ पाया।
उन गीतों के मृदु-स्वर-कंपन में था चित्रित कौतूहल;
जिसकी गुप्त प्रेरणा से था आकर्षित होता हृत्तल।
मैं तल्लीन रहा सुनने में, तू अनवरत रहा गाता;
नवल उषा-प्रांगण में विकसित यह जीवन था सुख पाता।

अकस्मात् पर घड़ियाँ बदलीं, बंद हो गए तेरे राग;
छिप बैठा तू किधर न-जाने ले मेरा अबोध अनुराग।

× × ×

अब न खोजने की बेला है, चली आ रही काली रात;
दारुण पश्चात्ताप हो रहा, तू रह गया हाय अज्ञात।

श्रीजगन्नाथ मिश्र गौड़ "कमल"

वाल्मीकीय रामायण

(२)

ऐतिहासिक मूल्य

वाल्मीकीय रामायण केवल इधर के कुछ अनजान विद्वानों की रचना ही नहीं है, बरन् बड़ी असावधानी से भी लिखी गई है। एक बात एक स्थान पर कही गई है, तो दूसरे स्थान पर उसके विरुद्ध कुछ और कह दिया गया है। एक-सी कथा रखने का भी यत्न नहीं किया गया है। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

आदिकांड का १५वाँ सर्ग कहता है कि देवताओं की प्रार्थना पर भगवान् विष्णु ने 'अपने चार भाग कर राजा दशरथ को अपना पिता बनाना निश्चय किया।' १६वाँ सर्ग कहता है कि 'यज्ञ के अग्निकुंड से निकले हुए महाबलवान् कृष्ण वर्ण पुरुष की दी हुई खीर का आधा हिस्सा दशरथ ने कौशल्या को, चौथाई सुमित्रा को और आठवाँ हिस्सा कैकेयी को दिया। फिर कुछ विचार कर बाक़ी जो अष्टमांश बचा था, उसे भी सुमित्रा को दे दिया।' इसके बाद १८वाँ सर्ग कहता है कि 'कैकेयी से अच्छे गुणवान् भरत पैदा हुए, जो विष्णु के चतुर्थ भाग थे। इसके बाद सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न हुए। यह दोनों विष्णु के अष्टमांश हैं।' विष्णु का अंश खीर के अंश के अनुसार था। इससे या तो १६वें सर्ग का वर्णन सही नहीं है, या १८वें सर्ग का वर्णन असत्य है।

अयोध्या-कांड के ६४वें सर्ग में दशरथ की अंतिम अवस्था का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है और लिखा है कि 'इस प्रकार महाराज दशरथजी राम की माता और सुमित्रा के समीप विलाप तथा शोक करते हुए अर्द्ध-रात्रि के समय अपने जीवन के अंत को प्राप्त हुए।' परंतु अगले ही सर्ग में दिया है कि नित्य नियम के अनुसार राजमहल की स्त्रियाँ (दासियाँ) राजा दशरथ के शयनागार में सबेरे आईं और उनको सोते देख जगाने लगीं। न जगने पर स्त्रियों ने छूकर जगाया। उन्होंने राजा की नाड़ी देखी, धुक-धुकी की आँच की; पर कुछ न पाया। तब वे काँपने लगीं और राजा के प्राणों के विषय में शंकायुक्त हो गईं। पुत्रशोक से ग्रस्त कौशल्या और सुमित्रा उस समय सो रही थीं। दासियाँ ज़ोर से रोने लगीं। उनके रोदन-शब्द से कौशल्या और सुमित्रा जाग उठीं। पति की वैसी दशा देख ज़ोर से—हा भर्त्ता! कहकर—वे भूमि पर गिर पड़ीं।' एक ओर कहा जाता है कि कौशल्या और सुमित्रा के सामने शोक करते-करते राजा दशरथ का शरीर छूटा, और दूसरी ओर यह कि उनके मरने की इन दोनों रानियों को ख़बर नहीं थी; वे सो रही थीं और सबेरे उनको राजा के शरीरपात होने की सूचना मिली।

अयोध्याकांड के ११३वें सर्ग में है कि रामचंद्रजी से मिलने के पश्चात् 'अब भरत अपनी सेना को लिए और नाना प्रकार की सहस्रों धातुओं को देखते चित्रकूट के उत्तर की ओर चले आते थे। भरतजी ने जाते हुए चित्रकूट के पास ही एक आश्रम देखा। वहाँ ऋषियों के साथ भरद्वाज मुनि निवास करते थे।' इस वर्णन से ऐसा जान पड़ेगा कि भरतजी पहले इस आश्रम में नहीं आए थे। परंतु ९१वें सर्ग में बहुत साफ़ दिया हुआ है कि बहुत थोड़े दिन पहले इसी आश्रम में सेनासहित टिकते हुए भरतजी रामचंद्रजी से मिलने गए थे।

अरण्यकांड के ३१वें सर्ग में अकम्पन राक्षस ने रामचंद्रजी द्वारा खर, दूषण तथा अन्य जन-स्थान के राक्षसों के मारे जाने का समाचार रावण को सुनाया है और रामचंद्रजी के विषय में सब बतला दिया है कि 'महाराज दशरथ के पुत्र का नाम राम है। सिंह की-सी उनकी चाल है। वह युवा हैं। स्कंध उनके महान् और सुडौल तथा भुजाएँ लंबी हैं। उनका साँवला रंग है। वह महा यशस्वी हैं, श्रीमान् और अतुल पराक्रमी हैं। उन्होंने जन-स्थान में खर और दूषण को मारा है।' परंतु ३४वें सर्ग में जब शूर्पणखा अपनी दशा बतलाती है, तो 'रावण पूछता है कि रामचंद्र कौन हैं ? उनका रूप और पराक्रम

कैसा है ?' मानों अकंपन से कुछ समाचार उसको नहीं मिला था और वह नहीं जानता था कि राम कौन हैं।

इसी प्रकार अरण्यकांड के ७१वें सर्ग में रामचंद्रजी कबंध राक्षस को बतलाते हैं कि 'रावण मेरी भार्या को ले गया है ! मैं उसका नाम तो जानता हूँ, पर रूप, निवास-स्थान और प्रभाव को नहीं जानता।' कबंध के दाह के बाद रामचंद्रजी सुग्रीव से मित्रता करने के उद्योग में आगे बढ़कर हनूमान से मिलते हैं, और रामचंद्रजी की ओर संकेत करके किष्किंधाकांड के चौथे सर्ग में लक्ष्मणजी हनूमानजी से कहते हैं, 'इनकी भार्या को कामरूपी राक्षस ने हर लिया है।' नहीं जान पड़ता कि वह राक्षस कौन है। उधर तो कबंध का नाम बतलाया जाता है और इधर तत्पश्चात् कहा जाता है कि मालूम नहीं, कौन राक्षस सीता को ले गया है। उस पर और आश्चर्य यह कि जब हनूमानजी सुग्रीव के पास लौटकर रामचंद्रजी का हाल बतलाते हैं, तो कहते हैं कि 'वन में रहते हुए इन धर्मात्मा की स्त्री को रावण हर ले गया ! अब यह आपकी शरण आए हैं (किष्किंधाकांड, पाँचवाँ सर्ग)। फिर यह समझ में नहीं आता कि जब मालूम हो गया था कि रावण सीताजी को ले गया है, तो वहीं क्यों न भेजे गए ? क्या यह नहीं ज्ञात था कि उसकी राजधानी कहाँ है ? चारों ओर वानरों को ढूँढ़ने के लिये क्यों भेजा गया, जैसा किष्किंधाकांड के पैंतालीसवें सर्ग में है ? शतबलि-नामक यूथपति अपने वानरों की सेना लिए हिमालय से आच्छादित रमणीय उत्तर-दिशा की ओर चला। हनूमानजी तार, अंगद इत्यादि वीर वानरों को साथ लिए अगस्त्य-सेवित दक्षिण-दिशा को चले। पूर्व-दिशा की ओर विनत-नामक यूथपति ने यात्रा की। वरुणपालित घोर पश्चिम-दिशा में सुषेण-नामक वीर गया।' ४३वें सर्ग में सुग्रीव ने सेना से स्पष्ट कहा है कि 'म्लेच्छ, पुलिंद, शूरसेन, प्रस्थल, भरत, दक्षिण कुरु, मद्र, कांबोज और यवनदेशों में तथा शकों के नगरों में रावण और वैदेही का पता लगाना।' उधर मंदोदरी विलाप करती हुई लंकाकांड के ११३वें सर्ग में रावण के प्रति कहती है कि 'तुम तो ऐसी जगह रहते थे, जहाँ का पता कोई भी मनुष्य किसी तरह नहीं पा सकता था।' हनूमान के लंका से लौटने पर रामचंद्रजी को समझाते हुए सुग्रीव कहते हैं कि 'हे राघव ! आपके संताप का मैं कोई कारण नहीं देखता। आपने सीता का पता पा लिया और शत्रु के निवास-स्थान का भी ठिकाना जान लिया।' इन सब बातों का यही अर्थ होता है कि रावण की राजधानी का किसी को पता नहीं था। यह भी नहीं मालूम था कि उसका देश पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण किधर है। यदि यह सही है, तो रावण को महापराक्रमी राजा, राक्षसों का सम्राट्, एक विशाल देश का प्रसिद्ध महाराज कैसे माना जाय ? ऐसी अवस्था में तो यह समझा जायगा कि एक साधारण राक्षस रामचंद्रजी की अनुपस्थिति में सीताजी को चुरा ले गया था। उसका पता लगाने का यत्न किया गया और पता लगने पर रामचंद्रजी ने उसे मारकर सीताजी को छुड़ा लिया। पर क्या यह ऐसे यश की बात हुई जिसकी महिमा का गुणगान किया जाय ?

रामचंद्रजी ने बालि को छिपकर मारा था। इस पातक और भीरुता को छिपाने के लिये गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है कि बालि के सामने आने से उसके शत्रु का आधा बल बालि में चला आता था, पर इसका उल्लेख वाल्मीकीय रामायण में नहीं है। रामचंद्रजी को किसी प्रकार सुग्रीव की जीत करानी थी; क्योंकि दोनों भाइयों की लड़ाई में उन्होंने सुग्रीव का पक्ष लेकर यह प्रतिज्ञा कराई थी कि यदि वह विजयी हो, तो रामचंद्रजी का मित्र और सहायक बन जाय। सहायता उनको यह लेनी थी कि आसपास के स्थान में जो व्यक्ति सीताजी को ले गया है, सुग्रीव उसका पता लगवा दे और यदि आवश्यकता पड़े, तो सीताजी के प्राप्त करने में सहायता दे। सुग्रीव ने इसे पूरा किया और रावण परास्त किया गया। इस कार्य का महत्त्व बढ़ाने के लिये रावण को ऐसा पराक्रमी बताया जाने लगा कि जैसा संसार में दूसरा कभी नहीं हुआ। यदि रावण ऐसा ही यशस्वी और पराक्रमी होता, जैसा बताया गया है, तो यह कैसे संभव था कि उसी के पास का रहनेवाला दूसरा राजा यह न जानता कि उसका देश कहाँ है ? और वह भी उस अवस्था में, जब वह जनस्थान, जहाँ से सीताजी हरी गई थीं, रावण ही के साम्राज्य में कहा जाता है। सुग्रीव का राज्य तो जनस्थान व लंका के बीच में था।

इधर तो रावण की राजधानी को ऐसा बताया गया कि कोई जानता भी नहीं और उधर लंकाकांड के तीसरे

सर्ग में हनूमानजी लंका का समाचार रामचंद्रजी को बतलाते हुए कहते हैं कि 'हे रामचंद्र, लंका के पूर्व द्वार पर शूल और तलवारों से युद्ध करनेवाले दस हज़ार राक्षस हैं, जो सदा तैयार रहते हैं; दक्षिण द्वार पर एक लाख राक्षस चतुरंगिणी सेना-सहित कमर कसे खड़े रहते हैं। दस लाख राक्षस पश्चिम द्वार पर तैनात रहते हैं। ये तलवार, ढाल और अनेक शस्त्रों के युद्ध में कुशल हैं। दस करोड़ उत्तर द्वार पर तैयार रहते हैं। सैकड़ों और सहस्रों छावनी में रहते हैं। करोड़ से अधिक राक्षसों की सेना उनके साथ रहती है। द्वारों पर अच्छी तरह से बनाई हुई लोहे की बड़ी मज़बूत सैकड़ों तोपें वीर राक्षसों ने लगा रक्खी हैं। लंका का घेरा स्वर्णमय और बड़ा दुर्धर्ष है। वह भीतर से मणि, मूँगे, पन्ने और मोतियों से सुशोभित है। उसके चारों ओर खाइयाँ बनी हुई हैं, जो अथाह शीतल जल से भरी हुई हैं। बुर्जों पर बहुत-से बड़े-बड़े यंत्र लगे हैं। जब शत्रु की सेना आ पड़ती है, तब वह यंत्रों द्वारा खाइयों में पटक दी जाती है।' लंकाकांड का तीसवाँ सर्ग बतलाता है कि 'लंकापुरी आकाश को छू-सी रही है।' ऐसी राजधानी का समीप के लोगों को पता न हो, यह संभव नहीं है। इससे तो यह केवल कवि-कल्पना प्रतीत होती है। वानरों की सेना के वर्णन में इस कवि-कल्पना की कोई सीमा नहीं रह गई है। लंकाकांड के २८वें सर्ग में रावण के सम्मुख शुक कहता है कि 'हे राजन्! सौ से गुना करने पर सौ हज़ार को पंडित लोग कोटि कहते हैं और सौ हज़ार कोटि को शंकु। सौ हज़ार शंकु से महाशंकु, और सौ हज़ार महाशंकु से एक वृंद होता है। हज़ार वृंद को सौ से गुणा करने से एक महावृंद होता है। हज़ार महावृंद को सौ से गुणा करने पर एक पद्म; हज़ार पद्म को सौ से गुणा करने पर महापद्म; हज़ार महापद्म को सौ से गुणा करने से एक खर्ब; हज़ार खर्ब को सौ से गुणा करने से एक महाखर्ब; हज़ार महाखर्ब को सौ से गुणा करने से एक समुद्र; और हज़ार समुद्र को सौ से गुणा करने से महौघ होता है। हे राजन्! इस हिसाब से हज़ार महापद्म का सौ खर्ब, उसका समुद्र, उसका महौघ, उसका कोटि सहस्र, उसका सौ शंकु, उसका हज़ार महाशंकु, उसका सौ वृंद, उसका हज़ार महावृंद, उसका सौ पद्म, उसका हज़ार महापद्म, उसका सौ खर्ब, उसका समुद्र, उसका महौघ, उसका कोटि महौघ। इस सेना में इतने वानर हैं।' ऐसी पुस्तक का ऐतिहासिक मूल्य क्या!

इसी लंकाकांड के २२वें सर्ग में दिया है कि रामचंद्रजी ने समुद्र का जो पुल बाँधा था, वह 'दस योजन चौड़ा और सौ योजन लंबा था। उसको बनाते समय कितने ही वानर सौ योजन के लंबे सूत को थामते थे!' ७४वें सर्ग में है कि जब हनुमान, राम और लक्ष्मण दोनों के घायल होने पर, दवाई ढूँढ़ने गए, तो 'हज़ार योजन मार्ग लाँघकर वहाँ गए और परिश्रम से दवा खोजने लगे। वे ओषधियाँ, आते हुए अर्थी को देख लोप हो गईं।' निस्संदेह जान पड़ता है, बड़ी समझदार थीं! ७५वें सर्ग में दिया हुआ है कि सुग्रीव की आज्ञा से वानरों ने लंका में आग लगा दी। 'थोड़ी देर में लाखों मकान जलने लगे। धुएँ से व्याकुल, ज़ोर से चिल्लाती हुई स्त्रियों की आवाज़ सौ योजन तक सुन पड़ती थी।' स्त्रियों की आवाज़ सौ योजन (एक योजन ८ मील का होता है) तक! इस ग्रंथ में गप की सीमा रक्खी ही नहीं गई है। सारा वृत्तांत कवि की कल्पना पर निर्भर है, जिस समय जहाँ तक वह उड़ सकी है, उड़ी है। अतिकाय राक्षस लड़ने आया। उसके लिये लंकाकांड का ७१वाँ सर्ग कहता है कि 'हज़ार घोड़ों के रथ पर चढ़कर आया था।'

सुंदरकांड के ६५वें सर्ग में पहले लिखा है कि सीताजी को देखकर हनूमानजी जब रामचंद्रजी के पास लौटे, तो 'सीताजी ने जो दिव्य मणि दी थी, पहले वही रामचंद्र को दी। फिर हाथ जोड़कर समाचार कहना आरंभ किया।' तत्पश्चात् लिखा है कि 'जब हनूमानजी को ज्ञात हुआ कि राम-लक्ष्मण को मेरी बातों पर विश्वास हो गया है, तब उन्होंने सीता की दी हुई मणि रामचंद्र को दे दी।' यह मणि समाचार आरंभ करने से पहले दे दी गई थी, तो फिर समाचार कह चुकने पर कैसे दी गई होगी?

लंकाकांड का १०३वाँ सर्ग बतलाता है कि 'देवराज इंद्र ने अपने सारथि मातलि से कहा कि तुम मेरा रथ लेकर अभी रामचंद्र के पास जाओ, और उनको उस पर सवार कराओ।' इसी रथ पर सवार होकर रावण से युद्ध किया गया। ११४वाँ सर्ग कहता है कि लंका-विजय के उपरांत रामचंद्रजी ने मातलि से यह कहकर

कि 'अब आप यह रथ ले जाइए' उसे बिदा कर दिया। परंतु राक्षसी रावण के प्रति कहती हैं—'अहो! जो देवताओं, दानवों, राक्षसों से अवध्य था, इनमें से जिसे कोई भी न मार सका था, वह पैदल मनुष्य से मारा हुआ सो रहा है' (लंकाकांड ११२वाँ सर्ग)। यदि रथ पर चढ़कर लड़े, तो रामचंद्रजी पैदल न थे, और यदि पैदल थे, तो रथ की कथा झूठी है।

लंकाकांड के ११८वें सर्ग में लोकपालों ने आकर रामचंद्रजी को बतलाया है कि वह विष्णु का अवतार हैं और 'सीता देवी भगवती लक्ष्मी हैं।' उत्तरकांड का १७वाँ सर्ग कहता है कि 'वेदवती जनकराज के घर में सीतारूप से उत्पन्न हुईं।' यह वेदवती कुशध्वज की पुत्री थी और कुशध्वज बृहस्पति के पुत्र थे। वेदवती को जंगल में देखकर रावण उस पर मोहित हो गया और उसे पकड़ना चाहा, पर वह अग्नि में कूद पड़ी और प्रतिज्ञा की कि 'यदि मैंने कुछ सुकृति की हो, दान दिया हो, हवन किया हो, तो मैं किसी धर्मात्मा मनुष्य के घर में तुझे मारने को अयोनिजा जन्म लूँ। वही वेदवती अयोनिजा सीतारूप से उत्पन्न हुई।' सीताजी इस प्रकार लक्ष्मी का अवतार नहीं थीं।

रामचंद्र की यात्रा लंका से अयोध्या को पुष्पक विमान पर की गई बतलाई जाती है। लंकाकांड के १२४वें, १२५वें और १२६वें सर्ग में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन है। मार्ग में रामचंद्रजी ने अनेकों स्थान, जहाँ उन्होंने वनवास-काल में विचरण किया था, अपने साथियों को विमान के ऊपर से दिखाए और भरद्वाज मुनि के आश्रम में पहुँचने से पहले आकाश से अयोध्यापुरी दिखाई देने लगी थी, वह भी दिखाई। 'वानर और विभीषण बड़ी ख़ुशी से, उचक-उचककर अयोध्या-नगरी को देखने लगे।' भरद्वाजजी के स्थान पर रामचंद्रजी ठहरे हैं; वहाँ से हनूमानजी अयोध्या भेजे गए। हनूमानजी एक बार भरतजी को रामचंद्र के लौटने का समाचार सुनाकर, रामचंद्रजी के पास लौट आए तथा फिर भरतजी के पास चले गए थे। उनके पीछे रामचंद्र ने भरद्वाज के आश्रम से प्रस्थान किया है। जिस समय हनूमानजी भरतजी से वार्तालाप कर रहे थे, उस समय बोले—'यह लीजिए, प्रसन्न हुए वानरों का शब्द सुनाई देने लगा। मैं समझता हूँ, वह वानर-सेना गोमती-नदी के पार उतर रही है। अब आप साखून की ओर दृष्टि कीजिए। देखिए, कैसी धूल उड़ रही है। मैं समझता हूँ, वानर उस वन में वृक्षों को हिला रहे हैं। वह देखिए, आकाश में चंद्र के समान विमान दिखाई देता है, (लंकाकांड १२६वाँ सर्ग)'। इस वृत्तांत से यही प्रतीत होगा कि यह लोग आकाश-मार्ग से नहीं, वरन् रास्ते से गए थे। परंतु एक विमान की कथा जो उठा ली गई है, उसका नाम पीछे से जोड़ दिया जाता है। जो भी बात सत्य हो, पर इसमें संदेह नहीं कि इस ग्रंथ में दोनों बातों का उल्लेख है और स्थान की अन्य-अन्य बातों के समान इनमें से एक निश्चय ही ग़लत है।

अरण्यकांड के २६वें सर्ग में रामचंद्रजी से खर आदि राक्षसों का युद्ध हुआ है। उसके संबंध में आया है कि 'रामचंद्रजी अकेले और पैदल थे। उन्होंने क्षण-मात्र में चौदह सहस्र भयंकर पराक्रमी राक्षसों को मार गिराया। अब संग्राम-भूमि में तीन व्यक्ति बच गए। एक तो खर, दूसरा त्रिशिरा और तीसरे रामचंद्र।' इसके उपरांत २७वें सर्ग में दिया है कि रामचंद्रजी ने त्रिशिरा का वध किया, और यह भी दिया है कि 'बचे-बचाए जो राक्षस खर के आश्रय से वहाँ खड़े थे, वे ऐसे भागे जैसे व्याघ्र के डर से मृग भागता है। इसके बाद २८वें सर्ग में रामचंद्रजी के साथ खर का युद्ध हुआ है। जब खर और त्रिशिरा को छोड़ और कोई राक्षस वहाँ बचा ही नहीं था, तब त्रिशिरा के वध पर भागा कौन? खर तो भागा न था, उसने घोर युद्ध किया था।

अरण्यकांड का ३१वाँ सर्ग कहता है कि अकंपन से जनस्थान के राक्षसों का वध-समाचार सुनकर रावण मारीच के पास 'गधों के रथ पर सवार होकर चला।' इसी रथ पर सवार होकर रावण गया था, जब वह सीताजी को हर कर लाया था। 'इसमें गधे जुते हुए थे।' (अरण्यकांड, ४६वाँ सर्ग) दोनों ही स्थानों पर यह भी कहा गया है कि यह रथ आकाश-मार्ग से उड़कर गया। यदि यह माया-रचित ही विमान था, जो माया के बल से आकाश में उड़ता था, तो गधों के जोतने की कौन आवश्यकता थी? गधे जोतकर मय गधों के उड़ना पड़ता था? हाँ, यदि कवि-कल्पना उड़ी है और उसमें गधे जुते थे, तो कदाचित् ठीक है।

रामचंद्रजी की वनयात्रा के थोड़े ही दिन पीछे भरतजी चित्रकूट में उन्हें लौटा लाने को आए हैं। उनसे ...होने पर बिना घर का समाचार जाने, पूरे बड़े-बड़े चार ...भरकर, रामचंद्रजी ने भरतजी से ऐसे प्रश्न ...डाले हैं कि बेचारे भरत को यह भी कहने का साव... न मिला कि राजा दशरथ परलोकवासी हो ...। प्रश्न इस प्रकार के थे कि 'तुम्हारे कितने गाय... हैं ?' किसको संदेह हो सकता है कि यह प्रश्नों की ...रा लेखक के मस्तिष्क के अतिरिक्त और कहीं से नहीं बही है। ऐसे ग्रंथ का ऐतिहासिक मूल्य क्या हो सकता है ? जो रचना युगों पहले की घटना को लेकर, घर पर बैठकर कल्पना से कर दी गई हो, जिसमें यह भी न विचार किया गया हो कि पहले क्या लिख दिया है और पीछे क्या लिखते हैं, उसका ऐतिहासिक मूल्य हो ही क्या सकता है। यह दूसरी बात है कि मुख्य कथा को, जो आदि-काव्य आदि से ली गई समझी जाय, ठीक मान लिया जाय।

रामगोपाल मिश्र

उपवन

...ाकर से फूलों का मेल; अजब देखा जादू का खेल
...-सो मधुर मंद मुसकान; खिलाती पलकों में उद्यान
...दिक् बहता त्रिविध समीर; जगाता कलियों के उर पीर
...ते मधुप-वृंद मदमस्त; सुखाते कर प्रसून को व्यस्त
...ले जाता परिमल छीन; सुवासित सुमन सदा आधीन
...ों पर पद्म एक निर्गंध; उसे करता न स्पर्श अनुबंध
...-सा उसको हर्ष-विषाद; सुना करता है वीणानाद
...घन उपवन, जीवन एक; फूल में फलता कर्मविवेक
...में हिलती चेतन-डाल; अलख जड़, हुआ देश, दिशि, काल
...कर द्विविध प्रसार अनूप; वृक्ष में छिपा बीज का रूप
...न कुंजों में काली रात; सुलाती सबको पाकर घात
...रे, मत मूँद अभी मुख-चंद; धूल होगा सारा आनंद
...पर फेंक किरण का जाल; दिखा दे भव्य भुवन का भाल
भेज विद्युत् को मन के संग; राग से भर फूलों के अंग
प्रकट हो अंतस्तल में भार; भूल जाए अदृश्य संसार
शब्द से उठकर लहर अनंत; खोल दे कानों का मृदु तंत
स्पर्श से मरुत-स्फूर्ति तूफान; मचा दे उपवन में घमसान
रूप से पैदा कर दे आग; आँख में उठे रोशनी जाग
सरसता से बरसाकर नीर; शांत कर दे रसना की पीर
महक से नाच उठे उद्यान; नासिका ले नंदन-वन छान
और तब दिखलाना दृग लाल; हरण कर लेना सब जंजाल
प्रेम का प्याला पीकर झूम; सुमन लेंगे तेरा पग चूम
सुरक्षित कुसुम-हृदय का नाद; करेगा क्षण-क्षण तेरी याद
कटेगी सदा चैन की रात; नहीं होगा करुणा का प्रात
इसी से तन में अंकित प्राण; तौलते जीवन से निर्वाण

हरिहरशरण मिश्र 'श्रीहरि'

नख़ास का सौदा

(१)

नानी की ज़बानी सुना था कि लखनऊ शहर है। लाला ख़ुशबख़्तराय भी कहा करते थे कि लखनऊ में बिगड़ते-बिगड़ते आदमी बन जाता है। पंडित दमड़ी ओझा का कहना है कि जब अच्छे ग्रहदशा आते हैं, तब आदमी वाजिदअली शाह के नगर में अचानक पहुँच जाता है। बाबा लछमनदास, मोटेराम शास्त्री का जीवनचरित नौजवानों को रोज़ आग तापते-तापते सुनाया करते थे।

संध्या-गायत्री के पाठ के बाद मैं रोज़ भगवान् से प्रार्थना करता था कि मुझे भी ऐसे विचित्र शहर में भेज दें—अभी मेरे हनूमान-चालीसा के पाठ को साढ़े सैंतीस दिन भी न हो पाए थे कि काका पुदई की चिट्ठी आई कि वह बहुत बीमार हैं और मैं पत्र के देखते तुरंत ही प्रस्थान करूँ। डाकिए को मेरे दिल का हाल नहीं मालूम था। यह समझकर कि ख़बर अच्छी नहीं है, मामला एक सीधे और एक दुअन्नी में ही टल गया।

काका पुदई को कौन नहीं जानता?—वह बड़े साहब के अरदली हैं।

जो कोई गाँव का गया, उनके यहाँ से निराश कभी नहीं लौटा; किसी को चपरासी, किसी को बरकंदाज़ी, किसी को दरबानी—यहाँ तक कि घसीटे लँगड़े को भी पंखाकुली की जगह दिलवा दो। सिवा मामा खुटीचराय के गाँव में कोई ऐसा न था, जो उनका यश न गाता हो।

कुछ लखनऊ जाने का शौक़, और कुछ काका की बीमारी के कारण भावज भी तैयार हो गईं, मगर मामा की आज्ञा नहीं मिलती थी; उनकी राय नहीं थी कि हम गाँव को छोड़कर जायँ और भाभी के ले जाने के लिये तो वह किसी तरह राज़ी ही नहीं होते थे। यह बात नहीं थी कि सीतला माई उनकी एक आँख ले गई हों और उनको कम दिखाई देता हो, बल्कि वह दो आँख-वालों से ज़्यादा देखते थे और उनको दूर-दूर की सूझती थी। यह भी बात नहीं थी कि वह काम-काज में किसी के भरोसे हों, बल्कि बात यह थी कि वह मुझको भोला-भाला और गौखा समझते थे और भाभी को घर की मालकिन। उनका पूरा-पूरा विश्वास था कि मैं स्वयं काका के पास जाकर बिगड़ जाऊँगा—ख़राब हो जाऊँगा, तथा भाभी के जाने से सारे गाँव की जजमानी, पुरोहिताई और न्योतई जाती रहेगी और नाना घासीराम का नाम मिट जायगा।

चाहे जो बात रही हो, गाँववालों के समझाने-बुझाने से उन्होंने बड़ी कठिनता से नहीं से हाँ किया।

काका की बीमारी न होती, तो मेरी ख़ुशी का अंत न होता। जल्दी करते-करते पूरे पौने तीन दिन तक तैयारी हुई, सामान बाँधा। बड़ी कठिनाई थी कि क्या ले जायँ और क्या न ले जायँ। भाभी की भी अक़्ल काम नहीं करती थी। और हो कैसे—शहर का मामला ठहरा; कपड़े, लत्ते, जूता, टोपी, पेटी, पट्टी सभी चीज़ों की ज़रूरत—सब तो था मगर चश्मा नहीं मिलता था। पौने दो बरस हुए कि धूप का हरा चश्मा कार्त्तिकी स्नान में मौसिया ने साढ़े चार आने का ख़रीदा था और चलते समय भूल गए थे। उस समय से मैं उसको लखनऊ जाने के लिये सँभालकर रक्खे था कि शहर की बारीक़-बारीक़ नई-नई चीज़ें बिना उसके कैसे दिखलाई देंगी और चश्मा तो अब पोशाक और फ़ैशन में दाख़िल है। अब केवल हिसाब-किताब और ख़र्चे का सवाल रह गया, उससे मुझको क्या मतलब, मामा और भाभी जानें।

भाभी मुझसे सिर्फ़ पंद्रह वर्ष बड़ी थीं। तिलक और फलदान नाना ही ने लिया था। मैं सात वर्ष का था। मुझको कुछ हाल मालूम नहीं कि व्याह कितने में तय हुआ था। एक दफ़े भाभी और मामा में लड़ाई हुई थी। उस तकरार और कहासुनी में सुना था कि साढ़े तीन सौ रुपिया मिला था—मेरी कुलीनता का उस समय यही भाव रहा होगा—मामा ने तो यह मान लिया था कि तिलक में डेढ़ सौ रुपए थाली-गगरा और दो थान

गाड़ी के आए थे, बाक़ी रुपये झगड़े की वजह से नहीं मिले थे; भाभी कहती थीं कि सब रुपये मिले थे।

झगड़ा इस बात पर हुआ था कि खाने के लिये जब पत्तलें परोसी गई थीं, तब पितिया ससुर सबको देखने के लिये गए कि कोई कुजाति और निखड्डु जाति का तो पाँत में नहीं बैठ गया है। जब मामा के पास वह पहुँचे, तो उन्होंने ,गुस्सा होकर ज़ोर से कहा—"इस काने साले को क्यों लाए"। मामा को इस बात की बर्दाश्त कहाँ! उन्होंने भी आस्तीन चढ़ाकर तुरंत खड़े होकर कहना शुरू किया—"तू काना, तेरा बाप काना और तेरे सात पुरखे काने अंधे लूले लँगड़े औ तू......" यह कहते-कहते ही उनके दाँत कटकटाने लगे और वह अपने मुँह से कुछ ज़्यादा न कह सके। बस इसी पर सब झगड़ा शुरू हो गया। बड़ी लाठी चली और अंत में सब भूखे चले आए। उस दिन से आज तक भाभी अपने मैके नहीं गईं, न गौना हुआ, न थौना और न रौना।

साढ़े तीन सौ रुपए भैया शिवरतन के रेल से कट जाने पर सरकार से मिले थे। मेरी नाबालिग़ी में खुटीच मामा ने ज़मानत देकर वसूल किए थे। मेरे यहाँ से जाने से उनको भय था कि पुदई काका नालिश करके वसूल कर लेंगे। यह भी कारण था कि वह मेरे जाने की हामी नहीं भरते थे। भाभी के तक़ाज़े पर तक़ाज़े करने पर वह बहुत ख़फ़ा होकर गऊशाले में गए, नाँद खोदकर एक हँड़िया निकाली और जोश में आकर भाभी के आगे पटक दिया। उसमें तिहत्तर रुपए बारह आने निकले। बाक़ी का कोई हिसाब-किताब नहीं था।

गाँववाले सब उनको भौजी कहा करते थे और भौजी हँस दिया करती थीं; मगर जब कभी मेरी ज़बान से भौजी का नाम निकलता था, तो वह बहुत ख़फ़ा होतीं और जो चीज़ सामने होती वही खींच मारतीं। इससे मैं उनसे शुरू ही से डरा करता और दूर-ही-दूर रहा करता था; मगर अब मामा की लड़ाई से और रुपए-पैसे के हिसाब-किताब से भाभी की नज़र कुछ बदली। लहड़ू और गाड़ी की सवारी आई और सब असबाब लादा गया।

लखनऊ का जाना और पुदई काका का वारिस होना मामूली बात नहीं थी। गाँव के छोटे-बड़े मर्द-औरत बच्चे-बूढ़े सब हमारी भेंट को आए। चौबा पंडित ने उपदेश दिया कि भैया, लखनऊ में किसी से लड़ना-झगड़ना नहीं। सबसे हँसकर बोलना, लाला दरबारीलाल की सलाह थी कि हमेशा सबसे झुके रहना और अपने को दास और ग़ुलाम कहना। महाशय चुन्नीलाल की नसीहत थी कि अपने धर्म-कर्म में ठीक रहना और मुसलमानों से दूर रहना। उनसे हानि के सिवा लाभ नहीं हो सकता। इसी तरह सबने अपनी-अपनी शिक्षा दे-दे करके बिदा किया। इन सबके प्रेम से मेरी आँखों में आँसू डबडबा आए; मगर काका की बीमारी में जाना भी ज़रूरी था।

स्टेशन पहुँचे और असबाब मुसाफिरख़ाने में उतरा ही था कि रेलवालों ने "इधर नहीं, इधर नहीं" पुकारना शुरू किया। टिकट बाबू ने "असबाब बहुत ज़्यादा है" कहना शुरू किया और क़ुलियों ने, "चलो तौलाओ, चलो तौलाओ" की धूम मचा दी। जमादार को कुछ दे-लेकर पीछा छुड़ाया। इसके बाद टिकट बाबू ने पूछा—कहाँ जाओगे? लखनऊ का नाम सुनते ही उन्होंने कहा—"कलकत्ते-बंबई न जाओगे। बड़े लखनऊ जानेवाले, क्या किराया लाए हो?" छपे हुए टिकट से उन्होंने ड्योढ़ा महसूल लिया और बड़ी मुश्किल से टिकट दिया। तीन घंटे बैठे-बैठे थक गए, तब गाड़ी आई और हम तथा भौजी लखनऊ की गाड़ी में सवार हुए।

(२)

गोमतीजी में नहाने से गाँव की धूल-मट्टी सब धुल गई और लखनऊ की हवा लगते ही भौजी का दूसरा रंग खुल पड़ा। गाढ़े और खद्दर की धोती, क़ैसरबाग़ और गोमतीजी पर, वह केवल अपने ही बदन पर देखकर उसके ख़्याल के बोझ से ज़मीन में गड़ी जाती थीं और एक-एक क़दम चलना भारू था। घर आते ही हुक्म हुआ कि चौक से बढ़िया साड़ी और फ़ीता, जैसा कि मन्नू की मा की धोती में लगा है, आज ही तुरंत लाया जाय।

मैंने भी अपना ख़ाकी कोट, भैयावाला बूट, पट्टी-निकर पहनकर भौजी की धोती का साफ़ा बाँधा और हरा चश्मा लगाया, मगर उसका फ़्रेम न-मालूम सिकुड़ गया या छोटा हो गया था या मेरा सिर ही बड़ा हो गया था कि लगाते ही टूट गया। शहर में चश्मा ज़रूरी चीज़ है और बड़े-बड़े कोल्हू के बैल के चमड़े से मढ़े हुए

न मिलें, तो मैंने समझा था कि इस छोटे ही से काम निकल जायगा, मगर इसने तो ठीक समय पर धोखा दिया। मैं इसी उधेड़बुन में था कि उधर से दो-तीन लड़के निकले; वे मुझे देखकर "लकड़सुँघवा, लकड़सुँघवा" कहकर पुकारने लगे, और भागे। मैंने यह समझकर कि दौड़ने में कहीं गिर न पड़ें, एक को पकड़ लिया, तब और लड़के उसको छुड़ाने आए और मेरी ख़ुशामद करने लगे। एक ने कहा, "चश्मा देखें"। मैंने दे दिया। उसने तुरंत एक लाल फ़ीता उसमें बाँधकर अपने लगा लिया और बड़ा प्रसन्न हुआ कि सब हरा-ही-हरा दिखाई देता है। लड़के की इस चतुराई पर कि उसने उसे कैसी जल्दी बना लिया, मुझको बड़ा अचंभा हुआ।

मैं चश्मा लगाकर चला, पीछे से लड़के ताली बजाने लगे और न-मालूम क्या-क्या कहते रहे। चौराहे पर पहुँचा। इक्के, गाड़ी, ताँगेवाले ने घेर लिया और कहने लगे—"हज़रतगंज, चारबाग़-स्टेशन, आग़ामीर की ड्योढ़ी, विक्टोरियागंज, राजा की बाज़ार, नख़्ख़ास, चौक कहाँ चलिएगा?" चौक का नाम सुनते ही मैंने ताँगेवाले की तरफ़ देखा, उसने तुरंत मेरा हाथ पकड़कर ताँगे में ढकेल ही तो दिया। और लोग चिल्लाते ही रहे। "इधर आइए, इधर आइए, मैं चलता हूँ।" नख़्ख़ास में बाज़ार लगा था। तरह-तरह की चीज़ों की दुकानें पटरियों पर जमी थीं, और आदमी चीज़ों की देखभाल करके सौदा कर रहे थे। ताँगेवाले ने ताँगा रोका और सिगरेट लेने चला गया, मैं समझा कि यही चौक है। उतरकर खड़ा हुआ। वहाँ एक किताबों की दूकान थी। किताबें बहुत पुरानी थीं। बहुतों को दीमक चाट गई थी और जगह-जगह पर अपने निशान छोड़ गई थी। चुहिया ने भी कहीं-कहीं कुतरा था। इधर-उधर बहुतेरे लोग और लड़के किताबें देख रहे थे। किताबवाले ने लड़कों के हाथ से किताबें छीन लीं और डाँटा—"लेना एक न देना दो, घंटों से किताबें इधर-उधर कर रहे हो, चलो हटो।" और अगल-बगल के लोगों को भी हटाकर अपना पूरा ध्यान मेरी तरफ़ लगाया।

किताबवाला—"ऐ सरकार, देखिए हर तरह की किताबें अँगरेज़ी हिंदी उर्दू की बड़ी अनमोल और नायाब हैं।"

लड़कों की डाँट और उसकी बातचीत से मैं समझा कि यह बेढब आदमी है, इसलिये एक-आध किताब इसके यहाँ से ले लो। मैंने यों ही एक किताब उठा ली। इस पर एक आदमी की तस्वीर थी, बहुत बड़ी दाढ़ी, लंबा-चौड़ा मुँह, ऊँचा माथा, और ख़ास बात उसमें यह थी कि आँखें कान के नीचे थीं, सिर का भाग बहुत भारी, टाँगें बहुत छोटी और धड़ की छोटाई समता ही न थी।

मैं (तस्वीरवाले की तरफ़ देखकर)—"यह किसकी तस्वीर है?"

किताबवाला—"वाह हवलदार साहब, आप नहीं जानते, यह मेरे दादा के नाना की तस्वीर है। 'शेख़ चिल्ली' इनका नाम आपने सुना होगा।" यह कहकर वह आँखों में आँसू भर लाया और कहने लगा—"हाय अफ़सोस! ख़ुदा किसी के बुरे दिन न लाए। वालिद बुज़ुर्गवार इसको जान से ज़्यादा अज़ीज़ रखते थे, मख़मल के बस्ते में, जिसमें कि जरदोज़ी का काम था, यह किताब रक्खी जाती थी। किसी अजनबी आदमी की उस पर निगाह तक नहीं पड़ती थी। मगर वाह रे ज़माने की गर्दिश। मुफ़लिसी ग़रीबी और तंगदस्ती भी अजब चीज़ है और आज हमको यह चीज़ बाज़ार में रखनी पड़ती है। एक बड़े अकाल में बस्ते को एक जर्मन के हाथ ढाई सौ रुपए में दे दिया था। असली क़ीमत तो उसकी न-जाने क्या होती। इस किताब को आप ले लीजिए।"

ताँगेवाले ने जल्दी मचाना शुरू किया और मैं कुछ कह न सका। सोचता था कि अगर वापस कर दूँगा, तो शायद यह बड़बड़ाएगा; और अगर किताब लेता हूँ, तो न-जाने उसके लिये वह क्या माँगे। मैं ताँगे पर बैठ गया और उससे क़ीमत पूछा। सिवा इसके कि जो जी चाहे, वह आप ही मुनासिब समझकर दे दीजिए। और कुछ नहीं कहता था। मैंने दस रुपए का नोट जेब से निकालकर उसे दे दिया और कहा "जो वाजिबी दाम हो, ले लो और बाक़ी मुझको वापस दे दो। नोट तो उसने अपनी जेब में रक्खा और कहा—"ऐ हुज़ूर, यह आप क्या देते हैं? क्या मज़ाक करते हैं, पाँच सौ को तो मैंने यह किताब दी ही नहीं। कितनी ही ग़रीबी हो, फ़ाक़ों से मरता हूँ, तो भी कुछ इंतिहा भी तो हो।" अब तो मेरे होश जाते रहे। बहुत-से लोग जमा हो गए और तरह-तरह की बातें करने लगे। कोई मेरी तरफ़ से कहता था कि दस रुपए ठीक दिए और कोई कहता था कि पुरानी क़लमी किताब

हैं और एक-एक तस्वीर सौ-सौ रुपए की है । किसी दूकान में खड़े-खड़े एक अशरफ़ी फ़ी सफ़े के हिसाब से बेच दीजिए । और किसी ने दस रुपए से कम उसकी क़ीमत न तज़बीजी । मैं सब आदमियों से एक फ़ुट लंबा था, मेरा-ही-मेरा सिर भीड़ में दूर से दिखाई देता था । अजनवी आदमी और भीड़ देखकर कानिस्टिबिल भी आ गया और डाँटकर कहा—"शायरे आम पर दंगा-फ़साद करते हो ।"

किताबवाला—"अरे साहब देखिए, सुबह-सुबह बोहनी के वक़्त, तस्वीरदार हाथ की लिखी हुई पुरानी किताब को और दस रुपए में टरकाना चाहते हैं, फ़ौज़ी हवल्दार हैं तो क्या, ऐसी लूट ! आप ही फैसला कीजिए ।"

कानिस्टिबिल—"आख़िर क्या तय हुआ था और तुम क्या माँगते हो ?"

किताबवाला—"तय तो कुछ नहीं हुआ था, मगर मालूम तो हो कि किस हिसाब से यह दस रुपए देते हैं ।"

कानिस्टिबिल—हम यह कुछ नहीं जानता, हम दोनों का हंगामें में चालान कर देगा, चलो कोतवाली ।"

अब तो और भी आदमी जमा हो गए और उन लोगों को मज़ाक सूझा । कोई कहता था—"फँसा है चंडूल" । कोई कहता था—"मिर्ज़ा (किताबवाले का नाम) को अच्छा असामी मिला ।"

कानिस्टिबिल ने हम दोनों के नाम व पते लिख लिये, दो-चार आदमियों को गवाह बना लिया और भीड़ को सड़क से हटा दिया ।

धोती, बेल, गोटे और फीते के बजाय क्या झगड़ा मोल लिया ! लाचार ताँगेवाले से कहा—"वापस चलो ।" रास्ते-भर सोचता रहा कि भौजी को क्या मुँह दिखाऊँगा और किस तरह समझाऊँगा । आज बग़ैर मारे न छोड़ेगी ।

जैसे ही अंदर पहुँचा, उन्होंने पूछा—"धोती, बेल, फीते लाए ?" मैंने कहा—"नहीं" । नहीं का नाम सुनते ही वह आग बबूला हो गईं, अब उनको ताब कहाँ । चौके से दाल की बटलोई मेरे ऊपर फेंक दी और थाली को अलग पटक दिया; चूल्हे में पानी छोड़कर, लकड़ी लेकर मेरे पीछे दौड़ीं और कहने लगीं—"अभी किताब वापस करके मेरा नोट वापस लाओ । मैं डर के मारे भागा, पड़ोस-पड़ोस की औरतें गड़बड़ी सुनकर आ गईं; क्योंकि शहरों में यह भी नई बात थी । यह बात अच्छी थी कि मेरी जान बची । भौजी अपने-आप ही शरमा गईं और चुप हो गईं ।

मैं फिर ताँगे पर सवार होकर किताबवाले के यहाँ गया । वह अपनी दूकान बढ़ाकर मकान चला गया था । मैं पूछता-पूछता उसके मकान पर पहुँचा । दरवाज़े पर खड़ा हुआ आवाज़ देने ही जा रहा था, परंतु रुक गया; क्योंकि अंदर से आवाज़ आ रही थी । "आज एक चंडूल फँसा था, उससे दस रुपए का नोट मिला । एक रुपया कानिस्टिबिल को देना पड़ा, चार आने दलालों को, दस आने लाला भन्नामल ने नोट की भुनवाई ली और दो रुपए का घी, एक रुपए की चीनी, आठ आने के चावल, दो रुपए के और सटरम-पटरम सौदा लाया हूँ । लो बीबी ! आज ख़ूब कोरमा-पुलाव पकाओ । ख़ूब खाओ, ख़ूब पिलाओ, आज किसी अच्छे का मुँह देखा था ।"

मैंने अपने दिल में कहा—"वाहरे मियाँ, तुमने तो किसी अच्छे का मुँह देखा था कि जो तुम्हारे लिये हलवा-पूड़ी बने और मैंने न-जाने किस चांडाल का मुँह देखा था, जो मेरी दाल की हँडिया भी फेंक दी जाय । तुम मज़े उड़ाओ और मैं निराहार व्रत रहूँ । ताँगेवाले ने आवाज़ दी—"मिर्ज़ाजी, मिर्ज़ाजी, लंबरदार साहब आ गए ।"

मिर्ज़ा (अंदर से) कौन बेहूदा है कि ज़नाने में घुसा चला आता है, अलग बैठो, अभी आते हैं, देर नहीं हुई, आ पहुँचे, कोई कुर्की या वारंट लाए हो ?

घंटे, दो घंटे गुज़र गए । फिर आवाज़ दी—"मिर्ज़ाजी, मिर्ज़ाजी ज़रा सुन तो जाइए ।" अब तो मिर्ज़ाजी के ग़ुस्से की कोई इंतिहा न रही । बिगड़कर अंदर ही से बोले—"मियाँ ! तुम लोगों को कोई काम तो है ही नहीं, मैं तो थका-माँदा आया हूँ । खाना खाकर आराम कर लूँ, तो बाहर आऊँ और तुम्हारी सुनूँ । तुम तो ऐसा पीछे पड़े हो, जैसे तुम्हारा कर्ज़दार हूँ या कुर्की लाए हो ।"

लाचार फिर बाहर बैठ गया और ताँगावाला भी खाना खाने चला गया । अब मैं फिर इंतिज़ार करने लगा । एक घंटा और गुज़र गया । मैं उस समय कुछ सोता था, कुछ जागता था, जब एक आदमी अंदर से बहुत उम्दा अचकन, दुपल्ली टोपी, चूड़ीदार पाजामा, फूलदार

मोज़े और एक बहुत ही सुंदर पंपशू पहने हुए निकला और मुझको सलाम करता हुआ चला गया।

सूरत से तो कभी मैं ख़याल करता था कि यह कहीं किताबवाले मियाँ ही न हों, मगर जब कपड़े पर ध्यान देता था, तो समझता था कि यह कोई रईस या नवाब होगा। ज़रा देर बाद फिर आवाज़ लगाई—"मिर्ज़ाजी मिर्ज़ाजी"। मगर कोई आवाज़ ही न आई। इसके बाद फिर जंज़ीर खड़खड़ाई। इस दफ़े एक लड़की अंदर से आई और पूछा—"क्या काम है ?" मैंने कहा, मिर्ज़ाजी को ज़रा भेज दो।

इस पर लड़की ने कहा—अब्बा, अभी इधर ही से तो गए हैं। क्या आपसे मुलाक़ात नहीं हुई ? क्या आपने उन्हें नहीं देखा ? चलिए, अंदर बैठिए थोड़ी देर में वह आते होंगे।"

लड़की मुझको अंदर ले गई और एक कमरे में एक कुर्सी पर बिठला दिया। बगल के कमरे से एक औरत ने एक लड़की को बुलाया और कहा—"बेटा ! तुम्हारे अब्बा के कोई मिलनेवाले मालूम होते हैं, बाहर से तँबोली से कह दो कि किसी हिंदू के हाथ पान व तंबाकू और सिगरेट भेज दे।" मैं सोचता था कि एक बला से तो छुट्टी नहीं मिली, कोई दूसरी आफ़त में न फँस जाऊँ।

यकायक कमरे के अंदर का दरवाज़ा खुला और एक नौजवान लड़की मेरे सामने आकर खड़ी हो गई। ऐसी सुंदरी मैंने कभी देखी ही न थी। मैं हक्का-बक्का रह गया और मेरे होश-हवाश जाते रहे। उसने मेरी घबराहट देखकर कहा—"यह आप ही का मकान है, कोई घबड़ाने की बात नहीं, कोई डर की बात नहीं। क्या अब्बा से कोई ज़रूरी काम है ?" और उसने मेरी गर्दन में हाथ डाल दिया।

मैं (गिड़गिड़ाते हुए) न............हीं......और कुछ ज़्यादा न बोल सका, घबराहट से मेरे पसीना बहने लगा और क़रीब था कि मैं चक्कर खाकर गिर पड़ूँ। औरत ने मेरी यह हालत देखकर कुछ हमदर्दी, कुछ मुस्कुराहट और कुछ शरारत से कहा—"मियाँ, आपकी तबियत ख़राब मालूम होती है, पलँग पर लेट जाइए।"

मुझको जाड़ा-बुख़ार चढ़ आया और मेरा सारा शरीर कंपायमान हो गया।

"मैं तुम्हारा दास हूँ, मैं तुम्हारा गुलाम हूँ, मुझे छोड़ दो, मुझे छुओ नहीं, मैं पंडित हूँ, मैं बेधर्म हो जाऊँगा, भौजी सुनेंगी तो निकाल देंगी"—यह कहता हुआ मैं चारपाई पर गिर पड़ा।

औरत—"नहीं, नहीं, आपको हम बादशाह बनाएँगे, आप हमारे मालिक हैं.........।"

तँबोली का लड़का पान लेकर आया, हँसकर बोला—"हाँ-हाँ चिड़ी का बादशाह बनाओ, अब तो रंग गहरा है बीबी।" (धीरे से) "पान की बीबी, अब तो हमको भी कुछ मिल जाय।"

पसीने से मेरा कोट तर-बतर हो गया था। उसके बटन खोलकर उसने खूँटी पर टाँग दिया। लड़की ने कोट की जेब से सवा नौ आने निकालकर लड़के को दे दिए और कहा—"अब तुम्हारा हिसाब साफ़।"

लड़का हलवाई की दूकान और दादाजी का फ़ातेहा कहता हुआ हँसता चला गया।

औरत ने मेरे बूट भी खोल दिए और मुझको चारपाई पर लिटा दिया। फिर मुझको कुछ होश न रहा। अब तो औरत भी घबराई और पंखा झलने लगी।

(२)

मिर्ज़ाजी के तीन लड़कियाँ थीं—आमना, आबदा और शायरा। आमना और आबदा की शादी हो गई थी, मगर वह उन्हीं के साथ रहती थी। मिर्ज़ा बड़े ख़ानदानी आदमी थे। इनके दादा के बाबा मिर्ज़ा हिमाक़तबेग कर्नाल से लखनऊ में आकर आबाद हुए थे। मिर्ज़ाजी शौक़ीन और बावज़ा आदमी थे। खाने-पीने के लिये उन्हें प्राँय: कोई फ़िक्र नहीं थी। उसका इंतिज़ाम बीबी और लड़कियों के सिपुर्द था। हाँ, जब कभी ग़ैर-मामूली बिक्री हो गई या कोई नया असामी फँस गया या कहीं से कर्ज़ मिल गया, तो थिएटर-सिनेमा से अगर कुछ बच जाता, तो अलबत्ता बाज़ार से कुछ ले आते।

वज़ेदार इस क़दर थे कि कभी किसी से भीख नहीं माँगी और कर्ज़ माँगने में कभी उन्होंने शर्म नहीं की। कोई हिंदू हुआ, तो कहा करते थे—"भैया मूल-सूद दर-सूद और दस-पाँच रुपया ज़्यादा, पाई-पाई का हिसाब करके अदा व बेबाक कर देंगे।" और अगर कोई मुसलमान हुआ, तो कर्ज़ लेने पर कहते—"कर्ज़ का बोझ मिर्ज़ा

…ने सिर पर न ले जायँगे । गाढ़े समय में तुम मेरे काम आए, भला मैं तुम्हारे साथ बेईमानी करूँगा ।"

मगर कुछ ऐसा समय आ जाता था कि क़र्ज़ा बजाय कम होने के बढ़ता जाता था । और, अगर इस समय सरकारी ब्रिटिश-अदालतों की मेहरबानी और मदद न होती, तो बड़े-बड़े एम्० ए०, बी० ए० हिसाबदाँ जोड़ और बाक़ी न लगा सकते ।

जब अदालतों में डिगरियाँ होतीं और बजाय ७५ प्रति सैकड़े सूद के ६ फ़ी सदी सूद रह जाता, तब क़र्ज़े मिर्ज़ाजी कुछ हलके हो जाते और समय भी कुछ उनकी मदद करता । कुछ डिगरियाँ तीन वर्ष में और कुछ डिगरियाँ बारह वर्ष में ख़ुद-ब-ख़ुद अदा हो जातीं । एक-एक मरतबा तो डिगरीदारों की बदौलत कपड़े और खाने भी मिल गए, कुछ दिन सरकारी मेहमान भी रहे; क्योंकि इसमें कोई हर्ज़ नहीं । अदालत से रोज़ ही सम्मन और नोटिस आया-जाया करते थे, दस-पाँच मरतबा अदालत में भी मिर्ज़ाजी हाज़िर हुए और जब कभी जज या मुंसिफ़ ने पूछा कि क़र्ज़ा लिया और दावा हुई ठीक है, क्या उज़ुर रखते हो । फ़ौरन् मिर्ज़ाजी जवाब देते—"क़र्ज़ा हिसाब और दावा बिलकुल ठीक है । देने में कोई उज्र नहीं । इंतज़ाम कर रहा हूँ, बहुत जल्दी अदा कर दूँगा । डिगरी दी जाय ।" कभी अदालत में झूठ नहीं बोले । अगर अदालत से कोई कुर्क़ी गई, तो सब घर-बार चपरासियों के सिपुर्द कर दिया और आप बाहर कहीं या कहीं चले गए । डिगरीदार ने भी इतमीनान कर लिया कि सिवा एक तवे के जिसमें सिर्फ़ दो-तीन छेद होंगे और चार मिट्टी के घड़ों के व दो-तीन चारपाइयों के मकान बिलकुल साफ़ रहता है ।

मिर्ज़ाजी एक दफ़ा जिससे क़र्ज़ा लेते थे, उससे फिर कभी नहीं माँगते थे । अगर वह बुलाता भी, तो कह देते कि भैया, अब तुमसे क़र्ज़ा न लेंगे, तुम्हारा रुपया मालूम नहीं कैसा है कि सिवा चढ़ने के उतरता ही नहीं, तुम्हारे सिवा मैं किसी का क़र्ज़दार नहीं हूँ । अबके वसीक़ा मिला और तुम्हारा हिसाब पाई-पाई बेबाक़ किया । उसको बोलने का मौक़ा ही नहीं देते थे कि वह अपना पहला क़र्ज़ा माँग सके । कभी उधर से जाते या रास्ते में मिल जाते, तो आदाब व तस्लीमात कर लेते थे ।

मिर्ज़ाजी आम व ख़रबूज़े की फ़सल छोड़कर कभी खाने-पीने के लिये फ़िक्र नहीं करते थे, मगर थिएटर का इनको इस क़दर शौक़ था कि बग़ैर देखे उनको चैन ही नहीं पड़ती थी । अगर टिकट के दाम हुए, तो ख़ैर; वर्ना एक-आध सीन के बाद आँख बचाकर अंदर दाख़िल हो जाते थे, और अगर ऐसा भी मौक़ा न मिलता, तो चाहे चिल्ले का जाड़ा ही क्यों न हो, बाहर के पर्दे के सूराख़ों के पार खड़े होकर तमाशा देखते । अगर यह भी न होता, तो गाना ही सुनकर थिएटर का लुत्फ़ उठाते !

मगर वाह रे लखनऊ, जिस समय और जिस क़दर चाहो, रुपया उधार मिल जाता है, सिर्फ़ सूद का सवाल; वह क्या ! कहीं एक आने—कहीं दो आने रुपया माहवार । यह कोई रुकावट की बात रईस, नवाब या वसीक़ेदारों के लिये नहीं हो सकती; बस, समय पर मिल जाय ।

इस तरीक़े से मिर्ज़ाजी ने सब महाजनों के बहीखातों में लिखा रक्खा था और ऐसे-वैसे मुलाक़ाती-दोस्तों का तो कोई हिसाब-किताब ही न था, जो समय पर पुराना रईस, नवाब या वसीक़ेदार समझकर मदद के तौर पर क़र्ज़ा दे दिया करते थे ।

मिर्ज़ाजी में यह बात बहुत अच्छी थी कि जब कभी पान या सिगरेट ख़रीदते, तो जिस क़दर आदमी उस जगह खड़े होते, उनसे चाहे जान-पहचान हो या न हो, उन सबको बाँटते । कपड़े, सूरत-शक्ल से तो लोग उन्हें रईस या नवाब जानते और उनकी इस ख़ातिरदारी से और भी उनके दोस्त बन जाते, उनकी तरफ़ खिंच जाते और ख़ुद-ब-ख़ुद उनके जाल में फँसकर धोखे और भूल में पड़ जाते । परंतु जब कभी और किसी चीज़ के ख़रीदने की ज़रूरत होती, तो अपनी जेब में हाथ डालते और जब कुछ न निकलता, तो सोचने लगते और फ़िक्र से कहते—आह ! मैं मनीबेग घर पर भूल आया हूँ या किसी ने मेरी जेब से निकाल लिया है, क्या बताएँ, बड़ा धोखा हुआ । थिएटर जाना था, क्या करें, और चुपचाप सुन्न होकर मूर्ति की तरह से बन जाते थे । अगर किसी ने अपने-आप ही कह दिया कि हमारे पास रुपया मौजूद है, लीजिए, तब तो वाह-वाह क्या कहना; नहीं तो ख़ुद पूँछते, भाई तुम्हारे पास कुछ है, हो तो एक घंटे के लिये देना, अभी मँगाकर तुमको दे दूँगा । इस

तरीक़े से अपना काम निकालने, कुछ ख़र्च करके अपना दोस्त बनाते और अपना व उनका हिसाब एक ही करते। दो-चार रुपए के लिये कोई क्या कहता; मगर मिर्ज़ा का काम इस तरीक़े से चला करता था। अगर कभी कोई ऐसा बेढब आदमी हुआ कि उसने तक़ाज़ा किया या रुपया वापस माँगा और मिर्ज़ाजी के टाले न टला, तो उसको मकान ले जाते, ख़ुद अंदर जाकर बीबी व लड़कियों पर ख़फ़ा होने लगते कि तुमने रुपए का बटुआ मेरी जेब से निकाल लिया, इससे मुझको बड़ी परेशानी हुई। एक दोस्त से क़र्ज़ा लेना पड़ा, लाओ, अभी लाओ।

क़ाज़ी के घर के तो चूहे भी सयाने हुआ करते हैं, बीबी कहती कि रुपए बक्स में रख दिए हैं, ताली नहीं मिलती या कह देती कि चाबी नौकर लेकर चला गया है। अभी आता होगा। मिर्ज़ाजी बहुत ही चीख़ते-चिल्लाते और पुकारते, कभी-कभी धौल-धप्पा भी करते और घर में एक कोहराम-सा मच जाता। ये बातें इस तरीक़े से की जातीं कि बाहर का आदमी भी सब सुन सके, अगर उसने ख़ुद मिर्ज़ाजी को आवाज़ दी और लड़ाई-झगड़े को मना किया, तो ख़ैर, वर्ना कोई लड़की बाहर आ जाती और वही घबराहट से आनेवालों से कहती कि ज़रा चल के अब्बा को समझाइए और हम लोगों की जान बचाइए। अब्बा, अम्मीजान और हम लोगों को रुपए के लिये मारे डालते हैं और "नए दोस्त" का भी हाथ पकड़कर अंदर ले जाती। वह बेचारा मिर्ज़ाजी के ग़ुस्से और उनके हाथ में हंटर या छुरा देख, बीबी के रोने और फ़रियाद से घबरा जाता और फिर मिर्ज़ाजी को समझाता।

मिर्ज़ाजी अब तो और शेर हो जाते और उनका ग़ुस्सा इस क़दर बढ़ जाता कि शायद कभी किसी को असली मौक़े पर ऐसा आया हो; कहते, उफ़! इस औरत ने मेरी इज़्ज़त-आबरू मिट्टी में मिला दी, मुझको ऐसी शर्मिंदगी और ज़िल्लत उम्र-भर में कभी नहीं हुई थी, और ग़श खाकर गिर पड़ते।

बहुत-से लोग इसको थिएटर का सीन कहेंगे या इसको सच्ची घटना समझेंगे। कुछ भी हो, शायद ही कोई ऐसा कठोर और असभ्य होगा, जो ऐसी दशा में फिर मिर्ज़ाजी से तक़ाज़ा कर सके।

थिएटर जाना भी मिर्ज़ाजी का बेसबब या बेकार न था; क्योंकि ऐसे-ऐसे खेल मिर्ज़ाजी रोज़ खेला करते थे। कभी-कभी तो ऐसा होता था कि मिर्ज़ाजी होश आते ही बकते-झकते मकान से बाहर निकल जाते और अपने नए दोस्त को भूल जाते।

औरतें और लड़कियाँ अपने मेहमान की बहुत एहसानमंद होतीं, शुक्रिया अदा करतीं, धन्यवाद देतीं और हर तरह का ख़ातिर-तवाज़ा करके उनको मोहजाल में फँसाकर अपना काम चलातीं।

कभी-कभी तो ऐसा भी हुआ है कि कई एक ताल्लुक़ेदार और रईस आ फँसे और निकाह व मुताह भी लड़कियों के साथ हो गया, मगर उनको अभी तक घर से जाने की नौबत नहीं आई; और बहुत-से ऐसे मन-चले थे कि इस दोस्ती से फ़ायदा उठाकर दूसरे-तीसरे दिन आया-जाया करते थे। इस तरीक़े से इस शरीफ़ ख़ानदान और सफ़ेदपोश लखनऊ के वसीक़ेदार रईस-नवाब की गुज़र-बसर होती थी।

× × ×

पंडितजी को होश न आया और बुख़ार चढ़ता ही गया। अब तो औरत बहुत घबराई और अपनी माँ को भी बुलाकर दिखलाया। बड़ा अंदेशा और डर यह था कि अगर यह आदमी यहीं मर गया, तो सब लोग फँसेंगे और पुलिसवाले जो, पहले ही से हम लोगों के जाल-फ़रेब और ठगी से वाक़िफ़ हैं, न-मालूम क्या करेंगे। बड़ी देर तक आपस में सलाह होती रही और आख़िर यह तय हुआ कि ख़लीफ़ा मम्मन को बुलाकर दिखाया जाय।

मियाँ मम्मन हज्जाम थे, पड़ोस में रहते थे और दवा-दारू भी किया करते थे। कोई मर्ज़ क्यों न हो, तीन ही ख़ूराक में अच्छा कर देते थे। वह आए और ब्रह्मचारीजी की नब्ज़ देखकर कहा कि इनकी हालत बहुत ख़राब है, एक सौ बारह दर्जे का बुख़ार है, इनकी फ़स्द खोली जाय और ख़ून की हिद्दत कुछ कम हो, तब अलबत्ता बुख़ार उतर सकता है; वर्ना सरसाम हो जायगा। हालत बहुत ख़राब है—जान का ख़तरा है।

प्रयागदास भार्गव

मनोरंजक प्रश्नोत्तर

उद्धव

जीवन-निसा में सोवती हौ मोह नींद लाय,
भव-भ्रम-भावना तुम्हें यौं भरमावै है।
उर उपजावै भाव बासना बिचित्र जैसे,
चित्र तैसे चित्रित कै कल्पना दिखावै है।
जग लखौ त्यों अपने कौ सपने कौ साँच,
मति-गति बावरी न रावरी चेतावै है।
माया ह्वै सहेली पढ़ि प्रेम की पहेली अरी!
साँच कौ असाँच कै असाँच कौ सँचावै है।

गोपी

ऊधौजू असंगत-बिधान भरो ज्ञान-ग्रंथ,
कौन पंथवारे गुरु ज्ञानी ढिग बाँचो है।
ह्वै कै सच्चिदानँद जो अलख अरूप ब्रह्म,
सत्य-ज्ञान-आनँद महानद सों राँचो है।
यह जग तामैं जग तामैं सोई व्याप्यो जुपै,
कैसे तौ 'रसाल' बिश्व मिथ्या यह जाँचो है,
साँचो है न जग, तौ हमारो न्याव सूधो कहै,
ऊधौजू तिहारो हू न ब्रह्म कछू साँचो है।

रामशंकर शुक्ल 'रसाल'

मध्यप्रांत के हिंदी-लेखक और कवि

उपक्रम

'मध्यप्रांत' भारतवर्ष का एक ऐसा भाग है, जिसके गौरव को किसी राष्ट्रीयता या प्रकृति के मस्ताने कवि की बाँसुरी ने विस्मृत होकर नहीं गाया। रवि बाबू के समान सौंदर्य के उपासक कवि भी जब "नील-सिंधु-जल-धौत चरण-तल" की रागिनी, गाते हैं, तब वह भी यही स्वरगुंजार कर चुप हो जाते हैं—

"पंजाब-सिंध-गुजरात-मराठा द्राविड़-उत्कल-बंगे!
विन्ध्य-हिमाचल-यमुना-गंगा उच्छल-जलधि-तरंगे!!

कविवर के लिये 'विंध्य' की अटवी को अपने मस्तक पर धारण करनेवाली भूमि और उसके हृदय पर थिरकनेवाली रेवा की अठखेलियाँ मानों सहृदय राष्ट्रीयता को स्पर्श ही नहीं करतीं। यहाँ हम कवि-विशेष की अनुभूति की सचाई पर पक्षपात की धूलि नहीं बखेर रहे हैं। असल बात यह है कि 'मध्यप्रांत'—नाम में हमारे ऐतिहासिक या धार्मिक गौरव को स्मरण दिलाने का कोई आकर्षण भी तो नहीं है। यह नाम जब सन् १८५७ का ग़दर शांत हो गया, तब सन् १८६१ में शासन-व्यवस्था की सुविधा के लिये अँगरेज़ों द्वारा गढ़ा गया। उस समय नर्मदा, सागर, छत्तीसगढ़, संबलपुर, नागपुर तथा निमाड़ विभागों का नाम 'मध्यप्रांत' रक्खा गया। बरार तो सन् १९०३ में प्रांत का एक हिस्सा बना। एक बात और है। मध्यप्रांत में भिन्न-भिन्न प्रांतों के भाषा-भाषियों के आ बसने और उनका अपने वंश-स्थानों से हार्दिक स्नेह अत्यधिक रहने के कारण किसी ने इसके साथ आत्मीयता का अनुभव नहीं किया। जिस तरह बंगाल, संयुक्तप्रांत, पंजाब आदि प्रांतों को "आमार बंगभूमि", "हमार हिंदुस्थान", "हमारे पणजाब" का गौरव प्राप्त है, उस प्रकार मध्यप्रांत को नहीं।

इधर कुछ वर्षों से मध्यप्रांत में प्रांतीयता के भाव कुछ लोगों में जगने लगे हैं। कई वर्षों तक इस प्रांत में बसने के उपरांत उनमें इस भावना का उदय होना कोई

अस्वाभाविक बात भी नहीं है। प्रांतीयता राष्ट्रीयता के उत्कर्ष में सहायक होती है या उसके पतन का कारण बनती है, इस प्रश्न की गुत्थियाँ यहाँ सुलझाने का हमें अवकाश नहीं है और न यह हमारा काम ही है; परंतु यह सच है कि अन्य प्रांतों के समान इस प्रांत में भी प्रांतीयता का उभार आया है और उसे कोई रोक भी नहीं सकता। हम तो यहाँ तक कहते हैं कि उसको रोकना मानव-प्रकृति की स्वाभाविकता के साथ अन्याय करना होगा।

मध्यप्रांत की आज जो शासकीय रूप-रेखा है, उसका भौगोलिक दृष्टि से इस प्रकार विभाजन किया जा सकता है—

(१) नर्मदा की घाटी—यह भाग 'शस्य-श्यामला' भूमि माना जाता है।

(२) छत्तीसगढ़ का मैदान।

(३) मराठा-मैदान—बरार और नागपुर का हिस्सा।

(४) सतपुड़ा की उच्च-समभूमि—इस भाग में अशिक्षित और जंगली लोगों की आबादी है।

(५) छत्तीसगढ़ की रियासत।

सन् १९२१ की जन-संख्या-रिपोर्ट के अनुसार प्रांत की आबादी १,५१,७९,६०० है। प्रांत में ऐसे शहर जिनकी आबादी २० हज़ार से अधिक है, केवल बारह हैं। प्रांत में जबलपुर और नागपुर ही ऐसे शहर हैं, जिनकी जन-संख्या एक लाख से ऊपर है। प्रांत की मुख्य भाषाएँ तीन हैं—हिंदी, मराठी और गोंडी। हिंदी बोलने-वालों की संख्या ८८,८९,००० है। यहाँ जो हिंदी बोली जाती है, वह तीन भागों में प्रमुखतः विभाजित की जा सकती है—(१) पूर्वी हिंदी अर्थात् अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी, (२) पश्चिमी हिंदी अर्थात् बुंदेली, पंजाबी, हिंदुस्थानी और कन्नौजी, (३) राजस्थानी अर्थात् निमाड़ी, मारवाड़ी और बंजारी। नीचे हम पाठकों के मनोरंजनार्थ 'मध्यप्रांत-मरीचिका' से यहाँ की हिंदी बोली के कुछ नमूने देते हैं—

शुद्ध हिंदी—किसी आदमी के दो लड़के थे।

सागर की बुंदेली में—एक जने के दो लरका हते।

नरसिंहपुर की बुंदेली में—कोई आदमी के दो मोड़ा हते।

दमोह की बुंदेली में—कोई मनखे के दो लरका हते।

बालाघाट की लोधी में—एक आदमी ख दो लड़का थे।

भंडारा की पवारी में—एक मानुसला दुई बेटा होता।

नागपुरी हिंदी में—एक आदमी के दो पोरया हते।

छत्तीसगढ़ी में—कोनो आदमी खे दू छोकरा रहिस है।

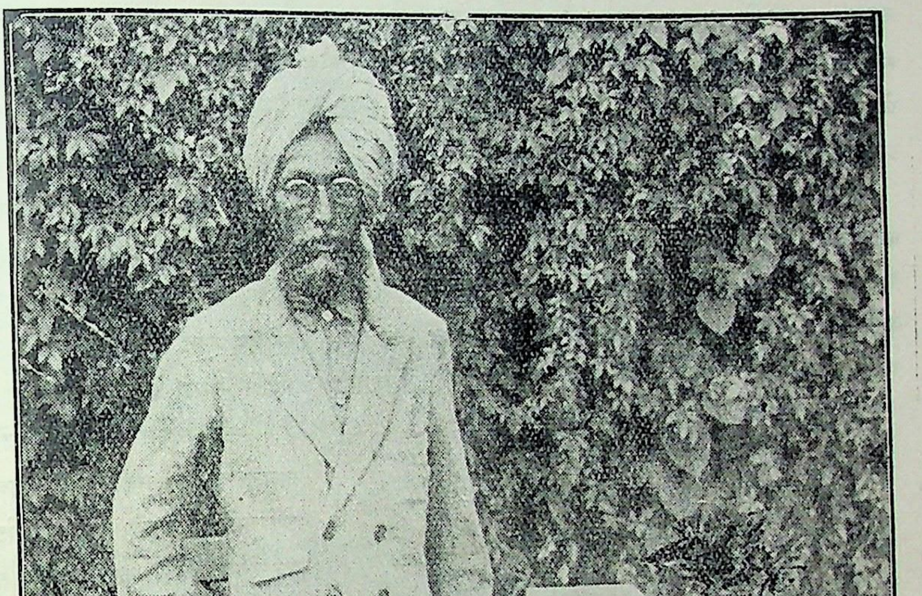
ऊपर लिखे उदाहरणों से प्रकट होता है कि मध्यप्रांत की हिंदी, मराठी और उड़िया से अधिक प्रभावित हुई; लेकिन जब हम यह कहते हैं कि प्रांत की हिंदी पर इन तीन भाषाओं का प्रभाव पड़ा, तब हम भाषा-शास्त्र के उस सिद्धांत की चर्चा नहीं कर रहे हैं, जो उड़िया को भी हिंदी का एक रूप मानता है। यहाँ हम इसकी स्थूल रूप में ही चर्चा कर रहे हैं। देश के इस हिस्से में समय-समय पर मुसलमानों का आगमन तो होता रहा, परंतु पंजाब या युक्तप्रांत के समान वे अपनी संस्कृति और भाषा का असर यहाँ स्थायी न डाल सके। यही कारण है कि यहाँ की हिंदी, उर्दू के 'शीन-क़ाफ़ों' से अछूती बनी हुई है। सच पूछा जाय, तो शुद्ध हिंदी का क्षेत्र मध्यप्रांत के उत्तरीय ज़िले ही हैं।

प्राचीन काल में सब जगह पद्य-साहित्य का जन्म और विकास हुआ है। हिंदी-साहित्य का श्रीगणेश भी पद्य से ही हुआ था। परंतु यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि विंध्याचल और सतपुड़ा की उपत्यका में किस 'क्रौंच' की विरह-व्यथा को देख किस हिंदी के वाल्मीकि का 'अनुष्टुप छंद' प्रवाहित हुआ। प्रांत के वृद्ध साहित्य-सेवियों की स्मृतियाँ सागर की ओर इंगित कर रह जाती हैं। कहा जाता है, सागर के 'राजाओं के' आश्रय में अनेक कवि पनपे। धुँधली स्मृतियों के सहारे हम प्रांत के प्रथम गायक के निकट, उसके गान की ध्वनि के अभाव में, पहुँचने में अपने को असमर्थ पाते हैं। कहा जाता है, पद्माकर इसी प्रांत के बहुत प्राचीन कवि हैं। "कर्मवीर" के ११ सितंबर सन् १९२० के अंक में पंडित लोचनप्रसाद पांडेय का 'कवि पद्माकर और महीप रघुनाथ-राव'-शीर्षक एक निबंध प्रकाशित हुआ है, जिसमें विविध प्रमाणों के आधार पर कवि पद्माकर का जन्म सागर माना गया है और उनके आश्रय-प्रदाता महीप रघुनाथराव माने गए हैं। पद्माकर के कवित्तों में भी

महीप रघुनाथराव, का उल्लेख आया है। पद्माकर की भाषा आकर्षक, वाक्य-विन्यास उत्तम और शैली अनुप्रासपूर्ण है। पद्माकर का जन्म सन् १७५३ ईस्वी में हुआ था। परंतु हम नहीं कह सकते कि पद्माकर ही प्रांत के सर्वप्रथम कवि हैं। पद्माकर के पहले ऐसे कवि प्रांत में अवश्य हुए होंगे। परंतु खेद है कि उनके विषय में हमें कोई ज्ञान नहीं है। पद्माकर के वंश में कुछ कवि और भी हुए, पर वे पद्माकर के समान "सर्वव्यापी" न हो सके। चूड़ामणि-चम्पक, नवरसभक्ति-चिंतामणि, खूब-तमाशा आदि ग्रंथों के लेखक पंडित चंद्रगोपाल मिश्र संभवतः सन् १६६४ से सन् १६८६ की अवधि में हुए हैं। सागर के राजा छत्रसाल को भी कविता करने का शौक़ था। पद्माकर के संबंध में एक बात छूटी जाती है। पद्माकर के पिता मोहनलाल, जो संवत् १७४३ में बाँदे में उत्पन्न हुए थे और जो अप्पा साहब रघुनाथराव के मुसाहिब थे, साधारणतः अच्छी "कविताई" कर लेते थे। सारंगगढ़ के पंडित पहाद दुबे (सन् १७८१ के क़रीब) साधारण कवि हो गए हैं। रतनपुर के रेवाराम सत्रहवीं शताब्दी में अच्छे कवि हो गए हैं। अठारहवीं सदी में शुकदेव कवि ने पिंगल और किसी रूपशाह कवि ने अलंकार, पिंगल, ऋतु-वर्णन आदि ग्रंथों की रचना की है। उन्नीसवीं शताब्दी में खैरागढ़ में उमराव बख़्शी ने अलंकारमाला, हनुमाननाटक, जानकी-पंचासिका आदि ग्रंथों की रचना की। "मध्यप्रांत-मरीचिका" में छुईखदान के राजा महंत लक्ष्मणदासजी की कविता का एक अंश उद्धृत हुआ है—

"वंसी बाजि रहीं आवन को।
सुंदर बदन, कमल-दल-लोचन, हम ठाढ़ीं छवि-टाकि लावन को।"

पता नहीं, लक्ष्मणदासजी कब हुए, परंतु इन पंक्तियों

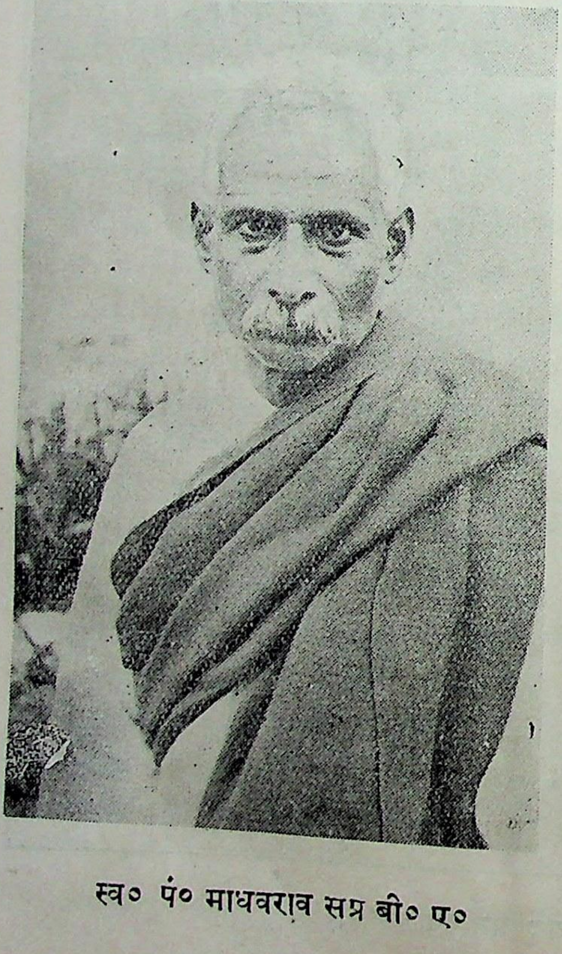


सैयद अमीरअली 'मीर'

की गठन से प्रतीत होता है कि इनका रचना-काल बहुत पुराना नहीं है।

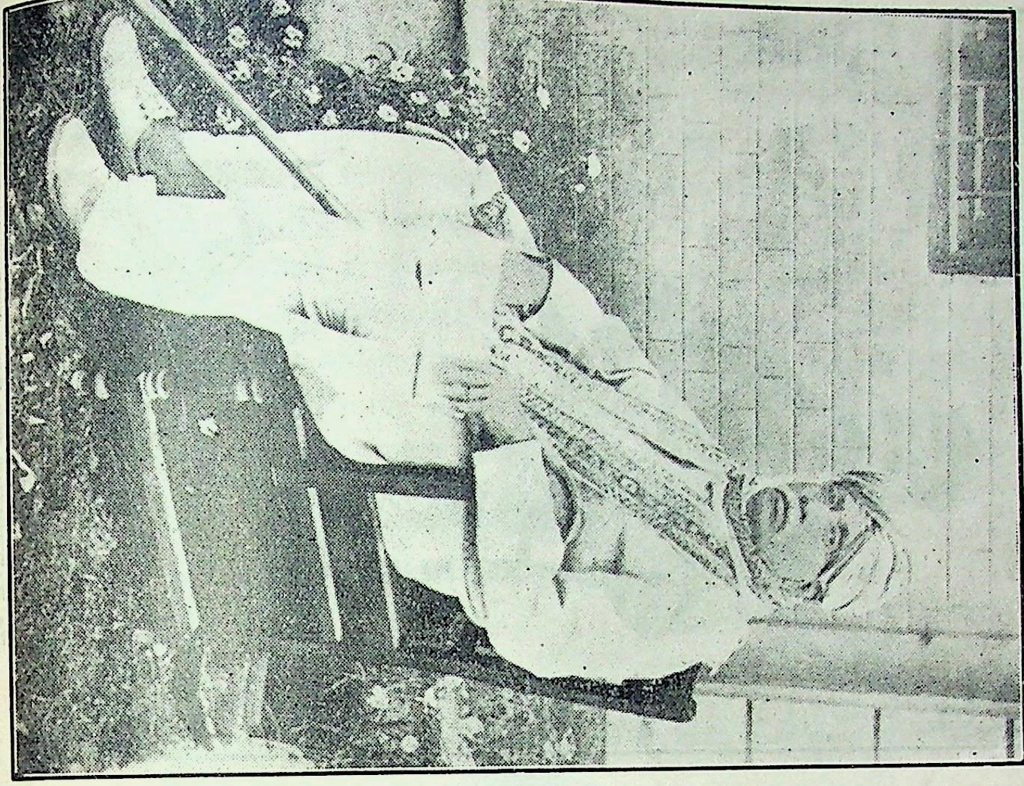
प्रांत के पुराने गद्य-लेखकों में सबसे अधिक आदरणीय विजय-राघवगढ़ के ठाकुर जगमोहनसिंह की गणना की जा सकती है। आप भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के समकालीन ही न थे, वरन् आप उनके परम मित्र भी थे। पद्य में भी आपकी गति कम न थी। परंतु आप गद्य-लेखक के नाते ही अधिक समादरणीय हुए। "श्यामा-स्वम" आपकी उत्कृष्ट रचना है। इसके अलावा ठाकुर साहब ने प्रेम-संपत्तिलता, ऋतु-संहार, कुमार-संभव, प्रेमहजारा, श्याम-सरोजिनी, प्रलय, ज्ञान-प्रदीप आदि ग्रंथों की भी रचना की।

अब हम आधुनिक-काल के कुछ प्रतिष्ठित लेखकों और कवियों की कृतियों पर सरसरी नज़र डालकर इस वक्तव्य को समाप्त करते हैं। प्रांत के कवियों में, जिन्होंने प्राचीन कविता के साथ अपनी तन्मयता प्रदर्शित की है, श्रीजगन्नाथप्रसाद 'भानु' का नाम हिंदी-जगत् में काफ़ी



स्व० पं० माधवराव सप्रे बी० ए०

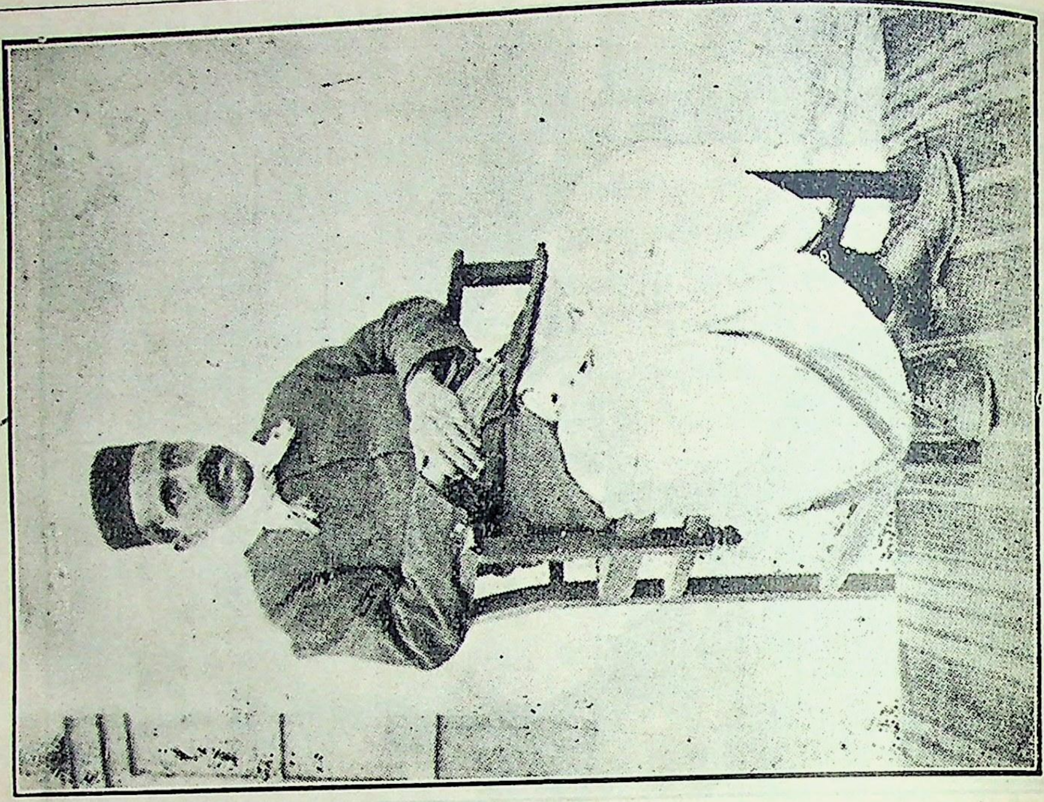
परिचित है। आपने छंदःशास्त्र पर हिंदी में कई पुस्तकों की रचना की है। आपके छंदःप्रभाकर और काव्य-प्रभाकर ग्रंथों को पढ़कर हिंदी में कवि बननेवालों की कमी नहीं है! आपने प्रांत के कवियों को प्रोत्साहन भी दिया है। आपके नाम पर प्रांत के कई स्थानों में कवि-समाज ('भानु'-कवि समाज) भी स्थापित हुए हैं। श्रीसैयद अमीरअली 'मीर' की रचनाओं में भाषा की सफ़ाई, और भावों की स्पष्टता ग़ज़ब की होती है। कहा जाता है, आपने 'भानु'जी के कुछ ग्रंथों के प्रणयन में कम सहायता नहीं दी। स्वर्गीय पंडित माधवरावजी सप्रे ने प्रांत की राजनैतिक जागृति में आदरणीय सेवाएँ की हैं। अतएव आपके जीवन का प्रतिबिंब आपकी रचनाओं पर स्वभावतः ही पड़ा। 'हिंदी-केसरी' की गर्जना में आपकी कीर्ति सबसे पहले सुन पड़ी। तिलक-गीता के हिंदी-रूपान्तर के पश्चात् तो हिंदी-जगत् ने आपका साहित्यिक लोहा मान ही लिया था। रायबहादुर हीरालाल बी०ए० हिंदी तथा अँगरेज़ी के पुरातत्व-विषय के प्रसिद्ध लेखक हैं। इस दिशा में आपने जो कार्य किया है, उसे हिंदी-जगत् कभी नहीं भूल सकता। पंडित गंगाप्रसादजी अग्निहोत्री अच्छे काव्य-मर्मज्ञ और गो-साहित्य के मशहूर लेखक हैं। स्वर्गीय पंडित विनायकराव प्रांत के मान्य टीकाकार हैं। रामायण के प्रायः सभी कांडों पर आपने ऐसी टीका की है, जिसके जोड़ की अन्य टीका हिंदी में नहीं है। पंडित कामताप्रसाद गुरु प्रसिद्ध वैयाकरण और कवि हैं। आपकी कविताएँ व्याकरण-शुद्ध तथा छंद-शास्त्र के नियमों के ढाँचे में बिलकुल ढली हुई रहती हैं। पंडित सुखराम चौबे 'गुणाकर' हिंदी के बहुत पुराने सेवक हैं। आपका नाम बाल-साहित्य के सर्वोच्च लेखकों में लिया जाता है। आपकी रचनाओं को पढ़ने से विदित होता है कि आपने बाल-मनोवृत्ति का ख़ूब बारीक़ अध्ययन किया है। पंडित माखनलाल चतुर्वेदी का नाम हिंदी-कविता-क्षेत्र में नवयुवकों के लिये स्फूर्ति की चीज़ है। आपकी रचनाओं की अभिव्यंजना अपने ढंग की निराली है। कविता के नए स्कूल के अनुयायी आपकी रचनाओं को स्नेह, सम्मान और Envy (ईर्ष्या) की दृष्टि से देखते हैं। आपका 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नाटक हिंदी के नाट्य-साहित्य की अमूल्य वस्तु है। गद्य भी आप एक अजीब ढंग से लिखते हैं। ग़रज़ यह कि पद्य और गद्य की आपकी



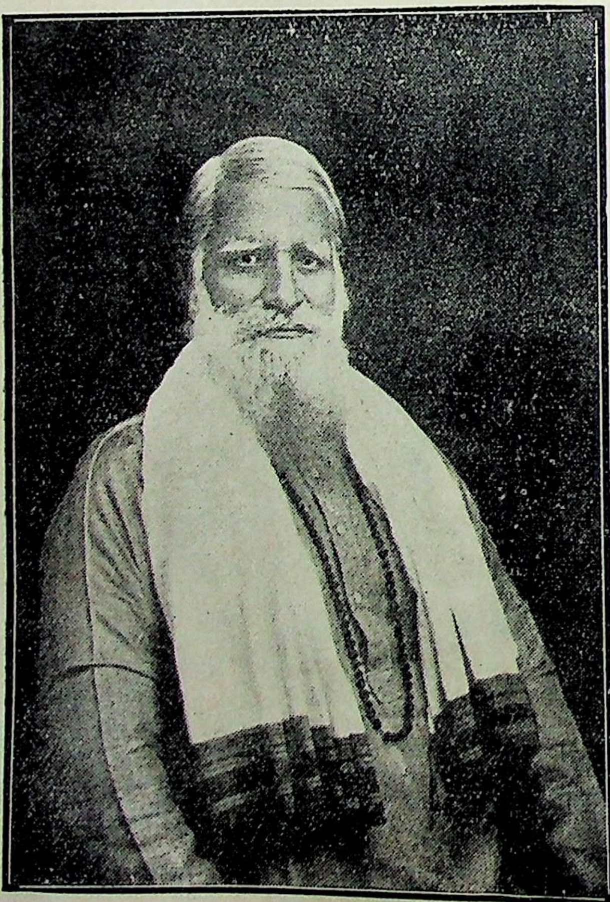
पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री



स्व० पं० विनायकराव



पं० कामताप्रसाद गुरु एम० आर० ए० एस०



पं० सुखराम चौबे "गुणाकर"



पं० माखनलाल चतुर्वेदी

अपनी ही एक शैली है। श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान प्रांत की सुंदर कवयित्री हैं। आपने जो कुछ लिखा, उसका हिंदी-जगत् ने उदारता से स्वागत किया। आपकी कविताओं में "शास्त्रोक्त" काव्य चाहे न मिले, परंतु उनमें जो कुछ मिलता है, वह हृदय को स्पर्श किए बिना नहीं रहता। श्रीलक्ष्मणसिंह चौहान भी हिंदी के अच्छे लेखकों में से हैं। आपने कई अँगरेज़ी-पुस्तकों का अच्छा अनुवाद किया है। आपका 'कुली-प्रथा'-नाटक बचपन की कृति होने पर भी हिंदी-जगत् में ख़ूब प्रचलित हुआ था। सरकार ने उसमें शायद राजद्रोह की गंध पाई और वह ज़ब्त कर लिया गया। पंडित सिद्धनाथ-माधव लोंढे (आगरकर) हिंदी के बहुत शांत और एकांत सेवी हैं। राजनीति, इतिहास और मनोविज्ञान आपके प्रिय विषय हैं। आप अच्छे विचारक हैं। भाषा आपकी मँजी एवं कसी हुई है। "निरंजन" के नाम से आपने बहुत सुंदर Satire (व्यंग्य) लिखे हैं। श्रीनिरंजन के समान शिष्ट और तुला हुआ विनोद बहुत कम लेखक लिखना जानते हैं। श्रीज़हूरबख़्श हिंदी के निःस्वार्थ साहित्य-सेवी हैं। आपके बाल-साहित्य और समाज-शास्त्र ये दो मुख्य विषय हैं। आपकी भाषा में मिठास और मस्ती, दोनों हैं। स्वर्गीय पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी प्रांत के गंभीर और उच्च श्रेणी के लेखकों में रहे हैं। आपकी 'हित-कारिणी' पत्रिका ने प्रांत के कई साहित्य-सेवियों को ख़ूब ऊपर उठाया। आपका अध्ययन विशाल था। हिंदी-



स्व० पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी बी० ए०, साहित्यरत्न

जगत् ने आपके मूल्य को आँकने में ज़रा लापरवाही-सी दिखलाई । पंडित द्वारकाप्रसाद मिश्र प्रांत के सुंदर लेखक हैं । इतिहास और राजनीति की ओर आपका स्वाभाविक झुकाव है । अठारह वर्ष की आयु में "हिंदू-जाति का स्वातंत्र्य-प्रेम"-नामक पुस्तक आपने लिखी है । 'कादंबिनी' नाम का एक उपन्यास भी आपने लिखा है । परंतु वह अभी अप्रकाशित है । जबलपुर से हाल ही निकलते रहनेवाले दैनिक "लोकमत" के आप प्रधान के अलावा आपने विद्यार्थी-जीवन में पद्य की रचना भी की है । आपकी जो कविताएँ हमारे देखने में आई हैं, उनसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आपमें Poetic intuition (स्वाभाविक काव्य-प्रतिभा) विद्यमान है । श्रीयुत गोपाल-दामोदर तामस्कर के लेख हिंदी-पत्रिकाओं में ख़ूब देख पड़ते हैं । आपने हिंदी में अनेक पुस्तकों की रचना की है । उनमें से कई प्रयाग के इंडियन-प्रेस से प्रकाशित हुई हैं । पंडित लोचनप्रसाद पांडेय



पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र बी० ए०, एल्-एल्० बी०

संपादक थे । 'श्रीशारदा' के अंतिम दिनों में आप उसके संपादक रहे । यदि आप राजनीति के झमेले में न पड़ते तो साहित्य की आपसे निश्चय अच्छी सेवा होती । गद्य कवि और लेखक दोनों हैं । आपको पुरातत्व-विषय के अध्ययन करने का नशा-सा है । प्रायः इसी विषय पर आप ख़ूब लिखते भी हैं । श्रीयुत पदुमलाल-पुन्नालाल

बख्शी बी० ए० प्रांत के उन लेखकों में हैं, जिन पर समस्त हिंदी-संसार गर्व करता है। 'सरस्वती' पर जिन दिनों आपका नाम छपता था, उन दिनों उसको संपादकीय टिप्पणियों की हिंदी-जगत् में ख़ूब धूम थी। आपके रचे हुए ग्रंथों में "विश्व-साहित्य", "विचार-विमर्श" और "पंचपात्र" का अधिक स्वागत हुआ। आप कविता भी लिखते हैं, परंतु उसमें आप 'चमक' नहीं पाते। कविता की अपेक्षा आपकी कहानियाँ अधिक अच्छी हुई हैं। पंडित मातादीन शुक्ल ने मध्यप्रांत के साहित्यिक क्षेत्र में अच्छी सेवा की है। आप स्वर्गीय रघुवरप्रसाद द्विवेदी के साथ "हितकारिणी" और "कान्य-कुब्ज-नायक" का संपादन करते रहे। साथ ही साथ 'छात्रसहोदर' और अर्द्धसाप्ताहिक 'तिलक' का भी आपने अच्छा संपादन किया। ठाकुर छेदीलाल के ज़माने के 'कर्मवीर' के संपादन में आपका काफ़ी हाथ रहा। यहाँ से आप अपने संयुक्तप्रांत चले गए और वहाँ लखनऊ को गंगा-पुस्तकमाला की लगभग दो दर्जन पुस्तकों एवं 'सुधा' और 'माधुरी' का संपादन किया। हम आपको राष्ट्रीय कवि के नाते अधिक जानते हैं। आपने "स्वराज्य का शंख" और "क़ानून-भंग"-नामक दो पुस्तकों की रचना की है। हिंदी के आप एक शांत सेवी हैं। इस प्रांत में रहकर यदि आप हिंदी की सेवा करते, तो प्रांत के साथ-साथ आपका भी गौरव अधिक बढ़ता। श्रीयुत मावलीप्रसाद श्रीवास्तव हिंदी की प्रशंसनीय सेवा कर रहे हैं। आपका गद्य ऊँचे दर्जे का होता है। आप अपने 'श्रद्धेय गुरुदेव' स्वर्गीय माधवराव सप्रे की एक विशाल और सुंदर जीवनी तैयार कर रहे हैं। इधर स्वास्थ्य गिर जाने से आपके द्वारा हिंदी की सेवा में व्यवधान आ गया। हम आपसे बहुत कुछ आशा करते हैं। स्वर्गीय प्यारेलाल बैरिस्टर प्रांत के अच्छे लेखक रहे हैं। श्रीब्योहार राजेंद्रसिंह ने ग्राम-सुधार पर बहुत लिखा है। इस क्षेत्र में आप एक ही लेखक हैं। ठाकुर छेदीलाल ने अंतर-राष्ट्रीय विषयों पर अच्छा लिखा है। राजनीति की दौड़-धूप में आपका साहित्यिक जीवन बहुत पिछड़ गया। पंडित नर्मदाप्रसाद मिश्र विशारद, बी० ए०, साहित्यशास्त्री हिंदी की बहुत दिन से सेवा कर रहे हैं। स्वर्गीय रघुवरप्रसाद द्विवेदी के साथ आपने 'हितकारिणी' का संपादन किया। पहले 'शारदा-विनोद'-नामक मासिक पत्र निकाला। फिर शारदा-मंदिर से निकलनेवाली 'श्रीशारदा' का भी आपने बहुत दिनों तक संपादन किया। आपने कई पाठ्य-पुस्तकों की रचना की है। हमारे एक प्रयाग के मित्र ने आपके मिश्र-बंधु-कार्यालय के विषय में एक बार विनोद में कहा था—"भाई, मिश्रबंधु-कार्यालय तो सी० पी० का इंडियन-प्रेस हो रहा है।" हम चाहते हैं कि हमारे मित्र की यह वाणी सच साबित हो। प्रोफ़े० दयाशंकर दुबे एम्० ए० प्रांत के उन लेखकों में हैं, जिन्होंने प्रांत के बाहर ख़ूब कीर्ति कमाई है। हिंदी में अर्थ-शास्त्र के आप प्रामाणिक लेखक माने जाते हैं। श्रीयुत मुकुटधर पांडेय का नाम "छायावादी" कवियों में इधर ख़ूब लिया जाने लगा है। हम श्रीयुत 'निराला' के इन शब्दों से सर्वथा सहमत हैं—"पंडित मुकुटधरजी एक मार्जित कवि हैं।......... इस ज़माने के और सनेहीजी के ज़माने के संधि-स्थल के मुकुटधरजी श्रेष्ठ कवि हैं" (निरालाजी ने "कदाचित् श्रेष्ठ कवि होंगे" लिखा है : परंतु हमारी धारणा है कि वह निश्चय श्रेष्ठ कवि हैं)। यह सच है, जैसा कि निरालाजी ने लिखा है कि "मुकुटधरजी को अस्वस्थता के कारण उनसे हिंदी को जितनी आशाएँ थीं वे पूरी नहीं हुईं।" पंडित बलदेवप्रसाद मिश्र एम्० ए० प्रांत के अच्छे लेखक और कवि हैं। आपका "शंकर-दिग्विजय" नाटक साहित्य की दृष्टि से अच्छी चीज़ है। जीव-विज्ञान आदि कई उत्तम पुस्तकों की रचना की है। व्रजभाषा की मीठी कविताएँ भी आप लिखते हैं। इनके अतिरिक्त प्रांत के प्रसिद्ध साहित्य-सेवियों में श्रीरामकुमार वर्मा, श्रीआनंदिप्रसाद श्रीवास्तव, प्रोफ़ेसर श्यामसुंदर चोरड्या, श्रीविश्वकर्मा, श्रीलल्लीप्रसाद पांडेय, श्रीश्यामकांत पाठक, श्रीशिवसहाय चतुर्वेदी, श्रीमुरलीधर पांडेय, श्रीदेवीप्रसाद गुप्त 'गुलज़ार', (कुसुमाकर), श्रीकुलदीपसहाय, बाबू गोविंददास, श्रीयदुनंदनप्रसाद श्रीवास्तव, श्रीबनमालीप्रसाद शुक्ल, श्रीशोभाराम 'धेनुसेवक', श्रीलक्ष्मीप्रसाद मिस्त्री 'रमा', स्वर्गीय मानिकलाल जैन, श्रीनाथूराम प्रेमी, श्रीरामचंद्र संघी, श्रीशालग्राम द्विवेदी, श्रीमधुमंगल मिश्र, श्रीलज्जाशंकर झा, श्रीमनोहरप्रसाद मिश्र, श्री-श्रीयुत सुकुमार चटर्जी (इंटरनेशनल जर्नलिस्ट), श्रीकन्हैयालाल शास्त्री, श्रीनृसिंह, श्रीशुकलाल पांडेय, श्रीमाधवलाल शर्मा; श्रीबालमुकुंद त्रिपाठी, श्रीबाबूलाल, मायाशंकर दुबे, श्रीप्रयागदत्त शुक्ल, श्रीरामचंद्र रघुनाथ

सर्वटे, कवि श्रीप्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम', स्वर्गीय दया-शंकर झा, श्रीराममनोहर विचपुरिया 'सम्राट्', श्रीलोक-नाथ सिलाकारी, श्रीयुत भैयालाल जैन और श्रीनरसिंहदास के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उठते हुए लेखकों में श्रीयुत श्रीराम अग्रवाल, श्रीसभामोहन अवधिया 'स्वर्ण-सहोदर', श्रीप्रभाकर श्रीखंडे 'प्रेम', श्रीगंगाचरण दीक्षित 'आकुल', श्रीगंगाविष्णु पांडेय, श्रीनाथूराम शुक्ल बी० ए० और श्री'लहरी' का स्मरण आता है।

मध्यप्रांत में हिंदी-लेखकों और कवियों की संख्या कम नहीं है। परंतु मध्यप्रांतीयों का संकोची स्वभाव (Shy nature) होने के कारण हिंदी-जगत् में वे पर्याप्त रूप से प्रकाश में नहीं आ सके। हमारा ख़्याल है, हमारे इस वक्तव्य में भी कई आदरणीय लेखकों और कवियों का उल्लेख नहीं हो सका। इसका कारण हमारी इच्छा नहीं, हमारा अज्ञान है। अतएव हम ऐसे लेखकों से नम्रता-पूर्वक क्षमा-याचना करते हैं। अन्य प्रतिष्ठित लेखकों और कवियों के चित्र भी हम यथा-प्रसंग देंगे।

हमारी इच्छा है कि हम प्रांत की कुछ चुनी हुई विभूतियों का, जो कल-कलवाहिनी रेवा और सतपुड़ा की उपत्यका के तट पर खिलकर मुरझा जाने ही में सुख मानती हैं, विस्तृत परिचय उनकी रचनाओं की यथोचित आलोचनाओं के साथ 'माधुरी' में प्रकाशित करने का यत्न करें। हमें प्रसन्नता है कि 'माधुरी' संपा-दक हमारे इस निश्चय के साथ हैं। इस वक्तव्य के विषय में हमें एक बात यह कहनी है कि इसे हमने अपने अप्रकाशित 'मध्यप्रांत के हिंदी-लेखक और कवि'-नामक आलोचना-त्मक ग्रंथ से संकलित किया है। अतएव इसमें लेखकों और कवियों का जो क्रम है, वह किसी ख़ास उद्देश्य के साथ नहीं आ पाया है और यह क्रम पुस्तक के क्रम से सर्वथा भिन्न है।

विनयमोहन शर्मा

विहग-विलाप

(१)

छोटा था, पर सुखकर था वह तरुवर का मेरा आवास ;
उसमें ही मिलता था मुझको जग के सभी सुखों का भास।
सदा प्रसन्न-चित्त रहता था, होता कभी न दुखित उदास ;
चिंताहीन रहा करता था, अपने सुहृद जनों के पास।

(२)

अरुणोदय होते ही जगकर रवि का करता था स्वागत ;
उसे जगाता जो सोया हो तरु के नीचे अभ्यागत।
चारे की तलाश में उड़ जाता जब होता सूर्योदय ;
करके स्मरण गगन-विचरण को होता है संतप्त हृदय।

(३)

उड़कर अगणित गगन-पथों से, चारे ले जाता था घर ;
पाता स्वर्गिक सुख मैं उसको शिशुओं के मुँह में देकर।
दिन-भर नभ में, थल पर, जल पर, विचरण करता सहित प्रमोद ;
हृदय नाच उठता था, नभ में आते थे जब प्रथम पयोद।

(४)

कैसा सुखमय वह जीवन था, जब मैं रहता था स्वाधीन ;
नहीं जानता था जग में, कैसे होते हैं जीव मलीन।
बंद किए जाने पर पिंजड़े में, है कैसा परिवर्तन ;
हाय, लुट गया मेरे जीवन का सबसे वह प्यारा धन।

(५)

भूखों मरकर भी रहना, तरुवर की सूखी डालों पर ;
वही मुझे प्यारा था जीवन, वही मुझे प्यारा था घर।
सोने के पिंजड़े में भी यदि, बंदी बन करना हो वास ;
तो भी मैं न सुखी रह सकता हूँ बनकर औरों का दास।

बालकृष्णराव

अंतिम प्रार्थना

रानी बहुत दिन से बीमार थीं। सारे नगर में शोक छाया हुआ था। राजा रानी को प्राणों से बढ़कर चाहते थे। उनके मन की अवस्था बहुत ख़राब थी। संसार का कोई काम उन्हें रुचता नहीं था। राज-काज भी उन्होंने कुछ समय से मंत्रियों के हाथ सौंप दिया था। वह तमाम दिन रानी के सिरहाने बैठे उसके रूखे केशों को ऐंछकर उन्हें सांत्वना बँधाया करते थे। रानी के पीठ पीछे या एकांत में कभी दो बूँद आँसू भी उनकी आँखों में छलक आते थे; परंतु हृदय को सँभाल वह उन्हें पोंछ डालते थे। प्रजा विस्मित थी; रणक्षेत्र में शत्रुओं के मध्य अकेले कूद पड़नेवाले, पैदल सिंह का शिकार खेलनेवाले, हँसते-हँसते मृत्युदंड की आज्ञा देनेवाले राजा को हो क्या गया। वैद्यराज ने कह दिया था कि रानी के जीवन की कोई आशा नहीं। मंत्रियों को भय था कि रानी की अनुपस्थिति में राजा भी न रहेंगे।

संध्यासमय वैद्यराज रोगी को देखकर चले, तो राजा ने उन्हें पकड़ लिया; बोले—"सच कहो, मेरी प्राणप्यारी की जीवन-रक्षा हो सकेगी या नहीं?" राजा के सम्मुख मिथ्या कहने का साहस वैद्यराज को न हुआ, वह चुप थे। राजा ने गिड़गिड़ाकर कहा—"वैद्यराज, बोलते क्यों नहीं, तुम मेरी प्राण-प्यारी को बचा सकोगे या नहीं?" वैद्यराज ने भय-संत्रस्त स्वर में कहा—"महाराज, आयु ईश्वराधीन है।" राजा ने आग्रह से पूछा—"कोई भय तो नहीं?" वैद्यराज ने सोचकर कहा—"यदि आज की रात कुशल से निकल जाय तो..." राजा ने बीच ही में पूछा—"आज की रात भय है?" वैद्यराज ने अपने संपूर्ण साहस को एकत्र कर कहा—"रानी प्रभात तक जीवित रहेंगी, इसकी कोई आशा नहीं।"

राजा का मुख विवर्ण हो गया। उन्होंने रुद्ध कंठ से कहा—"वैद्यराज, यदि आप मेरी हृदयेश्वरी की प्राण-रक्षा कर सकें, तो यह राज्य आपकी नज़र है। मैं आपका दास होकर रहूँगा।" वैद्यराज के नेत्रों से आँसुओं की धारा बह निकली। उन्होंने कहा—"राजन्! यह शरीर आपका है, जहाँ तक संभव है, यत्न करूँगा।"

राजप्रासाद के बरामदे में खड़े राजा शून्य आकाश की ओर स्थिर दृष्टि से देख रहे थे। आँसुओं की धार सूख जाने से उनके मुख पर चिह्न बन गए थे। चेहरा विकृत हो गया था। दासी ने विनय की—"अन्नदाता! महारानी स्मरण करती हैं...!" मुख को पोंछते हुए राजा भीतर गए। रानी के अस्थिपिंज-रावशिष्ट शरीर में दो मंद नेत्र गहरे कूप के जल के समान झलझला रहे थे। राजा को देख रानी ने अत्यंत क्षीण, खिन्न स्वर में कहा—"राजन्! यह क्या? आप रो..."। राजा लपककर घुटने टेक पलँग के पास बैठ गए। रानी के हिलते हुए शीतप्राय होठों को उन्होंने चूम लिया; बोले—"प्रिये"। रानी ने शुष्क कंठ को भिगोते हुए कहा—"हृदयेश मेरे बचने की कोई आशा नहीं, तुम..."। राजा ने रानी के मुख पर हाथ रख उन्हें चुप करा दिया। उनके नेत्रों में आँसुओं का निबिड़ प्रवाह घिर आया। रानी चुप हो गईं। राजा के हाथ को अपने दोनों हाथों में ले रानी ने कहा—'नाथ! दिल को इतना छोटा न करो।'

राजा रानी के पीछे की खिड़की में जाकर बैठ गए। बहुत दिन से अपने वस्त्रों में वह एक छोटी-सी डिबिया रखते थे। उसी डिबिया को हाथ में लेकर उन्होंने कहा—"यदि तुम मर गईं, तो यह..."। उसमें प्राणांतक विष था।

आधी रात को वैद्यराज फिर आए। एक सेवक सोने के पात्र में कुछ बूटियों का रस लिए था। वैद्यराज ने कहा—"राजन्! यदि आयु शेष होगी, तो यह औषध विफल न जायगी"।

(२)

दो वर्ष से शत्रुदल ने क़िले पर घेरा डाल रक्खा था। दोनों ओर की सेनाएँ थक चुकी थीं। परंतु कुछ निपटारा होता नहीं दिखलाई पड़ता था। एक दिन राजकुमार ने एक टुकड़ी ले शत्रु-सेना पर धावा बोल दिया। राजकुमार आहत हो रणक्षेत्र में गिर पड़ा। शत्रु ने उसे बंदी बना लिया। सारे क़िले में शोक छा गया। कई बार शत्रु पर आक्रमण कर राजकुमार को छुड़ाने का यत्न किया गया, परंतु कुछ फल न हुआ।

रानी का मन पुत्रवियोग से अत्यंत अधीर था। उन्होंने खाना-पीना छोड़ दिया। उनकी आँखों से निरंतर आँसुओं की धारा बहा करती। राजा उन्हें बहलाने का यत्न करते, परंतु स्वयं उनका हृदय विह्वल हो जाता।

शत्रु ने प्रस्ताव किया—यदि अधीनता स्वीकार हो, तो राजकुमार छूट सकते हैं। राजा ने क्रोधपूर्ण नेत्रों से देखकर दूत को वापस कर दिया।

(३)

रानी ने निरंजनसिंह को एकांत में बुलाकर कहा—"निरंजनसिंह, राजकुमार को लाना होगा, कोई उपाय करो; नहीं तो मेरी और महाराज दोनों की ही प्राणरक्षा असंभव है।" रानी के आँसुओं से वीर निरंजन का हृदय द्रवित हो गया। उसने कहा—"सेवक प्राण देकर भी आज्ञा-पालन के लिये प्रस्तुत है।" रानी ने कहा—भाई, निरंजन मैं चुद्र-बुद्धि स्त्री क्या उपाय बता सकूँगी, तुम्हीं सोचो; परंतु यह कार्य तो करना ही होगा। देखते हो महाराज का शरीर आधा भी नहीं रहा।

रानी के नेत्रों से फिर आँसू गिरने लगे।

दूसरे दिन निरंजनसिंह रानी की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने कहा—'यदि शत्रु को दुर्ग के गुप्त मार्ग का पता दिया जाय तो वे इसके बदले अवश्य राजकुमार को दे सकेंगे। रानी चुप रह गई। बहुत देर तक सोचने के उपरांत रानी ने कहा—"क्या अन्य कोई उपाय संभव नहीं?' निरंजनसिंह ने सिर हिलाकर कहा—"नहीं, मैंने शत्रुपक्ष के गुप्तचर से पूछ लिया है।" रानी ने चिंतित भाव से पूछा—"गुप्त द्वार का पता दे देने से क्या निश्चय ही हमारा पराजय होगा?" निरंजनसिंह ने कहा—"आवश्यक नहीं, शत्रु की सेना हमारी सेना से बहुत अधिक बलवान् नहीं।" रानी ने कहा—"यही सही, यदि महाराज की प्राणरक्षा हो सकेगी, यदि राजकुमार लौट आएगा, तो फिर शत्रु नगर का बाल भी बाँका न कर सकेगा।" निरंजनसिंह ने कहा—"सुरंग का एक मानचित्र चाहिए"। रानी ने कहा—"वह भी तुम्हें ही प्राप्त करना होगा।"

(४)

अपनी सेना की सीमा लाँघकर शत्रुसेना के शिविर में प्रवेश करते समय शत्रु का गुप्तचर समझकर दुर्ग के प्रहरियों ने निरंजनसिंह को गिरफ़्तार कर लिया। सेनापति के सम्मुख उसे पेश किया गया। उसके वस्त्रों की तलाशी लेने पर एक मानचित्र निकला।

सैनिक न्यायालय ने विश्वास-घात के अपराध में उसे मृत्युदंड की आज्ञा दी। निरंजनसिंह ने एक

शब्द भी क्षमा-पार्थना अथवा सफ़ाई का मुख से न कहा।

वृक्षों की ओट से सूर्य की किरणें छन-छनकर दुर्ग को अपने स्वर्णमय आलोक से रंजित कर रही थीं। वृक्ष मंद समीर के स्पर्श से सुखानुभव कर भूम रहे थे और दुर्ग की ऊँची मुँडेरों पर बैठे कबूतर चोंच से पंखों को सहला रहे थे। क़िले के बड़े मैदान में सेनाएँ पंक्तिबद्ध खड़ी थीं। बीच में एक ऊँचे स्थान पर निरंजनसिंह खड़ा था। उसके हाथ पीछे की ओर बँधे थे। सैनिक-वेश उसके शरीर से उतार लिया गया था। उसका मुख पीला पड़ गया था, परंतु नेत्रों में संतोष की झलक थी। उसके सम्मुख छः सैनिक बंदूक़ें लिए खड़े थे। सेनापति ने सैनिक-न्यायालय का निर्णय पढ़कर सुना दिया।

उस दिन रानी का मन कुछ प्रसन्न था। राजा उन्हें किसी पिछले युद्ध का वृत्तांत सुना रहे थे। राजप्रासाद के भीतर दोनों साथ-साथ टहल रहे थे। अचानक—मातृभूमि की जय! स्वतंत्रता की जय! महाराज की जय!—का तुमुल नाद सुनाई पड़ा। रानी ने हर्ष से राजा के नेत्रों में देखकर कहा—'यह क्या?' इतने में एक साथ छः बदूक़ों के छूटने का भयंकर शब्द सुनाई दिया। रानी का हृदय बैठ गया उन्होंने पूछा, 'यह क्या?' राजा ने कहा—'विश्वासघात का दंड।' रानी का चेहरा उतर गया, उन्होंने पूछा – किसे'? राजाने कहा—'एक सैनिक निरंजनसिंह को!' रानी ने व्यथित नेत्रों से राजा की ओर देखकर कहा—'राजन्, इस अपराध के लिये उत्तरदायिनी मैं हूँ।' राजा ने विस्मित भाव से रानी की ओर देखकर कहा—'क्या कहा?' रानी ने कंपित स्वर से विनय की—'राजन्! कुमार के स्नेह में अंधी होकर यह अपराध निरंजनसिंह से मैंने ही कराया है, इसके लिये उत्तरदायिनी मैं हूँ।'

संध्यासमय फिर सैनिक-न्यायालय बैठा। न्यायाधीश के आसन पर राजा बैठे थे। अभियुक्त के स्थान पर सम्मुख रानी खड़ी थी। उसके दोनों हाथ हथकड़ी से पीठ के पीछे बँधे हुए थे। राजा ने गंभीर स्वर में कहा—'अभियुक्त अपराधी है, वह स्वयं अपने अपराध को स्वीकार करता है।' एक सामंत ने उठकर कहा—'परंतु इस अपराध के लिये एक अभियुक्त दंड पा चुका है।'

राजा—'जो अपराधी है उसे दंड अवश्य मिलना चाहिए।'

सेनापति—'महाराज को अधिकार है कि किसी अपराधी को क्षमा कर द।'

राजा—'देश के प्रति विश्वासघात के लिये क्षमा नहीं है।'

राजा ने आज्ञा दी कि कल अपराधी को प्राणदंड दिया जाय।

दूसरे दिन फिर प्रकृति के उत्सव के समय सेनाएँ क़िले के बड़े मैदान में पंक्तिबद्ध खड़ी हुई। आज निरंजनसिंह के स्थान पर रानी का कोमल शरीर खड़ा था। हाथ पीछे बँधे हुए थे, सुंदर केशराशि कंधों पर अस्त-व्यस्त पड़ी थी, साड़ी का आँचल खिसक गया था। राजा ने कहा—'अपराधी अपनी अंतिम इच्छा प्रकट करे; यदि वह न्यायालय की आज्ञा के विरुद्ध न होगी, तो पूरी की जायगी।'

रानी ने अत्यंत संकोच से कहा—राजकुमार के सम्मुख मेरे अपराध का वृत्तांत न कहा जाय।

राजा ने अनुमति दे दी।

रानी ने विनीत भाव से कहा—'एक इच्छा और है।' राजा ने कहा—'वह भी कहो, यदि वह न्यायालय की आज्ञा के विरुद्ध न होगी, तो पूर्ण की जायगी।' रानी ने कहा, यदि एक क्षण के लिये मेरे हाथों का बंधन खोल दिया जाय, तो अंतिम

समय देश की पताका को प्रणाम कर आपकी चरण-रज ले लूँ ।

रानी के होठों पर मीठी मुसकान थी। उनकी दृष्टि निरंतर महाराज के मुख पर थी, परंतु महाराज होठों को दाँतों से दबाए एक ओर दृष्टि किए खड़े थे।

छः बंदूकों के छूटने का भयंकर शब्द हुआ, उसके साथ ही रानी का कोमल शरीर भी भूमि पर गिर पड़ा।

क़िले के एक एकांत भाग में, आम के पेड़ों के नीचे कुसुमावृत्त स्थान में, रानी का शव लाकर रख दिया गया। राजा ने अपने हाथों एक छोटा-सा स्मृतिचिह्न उस स्थान पर खड़ा कर दिया। राजा दिन का अधिकांश समय उसी स्थान पर बैठकर बिताते थे।

(५)

सेनापति के भीम प्रयत्न से शत्रुसेना को घेरा छोड़ भाग जाना पड़ा। बड़े समारोह से राजकुमार का नगर-प्रवेश-उत्सव मनाया गया। परंतु किसी के मुख पर भी प्रसन्नता का भाव न दिखाई देता था। राजप्रासाद में पहुँच राजकुमार इस छोर से उस छोर तक माता को खोजते फिरे, परंतु माता न मिली। राजकुमार ने राजा से माता के विषय में पूछा। राजा ने कहा—चलो, तुम्हें तुम्हारी माता के दर्शन कराएँ। राजा के मुख पर भीषण विडंबना की मुसकिराहट देखकर राजकुमार ठिठके, परंतु पिता के पीछे चलने लगे।

पुष्पों से आकीर्ण आम्रकुंज में उस चिह्न की ओर संकेत करके राजा ने कहा—'राजकुमार! तुम्हारी माता वहाँ है।' राजकुमार ने कातर भाव से पिता की ओर देखकर पूछा—'पिताजी, क्या मा संसार में नहीं हैं?' राजा—'नहीं!' राजकुमार—'उनका देहांत किस प्रकार हुआ?' राजा—'तुम्हें अपनी माता के प्रति अगाध श्रद्धा थी राजकुमार।' राजकुमार—'हाँ पिताजी।' राजा—'यदि तुम अपनी माता के घातक को देख पाओ तो?' राजकुमार ने क्रोध और घृणा से भौंहें चढ़ाकर कहा—'मैं उसके रक्त से पृथ्वी को रँग दूँगा।' राजा ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर कहा—'मेरी भी यही आज्ञा है, यदि तुम अपनी माता के घातक को देख पाओ, तो उसकी हत्या अवश्य करना।' राजकुमार के नेत्रों में ख़ून दौड़ गया। राजकुमार ने सिर झुका दिया। राजा ने कहा—'राजकुमार, अपनी माता के शेष को छूकर प्रतिज्ञा करो कि अपनी माता के हत्यारे को देखते ही वध करोगे।' राजकुमार ने प्रतिज्ञा की। राजकुमार ने उद्विग्न-भाव से पूछा—'पिताजी, माता की हत्या किसने, किस कारण, की?' राजा—'राजकुमार, तुम्हारी माता की यह अंतिम इच्छा थी कि तुम्हें इस हत्या का कारण न बताया जाय। तुम अपने जीवन में यह बात जानने का कभी प्रयत्न न करना।' राजकुमार चुप हो गया। कुछ सोचकर राजा फिर बोले—'राजकुमार, मेरी यह अंतिम इच्छा है कि मेरा शव भी तुम्हारी माता के पार्श्व में ही रक्खा जाय।' राजकुमार ने सिर झुका दिया।

राजा ने उच्च स्वर से ललकार कर कहा—'सावधान राजकुमार, तुम्हारी माता का घातक तुम्हारे सम्मुख खड़ा है।' म्यान से तलवार निकालकर राजकुमार इधर-उधर देखने लगा। राजा ने फिर उसी विषण्ण स्वर में कहा,—'मैंने ही तुम्हारी माता की हत्या की है'। विस्मय और क्रोध से राजकुमार के नेत्र खुले रह गए। उसने कहा—'पिताजी...।' राजा ने कहा—'तुम प्रतिज्ञा-बद्ध हो, तुम्हारी माता का घातक यह तुम्हारे सम्मुख खड़ा है, शीघ्रता करो'। राजकुमार

[स्त]ब्धबुद्धि हो रहा। राजा ने फिर उसी स्वर में संबोधन कर कहा—राजकुमार !

राजकुमार—'पिताजी आप शस्त्र लीजिए।'

राजा ने कहा—'मैं यहाँ युद्ध करने के लिये नहीं आया हूँ, तुम अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करो...।'

(७)

राजकुमार नित्य अपने माता-पिता के स्मृति-चिह्न पर पुष्प चढ़ाने जाते थे। कई पीढ़ियाँ आईं और चली गईं, उस घटना को देखनेवाले संसार से मिट गए। उस घटना के साक्षीरूप उस दुर्ग की दीवारें भी समतल हो गईं, परंतु रानी की 'अंतिम प्रार्थना' को मान किसी ने भी उस रहस्य को प्रकट नहीं किया।

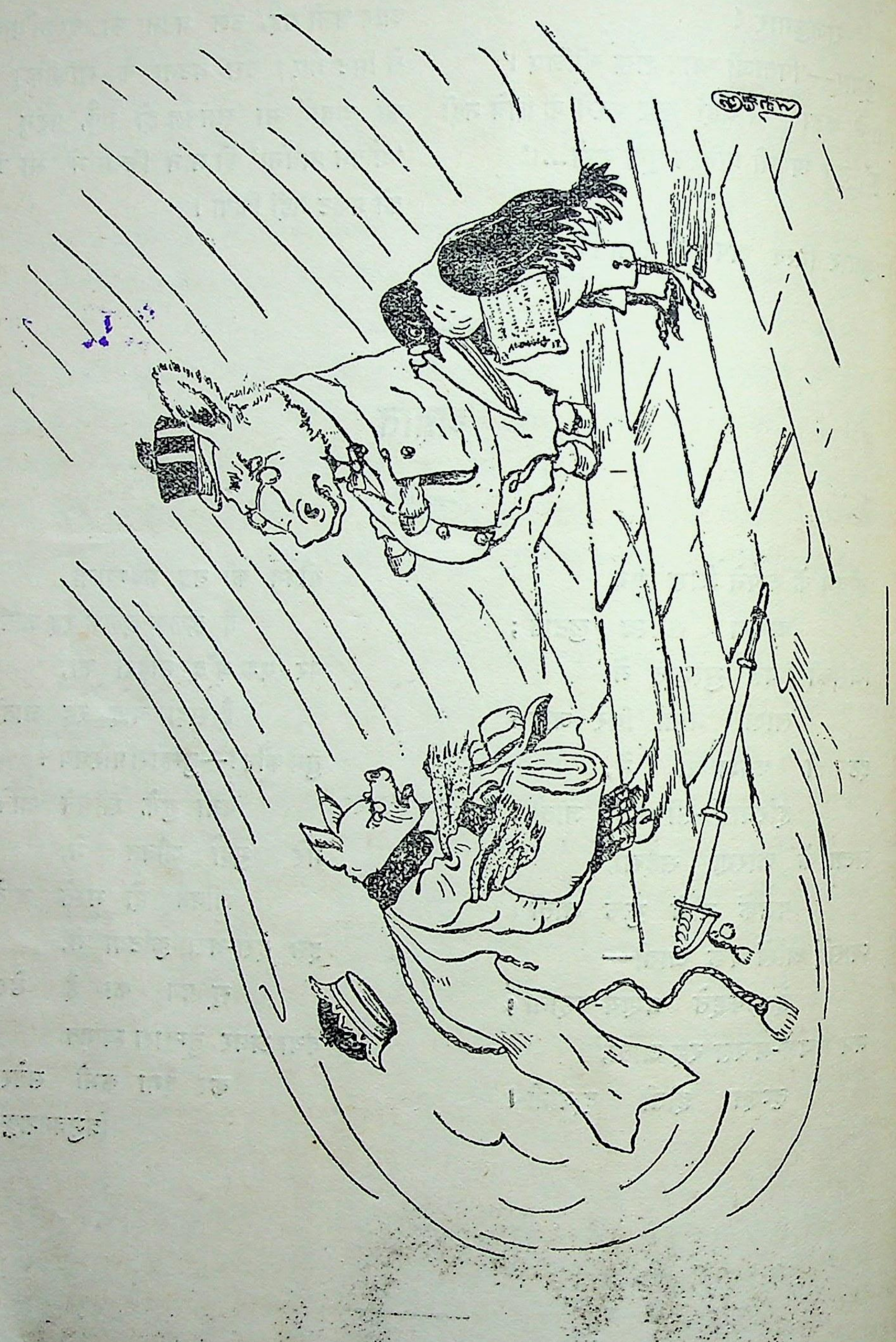
यश

अज्ञात

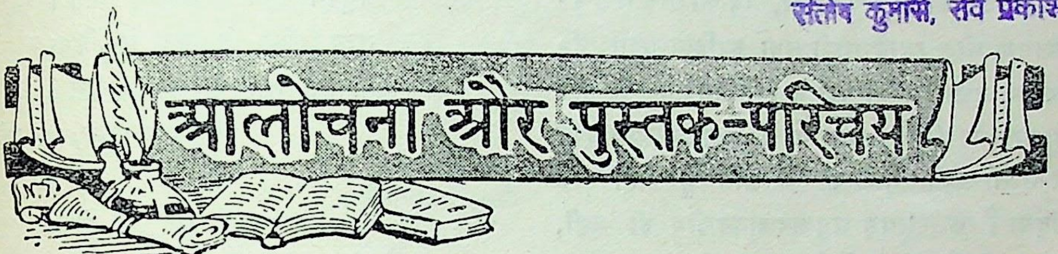
जीवन के सपने जिस पर,
अपना सर्वस्व लुटाते;
जिसकी केवल सुस्मृति में,
लाखों मोती गिर जाते।
इठलाती आशाओं में,
हरियाली-सी छा जाती;
लज्जा के कारण सहसा,
पलकें नीचे झुक जातीं।
प्यासी! आँखें थक जाती—
हैं कहते प्रणय-कहानी।
मन मचल-मचल रह जाता,
तृष्णा होती दीवानी।

यौवन की यह मदप्याली,
है छलक-छलक रह जाती;
पर 'एक बूँद' मदिरा की,
है सदा चाह रह जाती।
तुम कौन?—तुम्हारा परिचय?
क्यों मुझे खींचते जाते?
मेरे मुर्दा जीवन में,
जीवन हो भरते जाते।
इस हरी-भरी कुटिया में,
सूनेपन का है डेरा;
क्या भ्रमर तुम्हारा स्वागत,
कर देगा कभी सवेरा?

त्रिभुवनशङ्कर तिवारी



तीन बहादुर



श्रीकृष्ण-विज्ञान (श्रीमद्भगवद्गीता का हिंदी अनुवाद)—अनुवादक, पुरोहित श्रीरामप्रतापजी, जैपुर; प्रकाशक, श्रीपारीक-हितकारिणी सभा, जैपुर।

हिंदू-धर्मशास्त्रों में श्रीमद्भगवद्गीता का स्थान बहुत ऊँचा है। दार्शनिक विद्या का यह मूर्धन्य है। मोक्ष की नौका, ज्ञान का अक्षय भंडार और भक्ति का अपरिमेय समुद्र है। नीति, धर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य आदि विषयों का जो निरूपण इस महान् ग्रंथ में हुआ है, उसकी प्रशंसा आज सारा विश्व कर रहा है। अब तक न-जानें कितनी टीकाएँ और कितने अनुवाद इस ग्रंथ के हो चुके हैं। किंतु, फिर भी ज्ञानियों की पिपासा अभी शांत नहीं हुई और न होने की संभावना है। गीता का विषय इतना गहन और विस्तृत है कि जितनी ही अधिक खोजने की चेष्टा कीजिए, उतनी ही अधिक उत्सुकता और बढ़ती जाती है। उसके विशाल कक्ष से कोई ऐसी अखंड ज्योति दिखाई पड़ने लगती है कि मानव-विवेक, उसके सहारे, विशुद्ध कर्मपथ, निरूपण कर सकता है। सच तो यह है कि—ईश्वरत्व, मनुष्यत्व और संसार का असली तत्व सभी कुछ गीता में मौजूद है। इसके विषय में अधिक कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाने के ही समान है।

सन् १९२१ में "श्रीकृष्ण-विज्ञान" के नाम से गीता का एक हिंदी-पद्यानुवाद प्रकाशित हुआ था। पुरोहित श्रीरामप्रतापजी ने बड़े परिश्रम से यह अनुवाद तैयार किया था और जातीय-सभा को भेंट कर दिया था। इस सरल अनुवाद का हिंदी-संस्कृत के बहुत से विद्वानों ने ख़ूब आदर किया। परंतु प्रकाशक ने इस कृति को जन-साधारण के सामने पहुँचाने में उतना प्रयत्न नहीं किया, जितना करना चाहिए था, इसीलिए इसका प्रचार पूरी तौर पर नहीं हुआ, ऐसा जान पड़ता है। कुछ दिन हुए कि इस पद्यानुवाद की एक प्रति कृपा करके पुरोहितजी ने हमारे पास भेजी। मैंने उसको आद्योपांत पढ़ा। हिंदी के छोटे-छोटे पद्यों में यह अनुवाद किया गया है। एक श्लोक का अनुवाद एक ही छंद में मौजूद है। एक तरफ़ संस्कृत-गीता रख लीजिए और दूसरी तरफ़ यह अनुवाद रख लीजिए। फिर देखिए कि किस ख़ूबी से भाव और तत्व की पूरी रक्षा करते हुए कितने सरल और गिने हुए शब्दों में अनुवादक महोदय ने

अपनी कवित्व-शक्ति का परिचय दिया है । भरती का शब्द कहीं ढूँढ़े नहीं मिलता । अनुप्रासों पर ध्यान दीजिए तो पता चलेगा कि अनुवादक महोदय ने अपने काव्य-कौशल के द्वारा ठूँढ-ठाँस को बचाने के लिये श्लोकों के शब्दों में से ही अनुप्रासों का चुनाव किया है । खड़ीबोली और उसमें भी छोटा छंद, साथ ही सरल और मुहाविरेदार भाषा लिखना कोई खेल नहीं है । मूल-ग्रंथ का अर्थ भी ज्यों-का-त्यों रहे और उपरोक्त ख़ूबियों के साथ, यह भी पुरोहितजी के अध्ययन-ज्ञान और विद्वत्ता का पूर्ण परिचायक है । विद्यावाचस्पति पं० मधुसूदन झा, पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी बी० ए०, पं० हीराचंदजी ओझा रायबहादुर, व्याकरणाचार्य पं० सूर्यनारायण गौड़ न्यायशास्त्री तथा साहित्यशास्त्री पं० हरिनारायण दधीच कविभूषण ने इस अनुवाद की मुक्त कंठ से सराहना की है । आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने तो अन्य गुणों को बतलाते हुए यहाँ तक लिख दिया है कि—"यह अनुवाद संग्रहणीय ही नहीं, आदरणीय भी है । हिंदी में किए गए जितने अनुवाद मेरे देखने में आए हैं, उन सबकी अपेक्षा यह अनुवाद अधिक सरस, सरल और भावव्यंजक है ।" इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है । कुछ दिनों से यह अनुवाद अप्राप्य है । श्रीरामप्रतापजी विद्याव्यसनी सज्जन पुरुष हैं । उनके जीवनपथ का मुख्य ध्येय धार्मिक है । जैपुर के प्रतिष्ठित रईस और हिंदी के अच्छे विद्वान् होते हुए भी आप उदार, हँसमुख और मिलनसार पुरुष हैं । राज्य से ताज़ीम और मुसाहिबी का अद्वितीय सम्मान पाने पर भी आप व्यर्थ अभिमान से परे हैं । जैपुर के बहुत-से विभागों में सम्मानपूर्वक कार्य करते हुए आप कौंसिल के मेम्बर भी रहे । माईनारिटी में स्वाभिमान की रक्षा के हेतु आपने इन सब बंधनों से अपने को मुक्त कर लिया था । साहित्य, संगीत और चित्रकला के आप मर्मज्ञ हैं । लक्ष्मी और सरस्वती का जैसा स्वर्ण-संयोग अपूर्व सौभाग्य से आपको प्राप्त है, वैसा तो आजकल के ज़माने में बहुत कम दिखाई देता है । सचमुच गीता का ऐसा सुंदर और रोचक अनुवाद करके आपने हिंदी की बड़ी सेवा की है । इसका द्वितीय संस्करण निकालने की शीघ्र आवश्यकता है । इससे लोकोपकार तो होगा ही, साथ ही भाषा की श्रीवृद्धि में भी सहायता मिलेगी ।

पाठकों के लिये हम अनुवादित कुछ पद्यों को उनके समक्ष रखना चाहते हैं । पद्य पढ़ते ही श्लोक का स्मरण हो आता है । पाठकगण स्वयं देखेंगे कि इन पद्यों में कितनी रोचकता भरी हुई है ।

फिर कौरवगण को अर्जुन ने
देख व्यवस्था से उस काल ।
रणहित हो सन्नद्ध, उठाकर
अपना धनु गांडीव विशाल ।

पहला अध्याय, २० श्लोक

× × ×

हाय हुए हैं उद्यत हम सब
बंधुवर्ग का करने घात ।
राज्य लोभ के सुख से; कैसा
पातक, महा खेद की बात !

पहला अध्याय, ४५ श्लोक

× × ×

जब-जब ग्लानि धर्म की होती
और पाप का बढ़े प्रचार ।
हे भारत ! तब तब मैं आकर
स्वयं लिया करता अवतार ।

चौथा अध्याय, ७ श्लोक

× × ×

जल में रस, रवि और चंद्र में
प्रभा, वेद में हूँ ओंकार ।
शब्द गगन में हूँ, हे भारत !
पुरुषों में हूँ पौरुष सार ।

सातवाँ अध्याय, ८ श्लोक

× × ×

मैं हूँ क्षर से परे और हूँ
अक्षर से भी उत्तम धाम ।
इससे लोक तथा वेदों में
पुरुषोत्तम है मेरा नाम ।

१५वाँ अध्याय, १८ श्लोक

इन पद्यों के सामने ही अध्याय और श्लोक का नंबर भी दे दिया गया है । ताकि पाठकगण मूल श्लोकों के साथ पढ़कर इनका विशेष आनंद उठा सकें । स्थानाभाव के कारण केवल पाँच ही छंद दिए जाते हैं । हम पुरोहित-जी को इस सत्साहस और सेवा के लिये हृदय से बधाई

देते हैं और प्रार्थना करते हैं कि किसी योग्य प्रकाशक द्वारा इस कृति को जन-साधारण के सामने पुनः उपस्थित करने का शीघ्र प्रयत्न करें। और भविष्य में भी हिंदी की सेवा में लगे रहें। हमें यह भी ज्ञात हुआ है कि पुरोहितजी के सुयोग्य पुत्र कुमार प्रतापनारायण ने भी, जो कि अभी कालेज में शिक्षा पा रहे हैं, "नल-नरेश"-नामक १७०० भाषा छंदों में एक महाकाव्य लिखा है। आपकी कविताएँ भी हिंदी की प्रसिद्ध पत्रिकाओं में, यथा सरस्वती, कल्याण, माधुरी, महारथी आदि—प्रकाशित होती रहती हैं। अपने पिता की भाँति आप भी बड़े ही साहित्यप्रेमी हैं। आशा है, आप भी हिंदी की सेवा करते हुए सुयोग्य और उत्तम कवि का स्थान ग्रहण कर सकेंगे। ईश्वर करे, विद्या-व्यसन की यह पैतृक सम्पत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहे और इस प्रकार हिंदी और हिंद का कल्याण होता रहे।

रामसेवक त्रिपाठी

× × ×

ब्राह्मण की गौ—लेखक, श्रीयुत देवशर्मा 'अभय' विद्यालंकार; प्रकाशक, मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुलविश्वविद्यालय काँगड़ी; छपाई-सफ़ाई संतोष-जनक; कागज़ अति उत्तम; पृष्ठ-संख्या १०८; आकार मँझोला; मूल्य लिखा नहीं; प्रकाशक से प्राप्य।

इस पुस्तक के संबंध में, प्रकाशक के वक्तव्य में, निम्न-लिखित वाक्य हैं—"आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि शाहपुरा के महाराजकुमार श्रीउम्मेदसिंहजी ने वैदिक साहित्य-संबंधी एक ग्रंथमाला निकालने के लिये कुछ दान दिया है। उस ग्रंथमाला का एक अंग यह प्रतिवर्ष निकलनेवाली 'स्वाध्याय-मंजरी' भी होगी। अतएव हम यह 'स्वाध्याय-मंजरी' इस बार उनके द्वारा ही आपको भेंट कर रहे हैं।"

'अथर्व-वेद' में एक 'ब्रह्मगवी सूक्त' आता है। यह पंचम कांड का अठारहवाँ सूक्त है। इसमें केवल १५ मंत्र हैं। प्रकृत पुस्तक में इन्हीं मंत्रों का शब्दार्थ और उसके आगे उक्त लेखक महोदय की विस्तृत व्याख्या है।

उक्त सूक्त में 'ब्रह्मगवी' (ब्राह्मण की गौ) की प्रशंसा है। उसे अहिंसनीय, अभक्षणीय एवं रक्षणीय बताया है, और उसे मारनेवालों की दुर्गति का भी वर्णन किया है। संस्कृत में 'गौ' शब्द के अनेक अर्थ हैं। 'वाणी' भी उसका एक अर्थ है, परंतु ख़ासकर विलायती साहब लोग, जो वेदों के व्याख्याता बनते हैं, अनेकार्थक शब्दों के अवसर पर बेतरह धोखा खाते हैं और अर्थ का अनर्थ कर बैठते हैं एवं इन लोगों के चेले-चापड़ हिंदुस्तानी साहब लोग भी—जो अँगरेज़ी अनुवादों को देख-देखकर वेदों के ज्ञाता बनते हैं—ऐसे अवसरों पर, एक अंधे का सहारा लेकर चलनेवाले दूसरे अंधे की तरह क़दम-क़दम पर ठोकरें खाते हैं।

ग्रिफ़िथ साहब नाम के किसी ऐसे ही विलायती गोरे ने प्रकृत सूक्त का अर्थ लिखते हुए 'गौ' का अर्थ गाय (धेनु) किया है। जहाँ-जहाँ प्रकृत सूक्त में ब्राह्मण और ब्रह्मगवी को अभक्ष्य बताया है, वहाँ-वहाँ उसने यही अर्थ किया है कि 'ब्राह्मण को नहीं खाना चाहिए' और 'ब्राह्मण की गाय को नहीं खाना चाहिए' इत्यादि। वैदिक भाषा के मर्म से नितांत अनभिज्ञ, प्राचीन भारतीय रस्मो-रवाज से एकदम अपरिचित, भारत से हज़ारों मील दूर पर पैदा हुआ और गोमांस-भक्षी जन-समाज में पला हुआ गोरा यदि इस प्रकार की भूलें न करे, तभी आश्चर्य है। इन प्रकरणों में उसका बहक जाना तो कोई तअज्जुब की बात नहीं। 'इंद्रो वृषा रोरवीति' इस वेदवाक्य का अर्थ करते हुए किसी अँगरेज़ ने लिखा था कि "इंद्र एक बैल है, जो रोया करता है।"

हिंदुस्तान में बीसों वर्ष रह लेने पर भी ये गोरे साहब यहाँ की प्रचलित भाषाओं के अभिज्ञ नहीं हो पाते, तब फिर नितांत प्राचीन और अप्रचलित वैदिक भाषा के ज्ञान की तो बात ही क्या? पंजाब में १०-१२ वर्ष बिता चुकने के बाद एक अँगरेज़ बहादुर ने अपनी उर्दू-दानी का परिचय देते हुए एक हिन्दुस्तानी सज्जन से कोई शेर पढ़ने को कहा। उन्होंने—'उसकी ज़ुल्फ़ों के सब असीर हुए' यह मिसरा पढ़ा। साहब बहादुर फड़क उठे और बोले कि "ओ, हम इसका मतलब समझ गया। इसका मतलब है कि उसकी बोदी (पंजाबी भाषा में स्त्रियों की चोटी) का बाल सब साला जेलख़ाना भेज दिया"। इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण मिल सकते हैं। उनसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि भारतीय भाषाओं की अभिज्ञता इन गोरों को कितनी होती है।

प्रकृत पुस्तक में श्रीदेवशर्माजी ने पूर्वोक्त ग्रिफ़िथ

साहब और उनके चेले-चापड़ों को मुँहतोड़ जवाब दिया है। आपने यह सफलतापूर्वक सिद्ध कर दिया है कि इस सूक्त में 'गौ' का अर्थ 'गाय' नहीं हो सकता। इसी बात को लक्ष्य में रखकर आपने मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या की है, जिसमें प्रसंगवश और भी बहुत-सी बातें आ गई हैं। आपकी व्याख्या का सारांश यह है कि उक्त सूत्र में 'ब्राह्मण' का अर्थ है महात्मा गांधी के समान त्यागी, तपस्वी, सत्याग्रही, और उसकी वाणी ही उसकी 'गौ' है। उस वाणी पर किसी प्रकार की रुकावट डालना ही उसका वध, बन्धन या भक्षण है, इत्यादि।

पुस्तक के आदि में आपने 'प्रारंभिक विवेचना' के नाम से २८ पृष्ठों में अपना एक वक्तव्य दिया है, जिसमें प्रकृतोपयोगी कई बातों का दिग्दर्शन कराया है। इसी में लौकिक संस्कृत को आपने अनेक जगह पानी पी-पीकर कोसा है। इसके सम्बन्ध में कुछ कह देना भी हम यहाँ आवश्यक समझते हैं।

प्रायः संस्कृत-भाषा को लोग दो भागों में बाँटते हैं—एक वैदिक, दूसरी लौकिक। वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों की भाषा प्रथम कोटि में गिनी जाती है, एवं सूत्रों से लेकर पुराणों तक सम्पूर्ण व्याकरण, दर्शन, इतिहास, काव्य, नाटक आख्यान आदिक लौकिक संस्कृत के अन्तर्गत माने जाते हैं। वास्तव में इन दोनों के मूल आधार में कोई भेद नहीं। इन दोनों भाषाओं के शब्दों की उत्पादकमूला धातुएँ एक ही हैं। दोनों की विभक्तियाँ (सुप् और तिङ्) अभिन्न हैं। दोनों के प्रत्यय एक-से हैं। दोनों की रचना का प्रकार समान है। दोनों के व्याकरण-सम्बन्धी नियम और वाक्यविन्यास का ढंग एक ही है। भेद केवल इतना है कि वैदिक भाषा के अनेक शब्द लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त नहीं होते। उनके लिये व्याकरण के सूत्र भी विशेष रूप से अलग हैं, जो केवल वैदिक प्रयोगों की ही साधनिका बनाते हैं। बहुत-से शब्द ऐसे भी हैं, जिनका अर्थ लौकिक संस्कृत में दूसरा होता है अर्थात् वैदिक काल में उनका प्रयोग जिस अर्थ में होता था, उसमें वे अब नहीं बोले जाते, भिन्न अर्थ में बोले जाते हैं। परन्तु ऐसे शब्दों की संख्या फ़ी सदी १५-२० से अधिक न होगी। यदि समस्त वैदिक शब्दों का संकलन किया जाय, तो एक चतुर्थांश भी ऐसे शब्द नहीं निकल सकते जो लौकिक संस्कृत में अप्रयुक्त या विरुद्धार्थक हों। वस्तुतः दोनों भाषाएँ एक ही हैं। केवल समय-प्रवाह की अतिदीर्घता के कारण बाह्य दृष्टि से दोनों में कुछ भेद प्रतीत होता है। और, यह अनिवार्य है। हिन्दी के अनेक शब्द संस्कृत से ही बने हैं, परन्तु उनके अर्थ और प्रयोगों में अनेक जगह अत्यन्त विषमता पैदा हो गई है। संस्कृत के 'स्तन' और 'गर्भिणी' शब्दों से ही हिन्दी-भाषा के 'थन' और 'गाभिन' शब्दों की सृष्टि हुई है। परन्तु इनका प्रयोग केवल पशुओं के लिये होता है स्त्रियों के सामने उनके सम्बन्ध में यदि कोई इन शब्दों का प्रयोग कर बैठे, तो पीटा जाय। कुछ तो समय के प्रवाह से और कुछ परिवर्तनों के प्रताप से, शब्दों के प्रयोगस्थलों में इस प्रकार की भिन्नता कोई अनहोनी बात नहीं है और न इसके कारण किसी भाषा की भिन्नता सिद्ध की जा सकती है। वेदों में घृत, पुरीष, वराह आदि शब्द जिन अर्थों में आए हैं, उनमें अब नहीं प्रयुक्त होते, परन्तु शब्द वे ही हैं, उनकी उत्पादक धातु वही हैं, प्रत्यय वही हैं। यदि भेद है तो केवल यह कि अनेकार्थक धातु के एक अर्थ को छोड़कर आज दूसरा उस शब्द का प्रवृत्ति निमित्त माना जाता है। 'शम्बर' शब्द का अर्थ पानी भी है और एक राक्षस भी। 'हन्' धातु का अर्थ मारना भी है और चलना भी। आजकल इनमें से एक-एक अर्थ प्रयुक्त होता और दूसरा अप्रयुक्त माना जाता है, परन्तु उस अप्रयुक्त अर्थ के वाचक 'शम्बर' आदि शब्द किसी दूसरी भाषा के नहीं माने जाते। इसी प्रकार आज किसी अर्थ-विशेष में अप्रयुक्त वैदिक शब्दों को संस्कृत से भिन्न भाषा का नहीं कहा जा सकता।

श्रीदेवशर्माजी का कहना है कि "लौकिक संस्कृत भी वैदिक संस्कृत की अपेक्षा एक बिलकुल नई भाषा है।" हम आपके 'बिलकुल' शब्द का अर्थ समझने में असमर्थ हैं। जब वैदिक और लौकिक दोनों एक ही संस्कृत के भेद हैं, तो 'बिलकुल नई' का क्या मतलब? सौ में से दस-बीस शब्द अर्थान्तर-प्रयुक्त या अप्रयुक्त आ जाने से 'बिलकुल' नई कैसे हो गई? अँगरेज़ी और अरबी में जितना भेद है, या फ़ारसी और लैटिन में जितना अन्तर है, क्या उक्त दोनों संस्कृतों में भी वैसा ही भेद है? यदि है, तो फिर आप इन दोनों को एक ही नाम 'संस्कृत' से कैसे बोधित करते हैं?

आपका कहना है कि प्रकृत वेद-मन्त्रों में 'गौ' का अर्थ 'गाय' करने में सम्पूर्ण दोष लौकिक संस्कृत का है; क्योंकि इसमें 'गौ' का अर्थ गाय के सिवा और कुछ होता ही नहीं। वेदों में 'गौ' शब्द के अनेक—"११-१२" अर्थ होते हैं। वहाँ यह शब्द कई अर्थों में आता है, परन्तु लौकिक संस्कृत में धेनु (गाय) के सिवा इसका और कोई अर्थ नहीं होता, अतः लौकिक संस्कृत पढ़नेवाले लोग वेदों में जहाँ कहीं 'गौ' शब्द देखते हैं, वहाँ झट उसका अर्थ 'गाय' करने लगते हैं और यही वेद के अर्थ में अनर्थ होने का एक-मात्र कारण है। आपकी बात आप ही के शब्दों में सुनिए—

"गौ—यह शब्द सुनकर 'गाय' कहलानेवाले, चार पाँवोंवाले प्रसिद्ध पालतू (?) पशु के अतिरिक्त और कुछ ध्यान नहीं आता है" (पृष्ठ ४) "यद्यपि वेद में तो... इससे भिन्न भी बहुत अर्थ हैं, तो भी हममें से लौकिक संस्कृत पढ़ा हुआ व्यक्ति भी जब इस सूक्त में गौ शब्द सुनेगा, तो वह अपने इसी दृढ़ संस्कारवश—गाय पशु—इस अर्थ के अतिरिक्त और किसी अर्थ की कल्पना गौ शब्द से नहीं कर सकता" (पृष्ठ ५)।

"हमारे मनों में इस शब्द के साथ इसी अर्थ का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है" (पृष्ठ ४)।

"इसलिये अपने पूर्व संस्कारों (लौकिक संस्कृत के संस्कारों) के वश होकर कुछ का कुछ अर्थ कर डालते हैं" (पृष्ठ ६)।

"यह इसलिये कहना आवश्यक हुआ है; क्योंकि ग्रीफ़िथ आदि पाश्चात्य टीकाकारों ने इस सूक्त के गौ शब्द का अर्थ गाय ही कर डाला है" इत्यादि (पृ० ६)।

ग्रीफ़िथ आदि पाश्चात्य टीकाकारों ने गौ का अर्थ गाय किया है, अतः आपकी राय में, यह लौकिक संस्कृत का दोष है। 'कहीं का मरे खेरे की राँड हो'—पुरुष चाहे कहीं का मरे, परन्तु विधवा खेरे (ग्राम) की रहनेवाली को ही होना पड़ेगा। ग़लती चाहे अँगरेज़ करे या फ्रेंच अथवा जर्मन, परन्तु दोष लौकिक संस्कृत के ही सिर मढ़ा जायगा, यही आपके कथन का सारांश है।

इस प्रकरण को आपने इस नाज़ोअंदाज़ से लिखा है, जिससे व्यक्त होता है कि 'गौ' शब्द के अर्थों को आपने बड़े प्रयत्न से किसी अन्धेरी गुफ़ा से खोज निकाला है। आपने लिखा है—"'गौ' और 'ब्राह्मण' और 'अदन' शब्द का आशय भी हमें प्रयत्नपूर्वक खोजकर अपने हृदय में जमाना होगा।"

(पृ० ४)

'हम अपने दिलों से यह संस्कार हटा दें कि गौ-शब्द का अर्थ केवल गाय यही होता है।"

हमारी समझ में नहीं आता कि यह संस्कार किस के दिल में घुसा बैठा है, जिसके निकालने के लिये आप यह भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। हम तो समझते हैं कि यदि आपने लौकिक संस्कृत का अध्ययन किसी अच्छे ढंग से किया होता, तो इस क़दर न बहकते। "गौ शब्द का अर्थ केवल 'गाय' ही होता है"—यह सुनकर लौकिक संस्कृत पढ़नेवाला एक बच्चा भी हँस देगा। लौकिक संस्कृत पढ़नेवाले बच्चों को आरंभ में 'अमरकोष' पढ़ाया जाता है। यह सभी जानते हैं कि इस कोष में लौकिक शब्दों के लौकिक अर्थों का ही निर्देश है। वैदिक शब्दों या वैदिक अर्थों का निरूपण करना इसका लक्ष्य नहीं। इसी अमरकोष के 'नानार्थवर्ग' में 'गौ' शब्द का अर्थ बताते हुए लिखा है—

'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले।
लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः........।'

अर्थात् गौ-शब्द, स्वर्ग, बाण, पशु-विशेष (गाय), वाणी, वज्र, दिशा, नेत्र, किरण, भूमि और जल इन अर्थों में आता है! यह स्त्रीलिङ्ग भी है और पुलिङ्ग भी।

हमारी समझ में नहीं आता कि इसके रहते हुए भी आप यह किस आधार पर कहते हैं कि "लौकिक संस्कृत पढ़ा हुआ व्यक्ति गाय पशु के अतिरिक्त और किसी अर्थ की कल्पना गौ-शब्द से नहीं कर सकता।"

अमरोक्त अर्थों के अतिरिक्त और अर्थ भी 'गौ शब्द' के हैं। गाय के साथ-साथ बैल के लिये भी यह शब्द आता है। एक औषध का भी यह नाम है। सूर्य और चन्द्रमा को भी 'गौ' कहते हैं। सामान्य पशु को भी 'गौ' से बोधित करते हैं। 'गौर्वाहीकः' में इसका अर्थ सामान्य पशु ही है। वायु और माता के लिये भी इस शब्द का प्रयोग होता है। इन्द्रियों को भी 'गौ' कहते हैं। शब्द, रूप, रस आदि विषयों को 'गोचर' इसीलिये कहा जाता है (गावः इन्द्रियाणि चरन्ति यस्मिन्)। इन्द्रिय-सामान्य के साथ ही इन्द्रिय-विशेष को भी गौ' कहा जाता है। नेत्र के लिये 'गौ' शब्द के प्रयोग की

बात पूर्वोक्त अमरकोष के वाक्य में मौजूद है । चोर कवि ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग भी किया है—'नृत्यन्ति गोकर्णशरीरभत्ताः' । यहाँ 'गोकर्ण' का अर्थ सर्प है । क्यों ? इसीलिये कि उसके 'गौ' (नेत्र) ही कर्ण का काम देते हैं । इसी से सर्प को चक्षुःश्रवा भी कहते हैं । 'गौ' शब्द का अर्थ लोम भी होता है । 'अथाऽस्य गोदानविधेरनन्तरम्'—यह कालिदास ने लिखा है । मल्लिनाथ ने "गावः लोमानि" यह उसकी व्याख्या की है । इन दोनों—कविकुलगुरु श्रीकालिदास और विद्वद्वर श्रीमल्लिनाथ—को वैदिक पुरुष मानने का साहस तो शायद श्रीदेवशर्माजी भी न कर सकेंगे । इन दोनों ने जो कुछ लिखा है, वह लौकिक संस्कृत ही है, वैदिक नहीं । 'गोदारण' हल का नाम (लौकिक संस्कृत में ही) है । क्यों ? 'गौ' (पृथ्वी) का विदारण करता है इसलिये । 'गोत्र' पर्वत को कहते हैं । क्यों ? 'गौ' (पृथ्वी) का त्राण करता है इसलिये । गोकुल, गोष्ठ, गोदन्त आदि शब्दों में 'गौ' शब्द पशु-सामान्य और पशु-विशेष के लिये प्रयुक्त होता है । 'गौ' शब्द का अर्थ वाणी भी होता है, और वह भी इसी लौकिक संस्कृत में । श्रीमल्लिनाथजी ने 'शिशुपालवध' की व्याख्या के आरम्भ में अपना परिचय देते हुए लिखा है—

"वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासिकी-
मन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत्"

इसमें 'पन्नगगवी' का अर्थ है शेषनाग की वाणी यानी 'व्याकरण-महाभाष्य' । क्यों ? इसलिये कि वह 'पन्नग' (पतञ्जलि) की 'गौ' अर्थात् वाणी है । आप देखेंगे कि वाणी के लिये भी 'गौ' शब्द का प्रयोग इसी लौकिक संस्कृत में अनेक जगह मौजूद है, जिसकी "प्रयत्नपूर्वक खोज" का नाज़ श्रीदेवशर्माजी को है । इसीलिये हमारा कहना है कि यदि लौकिक संस्कृत का अध्ययन आपने किसी अच्छे ढंग से किया होता, तो उसे इस तरह न कोसते और न वैदिक भाषा को उससे नितान्त भिन्न समझते । वेदों में 'गौ' शब्द जितने अर्थों में प्रयुक्त होता है, उनसे कम में लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त नहीं होता, बल्कि कुछ अधिक अर्थों में ही आता है । व्यर्थ विस्तार के भय से हम अधिक उदाहरण देना उचित नहीं समझते ।

संस्कृत को जाने दीजिए । हिन्दी में भी सर्वत्र 'गौ' शब्द का अर्थ 'गाय' नहीं होता । तुलसीकृत रामायण में अनेक जगह 'गोसाईं' और 'गुसाईं' शब्द आए हैं। क्या उन सबका 'अर्थ 'गाय का स्वामी' है ? गोस्वामी तुलसीदासजी का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है । आज भी सैकड़ों-हज़ारों लोग 'गोस्वामी' कहाते हैं । क्या ये सब गाय पालनेवाली अहीर, गड़रिया अथवा गूजर जाति के हैं ? क्या गाय का मालिक होने के कारण ही इन सबको 'गोस्वामी' कहा जाता है ? हिन्दी में यह चौपाई अत्यन्त प्रसिद्ध है—

'गो-गोचर जहँ तक चलि जाई ।
तहँ तक माया समुझौ भाई ॥'

क्या यहाँ 'गौ' शब्द का अर्थ गाय ही है ? तब तो फिर इस चौपाई का यही अर्थ होगा कि जहाँ तक गौएँ और उनके चरने की भूमि (गोचर) देख पड़े, वहीं तक माया (प्रकृति) समझनी चाहिए । फिर बाक़ी जगत् को क्या समझा जायगा ? क्या वह प्रकृति से परे की वस्तु माना जायगा ? वास्तव में आपका यह कथन अत्यन्त असंगत है कि "आजकल की अपनी भाषा (हिन्दी) बोलनेवाले हम लोगों को तो 'गौ' शब्द सुनकर गाय कहलानेवाले......पशु के अतिरिक्त और कुछ ध्यान नहीं आता है ।"

आपने बहुत-सी सिद्धान्तविरुद्ध बातें भी कह डाली हैं । अनेक जगह वेदवाक्यों में से ध्वनि निकालने की चर्चा की है, परन्तु व्यञ्जनावृत्ति केवल काव्यमार्ग की सम्पत्ति है । यज्ञशाला में वेश्या और वेदों में व्यञ्जना (या ध्वनि) कभी नहीं जाया करती । इसी से तो नैषधकार श्रीहर्ष ने वक्रवृत्ति (ध्वनि) से अनभिज्ञ होने के कारण वेदों के वक्ता ब्रह्माजी को 'वेद-जड़' कह कर मीठी चुटकी ली है—"न वेद तां वेद-जडः स वक्राम्" यह नैषध का पद्यांश है ।

आपने लक्षणा को भी वैदिक शब्दों में स्थान दिया है । "फिर लाक्षणिक अर्थों में जायँ तो गो-शब्द धन, किरण, प्रकाश, इन्द्रिय, जल, श्रोता और गाय से सम्बन्ध रखनेवाले दूध, घी, चमड़ा आदि तक का वाचक हुआ है ।"

इस कथन से तो यही प्रतीत होता है कि आपने साहित्य का बिलकुल अध्ययन या अनुशीलन नहीं किया

है। "लाक्षणिक अर्थों में जायँ.........वाचक हुआ है"। यह कैसी बेतुकी बात? लाक्षणिक भी कहीं वाचक होता है? फिर वेदों में लक्षणा का क्या काम? निरुक्त-कार महर्षि यास्क तो लुप्त-अलुप्त तद्धित-प्रत्ययों के सहारे 'गो' शब्द से दूध आदि का अर्थ निकालते हैं और आप वहाँ लक्षणा बताते हैं!! "अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति गोभिः श्रीणीतमत्सरमिति पयसः"। यह निरुक्त का वाक्य है।

आपने लिखा है कि वेदों में गाय के लिये गो-शब्द मुख्य नहीं, परंतु वेदों के व्याकरण (निरुक्त) में साफ़ लिखा है—"अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव"। किरण, प्रकाश, इन्द्रिय, जल आदि को 'गो' शब्द का लाक्षणिक अर्थ बताना भी अज्ञानमूलक है। वे सब उसके वाच्य अर्थ हैं। अमरकोष का वाक्य तो पाठक अभी भूले न होंगे। लाक्षणिक और व्यंग्य-अर्थों का निर्देश किसी कोष में नहीं किया जा सकता। फिर लक्षणा के कारणों (रूढ़ि और प्रयोजन) का भी तो यहाँ कहीं सौ-सौ कोस तक पता नहीं है। निरुक्तकार भी उन्हें वाच्य अर्थ मानते हैं, लक्ष्य नहीं।"

आपने रघुवंश का एक पद्य "प्रजानां हि भूत्यर्थं स-ताभ्यो बलिमग्रहीत्" इत्यादि उद्धृत करते हुए लिखा है कि "कालिदास ने रघु राजा को करप्रणाली को सूर्य की उपमा देते हुए ... वर्णन किया है"। वस्तुतः उक्त पद्य रघु के वर्णन में नहीं है। जिस प्रकरण का वह पद्य है, वहाँ तक तो रघु का जन्म ही नहीं हुआ था। उक्त पद्य में उपमा भी नहीं है और न सूर्य की समता कर-प्रणाली के साथ है। हाँ, रघु के पिता के साथ सूर्य का साम्य दृष्टान्त द्वारा अवश्य प्रकट किया है। जो पाठ आपने उद्धृत किया है, वह भी अशुद्ध है। उसमें अर्था-शुद्धि भी है और छन्दोभङ्ग भी। शुद्ध पाठ इस प्रकार है—"प्रजानामेव भूत्यर्थम्" इत्यादि।

यह सब बातें शास्त्रीय सिद्धान्त-सम्बन्धी हैं और आपकी 'आरम्भिक विवेचना' से ही इनका सम्बन्ध है। प्रकृत पुस्तक में इनसे विशेष क्षति नहीं हुई। वह अवश्य उपादेय है, अवश्य पठनीय है। हिन्दी जाननेवालों का इससे बहुत कुछ उपकार होना संभव है। हम इसके प्रचुर प्रचार की कामना करते हैं। वेदों की विशेषता यही है कि वहाँ थोड़े शब्दों में अनन्त अर्थराशि छिपी रहती है। जो अर्थ आपने किया है, वह वर्तमान समय के प्रवाह को देखते हुए बड़ा ही चित्ताकर्षक है। यह तो हम नहीं कहते कि जो कुछ आपने लिखा है, बस उतना ही उन मन्त्रों का अर्थ है, उससे अधिक नहीं; परन्तु इतना हम अवश्य कहते हैं कि आपका किया मन्त्रार्थ भी अधि-कांश में उनका यथार्थ अर्थ है और बड़ा सुन्दर है। पाठकों को उससे अवश्य लाभ उठाना चाहिए।

शालग्राम शास्त्री

× × ×

झंकार—लेखक, श्रीयुत मैथिलीशरणजी गुप्त; प्रकाशक, साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी; पृष्ठ-संख्या १७३; सजिल्द प्रति का मूल्य ॥=)

जयद्रथ-वध के लेखक श्रीमैथिलीशरण गुप्त से हिंदी-संसार भली भाँति परिचित है। प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं की रुचिर रचनाओं का सरस संग्रह है। उपयोगिता की दृष्टि से 'झंकार' की प्रत्येक स्वर-लहरी अधिक-से-अधिक उल्लास से भरी हुई है। सभी कविताएँ ओजपूर्ण, चुटीली और हृदय पर अपना प्रभाव जमानेवाली हैं। संसार की अनित्यता और जीवन के अस्तित्व का तत्व, माया-मरीचिका का निरूपण तथा पुनर्जन्म की भूल-भुलइया का परिचय बड़े ही सरल शब्दों में दिया गया है। सुकुमार भावों से युक्त काव्य की ललित-कला और भक्ति-रस से सनी हुई सुंदर शैली अपना अनोखा ढंग रखती है। सभी कविताएँ बालक एवं बालिकाओं के सम्मुख भी एक उज्ज्वल आदर्श उपस्थित करती हैं। ऐसा सुंदर संग्रह, जिसे बंधु अपनी भगिनी को निःसंकोच भाव से पढ़कर सुना सके, मेरे देखने में नहीं आया। उक्त पुस्तक साहित्य-मणि-माला की प्रथम मणि है, जिसने अपनी पवित्र आभा से प्रकाशक के कलित-कामना-कुंज को प्रस्फुटित कर दिया है। इस प्रथम मणि में गुण के साथ-साथ सौंदर्य भी है। मैं इस खड़ीबोली की मधुर 'झंकार' को विशेष आदर देता हूँ।

× × ×

दूर्वा-दल—लेखक, श्रीसियारामशरण गुप्त; प्रकाशक, साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी; पृष्ठ-संख्या, १११; सुंदर मज़बूत जिल्द; काग़ज़ चिकना; छपाई साफ़; मूल्य ॥=)

साहित्य-सदन सचमुच अपनी मणि-माला को अमूल्य रत्नों से गुंफित कर रहा है। 'दूर्वा-दल' उक्त माला का

पाँचवाँ मणि है, जिसमें गुप्तजी की ३५ भिन्न-भिन्न-विषयक कविताओं का संग्रह किया गया है। अधिकांश रचनाएँ काव्यानंद प्रदान करनेवाली एवं धार्मिक विचारों से ओत-प्रोत हैं। पाठकों के विनोदार्थ कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जा रही हैं—

"ऊपर नीचे तम ही तम है
बन्धन है अवलम्ब यहाँ !
यह भी नहीं समझ में आता
गिरकर मैं जा रहा कहाँ !!
सभी तरह हूँ विवश, करूँ क्या
नहीं दीखता एक उपाय ;
यह क्या ? यह तो अगम नीर है
डूबा—अब डूबा मैं हाय !!"

* * *

"भोजन करता हुआ मचल जब मैं जाता था,
जब न एक भी ग्रास और मुझको भाता था;
तब हे जननी, विविध प्रलोभन तू दे-देकर,
करती थी अनुकूल मुझे गोदी में लेकर।
अति ही अमूल्य थीं लोक में,
वे तेरी बातें सभी ;
उस समय हाय ! इस बात का,
ज्ञान हुआ न मुझे कभी !"

× × ×

भारत-गीत—संपादक, श्रीजगन्नाथप्रसादसिंह; प्रकाशक, हिंदी-साहित्य-कार्यालय, लहेरियासराय, दरभंगा; पृष्ठ-संख्या ५८; मूल्य ।)

पुस्तक का जैसा नाम है, वैसी ही इसमें संपत्ति भी है। अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों के रचे हुए गीतों का यह संग्रह देश-काल के सर्वथा अनुकूल है। पढ़ते समय 'भारत गीत' भारत के प्राचीन गौरव की याद दिलाते हैं।

× × ×

मेरी सम्पत्ति—रचयिता, चतुर्वेदी रामचंद्र शर्मा 'विद्यार्थी' विशारद; प्रकाशक, 'विद्यार्थी' नवजीवन-ग्रंथमाला खरगोन—होलकर राज्य; पृष्ठ संख्या ८१, सचित्र, मूल्य ॥)

'विद्यार्थीजी' की स्वरचित रचनाओं का यह संग्रह उनके काव्य-प्रेम का द्योतक है। भाव उत्कृष्ट हैं, परंतु भाषा कहीं-कहीं पर जवाब दे गई है। अधिकांश रचनाएँ उत्तम एवं दोष-मुक्त हैं। पुस्तक में रंगीन और सादे चित्र भी दे दिए गए हैं। सत्साहस के लिये हम 'विद्यार्थी-जी' को हार्दिक बधाई देते हैं।

× × ×

अंजना-पवनंजय—रचयिता, श्रीयुत् सेठ भँवरलाल सेठी; प्रकाशक, वाणिज्यभूषण सेठ नेमीचंदजी सेठी, लक्ष्मी-निवास, झालरापाटन; पृष्ठ-संख्या ३५।

यह हिंदी का छोटा-सा खंड-काव्य है, जिसमें देवी अंजना और राजकुमार पवनंजय की कथा अच्छे ढंग से छंद-बद्ध की गई है। इसका प्रथम संस्करण जैन-ग्रंथ-रत्नाकर-कार्यालय से प्रकाशित हुआ था। द्वितीय संस्करण स्वर्गीया श्रीमती अनूपप्रभा देवी की पुण्य-स्मृति में निकाला गया है। आर्ट पेपर पर रंगीन रोशनाई से छपी हुई यह पुस्तक देखने और पढ़ने में सुंदर है।

मूल्य शायद प्रकाशक ने कुछ नहीं रक्खा।

रमाशंकरमिश्र "श्रीपति"

× × ×

स्वास्थ्यसंलाप—लेखक, श्रीकृष्णानंद गुप्त; प्रकाशक, साहित्यसदन, चिरगाँव (झाँसी); मूल्य ॥=); साजिल्द; पृष्ठ-संख्या १६४।

साहित्यमणिमाला का यह चतुर्थ मणि है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इसमें स्वास्थ्य-संबंधी वार्ता है और वार्तिक रूप में ही लिखी गई है। खान-पान, स्नान, विश्राम, सोना, व्यायाम आदि दैनिक चर्या से लेकर स्वास्थ्य-संबंधी प्रायः प्रत्येक आवश्यक अंग पर रोचक ढंग से प्रकाश डाला गया है। निस्संदेह पुस्तक के अनुसार स्वास्थ्य-संबंधी नियमों की ओर ध्यान देने से पाठकों को लाभ हो सकेगा।

× × ×

विषाद—लेखक, श्रीसियारामशरण गुप्त; प्रकाशक, साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी); मूल्य ।~); पृष्ठ-संख्या ४८; छपाई-सफ़ाई सुंदर।

इसमें गुप्तजी की १५ कविताओं का संग्रह है, लेकिन सभी 'विषाद' नाम को सार्थक करती हैं, यह हम नहीं कह सकते। गुप्तजी खड़ीबोली के एक लब्धप्रतिष्ठ कवि हैं। कविताएँ भी आपकी प्रतिष्ठा के अनुकूल हैं। सभी सुबोध एवं भावपूर्ण हैं। पाठक पुस्तक पढ़कर प्रसन्न होंगे।

× × ×

रेणु—लेखक, श्रीरामचंद्र टंडन; प्रकाशक, साहित्य-सदन चिरगाँव (झाँसी); मूल्य ।-); पृष्ठ-संख्या ४८।

यह 'रेणु' सवा दो सौ कणों के संग्रह से बनी है। प्रत्येक कण में कोई-न-कोई उपदेश भरा है। जीवन-संग्राम के सैनिक के लिये यह उपदेशामृत तृप्तिकर होगा। पढ़ते-पढ़ते जान पड़ता है, मानो जीवन-संगीत की रागिनी छिड़ी हो, हृत्तंत्री उससे एक बार निनादित हो उठती है। छोटी-सी अच्छी पुस्तक है।

× × ×

गल्पगुच्छ—मूल-लेखक, श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर; अनुवादक, धन्यकुमार जैन; प्रकाशक, विशाल भारत-पुस्तकालय, १२०१२ अपरसरकूलर रोड कलकत्ता; मूल्य १); सजिल्द १।।) पृष्ठ-संख्या २२४।

इसमें रवींद्र बाबू की १८ कहानियों का संग्रह है। रवींद्र बाबू की संपूर्ण कहानियों का संग्रह 'गल्पगुच्छ' के नाम से प्रकाशित होगा। पाँच भाग और निकलेंगे। ये रवि बाबू की कहानियाँ हैं, बस केवल इतना ही जान लेना इनकी उत्तमता का प्रमाण है। रही अनुवाद की बात। सो इसकी भाषा बड़ी प्रांजल है, सरल और सुबोध है। हम अनुवादक को इसके लिये बधाई देते हैं। प्रत्येक हिंदी-प्रेमी को भी रवि बाबू की रचनाएँ पढ़कर अपने को कृतार्थ करना चाहिए। साहित्य के नाते रवि बाबू भारतवर्ष के अभिमान हैं।

× × ×

सफ़र की कुंजी—लेखक, गंगाप्रसाद अग्रवाल; प्रकाशक, गोपालप्रसाद गोविंदप्रसाद अग्रवाल, दौंड, जिला पूना; मूल्य ।।=); पृष्ठ-संख्या ११२।

सफ़र करने के समय कितनी अड़चनों और विडंबनाओं का सामना करना पड़ता है, यह प्रत्येक यात्री जानता है। जो लोग पहलेपहल सफ़र करते हैं, साथ ही संसार का जिन्हें कम अनुभव रहता है एवं जो छोटी उम्र के होते हैं, उनसे पूछिए कि यात्रा में कितनी कठिनाइयाँ पड़ती हैं। ऐसे निरनुभवी यात्रियों के लिये तो यह पुस्तक पथप्रदर्शक का काम देगी। बाल-बच्चेदार यात्रियों के लिये मित्र एवं डाक्टर का भी काम करेगी। यात्रा के लिये यह एक अच्छी 'गाइड' है।

× × ×

छत्रशालदशक—टीकाकार, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र साहित्यरत्न और पं० रमाकांत चौबे विशारद; प्रकाशक, साहित्य-सेवक-कार्यालय, ब्रह्मनाल, काशी; मूल्य =)

यह श्रीशंकर-पुस्तकमाला का नवाँ पुष्प है। माला के संपादक पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, साहित्यरत्न, साहित्य-शास्त्री हैं। संपादक के 'दो शब्द' और 'वक्तव्य' के बाद महाकवि भूषण तथा महाराज छत्रशाल की अलग-अलग जीवनी दी गई है। फिर छत्रशाल-संबंधी १० कवित्त हैं, जिनकी टीका में शब्दार्थ, भावार्थ, अलंकार आदि का निर्देश किया गया है। विद्यार्थियों के काम की चीज़ है।

× × ×

शिवाबावनी—टिप्पणीकार, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र और श्रीयुत बजरंगीलाल गुप्त विशारद; प्रकाशक उपर्युक्त; मूल्य ।)

उपर्युक्त श्रीशंकर-पुस्तकमाला का यह आठवाँ पुष्प है। 'प्राक्कथन' में संपादक पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र लिखते हैं—'इसका रूपरंग पूर्व प्रकाशित संस्करणों से अत्यधिक परिवर्तित मिलेगा। किंतु यदि वे (पाठक) कुछ धैर्य धरकर पुस्तक का अवलोकन कर जायँगे, तो उनके चित्त को संतोष हुए बिना न रहेगा। काव्य और कला को दृष्टिकोण में रखते हुए जो पाठ ग्रहण किए गए हैं, वे तुलनात्मक विचार करने पर ठीक जँचेंगे।' प्रत्येक छंद के शब्दार्थ, भावार्थ एवं अलंकार बतलाए गए हैं।

× × ×

मणिलाल-प्रकाश—प्रणेता, पं० मनीलाल मिश्र, चौक कानपुर; प्रकाशक, रामावतार शुक्ल भैरवदत्त मिश्र, राजगद्दी हटिया, कानपुर; मूल्य ।-)

कानपुर में रसिकसमाज-नामक एक अच्छी संस्था है। पंडितजी उसके प्रधान स्तंभों में हैं। आप ही की कुछ रचनाओं का इसमें संग्रह है। कवित्त और सवैयों में कुछ समस्यापूर्तियाँ हैं, कुछ दोहे हैं। संस्कृत में भी कुछ कवित्त एवं सवैए हैं। गज़लें और भजन भी संग्रहीत हैं। रचना अच्छी है। हम आशा करते हैं कि मिश्रजी की अन्य रचनाएँ भी प्रकाश में आवेंगी। पुस्तक का अधिकांश भाग ब्रजभाषा में है। छपाई-सफ़ाई संतोष-जनक नहीं है।

मातादीन शुक्ल

कृषि, शिल्प और वाणिज्य

१. कपास

आजकल स्वराज्य की हलचल संपूर्ण भारतवर्ष में मच रही है; विदेशी कपड़े का बहिष्कार बहुत ज़ोरों से चल रहा है और देशी कपड़े पर बहुत ज़ोर दिया जा रहा है। देशी कपड़े को बढ़ाने के लिये देशी सूत की, और सूत के लिये कपास की आवश्यकता पड़ती है। इसलिये देशी कपड़े की तरक़्क़ी करना है, तो पहले कपास की खेती की तरक़्क़ी करना अति आवश्यक है; क्योंकि जब कपास ही अच्छा न पैदा होगी, तो फिर कपड़ा कैसे अच्छा बनेगा। यदि कहें कि पुराने ज़माने में आदमी कैसे कपड़ा बनाते होंगे, जिसकी तारीफ़ आजकल भी हुआ करती है, तो उसका यही जवाब है कि पुराने समय में कपास की खेती भी अधिक होती थी। आजकल देखा जाय, तो सारे संसार में सबसे ज़्यादा कपास अमेरिका, दूसरे नंबर भारतवर्ष में, फिर चीन में और मिसर में पैदा होती है। ये चार देश मुख्य हैं; वैसे तो थोड़ी-बहुत कपास हर जगह पैदा हो जाती है। प्राचीन काल का इतिहास देखने से पता चलता है कि भारतवर्ष में कलाकौशल कितना अधिक बढ़ा-चढ़ा था। सूत के कपड़े तो यहाँ इतने अच्छे बनते थे कि जिनकी तारीफ़ समस्त संसार में थी। इसका मूल-कारण एक-मात्र यही है कि पुराने समय में लोग कपास अधिक और अच्छी पैदा करते थे, ताकि वे उससे अच्छा सूत निकाल सकें और सूत से अच्छे-अच्छे कपड़े बना सकें। यही कारण था कि उस समय की मलमल तथा अन्य सूत के कपड़े इतने अच्छे बनते थे। परंतु आजकल देखा जाता है कि लोगों का ध्यान किसी दूसरी ओर आकर्षित हो गया है और वे कपास की अपेक्षा ग़ल्ला अधिक पैदा करने लगे हैं। फिर भी भारतवर्ष का नंबर समस्त संसार में दूसरा है। जब ऐसा ही है, तो हमें इस बात की चेष्टा क्यों न करनी चाहिए जिससे दूसरे देशों की अपेक्षा हमारे देश में कपास की उन्नति हो। इस छोटे-से लेख में सर्वसाधारण की भलाई के लिये, कपास की खेती और उसके सुधार करने की बातें बताई जायँगी।

कपास की खेती—कपास की खेती और वर्षा का अधिक घनिष्ठ संबंध है। कपास की फ़सल सफलता-पूर्वक तभी उगाई जा सकती है, जब हम यह जान

है कि अमुक जगह की ज़मीन इस तरह की और वर्षा इस तरह की होती है और ज़मीन में जो पानी जमा होता है, उस पानी के साथ मिट्टी कैसा व्यवहार करती है। यदि जुलाई और अगस्त के शुरू में पानी काफ़ी बरस जाय और यदि फिर सितंबर में भी पानी बरस जाय, तो कपास की फ़सल का सफल होना निश्चय है।

दो मुख्य कारण, जिनसे कपास की फ़सल को नुक़सान होता है, ये हैं—जुलाई में अधिक पानी बरसने से और सितंबर के आख़िरी हफ़्ते और अक्टोबर के शुरू हफ़्ते में अधिक वर्षा होने से फ़सल को अधिक नुक़सान होता है। इसमें जुलाई में अधिक पानी बरसने से अधिक हानि होती है। इससे जो कुछ भी नुक़सान ज़मीन कड़ी हो जाने से और निंदाई न होने से होता है, वह फिर निंदाई करने से और दौरा डुंडिया या बखरने से ज़मीन को ठीक करने से पूरा हो सकता है, परंतु सितंबर और अक्टोबर में जो हानि होती है, वह किसी क़दर कम नहीं हो सकती; क्योंकि इस समय में जो पानी बरसता है उससे फूल और फलों को नुक़सान होता है और इस हानि के हटाने की किसी तरह आशा नहीं की जाती। पहले पानी बरसने से इसलिये नुक़सान होता है कि अधिक पानी कपास के पौधों के चारों तरफ़ इकट्ठा हो जाता है, इससे उनकी जड़ों को अधिक नुक़सान पहुँचता है। अधिक पानी से दो तरह से नुक़सान होता है। पहले मिट्टी के कणों में हवा जाने के लिये जो छिद्र रहते हैं, वह पानी से भर जाते हैं, इससे हवा का जाना बंद हो जाता है, जिससे पौधों को हवा कम मिलती है, और उनकी बाढ़ मारी जाती है। अधिक पानी बरसने से पौधों की जड़ें नीचे सीधा जाने के बजाय ऊपर ही, ज़्यादा गहराई में न जाकर, फैलने और छिछलने लगती हैं और इसी तरह से ये जड़ें नीचे नहीं जाने पातीं तथा अधिक पानी के कारण बढ़ने भी नहीं पातीं।

यदि पौधे की हालत एक बार ऐसी हो चुकी हो, तो फिर उसके सुधार का कोई भी उपाय नहीं है। पौधा छोटा-सा और ख़राब हो जायगा, क्योंकि उसकी जड़ें बेढब और ख़राब हो गईं। यह पौधा फिर बहुत जल्दी मर जाता है, क्योंकि जड़ों ने नीचे और सीधा बढ़ना अधिक पानी के कारण छोड़ दिया। इस तरह से जो हानि होती है, वह और किसी दूसरे वक़्त नहीं होती। यह सब नुक़सान सिर्फ़ अधिक और लगातार बरसात से ही नहीं होता, इसके साथ मिट्टी का भी असर होता है। वर्षा और मिट्टी दोनों साथ-साथ चलते हैं। कपास-विभाग में हमेशा ऐसा देखा गया है कि फ़सल ऊँची जगह पर नीची जगह की अपेक्षा अच्छी होती है। वर्षा दोनों स्थानों पर एक-सी रहने पर भी, एक जगह कपास अच्छी होती है, परंतु दूसरी जगह ख़राब होती है। सूखे के साल में शायद कपास नीची जगह में अच्छी भी हो जाय। किसी भी किसान के खेत में, जिसमें कपास की फ़सल बहुत अच्छी होती हो, परीक्षा करने से पता चलता है कि उस खेत की मिट्टी ऐसी है कि उसमें पानी साफ़ छनकर बह जाता है। इसलिये तुम देखोगे कि अच्छी काली मिट्टी, जिसमें से पानी साफ़ छनकर निकल जाता है, अधिक पानी को ही नहीं निकालती और फ़सल जल्दी पकाती है, परंतु बरसात में अच्छी खेती और जड़ों को अधिक गहराई तक जाने देती है और उनको अच्छी तरह बढ़ने में सहायता देती है, जिससे कपास की फ़सल बहुत ही अच्छी होती है।

ज़मीन की तैयारी—प्रायः सब कपास-विभाग में कपास बोने के पहले ज़मीन में मोगधा और इसके बाद बखर चलाते हैं। मोगधा हमेशा दो जोड़ी बैलों में खींचा जाता है। एक या दो बार पानी आने के पहले लाभकारी है। परंतु कपास-विभाग के पूर्वी भागों में सिर्फ़ बखर से ही काम लिया जाता है। बरसात शुरू होते ही सिर्फ़ एक बार ज़मीन को बखरकर जल्दी ही बोनी कर देते हैं।

एक भारी हल से गहराई तक जोतना तभी ठीक होता है, जब कि ज़मीन अधिक समय तक पड़ी रहे। क्योंकि ऐसा करना अधिक ख़र्चीला भी तो पड़ता है। ऐसा करने से कपास के बाद कपास नहीं बल्कि ज्वारी बोना उचित होता है। अधिक गहराई तक जोतने से अधिक हानि होती है—(१) कपास के बीज जब बोए जाते हैं, तो वे ठीक तौर से उगते नहीं हैं, (२) बोनी का समय बढ़ जाता है और बोनी को देर हो जाती है, (३) जब अधिक गहराई तक ज़मीन जोती जाती है, तो उसमें अधिक पानी भर जाता है, जिससे पौधों को अधिक हानि होती है।

जोतने से क़रीब ७ इंच गहराई तक की मिट्टी तितर-बितर हो जाती है। पानी का पहला झला आने पर जब ज़मीन क़रीब ३ इंच गहराई तक बखरी जाती है, तो मिट्टी बहुत अच्छी दिखाई देती है, परंतु सचमुच में यह ठीक नहीं है।

तीन इंच तक की गहराई तक बखरने से ज़मीन की मिट्टी अच्छी रहती है। मिट्टी के बड़े ढेले और हवा-छिद्र, ख़राब नीचे का हिस्सा जो बिना जोता हुआ है, सब रहते हैं। सच-मुच में जब तक पानी अच्छी तरह से न बरस जाय और मिट्टी को एक-सा न बिठाल दे, तब तक नीचे की तह में बड़े-बड़े ढेले और हवा छिद्र (Air spaces) भी बड़े रहते हैं। इसलिये यदि बखरने के बाद ही कपास बो दो जाय, तो पौधे अपनी जड़ें नीचे की ख़राब तह में पहुँचा देते हैं, जिसका यह परिणाम निकलता है कि कई पौधे मर जाते हैं।

जोतने के बाद, यदि कपास जल्दी बोना है, तो थोड़ा पानी बरस जाने के बाद, जब कि ढेले वग़ैरह घुलकर ठीक हो गए हों, फिर से ज़मीन को जोतना उचित है। ऐसा करने से जो भी ढेले नीचे रह जाते हैं, वे ऊपर आ जाते हैं और अच्छी मिट्टी नीचे खिसक जाती है। यदि ऊपर की ज़मीन में अधिक ढेले हों, तो फिर से बखर से ज़मीन को बखर देना चाहिए। ऐसी कमाई हुई मिट्टी में बोने से बहुत ही अच्छी फ़सल होगी।

यदि बोनी करने में देर हो जाय, तो फिर जो ख़राबी होगी, उसको हटाने में बड़ी कठिनाई होगी। कुछ भाग्य-शाली वर्षों के सिवा जब कि मई महीने में पानी के थोड़े बहुत झले आ जाते हैं, और सालों में देर से बोने से हानि होती है। इसलिये जहाँ तक हो सके, ठीक समय पर ही बोनी करना उचित समझा गया है। जो खेत कम गहराई तक जोते गए हों और जिनमें कूड़ा-कचरा अधिक न होता हो, उनमें उन खेतों की अपेक्षा, जिनमें कूड़ा-कचरा अधिक होता हो और अधिक गहराई तक जोते गए हों, बोनी जल्दी करनी चाहिए; क्योंकि जिनमें कूड़ा-कचरा अधिक होता है, उनमें इसको उग आने देना चाहिए, जिससे बखरने से सब साफ़ हो जाय।

जुते हुए खेत में जब बरसात का पानी पड़ता है, तो यह पानी खेत में भर जाता है और पानी अधिक बरस गया, तो खेत पानी से ख़ूब भर जाता है तथा बहने नहीं पाता, जिससे पौधों को बहुत नुक़सान होता है। यदि कदाचित् ऐसा कई दिनों तक रहा, तो फ़सल को बहुत नुक़सान होता है।

इसलिये कपास बोने के पहले किसान को अपने आप कुछ प्रश्न पूछना चाहिए—

(१) क्या खेत में अधिक काँस, हरियाली और कुन्दा है? इस मामले में खेत को हल से जोतना ही पड़ेगा।

(२) क्या खेत की मिट्टी ऐसी है, जिसमें से पानी साफ़ छनकर निकल जाय? यदि है, तो हल से जोतना संतोषजनक है; यदि नहीं है, तो फिर जोतना नुक़-सानदायक है।

(३) क्या पानी (ख़ासकर जुलाई और अगस्त के महीने में) अधिक है या कम? यदि कम है, तो जोतना उचित है और यदि अधिक है, तो जोतना ठीक नहीं।

(४) क्या जल्दी बोनी करना ज़रूरी है? यदि ऐसा है, तो शायद जोतना ठीक नहीं है?

कमाई हुई मिट्टी की दशा कैसी होनी चाहिए?—कपास के लिये इस तरह की मिट्टी होनी चाहिए। पहली तह जो कि बिना जुते हुए हिस्से के ऊपर रहती है, बहुत ही अच्छी होनी चाहिए और इसके ऊपर की तह में ढेलेदार मिट्टी होनी चाहिए। अच्छी मिट्टी की गहराई जोतने की गहराई पर निर्भर है, जो ऊपर के प्रश्नों से जाँची जा सकती है। ऊपर ढेलेदार तह रहना, मेरी समझ से, अच्छी मिट्टी की अपेक्षा अच्छा होता है; क्योंकि बोनी के बाद जो पानी बरसता है, वह ढेलों को गलाता है, न कि मिट्टी को दबाने के काम आता है। कपास के लिये ऊपर बताई हुई ज़मीन के समान ज़मीन होनी चाहिए।

खाद (Manuring)—कपास को खाद देने का भी बड़ा जटिल प्रश्न है, जो कि बड़ा महत्त्वशाली है; क्योंकि खाद एक ऐसी वस्तु है, जो फ़सल की उपज में अदल-बदल करती है। कपास की फ़सल, जहाँ तक देखा गया है, नत्रजन अधिक चाहती है, हालाँकि

Phosphoric acid को Nitrogen के साथ देने से और अच्छी फ़सल आती है। Black Cotton soil (ब्लेक काटन सॉयल) में Organic matter बहुत कम रहता है, इसलिये ऐसी मिट्टी में गोबर-खाद्य (Cattle dung) अधिक लाभदायक है। पुटास और चूना (Potash and lime) देने की इसमें कोई आवश्यकता नहीं है। कपास के लिये अधिक खाद्य की ज़रूरत है, यद्यपि खाद्य का पूरा-पूरा उपयोग नहीं होने पाता और वह कपास के बाद की फ़सल के काम में आता है। क़रीब १६ गाड़ी फ़ी एकड़ के हिसाब से देना उचित है। प्रयोग करने से पता लगता है कि कपास के लिये ६-८ गाड़ी गोबर-खाद्य और ४ गाड़ी मूत्र-मिट्टी या ७० पौंड Nitrate of soda फ़ी एकड़ के हिसाब से देना उचित है तब फ़सल भी बहुत अच्छी होती है। खाद्य और पानी से घनिष्ठ संबंध है और इन दोनों का संबंध ज़मीन की मिट्टी से है।

पौधों को जब कि वे क़रीब एक फ़ुट बढ़ जाते हैं, तब Nitrate देने से ठीक समय पर Nitrogen मिल जाता है और उनकी बाढ़ में अधिक सहायता मिल जाती है। ४ मन सड़ी हुई खली देने से भी काम चल सकता है या ३ टन गोबर-खाद्य, १० पौंड नत्रजन और क़रीब १५० पौंड Super phosphate फ़ी एकड़ देना उचित है।

रोटेशन—इस छोटे-से लेख में यह एक जटिल-सा प्रश्न है, जो विवरण के साथ लिखा जाय। कपास के बाद सन की फ़सल लगाना भी ठीक है। कपास के बाद कपास ही सालों तक उगाना ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा करने से कई तरह के रोग आ जाते हैं। इसलिये कपास के बाद कोई ऐसी फ़सल लगानी चाहिए, जिससे अधिक लाभ हो। कपास और ज्वार उगाना भी ठीक है।

बोनी—कपास हमेशा लकीरों में बोनी चाहिए। यह अधिकतर अरगड़ा से बोई जाती है और कहीं-कहीं बखर से भी बो देते हैं; कहीं-कहीं Seed drill से भी बोई जाती है। जल्दी बोने से पौधे जल्दी उग आते और मज़बूत हो जाते हैं और अधिक पानी सह सकने के योग्य हो जाते हैं। कपास की बोनी जहाँ तक हो सके, जून के महीने ही में हो जानी चाहिए।

निंदाई वग़ैरह—जहाँ तक हो सके जल्दी निंदाई करनी चाहिए। जैसे ही कूड़ा-कचरा उगे वैसे ही उसे नींद डालना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से काँस दूब वग़ैरह छोटी उमर में ही मर जाती है और फिर नहीं उगती। डुंडिया और डौरा भी अधिक उपयोगी हैं, जब कि ये कूड़ा-कचरा छोटी अवस्था में हो। अधिक घनी फ़सल हो, तो कुछ पौधे उखाड़कर फेंक देने चाहिए। या जहाँ पर पौधे उगे न हों वहाँ पर लगा देने चाहिए। जहाँ तक हो सके ऐसा जल्दी करना ही उचित समझा गया है। पौधों को १४″—७″ इंच या १८″—६″ या जब मिट्टी उपजाऊ हो, तो १४″—१४″ या १८″—८″ की दूरी पर लगाना ठीक है।

कई जगह ऐसा भी होता है कि लोग कपास के पौधे की बढ़ती हुई कली को तोड़ डालते हैं, जिससे पौधे की डालियाँ अधिक हों, परंतु ऐसा करना ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा करने से पौधा बहुत देर में बढ़ता और पकता है। जब कपास के पौधों में फूल आ जाय, तो फिर यदि दूसरे प्रकार की कपास का पौधा हो, तो उखाड़ डालना चाहिए, जिससे एक ही प्रकार का और साफ़ कपास हो।

कपास का तोड़ना (Picking)—जनवरी के महीने में होता है और चार-पाँच बार होता है

कपास क सुधार (Cotton Improvement)—कपास का सुधार करने के पहले हमको कची कपास के गुण देखने चाहिए और जब हमको वे गुण मालूम हो जायँ, तो फिर हमें उसके सुधार करने की कोशिश करनी चाहिए। कपास-सुधार दो तरह से हो सकता है, औंटाई हुई कपास या रुई अधिक पैदा करना और अधिक कपास भी उगाना, याने अधिक पैदावारी करना। यदि ऐसा मालूम हो जाय कि कोई नई कपास पुरानी कपास से अधिक लाभदायक है, तो फिर उसे ही लगाना उचित है। भारतवर्ष यद्यपि अधिक कपास पैदा करता है, तो भी यहाँ की कपास अधिक अच्छी नहीं होती। इसलिये हम लोगों को ऐसी कोशिश करनी चाहिए, जिससे कि हमारी कपास दूसरे देशों की कपास का मुक़ाबला करने लगे।

बी० एम्० चंदेल

× × ×

२. भारतीय व्यापार और व्यवसाय

सन् १६३० का वर्ष संसार के इतिहास में प्रसिद्ध रहेगा। इस वर्ष भारतीय व्यवसाय और उद्योग-धंधों में जो क्रांति हुई, उसने संसार के सभी देशों की आँखें खोल दीं। जब से अँगरेज़ों का राज्य भारतवर्ष में स्थापित हुआ, तब से भारतवासी वैध रूप से आर्थिक आन्दोलन करते आए हैं। किंतु वंग-भंग के स्वदेशी आंदोलन और १६२१ के असहयोग-काल के बहिष्कार-आंदोलन का पूर्ण विकास १६३० में हुआ। भारतवर्ष के इतिहास में इतना ज़बर्दस्त आर्थिक आंदोलन कभी नहीं हुआ था। इस वर्ष विदेशी वस्त्र और अँगरेज़ी माल के बहिष्कार-आंदोलन के नरम और गरम, ग़रीब और अमीर, किसान और व्यापारी आदि सभी एकमत से समर्थक हो गए। हमें इँगलैंड का माल न ख़रीदना है, और न बेचना है—यह पुकार उन लोगों ने और भी ज़ोरों से की जो अँगरेज़ी माल व विदेशी कपड़े के व्यापारी हैं। व्यापारी-समाज का प्रत्येक व्यक्ति लाखों-करोड़ों की जोखम इस आंदोलन में उठाने के लिये तैयार हुआ। आंदोलनकारियों के कहे बिना ही उन्होंने अपने बाज़ार बंद कर दिए। इस प्रकार के बहिष्कार-आंदोलन से ग्रेट-ब्रिटेन तो विचलित हुआ ही, संसार के अन्य सभी देशों की जेबें भी न भरने लगीं। इस प्रकार आर्थिक प्रश्नों को लेकर एक अभूतपूर्व घटना घटी।

१ जनवरी को लाहौर-कांग्रेस ने यह प्रस्ताव स्वीकृत किया कि वह गोलमेज़-कानफ़्रेंस का बहिष्कार कर सत्याग्रह-आंदोलन छेड़ेगी। इसी अवसर पर आर्थिक दृष्टि से यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुआ कि भारतवर्ष के नाम पर सरकार ने जो क़र्ज़ ले रक्खा है, और जिसके ब्याज का वह करोड़ों रुपया प्रतिवर्ष चुकाती है और गया-कांग्रेस में भारतवासियों के चेतावनी देने पर भी सरकार मनमाने ढंग से इस क़र्ज़ को बढ़ाती चली जाती है, राष्ट्रीय सरकार उसके लिये ज़िम्मेदार नहीं होगी। कांग्रेस ने कहा कि विदेशी शासकों ने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जो आर्थिक बोझ भारतवासियों के सिर पर लादा है, उसे स्वतंत्र भारत नहीं सह सकता और न उसके सहने की आशा की जा सकती है। इस प्रस्ताव में कांग्रेस ने यह घोषणा की कि भारतवर्ष के क़र्ज़ के निपटारे की जाँच एक स्वतंत्र पंचायत के द्वारा की जाएगी और जिन-जिन रक़मों को पंचायत उपयुक्त ठहराएगी, केवल उन्हीं-उन्हीं रक़मों को भारतवर्ष चुकती करेगा। अनुपयुक्त रक़मों को भारतवर्ष किसी भी अवस्था में नहीं चुकाएगा। लंदन-सरकार का सबसे बड़ा सराफ़ा है। कांग्रेस के इस प्रस्ताव ने इस सराफ़े का भो आसन हिला दिया। व्यापारी चौकन्ने हो गए। भारत-सरकार व ब्रिटिश सरकार, दोनों को सफ़ाई देने में मुसीबतें झेलनी पड़ीं। भारत-मंत्री ने कहा कि हम भारतवर्ष में आर्थिक अपहरण नहीं कर रहे हैं। भारतवर्ष का राजनीतिक महत्त्व बतलाते हुए श्रीयुत बेन ने कहा कि "आर्थिक मामलों में भारतवर्ष अब भी स्वतंत्र है। १६२१ में बड़ी व्यवस्थापिका परिषद् में यह निश्चय हुआ था कि भारत-सरकार अपने स्टोर के लिये माल चाहे जिस बाज़ार से ख़रीदे, इंडिया-आफ़िस इस संबंध में कोई हस्तक्षेप न करेगा। इस प्रस्ताव को भारत-सरकार और भारत-मंत्री, दोनों को आर्थिक स्वतंत्रता के सिद्धांत के कारण स्वीकार करना पड़ा! भारतवर्ष को राज़ी रखकर हम अपना माल बेच सकते हैं। उसे दबाकर ज़ोर-ज़ुल्म से अपना रहा-सहा व्यापार भी खो देंगे। जिस बात को भारतवर्ष अपने हित के लिये अच्छा समझता है, उसे इँगलैंड के हित के लिये नहीं कुचला जा सकता। ब्रिटेन के हित के लिये भारत को लूटने का विचार चला गया। वह तो गई-गुज़री बात हो गई। कांग्रेस के प्रस्तावों को देखकर लार्ड राथर मियर-जैसे लोग कहते हैं कि भारतवर्ष को अब क़र्ज़ मत दो। वे यह कहते हैं कि इस क़र्ज़ को कौन ले रहा है? पर अभी इँगलैंड के सराफ़े पर लार्ड राथर मियर का प्रभाव नहीं पड़ सकता; क्योंकि भारतवर्ष को ६० हज़ार पौंड के बजाय ८०½ लाख पौंड क़र्ज़ मिलता है। मेरे मित्र कहते हैं कि यह रुपया किस तरह से ख़र्च किया जा रहा है। इँगलैंड को तो सौदे ही नहीं मिलते। रेल और अन्य सामान के सौदे भारतवर्ष से जर्मनी को मिलने से ग्रेट-ब्रिटेन को ३० लाख पौंड का नुक़सान उठाना पड़ता है। पर यह नुक़सान इसी वजह से है कि भारतवर्ष को टैरिफ़ और स्टोर ख़रीदने के संबंध में आर्थिक स्वतंत्रता है भारतमंत्री को बहुत थोड़ा हस्तक्षेप करना पड़ता है।"

इस वक्तव्य से और भारतवर्ष को औपनिवेशिक स्वराज्य मिलेगा, इस घोषणा से भारतवर्ष में व्यवसाय करनेवाले

योरपियन व्यापारी व्याकुल हो गए। उन्होंने कहा कि नई सरकार होने पर हमारा सर्वनाश हो जायगा। नए शासन में हमें कभी व्यापार नहीं करने दिया जायगा। उन्होंने आवाज़ उठाई कि हमारे हितों की पूरी रक्षा होनी चाहिए। नए शासन-विधान में हमारे महत्त्वपूर्ण अल्पमत को उपयुक्त स्थान दिया जाय। इन लोगों की इस बेबुनियाद घबराहट पर राष्ट्रीय लोकमत का कहना था कि नए भारतीय शासन से भय खाने का कोई कारण नहीं है। भारतवर्ष विना विदेशी व्यापार के नहीं रह सकता। और, जब तक विदेशी व्यापार रहेगा, तब तक भारतीय आर्थिक योजना में विदेशी व्यापारियों को स्थान मिलेगा। निश्चय ही उस समय विदेशी व्यापार व्यापारिग ढंग से होगा। योरपियन व्यापारियों को यह तो मानना पड़ेगा कि इस देश को यह पूर्ण अधिकार होगा कि नई हालत में विना किसी कठिनाई के जिन-जिन बातों में उसका हित होता हो, उनका सुधार करे।

राष्ट्र के महासेनापति महात्मा गांधी ने निष्क्रय-प्रतिरोध का आंदोलन आरंभ करने के पहले वाइसराय महोदय के पास एक अंतिम चेतावनी का पत्र भेजा। इस पत्र में राजनीतिक चर्चा के अलावा आर्थिक प्रश्नों की चर्चा भी यथेष्ट रूप से थी। इस पत्र में द्वंदातीत विमत्सर महापुरुष, सत्यनिष्ठ महात्मा गांधी ने भारत-वर्ष के धनशोषण और व्यवसाय व उद्योग-धंधों का जैसा स्पष्ट वर्णन किया, वैसा इतने साहस और निर्भीकता से आज तक देश के किसी भी अर्थ-शास्त्री ने नहीं किया। भारतवर्ष में अँगरेज़ों का क्या हित है, उसकी कलई महात्मा गांधी नें सभ्य संसार के सामने खोल दी। महात्मा गांधी ने अपने आंदोलन की पहली चीज़ नमक ली। नमक पर सरकार ने जो अन्यायपूर्ण कर लगा रक्खा है और नमक बनाने की स्वतंत्रता देशवासियों को नहीं है, उसका देश ने विरोध गोखले के समय से किया है। देशी राज्य भी विरोध करते आए हैं। ग्वालियर, इंदौर व बड़ौदा के प्रतिनिधियों ने वैध-रूप से आंदोलन कर सरकार को समझाया, बड़ी व्यवस्थापिका परिषद् के सदस्यों ने प्रत्येक अधिवेशन में नमक पर ड्यूटी हटाने का प्रस्ताव किया, पर भारत-सरकार ने तीस कोटि निर्धन भारतवासियों के खाने की चीज़ को न तो पूर्ण रूप से कर से मुक्त किया और न देशी नमक के धंधों को पनपाया। विदेशी नमक की खपत होने देने के लिये यहाँ की पैदावार नहीं बढ़ने दी। इसी नमक पर प्राइम-मिनिस्टर श्रीयुत मैकडानेल्ड ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि "नमक पर कर लगाने का मतलब धन लूटना और ज़ुल्म करना है। अगर लोग इस बात को समझ-भर लें, तो असंतोष की मात्रा बढ़ जाय, देश में आग सुलग जाय! मुनाफ़ा कमानेवाले पुराने—अँगरेज़ व्या-पारियों की ईस्ट-इंडिया-कंपनी भारत के ग़रीबों को लूटती थी; नमक की यह लूट उसी पुरानी लूट का बाक़ी बचा चिह्न है।" इस नमक के संबंध में संतप्त भारतवासियों पर जो बीतती है, उस पर एक सहृदय अँगरेज़ श्रीयुत ब्लंट का कहना है कि "जो लोग बहुत ग़रीब हैं, उन्हें अपनी ज़रूरत के लायक़ नमक नहीं मिलता। दुर्भाग्यवश दक्षिण-भारत के लोग बहुत ही ग़रीब हैं। दूसरे, दक्षिण में यह कर बहुत ही खटकता है। वहाँ क़ुदरती नमक ज़मीन पर मिलता है, चीज़ लोगों के सामने पड़ी रहती है, फिर भी उन्हें उसके अभाव में तंगी उठानी पड़ती है। जहाँ नमक पड़ा रहता है, उस जगह रात को अपने जानवर हाँक ले जाते हैं, और इस तरह चोरी करके जानवरों को नमक खिलाते हैं। जब लोग पकड़े जाते हैं, तब उनके जानवर काँजी-हौस में बंद कर दिए जाते हैं। अब तो सरकार ने नए हुक्म के ज़रिए यह एलान कर दिया है कि क़ुदरती नमक जहाँ कहीं भी पाया जाय, वहाँ सिपाही लोग उसे इकट्ठा करके नष्ट कर दें। आज अनेक लोगों को आवश्यक नमक न मिलने से कोढ़ फूट निकलता है। सरकार १२०० फ़ी सदी से २००० फ़ी सदी तक अधिक लागत के मूल्य पर नमक बेचती है।" इस नमक से भारत-सरकार को प्रति वर्ष दस-बारह करोड़ की एकमुश्त आमदनी होती है। भारत-जैसे ग़रीब देश में, जहाँ एक आदमी की औसत आमदनी ७ पैसे रोज़ भी नहीं है, सरकार दस-बारह करोड़ रुपए नमक से वसूल करती है। इस आमदनी के अलावा विदेशी व्यापारियों को जो लाभ होता और यहाँ के मज़दूरों की जो क्षति होती है, उसका कुछ शुमार नहीं है। सरकार देशी राज्यों से भी नमक ख़रीदती है। वह राज्यों से दो तीन आने मन नमक ख़रीदती है और बेचती किस भाव में है, इसे पाठक ही जानते हैं। पंजाब की नमक की खानें, कोहाट

के पहाड़, मंडी के नमक के टीले, साँभर झील, डीड-वाना, पंचभद्र, बंबई, सिंध, पंजाब, बंगाल और संयुक्त-प्रांत के अनेक स्थान नमक की पैदावार के अच्छे स्थान हैं। इस प्रकार नमक, शराब और अफ़ीम से भारत को ३१ करोड़ रुपए की आमदनी होती है। कांग्रेस ने इन्हीं वस्तुओं के लिये निष्क्रय-प्रतिरोध-आंदोलन छेड़ा। इस आंदोलन को बल देश की नाज़ुक व्यावसायिक अवस्था से प्राप्त हुआ। बंबई और कलकत्ते की हड़तालों से कपड़े और जूट का व्यवसाय नष्ट हुआ। कृषि-प्रधान भारतदेश में विदेशी गेहूँ और चावल की आमदनी होने से, यहाँ के अनाज का व्यापार नष्ट हो गया। भारतीय किसान पूरी पैदावार कर सकते हैं, किंतु सरकार की वर्तमान आर्थिक नीति उन्हें कुछ नहीं करने देती। अस्तु, महात्मा गांधी ने आंदोलन शुरू किया और भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक हलचल मच गई।

आंदोलन छिड़ जाने पर भी महात्मा गांधी ने सुलह के लिये जो ११ शर्तें पेश कीं, उनमें कई व्यापारिक माँगें हैं। महात्मा गांधी ने सरकार से कहा कि वह विदेशी कपड़े के आयात पर पचास सैकड़ा ड्यूटी लगा दे, हुंडी की दर १६ पेंस कर दे, नमक पर ड्यूटी हटा दे, और शराब का बेचना क़तई बंद कर दे। इस प्रकार की माँगों से देश की व्यापारी-मंडली और व्यापारी-संस्थाएँ महात्मा गांधी के आंदोलन की समर्थक हो गईं। उधर मार्च महीने में बजट पेश हुआ। सरकार ने भारतीय कपड़ों की मिलों की रक्षा के लिये १५ सैकड़ा ड्यूटी बढ़ाई और ग़ैरब्रिटिश माल पर २० सैकड़ा ड्यूटी बढ़ा दी। इस प्रकार ब्रिटिश माल को पाँच सैकड़ा प्रिफ़रेंस दिया गया। जापान, लंकाशायर का मुक़ाबला न कर सके, इसलिये उसके कपड़े पर पाँच सैकड़ा ड्यूटी अधिक लगी। लंकाशायर को छोड़कर बाहर के सादे कोरे कपड़े पर प्रति पौंड साढ़े तीन आने ड्यूटी कम-से-कम लगाई गई। यह सब ड्यूटी तीन साल तक के लिये है। इस समय अर्थसदस्य सर जार्ज शुस्टर ने सरकार की ओर से बतलाया कि आर्थिक स्वतंत्रता क़ानून की अंतर्गत-समस्या है। भारत की कोई भी सरकार किसी भी अपील पर ध्यान देने के लिये भारत के हित को नहीं भुला सकती। भारत का हित पहले और बाद में सब कुछ। पर यह भाव भी नहीं भुला देना चाहिए, जिसमें भारत का ग्रेट-ब्रिटेन के साथ सहयोग रहे। हमें तो यह प्रतीत होता है कि भारत-सरकार के शासन-मंडल में चाहे कोई अँगरेज़ हो या भारतवासी, ऐसे क़ानून जारी करने की इच्छा नहीं करेगा, जिनसे ग्रेट-ब्रिटेन को सख़्त चोट पहुँचती हो, अन्यथा वैसे क़ानून भारतवर्ष की उन्नति के लिये आवश्यक ही हों। अंकों के देखने से पता चलेगा कि अँगरेज़ी माल के कारण बंबई का व्यवसाय नहीं नष्ट हो रहा है। सरकार जिस ढंग से ड्यूटी लगा रही है, उससे भारतवर्ष में सर्वत्र कपड़ों के उद्योग को उत्तेजना मिलेगी। २३½ करोड़ रुपए का नया कर्ज़ लेते और नई-नई ड्यूटियाँ बढ़ाते हुए कहा कि सरकार भारतवर्ष की आर्थिक अवस्था मज़बूत रखना चाहती है। महात्मा गांधी ने इस इंपीरियल प्रिफ़रेंस का घोर विरोध किया। उन्होंने कहा कि यदि संरक्षण का से हमारे व्यवसाय को अन्य देशों की प्रतिद्वंद्विता से रक्षा भी मिलती हो, तो भी यह ऐसा ख़तरनाक फंदा है, जिसमें फँसना हमें कभी नहीं स्वीकार करना चाहिए। बंबई की मिलों के अध्यक्ष श्रीयुत मोदी ने बतलाया कि जापानी प्रतिद्वंद्विता से पिछले पाँच वर्षों में बंबई का व्यापार घट गया। पिछले पाँच वर्ष में जापान का आयात २१ करोड़ ७० लाख गज़ से ५ अरब ५० करोड़ गज़ बढ़ गया। वाशिंगटन-समझौते के अनुसार जापान दो शिफ़्ट नहीं कर सकता, जिसे वह करता है। इसके विपरीत इन ५ वर्षों में बंबई को दस करोड़ का नुक़सान हुआ है। बंबई की मैनेजिंग एजंसियों ने जो ८५ लाख रुपए जुदे-जुदे संगठनों में लगाए हैं, उसमें उन्हें १८ लाख रुपए का नुक़सान कमीशन का सहना पड़ा है। फिर भी धंधे की सहायता के लिये उन्होंने दो करोड़ रुपए और लगाए हैं। बंबईवालों ने ७५ लाख रुपए नए सुधारों में लगाए हैं। यदि मिलें न चलीं, तो यह सब रक़म डूब जायगी। मध्य-प्रदेश में टाटा को छोड़कर अन्य सात मिलों को ५ वर्ष में १६ लाख का घाटा हुआ है। मदरास की मिलें भी तीन सैकड़ा से अधिक नफ़ा नहीं बाँट सकीं और अहमदाबाद की मिलों ने ज़्यादा-से-ज़्यादा चार सैकड़ा नफ़ा बतलाया। बंगाल की सात मिलों को ३ वर्ष में ३२ करोड़ का घाटा हुआ। सरकार जापान पर पाँच सैकड़ा अधिक ड्यूटी बढ़ाकर, तीन साल के बाद, लंकाशायर को उस योग्य बनाया चाहती है। व्यापार

...स्य सर जार्ज रेनी ने १८९४ के काटन-टैरिफ़-एक्ट और १९२७ के इंडियन-टैरिफ़-काटन-यार्न-क़ानूनों में संशोधन ...न करते हुए कहा कि १९२७ का जापानी सूत पर ड्यूटी ...ाए जाने का क़ानून १९३० में ख़त्म हो जाता है। १९२७ में जापान में रात में भी औरतें काम करती थीं, ...नए क़ानून से उन्हें रोक दिया गया है। भारतीय ...ख़ानों में रात में औरतें काम नहीं कर पातीं और ...म करने का समय सिर्फ़ दस घंटे है। किंतु जापान ...दो शिफ़्ट काम होता है। १९२९ के जापानी क़ानून ...जो बेजा बात थी, वह तो दूर हो गई; किंतु, जापान ...र चीन का कुल सूत का आयात बढ़ गया है। १९२६-२७ में ६,४५,००० पौंड सूत का आयात था, किंतु १९२८-२९ में ११,५०,००० पौंड सूत की आमदनी होने ...ी। चीन में दिन-रात बच्चे, औरतें और मर्द काम ...ते हैं। वहाँ किसी तरह की कोई रुकावट नहीं है। ...कार १५ सैकड़ा और बीस सैकड़ा ड्यूटी इसलिये ...ाती है कि बंबई की मिलों की रक्षा हो और सादे ...ेद कपड़े के व्यापार में यहाँ के कारख़ानों को जो ...क़सान पहुँच रहा है, वह न हो।

...नेताओं ने इसका विरोध किया। दरअसल सरकार ...१८ पेंस एक्सचेंज की दर से भारतीय मिलें जापान ...मुक़ाबला नहीं कर सकीं। जापान से हमें कोई ...मनी नहीं है। श्रीयुत दास ने कहा कि जापान भार- ...ी रुई का बहुत बड़ा ख़रीदार है, हम उसे अप्रसन्न ...हीं कर सकते। इस सब विवाद पर श्रीयुत चेट्टी ने ...ह संशोधन उपस्थित किया कि सादे सफ़ेद कपड़े पर ...के तीन आना पौंड ड्यूटी अँगरेज़ी माल पर भी लगाई ...य। पंडित मदनमोहन मालवीय और अन्य सभी ...ीय नेताओं ने इंपीरियल प्रिफ़रेंस का घोर विरोध ...र सभी देशों पर बीस सैकड़ा ड्यूटी लगाने का समर्थन किया। बंबईवालों ने कहा कि हमें जो कुछ मिलता है, उसे क्यों छोड़ना चाहिए। पर श्रीयुत घनश्यामदास बिड़ला ने टैरिफ़-बिल का ज़ोरदार प्रतिवाद किया। उन्होंने बतलाया कि सारे देश की मिलों की हालत ख़राब है। किंतु बंबई की मिलें तो बड़े संकट में हैं। यदि बंबई का व्यापार नष्ट हो गया, तो मानो सारे देश का व्यापार नष्ट हो गया। आपने बतलाया कि नक़ली रेशम का कपड़े और सूती कपड़े के भाव में कोई अंतर नहीं है। इस हालत में सूती कपड़ा कैसे बिकेगा। धोतियों को लीजिए, मैनचेस्टर की महीन धोती का जोड़ा दो रुपए में बिकता है, जो हिंदुस्थानी धोती के मुक़ाबले में बहुत कम चलता है, किंतु मोटे सूत का हिंदुस्थानी धोती का जोड़ा २।≥) में बिकता है, जो मज़बूती में सौगुना ज़्यादा होता है। ग़रीब देश के लोग, जो २०० सैकड़ा तक ब्याज देते हैं, सस्ता कपड़ा ही ख़रीदने के लिये मजबूर होते हैं, चाहे वह कैसा भी क्यों न हो। कपड़े की खपत के संबंध में यह जानने लायक़ है कि अच्छी फ़सलवाले साल १९२४-२५ में भारतवर्ष में कुल कपड़े की खपत ३ अरब ६२ करोड़ १० लाख गज़ थी, जिसमें से १ अरब ९७ करोड़ गज़ कपड़ा भारतीय मिलों का था, और १ अरब ६५ करोड़ १० लाख गज़ कपड़ा विदेश से आया था। इधर गत दो वर्षों से लोग कम कपड़ा ख़रीदने लगे हैं। भारतवासी आजकल उपर्युक्त अंकों से अधिक कपड़ा नहीं ख़रीद सकते। हैंडलूम के धंधे को अलग न रखकर शामिल किया जाय, तो १ अरब १० करोड़ गज़ की और पैदावार होती है, किंतु इतनी ही अधिक खपत भी होती है।

(अपूर्ण)

जी० एस्० पथिक

बाल-महिला-मनोरंजन

१. बुद्धिमान् लड़ैया

किसी समय आकर पिंजड़े में फँसा एक था शेर ;
जो भी वहाँ निकलता, उसको लेता था वह टेर।
कहने लगता--'यदि पिंजड़े का फाटक दो तुम खोल ;
तो फिर मालामाल बनाऊँ देकर द्रव्य अतोल'।
डरते थे सब लोग, न कोई भी आता था पास ;
सभी जानते थे, जो पिंजड़ा खोला, निश्चित नाश।
आखिर निकला उसी राह से लोभी यात्री एक ;
लालच के वश उसमें बिलकुल शेष रहा न विवेक।
उसे देखकर मीठे वचनों से बोला वह शेर--
'मुझे यहाँ पर बंद हुए हो गई बहुत ही देर।
अगर निकालो मुझको, कर दूँ तुमको मालामाल ;
सच कहता हूँ, भाई मेरे! नहीं बजाता गाल'।
बातों में आ गया आदमी, दिया खोल वह द्वार ;
और सोचने लगा--'शेर अब देगा मोती-हार'।
किंतु शेर ज्यों ही पिंजड़े से निकला बाहर आन ;
त्योंही बोला--'मैं भूखा हूँ, लूँगा तेरी जान'।
डरा पथिक वह बहुत बिचारा, पर था कौन उपाय ?
क्योंकि बचाने उसे शेर से कौन वहाँ पर जाय ?
इसी समय पर एक लड़ैया आ निकला इस ओर ;
और देखकर उन दोनों को आया वह उस ठौर।
बोला--'कहो बात भी क्या है ? ऐसा न्याय निबेर--
कर दूँ, जो दोनों को भावे, लगे न बिलकुल देर'।
यात्री ने सब हाल सुनाया, सोच उसे कुछ काल।
बोला वह चालाक लड़ैया--'सचमुच अद्भुत हाल!
नहीं समझ में बिलकुल आता--कैसा था वह बंद!
और निकाला तुमने कैसे ? करते क्या छलछंद!
यदि सच कहते हो तो फिर से दिखलाओ इस बार!
कैसे थे तुम दोनों पहले, कैसी यह तकरार'।
यह सुन फिर से बतलाने को भीतर पहुँचा शेर।
इधर लड़ैया बोला--'भाई ! करो न बिलकुल देर।
पिंजड़े का दरवाज़ा कर दो फिर से बिलकुल बंद ;
मिल जाने दो इस पापी को निज करनी का दंड'।
ऐसा कहकर चले गए वे, पुनः बंद कर द्वार।
दुष्टों का तो उचित दंड है निर्जन कारागार।

बाबूलाल भार्गव "कीर्ति"

× × ×

२. मनुआ भंगी

(१)

"हलुआ-पूरी गरमागरम!" "पान-बीड़ी सिग-रेट!" "नागपुरी-संतरा!" "चाय-काफ़ी-बिस्कुट, डबल रोटी!" "सोडा-लैमनेड!" रेल भीम वेग से भागती हुई प्लेटफ़ार्म की ओर आ रही थी। सहसा भीड़ में से किसी का धक्का लग जाने से एक छोटा-सा बालक धड़ाम से रेल की पटरी पर गिर पड़ा।

"हाय! मेरा लाल गया!!"—कहकर बालक की माता संज्ञाहीन हो प्लेटफ़ार्म पर गिर पड़ी।

भीड़ किंकर्तव्य विमूढ़-सी होकर यह दृश्य देख रही थी। बालक को मृत्यु-मुख से निकाल लाने का किसी को साहस नहीं होता था। रेल साक्षात् काल के सदृश फक-फक शब्द करती हुई आगे बढ़ रही थी।

लोगों ने अकचकाकर देखा। फटे चिथड़े लपेटे एक भिखारी-युवक भीड़ को ठेलता हुआ आगे बढ़ा। उसने सबके देखते-ही-देखते बालक को उठाकर गोद में ले लिया। दूसरे ही क्षण रेल प्लेटफ़ार्म पर आ खड़ी हुई।

"अरे यह तो साला मनुआ है!"

"देखो न, कैसा भलेमानसों से मिलकर खड़ा था!" "न मालूम कितनों का धर्म भ्रष्ट कर दिया होगा आज इसने!"—भीड़ में से भाँति-भाँति की आवाज़ें आने लगीं।

मनुआ प्लेटफ़ार्म के एक किनारे पर बालक को गोद में लिए चोर बना खड़ा था। सारे जन-समूह की दृष्टि उसके शरीर में तीक्ष्ण शरों की भाँति चुभ रही थी। वह आँखें नीची किए भूमि की ओर देख रहा था।

धीरे-धीरे बालक की माता को होश आ गया। वह अपने बच्चे को मनुआ की गोद में देख चिल्ला उठी—"अरे, इधर आ जा, उस अछूत की गोद में क्या चढ़ा बैठा है।"

बालक मुस्करा रहा था। उसने तुतलाते हुए उत्तर दिया—"अम्मा! ले तो बौत अत्ते हैं। इनों ने ई तो मेली दान बताई है।"

बालक की माता झपटकर आगे बढ़ी। उसने अपने बच्चे की बाँह पकड़कर मनुआ की गोद से घसीट लिया और स्टेशन के बाहर की ओर चल पड़ी।

बालक ने मनुआ की ओर देखा, मनुआ ने बालक की ओर। दोनों के नेत्रों में आँसू छलछला रहे थे।

(२)

पाँच वर्ष व्यतीत हो गए। अपने मिट्टी के घरौंदे में एक टूटी चारपाई पर पड़ा हुआ मनुआ ज्वर के वेग में अनाप-शनाप बक रहा था। इस घोर विपत्ति के समय उसकी परिचर्या करनेवाला तथा उसे धैर्य बँधानेवाला सिवा उस दीनजन-रक्षक जगन्नियंता के और कौन हो सकता था।

सहसा मनुआ को ऐसा मालूम होने लगा, मानो उसके माथे पर कोई अपने सुकोमल कर फेर रहा है।

धीरे-धीरे उसने अपने अशक्त नेत्र ऊपर उठाए; एक दस वर्ष के बालक का कातर चेहरा। आह! आज भी उन आँखों में वही वेदना थी। वही कसक थी।

तेजनारायण काक 'क्रांति'

× × ×

३. बूढ़ा, लड़का और गधा

कोई बूढ़ा अपने लड़के के साथ गधा लेकर

बाज़ार की ओर चल पड़ा। थोड़ी दूर ही वे गए होंगे कि एक दूसरा यात्री उनके पास आया और बूढ़े से कहने लगा—कितना बेसमझ तुम हो? जब भगवान् ने गधा चढ़ने के लिये दिया ही है, तो क्यों धूल में पैदल चल रहे हो? किस दिन यह काम आएगा? क्या यह तुम्हारा कोई लगता है जो नहीं चढ़ते हो?" यह कहकर वह चला गया। उसके चले जाने पर बूढ़े ने लड़के से कहा—देखो, ख़ाली गधा ले जाते हुए देखकर लोग हम पर हँसते हैं। तुम इस पर बैठकर चलो।

लड़का गधे पर बैठ गया और बूढ़ा उसे हाँकते हुए ले चला। किंतु वे अधिक दूर नहीं चले थे कि कुछ आदमी उधर ही से आते हुए दिखाई पड़े, जिधर वे जा रहे थे और जब वे निकट आ गए, तो उनमें से एक ने कहा—देखो न इस संडमुसंड लड़के को! बाप तो तीखी धूप में धूल फाँकता हुआ चल रहा है और यह बेशरम अपने आराम के लिये गधे पर चढ़कर जा रहा है।

यह कड़वी लेकिन सत्य बात सुनकर लड़का बहुत लज्जित हुआ और अपने बाप से बोला—"पिताजी सुनते हैं न, ये लोग क्या कह रहे हैं। इस पर आप ही बैठिए, मैं अब और अधिक नहीं बैठना चाहता। मैं उतरता हूँ, आप सवार हों!"

यह कहकर वह उतर गया और बूढ़ा गधे पर सवार हो गया! वे दोनों चुपचाप चल पड़े! पर अभी बाज़ार में नहीं पहुँचे थे कि बाज़ार की तरफ़ से दो साहूकार आते हुए दिखाई पड़े, जो उन्हें देखकर एक स्वर से कहने लगे कि "कितनी बुरी बात है कि बाप तो गधे पर आराम से चले और बेचारा लड़का पैदल!"

बूढ़ा उनकी बातें सुनकर लड़के से कहने लगा—"सुनते हो न! तुम्हें पाँव-पैदल और मुझे गधे पर चलते देखकर साहूकार क्या कह रहे हैं? तुम आकर मेरे सामने बैठ जाओ। हम दोनों ही एक गधे पर बैठकर चलें! तब शायद कोई कुछ नहीं कहेगा।" लड़का बूढ़े के सामने आकर बैठ गया! जब बाज़ार नज़दीक आ गया, तो वे बहुत-से आदमियों के बीच से होकर जाने लगे! पर बूढ़े ने यह साफ़ देखा कि बहुत-से लोग उनको ओर निहार-निहारकर व्यंग्य कर रहे थे! यह देखकर उसने गधे को खड़ा कर दिया और उनसे पूछने लगा—"भाई, क्या बात है! तुम हम पर व्यंग्य क्यों कर रहे हो?"

वे उच्च स्वर से कहने लगे—"क्या तुम अपने कर्म पर स्वयम् लज्जित नहीं हो, जो हमसे पूछ रहे हो? बेचारे ग़रीब जानवर पर तुम दो मुसंड बैठे हो। छी! छी!! तुममें तो इतना अधिक बल है कि यदि चाहो तो उस पर चढ़ने के बदले उसे ही कंधे पर उठा ले जा सकते हो।"

यह सुनकर पिता-पुत्र गधे से उतर पड़े और विचार करने लगे कि कैसे वे सभी व्यक्तियों को प्रसन्न कर सकते हैं। बहुत देर तक विचार करने के पश्चात् वे इसी निश्चय पर पहुँचे कि हम्हीं मिलकर गधे को कंधे पर ले चलें। तभी सब प्रसन्न होंगे और उनको कहने का कोई मौक़ा नहीं रहेगा। लेकिन उसे कैसे ले चला जाय! अब इसकी चिंता हुई। अंत में बूढ़े ने यह उपाय निकाला कि हम एक मज़बूत डाल काट लें और उसमें गधे की चारों टाँगें बाँधकर कंधे पर ले चलें। बूढ़ा एक लंबी मज़बूत डाल काटकर लाया और उसमें गधे की चारों टाँगें बाँधकर गर्दन नीचे कर दिया और ले चले। इस प्रकार की अद्भुत दया से गधा घबड़ाने लगा और मुक्त होने

के लिये रह-रहकर चेष्टा करने लगा। वे उसे किसी तरह ले चले। किंतु उसने बहुत उछल-कूद कर अपनी पिछली एक टाँग बंधन से छुड़ा ली! और जैसे ही वे एक पुल पार करने लगे, उसने एक ज़ोर की छलाँग मारी और धड़ाम से नदी की तेज़ धारा में जा गिरा। बूढ़ा उसके निकालने का उपाय अभी सोच ही रहा था कि बेचारा गधा डूब गया!

उसके डूब जाने पर बूढ़े ने लड़के से कहा—"हमारे लिये यह एक बहुत अच्छा सबक़ हुआ, सभी को ख़ुश रखने का नतीजा यही होता है। अस्तु, जो दुनिया-भर को प्रसन्न करना चाहेगा, उससे बढ़कर कोई मूर्ख नहीं।"

श्रीगुप्तेश्वरप्रसाद श्रीवास्तव

× × ×

४. किसी से !

कहाँ वह जीवन का उल्लास
कहाँ वह आशा का मृदु हास
कहाँ वह स्वप्नों का संसार
कहाँ वह संचित सुख-आगार
कहाँ वह अधरों की मुसकान
बता दे निष्ठुर, ओ अनजान

कहाँ वह प्राणों का संगीत
कहाँ वह वैभवपूर्ण अतीत
कहाँ वह मेरा प्रिय सुकुमार
कहाँ वह उसका भोला प्यार
कहाँ वह मानभरा अभिमान
बता दे निष्ठुर, ओ अनजान

कहाँ वह वीणा की झंकार
कहाँ वह नूतन शुभ शृंगार
कहाँ तंद्रा का वह आवेश
कहाँ वह कोमल अलसित वेश
कहाँ वह बहुसंख्यक अरमान
बता दे निष्ठुर, ओ अनजान

कहाँ स्मृति का सुवर्ण-संसार
और अधरों का 'वह' उपहार
आह वह अनुपम सुख-आगार
अंत में सिद्ध हुआ निःसार
कहाँ से आया यह तूफ़ान
किया जिसने मुझको 'म्रियमाण'
बता दे निष्ठुर, ओ अनजान !

"चकोरी"

× × ×

५. ससुराल—ढोल की पोल

किसी ग्राम में रामलाल-नामक एक ब्राह्मण रहते थे । ईश्वर ने खाने को काफ़ी दिया था, परंतु घर से वह कुछ असंतुष्ट से रहते थे । इसी बीच में आपका ब्याह भी अच्छे घर में हो गया था । ब्याह के उपरांत भी आप प्रथा के अनुसार कई बार दो-दो एक-एक दिवस के लिये ससुराल में रह आए थे । असंतुष्टता के दिनों में जब ससुराल की याद करते थे, तो नेत्रों के सामने एक चमत्कार-सा छा जाता था । एक दिन ससुराल जाने की और वहीं पर कुछ दिन व्यतीत करने की ठान ली । बड़ी प्रसन्नता के साथ आप सज-धज के साथ 'ससुराल' पहुँचे । आपकी वहाँ पर बड़ी ख़ातिर होने लगी ! अब तो आपने वहीं पर रहने का विचार किया; क्योंकि घर से अधिक वहाँ पर सुख था । एक दिन आपने दरवाज़े पर "ससुराल—सुख की सार" लिख दिया । दूसरे दिन जब ससुर साहब ने यह पढ़ा, तो बड़े चक्कर में आए और समझा कि मेरे दामाद का तो यहाँ पर जमने का-सा ढंग मालूम पड़ता है । यह तो बड़ी आफ़त है । आपने उसके नीचे लिखा—"पै रहै दिना दुइ-चार ।" जब फिर रामलाल ने देखा और पढ़ा, तो आपने उसके नीचे लिख दिया "जो रहै मास पखवारा ।"

फिर जब ससुर ने दूसरे रोज़ देखा, तो समझ गए कि हमारा अनुमान ठीक था । अब तो किसी तरह से यह बला टालनी है । आपने उसके नीचे लिखा—

"हाथ में खुरपी बग़ल में खारा"

रामलाल ने जब देखा और पढ़ा, तो मन में कहा, अब तो यहाँ से खिसकना चाहिए । यहाँ तो ढोल के भीतर पोल है । उसी समय से आपकी ख़ातिरदारी भी कम हो गई, तो अब आपने समझा, अब की तो हमको मालूम होता है, सचमुच घास छिलवाई जायगी । इससे अपना घर लाख दरजे अच्छा है और फिर आपने उसी

समय से प्रण कर लिया कि चाहे भूखों मरें, परंतु ससुराल में कभी न रहे । उसी दिन आप अपना बिस्तर इत्यादि सँभालकर चुपके-से सटक गए, और फिर कभी ससुराल का मुँह तक नहीं झाँका।

बाँकेविहारी मेहरोत्रा

× × ×

६. भारत की नारी

(१)

प्रेम की यह प्रतिमा प्यारी,
मातृ-ममता की फुलवारी,
सुशीला, साध्वी, सतवारी,
शारदा, शक्ति मनोहारी,
विश्व-भर की महिमाधारी,
हमारे भारत की नारी ।

(२)

प्राणपति पति-राखन-हारी,
मोददा, मुद-मंगल-कारी,
पुण्य की मधुर मूर्ति न्यारी,
दिव्य-जीवन-उपवन-क्यारी,
देव - वंदित - चरित्रवारी,
हमारे भारत की नारी ।

(३)

पुनीता - सीता, गांधारी,
द्रौपदी, दक्षसुता प्यारी,
पुराणों की भूषण नारी,
अलौकिक-गुण-गरिमा-वारी,
सृष्टि की यह पुत्री प्यारी,
हमारे भारत की नारी।

विमला देवी 'रमा'



१. कविता क्या है ?

"May God make this world, my child, as beautiful to you as it has been to me."

—Blake (in old age)

कविता क्या है ? सब परिभाषाएँ होने पर भी, हम जीवन और प्रेम की परिभाषा से अधिक इसकी परिभाषा नहीं कर सकते, लेकिन कौन-सी वस्तुएँ कविता-मय हो सकती हैं, यह हम उनके गुणों से और उनके प्रभाव से उसी भाँति जानते हैं जैसे हम यह जानते हैं कि कौन-सी वस्तुएँ जीवित हैं और कौन-सी प्रिय हैं। इनमें से प्रथम आत्मा के समुद्र की उमंग है; कविता किसी के हृदय की भावनाओं का चित्रण करती है और वैसी ही भावनाएँ किसी अन्य के हृदय में आविर्भूत हो जाती हैं।

कविता का संबंध जहाँ तक भावनाओं से और उस शक्ति से है, जिससे हम उन्हें दूसरे के हृदय तक पहुँचा दें, वहाँ तक हम सब भी कवि कहे जा सकते हैं। लेकिन हम जिन्हें कवि कहते हैं, वे अधिक भावुक होते हैं और उनके भावों का तारतम्य भी अधिक विस्तृत होता है; वे जो कुछ अनुभव करते हैं, उसे भली भाँति प्रकट भी करते हैं तथा और दूसरे हृदयों में उन भावनाओं का अनुभव करने के लिये उत्तेजना उत्पन्न कर देते हैं। आलंकारिक ढंग से कहा जाय, तो उनकी इंद्रियाँ सामान्य पुरुष की इंद्रियों से अधिक तीव्र होती हैं; उनके शब्दों में भी अधिक तारतम्य होता है। उदाहरण के लिये जैसे अर्द्धांध पुरुष प्रकाश को देखता है, वैसे ही हम सब बादल, निर्झर और गुलाब के पुष्प का सौंदर्य देखते हैं। लेकिन कवि उसे दिव्य प्रकाशवत् देखता है। उससे प्रभावित होकर वह प्रसन्नता से चिल्ला उठता है और हम भी उसके देखे हुए पदार्थों को फिर ग़ौर से देखने के लिये अग्रसर हो जाते हैं। हम बधिर पुरुष के समान, प्रवाहित जल में, संगीत का नाद सुनते हैं, लेकिन कवि उसके माधुर्य का पूर्ण आनंद लेता है और उसे बड़े ग़ौर से सुनने के लिये हमारा आह्वान करता है। हम तारों के दिव्यरूप और रहस्य पर अस्पष्ट रूप से चकित रह जाते हैं, लेकिन वह अपने मुखमंडल

को उनके प्रकाश में ले जाता है और विनयपूर्वक हमसे— जो उसकी प्रार्थना को सुनते हैं—उस स्वर्गीय सौंदर्य के आसन पर अपने साथ ले जाने के लिये प्रार्थना करता है। और बहुत-से स्थानों में जहाँ सौम्य और हृदय-स्पर्शी सौंदर्य है, जिसको हममें से बहुत-से कभी न देख पावेंगे, एक कवि के दिव्य चक्षु उसे ढूँढ़ लेते हैं और उसकी ध्वनि हमको उसका प्रत्यक्ष दर्शन करा देती है।

सैमुएल बटलर का कथन है कि यदि यंत्र-आविष्कारक वैज्ञानिकों ने मनुष्य को पूरक, अनुपम शरीर-अवयव दिए हैं, तो कवियों ने हमें उससे भी उत्तम पुरस्कार प्रदान किया है। उन्होंने हमारे हृदय के नूतन कपाट खोल दिए हैं।

वही एक महाकवि है, जिसने उन सभी प्राकृतिक और मानसिक व्यापारों का अनुभव किया हो, जो मानव-हृदय को स्पर्श करनेवाले हैं, और उनके द्वारा दूसरों के हृदय में चुटकी भी ली हो। यही कारण है कि शेक्स-पियर, जिनका हृदय मानव-जाति के हृदय से बना था, जिनके स्वर ने विश्व-भर के हृदय की भाषाएँ सीखी थीं, आज कवि के आसन पर आसीन हैं; और यही कारण है कि हम उन्हें दैवी मानते हैं।

समस्त महत्त्वपूर्ण विषयों में—और कविता एक महत्त्वशाली विषय है—पुण्य का ज्ञान कराने में नैसर्गिक बुद्धि का बड़ा हाथ होता है और बालकों के विषय में तो यह बात विशेष रूप से लागू है। परंतु मानव-उन्नति की अवस्था नैसर्गिक बुद्धि के पतन का कारण बनी है; इसी-लिये बच्चों को कविता, समालोचना व मनन द्वारा सीखनी पड़ती है, क्योंकि बालकों में समालोचनात्मक प्रवृत्ति प्राप्त है।

कविता की पहली शर्त यह है कि वह एक सच्ची भावना को एक दूसरे के हृदय तक ले जाने का प्रयास करे। परंतु हमारे हृदय कवि-हृदय से कठोर हैं और हमारी इंद्रियाँ भी उसकी इंद्रियों की अपेक्षा उत्तेजना-शून्य हैं। कभी-कभी हम बिना जाने भी हृदय में चुटकी लेने लगते हैं। तब भावना हमारी मार्गदर्शिका नहीं रहती। हमें उसके गुणों और उसके बाह्य रूप द्वारा उसका प्रत्यक्षीकरण सीखना आवश्यक है। कवितामय विषय कोई नहीं है—वास्तव में कलापूर्ण विषय भी नहीं है; क्योंकि कला परमात्मा-प्रदत्त प्रत्येक पदार्थ में सौंदर्य की छटा देख सकती है—ढूँढ़ सकती है। वह वस्तु नहीं, अपितु उसकी अभिव्यंजना है, जो हमारे हृदय पर प्रभाव डालती है; विषय नहीं, अपितु उसकी अभिव्यक्ति का ढंग है जो हमारे हृदय को स्पर्श करता है। कविता हमें किसी वस्तु का नहीं, अपितु उसके एक अंश का निदर्शन कराती है। विज्ञान उस वस्तु के एक दूसरे ही दृश्य का दिग्दर्शन कराता है। इसी प्रकार धर्म के विषय में जानना चाहिए।

मेरे मकान के पास एक बड़ी सड़क पर पुरानी अँधेरी मैली और मानव-निवास के अयोग्य झोपड़ियों की क़तार है; दिन में वे महा कुरूप और घृणास्पद प्रतीत होती हैं। परंतु निशा में जब कि इंदु की किरणें उनके अग्रभाग पर पड़ती हैं, वे स्वप्न के जादूभरे दृश्यों के समान अनोखी और अनुपम छटा से जगमगाती जान पड़ती हैं। बस, कला उदास वस्तुओं को सौंदर्यमय और तुच्छ चीज़ों को आश्चर्यपूर्ण बना देती है, जैसा कि 'हार्डी' के उपन्यासों से यह प्रत्यक्ष है।

यह ऐसा क्यों होता है—यह एक प्रश्न है जो हमें सबसे गंभीर समस्या—पाप और पुण्य की प्रकृति—की ओर ले जाता है। क्या जो हमें कभी-कभी सुंदर प्रतीत होता है, वह वास्तव में कुरूप हो सकता है? क्या उसमें सौंदर्य न होना चाहिए, जिसमें हम उसका आभास नहीं पाते? वह कौन-सी शक्ति थी, जिसने कीट्स से यह कहलाया—

"अर्द्ध-निशा में विकसित प्रभात निहित है।"

श्रीमान् जी० के० चेस्टरटन, हार्डी की कला की आलोचना में, मैथ्यू आर्नल्ड के साथ मिलकर कल्पना करते हैं कि कला को वस्तुओं की वास्तविक दशा का दिग्दर्शन कराना चाहिए, परंतु कला को वास्तविक वस्तुओं की सचाई से कोई अभिप्राय नहीं है। उसका संपर्क तो उस प्रभाव से है, जैसा वे कलाविद् के हृदय पर डालती हैं। हम एक कलाकार से सहृदयता की आशा कर सकते हैं, सत्य की नहीं; क्योंकि कौन जानता है कि गणित-विज्ञान की सँकरी सीमा के बाहर क्या सत्य है? कला कलाविद् के हृदय के भावों की अभिव्यंजना है, बाह्य जगत् का चित्रण नहीं। प्रेमी की दशा में, एक कवि के लिये, समुद्र उसके साथ आमोद-

प्रमोद में मुसकराता है, शीतल समीर उसकी प्रेमिका का नाम गुनगुनाता है और आकाश के तारे उस पर मैत्रीभाव से दृष्टि डालते हैं; दूसरी दशा में उसी कवि के लिये समुद्र भयावह और क्रूर प्रतीत होता है, वायु उसकी आहों पर हास्य करती है और शीतल तारे भावशून्य अज्ञेय दृष्टि से उसे देखते हैं।

'हगडन हैथ' का नैराश्य, 'सिनिस्टर-स्ट्रीट' की निम्नता, और 'लीर' की पुत्री की क्रूरता इस जगत् की घटनाएँ नहीं हैं, पर वे ऐसी कल्पनामय हैं, जैसी 'डिंगले-डेल' पर क्रिस्टमस या 'आर्डेन का बाग़' या स्वप्न के दृश्य; लेकिन स्वप्न के दृश्यों के समान वे वास्तविकता की अपेक्षा अधिक वास्तविक हैं। वे बड़े तीव्र भावों के साथ हमारे हृदय में चुटकी लेते हैं; जब तक वे हमारे हृदय के साथ रहते हैं, हम एक केन्द्रीभूत अनुभूति का आनंद लेते हैं; जिस दशा की वे अभिव्यक्ति करते हैं और जब तक वह बनी रहती है, हम अधिक कवितामय बन जाते हैं—But the actors are all spirits and soon are melted into air, into thin air. हम पुनः वस्तुओं के उस दूसरे दृश्य के प्रति जागृत हो जाते हैं, जिसे हम वास्तविकता के नाम से पुकारते हैं—Dreams, indeed, they are but such as even give might dream.

समालोचना उस कला का अध्ययन है, जिससे कवि, अपनी भावनाओं को दूसरे तक पहुँचाने के लिये वस्तुओं के भावपूर्ण दृश्यों का चित्रण करता है।

भाव कविता नहीं है, अपितु कविता का कारण है और भावमयी अभिव्यंजना जब सुंदर रूप धारण कर लेती है, तब वह कविता कहलाती है। यहाँ पुनः हमें परिभाषा के पाश से मुक्त वस्तु का सामना करना पड़ता है; हम केवल यह कह सकते हैं कि अमुक व्यक्ति में भावमयी दशा में, ऐसा चित्र और संगीत, जो अन्य पुरुषों के मनोवेगों में उत्तेजना उत्पन्न कर देते हों, प्रस्तुत करने की प्रतिभा है और उस प्रतिभा का प्रयोग ही कला कहाती है—संगीतकला, चित्रकला, मूर्तिकला, अभिनय! कविता का रूप ग्रहण करने के लिये यह आवश्यक है कि भाव मधुर संगीत और मनोरम चित्र के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय। वे भयावह और शोकमय भले ही हों, पर उनमें सौंदर्य तो होगा; क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि कविता का महान् रहस्य उसकी वह शक्ति है, जो शोकग्रस्त वस्तुओं पर सौंदर्य छिटक देती है। जब भाव कला-शून्य रूप में होते हैं, तब उसका फल कविता नहीं होता, अपितु एक प्रकार की कविता की प्रतिध्वनि होती है; और कभी-कभी उसका रूप कविता का-सा रूप हो जाता है जिसे केवल साहित्य-रसिक ही पहचान सकता है। तब ऐसा करने के लिये कष्ट क्यों? मैं इस बात पर ज़ोर नहीं दे सकता कि केवल इसी कष्ट और शिक्षण से हम कला की सर्वथा प्रशंसा कर सकते हैं या उससे कोई वास्तविक लाभ उठा सकते हैं। 'हमें सर्वोच्च से—जब हम उसके दर्शन करें—प्रेम करना चाहिए।' यह बात केवल परमात्मा के विषय में ही घटती है, उसकी मानवीय सृष्टि के विषय में नहीं और न मनुष्य की रचना के ही विषय में। परंतु यदि 'उसके दर्शन' के स्थान में 'उसकी प्रशंसा' स्थानांतरित कर दी जाय तो यह बात कला के विषय में सत्य होगी।

कविता की प्रतिध्वनि भाव का आविर्भाव नहीं करती; लेकिन भाव की छाया और भावुकता (Sentimentalism) को जन्म देती है; वह उतनी ही हानिप्रद है जितनी वह लाभप्रद है। परंतु मादकता की दशा में वे मानव-हृदय पर सबसे अधिक हानिप्रद प्रभाव डाल सकते हैं। मानव-जाति के इतिहास में सबसे अप्रसिद्ध नाम उस व्यक्ति का है, जिसने इहलोक से बिदा होते समय यह शब्द कहे थे—'What an artist perishes in me!' इसी प्रकार हमारे समय में भी दूसरे भावुकों ने अपने आपको भ्रांति में डाल रक्खा है। वाल्टेयर ने कहा है कि समालोचना, सच्ची भावना के अनुभव करने की कार्य-कुशलता है; हृदय को आनंद देती है, उसकी महानता को पुष्ट करती है और उसे सान्त्वना देती है; परंतु केवल मनोवेगों के लिये समालोचना-तत्त्व से रहित भावुकता मादकता की इच्छा से कहीं अधिक भयंकर है।

मेरे दृष्टि-विंदु के लिये यह विषय इतने बड़े महत्त्व का है कि जब तक मैं पाठकों के लिये इसका स्पष्टीकरण करने में सफल न हो जाऊँ, तब तक मेरे शेष प्रयत्न का कुछ भी मूल्य न होगा। मैं एक उदाहरण से इसकी स्पष्ट व्याख्या करूँगा। 'इलिज़ा कुक' के 'The old arm-Chair' पर छंद प्रायः एक शताब्दी से प्रसिद्ध रहे हैं।

I love it. I love it, and who shall dare
To chide me for loving that old arm-chair ?
I have treasured it long, as a sainted prize,
I've bedewed it with tears and embalmed it with sighs;
'Tis bound by a thousand links to my heart;
Not a tie will break, not a link will start.
Would ye learn the spell ? A mother sat there,
And a sacred thing is that old arm-chair.

यह एक सत्य भावना का चित्रण है; यह एक महा गंभीर और पवित्र भावना है जिसका अनुभव हृदय कर सकता है—वह है स्वर्गीय माता की प्रेममयी स्मृति। यह भावों को भुलाती है और केवल मनोवेगों (Sentiments) को आविर्भूत करती है ; भावुक-हृदय को इसका भेद भले ही प्रतीत न हो ; परंतु हममें से बहुतों पर भी इसका प्रभाव नहीं पड़ता। कारण यह है कि अभिव्यंजना का माध्यम उस भावना की अभिव्यक्ति करने में समर्थ नहीं है।

सबसे पहले तो इसमें संगीत का अभाव है। मैं संगीतमय छंदों की कलापूर्ण रचना की विवेचना आगे करने का प्रयत्न करूँगा; पर इस समय तो कर्णेन्द्रिय ही मार्ग-दर्शिका है ; और उसे अनुभव होता है कि इन छंदों में पर्याप्त ध्वनि की विधि नहीं है, जो ज़ोरदार भावों को उत्तेजित कर सके और इसकी लय भी गंभीर नहीं है। यदि छंदों को ज़ोर से पढ़ा जाय, तो उसके पश्चात् ही—

O that those lips had language ! life has passed
With me but roughly since I heard thee last.
Those lips are thine—thy own sweet smile I see,
The same that oft in childhood solaced me:
Voice only fails, else how distinct they say
'Grieve not, my Child, chase all thy fear away !'
The meek intelligence of those dear eyes
(Blest be the art that can immortalize,
The art that baffles Time's tyrannic claim
To quench it) here shines on me still the same.

तब 'ओल्ड आर्म-चेयर' कूपर की गंभीर, चुभती हुई संगीतमय आवाज़ के सामने घंटे की आवाज़ के समान बजेगी। तथापि दोनों को उसी एक भाव ने प्रेरित किया है। प्रत्येक का छंद Riming Couplets में लिखा हुआ है। लेकिन एक कठिनता से झटके के साथ पढ़ा जाता है और दूसरा शोकमय गंभीर विषय के अनुकूल धीमी और गंभीर गति के साथ। क्या हम यह कहें कि कूपर इलिजाकुक की अपेक्षा अपनी मा को अधिक प्रेम करता था ? मेरा तो विश्वास है कि इस भेद का वास्तविक कारण भावगांभीर्य नहीं, अपितु भावों को संगीत में बदल देनेवाली शक्ति है—भावात्मक माध्यम पर अधिकार है। यदि प्रेम भी है, तो भी शब्द तो वाद्य-यंत्र हैं।

दूसरे 'ओल्ड आर्म-चेयर' के दृश्य और चित्र अस्पष्ट और अनिश्चित हैं ; हम उन्हें देखना नहीं चाहते ; और यदि देखना चाहें, तो हमें 'प्राप्य सामग्री' से अपने लिये उनकी रचना करनी पड़ेगी। तब हमें 'ओल्ड आर्म-चेयर' पुरस्कार के समान देखनी चाहिए। एक 'ओल्ड चेयर' के लिये यह अभिनय असाधारण है। लेकिन जो कोई इस पुरस्कार को प्राप्त करे, उसे वह देवी भी लेनी चाहिए ; क्योंकि वह 'उस देवी के हृदय से सहस्रों साँकलों द्वारा बँधी हुई है, जिनमें से एक भी टूटने की नहीं। कूपर की एक पंक्ति—'The meek intelligence of those dear eyes' में इस समस्त छंद की अपेक्षा कल्पना के लिये अधिक सामग्री है। मैं एक पुत्री की स्वर्गीया मा के प्रति प्रेम का मज़ाक़ उड़ाने के लिये अत्यंत खेद प्रकट करता हूँ। मैं यह दिखाने का प्रयत्न कर रहा हूँ कि भावमयी अभिव्यंजना का ढंग वास्तविक भाव को प्रकट नहीं करता और जो अपने को उससे प्रभावित समझते हैं, वे आलस्य और असावधानी के कारण छाया-मात्र को यथार्थ वस्तु मानते और शब्दाडंबर से अपने-आपको भ्रांति में डालते हैं। ऐसे पाठकों द्वारा मनोरंजक साहित्य के प्रकाशक धनी बन जाते हैं। और भी बुरी बात तो यह है कि उनमें अवास्तविकता का भाव घर कर लेता है—क्योंकि दोषपूर्ण छंदों के विपुल भांडार की अपेक्षा 'इलिजा कुक के छंद' वास्तविकता के अधिक निकट हैं—और तब वे यह कल्पना कर लेते हैं कि कविता प्रतिध्वनि है—कहानी है और किसी भी रूप में उसका पढ़ना पसंद नहीं करते।

मेरा ऐसा अनुमान है कि जिन पुरुषों को कविता से रुचि नहीं है, उन्हें साधारण रूप से दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—एक वे जो कृत्रिम मनोवेग को उस समय तक अपनाते रहे हैं जब तक कि उन्हें उससे अरुचि न हो गई हो; दूसरे वे जो अर्थ, संदर्भ, व्याकरण-संबंधी उदाहरण और जीवन-चरित-विषयक लेखों को उस समय तक रटते रहे हैं, जब तक कि उन्होंने कवि और उनकी रचनाओं को दोष देना न सीख लिया हो।

लेकिन इन श्रेणियों के किसी भी पुरुष ने कविता को बिलकुल नहीं समझा है। मैं उसकी परिभाषा—जो स्वयं परिभाषा के पाश में नहीं बँध सकती—करके बहुत-सी परिभाषाओं में एक और उलझन नहीं जोड़ना चाहता, लेकिन 'बरफोर्ड' चर्च में लार्ड फाकलैंड के पितामह की क़ब्र पर उसकी स्त्री द्वारा अंकित एक स्मृति-लेख है, वह एक छंद-विशेष के साथ समाप्त होता है, जो सदैव सौम्य सौंदर्य को कविता में अभिव्यक्त करता प्रतीत होता है—

Love made me poet
And this I writt,
My heart did do it,
And not my writt.

कवि, अपने नाम ही से, एक निर्माता है, संगीत और चित्रकला का निर्माता और किसी सीमा तक—भाषा द्वारा—प्राकृतिक पदार्थ का निर्माता, जो उसकी रचना में साहाय्य प्रदान करती है।*

रामनारायण 'यादवेंदु'

× × ×

* E.A.G. Lamborn के एक लेख का अनुवाद।

२, सीप-वनस्पति (Diatoms)

परमेश्वर की सृष्टि बड़ी विचित्र है। इसके पग-पग पर और चाँप-चाँप पर अनोखापन दिखाई देता है। ज्यों-ज्यों नूतन संशोधन किया जाता है, त्यों-त्यों हमें नवीनता मिलती ही जाती है। प्राय: प्रत्येक नवीनता विचित्रता लिए हुए ही रहती है। विज्ञानवेत्ता पानी की कई क़िस्में भले ही बतलाते हों, परंतु साधारणतः जिस पानी को हम व्यवहार में लाते हैं, वह मोटी दृष्टि से दो प्रकार का होता है—एक खारा और दूसरा मीठा। खारे और मीठे पानी में तथा कीच (कीचड़) आदि में हमें एक विचित्र डायटम-नामक पदार्थ मिलता है। यह एक पेशी का होता है। इसकी गणना वनस्पतिवर्ग में की जाती है। यह वनस्पति अति सूक्ष्म होती है। इसे हम केवल सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा ही देख सकते हैं।

डायटम की शरीर-रचना बड़ी ही विचित्र होती है। इसका सारा शरीर केवल एक ही पेशी का होने के कारण इसका संपूर्ण शारीरिक जीवन-क्रम केवल उसी पेशी के द्वारा चलता है। उसका सर्वस्व वही एक पेशी होती है। इस वनस्पति के फूल, फल, पत्ते, शाखा और जड़ आदि कुछ भी नहीं होते। डायटम की पेशी भी कवच-युक्त होती है, और उसके भी दो भाग रहते हैं। इन दोनों का पारस्परिक संबंध डिबिया और ढकने के समान रहता है। हम जिस प्रकार एक डिबिया को उसके ढकने से बंद कर देते हैं, उसी प्रकार डायटम के दोनों कवच आपस में मिले-जुले रहते हैं। इसलिये उसकी बड़ी विचित्र सूरत दिखाई देती है। हम इसका हिंदी-नाम सीप-वनस्पति रखना उचित समझते हैं। इस सीप-वनस्पति का कवच भीतर से बहुत मज़बूत और सीप ही के समान होता है। उक्त वनस्पति के मर जाने के पश्चात् कवच ज्यों-का-त्यों बना रहता है। यह वनस्पति अनेक प्रकार की और विचित्र आकृतियों की होती है। इन आकृतियों के अतिरिक्त इसकी और-और अनेकानेक आकृतियाँ भी होती हैं।

सीप-वनस्पति की पेशी में, सीप-वनस्पति की हरियाली (क्लोरोफिल) रहती है। परंतु उसकी हरियाली में कोई पीले अथवा ऊदे रंग का पदार्थ मिश्रित रहता है। इससे उसकी हरियाली का रंग कुछ मंद हो जाता है। सीप-वनस्पति भी अपनी ज़िंदगी और-और वृक्षों तथा वनस्पति के समान ही कारबनडाय आक्साइड वायु द्वारा ही व्यतीत करती है। हरियाली होने के कारण उसमें यह नैसर्गिक शक्ति सतत विद्यमान रहती है। यदि ऐसा न होता, तो उसे कोई वनस्पति ही न कहता।

सीप-वनस्पति की शारीरिक रचना में स्त्री और पुरुष आदि (लिंगादि) का भेद नहीं रहता है। एक वनस्पति जब युवावस्था को पहुँच जाती है, तब उसी में से दूसरी फूट निकलती है। पहला कवच थोड़ा-थोड़ा दोनों को ढके रहता है। फिर कवच भी बढ़ जाता है और दोनों एक समान हो जाते ह। इस वनस्पति की बाढ़ इसी प्रकार होती जाती है। और समय पाकर उनका पृथक्करण भी होता जाता है। इस वनस्पति की बाढ़ बड़े सपाटे से होती है। इसकी उत्पत्ति के विषय में यदि पूछा जाय, तो हम मोटी भाषा में यों कह सकते हैं कि जैसे केले (कदली) आदि के पौदे अपने-आप अंकुर छोड़कर नया पौदा पैदा कर देते और बढ़ते जाते हैं, उसी प्रकार यह वनस्पति भी बढ़ती जाती है।

सीप-वनस्पति की कोई जड़ आदि तो होती ही नहीं है। इस कारण वह पानी पर स्वेच्छानुसार तैरती रहती है। वह और वनस्पतियों के समान अचल नहीं रहती। समुद्र में तैरनेवाली वनस्पतियों में बहुत-सा हिस्सा इसी सीपावनस्पति का पाया जाता है। छोटे-छोटे जलचरों का निर्वाह इसी के द्वारा होता है। वे इसी को खाकर जीते हैं। बड़े जीव इन छोटे जीवों को खाकर अपना आयुष्य क्रमण करते हैं। कहने का सारांश यह है कि एक का भक्ष्य दूसरा है। सृष्टि का अस्तित्व भी इसी नियमानुसार है।

जब वनस्पति सूख जाती है, तब कवच पानी की तली में बैठ जाते हैं। वहाँ इन कवचों के थर-के-थर एकत्रित होते रहते हैं। इसके थर एक-से बन जाते हैं। जब कभी भूकंप आदि के कारण सृष्टि का फेर-बदल होता है, तब ये थर ऊपर हो जाते हैं। वर्जिनिया (अमेरिका) में रिकमांड-नामक स्थान है। वहाँ पर इन्हीं सीप-वनस्पति के कवचों द्वारा बना हुआ एक विस्तृत थर है, जिसकी लंबाई मीलों तक चली गई है और मोटाई चालीस फ़ीट के लगभग बताई जाती है। ऐसे सूक्ष्म पदार्थों द्वारा

ऐसे भारी थरों का बन जाना वास्तव में आश्चर्य की बात है। इसके बनने में सैकड़ों और हज़ारों वर्ष लगे होंगे; क्योंकि सीप-वनस्पति के चित्र उनके वास्तविक आकार से सौ-सौ और पचास-पचास गुना बढ़ाकर दिखलाए जाते हैं। यदि ऐसा न किया जाय, तो कदाचित् ही हम उनकी आकृति आदि को देख सकें। इसी से पाठक इस वनस्पति के वास्तविक आकार का अनुमान लगा सकेंगे। ऐसी छोटी वस्तु के द्वारा बड़े-बड़े थरों का जम जाना वास्तव में एक विचित्र बात है।

यदि सूक्ष्मदर्शक यंत्र उपलब्ध हो, तो पाठक स्वयम् थोड़े-से पानी अथवा कीचड़ आदि को काँच पर रखकर देख सकते हैं। हमें विश्वास है कि उनको उसमें सीप-वनस्पति के एक-दो प्रकार देखने को अवश्य मिलेंगे।

लक्ष्मीनारायण-दीनदयाल अवस्थी

जीवन-ज्योति

१. जीवन और आदर्श

जब मनुष्य की विचारदृष्टि स्थूल आधिभौतिकता में ही आबद्ध हो जाती है, तब उसे आध्यात्मिकता निरा आडंबर और स्वप्न-सी निःसार प्रतीत होने लगती है। पाश्चात्य देशों में तो इस आधिभौतिकता को इतना प्रोत्साहन मिला कि वहाँ जन-साधारण ज्ञान-विज्ञान, धर्म, दर्शन सभी को ऐहिक सफलता की दृष्टि से हो देखने लगे। उन्हें इस बात पर गर्व होने लगा कि उनके बड़े-बड़े मेधावी विद्वान् प्रकृति की अपरिमित शक्तियों को मानव-जाति के सुख-संभोग में लगा सकते हैं। और, यदि ईश्वर से उनका साक्षात्कार होता, तो उसे भी वे उसकी महत्ता के ही अनुरूप किसी विशाल आधिभौतिक साधन में ही नियुक्त करते। यदि केवल असत्य से उन्हें व्यापारिक सफलता मिलती, तो वे सत्य के कभी पास न जाते। यदि परधनापहरण से ही धनोपार्जन की आशा होती, तो वे अस्तेय का कभी नाम न लेते। यदि हिंसा से ही सारी दुनिया के मालिक बन सकते, तो वे अहिंसा की चर्चा भूलकर भी न करते। तात्पर्य यह कि सत्य, अस्तेय, अहिंसा आदि सामान्य धर्मों का अनुशीलन भी वे मनुष्यत्व के नाते नहीं वरन् आधिभौतिक सफलता के लिये ही करते हैं।

इस पाश्चात्य विचार-शैली ने गत महासमर में एक धक्का खाया। पर उसका प्रभाव अधिक दिनों तक रहेगा या नहीं, इसमें संदेह है। फिर भी वहाँ के कुछ तत्त्वदर्शियों ने आधिभौतिकता के विषैले परिणामों की ओर जन-साधारण का ध्यान आकर्षित किया है।

प्रकृति का यह नियम है कि सूर्य पश्चिम में डूबता है, तो पूर्व में निकलता है। तरंग के एक स्थान में जल इकट्ठा हो जाता है, तो दूसरा स्थान ख़ाली पड़ जाता है। अतएव एक ओर आध्यात्मिकता की धारा पूर्व से पश्चिम को जा रही है, तो दूसरी ओर आधिभौतिकता का प्रवाह पश्चिम से पूर्व को आ रहा है। अब देखना यह है कि "पूर्ण-परिवर्तन" प्रकृति के नियम के अनुकूल है या प्रतिकूल।

अस्तु, यदि भारतवर्ष-सा दरिद्र देश इस आधिभौतिकता के नूतन प्रवाह में बह चले, तो इसमें आश्चर्य

ही क्या है ; क्योंकि देश की घोर दरिद्रता का कारण चाहे देशी विद्वान् वर्तमान परतंत्रता ही बतावें, पर शिक्षित मंडली के गौरांग-गुरुओं ने तो यहाँ का सनातन अध्यात्मवाद हो बतलाया है। इसी से यहाँ के शिक्षित युवक आध्यात्मिकता के नाम से कोसों दूर भागते हैं। इस प्रवृत्ति में आधुनिकता अवश्य है और इसमें परिवर्तन और क्रांति के भी शुभ लक्षण देख पड़ते हैं ; परंतु खेद का विषय तो यह है कि वे उच्च विचार और आदर्श में भी आध्यात्मिकता की गंध पा, इनसे अलग ही रहने में अपना हित समझते हैं। इनके समाज में यदि कोई अति सामान्य लौकिक विचारों से ज़रा भी ऊपर उठना चाहता है, तो चारों ओर से यही आवाज़ सुनाई पड़ती है कि "यह तो आदर्शवाद है," "यह तो आध्यात्मिकता है," "यहाँ मानव-जीवन की दृष्टि से बातें करो।" मानों मानव-जीवन चरम विकास को प्राप्त हो चुका है ; मानो जीवन में आदर्श की कोई आवश्यकता ही नहीं। उनकी परतंत्र बुद्धि में यह बात नहीं आती कि आदर्श के विना तो आधिभौतिकता भी व्यर्थ हो जाती है।

'अध्यात्मवाद' और 'आदर्शवाद' पर्यायवाची नहीं हैं। आदर्श तो आध्यात्मिक भी हो सकता है, और आधिभौतिक भी; जो हमारा परम गम्य-स्थान है वही हमारी जाति का आदर्श है। जिस साँचे पर हम अपने जीवन को ढालना चाहते हैं, वही हमारे जीवन का आदर्श है। आदर्श नीच भी हो सकता है, उच्च भी। भेद केवल इतना ही है कि नीचे की ओर तो यह भौतिक शरीर अपने भार से ही चल पड़ता है, पर ऊपर उठने के लिये शक्ति-सापेक्ष है। नीच आदर्श की प्राप्ति अनायास ही हो जाती है ; उच्च आदर्श की प्राप्ति कठिन है। इसी से नीच आदर्श की गणना आदर्शों में नहीं होती ; उच्च आदर्श ही आदर्श है। फलतः चाहे आध्यात्मिकता की दृष्टि से देखें या आधिभौतिकता की दृष्टि से, हमें आदर्श की उपयोगिता तो माननी ही पड़ेगी।

विचार कर देखने से ऐसा जान पड़ता है कि यह मानव-जीवन भी एक कला है। कला की नाईं इसका विकास होता और कला की नाईं परिणति की ओर यह निरंतर अग्रसर होता जाता है। चित्रकार अनेक रंगों की एकता से, गायक अनेक स्वरों की एकता से और कवि अनेक भावों की एकता से अनिर्वचनीय आनंद का सृजन करता है। इस आनंद को ही "ब्रह्मानन्दसहोदर" कहते हैं। मानव-जीवन में भी अनेक रंग हैं, अनेक स्वर हैं, अनेक भाव हैं। सच तो यह है कि मानव-जीवन बिंब है, अन्य कलाएँ प्रतिबिंब हैं। ये मानव-जीवन की प्रतिकृति हैं, छाया हैं। इसी से इनमें मानव-जीवन की गति-विधि विकास-प्रकाश और पूर्णता, सब-के-सब मौजूद हैं। अंतर इतना ही है कि यदि कलाओं की परिणति "ब्रह्मानंदसहोदर" में है, तो मानव-जीवन की परिणति 'ब्रह्मानंद' में ही है।

किंतु कलाओं की पूर्णता क्या आदर्श के विना संभव है ? चित्रकार के चित्रपट पर कूची चलाने से पहले ही उसके मस्तिष्क के पर्दे पर एक विशेष चित्र तैयार हो जाता है। संभव है, वह इस मानसिक चित्र का पूरे तौर पर अनुशीलन न कर सके। पर इस आदर्श-चित्र के विना वह एक रेखा भी नहीं खींच सकता। यह आदर्श-चित्र का ही प्रभाव है कि उसकी एक भी रेखा निरर्थक नहीं खिंचती, और प्रत्येक रेखा चित्रकार की कला को उस आदर्श-चित्र की पूर्णता की ओर ही अग्रसर करती है।

इसी प्रकार कुशल गायक के अंतश्चक्षु के आगे पहले रागिनी का शुद्ध रूप स्थिर हो जाता है। तभी वह प्रत्येक स्वर और प्रत्येक मूर्च्छना को उस रागिनी की पूर्णता में नियुक्त कर सकता है। इसी अभिप्राय से प्राचीन शास्त्रकारों ने प्रत्येक राग-रागिनियों को एक-एक रूप दे रक्खा है।

मानव-जीवन के लिये भी एक मानसिक चित्र की आवश्यकता है। यही चित्र मानव-जीवन का ध्येय है, यही उसका आदर्श है। विना इस आदर्श के जीवन "अन्धेन नीयमाना यथान्धाः" की नाईं निरुद्देश्य और निरर्थक हो जाता है। विना इस आदर्श के मानव-जीवन स्थिति की अवस्था में, मरुभूमि की तरह शून्य, निर्जीव और गति की अवस्था में आँधी की तरह अनियंत्रित एवं विध्वंसकारी हो जाता है।

आदर्श ही जड़ जीवन में चैतन्य लाता और चंचल जीवन में शांति प्रदान करता है। आदर्श ही समाज की आधारभूत वृत्तियों को प्रोत्साहित करता एवं विनाशकारी, उच्छृंखल वृत्तियों को संयत कर समाज की सेवा में नियुक्त करता है। फलतः आदर्श मनुष्य की

प्रवृत्तियों के लिये चाबुक का काम करता है और असत्प्रवृत्तियों के लिये लगाम का। इसी से आदर्श में बंधन है। पर यह बंधन प्रेय है, हेय नहीं। चुंबक और लोहे का पारस्परिक अदृष्ट बंधन ही गति का कारण है। गंगा अपने कूल के बंधन के बल से ही कितने ही देशों को पवित्र करती हुई अंत में अनंतसागर को प्राप्त करती है। मनुष्य भी आदर्श के बंधन में बँध कर ही अपनी जीवन-नौका को संसारसागर के किनारे लगा सकता है।

उद्भ्रांत जीवन के लिये आदर्श वही काम करता है, जो भ्रांत नाविक के लिये ध्रुव-नक्षत्र। जिस नाविक को ध्रुव का यथार्थ ज्ञान नहीं, वह अनिश्चित काल तक घोर अंधकारमय सागर में भ्रमण करता रहता है, और अंत में किसी मिथ्या प्रकाश का अनुसरण कर मायाजाल में फँस जाता है। आदर्श-भ्रांत जीवन-नाविक की भी यही अंतिम गति है। इसलिये जीवन में सच्ची और स्थायी सफलता के लिये आदर्श-ज्ञान और उसका तत्परता के साथ अनुसरण अतीव आवश्यक है।

विकास प्रकृति का अटल नियम है। इसी नियम के अनुसार अव्यक्त से व्यक्त और व्यक्त से जड़-चेतन की सृष्टि होती और अंत में चेतना-शक्ति विवेक-बुद्धि और इच्छा-स्वातंत्र्य के रूप में विकसित हो जाती है। मानव-जाति इस अंतिम सोपान तक पहुँच गई है। इस भूमिका को प्राप्त कर मनुष्य यदि अपनी बुद्धि और संकल्प का उपयोग उत्तरोत्तर विकास में ही करे, तब तो उसे परम पुरुषार्थ का लाभ होगा और यदि ह्रास में करे, तो उसका महा विनाश होगा। उपनिषद् ने इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति,
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

"इस मनुष्य-जीवन में यदि जान लिया तो सत्य है; यदि न जाना तो महा विनाश है।" क्या जानने का आदेश है? "धीर पुरुष जीव-मात्र में आत्म-तत्त्व के चिंतन द्वारा ऐहिक आसक्ति का त्याग कर अमृतत्व लाभ करते हैं।" इसी 'अमृतत्व' में विकास का पर्यवसान है, यही विकास की परमावधि है, विकास के इसी परम आदर्श के ज्ञान की ओर उपनिषद् का संकेत है। इसी को जानकर मनुष्य-जीवन कृतकृत्य हो जाता, लब्ध-काम हो जाता, पूर्ण हो जाता है।

विकास की इस विराट् प्रक्रिया में, अर्थात् अविद्या द्वारा परिच्छिन्न जीवात्मा को विद्या द्वारा प्रस्फुटित कर भूत-मात्र में व्याप्त कर देने की विकास-क्रिया में, बुद्धि और संकल्प का उपयोग किस रीति से किया जाय—यह समस्या तो आदर्श-ज्ञान और आदर्श-चिंतन द्वारा ही हल हो सकती है। 'आदर्श' का प्रकाश पाकर बुद्धि निर्मल, व्यवस्थित और एकतान होती और ध्येयाकर-वृत्ति द्वारा सदसद्-विवेक में सफल होती है। इसमें निर्णय द्वारा निश्चित परिणाम पर पहुँचते ही क्षमता आ जाती है। आदर्श से शक्ति संचय कर संकल्प में बल, निष्ठा, दृढ़ता और लगन आती है। इस प्रकार आदर्श जीवन के परम साफल्य के लिये अनेक शक्तियों का उद्‌गम-स्थान है; सूर्य की नाईं प्रचुर शक्ति का भांडार है।

जीवन-साफल्य और आदर्श का नित्य संबंध देखकर ही प्राचीन महाकवियों और ऋषियों ने इतिहास-पुराणों में अनेक आदर्शों का निर्माण किया है। आर्यों के भिन्न-भिन्न देवता भी एक ही परमात्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियों के आदर्श हैं। यही आदर्श जनसमुदाय के इष्ट हैं। इन इष्टों का आदर्श रूप से ध्यान करनेवाला क्रमशः विकास के मार्ग पर अग्रसर होता चला जाता है। इस रीति से ऐसे साधारण मनुष्य भी, जिन्हें ज्ञान-विज्ञान का दावा नहीं और न जो धर्म के गूढ़ तत्त्व को ही समझ सकते हैं; आदर्श-प्रणिधान और आदर्श-चिंतन द्वारा अपने जीवन को यत्किंचित् आलोकित कर सकते हैं।

आदर्श के बिना तो आधिभौतिक सफलता भी सुलभ नहीं। पाश्चात्य देशों में तो ऐसे अनेक विद्वान् हैं, जिनकी आध्यात्मिकता में तनिक भी आस्था नहीं; जिनके कार्य-क्षेत्र और विचार-परिधि की सीमा आधिभौतिकता से आगे नहीं बढ़ती। किंतु उनकी महदाकांक्षा, उनका त्याग आधिभौतिक आदर्श के अनुसरण में उनकी लगन, और उनकी विलक्षण कर्म-निष्ठा तथा आत्म-विश्वास देख चकित रह जाना पड़ता है। उनकी उर्वर कल्पना भविष्य का चित्र उनके सम्मुख खड़ा कर देती है, उनके मस्तिष्क का बल उन्हें अपूर्व स्वप्न-राज्य में ला खड़ा करता है। अनुसंधान से कभी उन्हें श्रांति नहीं होती,

ज्ञान से कभी उन्हें अरुचि नहीं होती। इन कर्म-योगियों की बुद्धि निर्मलता और संकल्प का बल देख कौन कह सकता है कि इनके जीवन में आदर्श नहीं? निरंतर आदर्श-चिंतन द्वारा ही पाश्चात्य विद्वान् आधि-भौतिक सफलता की सीमा को नित्य आगे बढ़ाते जाते हैं। उनका आदर्श तो नित्य उच्चात्युच्च होता चला जाता है। अस्तु, यह कहना कठिन है कि उनका अंतिम ध्येय क्या होगा।

परंतु पाश्चात्य जीवन का हमारे जीवन पर उलटा हो असर पड़ता है। शायद परतंत्रता से गुण-ग्राहकता नष्ट हो जाती और दोष-ग्रहण की ओर ही अभिरुचि होती है। पाश्चात्य-संस्कृति के संघर्ष से हम आध्यात्मिक आदर्श से तो घृणा करने लगे; पर आधिभौतिक आदर्श का भी अस्तित्व है और उसके लिये भी त्याग तथा अभिनिवेश की आवश्यकता है, यह बात हमारी जड़ बुद्धि में नहीं आती। इसी से हमारा जीवन आदर्श-विहीन हो गया। फिर निरुद्देश्य जीवन में सफलता कहाँ? जिस जीवन का कोई ध्येय नहीं, वह संसार के घात-प्रतिघात को कब तक सहन कर सकेगा? उसके लिये तो असंख्य आवर्त्त पहले ही से मौजूद हैं। हमारे देश में नित्य सहस्रों जीवन लक्ष्यहीन हो नाश को प्राप्त होते हैं। देश समष्टिरूप से न तो आध्यात्मिकता की ओर आगे बढ़ता है और न आधिभौतिकता की ओर। दोनों ही क्षेत्रों में आदर्शाभाव के घोर अंधकार में महा-विनाश का तांडव नृत्य हो रहा है। फिर भी हमें जीवन-साफल्य के लिये आदर्श की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। यह हमारा घोर दुर्भाग्य है।

ललितकिशोरसिंह

× × ×

२. क्या रावण की 'लंका' मध्य-भारत में है ?

रावण की 'लंका' को लेकर कुछ दिनों से एक बड़ा 'वाद' उपस्थित हो गया है। इस 'वाद' के उत्पादक इंदौर के डिप्टी प्राईम मिनिस्टर—विद्वान् डा० सरदार मा० वि० कीबे (एम्० ए०, पी० एच्-डी०) महोदय हैं, और इनके पक्ष का समर्थन मध्यप्रांत के ऐतिहासिक रायबहादुर बा० हीरालालजी बी० ए० महाशय ने किया है।

श्रीकीबे महोदय 'लंका' को मध्यभारत में लाने का प्रयत्न कर रहे हैं, और बाबू साहब भी महेंद्र-पर्वत गौरह यहीं बतलाकर कल्पना को इतिहास का आधार बनाते जा रहे हैं। 'सुधा' के प्रथमांक में इस विषय की पुष्टि में आपने एक लेख भी लिखा है।

ओरियंटल कानफ़्रेंस के विगत वर्षीय अधिवेशन के समय प्रो० जेकोबी महोदय ने श्रीकीबे साहब की इस कल्पना का साधार खंडन करते हुए गणितागम पारदर्शी विद्वान् भास्कराचार्य के कुछ प्रमाण भी बतलाए थे, परंतु बाबू साहब ने अपने लेख में उन प्रमाण-पर्वतों को फूँक से ही उड़ाने का प्रयत्न किया है। बाबू साहब का कहना है—

१—"भास्कराचार्य की 'लंका' रामायणी लंका से भिन्न होगी।"

२—"भास्कराचार्य जिस 'लंका कुमध्ये यमकोटिः' को 'कुमध्य' मानते थे, वह उनके समय में कहाँ माना गया होगा ?"

पहली दलील तो बाबू साहब की बिलकुल लचर है। भास्कराचार्य और रामायण की लंका रावण की ही राजधानी है। रामायणीय लंका तो रावण की ही है, अतएव रामायण के प्रमाणों को यहाँ लिखने की ज़रूरत नहीं। भास्कराचार्य ने किस 'लंका' को माना है, इसके प्रमाण में उन्हीं के कुछ पद्यांश उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा—

१—"दशशिरःपुरि मध्यमभास्करे"

२—"व्यचा रावण-'लंका।'"

३—"प्रभाकरस्योद्गमनात्पुरे स्याद्वारः प्रवृत्तिर्दशकन्धरस्य"

४—"पुरी राक्षसी"

इत्यादि अनेक प्रमाणों से स्पष्ट है कि भास्कराचार्य जिस 'लंका' को मानते थे, वह रावण की ही थी, दूसरी नहीं।

बाबू साहब की दूसरी शंका 'कु-मध्य' वाली है। यदि बाबू साहब स्वयं मि० जेकोबी के प्रमाण में पेश किए हुए भास्कराचार्य के 'लंका कु-मध्ये यमकोटि-रस्याः' श्लोक को 'गोलाध्याय' में देख लेने का कष्ट करते, तो उनका यह भ्रम अवश्य दूर हो जाता। वहाँ स्पष्ट लिखा है कि—"पृथ्वी के जिस स्थान से दोनों दक्षिण-उत्तर-ध्रुव क्षितिज में लगे हुए दिखाई दें, वही स्थान कु-मध्य (भूमि का मध्य) है।" इस बात के जानने के लिये बाबू साहब को "भास्कराचार्य के समय के इतिहास को जानने की" ज़रूरत नहीं है। 'कु-मध्य' पलट नहीं सकता, आज भी वही 'भू-मध्य' बना हुआ है। पाठक समझ सकेंगे कि बाबू साहब की दलीलें कैसी कमज़ोर हैं। हिंदी-भाषा से अनभिज्ञ (?) बेचारे जेकोबी साहब को बाबू साहब ने उन्हीं के प्रमाणों से उड़ा दिया, किंतु वास्तविक भ्रम आप ही को था। अस्तु।

अब 'लंका' की मध्य-भारत में 'खींचातानी' चल रही है, उसको लीजिए। 'लंका' वह स्थान है, जहाँ के भूमि-खंड पर खड़े हो जाने से दक्षिण और उत्तर-ध्रुव दोनों समान क्षितिज पर लगे हुए दिखाई देने लगेंगे *, पुनः लंका अक्षांशरहित भूमि है, विषुवत् दिनों में सूर्य लंका के ऊपर ही घूमा करता है, इस कारण उन दिनों लंका पर मध्याह्न की छाया पड़ ही नहीं सकती, (इसी छाया का नाम 'पलभा' है)। अतः 'लंका' में 'पलभा' नहीं होती (इन्हीं दिनों के मध्याह्न की छाया 'पलभा' होती है)। उसी दिन सूर्य और ध्रुव का अंतर ९० अंश के बराबर होता है, यही कारण है कि 'लंका' में अक्षांश भी नहीं होते। † लंका में अक्षांश न होने के कारण उसका दूसरा नाम 'निरक्ष-देश' भी कहा जाता है। निरक्ष-देश का रहनेवाला पुरुष दोनों ध्रुवों को 'क्षिति-लग्न' देखता है ; ‡ वसिष्ठसिद्धांत में × लिखा है कि—

---

* "निरक्षदेशात्क्षितिमण्डलोपगौ ध्रुवौ नरः पश्यति दक्षिणोत्तरौ"—भास्कराचार्य।

† "यत्रोन्नतिर्ध्रुवेऽक्षांशाः"।

‡ "क्षितिलग्ने ध्रुवतारे पश्यति पुरुषो निरक्षदेशस्थः"।

—भास्कराचार्य

× वसिष्ठसिद्धान्त का निर्माणकाल लगभग ४२७ शक ठहरता है।

"व्यक्षदेशस्थितैर्मत्यैर्ध्रुवतारे समीक्षिते,
वामदेवोमये साक्षात्सौम्ययाम्ये ध्रुवाश्रिते, ।
अतो लंकाख्यदेशे च नाक्षांशा न पलप्रभा ॥"

व्यक्ष (अक्षांशरहित) देश में रहनेवाला पुरुष ध्रुव के दक्षिणोत्तर तारों को समान भूभाग पर देख सकता है, अतः 'लंका' नगरी में 'अक्षांश' और 'पलभा' दोनों नहीं होते, ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिनसे 'लंका' अक्षांशरहित भूमि सिद्ध होती है, और जहाँ अक्षांश न होंगे अर्थात् ध्रुवद्वय सम-भूमि पर दिखलाई देंगे, वहाँ सबसे बड़ी बात यह होगी कि 'दिन-रात' सर्वदा समान रहेंगे, कभी दिन-रात में घट-बढ़ न होगी ।

'सदा समत्वं द्युनिशोर्निरक्षे'—इस नियमानुसार निरक्ष देश में सर्वदा दिन-रात्रि-साम्य होता है * । मध्यभारत में 'लंका' लाने का जो लोग प्रयत्न कर रहे हैं, उन्हें यदि वास्तव में 'लंका' को लाना है, तो बड़े भगीरथ प्रयत्न करने होंगे, दिन-रात को समान करना होगा, ध्रुवों को सम भूमि पर चिपकाने के लिये दक्षिण ध्रुव की भयानक यात्रा करनी पड़ेगी, तब कहीं 'लंका' दक्षिण दिशा से उठकर मध्यभारत में आएगी। धन्य !

हम यह पहले बतला चुके हैं कि 'लंका' निरक्ष-प्रदेश है, परंतु बाबू साहब और श्रीकीबे साहब जिस अमरकंटक में 'लंका' को खींच रहे हैं, वह अक्षांशयुक्त स्थान है, अमरकंटक के अक्षांश २४-४१ हैं ! यदि 'लंका' अक्षांशवाली भूमि पर उतर आई, तो फिर निरक्ष देश का ही नहीं, किंतु लंका को निरक्ष मानकर जो गणित किया जाता है, उसका सब अस्तित्व ही मिट जायगा। बड़ी बातों का तो ठीक, पर रविवार, सोमवार की प्रवृत्ति तो सर्वदा 'लंका' के सूर्योदय से मानी जाती है, यह सब चौपट हो जायगी। अमरकंटक को लंका मान लेने से लंका के आधार पर बहुत कुछ अवलंबित रहनेवाले ज्योतिष के गणितशास्त्रों का भी किसी 'कीबे-बाबू' को नव-निर्माण करना पड़ेगा ! पुराने आदरणीय सिद्धांत-ग्रंथों की कोई आवश्यकता ही न रह जायगी।

अब दूसरी प्रकार से भी देखिए, पुराने गणिताचार्यों ने अपने गणित के लिये जिस प्रकार लंका को गणित का महत्त्व-पूर्ण आधार माना है, उसी प्रकार साथ ही उज्जैन को भी एक आधार-स्थल बतलाया है। उन्होंने लंका और उज्जैन से बहुत कुछ गणित का संबंध स्थापित कर दिया है। उज्जैन 'लंका के भूमध्यरेखा में भी है, † और जब कि वे संबंध स्थापित कर चुके हैं, तो 'लंका'—और उज्जैन कितनी दूरी पर हैं, यह गणित द्वारा उन्हें स्पष्ट करना ज़रूरी है। भास्कराचार्य ने लिखा है कि—'निरक्ष-देश से भूमि के सोलहवें हिस्से पर गणित से—उज्जैन (अवंती) है ‡ आचार्य के मत से लंका और उज्जैन के अंतर योजन—$\frac{४९६७}{१६}$=३१० $\frac{७}{१६}$ होते हैं, (लंका और उज्जैन के अंतरयोजनों को १६ से गुण कर देने से भू-परिधि ज्ञात होगी) और उज्जैन के अक्षांश २२ $\frac{१}{२}$ हैं, ये चक्रांश ३६० के सोलहवें हिस्से के बराबर हैं। अतएव भू-परिधि के सोलहवें हिस्से पर लंका से उज्जैन की स्थिति स्पष्ट है। अमरकंटक तो मध्य-भारत ही का स्थान है, और निकट है, इसका भला क्या संबंध होगा। पुनश्च—"लंका शैलेन्द्रयोर्मध्ये वर्षं भारतमुच्यते" लंका और शैलेन्द्र के बीच भारतवर्ष है, न कि भारतवर्ष के बीच लंका है !

यह सर्वविदित है कि लंका भारत से दक्षिण में है—"याम्यायां भारते वर्षे लंका"—(सूर्यसिद्धान्त)। आज

---

* "सदा समत्वं द्युनिशोर्निरक्षे,
नोन्मण्डलं तत्र कुजायतोऽन्यत् "
—भास्कराचार्य

(क) "लंकावृत्ते मध्यस्थिते भुवो यत्कुजं तदुदवृत्तम्,
तेन न तत्रचरं सदा समत्वं च दिवसानिशोः"
—सूर्य-सिद्धान्त

(ख) "सव्यं भ्रमति देवानामपसव्यं सुरद्विषाम्,
उपरिष्टात्खगोलोऽयं व्यक्षे पश्चान्मुखः सदा ।
तस्तत्र दिनं त्रिंशन्नाडिकं शर्वरी तथा"
—सूर्य-सिद्धान्त

† पुरी रक्षसां देवकन्याथ काञ्ची सितः पर्वतः पर्जलीवत्सगुल्मम् ।
पुरी पुण्यदाऽवन्तिका गर्गराटं कुरुक्षेत्रमेरू भुवो मध्यरेखा ॥
—भास्कराचार्य

‡ "निरक्षदेशात्क्षितिषोडशांशे, भवेदवन्ती गणितेन तस्मात् ।
तदन्तरं षोडशसंगुणं स्याद्भूमानमस्याः बहु किं तदुक्तम् ॥"
—भास्कराचार्य

औरतें भी शुभ कार्य करते समय दक्षिण-दिशा की ओर मुँह नहीं करतीं, परंतु श्रीकीबे महाशय तो एक नई ही लंका बना रहे हैं। रावण की राजधानी—लंका से उन्हें कोई मतलब नहीं। वह पुरानी 'लंका' के अस्तित्व को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न कर रहे हैं! ईश्वर उन्हें सुबुद्धि दे।

सूर्यनारायण व्यास

× × ×

३. सूत्र-ग्रंथ

सूत्रों की उत्पत्ति—कहा जाता है कि ब्राह्मण-काल में याज्ञिक अनुष्ठानों की संख्या अधिक और विधानों के जटिल हो जाने पर उनके मंत्रों का कंठस्थ करना पुरोहितों के लिये इतना कठिन हो गया कि उनके स्थान में छोटे-छोटे ग्रंथों की आवश्यकता जान पड़ने लगी। तब विद्वानों ने विस्तार कम कर सूत्ररूप में विविध विषयों के समावेश करने का यत्न किया, और सूत्र-ग्रंथों की रचना की जाने लगी। इस तरह कल्पसूत्रों की उत्पत्ति हुई।

किंतु, सूत्र-ग्रंथों की उत्पत्ति का उपर्युक्त कारण संतोष-जनक नहीं प्रतीत होता। केवल मंत्रों को कंठस्थ करने और याज्ञिक कृत्यों में पुरोहितों की आसानी के लिये सूत्र-ग्रंथ-निर्माण की आवश्यकता हुई, यह बात उचित नहीं जँचती; क्योंकि सूत्र-ग्रंथ ब्राह्मण-ग्रंथों से कहीं जटिल और नीरस हैं। उनकी अत्यधिक कठिन शैली रचयिता और पाठक, दोनों के लिये नीरस है। तो भी प्रत्येक विषय की चर्चा सूत्र-ग्रंथों में की गई। केवल यज्ञ-मंत्र ही नहीं, धर्म और सामाजिक नियमों के मंत्र भी सूत्ररूप में वर्णित हुए। अतः इस शैली के आश्रय का भारी कारण वैदिक साहित्य के पवित्र विचारों की रक्षा का उद्देश्य कहा जा सकता है। सूत्रों से सुरक्षित वैदिक विचार परिवर्तन से बच सकते हैं और समाज के धार्मिक तथा नैतिक कृत्यों में निश्चित नियमों का काम दे सकते हैं, इस अभिप्राय से ऋषियों ने उनकी रचना का कष्ट उठाया। ऐसे प्रयत्न का समर्थन स्मृतियों से भी होता है।

कल्प-सूत्र के भाग—जान पड़ता है कि सूत्र-रचना आरंभ होने पर वेदों के प्रत्येक ब्राह्मण का एक-एक कल्प-सूत्र बना, यद्यपि सभी कल्प-सूत्र आज उपलब्ध नहीं है। प्रत्येक कल्प-सूत्र के तीन भाग थे—(१) श्रौत-सूत्र, (२) गृह्य-सूत्र, (३) धर्मसूत्र। पहले ये तीनों एक ही ग्रंथ में थे, पर पीछे पृथक्-पृथक् कर दिए गए। श्रौत-सूत्र वेद-विहित यज्ञों के संपादन का आदेश देता है; गृह्य-सूत्र में गृहस्थों के याज्ञिक कृत्यों का विवरण है और धर्म-सूत्र में राजधर्म, शासन-व्यवस्था, आचार-नियम, आश्रय-धर्म आदि के नियम हैं।

श्रौत-सूत्र—श्रौत-सूत्रों में वेद-विहित यज्ञों की महत्ता और उनके करने की रीतियों का वर्णन है। इनमें वर्णित यज्ञों को श्रौत-यज्ञ कहते हैं; ये चौदह प्रकार के होते हैं। ये यज्ञ चारों वेदों से संबंध रखते हैं और प्रत्येक वेद के पृथक्-पृथक् श्रौत-सूत्र होने के कारण यज्ञों में भी कुछ विभिन्नता संभव ही है। वेदों के पृथक्-पृथक् श्रौत-सूत्र नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) ऋग्वेद—शांख्यायन श्रौत-सूत्र—जिसका शांख्यायन ब्राह्मण से संबंध है, और आश्वलायन श्रौत-सूत्र, जिसका संबंध ऐतरेय ब्राह्मण से है।

(२) सामवेद—(क) मशक वा आर्षेय कल्प, (ख) लाट्यायन श्रौत-सूत्र और (ग) द्राह्यायन श्रौत-सूत्र, जो राणायनीय शाखा से संबंध रखता है।

(३) यजुर्वेद कृष्ण—आपस्तंब, हिरण्यकेशी, बौधायन, भारद्वाज, मानव और वैखानस।

,, शुक्ल—केवल कात्यायन श्रौत-सूत्र।

(४) अथर्ववेद—केवल वैतान श्रौत-सूत्र, जिसका संबंध गोपथ ब्राह्मण से है।

इन श्रौतसूत्रों में १४ प्रकार के श्रौत-यज्ञों के वर्णन हैं, जिनमें ७ हविर्यज्ञ और ७ सोमयज्ञ हैं। यथा, हविर्यज्ञ—अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मास्य, निरूढ पशुबन्ध * और सौत्रमणि; सोमयज्ञ—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम।

गृह्य-सूत्र—प्रत्येक वेद के पृथक्-पृथक् गृह्य-सूत्र भी मिलते हैं। यथा—

---

* कुछ लोग इनमें से कुछ यज्ञों में पशु-वध की रीति का उल्लेख करते हैं, पर वैदिक दृष्टि से ऐसे विधान दोषपूर्ण, घृणित और त्याज्य ठहरते हैं। स्वयं आप्तोर्याम श्रौत यज्ञ, जिसे पशुहीन या अधिक पशु चाहनेवाले करते थे, हिंसात्मक कथन को निर्मूल सिद्ध करता है।

(१) ऋग्वेद-शांख्यायन, शाम्बव्य और आश्वलायन।
(२) सामवेद—गोभिल और खादिर गृह्य-सूत्र।
(३) यजुर्वेद—कृष्ण—श्रौत-सूत्रों के नाम के छः गृह्य-सूत्रों के अलावे सातवाँ काठक गृह्यसूत्र भी है।
,, शुक्ल—पारस्कर गृह्यसूत्र, जो कातीय या वाजसनेय नाम से भी प्रसिद्ध है।
(४) अथर्ववेद—कौशिक गृह्यसूत्र।

इन गृह्यसूत्रों में गृहस्थों के लिये अत्यावश्यक महायज्ञ, पाकयज्ञ और १६ † संस्कारों का वर्णन है। इनके नाम ये हैं—

महायज्ञ—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ।

पाकयज्ञ—पितृश्राद्ध, पार्वणश्राद्ध, अष्टकाश्राद्ध, श्रावणीयज्ञ, अश्वयुजीयज्ञ, आग्रहायणीयज्ञ और चैत्रीयज्ञ।

संस्कार—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, उपनयनव्रत, महाव्रत, उपनिषद्-व्रत, गोदानव्रत, समावर्तन, विवाह, अन्त्येष्टिक्रिया और निष्क्रामण।

अब इन यज्ञों का उतना महत्त्व नहीं रहा। न महायज्ञ का कोई मान है, न पाकयज्ञ का। संस्कारों में भी दो-चार मुख्य संस्कारों का ही पालन नाम-मात्र को किया जाता है।

धर्मसूत्र—वेद की प्रत्येक शाखा का एक-एक धर्मसूत्र होना माना जाता है और प्रत्येक धर्मसूत्र में राजनियम, शासन-व्यवस्था, आश्रम-धर्म, आचार-व्यवहार, रीति-रस्म, प्रायश्चित्त आदि विषयों का वर्णन किया गया है। धर्मसूत्रों में आपस्तंब, हिरण्यकेशी, बौधायन, गौतम और वशिष्ठ धर्मसूत्र विख्यात हैं। पद्यबद्ध स्मृतियाँ, जिनमें राजधर्म, सामाजिक नियम, आचार-व्यवहार आदि विषयों के सविस्तर वर्णन हैं, धर्मसूत्रों पर ही अवलंबित हैं। अतएव धर्मसूत्र ही धर्मशास्त्र नाम के अधिकारी कहे जा सकते हैं, पुराणादि आधुनिक ग्रंथ नहीं।

सूत्रकालीन सभ्यता—सूत्रग्रंथों के विषयों पर निष्पक्ष विचार करने से उनके समय के आर्यों की सभ्यता ऊँचे दर्जे की ठहरती है। उनमें सभी विभागों के उन्नतम ज्ञान के प्रमाण विद्यमान हैं, और उनमें वर्णित समाज एक धन-जन-शांति-संपन्न समाज जान पड़ता है। ब्राह्मण-कालीन सभ्यता सूत्रकाल तक उन्नति की ही ओर अग्रसर होती विदित होती है, जिसके साथ वर्तमान भारत की तुलना करने से आर्य-वंशजों की पतनदशा के और प्रमाण की आवश्यकता नहीं रह जाती। सूत्रों में वर्णित यज्ञ ऐसे विषयों से संबंध रखते हैं, जिन पर बिना पूरा विचार किए मनुष्य अपनी या समाज की सच्ची उन्नति कभी नहीं कर सकता। सारे यज्ञ व्यक्तिगत और समाजगत जीवन को सबल बनाने के सच्चे साधन कहे जा सकते हैं। उनके निश्चित करने में पर्याप्त तर्क और बुद्धि से काम लिया गया है। इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि ये वैदिकयज्ञ धार्मिक ढोंग या आडंबर के प्रचारक सिद्ध नहीं होते। सूत्रों के याज्ञिक भावों के सिवा नैतिक धार्मिक या सामाजिक विचार भी सर्वथा सारगर्भित बोध होते हैं और उनका अनुगामी समाज कदापि पतन का राही नहीं हो सकता।

राजधर्म—राजा कौन हो सकता है, उसका मंत्री कैसा होना चाहिए, राजधर्म क्या है, राजा को किस प्रकार न्याय करना चाहिए, प्रभृति बातों पर सूत्रग्रंथों में पूरा विचार किया गया है। गौतमसूत्र में लिखा है कि राजा को वेदों का गंभीर ज्ञानी होना चाहिए। बौधायन सूत्र में आया है कि न्यायसभा में निष्पक्ष न्याय न होने से जो अधर्म होता है, उसके भागी अधर्म-कर्ता, साक्षी, न्यायसभा के न्यायकर्ता और राजा, चारों बनते हैं। अतः राजा का प्रधान कर्म सभी प्राणियों की रक्षा करना होना चाहिए। इसी पर ध्यान रखते हुए उस समय के राजा पाप करने से बहुत डरते थे, यद्यपि प्रजा राजा को पूज्य दृष्टि से देखती थी। राजसिंहासन पर आरूढ़ रहता हुआ भी राजा अन्याय करने से डरता था; क्योंकि उसे विश्वास था कि अन्याय के पाप का दुःखद फल उसे अवश्य भोगना पड़ेगा। वशिष्ठ-सूत्र का आदेश है कि राजा अपने देश के चारों वर्णों से उचित धर्म-कर्म का पालन करावे। गौतमसूत्र बतलाता है कि जो राजा न्याय-पूर्वक दंड देकर अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता, उसे प्रायश्चित्त करना चाहिए; क्योंकि आपस्तंब के अनुकूल वह स्वयं पाप का भागी बनता है। इसी के

† १८ संस्कारों का भी उल्लेख मिलता है; मनुस्मृति में १२ के ही नाम आए हैं।

समर्थन में वशिष्ठ-सूत्र का कहना है कि यदि दंड-योग्य कोई अपराधी छूट जाय, तो राजा को एक दिन और एक रात भूखा रहना चाहिए और राजा के पुरोहित को तीन दिन और तीन रात। पुनश्च, चोर का पाप उस राजा पर भी पड़ता है, जो चोर के अपराधों को क्षमा करता है। किसी निरपराध पुरुष के दंडित हो जाने पर पुरोहित के कृच्छ्रव्रत करने और राजा के तीन दिन-रात भूखा रहने का भी विधान पाया जाता है। आपस्तंब, राजा को शुल्क अर्थात् टैक्स जमा करने का भी अधिकारी बतलाते हुए न्यायाधीशों के गुणों के संबंध में कहता है कि पूर्ण विद्वान्, विशुद्ध कुलोत्पन्न, वृद्ध, तर्कपटु और कर्तव्यप्रिय को ही अभियोगों के निर्णय के लिये न्यायाधीश बनाना चाहिए।

अतः सूत्रकाल में राजा के लिये वेदज्ञ, तर्कपटु, दृढ़-व्रती, सत्यप्रिय और निष्पक्ष होना अत्यावश्यक था। उसके पुरोहित और मंत्री भी पूर्ण विद्वान्, निर्लोभ, चतुर, विचारशील और उदारचेता होते थे। न्यायकर्ता सदा अपने कर्तव्य में सावधान रहते और सत्यासत्य के निर्णय की यथाशक्ति चेष्टा किया करते थे। प्रजा राजा को पूज्य दृष्टि से देखती थी, तो भी राजा सदा पापों से भीत रहता था। राजा देखता था कि अपराधी अवश्य दंड पावें, और निरपराधी कभी त्रासित न हों। कोई पाप हो जाने पर राजा भी प्रायश्चित्त कर चित्त को शुद्ध करता था।

दंडनीय ब्राह्मण—आजकल साधारणतः ब्राह्मणों पर दोषारोपण करते हुए लोग कह बैठते हैं कि पुराने समय में ब्राह्मणों ने अपना काम बना लिया और सभी जगह अपने को श्रेष्ठ रक्खा। वास्तव में ऐसे लोग नहीं समझते कि उस युग में जाति जन्मगत ही नहीं थी, वरन् कर्म को भी विशेषता दी जाती थी। ऐसी दशा में ब्राह्मण के अंतर्गत सभी ऐसे लोग आ जाते हैं, जो त्यागी वेदज्ञ लोकोपकारी थे, और विद्या-प्रचार में लीन रहते थे। ब्राह्मण-समुदाय पर धर्म और न्याय का सारा भार था। ब्राह्मणों पर निष्पक्ष सम्मति के लिये सारा समाज निर्भर था। ऐसी दशा में जो पतित या कर्तव्य-भ्रष्ट हो जाते, वे अपनी महत्ता खोकर दंड के भागी बनते थे। सूत्रग्रंथों में इसके पर्याप्त प्रमाण हैं। वशिष्ठ-सूत्र में पाया है कि वे नामधारी ब्राह्मण, जो वेदों का पठन-पाठन और यज्ञ नहीं करते, शूद्रों के समान हैं। दुष्ट और धर्म-पथ से विचलित पुरुष को तप, अध्ययन, अग्निहोत्र या दान भी भोग से वंचित नहीं कर सकते। बौद्धायन-सूत्र कहता है कि एक धर्मात्मा ब्राह्मण की सम्मति सहस्र मूर्खों की सम्मति से अधिक आदरणीय है, किंतु ऐसे ब्राह्मणों का समूह भी, जो पवित्र कर्तव्य से रहित हो वेद से अनजान है, राज्यनियमों का निर्णायक नहीं हो सकता। बौद्धायन-सूत्र में लिखा है कि यदि कोई ब्राह्मण किसी ब्राह्मण का वध करे, अपनी गुरुपत्नी की मर्यादा नष्ट करे, किसी ब्राह्मण का धन चुरावे, अथवा सुरापान करे, तो राजा को चाहिए कि उस अपराधी के ललाट पर तप्त लोहे से धड़ का चिह्न या स्त्री के...का चिह्न, या एक श्रृगाल का चिह्न, या मदिरा की दूकान का चिह्न अंकित करा दे और उसे अपने देश से बहिष्कृत कर दे। गौतम की सम्मति है कि यदि ब्राह्मण किसी क्षत्रिय को गाली दे, तो उसे ५० कार्षापण का दंड होना चाहिए; और यदि कोई महाविद्वान् अपराध करे, तो उसके लिये औरों की अपेक्षा अधिक दंड दिया जाय। आपस्तंब, चापलूस ब्राह्मण को भी दंडभागी बतलाता हुआ कहता है कि जो ब्राह्मण होकर चापलूसी करता है, उसे घास पर बैठ अपनी पीठ को सूर्य की ओर कर उसे जलाना चाहिए।

शूद्रों की स्थिति—ब्राह्मण और सूत्रग्रंथों के अध्ययन करने पर विश्वास हो जाता है कि प्राचीन काल में शूद्र उन्हीं को कहते थे, जो मूर्ख, दुराचारी या मंद बुद्धि के होते थे। कोई बात नहीं कि ऐसे लोग ब्राह्मण के पुत्र हों, या क्षत्रिय के, या वैश्य के। पर ऐसे लोग भी समाज में घृणा की दृष्टि से नहीं देखे जाते थे। न्यायतः वे भी अपना अधिकार रखते थे, और जब तक कोई अपराध न करते, दंडित या निंदित नहीं होते थे। निष्पक्ष न्याय के वे भी उतना ही अधिकारी थे, जितना कोई ब्राह्मण। ऐसे लोगों के पुत्र-पौत्र भी विद्याध्ययन कर ज्ञानी बन जाने पर पूर्ण पूजा के पात्र माने जाते थे और उन्हें आचार्य-पद पर बिठलाने में भी कोई विद्वान् तनिक नहीं हिचकता था। आपस्तंब धर्मसूत्र इसी का समर्थन करता हुआ कहता है—"धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जाति परिवृत्तौ।"—अर्थात् निकृष्ट वर्ण धर्माचरण से उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त हो उसी वर्ण में गिना जाय, जिसके वह योग्य हो।

स्त्रियों का मान—सूत्रग्रंथों के समय में स्त्रियाँ

मान्य समझी जाती और पूजा की दृष्टि से देखी जाती थीं। विदुषी स्त्रियों का अभाव न था, न अनुचित पर्दे की कुरीति थी। आश्वलायन श्रौतसूत्र के "समानं ब्रह्म-चर्यम्" के अनुकूल कन्याएँ भी ब्रह्मचर्य-व्रत पालन का पुत्रों के समान अधिकार रखती थीं। पारस्कर-गृह्यसूत्र के "स्त्रियउपनीता अनुपनीताँश्च" से उनके यज्ञोपवीतिनी होने का भी पता चलता है। विवाह में उनकी सम्मति भी ली जाती थी और उनका विवाह वय-गुण में सम या श्रेष्ठ व्यक्ति के साथ किया जाता था। स्त्रियाँ सहवर्तिनी, सहधर्मिणी और अर्द्धांगिनी समझी जाती थीं, अतः सभी धर्मकार्यों में अपने पति का साथ देती और भाग लिया करती थीं। तब उन पर समाज का ऐसा भार था और पुरुषों से उनका इतना घनिष्ठ संबंध समझा जाता था कि वे किसी अवस्था में स्वतंत्र नहीं समझी जा सकीं। कन्या-विक्रय निंदित समझा जाता था और किसी को मोल लेकर लाई-बनाई गई पत्नी के साथ देवयज्ञ या पितृयज्ञ करने का अधिकार प्राप्त नहीं था।*

(अप्रकाशित 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' से)

रामावतार शर्मा

* इस विषय के संबंध में अन्य आवश्यक उल्लेख की सूचना के लिये मैं आभारी रहूँगा। निवेदक, लेखक, जगनारायण-विद्यालय, कोआथ, ज़ि० शाहाबाद।

संगीत और विनोद

[स्वरकार तथा शब्दकार—राय साहब डाक्टर भोलादत्त काला]

ध्रुपद भैरवी—ताल ब्रह्म (विलंबित)

स्थायी

गाओ तुम गुनीजन, गिरिजापति महेश शिव त्रिपुरेश्वर ।

अंतरा

गंगाधर परमेश्वर वृषभध्वज मदनदहन त्रिनयन । नीलकंठ भक्तिभाजन कर-त्रिशूल डमरु-धरन हर ॥

संचारी

पंचानन चंद्रमौलि जगदीश्वर शंभुनाथ बाघाम्बर । पतित-पावन अति अमोघ बिघनहरन भूतेश्वर ॥

आभोग

भक्तवत्सल नागभूषन भस्मअंग भंगरंग प्रलयकरन । बामदेव बिरुपाक्ष महादेव विश्वम्भर ॥

\+ ० २ ३ ० ४ ५ ६ ० ७ ८ ९ १० ०

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४

स्थायी

ध ध | प ऽ | नी ध प ग | म प | सां ऽ नीध प ग रेसा | ऽ ऽ | सा सां नी ध प म ग रेसा साऽ ऽ रे | नी सा

ओ ऽ | तुम | गु नी ज न | गि रि | जा ऽ प ति म हे | ऽ श | शि व त्रि पु रे ऽऽऽ ऽऽ श्वर | गा ऽ

अंतरा

ध ग | म ऽ | ध नी सां ऽ | ऽ ऽ | ऽ ऽ नी ऽ सां ऽ | ऽ ऽ | गं मं रें गं सांरें नीसां नीध प ऽ गं | रें सां

गं ऽ | गा ऽ | ध र प र | मे ऽ | श्व र वृ ष भ ऽ | ध्व ज | म द न द ह न त्रि न | य न

ऽ ऽ | ऽ रे | सा ऽ नी सा | ग म | प ऽ ध ऽ प ग | ऽ म | गं सां नीध प मग रेसा सा रे | नी सा

नी ऽ | ल कं | ऽ ठ भ ऽ | क्ति भा | ज न क र त्रि शू | ऽ ल | ड म रु ध रऽ नऽ ह र | गा ऽ

संचारी

सा प | ऽ ऽ | ऽ ऽ ध ऽ | मप ग | ऽ म प नी ध प | ग ऽ | म ग रे सा ऽ ऽ स ऽ | ध ऽ

पं ऽ | चा ऽ | न न चं ऽ | द्र मौ | ऽ लि ज ग दी ऽ | श्व र | शं ऽ भु ना ऽ थ बा ऽ | घा ऽ

नी ऽ | सा ऽ | ग ऽ ऽ ऽ | ग रे सा | ऽ ऽ रे धम म | ग रे सा | ऽ ऽ नीसा ग म पध नीसां सांऽऽऽ | ऽऽ ऽऽ

म्ब र | प ति | त पा व न | अ | अ मो ऽ घ बि घ | न ह | र न भूऽ ऽऽ तेऽ ऽऽ ऽऽऽऽ | ऽऽ श्वर

आभोग

नीध पग | म ऽ | ध नी सां | ऽ ऽ | ऽ ऽ नी ऽ ऽ सां | ऽ ऽ | गंमं रेंगं सांरें नीसां नीध प प गं | रें

भ ऽ | क्र व | त्सल नाऽ | ग भू | द ण भ ऽ स्म श्रं | ऽ ग | भं ऽ ग रं ऽ ग प्र ल | य

ऽ | धनीसांरें | सां ग ऽ म | नी ध | प ग ऽ म ग रे | सा गं | सां ऽ सांनी धप मग रेसा ऽऽ सारें | नी

र न | बा ऽ | म दे ऽ व | वि रु | ऽ पा ऽ च म हा | ऽ दे | ऽ व विऽ ऽऽ श्वं ऽऽऽ ऽऽ भर | गा

ओ ऽ

रागिनी-विवरण

भैरवी का ध्यान इस प्रकार है—

सरोवरस्थे स्फटिकस्य मण्डपे सरोरुहे शंकरमर्चयन्ती ।
वीणाविनोदी कमलायताक्षी पीताम्बरधारिणी भैरवीयम् ॥

अंशन्यासादि

हनुमत्-मतानुसार—

धैवतांशग्रहन्यासं धैवतादिकमूर्च्छना ।
संपूर्णभैरवी ज्ञेया प्रातःकाले प्रगीयते ॥

भरत-मतानुसार—

मध्यमांशग्रहन्यासं मध्यमादिकमूर्च्छना ।
संपूर्णभैरवी ज्ञेया मपधनिसगरेस्वरा ॥

यह रागिनी प्रथम राग भैरव की स्त्री कही गई है। इसके रूप में विशेष परिवर्तन होना नहीं पाया जाता है। इसमें सब स्वर कोमल हैं, किंतु कतिपय संगीतशास्त्री इसमें तीव्र मध्यम व तीव्र ऋषभ का भी प्रयोग प्रायः करते हैं। इससे रागिनी के स्वरूप में कोई अंतर नहीं पड़ता। इसका वादी स्वर जैसा ऊपर ध्यान में कहा गया है, हनुमत्-मत के अनुसार धैवत और भरत-मत से मध्यम है। प्रचार में दोनों ही मतों के स्वरूप पाए जाते हैं, जो बहुत सुंदर हैं। इसके गाने का समय प्रातःकाल है। कुछ लोग इसे सर्वकालिक मानते हैं। यह अत्यंत प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय रागिनी है। प्राचीन काल में इसके स्वर देवाधिदेव शिवजी के स्तुत्यात्मक पदों पर रचकर गाए जाते थे। आजकल इसमें शृंगाररस को ही प्रधानता पाई जाती है। यह शांतरस की रागिनी है। इसको गाते समय श्रीमहादेवजी का स्वरूप ध्यान में रखना चाहिए। इससे मन प्रसन्न एवं पवित्र रहेगा। सांकेतिक चिह्न आचार्य भातखंडे द्वारा निर्मित प्रणाली के सदृश जानने चाहिए।

× × ×

जूड़ी-जाड़ा

(१)

तेरी सुसकार से प्रचंड बलधारी काँपें
कौन है समर्थ जो न पीला पड़ जाता है।
कोमल कृशांग दीन हीन की न गणना है,
एक बार प्रबल मतंग अकुलाता है॥
कर-पद शीतल हो चढ़ती अतुल ताप,
बढ़ती अदम्य तृषा मुख कुम्हलाता है।
धन्य जूड़ी देवि ! द्रवौ उद्धत उदार महा,
दास कर जोड़ दूर ही से भय खाता है॥

(२)

कहीं होती चौथिया तिजारी रूपधारी कहीं,
कभी नित्य ज्वर, कभी दो-दो बार आती है।
बनी 'नहगड़ी' कभी अंग है कँपाती क्रुद्ध,
पड़ती न नींद सारी रात बीत जाती है॥
पेट बड़वानल हो जठर अनल मंद,
पीछे श्रम-जल मानो स्रोत ही बहाती है।
दारुण दरेर दीर्घ दाप से दबाती देश,
भीरु होते भेंटे भट ध्यान में न लाती है॥

(३)

कोई पुरुषार्थ से पुरुष रूप तुझे कहें,
शीतज्वर नाम हुआ विश्रुत इसी लिए।
कहीं 'तपेलरज़ा' 'मलेरिया' पुकारी जाती,
जेठी विषमज्वर की वश विश्व है किए॥
तृषा, कास, श्वास, हिक्का, वमन, विरेचन भी,
बद्धकोष्ठ, अफरा, अरुचि साथ हैं दिए।
मूर्छा समेत सखा सखी की दहाई पूरी,
एक-मात्र रोगी कहो कैसे स्वस्थ रखिए।

(४)

मुख्य लीला-क्षेत्र तेरा यद्यपि तराई-प्रांत,
किंतु दिशि-विदिशि प्रतापपुंज छाता है।

प्रावृट-प्रयाण, शरदागम में डेरे पड़ें,
कभी-कभी अन्य ऋतु में सँदेस आता है ॥
प्रबल मशक-चमू चढ़ै न हटाए हटै,
छेदै अंग-अंग ताप तीव्र बढ़ जाता है ।
केवल हेमंत की कृपा से कलपावें नेक,
अन्यथा सजीववृंद पीड़ित लखाता है ॥

(५)

बन आती डाकटर, वैद्य-वृंद की है भली,
मुदित हकीम अंग फूले न समाते हैं ।
करते पँसारी हैं प्रशंसा तेरी भूरि-भूरि,
'मेडिकल-हाल' वाले गुण-गीत गाते हैं ॥
कड़ुवी कुनैन, मगनेशिया की माँग बढ़ी,
कुटकी, चिरैता, गुर्च, नीम खोज लाते हैं ।
बाटली की शीशी से न हटती प्रचंड ताप,
गोली, क्वाथ, चूर्ण, अवलेह मात खाते हैं ॥

(६)

दीन हीन कृषक 'मजूर' पैसा पास नहीं,
कैसे करें—उनका सहायक न कोई है ।
घर में न भूनी भाँग, मूँग की गिनावे कौन ?
गेहूँ कैसा—चना हुआ मोती—भाग्य सोई है ॥
घास-फूस भरैं, आधे उदर दबाई तिल्ली,
हल खड़ा कोने में, पियासी बैल-गोई है ।
भूखी भैंस गाय, दीन बकरी की कौन कहै ?
खेत भए बंजर, 'रबी' की आशा खोई है ॥

(७)

चूहे डंड पेलैं, चूल्हा चार दिन से न जला,
गृहिणी बिचारी सुन्न हिले न ठिकाने से ।
बाहर भीतर खटिया ही खटिया हैं बिछी,
कैसा पथ्य—धन्य भाग्य गिनैं जल पाने से ॥
बाल-वृद्ध-तरुण लपेटे पड़े चेत बिना,
मैले वस्त्र, क्षीण-काय तेरे कलपाने से ।
ऐसी-तैसी तेरी तू तो काल से कराल क्रूर,
करुणाविहीन नहीं हटती हटाने से ॥

ठा० रघुनंदनसिंह

सुमन-संचय

१. एडिसन-जयंती

अपने जीवन-काल में ही अपनी जीवन-साधना की सफलता के देखने का सौभाग्य विरले ही महापुरुषों को प्राप्त होता है। इसी प्रकार ऐसे महापुरुष भी बहुत कम होते हैं, जिनको अपने जीवन-काल में अपनी जयंती देखने का सौभाग्य मिलता हो। भारतवर्ष में श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, श्रीजगदीशचंद्र वसु आदि महानुभावों को यह सौभाग्य प्राप्त हो चुका है।

इसी प्रकार का एक महत्त्वपूर्ण जयंती-महोत्सव कुछ समय पहले संयुक्तराज्य अमेरिका में बड़े समारोह के साथ मनाया गया था। यह उत्सव जगत् के महान् वैज्ञानिक आविष्कारक टामस एल्वा एडिसन के संबंध में हुआ था। एडिसन के नाम से सारा शिक्षित जगत् परिचित है। उसके किए हुए दो आविष्कार सबसे अधिक मशहूर हैं। एक बिजली का दीपक और दूसरा फोनोग्राफ। सन् १८७९ के अक्टूबर की २१वीं तारीख़ विज्ञान के इतिहास में सुवर्ण के अक्षरों से अंकित है; क्योंकि उसी दिन पहला बिजली का दीपक बना—इतना ही नहीं, वह बहुत देर तक जलकर प्रकाश भी करता रहा। खद्योत की तरह एक बार चमक दिखाकर फिर बुझ जाय, ऐसे दीये से क्या लाभ? घंटों तक यह दीया जलता रहा। घंटों तक इस जलते हुए दीये को एडिसन अनिमेष लोचनों से देखता रहा। शांति, धीरज और तत्परता-पूर्वक एडिसन ने इस दीये की चौकी दी। इस प्रकार ४३ घंटे बह गए, और फिर दीया बुझा। इस प्रकार एक महान् आविष्कार का जन्म हुआ। यह ४० घंटे जलनेवाला दीया ही वर्तमान समय में सर्वत्र जलनेवाले विद्युत्-प्रदीपों का पूर्वज है। इसी के सुधार, विकास, विस्तार और उपयोगों के लिये अनेक उद्योगों की स्थापना हुई है।

"इस बड़े आविष्कार की सुवर्ण-जयंती अवश्य मनानी चाहिए और वह भी इस प्रकार कि समस्त संसार को इसका ज्ञान हो तथा एडिसन की भी सच्ची क़दर हो"—इस प्रकार का निश्चय संयुक्तराज्य अमेरिका की सरकार ने तथा कांग्रेस ने किया। इस 'एडिसन-दीप-सुवर्ण-जयंती' का वर्णन जानने लायक़ है।

सन् १९२८ के अक्टूबर की २०वीं तारीख़ को संध्या-समय अमेरिका के प्रेसिडेंट श्रीकूलिज ने एक सुंदर

और सरल व्याख्यान देकर जनता को एडिसन का परिचय कराया।

"कोई भी मनुष्य, जिसने अपना चरित्र तथा अपनी असाधारण रचनाएँ जगत् के सामने प्रकट की हों, समस्त मानव-जाति के लिये आदरणीय है। दर्शनातुर जगत् ऐसे महापुरुष को देखने के लिये उसके घर की दहलीज़ को अपने पैरों से घिस डालता है। ऐसे महापुरुष अपनी बुद्धिमत्ता एवं उदाहरण द्वारा अन्य लोगों को अधिक अच्छी कृतियाँ बताने के लिये उत्साह प्रदान करते हैं। मानव-प्रगति में वस्तुतः इन्हीं महापुरुषों का विशेष भाग होता है। हमारे आसपास की स्थूल सृष्टि में तथा हमारे अंदर की विचारसृष्टि में नवीन समस्याओं का उद्घाटन ऐसे ही महानुभाव करते हैं।

"मानव-संस्कृति के कार्य को अधिक उन्नत बनाने के लिये जिस महापुरुष ने विशेष कार्य किया है, और जो महापुरुष अभी हमारे समक्ष विद्यमान है, ऐसे महानुभाव को गुणज्ञता, सम्मान तथा भक्तिभाव का अर्घ्य देने के लिये आज इस रात्रि के समय केवल संयुक्तदेश अमेरिका ही नहीं, अपितु पृथ्वी के समस्त देश, एक घड़ी के लिये शांत बने हैं।

"मानव-जीवन के कल्याण के लिये जिन्होंने अपना जीवन अर्पित किया है, ऐसे विज्ञानाचार्य टामस एल्वा एडिसन की जीवन-कथा अद्भुत रस से मिली हुई है। इनको अनन्य प्रतिभाशाली (Genius) कहा गया है, जादूगर भी कहा गया है। इस महापुरुष की शक्तियों का वर्णन करने के लिये भले ही ऐसे शब्द प्रयुक्त किए जायँ, परंतु असामान्य शीलवाले इस पुरुष ने अपने लिये इन गुणों एवं नामों को स्वीकार करने से सदा इनकार ही किया है। इसने अपनी सीधी-सादी वाणी में जगत् को कह दिया है—और इसका यह वचन अब एक सूक्ति के रूप में मशहूर भी हो चुका है कि—

Genius is made up of one per cent inspiration and 99 per cent perspiration.

अर्थात् "प्रतिभा में एक अंश प्रेरणा का है और बाक़ी ६६ अंश तो पसीने—परिश्रम—के ही हैं।"

"उपर्युक्त कथन शब्दशः सत्य न हो, तो भी वह जिस तथ्य का प्रतिपादन करता है, वह तो अवश्य महत्त्वपूर्ण है। अपने इस विचार को प्रयोग में लाने से एडिसन कभी पीछे नहीं हटे हैं। उनका कहना है—

Every thing comes to him who hustles while he waits.

"एक बार इनकी ७७वीं जन्मगाँठ के अवसर पर एक महाशय ने पूछा कि—

"तुम्हारे जीवन का तत्त्व किस बात में है ?" उसका उत्तर मिला—"Work—bringing out the secrets of nature and applying them for the happiness of men." अर्थात् "प्रकृति के रहस्यों को ढूँढ़ना और उन्हें मनुष्य के कल्याण के लिये प्रयुक्त करना।"

"श्रीएडिसन का लक्ष्य हमेशा किसी-न-किसी उपयोगी विषय पर लगा रहता है। अपनी शक्तियों को वह कभी व्यर्थ नहीं जाने देते। पहले वह यह निश्चय करते हैं कि मुझे क्या सिद्ध करना है, और उसके बाद एक वास्तविक सत्यान्वेषी की तरह अचूक उत्साह, धैर्य और परिश्रम के साथ उसको सिद्ध करने के लिये लग जाते हैं।

"इनके जीवन का एक प्रसंग, जिसका वर्णन उन्होंने स्वयं किया है, मुझे बहुत अच्छा लगता है। उन्होंने फोनोग्राफ बनाया। तब सन् १८७८ में राष्ट्रपति हेइस ने इनको अपना फोनोग्राफ लेकर अपने घर पर आने का आमंत्रण दिया। उसके अनुसार एडिसन रात्रि के ११बजे प्रेसिडेंट के निवास-गृह श्वेतमहल (White House) में पहुँचे। और स्वयं प्रेसिडेंट, उनकी पत्नी और उनके अन्य अतिथि आदि इस नवीन आविष्कार को देखने में इतने तल्लीन हो गए कि आख़िर आविष्कर्ता को रात्रि के तीन बजे छुट्टी मिली। यह तो सभी जानते हैं कि रात को जल्दी सो जाने की आदत एडिसन को नहीं है।

"आनेवाले वर्षों में विद्युत्-विषयक समस्त क्षेत्र एडिसन के नाम के साथ संबद्ध हो जायगा। एक महाशय का तो यहाँ तक कहना है कि आज विद्युत् की एक भी ऐसी विधि और यंत्र नहीं है, जिसमें एडिसन द्वारा किए हुए आविष्कार किसी-न-किसी रूप में प्रतिबिंबित न होते हों। वैज्ञानिक स्टाइन मेट्ज़ का कहना है कि वैद्युतिक इंजीनियरिंगकला के क्षेत्र में एडिसन ने जितना कार्य किया है, उतना अन्य किसी व्यक्ति ने नहीं किया है। 'विद्युत्-प्रदीप' का आविष्कार करके तथा विद्युत्शक्ति के वितरण

करने के साधनों को संपूर्ण करके एडिसन ने यथार्थ में जगत् के अंधकारमय प्रदेशों को आलोकित कर दिया है। इनके आविष्कारों के कारण हुनर-उद्योग की पुरानी प्रणालिकाओं में क्रांति हो चुकी है। इस क्षेत्र में भी नई-नई विधियाँ विकसित हुई हैं। हमारे जीवन और घर दिन-प्रतिदिन अधिक सुखमय बने हैं।

"यद्यपि एडिसन केवल हमारे ही नहीं हैं—संपूर्ण संसार के हैं, तो भी संयुक्त-देश अमेरिका एक दृष्टि से अभिमान कर सकता है कि—छोटे कार्यों में से प्राप्त की हुई इस उन्नति ने तथा विजय के मार्ग पर आए हुए विघ्नों को नष्ट करनेवाली इस वैज्ञानिक की अविरत प्रयत्नशीलता ने हमारे राष्ट्र की आत्मा को अच्छी तरह चमकाया है। इसकी सिद्धियों ने जगत् की प्रगति में हमारे देश का एक अच्छा हिस्सा दिया है, यह सोचकर हमें विशेष हर्ष होता है। एडिसन हमारी नागरिकता की सुंदर-से-सुंदर मूर्तियों में है !!

"सन् १६१५ में योरपीय महायुद्ध के समय नौका-विभाग के मंत्री की आज्ञा से इन्होंने राज्य की सेवा करना स्वीकार किया। हमारी नौका-विषयक सलाह-कारक-समिति (Naval Consulting Board) का यह कर्तव्य था कि युद्ध के लिये तैयार होने तथा पीछे से विग्रह में भाग लेने के लिये जो-जो आविष्कार, वैज्ञानिक एवं यांत्रिक युक्तियाँ हमको सहायक हो सकें, उन सबका निरीक्षण किया जाय। इस महत्त्वपूर्ण और उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर अंत तक एडिसन ने बड़ी तत्परता और योग्यता के साथ कार्य किया। सन् १६१७ से १६१६ तक तो एडिसन ने अपना सारा समय सरकार की इच्छा पर ही छोड़ दिया था।

"एडिसन ने शिक्षण के क्षेत्र में भी बहुत काम किया है। अपनी प्रयोगशाला में तालीम देकर वैज्ञानिक तथा औद्योगिक जगत् में महत्त्वपूर्ण पदों को प्राप्त करनेवाले अनेक पुरुषों को इसने तैयार किया है। इसी प्रकार विज्ञान के विषय में अधिक खोज एवं अनुसंधान करने के लिये कितने ही व्यक्तियों को एडिसन ने प्रेरणा और उत्साह प्रदान किया है।

"आज श्रीएडिसन के प्रति मेरी मंगलकामना है—"अमेरिका के उदार सेवक ! मानवजाति के कल्याण-कर्ता ! अपना काम चालू रखने तथा अपने प्रकट किए हुए प्रकाश को लोगों के समीप पहुँचानेवाले व्यक्तियों को प्रेरणा देने के लिये तुम चिरंजीवी होओ।"

राष्ट्रपति के ऊपर लिखे प्रवचन के उपरांत संयुक्तराज्य अमेरिका के राजमंत्री मेल महोदय ने नूजर्सी-नामक स्थान में स्थित एडिसन की प्रयोगशाला (लेबोरेटरी) में समस्त प्रजा की ओर से श्रीएडिसन को एक सुवर्ण-पदक प्रदान किया। इस पदक के एक ओर एडिसन की मुखाकृति अंकित है और दूसरी ओर एक संज्ञाचित्र के नीचे निम्न मुद्रालेख अंकित हुआ है—

"He illuminated the path of progress by his inventions."

अर्थात् "इसने अपने आविष्कारों द्वारा प्रगति के पथ को आलोकित किया है।"

इस पदक को अर्पित करते समय राजमंत्री श्रीमेलन महोदय ने भी अपनी छोटी-सी वक्तृता दी थी—"जिन थोड़े से व्यक्तियों ने जगत् के वर्तमान जीवन-प्रवाह को बदल दिया है—और उसको नवीन मार्ग पर चढ़ा दिया है, ऐसे व्यक्तियों में श्रीयुत एडिसन एक हैं। जगत् के इतिहास में ऐसे महान् व्यक्ति बहुत समय के बाद आया करते हैं। वे किसी एक ही देश व एक ही प्रजा की संपत्ति नहीं होते। उनकी कीर्तिकथाएँ तथा उनके पराक्रम राष्ट्रीय सीमाओं को पार करके समस्त लोक में व्याप्त हो जाते हैं।

"अमेरिका को आज अभिमान है कि उसने जगत् के चरणों में ऐसा एक पुरुष अर्पित किया है। समस्त प्रजा की इच्छा के अनुसार अमेरिकन कांग्रेस ने इस सुवर्ण-पदक को तैयार करने की आज्ञा की है। जिससे पिछली शताब्दी में मानव-संस्कृति में क्रांति उत्पन्न करनेवाले आविष्कारों के द्वारा एडिसन ने जगत् की प्रगति के पथ को जो उज्ज्वल बनाया है, उसके उपलक्ष्य में इस पदक द्वारा उसका समुचित मान किया जाय।"

"मिस्टर एडिसन, तुम्हारा देश, कृतज्ञतापूर्वक तुम्हारा सम्मान करता है, उसके चिह्न के रूप में यह 'सुवर्ण-जयंती-पदक' तुमको अर्पित करके मैं धन्य होता हूँ।"

इसका उत्तर श्रीयुत एडिसन ने बहुत संक्षिप्त एवं सुंदर वाक्यों में दिया—

"मुझे दिए गए सम्मान के प्रतीकरूप इस पदक को मैं बड़ी कृतज्ञता के साथ स्वीकार करता हूँ। मेरे देशबंधु अपने कांग्रेस के प्रतिनिधियों द्वारा मेरे लिये सम्मान और सद्भाव की जो संज्ञा प्रेषित कर रहे हैं, उसके अंदर

एक गूढ़ संकेत बसा हुआ है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। मेरे लिये तथा मेरे परिवार के लिये यह पदक आदर और अभिमान का सूचक रहेगा, तथा मुझे प्रिय लगनेवाली मेरी क़ीमती वस्तुओं के साथ यह सुरक्षित रहेगा।''

इस प्रसंग के बाद जनता के विशेष ज्ञान के लिये एक विज्ञानशास्त्री ने रेडियो द्वारा एडिसन तथा उसके आविष्कारों के विषय में व्याख्यान देकर उनका परिचय कराया था।

इसके अतिरिक्त अमेरिका में डाकख़ाने की दो सेंट की टिकट के ऊपर एडिसन के प्रथम विद्युत्-प्रदीप का चित्र छापा जाने लगा है। एडिसन की तस्वीर नहीं दी जा सकती; क्योंकि क़ानून के अनुसार जीवित मनुष्य की आकृति टिकटों या नोटों पर छापना ठीक नहीं माना जाता। अमेरिका तथा फ़्रांस आदि देश इँगलैंड की अपेक्षा अधिक उचित पद्धति का पालन करते हैं। अपनी टिकटों तथा नोटों पर केवल राजा या राजपुरुष की ही तस्वीर छापनी चाहिए, ऐसी मनोवृत्ति से वे ऊपर हैं। अमेरिका अपनी टिकटों पर अपने राष्ट्रपतियों के अतिरिक्त बेंजमिन फ्रैंकलिन, जैफ़रसन आदि महापुरुषों के चित्र अंकित करता है। फ़्रांस ने अपनी कई टिकटों पर वहाँ के प्रसिद्ध वैज्ञानिक लुई पास्टर का चित्र छापा है। जर्मनी के डाकख़ानों की टिकटों पर वहाँ के प्रख्यात कवि शिलर और गेटे की आकृतियाँ अंकित रहती हैं। और यह ठीक भी है। संस्कृत में महाकवि भर्तृहरि ने क्या ही सुंदर वचन कहा है—''नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।'' समय बीतने पर बड़े राजाओं और महाराजाओं के नाम मिट जायँगे, परंतु एडिसन-जैसे मानव-जाति का कल्याण करनेवाले वैज्ञानिकों के नाम सदा उज्ज्वल रहेंगे।

इस सुवर्ण-जयंती के अनंतर कुछ महीनों के बाद अर्थात् १९२९ के फ़रवरी महीने की ११वीं तारीख़ को एडिसन ने अपनी ८२वीं वर्षगाँठ मनाई। इस शुभ अवसर पर अमेरिका के वर्तमान राष्ट्रपति श्री० हूवर, उनकी पत्नी तथा मोटरों के राजा एवं एडिसन के पुराने दोस्त श्री० हेनरी फ़ोर्ड उपस्थित थे।

आज हेनरी फ़ोर्ड और एडिसन दोनों मिलकर अमेरिका में रबर के वृक्ष उगाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस कार्य में उनको सफलता भी मिल रही है। पूरी सफलता प्राप्त हो जाने पर वे मोटर बनाने के उद्योग में तथा जगत् के अन्य औद्योगिक क्षेत्रों में बड़ी भारी हलचल मचा देंगे। *

शंकरदेव विद्यालंकार

× × ×

* डाक्टर कांतिलाल सी० पंड्या एम्० ए०, पी०-एच्० डी० के गुजराती लेख के आधार पर।

२. तकुली

धुनकी भई नीकी रुई धवली,
वसुधा में सुधा-सी जवै भरिहै;
तव भारतवासी भिखारिहु एक,
धनेस के वेलहिं को धरिहै।
मरिहै सुरचा मनचेस्टर को,
महिमा महा मीलन की टरिहै;
करिहै कमनीय कुलीनता को,
तकुली या कुलीपन को हरिहै।

*　*　*

उपालंभ (तकुली का)

पैन्हि कै स्वेत तगा को झगा,
नितहू फिरै नाचती हाट बजारन;
कारी कुरूप कुजाति महा,
तऊ मोहती नीके जवान हजारन।
जानती है कछू जादू भलो,
किधौं याहू मैं है सखि और हो कारन;
या नटिहाई नई तकुली को,
करैं तवहूँ सदा प्रीतम धारन।

महादेवप्रसाद अग्निहोत्री

×　×　×

३. आधुनिक शिक्षा-प्रणाली

शिक्षा का उद्देश्य

प्राचीन तथा अर्वाचीन शिक्षा-विशेषज्ञों के अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य पूर्ण मनुष्य बनाने का है। पूर्ण मनुष्य से अभिप्राय यह है कि उसे विद्यार्थी-जीवन में शिक्षा पाने पर, उन सब भेदों का पता लग जाय, जिनके आधार पर वह अपना जीवन आनंदपूर्वक बिता सके। किंतु आधुनिक शिक्षा-प्रणाली द्वारा शिक्षित समाज में यह बात नहीं पाई जाती। शिक्षाकाल समाप्त करके वे ज्यों ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं, उन्हें यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे केवल दासवृत्ति के योग्य हैं और उसके द्वारा आजीविका के योग्य धन भी नहीं कमा सकते। वे व्यावहारिक, सामाजिक तथा प्रयोगात्मक ज्ञान से कोसों दूर हैं। यदि उन्हें किसी घरू धंधे में लगाया जाय अथवा खेती आदि स्वतंत्र धंधे ग्रहण करने का आदेश किया जाय, तो आधुनिक शिक्षा-प्रणाली द्वारा उत्पन्न संकोच ही उन्हें इस ओर से विमुख कर देता है। वे स्वतंत्रता के महत्त्व को नहीं समझते, उन्हें तो दासत्व की बेड़ियाँ पहनने में ही आनंद प्राप्त होता है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात है कि आधुनिक शिक्षा से शिक्षा के मुख्य उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती।

धार्मिक शिक्षा का अभाव

इस शिक्षा का सबसे भयंकर दोष धार्मिक शिक्षा का अभाव है। यहाँ की शिक्षा-प्रणाली बहुत अंश तक पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली की छाया है और वह भी अधूरी ही। स्वामी विवेकानंदजी अमेरिका में एक समय व्याख्यान देते हुए पाश्चात्य शिक्षा के बारे में कहते हैं—

It is one of the evils of your western civilization that you are after intellectual education alone and take no care of the hearts. It makes men ten times more selfish and that will be your own destruction.

"पाश्चात्य सभ्यता में यह बड़ा भयंकर दोष है कि आप मानसिक शक्तियों के विकास में ही लगे रहते हैं, हृदय की शुद्धता पर ध्यान नहीं देते। इससे मनुष्य दस-गुना स्वार्थी हो जाता है और इसी के कारण आपका सर्वनाश होगा।" इस प्रकार की शिक्षा के अभाव के कारण बाल्यावस्था में ही कुसंगति तथा अन्य कारणों से बुरे विचारों का बीजारोपण बालकों के हृदय में हो जाता है। "जैसा विचार वैसा आचार" वाली कहावत के अनुसार कुछ ही समय में बालकों का आचरण, केवल बुरे विचारों के अंकुरित हो जाने के कारण, शीघ्र ही भ्रष्ट हो जाता है। और, जब उनका आचरण बाल्यावस्था में ख़राब हो गया, तो वे आगे चलकर जीवन में पशुवत् रहने का प्रमाण देते हैं। अपने स्वार्थ के लिये ग़रीबों के गले काटना, अपनी भूल को स्वीकार न करके उसे हज़ारों और झूठ बोलकर दबाना, कहना कुछ करना कुछ, इत्यादि नाना प्रकार के उपद्रव ऐसे हैं, जो वास्तविक सुख की कल्पना से बहुत परे हैं। आधुनिक शिक्षा-प्राप्त लोगों को, चाहे वे अपने को कितना ही विद्वान् क्यों न मानें, यह पता ही नहीं रहता कि धर्म किस खेत की मूली है; वे किस धर्म के अनुयायी हैं, उसके

तथा नियम हैं, उसमें कौन-कौन-से शिक्षाप्रद आख्यान हैं। उन्हें धर्म से क्या मतलब, उनका भोग-विलास अच्छा, वे अच्छे।

भारतवर्ष इस समय बड़ी भयंकर दशा में है। यहाँ पर नाना प्रकार के मतों के अनुयायी निवास करते हैं और प्रत्येक का ध्यान प्राचीन हिंदू-जाति को छिन्न-भिन्न करने और अपने मत का प्रचार करने में लगा रहता है। अपने-अपने मत का, धर्मज्ञान से रहित हिंदुओं को फुसलाकर प्रचार करनेवाले सैकड़ों मुल्ला, मिशनरी आदि हैं। हिंदुओं के विचार—विशेषतः धार्मिक—इस प्रकार की शिक्षा के अभाव के कारण, बहुत शिथिल हो गए हैं और यही कारण है कि इन मुल्लाओं-मिशनरियों तथा अन्य धर्मप्रचारकों के फुसलाने में आकर वे विधर्मी हो जाते हैं। कारण स्पष्ट ही यह है कि हमारी शिक्षा-नीति में धार्मिक शिक्षा का अभाव है।

प्रयोगात्मक शिक्षा का अभाव

हमारे यहाँ प्रयोगात्मक शिक्षा (Practical training) का सर्वथा अभाव ही है। यदि कहीं-कहीं इस प्रकार की आयोजना है, तो उनमें एक मुख्य बात यही है कि सारी को सारी प्रयोगात्मक शिक्षा विदेशी यंत्रों, विदेशी वस्तुओं तथा पुस्तकों पर निर्भर है। इसमें कुछ रहस्य है, साथ ही साथ यह प्रयोगात्मक शिक्षा सुलभ भी नहीं है। परिणामतः भारतवर्ष स्वतंत्र धंधों में अग्रसर नहीं हो पाता। इसी विचार को ध्यान में रखकर इस प्रकार की शिक्षा के ऐसे नियम भी बने हैं।

अँगरेज़ी माध्यम

इस शिक्षा-प्रणाली में प्रत्येक विषय का शिक्षण अँगरेज़ी-भाषा में ही होता है। इस भाषा के विशेषज्ञों का ही संसार में बोलबाला है, इन्हीं की पूछ है। ठीक इसी प्रकार का अवसर भारतवर्ष में अकबर के राज्य में उपस्थित हुआ था। उस समय उर्दू जाननेवालों की पूछ थी। इसका प्रभाव यह हुआ कि भारतवासी अपनी मातृभाषा को छोड़कर उर्दू पढ़ने लगे। इस प्रकार उर्दू के विद्वान् तथा ग्रंथों की दिन पर दिन उन्नति हो गई। यही ज्ञात होने लगा कि उर्दू ही में ज्ञानभंडार है और उर्दू के क़दरदान ही संसार के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् हैं। इसका यह प्रभाव पड़ा कि हमारे हृदय में, हमारे विजेताओं के प्रति, जिनको पहले हम अनादर की दृष्टि से देखते थे, आदर का भाव हो गया। हमने अपने को नितांत मूर्ख समझकर उन्हें आदरणीय गुरु के स्थान पर स्थापित करने का साहस कर लिया। बस, इस प्रकार हमारे विजेताओं की उन्मूलनक्रिया सफल हुई। ठीक ऐसी ही स्थिति वर्तमान शिक्षानीति की है।

विश्वविद्यालय

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में उच्च शिक्षा विश्वविद्यालयों द्वारा ही दी जाती है। किसी सज्जन ने इन विश्वविद्यालयों के बारे में कहा है—

Universities deprive diamonds of their lustre and try to polish stones.

अर्थात् विश्वविद्यालय हीरों की चमक को कम करते हैं और साधारण पत्थरों को चमकाने का प्रयत्न करते हैं। इन विश्वविद्यालयों से जहाँ स्वतंत्र मस्तिष्कवाले निकलने चाहिए, वहाँ प्रायः ९० प्रतिशत परीक्षार्थी केवल नौकरी का ही ध्येय रखकर निकलते हैं। और, शिक्षण-काल में ही आचार-भ्रष्ट, विचार-भ्रष्ट, स्वदेशाभिमान-विहीन, शक्तिहीन, क्षीण-मन, अस्वस्थ, कपटमूर्ति, चतुर-चूड़ामणि हो जाने के कारण, शिक्षा के फलस्वरूप संपूर्ण विकास का जो बीजांकुर रह भी जाता है, वह भी आगे दासता की भट्ठी में जल-भुनकर ख़ाक हो जाता है। रहे स्कूल, सो वे तो आजकल सच्ची विद्या के स्थान हैं ही नहीं। लांक साहब ने कहा है—

"Schools prepare us well enough for the university but not for the universe."

अर्थात् स्कूल हमें विद्यालयों की परीक्षाओं के लिये तैयार करते हैं, सांसारिक परीक्षाओं के लिये नहीं।

बीकानेर के दीवान ने अपने एक व्याख्यान में कहा है—

Students should leave their schools and Colleges not only with what they have learnt but with a constant love for learning.

उनका कथन है कि विद्यार्थियों को स्कूल अपने अध्ययन किए हुए विषयों के साथ ही नहीं छोड़ना चाहिए, वरन् उनमें अटूट अध्ययन की लगन हो जानी चाहिए। परंतु आजकल तो बिलकुल विपरीत ही बात हो रही है। जहाँ अध्ययन की समाप्ति हुई, शायद बिरले ही किसी के सामने अध्ययन का लक्ष्य रहता हो। इससे यह ज्ञात होता है कि आधुनिक शिक्षा-प्रणाली दोषपूर्ण और ह्रास की अनुगामिनी है। वैसे तो जहाँ आधुनिक शिक्षा समाप्त होती है, वहीं से वास्तविक शिक्षा आरंभ होती है। आजकल जितने विद्यार्थी स्कूलों में दिखाई

पढ़ते हैं, उनमें से ९९ प्रतिशत शिक्षा के उच्च उद्देश्य को भूलकर, उसकी निकृष्ट दिशा को ही सामने रखकर पढ़ते हैं।

शिक्षा का फल

जिस शिक्षा को हम हज़ारों रुपए और बहुमूल्य स्वास्थ्य को तिलांजलि देकर प्राप्त करते हैं, जिस शिक्षा के प्राप्त करने में हमारा जीवन नष्ट होता है, उसी का प्रतिफल इतने भीषण रूप में प्राप्त होता है कि उसे देखकर हृदय दहल उठता है। जहाँ देखो, वहाँ अपूर्णता के सिवा और कुछ नहीं दिखाई देता। ज्यों ही हम संसार में प्रवेश करते हैं, हमें ज्ञात होने लगता है कि हमें प्राप्त तो कुछ नहीं हुआ, उलटे हम हतवीर्य हो गए हैं। हम अनुभवहीन हैं; संसार कैसा है, इसका हमें पता भी नहीं है। आचार हमसे कोसों दूर है, और वैवाहिक संबंध हो जाने के बाद तो हमारी आपत्तियाँ द्विगुणित हो जाती हैं। सुख की कल्पना में हमें दुःख प्रतीत होने लगता है। विकास के स्थान पर हम ह्रास को अपने सामने पाते हैं।

रामचंद्र गौड़

× × ×

४. उलट-फेर

सुनो सुनाता हूँ प्रभात, तारों की मधुर कहानी।
देख यही है मेरे उर की प्रियतम दग्ध निशानी॥
कह देता हूँ नाथ! बात यद्यपि है बहुत पुरानी।
अरे किसी दिन इस मरु में भी लहराता था पानी॥
छलका था मादकता से हा! कभी हमारा प्याला।
देव! हमारे तममय नभ पर भी था कभी उजाला॥

कपिलदेवनारायणसिंह

× × ×

५. गौड़ेश्वर विश्वरूपसेन का ताम्र-लेख

बंगाल के फ़रीदपुर ज़िले के कोटालिपाड परगना, पोस्ट पिंजारी अंतर्गत मदनपाद-गाँव में एक किसान को यह ताम्र-पत्र प्राप्त हुआ था। यही ताम्रपत्र सन् १८९२ में पंडित लक्ष्मी ंद्र सांख्यतीर्थ द्वारा बँगला-विश्वकोष-कार श्रीयुत बाबू नगेंद्रनाथ वसु को प्राप्त हुआ। उन्होंने इसका वर्णन सन् १८९६ में बंगाल एशियाटिक सोसा-

ट्ठी के मुख-पत्रिका में प्रकाशित किया है। यह लेख उसी वर्णन का सारमात्र है।

ताम्र-पत्र में जो लेख है, उसकी लिपि १२वीं या १३वीं सदी को बंगाली लिपि है। भाषा संस्कृत है। लेख-पंक्तियाँ ६० हैं। लेख का आरंभ 'ॐ नमो नारायणाय' से किया गया है। प्रथम श्लोक में सूर्य की वंदना है। आगे चंद्रमा की। तत्पश्चात् लिखा है—

चंद्रवंश में सुधा-किरण-शेखर (शिवजी) के तुल्य विजयसेन राजा हुए। उनके पुत्र बल्लालसेन और पौत्र लक्ष्मणसेन हुए। लक्ष्मणसेन ने अनेक देश जीतकर वहाँ-वहाँ अपने 'जयस्तंभ' स्थापित किए।

वेलायां दक्षिणाब्धेर्म्मुसलधरगदापाणि संवासवेद्यां
क्षेत्रे विश्वेश्वरस्य स्फुरदसिवरणा श्लेषगंगोर्म्मिभाजि ।
तीरोत्संगे त्रिवेण्याः कमलभवमखारम्भनिर्व्याजपूते
येनोच्चैर्यज्ञयूपैः सह समरजयस्तम्भमाला न्यधायि ॥१२॥

During his reign sacrificial posts were erected to celebrate victories achieved by the king on the coast of the southern sea, where exist the image of Musaldhar (Balaram) and Gadapani (Jagannath), also in विश्वेश्वर क्षेत्र (बनारस) at the Confluence of tbe *Asi* the Varana, and the Ganga, and also at the *Triveni* (near Allahabad) where the lotus born (Brahma) performed the sacrificial ceremony.

उनकी रानी का नाम था शीतलादेवी। उन्हें त्रिवर्ग (Vertue, wealth and all objects of desire) प्राप्त थे। रानी शीतलादेवी के गर्भ से विश्वरूपसेन देव उत्पन्न हुए।

विश्वरूपसेन देव "गौड़ेश्वर" कहलाते थे एवं उनकी उपाधियों में "अश्वपति, गजपति, नरपति" लिखा हुआ मिलता है।

इन्हीं गौड़ेश्वर विश्वरूपसेन देव के 'भूमिदान' का उल्लेख ताम्र-लेख में है। विश्वरूपदेव शर्मा को भाद्रव मास में, अपने शासन के १४वें वर्ष में, वंग के पौंड्रवर्द्धन-राज्य में विक्रमपुर के निकट भूमि दान में दी गई थी।

इस दानपत्र से ये बातें नई जानी गई हैं।
म० विजयसेनदेव की अन्य उपाधि
"वृषभशंकर" गौड़ेश्वरथी,
,, बल्लालसेनदेव ,, ,, निःशंक-शंकर गौड़ेश्वर,
,, लक्ष्मणसेनदेव ,, ,, मदनशंकर गौड़ेश्वर,
,, विश्वरूपसेनदेव ,, ,, वृषभांकशंकर गौड़ेश्वरथी
पंक्ति ३१वीं के आगे

इह खलु फल्गुग्रामपरिसरसमावासितश्रीमज्जयस्कंधावारात्।

१ समस्तसुप्रशस्त्युपेत अरिराजवृषभशंकरगौडेश्वर श्रीमद्विजयसेनदेवपादानुध्यात।

२ समस्तसुप्रशस्त्युपेत अरिराजनिःशंकशंकरगौडेश्वरश्रीमद्बल्लालसेनदेवपादानुध्यात।

३ समस्तप्रशस्त्युपेत अश्वपतिगजपतिनरपतिराजत्रयाधिपतिसेनकुलकमलविकासभास्करसोमवंशप्रदीपप्रतिपन्नकर्णसत्यव्रतगांगेयशरणागतवज्रपंजरपरमेश्वरपरमभट्टारकपरमसौरमहाराजाधिराजअरिराज मदनशंकर गौड़ेश्वरश्रीमल्लक्ष्मणसेनदेवपादानुध्यात।

४ अश्वपतिगजपतिनरपतिराजत्रयाधिपतिसेनकुलकमलविकासभास्करसोमवंशप्रदीपप्रतिपन्नकर्णसत्यव्रत गांगेयशरणागतवज्रपंजरपरमेश्वरपरमभट्टारकपरमसौर महाराजाधिराज अरिराजवृषभांकशंकर गौडेश्वरश्रीमत्विश्वरूपसेनदेवपादाविजयिनः।

गौड़-देश में एक समय मिथिला, उत्कल, राढ़, वरेंद्र, वंग और कामरूप (आसाम) सम्मिलित थे।

"तबकात-ई-नासिरी" से जाना जाता है कि—

लखनावती राज्य के आसपास जाजनगर, वंगदेश, कामरूद, तिरहुत......ये और ये सब गौड़-देशांतर्गत थे। लखनावती राज्य गंगानदी के दोनों तटों पर फैला हुआ था; पश्चिम-तट की ओर राढ़-अंचल और लखनोरनगर थे और पूर्व-तट पर बरिंद्र या वरेंद्रराज्य!

From the account given by Minhaj, it appears that at the period under notice Mithila, Utkala, Radda, Varendra, Banga and Kamarupa were included in the Kingdom of *Gauda*. The *Sena* kings of Bengal ruled over these territories and for this reason the rulers were called lords of Gauda (गौड़ेश्वर).

सेन राजाओं के समय के संबंध में कुछ थोड़ी सूचना देकर लेख समाप्त किया जाता है—

हेमंतसेन
|
विजयसेन देव (सन् १०९७ के आसपास)
|
वल्लाल सेन देव (सन् १११९ ,, ,,)
|
लक्ष्मणसेन देव (सन् ११७० ,, ,,)
|
माधवसेन — केशवसेन — विक्रमपुर के विश्वरूपसेन देव (सन् १२०० से १२३९ ई० के आसपास) — सदासेन
|
दनौजा-माधव देव (सन् १२८० ई०) इन्होंने चंद्रद्वीप में नूतन राज्य स्थापित किया।

गौड़ (बंगाल) के महाराज वृंद उत्कल के अधिपति हुए, तब से उन्होंने अपने को "अश्वपति, गजपति, नरपति, राजत्रयाधिपति" कहने में गौरव समझा। विश्वरूपसेन के पिता लक्ष्मणसेन देव ने उत्कल पर अधिकार किया, ऐसा ताम्र-लेख से जाना जाता है। परंतु यह स्पष्ट नहीं है कि उत्कल-देशाधिपति "अश्वपति, गजपति, नरपति, राजत्रयाधिपति" क्यों और कब से कहलाने लगे। उनके ताम्रलेखों में "त्रिकलिंगाधिपति" शब्द मिलता है। ई० स० १४८३ के उड़ीसापति राजा पुरुषोत्तमदेव के दान-पत्र में लिखा है—वीर श्रीगजपति, गौड़ेश्वर, नव कोटि कर्नाट कल वर्गेश्वर श्रीपुरुषोत्तमदेव महाराज ....पुरी (जगन्नाथ) के वर्तमान राजा की उपाधि 'गजपति' है। विश्वरूपसेन ने यवनों पर भी विजय पाई थी। यथा—

After defeating the *Musalmans* Visva Rupa assumed the name of गर्ग यवनान्वय प्रलय-काल रुद्र (the terrible destroyer of the 'यवन's

who sprang from Garga) and as at that time a portion of Utkala was under the sway of the kings of Bengal, they held the titles of अश्वपति, गजपति, नरपति, राजत्रयाधिपति, etc.'' पर यह पता नहीं लगता कि 'उत्कल' के राजा लोग क्यों और कब से "राजत्रयाधिपति" कहलाने लगे।

इस ताम्र-लेख के प्रथम दो श्लोक और अंतिम श्लोक नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

वन्देऽरविन्दवनबान्धवमन्धकार-
कारानिबद्धभुवनत्रयमुक्तिहेतुम् ।
पर्यायविस्तृतसितासितपक्षयुग्म-
मुद्यान्तमद्भुतखगं निगमद्रुमस्य ॥ १ ॥

पर्यस्तस्फटिकाचलां वसुमतीं त्रिस्वर्गविमुद्रीभवन्
मुक्ताकुड्मलमब्धिमम्बरनदी वन्यावनद्धं नभः ॥
उद्भिन्नास्मितमञ्जरीपरिचितादिक्कामिनी कल्पयन्
प्रत्युन्मीलतु पुष्पसायकयशो जन्मान्तरं चन्द्रमाः ॥ २ ॥

*　　　*　　　*

सचिवशतमौलिलालितपदाम्बुजस्यानुशासने दूतः ।
श्रीकोपि विष्णुरभवत् गौडमहासान्धिविग्रहिकः ॥
श्रीमन्महासांकरणनि ॥　　श्रीमहामत्तक　करणनि ॥
श्रीमत् करणनि ॥ सं १४　　आश्विनदिने १

लोचनप्रसाद पांडेय

×　　　×　　　×

६. प्राचीन काल में लवण का निर्माण

डाक्टर डी० आर० स्मिथ लिखते हैं कि प्राचीन योरप में लवण क्षार-गुणविशिष्ट वृक्ष या क्षारनदी का जल क्षार लकड़ी की अग्नि पर डालने से बनाया जाता था। राख इकट्ठी कर ली जाती थी। ऐसा ही प्राचीन जर्मनी, गॉल और स्पेन में किया जाता था।

लवण-संबंधी पुस्तक में ए० एफ़० कैलवर्ट लिखते हैं कि १५वीं शताब्दी से चीनवासी क्षारजल को धूप में सुखाकर नमक बनाते थे। समुद्रतट पर गड्ढे खोद लिए जाते थे और उन पर बाँस तिरछे रख दिए जाते थे, जिन पर दोहरी चटाई डाली जाती थी। फिर गड्ढे पर बालू फैला दी जाती थी। प्रत्येक प्रातः और सायंकाल बालू समुद्र तरंग को चूसती थी। क्षारजल बालू में होकर गड्ढे में चला जाता था। समुद्रतरंग के हट जाने पर लवण निर्माणकर्ता आदि रेत के क्षारत्व को तिनकों की अग्नि से जाँचते थे। आर्द्रबालू आर्द्र तभी समझी जाती थी, जब गड्ढे से उठती हुई क्षारभाप तिनकों की अग्नि को बुझा देती थी।

इस प्रकार उत्पन्न किया हुआ लवण गड्ढे से निकाला जाता था और दूसरे या जमाने के गड्ढों में डाला जाता था, जिनकी समभूमि एक फ़ुट या पहले गड्ढों की समभूमि से एक फ़ुट नीची रक्खी जाती थी। यह गड्ढे, जिनकी गहराई थोड़ी होती थी, चिकनी मिट्टी से कड़े कर दिए जाते थे। दूसरे गड्ढों में अच्छा मोटा डलीदार लवण संग्रह हो जाने पर लवण-निर्माणकर्ता समभूमि के बीच में से लवण को खुरचते हुए, बाहर से चक्राकार कार्य करते हुए गड्ढे के कोने पर कार्य पूर्ण करते थे, जहाँ भद्दी डली का लवण संग्रह हो जाता था और सूखने दिया जाता था। जब लवण का जल निकल जाता और वह सूख जाता था, तब वह बाज़ार में विक्रयार्थ भेजा जाता था।

पूर्वी भारत-कंपनी ने लवण के संचय को रोककर नियमविरुद्ध लवणनिर्माण के लिये अवकाश दिया था। हाउस आफ़ कामंस में इस विषय में महाशय क्राफ़ोर्ड ने इस प्रकार कहा था—

"साल्टबोर्ड (Salt Board) ने स्वयं कुछ बातों पर प्रकाश डाला है, जिससे ज्ञात होता है कि लवण की निस्संदेह—मुख्यतः बिहार में—बहुत कमी है। यही स्थान है जो लवणसंचय से बहुत दूर है। इस कमी के ही कारण भारतीय जनता विषपूर्ण, अशुद्ध और कड़वा नमक म्युरिएट आफ़ सोड़ा के स्थान में प्रयोग करने के लिये बाध्य हुई है। यह लवण वनस्पतियों की राख से खींचे हुए क्षार को रखते हैं, जो पोटाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता अथवा संभवतः कुछ विषयों में सोड़ा या कोई ऐसी वस्तु हो, जो उस मल से निर्मित की गई हो जो नौसादर, खाने का लवण, म्युरिएट आफ़ लाइम और सलफ़ेट आफ़ [illegible] नेशिया निर्मित हो जाने पर शेष रह गई हो।

यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि जनता को इन अप्राकृतिक कृत्यों के करने के लिये केवल

आवश्यकता ने ही बाध्य किया है। साल्टबोर्ड (Salt Board) भली भाँति सोच सकता था कि इन दुष्कृतों की गणना बहुत अधिक नहीं है। इस विषय में स्वयं बोर्ड की साक्षी इसका प्रमाण है। यह सर्वसाधारण रिपोर्ट में प्रकट किया गया है कि सन् १८१५ में बिहार में आठ लाख मन लवण व्यय हुआ, जिसमें १½ लाख मन लवण अशुद्ध और विना चुंगी का था। सन् १८३४ में लवण का यह निर्माण बढ़ता ही गया, घटा नहीं। लवण की खपत उतनी ही रही, जितनी २० वर्ष पूर्व थी। सन् १८२१ में बिहार की जनसंख्या उस प्रमाण के अनुसार, जिसे डाइरेक्टर ने पार्लियामेंट के समक्ष प्रकट किया, ६१६६३५ थी और बढ़ोतरी की गणना के अनुसार जनसंख्या सन् १८१५ में १०५१००० होनी चाहिए था। अतः उस समय १३ लाख से अधिक बिहार की जनता को अशुद्ध लवण खाने के लिये बाध्य होना पड़ा था अर्थात् जनता के पाँचवें भाग को ऐसा करने के लिये बाध्य होना पड़ा था।"

अनंतप्रसाद जैन

सूचना—पृष्ठ ६२७, पंक्ति १६-१७ में जो कुछ छपा है, उसकी जगह पाठक यह पढ़ें—"और वहाँ लखनऊ की गंगा-पुस्तकमाला एवं सुधा और माधुरी के संपादन में योग दिया।"

Registered No. A. 1127.

यदि आपको
अपने रूप-रंग की परवाह है तो

हिमानी स्नो

का

व्यवहार कीजिए !

चेहरे की सुंदरता को बढ़ाने के लिये देशी उपचारों में एकमात्र यही प्रशंसित वस्तु है।



बहुत-से नक़्क़ाल पैदा हो गए हैं, उनकी चीज़ों की परीक्षा करना भी ख़तरे से बाहर नहीं है।



और भी

उत्तम स्नान के पवित्र साबुन और सुगंधित तैल आदि

हिमानी

के निशान के साथ मिलते हैं, जिससे इतमीनान कर लेना चाहिए कि सबसे उत्तम चीज़ है।

इसके प्रशंसक

पंडित जवाहरलाल नेहरू, मिस्टर जे० एम० सेन गुप्ता आदि।

सोल एजेंट्स—
शर्मा बनर्जी ऐंड कंपनी,
४ ३, स्ट्रैंड रोड, कलकत्ता।

हिमानी वर्क्स
सोप मेकर्स और परफ्यूमर्स,
कलकत्ता।

Printed and Published by K. D. Seth, at the Newul Kishore Press, Lucknow

लेख-सूची

चित्र-सूची

१—रंगीन

२—व्यंग्य-चित्र



अध्यक्ष—श्रीविष्णुनारायण भार्गव

वर्ष ८ खंड १ | पौष, ३०७ तुलसी-संवत् (१९८७ वि०) | संख्या ६ पूर्ण संख्या १०२

हंस के प्रति—

चुभि जैहैं तीछन पगन तरवन तब,
कहाँ लगि हेरि-हेरि कंटक निपाटौगे ;
जैहैं पच्छ उरझि सुरझि सकिहैं न फेरि,
ह्वै करि विपच्छ ठाट कौन बिधि ठाटौगे।
'घासीराम सुकबि' कमल मुकतान बिन,
घोंघिन के भोतर सु कौन रस चाटौगे ;
असित कराल काग संगति अँगेजि, पोख-
रीन मैं मराल काल कब लगि काटौगे।

घासीराम

अपराध-विज्ञान

अपराध-विज्ञान के द्वारा हम समाज से अपराध के रोग को हटाते हैं। समाज-संगठन की वजह से वैयक्तिक जीवन का बचाव तथा उसकी उन्नति होती है। अपराध-रूपी व्याधि के लग जाने से समाज का अनिष्ट होता है। हज़ारों साल से लोग इस समस्या के हल करने में लगे हुए हैं, परंतु पूरी सफलता प्राप्त होती नहीं देख पड़ती। इसका मुख्य कारण यह है कि हम अपराध के बाह्य कारणों पर तो दृष्टि डालते हैं, परंतु उसकी अंदरूनी बातों पर ध्यान नहीं देते। अपराध-रूपी वृक्ष की टहनियों को हम काटते हैं, पर उसकी जड़ काटने की तरफ़ ध्यान नहीं देते। अपराध-विज्ञान के ज़रिए तो हम उसकी जड़ को काट सकते हैं। इस शास्त्र से यही सामाजिक लाभ होता है। सभ्यतारोपण के ज़रिए पशु-रूपी मनुष्य वास्तविक मनुष्य बनाया जाता है। अपराध-विज्ञान का उद्देश्य यह होता है कि वह अपराधी को सच्चा सभ्य मनुष्य बनावे। इस तरह हम देखते हैं कि इस शास्त्र का स्वार्थ विश्वव्यापी है।

अपराध-विज्ञान का उद्देश्य तथा क्षेत्र

अपराध विज्ञान का दूसरे-दूसरे शास्त्रों से घनिष्ठ संबंध रहता है। लौम्ब्रोज़ो (Lombroso) * ने प्राणि-शास्त्र के आधार पर परंपरागत स्वभाव के सिद्धांत को क़ायम किया था। उन्होंने शरीर-परिच्छेद शास्त्र, प्राणि-धर्मगुण-शास्त्र, मानसिक-व्यथा-हरण-शास्त्र, मानव-शास्त्र तथा इतिहास के आधार पर अपनी राय क़ायम की थी। पशु-शास्त्र तथा वनस्पति शास्त्र के अध्ययन से यह बात साबित की गई थी कि अपराधी के आदर्श का सृष्टि में बहुत ही नीचा स्थान है। इन्हीं शास्त्रों के वास्तविक ज्ञान के ज़रिए उनके सिद्धांत का खंडन किया जा सकता है। अपराध के शारीरिक कारणों को जानने के पहले रोगनिदान-शास्त्र से जानकारी हासिल करना ज़रूरी है। मानव-जाति-विज्ञान, मानव-जातीय संस्कृति-शास्त्र, पर्वन-शास्त्र आदि का ज्ञान भी अपराध की समस्या के हल करने में ज़रूरी है; अपराध-विषयक समाज-शास्त्री को राजनीति, अर्थशास्त्र तथा समाज-शास्त्र का ज्ञान होना निहायत ज़रूरी है। मनोविज्ञान के सिद्धांतों से परिचित होने के पहले अपराध के मानसिक कारणों का पता लगाना मुश्किल है। अपराध-विषयक-दृश्य निदान-शास्त्र (Criminal Phenomenology) का अध्ययन करने के लिये अपराध-विषयक कला, भाषा, साहित्य, मनोविज्ञान, मज़हब तथा अंधविश्वास से परिचित होना ज़रूरी है। अपराध-अन्वेषक को शरीर-शास्त्र तथा प्रकृतिविज्ञान के पंडितों से मदद लेनी पड़ती है। नीति-शास्त्र, मज़हब और न्याय के मूल-सिद्धांतों से परिचित होने पर ही अपराध को समाज से दूर किया जा सकता है।

अपराध-विषयक क़ानून के पंडितों को इस शास्त्र का अध्ययन करना निहायत ज़रूरी है। अपराध-विज्ञान की जानकारी हासिल न करने पर क़ानून की शिक्षा अधूरी रह जाती है। अपराध-विज्ञान अपराध-विषयक क़ानून की शिक्षा की आख़िरी मंज़िल है। सभ्य संसार के दंड-विधान में नियमशील उन्नति लाने के पहले अपराध-विज्ञान के मूल-सिद्धांतों से परिचित होना क़ानूनवेत्ताओं के लिये ज़रूरी है *।

इसके पूर्व कि हम अपराध-विज्ञान की व्याख्या करें, अपराध की व्याख्या करना ज़रूरी मालूम पड़ता है। अपराध किसे कहते हैं? — 'अपराध' शब्द से ऐसे कार्य का बोध होता है, जिसका फल दंड है। तब प्रश्न यह उठता है कि किसी कार्य के करने में ग़फ़लत होने से यदि वह अपराध क़रार दिया जाय, तो इस तरह की ग़फ़लत भी कार्य में सम्मिलित है या नहीं। बेंथम (Bentham), आस्टिन (Austin) और डाक्टर मर्सियर (Dr. Mercier) का मत है कि यदि

अपराध विज्ञान की व्याख्या

* Italian founder of the Science.

* Vide the Principles of Criminology. Pp. 1-4.

किसी कार्य के न करने के लिये इच्छा-शक्ति का प्रयोग करना पड़े, तो वह कार्य करना ही समझा जायगा।*

अपराध एक ऐसा कार्य है, जिसके लिये क़ानून द्वारा सज़ा मिले; यही इसकी सरल व्याख्या है। तब अपराध ऐसा कार्य हुआ जिसके लिये इलज़ाम लगाया जा सके। इलज़ाम लगाने के लिये एक ऐसे शख़्स का होना ज़रूरी है, जिस पर अपराध का प्रभाव पड़े। तब अपराध एक ऐसा कार्य हुआ, जिससे किसी दूसरे शख़्स को चोट अथवा नुक़सान पहुँचे। यदि किसी कार्य से किसी जानवर को चोट पहुँचे, जो किसी मनुष्य की मिल्कियत नहीं, तो वह कार्य पाप हो सकता है, अपराध नहीं। यदि किसी कार्य के फलस्वरूप हदुओं के मुहल्ले की सड़क पर गाय मर जाती है, तो इससे उनके मज़हबी भाव पर चोट पड़ती है, और उस कार्य का प्रभाव उन पर अवश्य पड़ता है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि अपराध का प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मनुष्यों पर पड़ता है। सवाल यह उठता है कि यदि किसी कार्य से केवल किसी व्यक्ति को नुक़सान पहुँचे, पर समाज को उससे कोई हानि न हो, तो वह कार्य अपराध समझा जायगा या नहीं। प्रारंभिक काल में समाज व्यक्तिगत नुक़सान को अपना नुक़सान नहीं समझती थी, और अपराध के आधुनिक भाव से उस समय के लोग अपरिचित थे। इससे प्रकट हुआ कि अपराध एक ऐसा कार्य है, जिससे समाज को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से नुक़सान पहुँचे। यदि कोई कार्य समाज-विरुद्ध हो और उसके लिये यदि समाज घृणा प्रकट करे, तो वह अपराध समझा जयगा या नहीं। वह हरगिज़ अपराध नहीं समझा जा सकता; क्योंकि कोई कार्य अपराध तभी समझा जा सकता है, जब राज-संस्था क़ानून द्वारा सज़ा देकर उसका बदला ले। इस बात का निर्णय राज-संस्था ही को करना पड़ता है कि कौन-सा कार्य अपराध है। राज-संस्था किसी व्यक्ति अथवा संघ के नालिश करने पर अथवा स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अपराध पर विचार कर सकती है; अपराधी से क्षतिपूर्ति करा सकती है अथवा उसे सज़ा दे सकती है। अस्तु, जिन कार्यों का बदला क्षतिपूर्ति के ज़रिए लिया जाता है, वे "टॉर्ट" (Tort) कहलाते हैं; जिन कार्यों के बदले राज-संस्था सज़ा देती है, वे अपराध कहलाते हैं।

अपराध एक ऐच्छिक कार्य है और इसलिये किसी कार्य को ज़िम्मेदारी नीयत पर बहुत कुछ निर्भर रहती है। अगर कोई पागल, जिसे भले-बुरे का ज्ञान नहीं है, कोई अपराध करे, तो क़ानून की नज़र में वह अपराध नहीं समझा जाता है। कुछ ऐसे कार्यों को भी अपराध की श्रेणी में रक्खा जाता है, जिसमें अपराधी को अपराध का ज्ञान न रहते हुए भी सज़ा दी जाती है—जैसे ख़राब जिंसों की बिक्री। कुछ ऐसे कार्य भी अपराध क़रार दे दिए जाते हैं, जो केवल मना करने की वजह से अपराध बन जाते हैं। जैसे—इस देश में सड़क की बाईं तरफ़ से गाड़ी ले चलना पड़ता है; दाहने तरफ़ ले जाना अपराध होगा। परंतु जर्मनी, फ्रांस आदि देशों में सड़क को दाहनी ओर से गाड़ी ले जाने का हुक्म है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि समाज-विरुद्ध हो होने से कोई कार्य अपराध समझा जा सकता है। यदि उसी कार्य से समाज की रक्षा हो, तो वह हरगिज़ अपराध नहीं समझा जा सकता है। युद्ध में दुश्मनों का मारना ख़ून नहीं समझा जाता; क्योंकि उससे समाज की रक्षा होती है। इसी नीति के अनुसार भगवान् कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को उत्साहित किया था। इस तरह अपनी रक्षा के लिये हर मनुष्य को इख़्तियार होता है कि वह ज़रूरत पड़ने पर अपना बचाव ख़ुद करे और नेकनीयती के साथ ऐसा करने में यदि कोई आदमी मारा भी जाय, तो वह अपराध नहीं समझा जाता है।

देश-काल के लिहाज़ से भी अपराध की भावना में फ़रक़ रहता है। सुमात्रा-द्वीप के बट्टा लोग आज भी, और स्कैंडिनेविया के लोग ऐतिहासिक समय के पहले, यह समझते थे कि पुत्र का यह फ़र्ज़ है कि मा-बाप को, जब वे ऐसी बीमारी के शिकार हों जिससे चंगे होने की कोई आशा न हो, मार डालें। * राजपूतों में

---

* Of Section 32 of the Indian Penal Code (Act XLV of 1890) which runs thus:—

"In every part of this code, except where a contrary intention appears from the context, words which refer to acts done extend also to illegal omissions.

* Of—"Society will have recognized and legalized the citizen's right to suicide, or enthanasia, at his own request.... It will take

लड़कियों के क़त्ल करने की प्रथा आम तौर पर जारी थी। प्राचीन स्पार्टा के लोग लड़कों को चोरी करने के लिये उत्साहित करते थे। लैंगिक स्वच्छता के बारे में भी यही कहा जा सकता है। टैहीटी (Tahiti) के बहशी लोग मेहमानों के पास अपनी पत्नी को एक रात के लिये भेजना मेहमानदारी का फ़र्ज़ समझते थे। महाभारत में भी इसी रिवाज़ का ज़िक्र किया गया है *। बहु-पति-विवाह की प्रथा प्राचीन समाजों में ज़ोरों से प्रचलित थी। कुछ अर्द्ध-सभ्य समाजों में बच्चा पैदा करने के लिये स्त्री यदि व्यभिचार करे, तो पति उस पर नज़र-अंदाज़ करता था। स्पार्टा की छोकड़ियाँ अखाड़े में नंगी होकर कुश्ती लड़ती थीं। सैंडविच द्वीप (Sandwich Iles) की कुछ जातियों में खुले आम गर्भाधान करने की प्रथा प्रचलित है। इस तरह हम देखते हैं कि अपराध के क्षेत्र का विस्तृत तथा संकुचित होना प्रत्येक समाज के सामाजिक तथा नैतिक आदर्श पर बहुत कुछ निर्भर है। अपराध-विज्ञान वह शास्त्र है, जिसके ज़रिए हम अपराध का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन करते हैं †।

यहाँ इस बात पर कुछ प्रकाश डाला जायगा कि

अपराध, अधर्म तथा पाप

अपराध (Crime), अधर्म (Vice) ‡ तथा पाप (Sin) में क्या फ़रक़ है। एक ही कार्य अपराध, अधर्म अथवा पाप समझा जा सकता है—केवल दृष्टिकोण में फ़रक़ होने की वजह से। उदाहरण के लिये वेश्यागमन अधर्म भी है और पाप भी है, परंतु यह अपराध नहीं है। अगर राज-संस्था इस काम के लिये सज़ा देने की व्यवस्था कर दे, तो वह अपराध क़रार दिया जायगा। राज-संस्था के विरुद्ध कार्य करना अपराध होता है। समाज की नैतिक धारणा के खिलाफ़ काम करना अधर्म कहलाता है, और मज़हब की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करना पाप समझा जाता है। बेरेनीनो (Berenini) ने अपराध की व्याख्या इस तरह की है—"अपराधों से ऐसे वैयक्तिक तथा समाज-विरुद्ध प्रेरणाओं के कारण घटित कार्यों का बोध होता है, जिनके कारण मौजूदा समाज-गठन को धक्का पहुँचता है और किसी निश्चित समय में निश्चित लोगों की साधारण नैतिक धारणा को चोट पहुँचती है *।

जब हम देखते हैं कि समाज का अधिकांश क़ानून

अपराध की अस्वाभाविकता

का नियम पालन करता है और सामाजिक नियम के विरुद्ध काम करनेवालों की संख्या बहुत कम होती है, तब सहसा यह कहना पड़ता है कि अपराध एक अस्वाभाविक कार्य है। चूँकि अपराध जीवन-धारा के प्रवाह में रुकावट पैदा करता है, इसलिये यह अस्वाभाविक कहा जाता है। परंतु डर्कहीम (Durkheim) के विचार में अपराध सामाजिक हित को मदद पहुँचाता है, इसी कारण समाज सुधार की तरफ़ अग्रसर होती है और इसी की वजह से वह हमेशा चौकन्ना रहती है †। नैतिक

---

the form, not of painful and difficult self-execution, but of an easy and aquiable induction of artificial sleep, from which the patient will not wake."

Hymen by Norman Haire (Kegan Paul) Pp. 42-43.

* "The story narrated in the Mahabharat (Adi Parva, ch. 128) of Svetketu's protest against the custom of an honoured guest being allowed to lie down with the host's wife for a night or two, goes to show the looseness of marriage tie."

A Peep into Ancient Indian Sociology, by Dr. R. Shamsastry, published in the anuals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, vol XI—p. 204.

† Vide the Principles of Criminology Pp. 4-14.

‡ Of—'Whatever act receives social approbation is regarded as Dharma and whatever act meets with social cond emnation is Adharma.

—A peep into Ancient Indian Sociology p. 212.

* Berenini's definiton is that crimes are 'punishable acts which determined by individual and anti-social motives, disturb the existing social order and in most cases shock the average morality of a given people at a given time—Ferri's Criminal Sociology p. 81. I have taken the quotation from Principles of Criminology by Mr. K.S. Pillai p.14.

† Durkheim regards crime to be indissolutly linked to society as a 'factor of public safety and an integral part of any healthy Social body:—Principles of Criminology, p. 14.

दृष्टि से अपराध अस्वाभाविक समझा जाता है; क्योंकि वह मानव-स्वभाव के विरुद्ध होता है । डेसपाईन (Despine) और गैरोफ़ेलो (Garofalo)-जैसे प्राणि-शास्त्र-विषयक नीति-वैज्ञानिकों का भी मत है कि हासिल किए हुए अच्छे गुणों के ग़ायब हो जाने से अपराध का जन्म होता है, इसलिये यह नियम-विरुद्ध (Anomalous) समझा जाना चाहिए। इनको समाज-शास्त्रियों का यह मत मान्य है कि मनुष्य स्वभाव से बेईमान होता है और नैतिक-आचरण तथा भावना हासिल की हुई चीज़ होती है। अध्यात्मशास्त्रियों के मत से अपराध मानव-स्वभाव के परिमित होने का एक स्वाभाविक नतीजा है। अल्ब्रेक्ट (Albrecht) का मत है कि प्राणि-शास्त्र की दृष्टि से अपराध एक स्वाभाविक कार्य है, अपराधी भी ख़ुदगर्ज़ी को सामने रखकर काम करता है जिस तरह दूसरे-दूसरे जीव उसी प्रेरणा के अधीन होकर काम करते हैं। परंतु इटालियन-स्कूल अपराध को एक अस्वाभाविक काम समझता है। वे लोग अपराध को एक क़िस्म का रोग समझते हैं।

डाक्टर बटैग्लिया (Battaglia) का मत है कि अपराध अपराधी की ज़रूरत को पूरा करने का नतीजा है। जब कोई ज़रूरत बग़ैर पूरी हुए रह जाती है, तब तकलीफ़ शुरू होती है; इस तरह की तकलीफ़ से शरीर की काम करने को ताक़त कम हो जाती है, मानसिक गड़बड़ी हो जाती है। शरीर इस दुःख से मुक्त होने की कोशिश करता है। कभी वह किसी दूसरे को नुक़सान पहुँचाए बग़ैर इस काम में सफलता प्राप्त करता है और कभी सामाजिक हितों को धक्का पहुँचाकर अपना काम करता है, और इस तरह अपराध की उत्पत्ति होती है†।

ऐतिहासिक दिग्दर्शन

आधुनिक काल में डाक्टरों ने अपराधियों का अध्ययन करना प्रारंभ किया। सन् १६९६ ईस्वी में स्काच डाक्टर टॉमस ऐबरक्रौंबी (Thomas Abercromby) ने ऐसे संगदिल अभ्यस्त अपराधी की मानसिक दशा को, जिसकी बुद्धि में कोई गड़बड़ी नहीं देख पड़ती, नैतिक पागलपन (Moral insanity) का नाम दिया है। परंतु उस समय इसे कोई भी सज़ा से बरी करने अथवा उसमें कमी होने का कारण नहीं समझता था। अंतिम सदी में मानसिक-रोग-निदान-शास्त्र (Psychiatry) के विकास ने इस मत को ख़त्म किया कि पागल को सज़ा के लिये सही दिमाग़ क़रार देना चाहिए। सन् १८०१ ईस्वी में पाइनल (Pinel) ने पागलों पर एक पुस्तक लिखी *। उसी समय से दंड-विधान तथा पागलपन-विद्या में झगड़ा शुरू हुआ। सन् १८३५ ई० में प्रिट्चर्ड (Pritchard) ने 'नैतिक पागलपन' का प्रयोग मानसिक लकवे के अर्थ में किया। सन् १८४६ ई० में इँगलैंड में क्लैप्हैम (Clapham) और क्लार्क (Clarke) ने एक पुस्तक इसी विषय पर प्रकाशित कराई †। लौंब्रोज़ो ने पहले मानसिक-रोग-निदान-शास्त्र का परीक्षात्मक अध्ययन करना शुरू किया। कपाल-लक्षण विद्या (Phrenology) से भी अपराधियों के दिमाग़ के अध्ययन करने में बड़ी मदद मिली है। सन् १८४० ई० में केरस (Carus) ने अपराधियों के खोपड़े की बनावट के बेडौलपन पर ध्यान आकर्षित किया। सन् १८४४ ई० में लौवरने (Lauvergne) ने बेरहम ख़ूबियों के बारे में बहुत-से अपराधियों के खोपड़े की जाँच कर अपनी राय क़ायम की। सन् १८४७ ई० में ल्यूकस (Lucas) ने प्राणि-शास्त्र के आधार पर यह राय क़ायम की कि अपराध करने की प्रवृत्ति वंश-परंपरागत है ‡। सन् १८५७ ई० में मोरेल (Morel) ने इस सिद्धांत की व्याख्या की कि प्राचीन आदर्श गिरने पर लोग अपराध करते हैं। मनोविज्ञान के आधार पर डेसपाईन (Despine) ने सन् १८६८ ई० में एक पुस्तक में + नैतिक नियम-विरुद्धता का उल्लेख किया है। सन् १८७० ई० में टॉमसन ने अपनी पुस्तक × प्रकाशित कराई। सन् १८७३ ई० में मौडस्ले (Maudsley) ने इस बात को मान लिया है कि स्वभाव-प्रेरित अपराध नैतिक पागलपन है।

† Vide the Principles of Criminology Pp. 14-16.

* "A medical and philosophical Treatise on mental Alienation."

† "Outlines of the Insane and the Criminal."

‡ 'Treatise on natural Heredity'

+ 'Natural Psychology.'

× 'Psychology of Criminals.'

सामाजिक दृष्टि से अपराध का अध्ययन अफलातून के समय से राजनीतिज्ञ तथा न्यायाधीश करते चले आ रहे हैं। आधुनिक समय में बहुत-से पंडित सर टॉमस मूर (Sir Thomas Moore) से लेकर राबर्ट ओवेन (Robert Owen) तथा एंजेल्स (Engels) तक इस विषय पर अपना मत प्रकाशित करते आ रहे हैं। स्थिति-वर्णन-शास्त्रियों (Statisticians) ने भी इस विषय का अध्ययन किया है। सन् १८६६ ई० में क्वेटले (Quetlet) ने अपनी पुस्तक * में इस मत को प्रकाशित किया है कि समाज अपराध के लिये वातावरण तैयार करता है और अपराधी उसे पूरा करता है। उन्होंने जल-वायु के लिहाज़ से इस बात को प्रकाशित किया है कि गरमी के चढ़ाव-उतार से अपराध का नियम-बद्ध संबंध है।

इस तरह आधुनिक अपराध-विज्ञान का जन्म हुआ। वेकेरिया (Beccaria) ने सन् १७३८–१७६४ ई० में बहुत-सी पुस्तकों को प्रकाशित कराया और इसी समय से योरप के दंड-विधान में सुधार का सूत्रपात हुआ। अपराध-विषयक क़ानून के विकास में पहले-पहल इटली ने हाथ लगाया। लौंब्रोज़ो ने इस सिद्धांत को निकाला कि जन्म से अपराधी का नमूना मिलता है, इन्होंने आधुनिक अपराध-विज्ञान की नीव डाली। इन्होंने बहुत-सी पुस्तकों को प्रकाशित कराया है। † सन् १८७६ ई० में बोरडियर (Bordier) ने फ़्रांस में अपराधियों की खोपड़ियों का अध्ययन कर अपराध-विषयक पैतृक-लक्षण-उदय (Criminal atanism) के सिद्धांत को प्रकाशित किया। सन् १८८१ ई० में प्रोफ़ेसर फ़ेरी (Professor Ferri) ने फ़्रांस में इस सिद्धांत को क़ायम किया कि अपराध के तीन कारण होते हैं – वैयक्तिक, जगत्-संबंधी तथा सामाजिक। रैफ़ेल गैरोफ़ेला (Raffaelle Garofalo) ने अपनी पुस्तक ‡ में अपराध के नैसर्गिक तथा कृत्रिम सिद्धांत को प्रकाशित किया। मानव-वैज्ञानिक लौंब्रोज़ो, समाज-शास्त्री फ़ेरी तथा गैरोफ़ेलो, इटैलियन स्कूल के तीन प्रमुख पंडित हैं।

इटैलियन स्कूल के मत के खंडन करने के कार्य में दूसरे-दूसरे स्कूलों का प्रादुर्भाव हुआ। सन् १८८५ ई० में रोम में अपराध-विज्ञान पर अंतरराष्ट्रीय कांग्रेस की बैठक हुई; इसमें लैकेसैग्नी (Laccasagne) ने अपराध के सामाजिक कारणों पर विशेष ज़ोर दिया *। कांग्रेस की दूसरी बैठक सन् १८८९ ई० में पेरिस में हुई; प्रोफ़ेसर मौनूव्रीर (Professor Monouvrier) की अध्यक्षता में, परिस्थिति के क़ायल फ़्रेंच स्कूल ने इटैलियन स्कूल के मत का घोर प्रतिरोध किया। ख़ास इटली में लौंब्रोज़ो के सिद्धांत का विरोध सन् १८८३ ई० में शुरू हुआ। उसी साल त्यूरैटी (Turati) ने फ़ेरी के जवाब में एक छोटी-सी पुस्तक लिखी। † बाद को फ़ेरी ने दूसरी पुस्तक (Socialism and Criminality) लिखी। सन् १८८९ ई० में डाक्टर कोलोजानी (Dr Colojanni) ने एक पुस्तक में अपराध के आर्थिक कारणों पर विशेष ज़ोर दिया। ‡

जर्मनी में भी इस विषय पर पंडितों का ध्यान आकर्षित हुआ। हंस कुरेल्ला (Hans Kurella) लौंब्रोज़ो का अनुयायी था। डाक्टर बेयर (Dr. Baer) ने अपनी पुस्तक (The Criminal) में लौंब्रोज़ो के सिद्धांत का ज़बरदस्त विरोध किया। प्रोफ़ेसर नाके (Professor Naeke) ने लौंब्रोज़ो के नैतिक पागलपन के सिद्धांत की कड़ी समालोचना की। प्रोफ़ेसर हरवौन लिज़्ट (Professor Hervon Liszt) ने इस मत को प्रकाशित किया कि अपराध वैयक्तिक तथा सामाजिक कारणों का नतीजा है। सन् १८९४ ई० में सोमर (Sommer) ने अपनी पुस्तक (Criminal Psychology) में अपराध के अंदरूनी कारणों पर विशेष ज़ोर दिया। इँगलैंड में डाक्टर एलिस (Dr. Ellis) ने अपनी पुस्तक (The Criminal)

---

* 'Social Physics.'

† 'The female offender', 'Political Crimes', 'Legal Psychiatric Expertism', 'Methods of Procedure, Penal Casustry', 'Crime—its Causes and Remedies' etc.

‡ 'Criminology.'

* He said: "Societies have the Criminals they deserve."

† Turate's pamphlet was, "Crime and the Social Question" in answer to Ferri's "Educatien, Environment and Criminality."

‡ Criminal Sociology.

में इटैलियन स्कूल के मत को मान लिया है। अमेरिका में सन् १८९६ ई० में मैकडोनेल्ड (MacDonald) की पुस्तक (Abnormal man) प्रकाशित हुई। डब्ल्यू० डी० मॉरिसन (W. D. Morrison) ने अपनी पुस्तक (Crime and its Causes) प्रकाशित कराई। कॉरोल डी० राइट (Corrall D. Wright) ने एक पुस्तक (The Relation of Economic Conditions to the Causes of Crime) लिखी। हॉर्सले (Horseley) की पुस्तक (How Criminals are made) से व्यावहारिक मदद मिलती है। अमेरिका में और भी बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं। सन् १९०९ ई० में शिकागो (Chicago) में अपराध-विषयक क़ानून तथा अपराध-विज्ञान के अध्ययन के लिये एक राष्ट्रीय संस्था क़ायम की गई है। * इसने अपराध-विज्ञान-संबंधी बहुत सी पुस्तकों का उल्था अँगरेज़ी में किया है। आधुनिक अपराध-विज्ञान का इतिहास यहाँ पर ख़त्म होता है। †

रमाशंकर मिश्र

* National Institute of Criminal Law and Criminology.

† Principles of Criminology by Dr. Pillai—p. 16-21.

जयपुर

जयपुर देखने की मेरी इच्छा बहुत पुरानी थी, पर अनवकाश जाने देता तब न! आख़िर एक दिन पहुँच ही तो गया। ठहरने के स्थान पर पहुँचते ही जल्दी-जल्दी शौच, कुल्ला-दातून, स्नान-ध्यान से निवृत्त हो—वर्षों से मन में दबाई हुई इच्छाओं को पूरा करने के लिये—घूमने को निकल पड़ा।

मेरे एक मित्र ने जयपुरवासी बा० महताबचंद खारैड को एक पत्र लिख दिया था, मैं खारैडजी से जाकर मिला। एक घंटे की बातचीत में ही आपसे वर्षों का-सा मेल हो गया। आप साहित्य-सम्मेलन के विशारद हैं, बड़े ही मिलनसार और सज्जन व्यक्ति हैं। पैतृक आय के कारण आपको कमाने की चिंता नहीं सताती। हिंदी से आपको बहुत प्रेम है उसके प्रचार के लिये आप निरंतर उद्योग करते रहते हैं। मेरे जयपुर में रहने तक मेरे साथ रहने और जयपुर के दिखलाने का भार आपने अपने ऊपर ले लिया। आपके ही सत्संग से मेरी जयपुर-यात्रा सफल हुई।

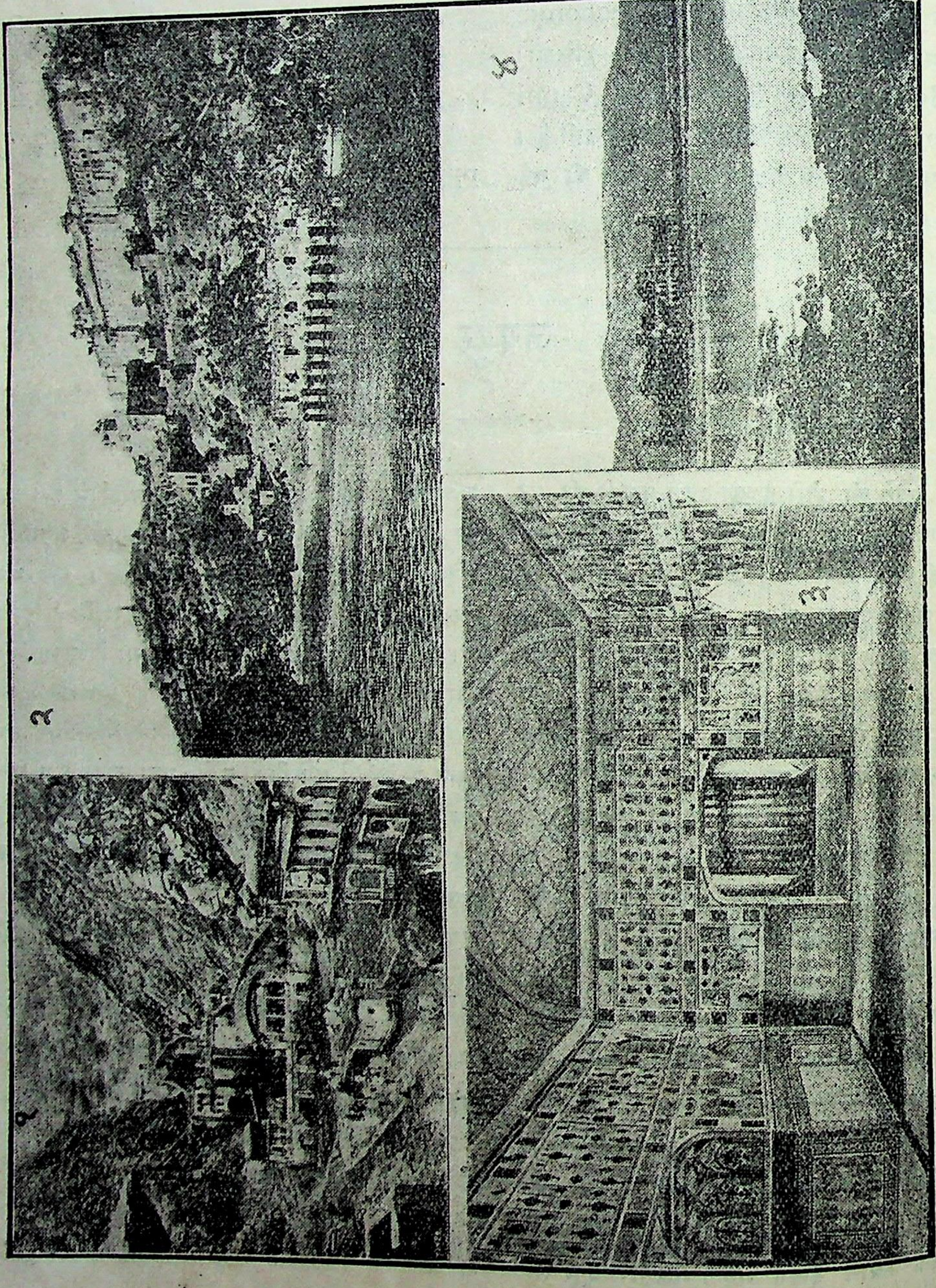
जयपुर में देखने को बहुत कुछ है, क्योंकि यह एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है। सबसे पहले हम लोग "गलता"-नामक स्थान देखने गए। गलता जयपुर से क़रीब तीन मील दूर पहाड़ों की तराई में है। पहाड़ पर घुमावदार सड़क गई है; रास्ते में जगह-जगह मंदिर हैं। गलता में कई मंदिर हैं। एक झरना झर-झर करता हुआ अतीत की स्मृति दिलाता है। झरने में एक कृत्रिम गोमुख लगा है, उसके दोनों ओर कटे हुए बड़े ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं। झरने के आगे दो पक्के कुंड हैं, बहुत-से आने-जानेवाले नित्यप्रति उनमें स्नान करते हैं। प्राकृतिक दृश्य बड़ा सुंदर है। यद्यपि इस समय कुंडों का पानी गंदा था, झरना भी बहुत मंद गति से बह रहा था, तो भी वर्षा के दिनों में यहाँ बहुत आनंद आता होगा।

पहाड़ के ऊपर से जयपुर बड़ा सुंदर दिखलाई देता है। सड़कें तो इतनी सीधी बनी हुई हैं कि शहरपनाह के पूर्व-पश्चिम—दरवाज़े चाँदपोल सूरजपोल—बिलकुल साफ़ सीध में दिखलाई पड़ते हैं। मालूम होता है, जयपुर दो हिस्सों में बराबर-बराबर बँटा हुआ है।

१० बज चुके थे, धूप हो गई थी, आराम का समय था, पर खारैडजी भला कब माननेवाले थे। मुझे साहित्य-पाठशाला में ठहराकर "मैं अभी आता हूँ" कहकर थोड़ी देर में एक घोड़ागाड़ी के साथ आ पहुँचे।

बोले—'आमेर चलिए।' आमेर-महल देखने के लिये राज्य की ओर से एक चिट्ठी मिलती है, तब महल देख सकते हैं। आमेर, शहर से ५-६ मील दूर है, पहाड़ी रास्ता है। दो पक्की सड़कें हैं। एक तो ऊँचे पहाड़ों पर बिलकुल ऊपर ही ऊपर जयपुर से आमेर को गई है। उस पर किसी को जाने की इजाज़त नहीं। राज्य की ओर से पहरा रहता है। दूसरी सड़क पहाड़ों के किनारे-किनारे पहाड़ों को काटती हुई गई है, उस पर लोग आते-जाते हैं।

आमेर के चारों ओर पहाड़ हैं, उन पर भी मज़बूत बड़ी-बड़ी दीवारें बनी हुई हैं। मुझे तो यह देखकर आश्चर्य होता



नं० १—गलता, नं० २—आमेर-महल और आगे का सरोवर, नं० ३—आमेर का भीतरी दृश्य, नं० ४—जल-महल

था कि इतने ऊँचे पर, न जहाँ कोई रास्ता है न पानी, किस प्रकार आठ-आठ नौ-नौ कोस लंबी ऐसी विशाल प्राचीरें बनाई गई होंगी। सचमुच वे बनानेवाले बड़े हिम्मतवर और कुशल कारीगर होंगे। आमेर का विशाल महल भी बहुत ऊँचे पर है। कमज़ोर आदमी तो चढ़ते ही चढ़ते थक जाय। महल देखने लायक़ है, भीतर का शीशे का काम गए-गुज़रे भारत के श्रेष्ठ कला-कौशल की गवाही देता है। मुद्दतें गुजर गईं, पर मालूम यही होता है कि बिलकुल नई कारीगरी है। संगमरमर पत्थर पर बेल-बूटों और पत्तियों की सुंदर सफ़ाईदार खुदाई देखने लायक़ है।

महल से मिला हुआ एक देवी का मंदिर है जिसे शिल्लादेवी का मंदिर कहते हैं। मंदिर में दुर्गा की विशाल मूर्ति है। कहते हैं, यह मूर्ति राजा मानसिंह, बंगाल के प्रसिद्ध राजा प्रतापादित्य के यहाँ से लाए थे। उस समय जो बंगाली पुजारी था, उसी के वंशज अब तक उसके पुजारी हैं।

आमेर महल क़रीब ४ फर्लांग के घेरे में है। पूरे महल के नीचे पक्का कुंड है, जो जल से भरा रहता है। युद्ध-समय में जलकष्ट न हो, यह कुंड इसीलिये बनवाया गया था।

जयपुर-आमेर के बीच में, क़रीब २ मील के दायरे में, लगभग चार हाथ ऊँची दीवार का एक घेरा खिंचा हुआ है। भीतर का भाग ज़मीन से नीचा है। इस २ मील के दायरे के बीचोंबीच एक मकान बना हुआ है, जो इतना मज़बूत है कि इस समय उसकी छत पर ८-१० बड़े-बड़े वृक्ष जम गए हैं। पता लगाने पर मालूम हुआ कि राजा मानसिंह का बनवाया हुआ यह जल-महल है।

पहले राजा लोग कभी-कभी आकर इसमें रहते थे, चारों ओर जल भर दिया जाता था। वे इसमें विहार करते थे। उस दृश्य का चित्र ही जब बड़ा सुंदर मालूम होता है, तो वास्तविक दृश्य कितना सुंदर मालूम पड़ता होगा।

हाँ, एक बात बतलाना मैं भूल ही गया। जब आमेर-महल से हम लोग बाहर होने लगे, तो देखा कि दरवाज़े पर ५-६ मज़दूर बैठे जयपुरी भाषा में कुछ गिड़बिड़-गिड़बिड़ कर रहे हैं। "आप इन्हें जानते हैं, ये कौन हैं?" —खारैडजी ने मुझसे पूछा। मैंने फ़ौरन् जवाब दिया—"हाँ, ये मनुष्य हैं।" उन्होंने कहा—"यह तो ठीक है, पर ये मीना हैं।" "मीना कैसे?"—मैंने पूछा। उत्तर मिला—"मीना एक जाति है। पहले यहाँ इन्हीं लोगों का राज्य था। ये लोग बड़े बहादुर होते हैं, हारना तो कभी जानते ही नहीं। वर्तमान जयपुर-नरेशों के पूर्वज दुर्लभराव ने बड़ी चालाकी से कुछ परकोट-रक्षकों को मिलाकर अपने सैनिक भीतर पहुँचा दिए और पहाड़ों में छिपा दिए। दीवाली का दिन था, राजघराने के तमाम मीना लोग राजा-सहित हथियार छोड़कर पुराने रिवाज के अनुसार, महल के आगे बड़े जलकुंड में विहार कर रहे थे। दुर्लभराव ने एकदम धावा बोल दिया और आमेर पर कब्ज़ा कर लिया। मीना लोग चूँकि वीर होते हैं, इससे उनको यह समझा-बुझाकर ख़ास जगहों पर नियुक्त कर दिया कि "राज्य तुम्हारा ही है, हम तो केवल प्रबंध करते हैं।" तब से ख़ज़ानों पर, क़िलों पर और ख़ास-ख़ास स्थानों पर अब तक इन्हीं लोगों की नियुक्ति होती आती है और किसी भी कार्य के करने से पहले इनसे पूछ लेने की रस्म अदा कर ली जाती है। इन लोगों पर राजा का पूरा विश्वास रहता है। ये लोग ख़ुद मर मिटते हैं, पर विश्वासघात नहीं करते। ख़ज़ाने की दो तालियों में से एक इनके पास और दूसरी राजा के यहाँ रहती है। खारैडजी मुझे ये बातें सुना रहे थे। मैं एकटक उन मीना लोगों की ओर देख रहा था।

आमेर तथा जयपुर के चारों ओर और भी कितने ही खँडहर, मंदिर, मकानात दिखलाई पड़ते हैं, जो इस बात के प्रमाण हैं कि किसी समय ये स्थान बहुत रमणीय और शोभासंपन्न रहे होंगे। इतिहास-अन्वेषकों को यहाँ प्रचुर सामग्री मिल सकती है।

जयपुर का रामनिवास भी देखने लायक़ है। यह कई मील के घेरे में है। जब तक मैं वहाँ रहा, इसे रोज़ देखा। एक तिहाई हिस्सा बाग़, दो तिहाई हिस्सा जंगल समझिए। इसी बाग़ में एक ओर चिड़िया-घर है, जिसमें जंगली पालतू जानवर, चिड़ियाँ, शेर, चीता आदि रक्खे गए हैं। इसी में एक ओर म्यूज़ियम है।

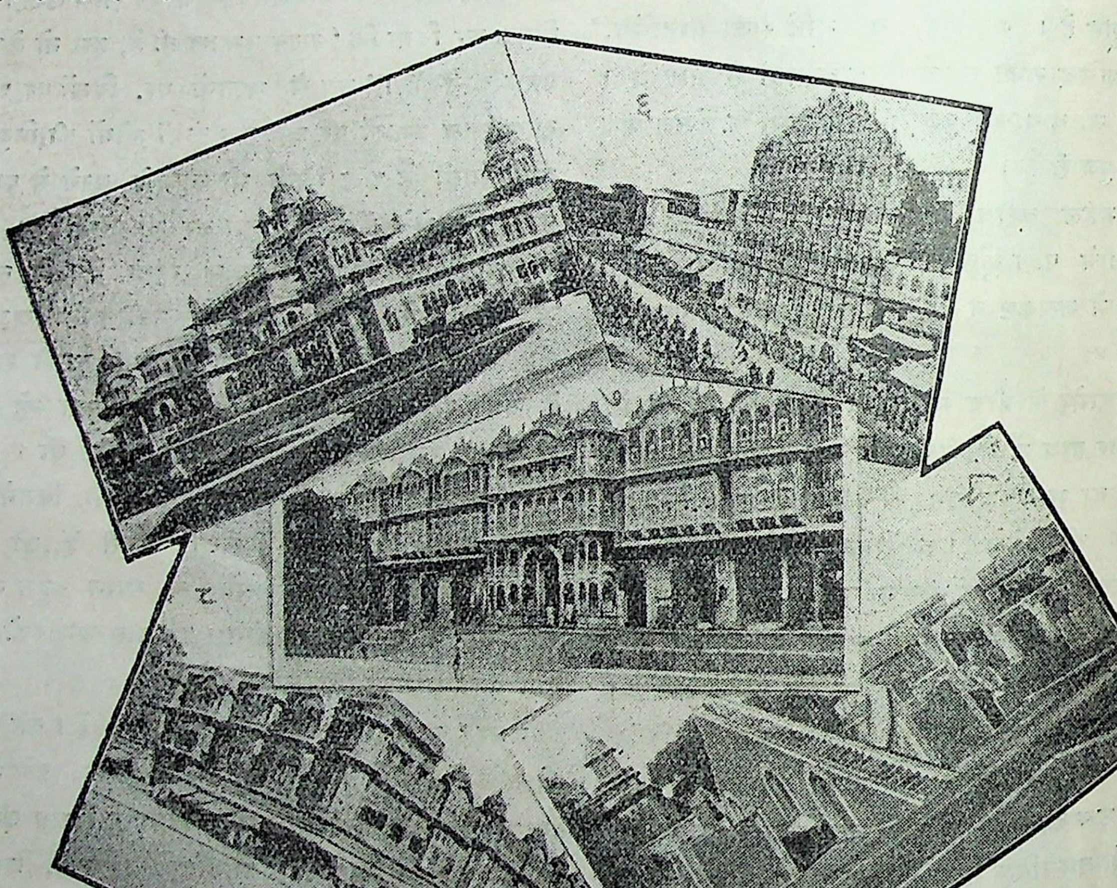
यों तो अजायब-घर में क़रीब-क़रीब मैंने वही चीज़ें देखीं, जो लखनऊ-कलकत्ते के अजायब-घरों में हैं, परंतु यहाँ एक विशेषता है—दीवालों पर बहुत बड़े-बड़े चित्र बनाए गए हैं, जिनमें कहीं पौराणिक काल के, कहीं ईसा के समय के वहाँ के, कहीं चीन देश के तथा अन्य-

अन्य देशों के, ऐतिहासिक घटनाओं के, चित्र खींचे गए हैं ।

यह तो हुआ परकोट-परिवेष्टित जयपुर को चहार-दीवारी की सीमा का वर्णन । अब चहारदीवारी के भीतर की थोड़ी सैर कीजिए ।

एक दिन खारैडजी ने मुझे ले जाकर एक ऐसी जगह खड़ा कर दिया, जिसके दोनों ओर विशाल इमारतें नज़र आती थीं । "आप मुझे यहाँ कहाँ ले आए"—मैंने पूछा । खारैडजी ने बतलाया कि बाईं ओर यह हवा-महल और दाहनी ओर महाराज-कालेज है । महाराज-कालेज में बी० ए० तक की शिक्षा दी जाती है । शिक्षा-भवन देखने लायक़ है । हवा-महल को मैं बड़ी देर तक ध्यान से देखता रहा । महल-वहल तो कुछ था नहीं । बहुत बढ़िया कटावदार, चित्रित, सहस्रों खिड़कियों, झँझरियों और छिद्रों से युक्त एक गगनचुंबी दीवार दिखलाई दी, जिसकी मोटाई दो हाथ से अधिक न होगी । दीवार बहुत सुंदर बनी हुई है । वास्तव में वह है तो दीवार; पर मालूम होता है, प्राचीन चित्रकारी के नमूनास्वरूप किसी बड़े महल, मंदिर या गढ़ का एक प्रदर्शनीय भाग है । मैं जहाँ तक समझ सका, प्रतिक्षण सहस्रों छिद्रों से हवा सनसनाते रहने के कारण ही इसका नाम हवा-महल रक्खा गया होगा ।

जयपुर का ज्योतिष-यंत्रालय भी दर्शनीय स्थानों में से एक है । एक बड़े भू-भाग में धूपघड़ी, राशियों के



नं० ५—म्यूज़ियम हाल, नं० ६—हवा महल,
नं० ७—संस्कृत कालेज, नं० ८—महाराज-कालेज, नं ९—ज्योतिष-यंत्रालय

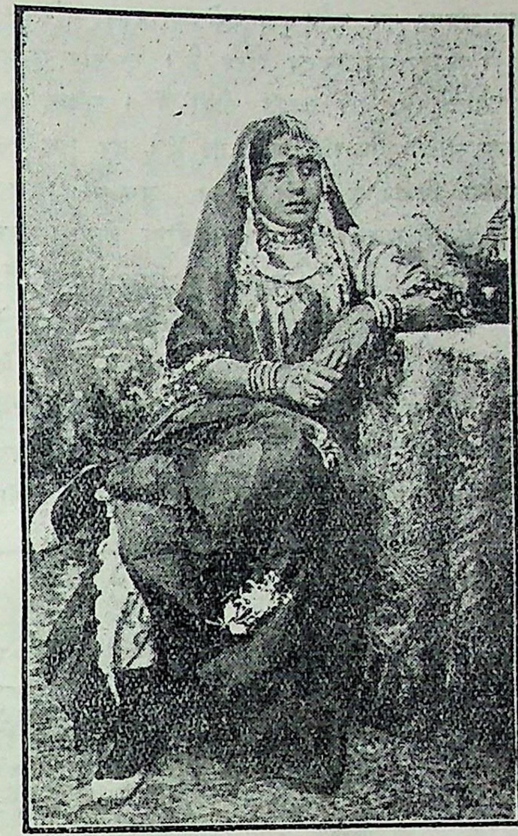
चक्र, खगोल, ग्रहों की चाल आदि के ज्योतिष-संबंधी भिन्न-भिन्न चित्र बने हुए हैं ।

आर्ट-स्कूल, संस्कृत-कालेज, आयुर्वेद-कालेज आदि कितने ही शिक्षणालय यहाँ हैं, जिनमें विविध विषयों की शिक्षा दी जाती है । एक साहित्य-पाठशाला है, जिसमें साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं की पारविधि पढ़ाई जाती है । इस विषय में आचार्य श्रीमथुरानाथजी भट्ट, प्रोफ़ेसर महाराज-कालेज, का प्रयत्न और निःशुल्क शिक्षा-दान स्तुत्य है । सौजन्य की तो भट्टजी मूर्ति ही हैं ।

यह देखकर अत्यंत हर्ष हुआ कि यहाँ छोटे-बड़े सब प्रकार के स्कूलों, कालेजों आदि में उच्च-से-उच्च शिक्षा निःशुल्क दी जाती है, किसी प्रकार की फ़ीस आदि नहीं ली जाती । ब्रिटिश-राज्य में तो इस फ़ीस-डाइन के ही कारण हज़ारों होनहार बालक शिक्षा से वंचित रह जाते हैं !

जयपुर में मंदिरों की भरमार है । सैकड़ों नहीं, हज़ारों मंदिर हैं, जो अभी के नहीं, बहुत समय के बने हुए हैं । जितने भी स्कूल-कालेज आदि हैं, वे सब मंदिरों में ही हैं । इसका यह अर्थ नहीं कि वहाँ से मूर्तियाँ हटा दी गई हों । एक तरफ़ बराबर पूजा-अर्चा होती है; रिक्त स्थान शिक्षा के लिए है । जहाँ जयपुर में यह हाल है, वहाँ प्रयाग आदि तीर्थस्थानों के मंदिरों को देखिए कि विद्यार्थी पास भी नहीं फटकने पाते, चाहे मंदिर बिना झाड़ू और चिराग़ों के ही क्यों न पड़े रहें ।

जयपुर की तमाम रियासत तीन भागों में बँटी हुई है । एक भाग राज्य के अधिकार में है । दूसरा भाग राज्य-घरानों में जागीरों के रूप में दिया हुआ है । तीसरा भाग दान में बँटा हुआ है । यह सुनकर हँसी आती है और आश्चर्य होता है कि दूसरी जगह दान ब्राह्मणों और दान-पात्रों को ही दिया जाता है, परंतु यहाँ वेश्याओं को भी, जिन्हें यहाँ भगतिन कहते हैं, राज्य की ओर से जागीरें बँधी हुई हैं । वे मज़े से गुलछर्रे उड़ाती हैं । उन्हीं में से एक का चित्र यहाँ देखिए ।

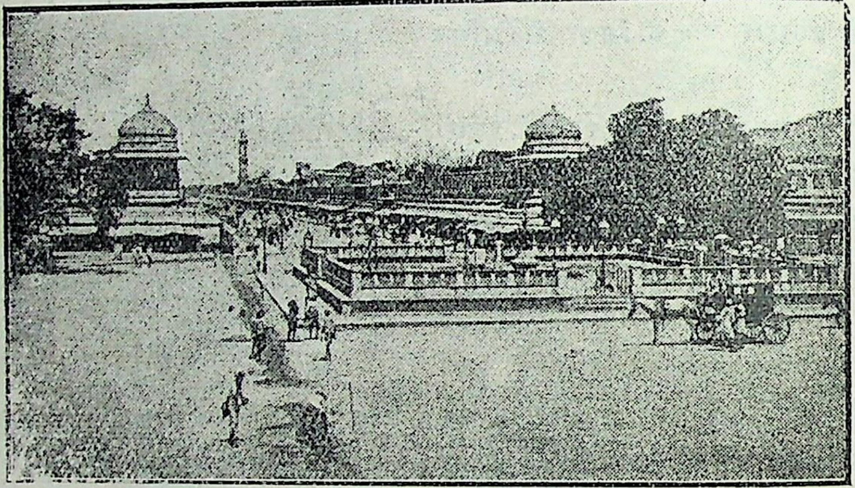


जयपुर की एक वेश्या और उसका ज़ेवर

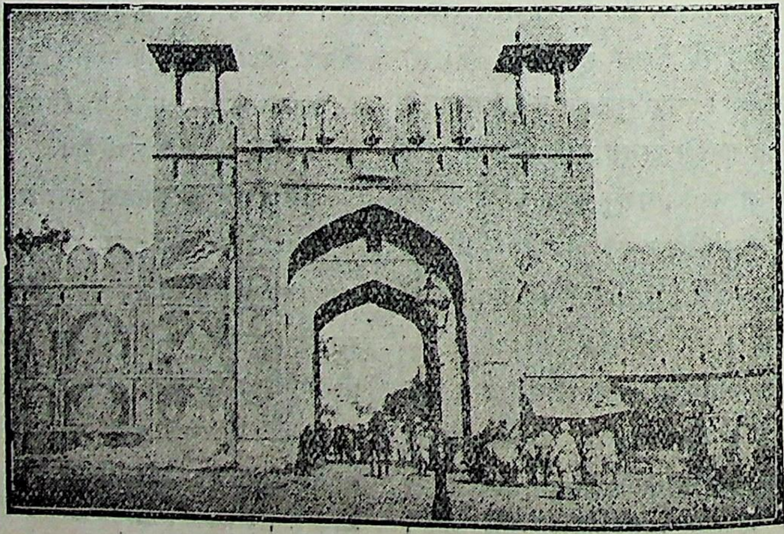
राज्य की ओर से एक पब्लिक लायब्रेरी भी है । क्या ही भव्य इमारत है । मैंने जिस समय उसका बाहरी स्वरूप देखा, उसी समय से भाँति-भाँति के भावों के साथ उसके देखने की उत्कट अभिलाषा लग गई । आख़िरकार तीसरे दिन उसके भीतर पहुँच ही तो गया । किंतु जितनी आशा से गया, उतना ही निराश लौटा । "नाम बड़े दर्शन थोड़े"—यह हाल था । वहाँ अधिक पुस्तकें अँगरेज़ी की हैं, वे भी ओल्ड टाइप की, विशेष उपयोगी नहीं । हिंदी की पुस्तकें नहीं के बराबर हैं । समाचारपत्रों के विषय में तो कुछ पूछिए नहीं । केवल हिंदी, उर्दू, अँगरेज़ी के ३-४ पत्र बहुत नरम पालिसीवाले ही आते हैं । लायब्रेरी जैसी उपयोगी होनी चाहिए, वैसी नहीं है ।

जयपुर का चन्द्रमहल, जो महाराज का ख़ास महल है, बहुत सुंदर बना हुआ है । मैं महल की बग़ीची में घूम रहा था, थोड़ी दूर पर महल के सामने एक मठिया-सी दिखलाई दी । मैंने समझा कि शिवजी की मठिया होगी, जैसी कि प्रायः बग़ीचों या वाटिकाओं में हुआ करती है । मैं उसकी ओर दर्शन की लालसा से लपका, पर सामने पहुँचकर देखा कि यहाँ एक 'कुत्ताजी' विराजमान हैं । मालूम हुआ, यह एक कुत्ते का स्मारक है, जो राजा साहब के घर में पत्रवाहक का काम करता था ।

अब जयपुर का और कुछ मज़ेदार हाल सुनिए— देखने में जयपुर बड़ा सुंदर शहर है। दो-चार ख़ास-ख़ास सड़कें हैं, जो काफ़ी चौड़ी हैं। सड़कें सब बिलकुल सीधी एक-सी बनी हुई हैं। दूर तक एक लाइन-सी दिखलाई देती है। मुझ-सरीखे नए आदमी को तो सड़कों से बड़ा भ्रम होता होगा। शहर में बिजली की रोशनी है। बाज़ारों के जितने मकान हैं, सब एक ढंग के हैं और दूकानों को छोड़कर सबके दरवाज़े पीछे की ओर हैं। बाज़ार के कुल मकान एक ही रंग से रँगे हैं और राजाज्ञा के अनुसार उनको रँगाई प्रतिवर्ष होती है। बाज़ार में खड़े होने से सब मकानों की पीठ दिखाई देगी। इससे गंदगी कम और बाज़ारों की सुंदरता तथा शोभा अधिक मालूम होती है। जयपुर के तमाम मकान संदूक़ के मानिन्द बने हुए हैं, पर प्रत्येक मकान में सैकड़ों छोटी-छोटी खिड़कियाँ और छेद रहते हैं। वहाँ शायद मकानों की यह एक ख़ास शोभा समझी जाती है। मकानों की दीवारें बहुत पतली होती हैं। आठ-आठ अंगुल आसार की दीवारों पर कई-कई मंज़िल ऊँचे मकान सधे हुए हैं। देखकर आश्चर्य होता है कि यहाँ के चूने का जोड़ कितना मज़बूत होता है। सड़कों पर २०-२०, २५-२५ क़दम की दूरी पर शिव-गणेश आदि देवी-देवताओं की मठियाँ बनी हुई हैं। मैंने देखा—जयपुर में प्रत्येक घर के दरवाज़े के ऊपर एक आला है, उस आले में गणेशजी की मूर्ति है; और



मानिक-चौक-बाज़ार



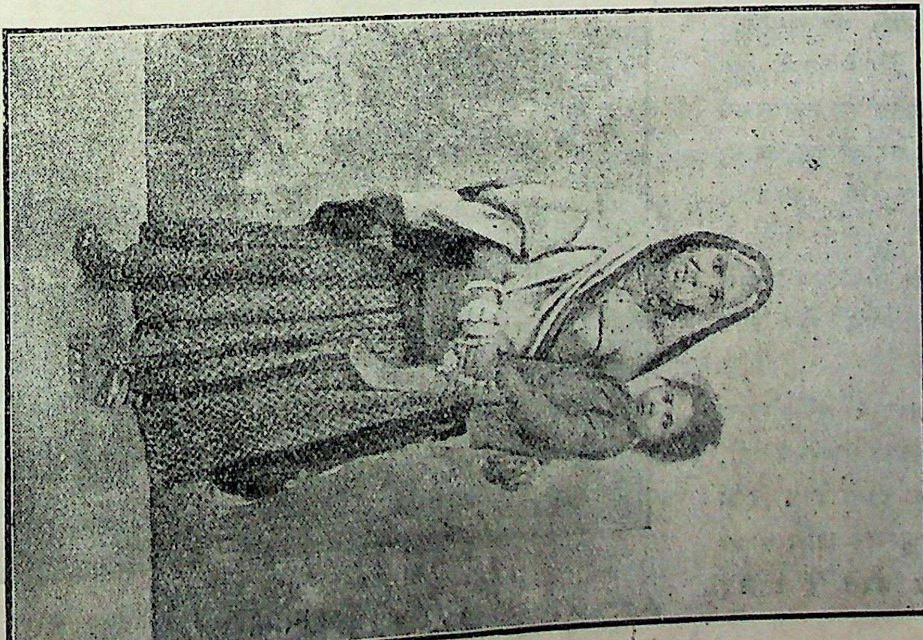
परकोटे का एक फाटक

यदि उस घर में कोई विवाह आदि ख़ुशी का कार्य हो चुका है, तो दरवाज़े के इधर-उधर दीवालों पर हाथी का चित्र बना हुआ है। किसी भी मंगलकार्य में दरवाज़े पर चित्र बना देना वहाँ एक शकुन या शुभ चिह्न माना जाता है।

शहर-परकोटे के अजमेरी फाटक के पास मुझे दो बालिश्त के अंतर पर रेल की-सी दो पटरियाँ दूर तक दिखलाई दीं। मैंने बड़े आश्चर्य से पूछा—"क्या यहाँ शहर के भीतर भी रेल चलती है ? बहुत छोटी है। उत्तर मिला—"हाँ, यहाँ जे० के० के० आर० चलती है।' मैंने पूछा—"इसके मानी"? खारेडजी ने कहा—"जयपुर-कूड़ा-करकट-रेलवे। जनाब, यह लोहे के इंजिन से नहीं, भैंसों के इंजिन से चलती है। आठ-आठ नौ-नौ कूड़े के डब्बे एक में जोड़ दिए जाते हैं और दो भैंसे आगे जोत दिए जाते हैं; बस, रेलगाड़ी इन पटरियों पर दौड़ने लगती है। यदि गाड़ी निकलते समय महाराज



पनिहारिन



जयपुरी वेश-भूषा में एक स्त्री

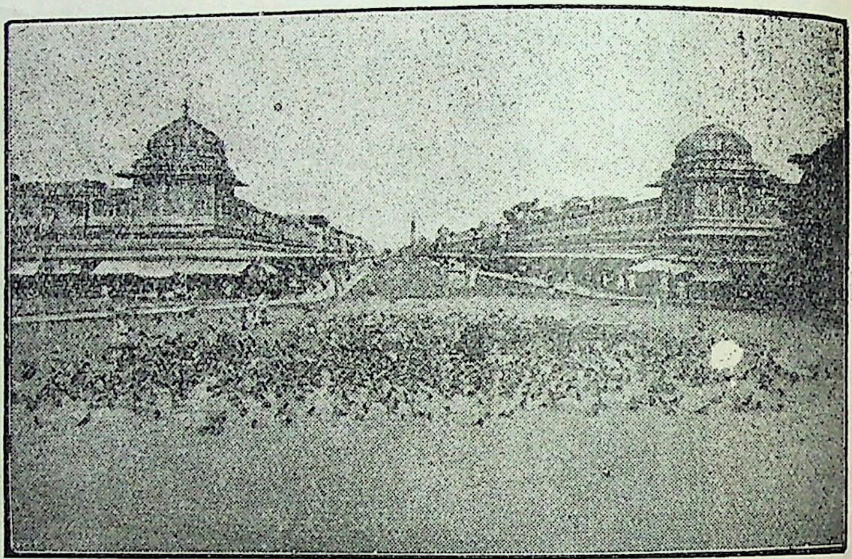
साहब भी आ जायँ, तो उन्हें भी उसके निकल जाने तक रुकना पड़ेगा !" मैंने कहा—"यह जे० के० के० आर० तो ख़ूब है।"

जयपुर के बाज़ारों में जितने पुरुष निकलते हैं, उतनी ही स्त्रियाँ। उनकी वेश-भूषा व परदा कैसा होता है, यह चित्र में देखिए, हाँ, बड़े घरों की कोई-कोई स्त्रियाँ—जो मुख पर लंबा घूँघट किए रहती हैं—दो उँगलियों के बीच से एक आँख को बाँकी-झाँकी देती रहती हैं। यहाँ मुझे कोई विधवा तो दिखलाई ही न दी; क्योंकि विधवा-सधवा की वेश-भूषा में कोई अंतर नहीं। यदि कोई भीतरी अंतर हो, तो वहाँ के निवासी ही जानें। वहाँ की यह कहावत बिलकुल ठीक है—"धन्य राजा जी थारो देश, राण सुहागिल एकै भेश।" ठसक की चाल तो पुरुषों को भी मात करती है।

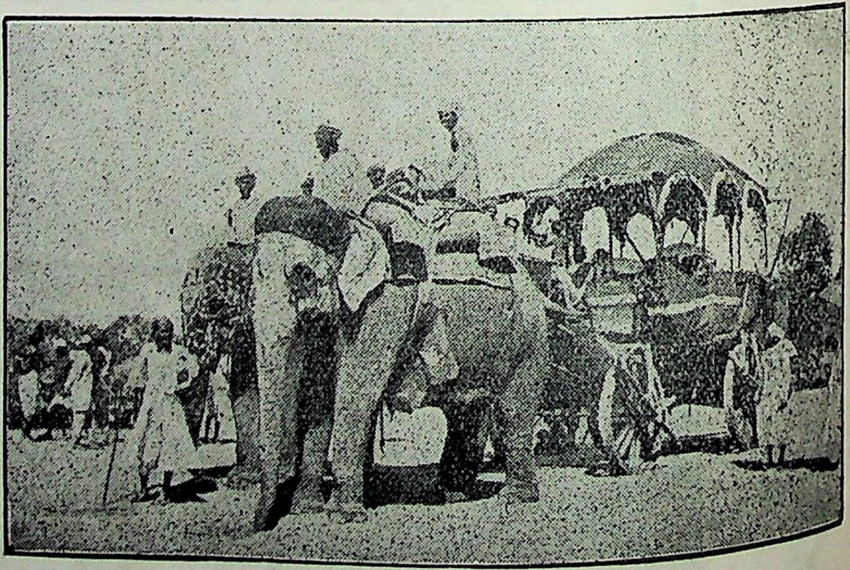
वास्तव में प्रेम एक विचित्र वस्तु है, जो सभी को वश में कर लेता है। मैं एक दिन प्रातःकाल ६॥ बजे बाज़ार गया, तो देखता क्या हूँ कि जगह-जगह दूकानदार झोली में ज्वार आदि के दाने लिए सड़क पर फेंक रहे हैं और हज़ारों कबूतर निडर होकर बड़े प्रेम से उन्हें चुग रहे हैं। मजाल है, उस समय कोई सड़क पर निकल जाय; वे चाहे दब जायँ, पर उड़ते नहीं। वहीं मस्तानी चाल से विचरते और दाने चुगते रहते हैं। उसका एक दृश्य चित्र में देखिए।

यह दृश्य १-२ घंटे रहता है। यह तमाशा एक दिन नहीं, तीसों दिन होता है। इसी तरह वहाँ अक्सर लोग चीलों से भी खेल करते हैं। उर्द के बड़ों के टुकड़े ऊपर को उछालते हैं, सैकड़ों चीलें ऊपर मँडराने लगती हैं और फेंके हुए टुकड़ों को ऊपर-ही-ऊपर लपक लेती हैं।

यहाँ मुझे एक नई सवारी का नाम सुनने में आया, जिसको कहते हैं—हाथीगाड़ी। इस पर सब नहीं, केवल महाराज साहब चढ़ते हैं, वह भी हमेशा नहीं, साल में केवल एक दिन—दशहरे के रोज़। प्रत्यक्ष नहीं तो हम-आप कम-से-कम महाराज साहब की हाथीगाड़ी का चित्र ही देख लें। देखिए, क्या मज़ेदार गाड़ी बनी हुई है।

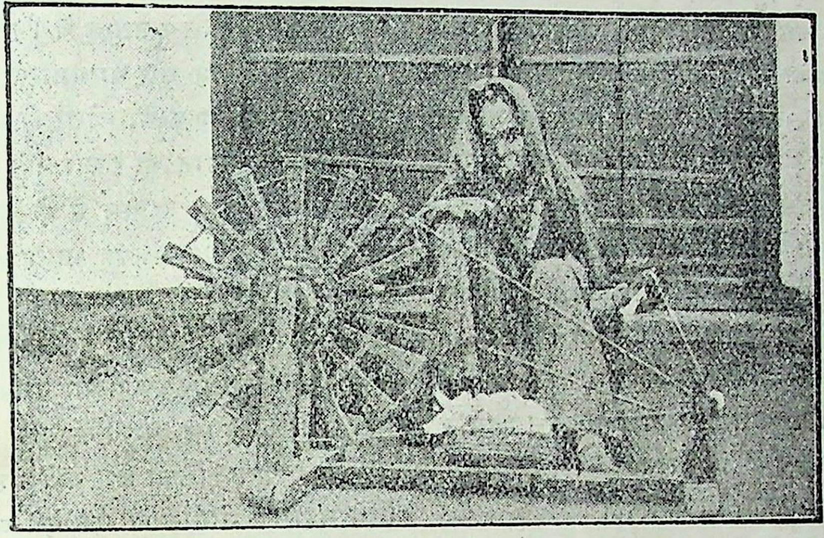


कबूतर दाना चुग रहे हैं



हाथीगाड़ी

जयपुर में चरखे भी अधिक चलते हैं; क्योंकि अधिकांश स्त्रियाँ जो बड़े-बड़े घेरदार लहँगे पहनती हैं, वे खद्दर के ही होते हैं। और-और पोशाकों में भी खद्दर का उपयोग होता है। मुसलमानों की आबादी कम होने पर भी जयपुर का तमाम कारबार प्रायः उन्हीं के हाथ में है।



बुढ़िया चरखा कात रही है

संक्षेप में जयपुर-नगर ऐतिहासिक, सुंदर और देखने लायक़ है। मुझे कई दिन हो चुके थे। क़रीब-क़रीब दर्शनीय स्थानों को देख भी चुका था, फिर भी उसके ऐतिहासिक दृश्य, पर्वतमालाएँ और 'गलता'-जैसे कुंड अपनी ओर खींच रहे थे; नौकरी का आफ़िस अपनी ओर आकर्षण-प्रयोग कर रहा था। अंत में बा० दामोदरलालजी इंजीनियर, जिनके सत्संग से विशेष मनोरंजन हुआ, पं० मनोहरदत्तजी, बा० प्रभुदत्तजी तथा खारैडजी आदि नवपरिचित मित्रों को धन्यवाद देता हुआ एक दिन रात की गाड़ी से भाग खड़ा हुआ।

विद्याभास्कर शुक्ल

अशेष और शेष

अभी कुछ है प्याले में शेष,
मूर्छित मन, साक़ी से कह दो यह मेरा संदेश,
क्षण-भर है निशि का सुषमा-धन,
क्षण-भर है दीपों का नर्तन,
क्षण-भर है तारों का यौवन,
क्षण-भर है रजनीगंधा के यौवन का आवेश,
पारिजात सुमनों का जीवन,
मलयानिल का शीतल चुंबन,
नव-कलियों का गोपन-सिहरन,
देख न लेगा ज़रा ठहरकर क्या हताश राकेश,
चित्रकार तूलिका उठा ले,
गायक, वीणा को सुलझा ले,
ओ कवि! जीवन का फल पा ले,
ऊषा के घूँघट में छिपता है सपने का देश,
पिला दे अब दो घूँट अशेष!
नहीं कुछ है प्याले में शेष।

श्रीमोहनलाल महतो "वियोगी"

देव का वैराग्य-शतक

माननीय मिश्रबंधुओं द्वारा हिंदी-नवरत्न में स्थान पाने के बाद से 'देव' साहित्य-क्षेत्र में एक विवाद का विषय बन गए हैं। ऐसी अवस्था में उनके संबंध में प्रशंसात्मक या निंदात्मक किसी प्रकार की कोई बात लिखना भयावह हो गया है। परंतु जो कुछ लिखा जायगा, वह स्तुति या निंदा के सिवा और होगा ही क्या? इसलिये विवशता है। तथापि इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है और इसके लिये प्रयत्न भी किया जायगा कि जो बात लिखी जाय, वह न्याय्य हो—पक्षपात या अतिरंजन से दूर हो। फिर भी मानव-स्वभाव की असमर्थता के कारण यदि अनजान में किसी प्रकार का पक्षपात हो जाय, तो उसके लिये मैं प्रारंभ में ही क्षमा-याचना किए लेता हूँ।

ग्रंथ-निर्माण की परिस्थिति

'वैराग्य-शतक' देवजी का प्राय: अंतिम ग्रंथ है। जिन विषयों का इसमें वर्णन किया गया है और वर्णनशैली जितनी विदग्ध है, वह देव-जैसे शृंगाररस-प्रेमी कवि के लिये जीवन के अंतिम समय में ही संभव है। वैराग्य-शतक के एक-एक छंद से प्रतिध्वनित होता है कि ग्रंथ जीवन की जरावस्था में लिखा गया है। संसार-सागर की कुटिल तरंगों के थपेड़े खाने के बाद मनुष्यों में वैराग्य-भावना का जाग्रत् होना एक प्रकार से अवश्यम्भावी-सा होता है। दीर्घ काल तक संसार की मृगतृष्णा में पड़े रहकर स्वभावतः उसकी निःसारता का अनुभव होने लगता है। हमारे सामने ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जहाँ मनुष्यों ने स्वभावोचित असमर्थता के कारण पार्थिव धनसंपत्ति की मृगतृष्णा में पड़कर अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग इधर-उधर लोगों की मिथ्या प्रशंसा करते हुए या अनावश्यक गुणगाथा गाते हुए बिता दिया और बुढ़ापे में, जीवन के अंतिम दिनों में, सबसे परांमुख होकर उस परमपिता भगवान् में लौ लगाई। महाकवि देवजी भी इसी श्रेणी के मनुष्य थे। वह बड़े अच्छे कवि थे, इसमें तनिक भी संदेह नहीं; किंतु मालूम यह होता है कि वह अपनी कविता द्वारा धन या कीर्ति (दो में से कोई एक या दोनों) उपार्जन करने के लिये उत्सुक थे। हाँ, यह बात अवश्य थी कि वह सम्मान और आत्मगौरव खोकर तथा कवित्व-शक्ति का दुरुपयोग करके, नरेशों की मिथ्या प्रशंसा करके धन या कीर्ति कमाने की इच्छा नहीं रखते थे। फिर भी धन या कीर्ति के मायाजाल में ही उनका तमाम जीवन बीता और उस पर भी वह भाग्य के इतने हीन थे कि उनकी कामनाएँ कभी पूर्णत: फलवती नहीं हुईं। उन्होंने अच्छी-से-अच्छी कविता की और वह अच्छे-से-अच्छे राज-दरबार में पहुँचे, परंतु कहीं भी उनका समुचित सत्कार नहीं हुआ। वह एक योग्य संरक्षक खोजते ही रहे और वह उन्हें कभी मिला ही नहीं। हाँ, थोड़े समय के लिये महाराज भोगीलाल एक ऐसे व्यक्ति अवश्य मिले, जिन्होंने उन्हें संतोष दिया; अन्यथा उनका समस्त जीवन असंतोष और निराशा में ही बीता। असंतोष, निराशा, पराजय, विफलता आदि संसार-सागर की कुटिल तरंगें हैं। इनके थपेड़े देवजी को ख़ूब लगे। अंत में उनकी आँखें खुलीं और उन्होंने अपना ध्यान सांसारिक माया-जाल से हटाकर सच्चिदानंद भगवान् की ओर लगाया। जीवन की इसी अवस्था में उन्होंने अपना 'वैराग्य-शतक' ग्रंथ लिखा। अपनी इस अवस्था का अभिव्यंजन उन्होंने वैराग्य-शतक की चारों पचीसियों में किया है।

जगद्दर्शन-पचीसी में—

केसव से गंग से प्रसिद्ध कबि-केहरि से,
कालहि गए जु बृथा कालहि बितावहीं;
साहन की सेवा सुख नाहिं न बिचारि देखो,
लोभ के उमाहन पै पीछे पछितावहीं।
दूजे हौंस रही जो न दूजो हौं सराहौं देव,
देव के हिए में देवी देव सरिता बहीं;
खाँड्यो खल संग बन माँड्यो हरि रंग मन,
छाँड्यो मौजपन सु खिताब में सिताब हीं।

...ढ़ि ते गिरि जात गए यह पैये न फेरि जु पै जग जोवै ।
...र ही ठौर रहै ठग ठाढ़ेई पीर जिन्हैं न हँसै किन रोवै ॥
...जिए ताहि जो 'आपन सो' करै देव कलंकनि पंकनि धोवै ।
...द्धि-बधू को बनाइ के सौंपु तू मानिक सो मन धोखे न खोवै ॥

इसी सिलसिले में आगे चलकर मन-मीत का वर्णन ...या है । मन-मीत शब्द हमारे कानों में कई बार आया ...गा, परंतु आज तक उसकी मिताई का प्रमाण नहीं ...ला । देवजी ने इस बात की चेष्टा की है । उन्होंने ...द्ध करने की चेष्टा की है कि वास्तव में मन मीत है । ...र्णन मित्रता का है । मैत्री की जननी हैं वासनाएँ, और ...सनाओं की जननी हैं ज्ञानेन्द्रियाँ । जहाँ ज्ञानेंद्रिय-जन्य ...सनाओं की जितनी अधिक तृप्ति होती है, वहाँ मैत्री भी ...तनी ही अधिक घनिष्ठ होती है । एक ज्ञानेंद्रिय-जन्य ...सनाओं को तृप्त करनेवाले मित्र की अपेक्षा अनेक ज्ञानें-...द्रियाँ-जनित वासनाओं की तृप्ति करनेवाला मित्र अधिक ...निष्ठ होता है और चूँकि इंद्रियाँ पाँच ही हैं, इसलिये पाँच ...ज्ञानेंद्रियों से उत्पन्न होनेवाली वासनाओं को तृप्त करनेवाला ...मित्र सबसे अधिक घनिष्ठ होगा । देवजी का मनमीत इसी ...प्रकार का सर्वश्रेष्ठ मित्र है । वह अनूप रूप दिखाकर नेत्रें-...द्रिय को, राग सुनाकर कर्णेंद्रिय को, सुगंध सुँघाकर ...घ्राणेंद्रिय को, रसभोग कराकर जिह्वा को और संभोग में ...रखकर स्पर्शेंद्रिय (त्वचा) को—इस प्रकार पाँचों ज्ञानें-...द्रियों को तृप्त करता है । अब देवजी के शब्दों में ही ...नके मित्र की बड़ाई सुनिए—

...रूप अनूप दिखावत ही जिहि राग सुनावत बैस बिताई ।
...सूँघे सुगंध किए रसभोग संजोगनि सों न घरीक रिताई ॥
...देवहिं राज दियो घर ही में सभा अपनी सब जोरी जिताई ।
...मोहिं मिल्यो जब ते मनमीत तजी तबते सबते मैं मिताई ॥

प्रथम दो चरणों में पाँचों ज्ञानेंद्रियों की वासनाओं को तृप्त करने की बात कहकर तृतीय चरण में और आगे क़दम बढ़ाया जाता है । वह मित्र देव को अपने (मन के) घर का राजा बना देता है (देवजी मन पर शासन करने लगते हैं) और अपनी सभा की (भाव-सभा की) सब जोड़ियों पर (दुःख-सुख, हर्ष-शोक आदि द्वंद्वों पर) विजय दिलाता है । (देवजी इन द्वंद्वों से परे—द्वंद्वातीत हो जाते हैं) ऐसा सुंदर मीत पाकर देवजी क्यों न सबसे मिताई तज देते ।

कुछ उपमाएँ

देवजी ने मन को मानिक की उपमा कई स्थलों पर दी है—

"या मन मानिक के सुनि पारख मोल तिहूँ पुरराजन माख्यो ।"

× × ×

"मानिक सों मन खोलिए काहि कुगाहक नाहक के बहुतेरे ।"

× × ×

"बुद्धि-बधू को बनाइकै सौंपु तू मानिक सों मन धोखे न खोवै ।"

"मन मानिक है हरि हीरा गाँठि बाँध्यो हम

× × ×

ताहि तुम बनज बतावत हौ कौड़ी को ।"

आदि कई स्थलों पर इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। इससे मालूम होता है कि देवजी को यह उपमा अधिक पसंद आई थी। उन्होंने इस उपमा को इतना पसंद क्यों किया, इस विषय में निश्चयपूर्वक तो कहा ही क्या जा सकता है; परंतु मालूम यह होता है कि उसकी समान-ताओं ने ही उन्हें विशेष रूप से आकृष्ट किया था । मन बड़ा मूल्यवान् पदार्थ है । समस्त इंद्रियों में सबसे अधिक मूल्यवान् मन ही माना गया है। इसलिये उसके उपमान के लिये भी मूल्यवान् पदार्थ की ही आवश्यकता थी । यह बात 'मानिक' में विद्यमान थी ही । दूसरे, मन बुद्धि और चेतना आदि प्रकाशों से प्रकाशित रहता है, वह प्रकाश भी मानिक में मिलता है । और सबके बाद इस प्रकार के मूल्यवान् और प्रकाशवान् अन्यान्य पदार्थों की अपेक्षा मानिक में यह विशेषता और है कि मन के साथ उसमें श्रुतिमधुर अनुप्रास भी आ जाता है । इन सब गुणों से युक्त ऐसे सुंदर उपमान का प्रयोग देवजी कैसे छोड़ देते ?

मन-मानिक की भाँति ही देवजी ने ख्याल खिलौना का प्रयोग भी कई स्थलों पर किया है । "ख्यालनि की खासनि खिलौना लौं खिलायगो", "ख्याल खाल में मढ़्यो फिरै", "ख्याल खाल ही के खेलि-खेलि", "खाल के खिलौना खेल खेलत खिलाड़ी है"—आदि अनेक स्थलों पर इस उपमा का प्रयोग किया गया है । खाल को आत्मा का खिलौना बनाना कितना समीचीन है, यह थोड़ा-सा विचार करने पर बड़ी सरलता के साथ समझ में आ जायगा । हमारे यहाँ गुड्डी-गुड्डा का खेल बहुत प्राचीन है । छोटे-छोटे बच्चे—खेलने की उम्रवाले बच्चे—प्रायः यही खेल खेला करते थे । अब भी इसका चलन है । देव के समय में तो और भी अधिक रहा होगा । हमारा शरीर किस पुतले से कम है ? अतः आत्मा के लिये

Page No- 705-708 तक पेज गायब

खाल का यह खिलौना कितना उपयुक्त है। उस पर भी खाल खिलौना का मनोहर अनुप्रास। इस प्रकार के चुभते हुए उपमान देवजी ने ख़ूब ढूँढ़ निकाले हैं। खाल की खोल और खाल की परवाल आदि उपमाएँ बहुत प्रचलित हैं। देवजी ने भी उनका उल्लेख किया है। परंतु उनमें वह सुंदरता नहीं, जो खाल खिलौना में है; क्योंकि खाल परवाल आदि की समीक्षा करते ही वीभत्सता आने लगती है, जिससे खिलौना बिलकुल अछूता रहता है। इतना ही क्यों, इसके प्रतिकूल खिलौने में रोचकता आती है।

कुछ रूपक

उपमाओं की भाँति ही देवजी ने रूपक भी बहुत चुस्त बाँधे हैं। दो एक रूपकों की बानगी देखिए। बाज़ार का रूपक है। बाज़ार भी ऐसा-वैसा नहीं, देह-नगर का बढ़िया बाज़ार लगा है। सब सामान जुटा है। आयु का दिन है, जीव-रवि उगा हुआ है गुर (गुरु और गुड़) की बिक्री हो रही है। मोह की गोनियाँ (बोरे) बेची जा रही हैं। बिके हुए माल पर छितीश की छाप लगती है, यमराज निरीक्षण के लिये उपस्थित है और बनिए भी मौजूद हैं। शाम को बाज़ार के उठ जाने का भी ज़िक्र है। सभी कुछ तो है। बाज़ार का और सामान ही क्या बाक़ी रहा ? यह सामान सजाकर देवजी कहते हैं—

आवत आयु को द्यौस अथोतु गए रबि जीव अँध्यारि में ऐहै।
दाम खरे कै खरीद खरो गुर मोह की गोनिन फेरि बिकैहै॥
देव छितीस की छाप बिना जमराज जगाती महा दुख दैहै।
जात उठी पुर देह की पैठ अरे बनिए बनि ए नहिं रैहै॥

सन्निपातावस्था का एक रूपक और उल्लेख योग्य है। इसमें देवजी समस्त संसार को सन्निपातग्रस्त पाते हैं। वह कहते हैं—

लोभ कफ, क्रोध पित्त, प्रबल मदन बात,
मिल्यो सन्निपात उतपात उलच्यो रहै ;
आकबाक बकि-बकि औचक उचकि चकि,
दौरि-दौरि थकि-थकि मरन पच्यो रहै।
सब जग रोगी है सँयोगी औ वियोगी भोगी,
पथन रहन मनोरथन रच्यो रहै ;
होय अजरामर महौषधि सँतोष सेवै
पावै सुख मोद जो त्रिदोष से बच्यो रहै।

त्रिदोष—कफ, पित्त, वात के—बिगड़ने से ही सन्निपात होता है। वे तीनों दोष यहाँ मौजूद हैं। सन्निपात में रोगी बकता, झकता, उचकता, भागता है। वही यहाँ हो रहा है। इसके बाद त्रिदोष से बचानेवाली, सन्निपात से मुक्ति प्राप्त करानेवाली औषध भी प्रस्तुत है। सारांश यह कि सन्निपात पैदा होने से उससे अच्छा होने तक का सामान यहाँ प्रस्तुत है।

कुछ मंतव्य

देवजी की कविता को पढ़नेवाले जानते हैं कि वह कितने सूक्ष्मदर्शी और उदार विचार के पुरुष थे। वैराग्य-शतक में भी उनकी इन भावनाओं का प्रतिबिंब स्थान-स्थान पर लक्षित होता है। इन वर्णनों में एक ओर उनकी सूक्ष्मदर्शिता और दूसरी ओर उदार भावना दोनों का बड़ा सुंदर समन्वय पाया जाता है। अपनी उदारता में वह यहाँ तक बढ़े हुए मिलते हैं कि शैव, वैष्णव, सनातनी, आर्यसमाजी हिंदू-मुसलमान आदि छोटे-छोटे सांप्रदायिक संकीर्ण विचार-क्षेत्रों से बहुत दूर प्रांत और देश—सबकी चहारदीवारी लाँघकर विश्व के अखंड विस्तीर्ण क्रीड़ाक्षेत्र में समान रूप से विचरते हुए पाए जाते हैं। देवजी ने वैराग्य-शतक में विश्व-प्रेम की बड़ी उदात्त भावना का अभिव्यंजन किया है। वह जन्म की सार्थकता ही इसमें मानते थे कि ऊँच-नीच हिंदू-मुसलमान, शैव-शाक्त का संकीर्ण विचार छोड़कर प्राणि-मात्र का हितसाधन किया जाय। इसीलिये उन्होंने जगद्दर्शन-पचीसी में कहा है—"जीवन को फल जगजीवन सों हित करि जग में भलाई करि लेयगो सु लेयगो।" इस प्रकार का वाक्य अकस्मात् ही केवल एक ही बार निकल पड़ा हो, ऐसी बात नहीं है। इसी आशय की बातें अन्यान्य स्थलों पर भी व्यक्त की गई हैं। जैसे आत्मदर्शन-पचीसी में "जेई जगमीत तेई जग में सुजान जन सज्जन सुशील सुख शोभा सरसाहिंगे" और तत्वदर्शन-पचीसी में "मानत सनेह सब ही सों मन भायो है" आदि। इन पुनरावृत्तियों से स्पष्ट प्रकट होता है कि देवजी का मत इस संबंध में बिलकुल दृढ़ था। इसी प्रकार वह इस बात पर भी बराबर ज़ोर देते हुए पाए जाते हैं कि ईश्वर की प्रभुता पहचानने के लिये मनुष्य को विश्वास से काम लेना चाहिए, तर्क और पार्थिव प्रयोगों द्वारा उसकी सत्ता का प्रमाण ढूँढ़ना भूल है। अदृष्ट के दृष्ट प्रमाण कहाँ संभव हो सकते हैं।

उनमें तो विश्वास ही काम देता है। 'विश्वासो फलदायकः' के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं है । इसीलिये देवजी ने प्रतीति और विश्वास की महिमा बहुत गाई है। यदि ईश्वर से साक्षात्कार करना है, तो बिना प्रतीति किए हो ही नहीं सकता—"जोगी जपी तपी पंडित प्रेमी प्रतीति बिना पचि हारे न पाया", "पाइए प्रगट परमेश्वर प्रतीति में"—आदि वाक्यों में उन्होंने इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। एक बात पर और ज़ोर देते हुए भी वह पाए जाते हैं। वह है एकांतनिष्ठा। सांसारिक मृग-तृष्णा की उपेक्षा कर अनन्य भाव से परमात्मा की शरण स्वीकार करना उनका बड़ा व्यापक और बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपदेश है। "एकै अभिलाख लाख-लाख भाँति देखियत देखियत दूसरो न देव चराचर में", "एक मन मेरो मेरे काम को न रह्यो देव स्याम रंग ह्वै करि समानो स्याम रंग में", "जौही लौं न जाने अनजाने रही तौलौं अब मेरो मन भाई बहकाए बहकत नाहिं", "नख सों सिखा लौं सब स्याममयी बाम भई बाहिरहू भीतर न दूजी लाख लेखिए"—आदि अनेक उदाहरणों में उन्होंने एकांतनिष्ठा का महत्त्व भिन्न-भिन्न रूपों में दर्शाया है। यह एकांतनिष्ठा कितनी अभीष्ट है, इसकी विवेचना करने की न तो आवश्यकता है और न प्रसंग ही। इतना जान लेना पर्याप्त है कि एकांतनिष्ठा सफलता की सबसे प्रधान कुंजी है। अस्तु ।

उपसंहार

सब बातों पर विचार करने से मालूम होता है कि वैराग्य-शतक बड़ा ही अनूठा ग्रंथ है। हिंदी-साहित्य का यह बड़ा मूल्यवान् रत्न है। यह बात अवश्य है कि इसका मूल्य आध्यात्मिक है। भौतिक उपयोगितावाद के इस युग में इस प्रकार की कविताओं का समादर प्रायः कम ही होता है । किंतु कविता आख़िरकार कविता ही है और उसमें उपयोगिता के उस स्थूल रूप को देखने की इच्छा करना भ्रांति है। वहाँ पर उपयोगिता के सूक्ष्म रूप के दर्शन होते हैं। वह भी उपयोगिता ही है, जिससे मानव-हृदय के उन सोए हुए सुकुमार भावों को जाग्रत् होने का अवसर मिलता है, जिनके होने से कोई मनुष्य पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर इस प्रकार की कविताएँ भी अनुपयोगी न ठहरेंगी। मेरी धारणा है कि यदि उदारता और सहृदयता के साथ वैराग्य-शतक का अध्ययन किया जायगा, तो ग्रंथ सब दृष्टियों से अत्यंत उत्कृष्ट सिद्ध होगा।

विष्णुदत्त शुक्ल

स्वर्ग-सुख

(१)

मातावदल नगर का नामी मिस्त्री था । साइकिल और मोटर-साइकिल दुरुस्त करने के काम में वह उस्ताद था। इस संबंध का कोई भी काम उसकी दूकान से वापस न जाने पाता था। अब वह वृद्ध हो चला था। उसके गाल पचक रहे थे। चेहरे पर झुर्रियाँ स्थान जमाने लगी थीं। आँखें गड्ढों में धँसी जा रही थीं। बात यह थी पिछले दस वर्ष उसने बड़ी मिहनत में बिताए थे। सड़क के चौराहे के कोने में, बड़े अच्छे मौक़े पर, उसकी दूकान थी। इसलिये सबेरे से लेकर रात के बारह बजे तक उसके यहाँ ग्राहकों का आना-जाना बराबर लगा रहता था। ख़ासी आमदनी की बात ठहरी। इसी प्रलोभन में मातावदल की दूकान रात के बारह बजे तक खुली रहती थी।

मातावदल ने अब रुपया भी काफ़ी पैदा कर लिया था। उसकी दूकान पर अब कई छोटे-छोटे लड़के काम करते थे। अब मातावदल को अकसर फ़ुरसत रहती थी। जब कभी लड़के शैतानी कर बैठते, तो मातावदल किसी को पकड़कर चपत लगाता, किसी के कान मल देता और किसी-किसी को दो-चार खरी-खोटी सुना देता। लड़के थोड़ी देर में मिल जाते और आपस में हँसी करने लगते। इन्हीं लड़कों में एक लड़का रघुआ नाम का था। कोई-कोई उसे रघू भी कहा करते थे। पर असल में क्या रघुआ और क्या रघू,

दोनों ही नाम उसके बिगड़े हुए नाम थे। वास्तव में नाम उसका बड़ा दिव्य था—राघव।

उस लड़के का 'राघव' नाम जैसा दिव्य था और जैसे उसको पुकारनेवाले उसे 'रघुआ' कहकर एक हलके प्यार की छाप लगा देते थे, वैसे ही राघव का स्वभाव भी कुछ कम दिव्य न था। वह बड़ा हँसोड़ था, बड़ा दिल्लगीबाज़। वह अपने सब साथियों को ख़ूब हँसाया करता था।

माताबदल को अब खाँसी आने लगी थी। जब वह किसी पर बिगड़ने लगता था, तो खाँसीके साथ-साथ उसकी साँस भी उखड़ पड़ती थी। दोपहर को माताबदल घर पर खाना खाने न जाता, किसी-न-किसी लड़के को घर भेजकर खाना मँगा लेता था। एक दिन पानी बरस रहा था। ऐसी झड़ी लगी थी कि किसी लड़के का दूकान से निकलकर सड़क पर आना कठिन हो रहा था। दोपहर हो गई थी। सब लड़के बारी-बारी से, समय निकाल-कर, छाता लगाकर अपने-अपने घरों से खाना खा आए थे। अब माताबदल की बारी थी। जिस समय लड़के खाना खाने के लिये गए थे, उस समय तो उतनी ज़ोर से पानी नहीं बरसता था, पर अब तो क्षण को भी पानी का बरसना बंद नहीं हो रहा था। यह हालत देखकर माताबदल बड़बड़ाने लगा। वह इस तरह बकने लगा—अब यह पानी भी दम नहीं लेगा। कितनी देर से देख रहा हूँ, साला बंद ही नहीं होने आता है।...पराँठे तो भीग ही जायँगे, आलू-गोभी का साग भी सत्यानास हो जायगा! कैसा साला......उँह...... झड़ी लगाए हुए है।

रघुआ ने मुँह नीचे किए हुए, अपने साथियों की ओर एक बार आँखों का चक्कर लगाकर धीरे से कहा—बुड्ढा बकरा सनका—सनका। बस, अब......(तब तक एक साथी इस्माइल ने ज़रा-सा हँस दिया) खाँसना ही चाहता है।

रघुआ यह कहकर चुप हो गया। इस्माइल हँस-हँसा-कर टेढ़ा-तिरछा मुँह बनाने लगा। तिरबेनी से न रहा गया, वह ठट्ठा मारकर हँस पड़ा। रघुआ धीरे से कह उठा—लो बच्चू, अब की मरम्मत हुए बिना......। वाक्य पूरा भी न हो पाया था कि बुड्ढा बोला—क्या है रे तिरबेनी, बड़ी हँसी छूट रही है। आऊँ क्या? सालों को बीसों मरतबे समझाया, मानते ही नहीं। आज एक-एक को देखूँगा—क्यों हँसता है बे? बोल तो!!

तिरबेनी ने मुँह लटका लिया। वह बोला—कुछ नहीं दादा, यह रघुआ......देखो-देखो, अभी—अभी हँसी लगा रहा है।

बुड्ढा बोला—वह तो चुपचाप टायर लगा रहा है। साला झूठ बोलता है। इतना कहकर वह उठा और चला तिरबेनी के चपत जमाने। एक दो-तीन, अरे-अरे—चटापट, देखते-देखते, उसके, पाँच-सात चपतें बैठ गईं। बुड्ढा कहता गया—ले साले, ले साले, और बहुत हँसेगा।

तिरबेनी कहता गया—नहीं दादा—नहीं दादा। अब नहीं।

लेकिन सच पूछो तो माताबदल बहुत सहती हुई चपतें, पोले हाथों से, लगाता था। वह ख़ुद यह नहीं चाहता था कि तिरबेनी चपतें सहन न कर सके और रोने लगे। उसे किसी का रोना बहुत बुरा लगता था।

बुड्ढा चपतें लगाकर, लौटकर अपने बिछे हुए तख़्त पर बैठ भी न पाया था कि रघुआ बोल उठा—बड़ा साला फुर्तीला है। रघुआ इतना ही कह पाया था कि बुड्ढे ने मुँह घुमाकर, एक-आध सफ़ेद-सफ़ेद चमकने-वाले बालोंवाली भौंहें चढ़ाकर पूछा—क्या है रे रघुआ?

रघुआ बोला—कुछ नहीं दादा, एक बुड्ढा मुसवा था, सो चटपट मेरी टोकनी से एक धान की खील उठा-कर चट कर गया और मैं देखता ही रह गया। बड़ा साला बदमाश है, बड़ा खुर्रांट।

रघुआ की बात पर इस्माइल और तिरबेनी दोनों के दोनों फिर खिलखिला पड़े। बात यह थी कि रघुआ के पास जो टोकरी रक्खी थी, उसमें अब धान की खीलें गिनती की तीन रह गई थीं। और, वहाँ किसी चूहे का पता न था।

इसी समय एक ग्राहक आकर तिपाई पर बैठ गया और कहने लगा—मेरी साइकिल का टायर दो जगह फट गया है। उसमें टायर के टुकड़े रख देने की ज़रूरत है।

बुड्ढे ने जैसे कुछ सुना न हो। वह कह रहा था—देखा आपने, साले सब-के-सब शैतान के बच्चे हैं। आपस

हँसते हैं, और मुझे बहला देते हैं। अभी-अभी इस छोकरे की खोपड़ी गरम करके लौटा था कि देखो, फिर हँसने लगा।

ग्राहक बोला—अजी, जाने भी दीजिए, लड़के ठहरे। लड़कों का स्वभाव ही...।

बुड्ढा बिगड़कर बोल उठा—जाने क्यों दे जनाब! यह दूकान है, या कोई चंडूखाना।

ग्राहक—बड़ी जल्दी आपका मिजाज़ गरम हो जाता है। मैंने तो धीरे से आपसे कहा और आप इस तरह बिगड़ उठे।

अब बुड्ढा कुछ शांत होकर बोला—बिगड़ने की बात नहीं है बाबूजी, ये सब-के-सब बड़े शैतान हैं, आप इन्हें नहीं जानते।

ग्राहक—ख़ैर, होगा। आप भी तो कभी लड़के रहे होंगे। क्या आप बिलकुल सीधे-सादे—एकदम—बहुत ही अच्छे लड़के रहे होंगे? मुझे तो यक़ीन नहीं होता। माफ़ कीजिएगा।

अब माताबदल ने भी थोड़ा मुसकरा दिया। वह बोला—ख़ैर, कहिए आपका काम क्या है?...और हाँ रे रघुआ, देख पानी कुछ मध्यम हुआ, जा तो, खाना ले आ।

रघुआ ने चट से एक नई साइकिल ली और चल खड़ा हुआ। इस्माइल बोला—बाबूजी, रघुआ नई साइकिल ले गया।

बुड्ढा बोला—देखो, बाबूजी आपने, उस छोकरे की शैतानी! नई साइकिलें ग्राहकों के लिये ली गई हैं या इन बदमाशों के लिये?

ग्राहक—आपका कहना भी ठीक है। पर आप इसकी निगरानी क्यों नहीं रखते?

बुड्ढा—निगरानी!......अब निगरानी—आप ही बतलाइए, जब तक ख़बर पाऊँगा, तब तक वह लेकर चंपत हो जायगा! यही तो इनकी बदमाशी है। और मैं आपसे अर्ज़ क्या कर रहा हूँ।

ग्राहक—अच्छा, अब हमारे फटे टायर के अंदर टुकड़े तो रखवा दीजिए। कितनी देर से बैठा हूँ?

(२)

माताबदल के घर में उसकी बुढ़िया पत्नी थी और एक कन्या। बच्चे तो उसके कई हुए थे, पर कुछ ही दिनों तक अपनी लीला का आलोक दिखाकर अंतर्द्धान हो जाते रहे थे। कन्या अभी छोटी ही थी। कोई सात वर्ष की होगी। भगवान् शंकर की अनुकंपा से ही उसकी यह कन्या बची है, बुढ़िया का ऐसा ही विश्वास था। वह शंकर की बड़ी भक्त थी। जब से उसने अपनी सुध सँभाली, तब से एकादशी को बराबर उपवास रहती आ रही है। इसीलिये बड़ी आशा से उसने अपनी इस कन्या का नाम पार्वती रक्खा था।

पार्वती ही उस बुढ़िया के अँधेरे घर का प्रकाश थी। जब कभी वह जो चीज़ चाहती, तब, उसी समय, उसके लिये, वही चीज़ बुढ़िया मँगा देती थी। एक मास्टरनी उसे पढ़ाने को उसके घर पर आती थी। बुढ़िया और बुड्ढे, दोनों का विश्वास था कि लड़कियों के स्कूल में पार्वती को भी अगर पढ़ने को भेजा जायगा, तो वह पढ़ेगी तो कम, लेकिन शौक़-ज़ौक और फ़िज़ूलख़र्ची ज़्यादा सीख लेगी। इसीलिये पार्वती की शिक्षा उसके घर पर ही होती थी। लेकिन पढ़ने में उसका जी नहीं लगता था। वह तो दिन-भर मुहल्ले की लड़कियों के साथ खेला करती थी। मास्टरनी आती, तो उसे कभी मालूम होता, आज पार्वती की तबीयत ठीक नहीं है, उसके सिर में दर्द है, वह आज नहीं पढ़ेगी। कभी मालूम होता, आज उसकी गुड़िया का ब्याह है, भला आज पढ़ने का क्या काम? इस तरह पार्वती की शिक्षा का कार्य बहुत ही मंद गति से चलता था। बड़ी मुश्किल से वह साल डेढ़ साल में मामूली नाम लिखना सीख सकी थी।

रघुआ जब माताबदल के लिये खाना लेने आता, तो थोड़ी देर के लिये पार्वती रघुआ के साथ भी हँस-खेल लेती थी। रघुआ पार्वती को परेशान किए बिना न मानता। वह कभी उसके सिर के बालों में खोंसने के लिये गुलाब के फूल ले आता; कभी अँगरेज़ी खट-मिट्ठी धीरे-धीरे रस चूसनेवाली मिठाई। वह जब मिठाई ले आता, तो पार्वती को दिखा-दिखाकर खाने लगता। पार्वती झपटकर उसके हाथ या जेब से मिठाई छीन लेने की चेष्टा करती। इस तरह जब तक एक-आध बार गुथकर आपस में लड़ न लेते, एक-आध बार इधर से उधर भाग न लेते और अन्य किसी तरह की और कोई बात न होती, तो धोखे से

चिकोटी काटकर एक दूसरे को हँसा या ऊपरी मन से ऊँ-ऊँ करके रुला न लेते थे, तब तक दो में से किसी को संतोष न होता था। शिकायतें कभी बुढ़िया के पास पहुँचतीं और कभी सीधे मातावदल के पास। कभी रघुआ कहता—देखो बाबूजी, दीदी ने मेरी टोपी कीचड़ में फेंककर गंदी कर दी है, कभी पार्वती कहती—नहीं दादा, मैंने यह कुछ नहीं किया है। इसी ने मेरी गुड़िया का सिर हिला-हिलाकर उखाड़ डाला है। बेचारा मातावदल जब कभी दोनों पक्षों की बात सुनने बैठता और चाहता कि कुछ-न-कुछ फ़ैसला कर दिया जाय, तो वह दोनों को अपराधी पाकर हैरान हो उठता और ऊपर मन से कहने लगता—यह रघुआ बड़ा शैतान हो गया है, क्यों री? अब इसको निकाल दिया जाय। क्यों? पार्वती उस समय मुँह लटका लेती और उसके मुँह से फिर कोई बात सहसा नहीं निकलती थी। मातावदल अपने पोपले मुँह पर मंद-मंद हास्य छिटकाता हुआ पार्वती के पीछे पड़ जाता था। वह यह जानते हुए भी कि पार्वती रघुआ का हटाया जाना पसंद न करेगी, बार-बार इसी की बातें करने लगता था। लाचार होकर पार्वती को कहना पड़ता—नहीं दादा, रघुआ की मैं कोई शिकायत थोड़े ही करती हूँ। उसने जब मेरी शिकायत की, तब फिर मुझे भी उसकी शिकायत करनी पड़ी। नहीं तो, वैसे, मैं उससे कुछ ज़्यादा नाराज़ थोड़ा ही हूँ। मातावदल पार्वती का यह उत्तर पाकर जब कहता—तो रघुआ बड़ा ही अच्छा लड़का है। क्यों न? जाड़ा आ गया है, उसके लिये ऊनी कोट बनवा दिया जाय, क्यों?

पार्वती उसी समय आकर वृद्ध मातावदल की गोद में बैठकर कभी उसकी दाढ़ी के बाल सहलाने लगती और कभी उसके कोट के बटन खोलने लगती थी। यही मातावदल के प्रश्न का उत्तर होता था। और उस समय मातावदल अपने जीवन को धन्य मानकर निहाल हो जाता था।

(३)

रघुआ दूकान में ही सोता था। उसके घर-द्वार कोई न था। जब उसने अपनी सुध सँभाली थी, तब उसने अपने आपको गंगा-घाट पर भीख माँगते हुए पाया था। मातावदल एक दिन गंगा-स्नान करके ज्यों ही लौटने लगा, त्यों ही रघुआ पैसे लेने के लिये कई लड़कों के साथ उसके पीछे पड़ गया। और लड़के तो अन्य लोगों से कुछ पैसे पा चुके थे, पर उस दिन रघुआ को एक पैसा भी न मिला था। इसीलिये वह बड़ी दूर तक मातावदल के पीछे-पीछे चला आया। अन्य लड़के लौट गए थे। मातावदल ने अपनी जेब टटोली, तो एक भी पैसा न था। रुपए ही रुपए थे। विवश होकर उसे कहना पड़ा—यहाँ तो पैसे नहीं हैं। और तू इतनी दूर तक मेरा पीछा करता हुआ आ रहा है, इसलिये अब तुझे लौटाऊँगा भी नहीं। चल, दूकान पर तुझे पैसे दूँगा। इस तरह रघुआ मातावदल की दूकान तक उसके पीछे-पीछे चला आया था।

दूकान पर बक्स से पैसे निकालकर ज्यों ही मातावदल रघुआ को पैसे देने लगा, त्यों ही उसके मन में आया कि उसका हाल-चाल भी पूछ देखूँ। इसलिये पैसे संदूकचे के ऊपर रखकर मातावदल ने पूछा—पैसे लेकर क्या करेगा, बोल?

रघुआ तब ज़रा और छोटा था। यही ५-६ वर्ष का रहा होगा। उसके बालों में कड़ुआ तेल पुता हुआ था। साथ ही धूल भी काफ़ी जमी हुई थी। स्वस्थ देह पर एक फटा-पुराना चीकट कुरता था, जिसकी बाहें हाथों को पार कर जातीं, यदि वे लौटाई न गई होतीं। कुरते की लंबाई पैर की गाँठों को पार कर गई थी। इस कुरते के सिवा उसके बदन पर कोई दूसरा कपड़ा न था। इसलिये कहना होगा, भीतर से वह नंगा था।

खीसें बाकर, आगे के बड़े-बड़े दो दाँत दिखलाते हुए, रघुआ ने कहा—जिबेली खायँगे—जिबेली।

मातावदल की छोटी कन्या पार्वती तब ढाई-तीन वर्ष की रही होगी। वह भी तोतली बोली बोलने लगी थी। इसीलिये 'जिबेली' शब्द के समझने में मातावदल को ज़रा भी देर न लगी। उसके मन में आया कि उसे एकदम से उठाकर उसका धूलि-धूसरित मुख चूम ले, पर कुछ सोचकर वह स्थिर रहा।

अब मातावदल ने पूछा—तेरी मा कहाँ है?

रघुआ—मा—मा, क्या जाने कहाँ चली गई। दस-बारह दिन से मिली ही नहीं। सभी जगह तो ढूँढ़ फिरा।

माता०—तो वह कहीं चली गई !

रघुआ ने कुछ उत्तर न दिया। उसकी आँखों में आँसू झलक आए।

मताबदल ने फिर पूछा—और तेरा बाप कहाँ है ?

रघुआ ने उत्तर दिया—मैं नहीं जानता।

माताबदल मन-ही-मन कहने लगा—बेचारा अनाथ है। फिर वह बोला—अच्छा, अब तुम कहाँ जाओगे ?

रघुआ—वहीं अपने साथियों के पास जाऊँगा, और कहाँ।

माता०—वहाँ जाकर क्या करोगे ?

रघुआ—पैसे माँगूँगा, जिलेबी खाऊँगा और घूमूँगा।

माता०—रात में कहाँ रहते हो ?

रघुआ—अपने साथियों के साथ, जहाँ जी में आया, वहीं सो रहा।

माता०—अगर तुम मेरे यहाँ रहो, तो कैसा हो ? रोज़ जलेबी खाने को मिलेंगी, कपड़े भी पहनने को मिलेंगे। इसके सिवा जो कुछ तू चाहेगा, वह भी दिया जायगा।

रघुआ कुछ सोचने लगा।

माताबदल भी रघुआ के मन का भाव ताड़ने की चेष्टा करने लगा। थोड़ी देर तक जब रघुआ मौन रहा, तो माताबदल ने फिर पूछा—बोलो, क्या कहते हो ?

रघुआ ने कहा—मैं तुम्हारे यहाँ नहीं रहूँगा।

माता०—क्यों ?

रघुआ फिर चुप था। माताबदल ने कहा—तुम्हें मेरे यहाँ कोई तकलीफ़ न होगी। यह कहकर उसने अपने यहाँ काम करनेवाले एक लड़के तिरबेनी से मिठाई और जलेबी मँगाकर रघुआ को खिलाई।

रघुआ ख़ुशी-ख़ुशी मिठाई खाने लगा। आज उसने पेट-भर मिठाई खाई। मिठाई खाने के बाद उसने निकट ही सड़क पर लगे हुए पाइप में पानी पिया। अब वह बड़ा ख़ुश देख पड़ा।

माताबदल ने कहा—ये लड़के दूकान में काम करते हैं, इन्हीं के साथ खेला करना। क्यों, है न तुम्हारा जोड़ ?

रघुआ ने ख़ुश होकर, दाँत बाकर कहा—हाँ।

बस, रघुआ माताबदल के यहाँ हँसी-ख़ुशी से रहने लगा। एक-आध बार जब उसे अपने पुराने साथियों की याद आई, तो वह भग भी गया। पर उनके साथ रहकर फिर वह भूख न सह सका और फिर लौट आया। जब कभी उसका कोई साथी मिल जाता, तब वह देर तक उससे तरह-तरह की बातें करता रहता। कभी-कभी उसकी इच्छा उसका साथ देने की भी हो आती, पर उस गंदे जीवन से उसे अब घृणा हो गई थी। इस तरह रघुआ माताबदल के घर और बाहर से धीरे-धीरे पूरी तरह मिल गया।

(४)

पार्वती अब सयानी हो रही थी। उसके मृदुल चंचल स्वभाव में गंभीरता आने लगी थी। दौड़कर चलना, रघुआ पर किसी विशेष वस्तु के लिये एकदम से आक्रमण करना, साधारण-सी बात पर उससे मान करना या ठट्ठा मारकर हँसना धीरे-धीरे कम हो चला था।

लेकिन रघुआ का लड़कपन अभी तक वैसा ही बना था। जब कभी मौज में आता, ज़रा भी सड़क ख़ाली देखता, तो वह चट साइकिलबाज़ी के हथकंडे दिखाने लगता था। कभी साइकिल पर चढ़े-चढ़े उसका अगला पहिया उठा लेता, कभी दो साइकिलें लेकर क्षण-क्षण में एक से दूसरी पर आता-जाता और दोनों को बराबर चलाता रखता, कभी उसकी 'सीट' पर पेट के बल लेट जाता, पैर 'कैरियर' पर पीछे रख लेता और दोनों हाथों से दोनों ओर के पैडिल घुमा-घुमाकर साइकिल दौड़ाता और जब चाहता, तभी चट से साइकिल खड़ी करके नीचे आ जाता। इस तरह के खेल दिखलाते हुए उसे अपार हर्ष होता था। एक बार रघुआ ये खेल दिखलाने में व्यस्त था, उसी समय एकाएक पार्वती दूकान पर आ गई। दूकान के अंदर बैठी हुई वह चुपचाप रघुआ के खेल देखती रही। एक बार रघुआ दो साइकिलों को चलाते हुए दोनों की सीटों पर उछल-कूद कर रहा था। एकाएक सामने एक आदमी आ गया। रघुआ ने उसको बचाने की चेष्टा की, तो धड़ाम से दोनों साइकिलों को लेकर सड़क पर आ रहा। दर्शकों ने करतल-ध्वनि की और उसी समय पार्वती भी हँस पड़ी। फिर तो रघुआ दूकान में पार्वती को बैठा हुआ देखकर बहुत लजा गया। वह दूकान की ओर बढ़ा, तो उसने देखा पार्वती उसकी ओर देखकर मुँह में रूमाल लगाए हुए

मुसकरा रही है। अब तो रघुआ और भी कट गया। मातावदल उसे संतोष देते हुए बोला—क्या हुआ, जो गिर पड़ा। दर्जनों खेल दिखलानेवाला खिलाड़ी यदि कभी एक-आध बार संयोग से चूक जाय, तो इससे क्या होता है।

रघुआ इस पर कुछ बोला नहीं। पर कोई एक भाव उसके मन को मसोसने लगा। बार-बार उसके जी में आया, अगर मैं अपने मन में साइकिल पर पूरी तरह से अधिकार होने का अभिमान न करता, तो काहे को आज मुझे पार्बती के सामने लज्जित होना पड़ता। बार-बार वह अपनी चंचलता को धिक्कारने लगा। उसका चेहरा बिलकुल उतर गया।

रघुआ को अन्यमनस्क देखकर पार्बती ने कहा—दादा, मैं तो रग्घू भैया के खेल देखकर एकदम से चकित हो गई।

यह कहकर पार्बती रघुआ की ओर देखने लगी।

मातावदल बोला—हाँ बेटी, रघुआ साइकिल का मास्टर है।

पार्बती बोली—कहीं नुमायश या मेला हो और वहाँ रग्घू भाई अगर अपने इस तरह के करिश्मे दिखलाने का तमाशा करें और टिकट लगा दें, तो सैकड़ों रुपए पैदा कर सकते हैं।

मातावदल—वैसे ही रघुआ कौन कुछ कम पैदा करता है। अब उसने रुपया जमा करना शुरू कर दिया है। तीन-चार सौ रुपया तो जमा कर लिया होगा। क्यों रे?

आ प्रसन्नता से गद्गद हो गया। उल्लसित मुख से, अपने दोनों बड़े-बड़े दाँत बाहर निकालकर वह बोला—हाँ दादा, अब तो पूरे चार सौ रुपए हो गए।

मातावदल—फिर क्या है, जहाँ एक हज़ार पूरे हो गए, रघुआ का ब्याह कर दूँगा।

रघुआ ने पार्बती की ओर देखते हुए कहा—नहीं दादा, मैं ब्याह-वाह नहीं करूँगा। इसी तरह बड़े मज़े में हूँ।

मातावदल—दुत्! पागल कहीं का! यह क्या कहता! ब्याह नहीं करेगा, तो क्या तेरे लिये रोटी पो-पोकर खिलाने को पार्बती यहाँ बैठी रहेगी।

रघुआ एकायक अप्रतिभ हो गया। उसकी समझ में नहीं आया कि अब वह क्या उत्तर दे। और कुछ इधर-उधर न देखकर वह एक ग्राहक की साइकिल की मरम्मत करने में लग गया। इतने में दो ग्राहक आ गए। मातावदल की बात ज्यों-की-त्यों रह गई। पार्बती भी घर की ओर चल दी।

(४)

पार्बती का ब्याह हो गया। वह अपनी ससुराल चली गई। घर पर पार्बती की बुढ़िया मा ही अकेली रह गई। रोटी बनाने के लिये एक महराजिन आने लगी। कुछ दिनों तक तो पार्बती का अभाव बहुत खलता रहा; पर धीरे-धीरे सब काम ढंग पर आ गया।

जब कभी पार्बती की मा की तबियत ख़राब होती, तो वह सोचती, यदि इस समय मेरी पार्बती होती, और मेरे निकट बैठती, सिर में दर्द होता तो तेल की मालिश करती; पैरों में दर्द होता तो पैर दाबती। हाय, इस समय मेरी पार्बती भी नहीं है—

मातावदल के कोई लड़का न था। उसके प्राणों की निधि, उसकी एकमात्र आशा, अगर कोई थी, तो पार्बती। सो वह भी अपने घर की हुई। अब रघुआ ही निरंतर उसके सामने रहता था। लेकिन तब और अब के रघुआ में बड़ा अंतर हो गया था। पहले तरह-तरह की रँगीली बातें कहके चुहलबाज़ी करने और लोगों को सदा हँसाते रहने में ही उसका सारा समय जाता था। और न सही, तो वह अपने साथियों से लड़ ही बैठता था, कुछ देर के लिये यही एक नुसख़ा बन जाता था। पर अब रघुआ एक युवक के रूप में आकर मातावदल की दूकान का मिस्त्री था। उसके साथी स्माइल और तिरबेनो भी धीरे-धीरे चले गए थे। तिरबेनी कहीं मोटरड्राइवर हो गया और स्माइल ने उन्नति करके साइकिल की दूकान खोल ली थी। पहले जब कभी रघुआ को भूख लगती, तो वह झट मातावदल के लिये खाना लाने के बहाने घर को चंपत हो जाता था। अब दोपहर के बाद एक भी बज जाता है और रघुआ काम छोड़कर खाना खाने नहीं जाता। उधर मातावदल घर पर पड़ा रहता है। उसे दम आती है। खाँसी तो उसके साथ जन्म की लगी हुई है। जब कभी रघुआ को खाना खाने के लिये देर हो जाती, तो महराजिन खाना ढककर चल देती। खाना ठंडा हो जाता। रघुआ अब

कभी पहुँचता, तो उसी ठंढे खाने को पेट के अंदर जैसे-तैसे छोड़ लेता था। पहले चार पराँठे खाने की भूख होती, तो पार्वती से मीठी-मीठी सोंधी-सोंधी बातें करते-करते, चुटकियाँ बजाते हुए, छः खा जाता और कुछ मालूम न पड़ता था। अब चार की भूख होते हुए भी दो ही मुश्किल से पेट में छोड़ पाता था। देर हो जाने पर मातावदल कहता—आज तो तुमने बड़ी देर कर दी रग्घू।

रग्घू या तो कुछ उत्तर ही न देता, अथवा कह देता—हाँ दादा, काम ही ऐसा आ गया था।

मातावदल—काम-ही-काम देखते हो, कुछ शरीर भी तो देखा करो। इसी से सब कुछ लगा है। तुमसे रोज़ कहता हूँ, ब्याह कर लो, लेकिन तुम मेरी कुछ सुनते ही नहीं।

लेकिन रघुआ ऐसी बातों का उत्तर देना नहीं जानता।

जब कभी पार्वती ससुराल से आती, तो एक नया संसार निर्मित हो जाता। उसके माता-पिता उससे बातें करते हुए फूले न समाते। पार्वती के लिये तरह-तरह का भोजन तैयार कराया जाता, बंगाली मिठाई और फलों की घर में काफ़ी इफ़रात रहती। कभी घर में गाना गानेवाली बुलाई जातीं और रात के एक बजे तक संसार का स्वर्ग मातावदल के घर के आँगन में नाचा करता। इस प्रकार उन दिनों आनंद-विनोद मातावदल के परिवार के कोने-कोने में समाया रहता था।

लेकिन रघुआ के मुख पर सदा गंभीरता की छाप रहती। पार्वती जब कभी कोई बात उससे कहती, तो वह बड़ी विनम्रता के साथ उसका उत्तर देकर चुप हो जाता। रघुआ का यह शुष्क व्यवहार पार्वती बहुत दिनों तक टालती रही। एक दिन जब उसका जो न माना, तो उससे कहा—राघव भैया, आज मैं तुमसे कुछ बातें करना चाहती हूँ।

रघुआ ने चकित होकर कहा—मुझसे!

पा०—हाँ, तुम्हीं से।

रघु०—क्या, कहो।

पा०—देखती हूँ, तुम्हारा स्वभाव ही एकदम से बदल गया है। मुझसे भी तुम एकदम फटे-फटे से रहते हो। इस तरह बातें करते हो, जैसे मैं इस घर के लिये कोई नई हो गई हूँ। क्या बचपन की बातें भी तुमने अपने हृदय से निकाल कर फेंक दी हैं? क्या तुम्हें कभी इतना अवकाश नहीं मिलता कि तुम घड़ी-दो घड़ी को मुझसे भी मिलो, कुछ अपनी बात सुनाओ, कुछ मेरी सुनो?

रघुआ चुप था।

पार्वती ने कहा—मैंने जो कुछ कहा, क्या तुमने उसे सुना नहीं?

रघुआ ने फिर भी कुछ उत्तर नहीं दिया। उसकी आँखों में आँसू भर आए।

पार्वती ने कहा—मैंने तुमको कभी दूसरा नहीं समझा। मेरे घर में तुम सदा मेरे भाई की तरह रहे हो। लेकिन ससुराल से आने के बाद तुममें बड़ा परिवर्तन देख रही हूँ। वह हँसना, वह मसखरी की बातें करना, वह छीन-झपट और वह मान-विरोध तो जैसे तुम सदा के लिये भूल गए हो! सच बताओ, क्या तुमको यहाँ कुछ कष्ट है?

रघुआ ने अब भी कोई उत्तर नहीं दिया।

पार्वती उसी तरह कहती गई—देखती हूँ, तुम्हारे मुख पर वह श्री भी अब नहीं रही है। सुनती हूँ, न तुम्हें खाने की परवा है, न पहनने की। दादा ने बतलाया है, वह तुमसे कह-कह के हार गए, पर तुम अपना ब्याह भी करने के लिये तैयार नहीं हो। यह सब कैसी बातें हैं? तुम पागल तो नहीं हो गए हो?

अब रघुआ चुप न रह सका। उसने अपने आँसू पोछ डाले और कहा—आप ये सब बातें मुझसे क्यों पूछती हैं? मैं आपकी बातों का उत्तर तो न दूँगा, लेकिन—लेकिन मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपका इन बातों से क्या प्रयोजन है?

पा०—क्या कहते हो, किससे ये बातें कर रहे हो? क्या तुमसे ये बातें पूछने का मुझे अधिकार नहीं है?

रघु०—न, तुम्हें इन बातों के पूछने का कभी अधिकार नहीं था, यह मैं नहीं कहता। लेकिन अब वह अधिकार......।

रघुआ की आँखें लाल थीं। उसका मुख एकदम तमतमा उठा था। उसने कहा—मैं इस संबंध में अब आपसे क्या कहूँ। आपके शरीर में कहीं 'हृदय' नाम की कोई चीज़ है या नहीं, मैं तो यही निश्चय नहीं कर सका।

पार्बती ने गंभीर होकर कहा—तुम भूल कर रहे हो राघव ! तुमने अभी संसार नहीं देखा है । देखा भी है, तो दूर से; उसका अनुभव तो क़तई नहीं किया। तुम्हारी ही तरह मैं भी रोना जानती हूँ । तुम तो पुरुष-जाति के हो । तुम उतना रोना जानते भी नहीं, जितना मैं जानती हूँ । जितना तुम रोते हो, उससे अधिक मैं रोती हूँ । लेकिन ज़रा दूर तक सोच देखो । इस रुदन में क्या रक्खा है ?

रघुआ एकटक पार्बती की बातें सुनता रहा। वह कुछ बोला नहीं । पार्बती कहती गई—और ये बातें पूछने के अधिकार की बात जो तुमने कही, सो उसमें भी तुमने भूल की है । यदि वह अधिकार मुझे कभी था, तो क्या तुम समझते हो कि वह कभी मुझसे छिन भी सकेगा ? मैं सच कहती हूँ राघव, मुझसे वह अधिकार कोई नहीं छीन सकता ।

रघुआ ने देखा, पार्बती का प्रफुल्ल मुख एकदम से उतर गया है, उसके गले का स्वर एकदम से विकृत होना चाहता है ।

पार्बती कहने लगी—तुम मेरे जितने निकट तब थे, अब उससे भी अधिक निकट हो । तुम ब्याह कर लेते, तो मैं तुम्हें सहज ही में यह समझा सकती कि वास्तव में तुम मेरे कितने निकट हो ।

रघुआ ने कहा—आपकी बातें बड़ी कठिन हैं । मैं उन्हें सुनते हुए सुखी तो होता हूँ, पर फिर भी उन्हें समझता नहीं । शायद समझ भी न सकूँगा ।

पार्बती—तुम कैसे ना-समझ हो, यह मैं जानती हूँ । तुम कैसे ज़िद्दी हो, यह भी मुझसे छिपा नहीं है । लेकिन तुम मेरी एक बात मानो, ब्याह कर लो ।

रघुआ—किससे ?

पार्बती के मुख पर मुसकराहट दौड़ गई । रघुआ भी हँसने लगा ।

पार्बती बोली—बड़े बने हुए हो ।

रघुआ—लेकिन तुमसे अधिक नहीं ।

पार्बती—बड़े ढीठ हो गए हो ।

रघुआ—लेकिन तुमसे अधिक नहीं ।

पार्बती—अब तुम पिटोगे ।

रघुआ—क्या अभी कुछ कसर रह गई है । इतना पिट चुका हूँ कि अभी तक छाले अच्छे नहीं हुए हैं ।

पार्बती—देखूँ तो, दो-एक ।

रघुआ ने छाती खोलकर दिखा दी । बोला—देख लो ।

पार्बती ने देखा, रघुआ के बदन की एक-एक पसली गिनी जा सकती है । वह बोली—वाक़ई बहुत दुबले हो गए हो ।

रघुआ—लेकिन अब जल्दी ही तगड़ा हो जाऊँगा ।

पार्बती—कैसे ?

रघुआ—बस, दो-तीन महीने में देख लेना ।

पार्बती—तो मेरी कही मान लोगे—ब्याह कर लोगे न ?

रघुआ हँसने लगा ।

पार्बती—सच बोलो, क्या पक्का कर लिया ?

रघुआ—हाँ ।

पार्बती—कहाँ—किसके साथ ?

रघुआ—अब यह न पूछो ।

पार्बती—देखो, अब तुम पिटना चाहते हो ।

रघुआ—जितना पीटना था, पीट चुकीं । अब नहीं पीट सकोगी ।

पार्बती—तो बोलो, अब तुम इस तरह तो कभी न रहोगे, जैसे आजकल रहते हो ।

रघुआ—नहीं ।

पार्बती—अच्छा, मेरी क़सम खाओ ।

रघुआ—मैं किसी की क़सम नहीं खाता ।

पार्बती—तो मेरे शरीर पर हाथ रखकर कहो ।

रघुआ—बस, हो चुका । अब अधिक मुझे विवश न करो ।

दोनों की बातें अभी समाप्त न हो पाई थीं कि महराजिन ने दो थालियों में खाना परोसकर दोनों को खाना खाने को बुलाया । दोनों अठखेलियाँ करते हुए खाना खाने लगे । पार्बती ने कचौड़ी-तरकारी का एक कौर रघुआ के मीठे दूध में छोड़ दिया । रघुआ ने अपना दो चमचा मीठा दूध पार्बती की तरकारी में उँडेल दिया । इसी तरह दोनों हँसते-हँसाते रहे ।

खाना खाने के बाद रघुआ ने माताबदल से कहा—मैं आज सिनेमा देखने जाऊँगा और ज़रा देर से लौटूँगा।

पार्बती ने कहा—दादा, मैं भी जाऊँगी ।

माताबदल बोला—चली जाओ अपने रघुआ भाई के साथ । रघुआ, इसको भी साथ लेता जा ।

(६)

पाँच वर्ष और बीत गए। न माताबदल इस संसार में है, न उसकी बुढ़िया। लेकिन रघुआ अब भी दूकान का मैनेजर है। पार्वती अब ससुराल छोड़कर यहीं अपने पिता के घर आ गई है। उसका स्वामी यहीं, एक बैंक में, एकाउंटेंट होकर आया है।

रघुआ अब भी अविवाहित है। वह सदा प्रसन्न रहता है और दूकान पर बैठा हुआ पार्वती के बच्चों को खिलाया करता है। उन बच्चों को हँसाने-खिलाने में उसने अपने जीवन को मिला दिया है।

एक बार रघुआ के सामने पार्वती ने अपनी नन्ही-सी बच्ची से पूछा—तारा, तू किसकी बच्ची है, बता तो।

तारा ने रघुआ की ओर उँगली उठा दी। दोनों निहाल हो गए। रघुआ ने अपने मन-मानस में तैरकर अनुभव किया, संसार का स्वर्ग-सुख भी, जान पड़ता है, ऐसा ही है।

पार्वती ने तारा को गोद में उठाकर उसका मुख चूम लिया। बोली—तू बड़ी रानी बिटिया है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

ख़ैयाम की रुबाइयाँ

(१)

यौवन में उत्साहित होकर
　मैंने देखे संत अनेक;
और ध्यान से उनके प्रवचन
　सुने तर्क-संयुत सविवेक।
किंतु न कुछ भी समझ सका मैं,
　मिली न इस रहस्य की थाह;
गया वहाँ जिन पैरों, लौटा
　उन पैरों ही, उस ही राह।

(२)

उनकी संगति से जो मैंने
　बोए ज्ञान-बीज अभिराम;
तथा बढ़ाता रहा जिन्हें मैं
　सहकर वर्षा-सरदी-घाम।
उन्हें पकाकर मैंने पाया
　केवल यह ही शस्य महान्;
"आया जलप्रवाह-सा जग में,
　जाऊँगा अब पवन समान"।

(३)

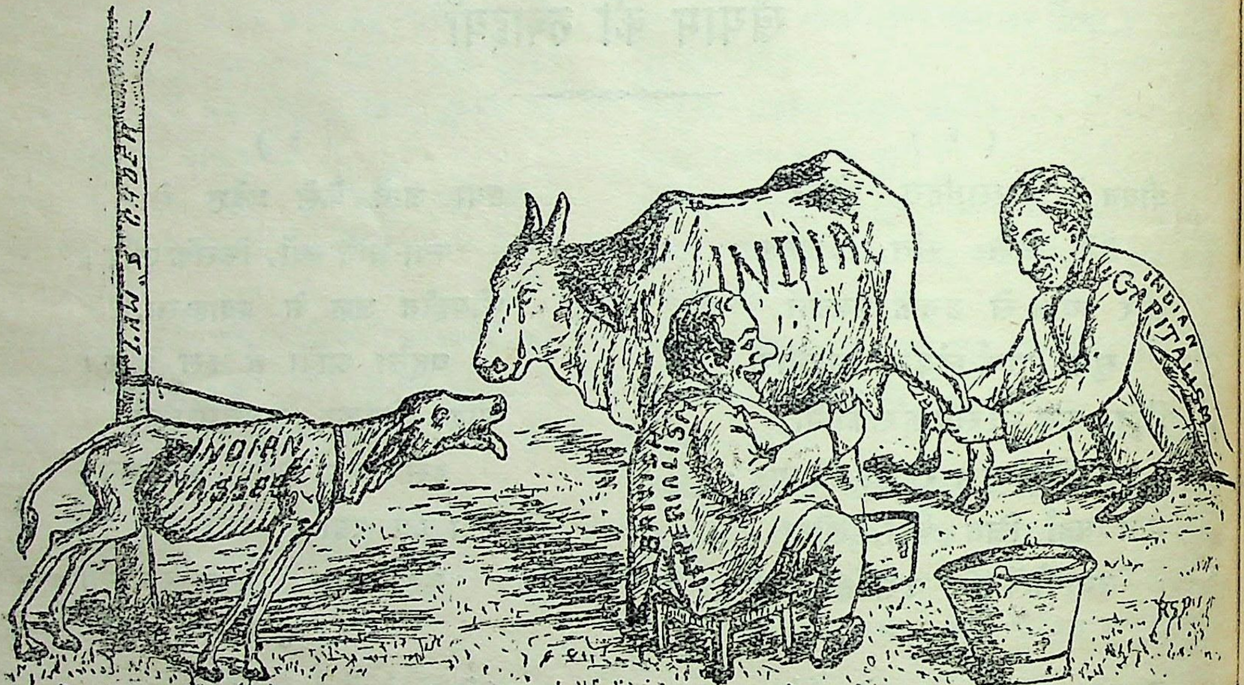
क्या जाने कैसे प्रदेश से,
　क्या जाने क्यों, किसके ज़ोर;
ध्येयहीन जल के प्रवाह-सा,
　बहता आया हूँ इस ओर।
और छोड़कर मृगतृष्णा-सी
　इस ऊसर अवनी के स्थान;
बहा जा रहा हूँ, क्या जाने,
　कहाँ आज मैं पवन समान।

(४)

"किन लोकों से भगकर आप!
　किसका था पाया आदेश?
अनुमति की परवाह न कर
　अब भागे जाते हो किस देश?"
वृथा—वृथा, ये प्रश्न वृथा हैं!
　वृथा मान-अपमान-विचार;
इस मदिरा की घूँटों में, बस,
　डूबेगा स्मृति का संसार।

बलदेवप्रसाद मिश्र

दोहन


LAW & ORDER
INDIAN MASSES
INDIA
BRITISH IMPERIALISM
INDIAN CAPITALISM
RSP

महाकवि भूषण की इतिहास-अनुकूलता

(४)

औरंगज़ेब-शिवाजी-भेंट

भूषणजी की कविता से शिवाजी के संबंध की जितनी ऐतिहासिक घटनाओं का पता चलता है, उन सबकी अपेक्षा औरंगज़ेब की आगरेवाली भेंट का वर्णन भूषणजी ने अधिक किया है। अफ़ज़लख़ाँ, शायस्ताख़ाँ बहलोलख़ाँवाली घटनाओं तथा सालेरी के भीषण युद्ध का वर्णन भूषणजी ने दस-ग्यारह अथवा उससे भी कम छंदों में कर दिया है; परंतु इस भेंटवाली घटना में उन्होंने चौदह * छंद लिखे हैं। इससे ज्ञात होता है कि स्वयं भूषणजी भी इस घटना को वैसा ही महत्त्वपूर्ण समझते थे।

इस भेंट का कारण जैसा इतिहास में पाया जाता है, यह है—

"मिर्ज़ा राजा जयसिंह ने शिवाजी की सिफ़ारिश देहली-दरबार से की कि बीजापुरवालों के साथ लड़ने में तथा मुल्क † हस्तगत करने में शिवाजी ने दरबार की पर्याप्त सहायता की है, इसलिये दरबार उनका यथोचित आदर तथा सम्मान ‡ करे।" बादशाह ने इसका उत्तर अत्यंत प्रसन्नता से दिया। और, इस उत्तर के साथ शिवाजी से भेंट करने की इच्छा × प्रदर्शित करके (शिवाजी के लिये) बहुमूल्य पोशाक भी भेजी, जो शिवाजी को आगरे जाते समय रास्ते ही में मिली थी+।

भूषणजी ने आगरे की रवानगी के संबंध में सिर्फ़ इतना ही कहा है—'ह्याँ ते गयो चकत्तै सुख दैन को।' अर्थात् यहाँ (दक्षिण) से चकत्ता (औरंगज़ेब) को सुख देने के लिये शिवाजी गए। मिर्ज़ा राजा जयसिंह का शिवाजी की सिफ़ारिश दरबार से करना, शिवाजी का भेंट के लिये उद्यत होना तथा बादशाह का शिवाजी के लिये पोशाक भेजना, यह बातें इस बात का पता देती हैं कि भेंट के पूर्व बादशाह और शिवाजी में हित-संबंध स्थापित हो चुके थे, कोई विरोधी भाव नहीं रहा था। इसी से भूषणजी ने 'ह्याँ ते गयो चकत्तै सुख देन को' लिखा है। परिणामतः भूषणजी का यह वर्णन उपर्युक्त परिस्थिति के अनुरूप कहा जा सकता है। (शिवराज-भूषण, छंद २०४) [उद्धृत अवतरण में जो 'ह्याँ ते' शब्द आया है, वह विचारणीय है। काव्य-रचना के समय भूषणजी यदि दक्षिण में उपस्थित न होते अथवा अन्य किसी स्थान पर होते, तो 'ह्याँ ते' शब्द प्रयुक्त न हुआ होता। जहाँ वक्ता को स्वयं स्थिति-स्थान का निर्देश करना अभिप्रेत होता है, वहाँ स्थान के नाम की जगह सामान्यतः 'ह्याँ ते' (यहाँ से) शब्द की योजना हुआ करती है। इस छंद में भी यह शब्द इसी अर्थ में बहुत ही स्वाभाविकता तथा सरलता से व्यवहृत हुआ है। इस शब्द का प्रयोग भूषणजी ने अपनी कविता में एक जगह और किया है। यथा—औरंग जो चढ़ि दक्खिन आवै तो ह्याँते सिधावै सोऊ बिनु कप्पर। शि० भू०—छंद ३२०। उद्धृत अवतरण में तो यह शब्द दक्खिन का अर्थ स्पष्ट सूचित करता है। भूषणजी को शिवाजी के समसामयिक न माननेवाले इस मामूली (सामान्य) शब्द पर अवश्य विचार करें।]

* शिवराज-भूषण छंद ३४, ३८, ७६, १४८, १८६, १६८, २०४, २०६, २६५, ३०६, ३१०; शिवाबावनी छंद १५-२६ तथा फुटकल छंद ४६।

† समासदी बखर, टिप्पणी ५२।

‡ प्रो० सरकार महोदय ने बखरों के आधार पर यह भी अनुमान किया है कि शिवाजी को दक्षिण की सूबेदारी देने की सिफ़ारिश मिर्ज़ा राजा ने की होगी। 'त्याने (जयसिंगाने) दक्षिणच्या सुभेदारीची लालूच दाखविली असेल हें अगदीं संभवनीय दिसतें'—पृष्ठ १०४।१०६ (शिवाजी, शिवकाल मराठी)।

× शिवाजी से भेंट करने की इच्छा इस पत्र से पूर्व भी औरंगज़ेब ने प्रदर्शित की थी। पहले पत्रों के सिलसिले में और जयसिंह के उत्तर में यह पत्र और पोशाक भेजी गई।

+ शिवकालीन पत्र-सार-संग्रह, पत्र नं० ११२३।

दरबार का दिन

दरबार का दिन १२वीं * में सन् १६६६ नियत हुआ था। वह बादशाह की पचासवीं क़मरी सालगिरह का दिन था, और इसी रोज़ बादशाह का तुलादान होनेवाला था। दरबार भी ख़ूब सजाया गया था और इस रोज़ शिवाजी से दरबार में भेंट होना ठहरा था (शिवाजी, शिवकाल पृ० १०६)।

भूषणजी की कविता से यद्यपि दरबार की कोई निश्चित तारीख़ नहीं पाई जाती, तथापि इसका पता अवश्य मिलता है कि किसी 'जशन' के रोज़ यह दरबार हुआ था, और दरबार की सजावट इंद्र को लजानेवाली थी।

यथा—

जसन के रोज यों जुलूस गहि बैठो जोऊ इंद्र आवै सोऊ लागै औरँग की परजा। शि० भू०—छंद ९८।

बादशाह को सलाम न करना

दरबार में जाने के बाद शिवाजी ने ज़मीन चूमकर डेढ़ हज़ार अशरफ़ी नज़र और छः हज़ार रुपए निछावर किए।

—औरंगज़ेबनामा, खंड ३ पृ० ६७

फ़ारसी तवारीख़ों को विश्वस्त माननेवाले श्रीयुत प्रो० सरकार महोदय ने अपने 'शिवाजी-शिवकाल' (मराठी एडिशन) में ठीक इसी का अनुवाद किया है। पृष्ठ १०६

भूषणजी सलाम करने तथा नज़र पेश करने की घटना के सर्वथैव विरुद्ध हैं। नज़र पेश करने का हाल तो उक्त चौदह छंदों में कहीं नहीं पाया जाता। बादशाह को सलाम न करने का वर्णन नीचे लिखे चार अवतरणों में मिलता है। यथा—

"नायो न माथहि दक्खिननाथ न साथ में फौज न हाथ हथ्यारो।"—शि० भू० ११८।

ठान्यो ना सलाम भान्यो साहि को इलाम...१६७।

प्रगट करी रिस साह को सरजा करि न सलाम—३०९।

जानि ग़ैर मिसिल गुसैल गुसा धारि उर कीन्हीं न सलाम न बचन बोले सियरे—शिवाबावनी, छंद १७।

यहाँ पर हमको पूज्य मिश्रबंधुओं का यह अनुमान सत्य-सा प्रतीत होता है कि "भूषणजी जब अपने नायक को ख्याति बढ़ाने को कोई असंभव अथवा असत्य बात कहते थे, तो उसे एकआध बार दबी ज़बान कहकर छोड़ देते थे, परंतु उसे बार-बार बड़ा ज़ोर देकर नहीं कहते थे।" अर्थात् जो बात उन्हें विश्वसनीय और सत्य मालूम होती, उसे वह बार-बार कहते थे, जैसा कि गुसलख़ाने और सलाम के विषय में उन्होंने कहा है (भूमिका भूषण-ग्रंथावली पृ० ७४)। फ़ारसी तवारीख़ों के सिवा सभासदी बखर में तीन सलाम करने का वर्णन पाया जाता है, परंतु वहाँ पर सलाम की उपपत्ति इस तरह लगाई गई है कि यह तीनों सलाम बादशाह के लिये नहीं किए गए, किंतु एक श्रीशम्भुमहादेव के प्रति, दूसरा श्रीभवानीजी के प्रति और तीसरा अपने पिता शहाजी के प्रति। जैसे—

"पादशाहा बोलला जे, 'आवो शिवाजी राजे' असे बोलतांच राजियांनीं तीन सलाम केले, मनांत भाव धरिला कीं, श्रीशम्भुमहादेव एक, दुसरा श्रीभवानी, तिसरा महाराज पितियास, ऐसे तीन सलाम केले—सभासदी बखर, पृ० ४६।"

यह तो ज़ाहिर है कि बखर-ग्रंथ शिवाजी के समकालीन नहीं है, पश्चात् के हैं। समसामयिक इँग्लिश ताजिरों के चार-पाँच पत्रों में जो इस संबंध में उपलब्ध हैं, न तो शिवाजी का बादशाह के प्रति मुजरा करने का ज़िक्र है और न नज़र पेश करने का ही। इन पत्रों में इस भेंट की घटना का अन्य वर्णन इतिहास से ठीक मिलता-जुलता है। (शिवकालीन*पत्र-सार-संग्रह, पत्र-नं० ११२८, ११२९, ११३६, ११४१—पृ० ३१४, ३१७, ३१९)।

---

* मुंशी देवीप्रसादजी रचित औरंगजेबनामे से दरबार की तारीख़ १८ जीकाद, ज्येष्ठ-वदि ५, १३ में पाई जाती है। खंड ३ पृष्ठ ६७।

* गत १७ मार्च को भारत-इतिहास-मंडल, पूना की ओर से शिवाजी महाराज की त्रिशतसांवत्सरिक जयन्ती मनाई गई। उस शुभ अवसर पर जो शिवस्मारक ग्रन्थावली प्रकाशित हुई है, उसमें 'शिवकालीन पत्र-सार-संग्रह'—दो भागों में—प्रकाशित हुआ है, जिसमें मराठी, फ़ारसी, पोर्तुगीज़, डच, इँग्लिश आदि समसामयिक २३४० पत्र मराठी में संग्रहीत हुए हैं। उपर्युक्त पत्र Enlish factories in India, by Sir William Foster, Vol. 12, Page 161, 175-176 से उद्धृत किए गए हैं। इस संग्रह से शिवाजी महाराज के इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ा है।

२१३६ नं० के पत्र में तो यहाँ तक बताया गया है कि यदि दरबार में शिवाजी की मान-खण्डना न होती, तो वह अवश्य कोरनिशात बजा लाते और अपनी राज-निष्ठा व्यक्त करते; क्योंकि बादशाह के कई बार निमं-त्रित करने पर वह इसी उद्देश्य से दरबार में आए थे। यथा—"बादशहानें बारंबार आमंत्रण केल्यामुलें शिवाजी स्वतः ला सुरक्षित समजून बादशाहाला कुर्निसात करून राजनिष्ठा व्यक्त करण्या करितां म्हणून गेला; परंतु दरबारांत गेल्यावर आपल्या पेक्षां कमी दर्जा चें उमरावाँ चे खालीं उभें केल्या मुलें बादशहाची पर्वा न करितां तो निघड्या छातीचा वीर संतापून तिरस्करानें दरबाराचा त्याग करून निघून गेला।"

इसी तरह पत्र नं० ११२९ में पाया जाता है कि "शिवाजी ने दरबारी शिष्टाचार (दरबारी अदब के नियमों) का उल्लंघन किया, इसलिये उन्हें कई दिनों के लिये दरबार में आने की मुमानियत हो गई।" पत्र-नं० ११२८ से भी इसका पता चलता है कि "दरबार में बादशाह के सामने जाने पर जो शिवाजी का बर्ताव हुआ, वह बादशाह को पसंद न आया, इसलिये शिवाजी के साथ कठोरता का व्यवहार किया गया।" यद्यपि इन दो पत्रों में सलाम न करने का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि दरबारी नियमों का उल्लंघन यथा बादशाह को पसंद न आनेवाला व्यवहार बादशाह के सामने जाते ही सलाम न करने के सिवा और कौन-सा हो सकता है?

स्वयं मिर्ज़ा राजा जयसिंह को इसकी आशङ्का थी कि शिवाजी बादशाह के सामने नम्र न होंगे, इसलिये दोनों बाप-बेटों—जयसिंह-रामसिंह—ने शिवाजी के साथ मित्रता का व्यवहार किए जाने का अभिवचन दिया था। (पत्र-नं० ५४७) (शिवाजीला बादशहा पुढ़े नम्र होण्यास भाग पाडणें अशक्य असल्यामुळें रामसिंह वा त्याचा बाप यांनीं त्याला मित्रत्वानें बागवि-ण्याचें वचन देऊन औरंगजेबाकडे पाठविलें होतें —पृ० ३१९) इन समसामयिक पत्रों से भली भाँति विदित होता है कि भूषणजी का कथन (बादशाह को सलाम न करने का) बिलकुल सत्य है और निरी ठकुरसोहाती नहीं है।

गैरमिसिल ठाढ़ो सिवा

दरबार में पंचहजारी * सरदारों में खड़ा करने का वर्णन भी बिलकुल ठीक पाया जाता है। सभासदी बखर में इसकी अधिक स्पष्टता है कि शिवाजी को राजा जसवंतसिंह के बाद खड़ा किया गया था। यह उस समय पंचहजारी सरदार थे। यह जसवंतसिंह वह थे, जो कई बार दक्षिण में शिवाजी से हार चुके थे। इसी-लिये सभासदी बखर में कहा गया है—"जसवंतसिंगा सारखा उमराव! याच्या पाठी माझ्या लष्करांनीं पाहि-ल्या असतील" शिवाबावनी के छंद-नं० १६ का "राजा जसवंत को बुलायकै निकट राखे" यह वर्णन शिवाजी की भेंट से संबंध रखनेवाला अवश्य है, परंतु यह निश्चित नहीं मालूम होता कि यह वर्णन दरबार की भेंट के समय का है अथवा ग़ुसलख़ानेवाली भेंट का; क्योंकि इसी छंद के तीसरे चरण में "भूषन तबहुँ ठिठुकत ही ग़ुसुलख़ाने सिंह लौं झपट" इस तरह का वर्णन हुआ है, जिससे ग़ुसुलख़ानेवाली भेंट से इस वर्णन का संबंध होना पाया जाता है। यह बहुत संभव है कि जसवंतसिंह के सदृश "स्वामिकाज + की लाज रखनेवाले" दोनों समय उपस्थित हों।

इस प्रकार अनुचित स्थान पर खड़ा करने से अपमा-नित होने पर शिवाजी अतिशय क्रुद्ध हुए और अनबन होने का ब्योंत स्पष्टतः दिखाई देने पर, (जयसिंह-पुत्र) रामसिंहजी ने शिवाजी को बरजने का बहुत कुछ प्रयत्न किया, परंतु शिवाजी ने एक न माना। 'धूम-धाम कै न मान्यो रामसिंह हू को बरजा' —शि०भू०, छंद १९८।

यह वर्णन सभासदी बखर के, 'मग रामसिंग धीर धरणें म्हणून बोलूँ लाग ले'—(अर्थात् रामसिंह ने धैर्य धारण करने—सब्र करने के लिये कहा)—इस वर्णन से ठीक मिलता है।

---

* पंचहजारिन बीच खड़ा किया मैं उसका कुछ भेद न पाया।

—शि० भू० २०६

+ राजा जसवंत को बुलाय कै निकट राखे, तेऊ लखें नीरे जिन्हैं लाज स्वामि-काज की।

शि० बावनी, छंद १६

दरबार में शिवाजी निःशस्त्र * थे, यह भूषणजी का वर्णन भी इतिहास से ठीक पाया जाता है, यथा—

दशाद्वादशसाहस्रैरश्वावाराधिपैः स्थितम् ।
तथाप्यश्स्त्रककरः क्रूरत्वं न विमुक्तवान् ॥ ३७।२
† पर्णाल पर्वत ग्रहणाख्यान

आगरा अथवा देहली

शिवाजी और औरंगज़ेब की यह भेंट आगरे में हुई है; क्योंकि इस समय के तीन महीने पूर्व से ही औरंगज़ेब आगरे में आकर रहा था, जैसा कि औरंगज़ेबनामे में कहा गया है—

"सन् १६६६,४ फ़रवरी को बादशाह जमना में होकर आगरे पहुँचे। मक़बिहत देखकर कुछ दिनों के लिये वहीं रहे और बेगमों को देहली से बुला लिया।"

—औरंगज़ेबनामा, पृ० ६५

इस समय दरबार आगरे में होते थे, और शिवाजी तारीख़ ९, सन् १६६६ को आगरे पहुँचे।

—शिवाजी-शिवकाल, पृ० १०६

भूषणजी के छंद ७९ से इस भेंट का आगरे में होना पाया जाता है, जैसा कि "रस खोट भरा ते अगोट आगरे में सातौ चौकी डाँकि'। अर्थात् वचनभंग आगरे में हुआ और यहीं पर सात चौकियाँ बिठाई गईं। बखर-ग्रंथों में इस भेंट का देहली में होना लिखा गया है, जो ठीक नहीं प्रतीत होता। स्वर्गीय लोकमान्य तिलक महाराज ने 'जेधे शकावलि' के संबंध में लिखते समय कहा है—"इकडील बखरीं तून दिल्लीस भेट झाल्याचे जे उल्लेख आहेत त्यांचा अर्थ इतकाच कीं, ही भेट स्थूल मानानें मोगलाचे राजधानीत म्हणजे दिल्लीस झाली" अर्थात् यहाँ की बखरों में देहली में भेंट होने का जो उल्लेख है, उससे स्थूलतः यही समझना चाहिए कि यह भेंट मुग़लों की राजधानी में हुई—शिवचरित्र-प्रदीप, पृ० १५। भेंट के समय बादशाह आगरे में रहा करते थे, इसका ज़िक्र ऊपर आ चुका है।

'जेधे शकावलि' में भूषणजी के सदृश 'चौकी' शब्द का प्रयोग किया गया है, यथा—"शिवाजी राजे आगरियास जाऊन औरंगजेबाची भेट घेतली, विघाड होऊन राजाओस चौकिया दिल्या।" अर्थात् राजा शिवाजी आगरे पहुँचकर बादशाह औरंगज़ेब से मिले, अनबन होने पर राजा को चौकियाँ दी गईं। इससे मालूम होता है कि उस समय मराठी तथा हिंदी में 'पहरे में देना' इस अर्थ में 'चौकी देना' इस पद का प्रयोग होता था। आजकल की मराठी में इसका प्रचार नहीं रहा है।

बंधन से मुक्ति

अन्य इतिहास-ग्रंथों से मालूम होता है कि क़ैद से छुटकारा पाने के लिये शिवाजी ने एक अनोखा उपाय सोचा। पहले बीमार होने का बहाना किया, कुछ दिनों पश्चात् बीमारी से सुधर जाने के समाचार दरबारी लोगों में पहुँचाए; और इसकी खुशी में मेवे तथा मिठाई के बड़े-बड़े पिटारे वज़ीरों और अन्यान्य सरदारों के पास रवाना करते रहे। एक रोज़ अवसर पाकर अपनी जगह विश्वस्त नौकर रखकर स्वयं ही पिटारे में जा बैठे पिटारे में शहर के बाहर पहुँचे, जहाँ पर घोड़े पहले ही से तैयार खड़े थे। घोड़े पर सवार होकर ऐसा निकल गए कि किसी को कानों-कान ख़बर न होने पाई।

भूषणजी की कविता से उक्त घटना का पता नहीं चलता, उन्होंने इशारतन् सिर्फ़ इतना ही कहा है कि मीर उमरावों के बीच में से और ठौर-ठौर की चौकियाँ

---

* साथ में फौज न हाथ हथ्यारो—शि० भूषण छंद १८६।
जोर सिवा करता अनरत्थ भली भई हत्थ हथ्यार न आयो।
—२०८

† 'पर्णालपर्वत ग्रहणाख्यान' की रचना 'जयराम' कवि ने की है। यह शिवाजी के समकालीन थे। संस्कृत की तरह मराठी और हिंदी में भी इन्होंने शिवचरित्र की रचना की है। जैसा उनके इन श्लोकों से पाया जाता है—ततः श्रीमच्छिवेनेयं सुरती लुंठिता पुनः। तद्वैदवमहाराष्ट्रभाषायुग्मेन वर्णितम् ॥ २९ ॥ तदप्यहो महाराष्ट्रहिन्दुस्थानभवेन वै। भाषायुग्मेन विहितं ततः सह्याद्रिमस्तकः ॥ ३२ ॥ इस पर्णालपर्वत ग्रहणाख्यान' के विषय में प्रो० सरकार ने अपने 'शिवाजी-शिवकाल' में 'फ़ार (बहुत) विश्वसनीय व उपयुक्त ग्रंथ' कहा है। इससे इसकी सत्यता का पता चलता है। परंतु खेद है कि इनकी शिवाजी-विषयक हिंदी-कविता कहीं नहीं पाई जाती। भूषणजी का वर्णन इनके वर्णन से बहुत कुछ मिलता हुआ पाया जाता है; क्योंकि दोनों समकालीन तथा एक ही दरबार में रहा करते थे।"

बाँध कर 'परेवा' (कबूतर) के सदृश ऐसा निकल गए कि किसी को ख़बर न लगी। पलँग ज्यों-के-त्यों पड़े रहे। सब देहलीवाले हाथ मलते रहे (फुटकल छंद ४६)। कबूतर के सदृश निकल जाने का वर्णन भूषणजी के समकालीन जयराम कवि के इस वर्णन से बिलकुल मिलता-जुलता है—

द्रष्टव्यं स्वामिभिस्तत्र कियद्यत्नेन रक्षितः।
तथापि पक्षिवत्सूर्णं पुत्रेण सह निर्गतः॥
पर्णालपर्वत-ग्रहणाख्यान, अध्याय २।२८

गुसलखाना

शिवराज-भूषण के छंद नं० ३४, ७१, २०४, २०६, २६५ और शिवाबावनी के छंद १६ इन छः छंदों में ग़ुसलख़ाने का वर्णन हुआ है। भूषणजी के इस वर्णन से इसका अवश्य पता चलता है कि दरबार के सिवा ग़ुसलख़ाने में भी बादशाह से भेंट हुई। 'कीन्ही तब नौरँग ने भेंट सिवराज की'। यह शिवा-बावनी के छंद १६ का वर्णन ग़ुसलख़ानेवाली भेंट का ही परिचायक है। दरबार के रोज़ शिवाजी बादशाह के अपमानकारक बर्ताव से क्रुद्ध हुए थे और दरबारी उमरा उन्हें मना * रहे थे, परंतु शिवाजी उस रोज़ फिर दरबार में नहीं आए। और उन्हें चौकियाँ दी गईं। मालूम होता है, भूषणजी वर्णित ग़ुसलख़ानेवाली भेंट दरबार के कुछ दिनों पश्चात् हुई। सभासदी बखर में ग़ुसलख़ाने के संबंध में एक अपूर्ण-सा उल्लेख पाया जाता है; वह इस प्रकार—"ऐसे किती एक गोष्टी बोलून एकांतीं ग़ुसलखानियांत भेटीस बोलाविलें (म्हणजे) भेटी घेऊन मजकूर बोलूँ" अर्थात् बादशाह के एकांत में—ग़ुसलख़ाने में—बुलाने पर उनके साथ इस प्रकार संभाषण करेंगे। उद्धृत अंश ग़ुसलख़ानेवाली भेंट से पूर्व का पाया जाता है; बादशाह शिवाजी से एकांत में मिलना चाहते थे, और शिवाजी भी, इस एकांत की भेंट में बादशाह से क्या कुछ बोलना चाहिए, इस संबंध में विचार कर रहे थे। बहुत संभव है, इसके थोड़े ही पश्चात् बादशाह शिवाजी से मिले हों और वह मिलन भूषणजी के कथनानुसार तथा उस समय की शाही प्रथा के अनुसार एकांत में—ग़ुसलख़ाने में हुआ हो। यहाँ पर भी बादशाह ने अपनी सुरक्षितता के लिये उमरावों के सफ़ (फड़) बाँधे और शिवाजी को शस्त्र † रहित होकर आने का हुक्म दिया। अनंतर भेंट की। ग़ुसलख़ाना ऐसे ही अवसरों के लिये नियत था। औरंगज़ेबनामे ‡ से इसका पता चलता है कि उन दिनों राजकारण-विषयक ख़ास-ख़ास सभा (मजलिसें) ग़ुसलख़ाने में हुआ करती थीं, और सिर्फ़ विश्वस्त सरदारों को ग़ुसलख़ाने तक आने की इजाज़त थी। ग़ुसलख़ाने की दरोग़ाई एक इज़्ज़त का ओहदा समझी जाती थी और वह ख़ास-ख़ास सरदारों को ही सरफ़राज़ होती थी। इससे भी अनुमान हो सकता है कि दरबार के सिवा ग़ुसलख़ाने में अवश्य भेंट हुई होगी। उस समय बादशाही ग़ुसलख़ाना ख़ाली स्नानागार नहीं कहा जाता था।

मिर्ज़ा राजा जयसिंह को पैंतीस क़िले देना

शि० भू० छंद नं० २१२-२१३ में भूषणजी ने मिर्ज़ा राजा जयसिंह को क़िले देने का हाल लिखा है। छंद २१३ में इनकी संख्या भी नियत कर दी है। पैंतीस क़िले सौगुना बड़ाई लेने के लिये शिवाजी ने राजा जयसिंह को दिए। सभासदी+ बखर में सत्ताईस और औरंगज़ेबनामे × में तेंतीस क़िले देने का वर्णन है। कहीं-कहीं बत्तीस तथा तीस क़िले देने का भी ज़िक्र है, परंतु ३५ क़िले देने का वर्णन अधिक विश्वस्त माना जाता है और भूषणजी भी ठीक यही कहते हैं। जयसिंह से दबकर शिवाजी ने पैंतीस क़िले पहले दिए। तत्पश्चात् दोनों में जो संधि हुई, उसमें २३ क़िले बालाघाट और निज़ामशाही तलकोंकन मुग़ल-दरबार को देना

---

* अरे ते गुसुलखाने बीच ऐसे उमराय लै चले मनाय महाराज शिवराज को।—शि० भू० ३४।

बादशहा नें त्याच्या समाधाना करितां अनेक सरदार पाठविले, अर्थात् बादशाह ने उसके (शिवाजी के) मनाने के लिये कई सरदार भेजे।—पत्र-सार-संग्रह, पृ० ३१७, पत्र-नं० ११३६।

† हटकि हथ्यार फड़ बाँधि उमरावन के, कीन्हीं तब नौरँग ने भेंट शिवराज की।—शि० बावनी १५।

‡ औरँगजेबनामा, भाग दूसरा, खंड चौथा, पृ० ७८, १६।२४।

\+ पृ० ४४।५३।

× खंड तीसरा पृष्ठ ६३।

क़रार पाया और शेष बारह क़िले (छोटे-बड़े) शिवाजी के लिये रहे। पत्र-सार-संग्रह पत्र-नं० १०६४।१०७७ (छं० २१३ में "दिन दोऊ ना लगाए गढ़ लेत पंचतीसको" प्रयाग तथा काशी की प्रतियों में लिखा गया है, जो प्रतिलिपि की भूल मालूम होती है; क्योंकि छं० २१२ में उसके विरुद्ध यह वर्णन है कि 'यह क़िले कैयो बरस में लिए गए'—लेत की उगह देत होना चाहिए)।

नवसेरीख़ान

शि० भू० छंद नं० ३०७ में नवसेरीख़ान के साथ अहमदनगर में जो भीषण युद्ध होने का वर्णन भूषणजी ने किया है, वह जेधे-शकावलि, शिवापूर दफ़्तर की याददाश्त तथा शिवापूर देशपांडे-बही की शकावलि से मिलता-जुलता है—शिवचरित्र प्रदीप पृ० १८,४०,२६। उपर्युक्त शकावलियों से यह युद्ध १५७९, ज्येष्ठ-महीने में होना पाया जाता है।

प्रो० सरकार के शिवकाल से, इस युद्ध में शिवाजी की हार होने का पता चलता है, और सन् १६६४ में फिर यशस्विता से अहमदनगर के लूटने का वर्णन है। पृ० ७७।

प्रो० सरकार वर्णित सन् १६६४ की लूट के समय नवसेरीख़ान का कहीं निर्देश नहीं है, इससे भूषण-वर्णित घटना से उसका संबंध नहीं पाया जाता। भूषणजी का वर्णन शक १५७९ सन् १६५७ की नवसेरीख़ानवाली घटना से संबंध रखनेवाला है। प्रो० सरकार के शिवाजी-शिवकाल में इस युद्ध की तारीख़ ४ जून, सन् १६५७ है; 'जेधे शकावली' में नियत तारीख़ नहीं है, महीना (ज्येष्ठ) लिखा हुआ है; शिवापुर दफ़्तर की याददाश्त में आषाढ़ शुद्ध ३, शक १५७९ लिखा हुआ है। संभवतः यह तीनों मितियाँ (तारीख़ें) एक दूसरी से मिलती-जुलती हैं।

यह युद्ध नासिर (नवसेरी) ख़ान के साथ हुआ। इसका पता तो प्रो० सरकार के शिवचरित्र से अवश्य चलता है, परंतु उनका यह वर्णन कि "मावलीदल के परास्त होने से शिवाजी इस युद्ध से खिसक * गए," युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ता। सभासदी बखर (इसको प्रो० सरकार विश्वसनीय मानते हैं) के पृष्ठ ४ पर यह उल्लेख है—"मग अमदानगर शहर मारिलें, मोगलाशीं मोठें युद्ध केलें—सातशें घोड़े पाडाव केले; हत्ती ही पाडाव केले, द्रव्य बहुत सांपडलें"—अर्थात् अहमदनगर में मुग़लों से घमासान युद्ध हुआ, सात सौ घोड़े और हाथी लूट लिए गए, द्रव्य भी बहुत मिला। इससे पाठक स्वयं विचार करें कि शिवाजी इस युग में पराजित हुए अथवा विजयी? अब इस उल्लेख के संबंध में एक आक्षेप यह हो सकता है कि इसमें भी नौसेरीख़ान का नाम नहीं है, अतः यह सन् १६५७वाले युद्ध से संबंध रखनेवाला नहीं है; इस शंका के समाधान के लिये पहले उद्धृत अवतरण के 'मग' तत्पश्चात्—अनंतर—शब्द पर विचार करना चाहिए। अहमदनगर के पहले (वैशाख वद्य १२ * शक १५७९, ३० एप्रिल † १६५७ को) जुन्नर पर शिवाजी ने धावा किया था और तत्पश्चात् एक महीने के अंदर ही अहमदनगर पर चढ़ाई की। इसलिये सभासदी बखर में जुन्नरवाली घटना के दो पंक्तियों बाद ही अहमदनगर की घटना लिखी गई है। यद्यपि बखर में घटना का काल नहीं दिया गया है, तथापि अनुक्रम की दृष्टि से (जुन्नर के बाद) यह वर्णन आया है। इससे सन् १६५७ का ही समझा जा सकता है। नौसेरीख़ान के नाम तथा काल के निर्णय के लिये जेधे-शकावलि से सहायता मिलती है। जेधे-शकावलि का वर्णन इस प्रकार है—

शक १५७६ हेमलंबी संवत्सर

वैशाख मासीं जुन्नर लुटलें—वैशाख में जुन्नर लूट लिया। ज्येष्ठ मासीं नौसीरखान यासी युद्ध अमदानगरी राजश्री सिवजी राजे यांनीं केलें।

अर्थात् ज्येष्ठ के महीने नौसेरीख़ान के साथ अहमदनगर में राजा शिवाजी ने युद्ध किया।

सभासदी-बखर—जेधे-शकावलि के वर्णन के साथ यदि भूषणजी ‡ का वर्णन पढ़ा जाय, तो मालूम होगा कि इस युद्ध में शिवाजी की ही जीत हुई है।

---

* शिवाजी-शिवकाल, मराठी संस्करण, पृष्ठ ३५।

* शिवापुर दफ़्तर की याददाश्त पृ० ५० शि० च० प्रदीप।

† शिवा-शिवकाल, पृ० ३१६।

‡ अहमदनगर के थान किरवान लैकै,
नवसेरी खान ते खुमान भिर्यो बल ते;

इस युद्ध में शिवाजी की जीत होने का पता इससे मिलता है कि इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद जुन्नर तथा अहमदनगर के नियत सरदारों (मुलतफ़तख़ान, नासिरख़ान, मीरजुमला) के नाम औरंगज़ेब ने अतिशय क्रुद्ध होकर पत्र लिखे हैं, और उन्हें यह हिदायत की है कि शिवाजी का मुल्क जला दिया जाय, उसकी प्रजा का क़त्लेआम किया जाय जो शिवाजी से मिल-जुलकर रहें, उनके सिर उड़ा दिए जायँ † इत्यादि । यदि इस युद्ध में नौसेरीख़ान की फ़तह होती, तो औरंगजेब इस प्रकार न चिढ़ता, और न ऐसे क्रोधभरे पत्र लिखने की आवश्यकता ही होती।

प्यादन सों प्यादे पखरैतन सों पखरत,
बखतरवारे बखतरवारे हल ते ।
'भूषन' भनत एते मान घमसान भयो,
जान्यो न परत कौन आयो कौन दल ते ;
सम वेष ताके तहाँ सरजा सिवा के, बाँके
बीर जाने हाँके देत मीर जाने चलते। ३०७।

—शिव० भूषण

रामचंद्र-गोविंद काटे

† शिवाजी-शिवकाल पृ० ३५, पत्र-सार-संग्रह, लेखांक ७३३ ।

डाकू

बड़ा ही घना जंगल था। कोसों तक इधर-उधर झाड़ी हो झाड़ियाँ थीं। मतंग वृक्षराज अपने वैभव से उन्मत्त झूम रहे थे और डूबते हुए सूर्य की लालिमा उनसे लिपटती जा रही थी। पशु-पक्षी बसेरा लेने जा रहे थे और धीरे-धीरे सन्नाटे का साम्राज्य फैल रहा था। किंतु जंगल के बीचवाले कुटीर से किसी स्त्री का करुण क्रंदन निकलकर पाषाण एवं चट्टानों को भी पिघला रहा था।

कुटीर में एक टिमटिमाता हुआ चिराग़ जल रहा था। वहीं बैठी हुई एक परम सुंदरी स्त्री ज़ार-ज़ार रो रही थी। उसकी गोद में चार-पाँच महीने का बच्चा था। उसी को वह छाती से लिपटाए हुए रो रही थी, मानो इस क्रंदन द्वारा किसी खोई हुई चीज़ को वह ढूँढ़ना चाहती थी या किसी को बुला रही थी। किंतु दीवारों से टकराकर वह आर्तनाद लौट जाता और फिर सन्नाटे में विलीन हो जाता था।

बच्चा बहुत भूखा था। वह छाती से लिपटा हुआ माता का स्तन चूस रहा था। हाँ, जब तब वह चौंक पड़ता और ऊपर मुँह उठाकर देखने लगता था। वह उसे हृदय से लिपटा लेती। यदि फिर भी वह न मानता, तो कलेजा पत्थर करके उसे दो बार पुचकार भी देती। पुचकारते समय में दुःखों को भूलकर उसके प्यारे मुखड़े पर मोती बिखेर देती—नहीं उँडेल देती। वह हक्का-बक्का होकर और भी रोने लगता।.........
हाय, वह इस समय अपने लाल को कैसे मनाती? एक समय था, जब वह उसे अच्छी तरह रिझाती थी और घंटों उसकी बलैयाँ लिया करती थी। किंतु आज यह असंभव था। जिसे हम कभी अपने ही हाथों किए रहते हैं, वही कार्य एक दिन असंभव कार्यों की श्रेणी में आ जाता है। बच्चा सो गया, किंतु वह अभी रो ही रही थी कि डाकू आया। कितनों का ख़ून उसकी आँखों में नाच रहा था। कितनों के धन का मद उसका माथा घुमा चुका था। पौरुष एवं पुरुषार्थ का अभिमान उसके अंग-प्रत्यंग से झलक रहा था। आते ही उसने बड़े कड़े स्वर में कहा—"क्या रोती ही रहोगी?" स्त्री ने धीरे एवं कातर स्वर में कहा—"तो क्या रोने भी नहीं दोगे?"

पश्चात्ताप और विषाद की आँधी ने डाकू को तोप दिया। किंतु दया अथवा आँसू किसे कहते हैं, यह उसे मालूम नहीं था। वह नहीं समझता था कि संसार में इनकी भी आवश्यकता है। उसकी समझ में असंख्य धन लुटाना और उसे एकत्रित कर सर्प-मणि-जैसा सुरक्षित रखना ही उसका सर्वमान्य साधन, तप, एवं व्रत था। चैन और शांति से उसे प्रयोजन न था। वासना का आह्वान और लोभ का मनन ही उसका सर्वप्रधान उद्देश्य था।

कुछ क्षणों तक वह किंकर्तव्य-विमूढ़ खड़ा रहा—उसके हृदय-पटल पर मानव-भावों का उदय हो आया था। किंतु इस नई ज्योतिमाला से उसकी आँखें चौंधियाने लगीं। अस्तु, कोशिश करके उसने इसे बुझा दिया। और अमानुषता के अंधकार में उसका सच्चा स्वरूप झलकने लगा। पाषाण-हृदय निर्मम पड़ा था। जिह्वा-छुरिका ज़ख्मों को ज़हरीला करने के लिये तुली थी और पाशविक वृत्ति, उद्दंड अत्याचार के लिये लँगोटा बाँधे तैयार थी।

डाकू ने कुछ देर बाद कहा—"कहता हूँ चुप रहो!"

स्त्री—"कैसे?"

डाकू—"जैसे भी हो सके।"

स्त्री—"यदि तुम्हीं मेरी जगह होते!"

डाकू—"तो क्या?"

स्त्री—"तब शायद तुम भी मेरी तरह ही रोते!......
अच्छा हटो, जाओ, दया करो।—किंतु तुम यहाँ आए ही क्यों? धन के नाम तो मेरे पास कानी कौड़ी भी नहीं। फिर—फिर मेरे पास एक डाकू का क्या काम? अब कोई चीज़ नहीं, जिसका प्रलोभन तुम्हें खींचकर मेरे पास लाए। कृपा करो! अह, दया करो!! मुझे रोने दो और रो-रोकर मरने दो। रोने में तथा रोकर मरने में बड़ा आनंद है।"

ये बातें कहते-कहते स्त्री की आँखें सूख गईं। उनमें से अहंकार, द्वेष, तृष्णा, खेद एवं विषाद की चिनगारियाँ उड़ रही थीं। फिर भी वह उस भयंकर डाकू के क्रूर पैरों को पल में सहस्र बार चूम रही थी। केवल इसीलिये कि वह उसे रोने दे।

जब तक वह अपनी कह रही थी, डाकू चुपचाप सुनता रहा। फिर बातें समाप्त होने पर वह कुछ सोचता चला गया। जितनी देर वह वहाँ खड़ा रहा, उसके मुख-प्रदेश में खेद और पश्चात्ताप की छाया आ-आकर उसकी मुखाकृति को बदल जाती थी। कभी वह एक का रंग जमा जाती, कभी दूसरे का। किंतु किसी एक का रंग स्थायी न रहने पाता, न चोखा होने पाता था। उसके अंतस्तल में दो विपरीत भावों का घोर संघर्षण हो रहा था। एक से वह परिचित था, किंतु दूसरे से अनभिज्ञ। ....उसकी पाशविक तथा मानवीय वृत्तियों की हार-जीत उसके मुख-मुकुर में झलक रही थी!

× × ×

अँधेरी रात मानों खीझकर आई। काली, गोरी अच्छी या बुरी सभी चीज़ों को ग्रास कर बैठी थी। दुनिया के कोने-कोने को अपनी काली कमरी से ढक, अपने एकोऽहम् की वृत्ति को प्रसन्न करती प्रसन्नता की साँसें ले रही थी—संसार का हृदय डर से काँप रहा था। थके-माँदे एवं भयातुर मानव निद्रा की गोद में जाकर छिपे हुए थे। डाकू भी उस घने वट की छाया तले चौतरे पर पड़ा खर्राटे ले रहा था। ऐसी रात्रि में वह कम सोता था, कारण इससे उसकी साँठ-गाँठ थी। इसी के काले राज्य में उसकी ललह थी। पाँसे उसी के पड़े थे। उसने सोने-चाँदी के थैले ठुनका दिए। और उसके तथा उस काली रजनी के सिवा उन्हें कोई भी नहीं देख सका। गोपनीय गुप्त ही रहता है, बात फूट नहीं सकती थी। दोनों ही एक दूसरे के विश्वस्त थे।

आधी रात ढल चुकी थी। भोर की हवा अब कुछ देर में उठने ही को थी कि वह चौंककर उठ बैठा। दो-चार अँगड़ाइयाँ लीं और फिर पड़ रहा। किंतु निद्रा ऐसों की सेविका नहीं। वह संतोष की तो चेरी है, किंतु वासना की बैरिन है।—डाकू फिर उठ बैठा, खड़ा हो गया और टहलने लगा। सर थामा, आँखें मींजी और भुनभुनाने लगा.....।

"अह, कल ही की, की हुई बातें और आज स्वप्न देखता हूँ!! काम चाहे जितना भी भयंकर रहा हो, उसे करते मेरा रोयाँ तक न सिहरा। किंतु आज, अभी स्वप्न में, फिर भी उन्हीं कर्मों का कर्त्ता था।—और मैं थर-थर काँप रहा था। कलेजे को जूड़ी हो आई, आँखें जलने लगीं और सर को तो मानो कोई हथौड़े से पीट रहा हो।—आश्चर्य नहीं यदि मुझे बुख़ार हो आया हो।.........अह, पैर लड़खड़ा रहे हैं। इस शेर के-से बूते को क्या हो गया? लोहे के पैर लड़खड़ाने क्यों लगे? नहीं समझ सकता।............अह!"

कहते-कहते वह बैठ गया। हाथों पर सिर रख लिया और फिर कहने लगा—"वह कितना सुंदर था। यदि वह कोई अजीब पुतला होता, तो मैं उसे देखने से न ऊबता। शायद उसे अपनी झोपड़ी में रख छोड़ता और दो फूल-पत्तियों से उसे साजकर देखता और निहाल होता। किंतु मेरे लिये रुपया उससे भी प्यारा निकला। मैंने समझा, उसके पास बहुत है और राह का रोड़ा फेंकने के लिये उसके ख़ून से अपनी तलवार लथपथ कर ली। वैसे ख़ून को भी मैंने नहीं देखा था। उसकी गोरी गरदन से निकलती हुई ख़ून की धारा मेरे हृदय में सीधे ढलने लगी थी। हृदय उसी से भर गया और घाव-सा दुखने लगा था!"

"वह अपनी स्त्री और नवजात पुत्र को नाव पर लिये न-जाने किस मनसूबे से कहाँ जा रहा होगा। नाव आधी दरिया में थी, जभी मैं तैरगया, किंतु नाहक ही मैंने दौड़ मारी। वहाँ रुपया के नाम छदाम भी न था।........ और वह माँझी भी मुझसे ख़ूब लड़ा। मर्द था, उसके ऐसा जवान मैंने कम देखा है। पर उसे भी पार लगा दिया। और शिकारी के क्रोध में इन दोनों स्त्री और बच्चे को व्यर्थ ही यहाँ खींच लाया। किंतु नहीं, उस समय तो सोचा था, बच्चे को बलि देने के लिये और स्त्री से रसोई कराने के लिये। आज भी मेरा विचार बदला नहीं। किंतु न-जाने क्यों उस नन्हे से खिलौने से मुझे मोह होता है, और उस सुंदरी से कुछ भी कहते डर लगता है। जब वह रोती थी, तभी जी में आया, उसके केश खींच ज़मीन पर गिरा दो पूँछ लगाऊँ ..... किंतु चार आँखें होते ही मेरी मरदानियत ढीली पड़ गई। उसके पति का स्वरूप आँखों पर चढ़ आया

और अपने किए का पछतावा होने लगा । यों तो मैंने हज़ारों को झपट दी होगी और द्रव्य से घर भर दिया है ; किंतु ऐसी ग्लानि की चुभती ज़हरीली बरछी से मेरे हृदय को किसी की भी याद ने जर्जरित न किया होगा ।

"........जैसे ही नाव पर मैं चढ़ गया था, उसने कहा था—'कुछ भी नहीं है'........मैं उजड्ड था, तलवार खटखटाने लगा । उसने कहा—'क्यों, क्या चाहते हो ? सब कुछ उपस्थित हैं, ले लो !' और बस, मेरे सामने गरदन झुका दी थी । मुझमें अपने पौरुष का अभिमान हो आया । मैंने कहा—'युद्ध और धन चाहता हूँ ।' बोला—'धन तो है ही नहीं, फिर दूँ कहाँ से । किंतु यदि वह दूसरी वस्तु चाहते हो, तो मुझे भी शस्त्र दो, तुम्हारी युद्ध-पिपासा मिटा दूँ ।' मूर्ख ने मेरे क्रोध में आँच दे दी । मैं खीझ उठा और वार कर दिया । उसकी स्त्री ने बच्चे को लिए हुए मेरे पैरों को पकड़ लिया, माँझी ने जो अब तक खड़ा था, दौड़कर मेरे हाथ को पकड़ लिया । किंतु बल का मद भी बुरी चीज़ है । मैं उसी के नशे में चूर हो गया । झटककर दूसरा वार किया और उसका काम तमाम कर दिया । स्त्री मूर्छित हो गई, किंतु माँझी मुझसे लिपट पड़ा । घंटों घमासान युद्ध रहा । किंतु मैंने उसकी निशस्त्रता का लाभ उठाया । उसे मार गिराया । फिर दोनों लाशों को गंगा में बहा, उस नौका को अपने तीर ले आया ।"

वह चुप हो गया । फिर कलेजा सहलाने लगा । धरती पर पड़ रहा और कराहने लगा । किंतु आज उसे डर लगता था । वह यहाँ नहीं ठहर सका । उस कुटी की राह ली, जहाँ उसके बंदी, स्त्री और बच्चा, पड़े बिलख रहे थे ।

× × ×

भोर के सूर्य चमक रहे थे । उनकी सौरभ-किरणें जहाँ-तहाँ छिटक रही थीं, और वह उसी द्वार पर सोच-मग्न खड़ा था । रात-भर जो अग्नि उसके अंतस्तल में जलती रही, उसके ताप एवं धुएँ से उसका मुख स्याह हो गया था । आँख का रंग उतर गया था और चमड़ा झुलस-सा गया था । जो बुढ़ापा पचहत्तर वर्ष की अवस्था में भी उसे भूल बैठा था, उसी ने आज अकस्मात् उसके "कल्ले कल्ज़ों" को पकड़ उन्हें ढीला और मर्माहत कर डाला ।

यहीं तक नहीं, आज ज्वर की ज्वाला उसे व्यथित कर रही थी । वह डर रहा था कि कहीं उसकी मृत्यु न हो जाय । किंतु शीघ्र ही जी में जीवन का कुछ भरोसा हो आता । वह सोचता 'जान के बदले जान' दूँगा । उस बच्चे की बलि शायद मेरा कल्याण कर सके ।

आह, उसकी यह कामना स्वार्थ का कैसा ज्वलंत उदाहरण थी । यह मानव-हृदय की निर्दयता, उद्दंडता तथा जीवन-तृष्णा की चरम सीमा थी । हिंसा करके भी वह अपना कल्याण चाहता था । किंतु यह भयंकर भूल थी । पशुवृत्ति उसके हृदय में यह संकल्प करती हुई हलकी साँसें ले रही थी और मनसूबा किसी कोने में खड़ा लज्जा से धँसा जाता था ।

जान से प्यारी इस धरातल में कोई भी वस्तु नहीं । उसके रक्षार्थ हम एक बार अपना सर्वस्व देने को भी तैयार हो जाते हैं । हम सब कुछ देकर भी अपने को नहीं देना चाहते । अपने को खोकर भी हम "अपने को" जैसी जर्जर वस्तु को क्यों ढोते फिरते हैं ? यह एक कठिनतर समस्या है । हाँ, तो यह वृत्ति हम सभी में है, फिर स्वार्थ के पुतले डाकू में यह क्यों न होती ? उसने बलि के प्रश्न को हल कर डाला । तर्क के झमेलों को पछाड़ दे मारा और फिर निश्चय कर लिया कि यदि करना ही है, तो आज ही और अभी क्यों न करे । बस, उठ खड़ा हुआ । एक बार पुनः तामस ने उसके ढीली रगों को सीधा कर दिया । वह सीधा उसकी कोठरी में चला । वहाँ पहुँचा और जाकर खड़ा हो गया ।

निर्दयता करते समय बड़े-से-बड़े निर्दयी का भी दिल एक बार दहल जाता है—किंतु जिसकी जैसी लत रहती है, वही हृदय के सभी भावों को दबाकर सर्वोपरि हो जाती है । कुछ देर वह भी दुविधा की खींचा-तानी में रहा । फिर बंदिनी सरला से बोला—"हमें बच्चा दे दो ।"

सरला इस आकस्मिक माँग पर चौंक उठी । पर धीरता से काम लेते हुए उसने पूछा—"क्यों, किस लिये ?"

यह बड़ा कड़ा प्रश्न था । और प्रश्न का निशाना भी उसके दिल पर बे-तरह पड़ता था । वह इतना

सहज तथा सादा होते हुए भी उसे अट्टहास-प्रद प्रतीत हुआ। वह लज्जित हो गया, पछतावे में पड़ गया। करुणा से कातर हो शोक का शिकार बन बैठा। किंतु ये घूँट एक आचरणहीन डाकू को बड़ी कड़ुवी लगी। जिस बाड़े में उसे कोई अदृश्य शक्ति खींचे लिए जाती थी और रह-रहकर तीते प्यालों को उसके होठों से लगाती जाती थी, वह उससे निकल भागा और अपने पुराने मैदान में आकर खीझ उठा। उसने तमककर कहा—" उसे बलि देने के लिये चाहता हूँ।"

उसके 'हूँ' शब्द के साथ ही मानों भू-मंडल उसकी ओर त्योरियाँ बदल हुंकार कर उठा। कहीं दूर-प्रदेश से कल्याणकारिणी जगद्धात्री के वीर-वाहन का भी हुंकार सुनाई पड़ने लगा और चमकने लगा वही मैया का गर्व-गर्वित खड्ग। डाकू काँप उठा। पर क्या पैर पीछे धरता? नहीं, भला सिंह और शूर कब मुड़ते हैं?

उसने सरला को चुप उद्भ्रांत बैठी देख, फिर कहा—"एक बार पुचकार ले अपने बेटे को, फिर दे दे मुझे, मैं उसे काली को भेट करूँ। देर न लगा।"

व्यथिता अपने होश में न थी। वह इस समय समझ नहीं रही थी कि वह क्या कह रहा है। वह फिर भी चुप रही।

कुछ देर के बाद सरला ने कहा—"नैराश्यसागर में डूबने से बचने के लिये आशा के इस तिनके को भी न रहने दोगे। क्या इस नन्हे-से खिलौने पर तुम्हें तरस नहीं आता?............हा जननी!"

डाकू—"व्यर्थ समय क्यों नष्ट करती हो? जी चाहे इसे दो बार पुचकार लो!.........वरना, मैं इसे लिए जाता हूँ।" यह कहते हुए बड़ी रुष्टता से वह सरला की गोद से बच्चे को छीनने लगा।......आनंदस्वरूप बालक चिल्ला उठा और देवीस्वरूप जननी रो उठी। किंतु वह छीन ही ले गया और वह धरती पर पछाड़ खाकर गिर पड़ी!—उसके आगे संसार अंधकारमय था। वह बच्चे को बाँह के नीचे दबाकर चलता हुआ और वह मूर्छित हो गई।

× × ×

दीना को मूर्छा भी शरण न दे सकी, मुँह मोड़कर चली गई!!......धरणी पर ख़ूब छटपटाई, ख़ूब तड़पी, ख़ूब रोई कि हठात् पागलों की नाईं उठ खड़ी हुई और लगी बड़बड़ाने.........क्यों, कहाँ वह छीनकर ले गया है मेरा लाल?......मा काली को बलि चढ़ाने के लिये? क्या अपनी संतान का मैया भक्षण करेगी? क्या निरीह बालक के निर्दोष रक्त से उसकी रक्त-पिपासा तृप्त होगी? उफ़! मेरा प्यारा, मेरा प्राण, मेरा हृदय, मेरा लाल..... और खाय किसका? मेरी स्नेहमयी मैया का........। क्यों, क्या पूछने की आज्ञा होगी जननी कि तुम्हें अपने बच्चों का रक्त कैसा लगता है? तड़पती जान को देखकर मनुष्य में भी देवतों की-सी दया जग उठती है, किंतु नहीं, यही क्या तुम्हारे आहार-विहार के लिये समुचित दृश्य है?.........नहीं, नहीं मा, मैं इसे नहीं मानूँगी। एक बार तू भी कहेगी, तो मैं इसे हँसी समझ तुम्हारी कृपालुता का वास्तविक रूप जानने के कारण तुम्हारे चरणों पर आँखों की मोतियाँ उड़ेल दूँगी। मनुष्य ही नहीं, देवता भी कहते हैं—"दुःख-भयहारिणी हो, लोकोपकार के लिये आर्द्रचित्त हो।

"क्या यह सभी असत्य है? नहीं कदापि नहीं!...... किंतु कैसे मानूँ यह, यदि मेरी ही गोदी का गुलाब चुन लिया गया तुम्हारी थार में सजे जाने के लिये! ....अच्छा यही सही, लो खा लो मेरे बच्चे को।...... किंतु विश्वास रक्खो, उसे तुम्हारे कौर से झपटकर निकाल लूँगी और तुम्हें बतला दूँगी कि माता तुम नहीं, मैं हूँ।.........जननी! आज तुम्हारी बेटी तुम्हें मातृत्व की शिक्षा देने पर उद्यत है। क्षमा करना इस धृष्टता को!.........वह निर्दयी, हत्यारा, क़साई, तुम्हारे आगे उसे ेंडित कर देगा, तुम उसके मनोहर गुलाबी रक्त का पान करोगी?......छीः...मातृत्व, धिक्कार है तेरे नाम को! मा, क्या मुझे यह तुमको स्मरण दिलाना पड़ेगा कि मातृत्व पाषाणवत् नहीं होता, वरन् कोमल और मृदुल......!"

अपनी कंचुकी से एक तीक्ष्ण-छुरिका निकालकर वह बकती-झकती काली-मंदिर की ओर बड़ी तेज़ी से चल पड़ी।

× × ×

वह यों ही झूमती मंदिर के द्वार पर पहुँची। उतावली थी, पगली थी, निर्बुद्धि थी। सब कुछ कर जाने के लिये उद्यत थी। किंतु चौखट पर पहुँचते ही विचित्र

दृश्य आँखों के सामने था। डाकू उसे देखते ही उसके चरणों में "माता मुझे क्षमा करो" कहते हुए आ गिरा।

सरला ने देखा, उसका पुत्र माता के पदपद्मों के निकट बैठा हुआ प्रसन्नचित्त खेल रहा है, और देवी की मूर्ति के अधरों पर मातृत्व की सजीव मुस्कुराहट खेल रही है, मानो सरला से वह पूछ रही है कि क्या वह मातृत्व जानती है अथवा नहीं?

सरला का हृदय आनंद, मोह, करुणा, लज्जा एवं विस्मय से भर गया। डाकू के अंतस्तल में आज एक विचित्र ज्योति जग रही थी। आश्चर्यजनक परिवर्तन प्रवेश कर चुका था।

यह सब कुछ लीलामयी जननी का आमोदमय अभिनय था।

डाकू और सरला दोनों ही मातृपद-पंकज पर लोटने एवं आनंदाश्रु बहाने लगे। फिर शीघ्र ही मंदिर में आरती आरंभ हो गई और पत्ते-पत्ते माता की आरती में योग देते हुए कह रहे थे—

सर्वस्यार्त्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते!!

श्रीगुह्येश्वरप्रसाद श्रीवास्तव

बलाहक !

१

हम अनुमाने, मौन ठाने, हरि ध्याने चित्त ,
कोऊ तपसी हौ, बैस तप माँहि काटौगे ;
हौ तुम प्रबुद्ध, बोधि आजु काग-मंडलीन ,
बेद औ पुरानन के पुन्य-ठाट टाटौगे ।
पै तुम लखाने काग हू तें गए बीते यार ,
करिकै अनर्थ और पाप-पुंज पाटौगे ;
चीकने बने हौ काह, भीतरै भरी अँगार ,
तुम तौ बलाहक हौ, घोंघिन ही चाटौगे ।

२

जतन किए हू पै न पाए चलि हंस चाल ,
सिखत बलाहकजू ! आपनी बिसरिगे ;
साथ के सखा हू बनि बैठे आपदा में बास ,
चुँथत मराल-पंख, पंख हू उचरिगे ।
छूट्यो मानसर बास, लागे मुकता न हाथ ,
सूख्यो पंक, मीन मुए, ताल हू उजरिगे ;
इतके तज्यो है साथ, उतके गह्यो न हाथ ,
बनिकै त्रिसंकु व्यर्थ, बीच मैं बगरिगे ।

३

जोपै बदो होतो मानसर ही बलाहकजू , तौ तुम बकुल-कुल काहे अवतरते ;
ऊपर तें साधु जैसे सूधे न लखाते कबौं, भीतर तें हुमकि न मीन गप करते ।
बैठि अरबिंदन पै भद्रता बिचित्र धारि , करिकै ठठोली काहे हंस-हँसी भरते ;
होते जुपै भीतरौ के ऊजरे ज्यों ऊपर के , सुजन सराहिबे की बानि चित्त धरते !

४

राखत न दोह कोह, सरल सुभाउ हंस ,
बस इनके न सुने, पैज ते पछरिगे ;
इन अन्हवायो तोहिं, मानस मैं दै सुपास ,
औगुन तिहारे आपु ही ते तौ उघरिगे ।
तौहूँ भाँति-भाँतिन के पायो परितोष नीके ,
संबुक सवाद तोहिं, मूरुख ! बिसरिगे ;
खायो पै पचाय नहिं पायो मुकतान तातें ,
दोऊ दृग मोतिया के बिंदुन बिगरिगे ।

५

ये तौ राजबंस अवतंस महाभाग हंस ,
जानि तोहिं खोटो, तऊ खोरि इन भाख्यो ना ;
जैसी चलि आई रीति इनके सनातन तें ,
तैसी अभिलाषैं इन पूरीं, एक राख्यो ना ।
करि उपकार अपकार ही लह्यो है अंत ,
तैं नहिं सकान्यो, इन मन माँहि माख्यो ना ;
तौहूँ नहिं आए बाज, फूट के बयो है बीज ,
तैसेई लुनौगे, कबौं कटु फल चाख्यो ना ।

रमाशंकर मिश्र "श्रीपति"

उपाध्यायजी और अद्वैतवाद

'माधुरी' की पूर्ण संख्या ७० में हमने श्रीगंगाप्रसादजी उपाध्याय के अद्वैतवाद-शीर्षक लेखों की जो आलोचना लिखी थी, उस पर पूज्य पंडितजी ने जो वक्तव्य छपाया है वह प्रथम तो उनके अत्यधिक क्षोभ का परिचय देता है और दूसरे उसमें वही तर्कशैली और वे ही विषय अत्यधिक हेर-फेर के साथ पुनः उठाए गए हैं जिनका अत्यंत सरल स्पष्टीकरण हमने अपने उपर्युक्त शीर्षक पूर्वलेख में किया था। फिर भी मान्य संपादकजी के अनुरोध से हम कुछ विवेचनरूप में पूज्य उपाध्यायजी और पाठकों के चरणों में निवेदन करना चाहते हैं। यह विषय ही ऐसा है, जो मतभेद को शरण देता है। अर्पण और दर्शन, ये साधना की दो परम गति हैं। अर्पण में ध्वनि और दर्शन में आलोक है। एक का क्षेत्र भक्ति और दूसरे का ज्ञान है; एक में संगीत-कविता है, दूसरे में शास्त्रार्थयुक्त विवेचन। एक का संबंध हृदय से है, दूसरे का बुद्धि से। कविता ने अपने साम्राज्य से भेद को निकाल दिया है, परंतु दर्शनशास्त्र जब तक कि वह उच्चातिउच्च कोटि का सानुभव न हो, भेद को आश्रय देता ही है। परंतु काव्य की तरह दर्शन में भी प्रेम और मीठी वाणी का व्यभिचार नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे लेख से उपाध्यायजी को अप्रसन्नता हुई है। हम पूज्य पंडितजी से इसके लिये क्षमा चाहते हैं; क्योंकि वह वय धर्म कर्म और विद्या में सब प्रकार हमारे अर्घ्य हैं।

स्वयं हमें उपाध्यायजी के अद्वैतवाद पर लेख लिखने से अप्रसन्नता बिलकुल नहीं हुई। हाँ, इतना अवश्य प्रतीत हुआ था कि उन लेखों में शंकर-दर्शन का विवेचन ठीक नहीं हुआ और उनसे बहुत कुछ भ्रम उत्पन्न होने की सम्भावना थी, इसलिये हमने समाधान लिखा था। उपाध्यायजी-जैसे विद्वान् को फिर उन्हीं शंकाओं की उलझन है, इससे पुनः कुछ विस्तार से लिखने को विवश होना पड़ा है। अत्यंत शिष्ट भाषा और संयत भाषा आदि शब्द, सौजन्य और क्षमायाचना की रीति से लिखे थे; क्योंकि अपने साहित्य में दुर्भाग्य से चली हुई जो अभद्र समालोचना की शैली है, उसकी ओर से मेरे मन में बड़ी घृणा है। पूर्व लेख के आरंभ में ही हमने यह कह दिया था कि शंकर को ठीक-ठीक पाठकों के सामने उपस्थित करना पहली आवश्यकता है, यदि हम चाहते हैं कि उस धुरंधर दार्शनिक के साथ कहीं अन्याय न कर बैठें। शंकर की लेखनी सहस्रशीर्षा होकर अनंत स्थानों पर इस बात को कहती है कि सृष्टि के व्यवहारगत नामरूपों के मूल में एक अविकारी, अविनाशी, नित्य, अद्वैत, अमृत, वस्तुतत्त्व को मत भुलाओ, सदा सर्वत्र उसके दर्शन करो। इस मौलिक दृष्टिबिंदु की अवहेलना करके जो समालोचक बार-बार नाक-कान और मेज़-कुर्सी पटक-पटककर यह प्रश्न करता ही जाय कि इन भेदों को तुम तथ्य क्यों नहीं मानते, तो उसके चरणों में केवल अंजलि-कर्म ही विधेय है। जगत् के जो असंख्य भेद हैं, वे व्यवहार-सत्य हैं, उनमें ब्रह्म की स्वाभाविकी ज्ञानबल-क्रिया का विषय दृष्टिगोचर हो रहा है, उनकी सत्ता का पृथक्-पृथक् ग्रहण वांछनीय नहीं। केवल एक मूल-उपादान कारण को ही ध्यान में रखकर यदि ब्रह्म के विवर्त पर विचार किया जाता (और यदि पूज्य पंडितजी भी ऐसा ही करने की कृपा करते), तो मानों प्रश्नकर्ता एकदम वेदांत तथा अन्य दर्शनों के मूल-भेद से ही टक्कर लेता और विषय भी थोड़े स्थान में आ जाता। "नेह नानास्ति किंचन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति यइह नानेव पश्यति, एकमेवाद्वितीयम्" आदि अनेक श्रुतियों के आशीर्वाद से शंकराचार्य ने कार्य-करण संघात से व्याकृत जगत्प्रपंच या नामरूपों के मूल में स्थित एक सत्य तत्त्व के अनुसंधान और प्रतिपादन द्वारा संसार का अनंत कल्याण किया है। शंकर के समान ज्ञानविज्ञान-सिद्ध निर्भय दार्शनिक संसार में नहीं हुआ। एक अनुभव अभेद अद्वैत को ओर ले जाता है, दूसरे की प्रतिज्ञा भेद की सत्यता-प्रतिपत्ति है। भेद से तात्पर्य जगत् की वस्तुओं के उपादान कारण के भेद से है। सांख्य, जगत् के उपादान कारण से सृष्टि जिस प्रकार मानता है, उसको शंकर ने थोड़े ही में इस प्रकार लिख दिया है—

सांख्यानां त्रयो गुणाः साम्येनावतिष्ठमानाः प्रधानम्। न तु तद्व्यतिरेकेण प्रधानस्य प्रवर्तकं निवर्तकं वा किंचिद्बाह्यमपेक्ष्यमवस्थितमस्ति। पुरुषस्तूदासीनो न प्रवर्तको न निवर्तक इत्यतोऽनपेक्षं प्रधानं......। २।२।४

अर्थात् तीन गुण जब साम्य अवस्था में रहते हैं, वह सांख्यों की प्रधान है। उस प्रधान का प्रवर्तक या निवर्तक कोई बाह्य कारण नहीं है, वह अचेतन होते हुए भी स्वतः सृष्टि-प्रक्रिया में प्रवृत्त हो जाती है। पुरुष (विभु और नाना होते हुए) उदासीन रहता है, न प्रवर्तक है, न निवर्तक। प्रकृति सत्य है, वह स्वयं ही अव्यक्त से व्यक्त हो जाती है। अद्वैत वेदांत इस प्रकार संसार के नाना विनिमयों में अचेतन को अविकारी नहीं मानता। शंकर ने डिंडिमघोष के साथ ब्रह्म को ही अभिन्न निमित्त और उपादान कारणवाला माना है। ब्रह्म का स्वभाव निरुपाधि या निर्गुण रूप (Transcendental) तब तक प्रतीत नहीं हो पाता, जब तक वह उपहित अर्थात् उपाधि संयुक्त होकर नामरूपों में व्याकृत न हो जाय—यही निर्गुण का सगुण (Immanent) होना है। शंकर के शब्दों में यों है—

यदि हि नामरूपे न व्याक्रियेते, तदा अस्यात्मनो निरुपाधिकं रूपं न प्रतिख्यायेत। यदा तु पुनः कार्यकरणात्मना नामरूपे व्याकृते भवतः, तदा अस्य रूपं प्रतिख्यायेत (बृहदारण्यक भाष्य २।५।१९)

विना नामरूप के व्याकृत हुए आत्मा के निरुपाधिक रूप की ख्याति न हो सकती। कार्य और करण (इंद्रियों) के संघात से एक प्राणबीज क्रमशः स्थूल होता हुआ नामरूपों में व्यक्त होता है, तभी उस ईश्वर का रूप ख्यात होता है। स्थावर से लेकर प्राणस्पंदन-पर्यन्त उत्तरोत्तर विशिष्ट सृष्टि-प्रक्रिया निरर्थक नहीं है, इसके द्वारा उसी विभूतिमत् का स्वभाव प्रकट हो रहा है। इस प्रकार यह जगत्प्रपंच सार्थक है। सृष्टि से प्रलय तक का स्पंदन किसी निष्ठुर जड़ स्वभाव का व्यर्थ अट्टहास नहीं, वरन् सर्वप्राणभृत्-क्रियात्मक सूत्र-संज्ञक अंतर्यामी ब्रह्म का स्वभाव-प्रवर्तन है। प्रश्न है कि मूल में जो चेतन निर्गुण तत्त्व है, वह किस प्रकार विविध मूर्त पदार्थों में व्याकृत हो सकता है। इसका उत्तर वह सृष्टि-क्रम है जैसा शंकर ने दिया है। यह प्रतीयमान् जगत् मूल-कारण से अन्य नहीं, जैसे कुंडलकटक सुवर्ण से अन्य नहीं। इसके अनन्यत्व की ओर ही ध्यान दिलाना शंकर को वारंवार अभीष्ट है। कुछ लोग दूध और दही के विपरिणाम का उदाहरण लेकर समझते हैं कि ब्रह्म से जगत् भी इसी प्रकार पृथक् हो जाता होगा। इन लोगों के लिये शंकर ने कहा है कि त्रिकाल में भी कारण से कार्य अन्य नहीं हो सकता, वर्षशत में भी दूध रूप कारण से दही अन्य नहीं हो सकता। यथा—

तस्मात्क्षीरादीन्येव द्रव्याणि दध्यादिभावेनावतिष्ठमानानि कार्याख्यां लभन्त इति न कारणादन्यत्कार्यं वर्षशतेनापि शक्यं निश्चेतुम्। तथा मूलकारणमेवान्त्यात्कार्यात्तेन तेन कार्याकारेण नटवत्सर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। २।१।१८

अर्थात् क्षीर ही दधिभाव से अवस्थित होकर कार्यरूप में परिणमित कहा जाता है। कारण से अन्य कार्य नहीं हो गया। दही को पृथक् समझने लगना ही नानात्व की ख्याति है। फिर दूध दही एक-एक पदार्थ का नाम लेकर कार्यकारण का अनन्यत्व कहाँ तक दिखा सकते हैं। संक्षेप में गाय, भैंस, घास, दूध, दही, खोया इन सब कार्याकारों के पीछे एक मूल-कारण है। वही नट की तरह नानारूप रखकर सब व्यवहारों में प्रतीत हो रहा है। वह कारण अभिन्न निमित्त-उपादान है।

यहाँ विपक्षी की आपत्ति यह है कि कुलालादिक की तरह ब्रह्म को निमित्त करण (Efficient cause) मानने में कुछ हानि नहीं, लेकिन जगत् ठहरा सावयव, अचेतन और अशुद्ध, उसका उपादान कारण भी वैसा ही होना चाहिए, क्योंकि कार्यकारण में सरूपता होती है, पर ब्रह्म है निष्कल, निष्क्रिय, शांत, निरवद्य औरनिरंजन, इसीलिये ब्रह्म के अलावा उपादानकरण कुछ और मानना चाहिए (वेदांत-भाष्य १।४।२३)।

शंकर ने इस पर कहा है—

एवं प्राप्ते ब्रूमः—प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च। न केवलं निमित्तकारणमेव। कस्मात्। प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।

अर्थात् प्रकृति या उपादानकारण भी ब्रह्म ही है, निमित्तकारण भी वही है। केवल निमित्तकारण ब्रह्म नहीं है; क्योंकि जो प्रतिज्ञा और दृष्टांत ऋषियों की श्रुतियों में मिलते हैं, उनसे ऐसा ही निष्कर्ष निकलता है। हमने यह बात वैशाख के लेख में स्पष्ट कर दी थी कि शंकर ने श्रुति और आगम प्रमाणों को सब तर्कों से अधिक

श्रद्धास्पद माना है ; औपनिषदिक ज्ञान स्वानुभूतिकोटि का है, इसलिये एक स्वानुभवी महात्मा के लिये ऐसा करना स्वाभाविक भी था। परंतु जिनको श्रुतिप्रमाण के अतिरिक्त इस विषय पर स्वतंत्र विचार करना हो, उनके लिये भी शंकर ने विमर्शसामग्री प्रस्तुत की है। निमित्त कारण किसी वस्तु की सृष्टि के लिये हो आवश्यक होता है, जैसे कुंडल बनाने के बाद सुवर्णकार के लोप हो जाने से कुंडल की स्थिति निर्बाध रहती है। उपादानकारण अपने स्वरूप से वस्तु में चला जाता है; जैसे सुवर्णकटक और कुंडल में। उपादानकारण के विना सृष्टि स्थिति और लय कुछ नहीं हो सकता।

यद्धि यस्मात्प्रभवति यस्मिंश्च प्रलीयते तत्तस्योपादानं प्रसिद्धम् (१।४।२५)

जिसका प्रभव और लय जिसमें होता है, वही उसका उपादान कहलाता है। अब जगत्‌रूप कार्य की सृष्टि ब्रह्म से होती है, यह निर्विवाद है, उसका लय भी अंत में उसी में हो जाता है, स्थितिकाल में भी ब्रह्म के विना जगत् की सत्ता बाधित हो जाती है, एक क्षण के लिये भी विना चेतन के इसकी स्थिति संभव नहीं—इससे ब्रह्म ही इसका कारण है। इसीलिये शंकर ने एक ब्रह्म को निमित्त और उपादान दोनों ही कारण कहा है। फिर विपक्षी के पास इसके लिये कौन-सा पुष्ट प्रमाण है कि चेतन आत्मा विकारात्मक परिणाम कर ही नहीं सकता। कर्तृत्व और कर्मत्व एक ही वस्तु में हो नहीं सकते, यह अटल नियम नहीं है। ऊर्णनाभि बाह्य साधन की अपेक्षा न करके स्वयं ही जाले का सृजन और ग्रास करने में स्वतंत्र है। आस्तिक भाव से शंकर ने देवादिक को भी इसी कोटि का स्वप्रभाव से कर्तृत्व-कर्मत्वयुक्त मानकर ब्रह्म के साथ उदाहरण-सादृश्य दिखाया है। ब्रह्म के मन के रेत से प्राण-स्पंदन, फिर प्राणांश के संहत होने से बाह्य आधार या घनवस्तुएँ यही सृष्टि क्रम है। शंकर ने इसी प्रकरण में आगे कहा है—

पूर्वसिद्धोऽपि हि सन्नात्मा विशेषेण विकारात्मना परिणमयामासात्मानमिति। विकारात्मना च परिणामो मृदाद्यासु प्रकृतिषूपलब्धः।१।४।२६।

अर्थात् आत्मा या ब्रह्म प्रकृति है ; क्योंकि वह स्वयं किसी का विकार नहीं। वह कार्य की उत्पत्ति से प्राक्‌सिद्ध है, तो भी वह विकृतिरूप में अपना विशेष विपरिणाम कर सकती है। मिट्टी जैसे प्रकृति होती हुई घट-कपाल आदि विकारों को जन्म देती है (घट की दृष्टि से मिट्टी उसकी प्रकृति है, पर और जल आदि की दृष्टि से मिट्टी भी विकृति हो सकती है, परब्रह्म स्वयं केवल प्रकृति हो है) ऐसे ही ब्रह्म भी मूल-प्रकृति है, जो नानात्व की ख्याति के पीछे छिपी है।

इस जगत् प्रपंच के पाप-पुण्य से ब्रह्म अणुमात्र भी लिप्त नहीं होता ; क्योंकि कारण में कार्य के स्वभाव का कोई दोष संक्रांत नहीं हो सकता। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जन्ममरणजरारोगादि अनेक अनर्थ—जालमय जगत् को रचा ही क्यों; यदि रचा ही गया, तो मन को प्रसन्न करनेवाली हितमयी सृष्टि ही क्यों न बना ली गई—इत्यादि बातों का उत्तर शंकराचार्य ने विस्तारपूर्वक प्रयोजनाधिकरण और इतरव्यपदेशाधिकरण में दिया है। जगत् अनादि है, उसमें बीजांकुर-न्याय से सृष्टि और लय चल रहे हैं। यह प्राण-स्पंदन अनंत है। ब्रह्म सृष्टि से पहले था यह बात केवल दार्शनिक अर्थ में ही ठीक (Logical sense only) है, अन्यथा जगत् जब नहीं था, ऐसे समय की कल्पना भी नहीं हो सकती। जीवों के नित्य स्वभाव के अनुरूप सुख-दुःख होते हैं, ब्रह्म में विषमता नहीं है। इसमें प्रत्येक बात के व्याख्यान के लिये यहाँ स्थान नहीं है। इसका विचार वेदांत की रीति से पृथक् लेख का विषय है। फिर भी पाठकों को एक बात स्मरण रखनी चाहिए। वह यह कि इस जगत् को शंकराचार्य ने जहाँ एक ओर माया की उपाधियुक्त चेतन ब्रह्म का विवर्त माना है, वहीं साथ-साथ इसे आत्मा का परिणाम भी कहा है। कुछ लोग परिणाम शब्द से सांख्य की प्रधान से उत्क्रांत होनेवाली सृष्टि का ही ग्रहण करते हैं। उन्हें विवर्त शब्द कुछ खटका करता है। वेदांत में परिणाम और विवर्त दोनों ही शब्दों का प्रयोग किया गया है। शंकर ने कितने स्थानों पर परिणाम शब्द का प्रयोग किया है—

परिणमतेऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनं—परिपूर्णशक्तिकं ब्रह्म। २।१।२४ कथं पुनः पूर्वसिद्धस्य सतः कर्तृत्वेन व्यवस्थितस्य क्रियमाणत्वं शक्यं संपादयितुम् ? परिणामादिति ब्रूमः १।४।२६

अर्थात् जिस आत्मा में कर्तृत्व (निमित्तकारणयोग्यता) था, उसी में कर्मत्व (उपादानकारणयोग्यत्व) कहाँ से आ गया ? उत्तर है—परिणाम से।

यहाँ निमित्त और उपादान या विवर्त और परिणाम में विरोध नहीं है। जगत् को चेतन की दृष्टि से विवर्त कहा जाता है, और माया, प्रकृति या शक्ति की दृष्टि से विपरिणामी। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि माया-उपहित चेतन में विवर्त-उपादानता है और केवल माया में परिणामी उपादानता है। शंकर को समझने के लिये जिस उदारबुद्धि की आवश्यकता है (या डाक्टर जाली के मतानुसार Freedom from wrongly interpreting its technical terms) उससे विचार करके देखें, तो पता चलता है कि ब्रह्म और जगत् के अनन्यत्व का संतत प्रतिपादन करते हुए भी उन्होंने व्यवहार-पक्ष में कार्य-प्रपंच का प्रत्याख्यान नहीं किया है। इसका विवरण आगे करेंगे।

वेदांत का इतना स्पष्टीकरण जान लेने पर यदि हम उपाध्यायजी के खंडन को देखते हैं, तो पता चलता है कि पंडितजी ने शंकर के मूल-अभिप्राय (अर्थात् परमार्थपक्ष में कार्यकारण-अनन्यत्व) को बार-बार भुला दिया है। वेदांत में जगत् को मिथ्या कहा गया, उसका तात्पर्य यह कि ब्रह्म का रूपांतर जगत् है। जगत् बदलनेवाला है अर्थात् ब्रह्म जगत्रूप में भासित होता है और जगत् भी फिर बदलकर अपने पूर्वकारण में आ सकता है। यदि सांख्य भी बदलने का यह अर्थ ले ले, तो क्या विरोध हो? परंतु अन्य दर्शन यह नहीं मानते कि जगत् भी कारणरूप में बदलकर अपने पूर्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो सकता है। अँगूठी, कड़े आदि सब बदलनेवाले हैं। पर जिसकी अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है, वह चीज़ सुवर्ण है। अँगूठी कड़े की अपेक्षा से कुंडल में नहीं बदलती, बल्कि सुवर्ण की अपेक्षा से बदलती है। इसलिये कटक-कुंडल अँगूठी ये वाणी के विकार हुए, इन्हें केवल नाम का आलंबन है, वस्तुतः स्थिति नहीं। ऐसे ही वेदांत जब जगत् को बदलनेवाला कहता है, तब उसका अर्थ विचारणीय है। जगत् सृष्टि से लेकर प्रलय तक अनेक रूप धरता है; पर उनकी सत्ता अव्यभिचारी नहीं है, केवल नाम-मात्र है। यह बदलना जिसकी सापेक्षता से कहा जाता है, वही चीज़ महत्त्व की है। वह मूल-कारण ब्रह्म है। सांख्य आदि जिनका नाम उपाध्यायजी गिनाते हैं, इसी अर्थ में बदलनेवाला नहीं मानते, वहाँ सापेक्षता प्रधान की ही है। इसी से वेदांत-कृत मिथ्या अर्थ से उनका विरोध होता है। अशिक्षित मनुष्य जब 'संसार को बदलनेवाला मानता है', तब उसका ध्यान वेदांत की तरह ब्रह्म-प्रकृति के विकारात्मक परिणाम की ओर नहीं रहता। उपाध्यायजी जिस अशिक्षित मनुष्य का नाम लेते हैं, वह कारण के धर्मों से अलग ही कुछ स्वतंत्र धर्म 'बदली हुई चीज़' में मान लेता है, पर वेदांत का सिद्धान्त तो इससे ठीक दूसरा है—

अपीतिरेव हि न संभवेद्यदिकारणे कार्यं स्वधर्मेणैवावतिष्ठेत। अनन्यत्वेऽपि कार्यकारणयोः कार्यस्य कारणात्मत्वं न तु कारणस्य कार्यात्मत्वम्। २।१।९

न हि विशेषदर्शनमात्रेण वस्त्वन्यं भवति स एवेति प्रत्यभिज्ञानात्। २।१।१८

जब कारण भविष्यद्रूप में कार्य बदलता है, तो कारण की सत्ता कार्य में रहती है, इसीलिये फिर पूर्वरूप होते समय कार्य की कोई हस्ती नहीं रह जाती; क्योंकि वह कारणात्मक था। कारण कार्यात्मक कभी नहीं होता, अर्थात् कार्य की आत्मा कारण में नहीं जाती, बल्कि कारण की आत्मा कार्य में। जब हमने कहा कि जगत् बदल गया, तब कारणात्मक कार्य का तात्पर्य है। ब्रह्म ज्ञान या विद्या है। तदितर अज्ञान या अविद्या हुई। यही प्राणबीज है। जगत् अविद्या (न+विद्या), या अज्ञान (न+ज्ञान) जब कहा गया, तब वह अपने मूल-कारण से मिथ्या हो गया (बदल गया), परंतु अपनी दृष्टि से यद्यपि उसका अस्तित्व नहीं है, तथापि शून्य भी नहीं है। इसलिये वेदांत का मिथ्यात्व शून्यवाद से बिलकुल भिन्न है। इस दृष्टि से जगत् में शून्य नहीं, माया उपहित चेतन ब्रह्म ही है। रज्जु में सर्प का भ्रम होता है, परंतु सर्प को भ्रम के समय रज्जु का आलंबन है। वैसे ही मरीचि जल को ऊपर प्रदेश का आलंबन रहता है। इसीलिये नितांत असत् नहीं कहा जा सकता। आकाश-कुसुम और शश-विषाण की तरह मृगतृष्णिका का जल आरंभण-शून्य नहीं है। इस प्रकार की ख्याति (प्रतीति) का नाम वेदांत की परिभाषा में अनिर्वचनीय अर्थात् सत् और असत् दोनों से ही विलक्षण ख्याति है। शून्यवादी असत्य ख्याति कहते हैं अर्थात् अभाव से भाव हो जाता है (Unreal Ishwara or empty individual-self)। क्षणिक विज्ञानवादी आत्मख्याति मानते हैं अर्थात् रज्जु में तथा अन्य भी किसी देश में सर्प का नितांत अभाव है, केवल बुद्धि ही

सब पदार्थों के आकार को धारण करती है (Objects are all mental ideas only)। न्याय और वैशेषिक मत में अन्यथा ख्याति है अर्थात् बाँबी में सच्चा सर्प दिखता है, उसी के बल से रज्जु अन्यथा सर्पवत् प्रतीत होती है, यद्यपि रज्जु में सच्चा सर्प नहीं है। सांख्य मत में अख्याति है अर्थात् रज्जु का सामान्य ज्ञान होता है, उसके विशेष का ज्ञान नहीं होता। वेदांत ने विस्तारपूर्वक इन सबका खंडन करके अनिर्वचनीय प्रतीति मानी है। अर्थात् यदि अविद्या का कार्य सर्प सत् होता, तो रज्जु के ज्ञान से उसका बाध न हो सकता, इसलिये सत् नहीं। और जो असत् होता, तो बंध्यापुत्र की तरह प्रतीति ही न होती; और प्रतीति होती है, इसलिये असत् भी नहीं। किंतु सत् असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय है। इसलिये जगत् को उपनिषदों में सत्-असत् दोनों ही कहा गया है। जगत् को बदलनेवाला कहता हुआ वेदांती वैलक्षण्य पर दृष्टि रखता है। अर्थात् ब्रह्म चेतन, जगत् अचेतन—इनकी विलक्षणता बदलने का लक्ष्य है।

ब्रह्म उपकारी और जगत् उपकार्य है। इस भाव की निष्पत्ति ही बदलना है। दोनों में अत्यंत सारूप्य (Absolute equality) मानें, तो वस्तु एक हो जाय, कार्यकारण भाव ही प्रलीन हो जाय। इसलिये कार्यकारण भाव का अस्तित्व स्वीकार करना पहली बात है। यह व्यवहार पक्ष है, यही बदलना है। फिर उस कार्यकारण का अनन्यत्व जानना परमार्थ पक्ष है, और उसी से जगत् मिथ्या है।

पारिभाषिक शब्दों तथा दर्शन के अगम्य सिद्धांतों, यहाँ तक कि वाणी से अगम्य स्वयं ब्रह्म को भी लौकिक, संस्कृत या शब्दों में समझाने में न शंकर को आपत्ति है, न हमें और न अन्य किसी धीमान् को हो ही सकती है। परंतु यदि बोलचाल की भाषा के तरल शब्दार्थ में मूल-सिद्धांत का हो आप काया-कल्प कर डालें, तो अवश्य ही कहा जायगा कि आपने अन्याय किया। हमने किसी अशुभ मुहूर्त में 'बोलचाल' न लिखकर केवल एक बार 'बाज़ारू' शब्द लिख दिया था। उसके पुरस्कार में उपाध्यायजी ने एक सौ एक बार बाज़ारू की आवृत्ति करके उसका मानों रूप ही खड़ा कर दिया है। महात्मा तिलक या अन्य वेदांती पर्याय देकर ही—तर्क से नहीं—अपने विरोधियों का मुँह बंद कर सके हैं या उपाध्यायजी के अनुसार उन्होंने पीछा छुड़ाया है, यह बात कौन मान सकता है? इसके अनुसार तो शंकराचार्य भी पर्याय दे-देकर ही अपने विरोधियों को घुमाते रहे। पर्यायों के पटल में झंपित आक्षेप-सूर्य को पुनः प्रकाशित करने का श्रेय तो अद्वैतवाद के लेखक को ही है। संस्कृत से भाषा बनाने में पर्याय तो देने ही पड़ेंगे। यदि पर्याय दें, तो पंडितजी कहते हैं कि पर्याय की सफ़ाई है; यदि विस्तार से समझावें, तो कहें कि केवल विस्तार से समझा दिया गया है। वेदांत जब रज्जु में सर्प का उदाहरण देता है, तब सर्प का भ्रम न तो प्रमाण (आँख) के दोष से है, न प्रमेय (रज्जु) के दोष से, न प्रमाता के लोभ, स्वार्थ, असावधानी आदि दोष से है। बल्कि एक चौथे ही दोष मंद प्रकाश या तिमिर से ऐसा होता है। यही स्थान जगत् के मिथ्यात्व अर्थात् नानात्व की प्रतीति में अविद्या का है। उपाध्यायजी बदलने का साधारण बुद्धिवाला अर्थ देकर फिर वेदांत से झगड़ते हैं कि तुम इस अर्थ के अनुसार अपने सिद्धांत को मंडित नहीं कर सकते। आपने मेज़ का उदाहरण देते हुए लिखा है—"मेरे सम्मुख मेज़ है। यह चौकोर है, इसकी सतह हिलती नहीं, मैं अपनी आँख को कुछ-कुछ मिचमिचाता हूँ, तो मेज़ बदली हुई मालूम होती है, परंतु मैं यह नहीं कहता कि मेज़ बदल गई; क्योंकि तबदीली मुझमें हुई है, मेज़ में नहीं।" यदि उपाध्यायजी जन्म-भर बिना रुके आँखें मिचमिचाते ही चले जायँ और यह भी भूल जायँ कि बिना मिचमिचाई हुई भी आँखें होती हैं, तब तो वह अपने में प्रमातृत्व धर्म मानकर यह कहेंगे या नहीं कि मेज़ दरअस्ल बदली हुई मालूम होती है। जिस समय आँखों में कुछ विकार स्वयं उत्पन्न करके आप मेज़ को बदलकर देखते हैं, उस समय आपको कहना ही पड़ेगा कि मेज़ बदल गई। और यदि आप यह भी भूल जायँ कि यह विकार (मिचमिचाना) आपका ही उत्पन्न किया हुआ है और थोड़ी देर के लिये ही है, तब तो सचमुच मेज़ को आप अन्यथा ही समझने लगेंगे। आपके उदाहरण से वेदांत का विरोध वास्तव में तो है नहीं, परंतु आप दो अवस्थाओं की मिलावट से ऐसा कर देते हैं। आपका मेज़ को बदली हुई न समझना आँख मिचमिचाने के बाद का ज्ञान है, और यदि आप नेत्रविकृति के समय भी मेज़ के बदलने के भ्रम में

नहीं पड़े, तो इसका कारण नेत्रविकार के कारण मेज़ का न बदलना नहीं है, बरन् आपको अपने शरीर का जैसा ज्ञान है, उस ज्ञान में अच्छी आँख के बजाय सचमुच मिचमिचाती हुई आँख के ज्ञान न होना ही कारण है। इसी तरह वेदांत में जगत् भी अन्य नहीं होता, केवल कूटस्थ चिदाभास जीव का अविद्याख्य अध्यास है। ज्ञानी उसके पारमार्थिक रूप को जान लेता है, व्यवहार-पक्ष में मेज़ की स्थिति मानकर वह भी उस पर लिखने बैठता ही है। हाँ, उसके परमार्थ-ज्ञान का उसकी 'भाषा' अर्थात् लोकस्थिति को संस्कृत करने के ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

नेत्रों में विकार उत्पन्न करके उपाध्यायजी ने एक नए संसार की सृष्टि की, वहाँ मेज़ आदि सब पदार्थ भी वैसे ही बदल गए। अब बढ़ई जिस मेज़ को चीड़-फाड़ डालता है, उसका उदाहरण लेते हैं। इसमें भी वेदांत से विरोध नहीं। परंतु जब बौद्धों के समान जाग्रत् और स्वप्न की अवस्थाओं को (आपके पक्ष में विकृत नेत्र की मेज़ और दोषशून्य मेज़ के संसारों को) मिलाकर तर्क करते हैं, तभी हेत्वाभास रच जाता है। पहले लेखों में भी उपाध्यायजी ने यही भूल की थी और हमने इसका सविस्तर समाधान और स्पष्ट विवेचन वैशाख के लेख में (मा० पृ० ४८८) जाग्रत् और स्वप्न के हाथी के उदाहरण में कर दिया है। शारीरक भाष्य में इसका स्पष्टीकरण जो देखना चाहें, वे २।२।२९ सूत्र को देखें। वहाँ शंकर ने ज़ोर देकर कहा है कि स्वप्न के अनुभव को हेतु बनाकर जाग्रत् की उपलब्धि का अपलाप हम सहन नहीं कर सकते। और स्वप्न-जागरित का वैधर्म्य भी भली भाँति दिखाया है (दर्शितं तु वैधर्म्यं स्वप्नजागरितयोः)। नेत्रों में विकार उत्पन्न करके (जो आपकी स्वप्नावस्थारूप है) मेज़ का बदलना तथा नेत्रों को विकारशून्य करके (जो जाग्रत्-अवस्थारूप है) मेज़ का अपने हाथ से या बढ़ई के हाथ से बदलना—इन दोनों में कुछ अंतर नहीं, यदि आप बदलना रूप ज्ञान के प्रमाता (Knowing Agent) भी उसी-उसी अवस्था के लें। मेज़ के मूल में लकड़ी थी; चीरने के बाद भी लकड़ी ही है। लकड़ी की अपेक्षा से मेज़-रूप रचना-विशेष और चिरी हुई लकड़ी दोनों ही अवस्थांतर-मात्र हैं। मेज़ और ईंधन ये दो शब्द-मात्र या नाम हैं, जो लकड़ी के विकार से उत्पन्न हुए हैं। लकड़ी सत्य और वाचारम्भण नामधेय मिथ्या हैं। विकृति मेज़ और ईंधन की प्रकृति लकड़ी है, परंतु लकड़ी अंतिम प्रकृति नहीं, वह स्वयं किसी की अपेक्षा से विकृति है। वेदांत तथा अन्य दर्शनों की खोज मूल-प्रकृति की ओर है। वेदांत उसे चेतन ब्रह्म कहता है जिसके विवर्त से ये नामरूप ऐसे ही भासित होते हैं, जैसे सागर में वीचि, बुद्बुद् आदि। जो लोग अचेतन को ही मूल-प्रकृति कहकर रुक जाते हैं, उनसे प्रश्न है कि क्या वह किसी की विकृति नहीं, क्या उसमें स्वयं व्याकृत होने की सामर्थ्य है, क्या चेतन ब्रह्म उस पर कुछ प्रभाव डाल सकता है, अचेतन और चेतन की सहस्थिति में उनका संबंध क्या हो सकता है, ब्रह्मस्वभाव के किसी धर्म का कार्य में आना आपको स्वीकृत है या अशेष धर्मों की विलक्षणता अभिप्रेत है अथवा केवल चैतन्य का ही प्रधान में निराकरण है? सांख्यों का असंग अकर्तापुरुष जो नाना है, चेतन की आवश्यकता को बिलकुल नहीं सुलझा पाता। पर वेदांत निमित्त और उपादान दोनों कारणों की अभिन्नता ब्रह्म में दिखाकर लोक व्यवहार में प्रपंच को सत्य मानता है। शंकर ने ही इसे कितनी बार कहा है—

न चास्य प्रसिद्धस्य भोक्तृभोग्यलक्षणविभागस्य बाधनं युक्तम् ।२।१।१३।

अर्थात् व्यवहार-प्रसिद्ध भोक्ता और भोग्य (विषयी और विषय, ब्रह्म और जगत्) का विभाग (प्रकृति और विकृति रूप वैलक्षण्य) इसका बाधन संभव नहीं। उपाध्यायजी लिखते हैं—"वस्तुतः विवर्त का अर्थ ही यह है कि वस्तु हो न, परंतु दृष्टि पड़े।"

इसके लिये संस्कृत का लक्षण भी दिया है—अतात्विकोऽन्यथाभावः विवर्त इति उदीरितः। ठीक है। परंतु आपने इसे वेदांत की दृष्टि से समझाने की कोशिश क्यों नहीं की। वस्तु हो न, परंतु दृष्टि पड़े—तो क्या वेदांत अभाव से भाव मानता है? यह तो शून्यवाद हो गया, जिसका शंकर ने ख़ूब खंडन किया है। वस्तु तो ब्रह्म है ही, वही, जगत्रूप में देख पड़ रहा है। शून्यवादियों के तर्क निराश्रित होने के कारण वितंडारूप से लोगों को केवल भ्रम में डालनेवाले हैं—

अभावाद्भावोत्पत्तिं कल्पयद्भिरभ्युपगतमपह्नुवानैर्वैनाशिकैः सर्वो लोक आकुलीक्रियते ।२।२।२६।

इसलिये वेदांत की रीति से विवर्त का स्पष्टीकरण आवश्यक है। उपादान के समान सत्तावाला और अन्यथा-स्वरूप परिणाम कहलाता है। जैसे अपने उपादान दुग्ध के समान सत्तावाला कहिए व्यावहारिक सत्तावाला दधि-मिष्ट दुग्ध से अन्यथा कहिए अम्ल है, इससे दुग्ध का परिणाम है वैसे ही उक्त प्रपंच भी अविद्या के समान व्यावहारिक सत्तावाला और अरूप अविद्या से अन्यथा अर्थात् रूपवाला होने के कारण अन्यथा-स्वरूप भी है, इसी से अविद्या का परिणाम कहाता है। अब विवर्त देखिए—अधिष्ठान से विषमसत्तावाला अन्यथा-स्वरूप विवर्त कहाता है। जैसे व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्तायुक्त रज्जु में केवल व्यावहारिक सत्तावाली सर्प-उपाधि है, वही परमार्थ दशा में बाधित हो जाती है, पर रज्जु बाधित नहीं होती, इससे रज्जु का विवर्त है। वैसे ही माया-उपहित (Super-imposed) चेतन में केवल व्यावहारिक सत्तायुक्त और उस दशा में अबाधित प्रपंच चेतन से बाधित होने के कारण उससे अन्यथास्वरूप भी है। यही चेतन का विवर्त है। अधिष्ठान जो ब्रह्म है उससे विषम सत्ता जगत् की है, इससे अतात्विक है और ब्रह्म से अन्यथा भाव (विशेष वैलक्षण्य) भी है अर्थात् अन्यथा-स्वरूप है। दोनों लक्षणों में शब्दों के भेद से बात बिलकुल एक है। तिलक ने जो लक्षण विवर्त का दिया है, उससे उनके दिए हुए दृष्टांत में बिलकुल विरोध नहीं है। "उस नाम-रूप से ढका हुआ और उसी के मूल में सदैव एक-सा ही स्थित रहनेवाला अमृत वस्तु-तत्व ही—वह आँखों से भले ही न देख पड़े—ठीक-ठीक सत्य है।" (गीता-रहस्य)।

उपाध्यायजी मेरे अस्तित्व-विहीन और लोकमान्य के 'मिथ्या उसको नहीं कहते, जो अस्तित्व में है ही नहीं' शब्दों को लेकर परस्पर विरोध दिखाते हैं। यदि यह वास्तव में विरोध होता, तो बड़ी आसानी से उपाध्यायजी शंकर के ही दोनों प्रकार के शब्दों को उद्धृत कर स्वयं वेदांत के आचार्य में भी स्व-व्याघात दोष दिखा सकते थे। 'अस्तित्व में है ही नहीं' यह कहने से शश-विषाण की तरह शून्यवाद का पक्षपाती वेदांत नहीं है, इसलिये मिथ्या उसको नहीं कहते, जो अस्तित्व में है ही नहीं, यह वाक्य ठीक ही है। यह उत्तर असत् ख्याति के लिये है। जब हम चेतन को बराबर अधिष्ठान कहते हैं, तो अस्तित्व में है नहीं, यह कैसे मान लें। सत्ता तो ब्रह्म (सच्चिदानंद लक्षण) में और जड़ प्रकृति में भी है। यही कारण और कार्य का समान धर्मत्व है। ब्रह्मणोऽपि तर्हि सत्ता लक्षणः स्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमानो दृश्यते ।२।१।६। अर्थात् ब्रह्म का सत्ता लक्षण स्वभाव आकाशादिक में जाता हुआ देखा जाता है। पुनः परमार्थ पक्ष में जगत् को अस्तित्वविहीन इसलिये कहा जाता है; क्योंकि ब्रह्म ज्ञान से उसकी सत्ता का बाध होता है। उपादान और निमित्तकारण दोनों ही जब ब्रह्म में अभिन्न हैं, तब परिणामी प्रपंच भी अपने अधिष्ठान के विना सत्य नहीं है। जैसे—

यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशानन्यत्वं, यथा च मृगतृष्णिकादीनामूषरादिभ्योऽनन्यत्वं दृष्टनष्टस्वरूपत्वात्, स्वरूपेणानुपाख्यातत्वात्, एवमस्य भोग्यभोक्त्रादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाभाव इति द्रष्टव्यम्। इदं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्वमवगम्यमानं स्वाभाविकस्य शारीरात्मकत्वस्य बाधकं सम्पद्यते, रज्ज्वादिबुद्धय इव सर्पादिबुद्धीनाम्। बाधिते च शारीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति ।२।१।१४।

अर्थात् घटाकाश महाकाश से जैसे अन्य नहीं, ऊपर से मृगजल जैसे अन्य नहीं है, क्योंकि उसी में दृष्ट और नष्ट होता है और मृगजलादि के अपने रूप की कुछ सत्ता नहीं, ऐसे ही भोक्ताभोग्य लक्षण, इस प्रपंच का भी ब्रह्म के विना अभाव ही है। जब शास्त्रीय ब्रह्मात्मकता का ज्ञान हो जाता है, तब जो जगत् शरीरात्मक जान पड़ता है, उसका बाध अर्थात् नानात्व भ्रम अपास्त ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार जो विरोध उपाध्यायजी को दिखाई पड़ा, वह शंकर में भी है, पर वह वस्तुतः विरोध नहीं; क्योंकि एक ही वस्तु में पिता की दृष्टि से पुत्रत्व और पितामह की दृष्टि से पौत्रत्व धर्म रह सकते हैं। उपाध्यायजी कहते हैं कि सीप में चाँदी आदि का दृष्टांत, अस्तित्वयुक्त और नाशवान् इन दोनों धर्मों के लिये, आप मत दीजिए। दृष्टांत तो लोक में से लेने ही पड़ेंगे, पर उनका सामंजस्य बताना दृष्टांतदाता का कर्तव्य है। सीप से स्वतंत्र सीप की चाँदी नहीं है, चाँदी के विना सीपी निर्बाध रहती है। पर सीप का अस्तित्व जब एक बार अखंडनीय मान लिया, तब उसकी चाँदी का भी उसके आलंबन से यदा-कदा भान हो ही सकता है (मृगतृष्णिका में जल का सर्वदा भास रहता है)।

उपाध्यायजी कहते हैं—"परंतु बाज़ारवालों के भावों की मीमांसा की जाय, तो इससे भी कुछ और ही नतीजा निकलता है। वस्तुतः किसी मनुष्य को झूठा इसलिये नहीं कहते कि वह कभी कुछ कहता है और कभी कुछ। उसको झूठा इसलिये कहते हैं कि वह घटना के विरुद्ध बोलता है इत्यादि।" घटना के विरुद्ध तथा 'कभी कुछ और कभी कुछ' कहने में बिलकुल भेद नहीं है। पहले कभी कुछ शब्द के मानें एक बात दूसरे कभी कुछ के मानें दूसरी बात है। इस प्रकार दो बातें यदि एक ही घटना के विषय में कही जायँगी, तो निश्चय ही घटना के विरुद्ध बोलना हो जायगा। इस संबंध में दिए हुए हाथी के उदाहरण में वही पुरानी भ्रांति है। आपने कई घटनाएँ ले लीं और कभी कुछ कभी कुछ के विरोध को मिटा दिया। यदि आप एक ही घटना को लें, तब ठीक उदाहरण ऐसे होगा—हाथी आया, यह सत्य है। फिर उसी आदमी ने कहा—नहीं, हाथी नहीं आया। अब घटना के विरुद्ध भी हो गया तथा कभी कुछ और कभी कुछ भी हो गया। इसी तरह हाथी बैठा, नहीं भी बैठा; चला गया, नहीं गया आदि में विरुद्ध भाषण करनेवाले को झूठा अवश्य कहा जायगा। यदि एक काल की क्रिया को ही आप यों कहें—हाथी बैठा, उसी क्रिया को कहें हाथी उठा, तो भी झूठ ही है। एक क्षण में उठा, दूसरे क्षण बैठा, इस प्रकार के वाक्य को संसार में कोई झूठा नहीं कहेगा।

"यदि मैं या श्रीअग्रवालजी या अन्य कोई पुरुष दिन-भर एक ही बात कहा करे और 'कभी कुछ और कभी कुछ' न कहे, तो लोग क्या कहेंगे ?" इसका उत्तर यह है कि यदि घटना एक है, तो उसके विषय में दिन-भर क्या, दो-चार वर्ष भी जब कभी आपसे प्रश्न किया जायगा, आपको एक ही बात कहनी पड़ेगी। भिन्न-भिन्न घटनाओं के विषय में प्रश्न होने पर यदि आप भिन्न-भिन्न बातें न कहेंगे और एक ही जवाब देंगे, तो लोग कहेंगे कि इन्हें ताज का नगर दिखाना चाहिए। उपाध्यायजी विद्यासंपन्न हैं, इस प्रकार के मिश्रित दृष्टांत देते समय थोड़ा भी विचार करने से उन्हें स्वयं सब स्पष्ट हो जाता।

शंकराचार्य का पक्ष ब्रह्मकारणवाद है। वह बार-बार सर्वात्मभाव की ओर ले जाते हैं। नामरूप में अनंत भेदों की ओर जाना है। ये भेद नाम के अतिरिक्त और कुछ हस्ती नहीं रखते। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, मृत्तिकेत्येव सत्यम्। मिथ्या शब्द को लेकर जो कल्पनाएँ की थीं, वे ही दृश्यमान् के लिये भी हैं। "हम कब कहते हैं कि दृश्यमान् जगत् अविनाशी है ?" विज्ञवर, आप जगत् की मेज़-कुर्सी को चाहे पृथक्-पृथक् अविनाशी न कहें, परंतु उनके एक मूल कारण प्रधान को तो अविनाशी कहते हैं, उसका लय आप नहीं मानते, उसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हैं। यही आपके और वेदांत के अविनाशी के अर्थ में भेद है। वेदांत उस प्रकृति को भी ब्रह्म की विकृति मानता है। आप दृश्यमान् का दिखाई पड़नेवाला अर्थ लेकर केवल मिट्टी, बर्तन आदि स्थूल पदार्थों की ओर ही लक्ष्य रखते हैं। वेदांत नामरूपात्मक कहकर स्थावर से आकाश और प्राणबोजपर्यंत मूर्त-अमूर्त सब पदार्थों को ले लेता है। आपने कहा—"जो दिखाई पड़ता है, वही तो रूपात्मक है।" यह तो ठीक है। परंतु केवल इतना ही अर्थ लेने से वायु और आकाश का सन्निवेश नामरूपात्मक में आप कैसे कर लेंगे ? इसीलिये हमने नामरूपात्मक में सब पदार्थों का सन्निवेश करने की दृष्टि से उस पारिभाषिक शब्द का बोलचाल के दिखाई पड़नेवाले शब्द की अपेक्षा से समर्थन किया था। शब्दों के लिये विवाद करने से सिद्धांत हानि निर्बाध बनी रहती है। दिखाई पड़नेवाले में नामरूपात्मक सब पदार्थ आ जायँ, तो दृश्यमान् के लिये उसे ही रखिए, हम सहमत हैं। दृश्यमान् से केवल स्थूल पदार्थों का ग्रहण बालबुद्धि है, नामरूपवाले सब पदार्थों (All objects having for theirself name and form) का ग्रहण दर्शन सम्मत है। प्रसंगानुकूल वेदांत में स्थूल पदार्थों के लिये भी दृश् धातु आई होगी, इसमें क्या हानि है।

हमने अपने पूर्व लेख में वर्तमान विज्ञान की गति का उल्लेख किया था। वह अद्वैत की ओर गति-शील है। सौ से अधिक मूल-तत्त्व (Elements) मानने के दिन गए। अर्थात् इनके नानात्व की परेशानी मिट गई और मूल द्रव्य एक ही है, यह इलेक्ट्रन के ज्ञान से सिद्ध हो गया है। इतना एकत्व मालूम हुआ कि सब पदार्थों का कारण ईथर है, जो प्रचंड शक्तिमय है। अब दूसरी गति एकत्व से अद्वैत की ओर ही हो सकती है। विज्ञान का अगला क़दम उन्नति के मार्ग में और कुछ

हो ही नहीं सकता। मैटर एक है, शक्ति दूसरी है, अभी तक विज्ञान इनके अभेद को प्रयोगगम्य नहीं बना सका। पर खोज का विषय यही है कि क्या अंत में ये दोनों एक ही हैं। यदि एक सिद्ध हो सके, तो अद्वैत तो मिल जायगा, पर वह अद्वैत जड़ाद्वैत होगा; क्योंकि ब्रह्म या चेतन का अद्वैत विज्ञान की प्रयोगशाला का विषय नहीं। दार्शनिक उस अद्वैत में सृष्टिकामना आदि प्रक्रियाएँ होने के कारण उसे कामना-समर्थ इसलिये चेतन कहता है, अनुभव उसके आनंदमय स्वरूप को भी पहचान लेता है। रही प्रयोगशाला टूटने की बात—वेदांत से यदि शंकर ऐसा परिणाम निकालते, तो उनकी लेखनी भी टूट जाती; व्यवहार में सबको सत्य और नाना मानकर वह काम न करते, तो भाष्य-लेखन और पर-पक्ष-निराकरण की क्रियाओं का जन्म ही कहाँ होता। जिसने जन्म लिया है, वह इन अध्यासों से एक क्षण-भर के लिये भी नहीं बच सकता।

कारण से जो हमारा तात्पर्य है, उसे हम कई बार ऊपर लिख चुके हैं—निमित्त और उपादान की अभिन्नता (Non-separateness of Efficient and Material causes) वेदांत को इष्ट है। रस्सी के साँप दिखने का कारण, जैसा आप लिखते हैं, देखनेवाले का भ्रम नहीं है। कहना यों चाहिए कि रस्सी में साँप दिखना ही भ्रम है। उस भ्रम का कारण कुछ और है। वह प्रमाता प्रमाण प्रमेय दोष से इतर मन्द प्रकाश है। इसी प्रकार ब्रह्म पक्ष में वह अविद्या-नामक अध्यास है। यह एक देश में होता है या सर्वदेश में, ब्रह्म सावयव है या निरवयव, अध्यास के अणुमात्र भी दोष ब्रह्म में लिप्त होते हैं या नहीं, ब्रह्म में विषमता और निष्ठुरता है या नहीं—आदि जिन आक्षेपों के पुलिंदे को खोलने की धमकी-मात्र उपाध्यायजी ने दी है, उसी को शारीरक मीमांसा में शंकराचार्य ने स्वयं खोलकर उसका निराकरण भी कर दिया है। पाठक उस पुलिंदे को खुला हुआ देखना चाहें, तो शांकर-भाष्य में देख लें। पर जो सिद्धांत त्रिकाल में भी अपोद्य नहीं है, वह यह है—चेतनमेकमद्वितीयं ब्रह्म क्षीरादिवद्देवादिवचानपेक्ष्य बाह्यसाधनं स्वयं परिणममानं जगतः कारणमिति स्थितम् ।२।१।२६।

उपाध्यायजी ने हमारे लेख का उद्धरण देते हुए लिखा है कि हमने शब्दों की भूलभुलैया उत्पन्न कर दी है। बार-बार पढ़कर देखने से भी उसका अर्थ हमें अस्पष्ट नहीं मालूम होता, विशेषतः उसके लिये जिसने पूर्व प्रसंग में आई हुई स्वप्न और जाग्रत् की मीमांसा को पढ़ लिया है। उपाध्यायजी लिखते हैं—"शंकर को कितना दृष्टान्त अभीष्ट था, यह तो उनके सिद्धांतों तथा ग्रंथों से स्पष्ट ही है।" पर पाठक इसे शंकर के शब्दों में ही सुन लें, तो अच्छा हो—

यदुक्तं बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तंभादिप्रत्यया विनैव बाह्यार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषादिति। तत्प्रतिवक्तव्यम्। अत्रोच्यते—न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति। कस्मात् वैधर्म्यात्। वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः।

अर्थात् बाह्य अर्थों को असत् कहनेवालों की यह दलील है कि स्वप्न में जिन पदार्थों की प्रतीति होती है, वे पदार्थ मिथ्या हैं। जागरित में भी पदार्थों की प्रतीति होती है। प्रतीति दोनों में समान धर्म हुआ, इसलिये जाग्रत् के स्तंभादिक भी स्वप्न के स्तंभ की तरह पदार्थों की बाह्य स्थिति के बिना ही हैं। इस पर शंकर कहते हैं कि बात ऐसी नहीं है—स्वप्न और जाग्रत् में भेद है। भेद क्या है, यह उन्होंने आगे बताया है—(१) बाधाबाध और (२) स्मृति-उपलब्धि। जब आदमी स्वप्न से जागता है, तब उसके स्वप्न के अनुभव बाधित हो जाते हैं। लेकिन जागरित दशा के स्तंभादि किसी अवस्था में भी बाधित नहीं होते और फिर स्वप्न में पदार्थों की स्मृतिमात्र (Mental states) होती है। जाग्रत् में उपलब्धि होती है। स्मृति और उपलब्धि का अंतर प्रत्यक्ष ही है, अर्थात् पदार्थ का एक में विप्रयोग और दूसरे में संप्रयोग है। शंकर का अभीष्ट ज्ञात हो गया। वह स्वप्न की तरह जाग्रत् के पदार्थों को मिथ्या नहीं कहते। पदार्थों की बाह्य स्थिति उन्हें स्वीकृत है। पर परमार्थ दृष्टि से वह उनके मूल में एक अमृत-तत्त्व को मान रहे हैं; क्योंकि बिना कारण के कार्यों की पृथक् स्थिति क्षण-भर भी नहीं रह सकती। इस प्रकार अनन्यत्व की ओर शंकर का लक्ष्य है। नाशवान्, अस्तित्वविहीन विवर्त और परिणाम इन सब शब्दों के समन्वय का विवरण हम ऊपर कर चुके हैं। उपाध्यायजी लिखते हैं—"हमारा प्रश्न तो यह है कि जो चीज़ दिखाई पड़े अर्थात् जो नाम-रूपात्मक हो, उसको हम विवर्त कैसे कहें?" हमने दृश्यमानत्व को विवर्त का हेतु अनेक स्थानों पर सिद्ध किया है। सृष्टि को चेतन ब्रह्म की दृष्टि ही से बार-बार विवर्त कहा गया है।

आप तरंग को विवर्त कहते हैं। जल की एक आकृति विशेष तरंग रूप में दिखाई पड़ती है, जिसका बाह्य रूप है। परंतु समुद्र से अलग क्षण-भर के लिये भी तरंग नहीं। पर तरंग अपने पक्ष में सत्य है। विवर्त के ऐसे ही अर्थ को ब्रह्म और जगत् पक्ष में भी घटाते हैं। नामरूपात्मक को एक मूल-प्रकृति की अपेक्षा से आप भी विकृति मानते हैं। नामरूप को परिणाम कहने में तो आपको भी बाधा नहीं है। अब यदि उपादान और निमित्त कारणों को अभिन्न सिद्ध कर दिया जाय, तो जिस नाम-रूप को केवल उपादान की दृष्टि से आप परिणाम मान चुके हैं, उसे ही अभिन्न निमित्तोपादान (या उपहित चेतन) की दृष्टि से विवर्त कहने में कुछ विरोध नहीं पड़ता। यही मूल-प्रश्न है। स्वाश्रयत्व विषय पक्ष को स्वीकार करते हुए शंकराचार्य ने इस अभिन्नता और अन-न्यत्व को भली भाँति दिखाया है।

उपाध्यायजी ने ९९ और एक फ़ी सदी का विभाग करके विचित्र तर्क की प्रतिष्ठा की है। '९९ मनुष्यों को रस्सी, रस्सी दिखती है, एक को साँप; अब किसकी बात मानें ?' प्रथम तो ९९ की ओर जाना ही नियम नहीं है। एक मनुष्य अभय है, ९९ कायर, हम किसका पक्ष लें। उपनिषद् कहता है—अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि। स्वानुभव की अवस्था अभय की अवस्था है, उसमें ब्रह्म निष्पन्न स्वयंसिद्ध ज्ञात हो जाता है। तदितर जन ब्रह्म-ज्ञान से शून्य हैं, अतएव परमार्थ विषय में उनकी बात का प्रमाण नहीं। पर रस्सी में साँप का भ्रम तो सौ में सौ मनुष्यों को अपने जन्म में भी कभी न कभी हुआ ही है। ज्ञानी को ज्ञान हो जाने के बाद भी रस्सी में साँप का भ्रम क्या नहीं होता ? किन्हीं-किन्हीं को यह भ्रम कई बार हो चुका है और होता रहेगा। रस्सी में जो आवरण है, उसका भंग तब होता है, जब हमारे अंतःकरण की वृत्ति रज्जु-आकार से उसकी प्रतीति कर लेती है। एक बार ऐसा कर चुकने के बाद भी मंद प्रकाश तिमिरादि से पुनः भ्रम हो जाता है। व्यवहार-प्रतीति ज्ञानी-अज्ञानी सभी को हो रही है, पर दोनों के व्यवहार-जन्य कर्मों के फल में बड़ा अंतर है। एक नानात्व जड़ वस्तुओं में समूढ़ है, दूसरा नानात्व मोह से मुक्त होकर अद्वैत अमृत में रम रहा है। उपाध्यायजी ने ९९ और एक को अलग-अलग बाँटते हुए प्रथम ही भूल की है। ९९ पुरुष उस समय के लिए जब उन्हें सर्प का भ्रम नहीं है और १ पुरुष उस अवस्था का लिया जब उसे भ्रम है। असल बात तो यह है कि भ्रम का समय भी उन सौ मनुष्यों के जीवन में है, और भ्रम से मुक्ति का समय भी सबके लिये है। आपको जो नियम बनाना हो, पूरे शतसंख्यक के अनुभव से ही बनाइए। व्यवहार में सौ फ़ी सदी ज्ञानी-अज्ञानी सभी बाह्य अर्थों की सत्ता की प्रत्यक्ष उपलब्धि कर रहे हैं। परमार्थ में सौ फ़ी सदी का अनुभव (यदि उसे प्राप्त करने की सभी कोशिश कर लें) चेतन ब्रह्म के ही आनंद को सत्य अमृत वस्तु देखेगा। ध्यान रहे कि अनु-भव शब्द से उठते-बैठते सोते-जागते हर वक्त का सब तरह का 'तजुर्बा' नहीं ले लेना है, अनुभव का वेदांत-गत अर्थ स्वानुभूति या आत्मज्ञान है। केवल पुस्तक पढ़-कर जो ब्रह्मैकत्व या सर्वात्मभाव की बात कहते हैं, उनका अनुभव भी यहाँ अभिप्रेत नहीं है; क्योंकि चित्र-लिखित गौ को जिसने देखा है, उसका गौ-विषयक अनुभव प्रमाण नहीं है। इसलिये जो वस्तुतः ज्ञानी है—और आत्मानुभव जगत् में सबको प्राप्त हो सकता है—उन्हीं का अनुभव मानने योग्य है।

उपाध्यायजी कहते हैं—"जगत् विनाशशील है; क्योंकि इसका आदि और अंत है। परंतु विवर्त वह है, जिसका न आदि हो, न अंत।" यदि इतने विरोध में आपका विवाद है, तो ज्ञात होना चाहिए कि शंकर ने जगत् को भी अनादि-अनंत कहा है। प्रलय और सृष्टि एक ही सिक्के के दो रूप हैं। वह भी प्रवाह है। प्रलय में यह कौन कह सकता है कि जगत् का अंत हो गया ? अध्यास अनादि-अनंत है, इसके लिये किसी सूत्र का भाष्य उठाने से पहले ही शंकर ने भूमिकारूप में लिखा है—

एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्या प्रत्ययरूपः सर्वलोकप्रत्यक्षः।

अर्थात् अध्यास का सभी लोगों को प्रत्यक्ष है, वह अनादि और अनंत है। यह आद्य अध्यास नैसर्गिक है, ब्रह्म के स्व-भाव से ही प्रवृत्त हो रहा है। श्वेताश्वर उप-निषद् में इसे ही 'स्वभाविकी ज्ञानबलक्रिया' कहा गया है। यह देवादिदेव की आत्म-शक्ति स्वगुणों से ही निगूढ़ है। परिपूर्णशक्तिकं ब्रह्म, न तस्यान्येन केनचित्पू-र्णता संपादयितव्या ।२।१।२४।—अर्थात् ब्रह्म स्वयं परिपूर्ण शक्ति है, कुम्हारादिक की तरह डचक्र आदि

अन्य साधनों से उसकी परिपूर्णता करने की आवश्यकता नहीं।

अब जगत् का अनादित्व सुनिए—

यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्वं न व्यभिचरत्येवं **कार्यमपि जगत्** त्रिषु कालेषु सत्वं न व्यभिचरति।२।१।१६।

अर्थात् कारणं ब्रह्म तीनों कालों में सत्तायुक्त रहता ही है, वह कारण है। कारणात्मक जो कार्य है, वह भी तीनों कालों में रहता है, चाहे सृष्टि में हो चाहे प्रलय में। शंकर ने गीता-भाष्य(१३।१६)में यहाँ तक कहा है कि यदि जीव और जगत् ये दो ईश्वर को प्रकृति नित्य न हों, तो ईश्वर का नित्य-ईश्वरत्व ही खंडित हो जाय। तस्य नित्यसिद्धस्य ईश्वरस्य सृष्टि-स्थिति-संहृति-विषयं नित्यज्ञानं भवतीति १।१।५। अर्थात्—नित्यसिद्ध ईश्वर का सृष्टि-स्थिति और संहार-विषयक ज्ञान भी नित्य ही रहता है। संसार अनादि है (अनादित्वात् संसारस्य २।१।३५—The creation is described in the Vedanta as not an event in time done once for all—कोकिलेश्वर शास्त्रीकृत अद्वैतफिलासफी,पृ०४)। उत्पत्ति से पूर्व वह कौन-सा विषय है, जो विषयी के ज्ञान में रहता है ? इसका उत्तर है—व्याचिकीर्षिते नामरूपे—अर्थात् वे नाम-रूप जिनको उत्पत्ति के समय व्याकृत होना है। पहले और पोछे का प्रश्न केवल दार्शनिक (Logical) है, यह हम पूर्व में बता चुके हैं। अतात्त्विक और नाशवान् का जो समन्वय ऊपर बताया गया है, वही नाशवान् और कल्पित का है। स्थूल पदार्थों की दृष्टि से व्यवहार में इन दोनों के अर्थों में भेद भी हो सकता है। कपास को दही समझना मृगजल की कोटि का ही भ्रम है। इस प्रकार के भ्रम में शशविषाण या आकाश-कुसुम के भ्रम से विलक्षण प्रतीयमान वस्तु नितान्त असत् नहीं है, क्योंकि आलंबन-सहित है। न नितांत सत है; क्योंकि सत्य ज्ञान से मिथ्या हो जाती है। इसलिये मिथ्या या अनिवर्चनीय प्रतीतिवाली है। आप जिसको कल्पना कहते हैं, वह अभाव से भाव की उत्पत्ति की ओर लक्ष्य करती है, जो शून्यवाद का रूपांतर है। हम भी इसे स्वीकार करते हैं कि वेदांत में कल्पित का यह अर्थ नहीं है। जगत् को अतात्त्विक कहकर हम आपको शून्य (Void) में नहीं छोड़ते, बल्कि उसके मूल में एक चेतन पदार्थ को भरा हुआ देखते हैं, इसलिये चेतन को कारण मानना 'बच्चोंवाली बात' कैसे हो गई ? अविद्या के विषय को हमने पूर्व-लेख में पृ० ४८५ से ४८६ तक स्पष्टता के लिये विस्तार से समझाया था। उपाध्यायजी की अपील पाठकों से है और हमारी भी कि आप हमारे इस प्रकरण को कृपया फिर पढ़ लें, तो प्रसंग का पता चल ही जायगा। उपाध्यायजी लिखते हैं—"विषय का अर्थ यहाँ विस्तार (स्कोप) नहीं है।" शंकर ने इसी प्रकरण में कई बार विषय और विषयी इन शब्दों को प्रयुक्त किया है। विषयी को अँगरेज़ी में Subject और विषय को Object कहते हैं। पर ये सब्जेक्ट आब्जेक्ट हैं कौन ? विषयी को शंकर ने अस्मत् प्रत्यय गोचर चिदात्मा अर्थात् चैतन्य कहा है। विषय को युष्मत् प्रत्यय गोचर कहा है। ब्रह्म से लेकर ब्रह्मांड तक के दो भेद हैं—मैं और तू। यही मैं-तू का भेद द्वैत है, अकेला 'मैं' अभेद है। इसलिये 'तू' में सारे जगत् का सन्निवेश है। यह अनंत-विस्तार-मय 'तू' अविद्या के कारण होता है, इसी को शंकर ने अविद्यावत् (Dependent on Avidya) कहा है। इस अविद्यावत् का विस्तार क्या है, तू से वाच्य जो कुछ है वह सभी इसके अंदर आ जाता है। इसलिये वेदशास्त्र और पुराण, प्रत्यक्ष अनुमान और उपमान, व्यासजी, शंकर और उपाध्यायजी ये सब अविद्यावत् हुए। इसी अर्थ को विवृत करने के लिये हमने विषय का अर्थ स्कोप किया था। इस अर्थ में उपाध्यायजी रत्ती-भर भी सिद्धांत की हानि नहीं दिखा सकते। अपनी इस प्रत्यालोचना में उपाध्यायजी ने अविद्या शब्द के 'बाज़ारू अर्थ' और 'शांकरी अर्थ' दोनों ही दिए हैं। हम पूछते हैं कि यदि आप इन दोनों में कुछ भेद समझते हैं, तो पहला अर्थ देने की आवश्यकता हो क्या थी ? शंकराचार्य ने उपोद्घात में स्पष्ट लिखा है—एवं लक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते—अर्थात् पूर्व लक्षणवाले अध्यास को पंडित अविद्या मानते हैं। अज्ञान, अविद्या, माया, प्रकृति, शक्ति, ये सब एक वस्तु के नाम हैं—स्वरूप का आच्छेदन करनेवाले को अज्ञान कहते हैं। ब्रह्मविद्या से जिसका बाध हो, वह अविद्या है। देशकालादिक सामग्री विना दुर्घट पदार्थ की अपनी इच्छा से उत्पत्ति करना माया है। सृष्टि के उपादान-योग्य तमोगुण-प्रधान स्वरूप को प्रकृति कहते हैं। वह कदापि स्वतंत्र नहीं है, चेतन के आश्रित ही है। इससे शक्ति

भी कही जाती है (साधु निश्चलदासकृत विचार-सागर, पृ० १६७)। उपाध्यायजी से हमारा निवेदन है कि कृष्णपक्ष और अँधेरे पाख में वस्तुस्थिति की दृष्टि से हम भी कोई भेद नहीं मानते। अध्यास या अविद्या एक ही है। हमको मतलब तो अध्यास के लक्षण से है। उसको शंकर ने विस्तार-सहित दे ही दिया है। शंकर के 'अतस्मिन् तद्बुद्धि' को उपाध्यायजी भी मानते हैं, और हम भी। पर इसको मानते हुए भी (शंकर के युक्ति-प्राबल्य की प्रशंसा करते हुए भी) आपने शंकर के ही— कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति—वाक्य और उसके भाष्य को अपने शब्दों में घसीटकर उलट-पुलट डाला है, यह दुर्भाग्य है। उसको आपने शंकर की ही रीति से समझने का बिलकुल प्रयत्न नहीं किया। आपके आक्षेप का निचोड़ यह है—शंकर कहते हैं, वेदशास्त्र तथा प्रत्यक्षादि प्रमाण अविद्या के आश्रित हैं, भला यह कैसी बात। वेद भी अविद्यावद् और प्रमाण भी अविद्यावद् ? इसका विस्तृत विवेचन पहले लेख में है, संक्षेप में फिर सुनिए—मनुष्य में आत्मा और देह है। आत्मा जब देह में बसने आई, उसी क्षण उसने देह के धर्मों का अध्यास किया। उसमें मैं और मेरा, यह प्रतीति हुई। चेतन आत्मा को भोजनादि कार्यों की अनध्यस्त अवस्था में कुछ आवश्यकता नहीं। क्षुधा पिपासा प्राण के धर्म है, आत्मा प्राण नहीं, इसलिये भोजन का करना न करना आत्मा के लिये एक-सी बात है। पर जब देह का आवरण हुआ, तब आहार से लोग आत्म-प्रीणन समझते ही हैं। दूसरा उदाहरण शंकर ने ही दिया है—मान लीजिए मेरे सामने वेद-पाठ हुआ, मैं उसका प्रमाता साक्षी हूँ। विना कर्णइंद्रिय का अपने में अध्यास किए प्रमाता होना असंभव है। इसलिये असंग आत्मा प्रमाता हो ही नहीं सकती। इंद्रियों के और देह के धर्मों का आत्मा द्वारा धारण करना अध्यास ही है; क्योंकि ये धर्म उसमें त्रिकाल में भी नहीं हैं और आत्मा के देह छोड़ देने पर अकेले देह में भी ये नहीं रहते, इसलिये प्रमातृत्वादि बुद्धि अतस्मिन् तद्बुद्धि अथवा आत्मा में अविद्याकृत अध्यास ही हुई। जब आत्मा परमार्थ पक्ष में प्रमाता नहीं हो सकती, तब प्रमाण भी कहाँ रहे। व्यवहार-पक्ष में जब शरीर धारण किया है, तब इंद्रियों से तदनुरूप कार्य करना तो ज्ञान के लिये भी इष्ट ही है। शंकर ने यह कब कहा है कि आँखों से हम देखना बंद कर दें, पर वह चाहते हैं कि नानात्व का त्याग कर सर्वभूतेषु आत्मानं, आत्मनि सर्वभूतानि की दृष्टि से देखें। उन्होंने सैकड़ों बार यह कहा है कि लोक के अनुभव में प्रमाण सोलह आने ठीक हैं, शरीर धरना भी लोक-स्थिति का ही एक रूप है, उसमें रहकर सुवर्ण की खोज में लोग सोने की खान में जाते हैं, मिट्टी से कुंडल कोई नहीं बनाने बैठता। ऐसा इसलिये कि करनेवाले और सामग्री दोनों ही एक अवस्था का वस्तुएँ हैं। अपने तर्क में स्वप्न और जाग्रत् की तरह यहाँ भी दो दशाओं को मिलावट आप नहीं कर सकते। वेद क्यों अविद्यावद् है ? वेद की आज्ञा है—ब्राह्मण यज्ञ करे। आत्मा में ब्राह्मणत्व और शूद्रत्व कहाँ रक्खा है, इसलिये जब तक किसी में ब्राह्मणत्व का अभिमान न मान लिया जाय, वेद की आज्ञा व्यर्थ हो जाती है। वेद आदि शास्त्रों का ज्ञान देहत्व, ब्राह्मणत्व, स्वर्गाभिलाषत्व आदि अनेक धर्मों की आत्मा में कल्पना करने के बाद ही चरितार्थ हो सकता है, यही कल्पना अध्यास या अविद्या है। उसको पुरस्कृत करके ही वेद की सार्थकता है। उपाध्यायजी कहते हैं कि अथातो ब्रह्म जिज्ञासा वाले वेदांतशास्त्र को या वेद को, जिसमें ब्रह्म का निरूपण है, आप अविद्यावद् मानिए, तो उससे आपका ब्रह्मज्ञान सत्य कैसे हो जायगा। शंकर ने भी इस प्रश्न को उठाया है—विपक्षी कहता है—

ननु एकत्वैकान्ताभ्युपगमे नानात्वाभावात्प्रत्यक्षादीनि लौकिकानि प्रमाणानि व्याहन्येरन्निर्विषयत्वात्, स्थाण्वादिष्विव पुरुषादिज्ञानानि । तथा विधिप्रतिषेधशास्त्रमपि,...मोक्षशास्त्रस्यापि शिष्यशासित्रादिभेदापेक्षत्वात्तदभावे व्याघातः स्यात् । कथं चानृतेन मोक्षशास्त्रेण प्रतिपादितस्यात्मैकत्वस्य सत्यत्वमुपपद्येतेति ।...कथं तु असत्येन वेदान्तवाक्येन सत्यस्य ब्रह्मात्वस्य प्रतिपत्तिरुपपद्येत ?

अर्थात् यदि आपके हिसाब से बिलकुल एकत्व मान लें, तो नानात्व के अभाव से प्रमाणों का नाश हो जाय; क्योंकि प्रमाणों के लगने के लिये विषय तो रह ही नहीं गया। इसी तरह कर्मकांड भी निर्विषय हो जायगा। शिष्य और गुरु के भेद के विना कौन किसको मोक्षशास्त्र पढ़ाएगा, उसकी ज़रूरत ही न रहेगी। फिर

मोक्षशास्त्र और वेदांत-वाक्य तो अनृत हो गए, उनसे सत्य ब्रह्म की प्राप्ति कैसे होगी ? इसका थोड़े में उत्तर यह है कि एकांत एकत्व (Absolute unity) जब तक शरीर का अध्यास है, तब तक संभव ही नहीं, फिर ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान के होने से पहले तक भेदभाव है, उसके बाद शिष्यादि का भाव बचता ही नहीं। दो ज्ञानियों का परस्पर अविद्याकृत भेद मिट ही जाता है। वेदांत-वाक्य असत्य इस दृष्टि से हैं कि वे शब्दमय हैं और अस्ति भाति प्रिय अर्थात् सच्चिदानंद ब्रह्म की दृष्टि से शब्द अर्थात् नाम अतात्विक है, क्योंकि अनिर्वचनीय को, जिसे श्रुति नेति-नेति ही कहकर चुप हो रहती है 'ऐसा है, ऐसा है' यह कहना एक प्रकार से अनृत ही है। सत्य जो ब्रह्म, अनृत जो तदितर सब कुछ, इन दोनों को मिथुनीकृत्य अर्थात् मिलाकर लोकव्यवहार चल ही रहा है। दार्शनिक दृष्टि से उपाध्यायजी का खंडन आत्मा के लिये अतात्विक है, इसलिये उसका यह समाधान भी अनर्घ्य है। दूसरी बात यह है कि वेदांत, शास्त्र, उपनिषद् और संतवाणी ही एक ऐसा साधन है, जिससे आत्मा के स्वरूप की शिक्षा मिलती है, उसी से अविद्या-निवृत्ति का फल संभव है, और कोई विद्या तो जगत् में ऐसी है नहीं, जिससे इस विषय के बोध की लेश भी उपलब्धि हो सके।

उपाध्यायजी पुनः पूछते हैं—"एक वस्तु में दूसरी वस्तु का धर्म मानना ही अविद्या हुई। जैसे रस्सी को साँप मानना या चींटी को घोड़ा मानना, या बर्फ़ को आग मानना। और शांकर मत में प्रत्यक्षादि प्रमाण अविद्या-जन्य हैं, अतः यह कैसे विश्वास के योग्य हो सकते हैं ? क्या बर्फ़ को आग मानकर या सीपी को चाँदी मानकर जो व्यापार करेगा, उससे कुछ लाभ हो सकेगा ?" यहाँ उपाध्यायजी अंतिम या मूल सत्य को भुला देते हैं और समझ लेते हैं कि केवल सीप की चाँदी मिथ्या है, खान की चाँदी सत्य है। खान की चाँदी भी परमार्थपक्ष में मूल सत्य नहीं है, यही तो वेदांत का कथन है। सीप की चाँदी का व्यवहार भी तब सत्य होता, जब हमें ख़रीदने और बेचनेवाले दोनों ही उस काल्पनिक जगत् में विश्वास रखनेवाले मिल सकते। हमें तो खान की चाँदीवाला संसार मिला है, उसी के प्राणी हम भी हैं, जहाँ वस्तुओं की प्रतीति का साधन स्मृति नहीं उपलब्धि है। इसलिये उस व्यावहारिक जगत् में खान की चाँदी काम की है। पर जैसे सीप की चाँदी का असली चाँदी के सामने मूल्य नहीं, वैसे ही ब्रह्मपक्ष में जहाँ चेतन ही एक सत्य है, चाँदी आदि सर्व विकृति का भी कुछ मूल्य नहीं। जब आप कहते हैं कि "जो हमको सूर्य प्रतीत होता है, वह सूर्य नहीं है, कुछ और है, फिर इस ज्ञान की उपयोगिता ही क्या ?" तब कृपया यह मत भूलिए कि 'कुछ और का मतलब यह है कि ब्रह्म ही का विवर्त है। जिस दृष्टिविंदु को लेकर हम नेह नानास्ति किंचन देखने लगें, उसके मूल्य की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। वही तो एक तत्व है, जिसके ज्ञात होने पर और कुछ जानना शेष नहीं रहता, तथा जिसका ज्ञान महती संप्राप्ति और अज्ञान महती विनष्टि है। 'रेत के जल से बर्फ़ जमाने, जुगनू की आग से फूस जलाने और दही की फुटक से चर्खा कातने' की अनर्गल बातें तो वेदांत के विरुद्ध तब कही जा सकती थीं, जब वह बाह्य जगत् की उपलब्धि का अपलाप करके किसी भ्रम के जगत् को सत्य कहता होता। पर उस आचार्य को प्रणाम है, जो स्पष्ट-से-स्पष्ट शब्दों में यह लिख रहा है—

सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह । व्यवहाराभिप्रायेण तु स्याल्लोकवदिति महासमुद्रस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति । अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियां चाश्रयति सगुणेषूपायेषू पयोक्ष्यते इति ।२।१।१४

अर्थात् सूत्रकार ने भी केवल परम अर्थ के विचार को लक्ष्य में रखकर जगत् का उससे अनन्यत्व कहा है। व्यवहार में तो स्वयं व्यासजी ने ही 'स्याल्लोकवत्' सूत्र में महासमुद्र से ब्रह्म की तुलना की है और कार्यप्रपंच का प्रत्याख्यान न करके परिणाम-प्रक्रिया को स्वीकार किया है। उपाध्यायजी वेदांत में सब अतात्विक (Unreal) देखते हैं, उसके तत्त्व (Realistic element) को नहीं देखते। अध्यास के फलरूप प्रत्यक्ष आदि निरुपयोगी हैं या नहीं—इसका उत्तर यह है कि उपादान का परिणामी कार्य कारण से कुछ विशेष धर्म अपने में उत्पन्न करता है, अन्यथा कारण और कार्य यह भेद ही न हो सके। उन्हीं विशेष धर्मों से जो कार्य का स्व-भाव हैं कार्य की प्रतीति होती है। यदि ऐसा न हो, तो एक मिट्टी से बने विविध भांडों में कुछ मूल्यभेद न रहे। पर भेद है ही, अर्थात् प्रत्येक का विशेष धर्म उसके साथ है। इसी तरह

मृगजल का भी विशेष धर्म है। उसका भी उपयोग, अच्छा या बुरा, थोड़ा या बहुत, निकल ही आवेगा, विशेष धर्म को सार्थकता तभी होगी। जिसने मृगजल देखा नहीं, उसको उसका ज्ञान कराने में कुछ उपयोग है। यदि कोई व्यक्ति ऐसा हो जाय कि वह मृगजल के सौंदर्य को देखकर प्रसन्न होता रहे, तो उसका उपयोग हो ही गया। सोने के गहने की भी जो एक आकृति एक मनुष्य को पसंद हो, वह दूसरे को व्यर्थ हो सकती है, यद्यपि मूल सोना दोनों के लिये समान स्पृहणीय है। ब्रह्म से सोने का विवर्त कहनेवाला मनुष्य अभाव से भाव नहीं कहता; क्योंकि ब्रह्म अभाव नहीं, सद्भाव है। अध्यास अख़्तियारी है या ग़ैर-अख़्तियारी—यह प्रश्न सृष्टि-प्रवाह को अनादि मानते हुए उत्पन्न ही नहीं होता। यदि कोई ऐसा समय होता, जब जगत् की असत्ता की कल्पना की जा सकती, तो ज़रूर यह पूछने की बात थी कि ब्रह्म ने अपने को सृष्टि रूप में व्यक्त ही क्यों होने दिया। फिर यदि संसार ब्रह्म की सत्ता से स्वतंत्र सत्तावाला कहा जाय, तभी आप ब्रह्म की परतंत्रता का प्रश्न उठावें अन्यथा नहीं। यहाँ तो चेतन के स्व-भाव में ही यह शामिल है कि अध्यास हो, अर्थात् वह सृष्टि चले, जिस सृष्टि में अनादिगुण के कारण पौर्वापर्य का प्रश्न उठता ही नहीं। परंतु अध्यास-आत्मक सगुण ईश्वर (Immanent) से परिशिष्ट निर्गुण ब्रह्म (Transcendental) भी रहता ही है। एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः। उपाध्यायजी प्रश्न उठाते हैं—"क्या ग़लतियाँ भी क्रमबद्ध हुआ करती हैं ?" एक ग़लती करने के बाद जो उसका संतान या विस्तार है, वह निश्चय ही पहली ग़लती का फल होने से उससे संबद्ध ही चलता रहता है। हाँ, दो जुदा हस्तीवाली ग़लतियों में कोई क्रम या संबंध नहीं देख पड़ेगा। इसका सार यह कि ब्रह्म के जिस अध्यास की हम चर्चा करते हैं, वह नाना नहीं, एक है। उसी एक मूल अध्यास के परिणाम का सब विकास है। आपके दिए हुए उदाहरण में कुर्सी पर बैठने और लिखने में क्रमबद्ध संबंध क्या है ? कुर्सी पर बैठकर लिखना ही अनिवार्य नहीं है, खाना भी खाया जा सकता है। लेख लिखकर समाचार-पत्र में भेजना अनिवार्य नहीं है, वह घर में भी पड़ा रह सकता है। इसलिये आपके जोशीले उदाहरण में सार बात कुछ नहीं है। जगत् में जिस अध्यास की हम चर्चा करते हैं, उसके बाद के सब परिणामों में हमें अनिवार्य कार्यकारण भाव देख पड़ता है।

उपाध्यायजी पूछते हैं—"ज्ञानी कौन है......उसको प्रत्यक्ष आदि न होंगे।" आत्म और अनात्म के विवेक को जाननेवाला ज्ञानी है, नाना रूपों में एक तत्व का दर्शन करनेवाला ज्ञानी है। एकत्व का ज्ञान होते हुए भी ज्ञानी पुरुष को देह रहते प्रत्यक्षादि का ज्ञान अवश्य होता रहेगा; केवल अंत में वह अमृत तत्व में मिल जायगा। (यस्माद्भूयो न जायते)। आत्म-अनात्म के विवेक को जीव जब समझ लेता है, तब उसकी इंद्रियाँ भी तदनुरूप ही आचरण करने लगती हैं। इंद्रियाँ जीव की करण हैं, इससे जीव की वृत्ति का उनके साथ घनिष्ठतम संबंध है। यह हमारे ऊपर व्यर्थ का दोष लगाना है कि हम इंद्रियों के विकास तथा शिक्षण से रुष्ट हैं। हम तो इंद्रियों को उस लक्ष्य की साधना में लगाने के इच्छुक हैं, जहाँ ज्ञान के सूर्य से तिमिर रहता ही नहीं। अपने व्यवहार में ज्ञानी सदा यही कहता है कि मैं आँख से देखता हूँ। देखना-रूप धर्म के लिये तो विवश होकर आत्मा में आँख का अध्यास करना पड़ेगा। किंतु जब दर्शन की रीति से 'मैं देखता हूँ' इस वाक्य की विवेचना कराई जायगी, तब अवश्य ही नेत्र और आत्मा के अन्यत्व की ओर ध्यान दिलाया जायगा।

अब विवेक पद को लीजिए। जो व्यक्ति सहृदयता से एक बार भी समझने की कोशिश न करे, उसे त्रिकाल में भी नहीं समझाया जा सकता। पूज्य उपाध्यायजी अपने प्रसंगवित् होने का दावा करते हैं और इस प्रकार की अप्रामाणिक बात लिखते हैं—"डंडे को अपने शरीर का अहितकर और घास को उस शरीर का हितकर समझना "विवेक" है या "अविवेक।" इसमें वि पूर्वक विचू धातु लगता है या नहीं। आपके मत में विचू धातुवाला विवेकी पुरुष क्या करेगा ? यदि कोई डंडा लेकर आवे, तो वह कहेगा...डंडे से मेरे शरीर को कोई हानि नहीं होने की।" उपाध्यायजी का मतलब यह है कि शंकर भी घास की ओर लपकने को विवेक और डंडे से भागने को अविवेक कहते हैं, पर शंकराचार्य हाथी पर चढ़कर जिस बात की घोषणा करते हैं, उसे उपाध्यायजी नहीं सुनते। यथा—

पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः। तत्सामान्यदर्शनाद् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणाम् प्रत्यक्षादि-व्यवहारस्तत्समान इति निश्चीयते।

अर्थात् पशुओं का प्रत्यक्षादि व्यवहार अविवेककृत है।

अब भी न-जाने उपाध्यायजी इस बात को मानेंगे या नहीं कि शंकर के शब्दों में पशुओं का डंडे से भागना और घास की ओर लपकना, ये दोनों ही अविवेक हैं। ज्ञानी को डंडा दिखाकर यह कहना कि शरीर को अनात्म प्रतिपादित करोगे, तो हम डंडा मारकर दिखाएँगे कि तुम्हारे चोट लगती है, बर्बरता के युगों की बात होगी। जिसके ऊपर सदा नंगी तलवार लटकती हो, ऐसे किसी मस्तिष्क ने आज तक वेदांत की तो बात क्या, सामान्य-से-सामान्य दर्शन का भी उद्घाटन नहीं किया।

उपाध्यायजी ने एक अवतरण देकर कहा है कि हमने उनके शब्दों में परिवर्तन करके उनका खंडन किया है। उपाध्यायजी जिन्हें 'अपने शब्द' कहते हैं, वे यदि उन्हीं के होते तो हम उन्हें विपर्यस्त कामाओं के बीच में क्यों न रखते। असली बात यह है कि हमने उपाध्यायजी के भाव को ही दूसरे शब्दों में अवश्य रख दिया था। उपाध्यायजी ने लिखा है कि "अध्यास के किसी अर्थ में आत्मा, शरीर या इंद्रियों में अपना अध्यास नहीं करता।" हमने भी यही लिखा है—

"उपाध्यायजी कहते हैं कि आत्मा का देह और इंद्रियों को मैं समझना अध्यास के किसी लक्षण के अंतर्गत नहीं है।" पहले हमने दिखाया था कि अध्यासों के चारों लक्षणों के अनुसार देहेंद्रियाध्यास सच्चा उतरता है। साधक-साधन संबंध के विषय में निवेदन है कि अध्यास-अध्यस्त का संबंध सब संबंधों के मूल में है।

मुखमस्तीति वक्तव्यम् वाली बात से एक कालम पहले ही (पृ० ४६६-१) उपाध्यायजी के लेख का उत्तर समाप्त हो गया था। जहाँ यह लिखा था कि हम डायसन की लीला का परिचय पाठकों को बताना चाहते हैं, उससे आगे का सब अंश डायसन के विषय में है। उसे अपने ऊपर घटाकर उपाध्यायजी ने मुझे प्रोक्रस्टीज के पलँग की सी महमाँनिवाज़ी करनेवाला तथा पेट काटनेवाला कहकर अनजान में अपने बहुत सारे अमर्ष का परिचय दे दिया है। ड्यूसन के संबंध में तो उपाध्यायजी का और मेरा एक मत था। वह पहले लेख में बता चुका हूँ। हम दोनों ही बादरायणाचार्य को श्रद्धेय मानते हैं, पर ड्यूसन ने आगम-प्रमाण से घबड़ाकर यह निष्कर्ष निकाला कि वेदांत-सूत्रों से अलग उपनिषद्विद्या का व्याख्यान करना चाहिए; क्योंकि उपनिषदों के सच्चे अर्थ को वेदांतसूत्र विवृत नहीं कर सके। सृष्टि में मितव्ययिता आदि नियमों के जिन परिणामों को लेकर आपने अद्वैत की असंगति दिखाई थी, मैंने उन नियमों का उसी मर्यादा तक उत्तर दिया था। मुझे दुःख है कि उपाध्यायजी की समस्त पुस्तक पढ़े बिना केवल प्रकाशित अंशों के आधार पर वह विवेचन किया था। पंडितजी कहते हैं कि उसमें और भी अनेक अद्वैतों का खंडन है। अच्छा हो यदि उपक्रम रूप में कहीं पंडितजी इसका निर्देश करके ग्रंथ के अनुबंध-चतुष्टय को स्पष्ट कर दें।

इस प्रकार के दार्शनिक विवेचन में मतभेद स्वाभाविक है। बिना अनुभव की कोटि के केवल शुष्क तर्कों की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न आभासमान हो जाता है। जिनकी स्वानुभूति में ब्रह्म ही निष्पन्न वस्तु है, वे कह गए हैं—मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य उ नानेह पश्यति।

वासुदेवशरण अग्रवाल

त्याग

हेनरी चारपाई पर पड़ा था। कुछ क्षण पश्चात् उसने करवट ली और पास ही बैठे हुए अपने बड़े भाई से कहा—"टाम, क्या तुम आज भी घूमने नहीं गए ?"

टाम—हेनरी, मुझे अकेले जाते अच्छा नहीं लगता। तुम भी अच्छे हो जाओ, तब जी भरकर घूम लेंगे।"

हेनरी के नेत्र सजल हो गए। उसने टाम का हाथ अपने हाथ में लेते हुए कहा—"भाई, तुम मेरे पीछे अपना स्वास्थ्य क्यों बिगाड़ रहे हो। छः महीने से न तो तुम सर्कस ही में जाते हो और न कहीं और ही। क्या इस तरह तुम भी एक बीमार के पीछे अपने सुख और शांति के दिन वृथा नष्ट नहीं कर रहे हो ?"

टाम हेनरी के सिर पर हाथ फेरता हुआ बोला—"हेनरी, सर्कस में अब काम करने को जी नहीं चाहता। तुम्हारे बिना मुझसे कुछ किए नहीं होता। भाई, मुझे जब वे दिन याद आते हैं कि जब हम दोनों सर्कस में बड़े-बड़े काम करके दर्शकों का मन मोह लेते थे, तो हृदय फटने लगता है।" इतना कहकर टाम ने अपना मुँह फेर लिया।

हेनरी उस क्षणिक निस्तब्धता को भंग करता हुआ बोला—"टाम, मैं तुम्हारे इस अथाह प्रेम का बदला यदि प्राण देकर भी चुका सकूँ, तो अपने को धन्य समझूँगा।

टाम—"टट-टट—अच्छा आज तुम बाग़ को न चलोगे ?"

हेनरी—"चलो न"

टाम ने हेनरी को गोद में उठा लिया और बड़े आराम से ले जाकर घास पर पड़ी हुई एक बेंच पर लिटा दिया। वायु के मंद-मंद झोंके से हेनरी के मुर्झाए हुए मुख पर प्रसन्नता की झलक आ गई। टाम का सहारा लेकर वह उठ बैठा और फिर टाम से कहने लगा—"भाई, इस हरी-हरी घास पर ख़ूब लोटने को जी चाहता है, मगर......" इतना कहते-कहते उसका गला भर आया और उसने टाम के वक्षःस्थल में अपना मुँह छिपा लिया।

टाम ने उसको धैर्य देते हुए कहा—"हेनरी, अधीर न हो, डाक्टर ने कहा है कि अब तुम कुछ ही दिन में अच्छे हो जाओगे।"

हेनरी—"देखो"

हेनरी के इस एक शब्द में इतना दुःख और इतनी निराशा भरी हुई थी कि टाम के नेत्र सजल हो गए। उसने अपने भाई को हृदय से लगाकर कहा—"हेनरी, परमात्मा दयालु है, वही तुम्हारे कष्ट को दूर करेगा।"

इसी समय किसी ने सुरीले स्वर में कहा—"आमीन"

दोनों ने घूमकर देखा, सामने लैली खड़ी थी। दोनों के मुख खिल उठे। लैली उनकी बाल्य-अवस्था की साथिन थी।

लैली हेनरी के पास बैठ गई। उसने बैठते ही पूछा—"हेनरी, आज तबीयत कैसी है ?"

हेनरी (कुछ दुखित स्वर में)—"कोई विशेष फ़ायदा नहीं।"

टाम—" लैली, डाक्टर ने कहा है कि यह महीने-भर में ही अच्छे हो जायँगे, परंतु फिर भी यह निराश ही होते जाते हैं।"

हेनरी —"लैली, छः महीने बीमार हुए हो गए, और डाक्टर हमेशा ऐसा ही कहते आए, फिर कैसे विश्वास करूँ। मैं तो समझता हूँ कि मैं अच्छा होने को बीमार नहीं पड़ा हूँ।"

लैली—"तुम पागल हो। अच्छे न होगे, तो मेरे संग विवाह कौन करेगा !"

हेनरी का मुख लाल हो गया और टाम उद्विग्न हो उठा। फिर वह बनावटी हँसी हँसकर बोला—"लैली, तू बड़ी बदमाश है।"

तीनों हँस पड़े। कुछ देर बाद टाम ने कहा—"लैली, यदि तुम हेनरी के पास बैठी रहो, तो मैं डाक्टर के यहाँ हो आऊँ।"

लैली—"जाओ।"

टाम चला गया। उसके जाने के बाद हेनरी ने कहा—

"लैली।" लैली उसका मुख देखने लगी, किंतु हेनरी किसी गंभीर विचार में लीन था।

लैली ने हेनरी को हिलाते हुए पूछा—"क्या है हेनरी ?"

हेनरी—"लैली, क्या तुम्हें वे दिन याद हैं, जब हम और तुम बाग़ में दौड़-दौड़कर एक दूसरे को फूलों से मारते थे और फिर किसी घनी झाड़ी में छिपकर बैठ रहते थे ?"

लैली—"याद क्यों नहीं हैं।"

हेनरी—"वे सुख के दिन थे। लैली, अब कभी मुझमें वह स्फूर्ति न आवेगी।" यह कहते-कहते उसके नेत्र भर आए।

लैली—"तुम शीघ्र ही अच्छे हो जाओगे; फिर इतने दुखित क्यों हो ?"

हेनरी—"लैली, मुझे बीमारी का दुःख नहीं और न बीमारी से मैं भयभीत होता हूँ।"

लैली—"फिर क्या दुःख है, हेनरी।"

हेनरी चुप रहा। वह लैली का मुख टकटकी लगाए देख रहा था। लैली हँस पड़ी। उसने कहा—"हेनरी, क्या देख रहे हो ?"

हेनरी ने फिर भी कुछ उत्तर नहीं दिया। लैली ने अब की झुँझलाकर कहा—"हेनरी, बोलते क्यों नहीं ? क्या लैली पर विश्वास नहीं ?"

हेनरी—"लैली को छोड़कर और किसको विश्वास-पात्र समझ सकता हूँ।"

लैली—फिर बतलाओ न, तुम्हें क्या मानसिक कष्ट है ?"

हेनरी—"घोर अशांति है और वह भी तुम्हारे कारण ?"

लैली (आश्चर्य के साथ)—"मेरे कारण, मैंने क्या किया है ?"

हेनरी—"किया तो कुछ नहीं लैली, यह मेरे ही मनोविकार का फल है। हृदय में हर समय कोई कहता है कि इस बीमारी के फलस्वरूप लैली तेरी नहीं रही। लैली के हृदय में अब तेरे लिये वह स्थान नहीं।"

लैली (हँसकर)—"बस, इसी से इतने विह्वल हो। परंतु हेनरी, मैं तो तुम्हें अब भी वैसा ही चाहती हूँ।"

हेनरी (लैली का हाथ अपने हाथ में लेकर)—"लैली, और यदि मैं सर्वदा के लिये ही लँगड़ा हो गया और उठने-बैठने से मजबूर रहा तो..."

लैली—"यह नहीं हो सकता, तुम शीघ्र ही अच्छे हो जाओगे ?"

इसी समय टाम आ गया। हेनरी ने और कुछ न कहा। एक गहरी साँस लेकर मुँह फेर लिया। टाम ने दवा पिलाकर पूछा—"हेनरी, कैसे हो ?"

हेनरी—"भीतर चलूँगा।"

टाम फिर हेनरी को उसी प्रकार उठा ले गया, चारपाई पर उसे लिटाकर लैली और टाम खाने चले गए। खाने के समय टाम चुप था। उसके मुख पर चिंता की रेखा थी। खाते-खाते उसने सिर उठाकर देखा। लैली की दृष्टि उसी की ओर थी।

टाम ने पूछा—"लैली, क्या हेनरी के साथ विवाह करोगी ?"

लैली ने मुँह बनाकर कहा—"नहीं", और कुछ ठहरकर पुनः "हाँ" कहा। इसके पश्चात् वह बड़े ज़ोर से हँस पड़ी। टाम ने फिर सिर नीचा कर लिया। लैली कनखियों से उसकी तरफ़ देख रही थी। टाम को चुप देखकर उसने आलू उठाकर टाम को मारा और फिर हँसने लगी। टाम ने कहा—"लैली, तू बड़ी बदमाश है। हर समय तुझे मज़ाक़ ही सूझता है।"

लैली—"टाम, क्या नाराज़ हो ?"

टाम ने उसकी ओर देखा। लैली गंभीर थी। टाम ने कहा—"नहीं तो लैली, भला नाराज़ क्यों होऊँ।"

लैली—"तो फिर इतने चुप क्यों हो ?"

टाम—"कुछ नहीं यों ही।"

लैली—"टाम, तुम मुझसे कोई बात छिपा नहीं सकते। मैं तुम्हारे इस अस्वाभाविक मौन का कारण जानती हूँ। क्यों, बतलाऊँ ?"

टाम—"क्या है ?"

लैली—"ईर्षा।"

टाम—"किससे ?"

लैली—"हेनरी से।"

टाम चुप हो गया। एक ग्लास शराब पीकर उसने लैली से कहा—"लैली, मैं हेनरी के लिये सब कुछ त्याग सकता हूँ।"

लैली ने हेनरी की ओर गर्व से देखा। और टाम का हाथ पकड़कर उसने कहा—"टाम, तुम आदमी नहीं।"

टाम—"इसी से मुझसे घृणा है ?"

लैली—"तुम देवता हो, देवता से किसी को घृणा होती है।"

टाम—"लैली, तेरी बातें कुछ समझ में नहीं आतीं। तुझे मुझसे घृणा भी नहीं और प्रेम भी नहीं !"

लैली हँस पड़ी। उसका सुंदर मुख, उसके सजल नेत्र और उसकी कोमल मधुर वाणी, सभी टाम को बेसुध बनाने लगे। उसी अवस्था में उसने लैली से पूछा—"लैली, क्या मैं कभी इससे अधिक की आशा कर सकता हूँ ?"

लैली ने उत्तर दिया—"हाँ, किंतु शीघ्र ही नहीं" कहकर वह फिर हँसने लगी और हँसते-हँसते हेनरी के कमरे की ओर भाग गई। टाम बैठा ही रह गया।

लैली ने जाकर देखा, तो हेनरी को सोते पाया। लैली जाना ही चाहती थी कि हेनरी ने उसी दशा में कहा—"लैली !"

लैली ने देखा, उसके नेत्र बंद थे और वह घोर निद्रा में था। लैली झुककर उसके मुख की ओर देखने लगी। इसी समय हेनरी ने फिर कहा—"मेरी लैली" और उसके साथ-ही-साथ उसके दोनों हाथ लैली की गर्दन में पड़ गए। लैली चौंक पड़ी। उसने देखा, हेनरी अब भी सो रहा था, वह बड़ी शीघ्रता के साथ कमरे से चली गई।

जाते समय लैली ने देखा, टाम उसी प्रकार बैठा था। लैली ने एक गहरी साँस ली। उसके नेत्रों में आँसू थे।

× × ×

तीन सप्ताह बीत गए। हेनरी कुछ-कुछ अच्छा होने लगा था। अब वह लकड़ी के सहारे खड़ा होता, कभी-कभी लैली का सहारा लेकर वह कमरे में इधर-उधर टहलता। टाम अब भी उसको गोद में उठाकर बाग़ ले जाता था। अब टाम बहुधा शाम को घूमने जाता था। ऐसे अवसर पर लैली को वह हेनरी की देख-भाल के लिये छोड़ जाता।

एक दिन हेनरी ने लैली से कहा—"लैली, डाक्टर ने समुद्र-तट पर जाकर कुछ दिन रहने की राय दी है।"

लैली—"हाँ-हाँ, अवश्य जाना चाहिए।"

हेनरी—"लैली, तुम भी चलो।"

लैली—"क्यों, मैं क्या बीमार हूँ ?"

हेनरी—"लैली, तुम्हारे चलने से मैं बड़ी जल्दी अच्छा हो जाऊँगा।"

लैली—"वाह-वाह, क्या मैं कोई डाक्टर हूँ।"

हेनरी—"हाँ, तुम मेरे मानसिक विकार की एक-मात्र औषध हो।"

लैली—"हेनरी, यदि मेरी माता को कोई आपत्ति न हुई, तो अवश्य चलूँगी।"

हेनरी (हर्ष से पुलकित हो)—"लैली, तुम्हें अनेकानेक धन्यवाद।"

इसी समय टाम आ गया। हेनरी ने टाम से कहा—"भाई, लैली भी हमारे साथ चलने को राज़ी है। अब हमें बड़ा आनंद आएगा।"

टाम (हर्षित होकर)—"तब तो बड़ा अच्छा है !"

इसके चार दिन पश्चात् टाम, हेनरी और लैली अपने घर से बिदा हुए। डोवर से कुछ दूर पर एक बहुत सुंदर गाँव था। टाम इसी गाँव के पास जा बसा। वहाँ की रमणीयता अपार थी। वहाँ की स्वच्छ वायु और सुंदर दृश्यों ने उन तीनों को मोह लिया। लैली तो स्वभावतः समुद्र से प्रेम रखती थी। वहाँ वह नित्य ही प्रातःकाल और संध्यासमय घूमने जाया करती। कभी-कभी टाम भी साथ हो लेता, परंतु बहुधा वह अकेले ही जाती। हेनरी अभी अधिक नहीं चल सकता था।

एक दिन संध्या को उसके जाने के पश्चात् घोर वर्षा होने लगी। लैली बिना छाते के गई थी, इसी से टाम और हेनरी चिंताग्रसित हो रहे थे। वर्षा के साथ-ही-साथ बर्फ़ भी गिरने लगी। सर्दी ऐसी थी कि दाँत कटकटा रहे थे। लैली समुद्र के किनारे-किनारे मीलों तक चली जाती थी। इधर दूर-दूर पर मछलीवालों के झोपड़ों के सिवा और कोई घर न थे।

रात अधिक होते देखकर हेनरी ने टाम से कहा—"ऐसा न हो लैली किसी सुनसान जगह में बैठी हो। उसके पास शीत से बचने के लिये कोई गरम कपड़ा भी नहीं है ?"

टाम—"अब मैं उसे खोजने जाता हूँ !"

टाम एक गरम लबादा पहने और बर्फ़ से बचने को

एक छाता लिए घर से निकला। लैली के लिये उसकी बाँह के ऊपर एक और लवादा पड़ा था। चलते समय हेनरी ने कहा—"टाम, एक शीशी में ब्रांडी भी लेते जाओ।"

टाम—"ख़ूब याद दिलाई"— इतना कहकर उसने आलमारी खोली और एक अद्धा जेब में रखकर तेज़ी से चल दिया।

टाम ने बाहर आकर देखा, तीव्र झंझावात था। हवा के साथ-ही-साथ बर्फ़ के छोटे-छोटे टुकड़े आकर ऊपर गिरने लगे। सारी भूमि बर्फ़ से ढकी हुई थी। टाम सीधा उसी तरफ़ चल दिया, जिधर लैली रोज़ जाया करती थी। लगभग दो मील जाने के पश्चात् कुछ मछलीवालों के झोपड़े मिले। टाम को पूर्ण आशा थी कि लैली यहीं होगी। उसने दो-एक मछलीवालों से उसके विषय में पूछा। एक वृद्ध ने कहा—"आई तो वह यहाँ अवश्य थी, किंतु ठहरी नहीं, आगे बढ़ गई।"

टाम ने कहा—"क्या आपमें से कोई भी मुझे उसका पता लगाने में सहायता दे सकते हैं?" कई नवयुवकों ने एक दूसरे की ओर देखा और सिर झुका लिया। उनके नेत्र स्पष्ट कह रहे थे कि ऐसे समय में कौन जाने का साहस करेगा; किंतु एक ने टाम का उतरा हुआ मुख देखकर कहा—"महाशय, चलिए, मैं चलता हूँ।"

टाम ने प्रसन्न होकर उसका हाथ पकड़ लिया। उसकी आँखों में कृतज्ञता थी। टाम और वह अजनबी युवक चल खड़े हुए। बहुत दूर जाने के पश्चात् भी लैली का कहीं पता न चला। टाम की घबराहट क्षण-क्षण बढ़ती जाती थी। उसने एक गहरी साँस ली और कहा—"युवक, मुझे भय है कि लैली अब इस संसार में नहीं है।"

युवक ने कुछ उत्तर न दिया। उसकी चुप्पी बता रही थी कि उसे भी इसमें अधिक संदेह नहीं। लौटते समय युवक ने कहा—"महाशयजी, अच्छा हो कि इस बार हम समुद्रतट से कुछ हटकर चलें, कदाचित् पानी के कारण वह किसी वृक्ष के नीचे बैठ रही हो।"

टाम युवक के पीछे हो लिया। इस जगह से थोड़ा ही जाने के पश्चात् एक घने वृक्ष के नीचे दूर पर कोई चीज़ पड़ी-सी मालूम हुई। टाम ने दौड़कर देखा, वह लैली थी। उसने उसे हिलाकर कहा—"लैली" किंतु कुछ उत्तर न मिला। टाम ने देखा कि उसका शरीर बर्फ़ से जकड़ा हुआ था। उसने बर्फ़ को झाड़कर, लैली को अपने लबादे में छिपा लिया और फिर जेब से शराब निकाल उसके मुँह में डाली, परंतु फिर भी उसे होश न आया। युवक ने कहा—"महाशयजी, इन्हें मेरे घर तक ले चलिए, वहाँ उचित उपचार किया जा सकता है।

टाम ने लैली को गोदी में उठा लिया। इस समय टाम के हृदय में भी वैसा ही तीव्र तूफ़ान उठ रहा था, जैसा कि उसके चारों ओर था। तूफ़ान था भय और प्रेम का। हृदय में आता—"यदि लैली मर गई तो..." यह ध्यान आते ही उसके नेत्रों में बहिया आ जाती।

आख़िर वह लैली को उस युवक के घर ले आया। युवक की माता ने लैली को आग के पास लिटा दिया और ख़ूब गरम कपड़े उसको उढ़ा दिए गए। क्षण-क्षण पर उसके मुख में ब्रांडी डाली जाने लगी। कुछ देर के बाद लैली ने आँखें खोलीं। चारों ओर देखकर अंत में उसने टाम के मुख पर अपने नेत्र जमा दिए, और क्षीण स्वर में पूछा—"टाम, मैं कहाँ हूँ।"

टाम—"एक दयालु सज्जन के घर।"

लैली ने उस वृद्ध पुरुष और स्त्री की ओर कृतज्ञता-भरी दृष्टि से देखा। उसकी आँखों से अश्रु का एक बूँद ढुलककर उसके कपोलों पर आ जमा। वृद्धा ने उसे सांत्वना देते हुए कहा—"बेटी, ईसू बड़ा दयालु है।" लैली ने नेत्र बंद कर लिए, उसे निद्रा आ गई थी।

लैली बड़ी देर तक सोती रही। टाम उसके निकट बैठा रहा। युवक और वृद्धा भी बैठे थे। सुबह होने को थी, जब उसने आँख खोली। टाम को पास ही देखकर उसने कहा—"टाम, तुम सब अभी तक बैठे हो हो!"

वृद्धा—"बेटी, चिंता में कहीं नींद आती है।"

लैली ने युवक की ओर देखा। उसके मुख पर हर्ष के चिह्न थे। एक क्षण पश्चात् उस युवक ने पूछा—"आप उस वृक्ष के नीचे क्यों बैठ गई थीं? गाँव तक आ जातीं, तो आपको यह घोर कष्ट न उठाने पड़ते।"

लैली—"मुझे क्या पता था कि बर्फ़ पड़ने लगेगी। मैंने तो समझा था कि पानी कम होने पर चल दूँगी। जब बर्फ़ गिरने लगी, तो मुझे मजबूर होकर वहीं बैठ जाना पड़ा। धीरे-धीरे बर्फ़ मेरे ऊपर जमने लगी और मैं अचेत हो गई। मुझे नहीं मालूम कि आप किस समय मुझे वहाँ से लाए।"

वृद्धा ने सब हाल सुनाया। लैली किसी गंभीर विचार में लीन हो गई। इसी समय टाम ने कहा—"लैली, सुबह की सफ़ेदी चारों ओर फैल रही है। बादल भी छट गए हैं और बर्फ़ गिरना भी बंद है। अब अगर तुम्हारी तबियत ठीक हो और पैदल चल सकती हो, तो चलो, हेनरी चिंतित होगा।"

लैली—"चलो, मैं अच्छी हूँ।"

लैली और टाम उस वृद्धा और युवक को धन्यवाद देकर चल दिए। लैली टाम के सहारे चल रही थी। कुछ दूर जाने के बाद उसने टाम से कहा—"टाम, आज तुमने मेरी जान बचाई। इसके लिये मैं सदा तुम्हारा आभार मानूँगी।"

टाम ने उसकी ओर देखा। लैली के नेत्रों में कृतज्ञता थी और कृतज्ञता की ओर से प्रेम की झलक। टाम हर्ष से विह्वल हो उठा। उसने लैली को हृदय से लगा लिया और उसके कपोलों पर प्रेम की छाप लगा दी। लैली ने टाम को अलग करते हुए कहा—"टाम, क्या तुमने केवल स्वार्थ के वशीभूत होकर ही मेरा उद्धार किया है?"

टाम ने देखा, लैली की आँखों में तिरस्कार था। उसने लज्जित होकर कहा—"लैली, क्या नाराज़ हो गई? अच्छा, क्षमा करो।"

लैली—"अब कभी तो ऐसा न करोगे?"

टाम—"नहीं।"

लैली ने हँसकर टाम का हाथ पकड़ लिया। हार्दिक क्षमा का परिचय इससे बढ़कर और क्या दिया जा सकता था। टाम का मुख खिल उठा।

घर पहुँचकर लैली ने देखा कि हेनरी किसी गंभीर विचार में मग्न खिड़की के पास खड़ा है। उसकी मुख-मुद्रा से विदित होता था कि वह रात-भर सोया नहीं। आँसुओं के चिह्न भी स्पष्ट थे। वह इतना ध्यान-मग्न था कि लैली के आने का उसे पता ही न लगा।

लैली ने चुपके-चुपके जाकर उसके कंधे पर हाथ रक्खा। हेनरी चौंक पड़ा। किंतु लैली को देख उसने उसका हाथ पकड़कर पूछा—"लैली, तुम कब आई?"

लैली—"अभी तो आ रही हूँ।"

हेनरी—"और टाम!"

लैली—"वह अपने कमरे में हैं। उन्हीं ने तो मेरा उद्धार किया, नहीं तो मैं मर चुकी थी।"

हेनरी (भर्राई हुई आवाज़ में)—"लैली, अब तो कभी ऐसे समय अकेले घूमने न जाओगी!" इतना कहते-कहते उसके आँसू निकल आए।

लैली—"नहीं हेनरी, कभी नहीं।"

हेनरी ने लैली का गाढ़ आलिंगन किया। एक क्षण पश्चात् लैली ने अलग होकर कहा—"हेनरी, मैं तो टाम की जीवन-भर आभारी रहूँगी।"

इसी समय टाम ने कमरे में पैर रक्खा। उसने आते ही कहा—"लैली, अब कभी आभारी होने की बात न कहना। मैंने तो केवल अपना कर्तव्य-पालन किया है।"

लैली—"टाम, तुम मनुष्य नहीं, देवता हो।"

टाम—"लैली, यह तुम्हारा भ्रम-ही-भ्रम है।"

हेनरी के पूछने पर टाम ने सारा हाल बतलाया। मछलीवालों की उदारता के विषय में सुनकर हेनरी ने पुलकित हो कहा—"टाम, हमको उन सबकी दावत करनी चाहिए।"

टाम—"अवश्य, मैं दो-एक दिन में उनको निमंत्रण भेज दूँगा।"

हेनरी अब समुद्रतट पर टहलने जाने लगा। लैली बहुधा हेनरी के साथ ही रहती, मगर कभी-कभी टाम के साथ नाव में बैठकर घूमने चली जाती। टाम तो अपना अधिक समय नाव ही में बिताता। वह घंटों ग़ायब रहता। कभी-कभी हेनरी चिंतित भी हो उठता, किंतु टाम एक सिद्धहस्त नाविक था।

उसी सप्ताह में टाम ने उस साहसी युवक और उसके मातापिता को निमंत्रण दिया। रात को दस बजे तक वे टाम के घर पर रहे। लैली ने हर प्रकार उनकी आव-भगत की। वह बार-बार उस युवक से कहती—"युवक, तुमने मुझे जीवन-दान दिया।"

युवक लज्जावश सिर झुका लेता, किंतु उसकी माता उत्तर देती—"बेटी, ईसू की कृपा थी, नहीं तो मनुष्य क्या कर सकता है।"

हेनरी उन दयालु मनुष्यों को भेजने चल दिया, किंतु वृद्धा ने उसे शीघ्र ही वापस कर दिया। उसने कहा—"बेटा, सर्दी में अधिक न चलो, अभी तुम कमज़ोर हो।"

हेनरी लौट आया। घर पहुँचकर उसने टाम और

लैली को बाग़ में एक घने वृक्ष के नीचे बैठे देखा। हेनरी चुपके-चुपके जाकर उनके पास ही छिपकर बैठ गया। लैली ने कहा—"टाम, तुमने मेरी जान बचाई है, मैं तुम्हारे सुख के लिये सब कुछ कर सकती हूँ।"

टाम—"लैली, मैं बदला नहीं चाहता।"

लैली—"टाम, फिर क्या चाहते हो?"

टाम—"प्रेम का एक बूँद। लैली, मैं तुझे प्यार करता हूँ। तेरे विना जीवन व्यर्थ प्रतीत होता है, तेरे विना सुख नहीं।"

लैली चुप थी। उसके नेत्रों से अश्रु की धारा बह रही थी।

टाम ने फिर कहा—"लैली, मैं सदा से ही तेरे प्रेम में रँगा हूँ, किंतु मैंने कभी अपने हार्दिक भावों को तुझपर प्रकट नहीं होने दिया। लैली, बोलो—बोलो क्या तुम मुझसे प्रेम नहीं कर सकती?"

लैली फिर चुप थी। उसकी आँखों से आँसू और वेग से गिरने लगे। कुछ समय तक निस्तब्धता रही। फिर टाम ने कहा—"लैली, मैं समझ गया कि तुम किसी दूसरे से प्रेम करती हो, परंतु मुझ पर कृपा करके इतना बतला दो कि क्या मैं भी कभी आशा कर सकता हूँ या नहीं?"

लैली—"टाम, हेनरी के रहते हुए ऐसी आशा व्यर्थ है।"

टाम—"लैली, हेनरी के सुख में मैं कभी बाधा नहीं डालूँगा, परंतु प्रतिज्ञा करो कि मेरे इस भेद को कभी हेनरी पर खुलने न दोगी।"

लैली (सिसकते हुए)—"टाम, तुम देवता हो और मैं एक अधम स्त्री।"

दोनों घर चले गए। हेनरी वहीं खड़ा-खड़ा सोचने लगा—"टाम के सुख के लिये मुझे कठिन त्याग करना होगा।"

× × ×

दूसरे दिन टाम और लैली ने देखा कि हेनरी नहीं है। उसकी खाट पर एक पत्र मिला। उसमें लिखा था—

"टाम! लैली कहती है कि मेरे रहते वह तुम्हें स्वीकार नहीं कर सकती। तुम्हारे सुख के मार्ग में मैं ही एक बड़ा कंटक हूँ, इसी से तुम्हें और अपनी मातृभूमि को छोड़कर जा रहा हूँ। कहाँ—सो नहीं कह सकता। मेरे समस्त अपराध क्षमा करना।

—हेनरी"

टाम रो पड़ा। उसके मुख से निकला—"हेनरी, तुम्हारा यह महान् त्याग अद्वितीय है। तुम सच्चे भाई हो।"

बहुत खोज की गई, किंतु हेनरी को फिर किसी ने न देखा।

रामेश्वरप्रसाद श्रीवास्तव

बहता हुआ फूल

फूल! असहाय सुकोमल फूल!
निठुर किन हाथों ने है हाय,
मसल फेंका तुमको इस भाँति?
पड़े हो तुम सरिता के बीच
जहाँ बहता है तीव्र प्रवाह,
तरंगें उठती हैं बेढंग
और है जहाँ न जल की थाह।
आह नन्हें-से छोटे फूल,
तुम्हारा होगा कैसा हाल।
कहाँ तुम अतिशय कोमल फूल,
बना है जो सुषमा की खान,
कहाँ अति भीषण धारे रूप
कठिन लहरें ये वज्र समान।
कहाँ वन—वह कोयल की कूक
और अलिगण का मीठा प्यार,
कहाँ जल का भीषण निर्घोष
और सत्वर-गति क्रुद्ध बयार।
आह, निर्दय विधि ने किस भाँति,
किया निर्दय परिवर्तन हाय!
याद आता है तुमको क्या न

मनोरम वह सुंदर उद्यान,
खिले थे मृदु टहनी में जहाँ
अमियसम सिंचित रसकर पान।
याद आता है क्या वह काल
झुलाता था जब मृदुल समीर,
बिखर पड़ता था जब सौंदर्य
लगी रहती अलियों की भीर।
सुगंधित, पा तेरा संसर्ग
हुआ था जब समग्र उद्यान,
पथिक हो जाते थे बेहोश
निरख छविमय तेरी मुसकान।
आह, सपने में भी उस समय
हुआ होगा तुमको क्या ख़्याल—
'तीव्र गति से है आता चला
भयानक पीड़ाओं का काल'।
हरे! कैसी विधि की यह नीति
और कितना निर्दय व्यापार।
क्षुद्र इस जीवन में उस रोज़
तुम्हारा था कितना सम्मान!
सभी आँखें थीं तेरी ओर
और था सबको तेरा ध्यान।
किंतु तुम वही, अकेले आज
झेलते हो हा कष्ट अनेक,
भयानक पीड़ाओं में हाय
नहीं है दिखता साथी एक।
बहे जाते हो तुम निरुपाय
भयानक सरिता में हो म्लान;
सिखाये जाते हो तुम किंतु
सुखों की अस्थिरता का ज्ञान।
अरे, जाओ हे सुंदर फूल!
यही है इस दुनिया की रीति।

यमुनाप्रसाद चौधरी 'नीरज'

उन्माद

(शेषांश)

(६)

जेनी ने जब मनहर का पत्र पाकर पढ़ा तो मुस्कराई। उसे मनहर की इच्छा पर शासन करने का ऐसा अभ्यास पड़ गया था कि इस पत्र से उसे ज़रा भी घबराहट न हुई। उसे विश्वास था कि दो-चार दिन चिकनी-चुपड़ी बातें करके वह उसे फिर वशीभूत कर लेगी। अगर मनहर की इच्छा केवल धमकी देना न होती, उसके दिल पर चोट लगी होती, तो वह अब तक यहाँ न होता। कब का वह स्थान छोड़ चुका होता। उसका यहाँ रहना ही बता रहा था कि वह केवल बँदरघुड़की दे रहा है।

जेनी ने स्थिरचित्त होकर कपड़े बदले और तब इस तरह मनहर के कमरे में आई, मानो कोई अभिनय करने स्टेज पर आई हो।

मनहर उसे देखते ही ज़ोर से ठट्ठा मारकर हँसा। जेनी सहमकर पीछे हट गई। इस हँसी में क्रोध या प्रतिकार न था। इसमें उन्माद भरा हुआ था। मनहर के सामने मेज़ पर बोतल और ग्लास रक्खा हुआ था। एक दिन में उसने न-जाने कितनी शराब पी ली थी। उसकी आँखों में जैसे रक्त उबला पड़ता था।

जेनी ने समीप जाकर उसके कंधे पर हाथ रक्खा और बोली—क्या रात-भर पीते ही रहोगे? चलो आराम से लेटो, रात ज़्यादा आ गई है। घंटों से बैठी तुम्हारा इंतज़ार कर रही हूँ। तुम इतने निष्ठुर तो कभी न थे।

मनहर खोया हुआ-सा बोला—तुम कब आ गईं बागी, देखो मैं कब से तुम्हें पुकार रहा हूँ। चलो आज सैर कर आएँ। वहीं नदी के किनारे तुम अपना वही प्यारा गीत सुनाना जिसे सुनकर मैं पागल हो जाता हूँ। क्या कहती हो, मैं बेमुरौवत हूँ। यह तुम्हारा अन्याय है बागी। मैं क़सम खाकर कहता हूँ ऐसा एक दिन भी नहीं गुज़रा जब तुम्हारी याद ने मुझे रुलाया न हो।

जेनी ने उनका कंधा हिलाकर कहा—तुम यह क्या ऊल-जलूल बक रहे हो। बागी यहाँ कहाँ है।

मनहर ने उसकी ओर अपरिचित भाव से देखकर कुछ कहा फिर ज़ोर से हँसकर बोला—मैं यह न मानूँगा बागी। तुम्हें मेरे साथ चलना होगा। वहाँ मैं तुम्हारे लिये फूलों की एक माला बनाऊँगा...।

जेनी ने समझा यह शराब बहुत पी गए हैं। बकझक कर रहे हैं। इनसे इस वक़्त कुछ बातें करना व्यर्थ है। चुपके से कमरे के बाहर चली गई। उसे ज़रा-सी शंका हुई थी। यहाँ उसका मूलोच्छेद हो गया। जिस आदमी का अपनी वाणी पर अधिकार नहीं, वह इच्छा पर क्या अधिकार रख सकता है।

उसी घड़ी से मनहर को घरवालों की रट-सी लग गई। कभी बागेश्वरी को पुकारता, कभी अम्माँ को, कभी दादा को। उसकी आत्मा अतीत में विचरती रहती, उस अतीत में जब जेनी ने काली छाया की भाँति प्रवेश न किया था और बागेश्वरी अपने सरल व्रत से उसके जीवन में प्रकाश फैलाती रहती थी।

दूसरे दिन जेनी ने जाकर उससे कहा—तुम इतनी शराब क्यों पीते हो? देखते नहीं तुम्हारी क्या दशा हो रही है?

मनहर ने उसकी ओर आश्चर्य से देखकर कहा—'तुम कौन हो?'

जेनी—क्या मुझे नहीं पहचानते? इतनी जल्द भूल गए?

मनहर—मैंने तुम्हें कभी नहीं देखा। मैं तुम्हें नहीं पहचानता।

जेनी ने और अधिक बातचीत न की। उसने मनहर के कमरे से शराब की बोतलें उठवा लीं और नौकरों को ताकीद कर दी कि उसे एक बूँट भी शराब न दी जाय। उसे अब कुछ-कुछ संदेह होने लगा; क्योंकि मनहर की दशा उससे कहीं शंकाजनक थी जितनी वह

समझी थी। मनहर का जीवित और स्वस्थ रहना उसके लिये आवश्यक था। इसी घोड़े पर बैठकर वह शिकार खेलती थी। घोड़े के बग़ैर शिकार का आनंद कहाँ।

मगर एक सप्ताह हो जाने पर भी मनहर की मानसिक दशा में कोई अंतर न हुआ। न मित्रों को पहचानता, न नौकरों को। पिछले तीन बरसों का उसका जीवन एक स्वप्न की भाँति मिट गया था।

सातवें दिन जेनी सिविल सर्जन को लेकर आई, तो मनहर का कहीं पता न था।

(७)

पाँच साल के बाद बागेश्वरी का लुटा हुआ सोहाग फिर चेता। मा-बाप पुत्र के वियोग में रो-रोकर अंधे हो चुके थे। बागेश्वरी निराशा में भी आस बाँधे बैठी हुई थी। उसका मायका संपन्न था। बार-बार बुलावे आते, बाप आया, भाई आया, पर वह धैर्य और व्रत की देवी घर से न टली।

जब मनहर भारत में आया, तो बागेश्वरी ने सुना वह विलायत से एक मेम लाया है। फिर भी उसे आशा थी वह आएगा। लेकिन उसकी आशा पूरी न हुई। फिर उसने सुना वह ईसाई हो गया है और आचार-विचार त्याग दिया है। तब उसने माथा ठोंक लिया।

घर की अवस्था दिन-दिन बिगड़ने लगी। वर्षा बंद हो गई और सागर सूखने लगा। घर बिका, कुछ ज़मीन थी वह बिकी, फिर गहनों की बारी आई, यहाँ तक कि अब केवल आकाशी वृत्ति थी। कभी चूल्हा जल गया, कभी ठंढा पड़ा रहा।

एक दिन संध्या समय वह कुएँ पर पानी भरने गई थी कि एक थका हुआ, जीर्ण, विपत्ति का मारा जैसा आदमी आकर कुएँ की जगत पर बैठ गया। बागेश्वरी ने देखा तो मनहर! उसने तुरंत घूँघट बढ़ा लिया। आँखों पर विश्वास न हुआ, फिर भी आनंद और विस्मय से हृदय में फुरेरियाँ उड़ने लगीं। रस्सी और कलसा कुएँ पर छोड़कर लपकी हुई घर आई और सास से बोली—अम्माजी, ज़रा कुएँ पर जाकर देखो, कोई आया है। सास ने कहा—तू पानी लाने गई थी, या तमाशा देखने। घर में एक बूँद पानी नहीं है। कौन आया है कुएँ पर?

"चलकर देख लो न।"

"कोई सिपाही-प्यादा होगा। अब उनके सिवा और कौन आनेवाला है। कोई महाजन तो नहीं है?"

"नहीं अम्मा, तुम चली क्यों नहीं चलतीं।"

बूढ़ी माता भाँति-भाँति की शंकाएँ करती हुई कुएँ पर पहुँची, तो मनहर दौड़कर उनके पैरों से चिमट गया। माता ने उसे छाती से लगाकर कहा—तुम्हारी यह क्या दशा है मानू? क्या बीमार हो? असबाब कहाँ है?

मनहर ने कहा—पहले कुछ खाने को दो अम्माँ। बहुत भूखा हूँ। मैं बड़ी दूर से पैदल चला आ रहा हूँ।

गाँव में ख़बर फैल गई मनहर आया है। लोग उसे देखने दौड़े। किस ठाट से आया है। बड़े ऊँचे पद पर है, हज़ारों रुपए पाता है। अब उसके ठाट का क्या पूछना। मेम भी साथ आई है या नहीं?

मगर जब आकर देखा तो आफ़त का मारा आदमी, फटे हालों, कपड़े तार-तार, बाल बढ़े हुए जैसे जेल से आया हो।

प्रश्नों की बौछार होने लगी—हमने तो सुना था तुम किसी बड़े ऊँचे पद पर हो?

मनहर ने जैसे किसी भूली बात को याद करने का विफल प्रयास करके कहा—मैं! मैं तो किसी ओहदे पर नहीं हूँ।

'वाह! तुम विलायत से मेम नहीं लाए थे?' मनहर ने चकित होकर कहा—'विलायत! विलायत कौन गया था?'

"अरे! भंग तो नहीं खा गए हो! तुम विलायत नहीं गए थे?"

मनहर मूढ़ों की भाँति हँसा—मैं विलायत क्या करने जाता।

"अजी तुमको वज़ीफ़ा नहीं मिला था? यहाँ से तुम विलायत गए। तुम्हारे पत्र बराबर आते थे। अब तुम कहते हो मैं विलायत गया ही नहीं। होश में हो, या हम लोगों को उल्लू बना रहे हो।"

मनहर ने उन लोगों की ओर आँखें फाड़कर देखा और बोला—मैं तो कहीं नहीं गया। आप लोग जाने क्या कह रहे हैं।

अब इसमें संदेह की गुंजाइश न रही कि वह अपने होश-हवास में नहीं है। उसे विलायत जाने के पहले की सारी बातें याद थीं। गाँव और घर के हरेक आदमी

को पहचानता था, सबसे नम्रता और प्रेम से बातें करता था, लेकिन जब इँगलैंड, अँगरेज़ बीबी और ऊँचे पद का ज़िक्र आता, तो भौचक्का होकर ताकने लगता। बागेश्वरी को अब उसके प्रेम में एक अस्वाभाविक अनुराग दीखता था, जो बनावटी मालूम होता था। वह चाहती थी कि उसके व्यवहार और आचरण में पहले की-सी बेतकल्लुफ़ी हो। वह प्रेम का स्वाँग नहीं, प्रेम चाहती थी। दस ही पाँच दिनों में उसे ज्ञात हो गया कि इस विशेष अनुराग का कारण बनावट या दिखावा नहीं, वरन् कोई मानसिक विकार है। मनहर ने माँ बाप का इतना अदब पहले कभी न किया था। उसे अब मोटे से मोटा काम करने में भी संकोच न था। वह जो बाज़ार से सागभाजी लाने में अपना अनादर समझता, अब कुएँ से पानी खींचता, लकड़ियाँ फाड़ता और घर में झाड़ू लगाता था। और अपने घर में ही नहीं, सारे महल्ले में उसकी सेवा और नम्रता की चर्चा होती थी।

एक बार महल्ले में चोरी हुई। पुलिस ने बहुत दौड़धूप की, पर चोरों का पता न चला। मनहर ने चोरों का पता ही नहीं लगा दिया, बल्कि माल भी बरामद करा लिया। इससे आसपास के गाँवों और महल्लों में उसका यश फैल गया। कोई चोरी हो जाती तो लोग उसके पास दौड़े आते, और अधिकांश उसके उद्योग सफल होते थे। इस तरह उसकी जीविका की एक व्यवस्था हो गई। वह अब बागेश्वरी के इशारों का गुलाम था। उसी की दिलजोई और सेवा में उसके दिन कटते थे। अगर उसमें विकार या बीमारी का कोई लक्षण था, तो इतना ही। यही सनक उसे सवार हो गई थी।

बागेश्वरी को उसकी दशा पर दुख होता था, पर उसकी यह बीमारी उस स्वास्थ्य से उसे कहीं प्रिय थी जब वह उसकी बात भी न पूछता था।

(८)

६ महीनों के बाद एक दिन जेनी मनहर का पता लगाती हुई आ पहुँची। हाथ में जो कुछ था, वह सब उड़ा चुकने के बाद अब उसे किसी आश्रय की खोज थी। उसके चाहनेवालों में कोई ऐसा न था, जो उसकी आर्थिक सहायता करता। शायद अब जेनी को कुछ ग्लानि भी आती थी। वह अपने किए पर लज्जित थी।

द्वार पर हार्न की आवाज़ सुनकर मनहर बाहर निकला और इस प्रकार जेनी को देखने लगा मानो उसे कभी देखा नहीं है।

जेनी ने मोटर से उतरकर उससे हाथ मिलाया और अपनी बीती सुनाने लगी—तुम इस तरह मुझसे छिपाकर क्यों चले आए? और फिर आकर एक पत्र भी नहीं लिखा। आख़िर मैंने तुम्हारे साथ क्या बुराई की थी? फिर मुझमें कोई बुराई देखी थी, तो तुम्हें चाहिए था मुझे सावधान कर देते। छिपकर चले आने से क्या फ़ायदा हुआ। ऐसी अच्छी जगह मिल गई थी, वह भी हाथ से निकल गई।

मनहर काठ के उल्लू की भाँति खड़ा रहा।

जेनी ने फिर कहा—तुम्हारे चले आने के बाद मेरे ऊपर जो संकट आए, वह सुनाऊँ तो तुम घबड़ा जाओगे। मैं इसी चिंता और दुख से बीमार हो गई। तुम्हारे बग़ैर मेरा जीवन निरर्थक हो गया है। तुम्हारा चित्र देखकर मन को ढारस देती थी। तुम्हारे पत्रों को आदि से अंत तक पढ़ना मेरे लिये सबसे मनोरंजक विषय था। तुम मेरे साथ चलो। मैंने एक डाक्टर से बातचीत की है। वह मस्तिष्क के विकारों का डाक्टर है। मुझे आशा है, उसके उपचार से तुम्हें लाभ होगा।

मनहर चुपचाप विरक्तभाव से खड़ा रहा, मानों वह न कुछ देख रहा है न सुन रहा है।

सहसा बागेश्वरी निकल आई। जेनी को देखते ही वह ताड़ गई कि यही मेरी युरोपियन सौत है। वह उसे बड़े आदर-सत्कार के साथ भीतर ले गई। मनहर भी उनके पीछे-पीछे चला गया।

जेनी ने टूटी खाट पर बैठते हुए कहा—इन्होंने मेरा ज़िक्र तो तुमसे किया ही होगा। मेरी इनसे लंदन में शादी हुई है।

बागेश्वरी बोली—यह तो मैं आपको देखते ही समझ गई थी।

जेनी—इन्होंने कभी मेरा ज़िक्र नहीं किया?

बागेश्वरी—कभी नहीं। इन्हें तो कुछ याद ही नहीं। आपको तो यहाँ आने में बड़ा कष्ट हुआ होगा?

जेनी—महीनों के बाद तब इनके घर का पता चला। वहाँ से बिना कुछ कहे-सुने चल दिए।

"आपको कुछ मालूम है इन्हें यह शिकायत है?"

"शराब बहुत पीने लगे थे। आपने किसी डाक्टर को नहीं दिखाया ?"

"हमने तो किसी को नहीं दिखाया।

जेनी ने तिरस्कार करके कहा—क्यों ? क्या आप इन्हें हमेशा बीमार रखना चाहती हैं।

बागेश्वरी ने बेपरवाई से जवाब दिया—मेरे लिये तो इनका बीमार रहना इनके स्वस्थ रहने से कहीं अच्छा है। तब वह अपनी आत्मा को भूल गए थे, अब उसे पा गए।

फिर उसने निर्दय कटाक्ष करके कहा—मेरे विचार में तो वह तब बीमार थे, अब स्वस्थ हैं।

जेनी ने चिढ़कर कहा—नानसेंस ! इनकी किसी विशेषज्ञ से चिकित्सा करानी होगी। यह जासूसी में बड़े कुशल हैं। इनके सभी अफ़सर इनसे प्रसन्न थे। वह चाहें तो अब भी इन्हें वह जगह मिल सकती है। अपने विभाग में ऊँचे-से-ऊँचे पद तक पहुँच सकते हैं। मुझे विश्वास है कि इनका रोग असाध्य नहीं है, हाँ विचित्र अवश्य है। आप क्या इनकी बहन हैं ?

बागेश्वरी ने मुसकिराकर कहा—आप तो गाली दे रही हैं। वह मेरे स्वामी हैं।

जेनी पर मानो वज्रपात-सा हुआ। उसके मुख पर से नम्रता का आवरण हट गया और मन में छिपा हुआ क्रोध जैसे दाँत पीसने लगा। उसके गरदन की नसें तन गईं, दोनों मुट्ठियाँ बँध गईं। उन्मत्त होकर बोली—बड़ा दग़ाबाज़ आदमी है। इसने मुझे बड़ा धोखा दिया। मुझसे इसने कहा था मेरी स्त्री मर गई है। कितना बड़ा धूर्त है। यह पागल नहीं है। इसने पागलपन का स्वाँग भरा है। मैं अदालत से इसकी सज़ा कराऊँगी।

क्रोधावेश के कारण वह काँप उठी। फिर रोती हुई बोली—इस दग़ाबाज़ी का मैं इसे मज़ा चखाऊँगी। ओह ! इसने मेरा कितना घोर अपमान किया है। ऐसा विश्वासघात करनेवाले को जो दंड दिया जाय, वह थोड़ा है। इसने कैसी मीठी-मीठी बातें करके मुझे फाँसा। मैंने ही इसे जगह दिलाई। मेरे ही प्रयत्नों से यह बड़ा आदमी बना। इसके लिये मैंने अपना घर छोड़ा, अपना देश छोड़ा, और इसने मेरे साथ ऐसा कपट किया।

जेनी सिर पर हाथ रखकर बैठ गई। फिर तैश में उठी और मनहर के पास जाकर उसको अपनी ओर खींचती हुई बोली—मैं तुझे ख़राब करके छोड़ूँगी। तूने मुझे समझा क्या है...।

मनहर इस तरह शान्त भाव से खड़ा रहा मानो उससे कोई प्रयोजन नहीं है।

फिर वह सिंहिनी की भाँति मनहर पर टूट पड़ी और उसे ज़मीन पर गिराकर उसकी छाती पर चढ़ बैठी। बागेश्वरी ने उसका हाथ पकड़कर अलग कर दिया और बोली—तुम ऐसी डायन न होतीं, तो इनकी यह दशा ही क्यों होती।

जेनी ने तैश में आकर जेब से पिस्तौल निकाला और बागेश्वरी की तरफ़ बढ़ी। सहसा मनहर तड़पकर उठा, उसके हाथ से भरा हुआ पिस्तौल छीन कर फेंक दिया और बागेश्वरी के सामने खड़ा हो गया। फिर ऐसा मुँह बना लिया मानो कुछ हुआ ही नहीं।

उसी वक़्त मनहर की माता दोपहरी की नींद सोकर उठीं और जेनी को देखकर बागेश्वरी की ओर प्रश्न की आँखों से ताका।

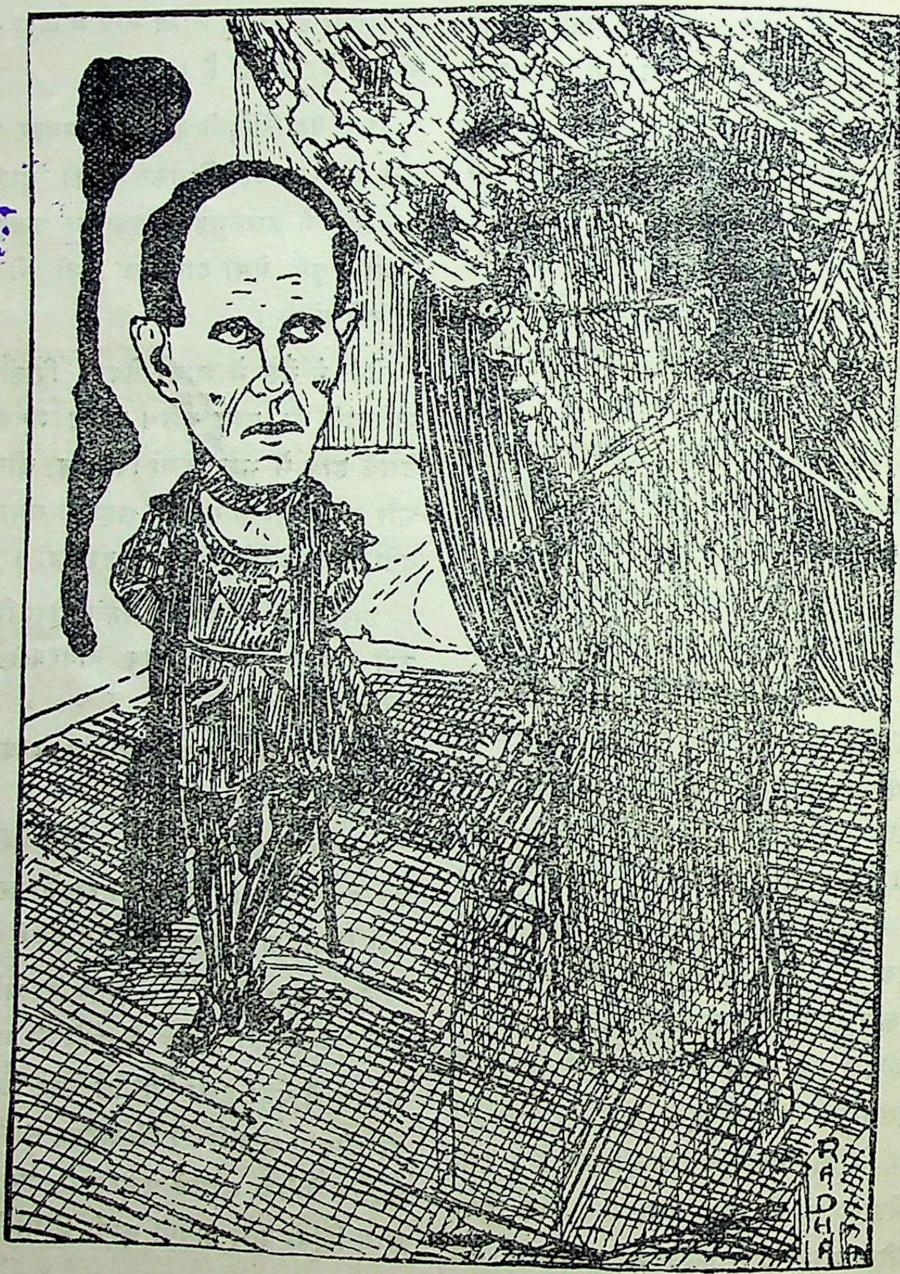
बागेश्वरी ने उपहास के भाव से कहा—यह आपकी बहू हैं।

बुढ़िया तिनककर बोली—कैसी मेरी बहू। यह मेरी बहू बनने जोग है बँदरिया। लड़के पर न-जाने क्या कर-करा दिया, अब छाती पर मूँग दलने आई है।

जेनी एक क्षण तक ख़ूनभरी आँखों से मनहर की ओर देखती रही। फिर बिजली की भाँति कौंदकर उसने आँगन में पड़ा हुआ पिस्तौल उठा लिया और बागेश्वरी पर छोड़ना चाहती थी कि मनहर सामने आ गया। वह बेधड़क जेनी के सामने चला गया, उसके हाथ से पिस्तौल छीन लिया और अपनी छाती में गोली मार ली।

प्रेमचंद

छाया-दर्शन



लार्ड अर्विन और ब्रेल्सफ़ोर्ड

आलोचना और पुस्तक-परिचय

The Rival of Dr. Tagore (अँगरेज़ी)—लेखक, प्रो॰ शैवाल, 'मोहिंद्र' कालेज, पटियाला; प्रकाशक, वही; मूल्य लिखा नहीं।

पुस्तक के शीर्षक से यह कल्पना की जाती है कि उसमें डा॰ टगोर के प्रतिद्वंद्वी कवि के जीवन या उसके काव्य पर ही प्रकाश डाला गया है, परंतु पुस्तक पढ़ने से विदित होता है कि लेखक महोदय ने डा॰ टगोर के प्रतिद्वंद्वी के जीवन पर कम, डा॰ टगोर के शांति-निकेतन के जीवन पर अधिक प्रकाश डाला है। आपने 'शांतिनिकेतन' के वातावरण में विश्व-कवि की वह विश्व-वाणी नहीं सुनी, जो आज विश्व में समादर की वस्तु हो रही है। आपको वहाँ 'हाथी के दाँतों' के दर्शन हुए (I wonder if the poets too, have double hearts like the teeth of elephant). लेखक अपने 'दर्द दीवाने' पंजाबी युवक-कवि का संदेश लेकर शांति-निकेतन पहुँचे थे। वहाँ आपको रवि बाबू से मिलने और आश्रमवासियों के हृदय तक पहुँचने में जो कटु अनुभव हुए, उसी का फल यह 'पुस्तक' है। लेखक 'कवि' के काव्यरूप को शांति-निकेतन के 'राजसी उत्तरायण' में न देख सके। आपको वहाँ प्रांतीयता, आडम्बर-प्रियता और हृदयहीनता ही देख पड़ी और देख पड़ी 'परस्परं प्रशंसन्ति, अहो रूपमहोध्वनिः' की भावना। विश्व-कवि के अन्य आलोचकों का भी यह मत है कि वह अपने जीवन का अपने काव्य से तादात्म्य नहीं स्थापित कर सके। श्री॰ पूर्णसिंह ने उनकी कविता की आलोचना करते हुए लिखा था—"Tagore's mysticism is too abstract and impersonal in nature." 'टगोर' जयदेव के समान अपने काव्य में तन्मय नहीं दिखते। उनके 'विश्वप्रेम' ने उन्हीं की स्वाभाविक रागात्मिका वृत्तियों से उनकी चिंतना का सामंजस्य नहीं होने दिया। इसी से यदि प्रो॰ शैवाल को विश्व-कवि का 'हृदय' उनकी 'वीणा की झंकार' से पृथक् देख पड़ता है, तो आश्चर्य ही क्या है! प्रो॰ शैवाल ने इस पुस्तक में पंजाब के एक अज्ञात कवि के हृदय का किंचित् परिचय कराया है। साथ ही यह विश्वास भी दिलाया है कि यह कवि 'रवींद्र' की 'कल्पना' की उड़ान से भी बहुत ऊँचा उड़ा है। आपने अपने कथन के समर्थन में रवि बाबू और पंजाबी कवि की एक-दो कविताओं की तुलनात्मक आलोचना

भी की है। स्त्री के रहस्यमय सौंदर्य को मनुष्य की कल्पना छू भी नहीं सकती—इस भाव की ओर इंगित करते हुए पंजाबी कवि कहता है—

Even in the fullness of thy charms,
Thou art too vagul like moon,
We can not pierce thy mystic shroud,
Then why shouldst thou lurk there.
Behind these masks and veils ?

'पंजाबी कवि' की एक कल्पना की बानगी और लीजिए—

The gardener rears a rose but can't
Control its scent, it runs
With any breeze it likes.

(माली गुलाब को पनपाता है, पर वह उसकी सुरभि को अपने तक ही सीमित नहीं रख सकता—वह उसके वश में नहीं रह सकती। वह किसी भी समीर के झोंके के साथ बह जाती है।) स्थानाभाव से हम पंजाबी कवि के सुकुमार हृदय से प्रवाहित होनेवाली और भी मीठी काव्य-धाराओं का परिचय नहीं दे सकते। तो भी हमसे उसकी निम्नलिखित पंक्तियों के उद्धृत करने का लोभ-संवरण नहीं हो सका। प्रेमिका के हृदयालिंगन के पूर्व यदि मेरी मृत्यु हो जाय, तो हे देव ! मेरे इन आँसुओं को, जिन्हें मैं तेरे अनंत अंचल में बिखेरे जाता हूँ, 'उस' तक पहुँचा देना—

Poor Lord, I go for thee, But if
I die before I cross
Her high threshold, I pray, convey
My tears which I for her
Leave here in thy Eternity.

हमें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि प्रो० शैवाल पंजाब के इस उत्कृष्ट कवि को साहित्यिक जगत् में रवि बाबू से टक्कर लेने के लिये उपस्थित कर रहे हैं। हम किसी कवि के व्यक्तित्व के भक्त नहीं, हम तो 'कविता' के सौंदर्य के उपासक हैं। यदि शैवालजी के 'कवि' हमें टगोर की कल्पना से भी ऊँचे जगत् में ले जाते हैं, तो हमें उनकी महानता स्वीकार करने में आपत्ति न होगी। हमें दुःख है, जैसा कि प्रो० शैवाल ने अपनी भूमिका में लिखा है कि कुछ हिंदी के प्रकाशक पंजाबी कवि की, रवि बाबू की कविताओं से तुलना प्रदर्शित करनेवाली, पुस्तकों को प्रकाशित करने में भयभीत हो रहे हैं। इसी से उन्हें अपनी इच्छा के विरुद्ध अँगरेज़ी में पुस्तिका को प्रकाशित करना पड़ रहा है। प्रो० साहब की शुद्ध साहित्यिक भावना की क़द्र करते हुए भी हम उनकी आलोचना-शैली से ज़रा भिन्न मत रखते हैं। आपने इस पुस्तक में रवि बाबू के प्रति 'खीझमयी भावना' रक्खी है—आलोचना का Tone कहीं-कहीं अधिक उग्र एवं उच्छृंखल भी हो गया है। पुस्तक को आदि से अंत तक पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि कोई अपमानित 'पंजाबी भाई' किसी अभिमानी 'बंगाली भाशा' से 'मल्लयुद्ध' करने को उतर पड़ा है। आपकी 'भाषा' में इसी भावना की 'ललकार' है। फिर भी, पुस्तक पढ़ने में कम आनंद नहीं आता, पुस्तक में व्यंग्य-चुटकियों की कमी नहीं। लेखक किसी भी घटना का वर्णन करना ख़ूब जानते हैं। भाषा निर्दोष एवं काव्यमय है। साहित्यिक जगत् की सीमा को 'प्रांतीयता' से बाँध देने के भी हम हामी नहीं हैं। प्रो० शैवाल के कवि की रचनाएँ यदि काव्य की ऊँची सतह पर तरंगित होने योग्य होंगी, तो वह शैवालजी के ही नहीं, पंजाब के नहीं, भारत के ही नहीं, विश्व के सर्ववंद्य कवि होंगे। हम शैवालजी के 'पंजाबी कवि' की कविताओं के सुंदर संग्रह की उत्सुकता से प्रतीक्षा करते हैं।

विनयमोहन शर्मा

× × ×

मोक्षप्रदीप (केरलीय भाषा से अनुवादित)—मूल-लेखक, स्वामी ब्रह्मानंद 'शिवयोगी'; अनुवादक व प्रकाशक, स्वामी निष्कलानंद; पृष्ठ-संख्या ३८८; स्कूली साइज़, काग़ज़-छपाई उत्तम; मूल्य २।); मिलने का पता—स्वामी निष्कलानंद, देहरादून (यू० पी०)।

इस ग्रंथ में मूल-लेखक स्वामी ब्रह्मानंद 'शिवयोगी'जी का एक चित्र और आप ही की लिखी एक ३३ पृष्ठ की चटपटी भूमिका भी है एवं आदि-अंत में दो-चार बातों का और भी संपुट है। इसकी प्रकरण-सूची के नामों में—जाति-भेद-खंडन-प्रकरण, कलिकालवाद-खंडन-प्रकरण, यज्ञादि-खंडन-प्रकरण, भिक्षाटन-खंडन-प्रकरण आदि और 'मनःसिद्धौ जातिभेद-त्यागसिद्धिः', 'मनःसिद्धौ शास्त्रादि-निराकरण-सिद्धिः' इस प्रकार के मनःसिद्धौ के साथ प्रायः १८ प्रकरण, इनके अतिरिक्त

दूसरे नामों के कुल मिलाकर ३८ प्रकरण हैं । इस पुस्तक को देखने से ज्ञात होता है कि उक्त शिवयोगीजी महाराज ने वेद से लेकर साधारण विषय तक के ग्रंथों को अपनी अलौकिक योगशक्ति के प्रभाव से विचार की कसौटी पर घिस डाला एवं पूर्णब्रह्म को झटपट हथियाकर ख़ूब ही बारीकी से पहचाना है, और प्राचीन-नवीन दार्शनिकों के अज्ञान, भ्रम, माया, मोह को एकबारगी ही कूट-पीटकर देशनिकाला दे दिया है । समझ में नहीं आता कि वर्तमान युग में किन साधन-सामग्रियों से इस मोक्षप्रदीप का स्वागत करके जिज्ञासुगण भव-सागर के पार उतरने में सफल होंगे, किस मठ या पीठ में इस योगाभ्यास के लिये समाधि लगानी पड़ेगी ? और उसके लिये उपयुक्त पात्र कहाँ से सर्वतोभद्र मिल सकेंगे ? क्योंकि ऐसे मार्ग के पथिकों को '...मखिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ' होना पड़ेगा । अस्तु ! स्वामीजी ने दोनों हाथ लड्डू बाँटे हैं । जिसके भाग्य में बदा होगा, उसी को स्वाद का भी अक्षय सुख मिलेगा ।

हर्ष की बात है कि सांप्रत काल में हिंदी-साहित्य की सेवा आध्यात्मिक, दार्शनिक आदि तलस्पर्शी विचार-वैचित्र्यों के द्वारा भी भर-पेट की जा रही है ।

× × ×

श्रीहस्तसंजीवनम्—श्रीमहामहोपाध्याय श्रीमेघविजय-गणिविनिर्मितम् । संक्षिप्तलहर्याख्यव्याख्यया विभूषितम् । जैन-शिल्पज्योतिषविद्यामहोदधि - श्रीमज्जैनाचार्यजयसूरीश्वरचरणान्ते-वासिना प्रतापमुनिना संशोधितम् । तच्च प्रकाशिका मुनिश्रीमोहन-लालजीजैनग्रंथमाला, इंदोर सिटी (मालवा), वीर-संवत् २४५६ । पृष्ठ-संख्या २३८+५६=२९४; मूल्य ३); पता—मुनि श्रीमोहनलालजी जैनग्रंथमाला-कार्यालय, पीपली बाज़ार, द्राख-वाला जैन-मंदिर, इंदौर सिटी (मालवा) ।

यह जैन-संप्रदाय के अनुसार हस्तरेखा-विचार (Palmistry) पर संस्कृत में श्लोकबद्ध एवं टीका-समेत लंबा-चौड़ा ग्रंथ है । आदि में संपादक प्रताप मुनिजी की लिखी तीन पत्रों की संस्कृत में ही ऐतिहासिक भूमिका भी है । और तीन चित्र हैं, जिनके नीचे क्रम से लिखा है—(१) विश्ववंद्य परमपूज्य प्रातःस्मरणीय मुनि महाराज- श्रीमोहनलालजी महाराज, (२) परम-पूज्य प्रातःस्मरणीय मुनि महाराज श्रीमोहनलालजी के पट्टधर शिष्य पन्यासजी श्रीहर्षमुनिजी महाराज, (३) श्रीमंधिर स्वामी शासनाधिपति अधिष्ठायिका पंचागुली महादेवी । यह तीसरी महादेवीमूर्ति सिंहवाहिनी, अष्टा-दश भुजाओं में भिन्न-भिन्न आयुधों से सज्जित है । यह हाथ की पाँच उँगलियों में निवास करनेवाली महादेवी हैं । इन्हीं के अखंड प्रताप से यह 'हस्तसंजीवनम्' नाम सार्थक जानना चाहिए । इसके सिवा भिन्न-भिन्न हस्त-चित्र कई हैं और बड़ी गहरी छान-बीन करके शुभाशुभ फलों का विचार किया गया है तथा कुछ अधिक मनो-नियोग से समझ में आता है ; क्योंकि 'नारिकेलफल-सम्मितं वचः' वाली बात है । जैनपंडितों के सिवा दूसरे लोग भी टकर लेने से लाभ उठा सकते हैं ।

इन दिनों अँगरेज़ी, बँगला, हिंदी और संस्कृत में दो-चार उत्तम ग्रंथ इस विषय पर प्रकाशित हो चुके हैं । लखनऊ-नवलकिशोर-प्रेस के प्राचीन आचार्य श्रीशक्तिधर सुकुलजी का ग्रंथ, जो कई बँगला-ग्रंथों के आधार पर रचा गया है, सर्वसाधारण के प्रयोजनीय है । कई वर्ष हुए कलकत्ते के 'हिंदी-बंगवासी' आफ़िस से सामुद्रिक का एक छोटा संस्कृत-ग्रंथ हिंदी-अनुवाद के साथ निकला था । उसका आरंभ 'समुद्र उवाच' से किया गया है । समय ने पलटा खाया है, सत्य की खोज में लोग तत्पर हैं ।

गिरिजाप्रसाद द्विवेदी

× × ×

डाल्टन-प्रणाली—लेखक, डाक्टर रत्नसिंह रावत ; प्रकाशक, स्वाधीन प्रेस, अल्मोड़ा; पृष्ठ-संख्या ६५; मूल्य ॥)

इस समय शिक्षक-समुदाय के सामने यह बहुत बड़ा प्रश्न है कि प्रारंभिक शिक्षा की क्या प्रणाली हो । जनता की ओर से यह शर्त लगी हुई है कि प्रणाली ऐसी हो, जिससे माता-पिता तथा सरकार पर ख़र्च का भार कम हो । यों तो पाश्चात्य देशों में अनेक शिक्षाविधियाँ निकली हैं, परंतु वे हमारे लिये उस समय तक उपयोगी नहीं हो सकतीं, जब तक हम उन्हें सस्तगी की कसौटी पर न कस लें ।

इधर कुछ समय से पाश्चात्य देशों में प्रारंभिक शिक्षा के लिये किंडर-गार्टन तथा मांटसोरी-प्रणाली का और माध्यमिक शिक्षा के लिये डाल्टन-प्रणाली का प्रचार किया जा रहा है । अस्तु, देश की आर्थिक स्थिति तथा उसमें

अविद्या का विस्तार देखते हुए यह निश्चय करना है कि शिक्षाक्षेत्र में इन प्रणालियों का कहाँ तक प्रचार हो सकता है और यदि हो सकता है, तो किस रूप में।

इन प्रणालियों का प्रचार पाश्चात्य देशों के शिक्षा-विकास की उस अवस्था में हुआ है, जब वहाँ अविद्या का प्रश्न हल हो चुका है। वहाँ ६० फ़ी सदी जनता शिक्षित हो गई है। इस शिक्षा से देशों की समृद्धि बढ़ गई है और उनकी सामाजिक दशा में भी परिवर्तन हो गया है। अब वे शिक्षाविधि को उन्नत करने की फ़िक्र में हैं। हमारे यहाँ अभी अविद्या का प्रश्न ही नहीं हल हो पाया है, इसलिये शिक्षाविधि को उन्नत करने की ओर अभी जनता का उतना ध्यान नहीं है, जितना विस्तार की ओर।

परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि पाश्चात्य देशों ने इस ओर जो ज्ञानप्राप्ति की है, उससे हम लाभ न उठावें और अपनी शिक्षाप्रणाली की उन्नति न करें। इस विचार से हम प्रस्तुत पुस्तक का स्वागत करते हैं और देहात के प्रारंभिक तथा माध्यमिक शिक्षालयों के अध्यापकों से अनुरोध करते हैं कि वे उस पुस्तक का मंथन करें और इन पाश्चात्य प्रणालियों के सिद्धांतों के अनुसार अपनी पढ़ाई के ढंग को उन्नत करने का प्रयत्न करें। शर्त यही है कि पढ़ाई का ढंग बदलते समय इतना वे अवश्य देख लें कि नए ढंग से ख़र्च तो नहीं बढ़ रहा है। यदि नए ढंग से ख़र्च कम हो जाय, तो और भी अच्छा हो।

डाल्टन-प्रणाली की ओर ध्यान से देखिए, तो मालूम होगा कि यह हमारी गुरुशालाओं की पाठ्य-प्रणाली का पश्चिमी अनुरूप-मात्र है। हमारे गुरुजी का ढंग यह था कि ४० या ५० लड़के बैठे हैं, कोई हिसाब कर रहा है, कोई हिंदी पढ़ रहा है, कोई जोड़-बाक़ी लगा रहा है, तो कोई ब्याज-बट्टे तक पहुँच गया है; कोई अक्षर-ज्ञान तक पहुँचा है, तो कोई बही लिखने योग्य भी है—सभी को गुरुजी एक साथ पढ़ा रहे हैं, सब अपनी-अपनी चाल से उन्नति कर रहे हैं। यही ढंग डाल्टन-प्रणाली में है। भेद केवल इतना है कि लड़कों को अपना-अपना काम बता दिया जाता है और अध्यापक नियत अवधि पर उसकी जाँच करते रहते हैं। अँगरेज़ी ढंग की डाल्टन-प्रणाली में काग़ज़ और किताबों का ख़र्च बहुत बढ़ जाता है।

परंतु देहात की माध्यमिक शालाओं में ख़र्च बढ़ाने का ढंग नहीं रखना चाहिए। लड़के स्लेट या तख़्ती पर काम करके बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उनके लिये पाठ्य-पुस्तक का ख़र्च ही यथेष्ट है। यदि विशेष सामान की आवश्यकता हो, तो देहात ही से प्राप्य वस्तुओं द्वारा वह तैयार किया जाय। चित्रों को ख़रीद कर उनके द्वारा पढ़ाने में उतना आनंद नहीं है, जितना काले तख़्ते पर खरिया से चित्र बनाकर पढ़ाने में है।

प्रस्तुत पुस्तक में खेल द्वारा प्रारंभिक शिक्षा के जो ढंग बताए गए हैं, उनमें ख़र्च बढ़ने की संभावना नहीं मालूम होती। लेखक महोदय अपने अनुभव से लिख रहे हैं, इसलिये आशा है कि पुस्तक में आपने जिस खेल-प्रणाली के उदाहरण दिए हैं, वे मार्गप्रदर्शन के लिये अध्यापकों को यथेष्ट होंगे। हमारा विचार तो यह भी है कि यदि इन नवीन प्रणालियों का समझदारी से प्रचार किया जाय, तो शिक्षा का ख़र्च प्रति विद्यार्थी कम हो सकता है; क्योंकि प्रचलित प्रणाली में बचत की अभी क़ाफ़ी गुंजाइश है।

कालिदास कपूर

× × ×

सिद्धप्रयोगपारिजात—लेखक और प्रकाशक, पं० मुरारीलाल शर्मा वैद्यशास्त्री, हवेली खरगपुर (मुंगेर); आकार मँझोला (डबलक्राउन १६ पेजी); छपाई और काग़ज़ संतोष-जनक; पृष्ठ-संख्या १२८; मूल्य १)

श्रीपं० मुरारीलालजी वैद्यशास्त्री, मालूम होता है, चिकित्सा का कार्य बहुत दिनों से कर रहे हैं। इस पुस्तक में उन्होंने अपने अनुभूत शास्त्रीय, गुरु-परंपरागत तथा अन्य प्रकार से उपलब्ध प्रयोगों का संग्रह छपाया है। आपका कहना है कि "मेरे ३० वर्ष बल्कि इससे भी २-४ वर्ष अधिक के अनुभव से जो जाना गया है और आयुर्वेद-समुद्र से उत्तमोत्तम निकाला हुआ रत्न गुरु-परंपरा से तथा पुरानी हस्तलिखित पुस्तक के (से) सैकड़ों बार आजमाया हुआ प्रत्यक्ष फलप्रद प्रयोग सर्व-साधारण मनुष्यों व वैद्यों के लिये निष्कपट भाव से लिखा जाय, तो आयुर्वेद की उन्नति किसी अंश में अवश्य हो।" इसी के आगे आपने लिखा है—

"अनुभूत प्रयोगों का भूत आज समस्त संसार के आयुर्वेद-प्रेमियों के मस्तक पर चढ़ा हुआ है। यद्यपि

आयुर्वेद के समस्त प्रयोग अनुभूत हैं, मिथ्या एक भी नहीं, कारण त्रिकालज्ञ तपोनिष्ठ महर्षियों की तपोबल से सहस्रों वर्ष की आयु होती थी और अनेकानेक बार का आज़माया हुआ प्रयोग ही लिखते थे, विना आज़-माया एक भी नहीं, किंतु जैसी हालत में जो प्रयोग चलाना चाहिए, यह साधारण मनुष्य नहीं जानते, वैद्यवर जानते हैं और विना निदान यानी बग़ैर रोग की पहचान हुए, कोई भी उत्तम-से-उत्तम प्रयोग रहे, लाभ नहीं करता।"

हम आपकी इन बातों से सहमत हैं। आशा है, समझदार वैद्य और सद्गृहस्थ लोग आपके इन प्रयोगों का अनुभव करके लाभ उठावेंगे।

× × ×

अनुभूत बालचिकित्सा—लेखक, प्रकाशक, आकार, छपाई, कागज़ आदि सब पूर्वोक्त; पृष्ठ-संख्या ८७ और अंत में ६ पृष्ठ का परिशिष्ट; मूल्य ॥=)

पुस्तक का विषय उसके नाम से ही प्रकट है।

दोनों पुस्तकें प्रकाशक से प्राप्य।

शालग्राम शास्त्री

× × ×

स्वप्नवासवदत्ता—अनुवादक, श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त; प्रकाशक, साहित्य-सदन चिरगाँव, झाँसी; सुंदर आवरणयुक्त जिल्द, छपाई-सफ़ाई बहुत बढ़िया; कागज़ भी चिकना और मोटा; आकार छोटा और पृष्ठ-संख्या सवा सौ; मूल्य दस आने ।

उक्त साहित्य-सदन से प्रकाशित 'साहित्य-मणि-माला' की यह तीसरी मणि है। बहुत सुंदर है। संस्कृत-साहित्य में महाकवि भास का नाम सुप्रसिद्ध है। आप कवि-कुल-गुरु कालिदास से भी बहुत प्राचीन हैं। नाट्य-रचना में आप कालिदास से कम नहीं हैं। अभी थोड़े ही दिन हुए, आपके तेरह ग्रंथ-रत्नों का पता चला है। उनमें से यह 'स्वप्नवासवदत्ता' अन्यतम है।

इस नाटक में पाठकों को रस-सुधा के अतिरिक्त यह स्वर्गीय दृश्य भी देख पड़ेगा कि एक पति की दो पत्नियाँ, समय पड़ने पर, किस उदारता से रह सकती हैं। वासवदत्ता का चरित्र बड़ा ही उदार और उदात्त है और उससे भी बढ़कर उसकी सपत्नी पद्मावती का।

अनुवाद भी अच्छा हुआ है; परंतु गुप्तजी स्वतंत्र रचना में जैसे कृतकार्य होते हैं, वैसे अनुवाद में नहीं। यह कटु सत्य कहने के लिये अंतरात्मा प्रेरणा करती है। पुस्तक पठनीय और संग्रहणीय है, हिंदी की स्थायी चीज़ है। यह नाटक खेलने योग्य भी है।

× × ×

पृथ्वीराज चौहान (नाटक)—लेखक, श्रीगोविंदरामजी गुप्त 'वसंत'; प्रकाशक, बेलवेडियर-प्रेस, प्रयाग; छपाई-सफ़ाई और कागज़ साधारण; पृष्ठ-संख्या दो सौ से ऊपर, और मूल्य १।) ।

नाटक खेलने योग्य नहीं है; क्योंकि बहुत बड़ा है। चित्र भी कितने ही दिए हैं; पर सब भद्दे और बेढंगे ! मुख-पृष्ठ पर पृथ्वीराज और संयोगिता का चित्र है, जिसमें उक्त सम्राट् ऐसे मालूम पड़ते हैं, जैसे कोई ग्रामीण बदमाश ! यही हाल संयोगिता का है ! भीतर के भी सब चित्र ऐसे ही हैं। भाषा में ग़लतियाँ कम हैं; पर वह है बिलकुल साधारण—नाटक के अयोग्य। भावों में गांभीर्य नहीं है। परंतु हाँ, लेखक का उद्देश्य और विषय अच्छा है।

भूमिका में लेखक महाशय दृश्यकाव्य-प्रचलित 'स्वगत-कथन' से बहुत चिढ़े हैं और प्रकृत नाटक में इस महाव्याधि से बचने की प्रतिज्ञा की है, परंतु खेद है, इच्छा रखते हुए भी आप नहीं बच सके हैं। पद-पद पर स्वगत-कथन भरे पड़े हैं; परंतु उनकी स्पष्टता 'स्वगत' लिखकर नहीं की गई है। हाँ, एक आविष्कार और हुआ है—'अर्द्ध-स्वगत' का ! यह 'अर्द्ध-स्वगत' क्या बला है और स्वगत से इसमें क्या अंतर है ?

नाटक में दिए हुए पद्यों में से अधिकांश अच्छे बन पड़े हैं। लेखक महाशय नाटक की अपेक्षा श्रव्यकाव्य के प्रणयन में शायद अधिक सफल हो सकते हैं। कुल मिलाकर पुस्तक तो बुरी नहीं है; पर मूल्य कुछ अधिक जान पड़ता है।

× × ×

अंजना सुंदरी (नाटक)—लेखक, श्रीउमाशंकरजी मेहता; प्रकाशक, एस्० एस्० मेहता एण्ड ब्रादर्स, काशी; छपाई-सफ़ाई और कागज़ साधारण; पृष्ठ-संख्या लगभग सवा सौ और मूल्य (अजिल्द का) ।।।); प्रकाशक से प्राप्य।

इसका कथानक पौराणिक है, जिसका संबंध श्री-हनुमान्‌जी के जन्म से है। श्रीहनुमान्‌जी की मा अंजना देवी के पातिव्रत्य का प्रदर्शन है। इनकी कथा श्रीसीताजी के निर्वासन और पुनः सम्मिलन से बिलकुल मिलती-जुलती है।

कथानक उत्तम होते हुए भी नाटक बिलकुल भद्दा और बेढंगा है; प्रत्युत 'नाटक' नाम पाने का अधिकारी भी नहीं है। भाषा अशुद्ध और मुहाविरे ग़लत हैं। भावों का तो नाम ही न लेना चाहिए। पद्य के नाम से बीच-बीच में अंडबंड तुकबंदियाँ हैं—निरी बे-सिर-पैर की ! इसको भक्तजन पढ़ें, तो अवश्य आनंद आएगा; किंतु यदि कोई साहित्यिक हुआ, तो बारह आने पैसे और कम-से-कम तीन घंटे का समय व्यर्थ गया समझकर तीन ही घंटे फिर पछताने में लगाएगा।

मेरी राय में तो लेखक महाशय नाटक न लिखकर कहानी-सी कुछ लिखते, तो अच्छा होता; साधारण मा-बहनों के लिये कुछ उपयोगी होती।

× × ×

मोहन-मोहिनी (नाटक !)—लेखक, पं० श्रीलक्ष्मी-नारायणजी क० चतुर्वेदी और प्रकाशक भी वही; छपाई आदि 'थर्ड क्लास'; पृष्ठ-संख्या ६२ और मूल्य ।।)

यह 'चौबे-लक्ष्मी-लता' का प्रथम गुच्छ (!) है!

मिलने का पता है—श्रीलक्ष्मीनारायणजी चतुर्वेदी, हिंदी-अध्यापक, श्रीगोदावत जैन गुरुकुल पो० छोटी सादड़ी (मेवाड़), वाया नीमच छावनी।

एक कल्पित कहानी लिखी है, उसी को आपने नाटक नाम दिया है। नाटक में कल्पित नहीं, ऐतिहासिक या सची घटना का वर्णन होता है। कल्पित कथानक 'प्रकरण' में होता है। यही नाटक और प्रकरण में मोटा भेद है। परंतु यह तो नाटक और प्रकरण कुछ भी नहीं है! महज़ तमाशा है। कहीं का ईंट और कहीं का रोड़ा जोड़ दिया गया है। भाषा भोंड़ी और अशुद्ध है। हमें इसमें कोई भी बात अच्छी नहीं मिली, सिवा लेखक के उद्देश्य के। आपका उद्देश्य अच्छा है—बाल-विवाह-निवारण! परंतु इससे क्या? हम तो उद्देश्य या विषय की नहीं, किंतु पुस्तक की आलोचना कर रहे हैं। थोड़े में यह कि पुस्तक कौड़ी काम की भी नहीं।

किशोरीदास वाजपेयी

कृषि, शिल्प और वाणिज्य

१. गोबर की खाद

भारतवर्ष कृषिप्रधान देश है। यही कारण है कि यहाँ पर ७० फ़ी सदी आदमी देहातों में रहते हैं। किंतु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि ऐसा बड़ा कृषिप्रधान देश होकर भी यहाँ की फ़सलों की पैदावार दिन-पर-दिन कम होती जाती है। इसका मूल-कारण एक-मात्र यही है कि यहाँ के लोग लगातार एक खेत में बार-बार वही फ़सल लगाते हैं और खाद का उपयोग तो वे शायद जानते ही नहीं। ऐसा कोई किसान न होगा, जिसके पास थोड़ी बहुत मवेशी न हों। इन मवेशियों का जो गोबर होता है, उसका वे क्या करते हैं! इसको वे खाद के उपयोग में न लाकर किसी दूसरे ही काम में लाते हैं। वे इसके कंडे बनाते और ईंधन के काम में लाते हैं या मकान वग़ैरह की लिपाई उससे करते हैं। यदि वे इस गोबर का ईंधन के रूप में उपयोग न करें, खाद के रूप में उपयोग करें, तो वे ज़मीन को उपजाऊ बनाकर, अच्छी-अच्छी फ़सलें पैदा कर देश की हालत को और ख़ुद अपनी हालत को सुधार सकते हैं।

यद्यपि यह देखा गया है कि अधिकतर किसान यह मंज़ूर करते हैं और ख़ुद समझते हैं कि गोबर की खाद देने से ख़रीफ़ की फ़सल और कछवारों की फ़सलों को अधिक लाभ होता है और उनकी पैदावार भी कई गुना बढ़ जाती है, फिर भी कुछ किसान ऐसे भी मिलेंगे, जो यह समझते हैं कि गोबर की खाद से लेशमात्र भी लाभ नहीं होता।

गोबर की खाद से मतलब है—सड़ा हुआ या अधसड़ा गोबर, मूत्र और कूड़ा-कचरा इत्यादि। यह सब प्रकार के खाद्यों से पुराना और साधारण है। प्रायः आधे से अधिक घास वग़ैरह और प्रायः सब चुनी-भूसी-खली इत्यादि जो जानवरों को खिलाई जाती है, पच जाती है और बाक़ी गोबर के रूप में निकल आती है। अब जो पची हुई चीज़ बहुत ख़ून बनाती है और उसमें जो नत्रजन और पोटाश रहता है, वह मूत्र के रूप में निकल आता है। इसलिये गोबर कड़ा रहने से उसमें जो मूत्र मिल जाता है, उससे बहुत ही अच्छा खाद्य बन

जाता है और वह ज़मीन को उपजाऊ बनाने में बड़ा लाभकारी होता है। इसलिये ऐसा कहा जाता है कि सबसे अच्छा खाद्य वह है, जिसमें अधिक मूत्र हो। मान लो, हम अपने बैल को ज्वारी खिलाते हैं, तो उसका सबसे अधिक लाभदायक भाग, जिसे ज्वारी के पौदे ने ज़मीन से लिया था, गोबर और मूत्र के रूप में निकल आता है। परंतु याद रक्खो, खाद्य के गुण जानवर के भोजन पर निर्भर हैं। यदि जानवर को खाने को अच्छा दिया जाता है तो उसके गोबर और मूत्र से जो खाद्य बनेगा, वह भी अच्छा और लाभकारी होगा। इससे हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि अच्छी खली खिलाओगे, तो उससे अच्छा खाद्य मिलेगा; क्योंकि अच्छी खली तभी कही जा सकती है, जब उसमें अधिक तेल हो. परंतु अच्छा खाद्य तभी कहा जा सकता है जब उसमें अधिक नत्रजन हो। अलसी की खली, जिसमें सिर्फ़ सात फ़ी सदी तेल रहता है, दूसरी क़ीमती खलों की अपेक्षा, जिसमें दस फ़ी सदी तेल रहता है, अच्छा खाद्य देती है। इसके सिवा मूत्र का अच्छापन जानवर पर भी निर्भर है। जिन जानवरों में अधिक चर्बी होती है, वे सिर्फ़ ५% नत्रजन रखते हैं, बाक़ी सब मूत्र में बहा देते हैं। परंतु बढ़नेवाले जानवरों (बछड़े इत्यादि) और दूध देनेवाली गायों को अधिक नत्रजन की आवश्यकता पड़ती है, इससे उनका मूत्र कम लाभकारी होता है; क्योंकि उसमें नत्रजन कम रहता है। इससे चर्बीवाले जानवर, बछड़ों और दूध देनेवाली गायों की अपेक्षा अच्छा खाद्य देते हैं।

जब देखा जाता है कि मूत्र में बहुत-सा पोटाश और आधे से अधिक नत्रजन रहता है, तो किसी तरह भी उसे बरबाद न होने देना चाहिए; उसमें घास इत्यादि कूड़ा-कचरा मिला देना चाहिए तथा सड़ाकर खाद्य बना लेना चाहिए। ऐसा करने से सिर्फ़ कूड़ा-कचरा ही नहीं सड़ जाता है, बल्कि गोबर का खाद्य इससे बहुत अच्छा और लाभदायक बन जाता है; क्योंकि उसमें बहुत-सी उपयोगी वस्तुएँ मिली रहती हैं। कूड़े-कचरे आदि में भी काफ़ी तादाद में नत्रजन और पोटाश रहता है। इसमें क़रीब एक टन में १८ शिलिंग उपजाऊ बनाने की वस्तुएँ रहती हैं। खाद्य में कूड़े-कचरा का औसत नीचे दिया जाता है।

	नत्रजन	फ़ास्फोरिक एसिड	पोटाश
ओट या जई का पयाल	०.५०	०.२४	१.००
गेहूँ ,, ,,	०.४५	०.२४	०.८०
जौ ,, ,,	०.४०	०.१८	१.००
ब्रेकन (Bracken) ,, ,,	१.४	०.२	०.१
Peat Moss ,, ,,	०.८	०.१	०.२

यह औसत १०० पौंड खाद का बताया गया है। ब्रेकन और पयाल बहुत ही अच्छे होते हैं। मोटी और रेतीली मिट्टी में यह बहुत ही लाभदायक हैं। Peat Moss का बहुधा उपयोग ही नहीं होता; क्योंकि पयाल बहुत तादाद में मिलता है।

खाद की आवश्यकता

जब हम कोई भी फ़सल उगाते हैं, तो वह अपने-आप बढ़ने के लिये कुछ-न-कुछ भोजन चाहती है। उसका कुछ भोजन हवा में से और कुछ ज़मीन की मिट्टी के लवण में से प्राप्त होता है। यदि हम हर साल फ़सलें लगाते और बेचते जायँ और ज़मीन को कोई चीज़ न दें, तो ज़मीन ग़रीब याने कम उपजाऊ हो जायगी। अच्छी फ़सलें लेने के लिये हमें ज़मीन को भी खिलाना अति आवश्यक है और ज़मीन का सबसे उत्तम भोजन वही पदार्थ है जो हमको जानवरों से गोबर और मूत्र के रूप में मिलता है। सचमुच यदि किसान सावधान है याने वह जो कुछ फ़सल से पैदा करता है उसी में से वह जानवरों को खिलाता है, तो बहुत सरलता से जो कुछ ज़मीन में से निकलता है, उसे भी उसे वापस कर सकता है।

खाद की अच्छाई किन बातों पर निर्भर है ?

(१) जो जानवर खाद देता है, वह किस प्रकार का है। इसका प्रभाव खाद पर किस तरह से पड़ता है, यह ऊपर बताया जा चुका है, (२) जानवर किस काम के लिये रक्खा गया है, (३) कितना गीलापन और कितना कचरा खाद्य में है, (४) भोजन जो जानवर को दिया जाता है, (५) किसान की सावधानी, जिससे किसी प्रकार की हानि न हो।

यह देखा गया है कि एक मन भेड़ों का खाद्य एक मन बैल के गोबर के खाद्य से अधिक उपयोगी है। इस लेख में पहले ही बता चुके हैं कि जितना अच्छा भोजन जानवर को मिलेगा, उतना अच्छा खाद्य वह देगा।

खाद की तैयारी

मूत्र दो तरह से बचाया जाता है—(१) गायों और बैलों की सार की फ़र्श को पत्थरों से पटवाने से और जानवरों की पिछाड़ी की तरफ़ एक नाली होने से मूत्र को इकट्ठा कर सकते हैं। इस फ़र्श को पानी से धोना चाहिए, परंतु जितना कम हो सके, उतना कम पानी काम में लाना चाहिए। और, यह सब गोबर उठाने के बाद करना उचित है। पानी से धोने से मूत्र नाली में बह जाता और एक गड्ढे में जमा होता है। वहाँ से वह खाद्य के गड्ढे में डाला जाता है।

(२) कोई ऐसी चीज़ रखने से, जो मूत्र को सोख ले, काम चल सकता है। इसका कचरा, घास, पत्ते और सूखी मिट्टी उपयोगी है। अक्टोबर से जून तक सूखी मिट्टी बहुत लाभदायक है। बरसात में यह अधिक उपयोगी नहीं है। यह सूखी मिट्टी कई प्रकार से काम में लाई जा सकती है; परंतु नीचे लिखी रीति बहुत ही उपयोगी है। बरसात समाप्त होने के बाद मिट्टी और कचरा सब अलग कर देना चाहिए। सार का फ़र्श खोदना चाहिए और इतना खोदना चाहिए कि पहले वह ६″–८″ गहरा हो जाय। इस खुदी हुई जगह में ३″–४″ ऊँची सूखी मिट्टी डालनी चाहिए। यह सूखी मिट्टी चार हफ़्ते तक मूत्र सोखेगी, परंतु इसकी सहायता के लिये इसको क़रीब एक हफ़्ते तक ढीला कर देना चाहिए। चार हफ़्ते के बाद इस पर ३″ ऊँची सूखी मिट्टी और डालनी चाहिए। इसी तरह हर बार करते जाना चाहिए।

गोबर

इसके लिये यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि गोबर में बहुत पानी न भरने पावे और वह बहुत सूखने भी न पावे। हमें उसे अच्छी तरह से ठाँसकर गड्ढे में रखना चाहिए।

इसका परिमाण जानवरों की गिनती पर निर्भर है। जितने ज़्यादा जानवर रक्खोगे, उतना ही बड़ा गड्ढा बनाना आवश्यक है। एक आयताकार गड्ढा गहरा खोदा जाता है। इसके किनारे पर चारों तरफ़ एक दीवार बनाई जाती है, जो सिर्फ़ ज़मीन की सतह तक रहती है। दोनों तरफ़ लंबाई में और एक तरफ़ चौड़ाई में दीवार ऊँची बनाई जाती है, जिससे काफ़ी गहराई आ जाय। एक तरफ़ दीवार इसलिये नहीं बनाई जाती है कि भरने में और ख़ाली करने में सहूलियत रहे। इसके ऊपर एक मामूली छप्पर बनाया जाता है, जो लकड़ी के छोटे-छोटे खंभों पर सँभला रहता है। इससे पानी और धूप की रुकावट रहती है।

जब यह बनकर तैयार हो जाय तो फिर इसमें गोबर, मूत्र, कचरा आदि भरना चाहिए और इस तरह से अच्छा खाद्य तैयार कर लेना चाहिए।

गोबर-खाद्य का प्रभाव

खाद्य	१० साल की कपास की औसत पैदावार	विना खाद्य पर लाभ	१० साल की ज्वार की औसत पैदावार	विना खाद्य पर लाभ
	पौं०	पौं०	पौं०	०
१ गोबर और मूत्र	७०८	३८७	८०२	३७१
२ गोबर	५२३	२०२	६७१	२४०
३ मूत्र	५२१	२००	६५५	२२४
४ कोई खाद्य नहीं	३२१	...	४३१	...

खाद्य	फाडर ज्वार की औसत पैदावार पौं०
१ गोबर और मूत्र	५२,६६६
२ गोबर	१०,७६०
३ मूत्र	११,४४२
४ कोई खाद्य नहीं	६,०२६

कपास एक एकड़ से	कपास एक एकड़ से
गोबर और मूत्र—७०८ पौं०	मूत्र—५२१ पौं०
विना खाद्य के—३०१ पौं०	गोबर—५२३ पौं०
कुल १००६ पौं०	कुल १,०४४ पौं०

इन सब अंकों से साफ़ ज़ाहिर होता है कि बिना खाद के पैदावारी सबसे कम होती है और गोबर और मूत्र की खाद सबसे अधिक पैदा होती है । इसलिये किसानों को चाहिए कि वे खाद के उपयोग को समझें, उसे अच्छी तरह अपनावें और अच्छी पैदावार कर उन्नतिशील बनें ।

गोबर की खाद का जो प्रभाव पड़ता है, वह मुख्यतः दो प्रकार का है—(१) मिट्टी पर बहुत अच्छा असर पड़ता है और (२) ज़मीन में अधिक समय तक पानी को रोके रहने की ताक़त बढ़ जाती है ।

जिस ज़मीन में गोबर की खाद दी जाती है, उसमें उस ज़मीन की अपेक्षा जिसमें कोई खाद नहीं दी गई है, जून के महीने में भी अधिक पानी मिलता है। सचमुच इस खाद से ज़मीन में पानी सोखने की इतनी ताक़त बढ़ जाती है कि बरसात का पानी सब सूखकर रह जाता है और बहकर जाने नहीं पाता। गोबर-खाद्य का प्रभाव ज़मीन को उपजाऊ रखने में किस तरह पड़ता है, इसके प्रमाण के लिये एक बार ऊपर बतलाए ढंग से खाद देकर देखना चाहिए।

गोबर की खाद का उपयोग

गोबर की खाद नत्रजन और पोटाश अधिक देती है; परंतु इसमें फास्फेट्स की कमी रहती है, और इसलिये सबसे अधिक लाभ तब होता है, जब यह किसी दूसरी खाद के साथ दी जाय। गोबर की खाद हमेशा जड़ों में दी जाती है—ख़ासकर आलू वग़ैरह की फ़सलों में। कुछ बीज में भी चली जाती है और कुछ चराई की ज़मीन में भी चली जाती है।

गोबर की खाद देने का समय अकसर आबहवा पर निर्भर रहता है। सिर्फ़ आबहवा पर ही नहीं, इसके साथ-साथ, फ़सल और कुलियों पर भी निर्भर है। मज़दूरी के लिहाज़ से देखा जाय, तो इसे, शीतकाल या पतझड़ में, खेतों में डालना लाभदायक होगा। अतएव उसे वसंत-ऋतु तक तैयार कर लेना चाहिए। ऐसा करना उन्हीं ज़िलों में लाभकारी है, जिनमें क़रीब ३० इंच या इससे कम पानी बरसता है। जिन ज़िलों में ३५ इंच या अधिक पानी बरसता है, वहाँ वसंत-ऋतु में देना ही उचित है।

गोबर की खाद सब खादों से सस्ती, अधिक मिलनेवाली, अधिक लाभकारी और अधिक उपयोगी है।

बी० एम्० चंदेल

× × ×

२. भारतीय व्यापार और व्यवसाय

(शेषांश)

आजकल भारतीय मिलें क़रीब २ अरब ७१ करोड़ गज़ पैदा करती हैं; किंतु १६२७–२८ में भारतीय मिलों ने ३ अरब ३५ करोड़ ७० लाख गज़ कपड़ा तैयार किया था। तब से अब तक व्यापार बहुत बढ़ गया है। अहमदाबाद और उत्तर-भारत में कई नई मिलें चलने लगी हैं। किन्हीं-किन्हीं मिलों में रात में भी काम होता है और सो भी दुगुने शिफ़्ट से। इससे यह अनुमान ग़लत नहीं है कि भारतीय मिलों की उत्पत्ति क़रीब २ अरब ७० करोड़ गज़ है। और, देश में कपड़े की कुल खपत अधिक-से-अधिक ३ अरब ६० लाख गज़ है, इस प्रकार हमें ६० करोड़ गज़ कपड़े की ज़रूरत रह जाती है। पर बाहर से कपड़ा १ अरब ६० करोड़ गज़ आता है। उसे इस अनुपयुक्त संरक्षण-कर से कैसे रोका जा सकता है? यह कहना भी ठीक नहीं है कि जापान से ही भारतीय मिलों को धक्का लगा है। जापान से तो सफ़ेद सादे माल में ही प्रतिद्वंद्विता हुई है, जिसे हम लट्ठा वग़ैरह कहते हैं। पर लंकाशायर तो धोतियाँ और रंगीन माल में भारतवर्ष का मुक़ाबला करता है। १६२४–२५ में धोतियों की कुल खपत ६४ करोड़ ७० लाख गज़ थी। भारतीय मिलें आजकल ७० करोड़ गज़ माल तैयार करती हैं। इस प्रकार हमें सिर्फ़ २५ करोड़ गज़ बाहर का चाहिए। किंतु आमदनी ४८ करोड़ ८० लाख

गज़ की होती है। क़रीब-क़रीब यही आयात प्रतिवर्ष
होता है। इधर १६२७–२८ में भारतीय मिलों ने धोती
की पैदावार बढ़ा दी और ६१ करोड़ ६० लाख गज़ माल
बनाया। इस अवस्था में या तो बाहर से माल आना
बंद किया जाय या भारतीय मिलों पर कुल्हाड़ा मारा
जाय। आयात न घटने के कारण पैदावार सिर्फ़ ५६
करोड़ ४० लाख गज़ रह गई। रंगीन कपड़े का आयात
लंकाशायर से १६२४–२५ में ३३ करोड़ ८० लाख गज़
था और यही आमदनी प्रायः प्रतिवर्ष होती है। भार-
तीय मिलों की पैदावार १६२७–२८ में ६८ करोड़ १०
लाख गज़ पहुँच गई थी; किंतु १६२८–२६ में ४८ करोड़
७० लाख गज़ रह गई। मिलों के सब माल की पैदा-
वार पर ध्यान दिया जाय, तो पता चलेगा कि यद्यपि
कपड़े के आयात माल में वस्तुतः कोई कमी नहीं हुई
है, तथापि भारतीय मिलों की पैदावार जो ११२७–२८ में
२ अरब २५ करोड़ ७० लाख गज़ थी, वह १६२८–२६
में १ अरब ८६ करोड़ ३० लाख गज़ रह गई। इन
अंकों से वस्तुस्थिति का पता चलता है। यदि लंका-
शायर के साथ रियायत की जाती है, तो भारतीय व्या-
पारियों का रुपया पानी में फेंकना होगा। दो तिहाई
कपड़े के आयात को अछूता न छोड़ने के लिये २० सैकड़े
ड्यूटी या साढ़े तीन आने प्रति पौंड ड्यूटी सब विदेशी
माल पर लगाई जाय। यदि यह नहीं लगाई जाती, तो
लंकाशायर को जापान से भिड़ने का मौक़ा दिया जाता
है। पिछले दो साल के अंकों से पता चलेगा कि युनाइ-
टेड किंगडम के आयात में कितनी घटी हुई है –

	ग्रेट-ब्रिटेन— गज़	अन्य देश गज़
१६२७-२८	१ अरब ५४ करोड़ ३० लाख।	४३ करोड़
	कुल जोड़ १ अरब ६७ करोड़ ३० लाख गज़	
१६२६,	१ अरब ३० करोड़,	६८ करोड़
	कुल जोड़ १ अरब ५४ करोड़ ३० लाख	

इस प्रकार नए टैरिफ़ में जितना हमें संरक्षण दिया
जाता है, उतना ही ग्रेट-ब्रिटेन को हमसे दिलाया जाता
है। ग़रीब भारतवासियों के धन से उस धंधे को रक्षा
की जाती है, जो भारतवर्ष में नहीं है, बल्कि जिसने
हमेशा भारतीय कपड़ों के व्यवसाय को नष्ट करने की
इच्छा की है। हम शब्दों द्वारा अँगरेज़ी धंधों की रक्षा
करने के विरोधी नहीं हैं; पर विदेशी धंधे की रक्षा
अपनी जेब से करने के प्रश्न को नहीं स्वीकार कर सकते।
मगर इस ढंग से ग़रीब भारतवासियों से प्रतिवर्ष
दो करोड़ रुपए लंकाशायर के हित के लिये देने पड़ेंगे। यह
सहायता दरअसल लंकाशायर के लिये है, इसे मैन-
चेस्टर चेम्बर आफ़ कामर्स के अध्यक्ष ने अपने वक्तव्य में
स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। श्रीयुत के० सी० राय ने
कहा कि एक आस्ट्रेलियन अर्थशास्त्री के शब्दों में "ग्रेट-
ब्रिटेन के कपड़े का व्यापार अमेरिका और जापान की
प्रतिद्वंद्विता के कारण नष्ट हो रहा है; किंतु उन्हें अमेरिका
से कोई अनुराग नहीं है, जहाँ भारतवासी तिरस्कृत किए
जाते हैं, पर जापान के एशिया में होने के कारण उससे
अनुराग है।" इस प्रकार के वक्तव्यों ने यह प्रकट किया
कि इम्पीरियल प्रिफ़रेंस भारतवर्ष के लिये चुनौती है।
साम्राज्य के माल को स्वदेशी की परिभाषा के अंतर्गत
करना परले सिरे की मूर्खता है। जिन्हें अपने देश से
अनुराग है, वे अपने देश के माल को ही प्रिफ़रेंस देंगे।
यदि देशहित के लिये भारी कर भी देना पड़े, तो कोई
हर्ज नहीं है; किंतु लंकाशायर को देने के लिये अभागे
लोगों के पास कहाँ पैसे रक्खे हैं। जनता का धन छीन-
कर इँगलैंड को ढाई करोड़ रुपए देने के लिये विवश
करना भी क्या आर्थिक स्वाधीनता है? इँगलैंड व्यवसाय
में जापान का मुक़ाबला नहीं कर सकता; पर आज वह
पराधीन भारतवासियों से लाभ उठाकर जापान को कुच-
लने के लिये पैर बढ़ा रहा है। आर्थिक स्वाधीनता के संबंध
में पंडित मदनमोहन मालवीय ने जो सवाल उठाया था,
उससे यह बात प्रकट हो गई है कि भारतीय व्यवस्थापिका
परिषद् को पूर्णरूप से टैक्स आदि लगाने की ज़रा भी
स्वाधीनता नहीं है।

सरकार की ओर से स्पष्ट कह दिया गया कि जो माँगते
हैं, वह यह नहीं कह सकते कि इतना ही दो। उन्हें
जितना मिलेगा, उतना लेना पड़ेगा। लंकाशायर ने भारत
के हितों को सदैव कुचला है। वह इस देश की हर प्रकार
की उन्नति में सदैव बाधक होता है। अब देश को आर्थिक
स्वाधीनता प्राप्त है, तो लंकाशायर का भय करना व्यर्थ
है। यह कहना कि अधिक कर से ग़रीब भारतवासी मर
जायँगे, कोई अर्थ नहीं रखता। कपड़े का उद्योग देश
का सबसे बड़ा उद्योग है, उसे अपने पैरों खड़ा करने से

इनकार करने में कोई भारतवासी विमुख नहीं होगा। पर यह उद्योग तभी उन्नति कर सकता है, जब विदेशी माल पर अधिक संरक्षण-कर हो। आस्ट्रेलिया की उन्नति अधिक करों के लगाने से हुई है। कनाडा, अमेरिका और संसार के अन्य बहुत-से देशों ने भारी कर लगा रक्खे हैं। संसार में कोई ऐसा भाग नहीं है, न कोई ऐसा देश है, जहाँ भारतवर्ष की तरह राष्ट्रीय उद्योग को संरक्षण देने से सरकार विमुख होती हो। क्या इन देशों के लोग मूर्ख हैं, जिन्होंने अपने उद्योग-धंधों को अपने पैरों पर खड़े होने के लिये भारी-से-भारी कर लगाए? यदि देश के राष्ट्रीय धंधे के लिये भारी-से-भारी कर लगाया जाय, तो देशवासी उसे चुकाने के लिये तैयार हैं। दूसरे प्रकार से भी देखा जाय, तो लंकाशायर का धंदा कोई नया नहीं है। उसका तो संसार में सब से बड़ा स्थान है। यदि उसने जापान के मुक़ाबले में भारत का बाज़ार कुछ खो दिया है, तो इसमें उसका श्रेय नहीं है। लंकाशायर ने पिछले ५ वर्षों में तीन करोड़ ४० लाख गज़ का आयात खो दिया है, और जापान ने इन्हीं वर्षों में ३ करोड़ ३० लाख गज़ आयात बढ़ा लिया है। इसमें जापान के संगठन की ख़ूबी है। अंतर-राष्ट्रीय क़ानून से भी किसी पर कम-ज़्यादा ड्यूटी नहीं लगाई जाती। इँगलैंड अन्य देशों की अपेक्षा जापान पर अधिक कर नहीं लगा सकता; पर पराधीन भारत-वर्ष के लिये जो न हो, सो थोड़ा है। हज़ार विरोध करने पर भी सरकार ने श्रीयुत चेट्टी के संशोधन को स्वीकार कर टैरिफ़ बिल को पास करा लिया। लंकाशायर के लिये भारत का बाज़ार खोल दिया गया। सरकार की इस नीति से दुःखी होकर मालवीयजी ने परिषद् से स्तीफ़ा दे दिया और उनके साथ सभी राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं ने भी बिदा ले ली। महामना मालवीयजी ने वाइसराय महोदय को जो पत्र लिखा, उसका स्थान राष्ट्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण रहेगा। उसमें अन्य बातों को बतलाते हुए उन्होंने लिखा था कि "रेलवे-बोर्ड कितने वर्षों से स्थापित है, पर उसमें न तो कोई भारतवासी मेम्बर बनाया गया और न भारतवासियों को सब बड़ी-बड़ी नौकरियाँ दी गईं। करंसी और एक्सचेंज की लूट का शुमार नहीं है। इस एक्सचेंज को १८ पेंस का स्थायी न करके सरकार ने १६०० से १६२६ तक १४० करोड़ का सुवर्ण बाहर जाने दिया है। १८ पेंस की हुंडी की दर से देश का जो अहित हुआ है, उसका अनुमान करना कठिन है। इसी से व्यापार गिर गया और लोगों की क्रय-शक्ति नष्ट हो गई। लोगों में भारी टैक्स देने की शक्ति न रही। व्यापारी और कारख़ानेवाले ही नष्ट नहीं हुए, किसान भी इस दर से तबाह हो गए। कपड़े के धंधे का नाश भी इसी से हुआ है।" इस प्रकार के पत्र को भेज देने के बाद महामना मालवीयजी ने पंजाब से लेकर दक्षिण तक भ्रमण कर विदेशी वस्त्र के बहिष्कार के लिये सभी शहरों के कपड़े के व्यापारियों से एक वर्ष तक विदेशी वस्त्र न ख़रीदने की प्रतिज्ञाएँ कराईं। कोई भी ऐसा शहर नहीं था, जहाँ के व्यापारी प्रतिज्ञा करने में पिछड़े हों। सारे देश ने प्रतिज्ञा कर ली कि विदेश से एक चिट भी नहीं मँगाएँगे और जो आर्डर भेजे गए थे, उनका भी माल लेने से इनकार कर दिया। सब विदेशी कपड़ा कांग्रेस की मुहर लगाकर रख दिया गया। दूकानें बंद हो गईं और बाज़ार बंद हो गए। बम्बई का विलायती कपड़े का सबसे बड़ा बाज़ार (जेठाजी मार्केट) व्यापारियों ने स्वयं ही बंद कर दिया। इसके अलावा इँगलैंड की अन्य सभी चीज़ों का भी बहिष्कार हुआ। बम्बई ने इस बहिष्कार-आंदोलन में उल्लेखनीय कार्य किया। इस सब आंदोलन का इतना प्रभाव पड़ा कि श्रीयुत बिट्ठल-भाई पटेल को भी २५ एप्रिल को अध्यक्ष के स्थान से त्यागपत्र देना पड़ा। उनका पत्र राजनीतिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। महात्मा गांधी और कांग्रेस का देश में प्रभाव, देश के आर्थिक कष्ट व कम-से-कम औपनिवेशिक स्वराज्य देने की बात उन्होंने सम्राट्, लायड जार्ज, बर्कनहेड, मज़दूर-मंत्रिमंडल प्रभृति सभी लोगों से स्पष्ट रूप में कही। उन्होंने लिखा कि ऐसे दमन के समय मेरा परिषद् में बैठना हास्यास्पद है। टैरिफ़बिल के संबंध में उन्होंने बतलाया कि इम्पीरियल प्रिफ़रेंस ज़बर्दस्ती लोगों के सिर मढ़ा गया। इसके बाद बाहर आकर उन्होंने देश में कहा कि विदेशी माल का पूर्ण बहिष्कार करो। अँगरेज़ी माल ज़रा भी न आने दो। उन्होंने आवाज़ उठाई कि एक वर्ष तक कपड़ा ही न ख़रीदो—ख़रीदो तो अपने देश का, सो भी गुज़र लायक़। अँगरेज़ी माल कैसा भी न ख़रीदो। अगर किसी विदेशी चीज़ की ज़रूरत हो, तो वह इँगलैंड की बनी हुई मत ख़रीदो। इस बहिष्कार

के साथ-साथ खादी की पैदावार बढ़ाने में लोग जुट गए। मिलवालों ने कांग्रेस से समझौता कर लिया। कांग्रेस ने उन ५४ मिलों के कपड़े की बिक्री में पूरी सहायता दी, जिनकी पूँजी भारतवासियों की थी और जिनका प्रबंध भी उनके हाथ में था। पर जिन मिलों के मालिक योरपियन थे और जिनमें अधिकांश पूँजी उन्हीं की लगी हुई थी, उनके माल का कांग्रेस ने बहिष्कार किया। इसके अलावा स्वदेशी माल के प्रचार के लिये बड़े-बड़े शहरों में स्वदेशी-प्रचार-सभाएँ व स्वदेशी माल की बड़ी-बड़ी प्रदर्शिनियाँ खोली गईं। अर्थात् हर प्रकार से स्वदेशी माल की खपत बढ़ाई गई। बम्बई ने स्वदेशी प्रचार और विदेशी बहिष्कार में आश्चर्यजनक कार्य किया। विदेशी वस्त्र और अँगरेज़ी माल का बम्बई ने जो बहिष्कार किया, उससे अधिकारीगण भी काँप उठे। पर बम्बई के मुक़ाबले में कलकत्ते के कपड़े के व्यापारी नहीं ठहरे। स्वदेशी प्रचार और स्वदेशी प्रदर्शिनियाँ कलकत्ते में भी हुईं; किंतु विदेशी वस्त्र के व्यापारियों ने अपनी दूकानें नहीं बंद कीं, बल्कि कांग्रेसी स्वयंसेवकों के मुक़ाबले में अपनी रक्षा के लिये नीले बैज के स्वयंसेवक खड़े किए, जो उनकी बिक्री में सहायता पहुँचाते। कलकत्ते के कपड़े के व्यापारियों में दक़ियानूसीपन और अराष्ट्रीयता इतनी अधिक है कि उन्होंने हमेशा देश की महत्त्वाकांक्षाओं का विरोध किया है। इस ज़बर्दस्त बहिष्कार का प्रभाव भारत-सरकार ने अपनी रिपोर्टों में स्वीकार किया। इतना ही नहीं, बम्बई के बहिष्कार-आंदोलन ने साम्राज्यभक्त श्रीमान् बीकानेर-नरेश की आँखें भी चकाचौंध में डाल दीं। उन्होंने कहा कि सरकार की १८ पेंस की एक्सचेंज व टैरिफ़ आदि की नीति ने ब्रिटिश भारत का ही व्यवसाय नष्ट नहीं किया है, अपितु उससे देशी राज्य भी तबाह हो गए हैं। बहिष्कार-आंदोलन में बम्बई के स्त्री-पुरुषों ने जो कार्य किया, उस संबंध में उन्होंने कहा कि "सरकार आज उन पर जैसा दमन कर रही है, वैसा तो हमारे पिछड़े हुए देशी राज्यों में भी नहीं होता है।" मगर लार्ड राथरमियर पर साम्राज्यभक्त बीकानेर-नरेश के उद्गारों का किंचित् प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश-व्यवसाय के लिये अँगरेज़ भारतवर्ष को नहीं छोड़ सकते। इसलिये हमारा कर्तव्य दृढ़तापूर्वक शासन करना है। पर इस बहिष्कार ने भारत में जो स्थिति पैदा कर दी और इँगलैंड और संसार के अन्य देशों में जो बेकारी हुई, उसे लार्ड इरविन तक को स्वीकार करना पड़ा। श्रीमान् वायसराय महोदय कहते हैं कि "इसमें ज़रा भी अतिशयोक्ति नहीं है कि सत्याग्रह-आंदोलन ने भारतवर्ष के समस्त व्यापारिक और औद्योगिक केंद्रों के व्यवसाय को नष्ट कर दिया है, और उसका प्रतिफल कृषि पर घातक रूप से पड़ेगा, जिससे सब प्रकार की पैदावार के बाज़ार नष्ट हो जायँगे। सिवा इसके इस आंदोलन का अवांछनीय प्रभाव सारे संसार पर पड़ेगा; क्योंकि भारतवर्ष में संसार की एक पंचमांश आबादी है और भारतवर्ष की आर्थिक शिथिलता से संसार-भर प्रभावित होगा।" इस प्रकार वाइसराय महोदय कहते हैं कि इस बहिष्कार से संसार के सब देशों के बाज़ार गिर गए हैं, सराफ़े डावाँडोल हो गए हैं, भयंकर बेकारी फैलने की नौबत आ गई है। भारत-सरकार के अर्थ-सदस्य सर जार्ज शूस्टर को भी अर्थ-मंत्रि-मंडल की कानफ़्रेंस में कहना पड़ा कि "भारतवर्ष और चीन में जो राजनीतिक आंदोलन हो रहे हैं, जिनमें संसार की आधी जनसंख्या रहती है, उन्हीं के कारण संसार के बाज़ार गिर गए हैं।"

इस आंदोलन से सबसे अधिक बेकारी इँगलैंड में फैली। यहाँ की सरकार यदि उन बेकारों की रक्षा न करे, तो ग्रेट ब्रिटेन में भीषण उपद्रव मच जाय। अब उन्हें खेती करने के लिये कहा जाता है; किंतु अँगरेज़ मज़दूर खेती करके गुज़ारा नहीं कर सकते। अमेरिका, जर्मनी, आस्ट्रेलिया, कनाडा, ब्रेज़िल, आफ़्रिका तथा जापान आदि सभी देशों में बेकारी फैल गई। चीज़ों के दाम इतने अधिक गिर गए कि कुछ ठिकाना नहीं। भारतवर्ष में ही पाट के दाम ३० सैकड़ा, गेहूँ ३८ सैकड़ा, रुई ४० सैकड़ा, चावल १४ सैकड़ा और मूँगफली २० सैकड़ा तथा अन्य चीज़ों के दाम में इसी प्रकार कमी हो गई। ये दाम कहाँ तक गिरेंगे, इसे कोई नहीं कह सकता। भारतीय रुई का निर्यात प्रायः बंद है। यदि खादी और भारतीय मिलों का कपड़ा प्रत्येक भारतवासी पहनने लगे, तो भी २,६०,००० टन रुई बच रहती है। पर अंकों के देखने से यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष को अपनी खपत के अलावा प्रतिवर्ष ३.७ लाख टन रुई का निर्यात करना आवश्यक है। भारतीय रुई और पाट आदि की खपत तो संसार

में होगी ही; किंतु कोई शक्तिशाली देश पराधीन भारतवर्ष में तोपों और किर्चों के सहारे व्यापार नहीं कर सकता। व्यवसाय होना तो आपस के राज़ीनामे और बराबरी के बर्ताव पर निर्भर है। यदि आज भारतवर्ष अँगरेज़ी माल नहीं चाहता, तो कोई भी मजबूर नहीं कर सकता कि हम अँगरेज़ी माल ख़रीदें। मगर यह सोचना मूर्खता है कि बहिष्कार की भावना बदला लेने या द्वेष पर निर्भर है। बहिष्कार प्रेम और अपनी उन्नति, अपने परिश्रम से, करने का द्योतक है। इसलिये जब तक भारतवर्ष को आर्थिक स्वाधीनता नहीं प्राप्त होगी, तब तक किसी को भी अधिकार नहीं है कि इंपीरियल कानफ़्रेंस में, उसके गले में इंपीरियल प्रिफ़रेंस किसी भी रूप में, डालना मंज़ूर करे। भारतवर्ष अपनी वर्तमान अवस्था में कभी उसे स्वीकार नहीं कर सकता। अगर भारतवर्ष इंपीरियल प्रिफ़रेंस स्वीकार कर ले, तो उसे औपनिवेशिक स्वराज्य मिल जायगा—इस प्रस्ताव का समर्थन भारतवर्ष कभी नहीं कर सकता। इंपीरियल प्रिफ़रेंस की घातक आर्थिक साँकल को गले में डालने पर स्वराज्य का मूल्य क्या रहेगा? ब्रिटेन के हित के लिये आज भारतवर्ष पर जो मनमाने आर्थिक बंधन लाद दिए गए हैं, वही तो आज की मुख्य लड़ाई है। इस्पात के उद्योग को व बंबई के कपड़े के उद्योग को संरक्षण देते हुए जो साँकल भारतवासियों के गले में डाली गई, वह आज परतंत्रता के कारण हमें सहनी पड़ती है। मगर औपनिवेषिक स्वराज्य की प्राप्ति के लिये यदि हम बंधन स्वयं ही अपने गले में डालना स्वीकार कर लें, तो यह कहना पड़ेगा कि हमारी समझ का दिवाला निकल गया। इंपीरियल प्रिफ़रेंस के बदले में भारतवर्ष स्वराज्य नहीं मोल ले सकता। इंपीरियल प्रिफ़रेंस स्वीकार करने पर भारतवर्ष का स्वराज्य आज की पराधीनता से भी अधिक घातक होगा। ब्रिटिश माल भारतवर्ष का जीवन देकर नहीं ख़रीदा जा सकता। इस संबंध में बंबई के गोरे पत्र 'टाइम्स' ने एक मनोरंजक अग्रलेख लिखा है। आर १०१-नामक हवाई जहाज़ के नष्ट होने पर क्षोभ प्रकाश करते हुए वह कहता है—"We ought not to buy British goods at the cost of British life." अर्थात् ब्रिटेन के लोगों का जीवन जिससे नष्ट हो, ऐसा कोई भी ब्रिटिश माल नहीं ख़रीदना चाहिए। टाइम्स की यह सूचना भारतवासियों के लिये बड़े महत्त्व की है। उसका अर्थ यह है कि अँगरेज़ी माल कितना ही दर्शनीय और सुंदर दिखता हो; तो भी वह भीतर से कमज़ोर होता है—अर्थात् किसी-न-किसी समय प्राणघातक हो जाता है। इस प्रकार का जो ब्रिटिश माल हो, उसे अँगरेज़ों को अपना जानकर भी नहीं ख़रीदना चाहिए। भारतवासियों को टाइम्स के इस उपदेश से लाभ उठाना चाहिए। बच्चों के दर्शनीय खिलौने, मैंचेस्टर की धोतियाँ और तरह-तरह की कलें आदि आज इँगलैंड और अन्य देशों से कितने अधिक परिमाण में आती हैं, पर हम इतने दूसरों के अधीन बन गए हैं कि सिर फूटने पर भी हम उन्हें ख़रीदने के लिये दौड़ते हैं। क्या हममें इतनी बुद्धि पैदा होगी कि भारतीय जीवन की रक्षा के लिये हम ब्रिटिश माल न ख़रीदें, देश का सौभाग्य समझना चाहिए कि भारतवासियों ने ब्रिटेन के माल का ज़बर्दस्त बहिष्कार कर करोड़ों रुपए विदेश में जाने से रोक दिया है। लंकाशायर की अनेक मिलें बंद हो गईं। बहुत-सी मिलें लोहे के दामों में नीलाम हुई हैं। इन मिलों के कारण वहाँ के अन्य व्यवसाय भी नष्ट हो रहे हैं। क़रीब एक लाख मज़दूर बेकार हो गए। तीन वर्ष से लंकाशायर बड़ी कठिनाई से रक्षा कर रहा था, भारत-सरकार ने इंपीरियल प्रिफ़रेंस देकर उसकी सहायता की थी; मगर भारतवासियों ने बहिष्कार-आंदोलन द्वारा उसका उद्योग संकट में डाल दिया है। बड़ी-बड़ी मिलें साधारण मूल्य में बिकीं। वहाँ के व्यापारियों की अवस्था नाज़ुक हो गई है; क्योंकि कारख़ानों की पूँजी डूबती हुई चली जा रही है। सात-आठ महीने के अंदर—प्रत्येक महीने में दो-दो करोड़ की कमी होते-होते बहिष्कार यहाँ तक पहुँच गया है कि लंकाशायर के कपड़े, इँगलैंड व ब्रिटिश साम्राज्य से आनेवाले माल में करोड़ों रुपए की कमी हो गई है। यद्यपि प्रति सप्ताह अब भी कलकत्ता, मदरास और कराँची ही नहीं, बहिष्कार के मुख्य स्थान बंबई में भी विलायत से विदेशी कपड़ा आता है, तथापि उसे कोई भारतवासी नहीं मँगाता। जो अँगरेज़ी कंपनियाँ मँगाती हैं, उनका माल या तो बंदरगाहों में पड़ा रहता है या गोदामों में। उधर इँगलैंड की यह दशा है, इधर भारतवर्ष में भी कच्चे माल व खाद्य-पदार्थों के

भाव बे तरह घट गए हैं। पैदावार के भावों में कमी होने से किसान तड़प रहे हैं, और लाखों-करोड़ों का व्यापार करनेवाले व्यापारी हाथ-पर-हाथ धरे बैठे हैं। उनके नुक़सान का अनुमान करना कठिन है। कच्चे माल के करोड़पती पूँजीपति भी बाज़ार को नहीं सँभाल सके और कितनों के दिवाले निकल गए। वे करोड़पती भी अपनी साख क़ायम नहीं रख सके, जो सरकार को करोड़ों का क़र्ज़ दिया करते थे। इस आर्थिक दुरवस्था का कारण जहाँ चीज़ों का भाव गिरना है, वह सिक्के की कमी भी है। सरकार ने लाखों रुपए का सिक्का चलन से हटाकर लोगों को तबाह किया है। भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है, वह कच्चा माल सबसे अधिक पैदा करता है। यदि उसके दामों में कोई परिवर्तन हो, तो उसका असर देश के आर्थिक और औद्योगिक जीवन पर पड़ता है। १९२५ से जब से सरकार ने गोल्ड स्टैंडर्ड को हटा दिया, तब से चीज़ों के दाम गिरते चले जा रहे हैं। संसार के अन्य देशों में भी भिन्न-भिन्न कारणों से चीज़ों के दाम गिरे हैं। आरंभ के वर्षों में धीरे-धीरे भाव गिरते गए, किंतु १९२९ के छः महीने बीत जाने पर तो भाव बेतरह गिरे हैं। ब्रिटिश बोर्ड आफ़ ट्रेड के अंकों से विदित होता है कि दामों का औसत कैसे किस प्रकार गिरा। नीचे के विवरण में चार वर्ष के अंक, १९१३ के आधार पर दाम की रक़म १०० मानकर, तैयार किए गए हैं—

	१९२६	१९२७	१९२८	१९२९
ग्रेट-ब्रिटेन	१४३·१	१४१·६	१४०·३	१३६·५
हालैंड	१४५	१४८	१४९	१४२
स्वीडन	१४९	१४६	१४८	१४०
स्विट्ज़रलैंड	१४४·५	१४२·२	१४४·६	१४१·२
कनाडा	१५६·३	१५२·७	१५०·६	१४९·४
ब्रिटिश-भारत	१४८	१४८	१४५	१४१
अमेरिका	१५७	१३६	१४०	१३८

यह अंक गोल्ड-स्टैंडर्ड के आधार पर हैं। इन अंकों से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि चीज़ों के दाम गिरने का विपरीत प्रभाव इस देश की क्रयशक्ति पर पड़ा है। यह तो नुक़सान धीरे-धीरे हुआ ही; हुंडी की दर से १२½ सैकड़े दाम और भी गिर गए। दूसरा कारण है चाँदी के बाज़ार का बेहद गिर जाना। यह प्रकट बात है कि भारतवर्ष में चाँदी का सबसे अधिक व्यापार है। उसमें कृत्रिम उपायों से इतनी कमी लाने से न केवल क्रयशक्ति ही घटी, बल्कि जनता के विश्वास में भी धक्का पहुँचा। इन बातों को देखते हुए भी यह कहना कि देश में यह आर्थिक संकट सत्याग्रह-आंदोलन के कारण हुआ है, परले सिरे की मूर्खता है। यह आंदोलन तो इस देश की आर्थिक स्वतंत्रता के लिये है। इस आंदोलन से विदेशी माल व कपड़ा आना बंद हुआ। यदि यह आंदोलन न छिड़ता, तो आयात माल के गिरते हुए भावों के कारण यहाँ के व्यवसायियों को न-जाने कितना अधिक घाटा उठाना पड़ता और इस देश से करोड़ों रुपए ग़ायब हो गए होते। बहिष्कार-आंदोलन के प्रभाव से कई देशी धंधे पनप गए और वे विदेशी चीज़ों का स्थान ले रहे हैं। भारतीय मिलों को अब अच्छे दिन नसीब हुए हैं। अमेरिका, इँगलैंड, जर्मनी, इटली और जापान आदि की मिलों की पैदावार में २५ सैकड़ा तक कमी हो गई है; किंतु भारतवर्ष में जब से आंदोलन चला है, तब से पैदावार कम होने का कोई सवाल ही नहीं। बंबई की कुछ मिलें जो बंद हो गई हैं, वह सत्याग्रह के कारण नहीं, बल्कि बंबई की अन्य मिलों के मुक़ाबले जुदे-जुदे ढंग का बढ़िया माल तैयार करने में असमर्थ थीं। जितनी वे मिलें बंद हुईं, उतना ही पैदावार की कमी की पूर्ति बंबई और उत्तर-भारत में डबल शिफ़्ट से काम लेने और रात में भी काम करने से हुई। पर लोगों की माली हालत ख़राब होने से भारतीय मिलों के कपड़े की खपत में भी कमी आ गई है। जिस देश की करोड़ों संतानों को दिन में एक बार भोजन मिलता है, या वे भूखी रह जाती हैं, उन्हें कपड़ा कहाँ से नसीब हो। फिर भी भारतीय मिलें लंकाशायर के मुक़ाबले में अच्छी चल रही हैं। लंकाशायर के माल के आयात में कमी अगस्त तक ६७ सैकड़ा थी, और यह बहिष्कार क़ायम रहने से आयात घटता ही चला जायगा। जितनी इस आयात में कमी हुई, उतनी ही वृद्धि भारतीय मिलों की पैदावार की खपत में होगी। इस प्रकार बहिष्कार-आंदोलन से भारतीय मिलों को जीवन मिला। जो मिलें बंद होने-वाली थीं या जो अपनी पैदावार घटानेवाली थीं, वे अच्छी तरह से चलने लगीं और मज़दूरों के बेकार होने का भी प्रश्न नहीं रहा। इनके लिये यह स्वर्ण अवसर

है। अमेरिकन रुई का बढ़िया से बढ़िया कपड़ा भारतीय मिलें बनाने लगी हैं। यदि वे ३३ करोड़ भारतवासियों को पूर्ण रूप से ढक सकीं, तो यह देश स्वतंत्र हो जायगा। इसलिये बहिष्कार-आंदोलन ने देश के व्यवसाय का उस संकट-काल में रक्षण किया है, जब उसका सर्वनाश होनेवाला था। स्वदेशी की हलचल के प्रभाव से गत वर्ष भारतीय मिलों में २५,५०,००० रुई की गाँठों की खपत हुई, जिनमें १,५०,००० गाँठें विदेशी रुई की थीं। पिछले वर्ष की अपेक्षा कितनी खपत बढ़ी है, इसका अनुमान नीचे के विवरण से सहज ही में किया जा सकता है—

	रुई की गाँठें
गत वर्ष—मिलों में खपत	२५,५०,०००
विदेशी रुई की खपत	१,५०,०००
भारतीय रुई की खपत	२४,००,०००
इस वर्ष का अनुमान	२७,७५,०००
विदेशी रुई	२,२५,०००
भारतीय रुई	२५,५०,०००

इसके अलावा हैंडलूम के उद्योग में ७,५०,००० गाँठों की कम-से-कम खपत है। विदेशों में अब भी भारतीय रुई का ३५,००,००० गाँठों की खपत है। कहना न होगा कि भारतीय रुई की खपत में इस प्रकार वृद्धि स्वदेशी आंदोलन के कारण है। इस प्रकार बहिष्कार-आंदोलन से भारतवर्ष के व्यवसाय और उद्योग-धंधों की रक्षा हुई है, किंतु उसने ब्रिटेन के निर्यात व्यापार को बेहद गिरा दिया है, और वहाँ बेकारी बढ़ा दी है। इस वर्ष जुलाई में ब्रिटेन के माल का निर्यात ३६·७ मिलियन पौंड था, जो गत वर्ष इसी मास में ५३·२ मिलियन पौंड था। गत वर्ष की अपेक्षा ब्रिटेन के कपड़े के व्यापार का निर्यात ५० फ़ीसदी गिर गया है।

ब्रिटेन से निर्यात	तैयार माल (मिलियन पौंड में)
जुलाई १९२९	५३·२
जनवरी १९३०	४४·७
फ़रवरी १९३०	४१·२
मार्च १९३०	४२·५
एप्रिल १९३०	३६·७
मई १९३०	३९·८
जून १९३०	३३·८
जुलाई १९३०	३६·७

ब्रिटेन से कपड़े का निर्यात

	(मिलियन पौंड में)
अगस्त १९२९	८७,७५,४२९
जनवरी १९३०	८०,७५,९९७
फ़रवरी १९३०	७५,२०,००८
मार्च १९३०	६९,११,२०३
एप्रिल १९३०	५४,०९,१५७
मई १९३०	५४ ९०,६९९
जून १९३०	४१.७५,८५८
जुलाई १९३०	५१,७४,८८४
अगस्त १९३०	४४,३५,२३०

भारत में कितना कपड़ा आया—

	(लाख रुपयों में)
जनवरी १९३०	४८९
फ़रवरी ,,	३९९
मार्च ,,	४५४
एप्रिल ,,	३६७
मई ,,	३२४
जून ,,	२१४
जुलाई ,,	१६४

पाठक देखेंगे कि भारत में ब्रिटेन के कपड़े का आयात कितना रह गया। यदि यह बहिष्कार अधिक ज़ोरदार हो जाय, तो ब्रिटेन के कपड़े का आयात एकबारगी बंद हो जायगा। कांग्रेस भी राजनीतिक अधिकार देश को दिलाने के पहले यह चाहती है कि विदेशी कपड़े पर ५० फ़ीसदी ड्यूटी आयात माल पर लगाना स्वीकार किया जाय। इस बहिष्कार से जहाँ बम्बई की बेकारी मिटी और मज़दूरों की हड़तालें बंद हुईं, वहाँ ब्रिटेन में बेकारी बढ़ती चली गई—

ब्रिटेन में बेकारी के अंक

अगस्त १९२९	११,९९,०००
जनवरी १९३०	१५,२०,०००
फ़रवरी ,,	१५,८३,०००
मार्च ,,	१६,९४,०००
एप्रिल ,,	१७,६१,०००
मई ,,	१८,५९,०००

जून	१६३०	१६,१२,०००
जुलाई	,,	२०,७०,०००
अगस्त	,,	२०,३६,१३२
सितम्बर	,,	२१,०६,६४८

अस्तु, ब्रिटेन में इस प्रकार बेकारी बढ़ती ही जायगी। भारत में मज़दूरों को मिलों में काम मिलता जायगा। बहिष्कार के प्रभाव से खादी की पैदावार बढ़ाने के लिये किसान और मध्यम श्रेणी के लोग भी चर्ख़ा और कर्घा चलाकर देश की भयंकर बेकारी को दूर करने में सहायक होंगे।

यह बहिष्कार कितना फलप्रद हुआ है, इसका प्रमाण कस्टम की आमदनी से दिया जा सकता है। सितम्बर १६३० में कस्टम की आमदनी ३४,३३,००० रुपए थी, जो इसी मास में, सन् १६२६ में, ४,०६,२८,००० रुपए और १६२८ में ४,०६,७०,००० थी।

गत छःमासकी आमदनी सितंबरतक, २३,३७,८४,००० रुपए हुई,जो इस अवधि में १६२६ में २४,८१,८२,००० रुपए और १६२८ में २३,५३,५२,००० रुपए थी। पर विदेशी सूत और सूती माल के आयात में इस प्रकार घटी हुई है—

(हज़ार रुपयों में)

आमदनी—	
सितम्बर १६३०	६४६
सितम्बर १६२६	२,१५२
सितम्बर १६२८	२,६४६
एप्रिल से सितम्बर १६३०	५,३३८
एप्रिल से सितम्बर १६२०	८,४४१
एप्रिल से सितम्बर १६२८	६,८२८
वार्षिक आमदनी १६२८-२६	११,४८१
,, ,, १६२६-३०	१५,६१८
बजटका अनुमान १६३०-३१	१६,२००

इस बजट के अनुमान में बेहद कमी होगी; क्योंकि लंकाशायर के सूती माल के निर्यात में अन्य देशों के लिये ३७ फ़ीसदी और भारतवर्ष के लिये ६७ फ़ीसदी घटी हुई है। इस घटी ने बम्बई से ७२,००० तकुए डबल शिफ़्ट और दिन-रात चलने लगे हैं, और वहाँ प्रतिमास ६०,००० गाँठें (हरएक गाँठ ३६० पौंड वज़न की) कपड़े की और ६४,००० गाँठें (हरएक गाँठ ४०० पौंड वज़न की) सूत की तैयार होने लगी हैं। नीचे के विवरण से बम्बई के सूत और कपड़े की पैदावार स्पष्ट रूप में प्रकट होती है—

सूत—मार्च महीने में

सन् १६२८ पौंड	सन् १६२६ पौंड	सन् १६३० पौंड
२,२५,३०,८५६;	२,३३,५४,४७१;	२,२२,८८,१७०

बारह महीने में—एप्रिल से मार्च तक

१६२७-२८ पौंड	१६२८-२६ पौंड	१६२६-३० पौंड
३१,८७,४६,८६२;	१५,३७,५२,८६३;	२६,३२,१६,७४५

जून महीने में

१६२८ पौंड	१६२६ पौंड	१६३० पौंड
३,००,६१०;	१,१५,२३,६१५;	२,५५,७५,८८६

३ महीने में—एप्रिल से जून

१६२८ पौंड	१६२६ पौंड	१६३० पौंड
१,७४,८८,०५६;	४,४१,५४,१०२;	७,६८,३१,६०८

कपड़ा—मार्च महीने में

	१६२८	१६२६	१६३०
पौंड	१,८६,२४,००२;	१,६८,३२,४४६;	१,८६,५५,३६४
गज़	८,५३,७६,८०६;	७,४२,४४,६६५;	८,४६,३६,३६४
दर्जन	७७,६०४;	८०,८६७;	७२,६३०

१२ महीने में—एप्रिल से जून

	१६२७-२८	१६२८-२६	१६२६-३०
पौंड	२६,५६,३६,६३६;	१२,२०,७७,८२७;	१६,७६,१४,०३६
गज़	१,१३,१५,२०,८३२;	५३,७४,०२,७६०;	८८,८६,४४३१५
दर्जन	८,१७,३१७;	४,६३,७३१;	७,७७,७१७

जून महीने में

	१६२८	१६२६	१६३०
पौंड	१६,१२,६१०;	८७,७६,६६७;	१,६७,४१,०२६
गज़	८७,४६ ८८०;	३,६४,६८,६२०;	८,८६,३६,०४०
दर्जन	२,५८८;	२५,१२०;	६१,१२५

तीन महीने में—एप्रिल से जून

	१६२८	१६२६	१६३०
पौंड	१,७५,५५,८३०;	३,३६,३६,६३२;	५,७१,६४,६३२
गज़	७,६५,६६,८३०;	१५,३०,४३,५२२;	२५,७१,८०,५६५
दर्जन	७१,६४७;	१,७१,४६३;	१,३१,८४४

जिस बम्बई की यह अवस्था थी, उसे वस्त्र-बहिष्कार-आंदोलन ने कितना बल दिया, यह हाल की उत्पत्ति से प्रकट होता है। इस आंदोलन ने बम्बई के कपड़े के धंधे को जीवन दिया है। इस पर जो लोग यह कहें कि इस आंदोलन से यहाँ की मिलें नुक़सान उठा रही हैं, वे इँगलैंड के हित में बोल रहे हैं।

जी० एस० पथिक

बाल-महिला-मनोरंजन

१. निवेदन

जगदीश ! तुम्हारी छाया में,
हम नाम और यश प्राप्त करें ;
अपने प्रिय-दुखिया भारत का,
सब शोक और संताप हरें।
विचलित न कभी हों क्लेशों से,
साहसी, वीर, बलवान बनें,
धीमान् बनें, गुणवान् बनें,
मा की सच्ची संतान बनें।
उर ओज-उमंगों से भर दो ;
'कवि नेह'' यही हमको वर दो।

शम्भूदयाल त्रिपाठी "नेह"

× × ×

२. सीख

फूलों से हम हँसना सीखें,
भौंरों से गुनगुन गाना ;
कोयल से स्वतंत्र हो सीखें,
हम स्वतंत्रता अपनाना।
दूध और पानी से सीखें,
मेल सभी से नित करना ;
दृढ़ होना पर्वत से सीखें,
जल से सबका हित करना।
पाकर शक्ति हवा से सीखें,
नहीं गर्व से भर जाना ;
सीखें मछली से स्वदेश—
के लिये तड़पकर मर जाना।

गौरीशंकर "लहरी"

× × ×

३. वीर हक़ीक़तराय

बालको ! तुम इस पवित्र भारतवर्ष के अन्न-जल से पाले-पोसे जा रहे हो, यह तुम्हारी जन्मभूमि है। इसके प्रति तुम्हारे बहुत-से कर्तव्य हैं, जिन्हें तुम बड़े होने पर करोगे। इस समय तुम्हें कम-से-कम इतना अवश्य जान लेना चाहिए कि यह भूमि किसलिये और क्यों प्रसिद्ध है। यों तो धन के लिये अमेरिका, विज्ञान के लिये जर्मनी, राजनीति के लिये ब्रिटेन, हठ के लिये टर्की एवं व्यापार और कलाकौशल के लिये जापान प्रसिद्ध हैं ही, किंतु इस गए-गुज़रे समय में भी यह भारतभूमि धर्म के लिये ही मशहूर है; क्योंकि यहाँ के बूढ़े-जवान, लड़के-बच्चे, स्त्री-पुरुष सब अपने-अपने काम धर्म की दुहाई देते हुए करते आए हैं। आज हम तुम्हें एक ऐसे बालक की कहानी सुनाते हैं, जिसने धर्म की रक्षा के लिये अपने प्राण तक भी हँसते-हँसते दे दिए। तुममें कितने ऐसे हैं, जो तनिक सज़ा, थोड़ी झिड़की, मामूली नाक-भौं चढ़ाने के डर से बात-बात में झूठ बोलते हैं—एक पेंसिल, एक दस्ता काग़ज़, एक दोना मिठाई, दो-चार फल के लोभ में पड़कर सब कुछ करने पर तैयार हो जाते हैं। पर जिसकी कहानी हम तुम्हें बतलाना चाहते हैं, उसने धर्म-रक्षा के लिये सब तरह के कष्ट सहे; मारपीट, हथकड़ी-बंधन, डाँट-डपट आदि सब कुछ सहन किया। माता-पिता, बंधु-बांधव, पत्नी-परिवार आदि किसी की भी बातों पर कान नहीं दिए। यहाँ तक कि प्यारे प्राणों तक से हाथ धो लिए। वह बालक अपनी धर्मनिष्ठा के लिये प्रसिद्ध है, वह मरने पर भी अमर है और उसका नाम हरएक भारतवासी रात-दिन जपता है। उसका नाम है हक़ीक़तराय।

पंजाब-प्रदेश का नाम तुमने सुना होगा। इस प्रदेश की भूमि वीर-प्रसू कहलाती है—यह भारत का द्वार है। इसी प्रदेश में स्यालकोट-नामक एक स्थान है। वहाँ आज से बहुत दिन पहले मुग़लों के राजकाल में बागमल-नामक एक धनी आदमी रहता था। वह जाति का खत्री था। उसके माघशुक्ला पंचमी (वसंतपंचमी) बुधवार (सं० १७६१) एक पुत्र हुआ। जिस समय बागमल के इस लड़के ने जन्म लिया, उस समय बागमल और उसकी स्त्री, दोनों बूढ़े हो चले थे। इसलिये बालक के जन्म से उनके आनंद का ठिकाना न रहा। पड़ोस के लोग भी बागमल के व्यवहार से बहुत प्रसन्न रहा करते थे, इसलिये वे लोग भी खुशी के मारे फूले नहीं समाए। सभी बागमल और उसकी पत्नी को बधाई देने के लिये आने लगे। अच्छे मुहूर्त में बागमल ने पुरोहित और जाति-भाइयों को बुलाकर सबों को भोज दिया। सबों ने इस होनहार बालक का नाम 'हक़ीक़त' रक्खा। पुरोहित ने हक़ीक़त का हाथ देखा और उसे होनहार बतलाया।

बालक हक़ीक़त की पढ़ाई-लिखाई अपने माता-पिता के द्वारा ही पहले-पहल शुरू हुई। बागमल स्वयं बड़े धर्मिष्ठ थे। रोज़ गीता-रामायण आदि धार्मिक पुस्तकों का पाठ करते थे। इससे उसने अपने पुत्र हक़ीक़त को भी धर्मात्मा युधिष्ठिर, भीष्म, बालक ध्रुव, प्रह्लाद, राम-कृष्ण आदि की कथाएँ कंठाग्र कराईं। माता ने भी जब-तब सदुपदेश देकर हक़ीक़त को सुयोग्य बनाने में कोर-कसर न की। जब बालक हक़ीक़त आठ वर्ष का हुआ, तब उसके माता-पिता ने उसे मदरसे में पढ़ने को भेजा। पढ़ने-लिखने में हक़ीक़त भोंदू नहीं था। उसकी अपूर्व योग्यता को देखकर

मौलवी-मुल्ला सभी चकित होते थे। सहपाठियों में उसका आतंक छा गया। वे लोग उससे स्पर्द्धा करने लग गए।

यद्यपि हक़ीक़त बालविवाह का विरोधी था, तो भी उसे पिता और माता की हठ के सामने सिर झुकाना पड़ा। फलतः उसकी शादी अमरसिंह-नामक एक सिख की लड़की से हो गई। अमरसिंह ने भी हक़ीक़त को सिख गुरु गोविंदसिंह, तेगबहादुर आदि के जीवन-चरित सुनाए। इस समय हक़ीक़त की उमर ग्यारह साल की थी। अभी तक वह मौलवी साहब के यहाँ पढ़ता था।

एक दिन की बात है कि मौलाना साहब पाठशाला से कहीं चले गए और लड़कों के साथ हक़ीक़त पाठशाला में ही रहा। उसके साथी सब बड़े उद्दंड थे। मौलवी साहब के न रहने से वे लोग लगे ऊधम मचाने। आप तो ऊधम मचाते थे ही—बेचारे हक़ीक़त को भी अपने साथ खेल में शरीक होने के लिये दिक़ करने लगे। वह सीधा बालक अपने पढ़ने-लिखने में मग्न था। इससे उन आवारों की बातें उसे अच्छी नहीं लगीं। उसने खेल में शरीक होने से साफ़-साफ़ इनकार कर दिया। दुष्ट लड़कों ने उसकी पुस्तकें फेंक दीं, पेंसिल छीन ली और हाथ पकड़-पकड़कर उठने को विवश किया। इस पर भी जब हक़ीक़त टस से मस नहीं हुआ, तब उन लोगों ने उसे और तरह से चिढ़ाना शुरू कर दिया। आख़िर गाली तक की नौबत आ गई। दुष्टों ने सरल हक़ीक़त के मा-बाप को हिंदुओं के देवी-देवताओं के नाम ले-लेकर बुरे शब्द कहे। बार-बार इन लोगों के मुँह से दुर्वचन निकलते देखकर अब हक़ीक़त से न रहा गया। इन सबकी बेहूदगी पर उसे बड़ा क्रोध आया। पर फिर भी उसने बड़ी नम्रता से कहा—"जैसे तुम्हारे लिये फ़ातिमा है, वैसे ही हम हिंदुओं के लिये देवी-भवानी। यदि फ़ातिमा के लिये कोई आदमी कड़वी बात मुँह में लावे, तो तुम्हें अच्छा नहीं लगेगा—इसी तरह तुम्हें यह भी समझना चाहिए कि देवी-भवानी के लिये कटुवाक्य ज़बान पर लाना भारी गुनाह है। तुम हमारी देवी-भवानी को गालियाँ नहीं दे रहे हो, ये गालियाँ तो सीधे तुम्हारी फ़ातिमा को मिल रही हैं।" इतनी बात ज्यों ही हक़ीक़त के मुँह से बाहर निकलीं कि वे दुष्ट आगबबूला हो उठे। 'क़ाफ़िर'—'क़ाफ़िर' कहते हुए निरपराध हक़ीक़त पर टूट पड़े, जैसे दया उन्हें छू तक न गई हो। वे निठुरता से इस बालक को चपत, घूँसे, मुक्के आदि लगाकर लगे पीटने। उसके रोने-धोने की किसी ने कुछ परवा न की।

इतने में एक तरफ़ से क़ाज़ीजी आ रहे थे। क़ाज़ी ने लड़कों से इस रोआ-रोहट का कारण पूछा। दुष्ट लड़कों ने सच्ची बातों में नमक-मिर्च मिलाकर निर्दोष हक़ीक़त की झूठ-मूठ शिकायत कर दी। उन लोगों ने एक स्वर से कहा—"इस काफ़िर हक़ीक़त ने हमारी फ़ातिमा को बड़ी बुरी गालियाँ दी हैं।" इतना कहना था कि क़ाज़ी लाल-लाल आँखें किए हक़ीक़त की ओर झपटे और कहा—"शैतान! बोल क्या बात है? तूने रसूलज़ादी को गालियाँ दी हैं, क्यों!" बालक हक़ीक़त ने क़ाज़ी की बात सुनकर सारी घटना ज्यों-की-त्यों सुना दी। उसकी बात पर क़ाज़ी और भी आपे से बाहर हो गए और दाँत पीसते हुए बोले—"तुमको अपनी जान भारी हुई है, जो तुम फिर भी उन्हीं बातों को दुहरा

रहे हो ? अच्छा कुछ हर्ज नहीं; तुमको अपनी करनी का मज़ा चखाता हूँ।" इतना कहकर उन्होंने और-और लड़कों से सामने की कोठरी खोलने को कहा। जब उनमें से एक लड़के ने कोठरी के किवाड़ खोल दिए, तब क़ाज़ीजी ने हुक्म दिया कि इस बदज़ात काफ़िर को, हाथ-पैर .खूब कसकर बाँधकर, इस कोठरी में बंदकर दो और ऊपर से ताला लगा दो। देखते रहो कि कोई इसे खोलने न पाए। उन दुष्ट लड़कों ने ऐसा ही किया। बेचारा सुशील हक़ीक़त नाहक उस सज़ा का शिकार हुआ।

हक़ीक़त उस कमरे में बंद कर दिया गया। इतना ही नहीं, उसके कोड़े लगाए गए। खाना-पीना कुछ नहीं दिया गया। जब यह ख़बर बागमल को मिली, तो वह सिर पर पाँव दिए दौड़े आए—क़ाज़ी से सज़ा का कारण पूछा—अनेक आरज़ू-मिन्नत की; पर सब विफल हुआ। क़ाज़ी ने कहा—"मैंने जो कुछ कह दिया, सो कह दिया। इस मुसलमानी सल्तनत में कोई काफ़िर फ़ातिमा को गालियाँ दे और वह ज़िंदा छोड़ दिया जाय, ऐसा होने का नहीं। शरह के हुक्म को कोई टाल नहीं सकता। तुम्हारी हम कुछ सुनने को नहीं। बेचारा बागमल हाथ मलते घर लौट आया। उसके और उसके अड़ोस-पड़ोस के लोगों के घरों में मातम छा गया। हक़ीक़त की मा दम-दम पर मौत माँगती थी। बागमल मूर्च्छित हो गिर पड़ा।

कुछ काल के बाद बागमल को होश आया। पड़ोस के लोगों ने बहुत धीरज दिया तथा सूबेदार के यहाँ अपील करने को कहा। लोगों के कहने पर बागमल ने सूबेदार के यहाँ अपील की। पहले तो सूबेदार भी कुछ नहीं सुनता था, आख़िर बहुत कहने-सुनने पर उसने कहा कि अगर हक़ीक़त मुसलमान होना .क़ुबूल करे, क़ाज़ी के पैरों पर सिर रखकर सलाम करे और दरबार में अपने .क़ुसूर की माफ़ी के लिये आरज़ू करे, तो उसकी जान बख़्शी जा सकती है। इसके बाद प्यादों की हिरासत में हक़ीक़त दरबार में हाज़िर किया गया। सूबेदार ने अपना बयान सुना दिया और पूछा—"मुसलमान बनना चाहते हो कि जान देना चाहते हो ?"

हक़ीक़त ने सूबेदार की बातें बड़े ध्यान से सुनीं। उसने उत्तर दिया—"नवाब साहब! मुझे अपने प्राण से अपना धर्म कहीं अधिक प्यारा है। एक तो मैंने कोई .क़ुसूर नहीं किया—दूसरे और मैं ही सताया गया हूँ। आप मेरी खाल खींचकर या दीवाल में चुनवाकर ही जान क्यों न ले लें, पर मैं हिंदू-धर्म-जैसा पवित्र धर्म कभी छोड़ने का नहीं। धर्म छोड़कर मुसलमान होने की अपेक्षा मृत्यु का हृदयालिंगन करना कहीं श्रेष्ठ है। मुझे हिंदू-धर्म की छाया में रहते हुए भंगी की तरह जीवन व्यतीत करना .क़ुबूल है, पर मुसलमान होकर राज्य-सुख भोगना मंज़ूर नहीं।"

सूबेदार हक़ीक़त से ऐसे कोरे जवाब की आशा नहीं करता था। दरबार के सभी लोग बालक हक़ीक़त का दृढ़तापूर्ण उत्तर सुनकर चकित हो गए। हक़ीक़त की स्त्री, उसके मा-बाप-परिजन—परिवार सब यही सोचते थे कि प्रत्येक को अपना प्राण संसार के सभी सुखों से प्यारा है और हक़ीक़त अभी निरा बालक है—वह अवश्य मुसलमान होना स्वीकार कर लेगा, और इस तरह मुसलमान रहकर भी हम लोगों के सुख का आधार बना रहेगा। पर जब उन

लोगों ने हक़ीक़त की बातें सुनीं, वे हताश हो गए। उन लोगों को संसार अंधकारमय दिखाई पड़ा। एकटक से सब इस अमर बालक के मुख की ओर देखते और इसकी करतूत का ख़याल कर चौंक पड़ते । रह-रहकर आनंद के मारे वे पुलकित हो उठते थे । माता-पिता, स्त्री और परिजनों की आँखें अश्रुजल से ओतप्रोत थीं। उनके आँसू सुख और दुःख दोनों के द्योतक थे। सुख इसलिये कि बालक हक़ीक़त धर्मभक्त साबित हुआ, उसे अपने प्राण से धर्म प्यारा जँचा; और दुःख इसलिये कि उनकी आँखों का एकमात्र तारा हक़ीक़त आज संसार से उठ जायगा। दर्शकों में से कुछ यह भी सोचते थे कि यह तो मरकर भी अमर रहेगा। इसका नाम भारत की हरएक संतान श्रद्धा से लेगी। उस समय वे अपने लिये भी ऐसा ही शुभ अवसर ढूँढ़ते थे और ईश्वर से प्रार्थना करते थे कि हमारी भी मृत्यु इसी के सदृश हो। माता-पिता, पत्नी और दर्शकों में जिनको जान प्यारी मालूम होती थी, वे सब हक़ीक़त को ज़िंदा देखना चाहते थे। इसलिये उन लोगों ने बालक हक़ीक़त से बहुत कुछ कहा भी कि मुसलमान होकर भी प्राण की रक्षा करो। अगर जिओगे, तो बहुत कुछ कर सकोगे। इस तरह कुछ समय तक दरबार आश्चर्य के समुद्र में डूबा हुआ-सा प्रतीत हुआ। सभी सोच-विचार में मग्न थे।

सूबेदार ने बहुत सोचने के बाद हक़ीक़त को लालच देना शुरू कर दिया । जागीर देने, सुंदर भवन बनवा देने, अपनी लड़की से शादी कर देने की प्रतिज्ञा की और कहा कि मुसलमान हो जाओ। पर हक़ीक़त, हक़ीक़त से वीर बालक था, सत्य पर मर मिटनेवाला और धर्मपरायण था। विधर्मी होने की अपेक्षा मृत्यु उसे अधिक प्यारी थी। अतः वह अपनी बात पर डटा रहा। वह तनिक भी विचलित नहीं हुआ। उसने कहा—"हम हिंदू हैं और हिंदू रहेंगे। जिएँगे तो हिंदू-धर्म के लिये, मरेंगे तो हिंदू-धर्म के लिये। तुम जागीर की क्या कहते हो—उसे तुम छीन सकते हो; भवन और विलास की सामग्रियाँ नष्ट हो सकती हैं; तुम्हारी लड़की मुझे तलाक़ दे सकती है—सो भी नहीं, तो एक दिन वह अवश्य मर जायगी। मेरा शरीर भी एक-न-एक दिन अवश्य नष्ट हो जायगा। तब फिर अपनी आत्मा को मैं क्यों कलंकित करूँ? धर्म की वेदी पर अन्याय से लड़ते हुए, अत्याचार को सहते हुए, हँसते-हँसते शरीर छोड़ना मरना नहीं, जीना है। जो मरना नहीं जानता, वह जीना भी नहीं जानता। बस, इतना ही कहूँगा। तुम्हारे सामने मैं खड़ा हूँ—जो चाहो सो करो। मुझे मुसलमान तुम किसी तरह नहीं बना सकते।" माता-पिता को भी उसने प्रणाम किया और कहा कि आपका लड़का आज मर नहीं रहा है, बल्कि अमर हो रहा है।

सभी ने हक़ीक़त की बातें सुनीं। सूबेदार भी हारकर अपनी क्रूर आज्ञा जारी कर दी। हक़ीक़त जल्लाद के द्वारा वधस्थान पर पहुँचाया गया। वहाँ फाँसी पर लटका दिया गया। हँसते-हँसते प्राण दिए। मरने के समय उसके अंतिम शब्द थे—"मेरे शोणित की एक बूँद से भारत में, हिंदू-धर्म की छाया ... बालक पैदा होंगे, जो सत्य के लिये, ... न्याय के लिये खुशी से अपने प्राण ...

× ×

४. बन्धन-दुःख

तट बन्धन तोड़ने के लिये सिन्धु
सदा करता है कुलाहल भारी।
नित नाचते वायु के इङ्गित पै
इसी दुःख से मेघ स्रवें दृग-वारी।
फिरें उडुगण शृङ्खला में जकड़े
निशिनाथ की विक्षत छाती है सारी।
मघवा की महत्ता भी क्यों न मिले
पर बन्धन सर्वथा है दुखकारी।

आर्यमित्रा देवी

× × ×

५. बदला

(१)

आज दिल्ली की होली है। गली-गली में रक्त के फ़व्वारे छूट रहे हैं। सड़कों पर रक्त का छिड़काव हो रहा है। नालियों में पानी के स्थान में रक्त बह रहा है। छोटे-छोटे खपरैलों से लेकर गगनचुंबी अट्टालिकाएँ तक भी रक्त में नहा रही हैं। तंग गलियों में रक्त की नदियाँ उमड़ चली हैं, जिनमें मनुष्यों की खोपड़ियाँ कछुओं के सदृश डूबती उतराती बही चली जा रही हैं। मनुष्यों के हाथ-पैर मछलियों की तरह छप्-छप करते इधर-उधर उछलकूद मचा रहे हैं।

और मुसलमान सिपाही जो सामने आता है, उसे मौत के घाट उतार रहे हैं। "अल्ला हो अकबर।" "...की जय!" चारों ओर यह शब्द ही सुनाई पड़ा। ...इन शब्दों की भयंकरता के आगे घायलों ...कार और पीड़ितों के हाहाकार दब-से

कुछ ... पड़ोस के ...

सूबेदार के यहाँ ...जा में भगदड़ मची हुई है। जिधर के कहने पर ... है, वह उधर ही को भाग की। पहले तो ...

चूड़ीवाली गली में इस समय कोई यवन सिपाही नहीं देख पड़ता। चारों ओर मौत का-सा सन्नाटा छाया हुआ है। केवल रक्त के बहने की धीमी-धीमी आवाज़ आ रही है।

एक ग़रीब स्त्री, एक बालक और बालिका के हाथ पकड़े 'छिपती हुई' रक्त में छप्-छप् करती चली जा रही है।

कुछ आहट पा, चौंककर स्त्री ने पीछे की ओर देखा। भय के मारे उसका चेहरा पीला पड़ गया। बालिका उसका अंचल पकड़कर रो उठी।

लगभग पन्द्रह-बीस यवन सैनिक घोड़ों पर चढ़े वहाँ आ धमके। अपने सरदार का इशारा पाते ही उन्होंने स्त्री को बाँधकर एक डोली में बैठा लिया। उस डोली में और भी कई स्त्रियाँ बँधी हुई अपने-अपने भाग्य को कोस रही थीं।

सरदार ने हाथ से कुछ संकेत किया और घुड़सवार जिधर से आए थे, उधर ही को चल दिए।

एक छोटे से चबूतरे के निकट बालक और बालिका किंकर्त्तव्य-विमूढ़-से खड़े थे।

(२)

लगभग पचास स्त्रियाँ तोपों के मुँह पर बँधी खड़ी थीं। प्रत्येक तोप के पीछे एक-एक सैनिक जलता हुआ पलीता लिए खड़ा था। केवल अफ़सर की आज्ञा की देर थी।

"अब भी समय है"—अफ़सर ने स्त्रियों को संबोधन कर कहा—"मेरी बात मान जाओ।"

किन्तु उसे कुछ उत्तर न मिला।

अफ़सर के एक-दो-तीन कहते ही सब तोपों पर एक साथ ही बत्ती रख दी गई। बड़े भीषण धमाके के साथ निरीह स्त्रियों के हाथ-पैर ऊपर आकाश में उड़ते दिखाई देने लगे।

सहसा 'गुड़ुम' 'गुड़ुम' करके दो शब्द हुए और एक सिपाही की लाश के साथ-ही-साथ अफ़सर की मृतदेह भी भूमि पर लोटने लगी।

सिपाहियों ने आश्चर्य-चकित होकर देखा—सामने की पहाड़ी पर एक बालक और एक बालिका बन्दूकें ताने खड़े थे। बन्दूकों की नलियों में से धुँआ निकल रहा था।

तेजनारायण काक 'क्रांति'

× × ×

६. तेरी भूल

(१)

तू समझे है, बीत रहा है
उनका जीवन सुखमय शांत;
एक बार ही आकर लख ले,
हैं वे कितने दुखी अशांत।

(२)

तू समझे है, उन्हें न आता
है बिलकुल ही तेरा ख़याल;
तू ही बतला दे मुझको,
समझावें कैसे दिल का हाल।

(३)

अच्छा, तूने क्या न किसी को,
किया कभी तन-मन से प्यार?
तब तू अपने इसी हृदय से,
ले यह बातें स्वयं विचार।

(४)

अगर नहीं, तो सुन ले मुझसे,
हाल बता दूँ मैं उनका;
समाचार अति दुखद सुना दूँ,
उनके तन-मन-जीवन का।

(५)

भोजन में रुचि रह न गई कुछ,
छूट गया सारा आराम;
वे तो पा एकांत सदा ही,
रटते रहते तेरा नाम।

(६)

उनके नयनों में तेरी ही,
फिरती रहती है तस्वीर;
भीतर आग लगी रहती है,
बाहर से वे हैं गंभीर।

(७)

चाहे अगर बनाना उनके
जीवन को तू सुख का सार;
एक बार, हाँ, एक बार ही,
कह दे उनको करती प्यार।

सरोजिनी देवी

× × ×

७. आद्यशक्ति का जागरण

(क्रमागत)

श्रीमती हंसा मेहता

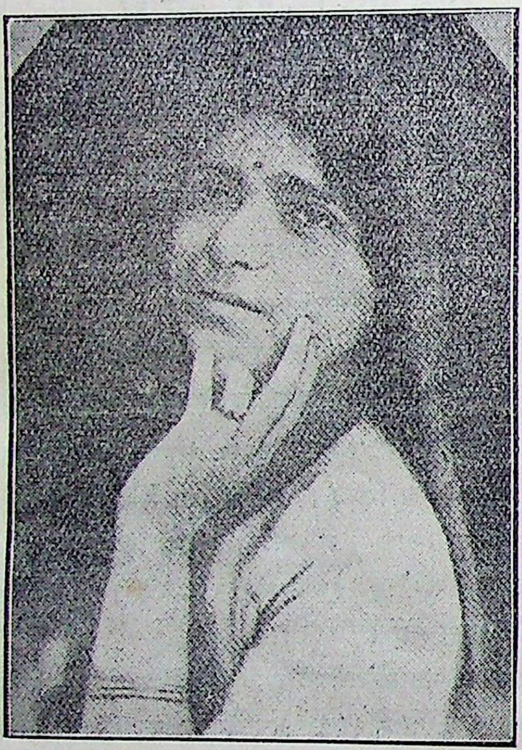
श्रीमती हंसा की शिक्षा बड़ौदे में हुई है। संस्कृत से स्वाभाविक प्रेम होने के कारण इसी को दूसरी भाषा के तौर पर साथ लेकर, सन् १९१८ में, आपने बड़ौदा-कालेज से बी० ए० पास किया। इस परीक्षा में आपने दर्शन-शास्त्र (फ़िलासफ़ी) में ऑनर्स प्राप्त किया। उनकी विदेश जाने की बड़ी इच्छा थी, इसलिये १९१९ में वह इँगलैंड चली गईं।

पत्रकार-कला सीखने की आपकी लालसा थी, इसलिये लंदन-युनिवर्सिटी में वह जर्नलिज़्म पढ़ने लगीं। उन दिनों श्रीमती सरोजिनी नायडू भी वहीं थीं। श्रीमती हंसा उनके साथ मिलती-जुलती रहीं। १९२० के जून मास में संसार-भर की स्त्रियों की एक कानफ़्रेंस उनके सामाजिक और राजनीतिक उद्धार के प्रश्न पर विचार करने को जेनेवा में हुई। श्रीमती सरोजिनी नायडू के साथ श्रीमती हंसा भी उस कानफ़्रेंस में भारत की प्रतिनिधि की हैसियत से गईं। वहाँ भारत के स्त्री-समाज के हित की बातें इन दोनों ने कानफ़्रेंस को सुझाईं।

दूसरे वर्ष नवम्बर मास में वह अमेरिका गईं, वहाँ की महिला-संस्थाओं का निरीक्षण किया और भारत लौट आईं। मई में वाशिंगटन में एक महिला-सामाजिक सम्मेलन हो रहा था, श्रीमती हंसा उसमें भारत की ओर से शामिल हुईं। वहाँ आपका भारतीय सामाजिक

रीति-नीति पर भाषण हुआ । इसके बाद अमेरिका के दो अन्य महिला-सम्मेलनों में भी आपने प्रमुख भाग लिया ।

अगस्त १६२३ में जापान के महिला-विश्वविद्यालय को देखने के लिये श्रीमती हंसा जापान गईं । आप कुछ देर से वहाँ पहुँचीं, कालेज बंद हो चुके थे; लेकिन फिर भी आपने सब कुछ देखने-भालने का प्रबंध कर लिया । जापान के प्रलयंकर भूकम्प के समय आप टोकियो में थीं ।



श्रीमती हंसा मेहता

१६२४ ई० में भारत लौटकर उन्होंने डाक्टर जीवराज मेहता से, जो लंदन के एम्० डी० हैं और जो उस समय बड़ौदे के चीफ़ मेडिकल अफ़सर थे, विवाह किया। डा० मेहता भी दृढ़ राष्ट्रवादी हैं । श्रीमती हंसा की अवस्था इस समय ३३ वर्ष की है । सामाजिक सुधार के काम करने की उन्हें सदैव धुन रही है । सन् १६२० से वह बम्बई की राष्ट्रीय स्त्री-सभा की कार्यकारी सदस्या हैं और खद्दर की प्रचारिका रही हैं ।

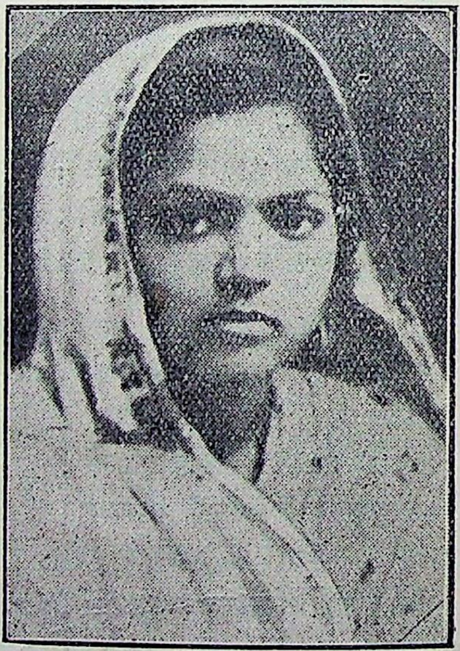
श्रीमती पेरिन कप्तान के गिरफ़्तार किए जाने के बाद श्रीमती हंसा मेहता बंबई की युद्धपरिषद् की संचालिका और बंबई-प्रांतिक कांग्रेस-कमेटी की प्रेसीडेंट मनोनीत हुई ।

श्रीमती हंसा मेहता भी श्रीमती कमला चट्टोपाध्याय की भाँति पाश्चात्य प्रणाली के स्त्री-आंदोलन की समर्थक और सहायिका हैं । भारत की अँगरेज़ी-शिक्षा-प्राप्त महिलाओं की संस्था भारतीय महिला-परिषद् (विमेंस-इंडियन एसोसियेशन) की आप संयुक्त मंत्रिणी हैं। परिषद् के अंतर्गत अपने प्रकार के स्त्री-शिक्षा-प्रचार और समाजसुधार की योजनाओं में आप हाथ बँटाती रही हैं।

श्रीमती हंसा ग्रेजुएट हैं । योरप और अमेरिका में आपकी तालीम हुई है । आप बड़ौदे के भूतपूर्व और बीकानेर के वर्तमान प्रधान सचिव सर मनुभाई एन्० मेहता की पुत्री हैं । आपके पति डाक्टर जीवराज मेहता एम्० डी० इस समय बंबई के किंग एडवर्ड मेमोरियल हास्पिटल के डीन (प्रमुख अधिकारी) हैं ।

श्रीइंदुमती गोयनका

श्रीमती इंदु, श्रीयुत पद्मराज जैन-जैसे सुयोग्य पिता की सुयोग्य पुत्री हैं ।



श्रीमती इंदुमती गोयनका

जैनजी पुराने सामाजिक कार्य-कर्ता और देशसेवी हैं, यही कारण है कि आपकी पुत्री पर भी इतनी छोटी अवस्था में देश-भक्ति का ऐसा आदर्श प्रभाव पड़ा है । श्रीमती इंदुमती अभी कल तक एक मारवाड़ी सेठ घराने की लाड़ली गुड़िया थीं । केवल १५½ वर्ष की एक सुकुमार बालिका राजनीति-कर्मक्षेत्र की कठिनाइयों को भला क्या जाने।

आपने कालेज छोड़कर राष्ट्रीय सेवा में भाग लिया। उन्होंने एक राष्ट्रीय महिला-समिति की स्थापना की। वह और उनकी समिति की महिलाएँ पिकेटिंग करने लगीं। इसी आंदोलन में आपको ६ महीने की सज़ा दी गई है।

बंगाल से और मारवाड़ी समाज से जेल गई हुई महिलाओं में आप सबसे पहली हैं। आपका विवाह भी अभी ६ मास पूर्व हुआ है। आपके पति देहली के बाबू केशवदेव गोयनका ग्रेजुएट और देशप्रेमी व्यवसायी युवक हैं। वह जर्मनी हो आए हैं, और इस समय कलकत्ते में अपना स्वतंत्र कार-बार कर रहे हैं। इंदुमती-केशवदेव का विवाह-संस्कार बहुत आदर्श रूप से केवल २००) में, वैदिक विधान से, सुविद्वानों द्वारा संपन्न हुआ था। सेठ जमनालाल बजाज के बाद मारवाड़ी-समाज में इस प्रकार का यह दूसरा आदर्श है।

जिस देवी का आदि ऐसा उज्ज्वल है, उससे भविष्य में भी देश और समाज को आशा करना स्वाभाविक है।

श्रीमती लाडोरानी ज़ुत्शी

श्रीमती लाडोरानी ज़ुत्शी पंजाब-प्रांतीय कमेटी की आठवीं सभानेत्री और युद्ध-परिषद् की डिक्टेटर थीं। वह १४ अगस्त को आधीरात को लाहौर में गिरफ़्तार की गईं। १८ ता० को उन्हें मैजिस्ट्रेट मि० डिसने की अदालत में पेश किया गया। उनसे कहा गया कि ३०००) की ज़मानत और मुचलके पर मुक़दमे के दिनों के लिये उन्हें रिहा किया जा सकता है, लेकिन आपने इससे इनकार कर दिया।

अभियोग आप पर था राजद्रोहपूर्ण भाषण करने और सरकार के ख़िलाफ़ नफ़रत फैलाने का। आपकी ऐसी ग्यारह स्पीचें आपत्ति-जनक समझी गईं, और चूँकि उनके द्वारा श्रीमती लाडोरानी ने गवर्नमेंट के प्रति प्रजा में विद्वेष के भाव जाग्रत् किए थे, इसलिये उनसे दफ़ा १०८ के मुताबिक़ एक साल तक "सद्व्यवहार बनाए रखने के लिये" दस हज़ार का मुचलका और इतनी ही रक़म की दो ज़मानतें तलब की गईं।

श्रीमती लाडोरानी ने ज़मानत-मुचलका देने से इनकार कर दिया; अदालत की काररवाई में कोई भाग नहीं लिया। आपको एक साल सादी क़ैद की सज़ा दी है।

श्रीमती लाडोरानी पं० मोतीलाल नेहरू के सगे भानजे पं० लाडिलीप्रसाद ज़ुत्शी (ऐडवोकेट, प्रयाग-हाईकोर्ट) की पत्नी हैं। इधर कई वर्षों से वह अपने पीहर लाहौर



श्रीमती लाडोरानी ज़ुत्शी

में रहती हैं। आपकी चारों लड़कियाँ भी आपके साथ हैं, जो सब-की-सब ग्रेजुएट हैं, और जिनमें से दो इस समय पंजाब के राष्ट्रीय-संग्राम में अपनी मा की भाँति ही काम कर रही हैं।

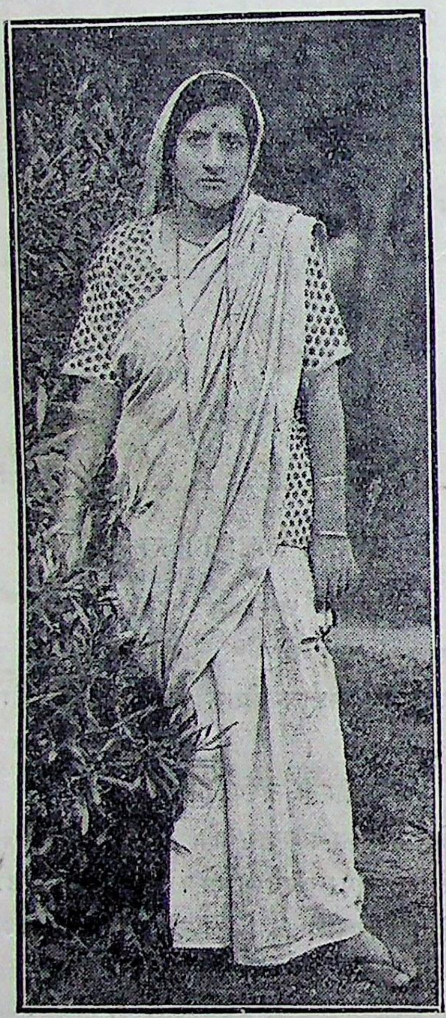
श्रीमती उर्मिलादेवी शास्त्री

मेरठ के महिला-समुदाय को जाग्रत् और संगठित कर क्षेत्र में ला खड़ा करने का श्रेय केवल श्रीमती उर्मिलादेवी को है। आर्यसमाजी पिता की पुत्री होने से समाज-सेवा की धुन आपमें पैतृक है और यही कारण है कि ब्याह के बाद अपने पति के पास मेरठ आते ही आपने महिला-उत्थान आदि सामाजिक सुधार के कामों में हाथ डाल दिया। आपके उद्योग से गत जनवरी मास में, आपकी अध्यक्षता में, स्त्रियों की एक कांनफ्रेंस मेरठ में हुई, जिसमें स्त्रियों के क़ानूनी अधिकारों के संबंध में कई उपयोगी निश्चय स्वीकृत हुए।

काश्मीर के कला-संपन्न वायुमंडल में पली हुई एक धनिक पिता की पुत्री श्रीमती उर्मिलादेवीजी को किस प्रेरणा ने सत्याग्रह-जैसे दुरूह मार्ग का पथिक बनाकर, कारागार की एवं अन्य अनेक यातनाओं से निश्चिंत

करके देश के स्वाधीनता-पथ की ओर अग्रसर किया, इसकी एक छोटी-सी कथा है।

उससे वह समझ गईं कि जब तक भारत की जनता मूक पशुओं की भाँति दासता की विकट ज़ंजीरों में जकड़ी हुई है, तब तक समाज-सुधार या धर्म-प्रचार के सब आयोजन व्यर्थ हैं।



श्रीमती उर्मिलादेवी शास्त्री

अस्तु, मेरठ की महिलाओं ने केवल कपड़े पर ही विजय नहीं प्राप्त की, उन्होंने अँगरेज़ी माल के बहिष्कार-आंदोलन को भी चलाया। श्रीमती उर्मिलादेवी यहाँ भी सबसे आगे थीं।

श्रीमती उर्मिलाजी ने मेरठ के बाहर देहात में जा-जाकर काम किया। कभी-कभी तो इन्हें इतना बोलना पड़ता था कि इनका गला पड़ जाता, और तब दवा लगाकर आप बोलतीं। आपके हृदय में जैसा उत्कट प्रेम है, परमात्मा ने वक्तृत्वशक्ति भी आपको वैसी ही ओजमय प्रदान की है। एक दिन मेरठ की वेश्याओं की एक मीटिंग में आप बोल रही थीं, उधर उन वेश्याओं की आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी थी। परिणाम यह हुआ कि वेश्याओं ने शराब न पीने, खादी पहनने और चरख़ा कातने की प्रतिज्ञा कर ली।

१७ जुलाई की रात को श्रीमती उर्मिलादेवी ने एक महती सभा में अपना प्रभावशाली भाषण दिया। यही आपका अंतिम भाषण सिद्ध हुआ।

१८ ता० को प्रातःकाल पाँच बजे ही आप गिरफ़्तार कर ली गईं, और ६ मास सादी क़ैद की सज़ा आपको सुनाई गई।

श्रीमती उर्मिलादेवी काश्मीर-प्रवासी पंजाबी लाला चिरंजीलाल (ठेकेदार, श्रीनगर) की पुत्री हैं। हिंदी की आप विदुषी हैं, संस्कृत और अँगरेज़ी भी जानती हैं।

आपके पति श्रीधर्मेंद्रनाथजी 'घोर आर्यसमाजी' होते हुए भी खादी और गांधी के अधिक समीप हैं, आर्य-समाज के क्षेत्र में रहते हुए भी उनका अपना वायुमंडल बिलकुल अलग है। श्रीमती उर्मिलाजी से भारतीय समाज को अभी बहुत आशा करनी चाहिए। परमात्मा करे, हमारा यह अनुमान सत्यसिद्ध हो।

मंगलदेव शर्मा



१. हिंदी-साहित्य-सागर का एक 'नूतन-काव्य-रत्न'

हिंदी-भाषा ही एक ऐसी भाषा है, जो संसार की समस्त भाषाओं की अपेक्षा सर्वांगपूर्ण, सरस, सरल एवं सर्वश्रेष्ठ भाषा कही जा सकती है। इसका साहित्य-क्षेत्र विशाल है। इसमें विषय-बहुलता, विचार-गंभीरता तथा मौलिकता-मधुरता का अद्भुत सम्मेलन है। काव्य के लक्षण, गुण, दोष, रीति, रस-भाव आदि की जो विशद व्याख्याएँ हिंदी-साहित्य में की गई हैं, उनके जोड़ का साहित्य, उन्नति की चरम सीमा को प्राप्त आधुनिक इँगलैंड के बृहत् साहित्य-भंडार में भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। अतएव ऐसी सर्वगुणसंपन्न भाषा के साहित्य-ग्रंथों की रचा करना हिंदी-भाषा-भाषी सज्जनों के लिये ही नहीं, वरन् संसार के समस्त शिक्षित समाज के लिये भी आवश्यक व साथ-ही-साथ मंगल-प्रद भी है।

यह संतोष की बात है कि हिंदी के अनेक प्रेमियों ने इस भाषा के प्रचार एवं इसके ग्रंथ-संरक्षण-कार्य में स्तुत्य प्रयत्न किया है और कर रहे हैं। विश्व-भारती, काशी नागरी-प्रचारणी सभा, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन आदि संस्थाओं द्वारा हिंदी साहित्य-ग्रंथों के प्रचार, संशोधन, अनुसंधान, निर्माण, वृद्धि आदि का कितना अपूर्व हितसाधन हो रहा है और होगा, इसका विस्तृत-विवरण विश्व का भावी इतिहास बतलाएगा।

इतना सब होते हुए भी अभी इस कार्य के हेतु बड़े परिश्रम एवं खोज की आवश्यकता है; क्योंकि अभी प्राचीन हिंदी-साहित्य की बहुत-सी बहुमूल्य हस्तलिखित पुस्तकें ग़रीब गृहस्थों के यहाँ फटे-पुराने चिथड़ों में लिपटी हुई पड़ी हैं, जिनके अस्तित्व का लोगों को पता तक नहीं है। हज़ारों पुस्तकों को आज भी कीड़े-मकोड़े खा रहे हैं। इस प्रकार हिंदी के प्राचीन

धुरंधर विद्वानों के बहुमूल्य ग्रंथों का बड़ी द्रुत गति से एक ओर नित्यप्रति ह्रास भी हो रहा है। यदि इसकी उपेक्षा की जायगी, तो बड़ी हानि होगी, जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती। अतएव इस हानि को यथाशीघ्र रोकने की बड़ी आवश्यकता है। इसी भाव से प्रेरित होकर आज कुछ दिनों से मैं इस कार्य में यथाशक्ति प्रयत्न कर रहा हूँ, जिसके फल-स्वरूप अब तक मुझे अपने ही गृह में, प्राचीन पुस्तकालय में, २५-२६ सुंदर अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रंथ-रत्न प्राप्त हो गए हैं, जिनके प्रकाशित कराने का पूर्णतः प्रयत्न भी कर रहा हूँ। प्राप्त ग्रंथों में से एक अपूर्व ग्रंथ का परिचय आज प्रेमी पाठकों को दिया जाता है।

इस ग्रंथ का नाम है "भ्रमर-गीत"। इसके रचयिता 'संत-रसिक'-नामक कवि हैं। यह भक्त-कवि महोदय कहाँ के निवासी थे, पूरा-पूरा इनका क्या नाम था, किस संवत् में और कहाँ इन्होंने इस ग्रंथ की रचना की, इत्यादि कुछ भी इस पुस्तक द्वारा स्पष्ट नहीं होता। आदि में केवल इतना लिखा है—

श्रीगणेशाय नमः। अथ भ्रमर-गीत प्रारम्भते।

इसके बाद ग्रंथ शुरू हो जाता है। ग्रंथ-कर्ता ने अपना परिचयात्मक कोई विशेष छंद नहीं लिखा। हाँ, केवल एक पद द्वारा अपने श्रीगुरु-देव की वंदना की है, जिससे ज्ञात होता है कि उक्त कवि वृंदावन-वासी रसिकाग्रगण्य श्रीस्वामी हरिदासजी के शिष्य हैं। स्वामीजी सम्राट् अकबर के समय में थे। वह पद इस प्रकार है—

जय जय श्रीगुरु अवास, वृंदावन किए वास,
जय जय 'हरिदास-स्वामि' जासु बोध बोधे;
जप, तप, व्रत, धर्म, नेम, ज्ञान हू विराग प्रेम,
स्वारथ-परमारथ-पथ, पग-पग, जिन सोधे।
करत सखी सुख अनूप, विधिप्रपंच तजि निरूप,
राधा-माधव-स्वरूप, भाव-भवन रोधे;
'संत-रसिक' विषय त्रास, लुठत चरन किए आस,
दीजै निज टहल महल, रहिमनादि बोधे।

इस ग्रंथ के लिपि-कर्ता का भी कुछ पता नहीं है। अंत में केवल इतना लिखा है—

इति श्रीभ्रमर-गीतें प्रेम-कल्पद्रुमे संत-रसिक-विरचितायां शृंगार भक्ति-ज्ञान-विरह-फलम् संपक्कं संपूरणम् समाप्तम् सुभमस्तु मंगलं ददात्।

इस तरह यह ग्रंथ-रत्न ३९ पेज में, १६८ छंदों में, पूर्ण होता है। इस ग्रंथ में लिखी हुई भाषा का सौष्ठव सराहनीय और माधुर्य आस्वाद्य है। कवि की सहृदयता, आत्मशुद्धि, उसकी कल्पनातीत भावुकता एक-एक पद से प्रकट हो रही है। गाने योग्य मधुर रचना का भक्ति-रसमय यह एक अद्भुत और अनूठा ग्रंथ है। ग्रंथ-कर्ता भक्त-प्रवर 'संत-रसिक' कवि, योगींद्र श्रीकृष्णचंद्र की अनन्य भक्ति में हिंदी-साहित्याकाश के प्रचंडांशुमाली श्रीसूरदासजी की समता करते दिखाई देते हैं, तो अलंकार से ओत-प्रोत प्रासाद-वर्णन-वैचित्र्य में कविकुल-कुमुद-कलाधर श्रीतुलसीदास महाराज से बाज़ी लेते मालूम होते हैं। इन्होंने अपने छोटे-से ग्रंथ में निष्काम-धर्म, त्याग-धर्म, अनन्य-भक्ति, विश्व-प्रेम के उच्चतम आदर्श का जैसा मनोहर विचित्र चित्र खींचा है और सरस, सरल भाषा में जिस अपूर्व सौंदर्य एवं अलौकिक चरित्र की सुखद सृष्टि की है, वह हिंदी-भाषा के साहित्य में सदैव अमर रहेगी।

मैंने अतृप्त तृष्णा से 'भ्रमर-गीत' का सुधा-रस पान किया है, जिससे मेरी आत्मा को बहुत कुछ शांति मिली है, उसी के दो-चार पद्यों को यहाँ उद्धृत कर आशा करता हूँ कि भावुक महानुभाव इन्हें पढ़कर अवश्य प्रसन्न होंगे।

१—राग केदारा

मधुकर साँवरे के नैन।
लगे जाहि सु जानि उनकी चुभन चोपी पैन।
रहत कसकत चतुर चितवनि चलनि चंचल सैन;
'संत-कवि' लै वारिए झष, कंज, खंजन—मैन।

२—रागिनी भैरवी

धन्य सब गोपिकावृंद बड़ भागिनी।
भगति-पाथोधि वर प्रेम जल नेम भरि,

कृष्ण - पद - कंज मन - मधुप अनुरागिनो ;
आप संभाखते भक्ति-मति पावहू,
स्वामि-पद प्रीति भे, दरस तव भामिनी ।
जानि गुरु-मात-पद-कमल सिर नावहू,
छमब मम बाक्य-कटु-'संत-कबि'-स्वामिनो ;

३—राग केदारा

हमैं इक श्याम ही की आस ।
हमकों कोटि मोक्ष सम ऊधव केशव रहस विलास ।
विश्व-विमोहन सूरति पिय की पाई विनहि प्रयास ;
ताहि बिहाय सुधा-सागर कों क्यों ओस बुझावैं प्यास ।
जो तुम व्यापक ब्रह्म बतावत सो न हमैं बिसबास ;
तदपि जु कछु उपाय करि देखे होत न बोध प्रकास ।
'संत-रसिक' ज्यों धूप सूर्य को तत्तरूप त्यों भास ;
सोऊ सुलभ नहीं बिरहिन कों जिनकी सुरति न पास ।

४—राग केदारा

सजनी श्याम कों यों जान ।
निराकार निरीह निर्गुन बिरज अज निर्बान ।
भक्ति-हित कछु काल तुम्हरे गेह निबसे आन ;
प्रेम-परिपूरन तुम्हारे मानि ताकी कान ;
मोहि पढ़ब प्रबोध मिस निज देहि कों दृढ़ ज्ञान ;
होहि जाते ब्रह्मरति तजि विषय मोह गलान ।
पर्म मति सुनि धर्म भाग्यो गुनत रैन सिरान ;
'संत-कवि' ब्रज बाम जागीं, करत हरिगुन गान ।

५—राग वसंत

मग चलत मोह अस कह कृपाल ।
मम बिरह बिलूरन तजहु बाल ।
हमकों तुमकों कछू नाहिं भेद ;
देखहु बिचार चित तजहु खेद,
तुममें हम इहि विधि सो बसंत ।
जिस (?) कला सकल तुम गोपि-वृंद,
जिमि भानु भास चाँदनी चंद ;
आतमा ज्ञान देखौ बिचार,
निज आप रूप आपहिं निहार ;
मम विषयनि रति जन जानि बाम,
लखु जोग ध्यान आतमाराम ।
जो चहौ मोहिं, मम निकट वास,
कर जोग ध्यान ज्ञानहिं प्रकास ।
'कवि-संत' विश्वव्यापक अनंत,
उर कमल मध्य देखौ बसंत ।

६—राग वसंत

उर ब्रह्म ज्ञान कर धरहु धीर ।
तजि विषय विसूरनि विषय पीर ।
देखहु विचार कर चित्त चाहि ;
जग वसत ब्रह्म सब हृदय माहिं ।
हममय तुममय हरिमय बसंत ;
ध्यावत जोगी जन साधु-संत ।
'कवि-संत' जीति प्रकृतैं पचीस ;
नरनारि भाव तजि भजहु ईस ।

७—राग देश

कबहुँ जदुबंस-मनि मो सुरति करहिंगे ।
गोधन गिरि कों उठाइ इंद्र कोप तें बचाइ,
दावानल भाँति बिरह-बारिधहु तरहिंगे ।
अंकुस धुज कुलिस कंज चौकि चक्र धनुष संजु,
अर्धचंद्र चिह्नित पद भवन मम ढरहिंगे ।
कछनी कटि ललित लाल मुक्तामनि कंठमाल,
उन्नत उर, भुज बिसाल सीस मम धरहिंगे ।
केसर कौ तिलक भाल भ्रुकुटि विकट दृग बिसाल,
ससि मुख पर स्वेद-जाल देखि सुख भरहिंगे ।
मधुर-मधुर बजत बेन मोहहिं सतकोटि मैन,
कोकिलवत बैन सुने दुसह दुख दुरहिंगे ;
सोहहिं सिर मोरपच्छ कटि पट कसि धेनु रच्छ,
पूरब ब्रजबास आचरन आचरहिंगे ।
'संत-रसिक' दरस आस वृंदाबन किए बास,
मेरे दुख दुसह त्रास कृष्णजू हरहिंगे ।

८—राग बिलावल

एक दिना प्रभु बैठि सुखासन गोपिन का सुधि आनि कही है,
है धिक या प्रभुता सिगरी जबलौं ब्रजकी सुधि नाहिं लही है ।
ऊधव बेगि हकारि कही ब्रज जाहु सखा मम काज सही है,
गोपिन गोपन के धन-जीवन प्रानअधार रहे हमही हैं ।
जादिन हौं ब्रज त्याग कियौ उन घेरि लियौ मग रोकि रही है,
तादिन तें सुधि लीन्ह न हौं उनके अब प्रेम बढ़ौ अतिही है ।
नंदसमेत सबै ब्रज लोग त्रिया बिरहानल ताप दही है,
ज्ञान बिहीन दुखी 'कवि-संत' सुईश्वर सों पहिचान नहीं है ।

९—राग कान्हरा

मधुकर वृंदाबन दृग देखे ।
अधमहु जीव परमपद पावत होत भगत जन लेखे ।
श्रीवृंदाबन मात बिदित जग वृंदाबन में देवी,

रच्छा करत सकल ब्रज जन की जे पद-पंकज-सेवी ।
करियो जाय प्रनाम मोरि हुत चरन कमल सिर नाई,
करि पूजा मम बिनय करब जिहिं देखहुँ पद सुखदाई ।
वृंदाबन वृंदावन देवी जा दिन नैन निहारौं,
'संत-रसिक' बड़ भाग आपनो ता दिन हृदय बिचारौं ।

१०—राग भैरव

उद्धजुत आसनासीन जदुबंस - मनि,
नील जलदाभ तन पीतपट छबि घनी ।
मुकुट सिर, श्रवन कुंडल, तिलक भाल,
उर माल बैजंति श्रीवत्स कौस्तुभ-मनी ;
कंस चानूर मुर मुष्टि तोसल दलनि,
बाहु बलसालि जुग दीनजन-रच्छिनो ;
चरन जलजाभ जुग निरखिमन, हरखि जन,
'संत' गहि पतित कहि जयति गोकुलधनी ।

११—राग केदारा

अनख अलसात ललचात तिरछात वर,
तड़प तलफंत नवरस सुछाके ।
कंज अलि खंज मृग मीन क्यों पटत रहु,
बिस्व बस करन बानैत वाके ।
सकल अनुराग बैराग षट राग जग,
त्रिगुन मुनि देव बस होहिं जाके ।
भनत 'कबि संत' सोइ रसिक जन मुकुट मनि
राधिका-रमन-दृग मित्र जाके ।

१२—राग देश

मानिए हठि छाँड़ि सिखावन,
सुगति मूल अघ-ओघ-नसावन ।
त्यागहु कर्म उपासन नेमा,
विषम फाँसि नर विषयक प्रेमा ।
श्रुति प्रनीति करि ज्ञान प्रचारू,
दस बसि करि षट तजहु बिकारू ।
जोग जुगति करि ध्यान बिचारी,
चेतन पुरुष लखौ ब्रज नारी ;
जाते बिरह बिपत बिलगाई,
ब्रह्मानंद न हृदय समाई ।
'संत-रसिक' पद यह निर्बाना,
मोच्छ पंथ गहु तज अज्ञाना ;

पीतांबरराव भट्टाचार्य

× × ×

२. आलोचन-कला

आश्चर्य तो हमको उन लोगों पर होता है, जो अलंकारवाद की धज्जियाँ उड़ाते हुए कलावाद का विज्ञापन बाँटते फिरते हैं । विलायत का कलावाद हमारे यहाँ के अलंकारवाद से कुछ कम ही जान पड़ता है, अधिक नहीं । विश्वास न हो तो 'अनन्यवाद' और 'कलावाद' की समुचित समीक्षा कर देखिए । कलावादियों का कथन है कि कला का उद्देश्य कला ही है । यदि उनकी बात मान लें, तो मनुष्य-जीवन का उद्देश्य भी मनुष्य-जीवन ही है । फिर मनुष्य अपने उद्देश्य से विचलित हो कला के फेर में क्यों पड़े ? सच बात तो यह है कि कला की सत्ता मानव-व्यापार के परे सिद्ध ही नहीं हो सकती । वह साध्य नहीं, साधन है । अस्तु, कला का उद्देश्य कला नहीं, मानव-व्यापार ही है । मानव-व्यापार की अभिव्यंजना ज्यों-ज्यों सौंदर्य का प्रकाशन करती जाती है, त्यों-त्यों कला का परिष्कार होता रहता है । मानव-जीवन में जो स्थान लावण्य का है, मानव-व्यापार में वही स्थान कला का है । लावण्य को देखकर जिस प्रकार हम देही की ओर खिंचते हैं, उसी प्रकार कला को देखकर देही की कृति की ओर बढ़ते हैं । अतः कला का नाम सुनकर न तो हमको मंत्रमुग्ध की भाँति सब कुछ लुटा देना चाहिए और न विस्मय में पड़कर सब कुछ गँवा देना चाहिए । उस पर विना विचार किए भी हम अपना काम चला सकते हैं और चलाते आए हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट हो है कि आलोचन-कला के कला-शब्द से कुछ भयभीत या सजग होने की आवश्यकता नहीं है । आवश्यकता है स्वयं समालोचना की समीचीन समीक्षा एवं समुचित विवेचना की ।

प्रायः लोग कहा करते हैं कि समालोचक छिद्रान्वेषी होते हैं और उनकी साहित्यिक असफलता ही उनको समालोचक बनाती है । उनकी दृष्टि में समालोचन केवल छिद्रान्वेषण ही है । हमारा ध्येय यहाँ पर इस प्रकार की थोथी आपत्तियों पर विचार करने का नहीं है । हम तो समालोचना के मूल में पैठकर उसकी यथार्थता को हृदयंगम करना चाहते हैं । यहाँ पर हम यह कह देना अनुचित नहीं समझते कि इस समय हमारी दृष्टि साहित्य की समालोचना पर ही है । अतः

हमारा विवेचन भी साहित्य की दृष्टि से ही होगा, सम्मति देने के विचार से नहीं।

प्रत्येक व्यक्ति कवि या लेखक भले ही न हो, पर आलोचक तो अवश्य ही है। यह एक ऐसा सत्य है, जिसकी उपेक्षा प्रायः लोग किया करते हैं। जब कभी हम किसी वस्तु को देखते हैं, तो उस पर कुछ-न-कुछ विचार कर ही लेते हैं। ये ही विचार हमारे और उस वस्तु के बीच एक संबंध स्थिर कर देते हैं और हमको विवश करने लगते हैं कि हम उसके प्रति कुछ धारणा भी बना लें। और जब हम इन धारणाओं को प्रकट करते हैं, तब एक प्रकार से सम्मति ही देते हैं। पर यह सम्मति उस सम्मति से भिन्न होती है, जैसी वैद्य या वकील प्रायः दिया करते हैं। इस सम्मति में हमारे हृदयगत भाव भी रहते हैं। यह सम्मति उस निर्णय से भी भिन्न होती है, जिसको जज लोग प्रायः दिया करते हैं। यही नहीं, उस आदेश से भी यह भिन्न होती है, जिसको धर्माचार्य लोग बराबर देते फिरते हैं। इसमें वह छाप भी लगी रहती है, जो हमारे मनोविकारों का फल कही जा सकती है। तो क्या यह सम्मति ही समालोचना है?

प्रभाववादियों का कथन है कि प्रत्येक वस्तु का प्रभाव हम पर पड़ता है। हम जब कभी किसी कविता या लेख को पढ़ते हैं, तो उसका जो कुछ प्रभाव हमारे हृदय तथा मस्तिष्क पर पड़ता है, हम उसी को दूसरों पर प्रकट करते हैं। अतः यह प्रकटीकरण ही समालोचना है। अभिव्यंजनावादियों का कथन है कि यह ठीक है। हमको कुछ कहना अवश्य है, चाहे वह बुद्धिगत हो चाहे हृदयगत; पर हम उसको एक विशेष ढंग से कहना चाहते हैं, उसमें कुछ चमत्कार लाना चाहते हैं। अतः हमारी दृष्टि में उस अभिव्यंजना का प्रत्यक्षीकरण ही समालोचना है। यह सुनते ही निर्णयवादी कह उठता है कि नहीं, यह कथन ठीक नहीं। वास्तविक स्थिति तो यह है कि हम किसी वस्तु के गुण से परिचित होते ही उसके प्रति कुछ विचार स्थिर कर लेते हैं, और अन्य वस्तुओं से उसकी विशेषता भिन्न कर लेते हैं। अतः उसके प्रति कुछ धारणा भी बन जाती है। यह धारणा एक प्रकार से निर्णय ही है। अतः हमारे विचार में इस निर्णय का स्पष्टीकरण ही समालोचना है।

योरप की संस्कृति दौड़ लगाने में बहुत ही पटु है। वहाँ चारों ओर दौड़-धूप हो रही है। जिसके सामने जो कुछ आ गया, वह उसी का झंडा ले आगे बढ़ चला और उसी को सब कुछ कहने लगा। उसके कहने का ढंग बहुत ही मोहक है। यही कारण है कि उसका आंशिक सत्य भी पूर्णतः सत्य अवगत होता है। उस बात को सामने रखकर जब हम उपर्युक्त विवाद पर दृष्टि डालते हैं, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक वाद अंशतः ठीक है, सर्वतः कदापि नहीं। हृदयंगम करने के लिये इसको एक उदाहरण के साथ समझना चाहिए। कल्पना कीजिए, समालोचना एक त्रिभुज है, जिसकी भुजाएँ—प्रभाव, अभिव्यंजना एवं निर्णय हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि जिस व्यक्ति के सामने जो भुजा होगी, वह उसी को त्रिभुज का आधार मानेगा। पर वस्तुतः त्रिभुज का आधार एक भी नहीं या तीनों ही हैं। अतएव समालोचना के लिये तीनों ही वाद आवश्यक हैं। विशिष्ट प्रभाव, विशिष्ट अभिव्यंजना एवं विशिष्ट निर्णय के सामंजस्य से ही समालोचना का रूप खड़ा होता है। हमारे यहाँ इन्हीं वादों का सूक्ष्मरूप—भाव, विभाव और अनुभाव के परिपाक से निष्पन्न—रस है। अस्तु, किसी वस्तु के रस का प्रत्यक्षीकरण ही उसकी समालोचना है।

यदि कवि भावप्रधान और लेखक विचारप्रधान होता है, तो समालोचक उभयप्रधान। समालोचना के लिये भावुकता तथा विद्वत्ता दोनों ही अपेक्षित हैं। यदि समालोचक भावुक नहीं है, तो वह कवि के हृदय की सच्ची अनुभूतियों की थाह नहीं लगा सकता, और यदि वह मनीषी नहीं है, तो उन अनुभूतियों का मूल्य आँकने में वह कदापि समर्थ नहीं हो सकता। लेखक के मनोविकारों, मनोवेगों तथा चित्तवृत्तियों का अध्ययन करने के उपरांत उनका मूल्य आँका जाता और उनका लेखा लिया जाता है। यदि उनकी बातें समाज, देश एवं काल के अनुकूल पड़ीं, तो उनका निदर्शन करना आवश्यक हो जाता है। समालोचक के विचार अब समाज के विचारों की उपेक्षा नहीं करते, प्रत्युत उन पर उचित ध्यान देते हैं। इस प्रकार समालोचना के सहारे हम अपनी संस्कृति तथा सभ्यता का परिचय प्राप्त करते या करना चाहते हैं। अतएव समालोचक का काम व्यापक पांडित्य का अर्जन करना और उसके बल पर प्रस्तुत विषय की समीचीन समीक्षा करना भी है। इस

समीक्षा के लिये प्रतिभा और मेधा के साथ ही साथ प्रज्ञा भी अनिवार्य है। प्रज्ञा अपना काम तभी भली भाँति संपादित कर सकती है, जब वह मनोवेगों से मुक्त हो। किसी भाव के आवेश में सुंदर कविता बन जाती है, पर सुंदर समालोचना तो स्थिर तथा स्वच्छ बुद्धि ही कर सकती है। इस दृष्टि से समालोच्य कवि या लेखक के प्रति विशेष श्रद्धा भी आवश्यक नहीं है। सहानुभूति से हमारा काम भली भाँति चल सकता है।

समीक्षा के क्षेत्र में एक बहुत ही पुराना प्रश्न प्रायः खड़ा होता है। लगे हाथों उसको भी देख लेना संगत जान पड़ता है। प्रश्न यह है कि किसी कवि या लेखक की समालोचना किस दृष्टि से करनी चाहिए? कुछ लोगों का कथन है कि समालोच्य वस्तु की समीक्षा उसी की दृष्टि या कवि-दृष्टि से ही होनी चाहिए। परंतु कुछ लोग इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि किसी की समालोचना हमको या तो अपनी दृष्टि से करनी चाहिए, या शास्त्रों की नियमित दृष्टि से। यदि सच पूछिए, तो तीनों दृष्टियों से काम लेने पर ही सत्समालोचना हो सकती है। हमारे विचार में तो एक भी दृष्टि ऐसी नहीं है, जिसकी आवश्यकता समालोचक को कभी न पड़े। समालोचक का ज्ञान-भंडार जितना ही व्यापक तथा विस्तृत होगा, उतना ही वह सत्समालोचना में समर्थ होगा। अपने समय की बातों को हम सरलता से समझ लेते हैं, और प्राचीन बातों को हृदयंगम करने के लिये विशेष प्रयत्न करते हैं। फिर भी उनके विषय में हमारा ज्ञान अधूरा हो रह जाता है। अतः प्राचीन विचार-धारा से भली भाँति परिचित होने पर ही प्राचीन कवियों तथा लेखकों की आलोचना करनी चाहिए। प्रायः यह देखने में आता है कि कुशल समालोचक भी, उक्त विचारधारा से अपरिचित होने के कारण, समीक्षा के क्षेत्र में मिथ्या प्रलाप करते फिरते हैं और यशस्वी कवियों की कीर्ति को कलंकित कर ही दम लेते हैं। विदेश के समालोचकों को इस बात पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। सत्य संसार में बिखरा पड़ा है। उस पर सभी का अधिकार है। किसी मुख्य जाति ने उसका ठेका नहीं ले रक्खा है। अतः समालोचक को समझ-बूझकर हाथ लगाना ही उचित है।

चंद्रबली पांडेय

× ×

३. भौतिक विज्ञान का नोबेल-पुरस्कार

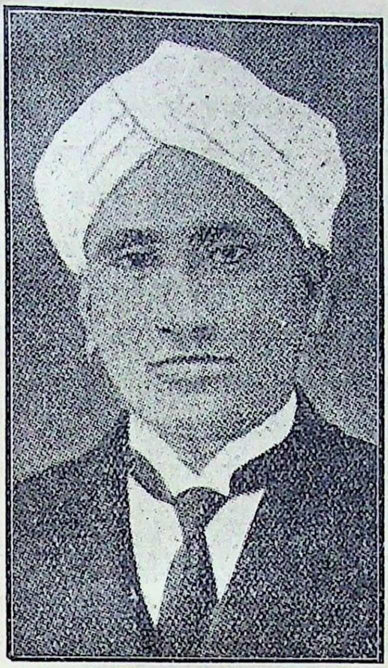
इस वर्ष के भौतिक विज्ञान का नोबेल-प्राइज़ भारतीय वैज्ञानिक श्रीचंद्रशेखर-वेंकटेश रमन महोदय को प्राप्त हुआ है। उक्त घोषणा होने के चार दिवस पूर्व ही इँगलैण्ड की सुप्रसिद्ध रॉयल सोसाइटी ने आपको ह्यु जेज़-पदक देकर सम्मानित किया था।

यों तो नोबेल-प्राइज़ हर साल किसी-न-किसी वैज्ञानिक को मिलता ही है; परंतु यह पहला अवसर है कि यह गौरव एक भारतीय वैज्ञानिक को प्राप्त हुआ है। सर सी० वी० रमन ने कहीं बाहर जाकर शिक्षा नहीं प्राप्त की और न किसी विदेशी प्रयोगशाला ही में रहकर वैज्ञानिक अन्वेषण किए हैं। इसलिये जो सुविधाएँ वैज्ञानिक अन्वेषण के लिये योरपीय देशों में प्राप्त हैं, वे आपको कभी प्राप्त नहीं हुईं। भारत में वैज्ञानिक अन्वेषण के लिये जो-जो असुविधाएँ हैं, वे पाठकों से छिपी नहीं हैं। यह सब होने पर भी रमन महोदय ने जो कुछ किया है, इसके लिये उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी ही है।

रमन महोदय का जन्म ७ नवम्बर, स० १८८८ ई० में, ट्रिचनापल्ली में एक साधारण वंश में हुआ था। आपके पिता श्रीचंद्रशेखर ऐयर वहीं किसी स्कूल के शिक्षक थे। रमन महोदय के जन्म के कुछ ही दिनों बाद वालूटेयर के एक कालेज में आपको गणित के प्रोफ़ेसर का स्थान मिल गया। श्रीचंद्रशेखर ऐयर गणित और भौतिक शास्त्र दोनों के अच्छे पंडित थे और साथ ही साथ गान-विद्या में भी अनुराग रखते थे।

बाल्यावस्था ही से रमन महोदय की वैज्ञानिक प्रतिभा चमक उठी। आपने बी० ए० में भौतिक विज्ञान लिया। लोगों ने आपको इतिहास लेने की राय दी थी; परंतु तेरह वर्ष के बालक रमन ने इनकार करते हुए कहा कि "मैं वही विषय लूँगा, जिसमें मेरी विशेष अभिरुचि है।" अपनी कक्षा में रमन सबसे प्रखर-बुद्धि छात्र थे। निर्द्धारित Experiments के अलावा और भी Experiments करने की धुन आपको बराबर लगी रहती थी।

बी० ए० का परीक्षा-फल निकला। रमन सर्वप्रथम आए और भौतिक शास्त्र का 'अरनी स्वर्ण-पदक' प्राप्त किया। इसके उपरान्त आपने भौतिक शास्त्र में एम्० ए० की पढ़ाई प्रारम्भ की। एक दिन की बात है कि आपके एक सहपाठी श्री० वी० अप्पाराव को नादशास्त्र के एक



सर सी० वी० रमन महोदय

Experiment में कुछ संदेह हुआ और उसका निराकरण करने के लिये वह अपने प्रोफ़ेसर जोंस के पास गए । परंतु प्रो० जोंस उस समय उस संदेह का निराकरण न कर सके । श्रीरमन महोदय ने उस Experiment को स्वयं किया और उस विषय पर लार्ड रेले महोदय के वक्तव्य को पढ़ने के उपरान्त उस Experiment के करने का एक नवीन तरीक़ा निकाला, जो पुराने तरीक़े से कहीं अच्छा था । उस नवीन तरीक़े की प्रशंसा स्वयं लार्ड रेले महोदय ने की और बालक रमन के पास बधाई का पत्र भेजा । इस घटना से उत्साहित हो रमन ने उस विषय पर एक गवेषणा-पूर्ण लेख लिखकर लंदन के प्रसिद्ध वैज्ञानिक पत्र "फिलासॉफिकल मैगज़ीन" में भेजा जिसको उसके संपादक ने सहर्ष स्वीकार किया । दूसरे वर्ष एक और लेख जिसका प्रकाशशास्त्र से सम्बन्ध था, लिखकर एक दूसरे पत्र "Nature" में भेजा । उसे भी उसके संपादक ने सहर्ष स्वीकार कर लिया ।

एम्० ए० की परीक्षा देने के उपरान्त आपकी इच्छा विदेश जाकर अध्ययन करने की हुई । इसके लिये आपको मदरास-सरकार से छात्रवृत्ति भी मिल जाती; परंतु इसमें एक ऐसी बाधा उपस्थित हुई, जिससे आप को अपना विचार स्थगित करना पड़ा । श्रीरमन का स्वास्थ्य बहुत ही ख़राब था । आपके स्वास्थ्य की परीक्षा लेने पर डाक्टरों ने आपको विदेशयात्रा करने की राय न दी ।

उस समय अर्थ-विभाग के अफ़सरों की नियुक्ति एक परीक्षा द्वारा होती थी । यह परीक्षा बड़ी कठिन समझी जाती थी और भारत-सरकार द्वारा संचालित होती थी । इस प्रतिद्वंद्विता में भाग लेने के लिये प्रति वर्ष भारतवर्ष के चुने-चुने विद्यार्थी कलकत्ते में एकत्र होते थे । श्रीरमन ने इसी परीक्षा में शामिल होने का निश्चय किया और अध्ययन करने के लिये आप कलकत्ते आए । बहुत ही अल्प-काल में उन्हें ऐसे-ऐसे विषयों का अध्ययन करना पड़ा जिनमें उनका तनिक भी चाव न था । जैसे इतिहास, संस्कृत और अर्थशास्त्र ।

परीक्षा प्रारंभ होने के कुछ ही दिन पूर्व आपको समाचार मिला कि आपने मद्रास-विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा में प्रमुख स्थान प्राप्त किया है । यही नहीं, आपने भौतिकशास्त्र में इतने अधिक नंबर प्राप्त किए थे, जितना कि उनके पूर्व के किसी छात्र ने न प्राप्त किया था । इस सुसंवाद ने श्रीरमन के उत्साह को बहुत बढ़ा दिया और आप दुगने परिश्रम से आगामी परीक्षा की तैयारी में लग गए । और, इस बार भी विजयश्री आप ही को प्राप्त हुई । आप उत्तीर्ण छात्रों में सर्वप्रथम हुए ।

इस प्रकार १९ वर्ष की छोटी उम्र में रमन महोदय भारत-सरकार के अर्थ-विभाग में डिप्टी डाइरेक्टर जेनरल जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर आसीन हुए ।

कौन जानता था कि वही उन्नीस वर्ष का बालक एक दिन विदेशों में जाकर भारत का मस्तक ऊँचा करेगा ? कौन जानता था कि ऐसे पद के पाने के बाद भी बालक रमन विज्ञान की चिन्ता करेगा ? सबने तो यही सोचा होगा कि रमन की ज़िन्दगी अब आराम से बीतेगी और वह अपने अवकाश के दिनों को शिमला या दार्जिलिंग के शिखरों पर गौरांग महाप्रभुओं की संगति में व्यतीत करेंगे ।

परंतु नहीं । रमन उन साधारण पुरुषों में न थे, जिनके जीवन का उद्देश्य ज़िन्दगी को खेल-कूद में बिता देना रहता है । वह तो उन महापुरुषों में हैं, जिनके जीवन का उद्देश्य सत्य का अन्वेषण करना है ।

अस्तु, एकाउंटेंट जनरल होने पर भी श्रीरमन अपने चिरसहचर विज्ञान को नहीं भूले। आपकी नियुक्ति कलकत्ते ही में हुई थी। एक दिन, जब आप ट्राम द्वारा डलहौज़ी स्क्वायर से सियालदह की तरफ़ जा रहे थे, आपकी दृष्टि एक साइनबोर्ड पर पड़ी, जिसमें बड़े-बड़े अक्षरों से लिखा था—"The Indian Association for the cultivation of Science." पहले तो आपने अपने नेत्रों पर विश्वास न किया, परंतु जब ग़ौर से देखा तो आपका भ्रम दूर हुआ। आप तुरंत वहीं उतरकर उस भवन में घुस गए।

उपरोक्त संस्था सर आशुतोष आदि ने विज्ञान की उन्नति के लिये स्थापित की थी। जिस समय रमन महोदय वहाँ पहुँचे, उस संस्था की एक बैठक तुरंत ही समाप्त हुई थी। श्रीरमन ने उस संस्था के सेक्रेटरी डा० अमृतलाल सरकार से परिचय प्राप्त किया और उन्हें अपने उन लेखों को दिखलाया, जिन्हें उन्होंने कालेज के दिनों में लिखा था। डा० अमृतलाल सरकार ने आपको सब प्रकार की सहायता देने का वचन दिया और आप शीघ्र ही उस संस्था के सदस्य हो गए। बहुत शीघ्र आपकी प्रतिभा और विद्वत्ता की छाप वहाँ के लोगों पर पड़ गई और आप उस संस्था की प्रयोगशाला के प्रधान बना दिए गए। अब आपके अवकाश का पूरा समय प्रयोगशाला ही में व्यतीत होने लगा।

परंतु इसी बीच में आपकी बदली रंगून की हो गई। वहाँ जाने पर भी आपका वैज्ञानिक अध्ययन जारी रहा। मार्च, १६१० ई० में आपके पिता की मृत्यु हो गई। आप छः महीने की छुट्टी लेकर मदरास आए। यहाँ पर भी जब कभी अवसर मिला, आप मदरास-विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला में जा पहुँचते थे।

सन् १६११ ई० में आपकी बदली फिर कलकत्ते की हुई। अब की बार आप तार और पोस्ट-विभाग के डाइरेक्टर जनरल होकर आए। पुनः आपका काम पूर्ववत् जारी हो गया।

सन् १६१५ ई० में सर आशुतोष ने सर तारकनाथ पालित और डाक्टर रासबिहारी घोष की सहायता से कलकत्ते में साइंस-कालेज की स्थापना की। साथ-ही-साथ 'पालित चेयर' के नाम से भौतिक विज्ञान के लिये एक प्रोफ़ेसर के पद की भी स्थापना हुई। सर आशुतोष ने श्रीयुत रमन को उस पद के लिये सबसे अधिक योग्य पाकर, उनसे उस पद को स्वीकार करने के लिये अनुरोध किया। श्रीरमन ने सहर्ष अपनी नौकरी से स्तीफ़ा दे दिया और अपने नए पद पर आरूढ़ हो गए। अब तक आप उसी स्थान को सुशोभित कर रहे हैं।

रमन महोदय का सारा समय अब प्रयोगशाला ही में बीतने लगा। उस समय से आज तक आपने और आपके छात्रों ने भौतिक शास्त्र के विविध विषयों में कितने ही महत्त्वपूर्ण आविष्कार किए हैं।

परंतु आपका सबसे महत्त्वपूर्ण आविष्कार प्रकाश-शास्त्र में, हाल ही में, हुआ है। आपने एक नई किरण का आविष्कार किया है, जिसका नाम आपही के नाम पर 'रमन किरण' पड़ा है। रमन महोदय के प्रधान आविष्कार ध्वनिशास्त्र और प्रकाशशास्त्र में हुए हैं। उन आविष्कारों को समझने के लिये उच्च वैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता है, इसलिये उसकी चर्चा करना व्यर्थ है।

सन् १६२१ ई० में कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने आपको डी० एस्० सी० की उपाधि देकर सम्मानित किया। सन् १६२४ ई० में आप विदेश-यात्रा के लिये निकले और योरप, रूस, अमेरिका आदि देशों में भ्रमण करने के पश्चात् १६२५ ई० में भारत लौटे। आप जहाँ गए, वहीं आपका पूरा स्वागत हुआ। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने दिल खोलकर आपकी प्रशंसा की।

१६२६ ई० में जो वैज्ञानिक कांग्रेस हुई, उसके आप सभापति बनाए गए और सभापति की हैसियत से आपने जो विद्वत्तापूर्ण भाषण किया था, उसकी सबने मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी। इसी साल भारत-सरकार द्वारा आपको 'सर' की उपाधि मिली।

यों तो आपकी प्रशंसा सब वैज्ञानिकों ने की थी; परंतु नोबेल-प्राइज़ पाने के कारण अब आपकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिकों में होने लगेगी।

रमन महोदय सिर्फ़ वैज्ञानिक ही नहीं हैं, उनके शिक्षा-संबंधी विचार भी बड़े उच्च हैं। इसका आभास भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में दिए गए उनके भाषणों से मिलता है। आपके भाषण बड़े ही सरस और सुंदर होते हैं। आपका रहन-सहन बिलकुल सादा है।

आप अपने छात्रों पर विशेष कृपा रखते हैं। आपके छात्र भी आप पर बड़ी श्रद्धा रखते हैं। आपके कितने ही छात्र भिन्न भिन्न सम्मानित पदों पर सुशोभित हैं। कलकत्ते में आपकी एक निजी प्रयोगशाला है, जिसमें आप अपने छात्रों के साथ अन्वेषण का काम करते हैं। आप इँगलैंड की रायल सोसाइटी के सदस्य भी हैं। भारत में अभी तक चार या पाँच ही व्यक्तियों को इस संस्था के सदस्य होने का गौरव प्राप्त है।

श्रीरमन महोदय की आयु अभी थोड़ी ही है। ईश्वर आपको बड़ी आयु दे, जिससे आप विज्ञान की उन्नति कर भारत का गौरव बढ़ा सकें।

भृगुनाथनारायणसिंह

जीवन-ज्योति

ईश्वर और अनीश्वरवाद

सुप्रसिद्ध साहित्यसेवक मिश्रबंधु महाशयों का लिखा हुआ 'ईश्वर और अनीश्वरवाद'-विषयक लेख 'माधुरी' की पूर्ण संख्या ७३ में प्रकाशित हुआ था। लेखकों ने बहुत-से अनुमान और शंकाओं को उपस्थित करते हुए—ईश्वर को सृष्टिकर्ता होना चाहिए, इस बात की पुष्टि की है, साथ-ही-साथ विशेषज्ञों से—प्रार्थना की है कि वे उस पर अपने विचार प्रकट करें। मैं विशेषज्ञ तो नहीं हूँ, किंतु जैनदर्शन के आधार पर खंडनरूप से कुछ लिखने का प्रयत्न करता हूँ।

लेखकों ने एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विवाद-ग्रस्त विषय को निर्णय के लिये सबके सामने उपस्थित किया है। संसार में ईश्वर को सृष्टिकर्ता माननेवालों की संख्या बहुत ज़्यादा है, ईश्वर के यथार्थ स्वरूप को मानते हुए उसे सृष्टिकर्ता न माननेवालों की संख्या बहुत कम है। पर किसी बात को माननेवालों की संख्या बढ़ जाने या घट जाने से तो उसका निर्णय नहीं होता है। वास्तव में वस्तु के यथार्थ स्वरूप के निर्णय करने की सदिच्छा से किए गए समीचीन तर्क-वितर्क से ही सत्य की प्राप्ति होती है। अपने बुज़ुर्गों ने जो कुछ कहा है, वह सब सत्य है, यह बिना विचार के मान लेना अन्धविश्वास है। इसी एक अन्धविश्वास की वजह से, केवल एक धर्म के नाम पर, दुनिया में सैकड़ों पापकर्मों की सृष्टि हुई। मनुष्य-समाज में, ख़ास करके हिंदुओं में, परस्पर अनैक्य-उत्पादक लड़ाई-झगड़ों का बीज कोई है, तो वह अंधविश्वास है। जब तक इसका अंत न होगा, तब तक मनुष्य-समाज को वास्तविक शांति नहीं मिल सकती। प्राचीन विषयों के उपदेश भले ही सत्य हों, उन्हें तर्क-वितर्क की कसौटी पर जाँच कर सत्य को जान लेना मनुष्य-मात्र का कर्तव्य है। सत्य कोई बाज़ार की चीज़ नहीं, जो सुलभता से मिल जाय। उसके लिये तो बड़ा कठिन परिश्रम करना पड़ता है, तो भी किसी-किसी भाग्यवान् को ही उसकी प्राप्ति होती है। सिर्फ़ एक ईश्वर के यथार्थ स्वरूप का निर्णय हो जाय और लोग उसे मानने लग जायँ, तो समझ लो कि हज़ारों वर्षों से चले आ रहे धार्मिक झगड़ों का अंत हो चुका, और उससे मनुष्य-समाज को बहुत कुछ सच्ची शांति मिल जायगी।

...किसी निराकार वस्तु से ... है, तो आकाशकुसुम की भी ...त्ति हो सकती है। यदि ईश्वर साकार है, तो उसमें सारी जीवों के-जैसे हाथ, पैर, नाक, रसनादि अंगोपांग भी अवश्य होने चाहिए। इनके रहने से ईश्वर और साधारण मनुष्यों में कुछ भी भेद नहीं रहा। जैसे हम संसारी राग-द्वेषों से युक्त हैं, वैसे ही ईश्वर भी राग-द्वेषी ठहरा। अतएव सूर्य-चंद्रमादि पदार्थों का कर्ता वह नहीं हो सकता।

यदि आप सृष्टिकर्ता ईश्वर को सर्वव्यापी मानते हों, तो ईश्वर आकाश की तरह सब जगह व्यापक ठहरा। ऐसा मानने पर पूर्वापर विरोध आता है। यदि ईश्वर सर्वव्यापक है, तो वह जगत् का कर्ता कभी नहीं हो सकता; क्योंकि जो सर्वव्यापी होता है, वह हलन-चलन नहीं कर सकता—जैसे आकाश। हलन-चलन के लिये स्थान की ज़रूरत होती है। ईश्वर के सर्वव्यापक होने से स्थान कहीं रहता नहीं। या तो ईश्वर को कर्ता मानिए; नहीं तो सर्वव्यापक मानिए। यह दोनों बातें एक दूसरी से विरुद्ध हैं—ईश्वर में रह नहीं सकतीं। इससे भी सिद्ध होता है कि ईश्वर सूर्य-चंद्रमादि पदार्थों का कर्ता नहीं है।

यदि आप ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानते हों, तो बताइए, ईश्वर ने अपनी सर्वशक्ति से बुरी बातों का अस्तित्व क्यों नहीं मिटा दिया? क्यों ज़हरीले जानवर, कड़वे बदबूदार पदार्थ और दुःख देनेवाली चीज़ें बनाईं? जगत् में क्यों हिंसा, झूठ, चोरी वग़ैरह—पापकर्म देखने में आते हैं? इन सबको ईश्वर ने क्यों नहीं मिटा दिया? शराब-जैसी धर्म-कर्म को नाश करनेवाली चीज़ों को क्यों उत्पन्न होने दिया? इन सब बातों में ईश्वर ने अपनी शक्ति का उपयोग नहीं किया? अगर आप इस प्रकार कहेंगे कि यदि ये चीज़ें न होतीं, तो लोगों को अच्छे-बुरे कर्मों की तमीज़ नहीं रहती। ये तो इसलिये बनाई गईं कि लोग उनको छोड़ें, धर्मानुकूल चलें, ईश्वर को प्रसन्न करें। अजी महाराज! यह कैसी विचित्र बात है। इससे तो यह सिद्ध होता है कि ईश्वर ने ही मनुष्यों से बुरे काम कराए। जब बनाते वक़्त जीव-कर्म-रहित और सब बराबर थे, तब उनको शरीरधारी बनाकर क्या लाभ निकला? उन्हें जनम-मरण-रोग-दुःखादि से पीड़ित क्यों बना दिया? यदि बनाया भी, तो अच्छी बातों को ही क्यों नहीं रक्खा? बुरी बातों से सिवा हानि के क्या लाभ हुआ? इसका जवाबदेह सिवा ईश्वर के और कौन है? आजकल सौ में अस्सी आदमी ईश्वराज्ञा के विरुद्ध कार्य करते हैं। जिधर देखिए, उधर सिवा बुराई के भलाई के काम बहुत कम देखने में आते हैं। ईश्वर तो भविष्य की बातें जानता था, उसने जान-बूझकर क्यों बुराई पैदा कर लोगों को बुरे कर्म की तरफ़ झुकाया? यदि ईश्वर ने जान-बूझकर किया, तो वह हमारा हितैषी नहीं रहा। जब हितैषी नहीं रहा, तो हमको उस पर क्यों श्रद्धा होनी चाहिए? वह हमारा शत्रु ठहरा। यदि लोगों ने मनमानी की, तो ईश्वर ने ऐसा क्यों होने दिया? अपनी शक्ति का प्रयोग क... नहीं किया? यदि शक्ति का प्रयोग करते हुए ... लोगों ने नहीं माना, तो ईश्वर सर्वशक्तिमान् कहाँ रहा? उपर्युक्त बातों से यह सिद्ध होता है कि 'ईश्वर सूर्य-चंद्रमादि पदार्थों का कर्ता नहीं है।' आगे चलकर आप लोगों ने लिखा है—"या तो ऐसा मानना पड़ेगा कि विना ईश्वर के संसार आप-ही-आप बनकर नियमपूर्वक स्थिर हो गया—क्योंकि हम उसे उस दशा में अपने नेत्रों से देख रहे हैं—अथवा यह कि विना पदार्थों की सहायता के ईश्वर सदा से था और अपनी इच्छानुसार उसने पदार्थों एवं संसार की रचना की। पहली बात को मानने में अकाट्य बाधाएँ सामने आ जाती हैं, पर दूसरी में नहीं। सुंदर नियम इस संसार में विना किसी ज्ञान और चैतन्ययुक्त सत्ता के सहारे कदापि नहीं बन सकता। वह सत्ता अवश्य ही परम शक्तिशाली और महान् होगी। तब उसे सारे संसार और सूर्य-मंडलों को अपनी इच्छामात्र से ही बना डालने में कौन-सी बाधा हो सकती थी।" पहली बात के मानने में जो अकाट्य बाधा है, उसको यदि आप विस्तार से लिख देते, तो उस पर विचार किया जा सकता था। बहुत-सी बाधाओं की शंका स्वयमेव उठाकर मैं ही उत्तर दे चुका। यथार्थ में यही बात सत्य है कि ईश्वर सदा से था? कैसे था? निराकार या साकार? हम सब लोगों के-जैसा? इसका भी खंडन ऊपर हो चुका। अब ईश्वरेच्छा के संबंध में विचार किया जाता है। आधार के बिना कोई भी आधेय पदार्थ ठहर ही नहीं सकता। यह प्रकृति का अटल नियम है। इच्छा-आधेय के लिये आधारभूत

यह बात असत्यसिद्ध है। किसी निराकार वस्तु से साकार वस्तु बन जाती है, तो आकाशकुसुम की भी उत्पत्ति हो सकती है। यदि ईश्वर साकार है, तो उसमें संसारी जीवों के-जैसे हाथ, पैर, नाक, रसनादि अंगोपांग भी अवश्य होने चाहिए। इनके रहने से ईश्वर और साधारण मनुष्यों में कुछ भी भेद नहीं रहा। जैसे हम संसारी राग-द्वेषों से युक्त हैं, वैसे ही ईश्वर भी राग-द्वेषी ठहरा। अतएव सूर्य-चंद्रमादि पदार्थों का कर्ता वह नहीं हो सकता।

यदि आप सृष्टिकर्ता ईश्वर को सर्वव्यापी मानते हों, तो ईश्वर आकाश की तरह सब जगह व्यापक ठहरा। ऐसा मानने पर पूर्वापर विरोध आता है। यदि ईश्वर सर्वव्यापक है, तो वह जगत् का कर्ता कभी नहीं हो सकता; क्योंकि जो सर्वव्यापी होता है, वह हलन-चलन नहीं कर सकता—जैसे आकाश। हलन-चलन के लिये स्थान की ज़रूरत होती है। ईश्वर के सर्वव्यापक होने से स्थान कहीं रहता नहीं। या तो ईश्वर को कर्ता मानिए; नहीं तो सर्वव्यापक मानिए। यह दोनों बातें एक दूसरी से विरुद्ध हैं—ईश्वर में रह नहीं सकतीं। इससे भी सिद्ध होता है कि ईश्वर सूर्य-चंद्रमादि पदार्थों का कर्ता नहीं है।

यदि आप ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानते हों, तो बताइए, ईश्वर ने अपनी सर्वशक्ति से बुरी बातों का अस्तित्व क्यों नहीं मिटा दिया? क्यों ज़हरीले जानवर, कड़वे बदबूदार पदार्थ और दुःख देनेवाली चीज़ें बनाईं? जगत् में क्यों हिंसा, झूठ, चोरी वग़ैरह—पापकर्म देखने में आते हैं? इन सबको ईश्वर ने क्यों नहीं मिटा दिया? शराब-जैसी धर्म-कर्म को नाश करनेवाली चीज़ों को क्यों उत्पन्न होने दिया? इन सब बातों में ईश्वर ने अपनी शक्ति का उपयोग नहीं किया? अगर आप इस प्रकार कहेंगे कि यदि ये चीज़ें न होतीं, तो लोगों को अच्छे-बुरे कर्मों की तमीज़ नहीं रहती। ये तो इसलिये बनाई गईं कि लोग उनको छोड़ें, धर्मानुकूल चलें, ईश्वर को प्रसन्न करें। अजी महाराज! यह कैसी विचित्र बात है। इससे तो यह सिद्ध होता है कि ईश्वर ने ही मनुष्यों से बुरे काम कराए। जब बनाते वक़्त जीव-कर्म-रहित और सब बराबर थे, तब उनको शरीरधारी बनाकर क्या लाभ निकला? उन्हें जनम-मरण-रोग-दुःखादि से पीड़ित क्यों बना दिया? यदि बनाया भी, तो अ… बातों को ही क्यों नहीं रक्खा? बुरी बातों से सि… हानि के क्या लाभ हुआ? इसका जवाबदेह सिवा ईश्वर के और कौन है? आजकल सौ में अस्सी आदमी ईश्वराज्ञा के विरुद्ध कार्य करते हैं। जिधर देखिए, उधर सिवा बुराई के भलाई के काम बहुत कम देखने में आते हैं। ईश्वर तो भविष्य की बातें जानता था, उसने जान-बूझकर क्यों बुराई पैदा कर लोगों को बुरे कर्म की तरफ़ झुकाया? यदि ईश्वर ने जान-बूझकर किया, तो वह हमारा हितैषी नहीं रहा। जब हितैषी नहीं रहा, तो हमको उस पर क्यों श्रद्धा होनी चाहिए? वह हमारा शत्रु ठहरा। यदि लोगों ने मनमानी की, तो ईश्… ने ऐसा क्यों होने दिया? अपनी शक्ति का प्रयोग क… नहीं किया? यदि शक्ति का प्रयोग करते हुए भी लोगों… नहीं माना, तो ईश्वर सर्वशक्तिमान् कहाँ रहा? उपर्यु… बातों से यह सिद्ध होता है कि 'ईश्वर सूर्य-चंद्रमादि पदार्थों का कर्ता नहीं है।' आगे चलकर आप लोगों ने लिखा है—"या तो ऐसा मानना पड़ेगा कि विना ईश्वर के संसार आप-ही-आप बनकर नियमपूर्वक स्थिर हो गया—क्योंकि हम उसे उस दशा में अपने नेत्रों से देख रहे हैं—अथवा यह कि विना पदार्थों की सहायता के ईश्वर सदा से था और अपनी इच्छानुसार उसने पदार्थों एवं संसार की रचना की। पहली बात को मानने में अकाट्य बाधाएँ सामने आ जाती हैं, पर दूसरी में नहीं। सुंदर नियम इस संसार में विना किसी ज्ञान और चैतन्ययुक्त सत्ता के सहारे कदापि नहीं बन सकता। वह सत्ता अवश्य ही परम शक्तिशाली और महान् होगी। तब उसे सारे संसार और सूर्य-मंडलों को अपनी इच्छामात्र से ही बना डालने में कौन-सी बाधा हो सकती थी।" पहली बात के मानने में जो अकाट्य बाधा है, उसको यदि आप विस्तार से लिख देते, तो उस पर विचार किया जा सकता था। बहुत-सी बाधाओं की शंका स्वयमेव उठाकर मैं ही उत्तर दे चुका। यथार्थ में यही बात सत्य है कि ईश्वर सदा से था? कैसे था? निराकार या साकार? हम सब लोगों के-जैसा? इसी का भी खंडन ऊपर हो चुका। अब ईश्वरेच्छा के संबंध में विचार किया जाता है। आधार के विना कोई भी आधेय पदार्थ ठहर ही नहीं सकता। यह प्रकृति का अटल नियम है। इच्छा-आधेय के लिये आधारभूत

...वस्तु। आप लोग लिखते हैं—"संसार में नियमों का साम्राज्य पाया जाता है, और अनियमता प्राय: है ही नहीं। अब हम पूछते हैं कि ये नियम बिना किसी बनानेवाले के क्या आप-ही-आप बन गए?...यदि आप उसे स्वभाव (Nature) कहेंगे, तो हम कहेंगे कि वस्तु का स्वभाव आप-ही-आप स्थिर कैसे हो सकता है......वैज्ञानिकों ने ख़ूब अनुसंधान करके किसी ज्ञानयुक्त रचयिता का होना अधिक संभव बतलाया है........"

उत्तर—संसार में नियमों का साम्राज्य पाया जाता और अनियमता प्राय: है ही नहीं—यह बात सर्वथा ... कही जा सकती; क्योंकि नियमित और अनियमित ...ों बातें देखने में आती हैं। यदि संसार का कार्य ...यमानुकूल ही होता रहता है, तो (हर समय) सदैव ...र एक बात में परिवर्तन देखने में क्यों आता है? यह संसार परिवर्तनशील है, इस यथार्थ नीतिवाक्य को कौन नहीं जानता? ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो एक ...न के बराबर दूसरा दिन नहीं रहता। बहुत-सी बातों ...परिवर्तन प्रत्यक्ष देखने में आता है। प्रत्येक ऋतुकाल ...भी यही बात है। जब कि इस वर्षाऋतु में सर्वत्र ख़ूब ...नी बरसना चाहिए, पर कहीं-कहीं पर पानी बिलकुल ...रसता ही नहीं। वहाँ के बेचारे ग़रीब ख़ूब चिल्लाकर ...ते हुए ईश्वर का नाम लेते हैं, पर ईश्वर इतना निर्दय ...है कि उस तरफ़ ध्यान ही नहीं देता। और कहीं-कहीं ...र इतना पानी बरसता है कि वहाँ के बहुत-से ग्राम ...ानी से बह जाते हैं। तब आप ही बताइए कि संसार में ...नियमों का साम्राज्य कहाँ रहा?

संसार की प्रत्येक वस्तु अनंतगुणात्मक है। वे गुण पुन: सामान्य और विशेषरूप में विभक्त हैं। सामान्य गुण वह है, जो तमाम वस्तुओं में पाया जाय। जैसे —वस्तु का अस्तित्व इत्यादि। विशेष गुण वह है, जो ख़ास-ख़ास वस्तुओं में ही पाया जाता है। जैसे—अग्नि का उष्णत्व, जल का शीतलत्व इत्यादि। अग्नि का उष्णत्व-विशिष्ट गुण अग्नि से कोई अलग वस्तु नहीं है, उसी में है। यदि अग्नि से उष्णत्व कदाचित् अलग हो जाय, तो अग्नि कोई वस्तु ही नहीं ठहरती। बिछुड़ना (Separation) उसी का होता है, जो संयोग से उत्पन्न है। जो जिसका ख़ास अपना स्वरूप है, उसका बिछुड़ना कैसा? सुवर्ण से हज़ारों तरह के आभूषण बनवाइए, पर सुवर्णत्व सबमें पाया जायगा। वैसे ही दुनिया में जहाँ-जहाँ उष्णत्व देखेंगे, वहाँ-वहाँ पर किसी-न-किसी रूप में अग्नि अवश्य होगी। कहीं पर उष्णत्व तो रहे और अग्नि न रहे, यह बात कदापि संभव नहीं। अत: अग्नि का उष्णत्वविशिष्ट गुण उसका वस्तुस्वरूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार सूर्य की किरणों में उष्णता और चंद्रमा की किरणों में शीतलता, नियत समय पर उनका उदय और अस्त होना, गेहूँ के पेड़ में गेहूँ पैदा होना इत्यादि वस्तुस्वरूप उद्भूत ख़ास गुण हैं। इन गुणों से वस्तु का तादात्म्य संबंध है, और इनका अस्तित्व अनादि है। यह बात आगे प्रकरणांतर में जाकर स्पष्ट हो जायगी।

यदि वस्तु का निज स्वरूप-गुण-समुदाय आप-ही-आप स्थिर नहीं हो सकता—जैसे पाट-पटादि पदार्थों का कर्ता प्रत्यक्ष देखने में आता है वैसे ही उन सबको परस्पर जोड़नेवाला कर्ताहर्ता कोई ईश्वर अवश्य है—तो ईश्वर भी एक वस्तु है, उसका कर्ता कौन है? तमाम संसार की वस्तुओं से ईश्वर एक अलग वस्तु नहीं हो सकता। ईश्वर में भी वह लक्षण अवश्य घटना चाहिए, नहीं तो वह लक्षण अव्याप्त दोष से दूषित हो जायगा। यदि एक ईश्वर का कर्ता दूसरा ईश्वर, दूसरे का तीसरा, तीसरे का चौथा मानते जायँगे, तो अनवस्था-दोष आ जायगा। अंतिम निष्कर्ष यह स्वीकार करना पड़ेगा कि संसार में कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं, जिनका कोई कर्ता-हर्ता है ही नहीं। और, यह सिद्धांत स्वीकार करने पर कि बिना बनानेवाले के कोई भी पदार्थ बनता नहीं, यह बात बनती नहीं। अगर थोड़ी देर के लिये मान लिया जाय कि ईश्वर ने सूर्य-चंद्र को बनाया। अब प्रश्न उठता है, कब बनाया? बनाने का समय ज़रूर होगा। और, कितनी देर में बनाया? "बनाना" यह शब्द इस बात का द्योतक है कि पहले सूर्य-चंद्रमा का अस्तित्व ही नहीं था, किसी ने उन्हें बनाया। अब फिर प्रश्न उठता है कि कौन-कौन के पदार्थों के संयोग से चन्द्र-सूर्य बने? वह कार्योत्पत्तिभूत उपादान वस्तुएँ कहाँ से आई? उनका कर्ता कौन है? यदि उनका कर्ता भी ईश्वर है, तो ईश्वर निराकार है या साकार? यदि आप ईश्वर को निराकार मानते हैं, तो निराकार ईश्वर से साकार जगत् की उत्पत्ति कैसे? साकार पदार्थों से साकार पदार्थ ही बनता है,